

**DUE DATE SLIP****GOVT. COLLEGE, LIBRARY**

KOTA (Raj )

Students can retain library books only for two weeks at the most.

BORROWER'S No.	DUE DATE	SIGNATURE

॥ श्रीः ॥

# काशी संस्कृत ग्रन्थमाला

२०६

१९३६

संस्कृत

राजानक-रुय्यक-मह्वकविरचितं

## अलङ्कारसर्वस्वम्

जयरथकृत 'विमर्शिनी' समुपेतम्  
एतद्दुभय-हिन्दीभाष्यानुवादभूषितं च

हिन्दीभाष्यानुवादकारः

डॉ० रेवा प्रसाद द्विवेदी

एम. ए., पी-एच. डी., साहित्यशास्त्राचार्यः

काशीहिन्दूविश्वविद्यालयस्य

प्राच्यविद्याधर्मविज्ञानसंकाये साहित्यविभागाध्यक्षः



चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी-१

प्रकाशक : चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी  
मुद्रक : विद्याविलास प्रेस, वाराणसी  
संस्करण : प्रथम, वि० सवत् २०२८  
मूल्य : २५-००

© चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस  
गोपाल मन्दिर लेन  
पो० बा० ८, वाराणसी-१ ( भारतवर्ष )  
फोन : ६३१४५

प्रधान शाखा  
चौखम्बा विद्याभवन  
चीक, पो० बा० ६६, वाराणसी-१  
फोन : ६३०७६

THE  
KASHI SANSKRIT SERIES

206

\*\*\*\*\*

संस्कृत

# ALAMKĀRA SARVASVA

OF

ŚRĪ RĀJĀNAKA RUYYAKA & MĀNKHA

With the

*Vimarśinī of Jayarath*

And

*with the translation and explanation  
of both in Hindi*

By

DR. REWĀ PRASĀDA DWIVEDĪ

M. A., Ph. D., Sāhityācārya

*Head of the Department of Sāhityavidyā*

*Banaras Hindu University*

*Varanasi-5*

THE

CHOWKHAMBA SANSKRIT SERIES OFFICE

VARANASI-1

1971

© The Chowkhamba Sanskrit Series Office  
Gopal Mandir Lane,  
P. O. Chowkhamba, Post Box 8,  
Varanasi-1 ( India )  
1971  
Phone : 63145

First Edition

1971

Price Rs. 25-00

*Also can be had of*

**THE CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN**

Publishers and Oriental Book-Sellers

Chowk, Post Box 69, Varanasi-1 ( India )

Phone : 63076

अलंकारोऽस्ति सर्वस्वमिदं यस्य महेशितुः ।  
शक्तिं विमर्शिनीं तस्य वन्दे रत्नाकरोऽज्वलाम् ॥

‘अलंकारसर्वस्व’ संस्कृत की साहित्यविद्या के प्रमुख अंग अलंकार पर आश्रित एक प्रतिनिधि ग्रन्थ है। भरत से जगन्नाथ तक हुए अलंकार चिन्तन की यह नामि है। सिद्धान्तभूत प्राचीन चिन्तन तो इसमें अपने स्वस्य तथा वैज्ञानिक रूप में निहित है ही, परवर्ती अनुवोक्षा और समीक्षा के लिए भी यह मेरुदण्ड रहा है। इस प्रकार इस ग्रन्थ के अनुशीलन के बिना भारतीय अलंकार-बोध सुप्रतिष्ठ नहीं माना जा सकता।

१

## [ १ ] ग्रन्थ स्वरूप

अलंकारसर्वस्व ठीक वैसा ही नाम है जैसा ‘वक्रोक्तिजीवित’ या ‘मुक्तावली’। कुन्तक का मूलग्रन्थ कारिकावद्ध है और उसका नाम ‘कान्वालङ्कार’ है। वक्रोक्ति जीवित संज्ञा उसकी व्याख्या को दी गई है। विश्वनाथ का न्यायग्रन्थ भी मूलतः कारिकात्मक है और उसका नाम ‘कारिकावलि’ है। मुक्तावलि उसकी वृत्ति का नाम है। किन्तु ग्रन्थप्रसिद्धि वृत्ति के नाम से ही है। अलंकारसर्वस्व की भी यही स्थिति है। इसके तीन भाग हैं सूत्र, वृत्ति और उदाहरण। इनमें सूत्र भाग का नाम है ‘अलङ्कार-सूत्र’ और शेष दोनों भागों का नाम है ‘अलंकारसर्वस्व’। किन्तु स्थिति यह है कि शताब्दियों पहले से हम केवल ‘अलंकारसर्वस्व’ नाम से ही जानते आ रहे हैं।<sup>१</sup>

## [ २ ] ग्रन्थ संस्करण

अलंकारसर्वस्व अनेक बार प्रकाशित हो चुका है। इसके संस्करणों की तालिका यह है—

१. देखिए इसी भूमिका में दिया अलंकारों का इतिहास। रस आदि के लिए भी यह ग्रन्थ उत्तम सामग्री प्रस्तुत करता है।

२. जयरथ, विद्याधर, विद्यानाथ, विश्वनाथ, भट्टगोपाल, मञ्जिनाथ, कुमारस्वामी, अप्पयदीक्षित, वीरराघव आदि ने सूत्र और वृत्ति दोनों को अलंकारसर्वस्व नाम से पुकारा है। विशेष विवरण के लिए

द्रष्टव्य म० म० काणे तथा डॉ० सुशीलकुमार डे के History of Sanskrit Poetics तथा डॉ० रामचन्द्र द्विवेदी की अलंकारमीमांसा।

प्रकाशक	संस्करण	सन्	स्वरूप	संपादक । संशोधक
१. निर्णयसागर, बम्बई	प्रथम	१८९३	विमर्शिनीसहित	म. म. दुर्गाप्रसाद द्विवेदी
	द्वितीय	१९३६	"	पं० गिरिजाप्रसाद द्विवेदी
२. अनन्तशयन प्रमा त्रिवेन्द्रम केरल	प्रथम	१९१५	समुद्रबंधी टी.स.	के. साम्बासिव शास्त्री
	द्वितीय	१९२६	"	"
३. धारदा प्रथमाला, काशी	प्रथम	१९२६	मूत्रमात्र	पं० गीरीनाथ पाठक
४. मोतीलाल बनारसीदास, काशी	प्रथम	१९६५	हिन्दी अनुवाद तथा संजीवनी	डॉ. रामचन्द्र द्विवेदी
५. मेहरचन्द्र लक्ष्मणदास, दिल्ली	प्रथम	१९६५	संजीवनी	संपा० डा० कु० जानकी सशो० डा० वे० राघवन्

### [ ३ ] ग्रन्थकार

इन सभी संस्करणों में त्रिवेन्द्रमसंस्करण को छोड़ अन्य किसी संस्करण में ग्रन्थकार का नाम नहीं मिलता । त्रिवेन्द्रम संस्करण में इन मंख की कृति बतलाया गया है ।

**मंखपरम्परा**—त्रिवेन्द्रम के इस संस्करण में छपी टीका में आरम्भ के मंगल पद्यों में—

कदाचिन्महस्रुकोपशं काश्यालंकारलक्षणम् ।  
प्रदश्यं रविवर्मणं प्रार्थयन्त विपरिचतः ॥  
गम्भीरं नस्तितीर्षणां महस्रुकप्रन्यसागरम् ।  
नौरस्तु भवतः प्रज्ञा स्थेयसी यदुनन्दन ॥

इस प्रकार मंख को ही ग्रन्थकार कहा गया है । ग्रन्थ के अन्त में भी वृत्ति की पुष्टिका में—

इति मंखको वित्तेने करमीरक्षितिपसान्धिविप्रहिकः ।  
सुकविमुष्णालङ्कारं तदिदमलंकारसर्वस्वम् ॥

इस प्रकार मंख को ही सर्वस्वकार बतलाया गया है, और समुद्रबन्ध की अपनी व्याख्या के अन्त में भी—

‘महस्रुकनियन्धविद्युती विहितायामिह समुद्रबन्धेन ।  
गुणलेशमात्रमिषैर्भविषीष्टादोपदतिभिः सद्भिः ॥’

इस प्रकार ।

इस संस्करण में वृत्तनुप्रास के लिए उदाहृत ‘आटोपेन’ पद्य [ पृ० ६२ ] के पहले ‘मदीये श्रीकण्ठचरिते’ भी लिखा मिलता है । श्रीकण्ठचरित के रचयिता मंख ही है और उनके इस काव्य में यह पद्य है [ ३० सर्ग २ पद्य ४९ ] ।

१. इस संस्करण के आधार पर १९०८ ई० में एच. जैकोबी ने अलंकारसर्वस्व का जर्मनी भाषा में अनुवाद भी किया था ।

ग्रन्थारम्भ-मंगल-पद्य 'नमस्कृत्य०' के उत्तरार्ध में इस संस्करण में 'गुर्वलंकार०' पाठ ही अपनाया गया है, यद्यपि टीका में गुरुशब्द की व्याख्या नहीं की गई है। स्मरणीय है जयरथ आदि ने यहाँ 'गुर्वलंकार' के स्थान पर 'निजालंकार०' पाठ माना है। इस प्रकार केरलीय पाठ के अनुसार अलंकारसर्वस्व के रचयिता मंजुक या मंजु हैं।

रुच्यक-रुचक-परम्परा—जयरथ ने विमर्शिनी में 'गुर्वलंकार' के स्थान पर 'निजालंकार' पाठ माना है। उन्होंने काव्यप्रकाशसंकेत [ पृ० ३७२ ] और अलंकारानुसरिणी ( ११८, १९२, १९९ ) को ग्रन्थकार की अन्य कृति कहा है। काव्यप्रकाशसंकेत के आरम्भ में—

'शात्वा श्रीतिलकात् सर्वालंकारोपनिपद्रसम् ।

काव्यप्रकाशसंकेतो रुचकेनेह लिख्यते ॥'

इस प्रकार रुचक को उसका कर्ता माना गया है और स्तुतिकुमुमांजलि ८।१९ पद्य की टीका में रत्नकण्ठ ने अलंकारानुसरिणी को रुचक की कृति कहा है। रुचक रुच्यक का ही दूसरा नाम है।

श्रीविद्याचक्रवर्ती ने अलंकारसर्वस्व पर जो संजीविनी टीका लिखी है उसमें—

'रुचकाचार्योपज्ञे<sup>१</sup> सेयमलंकारसर्वस्वे ।

संजीविनीति टीका श्रीविद्याचक्रवर्तिना क्रियते ॥' [ संजीविनीमंगल ]

'इत्थं भूम्ना रुचकवचसां विस्तरः कर्कशोऽयम्' [ अन्त-मंगल ]

इस प्रकार रुचक या रुच्यक को ही अलंकारसर्वस्व का रचयिता माना है।

पिञ्जेल द्वारा संपादित सहृदयलीला<sup>२</sup> में उसके रचयिता को—

कृतिः श्रीविपश्चिद्वर-राजानक-तिलकात्मज-श्रीमदालंकारिक-समाजाग्रगण्य-

श्रीराजानक-रुच्यकस्य राजानक-रुचकापरनाम्नोऽलङ्कारसर्वस्वकृतः ।

इस प्रकार रुच्यक, रुचक और अलंकारसर्वस्वकार कहा गया है।

उभयपरम्परा—अप्यदीक्षित ने चित्रमीमांसा के उपमाप्रकरण में श्लेष को अन्य अलंकारों का बाधक बतलाते हुए—

'उपमाप्रतिभानेऽपि तत्प्रतिभोत्पत्तिहेतुः श्लेष एव, नोपमेति मङ्गलकादिभिरभ्युपेयते।'<sup>३</sup>

इस प्रकार इस मत का उपस्थापक मंजु को माना है। यह मत अलंकारसर्वस्व की वृत्ति में आता भी है। इसी के साथ अपह्नुति और व्याजोक्ति के अन्तर पर प्राचीन आचार्यों के मत उपस्थित करते हुए—

१. काव्यप्रकाश संकेत के लिए द्रष्टव्य—डॉ० रामचन्द्र द्विवेदी का काव्यप्रकाश अंग्रेजी अनुवाद—'The Poetic Light'—भाग-२ परिशिष्ट-डी० ।

२. संजीविनी : डा० रामचन्द्रद्विवेदी तथा डॉ० जानकीद्वारा पृथक् पृथक् संपादित ।

३. सहृदयलीला नि० सा० पाठ के लिए देखिए इसी ग्रन्थ का परिशिष्ट-१ ।

४. चित्रमीमांसा सं० पं० कालिकाप्रसाद शुक्ल पृ० ५६ ।



अत्रेदमपह्नतिकथनं व्याजोक्त्यलंकारं पृथगनङ्गीकुर्वताम् उद्गटादीनां मनमनुसृत्य ।  
 ये तु—'उद्भिन्नवस्तुनिगूहनं व्याजोक्तिरिति' व्याजोक्त्यलंकारं पृथगिच्छन्ति तेषा-  
 मिहापि व्याजोक्तिरेव नापह्नुतिरिति रुचकादयः ।<sup>१</sup>

इस प्रकार वे अलंकारसर्वस्वकार को रुचक भी कहते हैं ।

स्पष्ट ही अलंकारसर्वस्व के कर्तृत्व के विषय में रुच्यक और मंख को छोड़ अन्य के नाम की परम्परा नहीं है । आगे आने वाले विवरण से स्पष्ट है कि रुच्यक और मंख दोनो ही कश्मीर के निवासी हैं ।

प्रश्न उठता है कि सर्वस्व का लेखक इन दोनो में से किसे स्वीकार किया जाए । उत्तर में विचारकों के दो दल बन जाते हैं । एक उनका जो केवल रुच्यक को सूत्र और वृत्ति दोनो का रचयिता मानते हैं और दूसरा उनका जो मंख को । इन दोनों में प्रथम का प्रवर्तन निर्णयसागरीय संस्वरण से होता है और द्वितीय का त्रिवेन्द्रमसंस्करण से ।<sup>२</sup> डॉ० काणे, डॉ० वे, डॉ० राघवन्, सेठ कन्हैयालाल पोद्दार, डॉ० रामचन्द्र द्विवेदी, डॉ० जानकी तथा अन्य अनेक विद्वान् रुच्यक के पक्ष में हैं । मंख का पक्ष त्रिवेन्द्रमसंस्करण के पश्चात् कदाचित् पहली धार हमने ही लिया है अपने व्यक्तिविवेक और उसके व्याख्यान के हिन्दीभाष्य की भूमिका में । इस प्रकार विद्वानो का बहुमत रुच्यक के पक्ष में है ।

रुच्यकवादी उक्त विद्वानो के भिन्न-भिन्न तर्कों का मूठ आधार जवरथ है और सार है यह—

स्थापना—कश्मीरी और दक्षिणी परम्परा में कश्मीरी-परम्परा ही मान्य है क्योंकि

१. अलंकारसर्वस्व व्याजोक्ति सूत्र—७७ पृ० ६५२ ।

२. चित्रमीमांसा—पृ० २४२ ।

आगे इस सूत्र पर कुछ और भी निष्कर्षों की कल्पना की गई है ।

३. 'काणे' तथा 'वे' History of Skt. Poetics, डॉ० राघवन्, कु० जानकी के अलंकारसर्वस्व का Forword, पोद्दार जी—संस्कृतसाहित्य का इतिहास भाग—१ पृ० १७१, डॉ० रामचन्द्र द्विवेदी अलंकारमीमांसा-परिचयखण्ड तथा संजीविनी सहित छपे उनके अलंकारसर्वस्व की भूमिका, डॉ० कु० जानकी—संजीविनी सहित छपे उनके अलंकारसर्वस्व की भूमिका पृ० ३ ।

इनमें से ग्रन्थकार के नाम की इस समस्या को पोद्दारजी ने बड़ी ही सफाई के साथ उपस्थित किया है किन्तु उन्होने यह भी लिख दिया है कि पण्डितराज जगन्नाथ भी रुच्यक का नाम लेते हैं, जबकि तथ्य यह है कि पण्डितराज केवल ग्रन्थ का नाम लेते हैं 'सर्वस्वकृत' अथवा 'अलंकारसर्वस्वकृत' आदि ।

तर्क—( १ ) कश्मीरी परम्परा कश्मीर की है जहाँ ग्रन्थ लिखा गया

( २ ) कश्मीरी; परम्परा पूर्ववर्ती है क्योंकि जयरथ समुद्रबन्ध से पूर्ववर्ती है ।

( ३ ) कश्मीरी परम्परा में मतभेद नहीं है, जब कि दक्षिणी परम्परा में मतभेद हैं । दक्षिण के ही विद्यानाथ, कुमारस्वामी, मल्लिनाथ आदि सर्वस्वकार के रूप में रय्यक या रुचक का नाम उद्धृत करते हैं । इस प्रकार दक्षिणी विद्वानों में भी बहुमत रय्यक का ही है ।

सिद्धान्त—कश्मीरी परम्परा में रय्यक ही ग्रन्थकार के रूप में प्रसिद्ध हैं, अतः रय्यक को ही अलंकारसर्वस्व का रचयिता माना जाना चाहिए ।

इन्हीं तर्कों के समर्थन में इन विद्वानों ने सहृदयलीला की पूर्वोद्धृत पुष्पिका को भी उद्धृत किया है । इसमें स्पष्ट ही रय्यक को अलंकारसर्वस्व का रचयिता माना गया है ।

वस्तुतः अलंकारसर्वस्व के कर्तृत्व के विषय में मुख्य प्रश्न यह नहीं है कि रय्यक इसके कर्ता हैं या नहीं, क्योंकि उनके कर्तृत्व में विवाद नहीं है । मुख्य प्रश्न यह है कि इसके साथ मंख का नाम क्यों जुड़ा । सेठ कन्हैयालालजी, पोद्दार, डॉ० काणे और डॉ० द्विवेदी ने मंख के समर्थन में केवल इतना लिखा है कि मंख ने रय्यक के बाद उनकी वृत्ति का परिष्कार किया होगा और उसमें अपने श्रीकण्ठचरित के पद्य भी मिला दिए होंगे । इसी आधार पर उनकी प्रसिद्धि हो गई होगी । प्रसिद्धि भी केवल कोलम्बो के राजघराने में हुई, क्योंकि मंख भी राजमन्त्री थे और समुद्रबन्ध भी । अवश्य ही कश्मीर के राजपरिवार का दक्षिणी राजपरिवारों से संबन्ध रहा होगा ।

हमारा मत—

वस्तुतः सूत्र के रचयिता रय्यक हैं और वृत्ति के मंख । इसमें प्रमाण हैं अप्ययदीक्षित के वे दोनों वाक्य जिनमें से एक में उन्होंने रुचक का उल्लेख किया है और दूसरे में मंख का । ध्यान देने की बात यह है कि जिस संदर्भ में रय्यक का नाम लिया है उसमें सूत्र भी दिया हुआ है और जिस संदर्भ में केवल मंख का नाम लिया है उसमें सूत्र का उद्धरण नहीं है । 'उद्भिन्नवस्तुनिग्रहं व्याजोक्तिः' यह अलंकारसर्वस्व में ही

१. छपी चित्रसीमांसा में 'रुचकादयः' पद 'नापह्नुतिरिति रुचकादयः' इस प्रकार अन्त में छपा है ।

इस प्रकार के पाठ से ऐसा लगने लगता है कि 'उद्भिन्नवस्तु' सूत्र रुचक का नहीं है जब कि यह सूत्र है सर्वस्व का ही । इसकी टीका सुधा सूत्र को रय्यक की ही कृति बतलाती है । प्रसंग भी ऐसा है जिसमें पहले उद्धृत का मत दिया है और बाद में दण्डी का मत । तदनुसार 'ये तु रुचकादयः' पाठ ही जमता है । यदि 'रुचकादयः' अन्त में आए तब भी यह तो उससे सिद्ध हो ही जाता है कि अप्ययदीक्षित सूत्रकार को वृत्तिकार से भिन्न मानते हैं ।

आया सूत्र है। अतः दीक्षित जी को सूत्र का उल्लेख करते समय रुचक का नाम लेना, जो आवश्यक दिखता है उसका रहस्य, और हो क्या सकता है इसके अतिरिक्त कि सूत्र के कर्तृत्व में संदेह न हो। श्लेष का विचार केवल वृत्ति में हुआ है और उसी में श्लेष को अन्य अलंकारों का बाधक माना गया है। दूसरे स्थल में श्लेष की यह स्थिति उपस्थित करते समय दीक्षित जी ने मंज का नाम लिया इसका भी एकमात्र यही अर्थ हो सकता है कि वे वृत्ति का निर्माता मंज को मानते हैं।<sup>१</sup>

डॉ० डे० और म० म० काणे ने दक्षिण भारत के कुछ पाण्डुग्रन्थों का भी सदर्थ दिया है, जिनमें वृत्ति के मंगलपद्य के उत्तरार्ध के 'निजालंकारसूत्राणां' पाठ के स्थान पर 'गुणलंकारसूत्राणां' पाठ ही मिलता है, जैसा कि त्रिवेन्द्रमसस्करण में समुद्रबन्ध ने माना है।

श्रीविद्याचरणवर्ती ने भी पुनरुक्तवदाभास के उदाहरणों को मंज का माना है। वृत्ति में मंज के निम्नलिखित पद्य भी उद्धृत हैं<sup>२</sup> २।४९, ५।२३, ६।१६, ७०, १०।१०

मद्रास राजकीय संस्कृतपाण्डुग्रन्थागार में 'मंजुकसुत्रोदाहरण' नाम का एक स्वतन्त्र ग्रन्थ भी रक्षित है।<sup>३</sup>

तुंगभद्र ने भी मंज को ही सर्वस्वकार स्वीकार किया है।<sup>४</sup>

इस प्रकार मंज के पक्ष में भी दक्षिणी विद्वानों का मत अल्पमत नहीं है।

अलंकारसर्वस्व के जो सूत्र हैं उन्हें अवश्य ही ग्रन्थकार ने पहले ही बना लिया है। वृत्ति लिखने के पूर्व उनको भी ग्रन्थकार ने अवश्य ही कोई नाम दिया होगा। यह नाम अलंकारसूत्र ही होगा, क्योंकि वृत्ति के मंगलपद्य में 'अलंकारसूत्र' ही नाम आता है और स्वयं सूत्रकार अन्तिम सूत्र में 'अलंकाराः सधेयतः सूत्रिताः' इस प्रकार 'अलंकारसूत्र' नाम का संकेत देते हैं। समुद्रबन्ध की जो टीका मंजुक का नाम लेकर चलती है वह भी पाठान्तर में 'समाप्तं चेदमलंकारसर्वस्वम्, कृती राजानकथोरुचकस्य । शम् । इति मंजु' इस प्रकार मंजुक के साथ रुचक का भी नाम प्रस्तुत करती है। अवश्य ही इसमें सूत्रकार रुचक को और वृत्तिकार मंज को मानने का अभिप्राय निहित है।

१. 'ये तु उद्भि० रुचकादयः' का 'रुचकादयः' शब्द 'ये तु रुचकादयः' होना चाहिए। लिपिकार से यह शब्द छूट गया होगा और उससे इसे पाण्डुप्रति में पादवर्षाग में लिख रखा होगा। संपादक ने इसे यथास्थान नहीं रखा। यदि इसे स्वयं अप्पय ने ही इसी प्रकार लिखा हो तो उसमें भी स्पष्ट है कि वे वृत्तिकार को सूत्रकार से भिन्न मानते हैं।

२. देखिए इलोक सूची, अथवा पृ० ६२, ३१७, ३२७, ३२७, ३२७।

३. पाण्डुप्रति क्र० २९७० द्र० कु० जानकी अलंकारसर्वस्व भूमिका पृ० २।

४. द्र० संजीविनी सं० डॉ० द्विवेदी पृ० २४ भूमिका।

जहाँ तक समुद्रबन्ध के समय का प्रश्न है वे भी उसी शती के हैं जिसके जयरथ । दोनों में जयरथ १३ वीं शती के आरम्भ के हैं और समुद्रबन्ध उसके मध्य के । अतः समय का भी अन्तर बहुत नहीं पड़ता ।

जहाँ तक कश्मीर का सम्बन्ध है कश्मीरी ग्रन्थों के विषय में उसी देश की परम्परा को महत्त्व देना अवश्य ही तर्कसंगत है, किन्तु यह तद संभव है जब कश्मीर के विद्वान् निष्पक्ष हों । उनमें परस्पर में अत्यन्त कलह है । जयरथ के पहले शोभाकर ने, जो कश्मीर के ही हैं, अपने अलंकार-रत्नाकर में अलंकारसर्वरथ को उसके सूत्र और वृत्ति दोनों रूपों में पदे पदे उद्धृत किया, किन्तु ग्रन्थकार का नाम एक बार भूल से भी नहीं लिया । स्वयं जयरथ ने रत्नाकर को पर्याप्त मात्रा में उद्धृत किया, किन्तु शोभाकर का या उनके ग्रन्थ रत्नाकर का नाम नहीं लिया । न केवल नाम का उल्लेख नहीं किया, आक्षेप भी किया है । कदाचित् उसी की छाप पण्डितराज पर पड़ी है और वे अप्पयदीक्षित पर वरसते दिखाई देते हैं ।

इन सबके परमगुरु अभिनव भी गाली देकर बात करते और पूर्व पक्ष के साथ ही नहीं, मूलग्रन्थ के साथ भी अन्याय करते हैं । कहीं उनकी वृद्धि उलट भी जाती है ।<sup>१</sup>

कश्मीरी परम्परा से अधिक दक्षिणात्य परंपरा ही मान्य है, क्योंकि दक्षिण में यह द्वेष नहीं था । क्या कारण है कि महिमभट्ट का व्यक्तिविवेक कश्मीर में नहीं मिला और दक्षिण में ही मिला । क्या कारण है कि साहित्यमीमांसा की पाण्डुप्रति भी दक्षिण भारत में ही मिली । क्या कारण है कि कश्मीर भट्टनायक के ध्वनिविरोधी ग्रन्थों की रक्षा नहीं सका । हृदयदर्पण, ध्वनिनिर्णय अवश्य ही नष्ट करा दिए गए । हृदय-दर्पण तो महिमभट्ट को भी नहीं मिला था, जो मम्मट के पहले के हैं । स्वयं मम्मट ने यह चेष्टा की है कि यह समझ में न आए कि उनने कुन्तक और महिमभट्ट से भी कुछ लिया है । जब कि उनका सप्तम उल्लास महिमभट्ट की ही देन है । क्या यह क्रम स्वस्थ क्रम है । अवश्य ही कश्मीर में महिमभट्ट के व्यक्तिविवेक के द्वितीय विमर्श को मम्मट ने दफना दिया था । उसकी रक्षा का श्रेय दक्षिण को ही है । यह भी सोचने की बात है कि अलंकारों पर सर्वस्व, रत्नाकर और विमर्शिनी में विश्वरी सामग्री को लेकर क्या कोई कार्य कश्मीर में नहीं हो सकता था, जिसे दक्षिणी आचार्य अप्पयदीक्षित ने पूरा किया जिनकी मूलविद्या मीमांसा थी । कश्मीरी शैवशास्त्र की शुद्धपरम्परा भी दक्षिण में ही रक्षित मिलती है । श्रीविद्याचक्रवर्ती, त्रिपुरारहस्य के टीकाकार दीक्षित श्रीनिवासबुध दक्षिण के ही हैं । इस प्रकार परम्परा की दृष्टि से कश्मीर की अपेक्षा दक्षिण ही अधिक मान्य है ।

यह भी एक महत्त्व की बात है कि अप्पयदीक्षित की परम्परा केवल दक्षिणी परम्परा नहीं है । वे काशी में भी रहे थे । अतः उनके संस्कारों में अन्तर्वेदी की

१. हमने अपने ग्रन्थ 'आनन्दवर्धन' में इन सब दोनों का प्रतिपादन किया है ।

मध्यदेशीय परम्परा के संस्कार भी मिश्रित हैं। फलतः अप्पदीक्षित के उल्लेख को मध्यदेश से लेकर दक्षिण भारत तक का प्रतिनिधि माना जा सकता है।

उधर कश्मीरी परम्परा में सर्वाधिक महत्त्व जयरथ को दिया जा रहा है, किन्तु उन्हें सर्वस्व की पुस्तक बहुत ही अव्यवस्थित रूप में प्राप्त हुई थी। वे स्वयं लिखते हैं कि 'उन्हें मिली प्रति बहुत अव्यवस्थित है'। क्या अव्यवस्थित आधार पर कोई निर्णय लिया जा सकता है।

यह भी ध्यान देने की बात है कि निर्णयसागरसंस्करण से लेकर डॉ० रामचन्द्र द्विवेदी और डॉ० जानकी के सुसमीक्षित संस्करणों तक रुय्यकपरम्परा के किसी भी संस्करण की पुष्पिका में रुय्यक का नाम क्यों नहीं है। अवश्य ही इन विद्वानों को रुय्यक के नाम की पुष्पिका बहुत ही कम पाण्डुप्रति में मिली है और वह भी अव्यवस्थित। पूना की शारदा लिपि की जिन दो प्रतियों में रुचक के नाम से पुष्पिका मिलती है उन दोनों में भी पाठभेद है। वे दोनों पुष्पिकाएँ ये हैं—

१— समापितमिदमलंकारसर्वस्वमिति श्रेयः ।

कृतिस्तत्रमगवदुराजानकरुय्यकस्येति ।

२— सम्पूर्णमिदमलंकारसर्वस्वमिति श्रेयो भवतु<sup>१</sup> ।

लेखकपाठकयो<sup>१</sup> । कृती राजानकरुय्यकस्येति ।

द्वितीय पाठ की प्रति भूजंपत्रप्रति है और प्राचीन है। उसमें रुय्यक का नाम अवश्य ही प्रतिलिपिकार ने जोड़ा है। एक महत्त्व की बात यह भी है कि प्रथम पुष्पिका वाली प्रति में अलंकारसर्वस्व के सूत्रों को अलग से भी लिखा गया है और उनको नाम दिया गया है 'सर्वस्वालंकारसूत्राणि'<sup>२</sup>। अवश्य ही लेखक ने सर्वस्व को सूत्रग्रन्थ से भिन्न ग्रन्थ माना है। इससे भी सूत्रग्रन्थ के 'अलंकारसूत्र' नाम से प्रसिद्ध होने का संकेत मिलता है। एकमात्र शारदालिपि की प्रतियों पर ही हम पूर्ण निर्भर नहीं रह सकते, क्योंकि दक्षिण भारत में जो प्रतियाँ बनी होंगी उनका मूत्र आधार भी अवश्य ही कश्मीरी लिपि की ही पुस्तकें रही होंगी क्योंकि कश्मीर में बना मूत्र ग्रन्थ कश्मीर की लिपि में ही लिखा गया होगा।

जहाँ तक सहृदयशैली की पुष्पिका का सम्बन्ध है उसमें अवश्य ही रुय्यक को अलंकारसर्वस्व का प्रणेता बहा गया है परन्तु उससे यह तो सिद्ध नहीं होता कि मूल सर्वस्व के प्रणेता नहीं हैं। रुय्यक अलंकारसर्वस्व के आधारभूत सूत्रों के प्रणेता होने से अलंकारसर्वस्व के प्रणेता माने ही जा सकते हैं क्योंकि यहाँ अलंकारसर्वस्व शब्द का अर्थ है वह पूरी ग्रन्थसंहिता जो सूत्र, वृत्ति और उदाहरण से बनती है। कहा जा चुका है कि चक्रोक्तिजीवित नाम केवल वृत्ति का है, किन्तु वह प्रयुक्त होता है उसके काव्यालंकार नामक मूल कारिकाग्रन्थ के लिए भी। जहाँ सूत्र और वृत्ति में मतभेद नहीं होता वहाँ सिद्धान्त को सूत्रकार के नाम पर ही व्यवहृत किया जाता है।

यह भी विचार करने की बात है कि विशेषसंपादित सहृदयलीला की पुष्पिका में ग्रन्थक को जो 'रचकापरनामा' और 'अलंकारसर्वस्वकृत्' विशेषण दिए गए हैं, ये स्वयं ग्रन्थकार ने दिए हैं या लिपिकार ने जोड़े हैं। निर्णयसागरसंस्करण में विशेषणरहित पुष्पिका भी [काव्यमा० ५]। इससे स्पष्ट है कि इसमें प्रतिलिपिकार ने भी कुछ अन्तर किया है। यह अन्तर पुष्पिका की प्रामाणिकता को संदेह में डाल देता है। वृत्तिकार ने साहित्यमीमांसा और व्यक्तिविवेकव्याख्यान को अपनी कृति कहा, उनमें भी किसी ग्रन्थकार का नाम नहीं है। ऐसा क्यों ?

ये सब तर्क अपने स्थान पर हैं। इनसे जो भी सिद्ध हो। परन्तु स्वयं ग्रन्थ के अनुशीलन से प्रतीत होता है कि सूत्रकार भिन्न हैं और वृत्तिकार भिन्न। जो वृत्ति अभी प्राप्त है वह सूत्रकार की नहीं कही जा सकती। प्रमाणार्थ 'पुनरुक्तवदाभास' प्रकरण को लीजिए। यह शब्दालंकार प्रकरण में पठित है, किन्तु वृत्तिकार ने इसे अर्थालंकार माना है। जब कि स्वयं वृत्तिकार, संजीविनीकार और सभी संस्कर्ताओं ने अर्थालंकारों का आरम्भ उपमा से माना है, क्योंकि प्रत्येक संस्करण में उपमा के आरम्भ में 'अर्थालंकारप्रकरणमिदम्' लिखा मिलता है। वृत्तिकार को यह भ्रम इसलिए हो गया कि सूत्र में इस अलंकार को अर्थपोनरुक्त्य पर आश्रित बतलाया गया है। वस्तुतः सूत्रकार का कहना यह है कि प्रतीत तो अर्थ ही होता है पुनः कथित रूप में, किन्तु उसका कारण है शब्द, अतः उसे माना जाना चाहिए शब्दालंकार ही, जैसा कि उसके प्रवर्तक उद्भट और उनके अनुयायी मम्मट ने माना है। पुनरुक्तवदाभास की इस स्थिति पर ध्यान देने से यह भी प्रतीत होता है कि आश्रयाश्रयिभाव और अन्वयव्यतिरेक के द्वन्द्व में सूत्रकार अवश्य ही अन्वयव्यतिरेक पक्ष के हैं। आश्रयाश्रयिभाव केवल वृत्तिकार का पक्ष है। यदि सूत्रकार भी इस पक्ष के होते तो पुनरुक्तवदाभास को अर्थालंकारों में ही गिनते शब्दालंकारों में नहीं, क्योंकि पोनरुक्त्य का आश्रय तो वस्तुतः अर्थ ही है, शब्द तो उसमें कारण है। इस प्रकार तो लाटानुप्रास को भी उभयालंकार मानकर किसी पृथक् प्रकरण में रखना चाहिए था क्योंकि वह उभयाश्रित है।

पुनरुक्तवदाभास शब्द को सूत्रकार ने नपुंसकलिङ्ग में रखा है। वृत्तिकार उद्यका आशय नहीं समझ पाए। वे जो हेतु देते हैं वह ब्रह्म ही अवैज्ञानिक है। उनका कहना है कि इसे नपुंसकलिङ्ग में इसलिए रखा है कि उससे लौकिक अलंकारों से काव्यालंकारों का अन्तर सिद्ध हो जाए। क्या काव्यगत पदार्थों को लौकिक पदार्थों से भिन्न दिखलाने के लिए नपुंसक बनाते हुए राम, युधिष्ठिर और अपने आश्रयदाता जयसिंह को मंत्र नपुंसक लिख सकते हैं ? यह भी कोई तर्क है ? वस्तुतः सूत्रकार ने 'पोनरुक्त्यम्' पद को दृष्टि में रखकर उसके अनुसार इस शब्द को बहुव्रीहि समास के द्वारा नपुंसकलिङ्गान्त बनाया है। ऐसा ही उद्भट ने भी किया है। उन्होंने उसे पद का विशेषण माना है। पद शब्द नपुंसकलिङ्ग ही है।

सूत्रकार ने ध्वनि या गुणीभूतव्यंग्य के लिए कोई सूत्र नहीं लिखा, जब कि पौनरुक्त्य के अनेक सूत्र लिखे भूमिका रूप में ही। वृत्तिकार बड़ी लम्बी भूमिका रचते और वह भी सभी अलङ्कारों को चित्रकाव्य वर्ग में रखने के लिए। वस्तुतः वे मम्मट के चश्मे से सूत्रों को देख रहे हैं। सच यह है कि चित्रकाव्य नाम का कोई काव्य होता ही नहीं। ध्वनिकार ने यही कहा है। वे केवल ध्वनि को काव्य कहते और उसके नीचे अप्रधान व्यंग्य वाली उक्ति को भी काव्य कोटि में गिन लेते हैं गुणीभूतव्यंग्य नाम से। उसके बाद जो उक्तियाँ बच जाती हैं उन्हें वे अकाव्य कहते और उनमें काव्य जैसी स्थिति मानते हैं, काव्यत्व नहीं। सभी अलङ्कारों को उन्होंने गुणीभूतव्यंग्य वर्ग में ही अन्तर्भूत दिखलाया है। सूत्रकार अवश्य ही ध्वनिकार के इस पक्ष को जानते होंगे, इसलिए उन्होंने इस प्रकार के कोई भूमिका-सूत्र नहीं लिखे। सूत्रकार के समक्ष आनन्दवर्धन और मम्मट के मतभेद उपस्थित थे। वे मम्मट से आनन्दवर्धन की अधिक महत्त्व देते रहे होंगे, क्योंकि उन्होंने काव्यप्रकाश पर बहुत बड़ी टीका नहीं लिखी और जो लिखी उसमें भी मम्मट का खण्डन किया। यहाँ सूत्रों में भी मम्मट के काव्यप्रकाश के साथ सिद्धान्तभेद है। इसके विरुद्ध वृत्तिकार मम्मट के ही भक्त प्रतीत होते हैं। ८३ तथा ८४ वें सूत्रों का मूलरूप भी वे समझ नहीं पाए। इस प्रकार सूत्रकार अवश्य ही इस वृत्ति के रचयिता से भिन्न हैं।

कदाचित् इसीलिए अप्पयदीक्षित ने वृत्ति को रुच्यक के नाम से प्रस्तुत नहीं किया। पण्डितराज जगन्नाथ 'अलङ्कारसर्वस्व' की अपेक्षा 'रुच्यक' या 'रुचक' लिखना अधिक सुरुर समझते, यदि उन्हें ग्रन्थकार के नाम का निश्चय होना। 'शोभाकर तो ग्रन्थ का भी नाम नहीं लेते। कदाचित् उन्हें उसमें भी संदेह था। इस प्रकार कश्मीर से दक्षिण-भारत तक एक परम्परा संदेह की भी दिखाई देती है। इसे सरलता के साथ रुच्यक के विरोध में साधक प्रमाण माना जा सकता है।

हमें लगता है रुच्यक ने भी कोई अत्यन्त संक्षिप्त वृत्ति अपने सूत्रों पर लिखी होगी जिसके मंगल पद्य में 'निजालंकार०' पाठ होगा। बाद में मंल ने और विस्तृत वृत्ति लिखी होगी और उसमें 'गुर्वलंकार०' के पाठान्तर के साथ रुच्यक का ही पद्य अपना लिया होगा। प्रदीपकार ने काव्यप्रकाश पर नई वृत्ति लिखी ही है। इधर ध्वन्यालोक पर भी दीप्ति नामक नई वृत्ति लिखी गई है। इस प्रकार मंल द्वारा नई वृत्ति का लिखा जाना अस्वाभाविक नहीं। इस दिशा में मंगल पद्य का 'तात्पर्य'—शब्द हमारी सहायता करता है। संप्रति जो वृत्ति प्राप्त है उसमें सूत्रों का तात्पर्य ही नहीं है, उनके प्रतिपादों पर विशद विवेचन भी है और उदाहरणों द्वारा उनका समर्थन भी। यह तो वस्तुतः व्याख्या है। जिस वृत्ति में तात्पर्यमात्र दिया गया होगा उसे या तो मंल ने अपनी वृत्ति में अन्तर्भूत कर लिया होगा या उसका प्रचार मंल की वृत्ति के बाद

समाप्त हो गया होगा। जयरथ को मिली प्रति में कुछ अंश रय्यक की वृत्ति का और कुछ अंश मंख का मिला होगा, क्योंकि उसकी मूल प्रति अत्यन्त अव्यवस्थित थी।

इस प्रकार संप्रति प्राप्त वृत्ति के रचयिता मंख ही हैं और सूत्र के रचयिता उनके गुरु रय्यक। त्रिवेन्द्रम् संस्करण में भी सूत्रों को 'अलंकारसूत्र' ही कहा गया है और उनका रचयिता रय्यक को ही बतलाया गया है। वृत्त्यनुप्रास के उदाहरण 'आटोपेन पटीयसा०' पद्य के पूर्व इसीलिए 'मदीये श्रीकण्ठचरिते' पाठ त्रिवेन्द्रम् की प्रति में मिलता है। इसीलिए मंख की कृति श्रीकण्ठचरित के ओर भी ४ पद्य वृत्ति में उद्धृत हैं। श्रीकण्ठस्तव के जो पद्य पुनरुक्तबदाभास में उदाहृत हैं उनके पहले भी 'मदीये श्रीकण्ठस्तवे' यह अवतरणिका इस संस्करण में है। संभवतः श्रीकण्ठस्तव भी स्वयं मंख की कृति रही हो।

शिष्य और गुरु दोनों मिलकर कोई एक ग्रन्थ लिखते हैं तो लेखक के रूप में नाम गुरु का ही चलता है। पाणिनि का 'तद्विषयता' का सिद्धान्त इसके लिए प्रमाण है। डॉ० श्यामसुन्दरदास और आचार्य पद्मनारायण जी ने मिलकर भाषारहस्य लिखा, किन्तु नाम डॉ० श्यामसुन्दरदास जी का ही चल रहा है। हमने स्वयं कालिदास-शब्दानुक्रम डॉ० वासुदेवशरण जी अग्रवाल के निर्देश में बनाया तो उसकी प्रसिद्धि अभी भी अग्रवाल जी के ही नाम से है। ज्ञाताद्विषो तक बनते रहने वाले भरत-नाट्यशास्त्र, महाभारत और पुराण क्या किसी एक व्यक्ति की कृति हैं, किन्तु प्रसिद्ध केवल भरत और व्यास के नामसे है। 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' इसीलिए कहा गया है। इसलिए भी मंख की कृति रय्यक के नाम से प्रसिद्धि पा सकती है।

### [ ४ ] ग्रन्थकारपरिचय

#### सूत्रकार का परिचय—

सूत्रकार रय्यक को श्रीकण्ठचरितमें मंख ने अपना गुरु और सभी विद्याओं में निष्णात कहा है [सर्ग २५]। साहित्यशास्त्र रय्यक ने अपने पिता राजानक तिलक से ही पढ़ा था,<sup>१</sup> जिनने उद्भट के काव्यलंकारसार पर विवरण नामक कोई व्याख्या लिखी थी, जिसका उल्लेख जयरथ कई बार करते हैं। मंख के अनुसार रय्यक ने अनेक ग्रन्थ लिखे थे। इनमें से केवल काव्यप्रकाशसंकेत<sup>२</sup> तथा सहृदयलीला<sup>३</sup> ही इस समय इनके नाम से प्राप्त हैं।

रय्यक रुचक नाम से भी प्रसिद्ध हैं। सहृदयलीला में इसे इनका दूसरा नाम माना गया है। रुचक संस्कृतशब्द है और रय्यक देशी। रुचक का अर्थ अचर्फी होता है। रय्यक के व्यक्तिगत जीवन के विषय में इससे अधिक विवरण प्राप्त नहीं होता।

अप्राप्त ग्रन्थों में अलंकारानुसारिणी [पृ० ११८, ११२, ११२, ११९ पर

१-२. काव्यप्रकाशसंकेत : काव्यप्रकाश के डॉ० रामचन्द्र द्विवेदीकृत अंग्रेजी अनुवाद The Poetic Light भाग-२ परिशिष्ट में पुनः प्रकाशित।

३. काव्यमाला ग्रन्थमाला में गुच्छक-५ तथा इसी ग्रन्थ परिशि० १ में।



विमर्शिनी मे उद्धृत ] जह्ण के सोमपालविलास की टीका मानी जाती है । ररनकण्ठ ने स्तुतिकुसुमान्जलि की टीका मे इसे रुय्यक की कृति कहा है ।

अलंकारमञ्जरी ( वृत्ति में पृ० ३७ ) तथा 'अलंकारवातिक' (विम० मे पृ० २३८) भी सर्वस्वकार की कृति माने गए हैं । दोनों अप्राप्त हैं । पता नहीं यह सूत्रकार की कृति हैं या वृत्तिकार की ।

### वृत्तिकार का परिचय—

वृत्तिकार मख ( १ ) मंख ( २ ) मंखक तथा ( ३ ) मंखुक नाम से पुकारे जाते हैं । अपने श्रीकण्ठचरित मे इन्होंने स्वयं को मखक ( ३६३, ७२, ७८, २५ सर्ग ) अधिक बार और यत्र तत्र मंख ( २५।११२, १५२ ) भी कहा है । मखुक नाम कदाचित् दक्षिण के मृदुताप्रिय उच्चारण की देन है, क्योंकि यह 'समुद्रबन्ध' की टीका मे ही मिलता है ।

श्रीकण्ठचरित<sup>१</sup> के अनुसार ये रुय्यक के शिष्य तथा कश्मीरनरेद जयसिंह के आश्रित थे । राजतरंगिणी<sup>२</sup> इन्हे जयसिंह का सान्धिविग्रहिक भी कहती है । जयसिंह का समय ई० सं० ११२८-११४८ है, अतः मख और रुय्यक दोनों का समय १२ वीं शती सिद्ध होता है ।

शृङ्गार, भृङ्ग और अलंकार ( लंकार ) इनके बड़े भाई थे । पिता थे श्रीविश्ववर्तन<sup>३</sup> तथा पितामह श्रीमन्मथ<sup>४</sup> । सभी परम विद्वान् थे ।

### कृतिया—

मंख की कृतियों मे श्रीकण्ठचरित २५ सर्गों का एक प्रातिभमहाकाव्य है जो काव्य-माला से छप चुका है । व्यक्तिविवेकव्याख्यान ( विमर्शिनी मे पृ० ३५ पर उद्धृत ) का तीसरा संस्करण हमारे हिन्दी अनुवाद के साथ १९६४ मे चौखम्भा से छप चुका है । इसके पहले भी यह चौखम्भा तथा त्रिवेन्द्रम् से छपा था । साहित्यमीमांसा<sup>५</sup>, नाटकमीमांसा<sup>६</sup>, वृहती<sup>७</sup>, हर्षचरितवासिंक<sup>८</sup> अन्य ग्रन्थ हैं जो अप्राप्य हैं ।

१. श्रीकण्ठचरित ३।६६ तथा सर्ग २५ ।

२. सान्धिविग्रहिको मंखकाख्योज्जकारसौदर ।

स मठस्याभवत् प्रष्ट. श्रीकण्ठस्य प्रतिष्ठया ॥१८।३३५४ राज० ।

३-५. श्रीकण्ठचरित सर्ग-३, सभी भाइयो मे मंख ने अलंकार की बड़ी प्रशंसा की है ।

६. त्रिवेन्द्रम्संस्कृतग्रन्थमाला से छपी साहित्यमीमांसा मे 'अंगलेखा०' पद्य पर वह विवेचन नहीं मिलता जिसके लिए सर्वस्व पृ० २०१ मे वह उल्लिखित है, अतः डॉ० रामवन् आदि इसे मंख की कृति मे भिन्न मानते हैं । विमर्शिनी-४६७ मे भी साहित्यमीमांसा का उल्लेख है और व्यक्तिविवेकव्याख्यान मे भी ।

७-८. व्यक्तिविवेकव्याख्यान में उद्धृत ।

९. व्यक्तिविवेकव्याख्यान तथा सर्वस्व मे उद्धृत पृ० २०१ ।

त्रिवेन्द्रमसंस्करण में 'श्रीकण्ठस्तव' को भी मदीय और मंलीय कहा गया है। यह प्रथमवृत्तिकार रुच्यक की भी कृति हो सकती है। विरुद्ध प्रमाण मिलने पर इन ग्रन्थों के निर्माता पर पुनर्विचार किया जा सकता है।

### मम्मट से परवर्ती—

काव्यप्रदीपकार गोविन्द ठक्कुर और वामन जलकीकर आदि की यह धारणा है कि काव्यप्रकाश में श्लेष सम्बन्धी जो शास्त्रार्थ नवम उल्लास में मिलता है उसमें खण्डन सर्वस्व के मत का है। वस्तुतः सर्वस्व में काव्यप्रकाश की 'अलङ्कारोऽयं वस्त्वैव०' कारिका श्लेष प्रकरण में उद्धृत है, साथ ही विभावना तथा संसृष्टि प्रकरण में मम्मट की ओर संकेत किया गया है। इस कारण मम्मट ही पूर्ववर्ती हैं। पण्डितराज के प्रत्यनोक्तकालंकार से भी संकेत मिलता है कि वे सर्वस्वकार को मम्मट के दाद का मानते हैं।

### [ ५ ] टीका तथा टीकाकार

अभी तक सर्वस्व की तीन टीकाएँ ही प्रकाश में आई हैं विमर्शिनी, समुद्रवन्धी तथा संजीविनी, यद्यपि इसकी और भी कुछ टीकाएँ थीं। इनमें

#### ( १ ) संजीविनी—

श्रीविद्याचक्रवर्ती की टीका है। कहा जा चुका है कि इसके १९६५ में दो संस्करण हुए हैं। श्रीविद्याचक्रवर्ती का पूरा नाम श्रीविद्याचक्रवर्ती ही है। श्रीचक्रवर्ती ने स्वयं को महान् विद्वान्, साधक और हासेल नरेश बल्लाल-३ का सभापण्डित कहा है। बल्लाल-३ का राज्यकाल १२९१-१३४२ ई० है। अतः श्रीचक्रवर्ती १४वीं शती के मध्यवर्ती सिद्ध होते हैं। श्रीचक्रवर्ती ने प्रत्येक अलङ्कार पर अन्त में संग्रहकारिका भी बनाई हैं। ये 'निष्कृष्टार्थकारिका' नाम से अलग भी संगृहीत मिलती हैं।

#### ( २ ) समुद्रवन्धी—

समुद्रवन्ध केरल प्रदेश के यदुवंशी महाराज रविवर्मा के सभापण्डित थे। रविवर्मा का समय १२६५ ई० है। अतः श्री समुद्रवन्ध को १३वीं शती के उत्तरार्ध का माना जाता है। ये उत्तम कवि थे। अपनी टीका, जिसका नाम कदाचित् विवरण है, के आरम्भ में इन्होंने जो मंगल पद्य दिए हैं उनसे लगता है कि इन्हें अभिव्यक्ति की उत्तम सुक्ष्मता, उत्तम सटीकता और उत्तम प्राञ्जलता लगभग शिग भूपाल के ही समान प्राप्त थी।

#### ( ३ ) अलक—

रत्नकण्ठ ने स्तुतिकुसुमांजलि की टीका में सर्वस्व के टीकाकार के रूप में अलकभट्ट का भी उल्लेख किया है। यह टीका प्राप्त नहीं होती अतः इसके रचयिता अलक के परिचय के विषय में इतना ही कहा जा सकता है कि ये काव्यप्रकाश के दशम

उल्लास के पूर्तिकर्ता अलरु से भिन्न हैं, क्योंकि इन्होंने काव्यप्रकाश पर टीका लिखने वाले रुच्यक के इस ग्रन्थ पर टीका लिखी है।

### ( ४ ) विमर्शिनी—

इसके रचयिता जयरथ हैं। विमर्शिनी के अन्त में जयरथ ने अपना सक्षिप्त परिचय दिया है। ये सतीसर के समीपवर्ती कश्मीरनरेश राजराज के मन्त्री शृङ्गार के पुत्र थे। शृङ्गार का पूरा नाम शृङ्गाररथ था। श्रीतन्त्रालोक की स्वरचित टीका के अन्त में जयरथ ने अपनी वंशावली इस प्रकार दी है—

१-पूर्णमनोरथ<sup>१</sup> [ १३० ई० के कश्मीरनरेश यशस्कर के मन्त्री ]

२-उत्पलरथ<sup>२</sup> प्रथम

३-प्रकाशरथ<sup>३</sup>

४-सूर्यरथ<sup>४</sup> [ भाई धर्मरथ, उत्तमरथ, मनोरथ ]

५-उत्पलरथ<sup>५</sup> द्वितीय [ भाई अमृतरथ अन्य दो भाई अनुलिखितनामा, १०२८-१०६३ ई० तक के कश्मीरनरेश अनन्त के आश्रित ]

६-सम्मरथ<sup>६</sup> [ भाई शिवरथ, शंकरथ, नन्दिरथ, इनमें से शिवरथ विरक्त हुए ]

७-गुणरथ<sup>७</sup> [ भाई देवरथ ]

८-राजानक गुड्गारथ<sup>८</sup> [ भाई लङ्करथ पत्नी सत्त्वदाशी ]

९-शृङ्गाररथ<sup>९</sup> [ शृङ्गार के जन्म के बाद गुणरथ का शरीर यौवन में ही छूट गया ]

१०-जयरथ<sup>१०</sup> [ भाई जयद्रथ ]

राजतरंगिणी में प्राप्त कश्मीरी राजाओं की सूची में राजराज नाम का कोई राजा नहीं मिलता, अतः विद्वानों ने उसे राजदेव नामक राजा से अभिन्न माना है, जिसका समय १२०३-१२२६ ई० है। उधर जयरथ ने पृथिवीराजविजय का [ पृ० २११ ] उल्लेख किया है जो ११९३ ई० में दिवंगत अन्तिम भारतीय हिन्दू सम्राट् पृथिवीराज पर लिखा गया संस्कृत महाकाव्य है। फलतः जयरथ का समय १२वीं शती के अन्त से लेकर १३वीं शती के मध्य तक स्थिर होता है।

१. तन्त्रालोक आह्निक ३७ उपसंहार—८

२-३. वही पद्य ९,

४ वही पद्य १०,

५. वही पद्य ११,

६ वही पद्य १९,

७. वही पद्य २३,

८. वही पद्य २५, ३६,

९ वही पद्य २६,

१०. वही पद्य ३८,

जयरथ के विद्यागुरु थे श्री शंखधर [ तन्त्रालोक प्रथमाह्निक अन्तिम पद्य ] तथा श्रीसंगरथ<sup>१</sup> और दीक्षागुरु श्री सुभटरत्न, जो<sup>२</sup> त्रिभुवनदत्त के पुत्र तथा श्री विश्वदत्त के पौत्र थे। सुभटरत्न इनके पिता श्रीशृङ्गाररथ के भी दीक्षागुरु<sup>३</sup> थे। जयरथ ने बहुत कुछ अपने पिता से पढ़ा था। शैवागम, क्रमदर्शन तथा कुलदर्शन के ये अद्वितीय विद्वान् और विशेषज्ञ थे, अन्य शास्त्रों में तो निष्णात थे ही। इन्होंने अभिनवगुप्त के आकरग्रन्थ श्रीतन्त्रालोक की व्याख्या लिखी है और अन्त में अपने परिचय में लिखा है—

‘पदे चाव्ये माने निखिलशिवशास्त्रोपनिषदि  
प्रतिष्ठां यातोऽहं यदपि निरवद्यं जयरथः।  
तथाप्यस्यामङ्ग चचचन भुवि नास्ति त्रिकदृशि,  
क्रमार्थं वा मत्तः सपदि कुशलः कश्चिदपरः ॥’<sup>४</sup>

—‘यद्यपि मैं जयरथ, व्याकरण, नीमांसा और तर्कशास्त्र के साथ संपूर्ण शैवशास्त्र में प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुका हूँ तथापि त्रिकदृष्टि और क्रमदर्शन में मुझ से अधिक कुशल पूरी पृथिवी में कोई नहीं है।’ क्या ही प्रगाढ़ आत्मविश्वास प्रकट किया है इस विद्वान् ने अपने वैदुष्य के प्रति। कभी कभी यह घातक भी बन जाता है। विद्वानों की राय है कि तन्त्रालोक की व्याख्या में भी जयरथ ने अनेक स्थानों पर प्रौढिवाद से काम लिया है और मूलविषय निष्कर्ष निकाले हैं। विमर्शिनी में भी वे इसी प्रकार कहीं से कहीं पहुँचते दिखाई देते हैं। किन्तु इसमें संदेह नहीं कि जयरथ एक महान् विद्वान् और परिश्रमी लेखक हैं।

जयरथ की दूसरी आलंकारिक कृति है अलंकारोदाहरण। इसका पाण्डुग्रन्थ पूना में सुरक्षित है और उसके आधार पर इसका विवरण डॉ० रामचन्द्र द्विवेदी ने अलंकार-मीमांसा में प्रस्तुत कर दिया है। इस विवरण से स्पष्ट है कि जयरथ ने सर्वस्वकार और शोभाकर के झगड़े को निपटाते-निपटाते ठीक उसी प्रकार स्वयं भी एक अलंकार-शास्त्रीय ग्रन्थ लिख डाला जिस प्रकार काव्यप्रकाश की टीका लिखते-लिखते रुच्यक ने अलंकारसूत्र, विश्वनाथ ने साहित्यद्वयं और पण्डितराज ने रसगंगाधर। जयरथ ने इस ग्रन्थ में शोभाकर के अनेक अलंकार स्वीकार कर लिए हैं। क्रियातिपत्ति, वितर्क, विपर्यय, उदाहरण, निश्चय, आदर, शृङ्खला, प्रसंग, समता, तुल्य, वैधर्म्य, परभाग, उद्रेक, विधि, प्रतिप्रसव, तन्त्र, प्रत्यूह, विवेक—इनमें उल्लेखनीय हैं। कुछ अलंकारों की कल्पना जयरथ ने स्वयं की है। तात्पर्य, अंग, अनंग, अप्रत्यनीक, अभ्यास, अभीष्ट, ऐसे ही हैं।

विमर्शिनी का पूर्ण नाम अलंकारविमर्शिनी है। इसे टीका न कहकर भाष्य कहना चाहिए। सैकड़ों नवीन ललित और उपयुक्त काव्य-पद्यों को उद्धृत करते हुए ग्रन्थ के

१. तन्त्रालोक ३७ आह्निक के अन्त के परिचयपद्य-४१

२-३. वही पद्य ३५

४. वही पद्य ४७

सकेतात्मना निदिष्ट अंशो को सोदाहरण विषय करना कम प्ररिथम का कार्य नहीं है। विमर्शिनीकार इस दृष्टि से एक आश्चर्यकारिणी मेधा के धनी है। ग्रन्थ के उदाहरण में जहाँ इन्हे अक्षमता दिखाई देती है वे तुरन्त अपनी ओर से कोई उदाहरण पद्य उपस्थित कर देते हैं। उन्हें साहित्य संप्रदाय का ज्ञान है, अतः वे मम्मट पर किए कटाक्षो को समझते और स्पष्टीकरण के लिए मम्मट का नाम प्रस्तुत करते हैं। विमर्शिनीकार को अपने व्याख्येय मूलग्रन्थ के प्रति आदरबुद्धि है [ अतिशयोक्ति २२४-५ ] वे उसे प्रतिपक्ष के आक्रमणों से बचाते और अपने तर्कों से प्रतिपक्ष का उत्तर देने में पूरे संरम्भ के साथ जुटते हैं।

विमर्शिनी का चिन्तन ही वह मूल है जिससे अप्पयदीक्षित को चित्रमीमांसा और कुवलयानन्द लिखने की प्रेरणा और ज्योति दोनो मिली तथा पण्डितराज जगन्नाथ को अपना अति प्रोढ़, रसगंगाधर। ये दोनो महान् विद्वान् सर्वस्व, विमर्शिनी और रत्नाकर को पदे-पदे उद्धृत करते चले हैं।

साहित्यशास्त्र बड़ा भाग्यशाली शास्त्र है जिसे इतने बड़े विद्वानों ने अपनी चतुरस्र विद्वत्ता के निर्मल चतुष्पथ पर चहुँओर दृष्टि फैलाकर अवधानपूर्वक बड़े परिश्रम से सीचा। उद्गत, वामन, आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त, कुन्तक, महिमभट्ट, भोज, मम्मट, घ्यक, शोभाकर, जयरथ, अप्पयदीक्षित, पण्डितराज जगन्नाथ—सभी शास्त्रों के अप्रतिम विद्वान् थे। विषय के अन्य किसी वाङ्मय में काव्यशास्त्र को कदाचित् ही इतने बड़े विद्वानों का इतनी बड़ी संख्या में इनके लम्बे समय तक योगदान प्राप्त हुआ होगा।

विमर्शिनी ऐसी प्रासादिक रचना है कि अकेली यही अभ्यस्त हो जाए तो पाठक चतुरस्र पाण्डित्य का धनी बन सकता है। इसमें आए गम्भीर विवेचन यहाँ उद्धरण की अपेक्षा नहीं रखते। जहाँ वही पुस्तक खोली जाएगी यह विशेषता प्रकट हो जाएगी।

अलंकारविमर्शिनी में जयरथ ने अलंकारभाष्य [ ११८, १५३ ] और अलंकारसार, [ ३६१, ७३७ ] नामक ऐसे दो ग्रन्थों को भी उद्धृत किया है जिनमें अलंकारों का और भी विषय विवेचन था, किन्तु जो इस समय प्राप्त नहीं हैं। इनके अतिरिक्त कुछ ऐसी कारिकाएँ भी उद्धृत की हैं [ पृ० २५ ] जो ध्वनिविरोधी तथ्य प्रस्तुत करती हैं। ये जिन ग्रन्थों की हैं वे अवश्य ही अतीव महत्त्व के ग्रन्थ रहे हैं। दुर्भाग्य है कि हमारे पूर्वजों ने, विशेषतः ध्वनिवादी आचार्यों और उनके अनुयायियों ने अपने विरोध को पनपने नहीं दिया। जो उदारतावादी थे उन्हें मर्यादावादी चिन्तकों ने उत्पथगामी माना और अपने श्रेष्ठ के विरुद्ध आदर देना उचित नहीं समझा।

अन्य टीका—

जयरथ ने 'अन्यै' [ पृ० ६०३ ] कहकर किसी आदरणीय या अन्य किन्हीं सम्मान्य विद्वानों की ओर भी संकेत किया है। अवश्य ही जयरथ के समय तक वे सर्वस्व पर अनेक कार्य हो चुके होंगे।

## हमारा संस्करण

हमारा यह संस्करण मुख्यतः निर्णयसागरीय संस्करण पर आधारित है। हमने इसमें मूल सर्वस्व [ सूत्र तथा वृत्ति ] तथा उसकी टीका विमर्शिनी दोनों का हिन्दी अनुवाद भी किया है। मूल का हिन्दी अनुवाद डॉ० रामचन्द्र द्विवेदी भी कर चुके थे, किन्तु विमर्शिनी का अनुवाद अभी तक नहीं हुआ था। टीका का अनुवाद मूल के अनुवाद के बिना आधारहीन प्रतीत होता अतः हमने मूल का भी हिन्दी अनुवाद करना आवश्यक समझा। यह भी सरल कार्य न था। अनेक स्थलों में संदिग्धता थी। हमने वहाँ पं० रामचन्द्र द्विवेदी का अनुवाद देखा। उससे कहीं हमें सहायता मिली, कहीं उनके संदेह दूर हुए।

अनुवाद के पहले विषय के अनुसार मूलपाठ का निर्धारण आवश्यक था। हमने यथासाध्य वह किया है और पाठक यह जानकर प्रसन्न होंगे कि उक्त पाँचों संस्करणों में जो संशोधन छूट गये थे उन्हें हमने छूटने नहीं दिया है। उदाहरणार्थ चौथे सूत्र को लीजिए। इसे निर्णयसागरीय, त्रिवेन्द्रमीय और वाराणसेय संस्करणों में वृत्तिरूप में छपा गया था। १९६५ के दोनों नए संस्करणों में भी वह वृत्तिरूप में ही छपा रह गया। हमने उसे सूत्र रूप में ही छपवाया है, जब कि संजीविनी ने भी इसे सूत्र ही माना है। ग्रन्थसंगति भी उसके बिना संभव न थी। ५ तथा ६ सूत्रों में शब्दपोनस्तक्य के प्रथम भेद की चर्चा है। यदि उक्त सूत्र को सूत्र न माना जाए तो 'प्रथम' का अर्थ नहीं लगाया जा सकेगा। इसी प्रकार पर्यायालंकार के लिए निर्णयसागर तथा मोतीलालबनारसीदास दोनों के संस्करणों में दो-दो सूत्र छपे हैं। वस्तुतः उनमें से द्वितीय सूत्र, सूत्र नहीं, वृत्ति है। हमने उसे वृत्ति रूप में ही छपवाया है। उसे डॉ० राघवन् ने भी वृत्ति ही माना है, किन्तु चतुर्थ सूत्र को भी वृत्ति मान लेने से उनकी सूत्र संख्या ८६ ही रह गई है। डॉ० द्विवेदी के संस्करण में सूत्र संख्या ८७ ही है, जो सही है, किन्तु वह संख्या पर्याय के लिए दो सूत्र मानने से आई है। अपने संस्करण में हमने इसे ठीक कर दिया है। निर्णयसागरीय संस्करण में व्याघात के द्वितीय सूत्र के आगे व्याघातः सूत्र में ही छपा हुआ है। वस्तुतः वह वृत्ति है और उसके आगे अनुवृत्तिसूचक 'इत्येव' अन्य संस्करणों में प्राप्त है। हमने उसे वृत्ति ही माना है। सारालंकार के सूत्र में सार के स्थान पर 'उदार' पाठ निर्णयसागरीय संस्करण में छपा हुआ है। पाठान्तर में वहाँ सार ही पाठ था। अन्य संस्करणों के ही समान हमने भी इसे सार ही माना है।

वृत्ति में भी पर्याप्त संशोधन करना पड़ा है। निम्नलिखित तालिका से संशोधन का आभास मिल सकेगा—

पृष्ठ	निर्णयसागर संस्करण	प्रस्तुत संस्करण	पृष्ठ
८	द्विविधमपि	त्रिविधमपि	६
९	प्राधान्यं च काव्यस्य	प्राधान्यं च [काव्यस्य]	२१

पृष्ठ	निर्णयसागर संस्करण	प्रस्तुत संस्करण	पृष्ठ
१३	स्वरूपेण विदितत्वात्	स्वरूपेण विचार्यत्वा	२७
१५	लिङ्गितया	लिङ्गितया	३५
१९	शब्दस्याप्रतीता०	शब्दस्य प्रतीतो	४४
"	इहेति शब्दप्रस्तावे	इहशब्द' प्रस्थाने	४४
२४	'शब्दपौनरुच्यं'—इत्यादि वृत्ति	'शब्दपौनरुच्यं'—सूत्र	६०
	इति द्वैविध्यमेव स्वरव्यञ्जनसमुदायपौनरुच्यं च	इति द्वैविध्यमेव ।	६०
२८	ब्रूम'—इत्यवैहि अत्राञ्जपत्रनयने नयने निमील्येत्यादी	ब्रूम'—इत्यवे-इत्यादी	७१
५२	आतुरम्य	आतरम्य	१३६
६०	यदत्र वस्तुतस्तद्रूपतायाः	यत्र वस्तुत०	१५८
६१	पुष्टुत्तरसि	गुरुत्तंसि पृष्टुत्तरसि	१५९
७५	इत्यादाबुदाहृतस्य	इत्यश्रोदहृते	१९७
८०	लीक्ष्यमानास्ता	लीक्ष्यमानाशा	२०६
८८	अत्र चातिशया	अतश्चा	२२९
९१	०विर्वात्तित्वाद्	निर्वर्वात्तित्वाद्	२४३
९४	वस्तुतः शब्दस्य	वस्तुशब्दस्य	२५५
१०६	भावोऽशोभनत्वम्	भावः शोभन०	३०६
"	च तदन्वनिवृत्ती	चान्यनिवृत्ती	३०६
१०९	ततश्च	तच्च	३१५
"	भावात् त्रिधा	भवत् त्रिधा	३१५
"	नायकनायिकास्यधर्मविशिष्टयो	नायकतास्यधर्मविशिष्टयो	३१५
११०	केशपाशाक्लिवृन्देव	केशपाशाक्लिवृन्देन	३१७
१११	शिव किल	विधिकल	३१७
११६	व्यापारविषयतो	व्यापारविषयोक्तो	३२८
११७	नायकत्वं स्वरूपेण	नायक स्वरूपेण	
१३४	कि मामालप	कि मा नालप	३८४
१४८	सातिशयात् कोपजनकरवादिः	सातिशयो मरणसङ्क्षोप०	४३०
१७६	श्रीहर्षप्रस्थापने	श्रीहर्षप्रस्थाने	५१८
२२३	अभिमानेन सा योक्तिर्ज्ञान	अभिमाने च सा योज्या	६७४

प्रायः यही स्थिति विमर्शनी की रही है । उसमें भी पर्याप्त संशोधन करना पडा । इसके भी कुछ स्थल—

पं०	पृष्ठ	निर्णयसागर	प्रस्तुत संस्करण	पृष्ठ
नीचे से ५	२	विमर्शनीकारः	× ×	

पं०	पृष्ठ	निर्णयसागर	प्रस्तुत संस्करण	पृष्ठ
नीचे से १	२	तात्पर्यमुच्छ्रित इति । अस्या- भिप्रायः—तथा च	तात्पर्यमुच्यत इत्यस्या-भिप्रायः । तथा च	२
९	१०	इत्युपचारवक्रतादीनां	इत्युपचारवक्रता वादि- पदेन क्रिया-वक्रता- दीनां	२३
१०	१४	त्रिविधस्तथापि तेन०० मुख्यत्वेन	त्रिविधस्तथापि [तेन००] मुख्यत्वेन	३२
९	२१	कार्यापेक्षे	कार्यार्थेन	५२
२	२३	उपमितार्थादिवादि	उपमितार्थादिवाचि	५६
७	"	तथात्वानुपपत्तेः	तथात्वोपपत्तेः	"
नीचे से १	"	वारण-रणरणिक्का०	वारण-रण-रणरणिक्का	५८
	३२	तत्सादृश्यत्व	सदृशत्व	८५
नीचे से १०	३६	उपमानत्वेनोपात्ता	उपमानत्वेन नोपा	९२
९	३९	कल्पितेनैव	कल्पितेन तेनैव	१००
३	४२	स्मृतृदशायामनीतत्वाकर्तृ०	स्मृतृदशायामतीतत्वात् कर्तृ०	११०
१०	४४	युक्तम्	युक्तत्वम्	११६
११	"	अपह्नवे	अनपह्नवे	११८
५-६	५६	अन्तिसद्भाव	अन्तिमच्छब्द	१५२
३	५८	सादृश्यनिमित्तं	सादृश्यनिमित्तकत्वमेव	१५३
६	५९	स्वातन्त्र्येण	आखण्ड्येन	१६१
३	६१	विभाषस्य	विभागस्य	"
नीचे से १	६३	नापह्नुतेर्हि	अपह्नुतेर्हि	१७१
१	६७	चन्द्रादेर्वृत्त्यभावो	चन्द्रादेर्वृत्त्यभावाद्	१७५
नीचे से ८	"	नयनुद	ननु यद	१७८
"	५	लक्ष्मीसौन्दर्या	लक्ष्मीसौंदर्या	१७९
	४	स्फुटत्वे तत्कान्ता	स्फुटं त्येतत्कान्ता	१७९
नीचे से ६	६८	० विशेषात्सामान्यतर्कोऽपि	० विशेषात्संशयप्रकार- स्तकं:	१८४
"	८	पक्षान्तर-संस्पृशं	पक्षान्तरासंस्पृशं	१८४



नीचे से	पं०	पृष्ठ	निर्णयसागर संस्करण	प्रस्तुत संस्करण	पृष्ठ
"	४	"	सशयो ह्यतिशयितोभया०	संशयो ह्यनियतोभया	"
	१३	६९	निमित्तसामर्थ्यात्	निमित्त तत्सा०	१८६
	१४	"	विषयप्रतीते	विषयिप्रतीतेः	"
	१६	"	विषये प्रतीति	विषयिप्रती०	"
	१२	७०	विषयदाह्येन	विषयिदाह्येन	"
नीचे से	३	८६	लडहत्वादीनामित्यादि- शब्दाद्विवर्तनोच्छाया एव	लडहत्वादीनामिति । आदिशब्दाद् वर्तनच्छाया एव	२२७
	१	"	०नार्थमिति । एतत्प्र०	०नार्थमित्येतत्प्र०	"
	१	९२	प्रस्तुतस्य विनान्येन	प्रस्तुतस्य तु नान्येन	२४४
	५	९५	विशेषाभिहितमया	विशेषाभिहितमया	२५६
	४	९६	पाठान्तर-विशेषानभिहितस्या पाठान्तरवक्तृप्रतिवक्त्रो. वक्तृप्रतिपत्त्योः	विशेषाभिहितस्या वक्तृप्रतिपत्त्यो	२५७
	५	९६	तस्यापीति	तस्यापीति [ सामान्य- धर्मस्यापीत्यर्थं. ]	२६४
नीचे से	३	९८	प्रतिपाद्येन, प्रतिपाद्य तेन ( पाठान्तर )	प्रातिपद्येन	२७१
	४-५	१०४	कार्यकारणयो. प्रति नियमस्य विषयंस्तुल्यकालत्वादिनोक्तेः ( अथ च कार्यकारणवत्प्रति- नियमस्य क्रमस्य विषयंस्तु- ल्यकालत्वादिनोक्ते ।	कार्यकारणयो प्रति- नियमस्य क्रमस्य विषयंस्तुल्यकाल- त्वादिनोक्ते ।	२९९
	६	"	तत्रेति निर्धारणे । अस्यामनु०	तत्रेति निर्धारणे । [ कार्यकारणप्रतिनियम- विषयंरूपेति ] अस्यामनु	२९९
	१२	"	विशेषणपरिहारेण	विशेषणपरिहारेण	३०२
नीचे से	८	११२	समासोक्तावुपमायां	समासोक्तायामुपमाया	३२०
		१२६	उत्पापनमिति	उत्पापनमिति	३६१
		"	दुर्बलत्वादा ( भावान्नान्य ) बाध्यत्व०	दुर्बलत्वादा— बाध्यत्व०	३६१
		"	तत् सर्वजनविरुद्ध०	तत् स्ववचनविरुद्ध०	३६२

पं०	पृष्ठ	निर्णयसागर संस्करण	प्रस्तुत संस्करण	पृष्ठ
नीचे से	५	१२७ वाधोत्पत्तावपि	वाधोत्पत्तिः, अपितु	३६७
नीचे से	४	” पश्चाद्विरोधधीः	पश्चाद्विरोधधीः	”
	५	१२९ असम्बद्धत्वा०	सम्बद्धत्वा०	३७२
नीचे से	२	” नायिकाशशिनोः	नायिकानिशयोः	”
	४	१३१ सादृश्यपर्यवसायापह्लव	सादृश्यापर्यवसायपह्लव	
नीचे से	३	” व्याजोक्ती चत्वारः प्रकारा विद्यन्ते	व्याजोक्ती चोत्तरः प्रकारो विद्यते	३७४
नीचे से	२	१३४ अप्रस्तुतात् कारणात् प्रस्तुतस्य कार्यस्य	अप्रस्तुतात् कार्यात् प्रस्तुतस्य कारणस्य	३८५
	२	१३५ कार्ये प्रस्तुते कारणस्या०	कारणे प्रस्तुते कार्यस्य	३८६
१-२	१३७	सारूप्येण साधर्म्योदाहरणानां	सारूप्येण साधर्म्यो- दाहरणानां	३८९
	३	” वाक्येनेति निश्चिनुमः	वाक्येन [ अतिदेश ] इति निश्चिनुमः	३८९
नीचे से	२	१४० संपद्वरण	संपद्वरण	४०१
	८	१४९ निषेधस्यैव भासनात्	निषेधस्यावभासनात्	४३५
	३	१७६ तत्र रूपाय विशेषविवक्षा	तत्र पुनरूपायविशेष	५१९
	७	” प्रस्थापन	प्रस्थान	५१९
नीचे से	१	” विभावादीनां	विभावनादीनां	५२५
	९	१७७ कारणमालानां	कारणानां	५२५
	४	१८१ आधिक्यमुक्तम्	आधिक्यमिति वर्धमानमुक्तम्	
	६	” तस्मादस्मिन्वच वर्धमाने सारोपान्तर्भावेनेति न पुनरिदमन्त- भूतं सारे परिमितविषये महाविषय मित्याद्युक्तमेवोक्तम्	तस्माद्-अस्मिन्वच वर्धमाने सारोपान्तर्भा- वेनेति न पुनरिदमन्त- भूतं सारे परिमितविषये महाविषयमित्या- द्युक्तमेवोक्तम्	५३५
	१	१८२ दृक्त्वाभासैव	दृक् स्वाभासैव	५४०
नीचे से	६	१८२ तच्छब्दस्यापि	तच्छब्दस्यापि	५४०
नीचे से	१	१८३ वैचित्र्यावहृत्वाच्छब्दस्यापि	वैचित्र्यावहृत्वाच्छा- ब्दस्यापि	५४१
	७	१८४ त्रिरूपस्य साध्यस्य	त्रिरूपस्य साधनस्य	५५२

पं०	पृष्ठ	निर्णयसागर संस्करण	प्रस्तुत संस्करण	पृ०
३	१८६	समर्थतया	समर्थतया	५५३
४	१८८	मृतेर्दारात्मजा०	मृतेर्दारात्मजा०	५५८
		„ सूचितं तस्यैव	संमुचितम् । तस्यैव	५६७
	१९१	शब्दोपात्तदधति(?)	शब्दोपात्तमेतद्भवति	५७२
नीचे से १	१९१	तदिति नियमस्य	तदिति विनिमयस्य	५७२
६	१९२	लतासमत्वयोर्बिम्बप्रति०	मत्तत्वासमत्वयोर्बिम्बप्रति०	„
२-३	१९३	कविप्रतिभानिर्वृत्तितत्वा- भावाह्नोको०	कविप्रतिभानिर्वृत्तितत्वा- ह्नोको०	५७९
३	१९५	नियमविधि । पुनरज्ञातज्ञा०	नियमविधि । न पुनरज्ञातज्ञा०	„
४	„	तेन नियमे श्रीहि०० यित्वमेव दलनादे०	तेन नियमे श्रीही०० यित्वमेव न, दलनादे	„
४	२००	विकल्पोऽपि न भवति	विकल्पोऽपि भवति	५९४
	२०४	तत्कथं न वदयःप्रभृ०	तत्कथं न वदयः प्रभृ०	६०३
	२०६	निरासमानराकरणं	निरायासमाननिराकरणं	६०९
२	२०८	प्रतीपाह्यमलंकारद्वयं पुनः	प्रतीपाह्यमलंकारद्वयम्, न पुनः	६१८
४	२११	घटपटवद्भेदो न	घटपटवद् भेदेन	६२८
२	२१२	यत् समानगुणत्वे०	यत् समानगुणत्वे	„
नीचे से ३-१	२१४	अननुदाहरणीय०, अननुदा- हरणा०, अतिरिक्तत्व०	अननुहर०, अननुहर०, अतिरिक्त० <sup>१</sup>	६३८
नीचे से ४	२१९	लोकात्म	चोत्रात्म	६५३
नीचे से २	„	तस्य हि यथायोजनमात्रं लक्षणम्	तस्य हि अन्यथायोज०	६५३
	१	२२० वाक्याभिधेयमानोऽर्थो	वाक्येऽभिधीयमानोऽर्थो	६५८
नीचे से ६	„	प्रस्थानविशेषतया	प्रस्थाननिषेधकतया	६५९
नीचे से ५	२२१	मुख्यार्थमुपादनमिति भेदान्तरमप्य- वसानवाच्यम्	मुख्यार्थापादनमिति भेदा- न्तरमप्यस्या न वाच्यम्	„
	५	२२४ इह हि केचिदपि कविदक्षि सुस्पष्टमधिरूढाः वाच्यवाचकयोः	इह हि वाच्यवाचकयोः	६७२

१ यहाँ मूल में 'समुचितं तस्यैव' ऐसा ही छापा रह गया है ।

२. मूल में अतिरिक्त० ही छपा गया है ।

३ मूल में यथायोजनमात्र ही छपा गया है ।

	पं०	पृष्ठ	निर्णयसागर संस्करण	प्रस्तुत संस्करण	पृष्ठ
	५	२२५	भाविना	भावना	६७३
	७	"	आदरश्च	आदराच्च	"
नीचे से	३	"	योगविद्भूत०	योगविद्भूत०	६७५
"	"	"	प्रत्यक्षतयैव तदभावभासनं	प्रत्यक्षतयैव [ प्रतीतिस्तथापि ] तदभाव [सं] भावनं	६७५
	६	२२६	परमाद्वैतज्ञान	परमाद्वैतिज्ञान	६७५
	७	"	जानामीति समानाधि	जानामीत्यसामा०	६७६
नीचे से	४	२२७	सीधेषु नीतं	सीधेषु गीतं	६७८
	१	२२८	स्वप्ने मोदित	स्वप्नान्तोदित	"
	४	२२९	कविसमर्पितधर्मत्वं	कविसमर्पितधर्मणां	६८२
	२	२३१	अङ्गभूतस्य	अङ्गभूतस्य	६८९
	"	"	तत्र नायमलंकारः	तदत्र नायमलंकारः	"
नीचे से	५	२३२	रत्यात्मभावः	रत्यात्मा भावः	६९३
	१३	२३५	गुणीभावात्	गुणीभावाभावात्	६९५
नीचे से	२	२३६	पुष्पन्पुरारेः	पुष्पत् पुरारेः	७०३
नीचे से	९	२३८	रतेरभूत०	रतेरङ्गभूत	"
नीचे से	४	२४०	शङ्कासूयाधृतिस्मृत्यौत्सुक्य- दैन्यौत्सुक्यानां	शङ्कासूयाधृतिस्मृति- दैन्यौत्सुक्यानां	७१६
नीचे से	१	२४१	प्रकृतत्वाच्चारु०	प्रकृताच्चारु०	७१८
	३	२४३	सामग्रादेः	सामग्रघादेः	७१९
	११	"	बोधन्यायेन मानसबोधन्यायेन	बोधन्यायेन [ मानसबो- न्यायेन ]	"
नीचे से	५	"	जिनाहंसमयास्तथा	जिनाहं हेममयास्तथा	७२०
	२	"	व्यक्तमेवं विधीयते	व्यक्तमेवं विधीयते	७२०
	३	२४४	इवेक्ष्यते	इवेक्षिते	"
	८	"	तस्मादेपां विषयत्वं	तस्मादेषामविषयत्वं	"
नीचे से	५	"	पूर्वहाराच्चारुत्वाभावाच्च	पूर्वहाराच्चारुत्वा- भावाच्च	"
	४	"	संसृष्टिसंकथने चलिते	संसृष्टिसंकरयुगे दलिते	"
	३	"	रसताम्	रसताम्	"
	७	२४५	निमित्तानिमित्तभावेन	निमित्तनिमित्तभावेन	७२६
	५	२४६	अङ्गत्वे पुनरेषां संकरादी- नामङ्गा०	अङ्गत्वे पुनरेषां संकरधीर्ना०	७२७

पं०	पृष्ठ	निर्णयसार संस्करण	प्रस्तुत संस्करण	पृष्ठ
६	२४६	यमकानुप्रासयोनिमित्तनि- मित्तिभाव'	यमकानुप्रासयोर्न निमित्त०	७२७
९	"	शब्दबहुपकार्योपकारकत्व- भावात्	शब्दबहुपकार्योपकारक- त्वाभावात्	७२७
१०	"	इयमेव हि समृष्टिद्वयो-	इयमेव हि समृष्टिर्द्वयो-	"
१४	"	दशदादिमाडिवाक्यवचनयो.	दशदादिमाडिवाक्यवचनयो	"
१५	"	द्वयोरपि समृद्धत्वात्	द्वयोरपि संबद्धत्वात्	"
नीचे से	१	"	न चात्रायमालं०	"
	२	"	न संकरो नापि	"
	२	"	शक्तियोगात्	"
	३	२४८	अत्र च यथा	७३४
नीचे से	१	"	दावाप्ति(?)प्रदर्शन०	"
नीचे से	५	२५२	समासा	७३८
	२	२५३	संकरे	७४१
नीचे से	३	"	रूपकोपक्रमेणोपमातिर्वाहो दुष्ट इति साम्यलाघवेन	रूपको००र्वाह । दुष्ट इति साम्यस्य लाघ०
	३	२५४	उपमाया बाधकत्व प्रतिगम्भी०	उपमाया बाधकत्वम् अतिग०
नीचे से	१	"	हेतुत्वेनैव गता	हेतुत्वेनैवागता
	"	"	तस्या अनुत्थानान्	तस्यानुत्थानात्
	३	२५५	हर्तुः	हर्तु
	४	"	वचने	"
	२	२५६	शब्दार्थवत्यलङ्कारवाक्य	शब्दार्थवत्यलङ्कारा वाक्य
नीचे से	४	"	०भयालङ्कारत्वे	०भयालङ्कारत्व
नीचे से	२	"	वर्णिता	वर्णिका
	२	२५७	०ष्टिः श्लेषाणामेवो०	०ष्टिश्लेषाणामेव
	९	"	तत्कार्यमेव	तत्कार्यत्वमेव

इस तालिका से स्पष्ट है कि निर्णयसारगीय संस्करण में भावात्मक वक्तव्य को अभावात्मक, अभावात्मक को भावात्मक, भावपूर्ण निर्देश को द्रव्यात्मक निर्देश कितनी ही बार छापा गया है। 'व्याय' के स्थान पर 'काल' और 'भरणकोपजनकत्व' के स्थान पर 'कोपजनकत्व' का पाठ विपर्यय दुस्समाधेय विपर्यय है। पाठान्तर भी ऐसी जगह

नहीं मिलते। 'लतासमत्व' से 'भक्तवासमत्व' की कल्पना सरल नहीं। विराम, विरामाभाव, अनुच्छेद, प्रघट्टकपरिवर्तन और ऐसे ही लेखधर्म भी कहीं-कहीं भ्रामक स्थिति में मिले और उनको विषयसंगति के आधार पर ठीक किया गया।

संशोधन में हमने कल्पना को सबसे बाद में स्थान दिया है, पहले रत्नाकर और रसगंगाधर के उद्धरणों को। जो उद्धरण विमर्शिनी ने रत्नाकर से लिए हैं उन्हें रत्नाकर से मिलाकर ठीक किया, यद्यपि कहीं-कहीं स्वयं रत्नाकर में भी इस तुलना से संशोधन हुआ, और विमर्शिनी के जो उद्धरण पण्डितराज ने रसगंगाधर में दे रखे हैं उन्हें रसगंगाधर से मिलाकर। मूल का संशोधन भी पहले उद्धरणों के ही आधार पर किया है। १०९ पृ० का नायकतास्वधर्म पाठ रसगंगाधर से ही लिया गया है। ये सब निर्देश विमर्श-नामक टिप्पणी में पाठान्तर-शीर्षक देकर कर दिये गये हैं। यद्यपि कहीं 'पाठान्तर'-शीर्षक छूट भी गया है।

विमर्शिनी की प्राकृत गथाओं की संस्कृतच्छाया अपने संशोधन के साथ रत्नाकर से ली गई है यद्यपि एक दो स्थल बिना छाया के छोड़ दिए गए हैं। वे समझ में नहीं आए।

विमर्शिनी के अनुवाद में पूर्वपक्ष को समझने हेतु रत्नाकर के संबद्ध सभी उद्धरण हमने आगे या पीछे प्रस्तुत कर दिए हैं और पूना से छपे संस्करण के संदर्भ भी दे दिए हैं। ये संदर्भ भी कठिनाई से तैयार किए जा सके क्योंकि कुछ उद्धरण ऐसे हैं जो जिस अलंकार में दिए गए हैं उसमें न होकर रत्नाकर में, किसी अन्य अलंकार के प्रकरण में रहे हैं। इनमें भी कुछ कारिकाएँ गद्यात्मक रूप में छपी हैं, अतः उन्हें खोजना कठिन रहा है।

विमर्शिनी में 'प्रत्यक्षाद् विरलकरांगुलिप्रतीति' इत्यादि [ ५४० पृ० ] ऐसे भी कुछ स्थल हैं जिनके मूल संदर्भ खोजे नहीं जा सके हैं और इसीलिए जिनके अर्थज्ञान में संदेह रह गया है। दिण्डिकारागः [ पृ० ५३ ], बाहकेलि [ १८४ पृ० ], बाह्याली [ १८४ पृ० ] भी ऐसे ही शब्द हैं। बाह्याली का प्रयोग राजतरंगिणी में बाहरी वरामदे के लिए हुआ है। प्रस्तुत प्रसंग में इसका यह अर्थ नहीं जमता था अतः हमने घुड़सवारी का मैदान अर्थ किया। इसका एक प्रयोग घुड़सवारी के लिए भी काव्यादर्श के पूना संस्करण [ पृ० १८ की ] टिप्पणी में मिल गया। राजगंज [ ६२८ पृ० ] भी ऐसा ही शब्द है।

प्रत्येक अलंकार के अन्त में हमने भामह से लेकर विश्वेश्वर तक चली परम्परा उद्धृत कर दी है और प्रत्येक अलंकार का इतिहास दे दिया है। दण्डी को यत्र तत्र ही अपनाया गया है। कश्मीरी अलंकार परम्परा उद्धृत की परम्परा है और उद्धृत भामह से ही प्रभावित हैं। उन्होंने भामह के काव्यालंकार पर टीका भी लिखी थी जिसका उल्लेख जयरथ ने असकृत् किया है। उस कारण भामह को ही हमने प्राधान्य दिया है यद्यपि हमें यह निश्चय हो गया है कि भामह दण्डी के बाद के हैं तथापि

हो सकता है हमने भी संस्कारवशात् कही भामह को पूर्ववर्ती लिख दिया हो। भोज के सरस्वतीकण्ठाभरण को भी हमने अधिक महत्त्व नहीं दिया है, क्योंकि उसका प्रभाव भी कश्मीरी परम्परा पर कम है यद्यपि जयरथ ने भोजदेव का भी [ पृष्ठ ४४३, ७२० ] उल्लेख कर दिया है। इस प्रकार दण्डी से विश्वेश्वर तक की आवश्यक और ऐतिहासिक सामग्री प्रत्येक अलंकार के अन्त में इस ग्रन्थ में सुलभ है। आशेष, काव्य-लिङ्ग और समृष्टि सकर के इतिहास पर गवेषक विद्वान् ध्यान दे सकते हैं। इतिहास के अन्त में श्रीविद्याचक्रवर्ती की निष्कृष्टायं कारिकाएँ भी अनुवाद के साथ दे दी हैं।

१ → ४२४

अलङ्कारों का क्रमिक विकास स्पष्ट समझ में आ सके इसलिए हम दण्डी से सर्वस्व तक के अलङ्कारों के इतिवृत्त पर दृष्टि डालें—

### अलङ्कारों का इतिवृत्त

अलंकार—शब्द का पूर्वपद 'अलम्' ऋक्संहिता में 'अरम्' के रूप में मिलता है। अरम् 'ऋ'—धातु से निष्पन्न शब्द है। 'ऋ' का अर्थ है गति। 'गति'—शब्द बोध, मुक्ति और गमनव्यापार का भी बोधक शब्द है। अर्थ यह कि ज्ञान, इच्छा और क्रिया इन तीन शक्तियों से बने विश्व की दो तिहाई तक व्याप्त है गति शब्द की शक्ति। वेद-विज्ञान 'गति'—तत्त्व को 'प्राण' और 'अग्नि' कहती है तथा उसे 'इन्द्र' से अभिन्न मानता है। ऋक्संहिता के ऋषि वसिष्ठ, इन्द्र से ही पूछते हैं 'का ते अस्त्यरङ्कतिः सूक्तैः=" हे इन्द्र, सूक्तों में ऐसी कौन सी अलंङ्कति, कौन सी प्राणयत्ता, कौन सी आपूर्ति, कौन सी उपलब्धि रहती है जो उनसे तुम्हें प्राप्त होती है।' अवश्य ही इस वाक्य में सूक्तात्मक उक्ति के अन्तर्गत रहने वाले अतिशय-तत्त्व की जिज्ञासा प्रकट हो रही है। मानो ऋषि यानी कवि, अलंकारों से उसके उक्तिरम्य अलंकार के विषय में प्रश्न कर रहा है। इस प्रकार

१ द्रष्टव्य—An Etymological note on the word Alamkara By Dr. G. C. Tripathi in 'Principles of Literary Criticism in Sanskrit' Ed Prof. Dr R. C. Dwivedi, Udaipur University.

२-३ द्र० ( १ ) वैदिकविज्ञान और भारतीय संस्कृति म० म०

पं० गिरिधर शर्मा चुगुर्वेदी ।

( २ ) आत्मविज्ञानोपनिषद् आदि : पं० मोतीलाल शास्त्री ।

( ३ ) सहस्राक्षरा वाक् : डॉ० वामुदेवशरण अग्रवाल ।

( ४ ) विज्ञानविद्युत् : म० म० प० मधुसूदनओझा ।

( ५ ) वैदिकवाक्यकोष : श्रीभगवद्दत्त शास्त्री ।

श्रुवसंहिता में अर्थात् मानव-इतिहास के प्रथम ग्रन्थ या आदिकाव्य में हम परवर्ती बलंकार के लिए 'अरंक्ति' शब्द पाते हैं, किन्तु यहाँ यह शब्द उपमा आदि के लिए प्रयुक्त नहीं बताया जाता। दूसरी ओर

यास्क के निरुक्त में हम 'उपमा' शब्द और उसकी वही व्याख्या पाते हैं जो हमें परवर्ती बालंकारिकों में मिलती है। गार्ग्य का मत उद्धृत करते हुए यास्क लिखते हैं—'उपमा अतत् तत्सदृशम्'। यहीं उपमाओं की व्याख्या करते हुए वे लिखते हैं—

'तदासां कर्म ज्यायसा वा गुणेन प्रख्याततमेन वा कनीयांसं वा प्रख्यातं वा उपमिमीते अथापि कनीयसा ज्यायांसम् ।'

दुर्गाचार्य इसकी व्याख्या करते और लिखते हैं—

'ज्यायसा उत्कृष्टेन गुणेन यो यस्मिन् दृश्ये उत्कृष्टो गुणस्तेन, कनीयांसम् अनुकृष्टं गुणम् उपसीयते, तथाया 'सिंहो माणवक' इति। सिंहे शौर्यसुकृष्टय, माणवकस्तेन उपमिमीते सिंह इव माणवकां विक्रान्त इति। प्रख्याततमेन वा अप्रख्यातमुपसीयते। प्रख्यातश्चन्द्रमा, अप्रख्यातो माणवकः, तं तेनोपमिमीते 'चन्द्र इव कान्तो माणवक' इति। अथापि क्वचित्, 'कनीयसा गुणेन ज्यायांसमपि सन्तमुपमिमीते।' अर्थात्—'अनुकृष्ट की उत्कृष्ट के साथ तुलना ही उपमा है'।

यास्क ऐसी उपमाओं के १२ स्थलों प्रस्तुत करते और उनमें से कुछ स्थलों को कर्मोपमा, भूतोपमा, रूपोपमा, सिद्धोपमा, लुप्तोपमा, अर्थोपमा भी कहते हैं। किन्तु इन्हें बलंकार नहीं कहते, यद्यपि इनमें भूतोपमा, रूपोपमा, सिद्धोपमा और लुप्तोपमा जिसका दूसरा नाम अर्थोपमा है ऐसी उपमाएँ हैं जिन्हें बलंकार कहा जा सकता है।

'पाणिनि जी उपमा, सादृश्य, सामान्य, उपमान, सदृश, प्रतिरूप, उपमित शब्दों का

१. ( १ ) History of Samskrit Poetics By. Dr. S. K. De. Page. 3.

( २ ) निरुक्त : नैघण्टुककाण्ड पाद-३ आरम्भ, मोरसंस्करण भाग-२ पृ० २८३ ।

२. निरुक्त प्रथम भाग पृष्ठ ३३४ मोरसंस्करण.

३-७. निरुक्त भाग-२ पृ० २९१-३०८ मोरसंस्करण.

८. उपमा ( १ ) तुल्यार्थैरनुलोपमाभ्यां [ २।३।७२ ],

( २ ) विदित्युपमासु प्रयुज्यमाने [ ८।२।१० ]

औपम्य ( १ ) जीविकोपनिषदावौपम्ये : [ १।४।७९ ], ( २ ) ऊहत्तरपदा-  
दौपम्ये [ ४।१।६९ ] ( ३ ) संज्ञोपम्ययोश्च [ ६।२।११३ ]

सादृश्य ( १ ) अव्ययं विभक्ति० [ २।१।६ ] ( २ ) यथाऽसादृश्ये [ २।१।७ ]

( ३ ) सदृशप्रतिरूपयोश्च सादृश्ये [ ६।२।११ ]



असकृत् प्रयोग करते तथा 'रूपव्याघ्र' आदि ऐसे स्थलों पर दृष्टि रखते हैं जिनमें आई उपमा स्पष्ट रूप से अलंकार है, तथापि वे इन्हें उपमालंकार नहीं कहते, यद्यपि उन्हें अपने शास्त्र में वैसा कहने का कोई अवसर भी नहीं था।

पतञ्जलि 'उपमान' शब्द का निर्वचन करते और कहते हैं—<sup>१</sup>

'मानं हि नाम अनिर्ज्ञातज्ञानार्थम्,  
उप आदीयते अनिर्ज्ञातमर्थं ह्यस्यामीति।  
तत्समीपे यत्साध्यन्नाय निमित्ते तद् उपमानम्।'

अर्थात्—'उप यानी पास में अर्थात् अज्ञात वस्तु के, से जाने वाला अर्थ उपमानम्।

किन्तु वे इसे अलंकारत्व से अस्पष्ट रखते और इसके स्पष्टीकरण के लिए उदाहरण 'गवय गो जैसा' इस लोकवाक्य का देते हैं जिसमें उपमा तो है किन्तु चमत्कार नहीं, अतः जो अलंकार नहीं है।

*Amoy*

किन्तु पतञ्जलि के समय में ही 'अलंकारत्व' और 'उपमा' आदि दोनों—समानान्तर गंगा यमुना को सिखा दिया जाता है (यह कार्य भरतमुनि करते हैं। वे 'उपमा, रूपक, दीपक और यमक' को अलंकार मानते और लक्षण नामक तत्त्व के रूप में अन्य ३६ गुणों का भी निरूपण करते हैं जिनसे अलंकारों की दिशा में चिन्तन को विद्यदगति प्राप्त हो जाती है) और दण्डी तक के अनेक मनीषी उस दिशा में लगभग सात सौ वर्षों तक निरन्तर चिन्तन करते हैं। इस महान्, अन्तराल, के पश्चात् हम दण्डी तक पहुँचते और उनमें अलंकारों की संख्या ३७ पाते हैं।<sup>(१)</sup> ये निम्नलिखित हैं—

सामान्य—( १ ) उपमानानि सामान्यवचनैः [ २।१।५५ ]

( २ ) उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे [ २।१।५६ ]

( ३ ) नामन्त्रिते समानाधिकरणे सामान्यवचनम् [ ८।१।७३ ]--

उपमित-उपमितं व्याघ्रादिभिः० [ २।१।५६ ]

उपमान—( १ ) उपमानानि सा० [ २।१।५५ ] ( २ ) उपमानादाचारे [ ३।१।१० ] ( ३ ) कर्तयुपमाने [ ३।२।७९ ], ( ४ ) उपमाने कर्मणि च [ ३।४।४५ ], ( ५ ) उपमानादप्राणिषु [ ५।४।९७ ] ( ६ ) उपमानाच्च [ ५।४।१३७ ], ( ७ ) संज्ञायामुपमानम् [ ६।१।२०४ ], ( ८ ) तत्पुरुषे तुल्यार्थकतृतीयासप्तम्युपमाना० [ ६।२।२ ], ( ९ ) गोविडालसिंहसैन्धवपूपमाने [ ६।२।७२ ], ( १० ) उपमान शब्दार्थ-प्रकृतावेव [ ६।२।८० ], ( ११ ) चौरमुपमानम् [ ६।२।१२७ ], ( १२ ) मूपमानात् कः [ ६।२।१४५ ] ( १३ ) निष्ठोपमानादन्यतरस्याम् [ ६।२।१६९ ]

१ Dr. S. K. De. History of Skt. Poetics

२. 'उपमा रूपकं चैव दीपकं यमकं तथा।

अलंकारास्तु विज्ञेयाश्चत्वारो नाटकाश्रयाः ॥—भरतनाट्यशास्त्र १७।४३

दण्डी [ ६६०-६८० ई० ]

१. स्वभावोक्ति २. उपमा ३. रूपक ४. दीपक ५. आवृत्ति ६. आक्षेप  
 ७. अर्थान्तरन्यास ८. व्यतिरेक ९. विभावना १०. समासोक्ति ११. अतिशयोक्ति  
 १२. उपरोक्षा १३. हेतु १४. सूक्ष्म १५. लेश १६. क्रम १७. प्रियः १८. रसवद्  
 १९. ऊर्जस्वि २०. पर्यायोक्ति २१. समाहित २२. उदात्त २३. अपहृति २४. श्लेष  
 २५. विज्ञेयोक्ति २६. तुल्ययोगिता २७. विरोध २८. अप्रस्तुतप्रशंसा २९. व्याजस्तुति  
 ३०. निदर्शना ३१. सहोक्ति ३२. परिवृत्ति ३३. आशीः ३४. संसृष्टि ३५. भाविक  
 ३६. यमक तथा ३७. चित्र ।

दण्डी ने दक्षिण भारत में जो अलंकारदर्शन प्रस्तुत किया वह उत्तर भारत के भामह को बहुत ही शीघ्र सुलभ हो गया । भले ही वह दण्डी के अपने ग्रन्थ के द्वारा सुलभ हुआ हो अथवा साक्षात् उसी माध्यम से जिससे ये तत्त्व दण्डी तक पहुंचे हों । स्वयं दण्डी के ग्रन्थ से ही भामह को अलंकार प्रेरणा का पक्ष अधिक स्वस्य प्रतीत होता है । ऐसा लगता है कि भामह किसी पक्ष को पूर्व पक्ष बना रहे हैं और उसे उसी की मूल पदावली में उद्धृत कर रहे हैं । यह पदावली दण्डी से अवस्था मिलती है । ऐसी स्थिति में दण्डी को पूर्ववर्ती होने का श्रेय न देना तर्कविरुद्ध है ।

१. ( १ ) यहाँ आचार्यों के समय का आधार हैं डॉ० काणे

( २ ) म० म० काणे आदि कहते हैं कि दण्डी के पूर्व भट्टिकाव्य में अलंकारों का विवेचन हुआ है । वस्तुतः उसमें अलंकारों के प्रयोगमात्र हैं । अलंकारों के नाम नहीं । नामों की कल्पना ज्यमंगलाकार ने की है, जो बहुत अंश में अशुद्ध है । 'वार्ता' को भामह के अनुसार अलंकार बतलाना उसका प्रमाण है । देखिए यहीं आगे—

२. ऐसे अनेक स्थल डॉ० डे०, म० म० काणे, श्रीपोद्दार जी आदि ने उद्धृत किए हैं । इनमें प्रसिद्ध है हेतु सूक्ष्म आदि अलंकारों से सम्बद्ध स्थल । दण्डी कहते हैं—  
 'हेतुश्च सूक्ष्मलेशो च वाचामुत्तमभूषणम्' और इनका निरूपण ६७ कारिकाओं में करते हैं । वहाँ वे—  
 "गतोऽस्तमको भातीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिणः ।

इतीदमपि साध्वेव कालावस्थानिवेदने ॥"—यह उदाहरण देते हैं ।

भामह कहते हैं—'हेतुश्च सूक्ष्मो लेशोऽथ नालंकारतया मतः ।

समुदायाभिधानस्य चक्रोक्त्यनभिधानतः ॥

गतोऽस्तमको भातीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिणः

इत्येवमादि किं काव्यं वात्तामेतां प्रचक्षते ॥' २८६-८७ ॥

जो इन कारिकाओं को भाषा की दृष्टि से पढ़ेगा वह समझ जाएगा कि अवश्य ही दण्डी की कारिका पहले की है । दण्डी नाम लेते हैं तीन अलंकारों का किन्तु उनके लिए प्रयोग करते हैं 'भूषणम्' इस प्रकार एकवचन का । चाहिए था 'भूषणानि' । भामह इसका सुधार करते और 'मतः' में एकवचन ही रखते हुए यह बतलाते हैं कि यदि 'भूषणम्' ही लिखना है तो 'सूक्ष्मलेशो' न लिखकर 'सूक्ष्मो लेशोऽथ' इस प्रकार अलग अलग लिखना

‘भामह [ ७००-७२५ ई० ]

भामह ने अपने काव्यालङ्कार में दण्डी के कुछ अलङ्कारों को माना, कुछ को नहीं और कुछ अलङ्कारों को अपनी ओर से नवीन अलङ्कारों के रूप में प्रस्तुत किया। इनका विवरण—

( १ ) अमान्य अलङ्कार—आवृत्ति, हेतु, सूक्ष्म, लज तथा चित्र । ३५

( २ ) मान्य अलङ्कार—स्वभावोक्ति, उपमा, रूपक, दीपक, आशेष, अर्थान्तर-  
न्यास, व्यतिरेक, विभावना, समासोक्ति, अतिशयोक्ति, उत्प्रेक्षा, क्रम (प्रयासंख्य नाम से) प्रेय, रसवत्, ऊर्जस्वि, पर्यायोक्त, समाहित, उदात्त, अपहृति, श्लेष, विशेषोक्ति, तुल्ययोगिता, विरोध, प्रस्तुतप्रशंसा, व्याजस्तुति, निदर्शना, सहोक्ति, परिवृत्ति, आशी, संगृष्टि, भाविक तथा यमक ।’

( ३ ) स्वकल्पित—( १ ) अनुप्रास ( २ ) उपमारूपक ( ३ ) उत्प्रेक्षावयव  
( ४ ) उपमेयोपमा ( ५ ) सन्देश ( ६ ) अनन्वय-।

इस प्रकार भामह तक कुल अलङ्कारों की संख्या ४३ हो जाती है। उनमें से भामह दण्डी के ३२ तथा अपने ६ इस प्रकार कुल ३८ अलङ्कार स्वीकार करते हैं। हेतु, चाण्डिए। यदि भामह स्वयं इसे लिखते तो हेतु सूक्ष्मश्च लेशश्च—ऐसा लिखते। हेतुश्च—लिखना भी दण्डी की ही उक्ति को उद्धृत करना है। यहाँ—

यह कहना कि दोनों ने किसी एक अन्य स्रोत से ये अद्य अपनाए हैं—संस्कृतभाषा की अभिव्यक्ति से अनभिज्ञता प्रकट करता है। आनन्दवर्धन और महिमभट्ट की नौकझोक पर उनका ध्यान जाना चाहिए। इतने पर भी डॉ० डे, पोद्दार, डॉ० रामचन्द्र द्विवेदी आदि भामह को ही पूर्ववर्ती मानते हैं। म० म० काणे ने हमारे इस भाषा सध्वन्धी तक पर तो ध्यान नहीं दिया है, परन्तु माना दण्डी को ही पूर्ववर्ती है, [ द० History of Skt. Poetics M. M. Kane, P. 124, 1951. ]

दण्डी का अलङ्कारविवेचन भी बतलाता है कि वे उस समय के आचार्य हैं जब अलङ्कारों के विवेचन में अधिक सूक्ष्मता नहीं थी। भामह इसके विरुद्ध अधिक सूक्ष्मता के साथ अलङ्कारों का निरूपण करते दिखाई देते हैं। क्या सूक्ष्मता स्थूलता को जन्म देती है जो दण्डी को परवर्ती माना जाता है? अवश्य ही भामह दण्डी के कृष्णो हैं भले ही वे दण्डी का नाम न लें। अलङ्कारविमर्शिनी में क्या रत्नाकर का नाम विमर्शिनीकार ने एक बार भी लिया? तो क्या यह कह दिया जाए कि विमर्शिनी रत्नाकर से पहले की है और रत्नाकर ने ही विमर्शिनी से प्रेरणा पाई है?

१. ( १ ) S. K. De. History of Sanskrit Poetics. P. 49-50

( २ ) P.V. Kane. " " " 1951. P. 124.

सूक्ष्म और लेश का तो भामह ने खण्डन भी किया है। उनके संदेह और उपमेयोपमा दण्डी की संशयोपमा तथा अन्योन्योपमा की ही पीठिका पर आधृत है। दण्डी ने इन्हें उपमा से पृथक् नहीं माना था। भामह ने इनमें पृथक् अलंकारत्व देखा। उत्प्रेक्षावयव उत्प्रेक्षा तथा उपमारूपक रूपक के चिन्तन का ही अधिक परिवर्तन है, जो पृथगलंकारत्व के लिए अपर्याप्त है और इसीलिए जिसे परवर्ती आचार्यों ने मान्यता नहीं दी।

**उद्धट [ ७५०-८०० ई० ]**

उद्धट ने अपने काव्यालंकारसंग्रह में दण्डी की अपेक्षा भामह को अधिक महत्त्व दिया यद्यपि उन्होंने स्वतन्त्र चिन्तन से काम लिया। उन्होंने दण्डी और भामह दोनों के कुछ अलंकारों को अलंकार न मानते हुए अपनी ओर से भी कुछ अलंकारों की कल्पना की। उनके अनुसार अलंकारों का विवरण—

( १ ) अमान्य ( क ) दण्डी के—आधृति, हेतु, सूक्ष्म, लेश, आशीः, यमक तथा चित्र ।

( ख ) भामह के—उपमारूपक तथा उत्प्रेक्षावयव ।

( २ ) मान्य ( क ) दण्डी के—उपमा, रूपक, दीपक, आलेप, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, विभावना, समासोक्ति, अतिशयोक्ति, यथासंशय, उत्प्रेक्षा, स्वभावोक्ति, प्रेय, रसवत्, ऊर्जस्वि, पर्यायोक्त, समाहित, उदात्त, विलुप्त, अपहृति, विशेषोक्ति, विरोध, तुल्ययोगिता, अप्रस्तुतप्रशंसा, व्याजस्तुति, निदर्शना [ विदर्शना नाम से ], सहोक्ति, परिवृत्ति, संवृष्टि, तथा भाविक

( ३० )

( ख ) भामह के—अनुप्रास, उपमेयोपमा, सन्देह तथा अनन्वय

( ३ ) स्वकल्पित ( १ ) पुनरुक्तवदाभास ( २ ) छेकानुप्रास ( ३ ) लाटानुप्रास

( ३१ )

( ४ ) प्रतिवस्तूपमा ( ५ ) काव्यालिंग ( ६ ) दृष्टान्त तथा ( ७ ) संकर ।

इन स्वकल्पित अलंकारों में से उद्धट की अत्यन्त मौलिकता केवल पुनरुक्तवदाभास में है। अनुप्रासों में लाटानुप्रास भामह ने अनुप्रास के अन्तर्गत मान लिया था, उद्धट ने उसे केवल स्वतन्त्र अलंकार के रूप में गिन दिया है। छेकानुप्रास उनकी भामह के ग्राम्यानुप्रास की कल्पना पर एक विरोधी कल्पना है। ग्राम्य के विरुद्ध छेक का अर्थ विदग्ध किया जाता है। प्रतिवस्तूपमा को दण्डी उपमा के अन्तर्गत गिना चुके थे। काव्यालिंग भी हेतु के दो भेदों में से एक का स्वतन्त्रीकरण है, किन्तु यह अनुमान के अधिक समीप है। दृष्टान्त प्रतिवस्तूपमा की छाया पर एक स्वतन्त्र कल्पना है और संकर संवृष्टि की छाया पर तीनों अनुप्रासों को एक अनुप्रास के तीन भेद न मानकर तीन स्वतन्त्र अलंकार मानता हुआ उद्धट को इसलिए माना जाता है कि उन्होंने प्रत्येक अलंकार के भेद उस अलंकार के लक्षण के वाद दिए हैं, वर्ग के आरम्भ में सबके नाम की तालिका में नहीं। अनुप्रास के भेद नाम-तालिका में ही दे दिये हैं।

( ३२ )

इस प्रकार दण्डी से लेकर उद्धट के समय तक अलंकारों की संख्या ५० हो जाती

है।<sup>१</sup> इनमें वे दण्डी के ३७ अलंकारों में से केवल ३०, भामह के अलंकारों में से केवल ६ में से केवल ४ अपना कर केवल ३४ अलंकार प्राचीन आचार्यों से अपनाते हैं तथा ७ अलंकारों की कल्पना अपनी ओर से करते हैं। फलतः वे कुल ४१ अलंकार मानते हैं। वस्तुतः तीनों अनुप्रासों को एक अलंकार मान लेने पर उद्भट को मान्य अलंकारों की संख्या केवल ३९ रहती है।

### वामन [ ८०० ई० ]

उद्भट के समकालीन आचार्य वामन ने भी अपनी 'काव्यलङ्कारसूत्रवृत्ति' में भामह को अधिक महत्त्व दिया। उनके अनुसार अलंकारों का विवरण—

( १ ) अमान्य ( क ) दण्डी के—स्वभावोक्ति, आवृत्ति, हेतु, सूक्ष्म, लेश, रसवत्, प्रेय, रुजंस्वि, पर्यायोक्ति, उदात्त, भाविक, आशी, चित्र

( २ ) मान्य ( ख ) भामह के—उपमा रूपक तथा उत्प्रेक्षावयव

( २ ) मान्य ( क ) दण्डी के—उपमा, समासोक्ति, अपस्तुनप्रशंसा, अपहृति, रूपक, इलेप, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, विरोध, विभावना, परिवृत्ति, क्रम, दीपक, निदर्शना, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, विशेषोक्ति, व्याजस्तुति, तुल्यमोगिता, आक्षेप, सहोक्ति, समाहित, समृष्टि तथा यमक।

( ३ ) भामह के—सन्देह, अनन्वय, अनुप्रास तथा उपमेयोपमा।

( ३ ) स्वकल्पित ( १ ) वक्रोक्ति ( २ ) व्याजोक्ति ( ३ ) प्रतिवस्तूपमा

इस प्रकार वामन तक अलंकारों की संख्या ५३ हो जाती है।<sup>२</sup> इन्हीं में से वामन स्वयं २ अलंकारों की कल्पना करते हैं। वे ५ अलंकार भामह के तथा ३४ अलंकार दण्डी के अपनाते और इस प्रकार कुल मिलाकर ३९ अलंकार स्वीकार करते हैं।<sup>३</sup> अर्थ यह हुआ कि दण्डी में वामन तक २१ अलंकार, विवादास्पद थे। यदि उद्भट की स्वकल्पित वक्रोक्ति और व्याजोक्ति को नवीन मानकर इन विवादास्पद अलंकारों में अभी न गिनें तो उनकी संख्या १९ बचती है।

### उद्भट [ ८२५-८७५ ई० ]

उद्भट और वामन के पश्चात् अलङ्कारचिन्तन में अधिक स्वस्थता और अधिक वैज्ञानिकता आई। चिन्तकों ने अलङ्कारों का वर्गीकरण सजातीयता तथा विजातीयता

१ डा० राममूर्ति त्रिपाठी ने 'चित्र' को गणना छोड़ दी है अतः वे दण्डी से उद्भट तक अलङ्कारों की संख्या ४९ बताते हैं। द्रष्टव्य/दां/त्रिपाठी-की-काव्यालङ्कार-सारसंग्रह की भूमिका पृ० २८-२९

२ प्रतिवस्तूपमा की कल्पना उद्भट ने की है, अतः वामन तक कुल अलंकारों की संख्या ५२ ही होती है, ५३ नहीं। यद्यपि डॉ० रामचन्द्र द्विवेदी ने ५५ संख्या लिख दी है। देखिए—अलङ्कारमीमांसा पृ० १५५।

के आधार पर ठीक उसी प्रकार करना आरम्भ किया जिस प्रकार वैशेषिक सूत्रों में पदार्थों का वर्गीकरण महर्षि कणाद ने किया था। यिह वर्गीकरण सबसे पहले रुद्रट के 'काव्यालङ्कार' में मिलता है।

रुद्रट ने अलङ्कारों को पहले तो 'शब्द' और 'अर्थ' के दो खण्डों में विभाजित किया, फिर अर्थालङ्कारों को ( १ ) वास्तव ( २ ) औपम्य ( ३ ) अतिशय तथा ( ४ ) श्लेष नामक चार वर्गों में।

इन दोनों खण्डों और वर्गों में रुद्रट ने ६२ अलङ्कारों का निरूपण किया। इनमें से रुद्रट ने पूर्ववर्ती आचार्यों के केवल २७ अलङ्कार ही लिए, शेष ३५ अलङ्कारों की कल्पना स्वतन्त्र अलङ्कार के रूप में उन्होंने स्वयं की है। इनमें से ५ अलङ्कारों को एक ही नाम से दो-दो बार गिनाया अतः कुछ विद्वानों ने उनके द्वारा निरूपित अलङ्कारों की संख्या सत्तावन मानी है। इनका विवरण इस प्रकार है—

( १ ) अमान्य ( क ) दण्डी के—आवृत्ति, आशीः, अतिशयोक्ति, तुल्ययोगिता, रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वि, भाविक, पर्यायोक्त, समग्रहित, विलेपोक्ति, हेतु, संसृष्टि।

( ५ ) ( ख ) भामह के—उपमेयोपमा, अनन्वय, उपमाहक, उत्प्रेक्षावयव।

( ग ) उद्भट के—पुनरुक्तवदाभास, छेकानुप्रास, लाटानुप्रास, प्रतिवस्तूपमा, काव्यालिंग, संकर [ पृथगलङ्कार के रूप में ]

( ४ ) ( घ ) वामन की—वक्रोक्ति, व्याजोक्ति

( २ ) मान्य ( क ) दण्डी के—स्वभावोक्ति [ जाति नाम से ], उपमा, रूपक, दीपक, आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, विभावना, समासोक्ति, उत्प्रेक्षा, सूक्ष्म, लेश, क्रम [ यथासंख्य नाम से ], उदात्त [ अवसर नाम से ], अपहृति, श्लेष, विरोध, अप्रस्तुतप्रशंसा [ अन्योक्ति नाम से ], व्याजस्तुति, निदर्शना, सहोक्ति, परिवृत्ति, यमक, चित्र

( ३ ) ( ख ) भामह के—अनुप्रास, सन्देह [ संशय नाम से ]

( ४ ) ( ग ) उद्भट के—दृष्टान्त, [ वामन से कुछ नहीं ]

१. अतिशयोक्ति नाम से रुद्रट ने कोई स्वतन्त्र अलङ्कार नहीं माना। उसके प्रायः वे सभी भेद जो दण्डी ने माने थे रुद्रट ने अतिशय-वर्ग के अलङ्कारों में गिन लिए हैं।

२. रुद्रट ने संकर पर विचार किया है, किन्तु उनके प्रतिपादन से यह स्पष्ट नहीं है कि वे उसे पृथक् अलङ्कार मानते हैं।

३. रुद्रट ने वक्रोक्ति नामक एक अलङ्कार माना है, किन्तु वह स्वरूपतः वामन की वक्रोक्ति से भिन्न है।

- ( ३ ) म्यकल्पित १-२. समुच्चय, ३ भाव, ४. पर्याय, ५ विषय, ६. अनुमान, ७ परिकर, ८ परिसंख्या, ९ हेतु [नवीन], १० कारणमाला, ११ अन्योन्य, १२-१३. उत्तर, १४ सार, १५ मीलित, १६ एकावली, १७. मत, १८. प्रतीप, १९ उभयन्यास, २० भ्रान्तिमान्, २१ प्रत्यनीक, २२-२३ पूर्व, २४ साम्य, २५ स्मरण, २६ विशेष, २७. तद्गुण, २८. पिहित, २९ असगति, ३० व्याघात, ३१. अहेतु, ३२. अधिक, ३३. वक्रोक्ति ३४ सहोक्ति, ३५. श्लेष [ तीनों नवीन ] ।

(35)

इस प्रकार रुद्रट ने अलङ्कारों की संख्या ६२ मानी है ।

इन सब अलङ्कारों का वर्गीकरण रुद्रट ने इस प्रकार से किया है—

## [ क ] शब्दालङ्कार

१. वक्रोक्ति, २. अनुप्रास, ३ यमक, ४ श्लेष, ५ चित्र ।

## [ ख ] अर्थालङ्कार

१. वान्तयवगं सहोक्ति, २. समुच्चय, ३. जाति [ स्वभावोक्ति ], ४. यथासंख्य, ५. भाव, ६ पर्याय, ७ विषय, ८ अनुमान, ९. दीपक, १० परिकर, ११ परिवृत्ति, १२ परिसंख्या, १३ हेतु, १४ कारणमाला, १५ व्यतिरेक, १६ अन्योन्य, १७ उत्तर, १८. सार, १९ सूक्ष्म, २०. लक्ष, २१. अवसर, २२ मीलित, २३ एकावली ।
२. औपम्यवगं १. उपमा, २ उत्प्रेक्षा, ३ रूपक, ४ अपहृति, ५. संशय, ६. समासोक्ति, ७. मत, ८ उत्तर, ९ अन्योक्ति, १० प्रतीप, ११. अर्थान्तरन्यास, १२. उभयन्यास, १३ भ्रान्तिमान्, १४. आशेष, १५ प्रत्यनीक, १६. दृष्टान्त, १७ पूर्व, १८. सहोक्ति, १९ समुच्चय, २० साम्य, २१ स्मरण ।
- ३ अतिशयवगं १. पूर्व, २ विशेष, ३. उत्प्रेक्षा, ४ विभावना, ५ तद्गुण, ६ अधिक, ७ विरोध, ८ विषय, ९. असगति, १०. पिहित, ११. व्याघात, १२ अहेतु ।
४. श्लेषवगं १. श्लेष

१ पोद्दार जी ने रुद्रट के अलङ्कारों की संख्या ५५ बतलाई है । वे अहेतु तथा वक्रोक्ति की गणना करना भूल गए हैं । इन्होंने रुद्रट में उदात्त का भी अभाव माना है, वस्तुतः रुद्रट ने इसे 'अवसर' नाम से अपना लिया है । पोद्दार जी ने अवसर की गणना कर ली है । द्रष्टव्य स्व० कन्हैयालाल जी पोद्दार का 'संस्कृतसाहित्य का इतिहास' पृ० ९३

उक्त विवरण से स्पष्ट है कि रुद्रट ने सहोक्ति, समुच्चय, पूर्व, श्लेष तथा उत्तर इत पाँच की गणना दो-दो बार की है। उद्भट में अनुप्रासभेदों को स्वतंत्र अलङ्कार माना गया है, अतः रुद्रट के अनुसार अलंकारों की संख्या ६२ ही मानी जानी चाहिए।

उक्त विश्लेषण से यह भी स्पष्ट है कि अलङ्कारों की संख्या दण्डी से रुद्रट तक ५७ (सत्तासी) तक पहुँच जाती है।

रुद्रट का महत्व हमें तब विदित होता है जब हम भोज के सरस्वतीकण्ठाभरण और मम्मट के काव्यप्रकाश पर ध्यान देते हैं।

### भोज [ १०००-१०२० ई० ]

भोज ने अपने सरस्वतीकण्ठाभरण में अलंकारों का विभाजन शब्दालङ्कार, अर्थालङ्कार तथा उभयालङ्कार के रूप में किया। उन्होंने प्रत्येक वर्ग के २४, २४ अलङ्कार माने फलतः उनके अलङ्कारों की संख्या ७२ हो जाती है। विवरण—

(१) अमान्य (क) दण्डी के—आवृत्ति, प्रेय, रसवृत्त, ऊर्जस्वि, पर्यायोक्त, उदात्त, व्याजस्तुति, आशी;

(ख) भामह के—उपमारूपक, उत्प्रेक्षावयव, उपमेयोपमा (उपमा में), अनन्वय (उपमा में ही),

(ग) उद्भट के—पुनरुक्तवदाभास, छेकानुप्रास, लार्दानुप्रास, प्रतिवस्तूपमा (उपमा में), हृष्टान्त (उपमा में), संकुर (संशृष्टि में)

(घ) वामन के—बक्रोक्ति, व्याजोक्ति,

(ङ) रुद्रट के—उभयन्यास, प्रतीप (साम्य में), प्रत्यनीक, पूर्व, [दोनों]

(च) प्रिहित, प्रत, द्विपम, ज्ञाघात, विशेष, स्मर, अधिक, अलंगति, प्रकावली, कारणमाला, हेतु, तद्गुण, परिसंख्या, सहोक्ति, (१), उत्तर (१), समुच्चय (१)

(२) मान्य (क) दण्डी के—युक्त, श्लेष, चित्र, जाति, विभाजना, हेतु (काव्य-

लिग सहित), सूक्ष्म, विरोध, पञ्चिहृति, निदर्शना, व्यतिरेक (भिद नाम से), समाहित, उपमा, रूपक, अपहृति, सम्रासोक्ति, उत्प्रेक्षा, अप्रस्तुतप्रदांसा, तुल्ययोगिता, लेख, सहोक्ति, व्याखेप, अर्थान्तरन्यास, विशेषोक्ति, दीप्क, क्रम, अतिशयोक्ति, भाविक, संशृष्टि,

(ख) भामह के—अनुप्रास, सन्देह (संशय नाम से),

(ग) उद्भट का—काव्यलिग [ हेतु में ]

(घ) रुद्रट के—अहेतु, उत्तर (१), अन्योन्य, भ्रान्ति, भीकित, भाव,

संपृति [ स्मरण ], शब्दश्लेष, अनुमान, साम्य, समुच्चय, परिकर, पर्याय, बक्रोक्ति [ वाकोवाक्य में ]

(३) स्वकल्पित १. जाति (शब्दालङ्कार), २. गति, ३. रीति, ४. वृत्ति,



५ छाया, ६ मुद्रा, ७ उक्ति, ८ युक्ति, ९ भणिति, १० गुम्फना,  
११ शय्या, १२ पठिति, १३ वाकोवाक्य, १४ प्रहेलिका,  
१५ गूढ, १६ प्रदोत्तर, १७ अध्येय, १८ श्रव्य, १९ प्रेक्ष्य,  
२० अभिनीति, २१ सभव, २२ वितर्क, २३ प्रत्यक्ष, २४ आगम,  
२५ उपमान, २६ अर्थापत्ति, २७ अभाव, २८ समाधि ।

इन अलङ्कारों का वर्गीकरण शब्द, अर्थ तथा शब्दार्थयुग्म दोनों के तीन वर्गों में भोजराज ने इस प्रकार किया है—

(१) शब्दवर्ग जाति, गति, रीति वृत्ति, छाया, मुद्रा, उक्ति, युक्ति, भणिति, गुम्फना, शय्या, पठिति, यमक, श्लेष, अनुप्रास, चित्र, वाकोवाक्य, प्रहेलिका, गूढ, प्रदोत्तर, अध्येय, श्रव्य, प्रेक्ष्य, अभिनीति ।

(२) अर्थवर्ग जाति, विभावना, हेतु, अहेतु, सूक्ष्म, उत्तर, विरोध, सभव, अन्योन्य, परिवृत्ति, निदर्शना, भेद ( व्यतिरेक ), समाहित, भ्रान्ति, वितर्क, मीलित, स्मृति, भाव, प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान, अर्थापत्ति, अभाव ।

(३) उभयवर्ग उपमा, रूपक, साम्य, सशय, अपहृति, समाधि, समासोक्ति, उत्प्रेक्षा, अपस्तुतप्रसंसा, तुल्ययोगिता, लेश, सहोक्ति, समुच्चय, आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, विदोषोक्ति, परिकर, दीपक, क्रम, पर्याय, अतिशयोक्ति, श्लेष, भाविक, समृष्टि ।

इनमें जाति और श्लेष दो-दो बार आए हैं । इनमें से श्लेष तो दो रूपों में छद्म ने भी माना था, जाति का अर्थान्तरगत रूप स्वभावोक्ति में अभिन्न है । इस प्रकार केवल शब्दजाति की नल्पना भोज की अभिन्न कल्पना टहरती है ।

इस प्रकार भोजराज तक अलङ्कारों की संख्या ११५ हो जाती है अर्थात् ८७ प्राचीन तथा २८ भोज के स्वोपज्ञ नवीन । इनमें से भोज ने दण्डी के परचात् छद्म से ही सबसे अधिक आपूर्ति की है । छद्म के काव्यालंकार से भोज ने १६ उदाहरणपद्य भी लिए हैं ।

१. (१) सरस्वतीकृष्णभरण उदाहरण २।८, काव्यालंकार उदाहरण ४।१९,  
(२) स. क. उ. ३।६६, का. ७।५५, (३) स. क. उ. ३।१५२, का. ७।५७,  
(४) स. क. उ. ३।१५१, का. ७।६०, (५) स. क. उ. ३।९३, का. ७।८७,  
(६) स. क. उ. ३।५७, का. ७।९७, (७) स. क. उ. ४।२०४, का. ७।११०,  
(८) स. क. उ. ४।९, का. ८।६, (९) स. क. उ. ४।१, का. ८।१८,  
(१०) स. क. उ. ४।४, का. ८।२०, (११) स. क. उ. ४।१७, का. ८।३०,  
(१२) स. क. उ. ४।१८, का. ८।३१, (१३) स. क. उ. ४।३०, का. ८।५०,  
(१४) स. क. उ. ४।५८, का. ८।७८, (१५) स. क. उ. ४।६३, का. ८।१०८,  
(१६) स. क. उ. १।५९, का. १।१३३.

यद्यपि भोजराज का अलंकारविवेचन अपने आप में एक विशाल विषय है तथापि उनकी स्थापनाएं अपनी मीलिकता में इतनी स्पष्ट हैं कि विचार केवल उनके द्वारा अमान्य अलंकारों के अन्तर्भाव या सर्वथा प्रत्याख्यान के अनुसंधान में करना होता है। हमने यहाँ जो विवरण दिया है उससे इस अनुसंधान में पर्याप्त सहायता मिल सकती है।

मम्मट [ १०५०-११०० ई० ]

मम्मट ने पूर्ववर्ती सभी आचार्यों से मधुकरि ली और काव्यप्रकाश में उन सबका समन्वय करना चाहा। यद्यपि यह भी सत्य है कि मम्मट अलङ्कारचिन्तन में उतनी व्यवस्था नहीं ला सके हैं जितनी व्यवस्था वे रस, ध्वनि और दोषों के चिन्तन में लाते दिखाई देते हैं। अलंकारों में वे लड़खड़ाते दिखाई देते हैं, विशेषतः अर्थालंकारों में। इसका कारण उनका वार्धक्य या अस्वास्थ्य हो सकता है। यह तो प्रसिद्ध है कि वे 'परिकरालंकार' के आगे अर्थालंकारों का विवेचन नहीं कर पाए थे। अवशिष्ट अंश की पूर्ति किसी अलक, अलट या अललट ने की है।

मम्मट ने अलंकारों को भोज की ही नाई शब्द, अर्थ और दोनों के तीन वर्गों में विभक्त किया। विवरण—

१. अमान्य (क) दण्डी के—आवृत्ति, आशीः, प्रेय, ऊर्जास्वि, रसवत्, हेतु, लेश,
- (ख) भामह के—उपमात्प्रक [ भोज द्वारा खण्डित ], उत्प्रेक्षाव्यव [ भोज द्वारा खण्डित ]
- (ग) उद्भट के—छेकानुप्रास, लाटानुप्रास [ पृथक् अलंकार के रूप में ]
- (घ) वामन—वक्रोक्ति
- (ङ) रुद्र के—भाव, हेतु, मत, उभयन्यास [ भोज द्वारा खण्डित ], पूर्व [ दोनों भेद अतिशयोक्ति में ], साम्य, अहेतु, सहोक्ति ( १ ) समुच्चय ( १ ) [ दीपक में ]
- (च) भोज के—जाति [ शब्दगत ], गति, रीति, वृत्ति, छस्या, मुद्रा, उक्ति, युक्ति, भणिति, गुम्फता, शय्या, पठिति, चाक्रोवाक्य, प्रहेलिका, गूढ, प्रश्नोत्तर, अध्येय, श्रव्य, प्रेक्ष्य, अभिनीति, संभव, वितक, प्रत्यक्ष, आगम, उपमान, अर्थापत्ति, अभाव, समाधि

१. इस पर सागरिका ९१२ में देखिए हमारा—'मम्मटाभिमतं लक्षणायाः पड्विधत्वं हेत्वलंकारश्च' लेख, इसमें हमने बतलाया है कि हेत्वलंकार और काव्यलिंगालंकार में से हेतु ही अलंकार है तथा काव्यलिंग ही अलंकार नहीं है।

२. मम्मट ने जिसे समाधि कहा है वह भोज के अनुसार समाहित है। भोज की समाधि मम्मट के सामान्य से मिलती है।

२. मान्य ( क ) दण्डी के—स्वभावोक्ति, उपमा, रूपक, दीपक, आक्षेप, अर्थान्तर-  
न्यास, व्यतिरेक, विभाषना, समासोक्ति, अतिशयोक्ति, उत्प्रेक्षा,  
सूक्ष्म, यथासंख्य, पर्यायोक्त, समाह्वित [ समाधि नाम से ], उदात्त,  
अपह्नुति, श्लेष, विशेषोक्ति, तुल्ययोगिता, विरोध, अप्रस्तुतप्रशंसा,  
व्याजस्तुति, निदर्शन, सहोक्ति परिवृत्ति, भाविक, संसृष्टि,  
यमक, चित्र ।
- (ख) भामह के—अनुप्रास [ किन्तु उद्भट के ढंग पर ], अनन्वय,  
उपमेयोपमा, सन्देह ।
- (ग) उद्भट के—[ छेकानुप्रास किन्तु अपृथक् ] पुनश्चतुर्वदाभास, प्रति-  
वस्तूपमा, काव्यालिंग, दृष्टान्त, संकर ।
- (घ) वामन की—व्याजोक्ति ।
- (ङ) रुद्रट के—वक्रोक्ति, श्लेष [ शब्दगत ], समुच्चय, पर्याय, विषय,  
अनुमान, पुरिकर, परिसंख्या, कारणमाला, अग्योन्य, उत्तर [ श्लेष ],  
सार, मौलित, एकावली, प्रतीप, भ्रान्तिमान्, प्रत्यनीक, स्मरण,  
विशेष, तद्गुण, पिहित [ सामान्य नाम से ], असंगति,  
व्याघात, अधिक ।
- (च) भोज का—मालादीपक [ दीपक से अलग कर ]

३ स्वकल्पित ( १ ) विनोक्ति ( २ ) सम ( ३ ) अतद्गुण ।

इस प्रकार मम्मट तक अलंकारों की संख्या ११८ हो जाती है अर्थात् ११५ भोज  
तक के तथा ३ स्वयं मम्मट के । इनमें से मम्मट ने केवल ११५ अलंकारों को अलंकाररूप  
में स्वीकार किया, शेष ५० को नहीं ।

मादिक तथ्य यह है कि मम्मट ने भोज को सर्वथा अमान्य कर दिया । जबकि रुद्रट  
से उन्होंने २४ अलंकार अपनाए । इन २४ अलंकारों का अनुक्रम भी प्रायः यही है  
जो रुद्रट में पाया जाता है । अनेक उदाहरण भी उन्होंने ज्यों के त्यों अपना लिए हैं ।  
शब्दश्लेष तो रुद्रट की पूर्ण प्रतिनिधि है ।

स्पष्ट ही मम्मट ने दण्डी और रुद्रट को अधिक महत्त्व दिया और उनके अलंकारों  
को विपुत्र मार्गों में अपनाया । बीच के आचार्यों से भी उन्होंने ग्राह्य विच्छित्तियों का  
ध्यान किया । किन्तु यहाँ यह तथ्य स्पष्ट रूप से समझ लेना होगा कि मम्मट ने जो

१ अतद्गुण नाम से एक भेद भोज ने भी प्रस्तुत किया है, किन्तु उसे उन्होंने  
मौलिन के अन्तर्गत गिना है और उसका जो लक्षण दिया है वह मम्मट के अतद्गुण से  
सदैव भिन्न है ।

अलंकार दण्डी से लिए हैं उनके लक्षणरूपी उस जल को उन्होंने अपने प्रतिभा पट से छान कर अपनाया है, जिसे भामह और उद्भट अपनी बुद्धिचालनी से छान चुके थे।

मम्मट ने इन अलंकारों को निम्नलिखित वर्गों में निम्नलिखित क्रम से विभक्त किया—

१. शब्दालंकारवर्ग वक्रोक्ति, अनुप्रास, यमक, श्लेष, चित्र, पुनरुक्तवदाभास।
२. अर्थालंकारवर्ग उपमा, अतन्वय, उपमेयोपमा, उत्प्रेक्षा, संदेह, रूपक, अपहृति, श्लेष, समासोक्ति, निदर्शना, अप्रस्तुतप्रशंसा, अतिशयोक्ति, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त, दीपक, मालादीपक, तुल्ययोगिता, व्यतिरेक, आशेष, विभावना, विशेषोक्ति, यथासंख्य, अर्थान्तरन्यास, विरोध, स्वभावोक्ति, व्याजस्तुति, सहोक्ति, विनोक्ति, परिवृत्ति, भाविक, काव्यलिय, पर्यायोक्त, उदात्त, समुच्चय, पर्याय, अनुमान, परिकर, व्याजोक्ति, परिसंख्या, कारणमाला, अन्योन्य, उत्तर, सूक्ष्म, सार, असंगति, समाधि, सम, विपम, अधिक, प्रत्यनीक, मीलित, एकावली, स्मरण, भ्रान्तिमान्, प्रतीप, सामान्य, विशेष, तद्गुण, अतद्गुण, व्याघात, संसृष्टि, संकर।

### ३. उभयालंकार पुनरुक्तवदाभास<sup>२</sup>

मम्मट के इस वर्गीकरण से स्पष्ट है कि उन्होंने रुद्रट के वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष इन वर्गों और उनके उक्त क्रम को महत्त्व नहीं दिया। केवल सादृश्यमूलक अलंकारों को भी एक साथ नहीं गिनाया। उनमें गिने जाने योग्य स्मरण और भ्रान्तिमान् को उल्लास समाप्त करते-करते याद किया। यदि उन्होंने परिकर तक ही दशम उल्लास का निर्माण किया हो, तब भी सादृश्यमूलक अलंकारों के बाद वे १८ अलंकारों का निर्वचन करने का अवसर पाए हुए हैं। इतना अवसर स्मरण को स्मरण करने और भ्रान्तिमान् के प्रति भ्रान्तिमान् न बनने के लिए पर्याप्त था। सादृश्यमूलक अलंकारों में मम्मट ने सादृश्येतर-सम्बन्धमूलक विच्छित्तियों को मिश्रित कर दिया, इसलिए अतिशयोक्ति में कार्यकारणभाव के पूर्वपर्यं के विपर्यय से होने वाली अतिशयोक्ति को भी पिन लिया और प्रस्तुतान्यता तथा यद्यथोक्ति से होने वाली अतिशयोक्ति को भी। रुद्रट ने पूर्वनाम के दो अलंकार मानकर इस दिशा में सावधानी बरती थी, परन्तु मम्मट को

१. यद्यपि कहीं-कहीं मम्मट की बुद्धि चालनी सिद्ध हुई है और भामह तथा उद्भट की प्रतिभाही पट।

२. मम्मट ने रुद्रट और भोज की यह स्थापना स्वीकार की है कि अन्य अलंकार भी उभयालंकार हो सकते हैं। उनमें इन्हें उभयालंकारों में यह कहकर नहीं गिनाया कि प्राचीन आचार्यों [ भामह, उद्भट ] ने वैसा नहीं किया है।

दोनों अतिशय अभिन्न ही समझ में आए, गोष्ठन और वनस्पति में उन्हें कोई फरक नहीं लगा ।<sup>१</sup>

रुच्यक [ ११००-११५० ई० ]

रुच्यक या रुचक को यह और ऐसी ही अन्य कमियाँ खटकी। इनके परिहार के लिए उन्होंने प्रस्तुत ग्रन्थ के सूत्रों का 'अलंकारसूत्र' नाम से निर्माण किया। इनमें उन्होंने अलंकारों को उनकी सजातीयता के आधार पर यथाशक्य वर्गीकृत किया। पहले उन्होंने मम्मट के ही अनुसार अलंकारों को मुख्यतः शब्द और अर्थ के दो भागों में बाँटा, फिर उनमें से प्रत्येक भाग के अलंकारों का वर्गीकरण किया। दण्डी से मम्मट तक ११८ अलंकारों में से रुच्यक ने ७५ अलंकार अपनाए और ७ अलंकारों की कल्पना अपनी ओर से की। इनका विवरण यह है—

- (१) अमान्य (क) दण्डी के—आवृत्ति हेतु, छेद, भाषा: ।  
 (ख) भामह के—उत्प्रेक्षावयव, उपमारूपक ।  
 (ग) वामन की—वन्नोक्ति ।  
 (घ) भोज के—अर्थापत्ति और समाहित को छोड़कर शेष २५ सो ।  
 (ङ) रुद्रट के—भ्रूव, हेतु मूत्र, उभ्रवास, पुत्र [ दोनो ], अहेतु, सहोक्ति (१), उत्तर (२) समुच्चय (१) अर्थरलेख
- (२) मान्य (क) दण्डी के—स्वभावोक्ति, उपमा, रूपक, दीपक, अश्लेष, अर्थांतर-न्यास, व्यतिरेक, विश्रवना, समासोक्ति, अतिशयोक्ति (१), अतिप्रयोक्ति (२), उत्प्रेक्षा, मूकम, पुत्र (यथासंख्य), रसवैत, प्रेय, ऊर्जस्वी, समाहित (समाधि), पर्यायान्त, उदात्त, अपहृष्टि, श्लेष, विशेषोक्ति, तुल्ययोगिता, विरोध, अप्रस्तुतप्रशंसा, व्याजस्तुति, निदर्शना, सहोक्ति, परिवृत्ति, संसृष्टि, भाविक, ममक, चित्र ।  
 (ख) भामह के—अनुप्रास, उपमेयोपमा, अनन्दब, सदेह ।  
 (ग) रुद्रट के—पुनश्चतवदामास, द्वैकानुप्रास, कादानुप्रास, प्रति-वस्तूपमा, काव्यार्थ, दृष्टान्त, सकूर ।  
 (घ) वामन की—व्याजोक्ति ।  
 (ङ) रुद्रट के—समुच्चय, पर्याय, विषम, अनुमान, परिहार, परिसंख्या, कारणमाला, अन्योन्य, उत्तर, सार, मौलिक, एकावधि, प्रतीप, भ्रान्तिमान्, प्रत्यनीक, स्मरण, विरोध, तदगुण, पिहित [ सामान्य ], असंगत, व्याघात, अधिक, वन्नोक्ति ।

१. हम यहाँ मम्मट के केवल उन्ही दोषों का उल्लेख कर रहे हैं जिनका परिहार अलंकारसर्वस्वकार ने कर दिया है ।

① ( च ) भोज की—अर्थापत्ति ✓

⑤ ( छ ) मम्मट के—विनोक्ति, समु, अतद्गुण, मालादीपक, समाहित  
[ भावशान्त्यङ्गतात्मक ] ।

( ३ ) स्वकल्पित १. परिणाम, २. उल्लेख, ३. विचित्र, ४. विकल्प, ५. भावोदय,

⑦ ६. भावसन्धि, ७. भावशवलता ।

इस प्रकार स्य्यक तक अलंकारों की संख्या १२५ हो जाती है। इनमें से ४३ अलंकार छोड़कर शेष ८२ अलंकार स्य्यक ने स्वीकार किए। इनमें से छद्म के पूर्व-नामक अलंकार को यदि अतिशयोक्ति में गिन लें, जो उचित है, तो कुल अलंकारों की संख्या १२४ रहेगी और यदि स्य्यक की दोनों अतिशयोक्तियों को मम्मट के समान एक अलंकार मान लिया जाए तो स्य्यक के द्वारा स्वीकृत अलंकारों की संख्या ८१ रह जाएगी। इनमें यदि भावोदय आदि तीन अलंकारों को घटा दिया जाए तो स्य्यक द्वारा सूचित अलंकारों की संख्या ७८ रहेगी।

वस्तुतः स्य्यक को भी भावोदय आदि अलंकार रूप से अभीष्ट नहीं हैं। अतएव उनके लक्षण स्य्यक ने नहीं दिए और उन्हें 'पृथगलंकार' कहा अर्थात् इनमें अलंकारत्व रहता अवश्य है, किन्तु वह और ही ढंग का अलंकारत्व रहता है। वस्तुतः रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वी और समाहित को भी स्य्यक अलंकार रूप से मानते प्रतीत नहीं होते। हमें लगता है कि अन्त अन्त में जो ८३ और ८४ सूत्र आए हैं उन्हें इस प्रकार पढ़ना चाहिए—

[ सू० ८३ ] रसभावतदाभासुतत्प्रशमानां निबन्धनेन रसवत्प्रेयलर्जस्विसमाहितानि,  
भावोदयो भावसन्धिर्भावशवलता च ॥

[ सू० ८४ ] एते पृथगलंकाराः ॥

इसका अभिप्राय यह हुआ कि पुनरुक्तवदाभास से उदात्त तक जो अलंकार बतलाए गए वे ऐसे अलंकार थे जो अपने आपमें परिपूर्ण थे। आगे जो संसृष्टि और संकर आने वाले हैं वे ऐसे न होकर अन्यसापेक्ष हैं, अर्थात् उनका स्वरूप अपने आप में कुछ नहीं है। वे जो कुछ हैं अन्य अलंकारों की चिन्धियों के जोड़ से बनी कपड़ी हैं। सूत्रों का जो पाठ काशी और त्रिवेन्द्रम् के संस्करणों में मिलता है उसमें 'एते' शब्द है भी। निर्णय-सागर, मोतीलाल तथा मेहरचन्द्र वाले संस्करणों में इसे किसी कारण छोड़ दिया गया है। हमारी भी दृष्टि इस ओर अब जाकर गई है।

इस प्रकार के सूत्रपाठ से स्पष्ट होगा कि स्य्यक ने रसवत् से लेकर भावशवलता तक के ७ अलंकारों को अलंकार रूप से प्रसिद्धि के कारण गिना भर दिया है, उन्हें वे उपमा आदि जैसे अलंकार मानने को तैयार नहीं हैं। वृत्तिकार की बुद्धि पर आश्चर्य होता है कि वे ग्रन्थारम्भ की भूमिका में ध्वनि और गुणीभूतव्यंग्य को पृथक् कर केवल चित्रकाव्य के लिए सूत्रों का निर्माण बतलाते हैं और अन्त में रसवदादि को भी अलंकार मान बैठते हैं। ये भी सब गुणीभूतव्यंग्य ही हैं। अवश्य ही सूत्रकार से वृत्तिकार भिन्न हैं।

इस प्रकार वस्तुतः रय्यक के मत में ७५ अलंकार ही अलंकार रूप से मान्य हैं । उनमें से वे ७१ प्राचीन आचार्यों से लेते और ४ अपनी ओर से उपस्थित करते हैं ।

सूत्रकार रय्यक ने इन अलंकारों को जिन (सङ्को) वर्गों और अनुच्छेदों में विभाजित किया है उन्हें इस प्रकार स्पष्ट किया जाता है—

### १. शुद्ध खण्ड

#### वर्ग ( १ ) शब्दालंकारवर्ग या पौनरुक्त्यवर्ग

पौनरुक्त्यविच्छिन्न (१) अर्थपौनरुक्त्य	पुनरुक्त्यवदाभास
(२) व्यञ्जन पौनरुक्त्य	छेकानुप्रास, वृत्त्यनुप्रास
(३) स्वरव्यञ्जनसमुदायपी०	यमक
(४) शब्दार्थोभयपौन०	लाटानुप्रास
(५) स्थानविशेषश्लिष्टवर्णपौन०	चित्र

#### वर्ग ( २ ) अर्थालंकारवर्ग

##### (१) सादृश्यविच्छिन्न

(क) भेदाभेदतुल्यतामूलक	उपमा, अनन्वय, उपमे-
(ख) अभेदप्राधान्यमूलक	योपमा, स्मरण
(अ) आरोपाश्रित	रूपक, परिणाम, सन्देह,
(आ) अध्यवसायाश्रित	भ्रान्तिमान, उल्लेख, अपहृति
(ग) गम्भीरमूलक	उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति (१)
(घ) भेदप्राधान्यमूलक	तुल्ययोगिता, दीपक, प्रति-
	वस्तूपमा, दृष्टान्त, निदर्शना
	व्यतिरेक, सहोक्ति

##### (२) विशेषणविच्छिन्न

(क) केवल विशेषणविच्छिन्न	समासोक्ति, परिकर
(ख) सविशेष्य विशेषणविच्छिन्न	श्लेष

##### (३) गम्भीरताविच्छिन्न

पर्यायोक्त, व्याजस्तुति,
आक्षेप

##### (४) विरोधविच्छिन्न

(क) शुद्धविरोध	विरोध
(ख) कार्यकारणभावाश्रित	विभावना, अतिशयोक्ति(२)
विरोधमूलक	असंगति, विषम, विचित्र,
	व्याघात

(ग) आश्रयाश्रयित्वमू०	अधिक, विशेष
(घ) व्यतिहारमूलक	अन्योन्य
(५) शृङ्खलाविच्छिन्ति	कारणमाला, एकावली, मालदीपक, सार
(६) न्यायविच्छिन्ति	काव्यलिङ्ग, अनुमान यथासंख्य, पर्याय, परिवृत्ति, परिसंख्या, स्थापिति, विकल्प समुच्चय, समाधि प्रत्यनीक, प्रतीप, मीलित, तद्गुण, अतद्गुण, उत्तर
(क) तर्कन्यायमूलक	
(ख) वाक्यन्यायमूलक	
(ग) लोकन्यायमूलक	
(७) गूढार्थपरताविच्छिन्ति	
(क) शुद्ध	सूक्ष्म, व्याजोक्ति, वक्रोक्ति, स्वभावोक्ति
(ख) स्फुटार्थता	भाविक
(ग) उदात्तता	उदात्त
(घ) चित्तवृत्त्याश्रित	रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वि, समा- हित, भावोदय, भावसन्धि, भावशबलता

## २. मिश्र खण्ड

(१) संसृष्टि	(क) शब्दालंकार संसृष्टि
	(ख) अर्थालंकार संसृष्टि
	(ग) उभयालंकार संसृष्टि
(२) संकर.	

शेष पाँच में चार अलंकारों को वृत्तिकार ने इनमें से कुछ अलंकारों के वैपरीत्य के आधार पर तत् तत् संदर्भों में प्रस्तुत वतलाया है। वे निम्नलिखित हैं—

(१) विनोक्ति	सहोक्ति—विपरीत
(२) अप्रस्तुतप्रशंसा	समासोक्ति—विपरीत
(३) विशेषोक्ति	विभावना—विपरीत
(४) सम	विषम—विपरीत

शेष वचता है अर्थान्तरन्यास। इसको अप्रस्तुतप्रशंसा के संदर्भ में रखने का कारण वृत्तिकार ने सामान्यविशेषभाव और उस पर आश्रित समर्थ्यसमर्थकभाव माना है।

इस प्रकार ख्यक ने अलंकारों का विभाजन केवल दो खण्डों में किया (१) शब्द खण्ड और (२) अर्थ खण्ड। उन्होंने शब्दार्थोभय-खण्ड की कल्पना को उन्मेष तो



दिया है परन्तु उसे मम्मट के ही समान अंकुरमात्रता तक सीमित रखा है, भोज के समान पल्लवित नहीं किया।

ऐसा लगता है कि—

जिन पत्रिकाओं पर अलंकार सूत्र लिखे गये थे उनमें से तुल्ययोगिता से लेकर निदर्शना तक की पत्रिका व्यतिरेक और सहोक्ति की पत्रिका के पहले रख दी गई। अन्यथा अभेदप्राधान्य के बाद भेदप्राधान्य को स्थान दिए बिना गम्योपम्य को स्थान न दिया जाता।

उक्त वर्गीकरण में समासोक्ति, प्रतीप, सामान्य और मीलित भी सादृश्यमूलक अलंकार हैं जिन्हें गम्योपम्य में गिना जा सकता था, परन्तु समासोक्ति को परिकर और श्लेष के साथ गिन दिया गया है, जिनमें श्लेष तो सादृश्यमूलक माना जा सकता है परन्तु परिकर नहीं। विकल्पालंकार भी सादृश्य की विच्छिन्ति अपने गर्भ में छिपाए है। अतिशयोक्ति के समान अप्रस्तुतप्रशंसा को दो भागों में विभक्त कर उसके सदृश्यमूलक भेद को भी रय्यकाचार्य पृथक् रख सकते थे, अन्योक्ति नाम से, जैसा कि पूर्वाचार्यों ने किया था, परन्तु उन्होंने उस पर कृपा नहीं की।<sup>१</sup>

### ३

#### अलंकारतत्त्व

भारतीय चिन्तन ने काव्य को अकाव्य से पृथक् करने वाले जिन तत्त्वों का अनुसन्धान किया, संस्कृत के काव्यशास्त्र ने उनके नामकरण का शताब्दियों व्यापी एक रोचक इतिहास प्रस्तुत किया है। यह इतिहास वैज्ञानिक भी है।

‘चित्र निरालम्बनमेव मन्ये प्रमेयसिद्धे प्रथमावतारम्।’

कहने वाले अभिनवगुप्त ने साक्षात्कार की मानस प्रक्रिया में वस्तु के प्रथम प्रतिबिम्ब को जो पार्श्ववर्ती अन्य पदार्थों के प्रतिबिम्बों से अस्पष्ट और ‘स्व’-मात्र सीमित किन्तु परिपूर्ण या समग्र माना था, उसका ठीक उदाहरण हमारा उपर्युक्त काव्य-चिन्तन है। हमने सबसे पहले भरतमुनि के शब्दों में कहा ‘रस काव्यार्थ’। काव्य की मूलभूत वस्तु रस है। दूसरे शब्दों में काव्य ऐसी वस्तुओं को प्रस्तुत करता है जिनमें हमारा

१ अलंकारों के वर्गीकरण पर द्रष्टव्य ग्रन्थ—पं० मधुसूदनजी का ‘साहित्य-शास्त्रीय तत्त्वों का आधुनिक समालोचनात्मक अध्ययन’ पृ० १२५-२८, डॉ० रामचन्द्र द्विवेदी की ‘अलंकारमीमांसा’ पृ० १८०-१६, श्रीकन्हैयालालपोद्दारकृत ‘संस्कृतसाहित्य का इतिहास’ भाग २, पृ० १०३, पं० पुरषोत्तमशर्मा शत्रुघ्नी का ‘अलंकारों का प्रामाणिक विकास’ पृ० १०९-११६। इन सबसे महत्व रय्यकसूत्रों को ही दिया गया है।

चित्त रमता है, जो हमें प्रिय हैं और उनके द्वारा वह हमारे संवेदन को जगा देता है। हम हमारी प्रिय वस्तुओं का मानस और अभौतिक संभोग करने लगते हैं। कामशास्त्र के प्रणेता वात्स्यायन भी रस की बात करते हैं, किन्तु उनका रस काव्यरस से भिन्न है। उनका रस रति-परिणति में प्राप्त होने वाली वेदनामुक्ति है, जिसका अधिकांश परित्यागात्मक है। काव्यरस परिणति नहीं, उसके पहले की चर्चणा है। ताम्बूलवीटिका रसिक के मुख में छिपी बैठी रहती और किसी रस की सृष्टि करती रहती है। ऐसा नहीं कि उसका रस उसकी परिसमाप्ति की प्रतीक्षा करता हो। वस्तुप्रतिबिम्ब हमारी चेतना पर अंकित होता और बिम्बगत असाधारण्य से मुक्त हो वह हमारे लिए एकमात्र प्रयोविषय ही बनकर उपस्थित होता है। इस प्रियोविषयीभूत प्रतिबिम्ब-धन के सुदीर्घ अंकन को काव्य प्रस्तुत करता और हमें इन प्रतिबिम्बों को गोपिकाओं से रास करते रहने का उत्तम अवसर देता है। वस, इसी रास-रस के कारण वह अकाव्य से भिन्न है।

यह रस अपने भीतर उन भावों को भी समेटे रहता है जिन्हें लोक में रति, शोक, हास आदि कहा जाता है। अन्य समस्त सामग्री में इन भावों की सामग्री वरिष्ठ और श्रेष्ठ होती है। बाद में रसशब्द केवल इसी सामग्री तक सीमित हो जाता है।

**सौन्दर्यवाद**—वामन 'रस'-शब्द को छोड़ते और 'सौन्दर्य'-शब्द को अपनाते हैं। वे काव्य को अकाव्य से भिन्न करने वाले तत्त्व को 'सौन्दर्य' की संज्ञा देते हैं। अवश्य ही सौन्दर्य रसकी अपेक्षा एक व्यापक संज्ञा है। सौन्दर्य प्रमातृसापेक्ष होने की अपेक्षा प्रमेयसापेक्ष अधिक है। रस इसके विपरीत प्रमातृसापेक्ष अधिक था। इस प्रकार रसवाद के प्रमातृत्व से काव्यचिन्तन की धारा सौन्दर्य तक आते-आते प्रमेय-तट की ओर अधिक झुक गई। फलतः कला के 'स्व' की मीमांसा ने जोर पकड़ा और उसका ग्रहीतृपक्ष दुर्बल हो गया। इस प्रकार रस और सौन्दर्य दोनों की उपलब्धियाँ एकाङ्गी रहीं।

**चारुत्ववाद**—आनन्दवर्धन ने रस और सौन्दर्य दोनों की अन्विति और उसके लिए एक मध्यम मार्ग की खोज की। उन्होंने 'चारुत्व' को स्वीकार किया। चारुत्व प्रमातृपक्ष और प्रमेयपक्ष के मध्य का बिन्दु है। वह जितना व्यक्तिसापेक्ष है उतना ही वस्तुसापेक्ष भी। न वह मायावाद है, न भूतवाद। वह परमशिववाद है। उसमें जितना सत्य शिव है उतना ही यह संसारात्मक भैरव भी। दोनों एक ही हैं। चाहे इस छोर से देखा जाए चाहे उस छोर से। तथ्य एक ही है। 'चारुत्व' की इस समन्वय भूमिका में कला के 'स्व' का भी महत्त्व रक्षित था और प्रमाता के संवेदन का भी। इसमें रस की रक्षा भी थी और सौन्दर्य की भी। इसे कहा जाए तो 'सौन्दर्य-रस' या 'स्वसंवेदन' कहा जा सकता है।

आनन्दवर्धन तक आते-आते काव्यरूपी पुष्पवीथिका के विषय में यह स्थिर हो गया कि उसका सर्वस्व चारुत्वरूपी 'सौरभ' है। अब केवल पुष्पों की गवेषणा शेष रह गई।

यह भी कोई नई बात न थी। यह भी भरतमुनि से ही होती आ रही थी। परन्तु आचार्यों ने उसी पर कुछ नए परिवेष में विचार किया।

**अलङ्कार**—भरतमुनि ने अनुभविता को प्रभावित करने वाले तत्त्वों के रूप में लक्षण और अलङ्कारों के नाम से पुकारी जाने वाली कुछविशेषताओं की खोज की। इन विशेषताओं में अलङ्कारों को अधिक महत्त्व दिया गया। दण्डी और भामह ने इस दिशा में पर्याप्त चिन्तन किया। उन्होंने अलङ्कारों की अनेक विच्छित्तियों की खोज। अलङ्कारों के ही साथ इन आचार्यों ने गुणनामक तत्त्व की भी खोज की और कुछ काव्यसैलियों की ओर भी ध्यान आवृष्ट किया। वामन ने इन सैलियों को सर्वाधिक महत्त्व दिया और इन्हें 'रीति' के नाम से पुकारकर काव्यात्मा स्वीकार किया। वामन ने दो कार्य और किए। एक तो गुणों को रीतिगत विशेष धर्म स्वीकार किया और दूसरे अलङ्कार गज्ञा की शल्यचिकित्सा वैशेष्य ही की जैसे परवर्ती आचार्य आनन्दवर्धन ने 'अर्थ'सज्ञा की। आनन्दवर्धन ने काव्यगत अर्थ को वाच्य और प्रतीयमान नामक दो भागों में विभक्त माना। वामन ने भी अलङ्कार तत्त्व को सौन्दर्य और उपमा आदि की विच्छित्ति के रूप में प्रविभक्त बतलाया। इन दोनों भागों में भी वामन ने 'सौन्दर्य' भाग को प्रधान माना। यस्तुतः इन्हें दो भाग न कहकर व्यङ्ग्य और व्यञ्जक कहना चाहिए और मानना चाहिए कि आनन्दवर्धन को व्यञ्जना की प्रेरणा वामन से ही मिली। वामन भी वैयकरण थे ही।

सौन्दर्य की इस व्याप्ति और भीमा को वामन के समकालीन आचार्य उद्भट ने नहीं पहचाना। उन्होंने केवल विच्छित्तिपक्ष की महत्त्व दिया और काव्यालङ्कारसारसंग्रह नामक ग्रन्थ में रूपक आदि के रूप में ही अलङ्कार को स्वीकार किया।

**ध्वनि**—आनन्दवर्धन ने इन दोनों धाराओं में उद्भट की धारा को अतीव स्थूल और अर्कचन घोषित किया। वामन की सौन्दर्य-धारा को स्वीकार करके भी उन्होंने उसके लिए उपादान के रूप में विविध प्रकार की सामग्री उपस्थित की। व्यञ्जना की विद्युच्छक्ति का आप्रय ले उन्होंने एक नवीन लोक की ही सृष्टि कर डाली, जिसमें न रूपक आदि अलङ्कारों का ही महत्त्व था, न गुणों का और न रीति या वृत्ति का। उसमें महत्त्व केवल चारुत्वनिष्पत्ति का था और था उसके लिए अपेक्षित उन सम्पूर्ण काव्य-घटकों का जो, गुण और अलङ्कार, रीति और वृत्ति भी थे और उनसे परे भी। आनन्दवर्धन ने गुण आदि से परे व्यङ्ग्यनामक एक प्रतीयमान अर्थ का अन्वेषण किया और प्रधानता के आधार पर उसे ध्वनिसंज्ञा देकाव्यात्मा स्वीकार किया। उन्होंने अलङ्कारादि को वाग्विरूप कहा और उन्हें गुणीभूतव्यङ्ग्यनामक वाच्यभेद के अन्तर्गत अन्नभूत माना। अलंकारों को आनन्दवर्धन ने बहुत ही उपेक्षापूर्ण दृष्टि से देखा। अभिनवगुप्त और मम्मट ने आनन्दवर्धन के इस पक्ष को तृप्त दिया और उन्हें काव्यत्व की निष्पत्ति के लिए वैकल्पिक महत्त्व का तत्त्व स्वीकार किया। इन आचार्यों ने अलंकार के साथ

ही अलंकारों की भी कल्पना की और अलंकारों के रूप में रस आदि को ही स्वीकार किया इनने यह भी स्वीकार किया कि अलंकार कभी-कभी रसविरोधी भी बन बैठता है ।

**वक्रोक्ति**—इसी बीच एक और समर्थ आचार्य हुए—कुन्तक । इनने अलंकार पक्ष को व्यापक परिवेप में देखा और उसे वक्रोक्ति के अतीव विस्तृत क्षेत्र तक फैलाया । इस भंगिमा में उन्होंने ध्वनि, अलंकार, गुणों और रीतियों को वैसे ही समाविष्ट माना जैसे महोदधि में भिन्न तरंगों को अथवा मधुमास में पुष्पों को समाविष्ट माना जाता है । इस चिन्तन ने काव्य की उन अनेक विधाओं को भी अपनाने का अवसर दे दिया जो अन्य चिन्तनों में अपनाई नहीं गई थीं । कथन के उस प्रत्येक प्रकार को इस भाग ने अपने परिवेप में समेटा जिससे चमत्कार का अनुभव होता था और उक्ति में विच्छिन्ति आती थी । वक्रोक्ति अपने आपमें एक अलंकार ही है ।

इस विवरण से स्पष्ट है कि उपादानमीमांसा में भी अलंकार को अधिक आचार्यों ने महत्त्व दिया । उसके ऊपर काव्यात्ममीमांसा में तो सौन्दर्य के रूप में अलंकार को स्थान मिल ही चुका था । इस प्रकार काव्यशास्त्र के चुनाबी मैदान में जीत किसी की भी हो परन्तु इतना निश्चित है कि चिन्तन का वास्तविक बहुमत 'अलंकार'-तत्त्व पर अधिक टिका था ।

अलंकारशब्द को रूढ़ि से बाहर निकालकर और केवल उपमा-रूपक आदि तक निरुद्ध न मानकर यदि अपने विराट् रूप में देखा जाए तो लगेगा कि भवेषकों के अन्तर्मन में उसके प्रति जो एक समादर छिपा हुआ है, वह तथ्याधित और आदरणीय है ।

वस्तुतः जो अतिशय तत्त्व है वही 'अलं'-तत्त्व है । अतिशय-शब्दवाकारबृहत्त्व का अभिलापक न होकर 'विशेषता' का अभिलापक है । सामान्य को विशिष्ट बनानेवाला तत्त्व ही 'अतिशय'-तत्त्व है । जो वाङ्मय लोक-साधारण और वक्तव्यमात्र तक, सूचनामात्र तक सीमित रहता है वही अतिशय के आते ही रसनीयता, आस्वाद्यता और स्पृहणीयता तक पहुंच जाता है । रसनीयता, आस्वाद्यता या स्पृहणीयता ही हैं वे 'विशेष' जिनसे उक्ति में काव्यत्व का आधान होता है । इस प्रकार अतिशय तत्त्व या विशेष तत्त्व काव्यत्व के उत्स हैं और ये ही हैं 'अलं'-तत्त्व । अलंभाव या 'अलंत्व' ही है अलंकार । हम इसे संक्षिप्त के विस्तार और विस्तृत के संक्षेप में देख सकते हैं । बीज का शतशत शाखाओं वाले वृक्ष के रूप में परिणत होना यदि उसका अलंभाव है तो विशाल वनश्री का फोटू या चित्र में प्रतिबिम्बनद्वारा संक्षेपीकरण भी अलंभाव है । अतिशय दोनों में है । [ द्र० हमारा लेख साहित्यतत्त्वविमर्शः ]

इस प्रकार के अलंभाव को अलंकार मानकर क्या हम उसे काव्य का सर्वातिशायी तत्त्व नहीं कह सकते ?

जहाँ तक उपमा-रूपक आदि विच्छिन्तियों का सम्बन्ध है और सम्बन्ध है तदितर समस्त काव्यत्वाधायक तत्त्वों का वे इस 'अतिशय'-तत्त्व-रूपी परिमल के लिए

विविध पुष्प माने जा सकते हैं। वाक्य में अतिशय का आधान यदि उपमा आदि के द्वारा होता है तो विभावादि की रससामग्री के द्वारा भी होता ही है। वस्तुतः रससामग्री का संयोजन भी एक उक्तिधर्म है। काव्यशास्त्रीय चिन्तकों में भोज आदि का मस्तिष्क इस ओर भी पहुँचा। वे विभावादि योजना को 'रसोक्ति' कहते, गुणयोजना को स्वभावोक्ति और उपमा आदि की योजना को वनोक्ति। यानी उक्ति विशेष ही है काव्य, और उक्तिगत जो 'विशेष' है अर्थात् रस, गुण और स्वभावपद-वाच्य तदतिरिक्त शेष सब, वे अलंकार ही हैं, क्योंकि वे ही काव्यशोभा के जनक धर्म हैं।

इस प्रकार वस्तुवादी दृष्टिकोण से या प्रमेयनिष्ठ चिन्तन से रस और गुण भी अलंभाव के जनक तत्त्व ही हैं और दूसरे शब्दों में अलंकार ही हैं। भरत के बाद दण्डी ही काव्यशास्त्र के प्रथम आचार्य हैं। उन्होंने इसी दृष्टिकोण को अपनाया है और रसो को अलंकारों में ही सन्निविष्ट किया है। क्या कला का कोई स्वगत धर्म नहीं माना जा सकता ?

कला एक सरचना भी तो है, माना कि वह स्वयं के अन्तिम रूप में विज्ञानघन और 'अनङ्ग' है। क्या अनङ्ग अङ्गना [ उत्तम अङ्गों वाली नारी मूर्ति ] की अपेक्षा नहीं रखता। अनङ्ग का स्थूल अङ्ग यानी शरीर भले ही न हो, स्वयं में वह अत्यन्त नीरूप हो तथापि क्या उसका कोई मानस रूप नहीं होता। यदि होता है तो क्या उसे सर्वथा अनङ्ग कहा जा सकता है ? क्या मन अङ्ग नहीं है ? आखिर सूक्ष्म शरीर भी तो शरीर ही है। अवश्य ही जो तत्त्व मनोभव है, जो आत्मभू है वह अनङ्ग होते हुए भी अङ्गी है, शरीरी है और शरीरसापेक्ष है। उसका एक पक्ष शरीरपक्ष भी है। कला का विज्ञान विषयनिरपेक्ष नहीं। विषय का अस्तित्व भी यहाँ केवल प्रतिभास नहीं। उसका बहुलाश यहाँ अपने आप में भले ही प्रतिबिम्बात्मक और इसीलिए प्रतिभासारमक हो, वह लोकागत बिम्ब की अपेक्षा अवश्य ही रखता है। द्वैत-कला का तद् दाम्पत्य ही यहाँ सर्वस्व है; और ऐक्य नहीं, साहित्य ही यहाँ की प्रधान विभूति है। साहित्य क्या किसी एक छोर के असत्य होने पर सम्भव है। निश्चित ही कला का कोई 'स्व' भी है और उस स्व में रहनेवाली उसकी अद्भुत विशेषतायें भी हैं। इन समस्त विशेषताओं की एक ही संज्ञा है 'अलंकार'।

खजुराहो की अप्सरोभूतिया अङ्गप्रत्यङ्गों में जो संतुलित मासलता या उभार लिए हुए हैं, क्या वह उनका कोई 'अलंकार' नहीं है ? क्या वह उभार कोई प्रातिभासिक धर्म है ? क्या उससे उत्पापित मानस शृङ्ग ही सब कुछ है ? इसलिए क्या उस उभार को प्रमातृनिष्ठ रस-मान कहकर चिन्तक स्वयं को कृतकृत्य मान सकता है ? यदि उसे रसजनक कहा जाए तो रस के लिए उसकी उपादेयता स्वतः सिद्ध है। तब यह सोचना होगा कि यह सामग्री जहाँ नहीं रहती वहाँ रसनीयता क्यों नहीं आती ?

यदि वहाँ रसनीयता नहीं आ पाती और इस सामग्री के रहते ही वह भाती है तो अवश्य ही यह सामग्री रस के प्रति कोई असाधारणता है और यदि असाधारणता है तो क्यों न उसे उसके आश्रय का 'अतिशय' माना जाए, उसे उसकी विशेषता स्वीकार किया जाए, और अन्ततः उसे क्यों न अलंभाव का जनक अलंकारतत्त्व स्वीकार किया जाए ।

सांकेतिक, प्रतीयमान, अप्राकरणीक या अन्य अर्थ की विभूति, उसका इन्द्रजाल ध्वनि-शब्द से पुकार भले ही लिया जाए, किन्तु वस्तुपक्ष की दृष्टि से अवश्य ही वह भी कला की 'स्व'-गत विशेषता भी है और इसलिए अन्वय तथा व्यतिरेक के आधार पर वह भी अतिशय और अलंभाव की सीमा के भीतर है । इसीलिए उसकी संज्ञा अलंकार की जा सकती है । आखिर अनेकार्थक शब्दों के प्रयोग में ध्वनि को शब्द-शक्ति के खूँटे से बांधा चञ्चल बत्स माना ही जाता है । क्यों ? शब्दशक्ति से उसे क्यों बांधा जा रहा है ? इसीलिए न, कि वहाँ शब्द का 'अतिशय' मेटा नहीं जा सकता । उसे स्वीकार करने हेतु चिन्तक बाध्य है । आखिर ध्वनि का बृहत् कूम्भाण्ड उस शब्दशक्ति की तन्वी लता में ही न अटका हुआ है, भले ही प्रमासृचेतना की छत भी उसे साधे हुए हो । कहना न होगा कि ध्वनि का घटोत्कच कितना ही विशाल क्यों न बन जाए वह है किसी हिडिम्बा का प्रसाद । वह उस माता का स्तनंधय बत्स है, उसके आँचल में मुँह लगाकर चुस्की दावता उसके उत्संग का मांगलिक अलंकार है । निश्चित ही ध्वनिभूमिका भी कला-क्षेत्र से आत्यन्तिक पृथक्ता नहीं रखती । वह उसमें 'अलंत्व' का निष्पादन करती और इसीलिए उसका अलंकार बनती है ।

औचित्य—कला जिन प्रतिविम्बों को हमारी चेतना पर अंकित करती है, हम उन्हें अपनी रुचि और अपने संस्कारों के अनुरूप सजा हुआ देखना चाहते हैं । उनको इस सजावट के साथ प्रस्तुत करने का जो औचित्य है वह भी कला के 'स्व' का, उसके 'आपे' का अतिशय है । अवश्य ही वह वैसा न हो तो हमें रुचेगा नहीं और यह उसका दोष होगा । इस दोष की मुक्ति यदि दोषाभाव है अथवा परित्यक्त-परित्याग है तो औचित्य नामक तत्त्व दोषाभाव से अधिक कुछ नहीं है । इसे हम उपादेयता में कारण मानेंगे ही, और अनुपादेयता में इसके अभाव को कारण मानेंगे इसे एक अस्तित्वसंपन्न वस्तु भी मानेंगे, और उस रूप में यह कला के स्वगत धर्मों में ही गिना जाएगा तथा 'अलंकार'-सीमा का उल्लंघन न कर सकेगा ।

इस प्रकार रस, अलंकार, रीति, ध्वनि, वश्रोक्ति और औचित्य के परिक्षेत्रों में विभक्त काव्यचिन्तन मूलतः एक ही धुरी पर घूमता दिखाई देता है । वह है अतिशय की धुरी, अलंभाव की धुरी, अतएव अलंक्रतितत्त्व की धुरी । एवं, अलंक्रतितत्त्व एक सामान्य और व्यापक तत्त्व है काव्यात्मा का । काव्य एक कला है और क्योंकि वह स्वयम्भवी सृष्टि है, संकल्पयोनि, मनोमया या प्रज्ञानघनीय सृष्टि है, प्रतिविन्द्यारिभका है अतः वह उसकी समग्रता में वैसी है, आंशिकता में नहीं । अभिप्राय

यह कि विम्ब में लगा तिलक भले ही बाह्य हो, विम्ब से भिन्न हो, किन्तु प्रतिविम्ब में लगा तिलक जिस प्रकार प्रतिविम्बात्मा की सृष्टि, निर्मिति, अभिव्यक्ति, प्रतिभा या प्रज्ञप्ति के साथ ही कर्ण के साथ उसके कवचकुण्डल के समान निष्पन्न होता है उसी प्रकार लोकभूमि पर वस्तु और वस्तु के अतिशयाधायक तत्त्व भले ही भिन्न हो किन्तु कलाभूमि पर वस्तु और उसके अतिशयाधायक तत्त्व वैसे नहीं होते । ऐसा नहीं कि दर्पण में वनमालाविभूषित श्रीकृष्ण [ परमात्मा ] प्रतिविम्बित हो तो उस प्रतिविम्ब में वे स्वयं ही प्रतिविम्बित होकर रह जायें, उनकी वनमाला प्रतिविम्बित न हो और वह उनके प्रतिविम्ब में अलग से संयोजित की जाय । श्रीकृष्ण का श्रीविग्रह और उनका अलंकरण वनमाला, दोनों एक साथ प्रतिविम्बित होते हैं । कला में, प्रतिविम्ब में, चित्र में, अलंकार्यं और अलंकृति दोनों सहजात होते हैं, क्रमोत्पन्न नहीं । इस स्थिति में यह कैसे कहा जा सकता है कि अलंकार अलंकार्यं से भिन्न और उसकी घटकता से रहित रहते हैं ।

अलंकार की बाह्यता की आन्ति शरीर के दृष्टान्त के कारण हुई है । कटक कुण्डल आदि शरीर से अवश्य ही भिन्न रहते और आहार्यं हुआ करते हैं । शरीर में वे अवश्य ही ऊपरी वस्तु हैं, शरीर स्वयं नहीं, उसकी आत्मा भी नहीं । किन्तु यह सादृश्य एक विबलाग सादृश्य है । सोचना यह होगा कि भले ही सामान्य शरीर के घटक न हों अलंकार, किन्तु क्या सुन्दर शरीर के भी वे घटक नहीं होते ? सौन्दर्य अपने उपादानों के बिना क्या शरीर में आ सकेगा ? यदि नहीं तो उसके उपादानों को उसकी निष्पत्ति के पूर्व शरीर में मान ही लेना होगा । काव्य केवल शरीर नहीं, सुन्दर शरीर है । केवल शब्दार्थयुग्म काव्य नहीं, अपितु रमणीय शब्दार्थ काव्य है, सुन्दर शब्दार्थ काव्य है । निश्चित ही शब्दार्थ की आत्मा यदि सौन्दर्य के बिना काव्यत्वसूत्र्य है और सौन्दर्य केवल शरीर से निष्पन्न नहीं, तो उसके उपादान काव्यत्व की निष्पत्ति के पहले से शब्दार्थ के रोम-रोम में सन्निविष्ट हैं । यौवन के साथ शरीर, किसी के सौभाग्य का पात्र बनता है । ऐसा नहीं कि सौभाग्य पहले आकर बैठ जाए, यौवन बाद में आए । क्या सिन्दूरदान बाद में होता और वधू कोहबर में पहले ही पहुँच जाती है ? अलंकार और अलंकार्यं के बीच लोक में भले ही संयोगसम्बन्ध हो, कलाभूमिका पर तो उनके बीच एक ही संबन्ध संभव होगा—समवाय । इस प्रकार कला और काव्य का अलंकार, एक आन्तर, अबाह्य और आत्मीभूत धर्म है । धर्मों से उसका अभेद है । उसमें भेद ही एक प्रातिभासिक तथ्य है । ठीक ही कहा गया है 'सालंकारस्य काव्यता, न पुनः काव्यस्यालंकारयोग' [ कुन्तक १।६ ] ।

उक्त 'आधार पर अलंकार अपने उपमा आदि के रूप में भी काव्य की आत्मा है, काव्य है, काव्यनिष्ठ अन्वूनानतिरिक्त धर्म है, इसीलिए और काव्यनिष्ठ अलंकार्यता का अबच्छेदक भी है यानी काव्यत्वरूप ही है ।

हम अशोक का अर्थ कर लें केवल वृद्ध और फिर कहें कि उसकी आत्मा सौरभ है तो कह ही सकते हैं, किन्तु यह हमारा दोष होगा। वस्तुतः अशोक ऐसे एक समग्र व्यक्तित्व की संज्ञा है जिसका एक घटक सौरभ भी है। सौरभ उस व्यक्तित्व की विभूया है, उसका अलंकार है, यद्यपि अशोक का सारा व्यक्तित्व उसी के लिए उपादेय है। हमने काव्यात्मक अशोक को सौरभ से पृथक् कर देना कैसे ? हम मनुष्य का अर्थ सद्योजात वच्चा कर लें और कहें कि वह तो अलंकारमात्र है, अलंकार्य है सुवासिनी और सीमान्यवती मां का उत्संग जिसमें वह समाया रहता है तो ऐसा कह ही सकते हैं। किन्तु क्या सद्योजात शिशु मनुष्य नहीं होता। 'गो' का अर्थ गोचित्र कर हम उसके यथार्थ को समझाते हुए 'गोमाता' के दैवत विग्रह को भी गो-पद का अर्थ कहें और कहें कि यह हमारी नई सूझ है, नूतन स्थापना है तो हमारा मुंह कोई नहीं पकड़ेगा और ऐसा हम कह ही सकेगे, परन्तु इन कथन में नूतनता की डींग कोरा दम्भ होगी। प्रथम दृष्टि गोमाता पर ही जानी चाहिए थी। हमने गोचित्र को 'गोमाता' समझ कैसे लिया ? यह हमारी दृष्टि का दोष है; न अशोक का, न मनुष्य का और न गोशब्द का। 'अलंकार' के विषय में भी हमारे चिन्तन और व्यपदेश-विधान की यहो स्थिति है। हमने अलङ्कार-शब्द को उपमा आदि तक सीमित समझा ही क्यों ? यदि समझा, तो यह भी समझना चाहिए था कि अलङ्कारशब्द से अभिधेय समस्त तत्त्वों में कदाचित् उपमा आदि अधिक प्रभावी और अधिक चमत्कारी हैं। फिर हमें अन्य तत्त्वों की ओर उन्मुख न होना था। और यदि रुचिभेद के कारण हम उन्मुख हुए भी तो हमें अपने चिन्तन की स्वस्थता नहीं खोनी चाहिए थी, उसमें संतुलन बनाए रखना चाहिए था। इतिहास साक्षी है—'हमने वैसा नहीं किया। प्रमावृत्ति चिन्तन की प्रधानता ने हमें व्यक्तिवादी बना दिया, हमने वस्तुपक्ष से अपनी आँखें बहुत दूर तक फेर लीं और हम असंतुलन के उपालम्भ में आ पड़े। आनन्दवर्धन का था यह प्रसाद।

इस प्रकार हमने देखा कि काव्य की आत्मा अर्थात् काव्य को अकाव्य से पृथक् करने वाला तत्त्व या काव्य की उपादेयता, ग्राह्यता का बीज, एक ही है और उसका एक ही नाम है 'अलङ्कार'।

'काव्यालङ्कार'—नाम से जितने ग्रन्थ लिखे उनमें भामह, उद्भट, वामन और उद्भट ने अलङ्कारों का विवेचन अवश्य प्रचुर मात्रा में किया परन्तु उनमें से किसी ने 'अलङ्कार को काव्य की आत्मा' भी कहा हो ऐसी बात नहीं है। उक्त चारों आचार्यों में ऐसा कोई उल्लेख नहीं मिलता। परवर्ती कुन्तक ने अपने ग्रन्थ की कारिकाओं को काव्यालङ्कार कहा और उनमें वक्रोक्ति को काव्यजीवात् स्वीकार किया, किन्तु यह स्वीकृति आनन्दवर्धन के दाद की थी और इसके आधार पर अलंकार को काव्यात्मा कहने का पक्ष समर्थन नहीं पाता, क्योंकि कुन्तक ने वक्रोक्ति को काव्यात्मा स्वीकार किया, जो एक पृथक् संप्रदाय है, जिसकी काव्यात्मवाद में अलंकार संप्रदाय से अलग गणना की जाती है।



- इस प्रकार ( १ ) रस काव्याद्यं ( २ ) रीतिरात्मा काव्यस्य  
 ( ३ ) काव्यस्यात्मा ध्वनिः ( ४ ) वशोक्ति काव्यजीवितम् तथा  
 ( ५ ) औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्

के समान कोई वाक्य 'अलंकार' से सम्बन्धित नहीं मिलता, जिसमें अलंकार को काव्यात्मा या काव्यजीवात्तु कहा गया हो। वामन रीतिवादी आचार्य हैं। उन्होंने 'काव्यं ग्राह्यमलंकारात्, सौन्दर्यमलंकार' कहकर जिस 'अलंकारतत्त्व' को कुछ महत्त्व दिया है उससे भी उपमा आदि की काव्यात्मता का कोई पक्ष सामने नहीं आता, क्योंकि यहाँ जिसे अलंकार कहा गया वह उपमादि नहीं अपितु सौन्दर्य है। फिर वामन स्वयं ही 'रीतिरात्मा काव्यस्य' कहकर अलंकार-पक्ष से अलग हट जाते हैं। इस प्रकार यह जो प्रसिद्धि है कि साहित्यशास्त्र के ६ संप्रदाय हैं और उनमें एक संप्रदाय 'अलंकार' को काव्य की आत्मा मानने वाला है न जाने इसका क्या आधार है। इसका आधार कदाचित् 'काव्यालंकार' इस प्रकार अलंकार के नाम पर ग्रन्थों का नामकरण है। वस्तुतः अलंकार को काव्यात्मा मानने की प्रसिद्धि अलंकार की उस छाप पर आश्रित है जो आलोचक या काव्यकलाविद् के अचेतन मन पर पड़ी हुई थी और जिसके अनुसार अलंकार परिभोगयोग्य परिधान नहीं, अपितु प्रणम्य दैवतरूपाकित रत्न था। उदयन के अवरोध में अज्ञातवास कर रही या अग्निमित्र के अन्त पुर में श्रापसेविका के क्षण व्यतीत कर रही दिव्यकन्या सागरिका और मालविका के समान अलंकृतितत्त्व का अतिशय भी द्रष्टा को प्रभावित किए हुए था और वह मन ही मन सोच रहा था कि यह कोई असाधारण महत्त्व की वस्तु है, जिसे काव्यात्मा भी कहा जाए तो अनुचित नहीं। वस्तुस्थिति स्पष्ट होने पर अन्ततः सागरिका और मालविका उदयन और अग्निमित्र की राजरानी बन ही जाती हैं।

चित्रकाव्य—यही कारण है कि आनन्दवर्धन ने वाक्य के रस आदि से रहित और एकमात्र उक्तिवैचित्र्य से युक्त स्वरूप को काव्य न मानकर काव्यानुकार, काव्याभाष या काव्य की नकल यानी काव्यचित्र माना था और कहा था कि वस्तुतः कोई अलंकार ऐसा नहीं होता जो गुणीभूतव्यंग्य वर्ग में न गिना जा सके अथवा जिसे व्यंग्यांश का अनुग्रह प्राप्त न हो। ये दोनों ऐसे वक्तव्य थे जो परस्पर विरोधी न होकर समन्वयमूत्र से सम्बद्ध थे। किन्तु परवर्ती मम्मट ने ध्वनि का पाठ दुहराते समय इस समन्वयमूत्र को तोड़ दिया और अलङ्कार की प्रधानता से युक्त काव्य को चित्र नामक काव्य मान लिया तथा व्यंग्यप्रधान या व्यङ्ग्यबहुत काव्य को अलग वर्ग में गिना दिया। यह क्या हुआ ? यह वस्तुतः अलङ्कार की प्रतिष्ठा हुई। अलंकार नाम से पुकारे गए उपमा आदि को भी स्वतन्त्र महत्त्व दिया गया और उनमें भी व्यंग्य के बिना भी काव्यत्व का उत्स स्वीकारा गया। यह अपने आपमें जो भी हो, अलंकार के महत्त्व की अभिस्वीकृति में एक महत्त्वपूर्ण प्रमाण है, परिपुष्ट साक्ष्य है और उसके द्वारा दिया गया साक्ष्य है जो अलङ्कारों को काव्यशरीर का अनिवार्य

नहीं, वैकल्पिक धर्म कहने की धृष्टता करता आ रहा था। अन्त में मम्मट ने भी ध्वनिकार आनन्दवर्धन की अनुभूति को आदर दिया और कहा कि अलंकार भी विना रस आदि व्यंग्यांश के निर्जीव होते हैं। अभिप्राय यह कि अलंकार का उपमा आदि स्वरूप भी बह्नि से धूम के समान रस आदि व्यंग्यविभूति से ऐकान्तिक और अव्यभिचारित सम्बन्ध रखता है। यानी इन्हें मिट्टी और पानी की नाई पृथक् करके नहीं देखा जा सकता। जो जल अत्यन्त स्वच्छ है, अधामच्छद या पारदर्शी है, वह भी किसी झूप, तडाग, नदी या निर्झर के ऐसे स्रोत का एकांश है जो मिट्टी-माँ का आंचल पकड़े हुए है। क्या उसे अपायिव माना जा सकता है? क्या केवल बरसाती पानी ही पायिव कर्णों से मिश्रित कहा जा सकता है? केवल बरसाती जल को माटी से मिश्रित द्रव कहना हमारी दृष्टि की स्थूलता होगी, दोष होगा। वस्तुतः उस द्रव में भी मिट्टी छिपी हुई है जिसे हम सर्वथा स्वच्छ कह रहे हैं, अत्यन्त निर्मल समझ रहे हैं। दार्शनिकों का पञ्चीकरण और औपनिषदों का त्रिवृत्करण तो निर्मल जल के भूतपिण्ड की बरीकी में भी जलेतर तरवों के अष्टमांश का वैज्ञानिक मिश्रण मानता है। अलङ्कार का निर्मल जल भी व्यंग्य की मिट्टी का सीगन्ध्य छिपाए हुए है। व्यंग्य की सरस मिट्टी तो जल के स्थूल स्पर्श की तरलता स्वयं ही स्वीकार करती आ रही है। मम्मट का यह मानना कि अलङ्कार को काव्य से यदि हटाया जा सकता है तो उसके व्यक्त रूप में ही हटाया जा सकता है, अव्यक्त रूप में नहीं, उस रूप में वह काव्य का अविभाज्य, अयुतसिद्ध और समवायी धर्म है, इस दिशा में सटीकता की सूचना देता है। यही न वह विवशता है जिससे अलङ्कारों की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती ही गई और पूर्ववर्ती आलोचक जहाँ कोई अलङ्कार नहीं देखता था परवर्ती ने वहाँ अनेक नवीन अलङ्कारों की स्वस्थ खोज कर डाली और जिन स्थलों में पूर्ववर्ती आचार्यों ने कोई एक अलङ्कार माना था, परवर्ती आचार्यों ने उन्हीं स्थलों का विशकलन कर उनमें अनेक अलङ्कारों की प्रच्छन्न संसृष्टि और अव्यक्त संकीर्णता प्रमाणित की। आनन्दवर्धन ने अलंकारों को वाग्विकल्प कहकर अनन्त बतलाते हुए उनकी उपेक्षा का जो शापवाक्य बोला था वह दशरथ के लिए श्रवण-पिता के शापवाक्य के समान अनुग्रह मन्त्र बन गया और उपेक्षा के भीतर से आदर की समुद्रपा स्रोतस्विनी को जन्म मिल गया। अलंकार तत्त्व की गवेषणा परिपूर्ति तक न पहुँच सकी, उत्तरोत्तर बढ़ती ही गई। स्वयं पण्डितराज ने लिखा तो ग्रन्थ 'रस' के नाम पर—'रसगंगाधर'; किन्तु उसका प्रधान अंश बन गया अलंकार ही। वह भी अपूर्ण ही रहा। वे उसे पूर्ण नहीं ही कर पाए। ठीक ही है। भला सन्ध भाषा अलंकार से रहित हो ही कैसे सकती है।

इस प्रकार अलंकार काव्य का अयुतसिद्ध, अपृथक्सिद्ध और वैसा ही धर्म है जैसा पृथिवी का गन्ध, जल का रस, अग्नि का रूप, वायु का स्पर्श और आकाश का

शब्द । काव्यरूपी पञ्चभूत का तन्मात्र अलंकार ही है और अलंकार ही है काव्यरूपी अक्षय्य और महान् बट वृक्ष का अणिष्ठ बीज ।

कहा जाता है अलंकार को शब्दों में समझा जा सकता है, यानी वह वाच्य हो सकता है और रस किसी भी स्थिति में वाच्य नहीं हो सकता, क्योंकि 'रस' या 'शृङ्गार' आदि कहने में रसात्मक आस्वाद अनुभव में नहीं आता । वह तभी अनुभव में आता है जब विभावादि सामग्री का समुचित, ललित और चाह संनिवेश उपस्थित हो । ठीक है । रस अवाच्य ही है, केवल व्यंग्य है, ध्वनि है । परन्तु अलंकार को वाच्य कैसे कहा जाता है ? क्या केवल 'इव' या 'जैसे' शब्द का प्रयोग करने से उपमा का अलंकारत्व या चमत्कार अनुभव में आ सकता है ? क्या उपमा को अलंकारभाव तक पहुँचाने के लिए उपमान आदि की सामग्री अपेक्षित नहीं । उपमान, उपमेय जोर साधारण धर्म के साथ क्या 'इव' आदि उपमाप्रतिपादक शब्दों का प्रयोग रहता ही है ? तब लुप्तोपमा के भेदों की संख्या १९ क्यों मानी जाती है ? क्या 'अभेद' या 'आरोप' कहने से रूपकालंकार या 'सभावना' या 'संशय' कह देने से उत्प्रेक्षा या संदेहालंकार का अनुभव संभव है । अवश्य ही अलंकार भी शब्दों में नहीं जकड़ा जा सकता । फिर रस भी तो ऊपर किए विवेचन के अनुसार अलंकार ही है । क्या जरूरी है कि अलंकारत्व केवल उपमादि विच्छित्तियों की चित्तवरी बकरियों के गले की घण्टी रहे । उस रसरूपी दिव्य रस की सुवर्ण-किकिणी भी क्यों न माना जाए ?

इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि—'अलंकार-तत्त्व काव्य का साधारण तत्त्व है, वही काव्य की वास्तविक आत्मा है । 'तस्यैव मानामुपजीवन्ति सर्वे' उसी के किसी अंश से वे सब तत्त्व निष्पन्न हैं जिन्हें रस आदि नामों से पुकारा जाता है । 'एक सद् विप्रा बहुधा वदन्ति'—उस एक तत्त्व को ही अनुशीलयिता जन अनेक रूपों में विभक्त देखते और भिन्न-भिन्न नामों से पुकारते हैं । यदि यह विश्व किमी असीम ब्रह्मान्, मायावीत भूमन् और अनन्त विराट् पर अंकित है तो इस विश्व का चित्र भी, इसका प्रतिबिम्ब भी किसी तरह पर यदि अंकित हो सकता है तो एकमात्र 'अलंकार'-तत्त्व पर ही । सृष्टि में जो ब्रह्मतत्त्व है काव्य में वही 'अलं'-तत्त्व है । इस अतिशयित, जनन्त, भूमा और विराट् रस को जो अपनी-अपनी कटोरियों में हमने समेटा वह हमारे यानी 'मिति' के भीतर ही अपनी सम्पूर्ण इयत्ता के द्रष्टा जीवों के अनुरूप ही है ।'

'यो यो यं यमवाप्नुयादवयवोद्देशं सृशान् पाणिना  
तत्तन्मात्रकमेव तत्र स स ते रूपं परं मन्यते ।  
तग्जात्यन्धपुरे ह हा करिपते नीतोऽसि दुर्वंधसा  
को नामात्र भवेद् अताखिलभवग्माहाभ्यवेदी जनः ॥'

के अनुसार 'अलंभाव' को अनुवीक्षक के एकांगी दृष्टिकोण में या कहना चाहिए कि स्फूर्त चिन्तन में जिस-जिस रूप में बाधा, जिस-त्रिस्त रूप में आका वह अवश्य ही

आंशिक तथ्यता लिए हुए था, किन्तु उस तत्त्व की समग्रता और उसकी परिपूर्ति उनमें से किसी दृष्टिकोण और किसी चिन्तन में न थी ।

ब्रह्म से माया में उतरने पर वैषम्य और भेद का जो प्रतिभास होता है तदनुसार रस आदि से अलङ्कार को भिन्न केवल उपमा आदि को लेकर किया जाएगा, किन्तु अलङ्कार की महत्ता इतने पर भी घटेगी नहीं । क्योंकि रस यदि कहीं, रहता है तो दोनों केषल सामाजिक या प्रमाता में रहता है, काव्य में नहीं । क्या काव्य और प्रमाता एक हैं ? काव्य में यदि कुछ रह सकता है तो उपमादि अलङ्कार ही रह सकता है । गुण भी रसवाद के अनुसार रसधर्म हैं, अतः वे भी प्रमातृगत सिद्ध होते हैं, काव्यगत नहीं । दोषाभाव कोई Possitivity नहीं है । रसवादी के यहाँ रीति और वृत्ति का कोई पृथक् अस्तित्व होता नहीं । इनके अतिरिक्त किसी काव्यधर्म की कल्पना रसवादियों ने की ही नहीं है । उनका काव्यलक्षण तो इतना पंगु है, विशेषतः मम्मट का, कि वह उन्हीं के अनुसार वस्तु से वस्तु की ध्वनि वाली उक्ति में लागू ही नहीं होता, क्योंकि न वहाँ अलङ्कार रहता, न गुण । यदि कहा जाए कि मम्मट के अनुसार वहाँ भी अस्फुट अलङ्कार तो रहता ही है, तो उस ध्वनि को अलङ्कारमूलक कहना होगा । फिर मम्मट के द्वारा ही स्वतः संभवी वस्तु से वस्तु की ध्वनि के लिए उदाहृत 'अलसशिरोमणिः०' इत्यादि गायक का व्यञ्जक वाच्य अर्थ किस प्रकार के अलङ्कार से युक्त है ? क्या उसमें अस्फुट भी अलङ्कार है ? स्फुट की तो बात ही अलग है । तब कैसे जाएगा इस स्थल में काव्य लक्षण, यानी मम्मट द्वारा अभिमत काव्यलक्षण । हन्त ।

द्वैतदृष्टि और रसवाद के अनुसार काव्य का 'स्व' उसका अपना रूप यानी प्रमाता से पृथक् उसका प्रमेयरूप अवश्य ही रसहीन, गुणहीन, ध्वनिहीन और एकमात्र अलंकार-युक्त है । और कुछ उसमें माना जाए तो केवल दोषाभाव माना जा सकता है, जिसे काव्यत्व की उत्थान-भूमि कहा जाना चाहिए । दूध यदि शुद्ध होगा तो उसकी खीर में इलायची की सुगन्ध तथा केसर-वर्ण भी खिलेंगे । इन दो विशेषताओं के अतिरिक्त द्वैतवादी दृष्टि से काव्य की अपनी काया में अन्य कोई धर्म कदापि नहीं स्वीकार किया जा सकता । इनमें भी दोषाभाव अभावात्मक ही है, वास्तविक केवल अलंकार ठहरता है । फलतः काव्यशरीर का वास्तविक धर्म और उसमें उपादेयता लाने वाली चारुता, सुन्दरता, रमणीयता, चमत्कारिता या असाधारणता का उत्स अलंकार ही ठहरता है । जहाँ कहीं अलंकार का उपमा आदि स्थूल रूप नहीं दिखाई देता और काव्यत्व माना जाता है वहाँ ध्वनिवादी या वे द्वैतवादी आलोचक दोषाभाव के अतिरिक्त काव्य शरीर में कोई धर्म सिद्ध नहीं कर सकते, फलतः वे अकाव्य से उस काव्य की अनुभवसिद्ध भिन्नता का कोई कारण नहीं बतला सकते, विशेषतः काव्यप्रकाश के रचयिता मम्मट ।

निष्कर्ष यह कि अद्वैत दृष्टि से काव्यशरीर के भीतर रस आदि भी अलंकार है और द्वैत दृष्टि से भी काव्यशरीर का एकमात्र धर्म अलंकार ही है, निदान काव्य की अकाव्य से पृथक् करने वाला तत्त्व एकमात्र अलंकार है, इसलिए 'अलंकार ही काव्य की उपादेयता का प्रथम और चरम निदान है, अलंकार ही काव्य की आत्मा' है। प्रमातृपक्ष में हम काव्य के परिणाम पर विचार करते हैं, जिसे काव्य से सम्बन्धित वस्तुओं का विचार कहा जा सकता है, स्वयं काव्य का विचार नहीं।

### काव्यस्वरूप—

प्रश्न : काव्य को अकाव्य से भिन्न करने वाला स्वगत धर्म तो 'अलंकार' हुआ। यह जो काव्य नामक धर्म है यानी अलंकार का जो आशय है, माने अलंकार जिसमें रहता है, वह क्या है ?

उत्तर : कहा जाता है वह 'शब्द' और 'अर्थ' का जोड़ा है। ठीक है, किन्तु प्रश्न उपस्थित होता है कि शब्द और अर्थ काव्यरूप में परिणत होते समय क्या उसी रूप में रहते हैं जिस रूप में वे सत्कार में दिखाई देते हैं या उससे भिन्न किसी अन्य रूप में। प्रथम विकल्प स्वीकार करने पर एक बहुत ही भीषण आपत्ति सामने सुरसा बनकर खड़ी दिखाई देगी। वह आपत्ति होगी अर्थ के विषय में। कालिदास ने कुमारसंभव के प्रथम पद्य में 'हिमालय' कहा। क्या यह वही हिमालय है जिसके शिखर पर हम आज भी चन्द्रने का अभिषाण कर रहे हैं और जिससे बहकर गंगा आज भी भूलोक का ब्रह्मद्वय बनी हुई है। हिमालय का वह स्थावर रूप जिसमें शिला, वृक्ष और जल के घन और तरल रूपों का संघात है, जो पूर्व दिशा से पश्चिम दिशा तक उत्तर दिशा में एक निश्चित स्थान में खड़ा हुआ है, यदि कुमारसंभव काव्य का हिमालय यही हिमालय है तो उसे हम अन्यत्र सर्वत्र कैसे प्राप्त करते हैं। कुमारसंभव तो विश्व के हर कोने में पड़ा जा रहा है। क्या उसमें अर्थरूप से गृहीत हिमालय वही है जो किसी एक भूखण्ड और किसी एक दिशा का शिखोच्चय है, शिलाभित्ति है, उन्नत प्राचीर है, सीमा प्रहरी है, दुर्ग है। यदि वही, तो वह यहाँ काशी में और इसी समय जिन अनेक स्थानों पर कुमारसंभव पड़ा जा रहा होगा उन सभी स्थानों पर कैसे पहुँच रहा है ? यदि पहुँच रहा है तो क्यों नहीं हम उससे दब जाते और क्यों नहीं वह अपने मूलस्थान पर अनुपस्थित मिलता। वह अपने स्थान पर उपस्थित रहता और एक ही रहता है किन्तु हम काव्य में उसे सर्वत्र अनेक स्थानों पर उपस्थित पाते हैं। क्या है यह बात ? निश्चित ही वह हिमालय काव्य का हिमालय नहीं है जो उत्तर दिशा में भित्ति बनकर पड़ा हुआ है।

यही प्रश्न शब्द के विषय में उपस्थित होता है। कालिदास ने जिन शब्दों का उच्चारण किया होगा वे तो उच्चारण समाप्त होते ही समाप्त हो चुके होंगे। फिर हमें उनके शताब्दियों प्राचीन शब्द आज तक कैसे उपलब्ध हैं ? 'लिपि या अनुकरण के द्वारा

हम उन्हें जिलाए हुए हैं और वे सांकेतिक रूप में हमें प्राप्त होते जा रहे हैं' यह उत्तर ठीक है, किन्तु प्रश्न उपस्थित होता है उन शब्दों की बोधकता का। वे हमें अर्थ का ज्ञान कराते हैं। यदि वे शब्द अपने मूलरूप में ही काव्य हैं तो हमें किसी भी अज्ञात भाषा का काव्य अविदित प्रतीत नहीं होना चाहिए, क्योंकि शब्द तो किसी भी भाषा में बदलते नहीं। वर्णमाला और ध्वनियाँ प्राकृतिक वस्तुएँ हैं। उनका उपयोग और विनियोग हम जैसा चाहें कर सकते हैं, किन्तु उतने से उनके भौतिक और प्राकृतिक स्वरूप की हानि नहीं होती। शब्द यदि वही है जो लोक में प्राप्त है तो एक ही वाक्य के अनेक और विविध अर्थ नहीं होने चाहिए, क्योंकि सूर्य किसी को भिन्न प्रतीत नहीं होता। चन्द्र और अग्नि या समस्त प्रपञ्च प्रत्येक बोद्धा को एक ही स्वरूप में प्रतीत होते हैं। कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं जो चन्द्र को अंधकार समझता हो या अंधकार को वज्र। रात सब के लिए रात है और दिन सब के लिए दिन ही। फिर एक ही वाक्य का अर्थ बोद्धा के भेद से भिन्न क्यों हो जाता है ?

शब्द और अर्थ के 'जोड़े' की बात भी अस्वाभाविक-सी है। शब्द हमारे मुखाकाश या श्रोत्राकाश में है और अर्थ यदि है तो सँकड़ों कोस दूर। फिर ऐसे कितने अर्थ हैं जो वर्तमानकालिक हैं ? युधिष्ठिर आदि अब कहाँ ? कल्पितोपमा में चन्द्र से सर्प के लटकने की कल्पना में चन्द्र और सर्प के सम्बन्ध की बात तो आत्यन्तिक रूप से असत्य है। उसका तद्वाचक शब्दों से सम्बन्ध कैसे होगा ? सम्बन्ध के लिए अस्तित्व तो कम से कम, अपेक्षित होता ही है। बन्वापुत्र, वायशृङ्ग, लपुष्प, कच्छपीपय और अन्धकार आदि जो त्रिकालबाधित तथ्य हैं, क्या इनके साथ सम्बन्ध बन सकेगा ? जब विद्यमान अर्थों के साथ भी शब्द का सम्बन्ध संभव नहीं, तब अविद्यमान और कल्पित अर्थों के साथ शब्द का सम्बन्ध संभव कैसे ?

इस प्रकार शब्द, अर्थ और उनका सम्बन्ध तीनों अपने भौतिक और वैज्ञानिक रूप में अनुपपन्न और असिद्ध सिद्ध होते हैं। क्या इसी उलटवाँसी का नाम है काव्य ? यदि असंगति ही काव्य है, तो दोष किसे कहा जाएगा ? यदि उसी असंगति के पीछे शिष्ट और विशिष्ट सभी छुटे हुए हैं, समर्पित हैं, व्यामुग्ध हैं तो उनका और सिरफिरे व्यक्ति का अन्तर किस बात में है ? तब असम्बद्ध प्रलाप और रामायण, गाली और महाभारत में फरक ही क्या ? क्यों वेद को ही पूजा जाए, अवेद को भी क्यों नहीं।

वस्तुतः न शब्द काव्य है, न अर्थ और न इन दोनों का युग्म। काव्य है शब्द के माध्यम से होने वाला अर्थज्ञान। अर्थज्ञान के लिए शब्द स्वरूपमात्र से कारण नहीं होता, उसके साथ अर्थ का एक बौद्ध संबन्ध अपेक्षित होता है। यह सम्बन्ध संकेतात्मक होता है। संकेत व्यक्तिसापेक्ष है, अतः उसमें अन्तर भी रहता है और भाषाएँ बदलती रहती हैं। शब्द भी अर्थ ही है अपने मूल और प्राकृतिक रूप में। मस्तिष्क के किसी कोने में हम शब्द का संस्कार विनाए रहते हैं और किसी कोने में तदितर वस्तुओं

का । हम इन दोनों सकारो का एक संबन्धसूत्र भी बना लेते हैं, व्यवहार के लिए तय कर लेते हैं कि सूर्य कहने से अमुक वस्तु का ज्ञान हो और चन्द्र कहने से अमुक वस्तु का । अर्थात् हम शब्दस्वरूप या ध्वनिसमुदाय के ज्ञान तथा अर्थ के ज्ञानों में एक ज्ञान ही गाँठ बाँध लेते हैं । यह गाँठ ही शक्तितत्त्व है, यही वृत्ति है, यही व्यापार है, यही संकेत है और यही सम्बन्ध । अब हमारे मस्तिष्क के सम्बद्ध तन्तुओं में से कोई एक झकृत होता है तो दूसरा भी झंकन हो उठता है । हमारी बोधशक्ती चरं चूँ करती आगे बढ़ने लगती है । वाद में उसमें गति आ जाती है और वह शक्ती हेमपर्णा हसिनी बनकर हमें न जाने किन-किन लोकों की सैर कराती रहती है । सारा खेल, सारी लीला, सारा इन्द्रजाल हमारी बुद्धि का है । यही बुद्धि काव्य भी बन जाती है । शब्द और अर्थ उसमें सहायक ही बनते हैं । ये तो दो अरणियाँ हैं जो अपने सघर्ष से काव्याग्नि को जगाती और उसे अभिव्यक्त करती हैं । इसीलिए हमने कला को सकल्प योनि और अनङ्ग कहा है ।

इस भूमिका पर आरूढ़ चिन्तन अवश्य ही पूर्वोक्त समस्याओं के समाधान की दिशा पा लेता है । उत्तर देने की आवश्यकता नहीं रहती । 'कुमारसम्भव' का 'हिमालय' अपने भौतिक रूप में जहाँ का वहाँ है, वह अपने ज्ञानरूप को शब्द के गण्ड पर बिठा देता है और वह देश तथा काल की परिधि को अतिक्रान्त कर सत्तातीत रूप में एक लीलालोक में प्रविष्ट हो जाता है । शीघ्रमहत् सा यह लीलालोक, यह भावलोक, यह कल्पनालोक या बुद्धिलोक एक को अनेक मूर्तियों में अंकित और प्रकाशित करता रहता है । कोई असंगति उपस्थित नहीं होती । क्यों न ऐसा हो ? असंगति जिन स्थूत्र प्रतिमानों की इयत्ताओं पर निर्भर है वे प्रतिमान अपनी स्थूत्रता से मुक्त हो इयत्तातीत जो हो जाते हैं, मिति और माया की सीमा से ऊपर उठ ब्रह्मीभूत जो हो जाते हैं । पूर्वाङ्ग की सीमा टूट जाती है और परार्थ की निस्सीमता छा जाती है । मानो हमारे चन्द्र की सोलहवीं कला शिव के मस्तिष्क पर जा बैठी है ।

अब अर्थ ही नहीं अर्थान्तर भी काव्यसीमा में चले आते हैं और अर्थों का आयातदीर्घ से दीर्घतर और दीर्घतर से दीर्घतम बनता जाता है । किन्तु 'रस' इन अर्थों का परिणाम ही रहता है, अर्थ नहीं । अलंकार इस कल्पनालोक और सवित्ति के इस परमधाम में अर्थों का ही धर्म रहता है । अलंकार ज्ञानात्मक होना है जब कि इस संवेदनात्मक, चरणाप्रसूत रसनात्मक । किन्तु हमें यह सब कहते हुए यह नहीं भूटना है कि रस की यह स्थिति, उसका अलंकार के साथ अन्तर प्रमाता के अन्तर्मान में बैठकर किया गया चिन्तन है । प्रमेय के वस्तुपक्ष की दृष्टि से स्थिति भिन्न होगी । किन्तु स्थिति रस की ही भिन्न होगी, अलंकार की नहीं । अलंकार दोनों भूमिकाओं में यथावत् बना रहेगा । अलंकार यानी उपमादि । सौन्दर्यात्मक अलंकार की स्थिति तो और भी अच्छी रहेगी ।

उक्त परिकल्पना से हमने यह देखा कि काव्य एक ज्ञान है और इसलिए वह केवल प्रमेय नहीं, प्रमातृगत, प्रमातृचेतना में प्रतिविम्बित प्रमेय है यानी प्रमित है, बुद्ध है, प्रतिपक्ष है। फलतः हमने वस्तु और व्यक्ति के दोनों पक्षों में समन्वय और सापेक्षता का अनुभव किया। किन्तु यह एक वस्तुस्थिति है। इससे यह सिद्ध नहीं होता कि प्रमेयपक्ष कुछ है ही नहीं। कारण कि ज्ञान-जगत् भी द्वैतमुक्त नहीं रहता और उसमें भी द्वन्द्व, प्रपञ्च, अवयव, खण्ड, अंश रहते हैं। हम उन्हीं अवयवों और अंशों का स्वगत वैशिष्ट्य आंकते और तदनु रूप प्रमेयव्यवस्था करते हैं। फलतः काव्य प्रमातृ-व्योम के बीच उड़ने वाला सुपर्ण होकर भी उस व्योम से अभिन्न नहीं, और 'उसके प्रत्येक पंख, उन पंखों के प्रत्येक लोम उनमें से प्रत्येक की चित्रता' यह जो सब है यह भी स्वयं उसकी ही विभूति है व्योम की नहीं। कविता तो प्रमातृरूप दाशरथि के महल की सीता है। वह वहाँ आई है, पैदा नहीं हुई। जब चाहती है पुनः निकल जाती और अपनी मूल-भूमिका में विलीन हो जाती है। उसे कभी रावण भी चुरा ले जाता है किन्तु वह भी उसे प्रतिष्ठित करता 'अशोकवाटी' में ही है और वहाँ प्रतिष्ठित करके भी अपने दौरात्म्य से उसे तनिक भी प्रभावित नहीं कर पाता। वस्तुतः रावण को अपने यहाँ की अशोक-भूमिका की वास्तविकता का ज्ञान ही नहीं, किन्तु कविता की सीता उस भूमिका से अलग कहीं रह सकती ही नहीं। वह तो ऐसी शकटी है जो केवल चके नहीं, मार्ग-भूमि भी अपने साथ लिए रहती है और चलती है तो केवल उसी मार्ग पर, नहीं तो चलती ही नहीं।

अब हमें अपने चिन्तन के धरातल का ध्यान रखना है और प्रमाता या प्रमेय, किसी के भी धरातल से विचार करते समय अपने धरातल को छोड़ना या उससे भटकना नहीं है।

इस प्रकार अलङ्काररूपी जो धर्म है उसका धर्मो है ज्ञान। अर्थात् अलङ्कार ज्ञान में रहता है। वह स्वयं भी ज्ञानात्मक है। इन दोनों ज्ञानों का धर्मधर्मिभाव ज्ञान और अनुव्यवसाय के धर्मधर्मिभाव सा माना जा सकता है। अनुव्यवसाय में विषयभूत ज्ञान धर्मरूप से निविष्ट रहता है अतः अनुव्यवसाय धर्मो होता है। इनमें सम्बन्ध विषयविषयिभावात्मक ही हो सकता है, या तो हो सकता है 'स्वरूपात्मक'। लौकिक अलङ्कारों के समान इनका अपने धर्मो से संयोग सम्बन्ध मानना कविता के स्वरूप के विषय में अपना व्यामोह प्रकट करना है। काव्यात्मक ज्ञान को अनलङ्कित कहना भी शव को विवाहयोग्य दूल्हा कहना है अथवा कालिदास के शब्दों में 'इमं ज्ञानशूलं को यज्ञयूप बनाना है। काव्य में अलङ्कार का अस्तित्व उतना ही अनिवार्य है जितना किसी श्रोत्रिय के कन्धे पर यज्ञोपवीत का अस्तित्व या किसी सुहागिन की माँग में सिन्दूर का।





इन विचारों के साथ हमारा अलंकारसर्वस्व साहित्यजगत की सेवा में प्रस्तुत है। इसके मुद्रण में अनेक दोष रह गए हैं। कुछ स्थलों के निर्देश हमने पीछे की संशोधन-तात्रिका में किए हैं। अन्य कुछ ये हैं—

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३	५	कयनानव	कयनेऽनव
१४	'भीम०' इत्यादि श्लोक	कायस्य	कामस्य
१७	'महिला' इत्यादि श्लोक	अन्तीमा	अमान्ती
१७	विमर्शिनीकी अन्तिम पं०	सचमत्कार	सचमत्कारं
२०	विम० की प्रथम पंक्ति 'वामनेनतु—वामनेनेत्यादि		१८ पृष्ठ की विमर्शिनी के साथ पढ़ें
५१	नीचे से ८	उत्तर	अन्तर
५१	नीचे से ९	नहीं	वही
५८	विम० ८	कवाटविभ्रममु०	कवाटविभ्रमममु
६४	२२	रण	रंग
७०	११	नहीं मिलता	द्र० २।१७ <sup>१</sup>
७५	शीर्षक	पञ्चालद्वार	लाटानुप्रास
१५७	शीर्षक	उल्लेखालद्वार	श्रान्तिमदलद्वारः
३६७	शीर्षक	समासोत्पलद्वार	श्लेषालद्वार
४४८	१४	मन्यते	मन्वते
५२९	शीर्षक	विशेषोक्त्य०	एकावत्य०
५३१	शीर्षक	समालद्वार	मालादीपका०
५४०	नीचे से २	कण्ठागय	कण्ठागत०
६५३	नीचे से ३	तस्य यथा	तस्यान्यथा०
७२०	६	चन्द्रपादपान्	जन्मपादपान्
३०६, ३४४, ५३३ पर छपी		सूत्रसं० २८, २३, ५० की	क्रमसः ३१, ३३, ५७ मानें।

१. 'तुल्यश्रुतीनां भिन्नानामभिधेयैः परस्परम् । वर्णानां यः पुनर्वादो यमकं तन्निगद्यते ।  
[काव्यालंकार २।१७] छन्द ने इसी लक्षण को अपने लक्षण का आधार बनाया है।

**अपेक्षाएँ—**विमर्शिनी तथा सर्वस्व में प्राप्त नवीन स्थापनाओं पर भूमिका में विचार करना आवश्यक है, किन्तु हम उसे छोड़ रहे हैं, कारण कि वह प्रायः मूल में ही अपने स्थान पर किया जा चुका है। कुछ अवशिष्ट भी है। जैसे—

(क) वृत्तिकार का भट्टनायक के विषय में यह कहना कि वे ही व्यापार-प्राधान्यवादी हैं, जब कि व्यञ्जनावादी भी उस क्षेत्र में गिना जा सकता है। जैसे—

(ख) व्यञ्जनानामक अतिरिक्त शब्दव्यापार स्वीकार किया जाए या नहीं। लक्षणा को भी क्यों स्वीकार किया जाए। केवल अभिधा से ही पूर्ण बोध क्यों न मान लिया जाए। अभिधा भी क्यों मानी जाए, क्योंकि शब्द तो मूलतः जड़ है और व्यापार चेतन में रहा करता है।

(ग) 'स्वसिद्धये पराक्षेपः' आदि वाक्यों के जो प्रयोग मम्मट आदि में प्राप्त सन्दर्भों से हटकर भिन्न सन्दर्भों में यहाँ मिलते हैं उनके स्रोतों की गवेषणा। आदि ॥

इनमें से शब्द की जड़ता का परिहार हम इसी भूमिका में कर चुके हैं। व्यञ्जनाखण्डन के लिए हमने 'साहित्यदर्पणे तात्पर्यस्वरूपम्' नामक एक स्वतन्त्र ग्रन्थ लिख दिया है। 'स्वसिद्धये' आदि वाक्यों के सन्दर्भ रत्नाकर से खोजकर यथास्थान मूल में ही दे दिए हैं। व्यापार-प्राधान्यवाद को भट्टनायक तक सीमित मानना या केवल उन्हीं के सिर पर धोपना भट्टनायक की स्थापनाओं में व्यापारों की बहुलता पर निर्भर है। भावकत्व और भोजकत्व दो ऐसे व्यापार हैं जिनकी कल्पना शब्दव्यापार के रूप में की गई है और कदाचित् केवल भट्टनायक द्वारा ही की गई है। अधिक विचार स्वतन्त्र-रूप से किया जा सकता है।

विमर्शिनी के पाठ-संशोधन में हमने पाण्डुग्रन्थों की सहायता लेनी चाही तो उसमें बहुत विवाद पाया। उदाहरणार्थ काशीहिन्दूविश्वविद्यालय में विमर्शिनी की दो शारदा प्रतियाँ हैं। उनमें और डॉ० रामचन्द्रद्विवेदी द्वारा देखी प्रतियों में वृत्तिके 'प्रणम्य०' इत्यादि मंगल पद्य की विमर्शिनी 'निजेति' प्रतीक से आरम्भ होती है। उसके पहले की जो व्याख्या निर्णयसागरसंस्करण में छपी है वह उन्हें किसी एक प्रति में ही प्राप्त हुई है, किन्तु है मूल ही, क्योंकि ऐसा संभव नहीं कि टीकाकार मंगलपद्य की व्याख्या उसके उत्तरार्ध से आरम्भ करे, वह भी तब जब पूर्वार्ध में 'परा बाणी' और उसके 'त्रिविध विग्रह' की गूढ ग्रन्थि उपस्थित हो। फिर पराबाणी तो काश्मीरियों की सोमलता है। उसीके रस में विभोर रह वे अपना चिन्तन स्थिर रखते हैं। जयरथ उसे कैसे छोड़ सकते हैं? तत्रापि इसकी जो व्याख्या यहाँ दी गई है उसकी गंभीरता, उसकी पदावली, उसकी प्रमाणसंपत्ति काष्ठागत वैदुष्य की अपेक्षा रखती है, वह जयरथ जैसे सर्वशास्त्रवेत्ता के ही अनुरूप है। इसके अतिरिक्त 'देवी' शब्द की ऐसी ही व्याख्या जयरथ ने तन्त्रालोक आदि की टीका में भी की है। फलतः एक प्रति में मिलने पर भी उसे प्रामाणिक मूल मानकर अपनाना उचित है। हमने अपना लिया भी है।

सूत्रों का पाठ विमर्शिनी की काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में प्राप्त एक शारदा प्रति में भी 'अलङ्कारसूत्र' नाम से पृथक् दिया मिलता है, अतः हम भी उसे यहाँ पृथक् दे रहे हैं। जो चतुर्थ सूत्र वृत्ति मान लिया गया था इस प्रति में वह भी सूत्रों में ही पठित है, किन्तु उसमें आगे पठित सूत्रपाठ के ८३, ८४ तथा ८५ सूत्रों को एक ही सूत्र माना गया है। उसमें 'एते' शब्द नहीं है।

सूत्रपाठ अधिस्त' विमर्शिनी के अनुरूप ही दिया है, किन्तु जहाँ उचित लगा है उसके विपरीत नवीन पाठ भी अपनाया गया है।

यह कार्य मध्यप्रदेशशासन सेवा में रहते हुए किया गया है। मैं उस घासन के प्रति आभारी हूँ।

अन्त में मैं काशी के विश्वविश्रुत प्रकाशनसंस्थान चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस तथा चौखम्बा विद्याभवन के अधिस्तरी श्रीमान् मोहनदास जी गुप्त तथा श्रीमान् बिट्टलदास जी गुप्त को धन्यवाद देता हूँ, जिन्होंने इस बड़े कार्य को बङ्गीकार किया और साहित्यसेवियों के लिए गुलब बनाया। मुझे दुःख है कि इस ग्रन्थ की प्रतियों के पूर्व ही इस महान् संस्थान के कर्णधार श्रीमान् सेठ जयकृष्णदास जी गुप्त तथा श्रीमान् सेठ श्रीकृष्णदासजी गुप्त कुछ ही दिनों के अन्तर में असमय में गोकुल सिधार गए।

यदाकदा मैंने सदिग्ध अंशों पर अपने परमगुरु काशी-सुमेरुनीटाधीश्वर शङ्कराचार्य अनन्तश्रीविभूषित श्रीमहेस्वरानन्द जी सरस्वती, उसी भूमिका के विदेहराज महामाहेस्वर आचार्य प० रामेश्वर जी झा तथा अपने पितृनुत्य गुरु प० रामकुवेर जी मालवीय से परामर्श किया है। उनको प्रणामाजति अर्पित करता हूँ।

मैं इस दिशा में कार्य करने वाले अपने पूर्व सुरियों के प्रति भी कृतज्ञता अर्पित करता हूँ, जिनसे मेरे चिन्तन को बल मिला है।

इस ग्रन्थ के वृत्तिगत उदाहरणों तथा विमर्शिनीपद्यों की सूची विद्वद्भर श्री सातकडि मुखोपाध्याय बङ्गीय ने बनाई है। वे एतदर्थं शतशः साधुवाद के पात्र हैं। किमधिकेन।

नेमः सुमेधसे तस्मै सुश्लेषाय च कोटिशः।

बोध शोध प्रबन्धश्च सत्सर्धा यत्र जायति ॥

श्रीगुरुपूणिमा,

सं० २०२८, वाराणसी

— रेवाप्रसाद द्विवेदी

राजानक-श्रीसृष्टयकस्य कृतिः

## अलङ्कारसूत्रम्<sup>१</sup>

- १ इहार्थपौनरुक्त्यं शब्दपौनरुक्त्यं शब्दार्थपौनरुक्त्यं चेति त्रयः पौनरुक्त्यप्रकाराः ।
- २ तत्रार्थपौनरुक्त्यं प्ररूढं दोषः ।
- ३ आमुखावभासनं पुनः पुनरुक्तवदाभासम् ।
- ४ शब्दपौनरुक्त्यं व्यञ्जनमात्रपौनरुक्त्यं स्वरव्यञ्जनसमुदाय—पौनरुक्त्यं च ।
- ५ संख्यानियमे पूर्वं छेकानुप्रासः ।
- ६ अन्यथा तु वृत्त्यनुप्रासः ।
- ७ स्वरव्यञ्जनसमुदायपौनरुक्त्यं यमकम् ।
- ८ शब्दार्थपौनरुक्त्यं प्ररूढं दोषः ।
- ९ तात्पर्यभेदवत्तु लाटानुप्रासः ।
- १० तदेवं पौनरुक्त्ये पञ्चालङ्काराः ।
- ११ वर्णानां सङ्गाद्याकृतिहेतुत्वे चित्रम् ।
- १२ उपमानोपमेययोः साधर्म्ये भेदाभेदतुल्यत्वे उपमा ।
- १३ एकस्यैवोपमानोपमेयत्वेऽनन्वयः ।
- १४ द्वयोः पर्यायेण तस्मिन्नुपमेयोपमा ।
- १५ सहशानुमवाद् वस्त्वन्तरस्मृतिः स्मरणम् ।
- १६ अभेदप्राधान्ये आरोपे आरोपविपयानपह्लवे रूपकम् ।
- १७ आरोप्यमाणस्य प्रकृतोपयोगित्वे परिणामः ।
- १८ विपयस्य सन्दिग्धमानत्वे सन्देहः ।

१. अलङ्कारसूत्रमिति वृत्तिरहितो ह्ययथैकरचितः सूत्रमात्रात्मा स्वतन्त्रो ग्रन्थः ।

२. इहेति पदं प्रतिसूत्रम् आग्रन्थमनुवर्त्तनीयम् ।

- १९ सादृश्याद् वस्तुन्तरप्रतीतिभ्रान्तिमान् ।  
 २० एकस्यापि निमित्तवशादनेकधा ग्रहणमुल्लेखः ।  
 २१ विषयस्यापह्नवेऽपह्नतिः ।  
 २२ अध्यवसाये व्यापारप्राधान्ये उत्प्रेक्षा ।  
 २३ अध्यवसितप्राधान्ये त्वतिशयोक्तिः ।  
 २४ औपम्यस्य गम्यत्वे पदार्थगतत्वेन प्रस्तुतानामप्रस्तुताना वा समान-  
 घर्माभिसम्बन्धे तुल्ययोगिता ।  
 २५ प्रस्तुताप्रस्तुताना तु दीपकम् ।  
 २६ वाक्यार्थगतत्वेन सामान्यस्य वाच्यद्वये पृथङ्निर्देशे प्रतिवस्तूपमा ।  
 २७ तस्यापि विभ्वप्रतिविम्बभावतया निर्देशे दृष्टान्तः ।  
 २८ सभवताऽसभवता वा वस्तुसम्बन्धेन गम्यमानं प्रतिविम्बकरण  
 निदर्शना ।  
 २९ भेदप्राधान्ये उपमानादुपमेयस्याधिक्ये विपर्यये वा व्यतिरेकः ।  
 ३० उपमानोपमेययोरेकस्य प्राधान्यनिर्देशेऽपरस्य सहार्थसम्बन्धे  
 सहोक्तिः ।  
 ३१ विना' किञ्चिदन्यस्य सदसत्त्वाभावो विनोक्तिः ।  
 ३२ विशेषणाना साम्यादप्रस्तुतस्य गम्यत्वे समासोक्तिः ।  
 ३३ विशेषणसामिप्रायत्वं परिकरः ।  
 ३४ विशेष्यस्यापि साम्ये द्वयोर्वोपादाने श्लेषः ।  
 ३५ अप्रस्तुतात् प्रस्तुतस्य सामान्यविशेषभावे कार्यकरणभावे वा  
 सारूप्ये च प्रस्तुतप्रतीतावप्रस्तुतप्रशंसा ।  
 ३६ सामान्यविशेषकार्यकरणभावाम्ब्यां निर्दिष्टप्रकृतसमर्थनमर्थान्तर-  
 न्यासः ।  
 ३७ गम्यस्यापि भङ्ग्यन्तरेणाभिधान पर्यायोक्तम् ।  
 ३८ स्तुतिनिन्दाभ्या निन्दास्तुत्योर्गम्यत्वे व्याजस्तुतिः ।  
 ३९ उक्तवक्ष्यमाणयोः प्राकरणिकयोर्विशेषप्रतिपत्त्यर्थं निषेधाभास  
 आक्षेपः ।

- ४० अनिष्टविध्याभासश्च ।  
 ४१ विरुद्धाभासत्वं विरोधः ।  
 ४२ कारणभावे कार्यस्योत्पत्तिर्विभावना ।  
 ४३ कारणसामग्र्ये कार्यानुत्पत्तिर्विशेषोक्तिः ।  
 ४४ कार्यकारणयोः समकालत्वे पूर्वोपर्यधिपर्यये चातिशयोक्तिः ।  
 ४५ तयोस्तु भिन्नदेशत्वेऽसङ्गतिः ।  
 ४६ विरूपकार्यानर्थयोरुत्पत्तिर्विरूपसंघटना च विषमम् ।  
 ४७ तद्विपर्ययः समम् ।  
 ४८ स्वविपरीतफलनिष्पत्तये प्रयत्नो विचित्रम् ।  
 ४९ आश्रयाश्रयिणोरनानुरूप्यम् अधिकम् ।  
 ५० परस्परं क्रियाजननेऽन्योन्यम् ।  
 ५१ अनाधारमाधेयमेकमनंक्तोचरमशक्यवस्त्वन्तरकरणं विशेषः ।  
 ५२ यथा साधितस्य तथैवान्यथाकरणं व्याघातः ।  
 ५३ सौकर्येण कार्यविरुद्धक्रिया च ।  
 ५४ पूर्वस्य पूर्वस्योत्तरोत्तरहेतुत्वे कारणमाला ।  
 ५५ यथापूर्वं परस्य विशेषणतथा स्थापनापोहने एकावली ।  
 ५६ पूर्वस्य पूर्वस्योत्तरोत्तरगुणावहत्वे चालादीपकम् ।  
 ५७ 'उत्तरोत्तरमुत्कर्षः सारः ।  
 ५८ हेतोर्वाक्यपदार्थता काव्यलिङ्गम् ।  
 ५९ साध्यसाधननिर्देशोऽनुमानम् ।  
 ६० उद्दिष्टानामर्थानां क्रमेणानुनिर्देशो यथासंख्यम् ।  
 ६१ एकमनेकस्मिन्ननेकमेकस्मिन् क्रमेण पर्यायः ।  
 ६२ समन्यूनधिकानां समाधिकन्यूनैर्विनिमयः परिवृत्तिः ।  
 ६३ एकस्यानेकप्राप्तावेकत्र नियमनं परिसंख्या ।  
 ६४ दण्डापूपिकयाऽर्थान्तरापतनमर्थापत्तिः ।  
 ६५ तुल्यबलविरोधो विकल्पः ।  
 ६६ गुणक्रिया-योगपद्यं समुच्चयः ।

- ६७ एकस्य सिद्धिहेतुत्वेऽन्यस्य तत्करत्वं च ।  
 ६८ कारणान्तरयोगात् कार्यस्य सुकरत्वं समाधिः ।  
 ६९ प्रतिपक्षतिरस्काराशकौ तदीयस्य तिरस्कारः प्रत्यनीकम् ।  
 ७० उपमानस्याक्षेप उपमेयताकल्पन वा प्रतीपम् ।  
 ७१ वस्तुना वस्त्वन्तरनिगूहन मीलितम् ।  
 ७२ प्रस्तुतस्यान्येन गुणसाम्यादैवात्म्य सामान्यम् ।  
 ७३ स्वगुणत्यागादत्युत्कृष्टगुणस्वीकारस्तद्गुणः ।  
 ७४ सति हेतौ तद्गुणाननुहारोऽतद्गुणः ।  
 ७५ उत्तरात् प्रश्नोत्तरनमसद्दसम्भाव्यमुत्तरं चोत्तरम् ।  
 ७६ सलक्षितसूक्ष्मार्थप्रकाशनं सूक्ष्मम् ।  
 ७७ उद्भिन्नवस्तुनिगूहन व्याजोक्तिः ।  
 ७८ अन्ययोक्तस्य चाभ्यस्य काकुरलेपाभ्यामन्यथा योजनं वकोक्तिः ।  
 ७९ सूक्ष्मवस्तुस्वभावयथानुवर्णन स्वभावोक्तिः ।  
 ८० अतीतानागतयोः प्रत्यक्षायमाणत्व भाविकम् ।  
 ८१ समृद्धिमद्-वस्तु-वर्णनमुदात्तम् ।  
 ८२ अङ्गभूतमहापुरुषचरितं च ।  
 ८३ रसभान-तदाभास-तत्प्रशमानां निवन्धेन रसरत्नेय-ऊर्जस्विसमाहितानि ।  
 ८४ भावादयो भावसन्धिर्भावशचलता च ।  
 ८५ एते पृथगलङ्काराः ।  
 ८६ एषा तिलतण्डुलन्यायेन मिश्रत्वं संसृष्टिः ।  
 ८७ क्षीरनीरन्यायेन तु सङ्करः ।  
 ८८ एवमेते शब्दार्थोमयालङ्काराः संक्षेपतः सूत्रिताः ।

॥ कृतिः श्रीराजानकरुच्यकस्य ॥



१ सवृत्तिमूलग्रन्थे सूत्रमिदं पूर्ववर्तिनि सूत्रेऽन्युक्ततया मुद्रितम्, तदानीमप्रतिमानात् । काशीहिन्दूविश्वविद्यालयशारदापाण्डुग्रन्थे ८३-८५ सूत्राण्येकसूत्रत्वेनैव लिखितानि ।

## विषयानुक्रम

	पृ०		पृ०
भूमिका	१	२४ व्यतिरेक ✓	२८५
शब्दालंकार-प्रकरणारम्भ	४४	२५ सहोक्ति	२९८
१ पुनरुक्तवदाभास ✓	४६	२६ विनोक्ति	३०६
२ छेकानुप्रास ✓	६०	२७ समासोक्ति ✓	३१२
३ वृत्त्यनुप्रास ✓	६१	२८ परिकर	३४४
४ यमक ✓	६७	२९ इलेप	३५०
५ लाटानुप्रास ✓	७१	३० अप्रस्तुतप्रशंसा	३८१
६ चित्र	७७	३१ अर्थान्तरन्यास ✓	३९९
शब्दालंकार-प्रकरणारम्भ	८०	३२ पर्यायोक्त	४१०
७ उपमा ✓	८०	३३ व्याजस्तुति	४१९
८ अनन्वय	९८	३४ आक्षेप	४२६
९ उपमेयोपमा	१०३	३५ विरोध	४५२
१० स्मरण	१०८	३६ विभावना	४६२
११ रूपक ✓	११५	३७ विज्ञेयोक्ति	४७६
१२ परिणाम	१३५	३८ अतिशयोक्ति ( २ )	४८३
१३ सन्देह ✓	१४०	३९ असङ्गति	४८४
१४ भ्रान्तिमान् ✓	१५१	४० विपम	४८८
१५ उत्तलेख	१५८	४१ सम	४९४
१६ अपह्नुति ✓	१६८	४२ विचित्र	४९८
१७ उत्प्रेक्षा ✓	१८२	४३ अधिक	५०१
१८ अतिशयोक्ति ( १ )	२१९	४४ अन्वोन्म	५०५
१९ तुल्ययोगिता ✓	२३६	४५ विशेष	५०८
२० दीपक ✓	२४३	४६ व्याघात ( १ )	५१४
२१ प्रतिवस्तूपमा ✓	२५५	व्याघात ( २ )	५१७
२२ हृष्टान्त ✓	२६३	४७ कारणमाला	५२३
२३ निदर्शना ✓	२६९	४८ एकावली	५२८



	पृ०		पृ०
४९ मालादीपक	५३०	६६ अतद्गुण	६३७
५० सार	५३३	६७ उत्तर	६४१
५१ काव्यलिङ्ग	५३८	६८ सूक्ष्म	६४७
५२ अनुमान	५४९	६९ व्याजोक्ति	६४२
५३ यथासंख्य	५५६	७० वक्रोक्ति	६५६
५४ पर्याय	५६५	७१ स्वभावोक्ति	६६४
५५ परिवृत्ति	५७१	७२ भाविक	६७१
५६ परिसंख्या	५७७	७३ उदात्त ( १ )	६८७
५७ अर्थापत्ति	५८५	उदात्त ( २ )	६८८
५८ विकल्प	५९१	७४-७७ रसवत्, प्रेम, ऊर्जस्वी, समाहित	६९२
५९ समुच्चय	५९६	७८-८० भावोदय, भावसन्धि, भावशबलता	७१३
६० समाधि	६०८	८१ संमृष्टि	७१७
६१ प्रत्यनीक	६१२	८२ सकर	७३२
६२ प्रतीप	६१६	उपसंहारसूत्र	७५१
६३ मीलित	६२५	परिशिष्ट १ : सहृदयलीला	७५७
६४ सामान्य	६३२	२ : श्लोकानुक्रमणी	७६१
६५ तद्गुण	६३५		

रामरूपगण्ड  
 ग्राम मौलाडा माहिसास  
 तह सीमोडुजिलाफरी

॥ श्रीः ॥

## अलङ्कारसर्वस्वम्

नमस्कृत्य परां वाचं देवीं त्रिविधविग्रहाम् ।  
गुर्वलङ्कारसूत्राणां वृत्त्या तात्पर्यमुच्यते ॥

### सविमर्श अनुवाद

श्रद्धां मन्ये मातरं लोकमार्गे सा वै सर्वा ओषधीः संप्रसूते ।  
आन्वीक्षिक्यां किन्तु मे भावबन्धः सा ता एता निस्तुपाः संविभक्त ॥  
आर्धं गुरुं पितरमेव पुरा नतोऽद्मार्घां च लेखजननीं जननीं मयि स्वाम् ।  
एकं तयोस्तदनु विग्रहमद्वितीयं कार्यां महेश्वरयत्नान्द्रकवि त्रितोऽस्मि ॥  
यन्नाम तत्त्वगुरुभिर्गुरुभिर्मरिचो ज्योतिर्मयि प्रतिनवं प्रकटीकृतं तत् ।  
कल्याणकोशमुपजांन्य मया सटीकसर्वस्व-शोधन-विधौ क्रियते प्रयत्नः ॥

स्य्यकमूर्जं, महोः सर्वस्वाख्या च तत्र वा वृत्तिः ।  
ते शोधयते रत्नाकारो, विमर्शिनी तमपि ॥  
पतात्विककृतमार्गे दत्तधिया दीक्षितेन यद् वर्त्म ।  
धुण्णं, क्षोदयते तत् पण्डितराजो महारम्भः ॥  
विश्वेश्वर इति नामा विद्वन्मान्यः पराक्रमते ।  
नन्यन्यायनदीप्यः पण्डितराजं निराकुर्वन् ॥  
सर्वामेतां विदुषां, परम्परां बोध्य, बोध्य दण्ड्यादीन् ।  
जरतः कान्यालङ्कृतिकतून् रेवाप्रसादनामाहम् ॥  
अनुवादेन समृद्धां व्याख्यां कुर्वे यथायथं विशदाम् ।  
स्य्यकमहत्सुकजयरथकान्यालङ्कृतिसुनित्रधीकृतिषु ॥

‘तीन प्रकार के शरीर से युक्त भगवती परा वाणी को प्रणाम कर गुरुकृत अलङ्कारसूत्रों का तात्पर्य वृत्ति द्वारा बतलाया जा रहा है ॥’

### श्रीजयरथकृततालङ्कारविमर्शिनी

मङ्गलकामनया ग्रन्थकृत्रिजेदेवताप्रणामपुरःसरमभिधेयं तात्पर्यं चैकेनैव वाक्येन परामृशति—नमस्कृत्येति । परां वाङ्मयाधिदेवतां पराख्यां शब्दद्वयज्ञानोऽपृथग्भूतां शक्तिं परां वाचं देवीं त्रिविधविग्रहां बहिरुल्लिख्यसपिपया पश्यन्तीमध्यमावैखरीरूपेण प्रकारत्रयेणाधिष्ठितशरीरां नमस्कृत्य निर्विघ्नचिकीर्षितग्रन्थसमाप्तये तां प्रति कायवाङ्मनोभिः प्रह्वीभूय

निजालंकारसूत्राणां वृत्त्या तात्पर्यमुच्यते इति मङ्गलान्वययोजना । तथा चात्रोक्तलक्षणार्थ-  
विस्तरः—

‘येन विमशंरूपैव परमार्थचमत्कृति । सैव सारं पदार्थानां परा वागभिधीयते ॥  
नादाख्या सर्वभूतेषु जीवरूपेण संस्थिता । अनादिनिधना सैव सूक्ष्मा वागनपायिनी ॥  
अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतरुं यदक्षरम् । विद्यतेतत्सर्वभावेन प्रक्रिया जगतो यतः ॥  
वैखरी शब्दनिष्पत्तिर्मध्यमा स्मृतिगोचरा । द्योतिरार्थस्य पश्यन्ती सूक्ष्मा ब्रह्मैव केवलम् ॥’

इत्यादिशास्त्रोक्तिरुमेण सर्वत्र सदोदितायाः सूक्ष्मायाः परायाः शब्दब्रह्मणः शक्तेर्वह्नि-  
रुन्मिपन्त्याः प्रथमो विवर्तः पश्यन्ती नाम । तथा चोक्तम्—

‘अविभागा तु पश्यन्ती सर्वान् सहस्रकामा । स्वरूपज्योतिरेवान्तःसूक्ष्मा वागनपायिनी ॥’  
इति । अस्यार्थः—अविभागा स्थानकरणप्रयत्नप्रकारेण वर्णानां विभागाहीना अत एव  
सहस्रकामा तथैवान्तःस्वरूपज्योति स्वयंप्रकाशा स्वस्यात्मनो रूप ज्योतिश्च सर्वत्र हि  
सर्वविधायिनी शक्तिरेवेति वान्तःसूक्ष्मबीजादङ्कुरमिव बहिरुन्मिपन्ती किञ्चिदुच्छ्रान्ता  
पराया मध्यमायाश्चावस्थां तदस्था पश्यतीति पश्यन्तीत्युच्यते । तत पर तु—

‘अन्तःसंकरपरुपा या क्रमरूपानुपातिनी । प्राणवृत्तिमतिक्रम्य मध्यमा वाक् प्रवर्तते ॥’

प्राणवृत्तियामिति विमशंरूपा अन्तःसंकरपरुपा प्राणवृत्तिमतिक्रम्य श्रोत्रप्राणवर्ण-  
भिव्यक्तिरहिता क्रमरूपानुपातिनी मानसिष्वर्णोच्चारणक्रमेण द्वितीयो विवर्तो मध्यमारूपो  
जायते । मध्यमा किल द्वयोर्वाग्विवर्तयोः पश्यन्तीवैखरीसंज्ञयोर्मध्ये वर्तमानमध्यमे-  
त्युच्यते । तदनन्तरं च—

‘स्थानेषु विद्युते वायौ कृतवर्णपरिग्रहा । वैखरी वाक् प्रयोक्त्वर्णां प्राणवृत्तिनिबन्धना ॥’

इति लक्षणात्स्थानकरणप्रयत्नक्रमव्यव्ययमानः श्रोत्रप्राणदुन्दुभिर्विणादिनादपरिचयो गङ्ग-  
दाभ्यक्तगकारादिखिलाससमुच्चयपदवाक्यात्मकस्तृतीयो विवर्तो वैखरीत्युच्यते । विशिष्टं  
स्वमाकाशं सुपरूपं राति गृह्णातीति विखरः प्राणवायुसंचारविशिष्टो वर्णोच्चारस्तेनाभिव्यक्ता  
वैखरीति । विखरे शरीरे भवा वैखरीति वा केचित् । सिद्धो मङ्गलार्थः । तथा चात्र पूर्वार्थ  
एव पुनरावृत्त्याभिव्येयपदार्थान्वययोजना—यथा परां वाचमुत्तमकाव्यरूपतया काव्यात्म-  
धनिसंज्ञाम् अभिधातात्पर्यलक्षणेतीर्णानुल्लेखाम् । देवीम् ‘द्विषु क्रीडाविजिगीषाघुनिस्तु-  
तिव्यवहारमोदमदकान्तिस्वप्नगतिषु’ इति यथायथं धात्वर्थानामनुस्मरणात् शक्तिमता  
कवीनां श्रोतृणां च स्वभावात्स्वेच्छया समुच्छलन्तीं श्रीहन्तीम् । तथा देवीं विजिगीषु  
शब्दं तत्संकीर्तितं चार्थमुपसर्जनीकृत्य वर्तमानाम् । तथा देवीं द्योतमाना द्योतनध्वननयोः  
पर्यायत्वाद् ध्वनिसंज्ञाम् । तथा देवीं स्तुत्यां सर्वैः काव्यात्मत्वाद्भिवन्ध्याम् । तथा देवीं  
व्यवहरन्तीं सर्वत्र प्रचरितां न तुष्ठापि स्खलिताम् । तथा देवीं मोदमानां युतिमात्रेणैव  
परमानन्ददायिनीम् । तथा देवीं माघन्तीं कवे सहृदयस्य च यथायथं करणावबोधाम्नां  
कमप्यहंकारं जनयन्तीम् । तथा देवीं कमनीया सर्वैरभिलषणीयाम् । त्रिविधविग्रहां  
त्रिविधस्त्रिप्रकारो त्रिग्रहो व्यतिरेकेण ग्रहो व्यतिरेकमूलः प्रमाकरणप्रकारो यस्यास्ताम् ।  
तथा हि ‘गङ्गायां घोषः’ इत्यादिवाक्येषु घोषस्य चञ्चल्यपावनत्वादिकं प्रतीयते तत्र  
नाभिधा । गङ्गादिशब्दानां शैत्याद्यर्थस्यावाचकत्वात् । न तात्पर्यात्मा । तात्पर्यशक्त्या  
ह्याधाराधेयभावावगमार्थं परस्परमन्वयमात्र एव स्वीयत्वात् । न लक्षणा । मुख्यार्थवाधा-  
दिहेतुप्रिनयामावात् । तस्माद्भिधातात्पर्यलक्षणाव्यतिरेकचतुर्थकद्यानिश्चितो व्यञ्जन-  
स्यापार इत्यादि सोऽयमेवाग्रे विमृष्यति । अथ च व्यङ्ग्यस्य शब्दार्थोभयमूलत्वेन प्रसि-

द्वन्त्रिविधो विग्रहो विशेषानां भेदानां ग्रहो यस्या इति वा । एतादृशीं तां नमस्कृत्य मङ्गलाचरणरूपत्वेन मनानुद्दिश्य न तु सूत्रवृत्तिभ्यां तात्पर्यकथनादिलक्षणपरीक्षाविस्तारेण निर्णय निजालंकारसूत्राणां वृत्त्या तात्पर्यमुच्यते इति । अस्याभिप्रायः—तथा च ध्वनेर्मानानुद्देशमात्रमेव करोति 'शह हि वाचद्वामह—' इत्यादिना । तदेतत्तावदास्ताम् । निजेति । परकीयाणां सूत्राणां तात्पर्यकथनानवबोधोऽपि स्यादिति भावः । तथा न कैश्चिदपि परैरीदंशि सूत्राणि कृतानीत्यपि ध्वनितम् । तात्पर्यमिति । संक्षिप्तार्थप्रकाशनमित्यर्थः । अन्यथा हि कथनमेपां बहुनापि ग्रन्थेन पारं न यायात् । ननु—

'आदिवाक्ये प्रयोक्तव्यमभिधेयप्रयोजने । प्रतिपाद्यितुं श्रोतृप्रवाहोस्ताहसिद्धये ॥'

इति नीत्या श्रोतृप्रवृत्त्यर्थं सर्वत्रैवादिवाक्येऽभिधेयप्रयोजनाद्यभिधीयते । तच्चेह नोक्तमिति कथमत्र श्रोतृणां प्रवृत्तिः स्यात् । मैवम् । अलंकाराद्यत्राभिधेयाः । तेषामत्र साक्षादेवाभिधानात् । तदभिधायकं चेदमलंकारसर्वस्वार्थं प्रकरणमित्यभिधानाभिधेययोर्नियमगर्भाकारेणार्थाक्षिप्तौ वाच्यवाचकभावलक्षणः संबन्धः । नह्येवंविधमेतदभिधायकं प्रकरणान्तरमस्ति । तस्यान्विष्यमाणस्याप्युपलम्भयोत्पत्त्यस्यानुपलम्भात् । अत एवात्रान्यालंकारग्रन्थवैलक्षण्योद्घोषणाय 'तात्पर्यमुच्यते' इत्याद्युक्तम् । अभिधेयाश्चात्रालंकाराः काव्यालंकारा न लौकिका इत्येतेषां काव्योपस्कृतिद्वारेण पारम्पर्येण—

'काव्यं यज्ञस्येऽर्थकृते व्यवहारविदे शिबेतरत्तये । सद्यः परनिर्वृतये क्रान्तासंमिततथोपदेशयुजे ॥

इत्याद्युक्तनीत्या तद्विनाभावस्वभावत्वाद्यर्थाक्षिप्तसर्वपुरुषार्थसिद्धिरूपा चतुर्गणावाप्तिः प्रयोजनम् । तयोश्चासाध्यसाधनभावलक्षणः संबन्धः । इति स्थितमेवादिवाक्यस्य श्रोतृश्रवणश्रद्धाविभावनिबन्धनत्वम् ।

### सचिमर्श अनुवाद

ग्रन्थकार मंगल करने की इच्छा से अपनी इष्टदेवी को प्रणाम करते हुए [ग्रन्थ के] प्रतिपाद्य विषय का परामर्श भी एक ही वाक्य में करते हुए कहते हैं—नमस्कृत्य० । 'परा अर्थात् वाङ्मयमात्र की अधिष्ठात्री देवी और शब्दब्रह्म की उससे अप्रत्यक्ष परानामक शक्ति, जो बाहर उल्लसित होने की इच्छा से पश्यन्ती, मध्यमा और बैखरी इन तीन शरीरों में अधिष्ठित होती है, उसको नमस्कार कर विवर्णित ग्रन्थ की निर्विघ्न परिसमाप्ति के लिये उसके प्रति काय, वचन और मन से नम्र होकर अपने [गुरु स्वयंकाचार्य के] अलंकार सूत्रों का तात्पर्य वृत्ति लिख कर [सुअ मन्त्र के द्वारा] बतलावा जा रहा है' यह हुई मंगलवाक्य की पदार्थयोजना ।

उक्त मंगल पद्य में आए पदार्थों का लक्षणसहित विस्तृत अर्थ इस प्रकार है—“यह जो विमर्श रूप से ही विग्रमान परम अर्थ का नमस्कार है वही सभी पदार्थों का सार है । उसी को परा वाणी कहा जाता है ।”

“उसी (परा वाणी) का नाम नाद है । वही सभी भूतों में जीव रूप से अवस्थित है । न उसका आदि है और न अन्त । वह अत्यन्त सूक्ष्म और अनन्तर है ।”

“आदि और अन्त से परे जो ब्रह्म है वही शब्दतत्त्व है । उसी का नाम अक्षर है । अर्थतत्त्व इसी अक्षर तत्त्व का विवर्त है । यही संसार की विचित्र रचना की जड़ है ॥

“निष्पन्न शब्द (कायाग्नि द्वारा प्रेरित प्राणवायु का मूर्धा से ढकराकर कण्ठद्वारा शब्दरूप से निकल जाना) बैखरी वाणी है [जो कर्णगोचर होती है], मध्यमा (कान से नहीं सुनाई देकर केवल) स्मृति का विषय बनती है । पश्यन्ती अर्थ को बोधित करती है और जो अत्यन्त सूक्ष्म परवाक्य है वह तो केवल ब्रह्मरूप ही है ।”

—इत्यादि शास्त्रवचनों के अनुसार सर्वत्र और सदा उदित (कथित अथवा उदय को प्राप्त) जो शब्दब्रह्म की सूक्ष्म परा वाणी नामक शक्ति है उमका बाहर उन्मिषित होने समय जो प्रथम विवर्त होना है उसे पश्यन्ती कहा जाता है। जैसा कि कहा गया है—“पश्यन्ती अविभागा = विभागरहित होती है, उसमें क्रम विलगुल नहीं रहता। वह (पश्यन्ती) आत्मज्योति रूप ही है, अन्न सूक्ष्मा और अनपायिनी (अविनश्वर) है।” —इसका अर्थ है—अविभागा = अर्थात् (कण्ठ सात्त्व आदि) स्थान तथा इन्द्रियों के (आभ्यन्तर और बाह्य) प्रयत्नों में वर्णों में जो भेद आ जाता है उसमें रहित, और इसीलिए कमरहित, अन्नज्योति स्वरूप अर्थात् म्बयप्रकाश, स्वरूप = अपना अर्थात् आत्मा का जो रूप वही ज्योति अथवा सर्वत्र सर्वविभायिनी शक्ति, जिसका अन्तराल अत्यन्त सूक्ष्म रहता है ऐसे वाज में अक्षर के समान बाहर उन्मिषित होती अर्थात् कुट-कुट व्यक्तता की ओर उन्मुख होती तथा एक ओर परा और दूसरी ओर मध्यमा की स्थिति का तदस्वरूप से दर्शन करती हुई जो वाणी है वही पश्यन्ती कही जाती है। इस पश्यन्ती के बाद (आती है मध्यमा, उमका लक्षण है) “जो वाणी अन्नमकल्प रूप है, जिनमें क्रम और रूप (अर्थात् वर्ण भेद) रहते हैं किन्तु जो प्राणवृत्ति से परे रहती है उसे मध्यमा वाणी कहा जाता है।” इसका अर्थ है—“मै यह कहुँ” ऐसा जो मानस-विचार तत्त्वरूप और इसीलिए अन्न-मकल्पस्वरूप, प्राणवृत्ति से परे अर्थात् कानों से सुनाई पढ़ने वाले वर्णों की अभिव्यक्ति से रहित, क्रमरूपानुपातिनी = मानसिक जो वर्णोच्चारण उमके अनुसार विवर्तित होने वाली वाणी मध्यमा कही जाती है। यह हुआ शब्द ब्रह्म का द्वितीय विवर्त। इसका नाम मध्यमा इच्छिप्ति है कि यह, वाणी के जो शेष दो विवर्त बैररी और पश्यन्ती हैं इनके बीच रहती है। इसके पश्चात्—“स्थानों में वायु के विघ्न होने पर वर्णरूप से व्यक्त वाणी बैररी वाणी होती है। यह उच्चार-यिता के प्राणव्यापार पर निर्भर रहती है।” —इस लक्षण के अनुसार स्थान और इन्द्रियों के प्रयत्न द्वारा क्रमपूर्वक व्यक्त होने वाली वाणी बैररी वाणी होती है। यह कानों से सुनने योग्य दुन्दुभि, बीणा आदि के नाद के समान होती है। इसमें गद्गदादि कम्पन रहते हैं और गकारादि वर्णों के द्वारा बनने वाले वर्ण, पद तथा वाक्य भी। यह वाग्ब्रह्म का तीसरा विवर्त होना है। इस वाणी के लिए प्रयुक्त होने वाले ‘बैररी’—शब्द की निरक्ति कुछ विद्वानों के अनुसार इस प्रकार है—वि = विशिष्ट, स = मुररूप आकाश को र = ग्रहण करने वाला हुआ—‘विसर’ अर्थात् शरीर, उममें उत्पन्न होने वाली हुई—‘बैररी’। यह हुआ मगल पद्य का स्तुतिपरक अर्थ। इसी मंगलपद्य के पूर्वार्ध के पदों की आवृत्ति करने पर वह तथ्य भी व्यक्त होना है जो प्रस्तुत ग्रन्थ में प्रतिपाद्य है। यथा—परावाणी = उत्तम काव्य की आत्मा ज्वनि जो अभिधा, लक्षणा और तात्पर्य वृत्ति से परे रहती है। देवी =  $\sqrt{\text{दिव्}}$  धातुका अर्थ है क्रीटा, विजयेच्छा, धुनि, स्तुति, व्यवहार, मोद, मद, कान्ति, स्वप्न तथा गति। देवी शब्द में इन सभी अर्थों की योजना यथासम्भव की जा सकती है। क्रीटा अर्थ में देवी = शक्तिमान् कवियों तथा श्रोताओं में स्वभाव में स्वेच्छया समुच्छलित होती हुई अर्थात् क्रीटा करती हुई, विजिगीषा अर्थ में देवी = विजयेच्छा रखती हुई अर्थात् शब्द और उमसे प्रकट अर्थको गीण बनाकर अवस्थित। धुति अर्थ में देवी = ध्योतित अर्थात् ध्वनित होती हुई, धोतन और ध्वनन दोनों के पर्यायवाचक होने में धोतमान का अर्थ हुआ ध्वनिसङ्क। स्तुति अर्थ में देवी = स्तुत्य, (ध्वनि रूपसे) काव्यात्मा होने के कारण सभी महद्दर्या द्वारा अभिगन्धित। व्यवहार अर्थ में देवी = सभी क्षेत्र में चलने वाला, कहीं भी स्फुलित न होने वाली। मोद अर्थ में देवी = सुनने मात्र से परम आनन्द देने वाली। मद अर्थ में देवी = कवि और सहृदय में क्रम से निर्माण और अनुशीलन द्वारा एक विचित्र अङ्कार पैदा करने वाली, कान्ति अर्थ में देवी = सभी व्यक्तियों द्वारा अभिलषणीय

( वान्ति = श्रद्धा ) । त्रिविधविग्रहा = त्रिविध अर्थात् तीन प्रकार का है विग्रह अर्थात् व्यतिरेकी ग्रह यानी व्यतिरेकद्वारा प्रमात्मक ज्ञान कराने का प्रकार जिसमें; जैसे “गंगा पर घोष है” इत्यादि वाक्यों में घोष में जो शैत्यपावनत्वादि धर्मों का ज्ञान होता है उसमें अभिधा कारण नहीं होती क्योंकि शैत्य आदि अर्थों में गंगाशब्द की वाच्यता ( संकेतग्रह ) नहीं रहती, न तात्पर्यशक्ति ही क्योंकि तात्पर्यशक्ति गंगा और घोष आदि में आधारार्थेयभाव आदि संबन्धमात्र का ज्ञान कराकर नष्ट हो जाती है, न लक्षणा ही, क्योंकि लक्षणा के हेतु मुख्यार्थेयत्व आदि यहाँ नहीं रहते । फलतः अभिधा, तात्पर्य और लक्षणा से भिन्न चतुर्थ कक्षा में निहित व्यञ्जनाख्यापार से शैत्यपावनत्वादि का ज्ञान हो पाता है । [ इससे स्वयं विमर्शनीकार ही आगे विचार करेंगे ] । दूसरे प्रकार से ( त्रिविधविग्रहा ) शब्दमूलक, अर्थमूलक और उभयमूलक, अतः तीन प्रकार का है विग्रह अर्थात् त्रि = विशेषणों भेदों का ग्रह=ज्ञान जिसमें । ऐसी उस उत्तम कान्यरूपा परा ( शक्ति ) को नमस्कार करने का अर्थ है मंगलाचरण के माध्यम से सूत्रात्मक ढंग से कुछ निर्देश करना, न कि सूत्र द्वारा तात्पर्य कथन और वृत्ति द्वारा लक्षणपरीक्षा आदि के विस्तार के साथ । अपने अलंकारसूत्रों का तात्पर्य वृत्ति द्वारा बतलाने का अभिप्राय है कि यहाँ ध्वनि का तो केवल थोड़ा सा नामकथन मात्र रहेगा, अर्थात् “इह हि तावद् आम्ह०” इत्यादि द्वारा [ इस पर अधिक विचार नहीं होगा ] इस विषय की चर्चा इतने में ही समाप्त हो जावेगी ।

निज = निज इसलिए कहा कि किसी को यह ज्ञान न हो कि किसी अन्य के बनाए सूत्रों का तात्पर्य बतलाया जा रहा है । इससे यह भी ध्वनित हुआ कि अन्य आचार्यों ने ऐसे सूत्र नहीं बनाए हैं । तात्पर्यम् = तात्पर्य=संक्षिप्त अर्थ का प्रकाशन । अन्यथा यदि इन अलंकारसूत्रों का तात्पर्य विस्तारपूर्वक स्पष्ट किया जाए तो बहुत बड़ा ग्रन्थ रचकर भी उसका पार पाना संभव न होगा । शंका होती है कि—“आदि वाक्य का प्रयोग अभिधेय और प्रयोजन का प्रतिपादन करने के लिए किया जाना चाहिए जिससे श्रोताओं में उत्साह बना रहे—इस नियम के अनुसार श्रोता की प्रवृत्ति के लिए सभी ग्रन्थों में प्रथम वाक्य में अभिधेय तथा प्रयोजन आदि का प्रतिपादन किया जाता है । यहाँ वह नहीं बतलाया गया । फलतः इसकी ओर श्रोताओं [ या पाठकों ] की प्रवृत्ति कैसे होगी ?” [ उत्तर ] ऐसा नहीं है । यहाँ अभिधेय है अलंकार, क्योंकि यहाँ उन्हीं का साक्षात् नामोल्लेख है । उनका अभिधायक है ग्रन्थनाम—‘अलंकारसर्वस्व’ । अभिधान और अभिधेय का वाच्यवाचकभाव संबन्ध रहता ही है, अतः उसका ज्ञान अपने आप हो जाता है । इन [ अलंकारों ] का अभिधायक इस प्रकार का कोई और ग्रन्थ नहीं है क्योंकि वह मिलता नहीं है । यदि [ ऐसा कोई ग्रन्थ ] होता तो खोजने पर मिलता ही । इसीलिए अन्य अलंकार ग्रन्थों से इसके अन्तर की घोषणा करने के लिए कहा—‘तात्पर्यमुच्यते’ । अभिधेय है यहाँ अलंकार अर्थात् कान्य के अलंकार न कि लौकिक अलंकार । इस प्रकार अलंकार शोभा बढ़ाते हैं कान्य की ओर—कान्य यश प्राप्त कराता है, धन दिलाता है, न्यबहार का ज्ञान कराता है, अमंगल का ज्ञान कराता है, तत्काल परा शान्ति देता है तथा कान्तासम्मित [ माधुर्य-भूमिका द्वारा ] उपदेश भी देता है । [ कान्यप्रकाश के ] इस वचन के ‘अर्थ’ शब्द से गृहीत [ धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष, इन ] चारों पुरुषार्थों की जो प्राप्ति तद्रूपी प्रयोजन सिद्ध करते हैं, क्योंकि अलंकार कान्य से पृथक् नहीं होते । इन दोनों [ पुरुषार्थ रूपी प्रयोजन तथा अलंकार ] का संबन्ध है साध्यसाधनसाध्यात्मक । [ अलंकार साधन हैं और पुरुषार्थ साध्य ] इस प्रकार आदि वाक्य में श्रोता में ध्वनि के प्रति श्रद्धा उत्पन्न करने की क्षमता सिद्ध ही है ।

## विमर्शिनी

ननु यदीहालंकारा अभिधेयास्तर्हि तदलंकार्योऽप्यभिधेयः। 'अलंकारा अलंकार्यापेक्षा' इति नीत्या स एवैषा को नाम यदुपस्कारकत्वेनैतत्स्वरूपमभिधीयत इत्यादाङ्ग्य सद्यत-रणिकामेष वक्तुमुपक्रमते—दहेत्यादिना ।

शका होनी है कि यदि इस ग्रन्थ में अलंकारों का प्रतिपादन करना है तो उनमें जो तत्त्व अलङ्कार होने हैं उन अलंकारों का भी प्रतिपादन होना चाहिए। जय यह कि 'अलंकार अलंकार्यसापेक्ष होते हैं—इस नियम के अनुसार प्रथम इस तत्त्व के विषय में है जिसका उपस्कार करने वाले तत्त्व के रूप में अलंकार का निरूपण किया जा रहा है। इसके उत्तर में कहते हैं—

## [ सर्वस्व ]

इह हि तावद् भामहोऽङ्गप्रभृतयश्चिरंतनालंकारकाराः प्रतीयमानमर्थ वाच्योपस्कारकतयालंकारपक्षनिक्षिप्तं मन्यन्ते । तथाहि—पर्यायोक्ताप्रस्तुत-प्रशंसासमासोक्त्याक्षेपव्याजस्तुत्युपमेयोपमानन्वयादौ यस्तुमात्रं गम्यमानं वाच्योपस्कारकत्वेन 'स्वसिद्धये पराक्षेपः परार्थं स्वसमर्पणम्' इति यथायोगं द्विविधया भङ्ग्या प्रतिपादितं तैः ।

रुद्रदेनापि भावालंकारो द्विषोक्तः । रूपकर्दापकापह्नवितुल्ययोगितादा-द्युपमाद्यलंकारो वाच्योपस्कारकत्वेनोक्तः । उत्प्रेक्षा तु स्वयमेव प्रतीयमाना कथिता । रसवत्प्रेयःप्रभृतौ तु रसभावादिर्वाच्यशोभाहेतुत्वेनोक्तः । तदित्थं त्रिविधमपि प्रतीयमानमलंकारतया ख्यापितमेव ।

इस ( अलंकारशास्त्र ) में ( ध्वनिवादी आचार्यों से ) प्राचीन आचार्य भामह और उद्भट आदि के जो आरम्भिक सिद्धान्त हैं उनमें ( ध्वनिवादी द्वारा प्रधानरूप से स्थापित ) प्रतीयमान अर्थ को वाच्य अर्थ का शोभाधायक अतएव ( अप्रधान ) अलंकार स्वरूप माना गया है । इन आचार्यों के अनुसार पर्यायोक्त, अप्रस्तुतप्रशंसा, समासोक्ति, आक्षेप, व्याजस्तुति, उपमेयोपमा और अनन्वय आदि अलंकारों में वस्तु की ( व्यञ्जना या अनुमान में ) प्रतीति होनी है किन्तु वह वाच्यार्थ की शोभाधायक होता है । इस गद्य को उन्होंने दो प्रकार से स्पष्ट किया है (१) "अपनी सिद्धि के लिए ( वाच्यार्थ द्वारा ) दूसरे अर्थ का आक्षेप", (२) "दूसरे के प्रति ( वाच्यार्थ द्वारा ) अपना समर्पण" । रुद्रट ने भी ( वस्तुध्वनि को वाच्य की शोभा बढ़ाने वाला जनलाने वाला ) भावनामक अलंकार माना है और उसके दो भेद बतलाए हैं ।

( इस वर्ग के आचार्यों ने ) रूपक अपह्नुति, तुल्ययोगिता आदि में उपमादि अलंकारों को वाच्यार्थ का उपस्कारक कहा है । ( उद्भट ने तो ) उत्प्रेक्षा ( के एकभेद ) को प्रतीयमान ही कहा है । ( भामह और उद्भट ने ) रसवत् और प्रेय आदि अलंकारों में रस और भाव आदि को वाच्यार्थ का शोभाहेतु बतलाया है । इस प्रकार ( वस्तु, अङ्कार और रस के ) तीनों ही प्रकार के प्रतीयमान अर्थ को इन आचार्यों ने अलंकारस्वरूप ही बतलाया है ।

## विमर्शिनी

प्रभृतिना दण्ड्यादयः । तावच्छब्दो विप्रतिपत्त्यभावद्योतकः । चिरंतनेत्यादि । ध्वनि-कारमत्तमेविर्न दृष्टमिति भावः । प्रतीयमानमिति । वाच्यव्यतिरिक्तत्वेन स्वयमेवदुनसिद्धमपी-त्यर्थः । जयमिति । विप्रान्तिस्थानतया परमोपादेयतालक्षणम् । वाच्योपस्कारकतयेति । वाच्यो-पस्कारकत्वं शालंकाराणामात्मभूतम् । अलंकारपक्षनिक्षिप्तमिति । समप्रालंकारान्तर्भूतं च

पुनस्तद्व्यतिरिक्तमित्यर्थः । नन्यन्त इति । तथात्वेन सन्यन्ते न पुनस्तथा संभवतीत्यर्थः । नह्यभिमननमात्रेणैव भावानामन्यथाभावो भवतीति भावः । एतदेव दर्शयति—तथाहीत्यादिना । तैर्वस्तुमात्रं गम्यमानं वाच्योपस्कारकत्वेन प्रतिपादितमिति संयन्धः । वस्तुमात्रं न पुनरलंकारा रसश्च । त्वत्सिद्धय इति । 'कुन्ताः प्रविशन्ति' इत्यादौ कुन्तैरात्मनः प्रवेशसिद्धयर्थं स्वसंयोगिनः पुरुषा आक्षिप्यन्ते । तैर्विना तेषां प्रवेशसिद्धेः । 'गङ्गायां घोषः' इत्यादौ तु गङ्गाशब्दः परत्र तटे घोषाधिकरणतासिद्धये स्वात्मानमर्पयति । स्वयं तस्य घोषाधिकरणत्वासंभवात् । यथायोगमिति । क्वचिद्दि वाच्योऽर्थः स्वसिद्धये परं प्रतीयमानमर्थमाक्षिपति । क्वचिच्च स्वयमनुपपद्यमानः सन्प्रतीयमान एवार्थं स्वं समर्पयति । तेन यत्र यादृक्त्वं तादृगेव योज्यमित्यर्थः ।

प्रभृति शब्द से दण्डों आदि की ओर संकेत है । तावच् = आरम्भिक—शब्द द्वारा उन सिद्धान्तों में विप्रतिपत्ति न होना संकेतित किया गया । चिरंतन = प्राचीन कहकर यह बतलाया गया कि इन आचार्यों ने ध्वनिकार का मत नहीं देखा है । प्रतीयमान = वाच्य से भिन्न रूप से सबको अनुभव में आने वाला । अर्थ = उसी में तात्पर्य को विश्रान्त रहती है अतः वही परमोपादेय होता है । वाच्योपस्कारक = वाच्य की शोभा बढ़ाने वाला होना ही अलंकारों की अलंकारता है । अलंकारपद्य निश्चित = पूरे के पूरे को अलंकार के अन्तर्गत मानना, उससे भिन्न नहीं । मन्यन्ते = ऐसा उनको मान्यता है, परन्तु ऐसा होता नहीं है । अर्थ यह कि किसी की धारणानाम से किसी वस्तु का बदल जाना संभव नहीं । वस्तुमात्र = केवल वस्तु, अलंकार और रस नहीं । स्वसिद्धये = अपनी सिद्धि के लिए । "भाले भीतर जा रहे हैं" ( कुन्ताः प्रविशन्ति ) इत्यादि वाक्यों में भाले आदि शब्द भीतर जाने रूपी क्रिया में ( जब होने के कारण असंभव ) अपना कर्तृत्व सिद्ध करने के लिए स्वयं का धारण करने वाले ( चेतन ) पुरुषों का आक्षेप कर लेते हैं । क्योंकि उन ( पुरुषों ) के बिना उन ( भालों ) का भीतर जाना संभव नहीं । ( यह हुआ अपनी सिद्धि के लिए अपना अर्थ बिना छोड़े दूसरे अर्थों का ग्रहण ) 'गंगा जी पर घोष' इत्यादि उदाहरणों में ( स्थिति भिन्न है, यहाँ ) गंगा का अर्थ है विशिष्ट जलप्रवाह, वह घोष का आशय नहीं बन सकता, अतः उस—( आश्रयता ) की सिद्धि के लिए गंगा शब्द प्रवाहरूपी अर्थ को सर्वथा छोड़ देता है और तत्त्वप अर्थ को अपना लेता है क्योंकि वह घोष का आशय बन सकता है । यही उसका स्वसमर्पण कहलाता है । यथायोगम् अर्थात् वाच्य अर्थ कहीं तो दूसरे प्रतीयमान अर्थ का आक्षेप अपनी सिद्धि के लिए करता है और कहीं अपने आप असिद्ध रहने के कारण अपने आपका प्रतीयमान अर्थ को समर्पण कर देता है । अतः वाच्य अर्थ को कहीं जैसी स्थिति हो वहाँ वैसी ही स्थिति समझ लेनी चाहिये ।

## विमर्शिनी

तत्र पर्यायोक्तं यथा—

'अथाहोक्षो लङ्कामयमयमुद्वन्वन्तमतरद्विशल्यां सौमित्रैरयमुपनिनाद्यौपधिदनात् ।  
इति स्मारं स्मारं स्वदरिन्वल्भोचित्रलिखितं हनूमन्तं दन्तैर्वंशति कुपितो राक्षसगणः ॥'  
अत्र राक्षसगणवृत्तान्तो वाच्यः सन् स्वसिद्धये परं कारणरूपमरिपलायनायाक्षिपति ।  
तत्पलायनाद्यन्तरेण राक्षसवृत्तान्तस्यासंगतेः । अप्रस्तुतप्रवांसा यथा—

'प्राणा येन समर्पितास्तव बलाद्येन त्वमुत्थापितः  
स्कन्धे यस्य चिरं स्थितोऽसि विदधे वस्ते सपर्यामपि ।  
तस्यास्य स्मितमात्रकेण जनयन्प्राणापहारक्रियां  
आतः प्रत्युपकारिणां धुरि परं वेताललीलायसे ॥'



अत्र वेतालचरितमप्रस्तुतं प्रकरणादिवशेन स्वयमनुपपद्यमानं सत् प्रस्तुते कृतप्रवृत्तान्ते स्वं समर्पयति । समासोक्तिर्यथा—

‘दन्तक्षतानि करजैश्च विपाटितानि प्रोद्भिन्नसान्द्रपुलके भवत’ शरीरे ।

दत्तानि रक्तमनसा मृगराजवध्वा जातस्पृहैर्मुनिभिरप्यवलोक्तानि ॥’

अत्र बोधिसत्त्वे नायकव्यवहारो न सम्भवतीति स्वसिद्धयर्थं नायकत्वमाक्षिपति । आक्षेपो यथा—

किं भणिमो भग्गइ किति अथ किं वा इमेण भणिण्ण ।

भणिहिसि तद्दवि अहवा भगामि किं वा ण भणिओमि ॥’

अत्र वक्ष्यमाणविषयो भगवन्निषेधो वाच्यः सन् वस्तुमेवोपक्रान्तस्य निषेधानुपपत्तेः स्वयमविधायक्यन् स्वात्मसमर्पणेन त्वां प्रति मरिष्यामि अथवा म्रिये यद्वा मृता यावद्दहमिति विधित्रयमर्थान्तरमाक्षिपति । यत्त्वन्नान्यैः ‘वाच्योऽर्थः स्वसिद्धयेऽर्थान्तरमाक्षिपति’ इत्युक्तं तदयुक्तमेव । तथात्वे हि निषेध एव पर्यवसितः स्यान्न निषेधाभास इत्याक्षेपालंकार एव न स्यात् । ‘आमुखावभासमानो हि निषेध’ आक्षेपलक्षणम् । न च विधिनिषेधयोर्विरोधात्साध्यसाधनभायो युक्तः । व्याजस्तुतिर्यथा—

‘इह्णिण पटुणोपटुणो पटुत्तणं किं चिरंतनपटुण ।

गुणदोसा दोसगुणा एहिं कआ णहु कआ तेहि ॥’

अत्र चिरंतनाना निन्दा वाच्या सती स्वयमनुपपद्यमाना स्तुतावात्मानमर्पयति । तद्गतत्वेन वस्तुदर्शिताया निन्दाया अर्थभवात् । एवमद्यतनानामपि स्तुतिनिन्दायामात्मानमर्पयति । तस्या अपि विपरीततया तद्गतत्वेनाप्यभवात् । यत्पुनरन्नान्यैः स्वसिद्धये पराक्षेपो व्याख्यातस्तदुपेक्ष्यमेव । यतोऽथ चिरंतनानां स्तुत्याक्षेपेण निषिद्धा निन्दैव प्रतीयेत, अद्यतनानां च निन्दाक्षेपेण निषिद्धा स्तुतिरेवेति वाक्यार्थविप्रलोप एव पर्यवसितः म्यादिति नैतद्युक्तम् । किं च लक्षणायामपि स्वसिद्धये पराक्षेपो न युक्तः । तथात्वे हि लक्षणायाः स्वरूपहानिः स्यात् । वाच्यलक्षणस्यैव स्वस्य सिद्धत्वान्मुष्यार्थवाधाभावात् । न चैकदा एकस्य वाच्यः सिद्धिश्चेति वक्तुं युक्तम् । विप्रतिषिद्धं ज्ञेतत् । वाच्यस्यैव यद्यत्रसिद्धिस्तदभिधैव स्यात् लक्षणा । तस्या हि सुर्यार्थवाच्य एव जीवितम् । ‘कुन्ता प्रविशन्ति’ इत्यादी च कुन्ताना स्वयं प्रवेष्टुमसंभवान्मुर्यार्थवाच्य एवेति परस्य कुन्तवद्रूपस्य लक्ष्यस्यैवार्थस्य प्राधान्यम् । अतश्च लक्षणायां चाधितः सम्मुख्योऽर्थ परत्र लक्ष्य एव स्वं समर्पयतीत्येव युक्तम् । ननु यद्येवं तत्पर्यायोक्तादी वाच्यसिध्यर्थं परस्य लक्ष्यस्याक्षेप प्रतीयत इति तत्र किं प्रतिपत्तव्यम् । इदं प्रतिपत्तव्यम्—अत्र हि लक्षणाया एव नावकाशः । तत्र हि कथमहं स्वामिति वाच्यं सत् कार्यं तदविनाभावात्परं कारणमाक्षिपनीत्याक्षेपेणैव सिद्धेस्तस्या अनुपयोगः । ‘गौरनुबन्धः’ इत्यत्र यथा कथं मे श्रुतिचोदितमनुबन्धनं स्यादिति जात्या व्यङ्ग्यविनाभावाद्बद्धिरोक्षिप्यते न तु लक्ष्यते तथैवात्रापि कार्यकारणयोर्ज्ञेयम् । एवं समासोक्तावपि नायकव्यवहारस्तदविनाभावित्वादेव नायकत्वमाक्षिपतीत्यत्रापि लक्षणा मूलत्वं नाशङ्कनीयम् । अन्यकृता पुनरेतच्चिरंतनमतानुवादपरनयोक्तम् । अस्माभिस्तु प्रमत्तादस्तु पर्यालोचितमित्यलं बहुना ।

पर्यायोक्तव्यत्कार जैसे [ कोई कवि अपने आवशदाता की स्तुति में कह रहा है कि “हे देव ] श्मने श्मारी लका को जला डाला, रसने समुद्र को भी पार कर लिया, रसने औषधि के वन में से विशल्या नामक औषधि लक्षण के लिए ला पहुँचाई—येमा स्मरण कर करके कुपित हुए राक्षस लोग आपके शत्रुओं की बलमी (चन्द्रशाला) में चित्रलिखित हनुमान् को दौड़ों से टँसने लगते हैं ।”

यहाँ अभिधावृत्ति से तो कथित है राक्षसों का व्यवहार, पर वह व्यंजना से प्रतीत "राजा के शत्रुओं का भागना आदि" अर्थ के बिना संभव नहीं है, अतः वह (वाच्य राक्षस वृत्तान्त) उस (प्रतीकमान शत्रुपलायन आदि) का आक्षेप कर लेता है। उस (प्रतीकमान) का आक्षेप इसलिए संभव भी है कि वह उस (वाच्य) का कारण है (अर्थात् स्तूयमान राजा के शत्रुराजाओं के भयनों में राक्षसों का रहना और चित्रलिखित हनुमान् जी को दाँताँ से डँसना तब संभव है जब वे राजा भयन छोड़ कर भाग गए हों)। बिना राजाओं के भागे राक्षसों का चित्रित हनुमान् को डँसना आदि व्यापार संभव नहीं।

अप्रस्तुत प्रशंसा जैसे—“हि भार्ये वेताल [ जगाया हुआ शत्रु ] केवल तुम्हीं प्रत्युपकारी व्यक्तियों में वरिष्ठ हो, क्योंकि तुमने उस व्यक्ति को भी केवल मुसकुराहट भर में निष्प्राण कर दिया जिसने अपने उद्योग से तुम्हारे भीतर बलाव प्राण डाले, [ मृत पड़े ] तुम्हें [ जगाकार ] खड़ा किया, जिसके कन्धे पर भी तुम काफी समय तक चढ़ रहे और न केवल इतना ही, जिसने तुम्हारा पूजा भी की।” यहाँ वेताल का चरित [ किसी भी व्यक्ति द्वारा वेताल को ऐसा उपालम्भ देना ] अपने आपमें अनुपपन्न है, फलतः वह किसी कृतवन् के वृत्तान्त के रूप में पर्यवसित हो जाता है, और प्रतीत होता है कि वक्ता का लक्ष्य कोई कृतवन् व्यक्ति है।

[ अप्रस्तुत प्रशंसा में अभिधा द्वारा अप्रस्तुत और प्रस्तुत व्यंजना द्वारा प्रतिपादित होता है। यहाँ कृतवन् प्रस्तुत या वर्ण्य है किन्तु शब्दों द्वारा वर्णन किया जा रहा है तत्सदृश वेताल का। अतः यह सादृश्यमूलक अप्रस्तुतप्रशंसा है।

वेताल को उपालम्भ देना इसलिए अव्यवहार्य है कि वेताल उपालम्भकर्ता को भी चढ़ कर सकता है। ]

“रक्तचित्त ( सिंही = खून की इच्छा, नायिका = अनुरागयुक्त चित्त से ) सिंहीनी ने ( हे बोधिसत्त्व ) पर्याप्तमात्रा और सघनता के साथ उभरे पुलक से युक्त आपके शरीर में जो दन्तक्षत और नखक्षत किए हैं उन्हें निःस्पृह मुनियों ने भी स्पृह होकर देखा।” इस पद्य में ( दो व्यवहार प्रतीत हो रहे हैं एक नायिका द्वारा अनुरक्तचित्त से नायक के सात्त्विकभाव रोमांचादि से युक्त शरीर में दन्तनखक्षत की प्रणयलीला और दूसरा—रक्तपानेच्छु सिंहीद्वारा बोधिसत्त्व के वेदना से रोमांचित शरीर पर दाँत तथा नखों से घाव करना। इनमें से जो ) नायिका नायक व्यवहार है वह ( वातराग ) बोधिसत्त्व में संभव नहीं अतः उसका आक्षेप करना पड़ता है।

[ समासोक्ति के विषय में सामान्य मत यह है कि उसमें वाच्यार्थ के अनुपपन्न हुए बिना व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है। यहाँ यह नवीन तथ्य स्वीकार किया जा रहा है कि “वाच्यार्थ की अनुपपत्ति के कारण व्यंग्यार्थ की प्रतीति हो रही है।” जो बोधिसत्त्व है उसमें रति के सात्त्विक अनुभाव रोमांच आदि सचमुच संभव नहीं अतः उसमें नायकत्व का आक्षेप विवश होकर करना है। ]

आक्षेप जैसे—“कि भगामो भण्यते कियदिवाध किं वानेन भणितेन।

भणियते तथाप्यथवा भणामि किंवा न भणितोऽसि ॥

‘क्या कहें ? कहा भी कितना जाय ? कहने से भी लाभ क्या ? तब भी कहा तो जाएगा ही। तब भी अन्ततः कहेँगी क्या, और [ तुमसे ] कुछ कहा नहीं गया है क्या ?’ यहाँ उस वक्तव्य के कथन का निषेध अभिधाद्वारा बतलाया जा रहा है जो अभी कहा जाने वाला है, कहा गया नहीं है। परन्तु वह एक असंभव बात है कि जिसका अस्तित्व ही नहीं उसका अभाव बतलाया जाए, अतः यह निषेध संभव नहीं होता, फलतः वह अपने आपको—‘तुम्हारे लिए मर जाऊँगी, मर रही हूँ अथवा यह मरी’—इन तीन प्रकार के विधेयों के रूप में ढालकर इन अर्थों

का आक्षेप करना है। अन्य [ आचार्य ] का यह कहना अमान्य है कि 'यहाँ [ निषेधरूपी ] वाच्य अर्थ अपनी सिद्धि के लिए दूसरे अर्थ का आक्षेप करता है', क्योंकि ऐसा मानने पर वाच्यारूप निषेध ही प्रशस्त रहता है, उसका आशय नहीं। फलत आक्षेप अलङ्कारता को ही प्राप्त नहीं होता, क्योंकि आक्षेपालङ्कार का लक्षण है—'आरम्भ मात्र म भानित होने वाला निषेध ( सर्व० )'। विधि और निषेध परस्पर विरोधी होने हैं अतः यह समझ नहीं है कि इनमें परस्पर साध्यमाधनभाव हों।

[ विनयिनीकार का यह मन यहाँ अमान्य है कि विधিনিषेध में साध्यमाधनभाव नहीं होता। "अत्र नामिक" आदि उदाहरणों में विधि में निषेध और "गतामि न पुनस्तस्याधमस्यान्निके" आदि उदाहरणों में निषेध से विधि का ज्ञान साहित्य में बहुत चर्चित है। जहाँ साध्यमाधनभाव साध्यशायकभावरूप होता है वहाँ विधিনিषेध का परस्पर विरोध उसका विरोधी नहीं होता। ]

व्याजस्तुति जैसे—“अधुना प्रभव प्रभव प्रभुत्व किं चिरततप्रभूगाम् ।

गुणदोषा दोषगुणा एभि कृता न सतु कृतान् ॥”

“जाज के जो प्रभु हैं वे ही बन्तुन- प्रभु कहने योग्य हैं, प्राचीन प्रभुओं में प्रभुत्व बड़ेका। गुणों को दोष और दोषों को गुण वे ( नवीन प्रभु ) ही जो बना सके हैं, प्राचीन नहीं।

यहाँ प्राचीनों की निन्दा अभिधा में कथित है किन्तु वह अपने आप में अनुपपन्न है और स्तुति के रूप में बदल जाती है। क्योंकि प्राचीनों में गुणों को दोष और दोषों को गुण न करने की जो बात कही गई है उससे उनकी निन्दा निन्दा नष्ट रह जाती। इसी प्रकार आधुनिक या नवीनों की अभिधा में कथित स्तुति निन्दा के रूप में परिणत हो जाती है क्योंकि गुणों को दोष और दोषों को गुण सिद्ध करने की बात स्तुति के विपरीत है। यहाँ अभिधेयार्थ का न बदलना और अपनी सिद्धि के लिए दूसरे अर्थ को अपना भर लेना जिन्हें मान्य है वे [ अलङ्काररत्नाकरकार आदि ] उपेक्षणीय हैं, क्योंकि वैसा मानने पर चिरतनों के प्रति स्तुति में आक्षिप्त निन्दा ही प्रतीत होती और नवीनों के प्रति निन्दा में आक्षिप्त स्तुति ही। और ऐसा होने पर वाच्यवाच्य का तात्पर्यभूत अर्थ ( प्राचीनों की स्तुति और नवीनों की निन्दा ) निष्पन्न नहीं होता। अतः 'स्वसिद्धये पराक्षेप' मन यहाँ अमान्य ही है। एक यह भी आपत्ति है कि यहाँ लक्षणा द्वारा स्वसिद्धि के लिए दूसरे का आक्षेप होता है क्योंकि वैसा मानने पर लक्षणा को नहीं बनती। क्योंकि वाच्यार्थ के वाच्यार्थ रूप में ही बने रहने से उसमें कोई आपत्ति नहीं उठती जिससे लक्षणा हो ( अर्थात् नवीनों की स्तुति और प्राचीनों की निन्दा में कोई आपत्ति न होने पर उन्हें बदलने और तद्विपरान्तार्थ का आक्षेप करने का प्रश्न ही नहीं उठ सकेगा। ) यह भी नहीं कहा जा सकता कि वाच्य की सिद्धि होती है जन्म में और वाध होता है आरम्भ में अतः वाच्य भी अममन नहीं फलतः लक्षणा होना भी समझ है" क्योंकि यह मानना परस्पर विरुद्ध है क्योंकि यदि अन्तर्गतत्वा वाच्य का ही सिद्धि करनी है तो उसका वाध आरम्भ में ही उपेक्षणीय हो होगा और तब अभिधा ही वाच्य में मानी जाएगी लक्षणा नहीं। जहाँ तक लक्षणा का सम्बन्ध है उसका बाज बाध ही है। "भास्त्रे भीतर जानें हैं" आदि वाक्यों में ( अचेतन ) भास्त्रे आदि का भीतर जाना समझ नहीं अतः सुगम या अभिधेय अर्थ वाधित ही रहता है और "भास्त्रेवाले पुष्प"—रूपी अर्थ लक्ष्य और प्रधान रहता है। इसलिए ( व्याजस्तुति को ) लक्षणा में मुख्य अर्थ वाधित होकर अपने से भिन्न लक्ष्य अर्थ में अपने आपको मिला देता है यही मानना उचित है।

प्रश्न उठता है यदि ( व्याजस्तुति में ) ऐसा है तो पर्यायोक्त आदि में भी जहाँ वाच्यार्थ की सिद्धि के लिए उसमें भिन्न लक्ष्य अर्थ का आक्षेप होता हुआ प्रतीत होता है वहाँ क्या मानना होगा। यह मानना होगा = पर्यायोक्त में लक्षणा का कोई अस्मर नहीं है। क्योंकि वहाँ वाच्य और

व्यंघ्र्य में कार्यकारणभाव रहता है अतः वाच्य "मै वैसे निष्पन्न होऊँ" ऐसा सोचकर अपने कारण व्यंघ्र्य का आक्षेप या अनुमान कर लेता है और उसी से उस ( वाच्य ) की निष्पत्ति हो जाती है, फलतः ( यहाँ पर्यायोक्त में ) लक्षणा का कोई उपयोग ही नहीं रहता। वैसे "पैल का अनुबन्धन किया जाय" इस श्रुति वाक्य में ( गोत्व जातिस्वरूप ) अर्थ का वाचक पैल शब्द जातिरूप अपने अर्थ का अनुबन्धन संभव हो इसलिए उससे नित्य सन्वद्ध व्यक्तिरूप ( शरीररूप ) अर्थ का आक्षेप कर लेता है वैसे ही यहाँ ( पर्यायोक्त के ) कार्यकारणभाव तथा संबन्ध में भी संभव जानना चाहिए। इसी प्रकार समासोक्ति में भी नायक का व्यवहार नायक से कदापि अलग न होने वाले नायकत्व का आक्षेप कर लेना है, अतः यहाँ भी 'लक्षणा से वह अर्थ प्रतीत होता है' ऐसी शंका नहीं की जा सकती। ग्रन्थकार ने ( स्वसिद्धये पराक्षेप ) यह बात प्राचीन के मत का अनुवाद करने के लिए कश् दी और हमने भी अवसर पाकर उसका आवश्यक पर्यालोचन कर दिया, अतः अधिक विस्तार आवश्यक नहीं। ग्रन्थकार ने पर्यायोक्तादि में वस्तुध्वनि को वाच्य का उपस्कारक बतलाकर अन्त में "स्वसिद्धये पराक्षेपः" और "परार्थ स्वतन्मर्षणम्" के दो सूत्र दे दिए हैं जो क्रमशः उपादान लक्षणा और लक्षणलक्षणा के लक्षण बतलाए गए हैं। इससे सामान्यतः वह धारणा बनती है कि ग्रन्थकार पर्यायोक्त आदि सभी अलंकारों में लक्षणा मानते हैं, परन्तु वस्तुतः बात ऐसी नहीं है। ग्रन्थकार ने वे सूत्र केवल प्राचीन मत प्रस्तुत करने के लिए दे दिए हैं। उन्हें सभी अलंकारों में लक्षणा मान्य नहीं है।

[ ऐसा लगता है कि "स्वसिद्धये०" इत्यादि वाक्य प्राचीन अलंकारिकों में लक्षणा लक्षण के रूप में प्रचलित नहीं थे। केवल मम्मट ने काव्यप्रकाश में इन्हें लक्षणालक्षण के रूप में दे दिया है। मूल ग्रन्थ और टीका दोनों के रचयिता मम्मट के बाद हुए हैं अतः यहाँ लक्षणा का विवेचन प्रस्तुत करना आवश्यक था। व्याजल्लुति में भी टीकाकार के अनुसार ग्रन्थकार को लक्षणा मान्य नहीं है। सूत्र अलंकारों में लक्षणा की सी प्रक्रिया प्रतीत होती है अतः लक्षणा का भ्रम नहीं होना चाहिए। इन अलंकारों में 'अन्व' शब्द से जिस आचार्य का खण्डन किया गया है वे कदाचिद् अलंकाररत्नाकरकार शोभाकरनिबन्ध हैं। उद्धृत अलंकारों के आगे आ रहे प्रकरणों में उनके मत देखे जा सकते हैं। ]

### विमर्शनी

उपमेवोपमा यथा—

'रजोभिः स्यन्दनोद्धृतैर्गजैश्च धनसंनिभैः । सुवस्तलमिव व्योम कुर्वन्व्योमेव भूतलम् ॥'

अत्र द्वयोः परस्परमुपमानोपमेयत्वं वाच्यं सत् स्वयमनुपपद्यमानमुपमानान्तरविरह-  
लक्षणे परत्र वस्त्वन्तरे स्वं समर्पयति । अनन्वयो यथा—

'भवानिव भवानेव भवेद् यदि परं भव । स्वशक्तिव्यूहसंब्यूहत्रैलोक्यारम्भसंहतिः ॥'

अत्रैकस्यैवोपमानोपमेयभावो वाच्यः सन्निहृतीयस्रग्द्वयार्थभावे परत्र वस्त्वन्तरे स्वं  
समर्पयति । आद्रिशब्दः प्रकारे । तेनानिष्टविध्याभासाक्षेपादेर्ग्रहणम् । यथा—

'भवतु विदितं व्यर्थालापैरलं प्रिय गम्यतां तनुरपि न ते दोषोऽस्माकं विधिस्तु पराङ्मुखः ।  
तव यदि तथा रुढं प्रेम प्रपन्नमिमां दृशां प्रकृतितरले का नो ज्रीडा गते हतजीविते ॥'

अत्र कान्तप्रस्थानविधिवर्च्यः सन्निपेक्षुमेवोपशान्तस्य विधानानुपपत्तेः स्वयम-  
विश्रान्तः स्वसमर्पणेन निपेधमाक्षिपति । एवं द्विविधया भङ्गव्या गम्यमानं वस्तुमात्रं  
वाच्योपस्कारकमेवेत्युक्तम् ।

एवमपि प्रतीयमानस्यार्थस्य विविक्तविषयान्तरोपालम्भादलंकारान्तर्भावो न सिध्य-  
तीत्याशङ्क्याह—रुष्टेनेत्यादि । द्विपेति । गुणीभूतागुणीभूतवस्तुविषयत्वेनेत्यर्थः । यदाह—

‘यस्य विकारः प्रभवन्नप्रतिबद्धेन हेतुना येन ।  
 गमयति तदभिप्रायं तत्प्रतिबन्धं च भावोऽसौ ॥  
 ग्रामनहणं तरुण्या नववज्जलमज्जरीसनायकरम् ।  
 पश्यन्त्या भवति मुहुर्नितरा मलिना मुखच्छाया ॥  
 अभिधेयमभिधानं तदेव तदसदृशागुणदोषम् ।  
 अर्थान्तरमवगमयति यद्वाच्यं सोऽपरो भाव ॥

एकाकिनी यद्वला तरुणी तथाहमस्मद्गृहे गृहपति स गतो विदेशम् ।

क याचसे तदिह वासमियं वराकी श्वधूममान्धवधिरा ननु मूढ पान्थ ॥’ इति ।

यद्वा द्विधेति पूर्ववदेव लक्षणद्वयाश्रयेण व्याख्येयम् । तेनाद्ये स्वसिद्धये पराक्षेपः, परत्र तु अपरायं स्वसमर्पणम् । यश्चान्यैर्भावैर्निर्वेदादिभिरुपलक्षितो वाच्यप्रतीयमानत्वेन द्विविधा भावालंकारो व्याख्यातस्तदुत्सूत्रमेव । रुद्रदेन तथात्वेन तस्याप्रतिपादनात् । तत्रापि च वस्तुमात्रस्य वाच्योपस्कारकत्वाभिधानसमये वस्तुमुचितत्वात् । तदेवं गुणीभूतागुणीभूतत्वेन द्विप्रकारं वस्तु तावद्वाच्योपस्कारकत्वेन प्रतिपादितम् ।

उपमेयोपमा जैसे—“रथों से उटार्द धूल और मेयोपम हाथियों से भूतल को आकाश और आकाश को भूतल मा बनाना हुआ (रुद्र दिग्बिजय के लिए चला) ।” यहाँ दोनों (भूतल और आकाश) की एक दूसरे के साथ की गई उपमा अभिधावृत्ति से प्रतिपादित है किन्तु यह अपने आपमें चमत्कारकारक नहीं बन पाती फलतः तीसरे किमी अन्य उपमान के अभाव या निषेध-रूपी अर्थ में अपना समर्पण कर देती है ।

[ उपमेयोपमा में चमत्कार माना जाता है तृतीयमदृशव्यवच्छेद अर्थात् किमी तृतीय समान वस्तु के निराकरण में । प्रस्तुत पद में भूतल और आकाश की करस्पर उपमा अपने आपमें नहीं बनती ऐसी बात नहीं है केवल परस्परोपमा में कोई चमत्कार नहीं है, चमत्कार तृतीयमदृशव्यवच्छेद में ही है । अतः हमने अनुपपद्यमान का अर्थ “अचमत्कारक” किया है । ]

अनन्वय त्रैमे = ( हे भगवन् ) अपनी शक्ति के ब्यूह से तीनों लोकों का निर्माण और सृष्टि का चक्र चलाने वाले आप यदि किमी के समान हो सकते हैं तो केवल आपके हाँ समान ।” यहाँ एक ही पदार्थ का उपमेय और उपमान होना वाच्य है किन्तु वह पर्यवसित होना है किमी दूसरे समान पदार्थ के अभाव में ।

[ अनन्वय में चमत्कार का कारण किमी द्वितीय अन्वय पदार्थ के अभाव की प्रतीति है । उपमानोपमेयमावरुपी अनन्वय ( भवन् ) का ( उपमान और उपमेय दोनों एक ही पदार्थ के रहने में ) निष्पन्न न होना ( अनन्वय ) इस प्रतीति को जन्म देता है । यहाँ भी वाच्यार्थ के व्यर्थार्थ ( द्वितीयमदृशव्यवच्छेद ) में पर्यवसित होने का अर्थ है चमत्कार के लिए उसका जाक्षेप करना । ]

जादि शब्द का अर्थ है प्रकार । उसमें अनिष्ट विध्यामासात्मक [ द्वितीय ] जाक्षेप आदि लिए जा सकते हैं । यथा—“हो जाय तो हो जाय विद्वान्, हे प्रिय, व्यर्थ की बरुताम छोटी और जानों, हममें आपका जरा भी दोष नहीं, विधाता तो हमारा हीन पराङ्मुख है । यदि तुम्हारा प्रकृत प्रेम इस दशा को प्राप्त हो गया है तो अच्छा है, यदि हमारे ये स्वभाव से चंचल ( अस्थिर ) दुष्ट प्राण निकल भी जाय तो राज क्या ।”

यहाँ अनचाहों “प्रियगमन”-रूपी वस्तु का विधान “जाओ” इस प्रकार किया गया है जो वस्तुतः आमासात्मक ही है, पारमार्थिक नहीं, अतः वह निषेध का विधान सम्वन्ध होने के कारण

अपने आपमें उखड़ा हुआ सा लगता है, और इसलिए अपना पर्यवसान निषेध में कर उसका आश्रय करता है। इस प्रकार दोनों ही प्रकार से गम्यमान वस्तु वाच्य के प्रति उपस्कारक ही होती है ऐसा कहा।

ऐसा मानने पर प्रतीयमान अर्थ के लिए अलंकारवाले स्थलों से भिन्न स्वतन्त्र स्थल भी मिल जाते हैं, अतः उसका अलंकार में अन्तर्भाव सिद्ध नहीं होता—'ऐसी शंका कर उत्तर देते हैं—रुद्रटेन इत्यादि।

**द्विधा** = दो प्रकारका, एक वह जिसमें वस्तु अप्रधान [ गुणाभूत ] रहती है और दूसरा वह जिसमें वह प्रधान रहती है। जैसा कि [ रुद्रट ने काव्यालंकार ५।३८ में ] कहा है—“किंसा व्यक्ति में कोई विकार [ भाव या चित्तवृत्तिरूप कार्य ] किसी घेते कारण से उत्पन्न हो जिसके साथ उस [ कार्य ] का [ कार्यकारणभावरूप ] संबन्ध निश्चित न हो [ अतः जो कारण, कार्य के साथ अप्रतिबद्ध या अनैकान्तिक हो ], फिर वह विकार एक ओर उत्तसे युक्त व्यक्ति का कोई अभिप्राय व्यक्त करे और दूसरी ओर अपने कारण के साथ अपना [ कार्यकारणभाव ] संबन्ध निश्चित कर दे तो एक प्रकार का भावालंकार होता है। उदाहरणार्थ—‘तर्णी जव श्रामतरुण [ गाँव के सबसे सुन्दर और अपने प्रेमी युवक ] को मौलसिरी की ताजी मंजरी हाथ में लिए देखती है तो उसकी उसकी मुखकान्ति अत्यन्त मलिन हो जाती है।’

[ दूसरा भावालंकार ] कोई वाच्य अपने शब्दों का अभिप्रेयाधं बतलाने के पश्चात् अभिप्रेय से भिन्न प्रकार का दूसरा अर्थ [ अर्थात् अभिप्रेय यदि विधिरूप हो तो निषेधादिरूप ] व्यक्त करता है तो वह भी भावालंकार माना जाता है। उदाहरणार्थ—[कोई प्रोपितपतिका द्वारा-गत निवासार्थी तदण पथिक से कह रही है] ‘इस घर में मैं अकेली हूँ और अथला हूँ। इस घर का जो स्वामी है वह परदेश गया है। वह जो मेरी सात है उसे भी न बाँलों से सूझता और न कानों से सुनाता। इसलिए हे पान्थ तुम बास की वान्ना कर ही क्यों रहे हो। तुम सचसुच भोले और नासमझ हो।’

अथवा ( रुद्रट ने भावालंकार दो प्रकार का माना है—इत वाक्य में ) “दो प्रकार”—का अर्थ उपादानलक्षणा और लक्षणलक्षणा नामक ( स्वसिद्धये० इस प्रकार ) पूर्वचर्चित दो लक्षणाओं के आधार पर दो प्रकार का किया जाना चाहिए। इससे प्रथम उदाहरण में स्वसिद्धि के लिए पराक्षेप ( उपादान लक्षणा ) मानना होगा और दूसरे उदाहरण में परार्थ स्वसमर्पण ( लक्षणलक्षणा )।

कुछ लोगों ने भावालंकार में भावशब्द का अर्थ निर्वेदादि किया है और दो भेदों में एक में वाच्य को निर्वेदादि संचारी भावों से उपलक्षित माना है और दूसरे में प्रतीयमान को। किन्तु व्याख्या मूलविरुद्ध है, क्योंकि स्वयं रुद्रट ने भावालंकार का प्रतिपादन इस प्रकार से नहीं किया। रुद्रट यदि ऐसा प्रतिपादन करना भी चाहते तो उन्हें इसे वहाँ प्रतिपादित करना चाहिए था जहाँ उन्होंने केवल वस्तु का वाच्य के प्रति उपस्कारकत्व प्रतिपादित किया था। इसलिए वस्तुतः भावालंकार में द्वैविध्य का मानदण्ड व्यङ्ग्य की गुणाभूतता तथा प्रधानता ही मानी जानी चाहिए। इन दोनों भेदों में अप्रधान और प्रधान दो प्रकार की वस्तु व्यंग्य होकर भी वाच्य का सौन्दर्य वर्धन करती हुई बतलाई गई है।

**विमर्श**—वहाँ भावालंकार के प्रथम उदाहरण में नायिका में मुखमालिन्यरूपी विकार उत्पन्न हुआ। उसका कारण है मौलसिरी की मंजरी को देखना उस देखने के साथ उस मालिन्य का कोई निश्चित कार्यकारणभावरूपी सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि उस मंजरी को देखने से सदा ही मुख-मालिन्य नहीं होता। वह मुखमालिन्य नायिका का भाव व्यक्त कर देता है। यह बतला देता है कि निश्चित ही नायिका ने तर्ण को मौलसिरी के बगीचे में मिलने बुलाया था किन्तु अन्य कार्य में

न्य जाने से यह स्वयं वहाँ नहीं पहुँच सका किन्तु मौलमिरी की नवीन मञ्जरी हाथ में लेकर जाने में तत्पन के विषय में उसे यह विदित हो गया कि वह मौलमिरी के वर्गीचे जा कर जा रही है फगत नादिका को यह सोचकर दुःख हुआ कि 'मैं सुप्त से बचि रह गई'। ऐसा भाव मन में जाने ही जो मुत्तमालिन्य हुआ उमका और मञ्जरीदर्शन का कार्यकारणभाव भी निश्चित हो गया क्योंकि यदि वह मञ्जरी न होती तो कदानिद नायिका का तत्पन के मौलमिरी उपवन जाने का अनक्षय न होता। यहाँ वाच्य जर्ज व्यंग्यार्थ की अपेक्षा अधिक चमत्कारा है अतः काव्यप्रकाश-कार ने इसे गुणाभूत वाह्यमय या मध्यमकाव्य का उदाहरण माना है।

द्वितीय पद्य में 'वाम की याचना क्यों करते हो' इस प्रकार के प्रश्नप्राकृ से बतलाया जा रहा है कि 'याचना नहीं करनी चाहिए' परन्तु पूरे वक्तव्य में स्थिति ऐसी बतलाई जा रही है कि पान्थ की वाम करने के लिए याचना भा अनावश्यक है, उसे तो स्थिति समझकर बिना पूछे ठहर जाना चाहिए। यह है वाच्य और व्यंग्य का मित्र प्रकार का होना। इसीलिए यह भावनाकार है, क्योंकि व्यंग्यार्थ नायिका के हृदय का भाव है। यहाँ निपेधरूपी वाच्यार्थ से जो विगनरूपी व्यंग्यार्थ निकलता है वही अधिक चमत्कारकारी हो तो इस काव्य को उत्तम काव्य माना जा सकता है। विमर्शिनकार ने माना भी है। हमें यहाँ व्यंग्यार्थगत वैचित्र्य का अपेक्षा उक्तिवैचित्र्य में अधिक चमत्कार प्रतीत होना है अतः वस्तुतः वह उदाहरण भी गुणाभूत व्यंग्य का ही उदाहरण होना चाहिए। विमर्शिनकारका मन्थन्य केवल इतना ही है कि प्रथम उदाहरण गुणाभूतव्यंग्य के उदाहरण के रूप में काव्यप्रकाश आदि में प्रसिद्ध है द्वितीय उदाहरण का उमसे अन्तर करने के लिए उसे ध्वनिकाव्य का उदाहरण मानना चाहिए। यदि 'पद्मकिनी' यह उदाहरण ध्वनिकाव्य न भी सिद्ध हो तो कर्दर दूरमा उदाहरण अपना लेना चाहिए। सर्वथा विमर्शिनकार का कहना है अलङ्कारसर्वस्वकार के मज में मूढ गुणाभूतव्यंग्य और ज्वनि दोनों को भावनाकार रूप मानते हैं।

### विमर्शिनी

इदानीमलङ्कारस्यापि प्रतीयमानस्य वाच्योपस्कारकत्वं प्रतिपादयति—रूपकेत्यादिना।

तत्र रूपकं यथा—

भीमभ्रुकुटिपद्मगीफगमणि कायस्य चग्डं चिता-

कुण्डं कुण्डलितेन्दुनालबलयप्रभ्रंशित रक्तोरपलम् ।

घ्रागस्काटिकमल्लिकापरिचिते भालाप्रशालाजिरे

दीप्रा दीपशिखा शिवस्य नयन काशीनवं पातु न ॥'

अत्र नयनादीना मगिप्रमृतीनां चोपमा वाच्योपस्कारायावगम्यते। तां त्रिना सादृश्या-  
प्रतिपत्ते ।

[ जमी प्रतीयमान वस्तु की वाच्योपस्कारकता बतलाई ] अब प्रतीयमान अलङ्कार की भी वाच्योपस्कारकता बतलाई हुए कहते हैं—'रूपक०'। इसमें रूपक का उदाहरण पत्ते—'भगवान् शिव का तृतीय आग्नेयनेत्र इम मञ्जरी रक्षण करे जो ब्रह्मदेहरी नयकर नागिन की फगनगि है, काम का प्रवण्ट चित्तकुण्ड है, चन्द्ररूपी [ कमल ] नालनिमित्त गोल बलय में गिरा हुआ लालकमल पु'प है, [ या ] नासिकाहारी दावट से युक्त लज्जहस्तों आंगन में अमकटी दीपशिखा है।' यहाँ नेत्रादि और मणि आदि को उपमा व्यंजनासे प्रतीत होती है और उससे वाच्य ( रूपक ) का उपस्कार होता हुआ विदित होता है। क्योंकि ( रूपक सादृश्यमूलक अलङ्कार है और ) सादृश्य का ज्ञान उम ( उपमा ) के बिना सम्व नहीं।

विमर्श—यहाँ उपमा तो व्यक्त होती है किन्तु वह उपमाभाव है। अलंकार नहीं। वह अलंकार तब होती जब उसमें चमत्कार होता। चमत्कार यहाँ रूपक में ही है अतः वही यहाँ अलंकार है। विमर्शनांकार यहाँ जो उपमालंकार को वाच्योपस्कारक बतलाना चाहते हैं उसके पीछे ब्राह्मणश्रमण-न्याय विषय मानना चाहिये। ब्राह्मण जब तक शिखासूत्रादि से युक्त ब्राह्मण था जब तक वह शिखा-सूत्रादि बिहीन श्रमण (जैन या बौद्ध भिक्षु) नहीं था और जब शिखासूत्रादि को तोड़ताइकर वह श्रमण बन गया तब वह ब्राह्मण नहीं रहता, इतने पर भी क्योंकि वह पहले ब्राह्मण था इसलिए श्रमण बने अन्य ब्राह्मण व्यक्तियों से उत्पन्न अन्तर बतलाने के लिए उसे “ब्राह्मणश्रमण” कह दिया जाता है ठीक इसी प्रकार उपमा रूपक आदि जब व्यंग्य होते हैं तब अलंकार नहीं रहते क्योंकि उनसे किसी अन्य की शोभा नहीं बढ़ती फलतः वे अलंकार्य हो जाते हैं और जब अलंकार रहने हैं तब व्यंग्य नहीं रहते, तथापि वाच्यवस्था में उपमादि अलंकार रहते हैं तत्सदृश कोई उपमादि व्यंग्य हो जाती है तो व्यंग्योपमादि को भी अलंकार न रहने पर भी अलंकारभूत वाच्योपमादि की नई उपमालंकारादि कह दिया जाता है। रुद्रट ने उनसे वाच्य का उपस्कार माना है।

### विमर्शनी

दीपकं यथा—

‘पाउअवंधं पठिउं वंधेउं तहअ कुञ्जकुसुमाइ । पौढमहिलं अ रमिउं विरलच्चिअ के वि जागन्ति ॥’  
अत्र प्राकृतबन्धपाठादेरुपमा वाच्योपस्कारायावगम्यते । प्रकृतस्य प्रौढमहिलारमगादेः सादृश्योपादानायैवोभयोरुपनिबन्धनात् । अपहूर्तिर्यथा—

‘अवासः प्रागहम्यं परिणतृचः शैलतनये कलङ्को नैवायं विलसति शशाङ्कस्य वपुषि ।

अमुप्येयं मन्ये त्रिगलदमृतस्यन्दशिशिरे रतिश्रान्ता शेते रजनिरमणी गाढसुरसि’ ॥

अत्र कलङ्कस्य रजनिसादृश्यप्रतीतेरुपमा वाच्योपस्कारायावगम्यते एव । तुल्य-योगिता यथा—

‘द्विगुणिताहुपधानभुजाच्छिरः पुलकिताहुरसः स्तनमण्डलम् ।

अधरमर्षसमर्पितमाननाद् व्यवदयन्त कथंचन योपितः ॥’

अत्र भुजादीनां सादृश्यावगमादुपमा वाच्योपस्कारायावगम्यते । तुल्ययोगिता-दाबिस्त्यादिशब्दात्रिदशनादेर्ग्रेहणम् । उपमादीत्यादिशब्दादुपमेयोपमादीनाम् । तत्तु यथा—

‘प्रवातनीलोत्पलनिर्विशेषमधीरविप्रेक्षितमायतापया ।

तया गृहीतं तु मृगाङ्गनाभ्यस्ततो गृहीतं तु मृगाङ्गनाभिः ॥’

अत्र वाच्याया निदर्शनाया उपस्कारत्वेनोपमेयोपमा गम्यते । तानन्तरेणासंभवद्वस्तु-संबन्धत्वेन वाच्यस्याविश्रान्तेः । अतश्चात्रालंकारो गम्यमानः स्थितो न वस्तुमात्रम् । तेन पूर्वत्र यदादिग्रहणं सफलयितुमन्यैरेतदुदाहृतं तदयुक्तमेव । तत्र वस्तुमात्रस्य वाच्योपस्कारकत्वेन प्रतिपिपादयिपितत्वात् । वाच्योपस्कारकत्वेनोत्प्रेक्षा कथितेति समन्वयः । सा तु—

‘महिलासहस्सभरिणु तुय हिअए सुहअ सा अमायन्ती ।

दिअहं अणणअम्मा अङ्गं तणुअं पि तणुएइ ॥’ इति ।

तद्विधमलंकारोऽपि प्रतीयमानो वाच्यशोभाहेतुत्वेनोक्तः ।

दीपकं यथा =

‘प्राकृतबन्धं पठितुं वदधुं तथा कुञ्जकुसुमानि ।

प्रौढमहिलां च रन्तुं विरला एव केऽपि जानन्ति ॥’

“प्राकृत बन्ध पढ़ना, कुञ्ज (?) कुसुमों को सूँघना तथा प्रौढमहिलाओं को भोगना विरले ही कोई जानते हैं।” यहाँ भी प्राकृतबन्ध आदि की उपमा प्रतीत होती है और उससे वाच्य का



उपस्कारक होता है। क्योंकि इस वाक्य में वर्णनीयत्वेन प्रकृत है प्रौढमहिला उमके अतिरिक्त प्राट्टनवन्धादि अप्रस्तुत पदार्थों का जो उपादान किया गया है वह 'प्रौढमहिला' के साथ उनका साट्टश्य बनलाने के लिए ।

[ दोषक में प्रकृत और अप्रकृतों का किमी एक धर्म या किमी एक क्रिया में सन्ध दिखलाया जाता है जिसमें साट्टश्य व्यक्त होता है । ]

अपह्नुति जैसे—[ भगवान् शिव पार्वतीजी से कह रहे हैं ] "हे पार्वती ! पर्याप्त मात्रा में सिलों कान्ति के इस चन्द्रमा के शरीर में [ पिता की गोद में शिशु के समान ] प्रगल्भता के साथ यह जो हं मो कल्क विलम्बित नहीं हो रहा है, अपितु मैं समझता हूँ कि इसके शरती अमृतधारा में अत्यन्त नाँल वक्ष्मथल पर इसके प्रिया रात रति से शान्न होकर गहरी नींद में मो रहो है ।" यहाँ कल्क का रात के साथ साट्टश्य प्रतीत होता है वही उपमालकार है और उममें वाच्यार्थ अपह्नुति का उपस्कार प्रतीत होता ही है ।

[ अपह्नुति का अर्थ होता है छिपाना । इस अलङ्कार में चमत्कारकारी तत्त्व यही छिपाना है । प्रस्तुत पद्य में कलक का कल्पकत्व "यह कलक नहीं है" इस निपेधोक्ति में छिपाया जा रहा है । यह छिपाया जाना साट्टश्य के आधार पर ही संभव है अतएव यहाँ साट्टश्य की व्यवस्था होती है और साट्टश्य ही है उपमालकार । उसके द्वारा वाच्य ( शब्दत कथित ) अपह्नुति अलङ्कार का उपस्कार या पौषण होता है । ]

तुल्ययोगिता यथा =

'स्त्रियों ने द्विगुणित उपधानभूत मुजा से सिरको, पुलकित वक्ष्मथल से स्तनों को, मुख में अर्धसमर्पित अक्षर को किमी प्रकार विग्रहित किया' ? यहाँ मुजा आदि का साट्टश्य प्रतीत होता है इसमें उपमालकार प्रतीत होता है और उससे वाच्य ( तुल्ययोगिता ) का उपस्कार होता है ।

[ जहाँ एक ही धर्म में अनेक ऐसे पदार्थों का अन्वय हो जिनमें प्रत्येक प्रस्तुत ही हो या प्रत्येक अप्रस्तुत ही वहाँ तुल्ययोगिता होती है । प्रस्तुत पद्य में नायिका के सभी अंग प्रस्तुत हैं और एक विग्रहन क्रिया में अन्वित होने हैं । एकधर्मान्वयित्वरूपी साधर्म्य के आधार पर उन सभी अंगों में साट्टश्य को प्रतीति होती है । साट्टश्य उपमालकाररूप है अतः यहाँ उपमालकार की व्यवस्था मानी जायगी और क्योंकि उमसे वाच्य तुल्ययोगिता का उपस्कार होता है अतः वह भी अलङ्कार ही है । ]

मूल में जो "तुल्ययोगिता आदि में" इस प्रकार आदि शब्द का प्रयोग किया गया है उसमें निदर्शनालकार आदि किए जा सकते हैं और इसी प्रकार "उपमा आदि का" इस प्रकार जो आदि पद का ग्रहण किया गया है उममें उपमेयोपमा आदि । उदाहरणार्थ ( निदर्शना में उपमेयोपमा का उपस्कारकत्व ) यथा—"पर्याप्त पवन वाले स्थान ( प्रवात ) में लगे हुए ( अतएव हवा की श्रंशोर में झूलने हुए ) नील कमल में तनिक भी अन्तर न रगने वाली अधीर चितवन या तो उस विशालनेत्रा ( पार्वती ) ने हिरनियों से ली होगी या ( वैसी ही विशालनेत्रा ) हिरनियों ने उम ( पार्वती ) से ।" यहाँ ( पदार्थ ) निदर्शना वाच्य है, उसका उपस्कारक के रूप में यहाँ उपमेयोपमा प्रतीयमान है, क्योंकि यदि उपमेयोपमा प्रतीत न हो तो वाच्य, जिसमें यहाँ पदार्थों का सन्ध नहीं बनता, असंगत ही रहा आया । इसलिए इस पद्य में भी अलङ्कार ही प्रतीयमान है, वस्तु नहीं । निदर्शना में वाच्यार्थ ऐसा रहना है जिसमें पदार्थों का सन्ध संभव नहीं होता, बाद में उपमा द्वारा उसमें सगति लगाई जाती है । प्रस्तुत पद्य में मृगागनाओं की चितवन उन्हीं मृगागनाओं के पास है उसे पार्वती नहीं ले सकती और पार्वतीजी की चितवन पार्वतीजी के ही पास है, उसे मृगागनाओं नहीं ले सकती, फलतः एक दूसरे की चितवन का एक दूसरे द्वारा कहा या राद् आदान संभव नहीं । 'बाद में ये दोनों ही इन दोनों के समान हैं । ऐसी साट्टश्यप्रतीति होती

है तो उत्तरे वाच्यार्थ संगत प्रतीत होता है। उपमेयोपमा इसलिए व्यंग्य है कि यहाँ वह भी प्रतीति होती है कि इन दो चित्रणों के समान कोई तीसरी चित्रण नहीं है फलतः इस प्रकार के पूर्व "उपमेयोपमानव्यवर्था" इस पद में जो आदि शब्द आया है उसके उदाहरण के रूप में लोगों ने जो इस "प्रवातनीलो" आदि पद्य को उद्धृत किया वह ठीक नहीं, क्योंकि उस प्रकरण में तो केवल वस्तुमात्र की व्यंजना का प्रतिपादन करना अभीष्ट रहा है, अलंकार की व्यंजना का नहीं। "वाच्योपस्कारकत्व"—इस विशेषण को आगे भी जोड़ना चाहिए। ऐसा करने पर इस प्रकार का अर्थ निकलना—“उत्प्रेक्षा को जो वाच्योपस्कारक कहा गया है” इत्यादि।

वाच्योपस्कारक उत्प्रेक्षा का उदाहरण है—

“महिलासहस्रभरिते तव हृदये सुभग ! सा अन्तीमा ।

दिवसमलन्यकर्मा अर्धगं तनुकम्पि तनूकरोति” ॥

अर्थात् “हे सुभग ( जिसे कामिनीयाँ चाहती हों ) तुम्हारा हृदय सहस्र महिलाओं से भरा है अतः वह बेचारी उसमें वन नहीं पाती, फलतः दिन भर अन्य कोई कार्य नहीं करती, केवल पहले से ही दुबले अपने आँग को और दुबल बनाती जा रही है।” यहाँ काव्यलिंगालंकार वाच्य है क्योंकि हृदय में नायिका के न बनने का कारण यहाँ उक्त है। वह है हृदय का सहस्र महिलाओं से विरा होना। उससे उत्प्रेक्षा की व्यंजना होती है। वह इस प्रकार कि नायिका के नायक के चित्त में न बन पाने का मूलकारण तो है नायिका के प्रति नायक की रागशून्यता, किन्तु उससे भिन्न “महिलासहस्रभरित्व” रूपा अन्य कारण वैसा होता बतलाया जा रहा है। यह दुर्द हेतुत्प्रेक्षा। इससे वाच्य काव्यलिंग का उपस्कार होता है। इसप्रकार अलंकार भी प्रतीयमान होकर वाच्य का उपस्कारक ( वाच्यशोभापायक ) स्वीकार किया गया है।

### विमर्शिनी

अधुना रसस्यापि वाच्योपस्कारकत्वं दर्शयितुमाह—रसवदित्यादि । प्रभृतिशब्दाद्दर्श-  
स्यादयः । आदिशब्दाच्च तदाभासादयः । तत्र रसवदलंकारो यथा—

‘कृच्छ्रे णोर्युगं व्यतीत्य सुचिरं भ्रान्त्वा नितम्बस्थले

मध्येऽस्याखिलीतरङ्गविपमे निस्पन्दतामागता ।

मद्दृष्टिस्तुपितेव संप्रति शनैराह्व्य तुङ्गौ स्तनौ

साकाङ्क्षं सुहुरीक्षते जललवप्रस्यन्दिनी लोचने ॥’

अत्र वत्सराजस्य परस्परस्थाद्वन्धरूपो रस्याख्यः स्याद्यिभावो विभावानुभावव्यभि-  
चारिसंयोगाद् रसीभूतः सन् वाच्योपस्कारकः । तत्संवलितत्वेन वाच्यस्य सचमत्कार  
प्रतिपत्तेः ।

अब रस को भी वाच्यार्थ का शोभावर्धक बतलाने के लिए लिखते हैं—रसवदित्यादि । प्रभृति शब्द से ऊर्वस्वी आदि का ग्रहण अनिप्रेत है और आदि शब्द से उनके आभास आदि । उनमें से रसवदलंकार का उदाहरण है—“मेरी दृष्टि बड़ी कठिनाई से दोनों ऊरु पार कर और नितम्ब-स्थल में चक्कर खाकर ज्योंही इस ( सुन्दरी वासवदत्ता ) के त्रिवलीतरंग से जबड़ खावड़ मध्यभाग में पहुँची तो निस्पन्द हो गई । फिर जिस किन्ती प्रकार वह धीरे-धीरे करके उत्तुंग स्तनों पर चढ़ी तो अब मानों पिचासी होकर जललव बहा रही ओखें बार-बार देख रही है ।” यहाँ वत्स-राज का परस्पर में प्रेमरूपी रति नामक स्थायी भाव विभावानुभावव्यभिचारी के संयोग से रसरूपता को प्राप्त होकर वाच्य की शोभा बढ़ाता है, क्योंकि उत्तरे उक्त शंकर प्रतीत होने पर ही वाच्य में चमत्कार प्रतीत होता है ।

## विमर्शिनी

प्रेयोऽलङ्कारो यथा—

‘तिष्ठेत्कोपवशात्प्रभावपिहिता दीर्घं न सा कुप्यति  
स्वर्गायोस्पतिता भवेन्मयि पुनर्भावाद्द्रमस्या मनः ।  
तां हर्तुं विबुधद्विपोऽपि न च मे शक्ताः पुरोवर्तिनीं  
सा चाख्यन्तमगोचर नयनयोयांतेऽपि कोऽयं विधिः ॥’

अत्र वितर्कस्थो ध्यभिचारिभावो वाच्यशोभापायक एव ।

प्रेयोऽलङ्कार जैमे—( उर्वशी के लृप्तरूप से परिणत हो जाने पर पुरुरवा विवर्क करता है ) हो सकता है वह ( उर्वशी अपने ) प्रभाव ( देवी होने के कारण निरन्करिणी विद्या ) ने कहीं छिपा हो, किन्तु वह अधिक देर तक तो कुपित रहती नहीं। मभव ई वह ( अपने मूलस्थान ) स्वर्ग के लिए उट गई हो, किन्तु उसका मन तो सानुराग है मुझ पर। मेरे देखते-देखते उसे राक्षस लोग भी नहीं हार सकते। इतने पर भी वह आँसों में पकड़म ओझल हो गई है। आसिर यह घटना क्या है।” यहाँ वितर्कनामक मचारी भाव व्यञ्जित होकर वाच्य की शोभा बढ़ाता है।

## विमर्शिनी

ऊर्जस्वलङ्कारो यथा—

‘दृग्लीलासु सकौतुक यदि मनस्तन्मे दृशा विंशति-  
र्निःसधौ परिरम्भणे रतिरथो दोर्मण्डली दृश्यताम् ।  
प्रीतिश्चेत्परिचुम्बने दशमुत्सी वैदेहि । सजा पुर  
पौलस्त्यस्य च राघवस्य च महत्पश्योपचारान्तरम् ॥’

अत्र सीतां प्रति रावणस्य रतिरर्भौचित्येन प्रवृत्तेति रसाभासो वाच्योत्पत्कारकः । अन्यत् स्वयमभ्युद्यम् ।

ऊर्जस्वी अलङ्कार जैमे—( रावण की भगवती सीता के प्रति दुष्टोक्ति )—“हे मीता, यदि तेरा मन आँसों की चेटाण पसन्द करना है तो मेरे पास बीस आँसों हैं, यदि तुझे गाड़ आलिंगन पसन्द है तो देख मेरी बीम मुजाय है और यदि तुझे चुम्बन पसन्द हो तो उमक लिय भी मेरे पास दस मुझ हैं। इस प्रकार तेरे उपचार की दृष्टि ने भी मेरे और राम के बीच, देव, कितना भारी अन्तर है।” यहाँ ( अनुरक्त परम्भो ) मीता के प्रति रावण का रतिनामक स्थायी-भाव व्यञ्जित होता है फलतः यह रसाभास हुआ और ( क्योंकि ) यह यहाँ वाच्यार्थ की शोभा बढ़ा रहा है इसलिए ऊर्जस्वी अलङ्कार हुआ। अन्य ( समाहितादि अलङ्कार ) के उदाहरण ( कान्य-प्रकाश आदि में ) स्वयं सोने जा सकते हैं।

## विमर्शिनी

एतद्वचोपसंहरति—तदित्थमित्वादिना । त्रिविधमिति । पर्यायोक्तादौ वस्तु, रूपकादाव-लङ्कारः, रसवदादौ रसः । तद्वचं चिरन्तैः प्रतीयमानस्थालङ्कारान्तर्भाव एव तावदुक्तः । तदुपस्कार्यं पुनरात्मा कैश्चिदपि नाभ्युपगतः ।

“तदित्थम् = तो इस प्रकार” इत्यादि द्वारा इस प्रकरण का उपसंहार करते हैं। तीनों प्रकार का अर्थ ( प्राचीनों ने ) पर्यायोक्तादि में वस्तु, रूपकादि में अलङ्कार और रसवदादि अलङ्कारों में रस ( वाच्योपस्कारक स्वीकार किया है ) इस प्रकार ( वस्तु अलङ्कार और रस तीनों

प्रकार का प्रतीयमान अर्थ) प्राचीनों ने अलंकार के ही बीच अन्तर्भूत बतलाया है क्योंकि उनके मत में तीनों ही प्रकार का वह अर्थ ( रूपक, उपमादि के ही समान ) वाच्य का शोभापायक होता है । ( ध्वनिवादी आचार्यों के समान ) इन प्राचीन आचार्यों में से किसी ने भी वाच्य को उपस्कारक और प्रतीयमान को प्रधान ( आत्मभूत ) स्वीकार नहीं किया है ।

[ अच्छा होता कि विमर्शिनीकार रसवत् आदि के वे ही उदाहरण प्रस्तुत करते जो रुद्रट आदि ने दिए हैं जैसा कि उन्होंने भावालंकार के प्रकरण में किया है । श्री रामचन्द्र दिवेदी ने “रुद्रटेन तु” इस प्रसंग पर एक टिप्पणी देते हुए लिखा है—“प्रतीयमान अर्थ वस्तु अलंकार तथा रसरूप से तीन प्रकार का होता है । प्रतीयमान वस्तु-रूप अर्थ कहीं गुणीभूत होता है और कहीं प्रधान । इन दोनों प्रकार के अर्थों का भावालंकार में, उपमा आदि प्रतीयमान अलंकार का रूपक दीपक आदि अलंकारों में तथा रस, भाव आदि का रसवत् प्रेय आदि में अन्तर्भाव रुद्रट ने किया है ।”

इसमें “रुद्रट” के स्थान पर “रुद्रटादि” पद चाहिए । रुद्रट ने केवल भावालंकार के दो भेद अवश्य प्रस्तुत किए हैं किन्तु रस, भाव का रसवत् प्रेय आदि में अन्तर्भाव नहीं दिखलाया । भामह और उद्भट ने अवश्य इनका प्रतिपादन किया है ।

वस्तुतः “इह हि०” से लेकर “त्रिविधमपि प्रतीयमानतया ( ख्यापितमेव )” यहाँ तक वक्तव्य और प्रयत्नक एक ही हैं । श्री दिवेदी ने ‘रुद्रटेन’ से उसमें अन्तर कर दिया है । उन्होंने पाठ भी इसलिये स्वतन्त्र वाक्य के ही अनुरूप “रुद्रटेन तु द्विधैवोक्तः” ऐसा स्वीकार किया है । ]

वामन [ पूर्वोक्त आचार्यों से कुछ आगे हैं उन्होने ] प्रतीयमान को अलंकार में अन्तर्भूत दिखलाते हुए भी उससे उपस्कार्य ( अलंकार्य ) भूत एक आत्मा भी स्वीकार की है” इस तथ्य को स्पष्ट करते हुये आगे कहते हैं—“वामनेनेत्यादि”—

### [ सर्वस्व ]

वामनेन तु सादृश्यनिबन्धनाया लक्षणाया बक्रोक्त्यलंकारत्वं ब्रुवता कश्चिद् ध्वनिभेदोऽलंकारतयैवोक्तः । केवलं गुणविशिष्टपदरचनास्मिका रीतिः काव्यात्मकत्वेनोक्ता ।

उद्भटादिभिस्तु गुणालंकाराणां प्रायशः साम्यमेव सूचितम् । विषय-मात्रेण भेदप्रतिपादनात् । संघटनाधर्मत्वेन चेष्टेः । तदेवमलंकारा एव काव्ये प्रधानमिति प्राच्यानां मतम् ।

( काव्यालंकारसूत्रचिन्तक ) वामन ने तो [ ‘सादृश्याल्लक्षणा बक्रोक्तिः’ इस प्रकार ] सादृश्य-मूलक लक्षणा को बक्रोक्तिनामक अलंकार कहते हुए ध्वनि का एक [ अविवक्षितवाच्य ] भेद [ स्वीकार किया है किन्तु उसे भी उन्होंने ] अलंकाररूप ही बतलाया है [ क्योंकि बक्रोक्ति एक अलंकार ही है ] काव्यकी आत्मा उन्होने गुणविशिष्ट-पदरचनास्वरूप रीति को ही कहा है ।

उद्भट ने गुण और अलंकारों का प्रायः साम्य ही बतलाया है [ उनके मत में दोनों ही, काव्य में समवायसम्बन्ध ने ही रहते हैं, अलंकार संयोगसंबंध से और केवल गुण समवाय संबन्ध से नहीं, वह तो लौकिक पदार्थों की स्थिति है द्रष्टव्य = काव्यप्रकाशजल्लास ८ ] भेद उनमें केवल इसलिये माना गया है कि दोनों के विषय में भेद है और गुण संघटना का धर्म माना गया है । इस प्रकार प्राचीन आचार्यों के मत में काव्य में अलंकार ही प्रधान है ।

## विमर्शिनी

वामनेन प्रतीयमानस्यालकारान्तर्भावमभिदधतापि तदुपस्कार्य धाम्ना कश्चिदुक्त इत्याह—वामनेनेत्यादि । तुशब्द पूर्वभ्यो व्यतिरेकघोतक । आत्मनोऽपि प्रतिपादकत्वात् । भ्रुवतेति । यदाह—‘सादरयाज्ञा वक्रोक्ति’ इति । एतदेवोदाहरण च ‘उन्मिर्माल-कमलं सरसीना कैरवं च निमिर्माल मुहूर्त्तम्’ इति । कश्चिदध्वनिभेद इति । ‘अविवक्षित-वाच्यादि’ । केवलमिति । यदि परमित्यर्थः । गुणेति । यदाह—‘विशिष्टा पद-रचना रीति’ इति । काव्यात्मकत्वेनेति । यदाह—‘रीतिराग्ना काव्यस्ये’ति काव्यत्वे-भ्युपगताया रीते. ‘तदतिशयहेतवस्त्वलंकारा.’ इत्याद्युक्त्यान्तर्भावितध्वनयोऽलंकारा उपस्कारका इत्येतन्मतम् ।

यहाँ तु ( तो ) शब्द पूर्वाक्ष आचाओं में अन्तर का बोधक है । क्योंकि वामन ने काव्याग्ना का भी प्रतिपादन किया है । कहते हुए—जैसा कि कहा है “सदृश्य में होने वाली लक्षणा वक्रोक्ति है । रसी पर उदाहरण भी दिया है—“तल्लयों के कमल उन्मोक्ति हो गए जोर कुमुद निर्मालिन ।” [ यहाँ उन्मालन और निर्मालन लक्षणाएँ हैं ] ध्वनि का एक कोई भेद = अविवक्षितवाच्यरूप । केवल का अर्थ है यदि परम्=किन्तु । गुण इत्यादि जैसा कि कहा है—“विशिष्ट पद रचना रीति है” । काव्यात्मकत्वेन—जैसा कि कहा है—“रीति काव्य की आत्मा है” इस प्रकार वामनका मत है कि “विशिष्ट पदरचनारूप रीति काव्य की आत्मा है, और [ गुणों से उत्पन्न ] काव्यशोभा में अति-शय होने वाले तत्त्व अलंकार कहलाते हैं” इस प्रकार से लक्षित अलंकार उम ( रीति ) के उपस्कारक ( शोभावर्धक ) होते हैं” ।

## विमर्शिनी

अन्वयः पुनरेतदपि प्रयुक्तमित्याह—उद्भटादिभिरित्यादिना । प्रायश इति । बाहुल्येनेत्यर्थः । विषयमात्रेणेति । भिन्नकक्षयाणा ह्युपस्कार्योपस्कारकत्वस्यानुपपत्तेः । तथात्वे चालंकाराणामपि गुणोपस्कार्यत्व प्रसज्यते । समानन्वयायत्वात् । तद्गुणालंकाराणा तुल्य-त्ववादिन एवाद्भटाः । इत्यमनेन वाच्याश्रयागमालंकाराणा मध्य पद्य ध्वनेरन्तर्भावा-दभिधाव्यापारगोचर एव ध्वनि, न पुनस्तद्व्यतिरिक्त कश्चिदध्वनिर्नामेति चिरंतनानां मतमित्युक्तम् ।

इदानीं यदप्यन्यैरस्य भक्त्यन्तर्भूतत्वमुक्तं तदपि दर्शयितुमाह—‘वक्रोक्तौत्यादि । ‘दूसरों ने तो इतना भी स्वीकार नहीं किया’ इस बातको बतलाने के लिए लिखते हैं—“उद्भट” आदि । प्रायश. अर्थात् बहुधा । विषयमेदमात्रेण विषयमात्र का भेद [ गुणों का विषय ही शोभा-जनकता और अलंकारों का शोभावर्धकता, किन्तु इन दोनों की प्रतीति एक ही साथ होती है ] अलग-अलग समय में प्रतीति होने पर [ गुण ही उपस्कार्य और अलंकार ही उपस्कारक ऐसा ] उपस्कार्योपस्कारकभाव सम्बन्ध नहीं बनेगा, वैसा मानने पर [ गुण भी अलंकारों के उपस्कारक और ] अलंकार भी गुणों के उपस्कार्य माने जा सकेंगे । क्योंकि स्थिति दोनों में समान है [ अर्थात् पूर्ववर्ती जैसे परवर्ती का उपस्कारक माना जाता है वैसे ही परवर्ती भी पूर्ववर्ती का । उदाहरण यथा गुणोभूतव्यय में प्रतीतमान का वाच्यार्थ के प्रति उपस्कारक होना ] । इस कारण उद्भवानुयायी गुण और जन्मरों में समानता ही मानने है ।

इस प्रकार यहाँ तक के ग्रन्थ द्वारा यह प्रस्तुत किया गया कि प्राचीन आलंकारिक प्रतीयमान

अर्थ को अभिधावृत्ति का विषय ही मान लेते हैं, उससे भिन्न नहीं, क्योंकि उनके अनुसार उपमादि अंग अलंकारों के ही समान ध्वनि भी अर्थ का ही एक अलंकार है ।

, अब “वक्रोक्तिः” इत्यादि अग्रिम ग्रन्थ में आचार्यों ने जो प्रतीयमानार्थ को भक्ति ( उपचार-वक्रता ) में अन्तर्भूत माना है उसे बतलाते हैं—

### [ सर्वस्व ]

वक्रोक्तिजीवितकारः पुनर्वैदग्ध्यमङ्गीभणितिस्वभावां बहुविधां वक्रोक्ति-  
मेव प्राधान्यात्काव्यजीवितमुक्त्वान् । व्यापारस्य प्राधान्यं च [ काव्यस्य ]  
प्रतिषेदे । अभिधानप्रकारविशेषा एव चालंकाराः । सत्यपि त्रिभेदे प्रतीय-  
माने व्यापाररूपा भणितिरेव कविसंरुभगोचरः । उपचारवक्रतादिभिः  
समस्तो ध्वनिप्रपञ्चः स्वीकृतः । केवलमुक्तिवैचित्र्यजीवितं काव्यं, न  
व्यङ्ग्यार्थजीवितमिति तदीयं दर्शनं व्यवस्थितम् ।

वक्रोक्तिजीवितकार ( कुन्तक ) ने वक्रोक्ति को काव्य का जीवित माना है । वक्रोक्ति को उन्होंने “वैदग्ध्यमङ्गीभणिति”—स्वरूप कहा है और उसके अनेक भेद बतलाए हैं । ( वक्रोक्ति को काव्य का प्रधानतत्त्व मानने के लिए ) उन्होंने यह भी प्रतिपादित किया है कि काव्य में व्यापार तत्त्व भी प्रधानतत्त्व है । ( उनके मत में ) अलंकार अभिधान ( कथन, उक्ति ) के ही विशिष्ट-विशिष्ट भेद हैं ( साथ ही ) काव्य में ( वस्तु, अलंकार और रस ) ये तीनों प्रकार के प्रतीयमान अर्थ रहते अवश्य हैं किन्तु कवि का संरम्भ ( जोर, अधिक ध्यान ) व्यापारस्वरूप भणिति ( उक्ति ) पर ही रहता है । ध्वनि के अन्य अवान्तर भेदों को भी [ उन्होंने ] उपचारवक्रता के अन्तर्गत स्वीकार कर लिया है । [ इस प्रकार संक्षेप में ] उन [ वक्रोक्तिजीवितकार ] का सिद्धान्त केवल इतना ही है कि “काव्य का प्राण ( प्रधानतत्त्व ) उक्तिवैचित्र्य ही है, व्यंग्यार्थ नहीं ।”

### विमर्शिनी

वैदग्ध्यमेव वक्रोक्तेः स्वरूपमुक्तम् । यदाह—‘वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यमङ्गीभणितिरुच्यते’  
इति । एवकारोऽन्यस्य काव्यजीवितत्वव्यवच्छेदकः । काव्यजीवितमिति काव्यस्यानु-  
प्राणकम् । तां विना काव्यमेव न स्यादित्यर्थः । यदाह—‘विचित्रो यत्र वक्रोक्तिवैचित्र्यं  
जीवितायते’ इति । व्यापारस्येति कविप्रतिभोद्धिखितस्य कर्मणः । कविप्रतिभानिर्वृत्ति-  
तत्त्वमन्तरेण हि वक्रोक्तिरेव न स्यादिति कस्य जीवितत्वं घटत इति तदनुपक्रमेवान्वा-  
स्यात्र प्राधान्यं विवक्षितम् । अतश्च द्वयोः प्राधान्यस्य दुर्योजत्वमत्र नाशङ्कनीयम् ।

“वैदग्ध्यमङ्गीभणिति” यह वक्रोक्ति का लक्षण है, जैसा कि ( कुन्तक ने कारिका में ) कहा है—

“उभावेतादलंकार्या तयोः पुनरलङ्कतिः ।

वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यमङ्गीभणितिरुच्यते ॥” १।१० कारिका ॥

शब्द और अर्थ अलंकार हैं, और उन दोनों का अलंकार है केवल वक्रोक्ति जिसका स्वरूप है “वैदग्ध्यमङ्गीभणिति” = अर्थात् वैदग्ध्य के कारण भंगिमा ( वक्रपन ) के साथ बोलना । “केवल वक्रोक्ति” इस प्रकार केवल शब्द के प्रयोग का अर्थ है कि अन्य कोई तत्त्व काव्य का जीवातु नहीं हो सकता । काव्यजीवित शब्द का अर्थ है वह तत्त्व जो काव्य को ( अकाव्य से भिन्न कर ) काव्यत्व प्रदान करे । फलतः आशय यह हुआ कि वक्रोक्ति के बिना काव्य काव्य ही नहीं हो सकेगा । जैसा कि ( कारिका में कुन्तक ने ) कहा भी है—“विचित्र [मार्ग] वह है जिसमें वक्रोक्ति की

विचित्रता जीवन ( या प्राण ) का काम करनी है ॥” [ कारिका १।४२ ] व्यापार अर्थात् कवि-प्रतिभा से उल्लिखित कर्म । वक्रोक्ति तब तक वक्रोक्ति हो नहीं हो सकती जब तक वह कविप्रतिभा से निम्पन्न न हो और जब वह वक्रोक्ति ही सिद्ध नहीं हो सकेगी तब उसमें काव्यजीवित्व कैसा भव होगा । इसलिए यहा जो व्यापार की प्रधानता की बात कही जा रही है वह वक्रोक्ति की प्रधानता की बात को ध्यान में रखकर ही कही गई है, “इसलिए एक ही काव्य में दो की प्रधानता कठिन है”—ऐसी शका नहीं करनी चाहिए ।

विमर्श—निर्गयसागर और मोतीलालबनारसीदाससंस्करण में यह मूल छपा है “व्यापारस्य प्राधान्य च काव्यस्य प्रतिपेदे” । हममें या तो “व्यापारप्राधान्य च काव्यस्य प्रतिपेदे” ऐसा पाठ होना चाहिए जैसा कि सजीविनीकार ने स्वीकार किया है, या फिर “व्यापारस्य प्राधान्य च प्रतिपेदे” ऐसा । अर्थात् या तो व्यापार शब्द से पृष्ठीविभक्ति हटाई जानी चाहिए या “काव्यस्य” यह पद । विमर्शिनी में “व्यापारस्येति” ऐसा प्रतीक दिया हुआ है अतः उनके अनुसार “काव्यस्य” शब्द ही अधिक है । इसलिए हमने उसे कोष्ठक में ढाल दिया है ।

वक्रोक्तिजीवनकार ने एक बार वक्रोक्ति को प्रधान बनलाया और एक बार व्यापार को । इसकी संगति लगाने हुए विमर्शिनीकार ने लिखा कि इ व्यापार का अर्थ कविप्रतिभागत व्यापार है । यदि वह न हो तो वक्रोक्ति में वक्रोक्तिव ही निम्पन्न न हो क्योंकि कविप्रतिभा जितमें नहीं रहती उसकी उक्ति में वक्रता नहीं आती । फलन साध्यमाधनभाव होने से दोनों की प्रधानता मानी जा सकती है, वस्तुतः रहती तो प्रधानता केवल वक्रोक्ति की ही है ।

हमारी समझ में टीकाकार की ऐसी संगति निरापद नहीं । वक्रोक्ति ‘उक्ति’रूप है और उक्ति कथनव्यापार है, फलन काव्य में यदि वक्रोक्ति प्रधान है तो हमका निषेध नहीं किया जा सकता कि व्यापार भी प्रधान है । व्यक्तिविवेककार आदि के अनुसार कुन्तक को व्यापार का अर्थ अभिभावृत्ति जैसी वृत्ति ही यहाँ मान्य है । ममुद्रबन्ध ने भी मट्टनायक और वक्रोक्तिजीवनकार को व्यापारप्राधान्यवादी आचार्य माना है । यहाँ व्यापार को अभिभादिरूप व्यापार स्वीकार करने पर ही उसका स्पष्टन भी किया जा सकता है क्योंकि ‘कविप्रतिभाव्यापार’ की प्रधानता काव्य में अस्वीकार नहीं की जा सकती । आनन्दवर्द्धनाचार्य शर्मोत्पि प्रतीयमान अर्थ की व्यञ्जक पदावली ( सरस्वती ) में अलौकिक और विशिष्ट प्रतिभा का परिस्तरण स्वीकार करते हैं—

मरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निष्यन्दमाना महता कवीनाम् ।

अलोकमामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन् प्रतिभाविशेषम् ॥ उद्योत ? ।

“प्रतिभा का उन्मेष ही विश्व का उन्मेष है”—ऐसा अभिनव गुप्त भी मानते हैं—

‘यदुन्मीलनशक्त्यैव विश्वमुन्मीलति क्षणात् ।’

प्रत्येक आचार्य ने काव्य के प्रति प्रतिभा को प्रथम कारण माना ही है ।

विमर्शिनीकार के मत में व्यापार शब्द का अभिधा अर्थ करने में जो आपत्ति है वह यही है कि कथनव्यापार कण्ठतात्वादि के अभिधा से होने वाला उच्चारणरूपी व्यापार है और वक्रोक्ति अलंकाररूप है । अलंकार उच्चारणरूप नहीं है, फलन कथनव्यापार या उक्ति भी उन्हें नहीं कहा जा सकता । किन्तु ग्रन्थकार अलंकार को व्यापारस्वरूप और उक्तिरूपव्यापारस्वरूप ही बतला रहा है, फलनः उन्होंने व्यापार को कविप्रतिभाव्यापारपरक माना और शका को निर्मूल किया । परन्तु ऐसा करते हुए वे यह भूल गये कि उन्हें पूर्वपक्ष पर विचार करना है जो स्पष्टनाय है ।

यहाँ यह भी विचारणीय है कि कुन्तक ने अलंकार को अभिभाव्यापार स्वरूप माना है या नहीं । हमें वक्रोक्तिजीवन में एक भी ऐसा स्थल नहीं मिला जहाँ अलंकार को अभिधात्मक कहा

गया हो। उन्हें अभिधेय अवश्य कहा गया है। किन्तु व्यक्तिविवेककार ने ध्वनिलक्षण का खण्डन करते हुए ध्वनिकारिका में शब्द और अर्थ के ही समान अभिधा को भी शब्दतः उपादेय बतलाया है और लिखा है—

“किंच यथा अभिधेयोऽर्थः तद्विशेषणं चोपात्तं तद्वदभिधाप्युपादानमर्हत्येव, अन्यथा यत्र दीपकादेरलंकारादलंकारान्तरस्योपमादेः प्रतीतिस्तत्र ध्वनित्वमिदं न स्यात्, तत्संलक्षणेनाव्याप्तेः। अलंकाराणां चाभिधात्मत्वमुपगतं तेषां भङ्गाभणिति-भेदरूपत्वात्” [ हिन्दीव्यक्तिविवेक पृष्ठ २२ ]

व्यक्तिविवेक के टीकाकार जो अलंकारसर्वस्वकार से अभिन्न हैं ने इस प्रकरण पर भी अलंकारों की अभिधानक्षता पर व्यञ्जनावारी की ओर से आक्षेप किया है। हमने चौखम्भा से प्रकाशित अपने हिन्दीव्यक्तिविवेक में यह अंश भलीभाँति स्पष्ट कर दिया है। उसे वहाँ से देख लेना चाहिए।

### विमर्शिनी

अलंकारा इति। तेनोक्त इति शेषः। एवकारश्चिरंतनोक्तध्वनिप्रकारविशेषव्यवच्छेदकः। सत्वर्षाति। सद्यपि प्रतीयमानमनादृत्येत्यर्थः। व्यापाररूपेति वक्रत्वभावेत्यर्थः। भणितिरित्युक्तिः। क्वीति। तत्रैव कविः संरब्ध इत्यर्थः। तत्संरम्भमन्तरेण हि वक्रोक्तिरेव न स्यात्। ननु च प्रतीयमानस्यानादरः किमभावमुखेनान्यथा वा कृत इत्याशङ्क्याह—उपचारत्यादि। उपचारवक्रतादीनामेव मध्ये ध्वनिरन्तर्भूत इति तात्पर्यार्थः। यदाह—

‘यत्र दूरान्तरेऽन्यस्मात्सामान्यमुपचर्यते। लेशेनापि भवेत्कर्तुं किंचिदुद्विक्तमुत्तिताम् ॥  
यन्नृणां सरसोरलेखा रूपकादिरलंकृतिः। उपचारप्रधानासौ वक्रता काचिदिष्यते ॥’ इति।

एतामेवोदाजहार च—

‘गअणं च मत्तमेहं धारालुलिअज्जुणाइं अ वणाइं।

निरहंकारमिअङ्को हरन्ति नीलाओं अ णिसाओ ॥’

अत्र मदनिरहंकारत्वे औपचारिके इत्युपचारवक्रता। आदिपदेन क्रियावक्रतादीनामपि ग्रहणम्। एवं सर्वोऽपि ध्वनिप्रपञ्चो वक्रोक्तिभिरेव स्वीकृतः सम्स्थित एव। यदि परं तस्य प्राधान्यमेव नास्तीत्याह—केवलमित्यादि। तदीयमिति। वक्रोक्तिजीवितकारसंघन्धीत्यर्थः। तदिदं लक्षणाभूलवक्रोक्तिमध्यान्तर्भावाद्भवनेरेव तत्वं प्रतिपादितम्।

अलंकार = वक्रोक्तिजीवितकार द्वारा प्रतिपादित अलंकार। “अलंकार अभिधारूप ही है” यहाँ “ही” शब्द द्वारा इसका खण्डन किया गया कि अलंकार भेदप्रभेदरूप से ध्वनि में अन्तर्भूत हो सकते हैं। सत्यपि अर्थात् भले ही तीनों ही प्रकारका प्रतीयमान अर्थ स्वीकार कर लिया तब भी कवि का आदर उसमें नहीं रहता है। व्यापाररूपा = वक्रत्वभावा। भणिति = उक्ति। कविसं० = अर्थ यह कि कवि मुख्यतः व्यापाररूप वक्रभणिति में ही प्रयत्नशील रहता है। क्योंकि कविसंरंभ के बिना कोई भी उक्ति वक्रोक्ति ही नहीं बन सकती ?

प्रश्न उठता है कि प्रतीयमान अर्थ का अनादर वक्रोक्तिकार ने किस प्रकार से किया है ? उसका अभाव मानकर अर्थात् और किसी प्रकार से ? इस पर उत्तर देते हुए लिखते हैं—उपचार आदि। इसका तात्पर्य यह कि ध्वनि को उपचारवक्रता आदि में ही अन्तर्भूत मान लिया है। जैसा कि वक्रोक्तिकार ने कहा है—“जहाँ (अन्य गुणों के कारण) अत्यन्त भिन्न (प्रस्तुत) पदार्थ में किसी भिन्न (अप्रस्तुत) पदार्थ का सामान्य (साधारण) धर्म भले ही वह बहुत ही छोटा क्यों न हो, इसलिये प्रतिपादित किया जाता है कि उस वर्गनीय प्रस्तुत पदार्थ में अतिशय आसके, उसे



उपचारवक्रता कदा जाता है। अत्यन्त सरस रूपकादि अल्कार का मूल यही उपचारवक्रता होती है।" [ १११३, १४ कारिका वक्रोक्तिजीविन ] और उदाहरण भी दिया है—

‘गगन च मत्तमेघ धारातुलितार्जुनानि च वनानि ।

निरहकारमृगाङ्गा हरन्ति नीलाश्र निशा ॥”

अर्थात् मत्त मेघों से युक्त आकाश, [ मेघमुक्त ] अलभाराओं से धुले अर्जुन वृक्षमाले वन, तथा अहंकारशून्य चन्द्रमावाली नीली निशाएँ भी चित्त आकृष्ट करता है।" [ गउडवह ] यहाँ मेघों में ‘मद’ और चन्द्रमा में “अहंकारशून्यता” उपचरित ( अर्थात् मेघ तथा चन्द्र में नशे में युक्त और हतप्रभ व्यक्तियों के मादृश्य के कारण प्रयुक्त ) है। अतः यहाँ उपचारवक्रता ( ई। आदि शब्द से क्रियावक्रता ) आदि भेद लिए जा सकते हैं ( क्रियावक्रता में भी कुन्तक ने ‘उपचारमनोशता-’ नामक भेद बनवाया है। ( द्रष्टव्य-वक्रोक्तिजीविन पृष्ठ २६६ विशेषर सरकरण ) इस प्रकार ध्वनि का सपूर्ण प्रपञ्च भिन्न-भिन्न वक्रोक्तियों के नाम से अपना लिया गया है, परन्तु उसका प्राधान्यमात्र स्वीकार नहीं किया गया है। इस तथ्य को कहने के लिए लिखा = “केवल” रन्यादि। तद्वीथ = अर्थात् वक्रोक्तिजीविनकार का। इस प्रकार कुन्तक ने बनवाया तो ध्वनि-रत्न ही किन्तु स्वतन्त्ररूप से नहीं अपितु लक्ष्यगामूलकवक्रोक्ति के भेदों में अन्तर्भूत करके।

**विमर्श**—विमर्शना के निर्णयसागर संस्करण में “मदनिरहकारत्वे औपचारिक दत्तुपचारवक्रतादीनामपि ग्रहणम्”—ऐसी पक्ति छपा है। यहाँ “उपचारवक्रता” के पश्चात् “आदिपदेन वक्रतादीनामपि ग्रहणम्” यह अश अवश्य ही रहा है। कदाचित् मुद्रण में छूट गया है। उपचारवक्रता के बाद कुन्तक ने “विशेषणवक्रता” का निरूपण किया है किन्तु उमें उपचार ( लक्षणा ) जान में नहीं आता। आगे क्रियावक्रता के “उपचारमनोशता” आदि भेदों में ही वह काम में आती है अतः हमने “वक्रतादीना” की पूर्ति ‘क्रियावक्रतादीना’ इस प्रकार कर दी है। इस विषय में सर्जाविनी से और प्रकाश नहीं मिलता।

### विमर्शनी

कैश्चिद्रूपस्य वागविषयत्वादलक्षणीयत्वमुक्तमिन्याह—भट्टनायकेत्यादि।

“कुल आचार्यों ने ध्वनि को वाणी का अविषय = अनिर्वचनीय और इसलिए अलक्षणीय कहा है” उम विषय को प्रस्तुत करने हुए कहते हैं—भट्टनायक आदि।

### [ सर्वस्व ]

भट्टनायकेन तु व्यङ्ग्यव्यापारस्य प्रौढोक्त्याभ्युपगतस्य काव्यांशत्वं द्रुवता न्यग्भावितशब्दार्थस्वरूपस्य व्यापारस्यैव प्राधान्यमुक्तम् । तत्राप्यभिधामावकत्वलक्षणव्यापारद्वयोत्तीर्णो रसचर्चणात्मा भोगापरपर्यायो व्यापारः प्राधान्येन विधान्तिस्थानतयाङ्गीकृतः ।

भट्टनायक ने न्यग्गव्यापार की स्वीकार तो किया है किन्तु उमका लक्षण नहीं किया और उने ( स्वरूपनः स्वीकार करके भी ) काव्य का अश ( ही ) बनवाया है, ( उन्हींने ) प्राधान्य माना है व्यापार का ही तथा शब्द और अर्थ दोनों को उस ( व्यापार ) की अपेक्षा युगाभूत और अप्रधान ( दबा हुआ ) बनवाया है। व्यापारों में भी ( इन्होंने ) अभिधा और भावकता नामक दो व्यापारों में उनके आगे जाने वाला भोगनामक रसचर्चणात्वरूप व्यापार ही प्रमुग्न रूप से हृदयविश्रान्तिकारो माना है।

विमर्शिनी

प्रौढोक्त्येति । न पुनर्लक्षणकरणेन । अत एवोक्तेः प्रौढत्वं यल्लक्षयितुमशक्यैस्तस्याप्यभ्युपगमः । काव्यांशत्वमिति न पुनः काव्यात्मत्वम् । यदाह—

‘ध्वनिर्नामापरो योऽपि व्यापारो व्यञ्जनात्मकः ।

तस्य सिद्धेऽपि भेदे स्यात्काव्यांशत्वं न रूपिता ॥’ इति ।

व्यापारत्वेति । कविकर्मणः । अन्यथा शब्दप्रधानेभ्यो वेदादिभ्योऽर्थप्रधानेभ्यश्चेति-हासादिभ्यः काव्यस्य वैलक्षण्यं न स्यात् । यदुक्तम्—

‘शब्दप्रधान्यमाश्रित्य तत्र शास्त्रं पृथग्विदुः ।

अर्थतत्त्वेन युक्तं तु तदन्त्याख्यानमेतयोः ॥

द्वयोरुणत्वे व्यापारप्राधान्ये काव्यधीर्भवेत् ॥’ इति ।

तत्रापीति । कविकर्मरूपस्य व्यापारस्य प्राधान्ये सत्यपीत्यर्थः । ‘अभिधा भावना चान्या तद्भोगीकृतिरेव च’ इति काव्यं तावत् व्यंशं तेनोक्तम् । तत्रापि—

‘अभिधाधामतां याते शब्दार्थालंङ्कृती ततः ।

भावनाभाव्य एषोऽपि शृङ्गारादिगणो मतः ॥’

इत्थंशब्दस्य विषयं प्रतिपाद्य ‘तद्भोगीकृतिरूपेण व्याप्यते सिद्धिमात्ररः’ इति तृतीयोऽंशः सहृदयगतस्तदंशद्वयचर्चणारम्भा ‘दृश्यमानाथवा मोक्षे चात्यङ्गत्वमियं स्फुटम्’ इत्युक्त्या परमह्लास्वादसविधवर्ती विश्रान्तिधामतयाभ्युपगतः । तदेवं यद्यपि

‘तात्पर्याशक्तिरभिधा लक्षणाजुसिती, द्विधा ।

अर्थापत्तिः क्वचित्त्रन्त्रं समासोक्त्याद्यलंङ्कृतिः ॥’

‘रसस्य कार्यता भोगो व्यापारान्तरवाधनम् ।

द्वादशोत्थं ध्वनेरस्य स्थिता विप्रतिपत्तयः ॥’ इति

नीत्या बहवो विप्रतिपत्तिप्रकाराः संभवन्ति, तथापि

‘काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्व-

स्तस्याभावं जगदुरपरे भाक्तमाहुस्तमन्ये ।

केचिद्वाचां स्थितमविषये तत्त्वमूढुस्तदीयम्’-

इत्युक्तनीत्यैव ध्वनेर्विप्रतिपत्तिप्रकारत्रयमिह प्राधान्येनोक्तम् ।

प्रौढोक्तिद्वारा, न किं लक्षणनिर्वचन के द्वारा । इसलिए उक्ति को प्रौढ कहा गया क्योंकि जिसका लक्षण नहीं किया जा सकता उसको भी तर्कार किया जा रहा है । काव्यांशत्व, काव्यात्मत्व नहीं । जैसा कि ( भट्टनायक ने ) कहा भी है—“ध्वनि नामक जो एक और व्यञ्जनात्मक व्यापार है, उसकी यदि ( अभिधा भावना, भोग-इन तीन व्यापारों से ) भिन्नता भी सिद्ध हो जाय तब भी उसे काव्य का एक अंश ही माना जाएगा, आत्मतत्त्व नहीं ।” व्यापारस्यैव के व्यापारशब्द का अर्थ है कविकर्म । वहीं तो शब्दप्रधान वेद आदि से तथा अर्थप्रधान पुराणआदि से काव्य की भिन्नता सिद्ध नहीं हो सकेगी, जैसा कि कहा है—“शास्त्र -( काव्यादि से ) भिन्न होता है क्योंकि उसमें शब्दकी प्रधानता रहती है । ( पुराण आदि ) आख्यानों में अर्थ की प्रधानता रहती है । ये दोनों ( शब्द और अर्थ ) काव्य तब कहलाते हैं जब ये दोनों अप्रधान रहते हैं और व्यापार प्रधान । तत्रापि उत्तमों भी अर्थात् व्यापार की प्रधानता रहने पर भी । भट्टनायक काव्य के तीन अंश माने हैं ( १ ) अभिधा ( २ ) भावना और ( ३ ) भोग । इनमें भी अभिधा का विषय

माना है शब्द और अर्थों के अलङ्कारों को तथा भावना का विषय माना है शृङ्गारदि के साधारणीकरण को। रस ( रस ) की भोगीकृति, भोग या भोजकत्व को सिद्धिमान् ( सहृदय ) जन के हृदय को व्याप्त कर देने वाला बतलाया है। इस प्रकार यह तृतीय व्यापार सहृदय में रहता है और हममें पूर्वोक्त ( अभिभा अर्थात् उसके विषय अलङ्कार तथा भावना अर्थात् उसका विषय साधारणीभूत विभागादि सामग्री ) दोनों भी प्रतीत होते हैं। यह ( भोगीकृति ) मोक्ष का भी अंग बनती देखी जाती है ( २ ) ।" इस प्रकार तृतीय व्यापार को ब्रह्मास्वादतुल्य माना गया है इसलिए कि हममें भी वैसे ही विश्राम मिलना है जैसा ब्रह्मास्वाद में।

इस प्रकार यद्यपि ( १ ) तात्पर्योक्ति ( २ ) अभिभा ( ३ ) लक्षणा ( ४-५ ) ( स्वार्थ और परार्थ दो प्रकार की ) अनुमिति ( ६-७ )-( धृत्तार्थापत्ति और अर्थापत्ति इस प्रकार ) दो प्रकार की अर्थापत्ति ( ८ ) तन्त्र ( अनेकार्थक शब्द प्रयोग ) ( ९ ) समामोक्ति आदि अलङ्कार ( १० ) रस की कार्यता ( ११ ) रस का भोग ( १२ ) ( व्यजनारत्य ) अलग व्यापार का बाध 'इस प्रकार ध्वनि पर बारह विप्रतिपत्तियाँ ह ।' इस कथन के अनुसार और भा विप्रतिपत्तियाँ उठार जा सकती हैं तथापि उपर्युक्त प्रसंग में केवल उन्हीं तीन विप्रतिपत्तिओं को प्रस्तुत किया गया है जो निम्नलिखित ध्वनिकाव्यिका में प्रस्तुत की हैं—“काव्यस्यात्मा” अर्थात् 'जिम ध्वनि को अनेक विद्वानों ने मिलकर काव्य की आत्मा ठहराया उसके विषय में कुछ लोग यह कथन सुने गए हैं कि वह 'है ही नहीं', कुछ लोग उसे लक्षणास्वरूप मानते सुने जा रहे हैं और यह कि वह कोर न कोर तत्र है तो अवश्य किन्तु वाणी से परे है ।' ये ही आपत्तियाँ वस्तुतः प्रधान हैं।

**विमर्श** —( १ ) भट्टनायक का मिथ्यात्व उन्हीं के शब्दों में यहाँ जितना प्रस्तुत किया गया है उतना लोचन और अभिनवभारती में भी नही। इस प्रसंग में "दृश्यमानाथवा मोक्षे" का अभिप्राय पूर्वप्रसंग के बिना स्पष्ट है। भोगीकृति का देखा जाना और तब हमका मोक्ष में अंग बनाना विचित्र ही स्थापना है। लोचन और अभिनवभारती में यह अंग उद्धृत नहीं है। सजीविनी टीका में इस पूरे ही प्रसंग पर कोर विस्तृत विचार नही है। 'भोगीकृति'—भी यदि कर्मकारिणी के परमेश्वर का या सविद्धमष्टारिका की कोर कला है तो उसका दर्शन स्पर्शरूप या परामर्शरूप होगा तब दृश्यमाना की अपेक्षा 'दृश्यमाना' शब्द अधिक उपयुक्त होगा। मोक्ष का अर्थ यहाँ विद्वान् रूप समाधारणत्व में छुटकारा नहीं किया जा सकता क्योंकि असाधारणत्व के निराकरण अर्थात् साधारणकरण में अंग अर्थात् कारण माना गया है भावनाव्यापार, भोगव्यापार नहीं। अंग शब्द का अर्थ अंश किया जाय तो भावना ही भोग का अंग मानी गयी है, भावना का भाग नहीं। मोक्ष का अर्थ चतुर्थपुरुषार्थ मुक्ति ही यहाँ अभिप्रेत है यह तन्त्र ब्रह्मास्वाद की चर्चा से भी पुष्ट होता है।

( २ ) यहाँ जो बारह आपत्तियाँ ध्वनि के विषय में उठार गये हैं वे साहित्यशास्त्र में प्रायः प्रसिद्ध हैं। तात्पर्योक्ति दशरूपक ४-प्रकाश, काव्यप्रकाश ५-उद्ध्वाम और लोचन में चर्चित हैं, अभिभा और लक्षणा ध्वन्यालोक १-३ उद्योत, काव्यप्रकाश-२,५ उल्लाम, साहित्यदर्पण आदि में, अनुमिति और अर्थापत्ति व्यक्तित्वविवेक, ध्वन्यालोक, काव्यप्रकाश आदि में तन्त्र और अलङ्कार उद्ध, कुल्ल आदि के ग्रन्थों में और रस की कार्यता लोहट के रसोत्पत्तिवादप्रसंग प्रस्तुत करने वाले लोचन, अभिनवभारती, काव्यप्रकाश, साहित्यदर्पण आदि ग्रन्थों में, तथा भोग—रसमीमांसा वाले सभी ग्रन्थों में। भट्टनायक के मत के निरूपण में व्यजना का पृथक् शब्दव्यापार न माना जाना उक्त सभी आपत्तियों का मूल है। यहाँ तन्त्र शब्द से शब्दालंकार और समासोक्ति आदि अर्थालंकार में ध्वनि के अन्नमात्र का स्पष्ट है। इन्हीं अर्थ अनेकार्थक शब्दों का बदलना

संभव न हो शब्दालंकार माना जाता है। शब्दशक्ति मूलक ध्वनि का उसी में अन्तर्भाव दिखलाया जा सकता है।

यद्यपि उक्त सभी आपत्तियाँ सुविदित हैं तथापि द्वादश दोष प्रस्तुत करने वाली "तात्पर्या शक्तिः" इत्यादि कारिका पहिली बार यहाँ विमर्शिनी में ही मिली है अतः यह किसकी है यह विचारणीय है। महिमभट्ट ने व्यक्तिविवेक में ध्वनि पर जो दस दोष दिखलाएँ हैं उनकी संग्रह-कारिकाओं से यह कारिका सर्वथा भिन्न है। लोचन और अभिनवभारती में यह कारिका हमें नहीं मिली। संभवतः यह भी भट्टनायक की ही हो। भट्टनायक का हृदयदर्पण या उसके अधिकांश संभवतः विमर्शिनीकार को उपलब्ध रहे।

### विमर्शिनी

एवमिदानीमेतद्विप्रतिपत्तिप्रकारत्रयं निराकुर्वन् ध्वनेरेव काव्यात्मत्वं साधयति—ध्वनि-कार इत्यादिना।

इस प्रकार उक्त तीनों विप्रतिपत्तियों का निराकरण करते हुए एवं ध्वनि को ही काव्य की आत्मा सिद्ध करते हुए लिखते हैं—ध्वनिकार इत्यादि—

### [ सर्वस्व ]

ध्वनिकारः पुनरभिवातात्पर्यलक्षणाख्यव्यापारत्रयोत्तीर्णस्य ध्वनन-द्योतनादिशब्दाभिधेयस्य व्यञ्जनव्यापारस्यावश्याभ्युपगम्यत्वाद् व्यापारस्य च वाक्यार्थत्वाभावाद् वाक्यार्थस्यैव च व्यङ्ग्यरूपस्य गुणालंकारोपस्कर्त-व्यत्वेन प्राधान्याद् विश्रान्तिवामत्वादात्मत्वं सिद्धान्तितवान्।

व्यापारस्य विषयमुखेन स्वरूपप्रतिलम्भात् तत्प्राधान्येन प्राधान्यात् स्वरूपेण विचार्यत्वाभावाद् विषयस्यैव समग्रभरसहिष्णुत्वम्। तस्माद् विषय एव व्यङ्ग्यनामा जीवितत्वेन वक्तव्यः, यस्य गुणालंकारकृतचारुत्व-परिग्रहसाम्राज्यम्। रसादयस्तु जीवितभूता नालंकारत्वेन वाच्याः। अलंकाराणामुपस्कारकत्वाद्, रसादीनां च प्राधान्येनोपस्कार्यत्वात्। तस्माद् व्यङ्ग्य एव वाक्यार्थभूतः काव्यजीवितमित्येव एव पक्षो वाक्यार्थविदां सहृदयानामावर्जकः। व्यञ्जनव्यापारस्य सर्वैरनपह्नुतत्वात् तदाश्रयेण च पक्षान्तरस्याप्रतिष्ठानात्।

इन सब मतों के विरुद्ध ध्वनिकार ( आनन्दवर्धनाचार्य ) ने यह सिद्धान्त स्थापित किया है कि काव्य का वाक्यार्थ ( अन्तिम अतः तात्पर्यविषयीभूत प्रधान अर्थ ) व्यंग्यरूप अर्थ ही है क्योंकि उसी में विधान्ति ( जिज्ञासा की शान्ति ) होती है और गुण तथा अलंकार उसी अर्थ की शोभा देते हैं अतः वही अर्थ प्रधान और ( काव्य का ) आत्मभूत अर्थ होता है। ( इस अर्थ को उन्होंने व्यंग्य इसलिए कहा है कि इसकी प्रतीति अभिवा, तात्पर्य और लक्षणा नामक तीनों व्यापारों से नहीं हो पाती, उसके लिए इन तीनों के वाद काम में आने वाला और ध्वनन, द्योतन आदि शब्दों से पुकारा जाने वाला व्यञ्जनानामक एक अतिरिक्त व्यापार मानना पड़ता है, क्योंकि व्यञ्जना एक व्यापार है और व्यापार वाक्यार्थ नहीं हो सकता ( वह अर्थप्रतीति का साधनमात्र है ) अतः उसके अर्थ व्यंग्य को ही वाक्यार्थ और प्रधान माना जाता है।

( और यह ठीक भी है क्योंकि ) व्यापार को व्यापारता नहीं प्राप्त होती है जब वह अपने विषय को निष्पन्न करता है अतएव उम ( व्यापार ) में प्रधानता भी उस ( विषय ) की प्रधानता के कारण ( उपचार द्वारा ) आती है। इस प्रकार क्योंकि व्यापार का विचार ( विषयान्तर-पेशनया ) केवल व्यापाररूप से नहीं किया जा सकता ( विषयमापेशनया ही किया जा सकता है ) अतः ( विचार का ) भ्रमस्त मार केवल विषय ही उठा सकता है। इमलिष ( व्यञ्जनाव्यापार नहीं अपितु उसका ) व्यञ्जनात्मक विषय ही ( काव्य का ) जीविन ( प्रधानत्व ) कहा जाना चाहिए और ( पूर्वाचार्यों द्वारा काव्यात्मरूप से सिद्धान्तिन ) गुण तथा अलङ्कार जो शोभा उत्पन्न करते हैं उसकी प्राप्ति का पक्षच्छत्र अधिकार भी उन्हीं ( विषयवत् व्यङ्ग्यार्थ ) की है। व्यङ्ग्यार्थ रमादिस्वरूप होता है अतः ( जो अर्थ रमादिरूप में ( काव्य की ) आत्मा है ( वह तो जलकाय है ) उसे जलकाय नहीं कहा जा सकता। क्योंकि अलङ्कार का धर्म है शोभा बढ़ाना और रमादि का धर्म है शोभित होना, क्योंकि वे प्रधान हैं। इमलिष वान्यार्थ को ममजाने वाले महदर्थों को यही पक्ष रचना है कि “( स्वयं व्यञ्जना नहीं अपितु ) व्यञ्जना द्वारा प्रतिपाद्य ( व्यङ्ग्य ) अर्थ ही ( काव्यवाक्य का ) प्रधान प्रतिपाद्य अर्थ है और वही काव्य की आत्मा है।” ( व्यञ्जनाविरोधी ) मक्के मक् ( आचार्य ) व्यञ्जना का सण्टन नहीं कर सके और उम ( व्यञ्जना ) के आधार पर दूसरा कोई पक्ष प्रतिष्ठित नहीं हो सकता ( अर्थात् व्यापार का नाम यदि व्यञ्जना है तो तत्प्रतिपाद्य अर्थ को व्यङ्ग्य में भिन्न कुछ नहीं कहा जा सकता )।

### विमर्शिनी

समयापेक्षार्थावगमशक्तिरभिधा । सामान्यानां परस्परान्त्रितत्वेन त्रिशोषार्थान्वाधान-  
शक्तिस्तात्पर्यम् । मुख्यार्थवाधादिमहकार्यपेक्षार्थप्रतिभासनशक्तिर्लक्षणम् । एतद्व्यापार-  
प्रयादुत्तीर्णस्य तदतिरिक्तस्वैत्यर्थः । तथा च 'गङ्गाया घोषः' इत्यत्र गङ्गाशब्दो घोष-  
शब्दश्च सामान्यात्मके जलप्रवाहे गृहनिर्करम्बे च संकेतितौ । सामान्य एवोद्योगात् ।  
त्रिशोषस्य हि संकेतकरणे आनन्दं व्यभिचारश्च स्यात् । ततश्चाभिधया जलप्रवाहमात्रं  
गृहनिर्करम्बमात्रं च प्रतीतमित्येका कथया । एतत्प्रतिपाद्यान्यप्रतिपादनायाप्यभिधा न  
समर्था । 'विशेष्य नाभिधा गच्छेत् क्षीणशक्तिर्विशेषणे' इत्याद्युक्तयुक्त्या तस्या विरम्य  
व्यापारासभवात् । 'सामान्यान्यन्यथासिद्धेर्विशेषं गमयन्ति हि' इति न्यायात्तात्पर्य-  
शान्त्या सामान्यान्याधाराधेयभावेनावस्थितं विशिष्टं गङ्गाघोषायागूर्यमतीति तात्पर्येण  
परस्परान्त्रितत्वमात्रमेव प्रतीयत इति द्वितीया । जलप्रवाहस्य च घोषाधिकरणत्वमयुक्त-  
मिति प्रमाणान्तरवाधितम् । मन् गङ्गाशब्दस्नदधिकरणयोग्यं तद लक्षयतीति तृतीया ।  
तत्र तावत्

‘मुख्यार्थवाधे तद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात् ।

अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत् सा लक्ष्याऽऽरोपिता क्रिया ॥’ इति

नीत्या लक्ष्या त्रितयसंनिधावेव भरति । तत्र मुख्यार्थवाधा 'तावत्प्रत्यक्षादिप्रमाणान्-  
न्तरमूला । यश्च सामीप्यादिसंबन्धः स च प्रमाणान्तरावगम्य एव । यद्युनरिद घोषस्य  
शैत्यपावनत्वादिलक्षणं प्रयोजनं प्रतीयते तच्छब्दान्तरानुक्तं प्रमाणान्तराप्रतिपन्नं च  
कुन भागतम् । न तावत्प्रत्यक्षादेव तत्प्रतीतिः, अस्मादेव शब्दादवगमामिद्धे- । दादार्थं  
च तस्याप्रवृत्ते । नाप्यनुमानात् । सामीप्येऽपि शैत्यपावनत्वादेरसंभवादनैकान्तिक-  
त्वात् । न स्मृतिः । तदनुभवभावात् । सत्यामपि वा तस्या नियतस्मरणं न स्यात् ।  
अस्मादेव च शब्दादेतदेव बुध्यत इति को हेतुः । तस्मादस्यैव शब्दस्यैव व्यापारोऽ-

भ्युपगन्तव्यः । निर्व्यापारस्वार्थप्रतीतिवार्त्तिवाभावात् । स तावच्चाभिधात्मा । समयाभावात् । न तात्पर्यतात्मा । तस्यान्वयप्रतीतावेव परिचयात् । न लक्षणात्मा । मुख्यार्थवाधावाभावात् । तस्माद्भिधातात्पर्यलक्षणाव्यक्तिरिक्तश्चतुर्थकक्ष्यानित्तिसो व्यङ्ग्यनिष्ठो व्यञ्जनाव्यापारोऽभिहितान्वयवादितावश्याभ्युपगन्तव्यः । अन्विताभिधानवादिनापि यत्परः शब्दः स शब्दार्थ इति शरवदभिधाव्यापारमेव दीर्घदीर्घनिच्छ्रुतापि नैमित्तिकार्थानुसारेण निमित्तानि कल्पन्त इति निमित्तपरिकल्पनेऽपि समप्रवेद्य प्रक्रियानुसरणीयैवेत्युभयथापि सिद्ध एव व्यञ्जनव्यापारः । एतच्च गहनगहनमिति मनागेव सिद्धरसभ्यायेनेहोक्तम् ।

जो शक्ति [ इस शब्द से यह अर्थ विदित हो ऐसे ] संकेत के संघे अर्थ का ज्ञान कराता है उसे अभिधा कहा जाता है । सामान्य ( स्वस्व- ) रूप से ( अलग-अलग ) उपरिधत अर्थों का ( कर्तृकर्तृत्वादिरूप से ) परस्पर अन्वित स्थिति में विशेष ( कर्तृत्वादि की आश्रयता आदि रूप ) अर्थ का ज्ञान कराते वाला शक्ति तात्पर्य कहलाता है । लक्षणा वह शक्ति है जो मुख्य अर्थ के बोध आदि सहकारी कारणों के आधार पर अर्थ का ज्ञान कराती है । इन तीनों से उत्तीर्ण अर्थात् तीनों से भिन्न । उदाहरणार्थ जैसे “गंगा पर घोष” यह वाक्य । इसमें गंगाशब्द और घोषशब्द क्रमशः सामान्य ( अर्थवद ) जल प्रवाह और गृहसमुदाय रूपी अर्थों में संकेतित हैं, क्योंकि शब्द को प्रवृत्ति सामान्य अर्थ की ही ओर होती है । यदि विशेष ( संबद्ध ) अर्थ में संकेत माना जाव तो अनन्त संकेत मानने होंगे ( क्योंकि संबन्ध अनन्त होते हैं ) और उतने संकेत मानने पर भां कुछ ( नष्ट, दूरस्थ और अनुत्पन्न ) अर्थ अविदित ही रह जावेंगे ( क्योंकि संकेत केवल सामने विद्यमान अर्थ में ही किया जा सकता है ) । इस प्रकार अभिधा के द्वारा केवल जलप्रवाह और गृहसमुदाय का ज्ञान हुआ । यह हुई ज्ञान की प्रथम कक्षा । अभिधा इतना अर्थ बतलाकर और कोई अर्थ नहीं बतला सकती । “अभिधा यदि विशेषण का ज्ञान करा देता है तो फिर वह विशेष्य का ज्ञान नहीं करा पाती क्योंकि ( वह एक व्यापार है अतः ) इसके एक बार रुक जाने के बाद उसको पुनः प्रवृत्ति संभव नहीं !” सामान्य विशेष से रहित नहीं रहते अतः वे विशेष का ज्ञान कराते ही हैं !” यह एक माना हुआ सिद्धान्त है । इसके आधार पर ( अर्थवद और ) साधारणरूप से उपस्थित गंगा और घोष आदि तात्पर्यशक्ति के द्वारा परस्पर में संबद्ध गंगा और घोष आदि का ज्ञान कराते हैं । यह हुई ( संबद्ध अर्थों के ज्ञान की ) दूसरी कक्षा, किन्तु ( गंगा का अर्थ ) जल-प्रवाह घोष का आधार बन नहीं सकता, वह प्रत्यक्षप्रमाण से वाचित है, इसलिये गंगाशब्द ( घोष ) के अधिकरण बनने योग्य तदरूपी अर्थ को लक्षणा द्वारा प्रस्तुत कराता है, यह हुई तीसरी कक्षा इनमें जो लक्षणा है वह “मुख्यार्थवाच, मुख्यार्थसंबन्ध तथा रूढि और प्रयोजन में से कोई एक, इस प्रकार तीन की सहायता से जो शक्ति दूसरे अर्थ का ज्ञान कराती है उसे लक्षणा कहा जाता है वह वस्तुतः है तो मुख्यार्थ का व्यापार किन्तु माना जाता है मुख्यार्थवाचक शब्द में” ( काव्यप्रकाश. २ उ० ) । इस नियम के अनुसार मुख्यार्थवाधादि तीनों के जुटने पर ही अर्थज्ञान कराती है । इन तीनों में जो मुख्यार्थवाध है वह शब्दप्रमाण से भिन्न प्रत्यक्षप्रमाण से प्राप्त है । इसी प्रकार ( गंगाप्रवाह और तट आदि का सामीप्यादि संबन्ध भी प्रत्यक्षादि प्रमाणान्तरों से ही जान लिया जाता है । किन्तु वह जो ( गंगागत ) शैत्यपावनत्व की घोष में प्रतीति होती है वह न तो किसी शब्द से ही कही जा रही है और न किसी अन्य प्रमाण से ही जाना जा सकता, अतः प्रश्न उठता है कि उसकी प्रतीति कैसे होती है । प्रत्यक्ष से ही उसकी प्रतीति नहीं मानी जा सकती ! क्योंकि यह नहीं माना जा सकेगा कि [ गंगा आदि ] से ही उसकी

प्रतीति हो रही है [ जो कि अनुभव सिद्ध है ]। साथ ही प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति शब्द प्रमाण से विदित होने वाले अर्थ में नहीं होती ( क्योंकि शब्दप्रमाण से तभी अर्थज्ञान कराया जाता है जब वह अन्य किमी प्रमाण से समब नहीं होता = अनन्यलभ्यो हि शब्दार्थ )। उसकी प्रतीति अनुमान से भी नहीं होती क्योंकि गगाप्रवाह का तट से या घोष से जो सवन्ध है वह सामीप्यरूपी सदन्य है और सामीप्यसवन्ध ने गगाप्रवाहगत शैत्यपावनत्व या तट या घोष में पहुचना सम्य नहीं, अतः तट, घोष और शैत्यपावनत्वादि में एकात्मिकता ( व्याप्तिसवन्ध ) नहीं है ( फलतः अनुमान से शैत्यपावनत्वादि की प्रतीति समब नहीं ) घोष में शैत्यपावनत्वादि का स्मृति रूप ज्ञान भी नहीं है क्योंकि ( स्मृति अनुभूतपदार्थ की होती है और सुनने वाले व्यक्ति को घोष में ) उस शैत्यपावनत्व ) का अनुभव नहीं रहता । यदि शैत्यपावनत्वादि का ज्ञान स्मृतिरूप भी होता तो कभी-कभी ऐसा भी होता है कि गगादिशब्दों को सुनने से शैत्यपावनत्वादि का ज्ञान कभी नहीं भी होता ( क्योंकि स्मृति सदा हो ही ऐसा नहीं, वह कभी नहीं भी होती, जब कि शैत्यपावनत्वादि की प्रतीति नियमत होती ही है ) फिर यह क्या बात है कि किमी शब्द से कोई ही अर्थ विदित होता है ( अर्थात् गगाशब्द से शैत्यपावनत्व ही और 'कुन्ना प्रविशन्ति'—में कुन्तशब्द से पुष्प में तीक्ष्णत्व ही )। इसलिये यही मानना उचित है कि शैत्यपावनत्वादिप्रयोजनीभूत अर्थ के ज्ञान में गगादिशब्द ही कारण हैं और उन्हीं के किमी व्यापार से उस अर्थ का ज्ञान होता है क्योंकि शब्द बिना व्यापार के अर्थ का ज्ञान नहीं करा पाता । ( जहाँ तक उम व्यापार का सवन्ध है ) वह अभिधा नहीं कहा जा सकता क्योंकि ( गगादि ) शब्द का उम ( शैत्यादि ) अर्थ में सकल नहीं रहता, न वह तात्पर्यरूप है क्योंकि तात्पर्य केवल पदार्थमन्वन्ध का ज्ञान कराना और उतने में ही समाप्त हो जाता है ( आगे नहीं बढ़ता )। न वह व्यापार लक्ष्यरूप ही है क्योंकि इस अर्थ-ज्ञान में ( लक्षणा के हेतु ) मुख्यार्थबाधादि नहीं होने। इमलिय ( प्रयोजनस्वरूप यह अर्थ व्यग्य होता है और ) अभिधा, तात्पर्य और लक्षणा से भिन्न चतुर्थ वक्ष्या में अवस्थित ( इस ) व्यग्य अर्थ की प्रतीति कराने वाला व्यञ्जनानामक व्यापार अभिहितान्वयवादी को जवदय ही मानना पटना है [ उक्त क्रम के अनुसार जो पहले वाक्य के प्रत्येक शब्द से अभिधा द्वारा उमके अमवद्ध अर्थ का ज्ञान मानता है और बाद में तात्पर्यद्वारा उन सब अर्थों का सवन्ध ]। जो अन्विताभिधानवादी है ( अर्थात् पदार्थों का सवन्ध पहले और उनमें से प्रत्येक का अभिधा द्वारा ज्ञान बाद में मानता है अर्थात् जिमके मन में परस्पर सबद अर्थों में ही अभिधा होती है फलतः जो वाक्य में अभिधा मानता और वाक्यार्थ को वाच्य अर्थ मानता है ) उसे भी अभिहितान्वयवादियों के स्पष्टन में प्रस्तुत मारा आपत्तियाँ स्वीकार करनी होंगी, ( उनका उत्तर उसके पाम भी नहीं है, फलतः उमे भी व्यञ्जनानामक अतिरिक्त शब्दव्यापार मानना पड़ेगा । क्योंकि वह यह सिद्धान्त स्वीकार करता है कि अन्तिम अर्थ तक शब्द की ( अभिधा श्लेषवसी नहीं, अपिमु विवक्षित अर्थ की प्रतीति के क्षण तक प्रवृत्त रहती है और वह इष्टान्त देता है ( किमी वन्धान् व्यक्ति के द्वारा शब्द पर छोड़े गए उस ) वाण का ( जो अपनी एक ही गति में शब्द के कवच का भेद, त्वचा का विदारण, हृदय का छेदन और प्राणों का हरण, ये सब कार्य करता है । उमे उपर्युक्त आपत्तियाँ इमलिय स्वीकार करनी होंगी कि वह यह मानता है कि ) "नैमित्तिक के अनुमार निमित्त की कल्पना की जाती है" ( यहाँ नैमित्तिक है शैत्यपावनत्वादि का ज्ञान, उसकी प्रतीति निश्चित ही गगा शब्द से होती है और गगा शब्द तात्पर्य या अभिधा, किमी भी अन्य व्यापार के द्वारा उपर्युक्त कठिनाइयों के कारण उस शैत्यादि प्रयोजन का ज्ञान नहीं करा सकता फलतः उसे तदर्थ व्यञ्जना ही स्वीकार करनी पटती है । ) इस प्रकार अभिहितान्वय की प्रक्रिया से शब्दबोध

माना जाने वा अन्विताभिधान की प्रक्रिया से, लक्षणा में प्रयोजनज्ञान के लिए व्यञ्जनाच्चापार मानना ही पड़ता है। यह विषय ( अर्थात् व्यञ्जना की सिद्धि ) अत्यन्त ही गहन और गंभीर है— ठीक वैसे ही जैसे ( आयुर्वेद में पारद आदि को मूर्च्छित कर उसका ) रस बनाना ( किन्तु जैसे कोई किसी अन्य के द्वारा बना बनाया रस किसी के लिए सुलभ करदे उसी प्रकार हमने भी यहाँ सरलता के साथ व्यञ्जनासिद्धि की प्रक्रिया प्रस्तुत कर दी है, क्योंकि ध्वनिवादो आचार्यों (आनन्द-वर्द्धन, अभिनवगुप्त और मम्मट ) ने इस विषय को पर्याप्त स्पष्ट कर दिया है।

विमर्शः—इस संपूर्ण प्रकरण के लिए कान्यप्रकाश के द्वितीय तथा पंचम उद्घास देख लेने चाहिए। हमने इन्हीं के आधार पर कोष्ठक में स्पर्धाकरण कर दिया है।

### विमर्शिनी

आदिशब्दाप्रत्यायनावगमनादीनामपि ग्रहणम् । अवश्येति । तेन विना व्यङ्ग्यस्यार्थ-स्यासंग्रहणात् । व्यापारस्येति । व्यञ्जनात्मिकायाः क्रियाया इत्यर्थः । सा खलु साध्यमान-त्वेन पूर्वापरीभृतावयवत्वात् स्वरूपेणोपलभ्यत इति विचारपदवीमेव स्वयमुपारोहं नोत्सहति इति कथं नाम तस्या वाक्यार्थत्वं स्यादिति भावः । यद् ब्रूयति—'व्यापारस्य विषयमुखेन स्वरूपप्रतिलम्भात् तत्प्राधान्येन प्राधान्यात्स्वरूपेण विचार्यत्वाभावाद् विषय-स्यैव समग्रभरसहिष्णुत्वम्' इति । उपस्तर्तव्यत्वेनेति । तत्परतयावस्थानेनेत्यर्थः । यदुक्तम्—

'वाच्यवाचकचारुबहेतूनां विधिधात्मनाम् ।

रसादिपरता यत्र स ध्वनेर्विषयो मतः ॥' इति ।

अत एव विश्राणितधामरवादिषुक्तम् । आत्मत्वमिति । सारभूतत्वमित्यर्थः । अतश्च तेन विना कान्यं कान्यमेव न स्यादिति तात्पर्यम् । नहि निर्जीवं शरीरं क्वाप्युपयुक्तम् । ननु यद्येवं तर्हि 'शङ्कायां घोषः' इत्यत्रापि व्यङ्ग्यस्य सद्भावात् काव्यत्वं प्रसज्यते । नैतत् । इह यद्द्विधात्मनो व्यापकत्वाच्छरीरे घटादौ वर्तमानत्वेऽपि करणादिविशिष्टे शरीरे एव जीवव्यवहारो न घटादौ, तद्द्वयस्यापि विविधगुणालंकारोचित्यचारुशब्दार्थशरीरगतत्वेनै-वात्मत्वव्यवहारो नान्यत्रेति न कश्चिद्घोषः । ननु च सर्वत्र क्रियाया एव प्राधान्यं प्रसिद्धम् , इह पुनर्विषयस्योक्तमिति किमेतदित्याशङ्क्याह—व्यापारत्वेत्यादि । विषयमुखेनेति । यथा ह्योदनादेर्विक्रित्यादिमुखेन पाकादेः क्रियायाः स्वरूपोपलम्भः । तत्प्राधान्येनेति । विषयप्रधानत्वेनेत्यर्थः । तेन व्यापारस्य प्राधान्यमुपचरितमिति भावः । स्वरूपेणेति । स्वरूपं हि तस्य साध्यमानत्वाद् विचारयितुमशक्यम् । सिद्धस्य हि विचारो भवतीति भावः । एवकारो व्यञ्जनव्यापारव्यवच्छेदकः । समग्रेति । समग्रस्य भरस्यात्मेति व्यवहारादेः संहनशीलत्वमित्यर्थः । एतदेवोपसंहरति—तस्मादित्वादिना । यत्वेति । व्यङ्ग्य-नात्मनो रसाधात्मनो विषयस्य । गुणालंकारकृतचारुत्वेति । गुणानां-

'ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः ।

उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः ॥' [ का० प्र० ८ ]

इत्यादिनीत्या साक्षादेव तद्धर्मत्वात् । अलंकाराणामपि—

'उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचिद् ।

हारादिवदलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादयः ॥' [ का० प्र० ८ ]

इत्यादिनीत्या शब्दार्थलक्षणाज्ञातिशयद्वारेण तदुपस्कारकत्वात् । अलंकाराणां च रसादिरूपं व्यङ्ग्यमर्थमलंकुर्वतां मुख्यया वृत्त्यालंकारत्वम्, अलंकार्यसद्भावनिबन्धन-



त्वात् तस्य, रसाद्यात्मन एव च व्यङ्ग्यस्यालङ्कार्यत्वेन प्रतिष्ठानात् । अत एव च यत्र स्फुट-  
व्यङ्ग्यार्थरहितत्वं तत्र 'गुणवृत्त्या पुनस्तेषां वृत्ति शब्दार्थयोर्मता' [का०प्र०८] इत्यादिनीत्या  
शब्दार्थमात्रनिबन्धनत्वेनोक्तिर्वचिन्यमात्रपर्यवसितत्वाटेपा गौणमलंकारत्वम् । यद्भि-  
प्रत्येणैव च चित्रारथकाव्यभेदप्रकारत्वमलंकाराणां निरूपयिष्यते । अत एवानुप्रासादयो-  
ऽलंकाराश्चित्रमित्याद्यन्यैरुक्तम् । स च प्रतीयमानोऽर्थो यद्यपि वस्त्वलङ्काररसत्वेन त्रिविधः,  
तथापि [ तेन विना काव्यात्मत्वाभावात् ] मुख्यत्वेन रसस्यैवात्मन्व युक्तम् । अतश्च  
वस्त्वलङ्कारयोर्दलंकारपक्षनिहितत्वमन्यैरुक्तं न चावदास्ताम्, काव्यात्मनो रसस्य  
पुनरलंकारत्वमत्यन्तमेवावाच्यमिग्याह—रमादय इत्यादि । आदिप्रहणाद् भावतदाभासा-  
दीनां प्रहणम् । न वाच्या इति । चक्रतुमयुक्ता एवेत्यर्थः । अलङ्कार्यस्यालङ्कारत्वानुपपत्तेः ।  
तस्य चालंकारत्वकथनेऽलङ्कार्यान्तरं प्रसज्यते । तेन त्रिनालंकाराणामनुपपत्तेः । एतद्वो-  
पमंहरति—तस्मादित्यादिना । व्यङ्ग्य इति रसादिरूपः । तस्यैवोपक्रान्तरत्वात् । वाक्यार्थीभूत  
इति । अवाक्यार्थीभूतस्तु रसादिरलङ्कारोऽपि स्यात् । यदुक्तम्—

‘प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थं यत्राह तु रमादयः ।

काव्ये तस्मिन्नलंकारो रसादिरिति मे मतिः ॥’ इति ।

एतच्च रसवदावलङ्कारप्रस्ताव एव निर्णेष्याम । इतिशब्दः प्रमेयपरिसमाप्ती ।  
एतदेव युक्तमिग्याह—एव एवेत्यादि । सुर्वरिति । अवाक्यार्थविद्धिरसद्वदयप्रार्थरित्यर्थः ।  
पञ्चान्तरमेति । तत्र तावद्वाच्यनाचक्रमात्राश्रयिणामलंकाराणां मध्ये व्यङ्ग्यव्यञ्जनभाव-  
समाश्रयेण व्यवस्थितत्वाद्स्यान्नर्भावो न युक्तः । यदुक्तम्—

व्यङ्ग्यव्यञ्जकसवन्धनिबन्धनतया ध्वने ।

वाच्यवाचकचाल्वहेत्वन्तःपनिता कुतः ॥’ इति ।

लक्षणायामप्यस्यान्तर्भावो न युक्तः । तदसद्भावेऽस्य सद्भावात् तत्सद्भावे चास्यासद्भा-  
वात् । यदुक्तम्—‘अतिव्याप्तेरथाव्याप्तेर्न चामी लघयते तथा’ इति । नाप्यस्यालक्षणीयत्वं  
युक्तम्—

‘यत्रार्थं शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतप्रार्थो ।

व्यङ्क्तं काव्यविशेषं स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः ॥’ इति ।

तदित्यमेतद्विप्रतिपत्तित्रयस्याप्रतिष्ठानमुपपादितम् ।

(‘ध्वननञ्चोतनादि०’ में जाए) आदि शब्द से प्रत्ययायन, अङ्गमन आदि नाम लिए जा  
सकते हैं । अवश्य अर्थात् व्यञ्जनव्यापार के बिना व्यङ्ग्य अर्थ का ज्ञान सम्भव नहीं । व्यापार  
( व्यापार प्रभन नहीं हो सकता अर्थात् ) व्यञ्जनारूप जो क्रिया है ( वह प्रधान नहीं हो सकता ) ।  
क्योंकि क्रिया का अर्थ यहा मान्यमान क्रिया है ( पाकशब्दादिप्रतिपाद्य सिद्धक्रिया नहीं ) और  
साव्य क्रिया एक के बाद एक करके अनेक भ्रमयव होते हैं ( जैसे पचन क्रिया में ( १ ) आग  
जलाना ( २ ) अन्न चूल्हे पर चढ़ाना और ( ३ ) उतारना आदि ) इसलिए इसको अपने  
आपमें टुट नहीं जा सकता, ( अन्न पजता है इसलिए उसके आधार पर हुए सारे  
अवयव मनुष्य को पचन क्रिया कहना सम्भव है ) ऐसा भ्रमिनि ( अन्नादि विषयों से  
निरूपेण होकर पातादि क्रिया ) अपने आप में वाक्यार्थ कैसे कही जा सकता ? इसी  
बान को यही कहेंगे भी कि व्यापार विषय के द्वारा स्वरूपलाम करता है, और उम  
[ विषय ] के प्रगट होने पर, ही प्रधानता प्राप्त करता है, अलग से उस [ व्यापार ] पर विचार

करना संभव नहीं होता, इसलिए सारा दारमदार विषय पर ही निर्भर रहता है।" उपरकर्तव्य = (व्यंग्य उपस्कार्य होता है और गुण तथा अलंकार उपस्कारक यहाँ) उपस्कार्य का अर्थ है गुण तथा अलंकारों का व्यंग्य के लिए होना जैसा कि (आनन्दवर्धनाचार्य ने ध्वन्यालोककारिका में कहा है) — "ध्वनि वहाँ होती है जहाँ अर्थ और शब्द की सुन्दरता के (गुण अलंकार आदि) विविध हेतु इसके लिए होते हैं (न कि यह उनके लिए)। इती लिए उस (व्यंग्य) अर्थ को ही विश्रान्तिधाम कहा। आत्मत्व = सारभूतत्व, और इसलिए निष्कर्ष यह निकला कि उस (व्यंग्य) अर्थ के बिना काव्य काव्य ही नहीं हो पाता। ऐसा कहीं नहीं देखा गया कि जीवात्मा से रहित शरीर का उपयोग (व्यक्ति के रूप में) किया जाता हो। प्रश्न यदि ऐसा है तो 'गंगा पर घोष' वाक्य भी काव्य होना चाहिए, क्योंकि यहाँ भी शैत्यपावनत्वादि व्यंग्यार्थ है। उत्तर = जी नहीं। जिस प्रकार घटादिरूप शरीर में आत्मा का अस्तित्व (माना जाता है क्योंकि आत्मा व्यापक है तथापि जीव केवल उसी शरीर को कहा जाता है जिसमें आत्मा के अतिरिक्त इन्द्रिय प्राण आदि भी हों, घट आदि को नहीं, उसी प्रकार व्यंग्य भी (जीवात्मा के समान काव्य की) आत्मा तभी माना जाता है जब वह विविध गुण और अलंकार के औचित्यपूर्ण, अत एव सुन्दर शब्दार्थरूपी (काव्य) शरीर में प्राप्त हो, अन्यत्र (गुणादिशून्य 'गंगा में घोष आदि लौकिक वाक्यों में) नहीं। इसलिए (व्यंग्यार्थयुक्त लौकिक वाक्य और उसके अर्थ को भी काव्य मानने का कोई द्योप नहीं आता।

'व्यापारस्य विषयसुखेन' इत्यादि = इस शंका के उत्तर में कहा जा रहा कि "व्याकरण शास्त्र आदि में सर्वत्र व्यापार का ही प्रधान माना जाना प्रसिद्ध है किन्तु यहाँ विषय की प्रधानता बतलाई जा रही है—"यह विषय मान्यता क्यों? विषयसुखेन जैसे पाकादि क्रिया पाकादि शब्द से तब पुकारी जाती है जब वह भाव आदि विषय में विविलिप्ति (वह विकृति जिसमें चावल भात रूप प्राप्त करता है) उत्पन्न करता है। तत्प्राधान्य = उसका अर्थात् विषय का प्राधान्य। इससे यह सिद्ध होता है कि व्यापार की प्रधानता औपचारिक है। स्वरूपेण = व्यापार (क्रिया) का स्वरूप तो साध्यमान है, सिद्ध नहीं, अतः उस पर कोई निर्वचन प्रस्तुत नहीं किया जा सकता? क्योंकि विचार सिद्ध वस्तु का होता है। "विषयस्यैव" में "एव" शब्द के द्वारा व्यंजना = व्यापार का निराकरण किया गया। समग्र = सारा भार अर्थात् आत्मा जीवित, जीवातु आदि सारे व्यवहारों को पचाने की क्षमता। इसका उपसंहार करते हुए कहते हैं—तस्मात् इत्यादि। यस्य अर्थात् व्यंग्यनामक-रसादिरूप विषय का। गुणालंकारकृतचारुत्व = गुण (काव्यप्रकाशकारिका ८—) "आत्मा के शौर्य आदि धर्मों के समान जो प्रधान रस के धर्म हैं, जो सदैव (रस में चमत्कार का) उत्कर्ष ही करते हैं और (रस को छोड़) अन्यत्र नहीं रहते वे गुण कहलाते हैं" इसके अनुसार साक्षात् (न कि परन्परवा) रसधर्म है। अलंकार भी (काव्यप्रकाशकारिका ८—) "रस यदि काव्यवाक्य से प्रतीत हो रहा हो तो जो (साक्षात् नहीं अपितु) अंग (वाच्य आदि) के द्वारा उसका चमत्कार कदाचिद् (सदा नहीं) बढ़ाते हैं वे अनुप्रास उपमा आदि तत्त्व द्वार आदि के समान अलंकार कहलाते हैं—" के अनुसार शब्द और अर्थ रूपी अंगों में विशेषता लेकर उनके द्वारा (न कि साक्षात्) रसका उपस्कार कहते हैं। अलंकार तभी अलंकार कहलाते हैं जब वे रस आदि व्यंग्य अर्थ की शोभा बढ़ाते हैं, क्योंकि अलंकारों का अलंकारत्व तभी संभव है जब कोई अलंकार्य ही और अलंकार्य केवल रसादि व्यंग्य अर्थ ही माने जाते हैं इसलिए जहाँ कोई स्पष्ट व्यंग्य अर्थ नहीं रहता वहाँ अनुप्रास उपमा आदि शब्द और अर्थ तक सीमित रहते हैं, इसलिए उनसे उक्ति में ही वैचित्र्य संपादित हो पाता है फलतः उनमें अलंकारत्व ठीक उसी प्रकार औपचारिक ही रहता है जिस प्रकार (काव्यप्रकाशकारिका

८। ७१ “गुणवृत्त्या-इत्यादि के अनुसार) रसैकधर्म गुणों का नारस काव्य में गुणत्व। और इसी अभिप्राय से अलङ्कारों को चित्र नामक (अधम) काव्य का भेद बतलाया जावेगा। और अन्य (ध्वनिकार आदि) आचार्यों ने भी अनुप्रास आदि को “चित्र” कहा है।

वह जो प्रतीयमान अर्थ है वह वस्तु, अलङ्कार और रस हम प्रकार यद्यपि माना तो तीन प्रकार का गया है तथापि वस्तु रस को ही काव्यात्मा मानना उचित है क्योंकि रस ही तीनों प्रतीयमानों में प्रमुख है। इसलिए वस्तु और अलङ्कार को जो अलङ्कार कोटि में रखने का प्रयास अन्य आचार्यों ने किया है ( है तो वह भी अनुचित किन्तु यदि ) उसे छोड़ भी दिया जाय तब भी रस को तो अलङ्कार विलकुल ही नहीं कहा जा सकता। इस अभिप्राय से कहते हैं = “रसादि” इत्यादि। आदि पद भाव और रसभास तथा भावामास आदि का सम्राहक है। न वाच्यः = वाच्य कहना अनुचित है क्योंकि अलङ्कार्य अलङ्कार नहीं हो सकता। यदि उसे अलङ्कार कह दिया जाय तो अलङ्कार कोरं और पदार्थ को मानना होगा, क्योंकि उसके बिना अलङ्कार अलङ्कार नहीं करे जा सकेंगे। इसी का उपसर्ग करने कुछ कहते हैं—“तस्मात्” इत्यादि। व्यस्य अर्थात् रसादिरूप क्योंकि विचार उसी का चल रहा है। वाक्यार्थोभूत अर्थात् जो रस आदि वाक्यार्थोभूत नहीं होते वे कदाचित् अलङ्कार भी हो सकते हैं जैसा कि ( ध्वनिकारिका २।५ ) कहा है—‘जहा प्रधान और वाक्यार्थोभूत कोई अन्य तत्त्व हो और रस आदि अग या अप्रधान हों। हमारे मन में उस काव्य में रसादि को अलङ्कार मानना उचित है।’ इस विषय को हम रसवद् आदि अलङ्कारों के प्रसंग में तय करेंगे। शनि-शब्द है प्रमेय ( सिद्धान्त ) तत्त्व की पूर्णता का चोतक। यहाँ पक्ष ठीक है प्रेमा कहते हैं—‘एष एव’ इत्यादि द्वारा। सर्वे = सर्वों ने अर्थात् उन सबने जो वाक्यार्थ का ज्ञान नहीं रखते अतः जो प्रायः महदयताशून्य हैं। पक्षान्तरस्य दूसरे पक्ष ( प्रतिष्ठित नहीं हो पाने क्योंकि उन पक्षों ) में प्रधानता है अलङ्कार की जो अर्थ और शब्द तक सीमित रहते हैं जब कि व्यंग्यपक्ष व्यंग्यव्यञ्जकभाव पर निर्भर है अतः उनमें व्यंग्यपक्ष का अन्तर्भाव संभव नहीं। प्रेमा कि ( ध्वनिकारिका १। में ) कहा है—‘ध्वनि व्यंग्यव्यञ्जकमन्थ पर निर्भर है। उसका वाच्यवाचकों के शोभाधायक धर्म अलङ्कार आदि में अन्तर्भाव हो कैसे सकता है।’ लक्षणा में भी इसका अन्तर्भाव मानना ठीक नहीं क्योंकि ( रस आदि विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि में ) लक्षणा नहीं रहती किन्तु ध्वनि रहती है और ( लावण्य आदि रुचिलक्षणावाले जिन स्थलों में ) लक्षणा रहती है वहा ध्वनि नहीं रहती। जैसा कि ( ध्वनिकारिका १। १४ ) में कहा है—‘लक्षणा ध्वनि का लक्षण भी नहीं हो सकती क्योंकि वैसा मानने पर ( उपर्युक्त ढग से ) अनिव्याप्ति और अव्याप्ति दोष आते हैं।’ किन्तु इसका यह अर्थ नहीं किया जाना चाहिए कि ध्वनि का लक्षण ही नहीं किया जा सकता क्योंकि ( ध्वनिकार आनन्दवर्धन “जिममें शब्द द्वारा उसका लक्षण ) उपसर्जनी-कृतार्थ होकर तथा अर्थ उपसर्जनीकृत होकर उस प्रतीयमान अर्थ का प्रतिपादन व्यञ्जनापर से करते हैं उम विशिष्ट काव्य को विद्वाज्जनों ने ध्वनि कहा है।”—इस प्रकार ( कर दिया गया है )। इस प्रकार इन तीनों ( अर्थात् ध्वनि का अभाव, उमका लक्षणा आदि में अन्तर्भाव और उमकी अलक्षणीयता ) अनुपपत्तियाँ का निराकरण प्रस्तुत किया गया है।

### विमर्शिनी

इदानीमन्योऽपि यः कश्चिद्विप्रतिपत्तिप्रकारः कैश्चिदुक्तः सोऽपि नोपपद्यते इत्याह—  
यस्त्रित्यादि।

अब और भी जो विप्रतिपत्तियाँ अन्य आलङ्कारिकों द्वारा प्रस्तुत की गई हैं वे भी सिद्ध नहीं होती इस तथ्य के प्रतिपादन के लिए अगला ग्रन्थ “यत्” आदि प्रस्तुत करते हैं।

[ सर्वस्व ]

यत्तु व्यक्तिविवेककारो वाच्यस्य प्रतीयमानं प्रति लिङ्गतया व्य-  
ञ्जनस्यानुमानान्तर्भावमाख्यत् तद् वाच्यस्य प्रतीयमानेन सह तादात्म्य-  
तद्गुत्पत्त्यभावाद्विचारिताभिधानम् । तदेतत्कुशाग्रधिपणैः क्षोदनीय-  
मतिगहनमिति नेह प्रतन्यते ।

व्यक्तिविवेककार ( महिममट्ट ) ने जो वाच्य अर्थ को हेतु और प्रतीयमान अर्थ को साध्य  
मानकर व्यञ्जनाव्यापार का अन्तर्भाव अनुमान में बतलाया है वह विचार कर कहीं गई बात नहीं  
है क्योंकि वाच्यका प्रतीयमान के साथ न तो तादात्म्य संबन्ध ही है और उत्पाद्योत्पादकभाव  
संबन्ध । इस विषय पर अत्यन्त सूक्ष्म प्रज्ञा वाले सहृदयों को विचार करना चाहिए क्योंकि यह  
विषय अत्यन्त गहन है । इसी लिए हम इसका विस्तार यहाँ ( जहाँ ध्वनि और उसके विरोध  
का आनुषंगिकमात्र है ) नहीं करते ।

विमर्शिनी

ध्वनिकारानन्तरभावी व्यक्तिविवेककार इति तन्मतमिह पश्चान्निर्दिष्टम् यद्यपि वक्त्रेक्ति-  
जीवितहृदयदर्पणकारावपि ध्वनिकारान्तरभाविनावेव, तथापि तौ चिरन्तरमतानुयायि-  
नावेति तन्मतं पूर्वमेवोद्धिष्टम् । अनेन पुनरेतस्त्वोपज्ञमेवोक्तम् । अनुमानान्तर्भावमिति ।  
अनुमानरूपत्वमेवेत्यर्थः । आख्यदिति । अदाह—

‘वाच्यस्तदनुमितो वा यत्रार्थोऽर्थान्तरं प्रकाशयति ।  
संबन्धतः कुतश्चित् सा काव्यानुमितिरित्युक्ता’ ॥ इति ।

अविचारिताभिधानमिति । इह लिङ्गलिङ्गिनोस्तादात्म्यतद्गुत्पत्तिभ्यामेव तावत्प्रतिबन्धो  
निश्चीयते । तन्निश्चयेनैव च साध्यसिद्धिः । अन्यथा हि साध्यसिद्धिर्नस्याद्ब्यभिचारात् ।  
तत्र तादात्म्यं यथा कृतकत्वानित्वत्वयोः । तद्गुत्पत्तिर्यथा बह्विधूमयोः । वाच्यप्रतीय-  
मानयोः पुनस्तादात्म्यतद्गुत्पत्ती न स्तः । तथाहि—

‘निःशेषन्युतचन्दनं स्तनतटं निर्मृष्टरागोऽधरो  
नेत्रे दूरमनञ्जने पुलकिते तन्वी तथेयं तनुः ।  
सिन्ध्यावादिनि दूति बान्धवजनस्याज्ञातपीडागमा  
वार्षी स्नातुमितो गतासि न पुनस्तस्याधमस्यान्तिकम् ॥’

इत्यत्र विधिना निषेधो निषेधेन वा विधिः प्रतीयते । न तस्य वाच्येन सह तादा-  
त्म्यम् । विरुद्धत्वात् । नह्यभावो भावात्मा भावोऽप्यभावात्मा । नापि तद्गुत्पत्तिः ।  
अभावस्य जन्यजनकत्वानुपपत्तेः । नापि निःशेषन्युतचन्दनादीनां विशेषणानां तदन्तिक-  
गमनानुमापकत्वं युक्तम्, तेषां स्नानादावपि सन्नावादनैकान्तिकत्वात् । एतच्च ध्वनि-  
कारेणादूषितत्वाद्ग्रन्थकृता स्वकण्ठेन दूषितम् । अत एवानेनान्या विप्रतिपत्तयो न  
दूषिताः । एतदिति । वाच्यस्य प्रतीयमानेन तादात्म्यतद्गुत्पत्त्यभावादि नेह प्रतन्यत इति  
व्यक्तिविवेकविचारे हि मयैवैतद्वितरय निर्णीतमिति भावः ।

व्यक्तिविवेककार ध्वनिकार ( आनन्दवर्धन ) के वाद हुए हैं इसलिए उनका मत यहाँ ( ध्वनि-  
कार के मत के ) वाद में बतलाया जा रहा है । यद्यपि वक्त्रोक्तिजीवितकार ( कुन्तक ) तथा हृदय-

दर्पणकार (भट्टनायक) भी ध्वनिकार के बाद के ही हैं तथापि वे प्राचीन आलंकारिकों के मतों के ही अनुयायी हैं इसलिए उनके मत (त्रिभुवन के) पहले ही बनला दिए गए। इन्होंने (व्यक्तिविवेककार ने) जो पूर्वोक्त मत प्रस्तुत किया है वह उनकी अपनी ही सूझ है। [यद्यपि ध्वन्यालोक के तृतीय उद्योत में भी अनुमान और व्यञ्जना के अभेद की चर्चा है, तथापि स्वप्नग्रन्थ के रूप में पहिली बार प्रस्तुत करने के कारण व्यक्तिविवेककार ही इस मत के प्रवर्तक मान लिए जाते हैं]

अनुमानान्तर्भाव = व्यञ्जना को अनुमानरूप ही, आख्यत्—बनलाया है जैसा कि कहा है—  
“वाच्य या उससे अनुमिन अर्थ जहाँ दूसरे अर्थ का अनुमान किमी भी सबन्ध से कराते हैं उसे काव्यानुमिति कहते हैं।” (व्यक्तिविवेक—पृ० १११, चौसुभा संस्करण-२)। अविचारिणा-  
भिधानम् = बिना विचार कही गई बात। हेतु और साध्य का जो व्याप्तिसबन्ध है वह केवल दो ही सबन्धों से निर्गोत होता है (१) तादात्म्य और (२) उत्पाद्योत्पादकत्व। व्याप्तिनिश्चय से ही साध्य की सिद्धि होती है। व्याप्तिनिश्चय के अभाव में साध्य की सिद्धि नहीं होती क्योंकि वहाँ जहाँ व्याप्तिनिश्चय नहीं रहता हेतु व्यभिचरित (साध्य से अमवद्ध भी) रहता है। दोनों सबन्धों में से तादात्म्य जैसे—कृतकत्व (निर्मितत्व) और अनित्यत्व का। (जो बनाया जाता है वह निश्चित ही अनित्य होता है जैसे घटा)। (और) उत्पाद्योत्पादकत्व जैसे—धूम और अग्नि में (धूम = उत्पाद्य, ज्वल्य, कार्य और अग्नि उसका उत्पादक, जनक, कारण)। वाच्य और प्रतीयमान अर्थों में न तादात्म्य है और न उत्पाद्योत्पादकभाव। जैसे—“हे दूति तू झूठ बोलनी है। तुझे अपने की पीर नहीं। तू उस अधम के पास थोड़े ही गई थी। तू तो यहाँ से वावड़ी नहाने गई थी। देर नेरे आँचरो के उतार का चन्दन पूरी तरह शट गया है, तैरे अघर की गुरु बिलकुल पुष्ट गई है, आँसों का काजल आमपास से एकदम मिट गया है और तेरा पूरा-अग पुलकिन हो रहा है।” यहाँ इस (नायकमुमुक्षु दूति के प्रति रित्र नायिका की) उक्ति में (वापीखान के) विधान (रूपी वाच्य अर्थ) से निषेध और (नायक के पास जाने के) निषेध (रूपी वाच्य अर्थ) से विधान (व्यञ्जना से) प्रतीत होता है। उस (व्यग्य निषेध या विधान) का वाच्य (विधान या निषेध) में तादात्म्य नहीं है क्योंकि दोनों परस्पर विरुद्ध हैं। ऐसा थोड़े ही होता है कि अभाव भावरूप हो जाय और भाव अभावरूप। न तो (वाच्य में) उस (व्यग्य) की उत्पत्ति ही होती (अतः उनका उत्पाद्योत्पादकत्व सबन्ध ही है) परस्पर विरुद्ध (अन्योन्याभाव वाले) पदार्थों में (उत्पाद्योत्पादकत्वरूप) अन्यजनकत्व नहीं रहता। न तो ‘निदोषच्युत-चन्दनत्वादि विशेषणों में “नायकान्तिक गमन” आदि का अनुमान ही हो सकता क्योंकि वे विशेषण-पदार्थ (नायकान्तिकगमनादि से भिन्न) वापीखान आदि से भी समव हैं अतः (नायकान्तिक-गमनादिसाध्यों से) ऐकान्तिकरूप से सबद्ध नहीं है। परबर्तों होने से) इस मत को ध्वनिकार ने स्वयं दूषित नहीं ठहराया था इसलिए ग्रन्थकार ने अपनी ओर से उसे दूषित ठहराया। यह हमने सिद्ध है कि ग्रन्थकार ने अन्य मतों पर अपनी ओर से दोष प्रस्तुत नहीं किए। एतद् = वाच्य का प्रतीयमान के साथ तादात्म्यतदुत्पत्त्यादि सबन्धों पर यहाँ कोई विस्तार नहीं करते क्योंकि उसे हमने अपनी व्यक्तिविवेकटीका में विस्तारपूर्वक तय कर दिया है।’

**विमर्श**—व्यक्तिविवेक पर संस्कृतटीका ‘व्यक्तिविवेकव्याख्यान’ मिलती है जो अलंकारसर्वस्वकार की ही रचना है। त्रिवेन्द्रम् तथा चौसुभा से छपे व्यक्तिविवेकों में यह टीका ही हुई है। हमने व्यक्तिविवेक के साथ इस टीका का भी विमर्शनी के ही समान हिन्दी अनुवाद कर दिया है। हमने व्यक्तिविवेककार ने ध्वनि-<sup>विषय</sup> का मत जहाँ-जहाँ सद्यो बनलाया है वहाँ ध्वनिकार की ओर से स्पष्टीकरण

देते हुए व्यक्तिविवेककार के मत का खण्डन किया गया है। किन्तु यह टीका अपूर्ण ही छपी है। “वाच्यस्तदनुमितो वा” इत्यादि जो कारिका ऊपर उद्धृत है उस पर यह टीका प्राप्त नहीं है। वह प्रथम विमर्श में उसके पहिले ही खण्डित हो गई है।

### विमर्शिनी

तदित्यं परपरिकल्पितसमारोपापसारप्रत्याख्यानानेन प्राप्तप्रतिष्ठानो ध्वनिरित्याह—  
अस्तीत्यादि ।

इस प्रकार विरोधी आचार्यों द्वारा उपस्थित आरोपों का निराकरण होने से ध्वनिसिद्धान्त प्रतिष्ठित हो जाता है। यह बतलाने हुए लिखते हैं—

### [ सर्वस्व ]

अस्ति तावद् व्यङ्ग्यनिष्ठो व्यञ्जनव्यापारः । तत्र व्यङ्ग्यस्य प्राधान्याप्राधान्याभ्यां ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्याख्यौ द्वौ काव्यभेदौ । व्यङ्ग्यस्यास्फुटत्वेऽलंकारवत्त्वेन चित्राख्यः काव्यभेदस्तृतीयः । तत्रोत्तमो ध्वनिः । तस्य लक्षणाभिधामूलत्वेनाविवक्षितवाच्यविवक्षितान्यपरवाच्याख्यौ द्वौ भेदौ । आद्योऽप्यर्थान्तरसंक्रमितवाच्यात्यन्ततिरस्कृतवाच्यत्वेन द्विविधः । द्वितीयोऽप्यसंलक्ष्यक्रमसंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यतया द्विविधः । लक्षणामूलः शब्दशक्तिमूलो वस्तुध्वनिः, असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यः अर्थशक्तिमूलो रसादिध्वनिः । संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यः शब्दार्थोभयशक्तिमूलो वस्तुध्वनिरलंकारध्वनिश्चेति । तत्र रसादिध्वनिरलंकारभङ्ग्यां दर्शितः, काव्यस्य शृङ्गारप्रधानत्वात् । शिष्टस्तु यथावसरं तत्रैव विभक्तः । गुणीभूतव्यङ्ग्यो वाच्याङ्गत्वादिभेदैर्यथासंभवं समासोक्त्यादौ दर्शितः ।

यह मानने में अब कोई आपत्ति नहीं कि व्यञ्जना ( भी काव्य का एक त्वतन्त्र ) व्यापार है जिसका प्रतिपाद्य विषय है ( प्रतीयमान ) व्यंग्य अर्थ । यह जो व्यंग्य अर्थ है वह (=उसका चमत्कार कहीं) प्रधान होता है और ( कहीं ) अप्रधान फलतः ( व्यंग्यार्थयुक्त ) काव्य के दो भेद हो जाते हैं ( प्रधान होने पर ) ध्वनि और ( अप्रधान होने पर ) गुणीभूतव्यंग्य । जिस काव्य में व्यंग्य अस्फुट ( चमत्कारशून्य ) होता है वह एक तीसरा भेद भी होता है । उसे चित्र कहा जाता है क्योंकि उसमें अलंकार की ही छटा रहती है । इन तीनों में ध्वनिनामक काव्य उत्तमकाव्य होता है । उसके लक्षण और अभिधा के आधार पर क्रमशः दो भेद होते हैं ( लक्षणा के आधार पर ) अविवक्षितवाच्य ( जिसमें वाच्य अपने स्वरूप से उपयोगी नहीं रहता ) और अभिधा यानी अभिधेयार्थ के आधार पर ) विवक्षितान्यपरवाच्य ( जिसमें वाच्य अर्थ बदलता तो नहीं किन्तु वह प्रधान नहीं रहता ) । इनमें से दूसरा ( विवक्षितान्यपरवाच्य नामक भेद ) असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य ( जिसमें वाच्य और व्यंग्य की प्रतीति होती तो एक के बाद एक करके है किन्तु लगती देसी नहीं ) और संलक्ष्यक्रमव्यंग्य ( जिसमें वाच्य और व्यंग्य की प्रतीति एक के बाद एक होती हुई ही प्रतीत होती है ) इस प्रकार दो प्रकार का होता है । ( प्रथम : जो लक्षणामूलक ध्वनि है वह शब्दशक्तिमूलक ही होती है और उसमें ध्वनि वस्तुरूप ही रहती है ( रस वा अलंकाररूप नहीं ) । ( द्वितीय का प्रथम ) असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य ( नामक जो भेद है वह ), अर्थशक्तिमूलक

होता है और ( वहाँ ध्वन्यमान अर्थ रस आदि स्वरूप ही होता है, ( तथा दिर्ताय ) सलक्ष्यक्रम-व्यग्य ( नामक भेद ) शब्दिशक्तिमूलक भी होता है और अर्थशक्तिमूलक भी तथा उसमें व्यग्यार्थ वस्तरूप भी होता है और अलङ्काररूप भी । इनमें से रसादिध्वनि अलङ्कारमञ्जरी में दिखला दिया है क्योंकि काव्य में प्रधानता शृंगार की है । शेष ( वस्तुध्वनि अलङ्कारध्वनि भी ) जहां-तहां वहीं विभक्त कर दिया है । ( यह हुई ध्वनिनामक उत्तमकाव्य के भेदों की चर्चा, जहां तक ) गुणीभू-तव्यग्य ( का सन्ध है उसके ) 'वाच्याग' आदि ( अनेक ) भेद ( होते हैं उन्हें ) समासोक्ति आदि ( अर्थालंकारों ) में ( ध्वनिकार आदि ने ) समासोक्ति आदि में यथासम्भव दर्सा दिया है ।"

### चिमर्शिनी

तावच्छब्दो विप्रतिपत्त्यभावद्योतकः । अस्यैव भेदनिर्देशं कर्तुमाह—तत्रेत्यादि । व्यङ्ग्य-निष्ठे व्यङ्ग्यनव्यापारे सत्यपीत्यर्थः । प्राधान्याप्राधान्येति । यदुक्तम्—

'तत्परानेव शब्दार्थौ यत्र व्यङ्ग्यं प्रति स्थितौ ।

ध्वनेः स एव विषयो मन्तव्यः संकरोऽङ्गितः ॥' इति ।

तथा—

'प्रकारोऽन्यो गुणीभूतव्यङ्ग्यः काव्यस्य दृश्यते ।

तत्र व्यङ्ग्यान्वये वाच्यचारुव स्यात् प्रकंपवत् ॥' इति ।

अस्फुटत्व इति । व्यङ्ग्यस्याविवक्षितत्वे सतीत्यर्थः । यदुक्तम्—

'रसभावादिविषयविवक्षाविरहे सति । अलङ्कारनिबन्धो यः स चित्रविषयो मतः ॥'

इति । तत्रेति । त्रयनिर्धारणे । तस्येति, उत्तमस्य ध्वनेः । आद्य इति अविवक्षितवाच्यः ।

न केवलं ध्वनिद्विविध यावत्तत्प्रभेदोऽन्यथं द्विविध इत्यपिशब्दार्थः । यदुक्तम्—

'अर्थान्तरे संग्रमितमर्थन्तं वा तिरस्कृतम् ।

अविवक्षितवाच्यस्य ध्वनेर्वाच्यं द्विधा मतम् ॥' इति ।

'तावत्' शब्द विप्रतिपत्ति के अभाव का द्योतक है । ध्वनि के ही भेद बनाने के लिए कहते हैं—'तत्र' अर्थात् व्यग्यनिष्ठ व्यङ्ग्यनव्यापार के रहने पर भी । प्राधान्याप्राधान्य = जहां कि ( ध्वनिकार ने ) कहा है—"शब्द और अर्थ जहां व्यग्य के प्रति तत्पर होकर ही स्थित हों उसी ( काव्य ) को ध्वनि का शुद्ध स्थल माना जाना चाहिए ।" ( ध्वन्यालोक—संग्रहकारिका उद्योत-१ पृ० १३१ चौखंडा सस्करण ), तथा "काव्य का एक और भेद होता है जिसमें व्यग्य ( का चमत्कार ) गुणीभूत रहता है और जहां व्यग्य के सन्ध से वाच्य की चारता बढ़ जाया करती है ।" [ ध्वन्यालोक ३।४० कारिका ] । अस्फुटत्व = अर्थात् व्यग्य की विवक्षा का अभाव । जैसा कि कहा है—"रस, भाव आदि विषयों की विवक्षा न रख कर जहां अलङ्कार का निवेश किया जाय वह काव्य चित्रकाव्य कहलाता है । ( ४९७ पृ० ध्वन्यालोक संग्रहकारिका ) । तत्र यह पद काव्य के तीन भेदों के निर्धारण के लिए है । तस्य अर्थात् उत्तम ध्वनि का । आद्य = प्रथम अर्थात् अविवक्षितवाच्य । अपि ( भी ) शब्द का अर्थ है कि केवल ध्वनि ही दो प्रकार की नहीं है अपितु उसके प्रभेद ( भेद के भेद ) भी दो प्रकार के हैं । जैसा कि कहा है—"अविवक्षितवाच्यनामक ध्वनि का वाच्यार्थ दो प्रकार का रहता है अर्थान्तरसक्रामित ( उपादानलक्षणा द्वारा अपना रूप रक्षित रखते हुए दूसरे अर्थ का परिग्रह करने वाला जैसे "कमल तो कमल ही है" वाक्य में द्वितीय कमल ) और अस्यन्त तिरस्कृत ( लक्षणलक्षणा द्वारा अपना स्वरूप विलकुल छोड़कर दूसरे का रूप अपना लेने वाला, जैसे शत्रु से कथित "तुमने मेरा बहुत उपकार किया"—वाक्य में उपकार,

जो अपकार अर्थ में बदल जाता है। अथवा "निःश्वारः राग्यते। इति शब्दः प्रमेयपरिसमाप्तौ।  
अन्ध शब्द का अर्थ"—ध्वन्यालोक-२।१)।

### विमर्शिनी

द्वितीय इति विवक्षितान्धपरवाच्यः। यदुक्तम्—

‘असंलक्ष्यक्रमोद्घोतः क्रमेण घोतितः परः।

विवक्षिताभिधेयस्य ध्वनेरात्मा द्विधा मतः ॥’

“नं दर्शयितु-

इति। अत्रैव वस्तुरसालंकाराणां ध्वन्यमानत्वं दर्शयितुमाह—लक्षणेत्यादि। लक्षणा-  
मूल इत्यविवक्षितवाच्यः। शब्दशक्तिमूल इति न पुनरर्थशक्तिमूलः। यद्यपि शब्दशक्ति-  
मूलेऽर्थशक्तिरप्यस्ति तथापि तत्र तस्याः सहकारितया व्यवस्थानमिति प्राधान्याच्छब्द-  
शक्तिमूलत्वमुक्तम्। एवमर्थशक्तिमूलत्वेऽपि ज्ञेयम्। वस्तुध्वनिरिति। रसालंकारव्यति-  
रिक्तस्य वस्तुमात्रस्य ध्वन्यमानत्वात्। तत्रार्थान्तरसंक्रमितवाच्यो वस्तुध्वनिर्यथा—

‘स्निग्धरयामलकान्तिलिप्तविधयो वेहद्बलका घना

वाताः शीकरिणः पयोदसुहृदामानन्दकेकाः कलाः।

कामं सन्तु दृढं कठोरहृदयो रामोऽस्मि सर्वं सहै

वैदेही तु कथं भविष्यति हहा हा देवि धीरा भव ॥’

द्वितीय अर्थात् विवक्षितान्धपरवाच्य। जैसा कि कहा है—“विवक्षितवाच्य” ध्वनि का स्वरूप  
दो प्रकार का दिखाई देता है एक असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य और दूसरा संलक्ष्यक्रमव्यंग्य।” ( ध्वन्यालोक  
२।२ )। वहाँ वस्तु, रस और अलंकारों की ध्वन्यमानता बतलाने के लिए लिखते हैं—“लक्षणा”  
इत्यादि। लक्षणामूल = अर्थात् अविवक्षितवाच्य। शब्दशक्तिमूलक अर्थात् अर्थशक्तिमूलक  
नहीं। यद्यपि यहाँ शब्दशक्ति से ध्वनि प्रतीति होती है वहाँ अर्थशक्ति भी रहती ही है तथापि  
वहाँ वस्तु ( अर्थ शक्ति ) का सद्योगमान रहता है अतः प्रधान होती है शब्द शक्ति ही, फलतः  
नाम ‘शब्दशक्तिमूलक’ रखा गया है। यही स्थिति अर्थशब्दशक्तिमूलक ध्वनि के नामकरण में  
भी है ( वहाँ शब्दशक्ति अप्रधान रहती है और नाम प्रधान के आधार पर दिया जाता है =  
“प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति”। ) वस्तुध्वनि अर्थात् वहाँ रस और अलंकार की नहीं, केवल  
वस्तु की ही ध्वनि होती है। उनमें अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य वस्तुध्वनि यथा—( वियुक्त भगवान्  
राम प्रावृट् का मेघालम्बर देख कर रहे हैं ) “स्निग्ध और श्यामल कान्ति से आकाश को लीप रहे  
तथा वक्रभक्तियों के नृत्य से झुक ( श्यामश्वेतवर्णयोग से सुहावने ) मेघ उमड़ते आएँ, फुहार लेकर  
( शीतल। पवन वहाँ और मेघों के मित्र मयूरों की आनन्दपूर्ण सुन्दर केका ( ध्वनि ) उठें, उठती  
रहें, मैं तो अन्यत्य कठोर हृदय वाला हूँ, राम जो ठहरा, सब सहता आलिंगा, सह लेंगा, सह  
ही रहा हूँ; परन्तु इस समय ( सुकुमारचित्त ) सीता की स्थिति क्या होगी। ह हा हा देवि,  
तुम धारण रखना, ( चल न बसना।।” यहाँ रामशब्द “राज्यनिर्वासन आदि असंख्य दुःख का  
पात्र होना” ध्वनित करता है जो ( न रसरूप है और न अलंकाररूप सामान्य वात ( Statem-  
ent ) है अतः ) वस्तुरूप है।

### विमर्शिनी

अत्र रामशब्दो राज्यनिर्वासनाद्यसंख्येयदुःखभाजनत्वस्वरूपं वस्तु ध्वनति। अत्यन्त-  
तिरस्कृतवाच्योऽपि यथा—

‘रविसंक्रान्तसौभाग्यस्तुपारावृतमण्डलः।

निःश्वासान्ध इवादर्जश्चन्द्रमा न प्रकाशते ॥’



होता है और ( वहाँ ध्वन्यमान अर्थ रस अर्द्धनसाधारणविच्छायाख्यादिधर्मजातं वस्तुरूपं व्यंग्य ( नामक भेद ) शब्दिशक्तिमूलावितदाभासादयः । तत्र रसध्वनिर्यथा—

वस्तुरूपं भी होता है और प्रणयकुपितां धातुरागैः शिलाया-  
दिया है क्योंकि काव्य-मान ते चरणपतितं यावदिच्छामि कर्तुम् ।  
वहाँ विभक्त कर स्तावन्मुहुरुपचितं टट्टिरालिप्यते मे क्रूरस्त-  
तव्यग्य / स्मिन्नपि न सहते सगमं भी कृतान्तः ॥'  
अत्र विभावानुभावव्यभिचारिभिरभिव्यक्त एव रस' ।

अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य यथा—( हेमन्तवर्णन ) चन्द्रमा, जिम्ने अपनी मुहावती कान्ति मूर्ध में डाल दी है और जिसका मण्डल ओस से पिर गया है, ऐसा लग रहा है जैसे फूँक से अन्धा दर्पण ।" अन्ध शब्द ( का अर्थ है 'देख न सकना' ) और जहा यह रहता है वहा मलिनता भी रहती ही है फलन ) अन्ध शब्द ( अपने अर्थ अदर्शन से लगी मलिनता और ऐमे ही अन्य धर्मों को ध्वनित करता है जो न रसरूप है और न अलङ्काररूप अतः ) वस्तुरूप है ।

रसादि = आदि शब्द से भाव, रसामान भावाभास भावशान्ति, भावसन्धि, भावशबलता और भावोदय की ओर सकेत है इनमें से रसध्वनि लेने—( यक्ष का भेषदूत में सदेश ) "मैं तुम्हारी तो प्रणयकुपित मुद्रा गेरु आदि से शिलाखण्ड पर बना लेना हूँ किन्तु जब अपनी स्वयं की चरणपतित मुद्रा बनाने चलता हूँ तो बार बार उमडते आँसू मेरी दृष्टि लीप देते हैं । विधाता इतना क्रूर है कि चित्रलेख में भी वह हम दोनों का समागम नहीं सहता" । यहाँ ( यक्ष तथा मावाहित यक्षी ) विभाव, ( चित्रलेख, अश्रुपात, विलाप ) अनुभाव ( क्रूरशब्द से विधाता के प्रति व्यक्त अमर्ष आदि ) व्यभिचारी भावों से रस अभिव्यक्त हुआ ही ।

### विमर्शिनी

भावध्वनिर्यथा—

'जाने कोपपराङ्मुखी प्रियतमा स्वप्नेऽद्य दृष्टा मया  
मा मा संस्पृश पाणिनेति हृदती गन्तुं प्रवृत्ता तत' ।  
नो यावत् परिरभ्य चाटुकशतैराधासयामि प्रियां  
भ्रातस्तावद्दहं शठेन विधिना निद्रादरिद्रीकृत' ॥'

अत्र विधिं प्रत्यसूयाख्यो व्यभिचारिभावः । रसाभासध्वनिर्यथा—

'स्तुमः कं वामाचि क्षणमपि विना य न रमसे  
विलेभे क. प्राणान् रणमखमुखे य मृगयसे ।  
मुलम्ने को जात' क्षशिमुखि यमालिङ्गसि बलात्  
तपःश्री कश्यैषा मदननगरि ध्यायसि तु यम् ॥'

अत्रानेककामुकविषयोऽभिलाष इति रसामासः ।

भावध्वनि यथा—“मुझे स्मरण आ रहा है, मैंने सपने में प्रियतमा को देखा है वह कोप से मुँह फेरे हुए थी, वह बार बार मुझे हाथ मे रोक कर रोती हुई कह रही थी मुझे न छूना, न छूना और ऐसा कहती हुई मेरे सामने से हटने लगी थी । उम समय मुझे उसे अपनी छाती से चिपका कर अनेक मौठी और चूरी बालों से मनाना था किन्तु वह कर ही नहीं पाया और शठ विधाता ने मेरी नाँद छीन ली, उसने मुझे दूरिद्री ही रखा ।' यहाँ विधाता के प्रति असूया नामक संचारी ( शठ-शब्द से ) व्यभिचारी भावों से रस अभिव्यक्त हुआ है ।

रसाभासध्वनि, यथा—( किसी पुंश्रुली से कोई शम्भते । इति शब्दः प्रमेयपरिसमाप्तौ । प्रशंसा करें जिसके विना तेरा चित्त क्षण भर नहीं लगता, प्राप्यन्यतो योजयति—गुणीभूतेत्या- है ( जो यश में प्राणाहुति देता है वही इतना बड़भागी होता कि ) जिसे तू खोजती रहती है । अच्छी लग्न में किसका जन्म हुआ चन्द्रमुखि ! तू बलाव करती है । हे कामनगरि ! किसको इतनी तपोमहिमा है, किया करती है ।' यहाँ एक नायिका का अनेक नायकों के प्रति अभुराग व्यक्त हो न्वं दर्शयितु- यहाँ ( शृंगार ) रसाभास है ( क्योंकि यहाँ शृङ्गार शृङ्गाररस जैसी स्थिति तक ही पहुँचता है, नहीं बन पाता ) ।

भावाभासध्वनि यथा—( परखी पर आसक्त कामुक चिन्ता कर रहा है )—“वह ( उसकी स्त्री ) कितनी सुन्दर है । उसका चेहरा पूर्णिमा के चन्द्र की नाईं मुडील, गौर और दमदमती कान्ति लिए है ) उसकी आँखें चंचल हैं, मुसकुराते यौवन के अनेक विभ्रम उसके अंग अंग में तरंगित हो रहे हैं । तो क्या कलें किस प्रकार उससे मैत्री कलें । वह कौन सा उपाय हो सकता है कि वह मुझे अपना ले ।' यहाँ परखीविषयक चिन्ता अनुचित है अतः यहाँ चिन्तारूपी भावाभास ध्वनि है ।

### विमर्शिनी

भावाभासध्वनिर्यथा—

‘शकासुधाकरमुखी तरलायताङ्गी सा स्मेरयौवनतरङ्गितविभ्रमाङ्गी ।

तर्किकरोमि विदधे कथमत्र मैत्रीं तस्वीकृतिव्यतिकरे क इवाभ्युपायः ॥’

अत्रानौचित्यप्रवृत्ता चिन्तेति भावाभासः । भावप्रशमो यथा—

‘एकस्मिच्छयने पराङ्मुखतया वीतोत्तरं ताम्य-

तोरन्योन्यं हृदयस्थितेऽप्यनुनये संरघतोर्गौरवम् ।

दंपत्योः शनकैरपाङ्गवलनामिश्रीभवच्चतुषो-

भंगो मानकलिः सहासरभसव्यावृत्तकण्ठग्रहः ॥’

अत्रासूयायाः प्रशम इति भावप्रशमध्वनिः । वस्तुध्वनिरलंकारध्वनिश्चेति । तत्र शब्द-शक्तिमूलो वस्तुध्वनिर्यथा—

‘निर्वाणवैरदहनाः प्रशमादरीणां नन्दन्तु पाण्डुतनयाः सह माधवेन ।

रक्तप्रसाधितभुवः क्षतविग्रहाश्च स्वस्था भवन्तु कुरुराजसुताः समृत्याः ॥’

अत्र कौरवाणां क्षतशरीरादिकत्वं वस्तुरूपं शब्दशक्त्यैव प्रतीयते । स एवार्थशक्ति-मूलो यथा—

‘अलससिरोमणि धुत्तार्णं अग्निमो पुत्ति धणसमिद्धिमवो ।

इह भणिष्ण णअंगी पप्फुल्लविलोअणा जावा ॥’

अथार्थशक्त्या ममैवोपभोग्योऽयमिति वस्तु व्यज्यते । स एवोभयशक्तिमूलो यथा—

‘पंथिअ ण पत्थ सत्थरमत्थि मणं पत्थरत्थले गामे ।

उग्गाअपओहरं पेविखळण जइ वससि ता वससु ॥’

अत्र यद्युपभोगक्षमोऽसि तदा आस्वेति वस्तु वक्रौचित्यमाश्रित्य शब्दार्थशक्त्याभिव्यज्यत इत्युभयशक्तिमूलत्वम् ।

भावप्रशम यथा—“एक ही शय्या पर एक दूसरे की ओर पीठ करके सो रहे, एक दूसरे का उत्तर देते हुए मुँह फुलते जा रहे, साथ ही चित्त में दूसरे को मनाने की इच्छा रहने पर भी अपना

होता है और ( वहाँ ध्वन्यमान अर्थ रस हृत् टीटी कर धीरे में एक दूसरे को देखना चाहा तो व्यंग्य ( नामक भेद ) शब्दशक्ति मानकलह टूट गया और दोनों के तिरछे कण्ठ हँसी के वस्तुरूप भी होता है और, अमूया नामक सचारी भाव का प्रशम ( अन्न ) ध्वनित है अतः यह दिया है क्योंकि काव्यरूप है ।

वहाँ विभक्त कर, र अलङ्कारध्वनि । दोनों में शब्दशक्तिमूलक वस्तुध्वनि का उदाहरण तन्व्यगुभी ( कौरवों ) के विकाश से वैरागि जिनकी शान्त हो गई है ऐसे पाण्डव श्रीकृष्ण के आनन्द करें तथा कौरव पृथ्वी को रक्तप्रसाधित बना चतविग्रह हो अपने सभी मृत्यों के साथ स्वस्थ हो जावें । ( यहाँ रक्तप्रसाधित, क्षतविग्रह और स्वस्थ शब्द अर्थक है । [ रक्त अर्थात् खून से सँवार ली है पृथिवी जिन्होंने तथा अनुरूप और मजी सँवरी है पृथिवी जिनकी, क्षत है विग्रह = युद्ध या शरीर जिनका तथा स्वस्थ = स्वर्गस्थ या शरीर में ठीक ) यहाँ शरीर की क्षति आदि अर्थ वस्तुरूप ही है और वे शब्दशक्ति में ही प्रतीत होते हैं ( क्योंकि यहाँ शब्द बदले नहीं जा सकते ) । अर्थशक्तिमूलक वस्तुध्वनि यथा—

अलसशिरोमणिधूतानामग्रगीर्धनसमृद्धिमयः ।

इति भगिनेन नतागी प्रफुल्लविलोचना जाता ॥'

अर्थात् ( उपमाना ने जब लड़की से कहा कि ) वह ( तुम्हारे लिए निर्धारित लड़का आलसियों में शिरोमणि है, धूती ( जुआड़ी या भोखेवाजों ) में अगुआ है और धनसमृद्धि से भरपूर है "तो इस कथन से उस नतागी को आँखें चिल उठी ।" यहाँ यह बात ( वस्तु ) ध्वनित होती है कि वह पुराण एकमात्र उसी नतागी तक सीमित रहेगा ।

उभयशक्तिमूलक वस्तुध्वनि यथा—

'पथिक नात्र सस्तरमस्ति मनाक् प्रस्तरस्थले ग्रामे ।

उद्गतपयोधर प्रेक्ष्य यदि वससि तद् वस ॥''

अर्थात् ( स्वयं दूती की उक्ति ) है पथिक । यहाँ विछौना थोटा भी नहीं है और गाँव की जानन भी पथरीली है । उठे पयोधरों को देखकर टहरना चाहा तो टहर जाओ" यहाँ यह बात ( वस्तु ) ध्वनित होती है कि 'यदि तुम ( पथिक ) उपभोगक्षम हों तो यहाँ ठहरों "यह ध्वनि बोलने वाले के विषय में यह विदित होने से होती है कि वह चपल है और यहाँ न तो 'पयोधर' शब्द बदला जा सकता और न अन्य सभी अर्थ अतः यह ध्वनि शब्दार्थोभयशक्तिमूलक है ।

### विमर्शिनी

शब्दशक्तिमूलोऽलङ्कारध्वनिर्यथा—

'उन्नतः प्रोहसद्धारः कालागुरुमलीमसः ।

पयोधरभरस्तन्व्या कं न चक्रेऽभिलापिणम् ॥'

अत्र शब्दशक्त्या मेघलक्षणमर्थान्तरं प्रतीयते । प्रकृताप्रकृतयोश्चार्थयोरसंबन्धाभिधायित्वं मा प्रसाङ्गीदिति तयोरौपम्यं कल्प्यत इत्यलङ्कारध्वनिः । स प्वार्थशक्तिमूलो यथा—

'तं ताण सिरिसहोअररअणाहरणम्मि हिअअमेअरसं ।

धिवाहरे पिआणं गिवेसिअं कुसुमवाणेन ॥'

अत्र कौस्तुभविम्बाधरयो केवलवैवार्थशक्तयोपम्यं गम्यत इत्यर्थशक्तिमूलोऽलङ्कारध्वनिः । उभयशक्तिमूलो यथा—

'जगहिअअविदारणप् धारासलिललुलिप् ण रमइ तहा ।

तव दिट्ठी चिउरभरे पिआण जह वैरिसग्गम्मि ॥'

अत्रोभयशक्त्या चिकुरभरखड्गयोरौपम्यं गम्यते । इति शब्दः प्रमेयपरिसमाप्तौ । एवं ध्वनेः प्रभेदजातं प्रदर्यं क्रमप्राप्तं गुणीभूतव्यङ्ग्यस्याप्यन्यतो योजयति—गुणीभूतत्वादिना । दर्शित इति ध्वनिकारेण । यदाह—

व्यङ्ग्यस्य यत्राप्राधान्यं वाच्यमात्रानुयायिनः ।

समासोक्त्यादयस्तत्र वाच्यालङ्कृतयः स्फुटाः ॥ इति ॥

पूर्वं गुणीभूतव्यङ्ग्यस्याप्यन्यतो भेदजातं योजयित्वा चित्रस्यापि प्रभेदजातं दर्शयितुमाह—चित्रमित्यादि ।

शब्दशक्तिमूलक अलंकारध्वनि यथा—‘उस तन्वी के खूब उमरे पयोधरों ने कित्ते सामिलाप नहीं बना दिया । पयोधर उन्नत, प्रोल्लसदार और कालागुरुमालोमस जो हैं । ( पयोधर = स्तन तथा मेघ, प्रोल्लसदार = प्रोल्लसित हो रहे हैं हार जिनपर ऐसे-स्तन, प्रोल्लसित हो रही हैं धाराएँ जिनमें ऐसे = मेघ; कालागुरु से कृष्ण = स्तन, कालागुरुतुल्य कृष्ण = मेघ । यहाँ स्तन प्रस्तुत हैं मेघ अप्रस्तुत और पयोधर आदि शब्द बदले देने पर मेघपक्ष की प्रतीति नहीं होती अतः यहाँ ) शब्दशक्ति से ( ही ) मेघरूप अप्रस्तुत अर्थ की प्रतीति होती है और स्तन तथा मेघों में उपमानोपमेयभाव मानना पड़ता है अन्यथा दोनों अर्थ असंबद्ध पड़े रह सकते हैं जिससे वाक्यभेदनामक दोष हो सकता है । वाच्यस्थिति में अलंकार माना जाने वाला यह ) उपमानोपमेयभाव व्यंजना द्वारा प्रधानरूप से ध्वनित होता है अतः यहाँ अलंकारध्वनि है ।

अलंकारध्वनि ही जो अर्थशक्ति से ध्वनित होती है यथा—

“तत् तेषां श्रीसहोदररत्नाहरणे हृदयमेकरसम् ।

विन्वाधरे प्रियाणां निवेशितं कुसुमवाण्येन ॥”

अर्थात् = “उन ( राक्षसों ) का ( समुद्रमन्थन से उत्पन्न रत्नों में से ) श्रीसहोदर ( श्री = लक्ष्मी के साथ उत्पन्न होने से उसका सहोदर और सुन्दर होने से भी श्री = शोभामयी लक्ष्मी का सहोदर ) रत्न ( कौस्तुभ ) किसी भी प्रकार हृदय लेने में सर्वात्मना सन्नद्ध हृदय कुसुमवाण्ये ने प्रियाओं के विन्वाधर पर लगा दिया ।” यहाँ कौस्तुभमणि और अधरोष्ठ का तुल्यता अपरिवर्तनीय अर्थ से प्रकट होती है अतः यहाँ अर्थशक्तिमूलक ही अलंकारध्वनि है ( शब्द तो यहाँ कोई भी रहे जा सकते हैं ) ।

उभय—( शब्दार्थ ) शक्तिमूलक यथा—

‘जनहृदयनिदारणके धारासलिललुलिते न रमते तथा ।

तव दृष्टिश्चिकुरभरे प्रियाणां, यथा वैरिखड्गे ॥”

अर्थात् तुम्हारी दृष्टि जनो के हृदय विदारित करने वाले तथा धाराजल से लुलित ( केशपाशपक्ष में धारासलिल = नदी आदि की धारा का जल, खड्गपक्ष में—उसकी धार का पानी—प्रियाओं के केशपाशों में उतनी नहीं रमती जितनी वैरिओं के खड्गों में ।” यहाँ ( धारा-शब्द अपरिवर्तनीय है, शेष बदले जा सकते हैं अतः ) शब्द और अर्थ दोनों की शक्तियों से खड्ग तथा प्रियाकेशों की तुलना शीतित होती है ।

इसके बाद जो इति शब्द है उसका अर्थ है प्रतिपाद्य तत्त्व के प्रतिपादन की समाप्ति ।

इस प्रकार ध्वनि के प्रभेद दिखलाकर उसके बाद आने वाले गुणीभूतव्यङ्ग्य के भी भेदों का अन्य ग्रन्थों में संकेत देते हुए लिखते हैं—गुणीभूतव्यङ्ग्य आदि । दर्शितः दिखला दिया है अर्थात् ध्वनिकार ने । जैसा कि ( ध्वनिकार ने ) कहा है—

“जहाँ व्यंग्य अप्रधान रहता है, अर्थात् वह केवल वाच्य के पीछे चलता है वहाँ समासोक्ति अतिअर्थालंकार ही होते हैं।” ( ध्वन्या० सप्रहकारिका उच्यते-१ पृष्ठ० १३० चौ० सं० १ ) इस प्रकार गुणीभूतव्यंग्य के भेद भी अन्यत्र दिखला दिए ।

अब चित्रकाव्य के भेद भी दिखलाने के लिए लिखते हैं—

### [ सर्वस्व ]

चित्रं तु शब्दार्थालंकारस्वभावतया बहुतरप्रभेदम् । तथा हि—

[ सूत्रम् १ ] इहार्थपौनरुक्त्यं शब्दपौनरुक्त्यं शब्दार्थपौनरुक्त्यं चेति त्रयः पौनरुक्त्यप्रकाराः ॥ १ ॥

आदौ पौनरुक्त्यप्रकारवचने वक्ष्यमाणालंकाराणां कक्षाविभागघटना-  
र्थम् । अर्थापेक्षया शब्दस्य प्रतीतावन्तरङ्गत्वेऽपि प्रथममर्थगतधर्मनिर्देश-  
श्चिरंतनप्रसिद्धया पुनरुक्तवदाभासस्य पूर्वं लक्षणार्थः । इहशब्दः प्रस्थाने ।  
इतिशब्दः प्रकारे, त्रिशब्दादेव संख्यापरिसमाप्तिसिद्धेः ।

चित्रनामक जो काव्यभेद है वह तीन प्रकार का है शब्दालंकारस्वरूप, अर्थालंकारस्वरूप तथा उभयालंकारस्वरूप । इनके प्रभेदों की संख्या बहुत अधिक है । जैसे—

[ सूत्र ] “यहाँ (काव्य में) पौनरुक्त्य के तीन भेद होते हैं—(१) अर्थपौनरुक्त्य (२) शब्दपौनरुक्त्य तथा (३) शब्दार्थ ( उभय ) पौनरुक्त्य ॥ १ ॥

[ वृत्ति ] (अलंकारों के निरूपण के) आरम्भ में पौनरुक्त्य के भेदों के निरूपण का प्रयोजन है— ( इनके ) आगे निरूपित किए जाने वाले ( पुनरुक्तवदाभास आदि पाँच पौनरुक्त्यभूतक ) अलंकारों का कक्षाविभाग ( अर्थ, शब्द और उभयगत रूप से विभाजन ) करना है ।

प्रतीति में शब्द अर्थ की अपेक्षा अन्तरग है ( काव्य में शब्द का ज्ञान पहिले होता है और अर्थ का बाद में ) इसलिये शब्दगत पौनरुक्त्य का उल्लेख पहिले होना चाहिए तथापि ( अर्थगत धर्म ( पौनरुक्त्य ) का ( पहिले ) निर्देश प्राचीन ( उद्गादि ) आलंकारिक आचार्यों के समान ( अर्थगत पौनरुक्त्य पर निर्भर ) पुनरुक्तवदाभास का लक्षण ( शब्दालंकारों की अपेक्षा ) पहिले करने के लिए किया गया है ।

इह-( यहाँ- ) शब्द ( काव्य- ) प्रस्थान के लिए प्रयुक्त है ( क्योंकि अलंकार काव्य के ही धर्म हैं ) । इति ( इस प्रकार- ) शब्द ( समाप्तिवाचक नहीं ) प्रकार-( भेद- ) वाचक है, क्योंकि संख्या की समाप्ति ( पूर्ति ) त्रि-( तीन- ) शब्द से ही चली आती है ।

### चिमांशिनी

तुशब्दः काव्यप्रकारद्वयादस्य वैलक्षण्यस्रोतकः । अत एव बहुतरप्रभेदमित्युक्तम् ।  
शब्दार्थैक्येक शेषः । तेनोभयालंकाराणामपि ग्रहणम् । तदेव दर्शयितुमाह—तथाहीत्यादि ।  
चित्राख्यकाव्यभेदनिरूपणावसरे किं पौनरुक्त्यप्रकारवचनेनेत्याशङ्क्याह—आदाकित्यादि ।  
वक्ष्यमाणालंकारा पुनरुक्तवदाभासादयः पञ्च । शब्दप्रतीतिपुरःसरीकारेणार्थप्रतीतिरिति प्रथमं  
शब्दगत एव धर्मनिर्देशो न्याय्यो नार्थगत इत्याशङ्क्याह—अर्थेत्यादि । चिरंतन प्रसिद्धेति ।  
न पुनर्युज्यमानत्वमिति भावः । ‘पुनरुक्तवदाभास छेकानुप्रास एव च’ इति चिरंतनप्रसिद्धिः ।  
अर्थालंकारत्वादर्थालंकारप्रकरणे पुनरस्य युज्यमानत्वम् । नन्वादौ शब्दगतो, धर्मनिर्देशः  
कार्यं पश्चादर्थगत इति क्रमस्य न किञ्चिदप्रयोजनमुत्परयाम इति किं तेनेति यदन्यैरुक्तं

तद्युक्तम् । शब्दार्थयोः क्रमेणैव प्रतीताववभासनात्तथास्वेनैव धर्मनिर्देशस्योपपत्तेः किं च 'वर्धमानोःकर्पाणि शाखाणि प्रथन्ते' इति नीत्या परिमितचमत्काराणामर्थालंकाराणां पश्चान्निर्देशः कार्य इति सप्रयोजन एव क्रमः । चिरंतनमतामुल्लङ्घनेन च वयं प्रवृत्ता इत्ययुक्तमपि ग्रन्थकृता तन्मतमाश्रितम् । अग्रेऽप्यनेनाशयेन तन्मतमाश्रयणं करिष्यत्येव । तेन वयं यच्चिरंतनमताश्रयणं व्याख्यास्यामस्तद्युक्तमेव ।

दु-शब्द ( ध्वनि और गुणीभूतत्वंग्य इन ) दोनों काव्यप्रकारों से इस ( चित्र काव्यप्रकार ) की विलक्षणता ( विशेषता ) का चोतक है । इसीलिए कहा कि इस ( चित्रकाव्य ) के भेदों की संख्या अधिक है । शब्दार्थपौनरुक्त्य में 'शब्दार्थशब्द' में एकशेष समास है [ अर्थात् इसका विग्रह इस प्रकार होगा शब्दश्चायंश्चेति शब्दार्थः, शब्दश्च ( उत्सहितः ) अर्थश्चेति शब्दार्थः, शब्दार्थं च शब्दार्थं चेति शब्दार्थः, अर्थात् एकवार अलग अलग शब्दार्थ का समासमात्रगत जोड़ा = शब्दार्थः, दूसरी बार मिले हुए शब्दार्थ का जोड़ा, दोनों जोड़ों के वाचक दो "शब्दार्थशब्दों" का पुनः समास और उसमें एकनाम का वचना ] उस ( एकशेष समास ) से उभयालंकारों का ग्रहण भी हो जाता है । उसी को दिखलाने के लिए लिखना आरम्भ करते हैं "तथा हि = जैसे"-इत्यादि । ( सूत्रकार ने तीन प्रकार के पौनरुक्त्य का निरूपण पहले किया उस पर प्रश्न उठा कि- ) प्रकरण तो था चित्रनामक काव्य के भेदों के निरूपण का, उसमें पौनरुक्त्य के भेदों की चर्चा क्यों ? इस पर उत्तर देते हुए लिखते हैं आदौ = पहले, आरम्भ में इत्यादि । वक्ष्यमाण अलंकार अर्थात् पुनरुक्तवदाभास आदि पाँच अलंकार । शंकाः—अर्थ की प्रतीति शब्द की प्रतीति को आगे करके होता है इस लिए पहले शब्दगत धर्मों का ही निर्देश उचित था, न कि अर्थगत धर्मों का, उत्तर = अर्थः इत्यादि । चिरंतनप्रसिद्धि = भाव यह कि प्राचीन आलंकारिकों में पुनरुक्तवदाभास का ही निरूपण पहले किया जाता रहा है इसलिये हम भी यहाँ उसी का निरूपण पहले पहल कर रहे हैं इसलिए नहीं कि उसी का निरूपण पहले किया जाना उचित है । चिरंतनप्रसिद्धि के लिए ( उद्गट के काव्यालंकार-सारसंग्रह की प्रथम कारिका = ) "पुनरुक्तवदाभासं छेकानुप्रास एव च" ( ली जा सकती है ) । वस्तुतः पुनरुक्तवदाभास अर्थ का अलंकार है इसलिये इसका निरूपण अर्थालंकारप्रकरण में होना उचित था ।

कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि 'शब्द के धर्मों' का ही निर्देश पहले होना चाहिए, अर्थ के धर्मों का बाद में, यह जो क्रम है वह निरर्थक है, उलटा क्रम भी अपनाया जा सकता है, उसमें भी कोई हानि नहीं दीखती । किन्तु उनका यह कहना तथ्यशून्य है । क्योंकि शब्द और अर्थ की प्रतीति क्रम से ही होती है ( और उसमें शब्द की ही प्रतीति पहले होती है ) अतः उसी क्रम से धर्मनिर्देश करना ठीक रहता है । और क्रम सार्थकभी है क्योंकि "शास्त्र वे प्रसिद्ध होते हैं जिनमें उत्कर्ष बढ़ता जाय" ( उत्तरोत्तर अधिक महत्त्व का विवेचन प्रस्तुत करने वाले शास्त्र बढ़ते और प्रसिद्ध होते हैं ) इस व्यवहार के अनुसार अर्थालंकारों का ही निरूपण बाद में किया जाना चाहिए क्योंकि उन्हीं में ( अपेक्षाकृत अधिक ) चमत्कार होता है । जहाँ तक हमारा संबन्ध है हम ( अलंकारसर्वस्वकार ) 'प्राचीन ( उद्गटादि ) के मत का उल्लंघन बिना किए ही अपना ग्रन्थ बना रहे हैं" इस भावना से ग्रन्थकार युक्तिविरुद्ध होने पर भी प्राचीनों का क्रम ही यहाँ दे रहे हैं । इसी भावना से प्रेरित हो वे आगे भी प्राचीनों के मत अपना कर ही चलेंगे । इसलिये आगे भी हम जो प्राचीनों के मत के ही अनुसार व्याख्या प्रस्तुत करेंगे वह गलत नहीं होगा ।

### विमर्शिनो

एतदेव यद्योद्देशं निर्णेतुमाह—तत्रेत्यादि ।

उमें ]

अब इसी ( पौनरुक्त्य ) को नामनिर्देशक्रम से एक एक करके बतलाना आरम्भ करते हैं ।

[ सू० २ ] तत्रार्थपौनरुक्त्यं प्ररूढं दोषः ॥

प्ररूढाप्ररूढत्वेन द्वैविध्यम् । प्रथमं हेयवचनमुपादेये विश्रान्त्यर्थम् । तत्रेति त्रयनिर्धारणे । यथावभासनविश्रान्तिः प्ररोहः ।

[ नू० २ ] उन [ तीनों पौनरुक्त्य ] में प्ररूढ अर्थपौनरुक्त्य दोष होता है ॥

[ वृत्ति ] = '( अर्थपौनरुक्त्य ) दो प्रकार का होता है प्ररूढ और अप्ररूढ । [ इनमें से ] आरम्भ में त्याज्य [ दोषस्वरूप प्ररूढ पौनरुक्त्य ] का कवन उपादेय [ अलङ्कारस्वरूप अप्ररूढ पौनरुक्त्य ] से [ निरूपण को ] समाप्ति करने के लिए किया गया । 'तत्र'-शब्द तीन [ पौनरुक्त्य ] में से [ एक प्ररूढ के ] निर्धारण के लिए है । [ प्ररूढ में ] प्ररोह का अर्थ है 'आरम्भिक प्रतीति के समान ही अन्तिम प्रतीति का होना' [ अर्थात् पदार्थ और वाक्यार्थ दोनों की प्रतीतिओं का एकरूप होना ] ।

### विमर्शिनी

किमलङ्कारप्रस्तावे दोषकथनेनेत्याशङ्क्याह—प्रथममित्यादि । उपादेय इत्यलङ्कारस्वरूपे । यथेति । यथैव दृष्टस्तथैव पर्यवसित इत्यर्थः । यथा—

'हरिणनयनां सारगाशीं कुरङ्गविलोचना कमलवदनां राजीवास्या सरोजसमाननाम् । विलुलितकचां चञ्चल्लोकीं चञ्चिकुरोक्करा सुरतविहारी सभोगान्ते विलोक्य कामिनीम् ॥'

अत्र सारगाशीमित्यादिषु पुनर्वचनं प्ररूढम् । अप्ररूढं पुनरलङ्कारः ।

न चैतावतैव दोषाभावमात्रेणालङ्कारत्वमस्याशङ्क्यम् , वक्ष्यमाणनीत्यालङ्कारत्वोचितस्य विच्छित्तविशेषस्यापि भावात् । तदेवाह—आमुनेत्यादि ।

"अलङ्कार के प्रसंग में दोष ( प्ररूढ अर्थपौनरुक्त्य ) का कवन क्यों किया जा रहा है"—इस शका का उत्तर देने हुए कहते हैं—प्रथम = आरम्भ में इत्यादि । उपादेय अर्थात् अलङ्कार । 'यथा' "जैसा लगा वैसा ही ठहरा" । उदाहरण—

सुरतपूर्ति और सभोगसमाप्ति में कामिनी को देखो । उस समय वह हरिणनयना, सारगाशी और कुरङ्गविलोचना, कमलवदना, राजीवास्या और सरोजसमानना तथा विलुलितकचा, चञ्चल्लोकी और चञ्चिकुरोक्करा प्रतीत होती हैं । [ यहाँ हरिण, सारग और कुरङ्ग, नयन, अक्षि और विलोचना, कमल, राजीव और सरोज, वदन, आस्य और आनन, विलुलित, चञ्चल और चञ्चल तथा कच, केस और चिकुर शब्द एकार्थक हैं ] यहाँ सारगाशी इत्यादि पदों में पौनरुक्त्य प्ररूढ [ आरम्भ से अन्त तक एक सा बना रहता ] है । जो पौनरुक्त्य अप्ररूढ रहता है वह अलङ्कार माना जाता है ।

किन्तु इनके [ अप्ररूढ होने ] माथ में यह नहीं मानना चाहिए कि "यह ( अर्थपौनरुक्त्य ) दोषाभावमात्र है और यही इसका अलङ्कारत्व है" क्योंकि इसमें अलङ्कारोचित विशिष्ट सौन्दर्य भी अभी यही बतलाया जाने वाला है । उसी को बतलाने है—

### [ सर्वस्व ]

अथ पुनः अर्थालंकारः [ सू० ३ ] आमुखावभासनं पुनः पुनरुक्तवदाभासम् ॥

कार्यः पश्चाद—स्वप्नदृष्टं पर्यवसानेऽन्यथात्वप्रतिपत्त्यर्थम् । लक्ष्यनिर्देशे नापुंसकः

संस्कारो लौकिकालंकारवैधर्म्येण काव्यालंकाराणामलंकार्यपारतन्त्र्यध्वन-  
नार्थः । अर्थपौनरुक्त्यादेवार्थाश्रितत्वादर्थालंकारत्वं ज्ञेयम् ।

प्रभेदास्तु विस्तरभयाशोच्यन्ते । उदाहरणं मदीये श्रीकण्ठस्तवे यथा—

‘अहीनभुजगाधीश्वपुर्वलयकङ्कणम् ।  
शैलादिनन्दिचरितं क्षतकन्दर्पदर्पकम् ॥  
वृषपुंगववल्गुमाणं शिखिपावकलोचनम् ।  
ससर्वमङ्गलं नौमि पार्वतीसखमीश्वरम् ॥’  
‘दारुणः काष्ठतो जातो भस्मभूतिकरः परः ।  
रक्तशोणाग्निश्चञ्चण्डः पातु वः पावकः शिखी ॥’  
‘भुजंगकुण्डली व्यक्तशशिशुभ्रांशुशीतगुः ।  
जगन्त्यपि सदापायादव्याच्येतोहरः शिवः ॥’

[ सूत्र-३ ] किन्तु [ केवल ] आरम्भ [ मात्र ] में भासित होने वाले [ अर्थ-पौनरुक्त्य-  
तो पुनरुक्तवदाभास [ अलंकारभूत पुनरुक्त पद ] हैं ।

[ वृत्ति ] [ सूत्र में ] आमुख शब्द का प्रद्वेष पर्यवसान [ अन्त ] में भिन्नता [ पुनरुक्त के  
अभाव ] का शान कराने के लिए किया गया । लक्ष्य [ पुनरुक्तवदाभास के नाम ] निर्देश में  
[ पुनरुक्तवदाभासशब्द के साथ पुल्लिङ्ग न होकर ] नपुंसकलिङ्ग का प्रयोग इस तथ्य को ध्वनित  
करने के लिए है कि काव्य के अलंकार अलंकार्य [ काव्य ] से बंधे होते हैं, लौकिक अलंकार [ हार  
आदि ] के समान [ अलंकार्य से स्वतन्त्र ] नहीं । यह अलंकार अर्थ के पौनरुक्त्य पर निर्भर है  
अतः स्वयं भी अर्थ पर निर्भर है और इसीलिए इस अलंकार को अर्थालंकार समझना चाहिए ।  
[ इसके ] प्रभेद नहीं बतलाए जा रहे क्योंकि [ हमें ] विस्तार में नहीं जाना है । उदाहरण जैसे  
मेरे श्रीकण्ठस्तव में—मैं भगवान् शंकर को प्रणाम करता हूँ जो वहीन [ अहि-सर्प, इन = स्वामी,  
अ-हीन = पुष्ट ] भुजगाधीश [ वासुकिनाग ] के शरीर के बलय [ मण्डलीकृत शरीरों का कंकण  
पहने हैं, जो शैलादिनन्दिचरित [ शिलाव पुत्र = शैलादि अर्थात् नन्दी, शैलादि नन्दी, पुनरुक्त,  
शैलादि को नन्दित प्रद्वेष करने वाला चरित ] जो क्षतकन्दर्प-दर्पक हैं—[ कन्दर्प और दर्पक =  
काम = पुन०, कन्दर्प का दर्प ] निमक्का निशान है वृष पुंगव [ वृष = बैल नन्दी, पुंगव = बैल  
नन्दी, वृषों में पुंगव श्रेष्ठ ], जो शिखिपावक से युक्त नेत्र वाले हैं शिखी = अग्नि और अग्नि-  
पुन०, शिखायुक्त अग्नि जो ससर्वमंगल और पार्वतीसहित हैं [ सर्वमंगला-पार्वती, उनसे युक्त,  
तथा सबके मंगल से युक्त ] ।

‘दारुणः काष्ठ से उत्पन्न [ दारुणः = दारुण शब्द का पंचमी एकवचन, अतः दारु से और  
काष्ठ से = पुनरुक्ति; दारुण = क्रूर ] भस्मभूतिकर [ भस्म और भूति = भस्म पैदा करने वाले,  
भस्म की भूति = ढेर पैदा करने वाला ] तथा रक्तशोणाग्नि [ रक्त = खून, शोण = खून, के समान  
लपट वाले शोण = लाल ] शिखी [ शिखा = लपट वाला अग्नि ] उच्चण्ड पावक [ अग्नि और  
पवित्र करने वाला ] आपकी रक्षा करे !’

—ये स्थल हैं सुवन्त [ नाम पदों ] के पौनरुक्त्य के । तिष्ठन्त [ क्रियापदों ] का पौनरुक्त्य  
भी उसी प्रकार वही [ मेरे श्रीकण्ठस्तव में ]—

भुजंगकुण्डली [ कुण्डली = सर्प, कुण्डल वाले, ] व्यक्तशशिशुभ्रांशुशीतगुः [ व्यक्त है, शशी =  
चन्द्र, शुभ्रांशुचन्द्रशीतगु = चन्द्र जिसमें, शश = खरगोश से युक्त, शुभ्र किरणों वाला चन्द्र जिसमें ]  
चेतोहर [ चेतः चित्त को, हरः = शिव, चेतोहरः चित्त को हरण करने वाले ] शंकर भगवान् सारे



महाशब्दों को सदापायात् अव्यात् [ सदा पायात् = रक्षा करे, अव्यात् = रक्षा करे "सदापायात् = अपाय हानि से रक्षा करे ]" । [ यदा पायात् और अव्यात् पुनरुक्त में लगने हैं ] ।

### विमर्शिनी

अन्वयात्वेति । यथावभातस्यार्थस्य पर्यवसाने तथात्वेनैवाविश्रान्तिरित्यर्थः । अन्यथा ह्युक्तनीत्या दोष स्यात् । ननु पुनरुक्तवदाभासशब्दस्यालङ्कारशब्दसामानाधिकरण्यादुपमादिवदजहद्विद्वत्त्वयोगाच्च पुलिङ्गत्वे किमितीह नापुंसक-संस्कारः कृत इत्यादाङ्गवाह-लक्ष्येत्यादि । लक्ष्यस्य लक्षणीयस्य पुनरुक्तवदाभासस्य पुनःशब्दापेक्षया निर्देशो वचन-मित्यर्थः । अलङ्कार्यपारतन्त्र्येति । काव्यसामानाधिकरण्येन निर्देशात् । लौकिका हारादयः । पूर्णां ह्यलङ्कार्येण सह सयोग-संबन्धः । अत एवैषां तत्परतन्त्रतापि न स्यात् । काव्या-लङ्काराणां पुनरलङ्कार्येण सह समवायः संबन्धः । अत एवैषामयुतसिद्धत्वादलङ्कार्य-पारतन्त्र्यमेवेति लौकिकालङ्कारवैधर्म्यमेव न्याय्यम् । आश्रयाश्रयिभावेनालङ्कार्यालङ्करण-भावोपपत्तेः । किमाश्रयमस्यालङ्कारत्वमित्याशङ्क्याह-अर्थेत्यादि । एवकारः शब्दपौनरु-क्त्यावच्छेदघोतकः ।

अन्यथात्व = मित्रता अर्थात् अर्थ का ज्ञान आरम्भ में जैसा हुआ अन्त में उसका वैसा ही न ठहरना, ऐसा न होने से उभयुक्त ढग से [ पौनरुक्त्य प्रसूत होकर ] दोष बन सकता है ।

प्रश्न उठता है कि 'पुनरुक्तवदामास-' शब्द [ मूलतः पुलिङ्ग शब्द है और वह ठीक उसी प्रकार ] अलङ्कार का वाचक है जिम प्रकार अलङ्कारशब्द और इसलिये "उपमा" आदि शब्दों में जैसे लिंग नहीं बदलता उसमें भी लिंग नहीं बदल सकता फलतः उसमें पुलिङ्ग ही रहना चाहिये, तब उसके साथ नपुमकलिंग का प्रयोग क्यों किया गया"-इस पर उत्तर देते हुए लिखा "लक्ष्य"-आदि । लक्ष्य अर्थात् लक्षणीय यानी पुनरुक्तवदामास का पुनःशब्दापेक्षया निर्देश अर्थात् कथन । अलङ्कार्यपारतन्त्र्य, अलङ्कार्य = काव्य, उमके लिंग (नपुंसक लिंग) के साथ निर्देश करने से [ पुनरुक्तवदाभास शब्द में नपुंसक लिंग का प्रयोग ] लौकिक [ अलङ्कार ] = हार आदि । इनका अलङ्कार्य (शरीर) से सयोग सम्बन्ध रहता है । इसलिये ये शरीर के गुणधर्म अपनाने के लिए विवश नहीं रहने । काव्य के अलङ्कारों की स्थिति भिन्न है । [ उद्भट आदि के अनुसार ] इनका अलङ्कार्य के साथ समवाय संबन्ध रहता है । इन्हें काव्य से अलग नहीं किया जा सकता इसीलिए इन्हें काव्य के (लिंग आदि) गुण धर्म अपनाने पड़ते हैं । अतः इनका लौकिक अलङ्कारों से वैधर्म्य ठीक ही है । अब एक प्रश्न यह उठता है कि अलङ्कार और अलङ्कार्य में आश्रयाश्रयिभाव सम्बन्ध देखा गया है अतः इन (उपमादि) अलङ्कारों का भी कोई न कोई आश्रय होना ही चाहिये । वह कौन तत्त्व है ।" इसका उत्तर देते हुए लिखते हैं-"अर्थपौनरुक्त्य" आदि । यहाँ एव (ही) शब्द से पौनरुक्त्य का ग्रहण नहीं होता ।

विमर्शः—(१) आमासशब्द मरुहल में पुलिङ्ग शब्द है । "पुनरुक्तवदामास"—शब्द का अर्थ है "फिर से कहे गए जैसा लगना" । इस अर्थ में आमासशब्द स्वतन्त्रशब्द है किसी के लिये विशेषण शब्द नहीं, फलतः यहाँ इसका प्रयोग पुलिङ्ग में ही होना चाहिये, किन्तु सूत्र में उसे नपुंसकलिंग में रखा गया है "पुनरुक्तवदामासम्" इस प्रकार । यह क्यों ? वस्तुतः इस शब्द का नपुंसकलिंगान्त प्रयोग पहली बार उद्भट ने किया है । उनकी कारिका विमर्शिनी में उद्धृत है [ पुनरुक्तवदामास छेका-नुप्रास एव च ] [ दण्डी, रामह और वामन में यह अलङ्कार नहीं मिलता । ] वृत्तिकार ने यहाँ जो उत्तर दिया है उसका भी मूल कदाचित् उद्भट के काव्यलङ्कारसारग्रन्थ की लघुवृत्ति है । उसमें प्रतीहारेन्दुराज ने नपुंसकलिंगान्त पुनरुक्तवदामास शब्द में बहुव्रीहि प्रतिपादित किया है, और

शब्द को काव्यपरक माना है अर्थात् उन्होंने इस शब्द का अर्थ किया है ऐसा काव्य जिससे पुनरुक्त (पुनरुक्ति) जैसा आभास हो। पुनरुक्तवदाभास की उद्भूतकृत परिभाषा “पुनरुक्ताभासम् अभिन्नवस्तु इव उद्भासति भिन्नरूपं पदम्” “उस काव्य को पुनरुक्तवदाभासयुक्त काव्य कहते हैं जिसमें स्वरूपतः भिन्न पद अर्थात् अभिन्न लगते हों”—पर वृत्ति लिखते हुए प्रतीतिरेन्दुराज ने लिखा—“पुनरुक्ताभासम् अत्र काव्यमलंकार्यं निर्दिष्टम्, पुनरुक्तवद् आभासमानयोः पदयोः अलंकारत्वम् उक्तम्, न तु स्वतन्त्रतया। फलं चैवमभिधानस्य पुनरुक्तवदाभासमानपदसमन्वयस्य अलंकारताख्यापनम्। अलंकारस्य खलु अलंकार्यपरतन्त्रतया निरूपणे क्रियमाणे सुष्ठु स्वरूपं निरूपितं भवति, स्वात्मन्यवस्थितस्य तस्यानलंकारत्वात् समुद्राकस्थितहार-केयूर-पारिदार्यालंकारवत्। अतः पुनरुक्तवदाभासत्वस्य अलंकारताख्यापनाय काव्यपरतन्त्रतया निर्देशो युक्त एव।”

इस पूरे सन्दर्भ का कुल मिलाकर केवल इतना ही अर्थ है कि नपुंसकलिङ्गान्त पुनरुक्तवदाभास में बहुव्रीहि है और उससे युक्त यह शब्द अलंकार का वाचक न होकर काव्य का वाचक है। और काव्यशब्द नपुंसकलिङ्गान्त होता है। काव्यवाचकरूप से इस शब्द का प्रयोग इसलिए किया है कि काव्य में प्रयुक्त होने पर ही पुनरुक्त जैसे लगते पद अलंकार बनते हैं।

यहां अलंकारसर्वस्वसूत्र के वृत्तिकार भी इसी बात को दोहरा रहे हैं। टीकाकार के अनुसार वृत्तिकार प्राचीन आचार्यों को मान्यता का अनुसरण कर रहे हैं। उनका खण्डन नहीं।

किन्तु इस तथ्य का इन दोनों वृत्तिकारों के पास उत्तर नहीं है कि उद्भूट ने जहाँ पुनरुक्तवदाभास का उल्लेख—

“पुनरुक्तवदाभासं छेकानुप्रास एव च।  
अनुप्रासस्त्रिधा लाटानुप्रासो रूपकं चतुः॥  
उपमा दोषकं चैव प्रतिवस्तूपमा तथा।  
इत्येत एवालंकारा वान्वां कैश्चिदुदाहृताः॥”

—इस कारिका में किया है, वहाँ तो केवल अलंकारों का ही उल्लेख है। वहाँ तो काव्य के लिए इस शब्द का प्रयोग नहीं है। यदि ‘पुनरुक्तवदाभास’ शब्द काव्य के लिए है तो छेकानुप्रास आदि शब्दों को भी काव्य के लिए भी होना था, और इसीलिए उनमें भी नपुंसकलिङ्ग होना चाहिए था।

यहाँ ‘पुनरुक्तवदाभास’-शब्द ‘पद’ के लिए प्रयुक्त माना जा सकता है। ‘पद’ नपुंसकलिङ्ग शब्द है। “वह पद जिसका आभास पुनरुक्त सा हो”—काव्य का अलंकार होता है ऐसा अर्थ करने पर उपर्युक्त कारिका में भी नपुंसकलिङ्ग उचित सिद्ध होता है। अलंकाररत्नाकरकार ने सूत्र में ‘आमुल्लेकार्थपदं पुनरुक्तवदाभासम्’ इस प्रकार ‘पद’-शब्द का प्रयोग किया भी है। छेकानुप्रास आदि पद के धर्म नहीं, वृत्ति के धर्म हैं, अतः उन्हें स्वतन्त्ररूप से उनके अपने-अपने लिङ्गों में ही रखा उद्भूट ने पुनरुक्तवदाभास का जो लक्षण किया है उसमें तो “पुनरुक्ताभासं...पदम्” इस प्रकार पदशब्द का प्रयोग है ही।

वस्तुतः अलंकारसर्वस्वकार ने अपने सूत्र में उद्भूट के शब्द को दोहरा दिया है। उसके अनुसार अर्थ यह होगा कि “जो पौनरुक्त्य आरम्भमात्र में प्रतीत होता है वह तो वही तत्त्व है जिसे उद्भूट ने पुनरुक्तवदाभासम् कहा है।” दोनों में अन्तर यह है कि उद्भूट ने पुनरुक्त जैसे लग रहे ‘पद’को अलंकार कहा है और अलंकारसर्वस्वकार ने पदगत ‘पौनरुक्त्य’ को जो अधिक वैज्ञानिक है। पद

तो काव्यशरीर का घटक है अलङ्कार नहीं। पदगत पौनरुक्त्य अंगगत हार आदि अथवा मुद्गील-पन आदि के समान शोभापायक अलङ्कार माना जा सकता है।

यह भी समावना की जा सकती है कि सूत्र में जिस प्रकार उद्देश्य में “आमुप्रावमासन” इस प्रकार अवभासन शब्द है उसी प्रकार विषय में भी “पुनरुक्तवदाभासनम्” इस प्रकार “अव-भासन” शब्द रहा हो। ‘अवभासन’ शब्द नपुमकालिग होता ही है। किन्तु ऐसा सोचना संभव नहीं, कारण कि वृत्तिकार सूत्रकार के शिष्य हैं, उन्हें मूल पाठ में इस प्रकार भ्रम नहीं हो सकता। यदि सूत्रकार और वृत्तिकार अभिन्न हैं तब तो पाठभेद का प्रश्न ही नहीं उठता।

यह भी नहीं माना जा सकता कि सूत्रकार ने लघुवृत्तिकार की मान्यता को दोहरा दिया हो, क्योंकि एक तो प्रतीहारेन्दुराज सूत्रकार से पहले के हैं यह निश्चित नहीं दूसरे प्रतीहारेन्दुराज का यह कथन कि “पुनरुक्तवदाभासम्” पद काव्य के लिए है, पौनरुक्त्य और काव्य में अन्तर्-सिद्ध करता है, जो निरो भावुकता है। पौनरुक्त्य काव्य धर्म हो सकता है काव्य नहीं। इसीलिए हमें यहाँ भी वृत्तिकार और सूत्रकार उद्भट और प्रतिहारेन्दुराज के ही समान भिन्न लग रहे हैं।

यह भी सोचा जा सकता है कि—“पौनरुक्त्य तीन प्रकार के होते हैं—अर्थगत, शब्दगत, उभय-गत, इनमें अर्थगत पौनरुक्त्य यदि प्ररूढ हो जाय तो दोष माना जाता है, किन्तु यदि वह केवल आरम्भमात्र में प्रतीत हो, तो पुनरुक्तवदाभास होता है अर्थात् उसमें पद पुनरुक्त जैसे प्रतीत होते हैं। ‘इस प्रकार सदर्म के क्रम से ‘पुनरुक्तवदाभास’ शब्द पौनरुक्त्य के लिए बहुव्रीहि युक्त है, अतः नपुंसकलिगान्त है।’ किन्तु यह भी अवैज्ञानिक है, क्योंकि जब प्ररूढ पौनरुक्त्य दोष कहा जा रहा है तो अप्ररूढ को दोषविह्वल अलङ्कार कहना ही स्वाभाविक है, और निरूपण भी अलङ्कारोंका ही करने जा रहे हैं।

उद्भट ने पद को ‘पुनरुक्तवदाभास’ कहा और पद को ही अलङ्कार माना। उनको यह स्थापना स्थूल है अतः कदाचित् उनके इस दोष पर कटाक्ष करने के लिए सूत्रकार ने उनका पद उन्हीं के अनुसार प्रस्तुत कर दिया हो।

सर्वथा है यहाँ उद्भट के “पुनरुक्तवदाभास” शब्द का अनुवाद। उद्भट के पश्चात् पुनरुक्तवदाभास का निरूपण मम्मट में मिलता है। उद्भट ने इसे छोड़ दिया है। मम्मट का पुनरुक्तवदाभास विवे-चन इस प्रकार है—

[ का० ] पुनरुक्तवदाभासो विभिन्नाकारशब्दगा।

एकार्थित्वे शब्दस्य तथा शब्दार्थयोरयम् ॥ [ ९। ८६ काव्यप्रकाश ]

[ ४० ] मित्ररूप—‘सार्थकानर्थकशब्दनिष्ठमेकार्थत्वेन मुखे भासनं पुनरुक्तवदाभासः। स च शब्दस्य समझामङ्गरूपकेवलशब्दनिष्ठः।’ अर्थात्-भिन्न भिन्न आकार के सार्थक और निरर्थक शब्दों का आरम्भ में एकार्थक भासित होना पुनरुक्तवदाभास होता है। शब्द में वह समझ और अमङ्ग दोनों प्रकार के शब्दों में रहता है।

(२) वृत्तिकार सूत्रकार से भिन्न है यह तथ्य इससे भी प्रमाणित होता है कि सूत्रकार ने पुनरुक्तवदाभास को अर्थालङ्कार नहीं कहा। पुनरुक्तवदाभास में केवल पौनरुक्त्य को अर्थगत स्वीकार किया है। अर्थात् “अहीन” का अर्थ भी ‘मर्षों का राजा’ होता है और “मुजगाधीश” का भी। एक ही पद्य में दो बार एक ही अर्थ का कथन दोषतुल्य रहता है, किन्तु “अहीन” शब्द का अर्थ ‘पुष्ट’ है ऐसा समझ में आते ही अर्थ भिन्न हो जाते हैं। पौनरुक्त्य नहीं रहता। इस प्रकार मुल्लवे में टालना एक शब्दच्छल सिद्ध होता है जो विरोधाभास के समान चमत्कारी है। किन्तु अर्थ में

पौनरुक्त्य कदापि न आता यदि 'अहीन' शब्द के स्थान पर पुष्ट शब्द का प्रयोग किया गया होता। इसलिए पौनरुक्त्य अर्थ में भले ही हो किन्तु उसका प्रत्यायक है, पद। फलतः अलंकार पद नहीं है। काव्यप्रकाशकार ने इसीलिए अन्वयव्यतिरेक को गुण अलंकार और दोषों की शब्दार्थ-निष्ठता का मानदण्ड बतलाया है। यहाँ शब्द के रहने पर ही अलंकार रहता है। काव्यप्रकाशकार को इस स्थापना का पण्डितराज जगन्नाथने खण्डन किया है; किन्तु वह अवैज्ञानिक है। अलंकार-सर्वस्वकार ने अलंकारनिरूपण का जो क्रम अपनाया है उससे भी यह स्पष्ट हो जाता है कि वे पुनरुक्तवदाभास को शब्दालंकार मानते हैं। उन्होंने शब्दालंकारों के निरूपण के पश्चात् अर्थालंकारों का निरूपण किया है। फलतः सूत्रकार के अनुसार पुनरुक्तवदाभास शब्दालंकार ही है। उद्भट ने जो उपर्युक्त कारिकाओं में अलंकारों का नामोल्लेख किया है उसमें से भी प्रतीक्षारन्दुराज ने पुनरुक्तवदाभास आदि प्रथम चार अलंकारों को शब्दालंकार कहा है और शेष चार को अर्थालंकार। "तत्र चादी चत्वारः शब्दालंकारा निरूपिताः, रूपकादीनां तु चतुर्णामर्थालंकारता"। यद्यपि मम्मट ने पुनरुक्तवदाभास को शब्दालंकार मानकर उभयालंकार भी माना है तथापि उन्होंने, शब्दालंकारों में ही गिनाया है। काव्यप्रकाश के नवम उल्लास में शब्दालंकारों का ही निरूपण है। इसी प्रकार छिटपरम्परितरूपक आदि को भी उभयालंकार मानते हैं किन्तु गिनाते अर्थालंकारों में ही। कारण देते हुए कहते हैं कि उन अलंकारों की प्रसिद्धि वैसी ही है। उभयालंकार नाम से वे प्रसिद्ध नहीं हैं। वस्तुतः पुनरुक्तवदाभास में अर्थ की अपेक्षा शब्द का अलंकार-निष्पादकत्व प्रधान है, और छिटपरम्परितरूपक आदि में शब्द की अपेक्षा अर्थ का। फलतः उनको प्रसिद्धि शब्दालंकार और अर्थालंकार के रूप में ही है। मम्मट ने इनमें यदि एक एक की प्रधानता न देखी होती तो वे पुनरुक्तवदाभास, परम्परितरूपक आदि के लिए एकादश उल्लास लिखते और नवम में शब्दालंकार, दशम में अर्थालंकार का निरूपण कर उसमें उभयालंकार का निरूपण करते। वस्तुतः मम्मट को भी पुनरुक्तवदाभास में शब्दालंकारत्व ही अधिक मान्य है।

इस प्रकार यह सत्य है कि पुनरुक्तवदाभास में पौनरुक्त्य अर्थगत ही है; किन्तु यह भी सत्य है कि अलंकार शब्दगत ही है। यहाँ अर्थ में पौनरुक्त्य का दोष आता है। उसे उन्मेष मिलता है शब्द से। किन्तु शब्द का शिल्प उसे आभासात्मक ठहरा देता है। अतः चमत्कार शब्द के शिल्प में है। फलतः पुनरुक्तवदाभास शब्द का ही अलंकार है। वृत्तिकार ने इसे अर्थालंकार कहा है और टीकाकार भी उसका समर्थन करेंगे। किन्तु यह सब मूलविरुद्ध है।

(३) मम्मट ने आनन्दवर्धन के अनुसार अलंकारों को काव्यांग का धर्म माना है, काव्यात्मा का धर्म नहीं; और उन्होंने उसे हार आदि के समान कहा है। इससे इस भ्रम को जन्म मिलता है कि वे अलंकार और काव्य में सन्बन्ध भी नहीं स्वीकार करते हैं जो हार और शरीर में स्वीकार किया जाता है अर्थात् संयोग सन्बन्ध। किन्तु मम्मट ने ऐसा कहीं नहीं कहा। उन्होंने संयोग और समवाय के आधार पर गुण और अलंकार का उत्तर प्रस्तुत करनेवाले उद्भटादि के मत का खण्डन अवश्य किया है किन्तु उनका वह खण्डन यह सिद्ध करने के लिए नहीं है कि अलंकारों का संबन्ध काव्य में संयोगरूप ही है, और गुणों का समवायरूप ही। उनका खण्डन इसलिए है कि वे गुण और अलंकारों में संयोग और समवाय को भेदक नहीं मानना चाहते। वे उनके साक्षात् और परम्परया उपस्कारकत्व को ही भेदक मानना चाहते हैं। यह भी इसलिए कि संयोग और समवाय दार्शनिक शब्द हैं और वे विवादास्पद हैं। समवाय के लिए सन्बन्ध का एक छोर (अनुयोगी) अवश्य ही भौतिक होना चाहिए। संयोग तो केवल भौतिक पदार्थों में ही होता है। काव्य इसके विरुद्ध सर्वथा अमौतिक है। उसमें संयोगादि की चर्चा प्ररुद्ध नहीं हो सकती।

यह सिद्धान्त बिल्कुल मान्य है कि जिस प्रकार काव्यगुण काव्य से अलग करके नहीं पाए जा सकते उसी प्रकार काव्यालंकार भी काव्य से अलग करके नहीं पाए जा सकते, जब कि द्वार आदि पाए जा सकते हैं। निष्कर्ष यह कि गुणों को जो शौर्य आदि के समान कहा वह जितना संगत है उतना अलंकारों को जो द्वार आदि के समान कहा वह नहीं। उद्गटादि की मयोग और समवाय आदि की चर्चा का यही सार है। टीकाकार ने जो "काव्यालंकाराणां पुन अन्वयार्थेण सह समवायः संबन्ध" कहा उसमें समवाय का अर्थ 'अयुतसिद्धत्व' ही है। अयुत शब्द में यु धातु का अर्थ मिश्रण नहीं अमिश्रण है, अमिश्रण यानी पार्थक्य। फलतः उसका अर्थ है अपृथक्। जो वस्तुएँ एक दूसरे से पृथक् नहीं रह सकतीं उन्हें अयुतसिद्ध कहा जाता है। जैसे गुण और द्रव्य। यहा अलंकार भी काव्य से पृथक् नहीं मिलते। न्यायशास्त्र समवाय संबन्ध को द्रव्य में ही मानता है और काव्य द्रव्य नहीं है। अतः समवाय का अर्थ वही नहीं लिया जा सकता जो न्यायशास्त्र में लिया जाता है।

( ४ ) टीका में यहा एक पंक्ति है "लक्ष्यस्य लक्षणीयस्य पुनरुक्तवदामासस्य पुन शब्दापेक्षया निर्देशो वचनमित्यर्थ"। इसमें निर्णयसागर संस्करण के अनुसार "पुन शब्दा०" ऐसा, और "निर्देशो" ऐसा पाठ है। पुनःशब्दापेक्षया का संकेत कदाचित् सूत्रस्थ 'पुन. पुनरुक्त०' हम प्रकार आए प्रथम पुन शब्द की ओर है। निर्णयसागर संस्करण में यह सूत्र केवल "आमुखावभासन पुनरुक्तवदामासम्" इतना ही है। इसमें प्रथम 'पुन'-शब्द नहीं है। इसमें हमने टीका की इसी पंक्ति के आधार पर 'पुन.' शब्द जोड़ दिया है यद्यपि संजीविनीकार ने यहा 'तु' शब्द दिया है। प्ररूढ पौनरुक्त्य से अप्ररूढ का अन्तर बनाने समय व्यावर्तक्या बेलक्षण्यद्योतक ऐसे किसी शब्द का सूत्र में होना आवश्यक था। 'निर्देशो' यह सप्तमी अवश्य ही मुद्रादोष है।

संगति = आगे आरही विमर्शिनी जिन विकल्पों का खण्डन कर रही है वे अलंकाररत्नाकरकार द्वारा प्रस्तुत किए गए हैं। एतदर्थं अलंकाररत्नाकर के प्रथम सूत्र की वृत्ति देख लेनी चाहिए। यहाँ थोड़ा सा अंश आगे उद्धृत कर दिया गया है।

### विमर्शिनी

तेन शब्दस्यापौनरुक्त्याच्च शब्दालंकारो नाप्युभयालंकारोऽप्यमित्यर्थः। पर्यवसाने वस्तुतोऽर्थस्यासत्त्वात् धर्म्यभावे च धर्मस्य निर्विषयत्वात्पौनरुक्त्यं कस्य धर्म इत्यादिति न वाच्यम्। आमुखेऽर्थस्यावभासमानत्वेन सत्त्वाद्धर्मिधर्मभावस्य नैवानिष्टेरर्थगतयो सत्त्वासत्त्वयोरनुपयोगात्। आमुखावगतैव च प्रतीतिरलंकारबीजं न पार्यवसानिकी। तथात्वे ह्युपमारूपकादीनामप्यविशेषः स्यात्। पर्यवसानेऽप्यर्थस्य 'दारुणः काष्ठतो जातः' इत्यादाविन्धनार्थस्य सत्त्वादनैकान्तिकत्वाभावाच्छ्रुतशब्दवद्भावो न वाच्यः। पर्यवसानेऽप्यन्वयार्थं सन्नपि नालंकारत्वप्रयोजक इति 'अरिवधदेहदारीर' [ काव्यप्रकाश १।३८९ ] इत्यादावप्यसत्ता कायार्थानाविशेषात्समानः। किं च ह्यतो न पर्यवसानेऽर्थस्यासत्त्वम्। इह हि प्रतीतिमात्रसारत्वात्काव्यस्य यद्यथैव प्रतीयते तत्तथैव भवतीत्यविवादः। तद्वाधोऽपत्तावपि तैमिरिकद्विचन्द्रप्रतीतिवत् पुनरुक्ततयावभासत्त्वस्यार्थस्यावभासमानत्वात्सत्त्वमेव। नहि शतशोपि क्रूराद्यर्थेऽप्यलम्बे काष्ठादेरर्थस्यापुनरुक्ततया मानमस्ति। वाधोऽपत्तेः पुनर्द्विचन्द्रप्रतीतिवत्पौनरुक्त्यप्रतीतिरनुपपद्यमानत्वं भवति, ननु शुक्तिकायामिव रजतप्रलयस्य स्वरूपत एवाभावः। अत एवाभासपौनरुक्त्यापि प्रतीतिरपौनरुक्त्यपर्यवसायिन्यस्य स्वरूपम्। एवमपि वस्तुतः कायाद्यर्थाभावस्तदवस्य इति चेत्,

सत्यम् । किं तु तथा वस्तुतो वहिरसंभवन्नपि द्वितीयश्चन्द्रः प्रतीतौ कंचन विशेषमाधातुं नोत्सहते तथेहापि वस्तुवृत्तेन कायादेरर्थस्यासंभवेऽपि प्रतीतौ न कश्चिद्विशेष इति दिग्दि-  
काराग एव वास्तवत्वान्वेषणम् । तस्माद्भ्रावभासमानत्वमेवार्थस्य सत्त्वप्रतिष्ठापकं  
प्रमाणम् ।

क्योंकि [ पुनरुक्तवदाभास में ] पौनरुक्त्य [ अर्थ में रहता है ] शब्द में नहीं रहता, इसलिए  
न तो यह शब्दालंकार है और न उभयालंकार । ( शंका ) “जिस अर्थ में पौनरुक्त्य रहता है  
वह मिथ्या है क्योंकि वह अन्त में तो रहता नहीं है अतः पौनरुक्त्य किसमें रहेगा ?  
इसलिए कि धर्म बिना धर्मों के नहीं रह सकता” यह शंका नहीं करनी चाहिए; क्योंकि वह  
अर्थ आरम्भ में तो रहता ही है । अतः धर्मधर्मिभाव का कुछ नहीं विगड़ता [ यहाँ वस्तुतः  
“त्तैनेवेधेः” पाठ होना चाहिए, अर्थात् वास्तविकता और अवास्तविकता का यहाँ प्रतीतिपर-  
मार्थ काव्य में कोई उपयोग नहीं । यहाँ पुनपुनरुक्तवदाभास में आरम्भिक प्रतीति ही अलं-  
कार का वाज है, अन्तिम नहीं । यदि वैसा होता [ अन्तिम प्रतीति को अलंकार-बीज माना  
जाता ] तो उपमा और रूपक आदि में कोई अन्तर न होता [ क्योंकि अन्त में तो दोनों ही सादृश्य  
में पर्यवसित होते हैं ] ।

[ सच तो यह है कि ] अर्थ पर्यवसान में भी रहता ही है [ उदाहरणार्थ ] “दारुणः काष्ठतो  
जातः” में इन्धनरूपी अर्थ अन्त में भी ( व्यंजना द्वारा ) प्रतीत होता ही है । अतः जब उसकी  
सत्ता में संदेह नहीं ( अनैकान्तिकत्वाभाव ) है तब उसका शशशब्द ( खरगोश के सींग ) के समान  
अत्यन्ताभाव नहीं माना जा सकता । इतना है कि यहाँ इन्धनरूपी अर्थ पर्यवसान में भी प्रतीत तो  
होता है किन्तु वह अलंकारत्व का कारण नहीं बन पाता ( उसमें आरम्भ के समान चमत्कार नहीं  
रहता ) इसलिए “अरिवधेदह शरीर” [ शत्रु को बध देनेवाली अरिवधदा ईहा है जिनकी ऐसे  
शरीर = बाण वाले वीरों को ‘ईर’ = प्रेरित करने वाला, काव्यप्रकाश में पुनरुक्तवदाभास का उदा-  
हरण ] इत्यादि में [ देह और शरीर दोनों का अर्थ ] कायरूपी अर्थ और इत ( इन्धनरूपी )  
अर्थ की स्थिति एक ही है, दोनों में कोई भेद नहीं है । ( यहाँ निर्णयसागर संस्करण में ‘काय’ की  
जगह ‘कार्य’ छप गया है ) । वस्तुतः इन सब हेतुओं से भी पुनरुक्तवदाभास में अर्थ असत्य  
( अवास्तविक ) नहीं रहता । काव्य में सारा खेल प्रतीति का है अतः इसमें जो जैसा प्रतीत होता  
है वह निर्विवाद रूप से वैसा ही मान लिया जाता है । वाद में उसका बाध भी हो जाता है तब  
भी जैसे तैमिरिक रोग से पीड़ित को एक की जगह दो चन्द्र दिखलाई देते हैं, और उनमें से  
एक के बाधित होने पर भी दोनों का दिखाई देना बन्द नहीं होता उसी प्रकार पुनरुक्त अर्थ  
प्रतीत हो जाता है तो फिर प्रतीत होता ही रहता है । फलतः द्वितीय असत्य अर्थ भी प्रतीति में  
सत्य ही रहता है । ऐसा नहीं है कि ( दारुणः काष्ठतः ) में दारुण का अर्थ क्रूर प्रतीत हो जाने  
पर काष्ठरूपी अर्थ की प्रतीति बन्द हो जाती हो या उसमें पौनरुक्त्य की प्रतीति न होती हो ।  
बाध होने से द्विचन्द्र प्रतीति के समान पुनरुक्तप्रतीति में केवल अनुपपद्यमानता असमर्थनीयता-  
मात्र की प्रतीति होती है, न कि सीधी में रजतज्ञान के समान उसका स्वरूपतः अभाव प्रतीत  
होता है । इसीलिए पुनरुक्तवदाभास का स्वरूप अपौनरुक्त्य में पर्यवसित होनेवाला वह प्रतीति है  
जिसमें आरम्भ में पौनरुक्त्य आभासित होता हो । ( शंका ) “किन्तु ऐसा मानने पर भी ( “अरि-  
वधेदहशरीर” इत्यादि में ) काय आदि अर्थ का अभाव बना ही रहता है, काय आदि वास्तविक तो  
ही नहीं जाते” ? ऐसा कहना ठीक है किन्तु यहाँ वास्तविकता का अन्वेषण दिग्दिकाराग ही है,  
क्योंकि जिस प्रकार द्वितीय चन्द्रमा भौतिक रूप से बाहर उपलब्ध नहीं रहता तथापि उसके इस

अभाव से द्विचन्द्रप्रतीति में कोई फरक नहीं पड़ता, उसी प्रकार यहाँ काय आदि अर्थ के भौतिक-रूप से वस्तुतः न रहने पर भी पुनरुक्तत्वेन हुई उनकी प्रतीति में कोई फरक नहीं पड़ता। इस-लिए यहाँ (काव्यक्षेत्र में) पदार्थ की सत्ता का प्रमाणक उसकी प्रतीति या उसका अवभास ही है, (अर्थात् जिसका आभास हो रहा हो वह काव्य में सत्य ही है, लोक में भले ही न हो)।

### चिमशिनी

ननु अवभासमानत्वं प्रमातृधर्म इति कथं तदाश्रयो धर्मः काव्यालंकार इति चेत्, असदेतत् । अवभासमानत्वस्यावभास्यनिष्ठतया प्रतीतेरर्थधर्मत्वात् । तथा हि केषाचन प्रतीतिवादिनां—

‘तथाहि वेद्यता नाम भावस्यैव निजं वपुः ।

चैत्रेण वेद्य वेदीति किं ह्यत्र प्रतिभासते ॥’

इत्याद्युक्तयुक्त्या कौमारिलवघ्निलताया इव वेद्यताया अप्यर्थधर्मत्वमेवेष्टम् । इह च तदुपक्रम एवेति न वस्तुवादसस्पर्शो न्याय्यः । आमुखतुल्यार्थत्वस्य च शब्दधर्मत्वेन शब्दाश्रयत्वात् शब्दालंकारत्वं यद्यस्योच्यते तथापि पर्यवसाने वस्तुतस्तुल्यार्थत्वस्यासंभवात् शशशब्दवदधर्मिभावो दुष्ट स्यात् । सत्येऽपि दोष एवेत्यस्मत्पक्षोक्तसमप्रचोद्यावकाशः । अत्रापि यद्यामुख पूर्वकार्यत्वेनावभासन समाधिस्तदास्मत्पक्षेण किमपराद्धम् । एवं च विरोधेऽपि वस्तुतो विरुद्धस्यार्थस्यासंभवाद्विरुद्धार्थत्वस्य च शब्दधर्मत्वात् शब्दालंकारत्वं प्रसज्यते । अत्र विरुद्धस्यार्थस्यासंभवेऽपि कर्त्रादिभिर्वाच्यतयाध्यवसायः, इह तु पौनरुक्त्याश्रयस्यानन्वितत्वेन न वाच्यतेति चेत्, नैतत्, यतः ‘दारुणः काष्ठतो जातः’ इत्यादौ तावत्पौनरुक्त्याश्रयस्य काष्ठादेरर्थस्य जातत्वादिना सहान्वितत्वावगमादस्यैव मुरयया वृत्त्या वाच्यत्वम् । ‘अरिबधदेहशरीरः’ इत्यादौ तु वस्तुतः कायादेरवाच्येऽप्यवभातपौनरुक्त्याश्रयत्वाद्कृत्रिमार्थशोभापर्यवसायित्वेन वाच्यतयास्यैव त्रिविधित्वम् । अत्र ह्यकृत्रिमोऽर्थोऽलंकृतकृत्रिमार्थोपस्कृतो यथा चमत्कारकृत् न तथा तदुपस्कृततयोच्यमानः स्यात् । ‘स्त्रीणां हि कण्ठाभरणानि हाराः पयोधरानप्यभिभूयन्ति’ इत्यादिदृशा च हारस्य कण्ठालंकारत्वेऽपि सामीप्यात्तावतिशोभातिशयाधायकत्वाद्यथा पयोधरादावप्यलंकारत्वं तथैव कृत्रिमार्थाश्रयत्वेऽप्यवभासमानस्य पौनरुक्त्यस्याकृत्रिमार्थोपस्कारकत्वमपि प्रतीयत एवेति नानुभवापह्नवः कार्यः । एवं च पौनरुक्त्याश्रयस्यार्थस्य यत्रैव वाच्यत्वेन विवक्षितत्वं तत्रैवास्यालंकारत्वं नान्यत्र ।

‘अकृष्णापक्षेन्दुमुखी वन्धुजीवाधरघुतिः ।

इयं विलासिनी करय न नेत्रोत्सवकारिणी ॥’

‘अत्राकृष्णोत्सवपौनरुक्त्यस्य संभवेऽपि वाच्यत्वेनाविबक्षितत्वान्नायमलंकारः । एवं वक्ष्यमाणानामप्यलंकाराणां कत्रिविधस्यैव स्वरूपप्रतिष्ठापकं प्रमाण ज्ञेयम् । किं बहुना, सर्वेषामप्यलंकाराणामुपमितार्थत्वादेः शब्दधर्मत्वाच्छब्दालंकारत्वं स्यात् । तदर्थालंकारत्वमस्य ज्यायः, यावता ह्यर्थस्यामुख एव पुनरुक्तनयावभासोऽस्य जीवितम् । अत एव पुनरुक्तवदाभासमित्यन्वर्थसंज्ञा । अर्थस्य च पौनरुक्त्यप्रतीती न कस्यचिद्विवादः, तामेवाश्रित्य शब्दालंकारस्य भवद्विद्वेषत्वात् । एवं च प्रत्यासत्तेस्तदाश्रयत्वमेवास्यालंकारत्वं युक्तम् । अन्यथा तुक्त्यार्थशब्दतापि वाच्यधर्म इति तदाश्रयोऽपि स्यादित्यनवस्थाप्रसङ्गः ।

शंका होती है कि 'अवभासमानता तो वस्तुतः प्रमाता = अनुभविता ( सहृदय सामाजिक ) का धर्म है अतः उस ( अनुभविता ) में रहने वाले धर्म को वाच्य का धर्म अलंकार कैसे कह सकते हैं ?' उत्तर—यह कथन गलत है। अवभासमानता धर्म है अवभास्य वस्तु का, अतः प्रतीति भी वस्तुतः अर्थ का ही धर्म है। जैसी कि कुछ प्रतीतिवादियों की "वेद्यता। ज्ञेयता। जो है सो पदार्थ का ही अपना रूप है, मैं जानता हूँ कि चैत्र को क्या विदित है"—इस उक्ति में क्या भासित होता है ? [ अर्थात् यहाँ वक्ता के ज्ञान में चैत्र का ज्ञान ही विषय है, अतः वह यहाँ वस्तुरूप है। ] इत्यादि युक्तियों से वेद्यता भी ठीक उसी प्रकार अर्थधर्म है जिस प्रकार कौमारिक संप्रदाय ( भट्ट मत, पूर्वमीमांसा ) में नीलता ( भट्टमत में नीलादि वस्तुओं में जिस प्रकार नीलता आदि रहती है उसी प्रकार वेद्यता = ज्ञातता भी )। यहाँ ( पुनरुक्तवदाभास में ) वह ( अवभासमानत्व = वेद्यत्व ) आरम्भमात्र में रहता है ( अन्त में नहीं ) इसलिए यहाँ वस्तुवाद ( वास्तविकता की चर्चा ) का संस्पर्श भी करना उचित नहीं है।

( शंका ) "यह जो आरम्भ-आरम्भ में तुल्य ( एक से दो ) अर्थों की प्रतीति है इससे आमुख-तुल्यार्थत्व ( आमुख = आरम्भ में है तुल्य = एक सा अर्थ जिसका = ऐसा शब्द, तद्धर्म, इस प्रकार से ) धर्म शब्द में रहेगा और जब वह शब्द में रहेगा तब इस ( पुनरुक्तवदाभास ) को शब्दालंकार माना जाना चाहिए", ऐसी शंका उठारि जा सकती है ( किन्तु क्योंकि यह शंका धर्मधर्मिभाव ( आमुखतुल्यार्थत्व धर्म, शब्द धर्मों ) के आधार पर की जा रही है और धर्मधर्मिभाव आरम्भमात्र में बनता है अन्त में नहीं, क्योंकि अन्त में अर्थ नहीं रहता, अतः ) इस शंका के धर्मधर्मिभाव ने शशय्य के समान दोष आ जावेगा। ( पूर्वपक्ष ) यह और ऐसे सभी दोष तो आपके उस पक्ष में भी आवेंगे जिसमें अर्थ का प्रातिभासिक या प्रातीतिक अस्तित्व माना गया है। और यदि अपने पक्ष के उत्तर में आप यह तर्क प्रस्तुत करते हों कि पुनरुक्तवदाभास में शब्द आरम्भ में एकार्थक भासित होते हैं, तो हमारे पक्ष ने क्या अपराध किया है ? ऐसे तो विरोध में भी विरुद्ध अर्थ वास्तविक नहीं होता और विरुद्धार्थता धर्म होता है शब्द का, अतः उसमें भी शब्दालंकारत्व की प्राप्ति होती है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि विरोध में विरुद्ध अर्थ मिथ्या होते हुए भी कर्ता आदि से अन्वित रहने के कारण वाच्यरूप से स्वीकार किया जाता है ( यद्यपि मिथ्या होने के कारण उसका वाच्यत्व भी रहता झूठा ही है ( इसके विपरीत पुनरुक्तवदाभास में पौनरुक्त्य का आश्रयीभूत अर्थ अन्वित नहीं रहता अतः वह वाच्य नहीं माना जा सकता, क्योंकि 'क्षरणः काष्ठतो जातः' इत्यादि स्थलों में पौनरुक्त्य के आश्रय काष्ठ आदि अर्थ का जातत्व आदि के साथ अन्वय प्रतीत होता है फलतः वह ( पुनरुक्त अर्थ ) भी यहाँ सच्चे अर्थों में वाच्य है। यद्यपि "अरिवधदेहशरीरः" आदि में जहाँ पुनरुक्त्यार्थक शब्द भंगश्लेष द्वारा बना रहता है ( यथा शरीर-शब्द 'शरिणः ईरयति' इस प्रकार की व्युत्पत्ति से बना है ) वहाँ ( पौनरुक्त्याश्रय शरीर आदि शब्दों के ) काय आदि अर्थ वाच्य नहीं होते ( क्योंकि वहाँ वाचकशब्द का ही अस्तित्व अवास्तविक होता है ) किन्तु पौनरुक्त्य के आश्रयरूप से प्रतीत यह बनावटी अर्थ स्वाभाविक और मूलभूत अर्थ की शोभा बढ़ाता है अतः वह वाच्यरूप से अवश्य ही विवक्षित है। यहाँ जितना चमत्कार अलंकार और बनावटी अर्थ के द्वारा स्वाभाविक अर्थ के उपस्कार से होता है उतना उत्त ( कृत्रिमार्थ ) के द्वारा उपस्कृत रूप से इसके अभिधा द्वारा कथन से नहीं होता। "स्त्रियों के कण्ठाभरण द्वार स्तनों को भी भूषित करते हैं"—इस उक्ति के अनुसार जैसे द्वार आभरण ने कण्ठ के होते हैं तब भी शोभा समीपवर्ती ( होने के कारण ) स्तनों की भी बढ़ा दिया करते हैं दैसे ही पौनरुक्त्य रहता तो कृत्रिम अर्थ में ही है किन्तु वह अकृत्रिम ( स्वाभाविक ) अर्थ की भी शोभा



बढाता ही है। यह अनुभवसिद्ध भी है अतः इसको छिपाया नहीं जा सकता। इस प्रकार पौन-  
रुक्त्य का आश्रय अर्थ जहाँ वाच्यरूप से विवक्षित होता है वहीं यह अलंकार होता है, अन्यत्र नहीं।

“अकृगपक्षेन्दुमुखो, वन्धुजीव के समान अधरकान्ति वाली यह विलासिनी किसकी आरखो को  
आनन्द नहीं देती”।

यहाँ (‘अकारो वामुदेवे स्यात्’, ‘अक्षराणामकारो-स्मि’ इत्यादि वचनों के अनुसार ‘अ का  
अर्थ है विष्णु और वही कृष्ण का भी फलतः) “अकृष्ण” शब्द में पौनरुक्त हो सकता है तथापि  
वह वाच्यत्वेन विवक्षित नहीं है (कवि उसको बगलाना नहीं चाहता) अतः उसे (पुनरुक्तवदा-  
भास) अलंकार नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार आगे कहे जाने वाले अलंकार भी तभी  
अलंकार होंगे जब वे कवि को अलंकाररूप से विक्षित होंगे। अधिक से क्या? (रूपक दीपक  
आदि सादृश्यमूलक) सभी अलंकार शब्दालंकार कहे जा सकते हैं क्योंकि उनके शब्दों में उप-  
मितार्थत्व रहता है। इसलिए इस पुनरुक्तवदाभास) को अर्थालंकार मानना ही अधिक अच्छा है।  
क्योंकि वह अर्थ ही है जिसकी आरम्भ में पुनरुक्तरूप से प्रतीति होने के कारण इस अलंकार में  
प्राग आते हैं। इसीलिए “पुनरुक्तवदाभासम्” यह अर्थानुरूप नाम सार्थक सिद्ध होता है।  
अर्थ में जो पुनरुक्ति की प्रतीति है उसमें तो किसी को विवाद है नहीं क्योंकि उसी के आधार पर  
आपने भी रस अलंकार को शब्दालंकार माना है। प्रतीति का निकटवर्ती है अर्थ ही अतः उन्हीं को  
अलंकार का आश्रय मानना ठीक है। यदि दूरस्थ (शब्दों को भी आप अलंकाराश्रय मानना  
चाहें तो फिर वाक्य को भी अलंकाराश्रय मानिए क्योंकि वाक्य में भी तुल्यार्थकशब्दसुक्तता  
रहती ही है। इस प्रकार यदि दूरस्थ सम्बन्ध के आधार पर भी अलंकार की आश्रयता का निश्चय  
किया जाने लगेगा तो अनवस्था दोष आण्गा।

### विमर्शिनी

अथात्र शब्दस्वरूपवैशिष्टयनिघन्धनं चमत्कारकारित्वमिति तदलंकारत्वमिति चेत्,  
किं नाम शब्दस्य स्वरूपे वैशिष्टयम्। किं पौनरुक्त्यम्, उत पुनरुक्तार्थवाचिस्त्वम्, उत  
सम्भ्रामङ्गपदेन शिल्पत्वम्। तत्र न तावदाद्यं पक्षः। शब्दस्य द्विरुच्चारणाभावात्तथात्वा-  
प्रतिभासनात्। भाषि द्वितीयः। वाच्यवाचकभावेनालंकार्यालंकरणभावात्तस्याश्रयाश्रयिभावे,  
भोपपत्तेः। अत एव सर्वेषामेवार्थालंकाराणामुपमितार्थाद्विवाचित्वाच्छब्दस्य तदलंकारत्वं  
स्यादित्युक्तम्। नापि तृतीयः। पुनरुक्तवदाभासमित्यन्वर्थसंज्ञाश्रयणात्। पौनरुक्त्याख्य-  
धर्मप्रयोजकीकारेणालंकारस्योपक्रान्तत्वात् शिल्पत्वस्येहानौपयिकत्वात्। तच्च पुनरुक्त-  
ार्थपौनरुक्त्यावगमे निमित्तमात्रम्। निमित्तनिमित्तभावश्च नालंकारत्वप्रयोजक इत्यवि-  
चाद्। तस्मादर्थ्याश्रयत्वात्पौनरुक्त्यस्य तदलंकारत्वमेवेति युक्तम्। एवं चत्रलंकारतापि  
निरस्ता। सर्वेषामपि वचनप्रतिशयस्वरूपात् तथात्वोपपत्तेः।

यदि यह कहे कि “शब्द के स्वरूप में वह वैशिष्टय है जिससे चमत्कार होता है अतः अलंकार  
को शब्दाश्रित ही मानना ठीक है “तो हम पूछते हैं शब्द के स्वरूप में क्या वैशिष्टय है? क्या वह  
वैशिष्टय पौनरुक्त्यस्वरूप है, अथवा पुनरुक्तार्थवाचक-स्वरूप, अथवा समंग और अमंग इत्ये से  
सुक्त होना। इनमें से प्रथम पक्ष अमान्य है क्योंकि (पौनरुक्त्य में शब्द का दूसरी बार उच्चारण  
आवश्यक होता है और शब्द का) दूसरी बार उच्चारण यहाँ होना नहीं है। दूसरा पक्ष भी  
मान्य नहीं, क्योंकि (यहाँ पुनरुक्तवदाभास में) एक को अलंकारता और दूसरे को अलंकार्यता  
वाच्यवाचकभाव पर निर्भर है आश्रयाश्रयिभाव पर नहीं। (यदि पुनरुक्तवदाभास शब्दस्वरूपनिष्ठ

माना जाय तो उसमें वाच्यार्थज्ञान के विना भी अलंकारत्व मानना पड़ेगा जो अनुभवविरुद्ध होगा। वस्तुतः जब अर्थों का ज्ञान होता है तब उनमें पौनरुक्त्य का ज्ञान होता है और तब चमत्कार इसीलिए स्वयं पूर्वपक्षी ने भी 'पुनरुक्तार्थवाचित्व' इस प्रकार वाच्यवाचकभाव को अपने पक्ष में प्रस्तुत किया है। इसीलिए, जैसा कि हमने पहले कहा है, अर्थ के (उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि) सभी अलंकार शब्दालंकार माने जा सकते हैं क्योंकि उपमितार्थवाचित्व (आरोपितार्थवाचित्व, उत्प्रेक्षितार्थवाचित्व) इत्यादि धर्म शब्द में रहते ही हैं।

तीसरा पक्ष भी अमान्य है क्योंकि 'पुनरुक्तवदाभास' यह संज्ञा अन्वर्थ संज्ञा है (इसमें स्वयं शब्द ही अपना प्रतिपाद्य अर्थ प्रतिपादित कर देता है क्योंकि वह यौगिक शब्द है) इसके अतिरिक्त यहाँ जो अलंकारों का विवेचन किया जा रहा है वे पौनरुक्त्य-जनित अलंकार ही हैं अतः यहाँ आगे आने वाले श्लेष की चर्चा अप्रासंगिक और अनुपयुक्त है। वह (श्लेष) तो यहाँ एक निमित्त भर है जिससे अर्थपौनरुक्त्य प्रतीत हो सके। और निमित्तनिमित्तिभाव तो अलंकारत्व का प्रयोजक होता है नहीं। इस प्रकार (तीनों पक्ष अमान्य ठहरते हैं और पुनरुक्तवदाभास से 'शब्दस्वरूपाधितत्व या शब्दालंकारत्व का) कोई विवादास्पद शेष नहीं रहता।

उक्त हेतुओं से यही मानना उचित है कि पुनरुक्तवदाभास अर्थालंकार ही है क्योंकि यहाँ पौनरुक्त्य का आश्रय अर्थ ही है।

इसी प्रकार (पुनरुक्तवदाभास) की वक्त्रलंकारता (वक्ता = कवि, तद्गत अलंकारता ?) भी निरस्त हो जाती है क्योंकि वक्त्रलंकार तो सभी अलंकारों को कहा जा सकता है क्योंकि वे सब वक्त्रतिशयस्वरूप होते हैं। [वक्त्रलंकार से संबन्धित यह पंक्ति रत्नाकर के पुनरुक्तवदाभास प्रकरण की परिकर कारिका के बाद की पंक्ति पर निर्भर प्रतीत होती है, जिसमें अलंकार को कविप्रतीतिरूप धर्म माना है]

**विमर्श**—अलंकारसर्वस्वकार के विरुद्ध रत्नाकरकार ने पुनरुक्तवदाभास को शब्दालंकार माना है। उन्होंने इसके समर्थन में तर्क प्रस्तुत करते हुए कहा है कि यहाँ जो अर्थ पुनरुक्त प्रतीत होता है वह अपने आप में असत् है और उसका जो आभास होता है वह भी उसका धर्म न होकर प्रमाता का धर्म है जबकि अलंकार प्रमाता का धर्म नहीं हो सकता। संश्लेष में उनका मूलविवेचन इस प्रकार है—

सू० आमुखैकार्थपदं पुनरुक्तवदाभासम् ॥ १ ॥

वृ०\*\*\*\*\*आमुखतुल्यार्थत्वस्य च शब्दधर्मत्वेन शब्दाश्रयत्वाच्छब्दालंकारोऽयम् । न त्वर्थधर्मःपौनरुक्त्यमलंकार इत्यर्थालंकारता वाच्या, अर्थस्यादिष्टमानत्वात् ।\*\*\*न च वाच्यं पारमार्थिकत्वमर्थस्यानुपयोगि, प्रतीतिमात्रसारत्वात् काव्यस्येति, अवभासमानत्वमपि न शब्दस्यार्थस्य वा धर्मः, किन्तु प्रमातुः, तस्य तथा संविदुत्पत्तेः ।\*\*\*न च प्रमात्राश्रयो धर्मः काव्यस्यालंकारः । न च कृत्रिमस्यार्थस्य पौनरुक्त्यादेर्धर्मस्यार्थोपस्कारकत्वं युक्तम्, असत् उपस्कारहेतुत्वासंभवात् । न चावभासमानपौनरुक्त्यालङ्कृतेन 'कृत्रिमैणार्थेनाकृत्रिमस्य अरिचयदेहशरीर' इत्यादौ रिपुमृत्युप्रदचेष्टादेरतिशयः कश्चित् प्रतीयते, येन तदुपस्कारकता स्यात् । चमत्कारित्वं तु शब्दस्य रूपवैशिष्ट्यनिबन्धनम् ।'

अनन्वितत्वात् कायादेर्वाच्यत्वं न प्रकल्प्यते ।

मुख्यार्थवाचसंबन्धफलाभावान्न लक्ष्यता ।

असंबन्धाभिधायित्वप्रसंगाद् व्यंग्यतापि वा ।

अकृत्रिमस्य चार्थस्य न धर्मः पुनरुक्तता ।

पुनरुक्तोऽपि वा तत्त्वे स एव स्यादलङ्कृतिः ।

पौनरुक्त्यमलङ्काररतेनार्थस्य न कस्यचित् ॥

इति परिकरदलोकाः ।

तस्यात् सर्वत्र काव्यम्य वस्तुतः, कविप्रतिपादनया वा, समवी कश्चिद् तत्प्रतीतिरूपो धर्मविशेषः शब्दागतोऽर्थगतो वाऽलङ्कारतया वाच्यः । इह स्वार्थालङ्कारत्वे पूर्वोक्तनीत्या विरोधादिवद् कवि-प्रतिपादनया वा न समवी कश्चिदर्थगतोऽपि धर्मविशेषः, इति 'अरिबधदेहशरीरे'—त्यादौ कायादि-वाचकदेहशरीरादिशब्दसाधारण विशिष्ट रूपमेकार्थत्वेनावाममान तदधर्मत्वेऽलङ्कार इति साधु । पदमत्र अर्थप्रतीतिवृत्तः, न तु मुत्तितन्त्रमेव । 'इस प्रकार रत्नाकारकार ने सभी प्रकार की पद सन्वन्धी मान्यता का भी स्पष्टन किया है । पद का अर्थ केवल अर्थ प्रतीति कराने वाला शब्द करते हैं जब कि सर्वस्वकार ने पद को सुवन् और तिष्ठन्त शब्द में विभक्त किया था ।

### चिर्मर्शिनी

विस्तरभयादिति । न तु चित्रत्वाभावात् । नोच्यन्त इति । वस्तुतस्तु संभवन्त्येवेर्यर्थः । अतश्चायं प्रायो वाक्यार्थपदार्याश्रयत्वात्प्रथमं द्विधाभवन् समस्तासमस्तपदत्वेन चतुर्विधः । क्रमेण यथा—

'तुहिनचित्तिभृद्युष्मान्पातात्सर्वत्र[-]सर्वदा[-]ख्यात ।

हिमवानवतु सदा वो विश्वत्र समागत' ख्यातिम् ॥'

'नदीप्रकरमुल्लिङ्गितवन्त मनोहरहस्तमन्यजन्तं च, सपर्याणा रचिं वहन्तं सर्वत्र पूजनीयं च, सकुम्भं सकलशचरन्त च, सदानदन्त मदपर्याविलद्शनं च, करट कमपि विभ्रतं कवाटविभ्रममुब्रन्तं च, कुल्लराजिवधितरचिं वारणरणरणणिकाकुलितं च, राजमानविसंधायिनं विराजमानं च, शारीभूतं मदसलिलेन शबलीभूतं च, इति पुनरक्ताश्रयम्' इत्यनङ्गलेखायां हस्तिवर्णने ।

'यतहन्तामितः कालो गोविभावसुदीधितिः ।

चिपास्य रक्षावसितश्वेतराजयशोभय ॥'

असमस्तपदं तु ग्रन्थकृतैवोदाहृतम् ।

विस्तरभयादिति = विस्तार के भय से, न कि चित्रत्व के अभाव से । नोच्यन्त इति = नहीं बतलाए जा रहे यद्यपि हो सकते हैं । भेद की दृष्टि से इस पुनरुक्तवदामासलङ्कार को पहले दो भागों में बाँटो जा सकता है वाक्यार्थगत और पदार्थगत । तदनन्तर प्रत्येक के समस्तपदगत और असमस्तपदगत इस प्रकार दो दो भेद करके चार प्रकार का माना जा सकता है । इनमें से एक एक के क्रमशः उदाहरण ( वाक्यार्थगत समस्तपदाश्रित पुनरुक्तवदामास- )

[ इसमें पुनरुक्तार्थ इस प्रकार है—

सर्वदा और सदा, सर्वत्र और विश्वत्र ( विश्वशब्द भी सर्ववाचक है ) ख्यातः और ख्याति को समागत प्राप्त, तुहिनचित्तिभृद् = बर्फीली स्थली से युक्त और हिमवान् हिम से युक्त ( पर्वतराज हिमालय ) युष्मान् तुम्हारी और वः = तुम्हारी पातात्—रक्षा करे और अवतु = रक्षा करे ।

परिहार = तुहिन = बर्फी तथा क्षिति = पृथ्वी को धारण करने वाला, सर्वत्र सर्वदा ख्यात = सर्व = सबकी त्र = रक्षा करने वाला, सर्व = सब कुछ द = देने वाला आख्यात = कहा जाने वाला

वः = ( नाम प्रथमाश्रर ग्रहण करके ) विष्णु स्वरूप, विश्वत्र = विश्व भर में सर्वत्र, सदा = सब कालों में ख्याति को प्राप्त समागत हिमवान् ) = पर्वतराज हिमाचल दुष्मान् = तुम सबको पातात् = अथः-पतन से अवसु = वचावे । यहाँ पूर्वार्ध और उत्तरार्ध के वाच्यार्थ प्रथम पद्य में एकार्थ हैं और 'सर्वत्र सर्वदा ख्यात में समास है अतः यह उदाहरण वाक्यार्थगत समरत पदाश्रित पुनरुक्तवदाभास का हुआ ।

वाक्यार्थगत असमस्त पदाश्रित पुनरुक्तवदाभास यथा अनंगलेखा में "नदी प्रकरसुलिंग-तवन्तम्" इत्यादि हस्तितवर्णन ।

इस में पुनरुक्तार्थ =

दीप्र = चमकने हुए कर = शुष्णदादण्ड को न उल्लिखितवन्तम् = न छोड़ते हुए मनोहर = सुन्दर हत = शुष्णदादण्ड को अत्यन्तम् = न छोड़ते हुए ( तो ) सपर्यागां = सपर्याओं = पूजाओं को रचि शोभा को धारण किए हुए तथा सर्वत्र पूजा पा रहे, सकुम्भ = कुम्भ (मस्तक) से युक्त तथा सकलज्ञ = कुम्भ के साथ चरन्तं = चलने वाले सदान = दान = मदजल से युक्त दौत वाले तथा मद = मदजल से पर्याविल = भीगे हुए हैं दशन दौत जिसके कमपि किसी एक करट = कौए को धारण किए हुए और कवाटवि = कव = कुरिप्तद्रव्य = मल आदि पर अट = धूमने वाला वि = पक्षी = कौआ, उसके भ्रम = धूमने को अमुंचन्तम् = न छोड़ता हुआ ( ? ), कुंजर = हाथी उसके साथ आजि = युद्ध उसमें बढ़ी है रचि = इच्छा जिसकी ओर धारण = हाथी उसके साथ जो रण = युद्ध उसके लिए रणरथिका = इच्छा, ऐसे आकुलित, राजा के मान के विसंधायी = दूर करने वाला वि = विगत है दूर है राज = राजकीय मान जिससे मदजल से शारीभूतः अनेक वर्णमय, और शबलीभूत = अनेक वर्णमय इस प्रकार पुनरुक्त के आशय हाथी को "..." ।

परिहार = नदी प्रकर = नदी समुदाय को उल्लिखितवन्तम् = पार करते हुए सकल व्यक्तियों का शं = कस्याण, चरन्तं करते हुए ( हाथी का दर्शन शुभ माना जाता है ) । सपर्यागां पर्यागं = कुथ पालकी या हीदे से युक्त, सदानदन्त = सदा नदन्ताम् = विधाड़ते, करटं = गण्ड को, कुआराजि = कुओं की राजि .पौत, विराजमान = शोभित हो रहे, शबल ( दलेप में स-श-के अभेद से ) = सबल = बलशाली ।

[ यहाँ पूरे वाक्य में पुनरुक्तार्थता है किन्तु वैसे अर्थ प्रतिपादक पदों में समास नहीं है अतः यह वाक्यार्थगत असमस्त पदाश्रित पुनरुक्तवदाभास का उदाहरण हुआ । ]

पदाश्रित समरत पदाश्रित पुनरुक्तवदाभास यथा— "वतहन्तादि" पद्यार्थ ।

पुनरुक्तार्थ = वत = खेद, हन्त = खेद, असितः = कृष्ण वर्ण का कालः = कृष्ण वर्ण का, गो = किरण, विभा = किरण, वसु = किरण, दौधित = किरण; क्षिप = फेंको अस्य = फेंको; रक्ष = रक्षा करो; सित = सफेद, श्वेत = सफेद; राजय = विराजित होंगे, शोभय = विराजित होंगे ।

परिहार = दुःख की बात है कि असित काल कृष्ण पक्ष गो = चन्द्रमा ( गौः स्वर्गं वृषभे रश्मी वने चन्द्रमसि स्मृतिः = विश्व प्रकाश ) और असित काल = वर्षा ऋतु अथवा दक्षिणायन सूर्य = ( विभावसुदिनमणी हारभेदे च पावके = विश्वप्रकाश ) की दौधिति = किरणों को हन्ता = सूर्य समाप्त करता । हे अभय और रक्षा में अवहित = लगे श्वेतराज अस्य = इसके वक्ष को क्षिप = हटाओ ।"

यहाँ पदाश्रितमात्र में पुनरुक्ति है । और जिन पदार्थों में वह है उनके वाचक पदों में समास है अतः यहाँ पदाश्रित समस्तपदाश्रित पुनरुक्तवदाभास है ।

पदार्थगत असमस्तपदाश्रित पुनरुक्तवदाभास के उदाहरण स्वयं ग्रन्थकार ने ही प्रस्तुत कर दिए हैं।

यहाँ तक अर्थगत पौनरुक्त्य का विचार कर अब शब्दगत पौनरुक्त्य पर विचार करते हैं—

[ सर्वस्व ]

[ सू० ४ ] शब्दपौनरुक्त्यं व्यञ्जनमात्रपौनरुक्त्यं स्वरव्यञ्जनसमुदायपौनरुक्त्यं च ॥

अलङ्कारप्रस्तावे केवलं स्वरपौनरुक्त्यमचारुत्वान्न गण्यते इति द्वैविध्यमेव ।

[ सू० ४ ] शब्दपौनरुक्त्य [ केवल दो प्रकार का होता ] व्यञ्जनमात्र का पौनरुक्त्य तथा स्वरव्यञ्जन दोनों के समुदाय का पौनरुक्त्य ॥”

[ वृ० ] अलङ्कारप्रकरण में केवल स्वर का पौनरुक्त्य चमत्कारकारी नहीं होना इसलिए दो ही भेद बतलाए ।

विमर्शनी

केवलस्वरपौनरुक्त्यं किं न गणितमित्याशङ्क्याह—अलङ्कारेत्यादि । यथा—

इंदीवरम्मि इंदमि इंदआलम्मि इदिअगणम्मि ।

इदिदिरम्मि इंदमि जोइण्णो सरिससंक्कप्पो ॥”

अत्र स्वरपौनरुक्त्यस्य चाल्वाभावान्नालङ्कारत्वम् ।

तत्र केवलव्यञ्जनस्वरव्यञ्जनसमुदायाश्रितमलङ्कारद्वयं लक्षयति—मुख्येत्यादिना ।

“केवल स्वर का पौनरुक्त्य [ एक तीसरा भेद हो सकता था उसे ] क्यों नहीं गिना” इस शका पर उत्तर देते हुए लिखा ‘अलङ्कार’ इत्यादि । [ केवल स्वर के पौनरुक्त्य का उदाहरण ] यथा—इंदीवरम्मि...” इत्यादि पद्य । यहाँ स्वर ( इकार ) का पौनरुक्त्य तो है किन्तु उससे कोई चमत्कार नहीं हो रहा अतः उसे अलङ्कार नहीं कहा जा सकता [ अलङ्कार है यहाँ तुल्ययोगिता या दीपक ] ।

उक्त दोनों शब्दपौनरुक्त्यों में से केवल व्यञ्जनगत पौनरुक्त्य और स्वरव्यञ्जनगत पौनरुक्त्य, इन दोनों में जो जो अलङ्कार होते हैं उनका लक्षण करते हैं—

[ सर्वस्व ] //

[ सू० ५ ] संख्यानियमे पूर्वं छेकानुप्रासः ॥

द्वयोर्व्यञ्जनसमुदाययोः परस्परमनेकधा सादृश्यं संख्यानियमः । पूर्वं व्यञ्जनसमुदायाश्रितं यथा—

‘किं नाम दर्दुर दुरध्यवसाय सायं

कायं निपीड्य निनदं कुरुपे रूपेव ।

पतानि केलिरसितानि सितच्छदाना-

माकर्ण्य कर्णमधुराणि न लज्जितोऽसि ॥”

अत्र सायंशब्देनास्यालङ्कारस्य यकारमात्रसादृश्यापेक्षया वृत्त्यनुप्रासेन सदैकामिधानलक्षणः संकरः । छेका चिदग्धाः ।

[ सू० ५ ] “संख्या यदि नियत हो तो प्रथम [ व्यंजनपौनरुक्त्य ] छेकानुप्रास [ कह-  
लाता ] ॥”

[ वृ० ] व्यंजनों के दो समुदायों में एकाधिक बार सादृश्य का होना संख्यानियम [ या संख्या का नियत होना ] है। प्रथम अर्थात् व्यंजनसमुदायाश्रित [ पौनरुक्त्य, उसका उदाहरण ] यथा—  
“कि नाम ददुरं” इत्यादि संस्कृतपद्य । [ इसका अर्थ इस प्रकार है ] ‘अरे नासमझ मूर्ख ?  
युक्ता सा होकर इस समय शाम को पूरा शरीर कँपा कर इतनी दर्-दर् क्यों कर रहा है ?  
इन उज्ज्वल पंख वाले हंसों की श्रुतिशुद्ध क्रीडामयी सरस बाणी सुनकर तुझे लज्जा नहीं  
आती ?’ यहाँ [ दुर दुर और साय साय” इस प्रकार दो दो व्यंजनों की नियत संख्या में आवृत्ति  
है अतः छेकानुप्रास है, और ‘सायं कायं’ इन दो पदों में केवल ] यकार की आवृत्ति है अतः [ यह  
वृत्त्यनुप्रास है फलतः ] सायं शब्द में [ दुरध्यवसाय के साथ छेकानुप्रास और काय के  
साथ वृत्त्यनुप्रास होने से ] वृत्त्यनुप्रास के साथ [ छेकानुप्रास का ] एकवचनानुप्रवेश संकर है।  
छेक का अर्थ है विदम्ब ।

विमर्श—प्रतीहारन्दुराज ने छेक को घोसलों में रहने वाले पक्षियों का भी वाचक माना है—  
छेकशब्देन कुलायाभिरतानां पक्षिणामभिधानम्, तदुक्तम्—‘छेकान् गृहेष्वनिरतानुशान्ति नृगपक्षिणः’  
इति । जो पक्षी घोसलों में रहते हैं वे दूसरों से सताए नहीं जाते, अतः उनकी बोली इसी अनुप्रास  
के समान स्वभावतः मधुर होती है—‘तिपां कुलायाभिरतत्वादन्वेन केनचिद् अनायास्यमानत्वमने-  
नानुप्रासेन सदृशी मधुरा वायुच्चरति ।’

### विमर्शिनी

एकवचनस्य जात्या बहुत्वप्रसङ्गाद्बहुवचनस्य च ज्यादीनां स्वयमेव बहुस्वात्संख्या-  
नियमो द्विवच एव संभवतीति द्वयोरित्युक्तम् । द्वयोरप्येकधा सादृश्यं वृत्त्यनुप्रास एवे-  
त्याशङ्क्याह—अनेकथेति । यकारमात्रेण्यनेन द्वयोरेव सादृश्यमस्य जीवितमिति ध्वनितम् ।

यद्यपि चार्य व्यञ्जनमात्रपौनरुक्त्याख्यस्य सामान्यलक्षणस्य संभवादानुप्रास एवान्यै-  
रन्तर्भावितः तथाप्यस्य ग्रन्थकृता उद्भटमतानुरोधादिह लक्षणं कृतम्—अन्यथेत्यादि ।

द्वयोः इस प्रकार जो द्विवचन का प्रयोग किया गया उसका अर्थ यह है कि संख्यानियम  
केवल द्विवचन में ही संभव है, जहाँ तक एक वचन का संबन्ध है उसे जाति परक मानकर बहुत्व-  
परक मानना होगा और बहुवचन में बहुत्व के कारण संख्यानियम ही नहीं सकेगा। दो व्यञ्जन-  
समुदायों का सादृश्य भी यदि केवल एक बार ही धटित हो तो वह वृत्त्यनुप्रास होता है। इसी  
लिए छेकानुप्रास में “अनेकधा” शब्द का प्रयोग किया गया। यकारमात्र कहने का अभिप्राय यह  
है कि छेकानुप्रास बिना दो व्यञ्जनों के सादृश्य के संभव नहीं ( यहाँ केवल एक ही व्यञ्जन का  
सादृश्य है ) ।

यद्यपि यह छेकानुप्रास अन्य आचार्यों द्वारा सामान्य अनुप्रास में ही गिन लिया गया है  
क्योंकि इसमें सामान्य लक्षण व्यञ्जनमात्र पौनरुक्त्य समन्वित हो जाता है, तथापि ग्रन्थकार ने  
उद्भट के अनुसार यहाँ [ छेकानुप्रास का ] लक्षण अलग किया [ इस तथ्य का निर्देश करते हुए  
अगला सूत्र प्रस्तुत कर रहे हैं—]

### [ सर्वस्व ]

[ सू० ६ ] अन्यथा तु वृत्त्यनुप्रासः ॥

केवलव्यञ्जनमात्रसादृश्यमेकधा समुदायसादृश्यं ज्यादीनां च परस्पर-  
सादृश्यमन्यथाभावः । वृत्तिस्तु रसविषयो व्यापारः । तद्वती पुनर्वर्णरचनेह-

वृत्तिः । सा च परपकोमलमध्यमवर्णारब्धत्वात्त्रिधा । तदुपलक्षितोऽयमनुप्रासः । यथा—

‘आटोपेन पटीयसा यदपि सा वाणी कचेरामुखे  
खेलन्ती प्रथते तथापि कुरुते नो सन्मनोरञ्जनम् ।  
न स्याद्यावदमन्दसुन्दरगुणालंकारझांकारितः  
सप्रस्यन्दिलसद्रसायनरसासारानुसारी रसः ॥’

यथा या—

‘सद्भाः पद्मगफूल्कृतानलशिखा नाराचपाल्योऽपि वा  
राकेन्दोः किरणा विपद्रवमुचो वर्पासु चा वायवः ।  
न त्वेताः सरलाः सितासितरुचः सार्चीकृताः सालसाः  
साकृताः समदाः कुरङ्गकदशां मानानुविद्धा दृशाः ॥’

[ सू० ६ ] और महीं [ यदि संख्यानियम न हो ] तो [ व्यञ्जनपौनरुक्त्य ]  
वृत्त्यनुप्रास [ कहलाता है ] ।

[ वृ० ] ( १ ) केवल [ एक ] व्यञ्जनमात्र का सादृश्य, ( २ ) केवल प्क्वार समुदायसादृश्य तथा ( ३ ) तीन [ चार ] आदि [ मख्या वाले व्यञ्जनों का ] परस्पर सादृश्य यह है अन्यथाभाव [ अर्थात् एकानुप्रास की स्थिति से वृत्त्यनुप्रास की स्थिति का अन्तर ] [ वृत्त्यनुप्रास शब्द में ] वृत्ति का [ मूलभूत ] अर्थ तो है रमविषयक व्यापार किन्तु यहाँ वृत्ति है उस [ रस विषयक-व्यापार ] से युक्त वर्णरचना । वह [ रचना ] परुष, कोमल और मध्यम इन तीव्र प्रकार के वर्णों से युक्त होने के कारण तीन प्रकार की होती है । यह अनुप्रास उससे उपलक्षित होता है । उदाहरण है—“आटोपेन पटीयसा०” इत्यादि [ संस्कृत पद्य ] । [ इसका अर्थ है ] “बड़े मारी आटोप से यद्यपि बड़े वाणी ( वाग्देवी और कविता ) कवि के आमुख ( आरम्भ और मुर में ) खेलती रहती है और विस्तार को भी प्राप्त होती है किन्तु उतने पर भी मेरे चित्त को वह तब तक गुप्त नहीं कर पाती जब तक उज्ज्वल और सुन्दर गुणों तथा अलंकारों से झकृत, पद्म छूछल्लते रसायनरस की बौछार जैसा वह रस न हो ।” अथवा जैसे—“सद्भाः पद्मगफूल्कृता०” इत्यादि संस्कृतपद्य । [ इसका अर्थ है—

“सर्व की फुफकार से उत्पन्न अग्निशिखा हो या वाणों की पाँतों, पूर्वचन्द्र की तरल गरल जुआनी बिरणें हों या पवन के [ विपतुस्त्व ] पानी की फुहार [ विपद्रव ] लिए हुए बरसाती झींके, सब सद्य है । किन्तु ये जो मृगनयनियों की मानमती सरल श्वेतदयाम, तिरछी, अलसार्, भावमती, और मदमाती चितवर्णें हैं ये कथमपि सद्य नहीं ।”

विमर्श—सजीविनीकार के अनुसार दोनों उदाहरणों में से प्रथम के चारों चरणों में केवल व्यञ्जनसाम्य है । उसमें भी “अलंकारझांकारित” श्ममें प्क्वार समुदायसादृश्य है और “रसायनरसासारानुसारी रस” में तीन व्यञ्जन समुदायों का सादृश्य है । इसी प्रकार “आटोपेन पटीयसा” में गौडो रीति है, ‘अमन्दसुन्दर’ इत्यादि में वैदर्भी रीति और “गुणालंकारझांकारित” में पाचाली रीति है । इसका निर्णय उन-उन पदों से निकलने वाले अर्थों से होता है ।

इतो प्रकार द्वितीय पद्य में संजीविनीकार के अनुसार केवल व्यञ्जनपौनरुक्त्य ही । वृत्ति परुपा है क्योंकि वहां रोप का वर्णन है । संजीविनीकार ने ही 'सालस' और 'मानानुविद्ध' पर इस प्रकार टिप्पणी की है—

सालस = पश्चात्तापपूर्वक लौटती हुई चितवर्ने, जैसा कि भावप्रकाश में [ शारदातनय ] ने कहा है—'आलस्य वह भाव है जिसमें लज्जादि अभोट विपर्यो से विमुग्धता आवे' = 'आलस्यं तदमी-ष्टार्थाद् ग्रीडादेर्यन्निवर्त्तनम् ।'

मानानुविद्ध = रोपारुण, मान अर्थात् देखे या सुने किसी अपराध से उत्पन्न रोप, उससे जलती हुई चितवर्ने । "दृष्टश्रुतापराधवन्मा रोपो मानः, तेन समुच्छ्रिताः उबलकल्पा इत्यर्थः ।"

इन दोनों भेदों को संजीविनीकार ने वर्णालंकार कहा है और आगे जाने वाले पद्य को शब्दालंकार ।

### विमर्शिनी

एतदेव भेदनिर्देशं कुर्वन्व्याचष्टे केवलेत्यादि । समुदायः पारिशेष्याद् व्यञ्जनद्वयरूपः । एकधेति चात्रैव संबद्धव्यम् । केवलस्य श्यादीनां चानेकधापि सादृश्यस्थानेन व्यास-त्वात् । एतच्च समस्तासमस्ताक्षरत्वेन संभवतीत्यस्य प्रायः षट् प्रकाराः । क्रमेण यथा—

'यथा यायाय्यया युयं यो यो यं येययायया ।  
ययुयायि ययेयाय ययेयायाय याययुक् ॥'

असमस्ताक्षरं तु ग्रन्थकृतैवोदाहृतम् ।

'दीनादीनां ददौ दानं निननाद् दिने दिने ।  
निदिन्द नन्दनानन्दानन्दुनोदिननन्दनम् ॥'  
रुच्याभिः प्रचुराभिस्तरुक्षिरापाचिताभिरुचितामिः ।  
अचिररुचिरुचिरुचिभिश्चिराच्चिराभिश्चमत्कृतं चेतः ॥'  
'ततः सोमसिते मासि सततं संमतं सताम् ।  
अतामसोत्तममतिः सती सुतमसूत सा ॥'  
'कमलदशः कमलामलकोमलकमनीयकान्तिवपुरमलम् ।  
कमलंकुसुते तावत्कमलापतितोऽपि यो विमलः ॥'

आदिशब्दाच्चतुरक्षरादेर्यहणम् । यथा—

'स ददातु वासवादिदेवतासंस्तवस्तुतः ।  
सदा सहसर्ति देवः सविता विततां सताम् ॥'

वर्णरचनेह वृत्तिरिति । उपचारादिति भावः । त्रिधेति । यदुक्तम्—

'शपाभ्यां रेफसंयोगैष्टवर्गं च योजिता ।  
परुपा नाम वृत्तिः स्याद्दृहृहृहृहृश्रैश्च संयुता ॥  
सरूपसंयोगयुतां मूर्धवर्गान्त्ययोगिभिः ।  
स्पर्शैर्युतां च मन्यन्ते उपनागरिकां वृधाः ॥  
शेषवर्णैर्यथायोगं रचितां कोमलाख्यया ।

आभ्यां वृत्तिं प्रशंसन्ति काव्येष्वाहतबुद्धयः ॥ [ उद्भट काव्या. सं. ११४-६ ]



यथा—

निरर्गलविनिर्गलद्रूलगुलाकरालैर्गैरमी तदिति ताडितोद्गमरदिण्डिमोद्गमराः ।  
मदाचमनचञ्चुरप्रचुरचञ्चरीकोच्चया पण. परिणतिचणुषततटान्तरा दग्धितनः ॥

अत्र लकाराद्यावृत्त्या मन्व्यमश्वमिति वृत्तित्रैविध्यम् ।

[ छेकानुप्रासक से वृत्त्यनुप्रास के ] इमी [ अन्तर ] की व्याख्या भेद का निर्देश करने हुए कहते हैं—केवल इत्यादि । समुदाय—अर्थात् दो व्यञ्जनों का, क्योंकि वही शेष बचना है [ एक और तीन व्यञ्जनों का सादृश्य यही आगे और पीछे बतला दिया गया है ] 'एकधा=एकवार' इमका भी संबन्ध इमी [ दो व्यञ्जनों के समुदाय से करना चाहिए । एक और तीन चार आदि [ अर्थात् दो से अधिक सब ] व्यञ्जनों ला अनेकवार हुए सादृश्य भी इसी [ वृत्त्यनुप्रास ] में आ जाते हैं । यह अनुप्रास समस्त ( सभी ) अक्षरों में और असमस्त ( वृत्तिपयमात्र ) अक्षरों में हो सकता है इमलिप इसके [ एकव्यञ्जनगतानेकमादृश्य, द्वयधिकव्यञ्जनगतानेकमादृश्य तथा व्यञ्जन-द्वयगैकमादृश्य इन तीन भेदों को समस्ताक्षर और और असमस्ताक्षर इस प्रकार दो-दो प्रभेदों में विभक्त करने से ] प्रायः छ भेद होते हैं । एकएकका क्रमशः उदाहरण यथा

( १ ) एकव्यञ्जन समस्ताक्षर—“यया यायाव्यया०” इत्यादि पूर्ण पद्य ।

( २ ) इसी के असमस्ताक्षर का उदाहरण स्वयं ग्रन्थकार द्वारा प्रस्तुत है ।

( ३ ) व्यञ्जनसमुदायद्वय समस्ताक्षर—“दीदादीना ददी दानम्” इत्यादि पद्य ।

[ अर्थ है—उसके ] दान आदि को ( मप्रदान में पछी ) दान दिया, प्रतिदिन निनाद किया, नन्दन ( स्वर्गोदान ) के आनन्दों की निन्दा की और श्व-नन्दन = सूर्यपुत्र = यम को दुर्गा किया” ।

( ४ ) इसी में असमस्ताक्षर = “रुच्याभि प्रचुराभि.” इत्यादिपद्यरत्न । [ अर्थ है—रुचिर भाषा में प्रचुर, टाल की पकौ, छक छरुकर चारें दुई और रण में विजली के समान चिरा [ निर्णव-सागर सस्करण की टिप्पणी के अनुमार कर्मर के खूबानि ] नामक फलों से चित्त बहुत दिनों से टका है ।

( ५ ) अनेकव्यञ्जनगत० समस्ताक्षर = “तत सोमसिते मासि०” इत्यादि पद्य । [ अर्थ है—“उसके पश्चात् तामसीवृत्ति से रहित और उत्तम मति वाली उस स्त्री ने शुक्ल पक्ष में सत्पुरुषों में समाप्त मुन को जन्म दिया ।” ]

( ६ ) इसी का असमस्ताक्षर = “कमलदृशम्” इत्यादि पद्य । [ अर्थ है—“विष्णु से भी अधिक सुन्दर मा भाग्यशाली ऐसा कौन सीमाग्य शाली पुरुष है जिसे कमलनयनी का निर्मल और कमला [ लक्ष्मी ] या कमल के समान अमल और कमनीय कान्ति वाला शरीर अलङ्कृत करता है ? यहा केवल कमल' इन तीन व्यञ्जनों का अनेकवार सादृश्य है ]

आदि शब्द में चतुरक्षर आदि का भी ग्रहण किया जा सकता है उदाहरण यथा—“स ददानु०” पद्य [ अर्थ—“इन्द्र आदि देवताओं द्वारा संस्तवों में जिसकी स्तुति की गई है, वह सूर्यदेव सत्पुरुषों को सदा सद्ब्रमि प्रदान करें ।” यहा 'द, स, व त' इन वर्णों की अनेकवार आवृत्ति है ]

वर्णरचनेह वृत्तिः शब्दालंकारप्रकरण में वृत्ति का अर्थ वर्णरचना है अर्थात् = उपचार [ लक्षणा ] से । त्रिधा तीन प्रकार की, जैसा कि [ उद्भट ने ] कहा है—“श, य, रेफ, सयोग, टवर्ग तथा छ, ह, झ आदि से, युक्त [ जो वर्ण विन्याम होता है उम ] को परुषा वृत्ति कहा जाता है ।” काव्याल० सा० म० १ । ४ ]

[ क्क्, प्प् आदि ] 'सरूपवर्णों के संयोग से युक्त, तथा स्पर्श ['क' से लेकर 'म' तक के ] वर्णों में से प्रथम वर्ण के माथे पर अन्तिम वर्ण के संयोग से युक्त वृत्ति को विद्वज्जन उपनागरिका कहते हैं ।' [ कान्यालं०, सा० सं० १ । ५ ]

[ उपयुक्त दोनों वृत्तियों में उपयुक्त वर्णों से ] 'शेष [ लकार आदि ] वर्णों से यथायोग रचित ग्राम्या नामक वृत्ति को कान्यप्रेमी जन कोमलावृत्ति कहते हैं ।' [ काव्यालं० सा० सं० १।६ ]

[ इस तृतीय वृत्ति का उदाहरण ] यथा "निरर्गल-विनिर्गलद०" इत्यादि पद्य ।

[ इसका अर्थ है—“अब, बेरुकावट पढ़ रहे और गद्ग-गद्ग आवाज कर रहे गर्दों के द्वारा तद्दा-तद्दा तादित बहुत से विशाल डिब्बों के कारण हल्वद्वार, मदजल के आचमन में निरत झुण्ड के झुण्ड भौंरो से घिरे तथा परिणति [ तिर्यग्दन्तप्रहार ] के झण [ उछास ] में पर्वत-तटों को टूक-टूक करने वाले ये हाथी हैं पण [ घूट पर चढ़ा धन ] ।” यहाँ लकार आदि वर्णों की आवृत्ति है अतः यहाँ की वृत्ति मध्यम है—इस प्रकार वृत्तियां तीन होती हैं ।

विमर्श—वृत्त्यनुप्रास के लिए इन तीनों वृत्तियों के उदाहरण उद्धृत ने इस प्रकार दिए हैं—

( १ ) परुषा = “तत्र तोषाशयशेषव्याकोशतकुशेशया ।

चकाशे काश-किशारु-कपिशशासासुखा शरय ॥”

( २ ) [ उपनागरिका मध्यमा ] = “सान्द्राविन्दवृन्दोत्थमकरन्दान्मुविन्दुभिः ।

स्यन्दिभिः सुन्दरस्यन्दं नन्दितेन्द्रिन्द्रा कश्चिद् ॥”

( ३ ) कोमला = “केलिलोलालिमालानां कलैः कोलाहलैः क्वचित् ।

जुर्वती काननारुद्धश्रीनूपुर-रव-भ्रमम् ॥”

संजीविनीकार ने अनुप्रास के उक्त विवेचन पर निम्नलिखित संग्रहकारिकाएँ बनाई हैं—

१—‘प्रकृत्यो वर्णविन्यासो रसाधनुगतस्तु यः । सोऽनुप्रासः स च च्छेकवृत्त्युपाधिकश्चाद् द्विधा ॥’

२—‘समुदायद्वयं यत्र विविधं साम्यवृच्छति । स च्छेकालानाद् प्राज्ञैः छेकानुप्रास ईरितः ॥

३—‘व्यञ्जनव्यापृतिवृत्तिवर्णानां रसगोचरा । तत्संयोगादियं वर्णरचना वृत्तिरिष्यते ॥’

४—‘सा वैदम्यादिभेदेन त्रिधा पूर्वेनिरूपिता । तयोपलक्षितत्वाच्च वृत्त्यनुप्रास इष्यते ॥’

दण्डी—ने अनुप्रास का विवेचन माधुर्य गुण के प्रसंग में किया है । उन्होंने अनुप्रास को विवेचन अत्यन्त मनोवैज्ञानिक पद्धति से इस प्रकार किया है—

वर्णावृत्तिरनुप्रासः पादेषु च पदेषु च ।

पूर्वानुभवसंस्कारबोधिनी यद्यदूरता ॥ १ । ५५ ॥

अर्थात् पादों और पदों में वर्णों की ऐसी पुनरुक्ति जिससे प्रथमोक्त वर्ण का संस्कार जाग सके अनुप्रास कहलाती है । यह तब होती है जब पादों या पदों में अदूरता रहती है । इस तथ्य का दण्डी ने एकत्रार पुनः दुहराते हुए लिखा—‘अनुप्रासमिच्छन्ति नातिदूरान्तरच्छतिम् ।’ इनके पाद-यमक में लाटानुप्रास का अन्तर्भाव हो सकता है ।

भामह—ने अनुप्रास का सामान्य लक्षण इस प्रकार किया है—‘सरूपवर्णविन्यासमनुप्रासं प्रचक्षते ।’ भेदों को उन्होंने दो नाम दिए हैं—ग्रामानुप्रास तथा लाटानुप्रास । ग्रामानुप्रास वही है । जिसे कलितानुप्रास या कोमलानुप्रास कहा जाता है । इनके लक्षण भामह ने नहीं बनाए केवल नामोल्लेख कर उदाहरणमात्र दिए हैं । वामन ने अनुप्रास को 'वर्ण-साम्यरूप माना है—‘शेषः सरूपोऽनुप्रासः’ । शेष का अर्थ उन्होंने इस प्रकार किया है—

‘पदमेकार्थमनेकार्थं च स्थानानियतं तद्वधमक्षरं च शेषः । सरूपोऽप्येव प्रसुक्तेन तुत्यरूपोऽनुप्रासः ॥’

सारूप्य की आवृत्ति से भिन्न बनजाते हुए भी उन्होंने लिखा है—‘कारस्व्यंनैवावृत्ति, कास्व्यंनैकदेशाम्या तु सारूप्यम्’ अर्थात् आवृत्ति में पूरे के पूरे पद को पुनः कटना पड़ता है जब कि सारूप्य में इसके साथ उस पद के अंश का भी पुनः कथन रहता है। अनुप्रास के विषय में अत्यन्त रचिपूर्ण टिप्पणी देते हुए वामन लिखते हैं—‘अनुस्वगो वर्णानुप्रासः श्रेयान्’ वर्णानुप्रास वह अच्छा होता है जो अधिक उत्कट नहीं होता। जो उत्कट होता है वह अच्छा नहीं ‘उत्वास्तु न श्रेयान्’। छानुप्रास का उल्लेख वामन में नहीं मिलता किन्तु उसका स्वरूप उनमें स्पष्ट है। वे उसे पादानुप्रास कहते हैं। छेक और वृत्ति नाम भी वामन में नहीं मिलते।

उद्भट—अनुप्रास का छेक, वृत्ति तथा छोट नामक अनुच्छेदों में प्रचलित वर्णोत्तरण प्रथमतः उद्भट में मिलता है। इसीलिए वृत्तिकार ने लिखा कि—‘छेकानुप्रास प्राचीन आलंकारिकों द्वारा सामान्य अनुप्रास में गिन लिया गया है।’ उद्भट का विवेचन इस प्रकार है—

‘छेकानुप्रासस्तु द्वयोर्द्वयो सुमदृशोक्तिःकृती।’ यथा ‘गरिष्ठगोष्ठी०’। उनका वृत्त्यनुप्रास का विवेचन पिछले पृष्ठ पर दिया जा चुका है। छानुप्रास पर उनका विवेचन इस प्रकार है—

‘स्वरूपाधीविशेषेऽपि पुनरुक्तिः फलान्तरात्।

शब्दानां वा पदानां वा छानुप्रास इत्येते ॥’

अर्थात्—‘शब्द अथवा पदों में, स्वरूप और अर्थ में अन्तर न रहने पर भी तात्पर्य में अन्तर होने मात्र से कौं गरं पुनरुक्ति छानुप्रास मानी जाती है।’ इसके भेद पाच माने हैं (१) स्वतन्त्रपदावृत्ति, (२) परतन्त्रपदावृत्ति, (३) स्वतन्त्रपदावृत्ति, (४) परतन्त्रपदावृत्ति तथा (५) स्वतन्त्र-परतन्त्रोभयात्मकपदावृत्ति। उद्भट ने इनमें से प्रत्येक के उदाहरण भी दिए हैं। सर्वस्वकार ने ‘काशः काशा इव’ पद्य उद्भट से ही लिया है। उन्होंने इसे स्वतन्त्रपदावृत्ति के उदाहरण के रूप में दिया था। सर्वस्वकार के सभी उदाहरण इसी एक भेद तक सीमित हैं।

रुद्रट—ने अनुप्रास को केवल वृत्त्यनुप्रास तक सीमित रखा है। उन्होंने छेकानुप्रास तथा छानुप्रास को अपने काव्याङ्कार में स्थान नहीं दिया। अनुप्राससामान्य का लक्षण उन्होंने इस प्रकार दिया है—

‘एकत्रिंशन्नरित व्यञ्जनमविवक्षितस्वर बहुशः।

आवर्त्येन निरन्तरमथवा यदसावनुप्रासः’ ॥ २।१८ ॥

यद्य अनुप्रास का नाम तो वृत्त्यनुप्रास नहीं मिलता, परन्तु इस मदर्थ में रुद्रट द्वारा किए गए पाच वृत्तियों के निरूपण से यह अमान्य नहीं रह जाता कि वे अनुप्रास को वृत्त्यनुप्रासात्मक ही मानते हैं। पाच वृत्तियों के नाम उन्होंने इस प्रकार दिए हैं—

‘मधुरा, प्रौढा परया, ललिता, भद्रेति वृत्त्यः पञ्च।

वर्णानां नानात्वादस्येति यथार्थनामफलाः’ ॥ ३।१९ ॥

इन सबके पृथक्-पृथक् लक्षण बनाकर रुद्रट ने इनके उदाहरण भी दिए हैं।

मम्मट—ने उद्भट के ही अनुसार ‘छेक, वृत्ति और छोट’ इन भेदों में अनुप्रास का विभाजन करते हुए वृत्ति को व्यञ्जनारूप माना है। उनका विवेचन इस प्रकार है—

‘वर्णसाम्यमनुप्रास, छेकवृत्तिगणो द्विधा।

सौञ्जेकस्य सकृदपूर्वं धकत्याप्यसकृद परः।

शाब्दरतु छानुप्रासो भेदे तात्पर्यमात्रतः ॥

अर्थात् ‘वर्णसाम्य है अनुप्रास’। वह ‘छेक और वृत्ति’—इस प्रकार दो भेदों में श्रेष्ठ वर्णगत रहता है। इनमें छेकानुप्रास में अनेक वर्णों की एकता आवृत्ति होती है और वृत्त्यनुप्रास में एक

या अनेक वर्णों को अनेकवार । जो अनुप्रास शब्दगत होता है वह लटानुप्रास कहलाता है । इसके पांच भेद होते हैं—

‘पदानां स पदस्यापि वृत्तादन्यत्र तत्र वा ।

चान्नः स वृत्तवृत्त्योश्च तदेवं पंचधा स्मृतः ॥’

प्रथमतः यह दो भागों में विभक्त रहता है पदगत तथा नामगत या प्राप्तिपदिकगत । इनमें पदगत दो प्रकार का होता है अनेकपदगत और एकपदगत । नामगत तीन प्रकार का होता है एकसमासगत, अनेकसमासगत और एकानेकसमासगत । इस प्रकार कुल भेद पांच होते हैं ।

परवर्ती आचार्यों में रत्नाकरकार शोभाकरमित्र ने अनुप्रास का विवेचन उक्त भेदों में ही इस प्रकार किया है—

१—‘दयोर्द्वयोः समुदाययोः साम्यं छेकानुप्रासः ।’ ३ ।

२—अन्यथा तु वृत्त्यनुप्रासः । ४ ।

३—तुल्याभिधेय-भिन्नतात्पर्यशब्दावृत्तिर्लटानुप्रासः ॥ ५ ॥

तीनों अनुप्रासों तथा यमक का अन्तर बतलाते हुए उन्होंने लिखा है—‘व्यञ्जनमात्रसमुदाय-मध्यगतं स्वरव्यञ्जनसमुदायसाम्यमेकाक्षरव्यापि छेकानुप्रासः । शुद्धं बहुक्षरमल्पाक्षरं वा नियतस्थानं यमकम् । अनेकद्विधाभावे नियतस्थानगतमपि वृत्त्यनुप्रास इति भेदः ।’

अप्ययदीक्षित, पण्डितराज तथा विश्वेश्वर ने शब्दालंकारों का निरूपण नहीं किया ।

### चिमशिनी

एवं व्यञ्जनमात्राश्रयमलंकारद्वयं लक्षयित्वा स्वरव्यञ्जनाश्रयं यमकं लक्षयति—  
स्वरेत्यादि ।

इस प्रकार व्यञ्जनमात्र पर निर्भर दोनों अलंकारों के लक्षण निश्चित किए । अब स्वरव्यञ्जनाश्रित यमक का लक्षण करते हैं—

### [ सर्वस्व ]

[ सू० ७ ] स्वरव्यञ्जनसमुदायपौनरुक्त्यं यमकम् ॥

अत्र क्वचिद्भिन्नार्थत्वं क्वचिदभिन्नार्थत्वं क्वचिदेकस्यानर्थकत्वमपरस्य सार्थकत्वमिति संक्षेपतः प्रकारत्रयम् । यथा—

यो यः पश्यति तत्रेते रुचिरे वनजायते ।

तस्य तस्यान्यनेत्रेषु रुचिरेव न जायते ॥’

इदं सार्थकत्वे । एवमन्यज्ज्ञेयम् ।

[ सू० ७ ] “स्वर [ और ] व्यञ्जन [ दोनों का ] पौनरुक्त्य यमक [ कहलाता है ] ।”

[ वृत्ति ] इसमें [ पुनरुक्त पदों के ] अर्थ कहीं भिन्न-भिन्न होते हैं, कहीं अभिन्न और कहीं एक [ पद ] अर्थरहित रहता है तथा दूसरा सार्थक, इस प्रकार संक्षेप में तीन भेद होते हैं । उदाहरण जैसे—‘यो यः पश्यति’ इत्यादि पद्य । [ अर्थः—‘जो जो व्यक्ति तुम्हारे वनज ( कमल ) के समान विशाल और रुचिर नेत्र देखता है उस प्रत्येक में अन्य ( वृष आदि अथवा अन्य नायिका ) के नेत्रों पर कोई रुचि ही नहीं जागती ।’ यहाँ [ ‘रुचिरे वनजायते’ पदों की पूर्वाह्न और उत्तराह्न में आवृत्ति है और दोनों जगह प्रत्येक पद सार्थक है अतः यमक हुआ ] सार्थक पदों में । इसी प्रकार अन्य [ यमक भी ] जान लेने चाहिए ।

## विमर्शिनी

एकस्यैस्याद्युपलक्षणपरम् । अतो धृष्टानां यमकानां क्वचित्सार्थकत्वं निरर्थकत्वं च स्थितं संगृहीतमेव । 'क्वचित्सार्थकत्वं क्वचिन्निरर्थकत्वम्' इति तु पाठे प्रथममेव भेदद्वयमुक्तं स्याच्च तृतीयः प्रकारः । अतश्च भेदनिर्देशग्रन्थो यथास्थित एव उपायान् । मञ्जुपत इति । एतच्च काव्यात्मभूतरसचर्वाणामप्रयूहकारित्वात्प्रपञ्चयितु न योग्यमिति चिरंतनालंकारवच्च विमर्ज्य लक्षितमिति भावः । एवं चित्रेऽपि नैदम् । अन्यदिति । प्रभारद्वयम् । तत्रानर्थकं यथा—

'सरसमन्थरतामरसादरभ्रमरसज्जलया नलिनी मघौ ।

जलधिदेवतया सहस्रीं श्रिय स्फुटतरागनरागरुचिर्दधौ ॥'

अत्र तरागोत्थनर्थकम् । अनर्थकत्वसार्थकत्वयोर्यथा—

'साहार साहारं साहारं मुण्ड सज्जमाहारम् ।

सं ताणं सताणं संताणं मोहसताणम् ॥'

अत्र सज्जसाहारमित्यनर्थकम् । अन्यानि तु सार्थकानीनि न कश्चिदोपः ॥

इदं च स्थाननियममन्तरेण न भवति । यदुक्तम्—'पदमनेकार्थमचर चावृत्त स्थाननियमे यमकम्' इति । अत एव स्थाननियमाद्यमकमित्यस्यान्वर्थमभिधानम् । स च स्थाननियमो वैचिकी न वास्तवः । यथा—

'मधुपराजिपराजितमानिनीजनमन सुमन सुरभि श्रियम् ।

अमृत चारितवारिजविप्लवां स्फुटितताम्रतताम्रयण जगत् ॥'

अत्राचरद्वयानन्तरं यमकविन्यासात्स्थानस्य नियतत्वम् । यथा वा—

'द्विन्द्याद्भयार्तिं तव कार्तिकेयः शशी जितो येन स कार्तिके यः ।

उत्तरातदन्तो गणनायकस्य स्वामी यदन्यो गणनाय कस्य ॥'

अत्र चार्थद्वये यमकद्वयमिति स्थाननियमो द्विर्धवेति नास्यालंकारस्य इति काचित् ।

अतश्च—

'श्रु' तरसिकलितरुक्तरसिकलितरुजालहरिजालहरिणतमः ।

हरिणतमश्च ततस्तव ततस्तव. स्याद्यशोराशिः ॥'

इत्यत्र सत्वेऽपि स्वरव्यञ्जनसमुदायपौनरुक्त्यस्य स्थाननियमाभावाद्यमकाभासोऽयं घृत्यनुप्रासः ।

एक की अर्थरहिता उपलक्षणमात्र है । उससे बहुत से यमकों में जो किसी की सार्थकता और किसी की अर्थरहिता मिलनी है उसका भी उपादान हो जाना है । 'क्वचित् सार्थक और क्वचित् निरर्थक [ यमक ]' इस पाठ में प्रारम्भ के दो ही भेद कहे जा सकते हैं [ क्योंकि तब सार्थकता और निरर्थकता ये दो भेद उन्हीं के प्रभेद सिद्ध होंगे ] तीसरा नहीं, अतः भेदनिर्देश प्रस्तुत करने वाले ग्रन्थालंकार का जैसा का तैसा मानना ही अधिक अच्छा है । संक्षेप—मंशितरूप से, अमिप्राय यह कि यमक काव्यात्मा रम की चर्वाणा में विघ्न उत्पन्न करना है इसलिए इसका अधिक विस्तार करना उचित नहीं है इसलिए इसको प्राचीन अन्य अलंकारों के समान भेद-प्रभेद करके नहीं बनलाया । चित्र ( खड्गावन्त्यादि ) के विषय में भी यही जानना चाहिए । अन्यत् अर्थात् शेष दो प्रकार । इनमें से अर्थरहित का उदाहरण यथा—'सरसमन्थर' इत्यादि पद्य में 'तराग तराग' शब्द । वह अर्थरहित है [ प्रथम तराग शब्द स्फुटतर के 'तर' और आगत के 'आग' के मिश्रण से बना है तथा द्वितीय तराग शब्द आगत के 'त' तथा 'राग' शब्द के

मिलने से । वे सब शब्दांश हैं उनमें अभिधा नहीं, अतः उनका कोई अर्थ नहीं ] । [ इस पद का अर्थ है—‘मधुमास में कमलिनी ने जलधिदेवता—समुद्र की देवी के समान शोभा धारण की । वे दोनों ‘सरसमन्थरतामरसादरभ्रमरसज्जलया और स्फुटतरागतरागरुचि थीं । जलधिदेवता = सरस-मन्थ-रत-अमर-सादर-भ्रम-रसज्ज-जला (तृतीया एकवचन में ‘००जलया’) भी अर्थात् सरस = समुद्र या मन्थ = मन्थ अथवा सरस = प्रलोभन में पड़े तथा मन्थ = मंथन में रत अमर=देवता, उनके द्वारा सादर = आदरपूर्वक (व्यक्तिविवेक में पाठ है सोदर उसका अर्थ होगा देवताओं के मार्ग = असुर ) जो भ्रम = धुमाना उससे रसत् = आवाज करता हुआ है जल जिसका उसकी तृतीया का एकवचन ] ; नलिनी = सरस-मन्थर-तामरस-आदर-भ्रमर-सज्ज-जला अर्थात् सरस = मकरन्द युक्त, मन्थर = कुल-कुल हिल रहे, तामरस = कमल पर है आदर जिसका ऐसे भ्रमरों से, सज्ज = आया हुआ है, लय = राग जिसमें अथवा भ्रमरों में सज्ज है लय जिसके द्वारा । ( सोदरपाठ होने पर अर्थ होगा तामरस के उदर में ) । स्फुटतरागतरागरुचि [ शब्द यहाँ और मूल हरविजय में प्रथमान्त है और व्यक्तिविवेक में द्वितीयान्त । द्वितीयान्त होने पर यह श्री का विशेषण बनता है तथापि विभक्तिविपर्यय द्वारा नलिनी तथा जलधिदेवता में भी अन्वित हो सकता है ] नलिनीपद्म में स्फुटतर आगत है रागरुचि ( ललौरे ) जिसमें जलधिदेवतापद्म में स्फुटतर आगत है राग (पद्मराग) रुचि जिनमें श्रीपद्म में स्फुटतर आगत है राग (अनुराग, लालरंग की) रुचि जिसमें । अर्थरहित ओर सार्थक यमकों के योग का उदाहरण यथा—‘साहारं साहारम्’ इत्यादि प्राकृतगाथा । [ इसका संस्कृतच्छाया निर्णयसागरीय संस्करण में भी नहीं है । गाथा अन्वक्त है ]

यहाँ ‘सज्जसाहार’ यह निरर्थक = अर्थरहित है और शेष सब सार्थक हैं अतः कोई दोष नहीं ।

यह स्थाननियम के विना नहीं होता । जैसा कि [वामन ने] कहा है—‘अनेकार्थक [भिन्नार्थक] पदों या केवल अक्षरों की आशुति यमक कहलाती है, यदि स्थाननियम हो—’ [का० सू० ४।१।१] । इसीलिए इस अलंकार का नाम भी यमक है क्योंकि इसमें स्थान ( चरणों के आदि, मध्य, अन्त भाग ) का नियम रहता है, यह अन्वर्थ संज्ञा है । स्थान का यह नियम वास्तविक नहीं, विवक्षाधीन होता है । उदाहरणार्थ—[ हरविजय का ३।२ ] ‘मधुपराजि०’ इत्यादि पद्य । [ इसका अर्थ है—‘मधुपों की राजि ( पाँतों ) द्वारा पराजित कर दिए हैं मानिनी नायिकाओं के मन जिन्होंने ऐसे पुष्पो से सुरभि = लुगन्धित और तिले तथा लालवर्ण की विस्तृत अमराहओं से युक्त जगत् ने कमल-विप्लवों से मुक्त शोभा को धारण किया । ] यहाँ प्रत्येक चरण में प्रथम दो अक्षरों के बाद ही यमक रखा गया है । इस प्रकार यहाँ उसका स्थान निश्चित है । दूसरा उदाहरण जैसे ‘छिन्धाद् भयात्ति०’ इत्यादि पद्य [ इसका अर्थः—तुन्दारी भयात्ति ( संभवतः भवात्ति ) को वे कार्तिकेय भगवान् नष्ट करें जिन्होंने कार्तिक का चन्द्रमा जोत लिया है और जिससे भिन्न ऐसा स्वामी किसकी गणना में आपणा जिसने गणनायक- ( गणेश ) का दाँत उखाड़ लिया हो । ] इस पद्य में दो यमक हैं ( १ कार्तिकेयः कार्तिकेयः तथा २ गणनायकस्य गणनायकस्य ) दोनों में स्थाननियम भिन्न है [प्रथम सात वर्णों के बाद आने वाला है और द्वितीय पाँच वर्णों के बाद] अतः [यह समझकर कि इस पद्य में एक ही यमक है ] यह नहीं सोचना चाहिए कि यहाँ [ द्वितीय यमक में प्रथम से-दो ] अक्षरों की कमी है । इसीलिए ‘श्रुतरसि०’ इत्यादि पद्य में स्वरन्वजनसमुदायपौनरुक्त्य [ शु-तरसिकलित-रुक्—तरसिकलितरु, जालहरि-जालहरि, हरिणतम-हरिणतम, ततस्तव—तवस्तव’ इस प्रकार प्रथम यमक एक अक्षर के बाद आता है किन्तु अन्य सब विना व्यवधान के स्थित हैं । प्रथम ततस्तव के पहिले एक ‘व’ अवश्य है किन्तु वैसा कोई वर्ण द्वितीय ‘ततस्तव’ के पहिले नहीं है ।

इस प्रकार यहाँ [ आवृत्ति में ] स्थाननियम नहीं है यह यमक जैसा प्रतीत होने वाला वस्तुतः वृत्त्यनुप्रास है । [ इस पद्य के पूर्वार्द्ध का अर्थ स्पष्ट है, उत्तरार्ध का अर्थ है—इस कारण हे तत = विस्तृत, स्तव = स्तुतिवाले, जिसकी स्तुति पुष्कलमात्रा में हो रही है, आपका यशोराशि ताम्रगर्म हरिण ही । ]

**विमर्श**—यमक दण्डी, भामह, वामन, उद्भट, रघुट और मम्मट इन सभी आचार्यों में विविधता के साथ मिलता है । इसका विस्तार भट्टिकाव्य आदि में भी द्रष्टव्य है । यह रचना व्यापक है कि इसके लिए उक्त आचार्यों के मूल ग्रन्थ ही देखना चाहिए ।

उक्त आचार्यों के यमक सामान्य लक्षण ये हैं—

**दण्डी**—आवृत्तिमेव सघातगोचरा यमक विदुः ।

**भामह**—के काव्यालंकार में यमकसामान्य का लक्षण नही मिलता ।

**वामन**—पद्मनेकाधर्मशर वाग्भृश स्थाननियमे यमकम् ॥ ३ । १ । १ ।

**उद्भट**—उद्भट ने यमक नामक किमी भी अलंकार का निरूपण नहीं किया । कदाचित् वे यमक को लाटानुप्रास से अभिन्न मान बैठे हैं ।

**रघुट**—वृत्त्यष्टतिक्रमाणामन्यार्थानां मिथस्तु वर्णानाम् । पुनरावृत्तिर्यमकम् । [ ३ । १ काव्यालंकार ] ।

**मम्मट**—अर्थे सत्यधर्मिन्नाज्ञा वर्णानां सा पुनः श्रुति, यमकम् ।

### [ सर्वस्व ]

[ सू० ८ ] “शब्दार्थपौनरुक्त्यं प्ररूढं दोषः ॥”

प्ररूढग्रहणं घक्ष्यमाणप्रभेदवैलक्षण्यार्थम् । यदाहुः—‘शब्दार्थयोः पुनर्वचनं पुनरुक्तमन्यत्रानुवादात् ।’ इति ।

[ सू० ८ ] शब्द [ और ] अर्थ [ दोनों ] का प्ररूढ पौनरुक्त्य दोष होता है ।

[ वृ० ] प्ररूढ शब्द आगे कथित प्रभेद से [ इस पौनरुक्त्य का ] अन्तर बनवाने को लिए अपनाया गया । जैसा कि [ महामुनि अक्षपाद के संप्रदाय में ] कहा जाता है—‘शब्द और अर्थ का पुनः कथन पुनरुक्ताख्य दोष होता है अनुवाद को छोड़कर ।’

### विमर्दिनी

प्ररूढमिति । यथाभासनं विश्रान्ते । यथा—

‘तदन्वये शुद्धमति प्रसूत’ शुद्धिमचमः ।

दिलीप इति राजेन्दुरिन्दुः शीरनिषाविव ॥’

अग्नेन्दुरिति । अग्निनेत्रशीरोद्गन्मत्वादिन्दोर्द्वित्वान्नैतत्प्ररूढमिति न कार्यम्, कति समये तथात्वस्याप्रतीतिः । आहु रित्याक्षपादा । अन्यत्रानुवादिति । अनुवादे हि शब्दार्थयोः पुनर्वचनं क्रियमाणं न दोषाय । अक्रियमाणं पुनर्दोषाय भवतीति भावः । यथा—

‘उदेति रक्त’ सविता रक्त एवास्ममेनि च ।

सपत्नी च विपत्नी च महतामेकरूपता ॥’

अत्र रक्त इति ।

‘शिर शार्व स्वर्गस्पृष्टपतिशिरस्तः क्षितिधरं’ महीधादुष्पृष्टादभिमवनेश्चापि जलधिम् ।  
‘अधोधो गद्गावद्वयमुपगता नूनमथवा धिवेकग्रहानां भवति विनिपातः शतमुत्तः ॥’

अत्रार्थपौनरुक्त्येऽपि शब्दस्यापुनर्वचनं प्रतीत्यन्तरजनकरत्वाद्दोषः ।

तदेवाप्ररूढमलंकार इत्याह—तात्पर्येत्यादि ।

प्ररूढ अर्थात् जैसा आरम्भ में प्रतीत हो वैसा ही अन्त में भी । उदाहरण [ कालिदास का पद्य ] उस ( वैश्वत मनु ) के शुद्धियुक्त वंश में अत्यन्त शुद्धियुक्त दिलीप नामक राजेन्दु हुआ जैसे क्षीरसमुद्र में इन्दु । [ रघु० १ ] । यहाँ 'इन्दु' [ शब्द और उसका अर्थ दोनों ही पुनरुक्त हैं क्योंकि उनमें आरम्भ से अन्त तक एकरूपता बनी रहती है ] इसे यह कहकर अप्ररूढ नहीं बतलाया जा सकता कि चन्द्रमा शो है, एक अग्निमुनि के नेत्र से उत्पन्न और दूसरा क्षीरसागर से उत्पन्न, क्योंकि कविसमय में चन्द्रमा एक ही प्रसिद्ध है दो नहीं । आहुः = कहा है अर्थात् अक्षपाद मुनि ने । अन्यत्रानुवादात् = अनुवाद को छोड़कर; अर्थात् अनुवाद में यदि शब्द और अर्थ पुनः कहे जाँएँ तो उसमें दोष नहीं; वहाँ पुनः न कहना ही दोष होता है । उदाहरणार्थ—'उदेति सविता०' इत्यादि पद्य में रक्तशब्द [पद्य का अर्थः—सूर्य रक्त ही उदित होता है और रक्त ही श्रुता है । जो महान् होते हैं वे संपत्ति और विपत्ति दोनों में एक से रहते हैं।] 'त्वयं से भगवान् शंकर के सिर पर, पशुपति के सिर से पर्वत (हिमाचल) पर, उत्तुङ्ग शैल ( हिमालय ) से पृथिवी पर, पृथिवी से जलधि में, इस प्रकार नीचे ही नीचे गंगा के समान हम पहुँचते गये, कारण यह कि जो विवेक-अष्ट होते हैं उनका संकटों प्रकार से पतन होता है ।' यहाँ अर्थ तो अवश्य दुबारा ( एक ही शिव आदि अर्थ मूल में शर्व और पशुपति आदि तथा अनुवाद में शंकर और पशुपति आदि इन शब्दों से ) कहे गये हैं किन्तु शब्द दुबारा नहीं कहे गये, उन्हें बदल दिया गया । इससे आरम्भ में ऐसा कुछ लगता है कि जैसे कोई दूसरा अर्थ बतलाया जा रहा है फलतः यह दोष है । [ अनुवाद का उद्देश्य अर्थ तो है ही किसी के शब्दों का अक्षरशः उच्चारण या अनुकरण भी है, किन्तु टीकाकार का उस ओर ध्यान नहीं गया । व्यक्तिविवेककार ने इस पर अच्छा विवेचन किया है, एतदर्थं देखिए हमारे हिन्दी अनुवाद के साथ व्यक्तिविवेक पृष्ठ. १६, चौखम्बा संस्करण । ]

'वहाँ [ शब्दार्थ पौनरुक्त्य ही ] यदि अप्ररूढ होता है तो अलंकार बन जाता है' इसीका प्रतिपादन करते हैं—

[ सर्वस्व ]

[ सू० ९ ] 'तात्पर्यभेदवत्तु लाटानुप्रासः ॥'

तात्पर्यमन्यपरत्वम् । तदेव भिद्यते, न शब्दार्थ-स्वरूपम् । यथा—

ताला जाअंति गुणा जाला दे सहिअएहिँ वेण्पंति ।

रइकिरणाणुगादिआईँ होंति कमलाईँ कमलाईँ ॥'

'द्रूमः कियन्नय कथंचन कालमल्प-

मत्राब्जपत्रनयने नयने निमील्य ।

हेमाम्बुजं तरुणि तत्तरस्तापहत्य

देवद्विपोऽयमहमागत इत्यवेहि ॥'

इत्यादौ विभक्त्यादेरपौनरुक्त्येऽपि बहुतरशब्दार्थपौनरुक्त्याल्लाटानु-  
प्रासत्वमेव ।

१. हिन्दी का यह वाक्य मूल संस्कृत वाक्य की छाया है अतः इसमें वे सब दोष हैं जो मूल में प्रतीत होते हैं ।



‘काशाः काशा श्वाभान्ति सरांसीव सरांसि च ।  
चेतांस्याचिक्षिपुर्व्यूनां निम्नगा निम्नगा इव ॥’

इत्यादावनन्वयेन सहास्यैकाभिधानलक्षणो न संकरः । अन्योन्यापेक्षया शब्दार्थगतत्वेनार्थमात्रगतत्वेन च व्यवस्थितेर्मिन्नविषयत्वात् ।

‘अनन्वये च शब्दैक्यमौचित्यादानुपगमिकम् ।  
अस्मिस्तु लाटानुप्रासे साक्षादेव प्रयोजकम् ॥’

[ सू० १० ] तदेवं पौनरुक्त्ये पञ्चालंकाराः ॥

निगदव्याख्यातमेतत् ।

[ सू० ९ ] ‘किन्तु तात्पर्य के भेद से युक्त [ शब्दार्थ पौनरुक्त्य ] लाटानुप्रास [ नामक अलंकार होता है ] ।

[ ५० ] तात्पर्य का अर्थ है अन्वयपरता [ यहाँ ] भेद केवल उसी में रहता है, शब्दार्थ-स्वरूप में नहीं । यथा—

‘तदा जायन्ते गुणा यदा ते सहृदयैर्गुण्यन्ते ।

रविकिरणानुगृहीतानि भवन्ति कमलानि कमलानि ॥’

[ गुण ] गुण तब होते हैं जब वे सहृदयों द्वारा माने जाते हैं । कमल कमल तब बन पाते हैं जब वे सूर्य-किरणों से अनुगृहीत होते हैं ।’

‘किनना कहें, हे कमलपद्मतुल्य नयन-वाली ! तुम अपने नयन मींच कर यही थोड़ा समय बिताओ और यह समझो कि—हे तरुण ! देवों का शत्रु मैं उस हेमाम्बुज को बलाव छिनाकर यह बाया ।’

इत्यादि में [ ००नयने नयने आदि स्थलों में ] विभक्ति आदि का तो पौनरुक्त्य नहीं है [ क्योंकि प्रथम नयन बहुव्रीहि के कारण खोलिग में है और स्वरोधन के कारण प्रथमा के एकवचन में जब कि द्वितीय नयन नपुंसकलिग द्वितीया के द्विवचन में है ] तथापि शब्द [ विभक्ति आदि की मूल प्रकृति नयन ] तथा उनके अर्थों का अधिकांश पुनरुक्त ही है अतः यहाँ लाटानुप्रासत्व ही [ मान्य ] है ।

[ शरत् में ] काश काश से ही व्या रहे हैं और सरोवर सरोवर से । [ वर्षा में निम्नगाएँ [ नदियाँ ] निम्नगाओं [ नौचों से लगी किरियों ] के [ ही ] समान सुवर्कों के चित्त विगाड रही थीं ।

इत्यादि में लाटानुप्रास का अनन्वय के माथ एकवाचकानुप्रवेश सकर नहीं है क्योंकि दोनों के क्षेत्र भिन्न हैं । लाटानुप्रास का क्षेत्र है अन्योन्यापेक्षी शब्दार्थगुण्य और अनन्वय का क्षेत्र है केवल अर्थ ।

‘अनन्वय में जो शब्द की पुनरुक्ति होगी है वह इसलिए कि उसके बिना अनन्वय समझ नहीं, अतः वहाँ शब्दपुनरुक्ति [ अलंकारत्वप्रयोजक, चमत्कारकारी नहीं ] आनुपगमिक है । जहाँ तक लाटानुप्रासका मन्थ है इसमें शब्दपुनरुक्ति ही अलंकारत्व-प्रयोजक है ।’

[ सू० १० ] इस प्रकार पौनरुक्त्य में पाँच अलंकार होते हैं ।

[ ५० ] सुननेमात्र से इस सूत्र का अर्थ स्पष्ट है ।

विमर्शिनी

अन्यपरत्वमिति । एकस्य वाच्यविश्रान्तत्वेऽन्यस्य लक्ष्ये व्यङ्ग्ये वाच्य-  
विश्रान्तिरित्यर्थः । भिद्यत इति पर्यवसाने । आमुखे हि शब्दवदर्थस्याप्येकत्वेनैवाव-  
भासः । अत एवाह—न शब्दार्थस्वरूपमिति । एवं च नायं द्वयोर्वाच्यविश्रान्तत्वेऽनुवाद-  
मात्रमलंकारः । नहि दोषाभावमात्रमलंकारस्वरूपम् । एवं हि सत्यपशब्दाद्यभावस्थाप्य-  
लंकारत्वप्रसङ्गः । यत्परमादाबुक्तं तत्परमेव पुनर्नोच्यते इत्येव सामान्येन यद्यन्यपरत्व-  
मुच्यते तद्विरोधादिवत् 'उदेति रक्तः सविता—' इत्यादौ दोषाभावमात्रत्वेऽप्यलंकारत्वो-  
चितस्यान्यपरत्वाख्यस्यातिशयस्यापि भावालंकारत्वप्रसङ्गः । न चैतावतैव कश्चिदतिशयः  
प्रतीयत इति ययोक्तमेव युक्तम् । एकः कमलशब्दो वाच्यपर्यवसितः अन्यश्च सौरभवन्तु-  
रत्वाद्यनेकधर्मनिष्ठ इति तारपर्यभेदः ।

अन्यपरत्व = अर्थात् एक शब्द के अर्थ की वाच्यरूप में ही विश्रान्ति और दूसरे के अर्थ की लक्ष्य या व्यङ्ग्य अर्थ में । भिद्यते = भिन्न होता है अर्थात् पर्यवसान ( अन्त ) में । आरम्भ में तो शब्द के समान अर्थ भी एक से ही प्रतीत होते हैं । इसीलिए कहा 'न शब्दार्थस्वरूपम्' । इस प्रकार निष्कर्ष यह निकला कि यदि दोनों वाच्यार्थ में ही ठहर जाएँ तो वह अनुवादमात्र ( उद्देश्यमात्र या पुनःकथनमात्र ) होता है अलंकार नहीं । [ वहाँ पुनः कथन न करना दोष होता है अतः पुनः कथन दोषाभावस्वरूप और ] दोषाभावमात्र को अलंकार नहीं माना जा सकता । यदि दोषाभाव को ही अलंकार माना जाय तो अपशब्द आदि के अभाव को भी अलंकार मानना पड़ेगा । जो शब्द जिस अर्थ के लिए एक बार बोला जाता है वह दूसरी बार भी उसी अर्थ के लिए नहीं बोला जाता, इसी को यदि सामान्यतः अन्यपरता कहा जाता है तो विरोध आदि अलंकारों के समान 'उदेति रक्तः सविता' इत्यादि स्थलों में पुनरुक्ति को दोषाभावमात्र मानने पर भी और उसमें अलंकारत्वनिष्पादक अन्यपरत्वरूप विशिष्ट तत्त्व का अस्तित्व मानने पर भी भावनामक अलंकार होगा, लाटानुप्रास नहीं [ अतः लाटानुप्रास में अन्यपरत्व के साथ शब्दार्थस्वरूप में अभेद भी रहना आवश्यक है ] । केवल इतने [ अन्यपरत्वमात्र ] से ही कोई अतिशय ( वैशिष्ट्य ) प्रतीत नहीं होता अतः [ ग्रन्थकार ने ] जो कहा है [ अन्यपरत्व और शब्दार्थस्वरूपभेद से दो विशेषताएँ लाटानुप्रास के लिए आवश्यक बतलाई हैं ] वह [ उसी रूप में ] ठीक है । 'कमलानि कमलानि' में एक [ प्रथम ] कमलशब्द वाच्यरूप में ही पर्यवसित होता है और दूसरा [ द्वितीय ] सौरभ, सौन्दर्य या खिली पँखुडियों को उतार-चढावदार शोभा आदि अनेक धर्मों का प्रतिपादन करता है । अतः यहाँ दोनों कमलशब्दों के तात्पर्यमात्र में भेद है । [ इसीको ध्वनिवादिदो ने अर्थान्तर संक्रमितवाच्यध्वनि कहा है ] ।

विमर्श—इस प्रकरण में 'ब्रूमः कियत्त०' इत्यादि पूर्ण पद्य मूल न मानकर डॉ० रामबन्द्र द्विवेदी ने अनेक पाण्डुग्रन्थों के आधार पर इसके केवल द्वितीय चरण 'अत्राज्ज०' इत्यादि को ही मूल माना है । निर्णयसागरीय संस्करण में पूर्ण पद्य के साथ अन्त में यह द्वितीयचरण भी 'ब्रूमः-हम्'अत्राज्जपत्रनयने नयने निमील्य इत्यादौ—इस प्रकार दिया हुआ है । डॉ० द्विवेदी ने 'काशाः काशा इव०' इत्यादि पद्य का भी 'काशाः काशा इव' इतना ही अंश मूल माना है । निर्णयसागरीय संस्करण में वह भी पूर्ण है किन्तु वहाँ भी पादटिप्पणों में एक प्रति में 'काशाः काशा इव' इतना ही मिलने का उल्लेख है । विमर्शिनोकार ने 'ब्रूम०' इत्यादि पद्य के चारों चरण नहीं तो कम से कम प्रथम दो चरण तो मूल अवश्य माने हैं क्योंकि उन्होंने प्रतीक दिया है प्रथम चरण का 'ब्रूमः कियदिति' इस प्रकार । हमने इसी टीका के अनुसार मूल रखकर निर्णयसागरीय संस्करण में पुनः आप द्वितीय चरण को हटा दिया है । वह आवश्यक था ।

यद्यपि लाटानुप्रास के लिए द्वितीय और तृतीय पद्य के उपादेय अंश केवल 'अब्जपत्रनयने नयने' और 'काशा. काशा इव' ये ही हैं और ग्रन्थकार को भी केवल इनना ही प्रतिपादित करना है, माना जाय या नहीं, विशिष्टस्थिति में लाटानुप्रास तदर्थ उनसे अधिक पूर्ण श्लोकों की आवश्यकता नहीं है, तथापि काव्य के भीतर लाटानुप्रास कितना चमत्कार लाता यह जानने के लिए यहाँ पूर्ण पद्य ही उपादेय हैं। टीकाकार यदि उनकी व्याख्या न करें तो उससे मूल में पूर्ण पद्य का अभाव नहीं माना जा सकता। टीकाकार श्लोक को व्याख्या भी कर यह आवश्यक नहीं है। सर्वाभिनी और विमर्शिनी दोनों में श्लोकों की व्याख्या नहीं के बराबर है।

वृत्तिकार ने अनन्वय और लाटानुप्रास के क्षेत्रभेद पर जो प्रश्न प्रस्तुत किया है उसका समाधान इतना ही है कि अनन्वय में पदों की आवृत्तिमात्र आवश्यक है, यह नहीं कि दोनों पद एक साथ रखे जावें। 'काशा भान्ति यथा काशा' ऐसा कहने पर भी अनन्वय की निष्पत्ति समभव है। लाटानुप्रास केवल नमी हो सकेगा जब दोनों काशपदों को एक साथ रखा जाय। अनन्वय में यह आवश्यक नहीं है कि पुन कश्चि पद में अनिश्चय भी प्रतीत हो। लाटानुप्रास में वही प्रधान है। उसके बिना लाटानुप्रास में अलङ्कारत्व नहीं आता। अनन्वय में चमत्कार का कारण है द्वितीयमदृश्यवच्छेद। 'अमुक के समान अमुक ही है' कहने से प्रतीत होना है कि उसके समान दूसरा और नहीं है। यही है द्वितीयमदृश्यवच्छेद। इसी को लेकर अनन्वय उपमा और उपमेयोपमा से अलग होना है। लाटानुप्रास में तात्पर्यभेदानुगत पदपुनरक्ति ही चमत्कारकारक होता है। 'काशा काशा इव' पद्य में लाटानुप्रास मानना चाहिए या अनन्वय इस प्रश्न का समाधान केवल यह देखकर करना उचित है कि क्या यहाँ द्वितीय काशादि शब्द उसी प्रकार अतिशयसुक्त काशादि अर्थ के वाचक हैं जिम प्रकार 'कमलानि कमलानि' में द्वितीय कमल। यदि नहीं तो यहाँ अनन्वय ही है। दो दो काश आदि पदों के एकसाथ प्रयुक्त हो जाने मात्र से यहाँ लाटानुप्रास समभव नहीं है।

### विमर्शिनी

अमः कियदिति । अत्र अब्जशब्दस्याप्यपीनरत्रयात् लाटानुप्रासेत्वमेवेति चिन्त्यम् । अत्र हि द्वयोरपि नयनशब्दयोर्वाच्यविश्रान्तरवादन्यपरत्वाभावाद्वास्ति तात्पर्यभेदः । स एव ह्यस्य जीवितम् । अन्यथा ह्यनुप्रासमात्रत्वं स्यान्नालङ्कारत्वम् । अद्यापि केवलनयनशब्दस्य स्वार्थविश्रान्तिः संसर्गपदान्तर्गतस्य पुन स्वार्थमुपसर्जनीकृतस्य संज्ञितमभिदधतश्च स्वार्थत्यागात्परार्थे च वृत्तिरस्येव लक्ष्यनिष्ठत्वमिति चेत्, नैतत् । लक्षणासामग्र्यभावात् । अत्र ह्यन्यपदार्थप्रधानत्वाद्नयनशब्दस्य गुणीभावः, न मुख्यार्थयाधः । स्वार्थ एव विश्रान्तेः । न च गुणीभावमुख्यार्थयाधयोरेकत्वम् । संतो हि मुख्यार्थस्य कंचिदपेक्ष्य गुणीभावः । वाध पुन स्वस्मिन्नेवाविश्रान्तिरित्यनयोर्महान् भेदः । नाप्यत्र किंचिन्प्रयोजनं न वा रुद्धिरियमित्येत्पीनरुक्त्यभावात् । एवम्,

'सितकरकररुचिरविभा विभाकराकार धरणिधर कीर्ति ।

पौरुषकमला कमला सापि तवैवास्ति नान्यस्य ॥'

इत्यादावपि ज्ञेयम् । चमत्कारस्त्वत्रानुप्रासलूनोऽप्रसेयः । नचनन्वयेऽपि शब्दपीनरुक्त्यं द्रव्यत इति तत्रापि क्रियमेवालङ्कारः किमु स एतेत्याशङ्क्याह—अनन्वय इत्यादि । आतुपन्निकमिति । न पुनः साक्षात्प्रयोजकमित्यर्थः । शब्दैक्यं विनाप्यनन्वयस्य प्रतिपादनात् । अत्र हि शब्दैक्यं क्वचिदक्रियमागमनीचित्यभावहति क्वचिन्नेति भावः । तत्त यथा—

‘चञ्चुर्जगतां सहस्रकरवद्धान्नां च धामार्कव-

न्मोक्षद्वारमपावृत्तं च रविवद् ध्वान्तान्तकृत् सूर्यवत् ।

आत्मा सर्वशरीरिणां सवितृवत् तिग्मांशुवत् कालकृत्

साध्वी नः स गिरं ददातु दिनकृद् योन्यैरतुल्योपमः ॥’

अत्र सहस्रकरादयोऽन्य इवाभासमाना अनन्वयप्रतीतिं विष्णयन्तीति शब्दैक्या-  
भावोऽनौचित्यमावहति, न पुनरनन्वयस्याभावम् ।

‘स्थैर्याद् भूर्व्यापकत्वाद् विथदलिलजगत्प्राणभावात्तभस्वान्

भास्वान् विश्वप्रकाशाद्युगपदपि तुधामूतिराह्लादनाच्च ।

वह्निः संहारकत्वात्त्रलमलिलजनाप्यायनाच्चोपमानं

सत्यात्मत्वेऽपि यस्य प्रभवतु भवतां लोऽष्टमूर्तिः शिवाय ॥’

अत्र निर्विष्णुमेवानन्वयस्य प्रतीतिः शब्दैक्यभावो नानौचित्यावहः । तुशब्दो व्यति-  
रेके । साक्षादिति । शब्दैक्यं विनास्थानुत्थानात् ।

एतदेवोपसंहरति—तदेवमित्यादि । पुन र्कवदाभासमर्थपौनरुक्त्याश्रितं, छेकानुप्रासा-  
दयत्तयः शब्दपौनरुक्त्याश्रयाः । लाटानुप्रासस्तुभयाश्रित इति पञ्च पौनरुक्त्याश्रिता अलं-  
काराः । यद्यप्युक्तेः शब्दार्थगतत्वेनोच्चरणाभिधानतया भेदात् सामान्याभावात् कस्य पञ्च-  
प्रकारत्वं तथापि तस्या द्वयोरप्यनुगमादेकत्वेन प्रतीतिरुक्तिसामान्यनियन्धनमेव प्रकारि-  
प्रकारभाववचनम् । यच्चार्थभेदेन शब्दस्यापि भिन्नत्वं तद्वास्तवम् । प्रतीतावेकतयैवा-  
वभासात् । अत एवानेकार्थवर्गादिष्वपि तथात्वेनैव व्यवहारः ।

‘ब्रूमः कियत्’ इति [ पद्य ] में ( अथ शब्द भी पुनरुक्त नहीं है अतः यहाँ अलंकार में )  
लाटानुप्रासत्व ही है यह विचारणीय है । यहाँ दोनों ही नयन शब्द अन्ततः वाच्यार्थमात्र तक  
ही सीमित रहते हैं । उनमें तात्पर्यभेद नहीं है । और वहाँ [ तात्पर्य भेद ] तो लाटानुप्रास का  
प्राण है । उसके बिना यह ( लाटानुप्रास ) अनुप्रासमात्र होगा, अलंकार नहीं । इतने पर भी यह  
कहा जा सकता है कि यहाँ जो नयनशब्द स्वतन्त्ररूप से ( समास से अलग ) प्रयुक्त है वह अपने  
वाच्य अर्थ तक ही सीमित रहता है, किन्तु जो नयनशब्द ‘अञ्जनयने’ इस प्रकार बहुव्रीहि समास  
में आए पद के साथ है उसमें उसका वाच्यार्थ अप्रधान है और प्रधान है ( बहुव्रीहि का अन्य  
पुरुष ) नाधिकारूपी अर्थ । इस प्रकार यह नयनशब्द अपना अर्थ छोड़कर दूसरे नायिकारूपी  
अर्थ में पर्यवसित होता, फलतः इस नयनशब्द में तो [ वाच्येतर ] लक्ष्य अर्थ के प्रति परायणता  
दिखलाई देती है । किन्तु यह कहना ठीक नहीं क्योंकि यहाँ लक्षणा के लिए अपेक्षित ( मुखार्थ-  
बाध आदि कारण— ) सामग्री नहीं है । यहाँ बहुव्रीहि में अन्यपुरुष की प्रधानता रहती है  
इसलिए नयनशब्द अप्रधान अवश्य है किन्तु उसके वाच्य अर्थ का बाध नहीं है इसलिए वह  
( नयनशब्द ) अपने ( वाच्य ) अर्थ में ही पर्यवसित होता है । ऐसा भोड़े ही है कि अप्रधानता  
और मुखार्थबाध अभिन्न हों । जो मुख्य अर्थ बदलता नहीं उसमें किसी अन्य अर्थ की अपेक्षा  
अप्रधानता आती है । बाध कहलाता है उसका अपने अर्थ में पर्यवसित न होना ( अपने अर्थ का  
वाच्यार्थबोध तक अपरिवर्तित न रह सकना ) इस प्रकार, अप्रधानता और बाध में बहुत अन्तर है ।  
फिर यहाँ न तो लक्षणा के लिए अपेक्षित प्रयोजन ही है और न रूढि ही । अतः ‘नयने नयने’ यह  
पौनरुक्त्यमात्र है ( अलंकार नहीं ) । यही बात ‘हि विभाकर [ सूर्य ] के समान, है धरणिधर  
सितकर-कर-रुचिर-विभा [ सितकर = चन्द्र उसके कर = किरण उनके समान रुचिर = सुन्दर  
विभा=कान्तिबाल ] कीर्ति तथा पौरुषकमला ( पौरुष ही है कमल = वासस्थान जिस-वे [ एतरेही )

कमला ( लक्ष्मी ) भी तुम्हारे ही पास है अन्य किन्हीं के पास नहीं ।' इत्यादि स्थलों में भी है ।  
यहाँ जो चमत्कार है उसका कारण अनुप्रास ही मानना चाहिए ।

प्रश्न उठता कि 'शब्दपौनरुक्त्य अनन्वय में भी रहता है, वहाँ लाटानुप्रास मानना चाहिए या अनन्वय 'इस पर उत्तर देने हुए कहा अनन्वय इत्यादि' आनुषंगिक अर्थात् माश्राव प्रयोजक नहीं । क्योंकि अनन्वय शब्दैक्य के बिना भी प्रतिपादित किया गया है । हम ( अनन्वय ) में कहीं तो शब्दैक्य न रखने से दोष आ जाता है कहीं नहीं । यथा 'बह दिनट्ट सूर्य हमें साधु-बाणी प्रदान करे जो सहस्रकर ( सूर्य ) के समान जगत् का चक्षु है, अर्क ( सूर्य ) के समान धाम ( प्रकाश, तेज ) का धाम है, रवि ( सूर्य ) के समान सुला हुआ मोक्षद्वार है, सूर्य के समान ध्वान्त ( अन्धकार, अज्ञान ) का अन्त करने वाला है, सविता ( सूर्य ) के समान सभी शरीरधारियों के लिए आत्मा है [ और ] तिग्माशु [ तीक्ष्ण किरणों वाले सूर्य ] के समान काल [ समय ] का निर्माता है' । यहाँ [ एक ही सूर्य के लिए ] जो सहस्रकर आदि ( भिन्न-भिन्न ) शब्दों का प्रयोग किया गया है, उममें ऐसा प्रतीत होता कि कदाचित् उपमान और उभेय भिन्न-भिन्न हैं फलतः वे अनन्वय के चमत्कार में विघ्न बन जाते हैं, इसलिए यहाँ शब्दैक्य के अभाव से अनौचित्यभात्र आता है अनन्वय का अभाव नहीं ।

'वे भगवान् अष्टमूर्ति [ पंच महाभूत, सूर्य, चन्द्र तथा चैतन्य ] आपका कल्याण करें जिनके लिए स्वयं उन्हीं की सातों मूर्तियों एकमात्र उपमान है, स्थैर्य के कारण पृथिवी ( टनका उपमान है ), व्यापकता के कारण आकाश, निम्निल जगत् के प्राण होने के कारण वायु, विश्वमात्र को प्रकाशित करने के कारण सूर्य [ विश्वमात्र को ] आह्लादिन करने के कारण चन्द्रमा ( सुधामूर्ति ), महारक होने के कारण बद्धि और अखिल जगत् को आप्यायित करने के कारण जल ।' यहाँ अनन्वय की प्रतीति बिना विघ्न के ही आती है अतः यहाँ शब्दैक्य का अभाव दोषावह नहीं है ।

तु-शब्द भेदप्रत्यायक है । साक्षात् अर्थात् हम [ लाटानुप्रास ] का अलङ्कारत्व ही शब्दैक्य के बिना समभव नहीं होगा ।

इर्माका उपमहार करते हैं—तदेवम् पुनरुक्तवदाभाम अर्थपौनरुक्त्य पर निर्भर है और छेका-नुप्रास आदि तीन [ आदि पद से वृत्त्यनुप्रास और यमक ] शब्दपौनरुक्त्य पर । लाटानुप्रास जो है सो दोनों ( ३-व्यार्थोभय ) के पौनरुक्त्य पर निर्भर रहता है । इस प्रकार पौनरुक्त्य पर निर्भर रहने वाले पाँच अलङ्कार हुए ।

यद्यपि [ पुनरुक्ति में जो ] उक्ति तत्र [ है वह ] शब्द में उच्चारणस्वरूप होता है और अर्थ में अभिधान—[ अभिग्राह्यता द्वारा प्रतिपादन ]—स्वरूप, इसलिए दोनों में भेद रहता है, स्वरूपना नहीं, इसलिए पाँचों स्वतन्त्र अलङ्कार हो सकते हैं [ किसी एक के पाँच भेद नहीं हो सकते ] तथापि उक्ति उक्तिवत् दोनों प्रकार की उक्तिओं में समान है अतः उन दोनों उक्तियों में प्रतीति अमेद की ही होती है फलतः यह जो प्रकारप्रकारिभाव [ प्रकार-भेद, प्रकारी = भेदवाला ] सन्ध है वह केवल मामान्य उक्ति पर निर्भर है । यह जो कहा जाता है कि अर्थ में भेद होने से शब्द में भी भेद हो जाता है, अवास्तविक है, क्योंकि प्रतीति में तो स्वरूपना ही भागिन होती है । इसलिए कोषों के अनेकार्थ वर्ग आदि अर्थों में ( अर्थ अनेक होने पर भी शब्द को ) वैमा ( एक और अभिन्न ) ही मानने का प्रचलन है ।

विमर्श—स्थैर्याद् भू०' इत्यादि पद्य में टीकाकार ने जो अनन्वय माना है वह विचारणीय है । पद्य में अष्टमूर्ति भगवान् की सात मूर्तियों का उनकी अष्टमूर्ति के साथ उपमानोपमेयभाव बनलाया गया है । अतः अष्टमूर्तिस्वरूप शिव उभेय मिद्ध होने हैं और अन्यमूर्तिस्वरूप शिव उपमान । इस प्रकार 'अनुहरति सुभग तस्या वामार्थं दक्षिणार्थस्य' = 'उत्त सुन्दरी का वामार्थ उन्नी के दक्षिणार्थ का अनुकरण करता है' इस पद्य में जैने नायिका के एक ही होने पर भी अर्गों में

वामत्व और दक्षिणत्व का भेद हो जाने से उपमान और उपमेय दोनों में अभेद की प्रतीति नहीं होती और उससे अनन्वय सिद्ध नहीं हो पाता उसी प्रकार यहाँ भी शिव के अभिन्न होने पर भी उनकी मूर्तियों में परस्पर भेद होने से उपमान और उपमेय में अभेद की प्रतीति नहीं होती, फलतः यहाँ भी अनन्वय सिद्ध नहीं होता ।

यदि यह कहा जाय कि यहाँ अष्टम यजमान या चैतन्यमूर्ति उपमेय न होकर अष्टमूर्ति ही उपमेय है और प्रत्येक मूर्ति उसकी ही एक-एक इकार है, फलतः उनसे अभेद की प्रतीति और ततः अनन्वय असंभव नहीं, तब भी निर्वाह नहीं क्योंकि अष्टमूर्ति सामान्यस्वरूप का वाचक शब्द है और भू आदि विशेषस्वरूप के वाचक । सामान्य और विशेष अभिन्न अवश्य होते हैं किन्तु उनमें भेदप्रतीति नहीं होती ऐसा नहीं कहा जा सकता ।

यहाँ अनन्वय की ध्वनि कदाचित् संभव है क्योंकि केवल सात मूर्तियों में अपना-अपना औपम्य बतलाने से यह प्रतीति होता है कि अष्टम आत्ममूर्ति का कोई उपमान नहीं है । [ सूक्ष्म विवेचन के लिए देखिए रससंग्राहक का अनन्वय प्रकरण ] । सब कुछ के बाद यहाँ यदि अभेद-प्रतीति मान ली जाय तो यह तो नहीं माना जा सकता कि यहाँ भिन्न शब्द प्रयोग से जनितभेदप्रतीति अनन्वयनिष्पत्ति में बाधा नहीं डालती । 'आत्मा होने पर भू आदि ही उपमान बन पाते हैं' इस प्रकार आत्मत्व के प्रतिपादन से भेदप्रतीति अवश्य ही दुर्बल हो जाती है । संजीविनीकार ने लाटानुप्रास और अनन्वय का भेद इस प्रकार संगृहीत किया है—

‘यत्र तावेव शब्दार्थौ तात्पर्यं तु विभिद्यते ।  
तत् पौनरुक्त्यमाचार्यैर्लाटानुप्रास इष्यते ॥  
दोषापत्तिमयादेव शब्दैक्यं स्यादनन्वये ।  
अस्मिन्तु लाटानुप्रासे साक्षादेव हि लक्षणम् ॥’

अर्थात् जहाँ शब्द और अर्थ वे ही हों किन्तु तात्पर्य में भेद हो उस पौनरुक्त्य को आचार्य-गण लाटानुप्रास मानते हैं । अनन्वय में शब्द की एकता दोषापत्ति के भय से होती है, जबकि लाटानुप्रास में वह लक्षण ही है ।

संजीविनीकार ने 'अव्ययनयने नयने' में प्रथम नयनशब्द को बहुव्रीहि के कारण अन्य पदार्थपरक मानकर लाटानुप्रास मान लिया है ।

[ सर्वस्व ]

[ सू० ११ ] वर्णानां खङ्गाद्याकृतिहेतुत्वे चित्रम् ॥

पौनरुक्त्यप्रस्तावे स्थानविशेषशिल्पवर्णपौनरुक्त्यात्मकं चित्रचचनम् । यद्यपि लिप्यक्षराणां खङ्गादिसंनिवेशविशिष्टत्वं तथापि श्रोत्राकाशसमवेत-वर्णात्मकशब्दाभेदेन तेषां लोके प्रतीतेर्वाचकशब्दालंकारोऽयम् । आदि-ग्रहणाद् यथाव्युत्पत्तिसंभवं पञ्चवन्धादिपरिग्रहः । यथा—

‘भासते प्रतिभासार रसाभाता हताविभा ।

भावितात्माशुभावादे देवाभा यत ते सभा ॥’

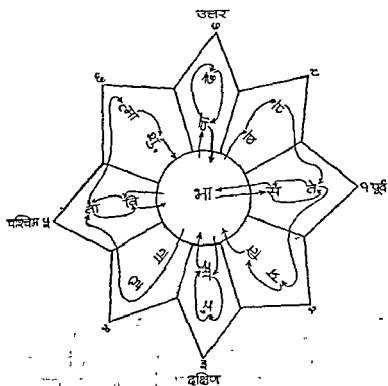
एषोऽष्टदलपद्मबन्धः । अत्र दिग्दलेषु निर्गमप्रवेशाभ्यां शिल्पाक्षर-  
त्वम् । विदिग्दलेषु त्वन्यथा । कर्णिकाक्षरं तु शिल्पमेव ।

[ सू० ११ ] 'जहाँ वर्ण खट्ग आदि के आकार को जन्म दें उमे चित्र [ अलंकार ] कहते हैं ।'

[ वृ० ] पौनरुक्त्य के प्रमग में [ उमके तुरत बाद ] चित्रालंकार का निरूपण इसलिए किया जा रहा है कि इसमें भी [ गजन, कपालिका, कुण्डिका आदि ] विशिष्ट-विशिष्ट स्थानों में श्लिष्ट वर्णों का पौनरुक्त्य रहता है ।

यद्यपि यद्ग आदि के आकार से युक्त केवल लिपि में लिखे अक्षर होते हैं तथापि इस अलंकार को वाचक शब्दों का अलंकार मान लिया जाता है कारण कि लिप्यक्षरों का श्लोकाकाश में समवेत [ समवाय सवन्ध मे विद्यमान ] वर्णात्मक शब्दों से अमेद प्रतीत होता है ।

आदि शब्द के ग्रहण से चुरपत्ति के अनुसार यथासंभव पद्मवन्धादि का मय्यह हो जाता है । यथा—'भामते प्रतिभासार०' इत्यादि पद्म अष्टदलपद्मवन्ध का उदाहरण है ।



[ श्लोकार्थ ] [ प्रतिभासार ] प्रतिभा ही है सार = बल जिमका ऐसे हे राजन् [ ते ] आपको समा [ वन ] भली भाँति [ भासते ] भासित हो रही है । वह [ रसागाता शृंगार आदि रसों से सुशोभित है, उसने [ हताश्रिमा ] अविमा = व्यामोह को [ हत ] दूर कर दिया है, [ भावितारमा ] उसका स्वरूप परिवर्तित है, वह [ वादे शुभा ] वादों में शुभ है अतः [ देवामा ] देव [ समा ] सुख्य है ।'

यहाँ दिग्दलों में प्रवेश तथा निर्गम के क्रम से अक्षर श्लिष्ट है । विदिग्दलों में स्थिति उठते उठती है । कणिकाक्षर श्लिष्ट ही है ।

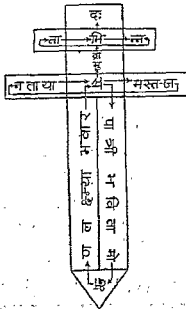
विमर्शिनी

वर्णानामित्यादि । उच्चारणकाले स्थानविशेषश्लिष्टवर्णात्मकखण्डादिसंनिवेशस्याभावात्-  
पौनरुक्त्यप्रतीतिर्नात्रेति किमाश्रयोऽयमलंकार इत्याशङ्क्याह—यद्यपीत्यादि । लिप्यन्तराणां  
मपीन्द्रिरूपानां श्रयमाणतासत्त्ववर्णशब्दाभेदप्रतिपत्त्या औपचारिकोऽयं शब्दालंकार  
इति तात्पर्यार्थः । आदिग्रहणं सफलयितुं पञ्चवन्धेनोदाहरति—भासतेत्यादि । खण्डवन्धः  
पुनर्यथा—

‘स पात्रीभविता मोषच्छणलक्ष्म्या भवारसः ।  
समस्तजनतायाससमुदाभिन्नताभिदः ॥’

श्लिष्टमेवेति । अष्टदिक्षमपि निर्गमप्रवेशयोः ।

उच्चारण के समय विशिष्ट स्थानों में श्लिष्ट जो वर्ण तत्त्वरूप खण्ड आदि के आकार का  
अभाव रहता है अतः यहाँ पौनरुक्त्य की प्रतीति नहीं होती अतः यह जिज्ञासा होती है कि यह  
अलंकार किसके आसरे रहता है । [ इस जिज्ञासा और ] इस [के उत्तर] के लिए लिखा ‘यद्यपि०’  
इत्यादि । तात्पर्य यह कि लिपि के अक्षर स्याही की बूंद होते हैं । उनके साथ सुनाई देने वाले  
वर्णों से अभिन्न शब्दों की अभेदप्रतीति होती है । उसी के आधार पर इस [ चित्र ] को लाक्षणिक  
रूप से शब्दालंकार कहा जाता है । आदिशब्द को सफल करने के लिए [ नीचे के ] उदाहरण  
के रूप में पञ्चवन्ध प्रस्तुत करते हैं ‘भासते०’ इत्यादि । खण्डवन्ध का उदाहरण यह है ‘स  
पात्रीभविता०’ ॥



[ श्लोकार्थः = ] [ भवारस ] भव = [ संसार, बस ] के रस से रहित [ अरस ] वह समस्त  
जनता के आयासंरूपी समुद्र की अभिन्नता तोड़ने वाली मोक्षक्षणा की लक्ष्मी का पात्र बनेगा ।

श्लिष्टमेव, अर्थात् आठों दिशाओं में प्रवेश करते और निकलते समय भी ।



विमर्श—श्रीविद्याचक्रवर्ती ने सजीविनी में पद्मबन्ध और खड्गबन्धों का निष्कर्ष इस प्रकार दिया है—

‘अत्राय निष्कर्ष —

‘कर्णिकाया लिपिदेक द्वौ द्वौ दिक्षु विदिक्षु च ।  
प्रवेशनिर्गमौ दिक्षु पद्मबन्धो भवेदयम् ॥  
आरोप्य लिपिवर्णाना साम्याद् वाचकवर्णताम् ।  
खड्गबन्धादिरु चित्रं काव्यालंकार इष्यते ॥’ इति ।

अर्थात् = कर्णिका में प्रथम एक अक्षर लिपिकर दिशाओं और विदिशाओं में दो-दो अक्षर लिपे जायें और प्रवेश तथा निर्गम केवल दिशाओं में रहें तो उससे पद्मबन्ध बनता है ।

‘साम्य के आधार पर लिपिवर्णों के ऊपर वाचकवर्णों का आरोप करने से काव्य में खड्गबन्ध आदि [ चित्र ] को अलंकार मान लिया जाता है ।

संजीविनीकार ने यहाँ तक के सभी अलंकारों को शब्दालंकार कहा है । इस प्रकरण के अन्त में उन्होंने इस प्रकार की पुष्पिका दी है—‘इति श्रीविद्याचक्रवर्तिन कृणौ अलंकारसर्वस्वसंजीविन्या शब्दालंकारप्रकरणम् ।’

अगले प्रकरण का आरम्भ उन्होंने इन शब्दों से किया है ‘अथ अर्थालंकारः ।’ इसमें स्पष्ट है कि संजीविनीकार पुनरुक्तवदामास को भी शब्दालंकार ही मानने हैं । वृत्तिकार से पुनरुक्तवदामास को जहाँ अर्थालंकार कहा है वहाँ संजीविनीकार ने उमपर कोई विचार नहीं किया है । कदाचित् ने उसे उपेक्षणीय मानने हैं ।

इतिहास—चित्रबन्ध का समग्र प्रथमतः दण्डी ने किया है । इनके पश्चात् चित्रबन्ध रट्ट और मम्मट में ही मिलने हैं । मध्यवर्ती भामह, वामन और उद्भट के काव्यालंकारों में इनका अभाव है ।

### [ सर्वस्व ]

[ सू० १२ ] उपमानोपमेययोः साधर्म्ये भेदाभेदतुल्यत्वे उपमा ॥

अर्थालंकारप्रकरणमिदम् । उपमानोपमेययोरित्यप्रतीतोपमानोपमेयनि-  
पेधार्थम् । साधर्म्ये त्रयः प्रकाराः । भेदप्राधान्यं व्यतिरेकादिवत् । अभेदप्रा-  
धान्यं रूपकादिवत् । द्वयोस्तुल्यत्वं यथास्याम् । यदाहुः—‘यत्र किञ्चित्सा-  
मान्यं कश्चिच्च विशेषः स विषयः सदृशतायाः’ इति । उपमैवानेकप्रकार-  
वैचित्र्येणानेकालंकारचीजभूतेति प्रथमं निर्दिष्टा । अस्याश्च पूर्णालुप्तात्व-  
भेदाच्चिरंतनैर्यहुविधत्वमुक्तम् । तत्रापि साधारणधर्मस्य क्वचिदनुगामितयैक-  
रूप्येण निर्देशः, क्वचिद्वस्तुप्रतिबस्तुभावेन पृथङ्निर्देशः । पृथङ्निर्देशे च  
संबन्धिभेदमात्रं प्रतिबस्तूपमावत्, विम्बप्रतिविम्बभावो वा दृष्टान्तवत् ।  
क्रमेणोदाहरणम्—

‘प्रमामहत्या शिखयेव दीपस्त्रिमार्गयेव त्रिविधस्य मार्गः ।

संस्कारवत्येव गिरा मनीषी तथा स पूतश्च विभूषितश्च ॥’

‘यान्या मुहुर्वलितकंधरमाननं तदावृत्तवृन्तशतपत्रनिभं बहन्त्या ।  
दिग्धोऽमृतेन च विपेण च पक्ष्मलाक्ष्या गाढं निव्रात इव मे हृदये कटाक्षः ॥’

अत्र वलितत्वावृत्तत्वे संवन्धिभेदाद्भिन्ने । धर्म्यभिप्रायेण तु विम्वप्रति-  
विम्वत्वमेव ।

‘पाण्ड्योऽयमंसार्षितलम्बहारः क्लृप्ताङ्गरागो हरिचन्दनेन ।

आभाति वालातपरक्तसानुः सनिर्झरोद्गार इवाद्रिराजः ॥’

अत्र हाराङ्गरागयोर्निर्झरवालातपौ प्रतिविम्वत्वेन निर्दिष्टौ ।

[सू० १२] ‘उपमान और उपमेय का समानधर्म के साथ ऐसा संबन्ध जिसमें भेद और  
अभेद [ प्रधान या अग्रधान न होकर ] समान हों उपमा [ नामक अलंकार ]  
कहलाता है ।’

[ वृ० ] यह प्रकरण अर्थालंकार का है । [ साधर्म्य केवल उपमानोपमेय का ही होता है  
कार्यकारण आदि का नहीं तथापि सूत्र में उपमानोपमेय का शब्दतः कथन अप्रतीत उपमान और  
वैसे ही उपमेय के निषेध के लिए किया गया है । साधर्म्य में तीन भेद होते हैं [ एक वह ] जिसमें  
भेद की प्रधानता रहती है जैसे व्यतिरेक आदि में, [ दूसरा वह ] जिसमें अभेद की प्रधानता रहती  
है जैसे रूपकादि में [ तीसरा वह ] जिसमें दोनों की समानता रहती है जैसे इसी उपमा में । जैसा कि-  
[ भाष्यकार आदि ने ] कहा है—‘सदृशता = उपमा का विषय [ स्थल ] वह होता है जहां कुछ  
[ सामान्य—] समानता [ साधर्म्य अभेद ] और कुछ [ विशेष—] असमानता [ वैधर्म्य-  
भेद ] रहे ।’

[ यद्यपि प्राचीन आचार्यों में भामह और उद्भट ने अर्थालंकार का निरूपण रूपक से आरम्भ  
किया है और रुद्रट ने सहोक्ति से तथापि ] ग्रंथकार ने ( वामन के समान ) उपमा का ही निरू-  
पण पहले किया यह इसलिए कि [ वामन के ही समान उन्होंने भी यह माना है कि ] उपमा ही  
थोड़े थोड़े से अन्तर को लेकर अनेक अलंकारों में बीज का काम करती है ।

[ वामन, उद्भट और मम्मट ] ने इसे पूर्ण और लुप्ता इन दो भागों में बाँटा है और उनके  
भी अनेक [ उद्भट ने १७, मम्मट ने २५ ] भेद बतलाये हैं, [ भामह और रुद्रट में ये भेद नहीं  
हैं ] तथापि [ कुछ और भी मार्मिक भेद किए जा सकते हैं यथा ] कहीं साधारण धर्म [ एक शब्द से  
कहे जाने पर भी ] अनुगामी ( उपमेय और उपमान दोनों में वे-रुकावट लागू होने वाला ) होता  
है अतः उसे एक ही रूप में [ एक ही शब्द से ] प्रस्तुत किया जाता है किन्तु कहीं ( वह अनुगामी  
नहीं होता एक शब्द से नहीं कहा जाता और ) वस्तुप्रतिवस्तु-स्वरूप ( एक होने पर भी भिन्न-  
भिन्न शब्दों से पृथक् पृथक् प्रतिपादित फलतः भिन्न प्रतीत होने वाला ) रहता है अतः भिन्न-  
भिन्न रूपों में ( पृथक् पृथक् शब्दों से ) प्रस्तुत किया जाता है । जहाँ भिन्न-भिन्न रूपों में प्रति-  
पादित किया जाता है वहाँ भेद केवल सम्बन्धियों ( उपमानोपमेयों ) में रहता है ( धर्म में नहीं )  
या तो ( वहाँ साधारणधर्म में ) विन्वप्रतिविन्वभाव ( भिन्न होने पर भी सादृश्य के कारण  
( अभेदज्ञान ) रहना है । ( दोनों के ) एक-एक करके उदाहरण—( साधारण धर्म का उपमान और  
उपमेय दोनों के लिए एक ही वार उपयोग अर्थात् अनुगामी साधारण धर्म का उदाहरण )—  
‘वह पर्वतराज ( हिमाचल ) दस ( नवजात ) कन्या ( पार्वती ) से ठीक उसी प्रकार पवित्र भी  
दुहा और विभूषित भी जिस प्रकार पर्याप्त प्रकाशवाली ( अग्नि ) शिखा से दीप, ( मन्दाकिनी )

गंगा से स्वर्ग-मार्ग ( अन्दरिष्ठ ) ( अथवा ) सस्कृत भाषा से विद्वान् ( पवित्र और विभूषित होना है ) ( कुमारसम्भव-१ सर्ग ) ।

[ यहाँ पूनत्व और विभूषितत्व दोनों धर्म साधारण धर्म हैं । इन्हें श्लोक में एक ही बार कहा गया है किन्तु ये उपमानभूत दीपक, स्वर्गमार्ग और विद्वान् तथा उपमेयभूत हिमाचल दोनों में समन्वित हो जाते हैं अतः इन्हें अनुगामी कहा जा सकता है ]

[ वस्तुप्रतिवस्त्ररूप से पृथक् पृथक् शब्दों द्वारा पृथक् पृथक् रूप से प्रस्तुत अतः अननुगामी साधारणधर्म का उदाहरण ]—

[ 'अब वह [ मालतीमाधव की नायिका मालती ] जा रही थी तो उसने अपनी श्रीवा के साथ अपना चेहरा ( मेरी ओर ) घुमाया । ( उस समय ) वह ऐसा लग रहा था जैसे वृन्त ( डंठल ) के साथ तिरछा किया गया सौ पंखड़ी का कमलपुष्प हो । उस स्थिति में घनी बरौनी वाला आँखों से जो कटाक्ष किया मेरे ( माधव के ) हृदय में बहुत ही गहराई से गड़ गया है । ऐसा लगता है कि वह अमृत और विष दोनों से बसाया गया है ।' ( यहाँ अनुवाद में उपमान और उपमेय दोनों के लिए दो वाक्य हों गए हैं, मूल पद्य में वाक्य एक ही है वही होना भी चाहिए, अनुवाद में बसा करने पर काव्यशिल्प मटियाभेट हो जाता )

यहां [ वलितत्व ] घुमाव और आवृत्तत्व [ तिरछापन ] केवल सवन्धियों [ आनन = चेहरा और शनपत्र = कमल ] के भिन्न होने से भिन्न हैं स्वतः तो वे एक ही हैं ] यदि इन धर्मों से युक्त [ आनन और श्रीवा तथा शनपत्र और वृन्त ] वस्तुओं को लेकर उपमा मानी जाय तो उनमें तो [ यहां भी बिम्ब प्रतिबिम्बभाव । सादृश्य के आधार पर प्रार्थानिक अभेद ] ही मानना होगा ।

[ मूलतः भिन्न साधारण धर्म के अलग अलग शब्दों से अलग-अलग रूप में प्रस्तुत किए जाने पर भी सादृश्य के आधार पर अभेद अर्थात् बिम्बप्रतिबिम्बभाव का उदाहरण ]—

'पाण्डव देश का [ विशालकाय ] यह राजा कन्धों पर हार लटकाए हुए है और लल-चन्दन का अंगराग ( लेर ) लगाए हुए है अतः ऐसा सुशोभित हो रहा है जैसे कोरं पर्वतराज हो जिनपर झरने बह रहे हों और जिसकी चोटियों पर सबेरों की लाली भारी हो ।'—(रघुवंश दसरी) ।

यहाँ [ बिम्बभूत ] हार और राग के लिए निर्जर वाक्यातप प्रतिबिम्बरूप से प्रस्तुत किए गए हैं । [ हार और निर्जर में लम्बायमानत्व तथा शुक्लत्व की समानता है अतः उनमें अभेद प्रतीत होता है । इसी प्रकार अंगराग तथा बालानध में विरलुत्त्व तथा रक्तवर्णत्व की समानता है जिनसे इनमें भी अभेद की प्रतीति होती है । इस प्रकार इत स्वगन साधारणधर्मों के कारण अभिन्न हुए हार + निर्जर अंगराग + बालानध राजा और पर्वत की उपमा में साधारणधर्म का काम कर देने हैं, अतः यहाँ बिम्बप्रतिबिम्बभाव मान्य है ] ।

### विमर्शिनी

उपमानेत्यादि । अर्थेति । शब्दालंकारनिर्णयान्तरमयसरप्राप्तमित्यर्थः । ननूपमानोप-मेययोरेष साधर्म्यं संभवति न कार्यकारणादिकयोरिति किं तदुपादानेनेत्याशङ्क्याह—उप-मानेत्यादि । तत्रोपमानस्याप्रतीतत्वं लिङ्गभेदादिना प्राच्यैरुक्तम् । यथा—

'कटु फणन्तो मलदायकाः खलास्तुदन्त्यलं यन्धनशृङ्खला इव ।

मनस्तु साधुध्वनिभिः पदै पदै हरन्ति सन्तो मणिनूपुरा इव ॥'

अथ फणनादेर्धर्मस्योपमानेऽन्यतां करोतीति लिङ्गभेदो दुष्टः । यद्यपि साधारणधर्मस्यो-भयसंबन्धसंभवेऽपि सिद्धत्वादुपमाने तत्संबन्धस्य स्वयमेवावगमात् तस्य न शब्दता

युक्तेत्युपमानपारतन्व्येण लिङ्गादिविपरिणामो न कार्य इति न लिङ्गभेदादेर्दुष्टत्वम्, तथाप्युपमानवाक्यस्य साकाङ्क्षत्वात्प्रतीतिविश्रान्तेः शब्दस्तत्संबन्ध उपयुक्त एव । नहि प्रभामहत्यादाद्युपमानवाक्ये पूतत्वादिस्वबन्धं विना समन्वयविश्रान्तिः स्यात् । केवलं समानधर्मस्योपमेये विधीयमानत्वमुपमाने चानूद्यमानत्वमितीयानेव विशेषः । तदुभयत्रापि तत्संबन्धस्यावश्योपयोगाद्दुष्पद्यत एव समानधर्मस्यानुगामित्वम् । तल्लिङ्गभेदादेरपि दुष्टत्वं युक्तम् । उपमेयस्याप्रतीतत्वमवर्णनीयस्यापि वर्णनीयत्वम् । यथा—

‘गौरः सुपीवराभोगो रण्डाया मुण्डितो भगः ।

मेरोरर्कहयोल्लीड-शप्प-हेम-तटाचते ॥’

अत्र तन्वङ्ग्या रूपवर्णने भगवर्णनमनौचित्यावहमित्युपमेयस्याप्रतीतत्वम् ।

उपमानेत्यादि । अथेति अभिप्राय यह है कि अर्थालंकार का निरूपण शब्दालंकार निरूपण के पश्चात् अवसर प्राप्त है ।

शंका = [ मम्मट ने उपमा लक्षण में उपमानोपमेय का निवेशन कर कहा है कि ] साधर्म्य उपमान उपमेय में ही रहता है कार्यकारण आदि में नहीं [ इसलिए उन्होंने अपने उपमालक्षण “साधर्म्यमुपमा भेदे” में उपमान उपमेय का निवेश नहीं किया ] तब यहाँ उनका उपादान क्यों किया जा रहा है । ‘इसके उत्तर में कहते हैं’—उपमानेत्यादि । यहाँ जो उपमान का अप्रतीतत्व है उसमें [ वाग्न आदि ] प्राचीनों ने लिङ्गभेद आदि को कारण माना है । यथा—

‘फट्ट बोलते और कालिख लगाते खल लोग बन्धनशृङ्खला के समान बहुत अधिक सतते हैं । इसके निरुद्ध सत्यरूप मीठी वाणी से मणिनूपुर के समान पद पद में चित्तको हर लेते हैं । [ कादम्बरी वामुख ] ।’

यहाँ [ उपमानभूत शृङ्खला खोलिग है और वङ्गणतः पुंलिङ्ग । इस प्रकार विशेषण विशेष्यों में ] लिङ्गभेद<sup>१</sup> है और वह वङ्गण आदि धर्म को उपमान में अन्वित नहीं होने देता इसलिए दोष भी है । यद्यपि साधारणधर्म का संबन्ध दोनों से होता है [ अतः उसमें एकनात्र से संबन्ध रखने वाला दोष नहीं होना चाहिए ] किन्तु उपमान के साथ उस [ साधारण धर्म ] का संबन्ध स्वतः विदित हो जाता है क्योंकि उपमान में वह [ धर्म लोकप्रमाण से ] सिद्ध रहता है [ शृङ्खला आदि में कट्टवङ्गणादि धर्म लोकप्रसिद्ध हैं ] निदान उल्टे शब्द द्वारा कहना युक्त वा आवश्यक नहीं होता, फलतः उपमेयगत धर्म लिङ्ग विपरिणाम द्वारा उपमान में भी लागू किया जाय वह भी आवश्यक नहीं है और इस स्थिति में लिङ्गभेद दोष नहीं ठहरता, तथापि उपमानवाक्य उसको ज्ञान तक साकारंश रहता है इसलिये प्रतीति अटकी न रहे, वह शीघ्र पर्ववसित हो सके इसलिये साधारणधर्म का सम्बन्ध उपमान के साथ भी शब्दतः कथित ही होना चाहिए । “प्रभामहत्या०” इत्यादि पर्यायों में अवतक उपमानवाक्य में पूतत्वादि के संबन्ध प्रतीत नहीं हो जाते, समन्वय

१. ‘स्तम्बेरमा नुखरशृङ्खलकर्मिणस्ते’ [ रघु० ५ ] आदि में शृङ्खलशब्द भी है । अनेकार्थ संग्रह में हेमचन्द्र ने इसे लोहरज्जुवाचक माना है और नपुंसकलिङ्गान्त । अमरकोष ने इसे पुरुष को करवनी का वाचक माना है किन्तु तीनों किंगों में । यद्यपि रघुवंश के उक्त पद में हेमाद्रि और मल्लिनाथ ने शृङ्खलशब्द को नपुंसकलिङ्गान्त ही माना है तथापि लोहरज्जु के भी अर्थ में इसका प्रयोग पुंलिङ्गान्त संभव है तभी वागमट्ट ने विशेषणवाची शब्द में पुंलिङ्गीय शतप्रत्ययदिया है अतः यहाँ लिङ्गभेद मिटाया भी जा सकता है ।

[ पदार्थों का सन्ध ] तय नहीं हो पाता । अन्तर इतना ही रहता है कि साधारणधर्म उपमेय में विधेय रहता है और उपमान में उद्देश्य । इस प्रकार उपमान और [ उपमेय ] दोनों के साथ उपयोग आवश्यक होने से साधारण धर्म का अनुगामी [ उभयान्वयी ] होना उपयुक्त ही है । इसीलिए लिंगभेद आदि को दुष्ट मानना भी ठीक है ।

उपमेय तब भी अप्रतीत होता है जब किसी अवर्णनीय का भी वर्णन कर दिया जाय । यथा—  
 'रौंड़ स्त्री का गोरा, चौड़ा चकला और मुण्डित भग [ योनिवेदिका ] मेरु के उस सुवर्ण तट के समान लगता है जिसकी घास सूर्य के घोंड़ों ने चर ली हो ।' )

यहाँ किसी तन्वगी के रूप का वर्णन करने करते उसके भग का वर्णन करना अनौचित्यकारी है इसलिए यहाँ उपमेय अप्रतीत है ।

[ सूत्रकार ने सूत्र में उपमान और उपमेय को स्थान देकर ऐसे उपमान उपमेय का परिहार आवश्यक माना है, अतः उनका मूत्रमें इन दोनों का उपयोग करना उचित है ]

### चिमर्शिनी

भेदाभेदतुल्यत्वं व्याख्यातुं साधर्म्यस्य विषयविभागेण व्यवस्थितिं दर्शयति—साधर्म्यं इत्यादिना । एतैरेव च त्रिभिः प्रकारैः साधर्म्याश्रयः समग्र एवालंकारवर्गः संगृहीतः । तेन व्यतिरेकवदित्यनेन सहोक्त्यादयः संगृहीताः रूपकवदित्यनेन परिणामात्प्रेक्षादयः । किन्तु रूपकोत्प्रेक्षयोरभेदप्राधान्यसद्भावोऽप्यारोपाध्यवसायकृत एव विशेषः । यद्वचयति—'आरोपाद्भेदेऽध्यवसायः प्रकृत्यते' इति । अतश्चाध्यवसायगर्भेष्वलंकारेषु शुद्धाभेदरूपश्चतुर्थः प्रकारो न कश्चिदाशङ्कनीयः । तत्राप्यभेदप्राधान्यस्यैव भावात् । अनयाप्युपमेयोपमादयः संगृहीताः । सामान्यमित्यभेदहेतुकम् । विशेष इति भेदहेतुकः । एवं च भेदाभेदतुल्यत्वविषये च सादृश्यप्रत्ययो जायते तस्योपमाविषयत्वमुक्तम् । ननु च सस्वप्यनेकेष्वर्थालंकारेषु प्रथममित्येव किं निर्दिष्टेभ्योऽशङ्कबाह—उपमेवेत्यादि । अनेकेऽलंकाराः साधर्म्याश्रयाः तत्रैवास्य बीजत्वात् । उक्तमिति ।

'साधर्म्यमुपमा भेदे पूर्णा लुप्ता च साग्रिमा ।

श्रौतार्या च भवेद् वाच्ये समासे तद्धिते तथा ॥' इत्यादिना ।

अतश्च किमस्माकं तदाविष्करणेनेति भावः । एव च तेषां गणने तथा न वैचिन्त्य किञ्चिदिति सूचितम् ।

भेदाभेदतुल्यता की व्याख्या करने के लिए विषय विभाग द्वारा साधर्म्य की व्यवस्था दित्यनेने हुए लिए रहे हैं—'साधर्म्यं' इत्यादि । इन्हीं तीन भेदों में साधर्म्याश्रित समग्र अलंकारों का समग्र हो जाता है, इसलिए व्यतिरेक के समान ऐसा कहने में सहोक्ति आदि का समग्र हो जाता है और रूपक के समान कहने से परिणाम, उत्प्रेक्षा आदि का । रूपक और उत्प्रेक्षा में अभेद प्राधान्य रहने पर भी अन्तर आरोप [ रूपक ] और अध्यवसाय [ उत्प्रेक्षा ] को लेकर होता है । जैसा कि कहेंगे—अभेद में आरोप की अपेक्षा अध्यवसाय उत्कृष्ट होता है । इसलिए अध्यवसायवाले अलंकारों में 'शुद्ध अभेद' नामक किसी चतुर्थ भेद की संभावना नहीं की जानी चाहिए । वहाँ भी अभेद की ही प्रधानता रहती है । इस [ उपमा ] के द्वारा उपमेयोपमा आदि का समग्र किया गया ।

सामान्य अभेद के आधार पर, विशेष भेद के आधार पर । इस प्रकार जहाँ भेद और अभेद दोनों की बराबरी रहती है वहाँ जो सादृश्य की प्रतीति होती है उसे उपमा का विषय

माना गया । [ प्रदत्त ] “अर्थ के अलंकार तो और भी अनेक हैं, अर्थालंकारनिरूपण उत्तसे आरम्भ न कर उपमा से ही आरम्भ क्यों किया?” इसपर उत्तर देते हुए लिखा—उपमैव इत्यादि । अनेक अलंकार कहने का अर्थ है वे अलंकार जो साधर्म्य पर आश्रित हैं क्योंकि उपमा केवल उन्हीं में बीजभूत होती है ।

उक्तम् [पूर्णा लुप्ता आदि अनेक भेद कहे हैं] अर्थात् “साधर्म्यमुपमा भेदे पूर्णा लुप्ता०” [ काव्य-प्रकाश ७० १० ] “भेद रहने पर समानधर्म का जो सम्बन्ध उसे उपमा कहा जाता है । वह दो प्रकार की होती है पूर्णा और लुप्ता । इनमें से प्रथम [ पूर्णा ] वाच्य, समास तथा तद्धित में श्रौती और आर्थी [ इस प्रकार छ प्रकार की ] होती है । यहाँ से लेकर आगे लुप्ता के १९ भेदों के निरूपण तक । अभिप्राय यह कि प्राचीन आचार्यों-द्वारा निरूपण कर दिए जाने से पुनः उनका निरूपण करना आवश्यक नहीं है । इससे यह भी ध्वनित हुआ कि प्राचीनों के इन भेदों में कोई चमत्कार नहीं है [ रसगंगाधरकार ने भी यहाँ कहा है ‘अत्याक्षोपमायाः प्राचामनुरोपेन केचिद् भेदा उदाहियन्ते’ ४० २१३ निर्णयसा० सं० ६ ]

### विमर्शिनी

तत्रापांति । चिरंतनोक्ते पूर्णत्वादिभेदनिर्देशे सत्यपीत्यर्थः । साधारणधर्मस्त्विति । धर्मः पराश्रितः, तस्य च तदतद्गामित्वात् साधारणत्वम् । तदेव चोपमाद्युत्थाने निमित्तम् । स च चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः” इति महाभाष्यप्रक्रियया जातिगुणक्रिया-द्रव्यात्मकेषु धर्मिष्वेवंरूप एव भवति । न चैतद्विरूप्यते । धर्मिधर्मभावस्य न वास्तवत्वम् । जात्याद्यात्मनो धर्मिणोऽपि कदाचिद्व्याश्रितस्ये धर्मत्वात् । एवं च तदतिरिक्तं धर्मसाधर्म्ये साधारणं न किञ्चिद्वाच्यम् । चतुष्टय्या एव शब्दानां प्रवृत्तेरुक्तत्वात् ।

‘सदयं ब्रुभुजे महाभुजः सहसोद्वेगमियं वज्रेदिति ।

अचिरोपनतां स मेदिनीं नवपाणिग्रहणां वधूमिव ॥’

इत्यादावुपमानादौ क्रियारूपत्वादेयोजयितुं शक्यत्वात् तस्य एव च समग्रविषयावगाहनसहिष्णुत्वात् । ननु जातेः साधारणधर्मत्वे तज्जातीयत्वात् तत्त्वं न स्यात्, न सदृशत्व-मिति कथमुपमाङ्गत्वमस्याः स्यादिति चेत्, न । त्रिभ्रप्रतिविम्बभावाध्रयेण तथात्वाभावात् । तत्र ह्यसकृन्निर्देशाद् द्वयोर्हारादिकयोर्जात्योः श्वैत्याद्यभेदचिन्ताबलम्ब्रनेनैकत्व-माश्रित्य सादृश्यनिमित्तं साधारण्यं स्यात् । एतच्च सविस्तरमुपरिष्टाद् वक्ष्यामः ।

तत्रापि = तत्र भी अर्थात् प्राचीनों के द्वारा निर्दिष्ट पूर्णा आदि २५ भेदों के रहने पर भी ।

साधारणधर्मस्य = धर्म का अर्थ है जो दूसरे में रहे । वह जब दो भिन्न-भिन्न [ तद् अतद् ] वस्तुओं में रहता है तो साधारण कहलाता है । यहाँ साधारण धर्म उपमादि अलंकारों के अलंकारत्व का कारण होता है । धर्म चार प्रकार के होते हैं जाति, गुण, क्रिया और द्रव्य, जैसा कि महाभाष्यकार ने कहा है “चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः” । इन धर्मियों में वे ही चारों साधारण धर्मरूप भी होते हैं । [ यह धर्मों का धर्मरूप होना ] कोई विरुद्ध बात नहीं है, क्योंकि [ काव्य में ] धर्मधर्मिभाव [ विवक्षाधीन अतः काल्पनिक, न कि भौतिक स्तर पर सत्य ] आश्रयधर्मिभावरूप से रहता है । इसलिये धर्मधर्मिभाव वास्तविक नहीं होता । जाति आदि धर्मों में यदि अन्याश्रित [ रूप से प्रतिपादित ] होते हैं तो धर्म मान लिए जाते हैं । इससे यह बात आती है कि इन [ चार ] के अतिरिक्त अन्य किसी को भी साधारण धर्म नहीं माना जा सकता क्योंकि शब्दों के अर्थ केवल चार ही ( जाति आदि ) बतलाए गए हैं” । “उस महाबाहु ( अज ) ने तुरन्त प्राप्त

पृथिवी का भोग नवोढा वधू के समान यह सोचकर दया के साथ किया कि कहीं यह उद्वेजित न हो जाए।" यहाँ उपमान आदि में क्रियारूपत्वादि की योजना की जा सकती है और वही [क्रिया ही] यहाँ समग्रविषयावगाहनसहित्शु है [अर्थात् क्रिया ही यहाँ उपमालकार निम्नादक है]। (प्रश्न) जाति उपमा का अग कैसे मानी जा सकती है क्योंकि न तो [उपमानोपमेयगत भिन्न-भिन्न] वे [जातियाँ] अभिन्न हो सकती हैं क्योंकि वे अधिक वे अधिक तज्जातीय ही हो सकती हैं और न इनमें परस्पर का सादृश्य ही रह सकता [क्योंकि दोनों सर्वथा भिन्न होंगे]। [उत्तर] ऐसा नहीं। जातियों के भेद की प्रतीति बिन्वप्रतिबिन्वभाव से मिट जाती है। 'पाण्डवोऽप्यामंस्तापितलम्बहारः' आदि में, उपमान और उपमेय के साथ [बार-बार कथित द्वारत्वादि जातियों का शैत्य आदि के आधार पर रेख्य हो जाएगा और उस [शैत्यादिजनित] सादृश्य के आधार पर उन [जातियों] का साधारणत्व भी निष्पन्न हो सकेगा। यह विषय और भी अधिक विस्तार में हम आगे बतलावेंगे।

### चिमर्शिनी

तत्र धर्मिणो जात्यादिरूपता यथा—

‘धनोद्यानच्छायामिव मरुपयाद्, दावदहनाद्  
तुपाराम्मोवापीमिव विपविपाकादिव सुधाम् ।  
प्रवृद्धादुन्मादाद् प्रकृतिमिव निस्तार्यविरहा-  
हमेय स्वज्ञकिं निरुपमरसा शंकर कदा ॥’

अत्र च्छायावापीसुधाप्रकृतीनामुपमानानां जातिगुणद्रव्यक्रियात्वम् । छायायास्तु जाति-  
रूपत्वाद् गुणत्वं नाशङ्कनीयम् । उपमेयस्य पुनरंतस्त्वयमेवाम्युद्धम् ।

जात्यादि की धर्मरूपता का उदाहरण—

“मरुपय से धनोद्यानछाया के समान, दावामि से शीतलजलवापी के समान, विपविपाक से सुधा के समान, प्रवृद्ध उन्माद से प्रकृति [स्वस्थचितता] के समान दुस्तर विरह से आपकी भक्ति को हे भगवान् शंकर मैं कब पाऊँगा ॥”

यहाँ छाया, वापी, सुधा और प्रकृति क्रमशः जाति, गुण, द्रव्य और क्रिया रूप हैं (१)। छाया जातिरूप है। उसमें गुणत्व की शंका नहीं करना चाहिए। उपमेय में ये [जाति आदि] स्वयमेव समझ लेनी चाहिए। [इसी श्लोक में विरह और भक्ति उपमेय हैं इनमें विरह जातिवाचक शब्द हो सकता है क्योंकि वह अभाव पदार्थ है और विरह अनेक हो सकते हैं, जिनमें विरहत्व जाति रह सकती है, भक्ति रागात्मक भावतत्त्व है जो स्पर्शरूप से गुण है। द्रव्य के रूप में यहाँ शंकर भगवान् को उपमेय माना जा सकता है। प्रासक्रिया यदि छाया आदि प्रत्येक के साथ लागू की जाय तो वह भी भक्ति के साथ उपमेय बन सकती है।]

### चिमर्शिनी

धर्माणां तु यथा—

‘वदेहि परया मलयाद् विभक्तमत्मेतुना फेनिलमम्बुराशिम् ।  
छायापथेनेव शरथसन्नमाशामाविष्कृतचास्तारम् ॥’

अत्र विभक्तमित्यस्य क्रियात्वं रामसेनुच्छायापथयोर्द्रव्यत्वं फेनतारकाणां जातित्वं प्रसादस्य च गुणत्वं द्रव्यामकाशाम्बुराशिगतत्वेनोपनिबद्धम् । एवं प्रकृतामेव महाभाष्यप्रक्रियामपहाय निनिमित्तमेव प्रक्रियान्तरमाश्रित्य यदन्यैद्वतं तदयुक्तमेवे-

त्यलं बहुना । एवंविधस्य चास्य भावाभावरूपतया द्वैविध्यम् । एतच्च न तथा वैचिन्त्यावहमिति ग्रन्थकृता नोक्तम् ।

धर्मो को जाल्यादिरूपता यथा—

‘हे वैदेहि ! देखो फेन से युक्त यह अम्बुराशि मेरे सेतु से मलयान्चल पर्यन्त दो भागों में बँट गया है, ठीक उसी प्रकार जैसे आकाशगंगा से सुन्दरतारों भरा शरत्कालीन निर्मल आकाश ।’

यहाँ विभक्त होना [ बँटना ] क्रियारूप है, रामसेतु और छायापथ ( आकाशगंगा ) द्रव्यरूप हैं, फेन और तारे जातिरूप हैं तथा प्रसन्नता ( निर्मलता ) गुणरूप । ये सब आकाश और अम्बुराशि में विघनान वतलाए गए हैं जो द्रव्यात्मक हैं। इस प्रकार महामाम्ब्य की प्रकृत [ प्रसिद्ध ] प्रक्रिया को छोड़कर [ उड़द, नमद, और रत्नाकरकार ] अन्य आचार्यों ने अकारण ही [ पूर्ण लुप्ता आदि की ] जो, दूसरी प्रक्रियाएँ अपनाई हैं वह ठीक नहीं हैं। हम इस प्रसंग को यहीं समाप्त करते हैं। इस प्रकार [ चार प्रकार ] का यह [ साधारण धर्म ] भावात्मक भी होता है और अभावात्मक भी किन्तु इसमें कोई चमत्कार नहीं है इसलिए ग्रन्थकार ने इसका प्रतिपादन नहीं किया।

### विमर्शिनी

प्रेकरुष्येणेति । सकृत् । यद्ब्रूयति—‘तत्र सामान्यधर्मस्येवाद्युपादाने सकृन्निर्देश उपमा’ इति । पृथक्निर्देश इति । असकृदित्यर्थः । यद्ब्रूयति—‘वस्तुप्रतिवस्तुभावेनासकृन्निर्देशोऽपि सैव’ इति । साधारणधर्मस्येत्यत्रापि संबन्धनीयम् । वस्तुप्रतिवस्तुभावेऽपि द्वैविध्यमित्याह—पृथक्निर्देश इत्यादि । सम्बन्धिभेदमात्रमिति । न पुनः स्वरूपभेदः कश्चिदित्यर्थः । यद्ब्रूयति—‘असकृन्निर्देशे शुद्धसामान्यरूपत्वं चिन्वप्रतिविम्बभावो वा’ इति । एतच्च भेदत्रयं प्रायः सर्वपामेव सादृश्याश्रयाणामलंकाराणां जीवितभूतत्वेन संभवतीत्यग्रत एव तत्र तन्नोद्गारहरिष्यामः । क्रमेणेति ययोदेशम् । सम्बन्धिभेदादिति । संबन्धिनोः कंधरावृन्तयोर्भेदात् । न तु हारनिर्झरादिवत्स्वरूपतो भेदः । वस्तुत एकत्वाद्बलितत्वावृत्तत्वयोरभेदः । ननु यदि बलितत्वावृत्तत्वाख्यो धर्म आननशतपत्रयोः शुद्धसामान्यरूपतयोपात्तस्तद्धर्मो कंधरावृन्तरूपः पुनः किरूपतयेत्याशङ्क्याह—धर्म्यभिप्रायेणेत्यादि । एवकारः शुद्धसामान्यरूपत्वव्यवच्छेदकः । कंधरावृन्तयोश्च ययोक्ते धर्मित्वेऽप्याननशतपत्रापेक्षया धर्मत्वमेव युक्तम् । आश्रयाश्रयिभावेन धर्मिधर्मभावस्य भावात् । अत एवास्यावास्तवत्वं पूर्वमुक्तम् । अतश्चाननशतपत्रापेक्षया इति न व्याख्येयम् । तयोरुपमानोपमेयभाववाचोयुक्तेरेव युक्तत्वात् । एवं च सति कंधरावृन्तयोः स्वरूपमनभिमतं स्यात् । अनेनैव च चिन्वप्रतिविम्बभावस्य स्वरूपे दर्शितेऽप्यसंकीर्णप्रकटनाशयेन पुनः ‘पाण्ड्योऽथम्’ इत्याद्युदाहृतम् ।

सकृत् एक वार [ निर्देश ] जैसा कि कहेंगे—‘उनमें सामान्यधर्म का, इत्यादि शब्दों का उपादान होने पर यदि एक ही वार निर्देश हो तो उसे उपमा कहा जाता है।’ पृथक् निर्देश अर्थात् अनेक वार निर्देश, जैसा कि कहेंगे—‘वस्तुप्रतिवस्तुभावपूर्वक [ साधारणधर्म का ] एकाधिक वार निर्देश होने पर भी वही [ उपमा ही ] होता है।’ इस वाक्य में “साधारण धर्म का” इतना और जोड़ देना चाहिए [ हमने जोड़ दिया है ]। वस्तुप्रतिवस्तु भाव जहाँ होता है वहाँ भी दो भेद होते हैं इस बात को पृथक् निर्देश इत्यादि के द्वारा यतलाया। सम्बन्धिभेदमात्र न कि किसी प्रकार का स्वरूपभेद, जैसा कि कहेंगे—“[ साधारण के ] अनेक वार कहे जाने पर या तो वह शुद्ध सामान्यरूप रहता है या उसमें चिन्वप्रतिविम्बभाव रहता है।’ ये तीन भेद सादृश्यमूलक प्रायः सभी अलंकारों में प्राण का काम करते हैं इसलिए इन्हें जहाँ तहाँ शुरू शुरू में ही बतलाते रहेंगे। क्रमेण = क्रम से अर्थात् जिस क्रम से नामोल्लेख किया गया है। संबन्धिभेद से



मन्विष्यो अर्थात् कन्धरा और वृन्त के भेद से। वस्तुतः [ वलितत्व और आवृत्तत्व में ] वैसा स्वरूपभेद नहीं है जैसा हार और निहार में है। मूलतः एक होने से वलितत्व और आवृत्तत्व [ शब्दभेद होने पर भी ] अभिन्न ही है। यदि वलितत्व और आवृत्तत्व आनन तथा शतपत्र में शुद्धसामान्यरूप से उपात्त है तो प्रदन उठता है कि उनके धर्मा कधरा ( झोवा ) और वृन्त ( बँट ) किस रूप से उपात्त है। इस पर उत्तर देते हैं—“धर्म्यभिप्रायेण०” एव शब्द यहा शुद्धसामान्यरूपता का निवर्त्तक है। कन्धरा और वृन्त यहाँ उपयुक्त क्रम से धर्मा ही है तथापि आनन और शतपत्र की अपेक्षा वे धर्मरूप भो हो सकते हैं। क्योंकि ( काव्य में ) धर्मधर्मिभाव आश्रयाश्रयिभावरूप से व्यवस्थित होता है। इसीलिए [ अभी कुछ ही ] पहले इसे अवास्तविक भी कहा है। इसीलिए व्याख्या में “आनन और शतपत्र का अपेक्षा” ऐसा कहना भी ठीक नहीं है [ वस्तुतः यह सशोधन वृत्ति द्वारा प्रस्तुत “धर्म्यपेक्षया”—इम विचार पर है ] उपमानोपमेयभाव की वाच्ययुक्ति ही उनमें उपयुक्त और उचित है। [ अर्थात् कन्धरा और वृन्त में उपमानोपमेयभाव ही मानना पर्याप्त तथा उचित है, विम्बप्रतिविम्बभाव द्वारा अभेद नहीं ] येमे । धर्मरूप मान लेने पर ] तो कन्धरा और वृन्त के अपने स्वरूप अनभिमत [ व्यर्थ ] सिद्ध हो जावेंगे। [ इसीलिए इनमें विम्बप्रतिविम्बभाव नहीं मानना चाहिए ] और इसी अभिप्राय से “पाण्डवोऽयमसापितलम्बहारः” यह पृथक् उदाहरण प्रस्तुत किया गया है। इसमें केवल विम्बप्रतिविम्बभाव ही है वस्तुप्रतिवस्तुभाव नहीं। वस्तुप्रतिवस्तुभाव से सर्कोण विम्बप्रतिविम्बभाव तो इसी “यान्था मुटु०” पद्य से [ कन्धरावृन्त में उपयुक्त क्रम से विम्बप्रतिविम्बभाव मानने के कारण ] स्पष्ट हो सकता था।

### विमर्शिनी

हाराङ्गरागयोरिति । स्वरूपयोरिति शेष । न चात्र विम्बप्रतिविम्बभावस्य विषयान्तरं प्रदर्श्य वाच्यार्थगतामुपमामादाङ्क्य गुणसाग्यनामा चतुर्थ प्रकारो वाच्यः । यावता हि साधारणधर्मनिबन्धनमुपमास्वरूपम्, स चात्र धर्मो निर्दिष्टानिर्दिष्टत्वेन द्विविधः । निर्देशपक्षे चास्य त्रैविध्यमुक्तम् । अनिर्देशपक्षे चास्य न वैचिन्यं किंचिदिति न तदाश्रयं भेदजातमुक्तम् । अतश्चात्र निर्दिष्ट, साधारणधर्मो व्यवस्थित इति का नाम चतुर्थप्रकारकल्पना । वाच्यार्थोपमागन्धोऽप्यत्र नास्ति । स ह्यनेकेषा धर्मिणां परस्परावच्छिन्नानां तादृशैरेव धर्मिणि साम्ये भवति । यथा—

‘जनयिन्याः कुलात्त्याश्च रक्षिभ्या विदितोऽभवत् ।।

रतसूतेर्मुजंग्याश्च प्रच्छन्न इव शोषधिः ॥’

अत्र जनयिन्यादीनां रतसूत्यादीन्युपमानान्युपात्तानि । एतेषा धर्मित्वं च स्फुटमेव । विम्बप्रतिविम्बभावः पुनर्धर्मिविशेषप्रतिपादनोन्मुखानां धर्माणां भवति । परस्परावच्छिन्नत्वं यथात्रैव । अत्र हि हाराङ्गरागयोः पाण्डवस्य विशिष्टतापादनायैवोपादानम् । इन्दुमतीं प्रति तस्य विशिष्टालम्बनविभावत्वेन विवक्षितत्वात् । अतश्च तयोः परस्परोन्मुखत्वात्स्वात्मन्येवाविधान्तिरिति का कथोपमेयतायाः । एवं पाण्डवस्याद्विराजेन हारनिहाराद्विधर्मनिमित्तैवोपमा, तावन्मात्रेणैव सादृश्यपर्यवसानात् । तच्च हारादेः साधारणधर्मस्य विम्बप्रतिविम्बत्वाद् दृष्टान्तभ्यायस्यैतत्सूद्राहरणमेव ।

—हाराङ्गरागयोः हार और अंगराग के अर्थात् उनके स्वरूप के [ न कि उनमें विद्यमान जाति के प्रतिविम्ब ] । [ वामन ने ‘पाण्डवोऽयमसापित०’ पद्य में वाच्यार्थोपमा मानी है द्रष्टव्य ४।१।३-कान्याकारसूत्रवृत्ति, टीकाकार इसपर सशोधन करते हुए लिख रहे हैं— ] “यह कहा जा सकता

हे कि यहाँ विन्वप्रतिविन्वभाव का विचार विषयान्तर है, क्योंकि विचार प्रस्तुत है उपमा का, फलतः यहाँ वाक्यार्थोपमा माननी चाहिए और उसे उपमा का गुण साम्यमूलक एक चौथा प्रकार स्वीकार कर लेना चाहिए ।' किन्तु यह कहना ठीक नहीं है, कारण कि उपमा का जो स्वरूप है वह निर्भर है साधारणधर्म के ऊपर, और जो साधारणधर्म है वह दो प्रकार का होता है निर्दिष्ट और अनिर्दिष्ट । निर्देशपक्ष में उसके तीन प्रकार बतलाए हैं । अनिर्देशपक्ष में उसमें कोई धमस्कार नहीं रहता अतः उससे संभव भेदों का निरूपण नहीं किया है । इस प्रकार इस प्रसंग में क्योंकि केवल निर्दिष्ट साधारण धर्म का ही विचार किया गया है अतः ( अनिर्दिष्ट साधारणधर्मरूप गुण-साम्यमूलक ) चतुर्थ भेद का प्रश्न ही नहीं उठता । जहाँ तक वाक्यार्थोपमा का संबन्ध है वहाँ उसकी गन्ध भी नहीं है । वह तो तब होती है जब परस्पर संबन्ध अनेक धर्मियों का वैसे ही धर्मियों से साम्य दिखलाया जाता है । जैसे—'वह केवल जन्म देने वाली माँ और रक्षा करने वाली कुलाली = कुम्हारिन ही जानती थी उसी प्रकार जिसप्रकार छिपे हुए कोप को रत्नगर्भा पृथिवी और सर्पिणी [ रत्नसृति = रत्न उपजानेवाली भूमि पर प्रायः सर्पिणी या सर्प रहते हैं ]' यहाँ माँ आदि [ आदि पद से कुलाली और 'स' इस पद से कथित व्यक्ति के लिए रत्नसृति आदि [ आदि-पद से भुजंगी और शेषि या कोप ] उपमानरूप से अपनाए गए हैं । इनका धर्मित्व और परस्पर में संबन्धत्व स्पष्ट ही है । विन्वप्रतिविन्वत्व जो होता है वह उन धर्मों में होता है जो किसी विशिष्ट धर्मों का प्रतिपादन करने के लिए होते हैं । जैसे र्थी [ पाण्डुर्योग्यमंसा० ] पक्ष में ही । इसमें हार और अंगराम का जो उपादान है वह पाण्डुराज में विशेषता लाने के लिए ही । यह भी इस-लिए कि कवि उसे शत्रुमती के प्रति विशिष्ट [ असामान्य ] आलम्बन विभाव के रूप में चित्रित करना चाहता है । इसीलिए वे [ हार और अंगराम ] परस्पर के प्रति उन्मुख हैं इसलिये वे अपने आप में दिशान्त तक नहीं हो पाते, उनमें उपमेयता की बात ही कैसे की जा सकती है । इस प्रकार पाण्डुर्य और अदिराज की उपमा हार और निर्झर आदि धर्मों पर ही निर्भर है । उन दोनों में सादृश्य का बोध केवल इन्हीं धर्मों से होता है । और वह [ सादृश्य ] शत होता है हार आदि धर्मों के विन्वप्रतिविन्वभाव से अतः इनमें उपादान जैसी स्थिति का बतलाया जाना उचित ही है ।

### विमर्शिनी

ननु हारनिर्झरयोस्तद्वत्त्वामिस्वाभावात्कथं साधारणधर्मतेति चेत्, उच्यते—

अस्यास्तावद्धर्मस्य साधारण्यं जीवितम् । तच्च धर्मस्यैकत्वे भवति । न च वस्तुतोऽत्र धर्मस्यैकत्वम् । नहि य एव सुखनतो लावण्यादिधर्मः स एव चन्द्रादौ, तस्यान्वयासंभवात् । अपि तु तज्जातीयोऽन्नान्योऽस्ति धर्मः । एवं धर्मयोर्भेदात्साधारण्यभावादुपमायाः स्वरूपनिष्पत्तिरेव न स्यात् । अथ धर्मयोरपि सादृश्यमनुपगम्यते तत्रापि सादृश्य-निमित्तमन्यदन्वेप्यम् । तत्राप्यन्यदित्यनवस्था स्यात् । तत्रश्च धर्मयोर्वस्तुतो भेदेऽपि प्रतीतावेकतावसायाद्भेदेऽप्यभेद इत्येतन्निमित्तमेकत्वमाश्रयणीयम् । अन्यथा ह्युपमाया उत्थानमेव न स्यात् । एवमिहापि हारनिर्झरादीनां वस्तुप्रतिवस्तुतयोपात्तानां वस्तुतो भेदेऽप्यभेदविवेकत्वेकत्वं ग्राह्यम् । अन्यथा ह्येषां पाण्डुराद्रिराजयोरौपम्यसमुत्थाने निमित्तत्वमेव न स्यात् । न चैपामौपम्यं युक्तमिति समनन्तरमेवोक्तम् । अत एवात्र विन्व-प्रतिविन्वभावव्यपदेशः । लोको हि वर्णणादौ विन्वात्प्रतिविन्वस्य भेदेऽपि मदीयमेवात्र वदन् संक्रान्तमित्यभेदेनाभिमान्यते । अन्यथा हि प्रतिविन्वदर्शने कृद्वोऽहं सृष्ट्वोऽहमित्या-च्चभिमानो नोदिषात् भूपणविन्वासादौ च नायिका नाद्रियेरन् । प्राच्यैरपि—

‘म मुनिर्लान्घितो मौञ्ज्या कृष्णाजिनपटं वहन् ।

व्यराजन्नीलजीमूतभागरिल्ल इवांशुमान् ॥’ इति,

तथा—स पीतवामाः प्रगृहीतशार्ङ्गो मनोज्ञभीमं वपुराप कृष्णः ।

शतहृदेत्रायुधगान्निशार्या ससृज्यमानः शशिनेव मेघः ॥’

इत्यत्र मौञ्जीतडितोः शङ्खशशिनोश्च वस्तुतो भेदेऽप्यभेदविवक्षामेवाधिरत्य साधारण-धर्मस्य हीनत्वमाधिक्यं चोक्तम् । अत एव चात्र पूर्वं ग्रन्थकृता वस्तुप्रतिवस्तुभाववद् वस्तु-द्वयस्य प्राच्योक्तमेव व्यवहारं दर्शयितुं प्रतिवस्तुपभावद् दृष्टान्तवच्चेति तदुक्तमेव दृष्टान्त-द्वयं दत्तम् । एवं चात्रामेद्वित्रैव जीवितम् ।

प्रश्न उठना है कि [ जिसमें ( पाण्डव में ) द्वार है उसमें निर्झर नहीं और जिसमें ( पर्वत में ) निर्झर है उसमें द्वार नहीं इस प्रकार ] द्वार और निर्झर दोनों में से कोई भी परस्पर मित्र दोनों वस्तुओं [ पाण्डव और पर्वत ] में रहने वाला नहीं है [ दोनों एकही एक में रहते हैं ] अतः ये साधारण धर्म कैसे माने जा सकते हैं । उत्तर में कहा जाता है कि हम [ उपमा ] का प्राण है धर्म का साधारण्य । वह [ साधारण्य ] तभी होता है जब धर्म एक हो [ मित्र नहीं और धर्म यहाँ वस्तु एक नहीं है ] ऐसा नहीं कि जो लावण्य आदि धर्म सुख [ आदि ] में रहता है वही चन्द्र आदि में रहता हो क्योंकि उन [ सुखगन धर्म ] का [ चन्द्रादि से ] सम्बन्ध [ ही ] समब नहीं । चन्द्रादि में जो धर्म रहता है वह सुखादिगत लावण्यादिकर्म का सजातीय और उससे कोई मित्र धर्म होता है । हम प्रकार धर्मों के मित्र होने से साधारणता नष्ट बनेगी फलतः उपमा का स्वरूप ही निरपन्न नहीं होगा ।

यदि धर्मों में भी अभेद के लिए सादृश्य स्वीकार किया जाता हो तो वह सादृश्य अपनी सिद्धि के लिए किसी अन्य सादृश्य की अपेक्षा रखेगा और वह [ तीसरा सादृश्य ] भी [ अपनी सिद्धि के लिए ] अन्य [ किसी चीज ] सादृश्य की । हम प्रकार अनवस्था आ पड़ेगी । इसलिये धर्मों में वस्तुतः भेद रहने पर भी प्रतीति में एकता ही भासित होती है अतः “अतः मित्रता होने पर भी अभेद” हम तथ्य को निमित्त मानकर [ चन्द्रादिगत और सुखादिगत ] मित्र मित्र धर्मों में अभेद मान लेना पड़ता है । ऐसा न मानने पर [ सुख और चन्द्र आदि में ] उपमा सही ही नहीं हो सकेगी । इसी प्रकार यहाँ [ पाण्डवोऽयममापिन० में ] भी द्वार और निर्झर आदि वस्तुप्रतिवस्तुरूप से ( ? ) उपत्त है, इनमें वस्तुतः भेद है तथापि विवक्षा अभेद की है इसलिये एकता मान लेनी चाहिए । नहीं तो ये [ द्वार निर्झर ] पाण्डव तथा पर्वत की उपमा में निमित्त ही नहीं बन सकेंगे । इनमें उपमा तो बनती ही नहीं [ क्योंकि ये तो परस्परानुत्तर रहते हैं, आत्मविश्रान्त नहीं ] ऐसा अर्थात् कुछ ही पहिले कहा है । इसीलिए यहाँ दिग्भ्रमविश्रान्तभाव [ शब्द ] का व्यवहार होता है । कोई भी व्यक्ति विन्व से [ स्थानभेद आकारभेद आदि के कारण ] प्रतिविम्ब का भेद रहने पर भी “मेरा ही मुख दर्पण में सक्रान्त हुआ है” हम प्रकार दोनों में अभेद ही मानता है । नहीं तो प्रतिविम्ब देखकर “मं दुबला हूँ या मोटा हूँ” यह भाव उसने उदित नहीं हो सकता और खियों भी [ दर्पण में देखकर अंग प्रत्यग में ] भूषणों का विन्यास करने में प्रवृत्त नहीं हो सकतीं । प्राचान् आलम्बारिकों ने भी—“मौञ्जी मेखला बांधे तथा कृष्णशृगचर्म पहने वे मुनि नीलमेघ के डुकटे से घिरे मूर्ख जैसे लग रहे थे” इस पद्य में [ वामन तथा मम्मट ने ] तथा—“कृष्ण भगवान् पीतान्तर पहने थे और शार्ङ्ग धनुष लिए हुए थे । उनका स्वयं का शरीर श्याममुन्दर और विशाल था । इस प्रकार वे विजली, चन्द्रधनुष और चन्द्रमा में सुक हो रहे रात्रिकालीन मेघ जैसे लग रहे थे”/ इस पद्य में [ मम्मट ने ] मौञ्जी और विजली तथा शंख और

चन्द्र का वस्तुतः भेद होने पर भी अभेद की विवक्षा को ही लेकर साधारणधर्मत्व माना है और उनमें हीनता [ प्रथम उपमा में तद्विद को ] और अधिकता [ द्वितीय उपमा में चन्द्र की ] बतलाई है और इसी कारण वहाँ ग्रन्थकार ने भी [ उदाहरण देने के ] पहिले वस्तुतः वस्तुप्रतिबस्तुभाव से युक्त दो वस्तुओं में प्राचीन आचार्यों द्वारा किया गया व्यवहार दिखलाने के उद्देश्य से दो उदाहरण दिए, एक प्रतिबस्तुपमा का और दूसरा दृष्टान्त का । इस प्रकार यहाँ [ पाण्ड्यो० इत्यादि स्थलों को उपमा में ] अभेद की विवक्षा ही प्राण है ।

**विमर्श**—टीकाकार ने इस मार्मिक विवेचन के अन्त में यहाँ तो विन्वप्रतिविन्वभाव को प्राचीन-भिमत बतलाकर “पाण्ड्योऽयम०” इत्यादि स्थलों की उपमा में वस्तुप्रतिवस्तुभाव को ही ग्रन्थकाराभिमत बतलाया है, किन्तु पहिले उसी प्रकारण में वे इन स्थलों में कन्धरा-वृन्त आदि के बीच उपमा स्वीकार कर आए हैं और आगे भी विन्वप्रतिविन्वभाव ही स्वीकार करेंगे । उनके इस वीदिक पलायन में कोई ठोस आधार नहीं है । विन्वप्रतिविन्वभाव और वस्तुप्रति-वस्तुभाव दोनों में एक तथ्य सामान्य है । वह है भेद और अभेद भी समष्टि । वस्तुप्रतिवस्तुभाव में ज्ञानधारा प्रातिभासिक भेद से पारमार्थिक अभेद की ओर बढ़ती है जब कि विन्वप्रतिविन्वभाव में पारमार्थिक भेद से प्रातिभासिक अभेद की ओर । इस प्रकार ज्ञानधारा की प्रवृत्ति भी दोनों एक ही है भेद से अभेद की ओर । अन्तर केवल भेद तथा अभेद में दोनों भावों की विपरीत स्थिति का है । इस प्रकार “यान्त्या मुहुर्लित०” में कन्धरा और वृन्त दोनों ‘पाण्ड्योऽयम्०’ के हार और निहार के समान ही वस्तुतः भिन्न और निवक्षया अभिन्न होने से विन्वप्रतिविन्वभावयुक्त ही हैं । चाहे तो टीकाकार प्रथम पथ में आवृत्तत्व और वलितत्व के वस्तुप्रतिवस्तुभाव को प्रधान मान सकते हैं और कन्धरावृन्त के विन्वप्रतिविन्वभाव को अप्रधान, किन्तु उसे वे अमान्य नहीं ठहरा सकते । परस्परान्मुखता से उनका अर्थ नहीं बदल जाता जो उन्हें आत्मविश्रान्त न माना जा सके ।

### विमर्शिनी

एषा च लक्ष्मि सुप्रसुरैव । यथा—

‘विद्युत्खन्तं ललितवनिताः सेन्द्रचापं सचित्राः

संगीताय प्रहृतसुरजाः स्निग्धगम्भीरघोषम् ।

अन्तस्तोयं मणिमयमुवस्तुङ्गमभ्रंलिहाग्राः

प्रासादास्त्वां तुलयितुमलं यत्र तैस्तैर्विशेषैः ॥’

अत्र विद्युद्द्वनितादीनां मेघप्रासादविशिष्टाधायकतया धर्मत्वेनैवोपादानम् । अत एव तैस्तैर्विशेषैरिस्त्युक्तम् । तेषां सङ्गन्तिर्दृशाभावात्तानुगामिता । एकार्थत्वाभावान्न शुद्धसा-मान्यरूपत्वमिति पारिशेष्याद्भिन्वप्रतिविन्वभाव एव । एतेषां चाभेदेनैव प्रतीतेः साधारण-त्वम् । एवं हारादेरपि श्लेषम् । अभेदप्रतीतिश्चात्र सादृश्यनिमित्ता । न चैतावतैवैवामुप-मानोपमेयत्वं वाच्यम् । तथात्वाविबद्धानात् । सादृश्यस्य च सितत्वादिगुणयोगित्वं नाम निमित्तम् । एवमभेदप्रतीतिसुत्तेनात्र हारादेः समानधर्मत्वम् । क्वचिन्नमित्तान्तरेणाप्य-भेदप्रतीतिर्भवति । यथा—

‘द्वेष्योऽपि संमतः शिष्टस्तस्यार्तस्य यथोपधन् ।

त्याज्यो दृष्टः त्रिचोऽप्यासीद् दष्टोऽङ्गुष्ठ इवाहिना ॥’

अत्रोत्तरार्धे दष्टदृष्टयोर्दोषकारित्वादिना एककार्यकारित्वमभेदकारणमित्यलं बहुना ।

[ विन्वप्रतिविम्बभावमूलक ] यह [ उपमा ] काव्यों में पर्याप्त मात्रा में प्राप्त है। यथा—'हे मेघ ! [ अलका के ] प्रासाद उन उन विशेषताओं से तुम्हारी समानता भलीभाँति कर सकते हैं। तुम्हारे पास विद्युत् है उनमें ललितवनिताएँ हैं, तुम इन्द्रचाप से युक्त हो उनमें चित्र बने हैं, तुममें ग्निग्ध और गम्भीर घोष है उनमें संगति के लिए मृदग बजते रहते हैं, तुम्हारे भीतर जल है वे भी मणिमय भूमि से युक्त हैं, तुम बहुत ऊँचे हो और उनके शिरसर भी गगनचुंबी हैं।' यहाँ विद्युत् और वनिता आदि का उपादान मेघ और प्रासाद में विशिष्टता लाने वाले धर्म के रूप में ही किया गया है, इसीलिए [ स्वयं कविने ] 'उन-उन विशेषों द्वारा, इस प्रकार उन्हें विशेष अर्थात् धर्म कहा है। किन्तु ये अनुगामी धर्म नहीं हैं क्योंकि उनका निर्देश अलग-अलग किया गया है। न वे शुद्धसामान्य स्वरूप हैं क्योंकि उनमें प्रकार्यकता नहीं है। इसलिए अब उनमें विन्वप्रतिविम्बभाव ही शेष बचना है। इन्हें जा माधारण धर्म कहा है वह केवल इसलिए कि इनकी प्रतीति अभिन्नरूप से होती है। हार आदि के विषय में भी यही समझना चाहिए। और अभेद का जो प्रतीति है वह यहाँ सादृश्यमूलक है। किन्तु इतने भर से [ सादृश्यमात्र होने से ] इनमें उपमानोपमेयभाव नहीं माना जा सकता क्योंकि इनकी उस रूप में यहाँ विवक्षा नहीं है। सादृश्य का निमित्त [ हार निर्जर आदि में ] प्रकृतो रूपी गुण से युक्त होता है। इस प्रकार अभेद प्रतीति के द्वारा यहाँ हार आदि साधारण धर्म बन जाते हैं।

कहाँ दूसरे निमित्तों से भी अभेद प्रतीति होती है। यथा—'उस [ दिलीप ] को डेव्य व्यक्ति भी यदि शिट होता था तो मान्य होता था जैसे बीमार को औषधि। इसके विरुद्ध प्रिय व्यक्ति भी यदि दुष्ट होता था तो त्याज्य होता था जैसे सर्पदंष्ट्र अँगूठा।' [ रघुवश—१, रघुवश में चतुर्थचरण 'अगुलीवोरगङ्गना' है। टीकाकार ने यह पाठ कदाचित् उपमानोपमेय में पूर्वाह्न के समान लिंगैक्य के लिए पसन्द किया या स्वयं बनाया हो ] यहाँ [ सर्प ] दष्ट [ अगुष्ठ ] और दुष्ट इनमें अभेद एक कार्यकारित्व के आधार पर है दोषकारित्वादि गुण दोनों में ही रहते हैं। अस्तु, अधिक विस्तार से लाभ नहीं।

### विमर्शिनी

इयं च द्वयोरपि प्रकृतयोरप्रकृतयोर्ध्वाम्ये समुच्चिता भवति । क्रमेण यथा—

'सद्वयं बुभुजे महाभुज' इत्यादि । अत्र बधूमेदिन्योरचिरोपनतत्वात्प्रकृतत्वेन सद्वयोपभोगे समुच्चितत्वम् यथा—

'स्वरेण तस्याममृतम्बुतेव प्रजल्पितायामभिजातवाचि ।

अप्यन्यपुष्टा प्रतिमूलशब्दा श्रोतुर्वितन्दीरिव तादवमाना ॥'

अत्र भगवत्स्यपेक्षयान्यपुष्टावितन्त्योरप्रकृतयो' प्रतिमूलशब्दत्वे समुच्चितत्वम् ।

इयमेकदेशविवर्तिन्यपि । यथा—

'कमलदलैरधरैरिव दशनैरिव केसरैर्विराजन्ते ।

अलिबलैरलकैरिव कमलैर्वदनैरिव नलिन्याः ॥'

अत्र नलिनीनां नायिका उपमानत्वेन नोपात्ता इत्येकदेशविवर्तिन्यम् । इयं च सादृश्य-दादर्थार्थं कविप्रतिभाकल्पिते साधर्म्ये कल्पिता भवति । तच्च क्वचिदुपमेयगतत्वेन क्वचिदुपमानेनापि कल्पितमिति द्विधात्वमस्या । यदुक्तम्—

'उपमेयस्य वैशिष्ट्यमुपमानस्य वा क्वचित्' इति । वैधर्म्येणापि साधर्म्यमिति तृतीयः प्रकारः पुनरस्या न वाच्यः । अस्योपमायामेव संभवाद्दार्ढ्यप्रतिपादनप्रतीतिश्च ।

यह [ उपमा ] ऐसे दो पदार्थों के साधर्म्य में भी होती है जिनमें से दोनों ही प्रकृत होते हैं या दोनों ही अप्रकृत । क्रम से उदाहरण यथा [ दोनों प्रकृत की उपमा ] “सदयं दुमुञ्जे महाभुजः०” इत्यादि [ पूर्वोदाहृत पथ में ] यहाँ बधू और मेदिनी दोनों ही अचिरोपनत [ तुरन्त पास आई प्राप्त ] हैं । अतः दोनों ही प्रकृत है फलतः सदय उपभोग में दोनों का ही समुच्चय है । [ अप्रकृतों की ही उपमा ] यथा—“उस [ पार्वती ] को वाणी बड़ी ही अग्निजात थी । जब वह बोलती थी तो उसका स्वर अनृत सा बरसाता था । तब कोकिला को झूक भी सुनने वाले को वैसे ही प्रतिकूल लगती थी जैसे [ वाणी की ] झनकारी गई कोई उलटी तन्त्री [ तार ] ॥ [ कुमार-१ ] । यहाँ भगवती पार्वती [ प्रकृत हैं, उन ] को अपेक्षा कोयल और वितन्त्री दोनों ही अप्रकृत हैं । इन दोनों का एक ही प्रतिकूल शब्दत्वरूपी धर्म में समुच्चय कर दिया गया है ।

यह [ उपमा रूपक के समान ] एकदेशविवर्तिनी भी होती है [ अर्थात् इसमें आरम्भ से अन्त तक उपमानोपमेयभाव का निर्वाह शब्दतः करते करते किसी एक अंश में उते अर्थ बनाकर छोड़ दिया जाता है ] उदाहरणार्थ—“अधर के समान कमल की पंखुडिजों से; दौतों के समान केसरों से अलकों के समान अलकबलय से और केसरों के समान कमलपुष्पों से कमलिनी सुशोभित हो रही है ॥” इसमें कमलिनी के उपमान के रूप में [ विवक्षित होने पर भी ] नायिका का उपादान शब्दतः नहीं किया गया [ उसे वाक्यार्थ सामर्थ्य से आक्षेप्य रहने दिया इतलिय यह एकदेश विवर्तिनी है [ विवर्त्त का अर्थ पण्डितराज जगन्नाथ ने भी अभाव किया है ] । उसका स्रोत कदाचित् विमर्शिनी का वही स्थल है । काव्यप्रकाशकार की ‘एकदेश में विशेषरूप से वर्णन रहना’ इस पदावली में विशेषशब्द कदाचित् ‘अन्तर वा भिन्नता’ का वाचक है । टीकाकारों ने उसे स्फुटता का वाचक माना है जो विरुद्ध है । अन्तर अर्थ करने पर अभाव अर्थ चला आता है, अभाव का अर्थ है शब्दानुपादान । यही उपमा तब कल्पित उपमा कहलाती है जब सादृश्य की दृढ़ता के लिये साधर्म्य कल्पितप्रतिभाकल्पित होता है । वह साधर्म्य कहीं तो उपमेय में कल्पित किया जाता है और कहीं उपमान में, अतः यह [ कल्पितोपमा ] दो प्रकार की हो जाती है । जैसा कि कहा है “कहीं उपमेय का वैशिष्ट्य बतलाया जाता है और कहीं उपमान का” ॥ १ ॥

“वैधर्म्य से साधर्म्य” नामक एक तृतीय भेद भी होता है ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि यह भेद केवल सामान्य उपमा में ही हो सकता है और [ कल्पितोपमा में यह भेद मानने पर उपयुक्त ] दृढ़ता का प्रतिपादन नहीं हो सकता ।

## विमर्शिनी

क्रमेण यथा—

तं णमह णाहिणल्लिंमं हरिणो गअणङ्गगाहिरामस्स ।  
छप्पअच्छुम्पिअगतो मल्लो न्य चन्दम्मि जत्थ बिही ॥’

अत्रोपमेयस्य पट्पदाच्छादितत्वं कल्पितम् ।

“आवर्जिता किंचिद्व्य स्तनाभ्यां वासो वसानाऽतरुणाकर्करागम् ।

संजातपुष्पस्तत्रकाभिनन्ना संचारिणी पल्लविनी लतेव ॥’

अत्रोपमानगतत्वेन संचारिणीत्वं कल्पितम् । न चास्याः पृथग्लक्षणं वाच्यम्, द्वयो-  
रौपम्यप्रतीतिः । सामान्यलक्षणस्यात्राप्यनुगमात् । अथात्र कल्पनास्तीति चेत्, न । एवं  
हि प्रतिभेदं लक्षणकरणप्रसङ्गः । समुच्चितत्वादेर्विशेषान्तरस्यापि भावात् । अयोपमानगुण-

विशिष्टोपमेयावगमफलत्वेनोपमायाः प्रतिभट्टभूतवस्वन्तराभावप्रयोजनत्वेन चास्याः पृथ-  
गलंकारत्वमिति चेत्, न । अत्रोपमेयस्योपमानगुणविशिष्टतयैव प्रतीतेः फलभेदाभावात् ।  
तथा हि 'आवर्जिता' इत्यादी भगवत्या लताया सादृश्यस्य संचारिणीत्वेनाभावो मा  
प्रसाङ्गिदिति तयोः साधर्म्यमेव द्रढयितुं कविना लतायाः संचारिणीत्वं कल्पितम् ।  
नन्यत्र भगवत्या अन्यदुपमानं भास्तीति प्रतीयते । अनन्वयादिवदुपमानान्तरनिषेधस्य  
वाच्यार्थत्वात् । मैवम् । एवमुपमेयस्यापि वैशिष्ट्यरूपेण उपमेयान्तरनिषेधफलत्वं  
वाच्यम् । समानन्यायत्वात् । तद्यथा दृढारोपे रूपके विषयविषयिणोरभेदमेव द्रढयितुं  
कस्यचिद्धर्मस्य हानिराधिस्यं वा कल्प्यते, तथेहापि सामान्यदाढ्यायैव कल्पितत्वं ज्ञेयम् ।  
अत्राप्यभेदालंकारालंकारान्तरस्य न वाच्यम् । रूपकेणैवास्या विच्छित्तेः सगृही-  
तत्वात् । विषयविषयिणोरभेदो हि रूपकसतत्वम् । स एव चात्र दाढ्येन प्रतीयत इति  
को नामास्य रूपकालंकारभावः । अभेदमात्रप्रतीतौ रूपकम्, नियतधर्महानावन्यतः  
सर्वतोऽप्यभेदप्रतीतावभेद इति प्रतीतिभेदोऽप्यस्तीति चेत्, न । एवं ह्यस्ति तावदभेद-  
प्रतीतिरनुगता । यस्तु विशेषः स पृथग्भेदत्वे व्यवस्थापकोऽस्तु न पृथगलंकारत्वे । नहि  
शावलेयतामात्रेण गोत्वमश्वत्थव्यपदेश्य भवति । एव च—

‘गृहीतविग्रह कामो वसन्तः सार्वकालिकः ।

जहार हृदय कामी नित्यपूर्ण सुधाकरः ॥’

इत्यादी गृहीतविग्रहत्वादेर्नियतस्य धर्मस्याधिक्येऽप्यलंकारान्तरप्रसङ्गः । इयं च  
मालान्वादिनानन्तभेदेति तद्ग्रन्थविस्तरभयात् प्रपञ्चितम् ।

कम से उदाहरण—

‘तन्नमत नाभिनलिन हरेगंगागनाभिरामस्य ।

पट्टदाच्छादितगात्रो मल इव चन्द्रे यत्र विधि ॥’

‘गगनाग्न के समान अभिराम भगवान् विष्णु के उस नाभिकमल को प्रणाम कौजिए जिसने  
अमरों से डँके ब्रह्माजी चन्द्र में कल्प से प्रतीत होत हैं ।’ यहाँ उपमेय [ विधि ब्रह्मा ] का अमरों  
से डँकना कल्पित है ।

‘स्नानों से थोड़ी सी झुकी हुई तथा अतरुण [ बाल ] सूर्य के समान बल धारण की हुई  
[ पार्वती जी ] निकले पुण्य के स्नानों में झुकी पल्लवों से ढँकी और चलनी फिरती लता सी  
[ दिलखार दी ] यहाँ उपमान [ लता ] ने संचारिणीत्व कल्पित है ।

पेसा नहीं कि इसका लक्षण [ सामान्य उपमा से ] अलग किया जाए क्योंकि अन्तर्गतत्वा  
इसमें भी प्रतीति सादृश्य की ही [ चमत्कारकारिणी ] होती है । अतः सामान्यलक्षण इसमें भी  
लागू होता है । यदि कहा जाय कि यहाँ कल्पना [ तत्र अधिक ] है तो वह भी ठीक नहीं, क्योंकि  
पेसा करने पर प्रत्येक भेद का पृथक् पृथक् लक्षण करना पड़ जायगा । क्योंकि ननुच्चिन्तत्व आदि  
भी नहीं नये हैं । यदि कहा जाय कि उपमा का फल है उपमान के गुणों का उपमेय में ज्ञान  
तथा इस [ कल्पितोपमा ] का फल है अन्य किमी समान वस्तु के अभाव का ज्ञान । इस प्रकार  
फलभेद के कारण इम ( कल्पितोपमा ) का लक्षण अलग किया जाना चाहिए तो वह भी ठीक  
नहीं, क्योंकि यहाँ [ कल्पितोपमा में ] भी उपमानगुणों का उपमेय में ज्ञान नियतन होना है ।  
अतः फलभेद भी नहीं है । स्पष्टीकरण के लिए “आवर्जिता” इत्यादि पद्य ही लीजिए । इसमें  
लता स्थावर है और मयवती पार्वती जगम [ संचारिणी ] अतः पार्वती में लता का सादृश्य  
[ संचारिणीत्व को लेकर ] घटना नहीं है । पेसा न हो इसके लिए उनके साधर्म्य को दृष्ट करने  
हेतु कवि ने लता में भी संचारिणीत्व की कल्पना की । शका = यहाँ [ कल्पितोपमा में ] लता

को छोड़ ] अन्य कोई वस्तु भगवतो पार्वती का उपमान नहीं है यह प्रतीति भी होती है, क्योंकि वहाँ जो वाक्यार्थ है उसका स्वरूप अनन्वय आदि के समान ही अन्य उपमान का निषेध है ! किन्तु ऐसा मानना ठीक नहीं, क्योंकि ऐसे तो जहाँ उपमेय में वैशिष्ट्य की कल्पना की जाती है वहाँ भी अन्य उपमेय के निषेध की प्रतीति मानी जा सकती है, क्योंकि बात बराबर है । इसलिए जैसे दृदारोप रूपक में विषय और विषयी के अमेद को दृढ करने के लिए किसी धर्म की हानि या अधिकता की कल्पना की जाती है उसी प्रकार यहाँ [ कल्पितोपमा में ] भी सामान्य [ साधन्य ] की दृढ़ता के लिए कल्पितत्व को जानना चाहिए । यहाँ [ कल्पित रूपक में ] भी अभेदनामक भिन्न कोई अलंकार नहीं कहा जा सकता क्योंकि इस विच्छिन्ति का संग्रह भी रूपक में ही हो जाता है । रूपक का रूपकत्व है विषय और विषयी का अभेद । यहाँ वह केवल दृढ़ता के साथ प्रतीत होता है इसलिए इसे रूपक से पृथक् कैसे माना जा सकता है । यदि वह कहा जाय कि रूपक वहाँ माना जाना चाहिए जहाँ केवल अभेद की प्रतीति होती हो और अभेद यहाँ जहाँ किसी निश्चित धर्म की हानि होने पर अन्य सबसे अभेद, इस प्रकार इन दोनों की प्रतीतियों में भी भेद है तो वह भी ठीक नहीं, क्योंकि ऐसा मानने पर भी अभेदप्रतीति तो अभेदालंकार में रहेगी ही और वही रूपक में भी रहेगी । अतः वह दोनों में ही रहता है । सामान्य रूपक से [ कल्पित रूपक ] का जो अन्तर है इसे रूपक का स्वतन्त्र भेद तो माना जा सकता है किन्तु पृथगलंकार नहीं, केवल चित्तकवरेपन से गोत्र को अश्वत्थ नाम से थोड़े ही पुकारा जाता है । यदि ऐसा मानों तो “वह कामी पुरुष शरीरधारी काम है, सर्वदा रहने वाला बसन्त है और सदा पूर्ण रहने वाला चन्द्रमा । उसने हृदय हर लिया है ।” इत्यादि में नियत धर्म गृहीतविग्रहत्व आदि की अधिकता है । यहाँ भी भिन्न अलंकार की कल्पना करना पड़ जायगी ।

यह [ उपमा ] मालत्व, कल्पितत्व आदि के क्रम से इतने भेदवाली हो जा सकती है कि, जिनका अन्त नहीं, अतः ग्रन्थविस्तार के भय से उनका निरूपण विस्तारपूर्वक नहीं किया ।

**विमर्शः—** कल्पितोपमा भरतमुनिने भी दिखलाई है । “भतंगजा विराजन्ते जंगमा इव पर्वताः” — में जंगमपर्वत कविकल्पित है अतः उपमान के कविकल्पित होने से उपमा कल्पित है । विमर्शनांकार की कल्पितोपमा का कदाचिद यही मूल है । वामन ने भी मानी है । किन्तु उनकी कल्पितोपमा विमर्शनांकार की कल्पितोपमा से भिन्न है । विमर्शनांकार ने भी इसमें कविकल्पना का अस्तित्व स्वीकार किया है किन्तु इनकी कविकल्पना सादृश्य में आ रहे विघ्न को दूर करने के लिए अनिवार्य है । वामन ने कल्पना को प्रसिद्ध उपमानातिरिक्त उपमानकल्पना तक सीमित रखा है यथा “नारंगी वैसी है ? जैसे मत्त हूण ( पठान ) को तुरंत मुड़ी दाढ़ी” । “शिरीष पुष्प कैसा है ? जैसे तुरत फूटा कुशाग्रभान” स्पष्ट ही यहाँ सादृश्य में काद विघ्न नहीं आ रहा जिसका निवारण करने के लिए कवि ने प्रसिद्ध उपमानों को छोड़ नवीन उपमानों की योजना की है । मृच्छकटिक में भी “मेघो जलार्द्रमहिषोदरभृङ्गनीलः” “मेघ पानी से भीगे जैसे के पेट और चूंग सा नीला है” इत्यादि अनेक नवीन उपमान मिलते हैं । काव्यमीमांसा में “अभिनवव्यूरोपस्वादुः करोपतनूनपात”० इत्यादि पद्य इसका अच्छा उदाहरण है । इसमें भी कठे की आग को ठंड के दिनों में नवोद के कोप की उपमा ली गई है । नवीन उपमानों की कल्पना भवभूति, राजशेखर और श्रीधर आदि परवर्ती कवियों ने पर्याप्त मात्रा में की है ।

उपमा के लक्षण पूर्ववर्ती आचार्यों में इस प्रकार मिलते हैं—

**भामह—**“विरुद्धोपमानेन देशकालक्रियादिभिः ।

उपमेयस्य यद् सान्यं गुणलक्षेण सोपमा ॥ २ । ३० ॥



देश, काल, क्रिया आदि [ अनेक तत्त्वों ] में परस्पर असमान रहने पर भी उपमान और उपमेय का जो किसी गुण में समान होना बतलाया जाता है वह उपमान है ।' [देशकालक्रियादिभिः विरुद्धेन अमानेन उपमानेन देशकालक्रियादिभिः विरुद्धस्य असमानस्य यत् गुणलेशेन केनचिद् गुणेन साम्य समानत्वं तदेव उपमा' इति भावार्थ । ]

वामन—'उपमानेनोपमेयस्य गुणलेशेन साम्यमुपमा' ॥ ४।२।२॥

'उपमान के साथ गुणलेश में जो उपमेय का साम्य वही उपमा'

निश्चिन ही वह आमह के लक्ष्य का संशोधन है ।

उद्धट = 'यच्चेतोद्धारि साधर्म्यंमुमानोपमेययो ।

मियो विभिन्नकालादि शब्दयोरुपमा तु तत् ॥ २।२।५

'विभिन्नकालादिवाचक शब्दों द्वारा प्रतिपादित उपमान तथा उपमेय का परस्पर में जा चित्कार्यक साधर्म्य वही उपमा है ।'

रुद्रट = 'उभयो समानभेकं गुणादि सिद्ध भवेद् यथेकत्र ।

अर्थेऽन्यत्र तथा तस्माध्यन इति सोपमा ॥' ८।६॥

'गुण आदि ऐसा कोई धर्म जो दो वस्तुओं में समानरूप से प्रसिद्ध हो तो [ दोनों वस्तुओं में मे ] एक की ही भाँति दूसरे में भी जो उसकी सिद्धि की जाती है उसीको उपमा कहते हैं ।'

मम्मट = 'साधर्म्यमुपमा भेदे ।'

'भेद रहते हुए जो समानधर्मनबन्ध उसीको उपमा कहा जाता है ।'

इस प्रकार स्पष्ट है कि अलङ्कारसर्वस्वकार ने उद्धट और मम्मट का अनुसरण किया है । साधर्म्य और सादृश्य में प्राचीन आचार्यों ने [ मम्मट के समान महिममट्ट ने भी ] उतना अन्तर नहीं देखा जितना परवर्तों पण्डितराज आदि ने साधर्म्य और सादृश्य में, जो समान के कारण "सा"—शब्द के रूप में परिणत समान शब्द है वह इन दोनों का एकमात्र बुद्धिधर्मत्व सिद्ध करता है । जो कुछ भी समानता या साम्य है वह द्रष्टृसापेक्ष है. वस्तुसापेक्ष नहीं । 'समानो धर्मो-ययोन्मी सधर्मो तयोर्भावः साधर्म्यम्,' 'समाना इक् [ दर्शनं ] ययोस्ती सद्रशी तयोर्भावः सादृश्यम्' इस प्रकार व्युत्पत्ति करने से दोनों ही प्रतीतितात्त्व पर निर्भर लगते हैं । वस्तुतः जो साम्य विषयगत दृष्टि से साधर्म्य है वही विषयगत दृष्टि से सादृश्य है । प्रतीतिहारेन्दुराज की इस पक्ति से यह तथ्य अधिक स्पष्ट है—'उपमानोपमेययोः यत् साधर्म्यं समानो धर्मः तेन सबन्धो यः सा उपमानोपमेययोः सादृश्यद्वारेण सामीप्यपरिच्छेदे हेतुत्वादुपमा'—समानधर्म-सबन्धरूप साधर्म्य वस्तु को सादृश्य के द्वारा महदृश्य के पास पहुँचता है अर्थात् साम्यज्ञान में वस्तु को उपादानरूप से प्रस्तुत करता है ।' यह विचारमात्र का क्रम है । चमत्कारीनुभव जो अलङ्कार का बीज है प्रतीतिरूप ही है फलतः महत्त्व साम्यप्रतीति को ही मिलना चाहिए । करिपतोपमा का जो रूप विमर्शिनवीकार ने प्रस्तुत किया है और जिसका अनुसरण पण्डितराज अजन्नाथ ने किया है वह हम मान्यता में और भी सबल प्रमाण है । वही तो उपमान या तद्गत धर्म एकमात्र प्रातीतिक ही है । लता में सचारिणीत्व धर्म केवल बौद्धिक या प्रातीतिक है । इसीप्रकार

"स्तनाभोगे पतन् भाति कपोलात् वृटिलोऽलकः ।

शशाकविन्वो मेरी लम्बमान श्वोरग ॥" रसगंगा० ॥

सुन्दरी का वृटिल अलक कपोल पर से होना हुआ विपुल स्तनों पर पडता हुआ ऐसा लग रहा है जैसे चन्द्रकिम्ब से मेरु पर लटका हुआ कोई सर्प ।'—यहाँ चन्द्रकिम्ब में सर्प का अस्तित्व लमके

नेरु पर लटकने के ही समान काल्पनिक या प्रातीतिक है। इस तथ्य का विशुद्धीकरण का श्रेय एकमात्र विमर्शनीकार जयरथ को है। व्यक्तिविवेककार महिमभट्ट ने लक्षणा के खण्डन में सादृश्य और साधर्म्यशब्दों का पर्यायशब्दों के रूप में ही प्रयोग किया है—

‘न हि अनुन्नतः कश्चित् कश्चित् किञ्चित् कथञ्चित् साधर्म्यम् अनुत्पद्यन्नेव अकस्मात् तत्त्वमारोपयति’ इति परिशालितवद्वृत्स्वरूपः प्रतिपत्ता ‘तत्त्वारोपनिमित्तं सादृश्यमात्रमेव प्रतिपत्तुमर्हति ।’ [ द्रष्टव्य = इसपर हमारा हिन्दीविमर्श पृ० ११४-१६ ]

उपमान और उपमेय के लक्षण भी आचार्यों ने दिए हैं। बामन ने—

“उपमीयते सादृश्यमानोयते येनोत्कृष्टगुणेन अन्यत् तदुपमानम्”

“यदुपमीयते न्यूनगुणं तदुपमेयम्”

अर्थात्—“उत्कृष्ट गुणवाली जित वस्तु से अन्य वस्तु सादृश्य को पहुँचाया जाता है वह उपमान कहलाती है और न्यूनगुणवाली जो वस्तु उपमित होती है वह उपमेय कहलाती है”—इस प्रकार उपमान और उपमेय में गुणगत अधिकता और न्यूनता को भी महत्त्व दिया है।

उद्भट्टकृत काव्यालंकारसारसंग्रह के टीकाकार प्रतीहारन्दुराज ने इनका विवेचन इस प्रकार किया है—

“सादृश्यसम्बन्धित्वेनोपादायते यत् प्राकरणिकं नत् उपमेयम् ।”

जो प्राकरणिक पदार्थ सादृश्यसंबन्धीरूप से वाक्य में अपनाया जाता है वह उपमेय होता है। इसके स्पष्टीकरण में एक एक विशेषण पर बरु देने हुए उन्होंने अत्यन्त सहृदयता के साथ लिखा है—

‘न खडु प्राकरणिकत्वापि सादृश्यसम्बन्धित्वेन अनुपादीयमानस्य उपमेयता। यथा ‘राजः पुरुषमानस्य’ इत्यत्र पुरुषस्य। पुरुषो हि अत्र आनीयमानत्वेन चोद्यमानत्वात् सत्यपि प्राकरणिकत्वे सादृश्यसम्बन्धित्वेनानुपादीयमानत्वात्नोपमेयः। सत्यपि च सादृश्यसंबन्धित्वेनोपादाने यस्य प्राकरणिकत्वं नास्ति तस्योपमानत्वम् न तूपमेयत्वमिति प्राकरणिकमित्युक्तम्। नदेवं सादृश्यसंबन्धित्वेनोपादीयमानं यत् प्राकरणिकं तदुपमेयम्। तद्धि उपमानेन सादृश्यप्रतिपादनद्वारेण समीपे क्षिप्यते तस्मादुपमेयम्। अप्राकरणिकं तु तथाविधमेवोपमानम् ।’

जो प्राकरणिक भी हो किन्तु सादृश्य सम्बन्धी के रूप से उपात्त न हो वह उपमेय नहीं होता। जैसे ‘राजा के आदमी को लाओ’ में आदमी। आदमी जो है वह यहाँ आनीयमानरूप से कथित है न कि सादृश्यसम्बन्धिरूप से। अतः प्राकरणिक होने पर भी वह उपमेय नहीं है। इसी प्रकार सादृश्यसंबन्धिरूप से उपात्त होने पर जो प्राकरणिक नहीं होता वह उपमान होता है, उपमेय नहीं। इसलिये जो प्राकरणिक भी हो और सादृश्यसम्बन्धी भी वहाँ उपमेय होता है। वह उपमान के द्वारा सादृश्यप्रतिपादन द्वारा उप = समीप में फेंका जाता है [ मेव ] इतलिये उपमेय नाम से पुकारा जाता है। जो अप्राकरणिक हो और सादृश्यसम्बन्धी भी वह उपमान कहलाता है।

इस प्रकार प्रतीहारन्दुराज उपमान और उपमेय में गुणगत न्यूनताधिकभाव पर निर्भर न रह उनके प्राकरणिकत्व और अप्राकरणिकत्व पर बरु देते हैं।

अर्थालंकारों का विवेचन भिन्न भिन्न आचार्यों ने भिन्न भिन्न अलंकार से आरम्भ किया है। भरत मुनि ने उपमा से ही आरम्भ किया है। दिग्धुषमोत्तरपुराण ने रूपक से। भामह और उद्भट्ट ने रूपक से आरम्भ किया है। रुद्रट ने अर्थालंकारों को चार वर्गों में बाँटा है। इनमें प्रथम है वास्तव, द्वितीय है औपम्य, तृतीय है अतिशय और चतुर्थ है श्लेष। उपमा की गुणना औपम्य के अन्तर्गत की गई है। यद्यपि अपने इस वर्ग में प्रथम स्थान उपमा को ही दिया गया है, तथापि

अर्थालङ्कारों का विवेचन वास्तव वर्ग से कर और वाग्म्य में प्रथम स्थान सहोक्ति को दे उमें वाछित गौरव से दूर रखा है। दण्डी वामन और मम्मट ने उपमा में ही अर्थालङ्कार का विवेचन आरम्भ किया है, किन्तु दण्डी को ग्रन्थकार ने कम आदर दिया है। इस प्रकार अलङ्कारसर्वस्वकार ने मम्मट और वामन के अनुकरण पर उपमालङ्कार से अर्थालङ्कारों का विवेचन किया है। मम्मट और अलङ्कारसर्वस्वकार ने उपमा के विवेचन में वामन का अनुकरण करने हुए भी उन्हें आशिक महत्त्व ही दिया है। वे उद्धृत के अलङ्कारमारसग्रह पर अधिक निर्भर रहे हैं।

पण्डितराज जगन्नाथ ने अलङ्कारसर्वस्व के उपमा लक्षण को अटूटा छोट दिया — यह आश्चर्य की बात है। आश्चर्य की एक बात यह भी है कि, वृत्ति और विमर्शिनो दोनों के रचयिताओं ने सूत्र में उल्लिखित 'भेदाभेदतुल्यत्व' का एक भी उदाहरण नहीं दिया। विम्बप्रतिविम्बभाव और वस्तुप्रति-वस्तुभाव पर उन्होंने अधिक बल दिया।

वस्तु-चमत्कारका कारणही अलङ्कारका विभाजक होता है। उपमा में वह सामर्थ्य का माट्टक्य है। व्यतिरेक आदि में व्यतिरेक आदि चमत्कार के कारण न। अतः भेदाभेदतुल्यत्व विशेषण छोड़ा जा सकता है। 'उपमानोपमेय' शब्द भी अधिक आवश्यक नहीं। साधर्म्य एकमात्र उपमानो-पमेय में ही होता है। इमोलि। मम्मट ने उन्हें लक्षण में स्थान नहीं दिया। अप्रतीति या अवर्गनी-यता का निराकरण साधर्म्यगत चमत्कारकारित्व में ही हो जाना है। ये दोष रहने हुए चमत्कार निःपन्न नहीं होगा। "चमत्कारि साधर्म्यमुपमा" चमत्कारकारक साधर्म्य उपमा है—इतना लक्षण ही उपमा के लिए पर्याप्त है। उपमा-व्यति में चमत्कार व्यति में होता है, अतः पण्डितराज द्वारा प्रदत्त विशेषण 'वास्तवार्थोपस्कारत्व' भी व्यर्थ है। जहाँ केवल शब्दार्थ रहते हैं वहाँ उन्ही का उप-म्कार होता है। पण्डितराज जगन्नाथ के उपमा लक्षण में 'उपमालक्ष्यति' यह जो अलक्ष्य शब्द है यह भी अनपेक्षित है, क्योंकि प्रकरण अलङ्कार निरूपण का है। अतः अलङ्कारभूत उपमाका ही लक्षण होने से लौकिक अलङ्कारभूत उपमा का लक्षण प्राप्त ही नहीं होता। अन्तु, यह स्वतन्त्र विवेचन का विषय है।

मजाविनीकार ने उपमा का लक्षण कारिकात्प में इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

भेदाभेदतुल्यवृत्तौ साधर्म्यमुपमोच्यते ।

धर्मविच्छिन्नचित्तवशान्भविष्यमुपयाति सा ॥'

[ सर्वस्व ]

[ सू० १३ ] एकस्यैवोपमानोपमेयत्वेऽनन्वयः ॥

वाच्यामिप्रायेण पूर्वरूपानुगम । एकस्य तु विरुद्धधर्मसंसर्गो द्वितीय-  
सन्नह्यचारिनिवृत्त्यर्थः । अत एवानन्वय इति योगोऽप्यत्र संभवति । यथा—

युद्धेऽर्जुनोऽर्जुन इव प्रथितप्रतापो

भीमोऽपि भीम इव वैरिषु भीमकर्मा ।

न्यग्रोधवर्तिनमथाधिपतिं कुरूणा-

मुत्प्रासनायमिव जग्मतुरादरेण ॥'

[ सू० १३ ] 'एक ही [ पदार्थ ] का उपमान [ और ] उपमेय [ दोनों ] होना अनन्वय [ कहलाता है ] ।'

### विमर्शिनी

एकस्वैवेत्यादि । ननु सादृश्याश्रयणाणामलंकाराणां लक्षणितुं प्रस्तुतत्वात्सादृश्यस्योभय-  
निष्ठत्वेनैव संभवादेकस्य च तदभावात्कथमिहातदाश्रयस्याप्यस्य वचनमित्याशङ्क्याह—  
वाच्याभिप्रायेणेत्यादि ।

शंका होती है कि प्रकरण है सादृश्यमूलक अलंकारों के लक्षण का और अनन्वय में सादृश्य-  
मूलता है नहीं, क्योंकि सादृश्य दो भिन्न पदार्थों में रहता और अनन्वय पदार्थ केवल एक ही होता  
है, ऐसी स्थिति में इसका लक्षण यहाँ क्यों किया जा रहा है । इसके उत्तर में कहते हैं—  
वाच्याभिप्रायेण आदि ।

[ वृ० ] वाच्य को लेकर [ यहाँ ] पूर्वरूप [ सादृश्याश्रयत्व = उपमात्व ] की प्रतीति होती है ।  
वस्तुतः तो [ उपमानत्व और उपमेयत्व इन परस्पर ] विरुद्ध धर्मों का एक ही [ पदार्थ ] के साथ  
सम्बन्ध का प्रयोजन है [ व्यंग्य के रूप में ] द्वितीय उपमान की निवृत्ति । इसी [ विरुद्ध धर्मों के  
एक के साथ संबन्ध के ] कारण यह अनन्वय इस शब्द का [ “अनन्वय” = [ अन्वय = उपमानोपमेय-  
संबन्ध का अभाव ] यह योग [ शक्तिलन्वय अर्थ ] भी यहाँ हो सकता है । उदाहरण—

युद्ध में प्रताप फैलाने में जो अर्जुन अर्जुन के ही समान है और शत्रुओं के बीच भयंकरता  
वरतने में भीम भीमके ही समान है, वे दोनों वटवृक्ष के नाच बैठे कुहों के स्वामी [ धृतराष्ट्र ]  
के पास उसे मानो और भी अधिक लज्जित करने के लिए आदर पूर्वक पहुँचे ।”

### विमर्शिनी

पूर्वरूपेति । सादृश्याश्रयत्वस्येत्यर्थः । अस्त्येव ह्यत्र शाब्दी सादृश्यप्रतीतिः । मुखं चन्द्र  
इवेत्यादिषुदेवात्रोपमानोपमेयत्वस्य वाच्यतयोपनिबन्धनात् । अत एवाह—वाच्याभिप्रा-  
येणेति । न पुनर्वस्वभिप्रायेणेत्यर्थः । वस्तुतो ह्येकस्यैव साध्यसिद्धधर्मरूपत्वात्संभवादुप-  
मानोपमेयत्वेऽपि विरोधः स्यात् । इत्थं शाब्दमेव सादृश्यानुगममाश्रित्वेहास्य लक्षणम् ।

ननु यथेवमेकस्योपमानोपमेयत्वं विरुध्यते तर्हि वस्तुविरुद्धेन निष्कलेन चैतेनेत्याश-  
ङ्क्याह—एकस्वैवेत्यादि ।

पूर्वरूप = सादृश्याश्रयत्व = सादृश्यमूलरूप । यहाँ भी सादृश्य का ज्ञान शब्द से तो होता  
ही है । क्योंकि ‘मुख चन्द्र के जैसा है’ इत्यादि वाक्य के समान यहाँ भी उपमानोपमेयभाव वाच्य-  
रूप से उपनिबद्ध रहता है । इसीलिए कहा “वाच्य को लेकर” । अर्थ यह कि वास्तविकरूप से  
नहीं । वास्तविक रूप से तो वह संभव नहीं कि एक ही वस्तु साध्य भी हो और सिद्ध भी । अतः  
एक ही वस्तु में उपमानत्व ( साध्य ) और उपमेयत्व ( सिद्ध ) का होना विरुद्ध है । इसीलिए  
केवल शाब्दिक सादृश्य की प्रतीति देखकर यहाँ (सादृश्य के प्रकरण में) इस [ अनन्वय ] का लक्षण  
किया जा रहा है ।

शंका होती है कि यदि एक ही पदार्थ का उपमान और उपमेय होना विरुद्ध है तो वास्तविक  
रूप से विरुद्ध होने के कारण [ काव्य में ] इस [ प्रकार के ] निरर्थक [ लिखने ] से क्या लाभ ।  
इत्तर उत्तर देते हुए [ वृत्तिकार ] लिख रहे हैं—‘एकस्य इत्यादि’ ।

### विमर्शिनी

एवं चास्य द्वितीयसत्रस्यारिनिवृत्तिरेवालंकारत्वप्रतिष्ठापकं प्रमाणम् । अन्यथा  
पुनर्नास्थालंकारत्वम् । यथा—

‘तस्याज्ञयैव परिपालयतः प्रजा मे कर्णोपकण्ठपलितं करिणी जरेयम् ।  
यद्गर्भरूपमिव मामनुशास्ति सोऽयमद्यापि तन्मयि गुरोर्गुरुपक्षपातः ॥’

अत्र यथैव गर्भरूप मा गुरुरन्वशात्तथैवाद्याप्यनुशास्तीति सत्यप्येकस्योपमानोपमेयत्वे द्वितीयसब्रह्मचारिनिवृत्तिप्रतिपत्त्यभावात्प्रथमलकार । एकस्यैव वावस्याभेदेन च सिद्धसाध्यधर्मसमवायोपमानोपमेयधरूपविरुद्धधर्मसंसर्गः । अत एवेति । विरुद्धधर्मसंयोगात् । एकस्यैव सिद्धसाध्यरूपेणोपमानोपमेयत्वेनाविद्यमानोऽन्वयः मध्यो यत्र स तयोक्तः । अर्जुनादन्यो युद्धे प्रथितप्रतापो नास्तीति द्वितीयसब्रह्मचारिनिवृत्तिरत्र जीवितमृता प्रतीयत एव । अत एव कार्तवीर्यहिंस्रसत्वयोरुपमानरूपयोरप्रतीतेः शुद्धमेवैतदुदाहरणम् ।

‘इत्तिअमेतुग्मि जए सुन्दरमहिलासहस्रभरिअग्मि ।

अणुहरइ णवरं तिसमा, वामाद्धं दाहिणद्धम्स ॥’

इत्यादौ चानन्वयोदाहरणत्वं न वाच्यम् । अत्रान्यार्थनान्यार्थस्योपमीयमानत्वेनोपमाया अभिधीयमानत्वात् । अस्य ह्युपमानान्तरनिषेधपर्यवसाय्यभिधीयमानमेकस्यैवोपमानोपमेयत्व स्वरूपम् । न च तदत्र शब्देनाभिधीयतेऽपि तु व्यज्यत इति प्रतीयमानत्वं युवतेति न वाच्यत्वमस्येति वाच्यम् । एवं अलङ्कारधरनेर्विषयापहारः स्यात् । एवम्

‘गन्धेन मिनुरधुरधर वक्त्रमेन्द्रोमैरायणप्रमृतयोऽपि न शिबितास्ते ।

तत्त्वं कचग्रिनयनाचलरत्नभित्तिस्वीयप्रतिच्छुद्रिगुपु यूथपतिस्वमेपि ॥’

इत्यत्राप्यनन्वयो न वाच्यः । स्वीयप्रतिबिम्बैरेव सादृश्यप्रतीतेस्तद्वन्धस्याप्यभावात् । यदि नाम चतुःप्रतीयेत तदप्यस्य प्रतीयमानत्व स्यान्न वाच्यत्वम् । यथोक्तन्यायात् । एवं च नदेकदेशेनावसितभेदेन वेत्यपारस्य उपमानतया कल्पितेन तेनैव सादृश्यमनन्वय इत्येव खया सूत्रणीयम् ।

‘प्रसमानमिवीजांसि सदस्यैर्गौरवेरितम् ।

नाम यस्याभिनन्दन्ति द्विपोऽपि स पुमान्पुमान् ॥’

इत्यत्र पुंस पुस्कारोपादनन्वयरूपकमिति यदन्वयश्नत तदयुक्तम् । एकस्यैव विध्यनुवादभावेनावस्थानाश्चरोपाभावात् ।

इस प्रकार द्वितीय समान की निवृत्ति ही हमें [ अनन्वय ] का अलङ्कारत्व प्रतिष्ठापक प्रमाण है । इसके बिना हमने अलङ्कारत्व समझ नहीं । यथा—

‘उमीकी आशा से’ प्रजा का परिपालन करते हुए मेरी यह जरावस्था आ गज जिसने, मेरे कान के पास के केश पका दिए हैं । क्योंकि आज भी मुझे नवजान शिशु के समान समझाने हैं, अन. गुरुजीया मेरे ऊपर वही महान् अनुग्रह है ॥’

हमने “जिम प्रकार गुरु जी मुझे तन समझाने थे जब मैं नवजान शिशु तुम्हें अवोध था उमी प्रकार आज भी मुझे समझाने हैं” इस वाक्य में यद्यपि उपमान और उपमेय एक ही तत्त्व हैं तथापि यहाँ द्वितीय समान की निवृत्ति नई होता, अत यहाँ यह अलङ्कार नहीं होता । यदि अवस्थागत भेद हो तो एक ही वस्तु में सिद्धसाध्यभाव बन जाता है तब ‘उपमानत्व’ और ‘उपमेयत्व’ इन विरुद्धधर्मों का संसर्ग नहीं होता [ दोनों पृथक्-पृथक् रहे आते हैं । एक दूसरे से मिल नहीं पाते ] । अतएव = हमीलिप अर्थात् विरुद्ध धर्म संसर्ग के कारण । एक ही वस्तु के सिद्ध और साध्यरूप उपमानत्व और उपमेयत्व रूपसे नहीं होता ह अन्वय = सबन्ध जिममें ऐसा । ‘अनु’ न से भिन्न अन्य कोई शुद्ध से प्रथितप्रताप नहीं है’ इस प्रकार द्वितीय समान की निवृत्ति ही यहाँ प्राणस्वरूप

प्रतीत होती है। इसलिए [ अनुन का अर्थ ] कार्तवीर्य और [ भीम शब्द का अर्थ ] हिंसक प्राणी उपमानरूप से यहाँ प्रतीत नहीं होते, फलतः यह [अनन्वय का] सर्वथा शुद्ध [निर्दोष] उदाहरण है।

‘एतावन्मात्रे जगति सुन्दरमहिलासहस्रभरितेऽपि ।

अनुहरति केवलं तस्या वामार्धं दक्षिणार्धस्य ॥’

‘यह संसार इतना बड़ा है और सहस्रों सुन्दर महिलाओं से भरा हुआ है, तथापि उसका वामार्ध केवल उसीके दक्षिणार्ध की वनावट का है।’ इत्यादि को अनन्वय का उदाहरण नहीं मानना चाहिए [ जैसाकि शोभाकर मित्र ने अपने अलंकाररत्नाकर में माना है ]। यह इसलिए कि यहाँ एक अंग से दूसरे अंग की उपमा है और वह स्वयं अभिधावृत्ति के द्वारा यहाँ प्रतिष्ठित है [पर्यवसान में अभावात्मक सिद्ध नहीं होती]। यह जो अनन्वय है इसका स्वरूप है एक ही वस्तु का अभिधा द्वारा प्रतिपादित ऐसा उपमानोपमेयभाव जो अन्य उपमान के अभाव में परिणत हो। शंका—यह अभाव यहाँ शब्द से नहीं कहा जाता। उसकी प्रतीति तो व्यंजना से होती है। इसलिए उसका व्यंग्य होना ही उचित है वाच्य होना नहीं। समाधान—ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि ऐसा मानने से तो अलंकारध्वनि के लिए कोई स्थान ही नहीं रह जायेगा। इसी प्रकार—

‘हे सिन्धुरधुरंधर [ गन्धर्व = गणेश ] तुम्हारे गन्ध के कारण ऐरावत आदि को भी तुम्हारे चेहरे की समानता पाने का अभ्यास नहीं है। इसलिए तुम कैलाश की दीप्त रत्नभित्तियों पर प्रति-  
फलित होती अपनी ही अनेक प्रतिच्छविओं के बीच व्यपतिपद प्राप्त करते हो।’ यहाँ भी [ शोभाकरने जो ] अनन्वय [ माना है वह ] नहीं मानना चाहिए। प्रतिविम्ब भले ही स्वयं के ही हों किन्तु उनके साथ सादृश्य प्रतीत हो ही जाता है। अतः यहाँ उस [ अनन्वय ] की गन्ध भी नहीं है। यदि यह [ अनन्वय ] यहाँ प्रतीत भी होता तो व्यंग्यरूप में ही होता होगा, वाच्यरूप में नहीं। हेतु ऊपर दिया जा चुका है। इसलिए [ शोभाकर मित्रजी ] आपको [ तेनैव तदेकदेशेनावसितभेदेन वा उपमानतया कल्पितेन अनन्वयः = एक ही पदार्थ या उसका एकदेश यदि उपमानरूप से कल्पित किया जाय तो वह अनन्वय होता है—ऐसा सूत्र न बनाकर केवल “उपमानतया कल्पितेन तेनैव सादृश्यमनन्वयः = उपमान रूप से कल्पित उसी ( उपमेयभूत ) पदार्थ के साथ सादृश्य अनन्वय” इतना ही सूत्र बनाना चाहिए।

“समासदो द्वारा गौरवपूर्वक उच्चारित और मानों ओज को पीता हुआ सा जिसका नाम शत्रु द्वारा भी अभिनन्दित हो वही पुरुष है।” यहाँ पुरुष पर पुरुषत्व के आरोप के कारण जो कुछ लोगों ने अनन्वयरूपक माना है वह ठीक नहीं है। यहाँ आरोप नहीं हो सकता, क्योंकि यहाँ जो पदार्थ उद्देश्य है वही विधेय है।

विमर्शः—( १ ) निर्णयसागरीय संस्करण में ‘वाच्याभिप्रायेण’ इत्यादि वृत्त्यंश इस प्रकार का है—“वाच्याभिप्रायेण पूर्वरूपावगमः।” विनशिनीकार ने “सादृश्यानुगममाश्रित्य” लिखा है अतः हमने अवगम को अनुगम बना दिया है। संजीविनी में भी यही पाठ है उस में ‘अत्र’-शब्द और जुड़ा हुआ है ‘वाच्याभिप्रायेणात्र’ इस प्रकार।

संजीविनीकार ने पूर्वरूप का अर्थ किया है, पूर्व = पूर्वतः सिद्ध उपमेय तद्रूप और इसके आधार पर उपमान को अपूर्व कहा है। “पूर्वं रूपमुपमेयत्वम् अपूर्वं रूपमुपमानत्वम्।” अनुगम का अर्थ किया है उपमेयत्व का अनुगम।

( २ ) डॉ० रामचन्द्र द्विवेदी ने ‘विरुद्ध धर्म’ का अर्थ किया है ‘अपने से विरोधी धर्म।’

इन दोनों के अनुसार यह मानना पड़ेगा कि उपमेय भिन्न उपमानसे अन्वित होता है न कि एक ही पदार्थ [ अर्जुन आदि ] का [ परस्पर विरुद्ध ] उपमानत्व और उपमेयत्व से अन्वय होता है ।

( ३ ) निर्णयसागरसंस्कारण में “एकस्यैव अवस्थाभेदेन च सिद्धसाध्यधर्मसंभवात्प्रोपमानोपमेयत्वस्य विरुद्धधर्ममार्गः” ऐसी पक्ति है [ यहाँ पृष्ठ १०० पर पक्ति ४-५ ] । हमने अर्थ स्वारस्य की दृष्टि से पद्य के स्थान पर ‘रूप’ शब्द जोड़ दिया है ।

( ४ ) अवस्थाभेद से व्यक्तिभेद होने पर भी शोभाकरमित्र ने अलंकाररत्नाकर में अनन्वय माना है और उसके वे ही उदाहरण दिये हैं जो यहाँ विमर्शिनीकार ने । विमर्शिनीकार रत्नाकर का उपर्युक्त रूप भी उद्धृत करते और उसका परिष्कार करते हैं । रत्नाकर की इस मान्यता का खण्डन पण्डितराज जगन्नाथ ने भी किया है । वस्तुतः शोभाकर ऐसे स्थलों पर अनन्वयध्वनि की ओर संकेत करने हैं जिसका अपलाप नहीं किया जा सकता ।

सर्वाविनीकार ने इस प्रकरण को इस प्रकार कारिकाबद्ध किया है—

“विरुद्धधर्मसर्गस्तुल्यान्तरनिवृत्तये ।

ततस्तदन्वयाभावाद् भवेदयमनन्वयः ॥”

विरुद्ध धर्म सर्ग का अर्थ उन्होंने भी “एकस्यैवोपमानोपमेयत्ववृत्तिः” एक ही को उपमान और उपमेय बनाना, किया है ।

अन्य आचार्यों ने अनन्वय के लक्षण इस प्रकार किए हैं—

भरतमुनि = भरतमुनि ने अनन्वय को ‘सदृशी उपमा’ नामक उपमाका भेद माना है ।

उनके

यत्त्वयाद्य कृत कर्म परिचक्षानुरोधिना ।

सदृश तद्य तवैव स्यादिति मानुषकर्मण ॥ [ १६।५० नाट्यशास्त्र बहोदा स. ]

इस उदाहरण से बहू तथ्य स्पष्ट है । अभिनवगुप्त ने इसका सदृशी के स्थान पर ‘असदृशी’ नाम भी बतलाया है । असादृश्य और अनन्वय एक ही हैं ।

भामहू तथा उद्भट = ‘यत्र तेनैव तस्य स्यादुपमानोपमेयता ।

असादृश्यविवक्षातरतमित्याहुरनन्वयम् ॥ ४।४५ काव्याल०

सादृश्य का अभाव बतलाने के लिए जहाँ जो उपमेय ही बड़ी उपमान हो तो उसे अनन्वय कहते हैं ।’

वामन = विरोधप्रसंगेनानन्वयं दर्शयितुमाह—

‘एकस्योपमानोपमेयत्वेऽनन्वयः ॥’

अन्यासादृश्यभेदेन प्रतिपद्यते ।

विरोध के प्रसंग में अनन्वय दिखलाते हुए लिखते हैं कि “एक ही पदार्थ यदि उपमान और उपमेय दोनों हो तो अनन्वय होता है ।” इसमें अन्य के साथ उसका सादृश्य नहीं है ऐसा प्रतीत होता है ।

रुद्रट = रुद्रट में अनन्वय नहीं मिलता ।

मम्मट = ‘उपमानोपमेयत्वे एकस्यैवैकवाच्यते । अनन्वयः ।’

एक ही पदार्थ यदि एक ही वाक्य में उपमान और उपमेय दोनों ही हो तो उसे अनन्वय कहते हैं ।

शोभाकर = ‘तिनैव तदेकदेशेनावसितभेदेन बोपमानतया कल्पितेन अनन्वयः ।’ अर्थ विमर्शिनी में किया जा चुका है ।

इससे स्पष्ट है कि अनन्वय में 'द्वितीयसदृश निवृत्ति' पर आचार्यों का ध्यान आरम्भ से ही था। विरोधमूलक कहकर वामन ने उसमें विरुद्ध धर्मसंसर्ग को भी आँक लिया था। पण्डितराज जगन्नाथ ने प्राचीन सभी अभिप्रायों को चालनान्याय से बिन बटोर कर इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

“द्वितीयसदृशव्यवच्छेदबुद्धिफलकं यदेकोपमानोपमेयकं सादृश्यं तदनन्वयः।”

ऐसा सादृश्य अनन्वय होता है जिसमें उगमान और उपमेय दोनों एक ही पदार्थ हो तथा जिससे किसी संभावित द्वितीय सदृश का निराकरण फलित हो।

पण्डितराज जगन्नाथ ने जवरथ के इस मत पर कि 'पतन्मात्रे०' तथा 'गन्धेन०' इत्यादि पदों में अनन्वय ध्वनि हो सकती है—आक्षेप करते हुए लिखा है कि द्वितीयसदृशव्यवच्छेदमात्र की ध्वनि को अनन्वय की ध्वनि नहीं कह सकते, क्योंकि वह कल्पितोपमा में भी होती है और अतिशयोक्ति में भी। असमालंकार में भी उसका अस्तित्व रहता है। कल्पितोपमा में विमर्शिनीकार भी इसे स्वीकार कर चुके हैं।

वस्तुतः पण्डितराज जगन्नाथ ने विमर्शिनी को ठीक से नहीं देखा। पण्डितराज ने उसका मत इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

‘यद्यपि चालंकारसर्वस्वकृता अनन्वयध्वनित्वमत्र भविष्यति, अन्यथाऽलंकारध्वनेर्विपद्यापहारः स्यात् इत्युक्तम्, तदपि तुच्छम्।’

यहाँ एक तो उन्हें यह विदित नहीं है कि यह मत अलंकारसर्वस्वकार का नहीं विमर्शिनीकार का है, जिसका आधार अलंकारसर्वस्व के बाद बना अलंकाररत्नाकर है। दूसरे उन्हें यह विदित नहीं कि विमर्शिनीकार भी दबी जवान से ही यहाँ अनन्वयध्वनित्व की बात करते हैं। पण्डितराज ने या तो केवल लण्डन के लिए ही इसे तूल दे दिया है या उन्हें पाण्डुलिपियों गलत मिली हैं। हो सकता है रसगंगाधर को ही पाण्डुप्रतियों में दोष रहा हो और संपादक उसे सुधार न पाए हों।

[ सर्वस्व ]

[ सू० १४ ] द्वयोः पर्यायेण तस्मिन्नुपमेयोपमा ॥

तच्छब्देनोपमानोपमेयत्वप्रत्यवमर्शः । पर्यायो यौगपद्याभावः । अतएवात्र वाक्यभेदः । इयं च धर्मस्य साधारण्ये वस्तुप्रतिवस्तुनिर्देशे च द्विधा ।

आद्ये यथा—

‘खमिव जलं जलमिव खं हंसश्चन्द्र इव हंस इव चन्द्रः ।

कुमुदाकारास्तारास्ताराकाराणि कुमुदानि ॥’

द्वितीये यथा—

‘सच्छायाभोजवदनाः सच्छायवदनाभ्युजा ।

वाप्योऽङ्गना इवाभान्ति यत्र वाप्य इवाङ्गनाः ॥

[ सू० १४ ] दो का वह [ उपमानोपमेयभाव ] यदि क्रम से हो तो उपमेयोपमा [ कहलाता है ] ।



[ वृ० ] [ तस्मिन् के ] तद् = वह = शब्द से यहाँ उपमानोपमेयत्व का परामर्श किया गया है [ सन्निकित्त अनन्वय का नहीं ] । पर्याय=क्रम का अर्थ है एक साथ [ होकर, न कि भिन्न भिन्न वान्त्यों में एक के बाद एक इस क्रम से ] होना । इसीलिए इसमें वाक्य बदल जाते हैं । यह दो प्रकार की होनी है एक जहाँ धर्म साधारण होता है और दूसरी जहाँ वस्तुप्रतिवस्तुनिर्देश होता है । प्रथम का उदाहरण—

‘आकाश के समान जल है और आकाश जल के समान, इस चन्द्र के समान है और चन्द्र इस के समान, तारे कुमुद के समान हैं और कुमुद तारों के समान ।’

द्वितीय का उदाहरण—

‘वापियों अगनाओं के समान प्रतीत होती हैं और अगनाएँ वापियों के समान । एक [वापियों] मुखतुल्य शोभायुक्त कमल वाली हैं और दूसरी [ अगनाएँ ] कमल तुल्य शोभायुक्त मुख वाली ।’

### विमर्शिनी

द्वयोरित्यादि । द्वयोरित्युपमानोपमेययो , न पुनर्द्विमर्याकयो । तेन,

‘कान्ताननस्य कमलस्य सुधाकरस्य पूर्वं परस्परमभूदुपमानभावः ।

सद्यो जरातुहिनराहुपराहतानामन्य परस्परमसावरस प्रसूतः ॥’

इत्यत्र त्रयाणामनुपमानोपमेयत्व स्थितमस्या एवाङ्गम् । तच्छब्देनेति तस्मिन्नित्यनेन । यौगपद्याभाव इति क्रमरूपत्वात् । अत इति यौगपद्याभावात् । स च वाक्यभेद शब्द आर्थश्च । तत्र शब्दो यथा—

‘रजोभि स्यन्दनोद्धूर्तैर्गजैश्च घनसनिभैः ।

मुवस्तलमिव व्योम कुर्वन्व्योमेव भूतलम् ॥’

अत्र मुवस्तलं व्योमेव कुर्वन्निति वाक्यपरिनिष्पत्ते स्फुट एव शब्दो वाक्यभेदः । आर्थो यथा—

‘भवत्पादाश्रयादेव गङ्गा भक्तिश्च शाश्वती ।

इतरेतरसादृश्यसुभगामेति चन्दताम् ॥’

अत्र स्फुटेऽपि शब्दे एकवाक्यत्वे गङ्गा भक्तिवृत्तिश्च गङ्गावद् चन्दोरयस्येवार्थो वाक्यभेदः । अस्याश्रोपमानान्तरनिरस्कार एव फलम् । अत एवोपमेयेनोपमा इत्यस्या अन्वयार्थभिधानम् । यत्र पुनरुपमानान्तरतिरस्कारो न प्रतीयते तत्र नायमलंकारः । यथा—

‘सविता विधवति विधुरपि सवितरति तथा दिनन्ति यामिन्यः ।

यामिनवन्ति दिनानि च सुखदुःखवशीकृते मनसि ॥’

न ह्यत्र विधुसविधादीनामुपमानान्तरतिरस्कारणं विवक्षितं किं तु सुखदुःखवशीकृत-मनमामेव त्रिपरीतं भवतीति ।

दो का अर्थ हैं उपमान और उपमेय । दो सख्यावाले नहीं । इसमें—

‘कान्तानन, कमल और चन्द्र का पहले परस्पर में उपमानभाव सवन्ध था । बहुत शीघ्र ही जरावस्था, ओस तथा राहु से आक्रान्त इन सबने फिर भी यह सवन्ध बन पड़ा है यद्यपि यह [ प्रथम की अपेक्षा ] नारस है ।’

यहाँ जो तीन पदार्थों में उपमानोपमेयभाव है यह भी इसी [ उपमेयोपमा ] का जग है । तद् शब्द अर्थात् ‘तस्मिन्’ इस पद की प्रकृति के रूप में आया तद् शब्द । ‘यौगपद्या-भाव

साधन होना अर्थात् क्रम के कारण अतः अर्थात् यौगपद्य के ही कारण यह वाक्यभेद दो प्रकार का होता है शब्द और अर्थ । इनमें प्रथम शब्द यथा—

‘दुर्गों से ऊपर उड़ाई गई धूली से और मेघ के समान हाथियों से आकाश को पृथिवीतल के समान और पृथिवीतल को आकाश के समान बनाता हुआ [ रघु दिग्विजय के लिए पूर्व दिशा की ओर बढ़ा ] यहाँ पृथिवीतल को आकाश के समान बनाता हुआ—इस प्रकार वाक्य की पूर्ति हो जाने के कारण शब्द वाक्यभेद स्पष्ट ही दिखाई देता है । अर्थ यथा—

‘गंगा और शाश्वत भक्ति आपके चरणों के आश्रय से ही परस्पर सादृश्य से सुभग बन्यता को प्राप्त होती है ।’

यहाँ शब्दतः तो वाक्य में एकता ही प्रतीत होती है, किन्तु गंगा भक्ति के समान बन्य है और भक्ति गंगा के समान बन्य है, इस प्रकार यहाँ अर्थतः वाक्यभेद है ही । इसका फल है उपमानान्तर [ अन्य किसी उपमान ] का निराकरण । इसलिए ‘उपमेय से उपमा’ इस प्रकार इसका नाम भी सार्थक है । जहाँ कहीं अन्य उपमान का निराकरण प्रतीत नहीं होता वहाँ यह अलंकार नहीं माना जाता । यथा—

‘चित्त जब सुख और दुःख में डूबा रहता है तब सूर्य चन्द्र सा लगता और चन्द्र सूर्य सा । इसी प्रकार रातों भी दिन सी लगती है और दिन भी रात से ।’

यहाँ कवि की सूर्य और चन्द्र आदि के अन्य उपमानों को संभावना निरस्त करने की कोई इच्छा नहीं है । केवल इतना ही बतलाने की इच्छा है कि जिसका चित्त सुख और दुःख से आक्रान्त होता है उन्हें ऐसी विपरीत अनुभूति होने लगती है ।

### विमर्शिनी

साधारण्य इति । एतच्च धर्मस्य निर्देशानिर्देशरूपपक्षद्वयागूरकत्वेनोक्तम् । तत्र निर्देश-पक्षेसाधारण्यमस्ति तथाप्यत्र सकृन्निर्देशेनैवानुगतत्वात्तदुपलम्भः स्फुट इत्यत्र भावः । अनिर्देशपक्षे तु वास्तवमेव साधारण्यम् । यदनुसारं खमिव जलमित्याद्यदाहृतम् । धर्मस्यानुगामित्वे तु यथा—

‘कमलेव मतिर्मतिरिव कमला तनुरिव विभा विभेव तनुः ।

धरणीव धृतिर्धृतिरिव धरणी सततं विभाति वत यस्य ॥’

अत्र विभातीति सकृन्निर्दिष्टम् । वस्तुप्रतिवस्तुनिर्देशश्च पूर्ववदिहापि शुद्धसामान्य-रूपत्वविम्बप्रतिविम्बभावान्यां द्विधा । तत्र विम्बप्रतिविम्बभावो ग्रन्थकृतैवोदाहृतः । तत्र ह्यम्भोजवदनयोर्विम्बप्रतिविम्बभावः । शुद्धसामान्यरूपत्वं यथा—

‘तद्दृग्गुणा युगपदुन्मिषितेन तावत्सद्यः परस्परतुलानधिरोहतां द्वे ।

प्रस्पन्दमानपरुषेतरतारमन्तश्चक्षुस्तव प्रलचितभ्रमरं च पद्मम् ॥’

( अत्र ) प्रस्पन्दमानप्रचलितत्वेन शुद्धसामान्यरूपत्वम् । तारकभ्रमरयोस्तु विम्ब-प्रतिविम्बभावः । उन्मेषाभिप्रायेण चानुगामितेति भेदत्रयस्याप्येतदुदाहरणम् ।

साधारण्य इति यह इस बात को बतलाने के लिए लिखा कि साधारण धर्म [ यहाँ ] दो प्रकार का होता है १-निर्दिष्ट और २-अनिर्दिष्ट । जहाँ साधारण धर्म का निर्देश रहता है वहाँ की विशेषता यह रहती है कि उसका उल्लेख एक ही बार होत है अतः वह अनुगामी रूप से श्रात होता है । जहाँ निर्देश नहीं रहता वहाँ साधारण धर्म वास्तव = वस्तु से आश्रित अर्थ होता है, जिसके अनुसार ‘आकाश के समान जल’ इत्यादि उदाहरण दिया । अनुगामी धर्म के लिए उदाहरण—

“जिसको मति लक्ष्मी के समान प्रतीत होती है और लक्ष्मी मति के समान, शरीर के समान कान्ति प्रकाश होती है और कान्ति के समान शरीर । इसी प्रकार जिसकी धृति धरणी के समान लगती है और धरणी धृति के समान ।”

यहाँ विमानि = लगती या प्रतीत होनी है यह धर्म एक ही बार उल्लिखित है ।

वस्तु प्रतिवस्तु का निर्देश भी पहले के ही समान यहाँ भी शुद्ध सामान्य स्वरूप तथा विम्ब-प्रतिविम्बभाव युक्त इस प्रकार दो प्रकार का होता है । इनमें से विम्बप्रतिविम्बभाव का उदाहरण स्वयं ग्रन्थकार ने ही दे दिया है । वहाँ कमल और सुल का विम्बप्रतिविम्बभाव है । शुद्धसामान्य स्वरूप का उदाहरण यह है—

‘ये तुम्हारे नयन जिनमें स्निग्ध कोमल पुनलियाँ चल ।

ये कमल जो कोप में बन्दी बनाए भ्रमर चंचल ।

नाथ ही सुल आपें तो उपमान बन जाए परस्पर ।’

[ महादेवीजी ]

‘तो एक साथ सुन्दर उन्मेष से दो वस्तुएँ परस्पर तुला पर शीघ्र ही चढ़ जायें, एक तो भीतर ही भीतर निश्चिद घूमना और कोमल पुनली से युक्त तुम्हारा चक्षु और दूसरा भ्रमरसगर युक्त पद्म ।’

यहाँ जो प्रस्पन्दमानता अर्थात् घूमना है वहाँ प्रचलित्व अर्थात् संचरण है । अतः यहाँ वस्तुप्रतिवस्तुभाव शुद्धसामान्यस्वरूप है । तारा और भ्रमर में यहाँ भी विम्बप्रतिविम्बभाव है । उभर उन्मेष की दृष्टि से इसमें अनुगामिधर्मत्व भी है । इस प्रकार यह पद्य तीनों भेदों का उदाहरण है ।

**विमर्श**—उपमेयोपमा के प्राचीन लक्षण—

भासह = उपमानोपमेयत्व यत्र पर्यायतो भवेत् ।

उपमेयोपमा नाम भुवते ता यथोद्विताम् ॥ ३।३७ ॥

‘वहाँ क्रम से [ वारी वारी से ] उपमानोपमेयत्व हो उसे अपने अर्थ के ही अनुरूप उपमेयो-पमा कहने हैं ।’

वामन = क्रमेण एकस्यैशोपमानोपमेयत्व उपमेयोपमा । ‘एक ही पदार्थ यदि क्रम से [ एक वाक्य में ] उपमान और [ एक वाक्य में ] उपमेय बनाकर प्रस्तुत किया जाए तो वहाँ उपमेयो-पमा हीनी है ।

उद्धट = अन्योन्यमेव यत्र स्युपमानोपमेयता ।

उपमेयोपमामाहुस्तां पश्चान्तरदानिगाम् ॥

जहाँ एक दूसरे के ही साथ दो के बीच उपमानोपमेयता हो उसे उपमेयोपमा कहने हैं । इसका तात्पर्य होता है पश्चान्तर [ अन्य के उपमात्त्व ] का निराकरण ।’

रुद्धट = में अपात ।

भम्मट = ‘विपर्याय उपमेयोपमा तयोः ॥’

तयोः उपमानोपमेययोः परिवृत्ति [ विपर्याय ] अर्थात् वाक्यद्वये । एतरोपमानव्यवच्छेदपरा ।

उपमेयेन उपमा इति उपमेयोपमा ॥

उपमान और उपमेय का परस्पर में एक दूसरे के रूप में आना । यह दो वाक्यों में ही संभव है । तभी इसका नाम है उपमेयोपमा अर्थात् उपमेय के द्वारा [ उसे उपमान बनाने ] पना ।

शोभाकर = परस्परुपमानोपमेयत्वमुपमेयोपमा !'

उपमानत्व उपमेयतापि, उपमेयत्वापि उपमानत्वम् इति उपमेयोपमालङ्कारः, स चोपमानान्तर-  
निषेधार्थः ।

परस्पर में उपमानोपमेय भाव उपमेयोपमा कहलाता है। यहाँ उपमान भी उपमेय बना दिया जाता है और उपमेय भी उपमान। इस अलङ्कार का प्रयोजन है अन्य किसी उपमान का निराकरण।

इस ऐतिहासिक विवेचन से स्पष्ट है कि उपमेयोपमालङ्कार के निम्नलिखित चारों तत्वों पर प्राचीन सभी आचार्यों की दृष्टि थी १ = भिन्न भिन्न पदार्थों में परस्पर उपमानोपमेयभाव, २ = पदार्थ वाक्यभेद, ३ = इसका उद्देश्य वाक्योपात्तपदार्थातिरिक्त पदार्थ की उपमानता का निरास तथा ३ = इसकी अन्वर्थता।

परवर्ती शोभाकर और पूर्ववर्ती वामन ने अलङ्कारसर्वस्वकार द्वारा उद्धृत 'खनिव जलम्' पद्य ही उदाहरणरूप से प्रस्तुत किया है। शोभाकर ने मम्मट द्वारा अन्यान्योपमा के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत "सविता विषवति" पद्य को भी उपमेयोपमा का उदाहरण माना है। उन्होंने 'सूर्य और चन्द्र का परस्पर उपमानोपमेयभाव विरोध को लेकर माना है। सुख और दुःख में सूर्य के विरुद्ध चन्द्र ही है और चन्द्रके विरुद्ध सूर्य। इस प्रकार दोनों में परस्परविरुद्धत्वेन उपमानोपमेयभाव माना है। वस्तुतः "यहाँ चिह्न के दुःखी होने पर सुखकारी चन्द्र भी सूर्य सा संतापकारी बन जाता है और सुखी होने पर संतापकारी सूर्य भी चन्द्रमा सा सुखकारी बन जाता है। इस प्रकार सूर्य चन्द्र की उपमा में एक वार सुखकारित्व और दूसरी वार दुःखकारित्व साधारण धर्म हैं। साधारण धर्म के भिन्न होने पर तृतीयसदृशव्यवच्छेदप्रतीति नहीं हो पाती। विमर्शनीकार ने जो विवेचन किया है वह बड़ा ही हृद्य है। पण्डितराज ने भी उते नाम लिया है।

पण्डितराज जगन्नाथ ने अलङ्कारसर्वस्वकार, अलङ्काररत्नाकरकार तथा विमर्शनीकार तीनों का उपमेयोपमाविषयक समस्त मान्यताओं का अक्षरशः खण्डन किया है। उनके खण्डन का केन्द्र केवल एक ही तत्व है। वह है उपमेयोपमा में वाक्य भिन्न हो जाने पर भी साधारण धर्म का एक होना। उपमानान्तरनिषेध की प्रतीति साधारणधर्म के दोनों वाक्यों में एक न होने से नहीं हो सकती। उन्होंने 'रजोभिः' इत्यादि पद्य को 'सविता विष' पद्य के ही समान अन्यान्योपमा का उदाहरण माना है। उनका कहना है कि यहाँ उपमानान्तरनिषेध की प्रतीति नहीं होती। कारण कि यहाँ दोनों उपमाओं में साधारण धर्म एक नहीं है। 'भूतल तुल्य च्योम' इस उपमा में रजोत्प साधारण धर्म अनुगामी है किन्तु 'व्योमत्पुत्र भूतल' इस उपमा में वह विन्वप्रति-  
विन्वात्मक है। वहाँ श्यामी और मेघों का ऐक्य आकार और वर्ण के आधार पर भासित होता है।' हमारा समझ में यदि 'रजोगज' और 'रजोमेघ' ऐसे दो वर्ण बनाकर इनमें विन्वप्रतिविन्व और वस्तुप्रतिवस्तुभाव मानकर ऐक्य मान लिया जाय तो धर्म में एकत्व हो सकता है, किन्तु तृतीय-  
सदृशव्यवच्छेद की प्रतीति तब भी होगी या नहीं यह नहीं कहा जा सकता। अलङ्कारकौस्तुभ-  
कार विश्वेश्वर पण्डित ने भी इसी प्रकार का तर्क प्रस्तुत किया है। द्र० ज० कौ० पृ० १७९ काव्य-  
माला श्लोक ५)।

पण्डितराज जगन्नाथ ने सर्वस्वकार के 'द्वयोः' इस विशेषण पर आशेष करते हुए कहा कि वह न्यर्थ है। उन्होंने कारण यह बतलाया है कि 'वाक्यभेद' शब्द अपना लेने पर 'द्वयोः' का कार्य हो जाता है। ठीक भी है। किन्तु पण्डितराज यह नहीं सोच पाए कि 'द्वयोः' सूत्र का अंश है और 'वाक्यभेद' वृत्ति का।

पण्डितराज जगन्नाथ द्वारा उपमेयोपमा का लक्षण इस प्रकार किया गया है—

‘तृतीयसदृशव्यवच्छेदबुद्धिफलकवर्णनविषयीभूत

परस्परसुप्रमानोपमेयभावमापन्नयोरर्थयो सादृश्य सुन्दरमुपमेयोपमा ।’

‘ऐसे पदार्थों का सुन्दर सादृश्य उपमेयोपमा होना है जो परस्पर में ऐसे उपमानोपमेयभाव में युक्त हों जिसके वर्णन का फल तृतीयसदृशव्यवच्छेद हो ।’

वृत्ति द्वारा इसी का स्पष्टीकरण उन्होंने इस प्रकार किया है—‘एकेन धर्मेण एकप्रतियोगिके परानुयोगिके सादृश्ये निरूपिते अपरप्रतियोगिकस्य एकानुयोगिकस्यापि तेन धर्मेण सादृश्यस्य अर्थेन सिद्धतया शब्देन पुनस्तदुक्ति स्वनैरर्थक्यपरिहाराय तृतीयसदृशव्यवच्छेदमाक्षिपति ।’

अर्थात्—एक ही धर्म के आधार पर किसी एक पदार्थ का किसी दूसरे पदार्थ में सादृश्य बनवा देने पर उसी धर्म के आधार पर दूसरे पदार्थ का प्रथम पदार्थ में सादृश्य भी स्वन ही विदित हो जाता है, तथापि उसे जो पुन शब्दत कहा जाता है वह अपनी निरर्थकता के परिहार के लिए दोनों से मित्र तृतीय सदृश के निराकरण का आक्षेप करता है ।

उपमेयोपमा में पण्डितराज ने जिस साधारणधर्मक्य पर बल दिया है उसकी ओर पहिली बार अप्पयदोक्षित ते ध्यान दिया है । चित्रमीमासा में उनका वाक्य है—‘एकधर्माश्रयेण परस्परसाम्ये वर्ण्यमाने क्षनयोरस्मिन् विषये तृतीय सन्नक्षचारी नास्तीति फलति । कस्यचित् केनचित् सादृश्ये वर्णने तस्याप्यन्येन सादृश्यमर्थसिद्धमपि मुक्तो वर्ण्यमान तृतीयसदृशव्यवच्छेदार्थं भवतीति हि तरकलकत्वे बीजम् ।’

अर्थ वही है जो पण्डितराज के उपर्युक्त वाक्य का है ।

इस प्रकार तृतीयसदृशव्यवच्छेद के लिए साधारणधर्म की एकता भी उपमेयोपमा में अवेक्षित है ।

यहाँ एक बात यह ध्यान देने की है कि विर्माशनीकार ने “कान्ताननस्य कमलस्य सुपाकरस्य, “यह जो उदाहरण दिया है इसमें दो से अधिक पदार्थों का परस्पर में उपमानोपमेयभाव है । फलतः पण्डितराज का ‘तृतीयसदृशव्यवच्छेद’ यह विशेषण लक्षण में अन्यायिती दोष लता है ।

मज्जाविनीकार ने उपमेयोपमा का लक्षण कारिका में इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

‘उपमानोपभेदव्यत्ययो न क्रम विना ।

उपमेयोपमा तेन वाक्यभेदैकगोचरा ॥’

—‘उपमान और उपमेय में परिवर्तन हो किन्तु उसमें क्रम का अभाव न हो तो वह उपमेयोपमा होती है । यह नियमत भिन्न वाक्यों में ही होती है ।

मज्जाविनीकार के अनुसार यहाँ विन्वप्रतिविन्वभाव नहीं होता । इसका कारण उन्होंने वाक्यभेद बतलाया है । वाक्यभेद होने से विन्वप्रतिविन्वभाव का चमत्कार, उनकी दृष्टि से, प्रतीत नहीं हो पाता ।

[ सर्वस्व ]

[ सू० १५ ] सदृशानुभवाद् वस्त्वन्तरस्मृतिः स्मरणम् ॥

वस्त्वन्तरं सदृशमेव । अविनाभावामावाद्यानुमानम् । यथा—

‘अतिशयितसुरासुरप्रभावं शिशुमवलोक्य तथैव तुल्यरूपम् ।

कुशिकसुतमखद्विपां प्रमाथे घृतघनुपं रघुनन्दनं स्मरामि ॥’

सादृश्यं विना तु स्मृतिर्नायमलंकारः । यथा —

'अज्ञानुगोदं सृगयानिवृत्तस्तरङ्गवातेन विनीतखेदः ।

रहस्त्वद्वृत्तसङ्गनिपण्णमूर्धा स्मरामि वानीरगृहेषु सुप्तः ॥'

अत्र च कर्तृविशेषणानां स्मर्तव्यदशाभावित्वे स्मर्तृदशाभावित्वम-  
समीचीनम् ।

[ सू० १५ ] समान [ वस्तु ] के अनुभव से दूसरी वस्तु की स्मृति स्मरण नामक  
अलंकार कहलाती है ।

[ ३० ] दूसरी वस्तु अर्थात् दूसरी सदृश वस्तु हो । यह अनुमान नहीं है क्योंकि यहाँ  
व्याप्ति का अभाव है ।

[ उत्तररामचरित में सारथि सुमन्त्र लव को लक्षित कर चन्द्रकेतु के प्रति ] 'दिव और वानरों  
के प्रभाव से मैं अधिक प्रभाव वाले उन्हीं से [ राम के ही समान ] शरीर वाले तुम्हा  
हमारी  
सेना पर धनुष ताने हुए क्षत शिशु [ लव ] को देखकर मुझे विश्वामित्र के बश के विनाशक राक्षसों  
को नष्ट करने लिए धनुष खींचे हुए राम का स्मरण हो रहा है ।'

जो स्मृति सादृश्य के बिना होती है वह यह अलंकार नहीं बन पाती । यथा—

[ रघुवंश में पुष्पकालह राम की नगवती सीमा से उक्ति ] मुझे स्मरण आ रहा है कि गोदावरी  
के किनारे इसी पंचवटी में सृगया करके लीटता और बँटों के बने इन पर्वों के पक्रान्त स्थान में  
तुम्हारी गोद में सिर रख कर लेटा करता था । उस समय गोदावरी की तरंगों से शीतल  
पवन द्वारा मेरी थकावट दूर होती थी । ]

यहाँ एक [ आनुपमिक ] बात यह भी ध्यान देने योग्य है कि [ मूल में स्मरण क्रिया के ]  
कर्ता के जो विशेषण हैं [ सृगयानिवृत्त, विनीतखेद, स्वदुस्संगनिपण्णमूर्धा, सुप्त ] उन्हें  
उस दशा का विशेषण बनाना चाहिए जिसका स्मरण किया जा रहा है । अतः उन्हें जो स्मरण  
कर्ता का विशेषण बनाकर प्रस्तुत किया गया वह ठीक नहीं ।

### विमर्शिनी

सदृशेति । वस्वन्तरमिति स्मर्यमाणम् । सदृशमेवेति । सादृश्यस्योभयनिष्कृत्वात् ।  
अतश्च स्मर्यमाणेतानुभूयमानस्य, अनुभूयमानेन वा स्मर्यमाणस्य सादृश्यपरिकल्पनमय-  
मलंकारः ।

यदुक्तम्—

यथा दृश्येन जनिता साम्यधीः स्मर्यमाणया ।

स्मर्यमाणकृताप्यस्ति तथेयं दृश्यगामिनी ॥' इति ।

तत्राद्यः प्रकारो ग्रन्थकृदुदाहरणे । तत्र हि शिशोरेव रघुनन्दनेन सादृश्यं विवक्षितम् ।  
द्वितीयरतु यथा—

'तस्यास्तीरे रचितशिखरः पेशलैरिन्द्रनीलैः क्रीडाशैलैः कमककदलीवेषनप्रेक्षणीयः ।

मङ्गेहिण्याः प्रिय इति सखे चेतसा कातरेण प्रेक्षयोपान्तस्फुरिततडितं त्वां तमेव स्मरामि ॥'

अत्रानुभूयमानेन नेत्रेण स्मर्यमाणस्य क्रीडाशैलस्य सादृश्यपरिकल्पनम् । एवं चात्र  
सादृश्यस्योभयसंबन्धेऽप्यनुभूयमानेनैव पुनः स्मर्यमाणप्रतीतिर्भवतीत्यवमेयम् ।

ननु यद्येवं तत्परस्मात्परप्रतिपत्तेः किं नेदमनुमानमित्याशङ्क्याह—अविनाभावेत्यादि ।  
अविनाभावस्तादात्म्यान्निरयसाहचर्याद्वा । अनुभूयमानस्मर्यमाणयोश्च तदभावः । शिशु-

रघुनन्दनयो. सादृश्यपरिकल्पने चातिशयितसुरामुरप्रभावत्वादिधर्मोऽनुगामितया निर्दिष्टः । वस्तुप्रतिवस्तुभावेनापि धर्मस्यायं भवति । तत्र श्रुद्धसामान्यरूपत्वेन यथा—

‘सान्द्रां मुद यच्छतु नन्दको व सोखलासलक्ष्मीप्रतिविम्बवर्गम् ।

कुर्वन्नजस्रं यमुनाप्रवाहमलीलराधास्मरण मुरारे ॥’

अत्र सोखलासललीलत्वयोरेकत्वम् । विम्बप्रतिविम्बभावेनापि यथा -

‘पूर्णन्दुना मेघलवाङ्कितेन चां मुद्रिता सुन्दरि वीक्षमाण ।

विवाहहोमानलधूमलेसामिलकपोलं भवतीं स्मरामि ॥’

अत्र मेघलवधूमलेखादीना विम्बप्रतिविम्बभावः । एतदेव सादृश्यनिमित्तत्वं द्रव्यितुं प्रयुदाहरति—सादृश्यमित्यादिना । सदृशानुभवाभावात्तरस्मृतेर्न सादृश्यहेतुकत्वम् । स्मर्तव्यदशमावित्त्व इति । स्मर्तव्यदशाभावित्त्व वाच्य सदृशादृश्येत्यर्थः । अत एव वाच्यस्यावचनम् । स्मर्तृदशाभावित्त्वमित्यवाच्यस्य वचनम् । यद्यपि स्मर्तृदशायामतीतत्वात् कर्तृविशेषणानां मृगयानिवृत्तत्वादीनामप्यतीतकालवच्छिन्नानां तद्भावित्त्व तथापि वर्तमानकालवच्छिन्नस्य स्मर्तृविशेषणभावेनोपनिबन्धासेपा सदवच्छिन्नतैव प्रतीयत इति यथोक्तमेव दृपणद्वय युक्तमिति सहृदया एव प्रमाणम् ।

सादृशेति । वस्तुवन्तरम् = दूसरा वस्तु अर्थात् स्मर्यमाण वस्तु । सदृशमेवेति = सदृश ही = क्योंकि सादृश्य दोनों में रहता है इसीलिए स्मर्यमाण [ याद किये जा रहे ] से अनुभूयमान का अथवा अनुभूयमान से स्मर्यमाण का सादृश्य बोध होना यह अलंकार है । जैसा कि कहा है— ‘जिस प्रकार दृश्य = दिखाई दे रही वस्तु से उत्पन्न साम्यज्ञान में स्मर्यमाण वस्तु भी विषय बननी है उसी प्रकार स्मर्यमाण वस्तु से उत्पन्न हम [ साम्यज्ञान ] में दृश्य वस्तु ( १ )’ इनमें से प्रथम प्रकार [ दृश्यसाम्य का स्मर्यमाण तक पहुँचना ] ग्रन्थकार द्वारा प्रस्तुत उदाहरण से स्पष्ट है । वहाँ शिशु ( लव ) का राम से सादृश्य विवक्षित है । दूसरा प्रकार [ मेघदूत के ] हम पद्य में है—

‘ [ मेरे भवन में बनी ] उम [ बायीं ] के तट पर सुवर्णदली की वृत्ति [ घेरे ] से अधिक दर्शनीय और लुभावने इन्द्रनील खण्डों से रचित शिखर का क्रीडाशैल है । त्रिश-मेरी-गर्दिनी, [ = ठेठ घरवाली, यश्री ] को प्रिय है । इसलिए है मित्र [ मेघ ] आसपास चमकी विजली से युक्त तुम्हें देखकर कानर चित्त में मैं उसी का स्मरण कर रहा हूँ ।’

यहाँ अनुभूयमान मेघ से स्मर्यमाण क्रीडाशैल का सादृश्य बालाया गया है ।

यहाँ सादृश्य का सम्बन्ध दोनों के साथ रहने पर भा मानना यही ठीक है कि अनुभूयमान से ही स्मर्यमाण का [ सादृश्य ] बोध होना है ।

यदि ऐसा है तो भिन्न पदार्थ में भिन्न पदार्थ का ज्ञान होने के कारण हम अनुमान क्यों न माना जाय । इस जका पर उत्तर देते हैं—“अविनाभाव” = व्याप्ति । अविनाभाव = पृथक् पृथक् न रहना, या तो तादात्म्य से होना है या नित्यसाहचर्य से । अनुभूयमान और स्मर्यमाण में ये ( तादात्म्य या साहचर्य ) नहीं रहते ।

शिशु और रघुनन्दन में जो सादृश्य की कल्पना है उसमें ‘अतिशयितसुरामुरप्रभावत्वं’ आदि धर्म अनुगामी [समानरूप से उभयनिष्ठ] रूप से निर्दिष्ट हैं, किन्तु यह धर्म के वस्तुप्रतिवस्तुभावापन्न होने पर भी होता है । उससे भी शुद्ध सामान्यरूप वस्तुप्रतिवस्तुभाव यथा—

नन्दक [ भगवान् विष्णु का स्वरूप ] आपकी धना आनन्द प्रदान करे, जिसके बीच उदात्त-युक्त लक्ष्मी का प्रतिविम्ब पटना है तो विष्णु भगवान् को यमुना प्रवाह में लीलायुक्त राधिकाजी

का स्मरण आ जाता है। [ विक्रमाकदेव चरित मञ्जुपद्य ]। यहाँ सोल्लासत्व और सल्लसत्व एक ही हैं। विन्वप्रतिविन्वभाव के साथ भी यह होता है। यथा—‘मेवखण्ड से अंकित पूर्णन्दु से चौ [ अन्तरीक्ष ] को मुद्रित देख रहा हूँ तो हे सुन्दरि ! विवाहहोमानि की धूमलेखा से सृष्ट कपोल वाली तुन्दारा स्मरण का रहा हूँ ( ? ) । यहाँ मेवखण्ड और धूमलेखा आदि का विन्व-प्रतिविन्वभाव है [ वस्तुतः लव और लेखा में वस्तुप्रतिवस्तुत्व ही है क्योंकि दोनों वस्तुतः एक है ] ।

सादृश्यनिमित्तता को दृढ करने के लिए इसी [ स्मरण ] का प्रत्युदाहरण देते हैं—सादृश्यम् [ इस अत्रानुगोदं पद्य में ] सद्दशकस्तु का अनुभव नहीं है, अतः उसकी सृष्टि सादृश्य जनित नहीं है।

स्मर्त्तव्यदशाभावि अर्थात् ( विशेषणों को ) स्मरण की जा रही दशा के विशेषणरूप से प्रस्तुत करना उचित था। वैसा नहीं किया। इसीलिए वाच्यवचन नामक दोष हुआ। [ वाच्य-वचन के लिए द्रष्टव्य व्यक्तिविवेक विनर्श-२, पृष्ठ-३८७ हिन्दी अनुवाद ] स्मर्त्तव्य के विशेषण-रूप से प्रस्तुत किया इससे अवाच्यवचन दोष हुआ [ अवाच्यवचन के लिए द्रष्टव्य व्यक्तिविवेक विनर्श-२ पृ० ४३६ हि. अ. ] यद्यपि स्मरणकर्त्ता [ राम ] की दशा [ गोद में सिर रखकर सोना आदि ]। शीती दशाएँ हैं अतः [ स्मरण ] कर्त्ता के मृगय-निवृत्तत्व आदि सभी विशेषण भी शीते सन्ध अर्थात् भूतकाल के ही हैं, अतः श्लोक में भी इन्हें वैसा ह बतलाया जाना चाहिए था, किन्तु [ उन्हें स्मरणकर्त्ता को दशा का विशेषण न बनाकर स्मरणकर्त्ता का ही विशेषण बनाया गया है और ] स्मरणकर्त्ता अतीतकाल का नहीं, वर्त्तमानकाल का ही है। अतः उसके विशेषणों में भी वर्त्तमानकालिकता प्रतीत होती है। फलतः [ हनारी दृष्टि से ] वाच्यवचन तथा अवाच्यवचन दोनों दोष यहाँ ठीक ही हैं। आगे इस विषय में सहृदय ही प्रमाण हैं।

### [ सर्वस्व ]

प्रेयोर्लंकारस्य तु सादृश्यव्यतिरिक्तनिमित्तोत्थापिता स्मृतिर्विषयः। यथा ‘अहो कोपेऽपि कान्तं सुखम्’ इति। तत्रापि विभावाद्यागूरितत्वेन स्वशब्दमात्रप्रतिपाद्यत्वे यथा—‘अत्रानुगोदम्’ इत्यादि।

‘यैर्हृष्टोऽस्ति तदा ललाटपतितप्रासप्रहारो युधि

स्फोतासृक्क्षुतिपाटलीकृतपुरोभागः परान् पातयन् ।

तेषां दुःसहकामदेहदहनप्रोद्धतनेवानल-

ज्वालालीभरभास्वरे स्मररिपावस्तं गतं कौतुकम् ॥’

इत्यादौ सदृशवस्त्यन्तरानुभवेऽशक्यवस्त्वन्तरकरणात्मा विशेषा-लंकारः, करणस्य क्रियासामान्यात्मनो दर्शनेऽपि संभवात्। अतान्तरे काव्य-लिङ्गमेतत्। तदेते सादृश्याश्रयेण भेदाभेदतुल्यत्वेनालंकारा निर्णीताः।

[ वृत्ति ] प्रेयोर्लंकार का विषय वह स्मृति है जो सादृश्य से भिन्न कारण से उत्पन्न होती है। यथा—‘अहो, कोप में भी सुख कमजोब था।’ किन्तु [ सादृश्येतरनिमित्त से उत्पन्न होने पर ] इस [ स्मृति ] में विभावादि द्वारा व्यंग्यता रहनी चाहिए। केवल [ स्मरण आदि ] स्व [ वाचक ] शब्द मात्र से कह देना मात्र नहीं; जैसा कि “अत्रानुगोदम्” आदि में कहा गया है।



‘युद्ध में आपके भाल पर भाले का प्रहार पटा । उससे वह पड़े पर्यांत रक्त प्रवाह से आपका अगला भाग लाल हो गया । उस समय भी युद्ध में [ एक नहीं ] अनेक शत्रुओं को दहाने हुए आप जिम किसी को भी दिखारें दिष्ट उसका दुःसह कामशरीर को जगने के लिए भयंकरता के साथ उद्भूत नेत्राग्नि की ज्वालावली समुदाय से जगमगान कामान्तक भगवान् शंकर के विषय में जो कौतूहल था वह शान्त हो गया ।’

इत्यादि स्थलों में [ स्व ] मित्र [ किन्तु स्व ] समान किर्मा वस्तु के अनुभव में अन्य अक्षर्य वस्तु का जो निर्माण है तद्रूप विशेषालंकार है । क्योंकि निर्माण = अर्थात् करना [ विशेषालंकार के लक्ष्णा में ‘करना’ ही उपात्त ] एक सामान्य क्रिया [ जैसे भू और अम् ] है अतः वह दर्शनम्वरूप भी माना जा सकता है । दूसरे मत में यह काव्यार्थिग है ।

जो इस प्रकार मादृश्यमूलक किन्तु भेद और अभेद दोनों को बराबरी में दोने वाले अलंकारों का [ लक्ष्णा ] निर्णय किया गया ।

### विमर्शिनी

प्रत्युदाहरणान्तरमपि दर्शयति—प्रेयोलंकारस्येत्यादिना । तुशब्दश्चायं । सादृश्यव्यतिरिक्तं स्मृकारादिनिमित्तम् । तत्रापीति । एवं स्थितेऽपि सतीत्यर्थः । विभावाद्यागूरितत्वे प्रेयोलंकारस्य सादृश्यव्यतिरिक्तनिमित्तान्थापिता स्मृतिर्विषयो न स्वशब्दमात्रप्रतिपाद्यं स्मृतिर्विषय इति स्ववच्य । तत्र विभावाद्यागूरितत्वे स्मृतिर्यथा—‘अहो कोपेऽपि वान्त भुत्वम्’ इति । स्वशब्दमात्रप्रतिपाद्यत्वे यथादाहृतम् ‘अत्रानुगोदम्’—इत्यादी । अत्र च यथा प्रेयोलंकारो भावध्वनेश्चास्य यथा मित्रविषयत्वं तथाप्य एव वक्ष्यामः । एव च प्रत्युदाहरणद्वयस्यापि प्रयोजन मित्रविषयत्वात् ।

एच्चिच्च सादृश्यनिमित्तापि स्मृतिरवाक्यार्थत्वात्तत्रास्मिन्पर्यवस्यतीत्याह—‘वैदृष्टोऽसि-’ इत्यादि । वस्तुत्र जयापीडदर्शनम् । वस्तुन्तरं तु भगवत्तत्त्वम् । अत्र त्वदर्शनमभिलषतां जनानां न स्वदर्शनावाप्तिरेवाभ्युत्थावत्तेषामसमाख्यं भगवद्दर्शनमपि जातमित्यशक्यवस्तुन्तरकरणम् ।

विशेषालंकारस्य ह्यक्षर्यव्यत्यन्तरकरण रूपम्, इह पुनरक्षर्यव्यत्यन्तरदर्शनं स्थितमिति कथमत्र विशेषालंकार इत्याशङ्क्याह—करणस्येत्यादि । पुनश्च गम्यगमरुभात्रमाश्रित्यान्वैः काव्यलिङ्गत्वेनाभ्युपगमनमिति दर्शयितुमाह—मतान्तर इत्यादि । पुनर्विनिस्मरणम् । मतान्तर इत्यभिप्रेते । यदुक्तम्—

‘श्रुतमेकं यदन्यत्र स्मृतेरनुभवस्य वा ।

हेतुतां प्रतिपद्येत् काव्यलिङ्गं तदुच्यते ॥’ इति ।

इह पुनर्गम्यगमरुभावादनभ्युपगमनस्मर्यमाणव्यवहारोऽपि विशिष्यत इति पृथगलंकारणयेतदुक्तम् । एतदुपसहरन्नन्यदवतारयति—तदेत इत्यादि । एत इत्युपमाद्याश्वत्वारोऽलंकाराः ।

दूसरा प्रत्युदाहरण भी बनाने है—प्रेयोलंकार इत्यादि । तुशब्द ‘व’ शब्द के अर्थ = [ और या समुच्चय ] में प्रयुक्त है । सादृश्य मित्र अर्थात् सम्कारादि जमित । तत्रापि देना होने पर भी [ ‘प्रेयोलंकारस्य — स्वशब्दप्रतिपाद्यत्वे ’ इतने अर्थ का अर्थ इस प्रकार है—‘विभावादि से व्यंग्य होकर यदि स्मृति सादृश्यातिरिक्त निमित्त से हुई हो तो प्रेयोलंकार बनता है, न कि केवल स्मरण, स्मरति, स्मरण आदि स्मृतिवाचक शब्दों द्वारा उसके उल्लेखमात्र से । इनमें

से विभावानुभावव्यभिचारी से व्यंग्य स्मृति का उदाहरण दिया "अहो कोप में भी मुख की कमनीयता" । स्वशब्दमात्रप्रतिपाद्यता का उदाहरण दिया—"अत्रानुगोदम्"—यहाँ इन [ दोनों में से प्रथम ] में प्रयोल्कार और भावध्वनि जिस प्रकार है वह आगे चलकर बतलावेंगे । इस प्रकार जो दो प्रत्युदाहरण दिये उन दोनों के विषय भिन्न भिन्न हैं [ नहीं तो एक ही प्रत्युदाहरण पर्याप्त होता ] ।

कहीं कहीं स्मृति सादृश्यमूलक होकर भाँ बाक्यार्थरूप न होने के कारण स्मरणालंकार नहीं बनती । इसी के लिए उदाहरण दिया = यैर्दृष्टोऽस्ति । यहाँ वस्तु है जयापीठ का दर्शन, वस्त्वन्तर है भगवान् शिवरूप । यहाँ, तुम्हारा दर्शन चाहने वाले व्यक्तियों को केवल तुम्हारे ही दर्शन का लाभ नहीं हुआ, अपितु जो सर्वथा असंभव था वह भगवान् शिव का दर्शन भी हो गया । इस प्रकार अशक्यवस्त्वन्तरकरण [ अन्य अशक्य वस्तु का कर देना = बना देना ] यहाँ हुआ [ जो विशेषालंकार का लक्षण है । ]

विशेषालंकार जो है वह अशक्यवस्त्वन्तरकरणीय है, और यहाँ ( "यैर्दृष्टोऽस्ति" पद्य में ) है अशक्यवस्त्वन्तर दर्शन । अतः यहाँ विशेषालंकार कैसे है इस शंका पर लिखते हैं—'करणस्य' । यहाँ गन्यगमकभाव मानकर कुछ आत्माओं ने काव्यलिंग माना है । इस बात को बतलाने के लिए कहा—'मतान्तर' इति । एतत् = यह = अर्थात् स्मरण । मतान्तरे = अर्थात् उद्भट के मत में, जैसा कि कहा है एक सुनी वस्तु—यदि स्मृति या अनुभव का हेतु बने तो उसे काव्यलिंग कहा जाता है [ उद्भट, काव्या. सा. सं. ६।७ ] ।

यहाँ गन्यगमकभाव से अनुभूयमान और स्मर्यमाण का व्यवहार भी विशेषता को प्राप्त होता है, इसलिए इसे अलग अलंकाररूप से कहा ।

अब इसका उपसंहार करते हुए अन्य अलंकार की प्रस्तावना करते हैं तदेतद् इति । एते = ये अर्थात् उपमा आदि [ अनन्वय, उपमेयोपना और स्मरण ] चार अलंकार ।

विमर्शः—'करण और दर्शन' को अभिन्नता पर संजीविनीकार ने अपनी प्रयोगदीपिका में निम्नलिखित विवेचन किया है—

"तैऽस्त्यर्था धातवो हेया च उदासीनकर्तृकाः ।

विक्रुर्वाणप्रयुञ्जानकर्तृका भूकृत्कर्तृकाः ॥"

'जिनके कर्ता उदासीन रहते हैं वे धातुएँ अस्ति धातु के अर्थ की होती हैं, जिनके कर्ता विकृति को प्राप्त होते हैं वे भूधातु के अर्थ की और जिनके कर्ता प्रयोग में आते हैं वे कृधातु के अर्थ की होती हैं ।' इशधातु का कर्ता प्रयुक्त होता है अतः वह कृधातु [ करण शब्द की प्रकृति ] से अभिन्न अर्थवाली है ।

उदासीन = जिसका प्रयोग अनिवार्य न हो । विकृति को प्राप्त = अवस्थाभेद को प्राप्त । प्रयुञ्जान—जिसका प्रयोग अवश्य ही किया जाय ।

'यैर्दृष्टोऽस्ति' पद्य में स्मरणालंकार न होने पर संजीविनीकार का स्पष्टीकरण इस प्रकार है—  
'अत्र योऽयं सद्दृशवस्त्वन्तरानुभवो यैर्दृष्टोऽस्तीति निर्दिष्टः नात्तो स्मररिपुस्मरणजननात् स्मरणालंकारः, किन्तु अशक्यस्मररिपुदर्शनकौतुकात्तमवस्थाभेदार्थान्तरकरणात्मा विशेषालंकारः । एतद्दर्शनेन तदपि सिद्धमिति प्रतीतिः ।

—यहाँ जो यह सद्दृशवस्त्वन्तर का निर्देश "यैर्दृष्टोऽस्ति" इस प्रकार किया गया है वह स्मरणालंकार नहीं है बल्कि उससे स्मरणीय ( शंकर ) रूपी वस्त्वन्तर का स्मरण होता है, अपितु यह विशेषालंकाररूप है, क्योंकि यहाँ अशक्य जो शंकर दर्शन के कौतुक का शमनरूप दूसरी वस्तु

है उसका किया जाना बलया जा रहा है जो विशेषालंकार है। क्योंकि यहाँ 'इसके दीखने में वह भी सिद्ध हो गया' ऐसी प्रतीति होती है।

संजीविनीकार ने स्मरणालंकार का विवेचन कारिका रूप में इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

“स्मृति सा स्मर्यते यत्र सदृशात् सदृशान्तरम् ।

अमाद्दश्याद्वाच्यत्वादिन प्रेषान् विभिभते ॥”

‘उसे स्मरणालंकार कहते हैं जिसमें समान वस्तु से समान वस्तु का स्मरण किया जाय।

प्रेयोऽलंकार भाव को अप्रधान व्यञ्जना का नाम है। भावों में जिम प्रकार रतिनामक भाव प्रयोऽलंकार बनता है उसी प्रकार स्मृतिनामक भाव भी बन सकता है, फिर स्मृति को प्रयोऽलंकार न मानकर स्मरणालंकार क्यों माना गया इसका उत्तर भी मजीबिनीकार ने उक्त कारिका के उच्चरार्थ में इस प्रकार दिया है—

इससे प्रयोऽलंकार इसलिए भिन्न हो जाना है कि वह न तो सादृश्यमूलक होना और न वाच्य ही।

स्मरणालंकार पर पूर्ववर्ती आचार्य भामह, वामन, उद्भट तथा रुद्र ने इस अलंकार का विवेचन नहीं किया है। इन आचार्यों ने कदाचित् स्मृति को भा भावालंकार माना है इसीलिए ग्रन्थकार ने उसका पक्ष उठाया और अन्तर किया है।

भामह = “यथानुभवमर्थस्य दृष्टे तत्सदृशे स्मृतिः स्मरणम्” सदृश वस्तु के दिखाई देने पर अनुभव के अनुरूप सदृश वस्तु की स्मृति स्मरणालंकार।”

उदाहरण = ‘पूर्णेन्दुना मेघ००’ इत्यादि पद्य जो विमर्शिनो में उद्धृत है।

स्मरणालंकार, भावध्वनि प्रेषान् नामक भावालंकार तथा स्मृतिभाव में अन्तर दिखलाने हुए पण्डितराज ने लिखा है—

‘अथ चालंकारिकाणां संप्रदायो यत् सादृश्यमूलकत्वे स्मरणं निदर्शनादिवदलंकारः, तस्याभावे स्मरणताया भावः, तयोरभावे तु वस्तुमात्रम् । भावस्य हि भावाग्रहताया प्रयोऽलंकारत्वम् ।

अर्थात् आलंकारिक आचार्यों का यह सर्वमान्य सिद्धान्त है कि स्मृति यदि सादृश्यमूलक होती है तो निदर्शनादि के समान अलंकार होती है, यदि नहीं [सादृश्यमूलक नहीं होती] किन्तु यदि व्यंग्य होती है तो वह भाव कहलानी है। यदि सादृश्यमूलक और व्यंग्य दोनों नहीं होती तो वस्तुमात्र कहलानी है। प्रयोऽलंकार वह भाव होता है जो भावादि का अंग बनकर आता है।

पण्डितराज जगन्नाथ ने प्रयोऽलंकार और स्मरणालंकार पर जो अन्तर अलंकारसर्वस्वकार ने प्रस्तुत किया है उसे प्रामाणिक माना है और अप्यव्यदोक्षिन के सण्डन में उसे सादृश्य रूप में प्रस्तुत किया है। स्मरणालंकार के लक्षण में उन्होंने न केवल सर्वस्वकार अपितु रत्नाकरकार का भी सण्डन किया है। उनका कहना है कि स्मरणालंकार को ध्याति उस स्मृति तक भी है जिसका स्मरण स्मर्यमान सदृश वस्तु से होता है।

उदाहरण के रूप में उन्होंने अपना यह पद्य प्रस्तुत किया है—

‘सन्त्येवारिमन् जगति बहव पक्षिणो रम्यरूपा-

स्नेहा मध्ये मम तु महती वासना चातकेषु ।

वैरध्वक्षैरथ निजसख नीरद स्मारयन्ति-

स्मृत्यास्त्व भवति किमपि ब्रह्म कृणामिधानम् ॥’

—'इस संसार में बहुत से सुन्दर सुन्दर पक्षी हैं किन्तु चातक उनमें मुझे सर्वाधिक प्रिय है, क्योंकि उन्हें देखते ही स्मरण आ जाता है उनके मित्र मेरों का और उनसे स्मृति में आ जाता है कोई एक कुण्ड नामक मछल' यहाँ [ कुण्ड सदृश ] चातक द्वारा सन्वन्धित्वेन स्मर्यमाण है। उससे स्वसदृश श्रीकृष्ण का स्मरण सादृश्य द्वारा होता है। पण्डितराज का कहना है कि 'सदृशानुभव' शब्द के स्थान पर यहाँ 'सदृशज्ञान'—शब्द अधिक उपयुक्त है। इससे उपयुक्त स्थल में भी लक्षण संगत हो सकता है। मेघ का अनुभव भले ही न हो ज्ञान अवश्य हो रहा है।

पण्डितराज ने स्वयं इसका लक्षण इस प्रकार किया है—

'सादृश्यज्ञानोद्बुद्धसंस्कारप्रयोज्यं स्मरणं स्मरणाङ्कारः।

'सादृश्यज्ञान से जाने संस्कार से जनित स्मरण स्मरणाङ्कार कहलाता है।' पण्डितराज जगन्नाथ के आलोचक विद्वेश्वर पण्डित ने अपने अलंकारकौस्तुभ में पण्डितराज के उपर्युक्त संशोधन को अक्षरशः स्वीकार किया है—

'सदृशज्ञानोद्बुद्धसंस्कारमवा स्मृतिः स्मरणम्' अनुभवे व्यभिचारवारणाय भवान्तं ज्ञान-विशेषणम्। उद्बोधकान्तरसमवधानजन्यस्मरणवारणाय सदृशज्ञानेति। ज्ञानपूर्वं च स्मृत्यनुभवो-भयसाधारणम्। अतः स्मरणस्यैवोद्बोधकत्वस्थले नान्वयास्तिः।'

अब अभेदप्राधान्य से होने वाले अलंकार कहे जा रहे हैं—

[ सर्वस्व ]

[ सू० १६ ] अभेदप्राधान्ये आरोपे आरोपविषयानपह्ववे रूपकम्।

अभेदस्य प्राधान्याद्भेदस्य वस्तुतः सद्भावः। अन्यत्रान्यावाप आरोपः। तस्य विषयविषयवष्टब्धत्वाद्विषयस्यापह्ववेऽपह्वुतिः। अन्यथा तु विषयिणा विषयस्य रूपवत्तः करणाद्रूपकम्। साधर्म्यं त्वनुगतमेव। यदाहुः—'उपमैव तिरोभूतभेदा रूपकमिष्यते' इति आरोपाद्भेदेऽध्यवसायः प्रकृत्यते इति पश्चात्तन्मूलालंकारविभागः।

[ सू० १६ ] अभेद की प्रधानता होने पर आरोप हो किन्तु आरोपविषय छिपा न हो तो रूपक [ होता है ]।

[ सू० ] अभेद की प्रधानता कहने का अर्थ है कि इस अलंकार में भेद का भी अस्तित्व रहता है। आरोप कहलाता है दूसरे पर दूसरे का आनाप [ अध्यास, ओपना ]। वह [ आरोप ] विषय और विषयी से बँधा रहता है। तब यदि विषय [ जिस पर आरोप किया जाता है ] छिपा दिया जाय [ शब्दतः न कहा जाय ] तो अपह्वुति अलंकार होता है। अन्यथा [ यदि विषय छिपाया न जाय उसे शब्दतः कहा जाय तो ] रूपक होता है। क्योंकि तब विषय विषयों के द्वारा [ उसके ] रूप से युक्त बनाया जाता है। [ क्योंकि यह अलंकार साधर्म्यमूलक अलंकारों के सन्दर्भ में बतलाया जा रहा है इसलिए ] साधर्म्यं तो [ इस अलंकार में प्रकरण से ही ] चला आता है। जैसा कि कहा है—'उपमा ही भेद को छिपाकर रूपक मानो जाती है'—[ दण्डी कान्वादर्श—२।६६ ]

अभेद में आरोप की अपेक्षा अध्यवसाय अधिक उल्कृष्ट होता है, इसलिए तन्मूलक [अध्यवसाय-मूलक] अलंकारों का विभाजन बाद में किया जायगा।

## विमर्शिनी

संप्रतीति। भेदाभेदतुल्यत्वाश्रयालंकारानन्तरमभेदप्रधानं लक्ष्यितुमुचिनत्वादवसर-  
प्रासादित्यर्थः। तत्र तावत्प्रथम रूपकं लक्षयति—अभेदप्राधान्य इत्यादि। वस्तुतः इति। न तु  
प्रतीतितः। सद्भाव इति। प्रधानाप्रधानयोः संबन्धिशब्दत्वात्। अन्यत्रान्यावाप आरोप  
इति। अन्यत्रेति प्रकृते मुखादी। अन्यस्येत्यप्रकृतस्य चन्द्रादेः। स च सामानाधिकरण्येन  
वैयाधिकरण्येन च निर्देशे भवति। न तु सामानाधिकरण्येन निर्देश एव सः। एवं हि—  
'याताः कणादतां केचित्' इत्यादावारोपसद्भावेऽपि न सामानाधिकरण्यमस्तीत्यभ्यासि-  
स्यात्। आर्थ सामानाधिकरण्यमस्तीति नाभ्यासिरिति चेत्, न। भिन्नयोः सामानाधिक-  
रण्येन निर्देशो [ अ० २० सू० २६ ] शारोपलक्षणम्। न च तदत्र निर्दिष्टम्। वैयाधिकरण्येन  
निर्देशात्तस्यार्थवसेयत्वात्। अर्थावसायो निर्देशश्च नैकं रूपम्। विप्रतिपेधात्। नील-  
मुत्पलमित्यादावपि गुणजातिरूपत्वेन भिन्नयोर्नीलोत्पलयोः सामानाधिकरण्येन निर्देशादा-  
रोपः प्रसज्यत इत्यतिश्यासि' स्यात्। न चारोपे भिन्नयोः सामानाधिकरण्येन निर्देश  
उच्यत इत्यसम्भवोऽपि। इति न निरवद्यमेतद्वारोपलक्षणम्। यद्येवं तर्हि शब्दे शब्दान्तर-  
मर्थे वार्थान्तरमारोप्यत इति चेद् ध्रुमः। तत्र न शब्दे शब्दान्तरारोपः। मुख्यशब्दादेश्चन्द्र-  
शब्दादिरूपत्वेनाप्रतीतेरभ्योन्यविविक्तस्वविधान्तरूपोपलम्भादिति भवन्निरेवोक्तत्वात्।  
किं स्वर्थेऽर्थान्तरारोपः। स च प्रयोजनपरतया तथा निर्दिश्यते न भ्रान्त्या। अत एव  
शुक्तिकायामिव रजतारोपो न मुते चन्द्रारोपः। तस्य स्वरसत एवोत्थानेन भ्रमरूप-  
त्वात्। अत एव तत्रारोपविषयस्यारोप्यमाणेनाच्छादितत्वेन प्रतीतिः। इह पुनर्जानान एव  
कश्चिच्चन्द्रविविक्तं मुखं तत्र प्रयोजनपरतया चन्द्रार्थमारोपयति। अत एवोक्तमारोपविष-  
यानपहव इति। भवन्निरेप्यनेनैवाशयेन 'प्रतिपादनभ्रमोऽर्थं न भ्रान्ता प्रतिपत्तिरित्या-  
द्युक्तम्। तस्यैवारोपस्य त्रिपय प्रकृतः विषयी चाप्रकृतः। साम्यामवष्टन्वत् युक्तव्यम्।  
यदुक्तम्—'सारोपान्या तु यत्रोक्तौ विषयी विषयस्तथा' इति।

संप्रति अर्थात् भेदाभेद की तुल्यता वाले अलङ्कारों के निरूपण के पश्चात् अभेदप्रधान अलङ्कारों  
का लक्ष्य करना उचित होने के कारण अवसर आ जाने पर। उनमें पहले रूपक का लक्षण करने  
हैं—अभेदप्राधान्य इत्यादि। वस्तुतः वास्तविक रूप से न कि केवल प्रतीतिमात्र में। सद्भाव  
इसलिए कि प्रधान और अप्रधान सम्बन्धिवचक शब्द हैं। अन्यत्रान्यावाप आरोप अन्यत्र =  
दूसरे में अर्थात् मुख आदि प्रकृत वस्तुओं में। अन्यस्य = दूसरे का अर्थात् चन्द्र आदि  
अप्रकृत वस्तुओं का।

यह आरोप दोनों ही प्रकार के निर्देशों से होना है सामानाधिकारण्यपूर्वक [सामानाधिकरण्य] =  
उपमानोपमेय या विषय विषयी के एक ही विभक्ति में रहने से और वैयाधिकरण्यपूर्वक [वैयाधि-  
करण्य] = उनको भिन्न-भिन्न विभक्तियों में रहने से ऐसा नहीं कि केवल सामानाधिकरण्यपूर्वक ही  
निर्देश से यह हो [जैसा कि अन्काररत्नाकरकार ने माना है]। ऐसा मानने पर [कि केवल  
सामानाधिकरण्य में ही आरोप होता है] "कुछ लोग कणादता को प्राप्त हुए" इत्यादि में आरोप  
रहने पर भी सामानाधिकरण्य न होने से [आरोप का लक्षण लागू नहीं होगा फलतः] अभ्यासि  
दोष आवेगा। 'अर्थगत सामानाधिकरण्य [एकार्थकत्व] यहाँ है हाँ अतः अभ्यासि नहीं होनी'  
यदि ऐसा कहें यह भी ठीक नहीं, क्योंकि [जापने अलकाररत्नाकर में] आरोप का रूप ही  
भिन्न-भिन्न अर्थों का सामानाधिकरण्यपूर्वक [एक विभक्ति के साथ] निर्देश [बतलाया] है। वह  
[सामानाधिकरण्य] यहाँ [कणादता केचित् = कुछ कणादता को प्राप्त हुए में] निर्दिष्ट नहीं है।

वैयर्थिकरूपपूर्वक निर्देश होने पर उस [ सामानाधिकरण्य ] का ज्ञान अर्थात् होता है। अर्थात् ज्ञान होना और [ शब्दतः ] ये दोनों एक नहीं हैं। क्योंकि इनमें परस्पर विरोध है।

[ आपके आरोप लक्षण के अनन्तर ] “नील उत्पल” इत्यादि [ विशेष्यविशेषणभाव के स्थलों ] में भी आरोप मानना होगा क्योंकि यहाँ एक [ नील ] गुणरूप है और दूसरा [ उत्पल ] जातिरूप है, अतः दोनों भिन्न हैं और दोनों का सामानाधिकरण्यपूर्वक शब्दतः निर्देश भी है। इस प्रकार यहाँ [ जो कि आरोप का स्थल नहीं है आरोप का लक्षण लागू होगा अतः ] अतिव्याप्ति दोष होगा। आरोप में भिन्न-भिन्न वस्तुओं का [ सामानाधिकरण्य तो शब्दतः कथित रहता है पर उनका ] सामानाधिकरण्यपूर्वक निर्देश शब्दतः कथित नहीं रहता [ किसी भी आरोप में आरोप लक्षण लागू नहीं होता ] अतः असंभव [ नामक दोष ] भी [ आरोप लक्षण में होगा ]। इस प्रकार आरोप का [ अलंकाररत्नाकर में ] उक्त लक्षण निर्दोष नहीं है।

यदि ऐसा है तो क्या शब्द पर दूसरे शब्द का आरोप होता है या अर्थ पर दूसरे अर्थ का ? यदि ऐसा पृच्छते हैं तो सुनिए हम कहते हैं—शब्द पर शब्द का आरोप नहीं होता क्योंकि रूपक या आरोप ऐसी प्रतीति नहीं होती कि मुख वादि शब्द चन्द्र आदि शब्द रूप हैं। उन [ शब्दों ] की प्रतीति एकदम पृथक्-पृथक् रूप से होती है और वे अपने आप तक ही सीमित हैं। वह अपने ही स्वयं कहा है। आरोप अर्थ पर अर्थ का होता है। और वह किसी प्रयोजन से होता है भ्रान्ति से नहीं। इसीलिए मुख पर चन्द्र का आरोप सीप पर चाँदी के आरोप जैसा नहीं होता। क्योंकि वह सीप पर चाँदी का आरोप स्वभावतः होता है अतः उसे कहा भी, भ्रम जाता है। इसीलिए यहाँ [ सीप और चाँदी में ] आरोपविषयीभूत वस्तु [ सीप ] आरोप्य-माण [ चाँदी ] से आच्छादित प्रतीत होता है। यहाँ [ मुखचन्द्र आदि स्थलों में ] तो कोई भी व्यक्ति जानते हुए कि मुख चन्द्र से भिन्न है उस [ मुख ] पर प्रयोजनविशेष से चन्द्ररूपी अर्थ का आरोप करता है। इसीलिए कहा कि आरोप विषय का अनपह्वन = प्रकटत्व, शब्दतः कथन रहना चाहिए। आप [ शोभाकरमिश्र अर्थात् अलंकाररत्नाकरकार ] ने भी इसी आशय से—“वह प्रतिपादन का भ्रम है कि प्रतीति भ्रान्तिपूर्ण है” ऐसा कहा है।

तस्य = उत्पला = अर्थात् आरोप का विषय = प्रस्तुत और विषयी = अप्रस्तुत वस्तु। उन दोनों से अवष्टम्भ होना अर्थात् युक्त होना। जैसा कि [ मम्मट ने ] कहा है—“वह लक्षणा सारोपा कहलाती है जहाँ विषय और विषयी दोनों कथित हों [ काव्यप्रकाश—२ ]।

विमर्शः—अलंकाररत्नाकरकार ने रूपक के विषय में जो लिखा है वह इस प्रकार है—

‘आरोपो रूपकम्’। भिन्नयोः सामानाधिकरण्यनिर्देश आरोपः। नवन्यत्रान्यारोपः। नद्यर्थे अर्थान्तरं वस्तुत आरोप्यते, नापि प्रतीतितः। नद्यनुमन्तेन ‘मुखं चन्द्र’ इत्यादौ शुभत्या इव रजतेन मुखस्य चन्द्रेणाच्छादितत्वं प्रतीयते, मुखस्य पृथगुपात्तस्य स्वरूपेणैव नात्मान-नत्वम्। नापि द्विचन्द्रादिवद् बाष्पमानैव प्रतीतिः, बाष्पोत्पत्तावपि तत्र तत्त्वा अनिबृष्टैः। इह स्वगतचन्द्रविधेकिमुखस्वरूपस्य निश्चितशुक्तिरूपस्यैव प्रमातृशुन्द्रोऽर्थं रजतमितिषच्छतशो-धुच्यमाने न तद्रूपतया प्रतिपत्तिः। किन्तु नीलमुत्पलमित्यादिवद् सामानाधिकरण्यदर्शनात् प्रति-पादनभ्रमोऽयं न भ्रान्ता प्रतिपत्तिः। द्विचन्द्रादिवद् बाष्पमानाया अपि तत्त्वा अभावात्। नापि शब्दे शब्दान्तरारोपः, सुताद्रेश्चन्द्रादिरूपतयाऽप्रतीतिः। अन्योन्यविकितस्वविभ्रान्तरूपोपलन्मात्। तस्मात् तद्धर्मत्वादिप्रतिपत्त्यर्थः सामानाधिकरण्यनिर्देश एवारोपः।—‘आरोप रूपक कहलाता है। आरोप है दो भिन्न वस्तुओं का सामानाधिकरण्यनिर्देश [ शब्दतः सामानाधिकरण्य वतलाना ]। न कि दूसरे पर दूसरे का आरोप। क्योंकि एक पदार्थ पर दूसरे पदार्थ का आरोप

न तो वस्तुतः होता और न प्रतीतित. ही । स्वस्थचित्त वाले किसी भी व्यक्ति को 'मुग्ध चन्द्र' ई शत्यादि में मुख का चन्द्र द्वारा वैसा आच्छादन प्रतीत नहीं होता जैसा शुक्तिका का रजत के द्वारा प्रतीत होता है । मुख तो अलग कथित रहता है [ जब कि शुक्तिका का बोधक कोई प्रमाण नहीं रहता ] अतः उसका मान अपने रूप में ही होता है [ जन कि शुक्तिका का मान सर्वथा रजतरूप से ही होता है ] यह प्रतीति "दो चन्द्र"—इस प्रतीति के समान [ उत्तरकाल में मिटने वाली अतः ] बाधित भी नहीं है, क्योंकि बाध की प्रतीति हो जाने पर भी यह प्रतीति इटती नहीं [ होती ही रहती है ] । यहां जिस प्रमाता [ ज्ञाना ] को मुख की प्रतीति चन्द्रभिव्रत्वेन हो जाती है उससे यदि सौ बार भी कहा जाय कि यह चन्द्र है तो ताद्रूप्य की प्रतीति नहीं होती ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार शुक्ति का शुक्तित्वेन ज्ञान हो जाने पर उमम रजत की प्रतीति । यह तो 'नील उत्पल' शत्यादि के समान सामानाधिकरण्य देखने में हुआ प्रतिपादन भ्रम है, न कि आन्त प्रतिपत्ति । क्योंकि "दो चन्द्र" आदि के समान वह बाधित नहा पाट जाती ।

न तो शब्द पर ही शब्द का आरोप होना क्योंकि मुग्धादि [ शब्द ] चन्द्रादि [ शब्द ] रूप से प्रतीत नहीं होते । उनका [ दोनों शब्दों का ] स्वरूप परस्पर भिन्न रूप से प्रतीत होता है । वे [ दोनों ] तो अपने तक ही सीमित रहने हैं ।

इस लिए 'तद्वर्णत्व' आदि की प्रतीति के लिए सामानाधिकरण्यनिर्देश ही आरोप होता है ।

स्पष्ट है कि विमर्शिनीकार ने रत्नाकरकार की उपयुक्त पक्तियों को अक्षरशः उद्धृत किया है और रत्नाकरकार ने जिम 'अर्थ पर अर्थ के आरोप' का स्पष्टन किया है उसे ही उन्होंने सिद्धान्त बनवाया है । रत्नाकरकार का कहना इतना ही है कि जब तक दो वस्तुओं को शब्दन-कहकर उनमें से एक पर दूसरे को न बोधा जाय, आरोप नहीं होता ।

### विमर्शिनी

अन्यथेति । अनपह्ववे । एवमनेनापह्वुतिरूपकयोर्भेदोऽप्युक्तः । आहुरिति दण्ड्यादयः । अतश्च साधर्म्यसद्भावात्तदनुयायिभेदत्रयानुप्राणितत्वमप्यस्य ज्ञेयम् । यथा—

'कंदर्पद्विपकणकम्बुमसितैर्दानाम्बुमिळांन्दितं

संलग्नाङ्गनपुञ्जकालिमकलं गण्डोपधानं रते ।

ष्योमानोकहपुष्पगुच्छमलिभिः संल्लाद्यमानोदरं

पश्यैतच्छशिनः सुधासहचरं विग्यं कलङ्काङ्कितम् ॥'

अत्र कलङ्कस्य दानाम्बवादिभिः प्रतिविग्वनम् । लान्द्रितवाङ्कितत्वयोः शुद्धसामान्य-रूपत्वम् । सुधासहचरत्वस्यानुगतत्वादानुगामितेति भेदत्रयानुप्राणितत्वम् । अनेन च सादृश्यनिमित्त एवारोपो रूपकमित्युक्तं भवति । केषांचिदपि सन्नन्धान्तरहेतुरप्यारोपो रूपकाङ्गमेवेति मतम् । यदाहालकारभाष्यकारः—'लक्षणपरमार्थं याचता रूपकरूपम्' इत्युपक्रम्य 'सारोपान्या च सादृश्याद्वा संवन्धान्तराद्वा' इत्यादि । स तु यथा—

'अमृतकवलः शोभाशशि प्रमोदरसप्रपा

सितिमशकटं अयोत्तनानापी तुपारधरट्टिका ।

मनसिजगृसी शृङ्गारधीविमानमहो नु भो

निरवधिसुखश्रद्धा दृष्टे कृती मृगकेतनः ॥

अत्रेन्दुरूपे कारणे कार्यरूपाया, श्रद्धाया आरोपः । ग्रन्थकृताप्यलंकारानुसारिण्या-मत्र 'श्रद्धाहेतुत्वाच्छ्रद्धे'त्यभिधाय 'विशेषणैकरिम्भनेकवसरारोपान्मालारूपकमित्यभि-

दधतायमेव पत्तः कटाक्षितः । ननु चाध्ववसायवर्भाणामप्यलंकाराणामभेदप्राधान्ये सति प्रथमारोपवर्भा अलंकाराः किमिति लपिता इत्याशङ्क्याह—आरोपादित्यादि ।

अन्वया अर्थात् अपह्व होने पर । ऐसा कहकर ग्रन्थकार ने अपह्वृति और रूपक का भेद भी बतला दिया । आहुः = कहा है अर्थात् दर्शा आदि ने । [ रूपक में ] साधर्म्य का सर्वभाव बतलाने से उस [ साधर्म्य ] के साथ चलने वाले [ विन्वप्रतिविन्वभावमूलक वस्तुप्रतिवस्तुभाव, शुद्ध सामान्य रूप वस्तुप्रतिवस्तुभाव तथा अनुगामी धर्म-इनके आधार पर होने वाले ] तीनों भेद भी रूपक में आ जाते हैं । यथा—

‘देखो यह चन्द्रमा का विन्व, इसमें सुधासहचरत्व [ सुधासुक्त होना तथा सुधासदृश सफेद होना दोनों का एक ही शब्द से कथन होने के कारण अभेद है ] भी है और कलंक भी इसलिए यह कामरूपी गज के कान का शंख है जिस पर मटमैले मदजल का धब्बा पड़ गया है; यह रति का गण्डोपधान [ गाल का तकिया ] है जिसमें काजल की कालिख लग गई है; यह आकाश-वृक्ष का पुष्पयुच्छ है जिसके बीच भोरे मर गए हैं ।’

यहां [ विन्वभूत ] कलंक के मदजल, काजल, भोरे प्रतिविन्व हैं । लंछितत्वं = धब्बा पड़ना और अंकित होगा = लगना शुद्ध सामान्य वस्तु प्रतिवस्तु हैं और सुधासहचरत्व अनुगत धर्म है अतः यह अनुगामी साधारण धर्म हुआ ।

इससे यह निष्कर्ष निकला कि साहचर्यमूलक आरोप ही रूपक होता है ।

कुछ लोगों का यह भी मत है कि [ साहचर्य से भिन्न ] अन्य संबन्ध से होने वाला आरोप भी रूपक का ही अंग होता है । जैसा कि अलंकारभाष्यकार ने कहा है—‘रूपक का जो स्वरूप है उसमें सार है लक्षणा’—यहां से लेकर ‘दूसरी जो सारोपा है वह या तो साहचर्य से होती है या दूसरे सम्बन्ध से ।’ यहाँ तक ।’ [ साहचर्यभिन्नसम्बन्धमूलक ] इस दूसरे रूपक का उदाहरण यह है—

‘यह कृती चन्द्र अमृतप्रास है, शोभा की राशि है, प्रमोदरस की प्याज है, सफेदी का छकड़ा है, ज्योत्स्ना की दावड़ी है, तुपार की बड़ी है, काम की आसन है, शृङ्गारशी का विमान है, और कितना कहें, निरवधि सुख की श्रद्धा है ।’ [ सोमपाल विलास ]

यहाँ चन्द्ररूपी कारण पर कार्यरूपी श्रद्धा का आरोप है । ग्रन्थकार ने भी ‘अलंकारानुसारिणी’ में उक्त श्लोक की टीका में इस श्लोक पर श्रद्धाहेतु होने से श्रद्धा’ ऐसा कहकर यह कहते हुए कि ‘खासकर एक में अनेक वस्तुओं के आरोप से यहाँ मालारूपक है’ इसी पक्ष की ओर संकेत किया है ।

**विमर्श**—अलंकाररत्नाकरकार ने भी साहचर्यातिरिक्तसम्बन्धमूलक आरोप को रूपक माना है । उन्होंने विस्तारपूर्वक लिखा है—

‘इह अन्ये साहचर्यनिमित्त एव आरोपो रूपकं न सम्बन्धान्तरनिमित्तकोऽपि, तेन सम्बन्धान्तर-पूर्वक आरोपो वैचिन्त्यमात्रं न स्वलङ्कार कश्चिदिति मन्यन्ते, तत्र नयनिपुणहृदयावर्जकम् । तथाहि इह द्विविधा लक्षणा ( १ ) प्रयोजनरहिता रूढा, ( २ ) तदनुता च कार्या । तत्र रूढायां प्रयोजन-रूपव्यन्यायार्थान्वाद् अभिधानद् वैचिन्त्यचात्तद्विरहान्न सहृदय-हृदयाह्लादकारितया रसपरिपोष-कत्वमिति नालंकारता । कार्या पुनस्तद्वैलक्षण्येन काव्यजायित्वाद्यमाना सर्वथा कविभिरादरणीयेति सर्वेषां ध्वनिकारादीनामविप्रतिपत्तिः । न च तस्याः साहचर्ये सम्बन्धान्तरे वा कश्चिद् विशेषः येनैकत्र अलंकारता अपरत्र तदभाव इति स्यात् । न च सम्बन्धान्तरनिमित्त आरोपोऽलंकारतया लक्षितः,



नापि तद् युज्यते । रूपकज्ञानात्वेन तदन्तर्भावस्यैवोचिन्त्वात् । अत एव 'आरोपो रूपकमिति सामान्येनैवेह सूचितम्, न च सादृश्यमित्यनुपपन्नम् ।

सादृश्यमम्बन्धनिबन्धनाया अलङ्कृतित्वे यदि लक्षणाया ।

साम्येऽपि सर्वस्य परस्य हेतोः सम्बन्धभेदेऽपि तथैव युक्ता ॥' इति सप्तम् ।

'यद्वा कुछ आचार्यों को मान्यता है कि "सादृश्यमूलक आरोप ही रूपक है, सम्बन्धान्तरनिमित्तक नहीं । इसलिए सम्बन्धान्तरमूलक आरोप वैधिय्यमात्र है कोई अलंकार नहीं, जैसा कि कहते हैं—'उपमैव तिरोभूतभेदा रूपकमिभ्यते" इत्यादि [ अर्थ अभी आचुका है ]।" यह मत नीतिनिपुण सज्जनों का हृदय आकृष्ट नहीं कर पाता । क्योंकि लक्षणा दो प्रकार की होती है—( १ ) प्रयोजनरहित निरुद्धा और ( २ ) प्रयोजनमहित कार्या । दोनों में निरुद्धा प्रयोजनरूप व्यापार्य से रहित रहती है अन. वह अभिधा जैसी ही होती है, उसमें वैधिय्य तो रहता है पर उनकी चारुता नहीं रहती । इसलिए वह सहृदयहृदयाह्लादकारो होकर रमपरिपोषक नहीं बन पाती अनः उसे अलंकार नहीं माना जाता । कार्या लक्षणा उससे विलक्षण होती है अन वह काव्य का प्राण नानी जाती है । कवियों के लिए वह सर्वथा आदरणीय होता है । इन तथ्य में सब के सब ध्वनिवादी भी अतिक्रुद्ध हैं । वह सादृश्यमूलक ही या सम्बन्धान्तरमूलक उसमें कोई अन्तर नहीं आता जिमसे एक को अलंकार माना जाए और दूसरी को नहीं । सम्बन्धान्तरमूलक आरोप को अलंकाररूप में जो लक्षित नहीं किया गया है वह भी अनुचित है । जैसा रूपकत्व सादृश्यमूलक आरोप में रहना है वैसा ही सम्बन्धान्तरमूलक आरोप में, अतः उसका भी रूपक में गिना जाना उचित है । इसीलिए [ हमने ] "आरोप रूपक कहलाना है" इन प्रकार सामान्य आरोप को ही रूपक लक्षण में रूपक कहा है । उसमें सादृश्य की अनुवृत्ति नहीं की । निष्कर्ष यह कि—

यदि सादृश्यमम्बन्धमूलक लक्षणा को अलंकार माना जाता है तो अन्य सब हेतुओं के समानरूप से विद्यमान रहने पर केवल सम्बन्धभेदमात्र से [ सादृश्येतर-सम्बन्धमूलक आरोप को रूपक न मानना अनुचित है उसमें ] भी अलंकारता स्वीकार करना ही उचित है ।

रुद्रट ने इसे हेतु नामक अलंकार बतलाया है—

'हेतुमता सह हेतोरभिधानमभेदकृद् भवेद् यत्र ।

सोऽलङ्कारो हेतुः स्यादन्येभ्यः पृथग्भूतः ॥" ७।८२ ॥

जहाँ कार्य के साथ कारण का इस प्रकार का फथन हो जिससे उनमें अभेद हो रहा हो तो उस अलंकार को हेतुनामक अलंकार माना जाता है । यह अन्य सब अलंकारों से भिन्न होता है । उदाहरण दिया है—

'अविरलकमलविकासः स्रजलाटिमदश्च कोकिलानन्दः ।

रम्योऽयमेति संप्रति लोकोत्कण्ठाकरः काल ॥'

'अब वह ऐसा रम्य समय आ रहा है जो लोगों में उत्कण्ठा जगाने वाला है, कमलों का पना विकास है, समी भाँटों का मद है और कौयलों का आनन्द ।'

रुद्रट के काव्यालंकार के टीकाकार नमिसाधु ने इस उदाहरण को उदाहरणों की दिशा बढ़ा है और उदाहरण के रूप में अपनी ओर से यह पद्य प्रस्तुत किया है—

'आयुर्धृत नदी पुण्य मय औरः सुप्त प्रिया ।

बैर दनं गुरुशान श्रेयो माझगपूजनम् ॥'

— 'धो आयु है, नदी प्रणय है, और भय चोर है, प्रिया सुख है, लुआ बेर है, गुरु ज्ञान है, ब्राह्मण पूजन श्रेय है ।'

मम्मट ने रुद्र के इस मत का खण्डन किया है और हेतु को काव्यलिङ्गात्मक रूप से ही मान्य बतलाया है, तन्निम्न उपर्युक्त रूप से उसमें कोई चमत्कार नहीं माना । कहा है कि "अविरल" आदि पद्य में काव्यत्व का कारण कोमल अनुप्रास है । भामह ने भी हेतु को अलंकारत्व योग्य नहीं माना है । उन्होंने—

'हेतुश्च सूक्ष्मो लेशोऽथ नालंकारतया मतः ।

समुदायाभिधानस्य वक्रोक्त्यनभिधानतः ॥ २।८६ ॥

अर्थात् हेतु सूक्ष्म आरं लेश को अलंकार नहीं माना कारण कि इनमें वाक्यार्थ (समुदायाभिधान) वक्रोक्तिरूप्य होता है । भामह के मत में वक्रोक्ति ही अलंकारों का मूल है ।

सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते ।

वत्नोऽस्यां कश्चिना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना ॥'

यद्यपि सूक्ष्म को मम्मट ने अलंकार मान लिया है । उद्भट ने भी हेत्वलंकार की चर्चा नहीं की । आचार्य दण्डा ने भामह के विरुद्ध हेतु सूक्ष्म और लेश इन तीनों को वाणी का भूषण ही नहीं उसम भूषण कहा है—

'हेतुश्च सूक्ष्मलेशौ च वाचानुत्तमभूषणम् [ २।२३५ काव्यादर्श ] उसके बहुत से भेद भी बतलाये हैं । किन्तु उनका हेतु रुद्र के हेतु से सर्वथा भिन्न है । शोभाकर, अप्पवदीक्षित और पण्डितराज ने अलंकाररत्नाकर, चित्रमीमांसा और रसगंगाधर में हेतु को अलंकार नहीं माना । यद्यपि पण्डितराज जगन्नाथ ने 'उल्लासः कुल्ल०' पद्य में हेत्वलङ्कार की संभावनाव्यक्त की है ।

प्रश्न उठता है कार्यकारणभावादिसन्बन्धमूलक आरोप को अलंकार माना जाय या नहीं । हमारा दृष्टि से अलंकाररत्नाकरकार का यह कथन संगत है कि इसे अलंकार न मानना सहृदयता के साथ अन्याय है । इसमें चमत्कार का अनुभव कित्ते नहीं होता । केवल ध्यान देने की बात इतनी है कि यहाँ चमत्कार का कारण क्या है । यदि घृत आदि कारण पर आयु आदि कार्य का आरोप चमत्कारकारी है तो यहाँ अवश्य ही रूपक होगा । किन्तु हमें यहाँ आरोप में नहीं अतिशय में चमत्कारकारणता लगती है । अतिशयोक्ति का एक भेद मम्मट ने भी कार्यकारणों के बीच पौर्यापर्व का विपर्यय माना है और उसमें वे सादृश्य भी स्वीकार नहीं करते । कार्यकारणके पौर्यापर्वविपर्यय के समान मम्मट को उनके अभेद में भी अतिशयोक्ति स्वीकार करनी चाहिए । कार्यकारण का अभेद भी वस्तुतः पौर्यापर्वविपर्यय ही है । क्योंकि कार्य और कारण में कारण को पूर्ववर्ती और कार्य को परवर्ती प्रत्येक दार्शनिक मानता है । रुद्र ने अहेतुनामक अलंकार को अतिशय वर्ग के भीतर गिना है वस्तुतः हेतु को अतिशय वर्ग में गिनना था । उन्होंने उसे वास्तव के भीतर गिना यही एक अरुचि का कार्य किया ।

अनुभव के आधार पर कार्यकारणभावसन्बन्धयुक्त वस्तुओं का अभेद अतिशय को जन्म देता है और सादृश्ययुक्त वस्तुओं का अभेद आरोप को अतः दोनों अलंकारों में भेद मानना भी उचित है । रत्नाकर के समान अभेद नहीं । वस्तुतः काव्यों में प्रयोग सादृश्यमूलक अभेद का ही अधिक है, अतः उसी के आधार पर रूपक की व्याख्या तब ने की है । इस विषय पर देखिए हमारा लेख 'मम्मटाभिनतं लक्षणानाः पड्विपत्वं हेत्वलङ्कारश्च' । [ उदयपुरविश्वविद्यालय से १९६८ में प्रकाशित ]

[ सर्गस्त्र ]

इदं तु निरवयवं सावयवं परम्परितमिति त्रिविधम् । आद्यं केवलं मालारूपकञ्चेति द्विधा । द्वितीयं समस्तवस्तुविषयमेकदेशविवर्ति चेति

द्विवैव । तृतीयं शिल्पशब्दनिबन्धनत्वेन द्विविधं सत्प्रत्येकं केवलमालारूप-  
कत्वाच्चतुर्विधम् । तदेवमष्टौ रूपकभेदाः । अन्ये तु प्रत्येकं वाक्योक्तसमा-  
सोक्तादिभेदाः संभवन्ति तेऽन्यतो द्रष्टव्याः ।

[ वृत्ति ] यह [ रूपक ] निरवयव, सावयव तथा परंपरित दस प्रकार तीन प्रकार का होता है ।  
से ] प्रथम केवल [ शुद्ध ] तथा मालारूपक इस प्रकार दो प्रकार का होता है । द्वितीय [ भी ]  
समस्तवस्तुविषय और एकदेशविषयि इस प्रकार दो ही प्रकार का होता है । तृतीय शिल्प-  
[ इनमें शब्दमूलक और अशिल्प शब्दमूलक होकर केवल और मालारूपक होने से चार  
प्रकार का होता है । तो इस प्रकार रूपक के भेद आठ होने हैं । प्रत्येक में वाक्योक्त  
समासोक्त आदि [ जो ] कुछ और भी भेद होते हैं उन्हें अन्य ग्रन्थों में देखा जा सकता है ।

### विमर्शिनी

चशब्दोऽन्यालकारापेक्षया भेदसमुच्चयार्थः । विषयद्योतकस्तुशब्दः । अवयवेष्वो  
निष्क्रान्त आरोप्यमाणो यत्र तत्तथोक्तम् । सहावयवैरारोप्यमाणो वर्तते यत्र तत्तथोक्तम् ।  
परंपरयैकस्य महात्म्यादपरस्यारूपणत्वमायात यत्र तत्तथोक्तम् । आद्यमिति निरवयवम् ।  
माला चैकस्यानेकस्य वानेकारोपाद्भवति । एव परंपरितत्वेन मालारूपकं ज्ञेयम् ।  
द्वितीयमिति सावयवम् । समस्तमारोप्यमाणात्मकं वस्त्वभिधाया विषयो यत्र तत्तथोक्तम् ।  
एकदेश आरोपविषयाणाम्, अर्थस्तदात्मक एवारोप्यमाणप्रयोजनप्रतिपादनाय तद्रूपतया  
विवर्तते परिणमति यत्र तत्तथोक्तम् । तृतीयमिति परंपरितम् । यद्यपि श्लेषनिबन्धनेऽ  
स्मिन्गुणक्रियात्मकधर्मनिबन्धनस्य सादृश्यस्पासंभव एव तथापि शब्दमात्रकृतमेवा  
भेदाध्यवसायतः सादृश्य आह्वयम् । अन्य इति एतद्वेदादृश्यतिरिक्ता । संभवन्तीति  
चिरंतनालकारग्रन्थेष्वेव । न पुनर्लक्ष्यन्त इति भावः । तत्र हि तेषां तत्त्वेऽप्येतद्वेदादृक-  
कृतमेव वैचिन्त्यं प्रतीयते । तथा च—

‘पाद कूर्मोऽत्र यष्टिर्भुजगपतिरयं भाजनं भूतधात्री  
तैलापूरा समुद्राः कनकगिरिरयं वृत्तवर्तिप्ररोहः ।

अर्चिश्रण्डांशुर्दूर्ध्वगंगमलिनिमा कज्जलं दह्यमाना  
वैरिश्रेणी पनङ्गा ज्वलति नरपते स्वप्नतापप्रदीपः ॥’

इत्यत्र सावयव विषयार्थोक्तस्य समस्तवस्तुविषयकृतमेव वैचिन्त्यम् ।

‘च’ [ और ]—शब्द अन्य अलंकारों के अभेद भेद का समुच्चायक है । ‘तु’ शब्द विषय  
का द्योतक है [ निरवयव = ] अवयवों से निष्क्रान्त है । आरोप्यमाण जिसमें ऐसा [ सावयव ]  
जहाँ आरोप्यमाण अवयवों से युक्त हो । [ परंपरित = ] परंपरा अर्थात् एक के प्रभाव से  
दूसरे का आरोपण समभव हुआ हो जिसमें ऐसा । आय = प्रधान = निरवयव । माला एक या अनेक  
के आरोप से होता है । इस प्रकार का और परंपरितत्व से युक्त होने के कारण [ रूपक को ]  
मालारूपक माना जा है । द्वितीय = अर्थात् सावयव । [ समस्तवस्तु विषय = ] समस्त आरोप्य-  
माणात्मक वस्तु जहाँ अभिधा का विषय [ शब्दत कथित ] हो बैसा । [ एकादेशविषयि = ] एक-  
देश = अर्थात् आरोपविषयों का, जहाँ अर्थ अपने ही रूप में बना रहे और आरोप्यमाण का प्रयो-  
जन बनाने के लिए आरोप्यमाण रूप से निर्वर्तित = अर्थात् परिणत हो । तृतीय अर्थात्  
परंपरित । यद्यपि जहाँ यद् श्लेषमूलक होता है वहाँ गुणक्रियात्मक सादृश्य समभव नहीं होना  
तथापि शब्दमात्र से जनित अभेदाध्यवसाय से वहाँ सादृश्य बन जाता है । अन्य इन आठ भेदों

से भिन्न । संभवन्ति = हो सकते । अर्थात् प्राचीन अलंकार ग्रन्थों में ही । हम उसका लक्षण नहीं करेंगे । वहाँ उन भेदों के रहने पर भी इन आठ भेदों से होने वाला चमत्कार ही अनुभव में आता है [ अतः चमत्कारकारणं भिन्न न होने से उन भेदों से भिन्न नहीं माना जायगा ] । जैसे—

“हे राजनन् ! आपके प्रताप का प्रदीप जल रहा है, इसमें पाद कर्म है, भुजगपति = शेषनाग यष्टि है, पृथ्वी पात्र है, समुद्र तैल का भराव है, यह ( सोने का शैल ) सुमेरु गोलाकार बत्ती है, तूले लक्ष्मीं गीर्वाण है, आकाश की नीलिमा काजल है, [ तथा ] दक्षिण वैरिणों की पौत ई पतंग ।”

वद्यपि यहाँ रूपक वाक्यार्थ में व्याप्त है तथापि यहाँ चमत्कार समस्तवस्तुविषयत्वकृत ही है ।

विनर्शः—समासगत और वाक्यगत भेद रुद्र ने बतलाए है । दण्डी और वाग्भट ने भी इसकी चर्चा की है ।

[ सर्वस्व ]

क्रमेण यथा—

दासे कृतागसि भवत्युचितः प्रभूणां

पादप्रहार इति सुन्दरि नास्मि दृये ।

उद्यत्कठोरपुलकाङ्कुरकण्टकाग्रै-

र्यत्खिद्यते तव पदं ननु सा व्यथा मे ॥’

‘पीयूषप्रसृतिर्नवा मखभुजां दात्रं तमोलूनये

स्वर्गङ्गाचिमनस्कफोकयदनलस्ता मृणालीलता ।

द्विर्भावः स्मरकांर्मुकस्य किमपि प्राणेश्वरीसागसा-

माशातन्तुरुदञ्चति प्रतिपदि प्रालेयभानोस्तनुः ॥’

‘विस्तारशालिनि नभस्तलपत्रपात्रे

कुन्दोज्ज्वलप्रभ-भं संचयभूरिभक्तम् ।

गङ्गातरङ्गघनमाहिपदुग्धदिग्धं

जग्धं मया नरपते कलिकालकर्णं ॥’

‘आभाति ते क्षितिभृतः क्षणदाप्रभेयं

निस्त्रिशामांसलतमालवनान्तलेखा ।

इन्दुत्विपो युधि हठेन तवारिकीर्ती-

रानीय यत्र रमते तरुणः प्रतापः ॥’

क्षितिभृत इत्यत्र दिलष्टं पदम् । परम्परितम्—

‘किं पद्मस्य रुचिं न हन्ति नयनानन्दं विधत्ते न वा

वृद्धिं वा अपक्रेतनस्य कुरुते नालोकमात्रेण किम् ।

वक्त्रेन्दौ तव सत्ययं यदपरः शीतांशुरभ्युद्गतो

दर्पः स्यादमृतेन चेदिह तदप्यस्त्येव विम्व्याधरे ॥’

अत्र वक्त्रेन्दुरूपणहेतुकमधरासृतस्य पीयूषेण शिल्पशब्द-रूपणम् ।

‘विद्वन्मानसहंस वैरिकमलासंकोचदीतद्युते

दुर्गामार्गणनीललोहित समित्स्वीकारवैश्वानर ।

सत्यप्रीतिविधानदक्ष विजयप्राग्भावभीम प्रभो

साम्राज्यं चरवीर वत्सरशतं वैरिश्चमुच्चैः क्रियाः ॥'

अत्र त्वमेव हंस इत्यारोपणपूर्वको मानसमेव मानसमित्याद्यारोप इति शिल्पशब्दं मालापरम्परितम् ।

'यामि मनोवाक्कायैः शरणं करुणात्मकं जगन्नाथम् ।

जन्मजरामरणार्णवतरणतरण्डं हराङ्घ्रियुगम् ॥'

'पर्यङ्को राजलक्ष्म्या हरितमणिमयः पौरुषाब्धेस्तरङ्गो

भग्नप्रत्यर्धिबंधोल्बणविजयकरिस्त्यानदानाम्बुपट्टः ।

सङ्ग्रामप्रासताम्यन्मुरलपतियशोहंसनीलाम्बुवाहः

खड्गः क्षमासौविदलः समिति विजयते मालवाखण्डलस्य ॥'

अत्र क्षमासौविदल इति परम्परितमप्येकदेशविवर्ति । एवमाद्योऽप्ये-  
ऽपि भेदा लेशतः सूचिता एव ।

[ वृत्ति ] क्रम से उदाहरण—

[ १ = निरवयव शुद्ध ]—"अक्षय्य करने पर स्वामी का सेवक पर पादप्रहार उचित ही होता है इत्यदि हे सुन्दरि ! [ तुम्हारे पादप्रहार करने पर भी ] मुझे कोई खेद नहीं है, व्यथा-  
मुझे इसको है कि 'तुम्हारे सुकोमल चरण में मेरा एडोर 'रोमकण्टक' न टूट गया हो ।"

[ यहाँ पूरे वाक्यार्थ में एकमात्र रोम पर एकमात्र कण्टक का आरोप है अतः उसमें अवयवावयव-  
विभाव न होने से निरवयवत्व तथा शुद्धरूपत्व भी है, ] ।

[ वृत्ति ] [ २ = निरवयव मालारूप यथा ]—"प्रतिपद तिथि को शौनकिरण चन्द्रमा का विन्व उदित हो रहा है । यह देववार्मा के लिए नवीन अग्रममरां पसो ( अङ्गलि ) है, अन्धकार काटने के लिए यह दाँवरा है, स्वर्ग की गंगा में उदाम बड़े चक्रवाक की चौंच से टपकी मृगाल लता है, काम का दूधम-भगुप है, और प्राणेश्वरी के प्रति सावराथ व्यक्तियों के लिए यह आशा का मन्त्र है ।"

[ यहाँ न तो आरोपविषय चन्द्र में उसके अग चन्द्रिका आदि का वर्णन है और न आरोप्य-  
माण पीयूषप्रसृति आदि में ही । अतः यह निरवयव है । साथ ही यहाँ आरोप का विषय एक ही है चन्द्र । जब कि आरोप्यमाण अनेक हैं पीयूषप्रसृति आदि, अतः यह मालारूप है । फलतः निरवयव मालारूपक यहाँ संगत है ] । अनेक आरोपविषयों में से एक एक पर अनेक के आरोप का उदाहरण टीका में देखिए ]

[ ३ = सावयव समस्तवस्तुविषय रूपक यथा किसी भूत विद्वान् को सहायता के लिए राजा से उक्ति ] ।

॥ उलरूपी भंतों  
या है ॥'

१, गगनरग का आरोप है । वे भी आकाश सभ्या के अग हैं । अतः विषय और विषयी ( आरोप्यमाण ) दोनों साग हैं और उनके समी अगों का अनेक बतलाने में यहाँ समस्तवस्तुविषय सावयव रूपक हुआ । ]

[ ४ = सावयव एकदेशविवर्ती रूपक = ]

[ वृत्ति ] 'आप क्षितिमृत् [ राजा, पर्वत ] हैं। आप को जो तलवार है वह 'रात्रि तुल्य श्याम-कान्ति की मांसल ( वनी ) तमालद्रुमरात्रि है, जहाँ आपका तरुण प्रताप शत्रुओं की चन्द्रतुल्यकान्ति वालों कीर्तियों को बलात् ले जाता है और उनके साथ रमण करता है।' यहाँ 'क्षितिमृत्' यह पद श्लिष्ट है।

[ यहाँ राजा पर पर्वत का और राजा की तलवार पर पर्वत की तमालमाला का तो आरोप शब्द है किन्तु शत्रुओं की कीर्ति पर अपहृत सुन्दरियों का आरोप शब्द नहीं है वह अर्थतः प्रतीत होता है। अतः यहाँ एकदेशविवर्त्ता सावयव रूपक है। वस्तुतः यहाँ समासोक्ति है। सावयव रूपक केवल राजा और पर्वत तक सीमित है उसमें एकदेशविवर्त्तता नहीं है। जिस कीर्ति में वह है वह समासोक्तिस्थल है। 'तरुण' शब्द में श्लेष समासोक्ति में शिथिलता ला देता है। उधर 'क्षणदा-प्रभा' और 'इन्दुत्विपः' में उपमा भी है। अतः यह उदाहरण संकरालंकार का माना जाना उचित है। विमर्शनीकार ने इसीश्लिष्ट सावयव एकदेशविवर्त्ता रूपक के लिये नवीन उदाहरण दिया है—“भवसंविदः” ]

[ वृत्ति ] [ ५ = ] परम्परित =

“तुन्दारा मुखरूपी चन्द्र। क्या पद्म की कान्ति नष्ट नहीं करता और क्या आंखों को आनन्द नहीं देता, या आलोक [ दर्शन = प्रकाश ] मात्र से कामदेव को नहीं बड़ा देता ? जो तुन्दारे मुख-रूपी चन्द्रमा के रहते हुए यह दूसरा चन्द्र उदित हो रहा है, यदि [ इसे ] अमृत का दर्प हो तो वह भी तो विन्वफलतुल्य अपरयुक्त इस [ मुख ] में है ही।” यहाँ मुख पर चन्द्र के रूपण [आरोप] के आधार पर अपरानृत पर पंचयुष का [ अमृत-रस ] श्लिष्ट पद द्वारा रूपण किया गया है।

[ यहाँ अमृत शब्द अपर का भी वाचक है ऐसा मानकर श्लेष स्वीकार किया गया है, किन्तु कोषों में अमृत का अपर अर्थ नहीं मिलता। मुख पर चन्द्र का आरोप न होता तो अपर पर अमृत का आरोप न हो सकता, अतः एक रूपक दूसरे का कारण होने से यहाँ श्लिष्ट परम्परित है किन्तु आरोप्यमाण की संख्या जनेक नहीं है अतः यहाँ केवल श्लिष्ट परम्परित रूपक हुआ ]

[ ६ = माला श्लिष्टपरम्परित = ]—

[ वृ० ] “हे प्रभो ! आप मल्ला के सौ वर्षों तक उच्च साम्राज्य करें। आप विद्वन्मानस के हंस हैं, वैरिकमलासंकोच के लिए सूर्य हैं, दुर्गामार्गण के लिए शंकर हैं, समित्वांकार के लिए अग्नि हैं। सत्यप्रीति में दक्ष हैं, विजयप्राग्भाव के लिए भीम हैं और उत्कृष्ट वीर हैं।”

यहाँ 'तुन्ही हंस हो' इत्यादि जो आरोपण [ आरोप, रूपक ] हैं उन्हीं के आधार पर “मानस ही मानस है” इत्यादि आरोप होते हैं, अतः श्लिष्ट शब्दों से युक्त माला-परम्परित [ रूपक ] है।

[ मानस = मन तथा मानस सरोवर; कमलासंकोच = शत्रुपक्ष में कमला = लक्ष्मी का संकोच और सूर्य पक्ष में कमल का असंकोच। दुर्गामार्गण = राजपक्ष में दुर्गों का अमार्गण = न खोजना, शिवपक्ष में दुर्गा = सती का मार्गण खोजना, समित्वा = युद्ध और समिधा; सत्यप्रीति = राजपक्ष में सत्य पर प्रीति और दक्षप्रजापति के पक्ष में सती की अप्रीति; विजयप्राग्भाव = राजपक्ष में = विजय = जीत उसका प्राग्भाव पहले से ही रहना; भीमसेन पक्ष में विजय = अर्जुन वससे प्राग्भाव = प्राक् पहले हुआ है भाव = उत्पत्ति जिसकी, भीम अर्जुन से बड़ा था। इस प्रकार विद्वानों के चित्तरूपी मानस पर मानस-सरोवररूपी मानस का आरोप किया गया, तब राजा पर हंस का आरोप हो सका। इसी प्रकार वैरियों की कमला का जो संकोच एतत्स्वरूप जो कमलासंकोच उस पर 'कमलों का असंकोच' एतत्स्वरूप कमलासंकोच का आरोप होने पर राजा पर सूर्य का आरोप हो सका, दुर्ग का अमार्गण एतत्स्वरूप दुर्गामार्गण पर दुर्गों का मार्गण एतत्स्वरूप दुर्गामार्गण का आरोप

होनेसे राजा पर शिव का आरोप हुआ, युद्धरूपी समिध पर समिधारूपी समिध का आरोप करने पर राजा पर अग्नि का आरोप हुआ, 'सत्य पर प्रीति' एतत्स्वरूप सत्यप्रीति पर 'सती पर अग्नि' एतत्स्वरूप सत्यप्रीति का आरोप करने पर राजा पर दक्षप्रजापति का आरोप हुआ तथा जीत रूपा विजय के ऊपर अर्जुन रूपा विजय का आरोप होने से राजा पर भीम का आरोप सम्भव हुआ। इनमें हेतुभूत आरोपों में विषय और विषयी का सादृश्य 'एकशब्दवाच्यत्व'—रूपा मांगरण धर्म से हुआ। एकशब्दता का अर्थ है शब्दों की वर्णानुपूर्वी का अभिन्न होना। मानस, कमलासकीच दुर्गामार्ग, समिध, सत्यप्रीति, विजय ऐसे ही शब्द हैं जिनमें 'म् + आ + न् + थ + म् + अ' इस प्रकार वर्णानुपूर्वी एक है और जो चित्त और तलावविशेष आदि ऊपर निर्दिष्ट विभिन्न अर्थों के वाचक है। एक ही शब्द अिन अनेक अर्थों का ज्ञान कराना है उनमें एक वृत्त में लगे फलों के समान अथवा एक आवरण में छिपी दो दालों के समान अभेद माना जाता है। इस श्लेष को एकवृत्तगतफलद्रव्यन्यायेन हुआ श्लेष कहते हैं। वस्तुतः एकत्रीजगतदलद्रव्यन्यायेन श्लेष कहा जाना चाहिए। यहाँ आरोप विषय एक ही है राजा, किन्तु आरोप के विषयी आरोप्यमाण अनेक हैं इस, सूर्य आदि, अतः यह रूपक मालास्वरूप हुआ। फलतः इसे मालादिलिष्ट परम्परितरूपक कहना ठीक है ] [ ७ = अदिलिष्ट = केवल परम्परित = ]—

[ वृत्ति ] 'मैं मन, वाणी और शरीर से भगवान् शंकर के चरण युगल को शरण में जाना हूँ जो करणात्मक हैं, जगत् के प्रभु हैं और जन्म, जरा, मृत्यु रूपी समुद्र से पार उतारने वाले तरण्ट = नौका हैं।'

[ यहाँ जन्म जरा मृत्यु पर समुद्र का आरोप शिव चरणों पर नौका के आरोप का कारण है, आरोप की संख्या एक ही है और यहाँ श्लेष नहीं है अतः अदिलिष्ट केवल परम्परित हुआ ] [ ८ = अदिलिष्ट मालापरम्परित = ]—

[ वृत्ति ] "मालवेन्द्र का खट्वा युद्धमथल में सर्वोत्कृष्ट है। वह राजलक्ष्मी का मरकत या इन्द्र-मणि का बना पत्थ है, पौरपसमुद्र का तरण है, नष्ट शत्रुजल पर विजय रूपी हाथी की [ मद से ] सराबोर यत्नपट्टी [ दानाम्बु पट्ट ] है, युद्धभय में धराराप सुरल देश के स्वामी के यशरूपा इस के लिए नीलमेघ है और पृथिवीरूपी पट रानी के लिए कचुकी है।'

यहाँ "ह्रस्वामीविदल" पद में रूपक परम्परित होने हुए भी एकदेशविवर्ति है [ ह्रस्व पर रानी का आरोप शब्द नहीं आर्थ है ] ऐसे और भा भेद अंशतः सूचित कर ही दिए गए हैं। [ यह श्लेष्य में भी होता है, उमके उदाहरण आगे दिए जायेंगे ]।

### विमर्शिनी

क्रमेणेति यथोद्देशम् । द्विर्भावः स्मरकामुंकर्येत्यत्र च वाक्यार्थपर्यालोचनयेन्द्रो-  
मरकामुंस्वारोपप्रतीतेः कुटिलवाचनेकधर्मनिमित्त सादृश्यमेव संबन्धः । इन्द्रोश्चैकरस्य  
शब्द आरोपा इति मालारूपकम् । अनेकरस्य तु यथा—

'वाहू धालमृणालिके कुचतटी मागिवयहर्म्यं रते-  
मुञ्जाशैलशिला नितम्बफलक हासः सुवानिर्जर ।  
वाचः कोकिलहृजितानि चिहुराश्रेनोभ्वश्चामरं  
तस्यास्त्रस्तपुरङ्गशावकदश किं किं न लोकोत्तरम् ॥'

अत्रानेकेषामनेकारोपाद्गुणकमाला । इयं च श्लेषनिबन्धनार्थिं दर्शयते । यथा—  
'नेत्रे पुष्करसोदरे मधुमती चागी विपाशा मति-  
श्चेतो याति नदीनता कलयते शोणत्वमस्याधरः ।

चारित्रं ननु पापसूदनमहो मामेप तीर्थाश्रयः

स्नातुं बाञ्छति भूपतिः परमितीवोष्णोदकं वल्गति ॥'

अत्रानेकेपां श्लिष्टा अनेक आरोपिता इति श्लिष्टार्थरूपकमाला ।

आभातीत्यत्र समासोक्तिमन्ये मन्यन्त इत्युदाहरणान्तरेणोदाह्रियते । यथा—

'भवत्संविदपुष्पश्रियमनुपमामोदमधुरां समुच्चिन्वन्नानाविषयवनराजीविकसिताम् ।

भवोद्याने भक्त्या तव सह विशेषेणोत्सितया विहृतुं व्यग्रः स्यामनुस्तविवेकप्रियसखः ॥'

भक्तेर्नायिकारोपस्याशाब्दत्वादेकदेशविवर्तित्वम् ।

'पीयूषस्याधरामृतेन श्लिष्टशब्दनिरूपणम्' इति लेखककहिरतोऽयमपपाठो ज्ञेयः ।

अधरामृतस्य हि पीयूषेण निरूपणमत्र स्थितम् । अतश्च 'अधरामृतस्य पीयूषेण श्लिष्ट-

शब्दनिरूपणम्' इति पाठो ग्राह्यः । अत्र च पीयूषवदमृतशब्दस्याधररसावाचकत्वमन्ये

मन्यन्त इत्युदाहरणान्तरमुदाह्रियते । यथा—

'अलौकिकमहालोकप्रकाशितजगत्त्रय । स्तूयते देव सद्दंशमुक्त्वास्त्वं न कैर्भवान् ॥'

अत्र मुक्त्वास्त्वंमित्यारोपपूर्वको वंश एव वंश इत्यारोप इति श्लिष्टशब्दं केवल-  
परम्परितम् ।

विद्वद्विस्थादौ हंसरूपगामाहात्म्यान्मानसरूपेणेति परम्परितम् । एवमर्णवरूपणा

तरण्डारोपस्य हेतुरिति परम्परितम् । पर्यङ्क इत्यत्रैकस्य बहव आरोपा इति मालापरम्परि-

तम् । अनेकस्य तु यथा—

'श्रीः श्रीधरोरःस्थलखेन्दुलेखा श्रीकण्ठकण्ठाभ्रतडिच्च गौरी ।

शक्राक्षिपत्राकरराजहंसी शची च वो यच्छतु मङ्गलानि ॥'

अत्र बहूनामनेकारोपात्परम्परितमाला । एवमादय इति । परम्परितमन्येकदेशविवर्तित्वेषं-

प्रकाराः । सूचिता इति । एतद्व्यदर्शनादेव । ततश्च सावयवं द्विविधमपि श्लिष्टं दृश्यते ।

तत्र समस्तवस्तुविषयं यथा—

'विह्वन्तोठ्ठदलउडं फुरन्तदन्ताकारबहलकेसरपभरम् ।

पहरिसचन्दालोष्टु हसिअं कुमुपुण सुरहिगन्धोग्गारम् ॥' [ सेतुबन्धे ४६ ]

अत्र कुमुदस्य श्लिष्टत्वम् । एकदेशविवर्तितं यथा—

'यच्चारामौक्तिकार्थप्रकरपुलकितं चन्द्रिकाचन्दनाम्भो-

दिग्धं सप्तपिहस्तस्थितकरकपयोधौतमाकाशलिङ्गम् ।

तोयाधारे प्रतीचि च्युतवति दिनकृद्धिम्बनिर्माल्यपद्मे

तस्याचांपुण्डरीकं व्यधित हिमकरं सत्वरं मूर्धनि कालः ॥'

अत्र कालविषये पूजकादिरारोप्यमाणो न शाब्द इत्येकदेशविवर्तित्वम् । तोया-  
धारस्य समुद्रनिर्माणोद्गुरुभोग्ण्डवाचकत्वाच्छ्लिष्टत्वम् ।

क्रमेण = क्रम से अर्थात् जिस क्रम से नाम लिये गए हैं उसी क्रम से । "दिर्भावः स्वरका-

मुंक्तय" = इस स्थल में वाक्यार्थ का विचार करने पर चन्द्रमा पर स्वरकार्मुकत्व के आरोप की

प्रतीति होती है । उसमें कुटिलता आदि अनेक धर्म पर आश्रित सादृश्य ही संबन्ध है । और एक

इन्दु पर अनेक का आरोप है इसलिये वह मालारूपक भी है । अनेक [ पर अनेक के आरोप ] का

उदाहरण यथा— "हरिण के डरे हुए छौने को ली आँखों वाली उस सन्दरी का क्या लोकोत्तर नहीं

है—उसकी बाहें कोमल बाल मुँगाएँ हैं, कुबुदबल रत्नि-ना-मणिज्वलार्थ है, नितम्ब मुक्ताश्लिषिला

है, हाथ सुधानिर्झर है, बोली फोंयल की कूक है और केश काम के चँवर हैं ।" यहाँ अनेकों का

अनेकों पर आरोप होने से श्लिष्टरूपकमाला कहना चाहिए । वह रूपकमाला कहीं श्लेषमूलक भी



क्षोणी है। यथा—“यद् भूपति तोर्यो [ पुण्यस्थान और गुरु, शास्त्र, प्राडिबवाक आदि ] का आशय है। इसके नेत्र पुष्कर [ पुष्करनाम तीर्थ और कमल ] के महोदर हैं, इसकी वागी मधुमती [ ममव है कदमीर में इस नाम का कोई तीर्थ हो, सामान्य अर्थ मिठासयुक्त ] है, इसकी मति विपाशा [ इम नाम की नदी और पाश = उलझ या कुण्ड से रहित ] है, चित्त नदीनता [ नदी का इन स्वामी = समुद्र तद्भाव तथा अदीनता को प्राप्त होता है, इसका अथर शोणत्व [ शोणनद तद्रूपता और लज्जारे ] को धारण करता है, इसका चारित्र्य पापमृदन [ पापनाशक ] है। परन्तु आश्चर्य है कि यह नहाने के लिए मेरे पास आ रहा है, केवल इसीलिए यह उभय जल निकल रहा है।” इसमें अनेक पर अनेक श्लिष्टों का आरोप है इसलिए यह श्लिष्टार्थरूपकमाला है।

‘आभाति ते’ इस पद्य में दूसरे लोग समासोक्ति मानते हैं। इसलिए इसके लिए दूसरा उदाहरण प्रस्तुत किया जाना है—“सत्सारूपी उद्यान में विवेकम्पी प्रियमित्र को साथ ले मैं नाना-विषयरूपो बनराशि में विकसित और अद्वितीय आमोद [ सुगन्ध तथा आनन्द ] से मधुर आपकी सविदरूपी पुष्पश्री का चयन करते गुण भक्ति के सग विहार करने हेतु कव व्यग्र होऊँगा।” यहाँ भक्ति के ऊपर नायिका का आरोप शब्दत न हो कर अर्थत हुआ है। अत रूपक में यहाँ एक-देशविवर्तित्व हुआ।

[ ‘अत्र वक्त्रेन्दु०’ इत्यादि पदों में ] ‘पीयूषस्य अथराश्रुतेन श्लिष्टशब्दनिरूपणम्’ यह पाठ [ इस ग्रन्थ के ] लिपिकार ने अपने मन से गट लिया समझना चाहिए। यहाँ अथराश्रुत पर पीयूष [ रूपा अमृत ] का निरूपण किया जा रहा है इसलिए “अथराश्रुतस्य पीयूषेण श्लिष्टशब्द-निरूपणम्” यह पाठ ग्राह्य है। इस पद्य में कुछ लोग अमृत शब्द को पीयूष अर्थ का वाचक तो मानते हैं, परन्तु अथरस का वाचक नहीं। अतः हम दूसरा उदाहरण देते हैं—“हे देव, आप सद्वश [ कुल और वंश ] के मुक्तामणि हैं और अलौकिक महान् आलोक से तीनों लोकों को प्रकाशित करने वाले हैं। अतः आपकी स्तुति कौन नहीं करता।” यहाँ राजा पर मुक्तामणि का जो आरोप है उससे “कुलरूपा वंश ही वींसरूपी वंश” इस प्रकार के वंश पर वंश का आरोप ममव होता है, अतः यहाँ श्लिष्ट शब्दपूर्वक हुआ केवल [ अमाला ] परम्परित रूपक है।

‘विद्वन्मानसहंस’ इत्यादि पद्य में इस के आरोप के माहात्म्य से [ विद्वानों के चितरूपी मानस पर ] मानस का आरोप हुआ है, अतः यहाँ भी परम्परितरूपक है [ वस्तुतः मानसरूपक कारण है और हंसरूपक कार्य रूपक है—उद्देश्यविषयमात्र ऐसा मानने पर हो रहित रह सकता है ] इसी प्रकार [ यामि० इत्यादि पद्य में ] अर्णव का आरोप [ शकरचरणा पर ] तरण्ट के आरोप का हेतु है, इसलिए वहाँ भी परम्परितरूपक है। ‘पर्यङ्को राजलक्ष्म्या ०’ पद्य में एक पर अनेक आरोप है, अतः मालापरम्परित हुआ। अनेक पर अनेक के आरोप का उदाहरण यथा—“विष्णु के वभ्ररूपी आकाश की चन्द्रलेखा लक्ष्मी, शिव के कण्ठरूपी मेघ की तडित्ति गौरी तथा इन्द्र के नेत्ररूपी पद्म-सरोवर की राजहंसा शचा आपका मंगल करे।” यहाँ अनेक पर अनेक के आरोप से परम्परित-माला हुई।

एवमाद्यथ- अर्थात् परम्परित भी एकदेश-विवर्ती होता है, इस प्रकार के अन्यभेद।

सूचिता अर्थात् पूर्वोक्त भेदों को दिखलाने दिखलाते हो। इस प्रकार विचार करने पर दोनों प्रकार का सावयव रूपक भी श्लिष्ट होता है। दोनों में से समस्तवस्तुविषय यथा—

[ सेतुवन्ध में कुमुदवानर का वर्णन २१६ ]—

“विषटमानोष्ठदलपुट स्फुरदहन्ताकारवहलकेसरप्रकरम् ।  
प्रहर्षचन्द्रालोके इसित कुमुदेन मुरभिगन्धोद्धारम् ॥”

ग्रहर्ष की चांदनी में कुमुद हंस पड़ा, उसके पंखुदियोंरूपी ओठ खुल गए, दन्त के आकार के बहुत से केसर ( रेशे ) साफ-साफ दिखाई देने लगे तथा सुगन्ध पूर्ण अलेख ( उद्धार ) भी इष्टि-गोचर होने लगा । यहाँ कुमुद शब्द श्लिष्ट है [ यहाँ कुमुदवानर के ऊपर कुमुदपुष्प का आरोप किया जा रहा है ] एकवेशविवर्ती में श्लेष —

“तारारूपी मुक्तामय अर्घ्य से पुलकित, चांदनीरूपी चन्द्रनरस से लिप्त तथा सप्तविमण्डल के धूर्तों में रखे करक ( कमण्डलु और ओले ) के जल से धीत जो आकाशरूपी शिवलिंग है उसपर 'काल' में चन्द्ररूपी पूजापुण्डरीक चढाया जब सूर्यरूपी निर्मात्यपथ पश्चिम दिशा में स्थित तोया-धार ( समुद्र जलपात्र ) में जा पड़ा ।

यहाँ कालरूपी विषय के ऊपर पूजा करने वाले आदि ( ? ) का आरोप शब्दतः नहीं हुआ अतः यह एकदेशविवर्ती हुआ । तोयाधार शब्द समुद्र और निर्मात्य के लिए निश्चित जलपात्र का वाचक होने से श्लिष्ट है [ करक शब्द भी श्लिष्ट है । 'करको दाडिमे पक्षिमेदे हस्तो कमण्डली । लट्वाकरंजयोर्मेषोपले च'—बनेकार्थतंत्रग्रह के हस्त वाचक के अनुसार उसका अर्थ कमण्डलु भी है । श्ती पद में हाथ के लिए हस्त शब्द का प्रयोग होने से करकका दूसरा अर्थ वर्षांपल = वर्षात ओले लेना होगा । तब करक शब्दवाच्यत्वेन अभिन्न 'कमण्डलु रूपी ओले के जल से' ऐसा अर्थ निकाला जावेगा ] ।

### विमर्शिनी

क्वचिच्चाभेदमेव द्रवयितुं विषयिणो निषेधपूर्वमारोप्यमाणत्वेन तदीयस्य वा भेद-हेतोर्धर्मस्य हानिकल्पनेनाधिक्येन वा दृढारोपत्वेनापीदृश्यते । क्रमेण यथा—

‘कलिप्रिया शश्वदपालिताज्ञावशां गुरुज्ञातिषु दर्शयन्ती ।

जाया निजा या ननु सैव कृत्या कृत्या न कृत्या सरलस्य धार्मिः ॥’

अत्र कृत्या निषेधपूर्वं जायायामारोपिता । तन्निषेधेन हि जायाया कृत्यया द्वाढ्येन साम्यं प्रतीयते । कृत्या तथा न स्वकर्मणि व्याप्रियते यथेयं तत्कर्मणीति ह्यत्र वाक्यार्थः । अत्र च यदन्ये विशेषालंकारमाहुस्तदभेदालंकारनिराकरणदेव निराकृतमिति न पुनरायस्यते । हान्या यथा—

‘वनेचराणां वनितासखानां दरीगृहोत्सङ्गनिपक्तभासः ।

भवन्ति यत्रौपधयो रजन्यामतलपूराः सुरतप्रदीपाः ॥’

अत्रातलपूरेः हानिकल्पनम् । आधिक्येन यथा—

‘तुरीयो ह्येष मेभ्योऽग्निराम्नायः पञ्चमोऽपि वा ।

अपि वा जंगमं तीर्थं धर्मो वा मूर्तिसंचरः ॥’

अत्र तुरीयत्वादेर्धर्मस्याधिक्यम् ।

‘दृढतरनिवद्धसुष्टेः कोपनिपण्णस्य सहजमलिनस्य ।

कृपणस्य कृपाणस्य च केवलमाकारतो भेदः ॥’

इत्यत्रापि दृढारोपमेव रूपकं ज्ञेयम् । अत्र हि कृपाणस्येति समुच्चीयमानत्वेन निर्वेशाच्छब्दस्यारोपस्याप्रतीतेरप्याकारमात्रेण भेदस्योक्तेर्विक्यार्थपर्यालोचनमाहात्म्या-त्परिशिष्टमस्तधर्मान्तरसद्भावभ्यनुज्ञानात्पर्यवसाने द्वाढ्येन विषयविषयिणोरभेदप्रति-पत्तिः । सैव च रूपकसत्त्वमिति पूर्वमेवोक्तम् । अन्येऽपि भेदाः स्वयमेवाभ्यूह्योदाहार्याः ।

कहाँ कहीं केवल अभेद का ही इद करने के लिए विषयी का आरोप निषेधपूर्वक किया जाता है । कहीं कहीं उसी विषयी के उस धर्म की हानि या अधिकता दिखलाकर आरोप किया जाता

हे जो [ अभेद के विकृद् ] भेदक होता है । कम से उदाहरण यथा—संधि और धर्मप्रिय व्यक्ति की कलहप्रिय, कमीकमी आशा न पालने वाली, बलोंकी सदा अवज्ञा करने वाली अपना जो स्त्रीही वही वस्तुन कृत्या है, कृत्या कृत्या नहीं। यहाँ जाया पर कृत्या का आरोप निषेधपूर्वक किया गया है । उमके निषेध मे जाया पर कृत्या का अभेद और अधिक दृढता के माध प्रतीत होना है । इस पद्य का वाक्यार्थ है कि 'अपने कार्य में कृत्या उतनी तत्परता नहा दिग्गलती जितनी उमके कार्य में कलंशा पत्नी। यहाँ [शोभाकर आदि] अन्य विद्वानों ने जो एक विशेष अलङ्कार माना है उसका निराकरण हमने [ उपमा के प्रकरण में ] अभेदालङ्कार के निराकरण द्वारा ही कर दिया है, अत अब पुन. परिग्रम नहीं करते । [ भेदक धर्म की ] हानि के द्वारा [ अभेदपुष्टि का उदाहरण ] यथा—“जिम [ हिम-गिरि ] पर गुहाग्रहों की गोद में लगी रोशनी वाली ओषधियाँ ही मपत्नीक बनेचरों के लिप रति में तैलापेशारहित सुरतप्रदीप का काम किया करती है ।” यहाँ 'अनेलपूर' तैलापेशारहित कहकर हानि की कल्पना की गई है । भेदकधर्म की अधिकता के द्वारा [ अभेदपुष्टि का उदाहरण ] यथा—“यह या तो चतुर्थ यज्ञाग्नि है, या पौंचवा वेद है, या फिर जगम तीर्थ है अथवा शरीर-धारी धर्म !” यहाँ चतुर्थत्व आदि विशेषणों की अधिकता बनलाकर अभेद दिखलाया गया है । “रूपण और कृपाण मं केवल आकार [ स्वरूप तथा 'आ' अक्षर ] मान का भेद रहता है, दोनों ही दृढतरनिवद्धमुष्टि [ मुष्टि = मूठ, मुठ्ठी ] होने हैं, कोपनिषण [ कोप = ग्यान, राजाना ] रहने हैं और स्वभावतः मलिन [ कृष्णवर्ण का, गन्दा ] होते हैं ।” यहाँ भी दृढारोप रूपक ही है । यहाँ कृपाण का निर्देश समुच्चयमान पदार्थ के रूपमें हुआ है, अत [ कृपाण पर ] उसका आरोप शब्दतः प्रतीत नहीं होता, इनने पर भेद केवल आकार मात्र को लेकर बदलाया गया है अतः वाक्यार्थ की विवेचना करने पर दोनों का शेष सभी धर्मों मे युक्त होना प्रतीत होना है । इस प्रकार विषय-विषयी का अभेद अन्त में दृढता द्वारा ही होता है । यह अभेद प्रतीति ही वस्तुतः रूपक का स्वरूप है यह पहले ही कह दिया गया है । ऐमे ही अन्य भेद भी स्वयं आँके जा सकते हैं । [ व्यक्तिविवेककार ने इन पद्य में अभेद को अममव बदलाया है, द्रष्टव्य हिन्द्रीव्यक्तिविवेक पृष्ठ-४१९, अवाच्यवचन दोष ] । [ 'वनेचराणां' तथा 'दृढतरनि०' में अल० रत्नाकरकार ने अभेद नामक एक स्वतन्त्र जलङ्कार माना था ]

[ सर्वस्व ]

इदं वैधर्म्येणापि दृश्यते । यथा -

‘सौजन्याम्बुमरुस्थली सुचरितालेत्यद्युभिसिर्गुण-

ज्योत्स्नारुष्णचतुर्दशी सरलतायोगश्वपुच्छच्छटा ।

यैरेपापि दुराशया कलियुगे राजावली सेविता

तेषां शूलिनि भक्तिमात्रसुलभे सेवा कियत्कौशलम् ॥’

अत्र चारोप्यमाणस्य धर्मित्वादाविष्टलिङ्गसंख्यात्वेऽपि क्वचित्स्वतोऽसंभ-  
वत्संख्यायोगम्यापि विषयसंख्यात्वम् प्रत्येकमारोपात् । यथा—‘क्वचिज्जटा-  
वल्कलावलम्बिनः कपिला दावाग्रयः’ इत्यादौ । न हि कपिलमुनेर्वहुत्वम् ।

‘ध्रिमिररतिमलसहृदयतां प्रलयं मूर्च्छां तम. शरीरसाद्रम् ।

मरणं च जलदभुजगजं प्रसह्य कुर्वते विपं वियोगिनीनाम् ॥’

इत्यत्र नियतसंख्याककार्यविशेषोत्थापितो गरलार्थप्रभावितो विपशब्दे  
श्लेष एव । जलदभुजगजमिति रूपकसाधकमिति पूर्वं सिद्धत्वाभावात् तद्वि-  
यन्वनं विपशब्दे श्लेषशब्दं परम्परितमिति श्लेष एवात्रेत्याहुः ।

[ वृत्ति ] यह [ रूपक ] वैधर्म्य से भी देखा जाता है । यथा—'जो सौजन्यरूपी जल के लिए मरुस्थली है, सुचरितरूपी चित्र के लिए आकाशमिति है, गुणरूपी चन्द्रिका के लिए अंधरे पाख की चौदस है, [ तथा ] सरलता [ सीधेपन ] के लिए कुत्ते की पूँछ है ऐसी इस अत्यन्त दुष्ट चित्तवाली राजावली को भी कलियुग में जिन्होंने किसी भी दुरेपणा में पड़कर सेवा कर ली उनके लिए केवल भक्तिमात्र से सुलभ भगवान् शूलो ( शिव ) की सेवा कितना बड़ा कौशल है ।'

इस [ रूपक ] में आरोग्यमाण पदार्थ धर्मों होता है इस कारण उसमें [ विषय का ] लिंग और संख्या अवश्य ही रखे जाने हैं किन्तु विषय का संख्या भी जो उसमें कभी-कभी स्वभावतः नहीं रहती, उसमें रखी जाती है क्योंकि आरोप करते समय प्रत्येक धर्म का आरोप किया जाता है । जैसे 'कहाँ जटावस्कुल का अवलम्बन करने वाली दावाग्निषों कपिल है ।'—इत्यादि स्थलों में । [ यहाँ 'कपिलाः'—इस प्रकार ] कपिल [ मुनि पक्ष ] में जो बहुत्व है वह स्वामादिक नहीं है । [ वह केवल विषय दावाग्नि के अनुरोध से लाया गया है ] ।

"जलद-भुजग से उत्पन्न विष वियोगियों में भ्रम [ चक्र ] अरुचि आलस्य, शून्यता ( प्रलय ), मूर्च्छा, विषाद, शरीररक्षैथिल्य तथा मृत्यु दरवश उत्पन्न कर रहा है ।"

—यहाँ उन उन गिने गिनाए कार्य [अभि आदि] से कुछ कुछ प्रतीति विषय बनाया गया तथा गरल अर्थ में अधिक प्रभावपूर्ण बनाया गया विषशब्द में जो श्लेष है उसमें 'जलद-भुजग'—में रूपक की सिद्धि होती है अतः [ रूपक के श्लेष से ] पहले न रहने के कारण यहाँ उस [ रूपक ] के आधार पर विष शब्द में श्लेष पद परम्परित रूपक नहीं माना जा सकता, अतः यहाँ श्लेष ही है ऐसा कहा गया है ।

### विमर्शिनी

वैधर्म्यंगापीति । न केवल साधर्म्यैवेत्यर्थः । अस्य च विच्छिन्नविशेषान्तरं दर्शयितुमाह—अत्रेत्यादि । आविष्टलिङ्गत्वेऽपीत्यनेन धर्मिणः स्वरूपमात्रपर्यवसितत्वेऽपि धर्म्यन्तरसंबन्धिनः संख्यात्मनो धर्मान्तरस्यापि स्वीकार इत्याद्येदितम् । असंभवत्संख्यादोगस्येति । यद्यप्येकादिष्ववहारहेतुः संख्येति नीत्या एकस्मिन्नपि द्रव्ये तद्योगः संभवति तथाप्यनेकद्रव्यवर्तिष्ववधिप्रमाणैतदुक्तम् । प्रत्येकमारोगाविति अयमग्निः कपिलोऽयमग्निः कपिल इत्येवंरूपात् । अतश्चारोग्यमागस्य कपिलमुनेर्बहुत्वायोगाद्विषयसंख्यस्वम । श्लिष्टतानि-चन्धनस्य परम्परितस्य श्लेषाद्वैलङ्घ्यं द्योतयितुमाह—अभिभिति । प्रभावित इति । प्रथममेव प्रतीतिगोचरीकृत इत्यर्थः ।

वैधर्म्य से भी अर्थात् केवल साधर्म्य से ही नहीं । इस [ रूपक ] के अन्य प्रकार दिखलाने के लिए कहते हैं—'अत्र' इत्यादि । आविष्टलिङ्गत्वेऽपि ऐसा कहकर ग्रन्थकार यह बतलाना चाहते हैं कि [ आरोग्यमाण ] धर्मों यद्यपि अपने ही रूप में रहता है तथापि उसमें दूसरे धर्मों से सम्बन्धित संख्यारूपी धर्म भी आ जाता है । असंभवत्संख्यायोगस्य 'संख्या एक दो आदि ध्यवहार का हेतु धर्म है' इस नियम के अनुसार एक द्रव्य में भी संख्या रह सकती है तब भी अनेक द्रव्यों में रहने आदि के अभिप्राय से यह कहा । प्रत्येकमारोपात् अर्थात् 'यह अग्नि कपिल है' 'यह अग्नि कपिल है' इस प्रकार के आरंभ से । इसी कारण आरोग्यमाण कपिलमुनि में बहुत्व न होने पर भी उसमें विषय ( दवाग्नि ) की संख्या लाकर बहुत्व दिखलाया गया ।

श्लेषमूलक परम्परित रूपकों का श्लेष से भेद दिखाने के लिए कहते हैं—'अभिभरतिम्' । प्रभावित अर्थात् पहले ही प्रतीतिपथ में अवतीर्ण ।

## विमर्शनी

पूर्व सिद्धत्वाभावादिति । रूपस्य श्लेषहेतुत्वात् । तन्निवन्धनमिति रूपकनिवन्धनम् । इति शब्दो हेतौ । अतश्च श्लेष एवात्रालंकारो न परम्परितं रूपकमित्यत्र तात्पर्यम् । चिन्त्यं चैतत् । यतः श्लेषस्तावद्वाच्ययोर्द्वयोः प्रकृतयोरप्रकृतयोः प्रकृताप्रकृतयोश्च भवति । अत्र च न द्वयोः प्रकृतत्वं नाप्यप्रकृतत्वम् । वर्षासमये जलदस्यैव जलस्य वर्णनीयत्वात् । प्रकृताप्रकृतयोश्च विशेषणसाम्य एव श्लेषो भवति इह तु विशेष्यस्यापि साम्यमिति शब्दशक्युत्थितस्य ध्वनेरथ विषयो न श्लेषस्य । अतश्च नात्र श्लेषालंकारः । नापि ध्वनिः । जलदभुजगजमिति रूपकमाहात्म्याद्युद्देशवत्या गरलार्थस्याभिधानात् । एवमत्र श्लेषशब्दनिवन्धनं [ रूपकमेवालंकारः ] जलदभुजगजमिति रूपकान्तरेणापि गरलार्थो यदि प्रतीयते तस्य ध्वनेर्विषयः स्यादित्युक्तम् । स्थिते तु जलदभुजगजमिति रूपके तन्माहात्म्यादेव विपक्षत्वे श्लेषशब्दनिवन्धनं रूपकम् । अन्यथा हि जलदभुजगजमिति रूपकं व्यर्थं स्यात् । तेन विना हि गरलार्थं प्रतीयत इत्यल बहुना ।

पूर्व सिद्धत्वाभावात् = पहले से सिद्ध न होने के कारण अर्थात् क्योंकि यहाँ रूपक श्लेषमूलक है । तन्निवन्धनमिति रूपकमूलक । इति शब्द यहाँ हेतुवर्धक है । इसलिये तात्पर्य यह हुआ कि यहाँ श्लेष ही अलंकार है, श्लेषपरंपरित रूपक नहीं ।

किन्तु यह मान्यता शोचनीय है, क्योंकि श्लेष होता है केवल दो वाच्य अर्थों में चाहे वे केवल प्रकृत ही या केवल अप्रकृत अथवा प्रकृताप्रकृत दोनों । हम [ भ्रमिमरनि० ] पद्य में न तो दोनों प्रकृत ही हैं न अप्रकृत ही, क्योंकि वर्षा काल में जैसे बादलों का वर्णन किया जाता है वैसे ही पानी का भी [ अतः यदि एक प्रकृत है तो दूसरा अप्रकृत और यदि एक अप्रकृत है तो दूसरा प्रकृत ] प्रकृत और अप्रकृत दोनों का श्लेष केवल वहीं होता है जहाँ केवल विशेषणों में समानता होती है [ यथा समासोक्ति में ] किन्तु इस पद्य में विशेष्यों में भी समानता है । इसलिये यह पद्य शब्दशक्ति मूलक ध्वनि का स्थल [ हो सकता है कि मम्मट ने भी माना है ] है, श्लेष का नहीं । इसलिये यहाँ श्लेषालंकार नहीं है । [ वस्तुतः ] यहाँ ध्वनि भा नहीं है । इसलिये कि 'जलद-भुजग-अ' पद में जो रूपक हुआ है उसके दल से गरल-रूपी अर्थ शब्दशक्ति [ अभिधा ] से ही प्रतीत हो जाता है । इस प्रकार यहाँ श्लेषशब्दमूलक रूपक ही अलंकार है । हाँ यदि यहाँ 'जलद-भुजग' के रूपक के द्वारा भी गरल रूपी अर्थ [ अभिधा द्वारा कथित न होकर ] व्यञ्जना द्वारा ही प्रतीत हो तो उसे ध्वनि का विषय कहा जा सकेगा । किन्तु जब यहाँ जलदभुजगप्र-पद में रूपक ही रहा है तब उसी के आधार पर विपक्ष में भी श्लेषशब्दमूलक रूपक ही मान्य होगा । ऐसा न मानने पर 'जलदभुजग' का रूपक निरर्थक ठहरेगा । क्योंकि गरल-रूपी अर्थ की प्रतीति उस रूपक के विना ही [ व्यञ्जन द्वारा ] प्रतीत हो जाती है । अस्तु,—अधिक विवेचन से कोर लाम नहीं ।

विमर्श.—प्रकृताप्रकृतनिष्ठ श्लेष भी श्लेषालंकार होता है यदि यह मान लिया जाय तो समासोक्ति का उच्छेद हो जाता है । उसी में केवल विशेषणों की उभयार्थकता के कारण अप्रकृत अर्थ की प्रतीति होनी है । अप्रकृतार्थ की प्रतीति भी विशेषणशब्द व्यञ्जना द्वारा कराने हैं, अतः यहाँ दोनों अर्थ वाच्य नहीं होने । इस प्रकार दो वाच्य अर्थों में ही श्लेष मानकर प्रकृताप्रकृतोभय में भी एक साथ श्लेष मान लेना असम्भव है, क्योंकि अप्रकृत अर्थ यहाँ कभी भी वाच्य नहीं होगा जहाँ उसके साथ प्रकृत अर्थ रहेगा । यहाँ अभिधा केवल प्रकृत अर्थ में सीमित रहेगा । यदि दोनों अर्थों की प्रतीति हो जाने पर प्रकृतत्व और अप्रकृतत्व की प्रतीति मानो जाय और प्रकृतत्व की प्रतीति को अप्रकृतार्थ की अभिधा में बाधक न माना जाय तो उस प्राथमिक प्रतीति

में श्लेष तो माना जा सकेगा, किन्तु उसे अलंकार नहीं कहा जा सकेगा क्योंकि वहाँ चमत्कार समासोक्ति से ही होगा, अतः उसी में अलंकारत्व माना जायगा। टीकाकार ने प्रकृताप्रकृतोभय में कदाचित् श्लेषालंकार स्वीकार न कर केवल श्लेष स्वीकार किया है। यदि ऐसा है तो वह मान्य है।

दशरूपक के टीकाकार धनिक ने 'उदाभोक्तलिकान्' इत्यादि उपमापद्य में समासोक्ति स्वीकार की है और अप्रस्तुतप्रशंसा के 'विनात्यभ्युदितेन' पद्य में मम्मट ने भी। वहाँ समासोक्तिपद केवल तुल्यविशेषणमात्र के लिए प्रयुक्त किया गया माना जाता है। अलंकारत्व उपमा और अप्रस्तुतप्रशंसा में ही माना जाता है। इस प्रकार समासोक्ति में भी श्लेष का अर्थ वहाँ पूर्व-विश्लेषित एकद्वन्द्वगतफलद्वयव्यायेन द्वयर्थकतामात्र या दोअर्थों का आपस में चिपटे रहना ही मानना होगा। प्राचीन आचार्यों ने श्लेष को महत्त्व दिया है और अलंकारान्तरस्थलों में भी उसी को अलंकार माना है, किन्तु वह नहीं कहा जा सकता कि विमर्शिनीकार जहाँ के अनुसार विवेचन कर रहे हैं, क्योंकि प्राचीनों के इस मत का मम्मट ने नवम उल्लास में भलीभाँति खण्डन कर दिया है और विमर्शिनीकार जहाँ के अनुयायी हैं, किन्तु आगे स्वयं अलंकारसर्वस्वकार ने भी प्रकृताप्रकृतोभयगत श्लेष स्वीकार किया है। टीकाकार ने जहाँ के अनुसार वहाँ श्लेषविवेचन किया है।

**रूपक का इतिहास :-**

**भरतमुनि** = "स्वविकल्पेन रचितं तुल्यावयवलक्षणम्।

किंचित्सादृश्यसंपन्नं यद्वरूपं रूपकं तु तत् ॥ १६ ॥ ५६ ॥

अपने [ उपमान के ] रूप से निरूपित जो उपमेय का रूप वही रूपक होता है। उसके दो भेद होते हैं सांग [ तुल्यावयव ] और एकदेशविधत्ता [ किंचित्सादृश्य ]।

**उदाहरण** = "पद्माननास्ताः कुमुदप्रभासा विकाशनीलौत्पलवारुनेत्राः।

वापीस्त्रियो हंसकुलैः स्वनङ्गिर्विरेजुरन्योन्यमिवालपन्त्यः ॥'

**भामह** = 'उपमानेन यत् तत्त्वमुपमेयस्य रूप्यते।

गुणानां समतां दृष्ट्वा रूपकं नाम तद्विदुः ॥ २। २१ ॥

समस्तवस्तुविषयमेकदेशविधत्ति च।

द्विधा रूपकमुद्दिष्टमेतत् ..... ॥ २। २२ ॥'

गुणों की समता देखकर उपमेय का जो उपमान के साथ अभेद या तादृश्य बतलाया जाता है उसे रूपक कहा गया है। यह दो प्रकार का होता है १—समस्त वस्तुविषय और २—एकदेश-विधत्ता।

**वामन** = 'उपमानेनोपमेयस्य गुणसाम्यात् तत्त्वारोपो रूपकम्'। ४। ३। ६।

'गुणों के साम्य से उपमेय का जो उपमान के साथ अभेद वही रूपक।'

**उद्भट** = 'श्रुत्या सन्नन्धविरहात् यत् पदेन पदान्तरम्।

गुणवृत्तिप्रधानेन युज्यते रूपकं तु तत्' ॥ १। ११ ॥

अभिधाद्वारा सन्नन्ध न ही सकने पर लक्षणाद्वारा पद का दूसरे पद के जो संबन्धित होता है वही रूपक है। भेद =

"बन्धस्तस्य यतः श्रुत्या श्रुत्यर्थभ्यां च तेन तत्।

समस्तवस्तुविषयमेकदेशविधत्ति च ॥ १। १२ ॥

समस्तवस्तुविषयं मालारूपकमुच्यते।

यद् एकदेशवृत्तिं त्याज्य पररूपेण रूपगात्" ॥ १३ ॥

यह या तो पूरा का पूरा शब्द द्वारा ही प्रतिपादित रहता है या तो अशूनः शब्द और अशतः अर्थ द्वारा इस कारण इसके क्रमशः दो भेद हो जाने हैं । समस्तवस्तु विषय तथा एकदेशविवर्त्ती । समस्तवस्तुविषय को मालारूपक भी कहा जाता है । एकदेशविवर्त्ती रूपक केवल एक स्थान में उपमान के स्पष्ट उल्लेख न होने से होता है । कारिका में आप "एकदेशवृत्ति"—शब्द का विग्रह प्रतीहारेन्दुराज ने इस प्रकार किया है—“एकदा अन्यदा ईश. प्रभविष्णुयोऽपि वाक्यार्थः तदवृत्तित्वं रूपकस्याभिमतम् ।”

अर्थात् एकदा = एकवार ईश = प्रभावपूर्ण जी वाक्यार्थ उसमें वृत्ति = रहने वाला रूपक । यह एक विचित्र व्याख्या है । यदा ओ गुणवृत्ति शब्द आया है उसका अर्थ गौर्गा सारोपा लक्षणा है । [ ३० काव्यप्रकाश उल्लास-२ ] ।

रुद्रट = 'यत्र गुणानां साम्ये सत्सुपमानोपमेयोरभिदा ।

अविवक्षितसामान्या कल्प्यत इति रूपकं प्रथमम् ॥ ८ । ३८ ॥

उपसर्जनोपमेयकृत्वा तु समासमेतयोहमयो ।

यत्तु प्रयुज्यते तद् रूपकमन्यत् समासोक्तम् ॥ ८ । ४० ॥

सावयव निरवयव सकोर्णं चेति भिन्नं भूत् ।

द्वयमपि पुनर्द्विभैतत् ममन्तविषयैकदेशिनया ॥ ४१ ॥

जहाँ साम्य हो और उसके आधार पर उपमान तथा उपमेय का जानिनिर्पेक्ष [ अविवक्षित सामान्य ] अभेद वही रूपक कहलाता है । जहाँ उपमान और उपमेय दोनों का समास होना है और उसमें उपमेय अप्रधान रहता है वह रूपक समासरूपक कहलाता है । इसके सावयव, निरवयव और सकोर्ण ये तीन भेद होते हैं । यह दोनों प्रकार का रूपक समन्तवस्तुविषय और एकदेशी इस प्रकार से पुनः दो दो प्रकार का होता है :

मम्मट = 'तद् रूपकमभेदो य उपमानोपमेययो ।'

समस्तवस्तुविषय श्रौता आरोपिता यदा ॥

श्रौता आर्थाश्च ते यस्मिन्नेकदेशविवर्त्तितत् ।

साङ्गमेतन्निरग तु शुद्ध माला तु पूर्ववत् ॥

नियतारोपणोपायः स्यादारोपः परस्व यत् ।

तत् परम्परितं श्लिष्टे वाचके भेदमात्रे वा ॥

उपमान और उपमेय का अभेद रूपक होता है । वह तीन प्रकार का होता है साङ्ग ( सावयव ), निरग ( निरवयव ) तथा परम्परित । इनमें से साङ्ग दो प्रकार का होता है समस्तवस्तु विषय अर्थात् जिसमें सभी आरोपित पदार्थ शब्दतः कथित होते हैं और एकदेशविवर्त्ती—अर्थात् जिसमें कुछ आरोपित पदार्थ शब्दतः कथित और कुछ अर्थतः प्रतीतिगोचर होने हैं । यह निरग रूपक या तो मालारूप होता है या केवल या शुद्ध परम्परित में एक आरोप दूसरे आरोप का कारण होता है । इसमें कहीं तो उपमान और उपमेय दोनों का कथन किमा एक ही श्लिष्ट पद से होता है, कहीं-कहीं दोनों का पृथक् पृथक् उल्लेख रहता है । दोनों प्रकार का यह या तो मालारूप होता है या केवल या शुद्ध । इस प्रकार रूपक आठ प्रकार का होता है ।

शोभाकर का रूपकनिरूपण विमर्शिनी में आप आरोप के सदर्भ में दिया जा चुका है ।

इस प्रकार मम्मट और अलङ्कारसर्वस्वकार दोनों का रूपकनिरूपण सिद्धान्त एक और अभिन्न है । दण्डी की "उपमेव तिरोभूतभेदा रूपकमिष्यते" यह एक शक्ति यहाँ किमी भी प्रकार से आ गई है । वैसे दण्डी का कोई प्रभाव अलङ्कारसर्वस्व में नहीं दिखता ।

संजीविनीकार ने रूपक का विवेचन संग्रहकारिकाओं में इस प्रकार उपनिबद्ध किया है—

“यत् त्वभेदप्रधानं स्यात् साधर्म्यं तद् द्विधा मतम् ।  
 आरोपाध्यवसानाभ्यामारोपे रूपकं भवेत् ॥  
 वस्तुतो भेदसद्भावाद् शक्या नातिशयोक्तिता ।  
 विषयस्यानपहृत्या न वैतत् स्यादपहृतिः ॥  
 ततो विषयिरूपेण रूपवान् विषयो यतः ।  
 आरोपणेन क्रियते तेनैतद् रूपकं मतम् ॥  
 भेदस्तृतीयो यस्त्वत्र परम्परितसंशकः ।  
 साधर्म्येणैव तास्तिद्विवैधर्म्येणापि दृश्यते ॥  
 विषय्यारोप्यते येन प्रतिस्वं विषयेषु तद् ।  
 भवेद् विषयसंख्यात्वं संख्याभेदे विधर्मिणः ॥  
 रूपकं पूर्वसंसिद्धं श्लेषमुत्थापयेद् यदि ।  
 तदा रूपकमेव स्यादन्यथा श्लेष इत्यते ॥”

अभेदप्रधान साधर्म्य दो प्रकार से होता है आरोप और अध्यवसान से । इनमें से आरोप होने पर रूपक होता है । इसमें भेद वस्तुतः रहता है इसलिए इसे अतिशयोक्ति नहीं कहा जा सकता और न अपहृति ही, क्योंकि इसमें विषय छिपाया नहीं जाता । इसलिए क्योंकि इसमें विषयी विषय को आरोप के द्वारा अपने रूप से रूपित करता है अतः यह रूपक माना जाता है । इसका जो तीसरा भेद परम्परित रूपक है उसका निष्पत्ति साधर्म्य के अतिरिक्त वैधर्म्य से भी होती है । इसमें [ विषयों में से एक-एक करके ] प्रत्येक विषय पर विषयी का आरोप होता है अतः उस [ विषयी ] में विषय की संख्या चली आती है और निम्न धर्म से युक्त होने पर भी उस [ विषयी ] में विषय-लिङ्गता का समावेश भी कर दिया जाता है । पहले से निष्पन्न होकर यदि रूपक श्लेष की उद्भावना को जन्म दे तो वहाँ अलंकार रूपक ही माना जावे, इसके विपरीत श्लेष ही अलंकार माना जाता है ।

[ सर्वस्व ]

[ सू० १७ ] आरोप्यमाणस्य प्रकृतोपयोगित्वे परिणामः ।

आरोप्यमाणं रूपके प्रकृतोपयोगित्वाभावात्प्रकृतोपरञ्जकत्वेनैव केव-  
 लेनान्वयं भजते परिणामे तु प्रकृतात्मतया आरोप्यमाणस्योपयोग इति  
 प्रकृतमारोप्यमाणरूपत्वेन परिणमति । आगमानुगमविगमख्यात्यभावात्सां-  
 ख्यीयपरिणामवैलक्षण्यम् । तस्य सामानाधिकरण्यवैयधिकरण्यप्रयोगाद्  
 द्वैविध्यम् । आद्यो यथा—

‘तीर्त्वा भूतेशमौलिकजममरधुनीमात्मना सौ तृतीय-

स्तस्मै सौमित्रिमैत्रीमयमुपहृतवानावरं नाविकाय ।

व्यामग्राह्यस्तनीभिः शवरयुवतिभिः कौतुकोदञ्चदक्षं

कृच्छ्रादन्वीयमानस्त्वरितमथ गिरिं चित्रकूटं प्रतस्थे ॥’



अत्र सौमित्रमैत्री प्रकृता आरोप्यमाणसमानाधिकरणातररूपत्वेन परिणता । आतरस्य मैत्रीरूपतया प्रकृते उपयोगात् । तदत्र यथा समासांकाधारोप्यमाणं प्रकृतोपयोगि तच्चारोपविषयात्मतया तत्र स्थितम्, अत एव तत्र तद्व्यवहारसमारोपः एवमिहापि ज्ञेयम्, केवलं तत्र विषयस्यैव प्रयोगः, विषयिणो गम्यमानत्वात् । इह तु द्वयोःस्यभिधानम्, तादात्म्यात् तु तयोः परिणामित्वम् । द्वितीयो यथा—

अथ पक्वित्रमतामुपेयिवद्भिः मरसैर्वक्रपथाश्रितैर्वचोभिः ।

क्षितिभर्तुरुपायनं चकार प्रथमं तत्परतस्तुरंगमाद्यैः ॥'

राजसंघटने तूपायनमुचितम् । तच्चाथ वचोरूपमिति घचसां व्यधिकरणोपायनरूपत्वेन परिणामः ।

[ वृत्ति ] रूपक में आरोप्यमाण केवल प्रकृत अर्थ का उपरजक [ शोभावर्धक ] होता है, क्योंकि वह प्रकृतोपयोगी नहीं होता । परिणाम में आरोप्यमाण का प्रकृतरूप से उपयोग भी होता है इसलिए प्रकृत यहाँ आरोप्यमाणरूप से परिणत होना है । माख्यशान्म के परिणाम ने यह [ अलंकारभूत ] परिणाम मित्र होता है, इसलिए कि इसमें आगम, अनुगम तथा विगम की रूपाति [ शान ] का अभाव रहता है ।

उम [ परिणाम ] के दो भेद होने हैं । एक वह जिसमें सामानाधिकरण्य का उपयोग किया जाता है और दूसरा वह जिसमें वैयधिकरण्य का । इनमें प्रथम का उदाहरण—

[ एक लक्ष्मण और दूमरी सीताजी इनके अतिरिक्त ] तीसरे स्वयं [ भगवान् राम ] ने शकरजी की भौलमाला देवनदी [ गंगा जी ] को पार किया तथा नाविक [ निपाद गुह ] को लक्ष्मण की मैत्री उत्तरार्ध के रूप में दी । इसके पश्चात् वे अतिशोभ विचरूट गिरि की ओर चले । उस समय उनके पीछे वे कौतूहलवश आँसे उठाकर शबर प्रमदाएँ कठितार्ध से चल रही थी जिनके स्नान दोनों भुजाएँ फैलाने पर पूरी तरह से पकड़े जा सकने थे । [ व्याम = व्यामो दाहो' सकरयोस्त-वोस्तिर्यगन्तरम् = अमरकोष', १औं सहित बाजू की ओर फैले हाथों का फाँसला व्याम ] ।

यहाँ लक्ष्मण की मैत्री प्रकृत है और वह (आतरम् इस प्रकार) उमो की कारकविभक्ति [ द्वितीया ] के साथ प्रयुक्त तथा अभिन्नरूप से विविध आतर के रूप में परिणत हो रही है, क्योंकि आतर का प्रकृत में उपयोग मैत्रीरूप से ही हो सकता है । इस प्रकार जैते समामोक्ति में आरोप्यमाण [ अप्रकृत ] प्रकृतोपयोगी होता है और वह वहाँ आरोपविषयरूप से ही अवस्थित रहता है जिस कारण उम [ आरोप्यमाण अप्रकृत ] के केवल व्यवहार का ही [ प्रकृत व्यवहार पर ] आरोप होता है यही स्थिति यहाँ भी समझनी चाहिए । [ अन्तर ] केवल [ इतना ही रहता है कि ] वहाँ [ समामोक्ति में ] केवल विषयमात्र शब्दत [ अभिभावृत्ति से ] कथित होता है क्योंकि वहाँ विषयो व्यग्य [ व्यञ्जनावृत्ति से कथित ] रहता है, और यहाँ [ परिणाम में ] दोनों ही अभिग द्वारा ही कहे जाते हैं । परिणाम इनमें इसलिए माना जाता कि इनमें तादात्म्य रहता है ।

दूसरा यथा—

'इसके पश्चात् पहले तो परिनाक को प्राप्त तथा सरस किन्तु वक्रोक्तिपूर्ण वचनों से राजा का उपायन [ उपहार ] किया उसके पश्चात् घोड़ों आदि से ।'

यहाँ राजा के मिलने पर उपायन [ भेंट ] देना आवश्यक [ उचित ] होता है । यहाँ वह वचन-रूप है इतलिये यहाँ वचनों का भिन्नविभक्तिक उपायन के रूप से परिणाम है ।

### विमर्शिनी

आरोप्यमाणस्यैत्यादि । आरोप्यारोपविषयभावसाम्येऽपि रूपकाद्वैलक्षण्यं दर्शयन्नेतदेव व्याचष्टे—आरोप्यमाणमित्यादिना । प्रकृतोपरजकत्वेनेति । यदुक्तम्—विषयिणा विषयस्य रूपवतः करणाद्रूपकमिति । प्रकृतात्मतयेति । प्रकृताङ्गतयेत्यर्थः । उपयोग इति । तेन विना प्रकृतार्थस्यानिष्पत्तेः । परिणमतीति । प्रकृतमप्रकृतव्यवहारविशिष्टतयावतिष्ठते । प्रकृतस्वरूपमात्रावस्थाने प्रकरणार्थानिष्पत्तेः । एवमत्र प्रकरणोपयोगित्वाभावादित्यारोप्यमाणस्योपयोग इति चान्वयव्यतिरेकाभ्यां प्रकृतोपयोगित्वस्यासाधारणत्वं दर्शितम् । असाधारणत्वस्य हि धर्मस्य तत्त्वव्यवस्थापकत्वाङ्गणत्वम् । अतश्च नास्त्येवालंकारान्तरेषु प्रकृतोपयोगित्वम् । एवम्—

‘आशास्यमन्यत्पुनरुक्तभूतं श्रेयांसि सर्वाण्यधिजग्मुपस्ते ।

पुत्रं लभस्वात्मगुणानुरूपं भवन्तमीहयं भवतः पितेव ॥’

इत्यत्रोपमायाम्, ‘अत्रान्तरे सरस्वत्यवतरणवार्तामिव कथयितुमवततार मध्यमं लोकमंशुमाली’ इत्यादाद्युत्प्रेक्षायाम्,

‘मन्दमेहकलोहिअससिकलहंसपरिअ(मु)कसलिलोच्छृङ्गम् ।

मरगवसेवालोवरिणिगणणतु हिक्कीणचक्काअञ्जुअम् ॥’

इत्यत्र च रूपके तथान्यालंकारेश्चौचित्यमेव नोपयोगः । औचित्यं हि सिद्धस्य सतः प्रकृतार्थापलम्भकं भवति । उपयोगः पुनः सिद्धावेव प्रकृतार्थहेतुतां भजते इत्यनयोर्महान्भेदः । तथा हि—

‘अनन्वये च शब्दैक्यमौचित्यादानुपङ्गिकम् ।

अस्मिस्तु लाटानुप्रासे साषादेव प्रयोजकम् ॥’

इत्यत्रैकस्यैव शब्दैक्यस्यौचित्योपयोगाभ्यां भेद उक्तः । अतश्चौचित्योपयोगयोर्भेदमजानन्निः सर्वत्रैव प्रकृतोपयोगित्वमन्यैर्यदुक्तं तदयुक्तम् । तस्माद्रूपकान्य एव परिणामः । इह पुनः अप्रकृतार्थस्य प्रकृतार्थारोपमन्तरं सिद्धिरेव न भवतीति प्रकृतोपयोगित्वैव जीवितम् ।

‘दाहोऽग्निः प्रसृतिपचः प्रचयवान् वाप्पः प्रणालोचितः

श्वासाः प्रेङ्खितदीप्रदीपलतिकाः पाण्डिन मग्नं वपुः ।

किं वान्यत्कथयामि रात्रिमखिलां त्वन्मार्गावातायने

हस्तच्छूत्रनिरुद्धचन्द्रमहसस्तस्याः स्थितिर्वर्तते ॥’

अत्र हि च्छूत्रारोपमन्तरेण चन्द्रात्परोध एव न भवतीति तस्य प्रकृतोपयोगित्वम् । अतश्च प्रकृतमप्रकृततया परिणमतीति परिणामः । यद्येवं तर्हि सांख्यीयपरिणामादस्य को विशेष इत्याशङ्क्याह—आगमेत्यादि ।

‘जहद्दमन्तरं पूर्वमुपादत्ते यदा श्यम् ।

तत्त्वादप्रच्युतो धर्मा परिणामः स उच्यते ॥’

इति सांख्यीयपरिणामलक्षणम् । मैत्रीरूपतयेति । मैत्र्यात्मतयेत्यर्थः । उपयोगादिति । आतरमन्तरेण तरणायोगात् । अतश्च प्रकृते यत् आतरस्योपयोगस्ततश्च प्रकृताया एव

मैत्र्यास्तरकार्यकारित्वात्तद्वयवहारारोप । एतदेव दृष्टान्तमुखेनापि प्रतिपादयति—तद्वे-  
त्यादिना । अत्रंति परिणामे । सामानोक्तौ चारोप्यमाणस्य प्रकृतोपयुक्तत्वम् । प्रकृत-  
सिद्धार्थमेवाप्रकृतस्याज्ञेपात् । आरोप्यमाणमपि तत्र प्रकृतावच्छेदकरत्वेन स्थितं न पुन-  
राच्छादकरत्वेनेत्याह—तच्चेत्यादि । अत एवेति । आरोपविषयामकरत्वादेव । तत्रेति  
समासोक्तौ । एतदेव प्रकृते योजयति—एवमित्यादि । यथेवं तर्हि समासोक्तिपरिणामयोः  
को विशेष इत्याशङ्क्याह—केवलमित्यादि । तयोरित्यामिधीयमानयोर्द्वयोः । उचितमिति ।  
उपयुक्तयेति शेषः ।

आरोप्य-आरोपविषयत्वरूपी सम्बन्ध का साम्य रहने पर भी रूपक से मित्रता दिखलाने हुए  
हस्ती [ परिणाम ] की व्याख्या करते हैं = आरोप्यमाणम्० आदि के द्वारा ।

प्रकृतोपरलक्ष्य जैसा कि [ स्वयं ग्रन्थकार ने ही ] कहा है—‘विषयी के द्वारा विषय का  
अपने रूप से युक्त बनाए जाने के कारण रूपक कहलाना है ।’

प्रकृतान्ततया प्रकृत के अग के रूप से = उपयोग क्योंकि उसके बिना प्रकृत अर्थ की निष्पत्ति  
नहीं होती । परिणामति प्रकृत अप्रकृत के व्यवहार से विशिष्ट होकर प्रस्तुत होता है । यदि  
केवल प्रकृतस्वरूपमात्र से प्रस्तुत हो तो प्राकरणिक अर्थ की निष्पत्ति न हो । इस प्रकार यहाँ  
‘प्रकरणोपयोगित्वाभाव’ तथा ‘आरोप्यमाणोपयोग’ दो पदों के द्वारा अन्वयव्यतिरेक दिखलाने  
[ परिणाम में विषयी के ] प्रकृतोपयोगित्व की [ अकारणान्तर से ] असाधारणता दिखलाई । यह  
इसलिए कि जो धर्म असाधारण होता है वह वस्तु का मूलभूत रूप [ तत्त्व ] स्थापित करने वाला  
होता है, अतः उसे उम वस्तु का लक्षण कहा जाता है । इससे यह सिद्ध हुआ कि अन्य अलंकारों  
में प्रकृतोपयोगित्व नहीं रहता । इस प्रकार—[ कौत्स की रघु के प्रति उक्ति = रघुवश मर्ग-५ ]  
‘समी श्रेय प्राप्त कर चुके आपके लिए अन्य कोई चाहने योग्य वस्तु [ उसकी प्राप्ति का आशीर्वाद ]  
निरर्थक होगा । आप आत्मगुणों [ आपके अपने गुण तथा राजा के व्यक्तित्व के लिए ‘आत्ममत्पद’  
नाम से राजशास्त्रों में निर्दिष्ट गुण ] के अनुरूप पुत्र उठा प्रकार पाएँ जिस प्रकार आप के  
पिता ने आप जैसे स्तुत्य पुत्र को पाया है ।’ यहाँ उपमा में, “इम बीच सरस्वती के अवतार की  
बात कहने के लिए मानों, सूर्य मगवान् मत्स्यलोक में अवतीर्ण हुए ।” इत्यादि उपप्रेक्षा में, तथा—

“मन्दरमेतश्चोमित-शशि-कलइसपरिमुक्तसलिलोत्सङ्गम् ।

मरकत-शैवालोररि-निषण्णमीनचक्रवाकयुगम् ॥”

‘मन्दराचलरुपी मेघ से शोभित चन्द्रमारूपी राजहंस शोध चुका है जलरूपी गोद जिनका  
तथा मरकत [ हरितमणि ] रूपी शैवाल पर बैठे हुए हैं चुपचाप मीन और चक्रवाक के जोड़े  
जिसमें ॥’—इम रूपक में और इन्हीं प्रकार अन्य अलंकारों में भी औचित्यमात्र है उपयोग नहीं ।  
औचित्य जो है वह उसी पदार्थ को प्रकृत पदार्थरूप बनाने में सहायक होता है जो पहले से  
सिद्ध रहता है [ जिसे सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं पड़ती ] और जो उपयोग है वह तो  
प्रकृतपदार्थरूप बनाने के लिए [ अप्रकृतपदार्थ की ] सिद्धि [ प्रकृत क्रियान्वय ] में हेतु बनाता है ।  
इस प्रकार इन दोनों में मद्दान् भेद होता है । जैसा कि पहले—“अन्वय में शब्दों की  
आवृत्ति [ ऐश्वर्य ] औचित्य के [ अर्थात् होनी ही चाहिए इम ] कारण होती है अतः वह आनुषङ्गिक  
होता है । छादानुप्राप्त में वह स्वरूप निष्पादिका होती है ।” —इम शब्द में एक ही शब्दत्व में  
औचित्य तथा उपयोग के आधार पर भेद बतलाया गया है । इस कारण औचित्य और उपयोग का  
भेद न जानने वाले गिन लोगों ने सभी स्थलों में जो प्रकृतोपयोग बतलाया गया है वह ठीक नहीं  
है । इसलिए परिणाम रूपक से भिन्न ही है । यहाँ [ परिणाम में ] प्रकृतार्थ पर [ अप्रकृतार्थ के ] आरोप

के बिना अप्रकृत अर्थ की सिद्धि [मुख्यवाक्यार्थ में अन्वय] नहीं होती, अतः यहाँ प्रकृतोपयोगिता ही सर्वत्र है।

“दाह इतना है कि पसी [ अंजलि ] भर पानी तक को सुखा दे, आँसू इतने उमड़ रहे हैं कि पनाले से बहाए जा सके, साँसे खोल रहे और टिमटिमाते दिप की लौ बन गई है, सारी काया पीले-पन में डूब गई है। और क्या कष्ट हाथ के छत्ते से चाँदनी रोक रोक कर तुम्हारे रास्ते की खिड़की में बह रात भर बैठों ही रह जाते हैं।” —यहाँ छत्र के आरोप के बिना चाँदनी का निरोध बनता ही नहीं इसलिए वह प्रकृतोपयोगी है। इसलिए इसे परिणाम कहा जाता है। क्योंकि इसमें प्रकृत अप्रकृत रूप से परिणत होता है।

“यदि ऐसा है तो सांख्यशास्त्र के परिणाम से इस परिणाम का क्या अन्तर है?” —ऐसी शंका कर उत्तर दैते हैं—आगम इत्यादि। सांख्यों के परिणाम का लक्षण यह है—“धर्म जहाँ पूर्ववर्ती धर्म को छोड़कर दूसरे धर्म को अपना ले किन्तु उसका स्वरूप [ तत्त्व ] नष्ट न हो तो उसे परिणाम कहा जाता है।”

मैत्रीरूपतया मैत्री रूप से उपयोगात् क्योंकि ‘आतर’ [ तरण शुल्क ] के बिना तरना [ पार करना संभव नहीं है। इस कारण क्योंकि प्रकृत में आतर उपयोग है इसलिए प्रकृत मैत्री पर उसके उसके व्यवहार का आरोप हो रहा है कारण कि वह [ मैत्री ] उस [ आतर ] का कार्य कर रही है। इसी तथ्य को दृष्टान्त के द्वारा भी बतलते हैं—‘तद् अत्र’ इत्यादि द्वारा। अत्र = इसमें अर्थात् परिणाम में समासोक्ति में भी आरोप्यमाण का प्रकृत में उपयोग होता है। क्योंकि अप्रकृत का आक्षेप प्रकृत की सिद्धि के ही लिए किया जाता है ‘उसमें भी जो आरोप्यमाण होता है वह प्रकृत का अवच्छेदक [ धर्म ] होकर ही स्थित रहता है आच्छादक होकर नहीं’ तथ्य को प्रतिपादित करते हुए लिखते हैं—तच्च इत्यादि। अत एव इसी कारण अर्थात् आरोप-विषयात्मता के कारण। तत्र उसमें अर्थात् समासोक्ति में। इसी को प्रकृत प्रसंग में संबन्धित करने के लिए कहा—एवम् इत्यादि। ‘यदि ऐसा है तो समासोक्ति और परिणाम में अन्तर क्या होगा’ इस शंका पर लिखते हैं—‘केवलम्’ इत्यादि। तयोः = उनका अर्थात् जो दो अभिधा द्वारा प्रतिपादित होते हैं उनका। उचितम् अर्थात् उपयुक्त रूप से।

**विमर्शः**—विमर्शनीकार ने अन्य अन्य अलंकारों में अप्रकृत के प्रकृतरूप होने की जो बात कही है यहीं रत्नाकरकार ने भी कही है किन्तु उन्होंने इसे दूसरों का मत कहा है। संभव है यह मत अलंकारभाष्यकार ने प्रस्तुत किया हो जो अप्राप्य है। इतिहास—पूर्ववर्ती आचार्यों में से भरत, मामह, दण्डी, वामन, उद्भट, रुद्रट तथा मम्मट—इन सभी आचार्यों में परिणाम नामक अलंकार नहीं मिलता। उसका प्रतिपादन ही नहीं खण्डन भी इनके ग्रन्थों में नहीं है। स्पष्ट ही यह स्वयं अलंकारसर्वस्वकार की ही सूझ है। परवर्ती शोभाकर के ही समान पण्डितराज जगन्नाथ ने रसगंगाधर में परिणाम को अलंकार माना है, किन्तु उन्होंने ने अलंकारसर्वस्वकार के परिणाम-निर्वचन में वाञ्छित स्पष्टता की कमी बतलाई है। उन्होंने “आरोप्यमाणस्य प्रकृतोपयोगित्वे परिणामः” इस सूत्र से लेकर “प्रकृतमारोप्यमाणतया परिणमति” इस वृत्ति तक का अंश अविकलरूप से उद्धृत कर लिखा है कि “आरोप्यमाण के प्रकृतोपयोग” का अभिप्राय यदि प्रकृत कार्य में उपयोग हो तो अलंकारसर्वस्वकार द्वारा ही उद्धृत “दासो कृतागसि०” इस रूपक के उदाहरण में खेदरूपी प्रकृत कार्य के कौतों का उपयोग का ही स्थल मानना होगा और यदि ‘प्रकृत = विषय तद्रूप से उपयोग’ ऐसा अभिप्राय हो तो बधिकरण-परिणाम के उदाहरण के रूप में उद्धृत “अथ पञ्चमता०” इस पद्य में परिणाम नहीं माना जा सकेगा। क्योंकि यहाँ बचन आरोप विषय है और उपावन आरोप्यमाण और वह आरोप्यमाण उपावन स्वरूप से

ही राजा से भेट करने लगी अर्थ में उपयुक्त होना है, वचनरूप से परिणत होकर नहीं। बल्कि उल्टे वचनों का ही उपयोग तब समभव हो पाता है जब वे उपायनरूप से विदित होते हैं। इस लिए इस "अथ पक्वमना०" पद्य को वस्तुतः व्यधिकरण रूपक का उदाहरण माना जाना चाहिए।

पण्डितराज जगन्नाथ ने एक तथ्य को ओर आर ध्यान आकृष्ट किया है। वह यह कि परिणाम में यह मानना वास्तविकता के विरुद्ध है और उसमें उल्टे रूपक की मिथि होता है कि "परिणाम में प्रकृतपदार्थ अप्रकृतपदार्थ रूप से परिणत होना है।" उनके अनुसार माना यह जाना चाहिए कि परिणाम में अप्रकृत प्रकृतरूप से परिणत होता है। अलङ्कारसर्वस्वकार और विमर्शनीकार दोनों ने प्रकृत को ही अप्रकृत रूप से परिणत होता हुआ माना है। दोनों के बीच हुए अलङ्कार-रत्नाकरकार ने 'प्रकृतमप्रकृतरूपतया परिणमतीति परिणामालङ्कार' इस प्रकार प्रकृत को ही अप्रकृतरूप से परिणत होता माना है। पण्डितराज का ही मत यहाँ मान्य है।

हमारी दृष्टि से परिणाम अलङ्कार नहीं दोष है। जिनका उपयोग न ही सके उसका काव्य-प्रयोग निरर्थक होना है जो अपुष्टार्थत्व दोष है। कदाचित् इसी कारण पूर्ववत्ता किसी भी आचार्य ने परिणाम नामका कोई भी अलङ्कार नहीं माना। उन्हाने किसी अन्य नाम में भी इस या ऐसे अलङ्कार का निर्बचन नहीं किया।

मञ्जीवनीकार ने परिणाम का पूर्ण विवेचन सप्रश्नकारिकाओं में इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

‘आरोप्यमाण प्रकृते यदासावुपयुज्यते ।  
परिणामस्तदा तेन रूपकादस्य भिन्नता ॥  
रूपमात्रसमारोपाद् रूपके व्यञ्जको ऋसी ।  
व्यहारसमारोपादिह स्यात् प्रकृतान्वयः ॥  
भवेदप्रस्तुतत्वेन रूपके प्रकृतस्थितिः ।  
परिणामममामांक्त्योर्गौनव्योऽस्माद् विपर्ययः ॥  
उपादानानुपादानकृतो भेदस्तयोर्मिथः ।’

आरोप्यमाण का प्रकृत में उपयोग ही तो वह आरोपण होता है। इसीसे परिणाम रूपक से भिन्न होता है। रूपक में तो रूपमात्र का आरोप [ अभिवाच्यद्वारा ] होता है जब कि परिणाम में व्यवहार का, और वह भी व्यञ्जना द्वारा। रूपक में प्रकृत अप्रकृतरूप से स्थित रहता है और परिणाम में समासोक्ति के समान इसके विपरीत प्रकृत अप्रकृतरूप से। उन दोनों [ समासोक्ति और परिणाम ] में परस्पर में भेद यह है कि परिणाम में आरोप्यमाण भी शब्दत कथित रहता है जब कि समासोक्ति में नहीं।

[ सर्वस्व ]

[ सू० १८ ] विषयस्य संदिह्यमानत्वे संदेहः ।

‘अमेदप्राधान्ये आरोप इत्येव । विषयः प्रकृतोऽर्थः, यद्भिन्नचित्त्वेनाप्रकृतः संदिह्यते । अप्रकृते संदेहे विषयोऽपि संदिह्यत पद्य । तेन प्रकृताप्रकृतगत-त्वेन कविप्रतिभोत्थापिते संदेहे संदेहालंकारः ।

[ सू० १८ ] 'विषय यदि संदेहास्पद वतलाया जाय तो संदेह [ नामक अर्थालंकार होता है ] ।’

[ वृ० ] 'आरोप जिसमें अभेद की प्रधानता हो' इतना यहाँ [ रूपकलक्षण से ] प्राप्त ही है विषय का अर्थ [ यहाँ भी ] प्रकृत अर्थ है जिसको भित्ति बनाकर अप्रकृत अर्थ का संदेह किया जाता है। अप्रकृत पर संदेह होने पर [ प्रकृत ] विषय भी संदेह का विषय बन ही जाता है। इस प्रकार सन्देहालङ्कार [ का निष्कृष्ट लक्षण ] है—“प्रवृत्त और अप्रवृत्त दोनों [ पदार्थों ] पर कविप्रतिभा द्वारा उद्भावित संदेह”।

### विमर्शिनी

विषयस्येत्यादि । विषयविषयिणोः संवन्धिशब्दत्वाद्विषयस्योक्तेर्विषयिणोऽप्याक्षेपाद्ग्रहणम् । तेन विषयस्य विषयिणश्च संदेहप्रतीतिविषयत्वं सूत्रार्थः । ननु विषयशब्देन विषयिशब्दस्य संवन्धिशब्दत्वादाक्षेपेऽपि विना चचनमाक्षेपमात्राद्विषयिणः कथं संदिह्यमानता लभ्यत इति चेत्, न । अनियतोभयांशावलम्बिविमर्शरूपत्वाद्विषयमात्रगतत्वेनासंभवात्संदेहस्यान्यथानुपपत्त्या विषयिणस्तरसंवन्धित्वं लभ्यत एवेति यथासूत्रितमेव ज्ञायः । एतदेव विभज्य व्याचष्टे—विषय इत्यादिना । यद्विचित्त्वेनेति । अन्यथा ह्यप्रवृत्तस्य निर्विषयत्वमप्रस्तुताभिधानलक्षणो वा दोषः स्यादिति भावः । तेन विषयभित्तिव्या विषयिणामेव तथाभावो भवतीत्याशङ्क्याह—अप्रकृतेत्यादि । विषयोऽर्पाति । न केवलं विषयिण एव संदिह्यमानत्वं यावद्विषयस्यापात्यपिशब्दात् । तेन क्वचिद्विषयिणामेव संदिह्यमानत्वे क्वचित्त विषयविषयिणोरप्यलङ्कारो भवेत् । उभयत्रापि सामान्यलक्षणानुगमात् । अनियतोभयांशावलम्बी हि विमर्शः संशयः । स च विषयिणामेव भवति । विषयविषयिणोरिव संदिह्यमानत्वात् । अत एव च प्रकृताप्रकृतगतत्वेनेति यथासंभवं योज्यम् । प्रतिभोत्थापित इति । न पुनः स्वरसोत्थापितः, स्थाणुर्वा पुरुषो वेत्येवमादिरूप इत्यर्थः ।

विषयेत्यादि । विषय और विषयी दोनों शब्द परस्पर सम्बन्धित शब्द हैं, अतः केवल 'विषय' के कहने से विषयी का ज्ञान भी यहाँ आक्षेप से हो जाता है। इस कारण सूत्र का अर्थ होगा 'विषय और विषयी दोनों का संदेहात्मक प्रतीति का विषय बनना।' यहाँ शंका होती है कि 'माना कि विषयिशब्द सम्बन्धिशब्द है, इसलिए विषयशब्द से उसका आक्षेपद्वारा लाभ संभव है तथापि विना शब्दतः कहे केवल आक्षेपमात्र से प्रतीति विषयी का संदेहविषय होना कैसे संभव है।' किन्तु ऐसी शंका ठीक नहीं। इसलिए कि संदेह सदा ही दो अनियत अंशों पर निर्भर ज्ञान का नाम है। अतः उसका केवल विषयमात्रगत होना संभव नहीं। इस कारण अन्यथानुपपत्ति प्रमाण द्वारा विषयी की विषयसंबन्धता विदित हो ही जाती है। इस प्रकार ग्रन्थकार ने जैसा सूत्र बनाया वैसा ही कहना अधिक उपयुक्त है। इसी तथ्य को प्रकट करने के हेतु सूत्रगत अर्थों की विवेचना अलग अलग करते हैं—विषय इत्यादि । यद्विचित्त्वेन अर्थात् यदि विषय की भित्ति [ आधार ] न हो तो अप्रकृत अर्थ निराकार हो जाए अथवा अप्रस्तुताभिधान रूप दोष यहाँ चला आवे। 'यदि ऐसा है तो विषय की भित्ति पर विषयी ही वैसा [संदेहविषय] बनता है ऐसा ही क्यों न मान लिया जाय'—इस शंका पर कहते हैं—अप्रकृत इत्यादि । विषयोऽपि विषय भी, अर्थात् न केवल विषयी ही संदेहविषय बनता, विषय भी संदेहविषय बनता है वह है अपि = शब्द भी-शब्द का अभिप्राय, इससे निष्कर्ष यह निकला कि कहीं तो केवल 'विषयी' के ही संदेह—विषय होने पर संदेहालङ्कार होता है और कहीं विषय और विषयी दोनों के ही संदेहविषय होने पर। कारण कि दोनों ही दशा में संदेह का सामान्य लक्षण लागू होता है। संशय जो है वह ऐसा ज्ञान है जो दो अनिश्चित अंशों पर निर्भर हो। यह ज्ञान केवल विषयी के विषयमें ही होता है क्योंकि संदेह विषय विषय और विषयी दोनों ही होते हैं। और इसीलिए 'प्रकृताप्रकृतगत'

का अर्थ जहाँ जैसा हो वैसा लगा लेना चाहिये । प्रतिभोत्थापित अर्थात् साधारणरूप में उत्थापित नहीं । जैसा कि 'यह ठूँठ ई या आदमी' में होता है ।

**विमर्शः**—सूत्र में केवल विषय का उल्लेख है । वृत्ति विषयो को भी जोड़ती है । टीकाकार विषय की अपेक्षा विषयो को ही अधिक महत्त्व दे रहे हैं । वृत्तिकार ने मदेह का दो दों वार 'अनियतोभयान्नविषयक' विमर्श = ज्ञान कहा है । पण्डितराज जगन्नाथ ने इसके आधार पर "मददृश्यमूला भाममानविरोधका समवस्था नानाकोटवयाहिनी धी रमणीया ममदेहालङ्कृति" = अर्थात् सादृश्यमूल सेने सुन्दर ज्ञान को ममदेहालङ्कार माना जाता है जिसमें विरोध भासित हो रहा हो, जिसके विषय एकाधिक पदार्थ ह्य तथा उन सब पदार्थों में मैं दिमी एक पर अधिक श्रुताव न हो—इस प्रकार ममदेहालङ्कार में विषय और विषयो को स्थान देकर ज्ञान में एकाधिक-विषयकतामात्र को स्थान दिया है । विचारना यह है कि इनमें मान्य क्या है । हम ऐसा मीचते हैं कि मदेह में महत्त्वपूर्ण तत्त्व है अनिश्चय और उमका विषय एकमात्र वही होता है जिसका विचार चटता है अर्थात् प्रस्तुत । इस प्रकार वस्तुतः चमत्कार का कारण विषय का अनिश्चय है । अन्य पदार्थ उमपर विकसित रहते हैं । वे आगमापायी होने हैं । उनके ज्ञानचक्र को पुरो प्रस्तुत या वर्तनीय पदार्थ ही होता है । अतः अलङ्कारसर्वस्वकार का सूत्र ही इस दिशा में अविक मान्य है । यह तथ्य और सत्य है कि मदेह में ज्ञान नानाविषयक ही होता है और उममें भी ज्ञान की सधिसिधारा का मोड समावना के समान किसी एक दिशा में प्रवृत्ता से नहीं होना, तथापि सदेहालङ्कार से चमत्कार का कारण विषय का विषयत्वेन अनिश्चय ही होता है । अतः उसी पर अधिक बल देना वैज्ञानिक और उचित है ।

### [ सर्वस्व ]

स च त्रिविधः । शुद्धो निश्चयगर्भो निश्चयान्तश्च । शुद्धो यत्र संशय एव पर्यवसानम् । यथा—

'किं तादृश्यतरोरियं रसभरोद्भिन्ना नया वल्लरी  
लौलाप्रोच्छलितस्य किं लहरिका लावण्यचारान्वितेः ।

उद्गाढोत्कलिकायतां स्वसमयोपन्यासविस्त्रम्भिणः ।

किं साक्षादुपदेशयधिरयथा देवस्य शृङ्गारिणः ॥'

निश्चयगर्भो यः संशयोपक्रमो निश्चयमध्यः संशयान्तश्च । स यथा--

'अयं मार्तण्डः किं स खलु तुरगैः सतभिरितः

कृशानुः किं साक्षात्प्रसरति दिशो नैव नियतम् ।

रुतान्तः किं साक्षान्मद्विपवह्नोऽसाविति चिरात्

समालोक्ययाजौ त्यां विदधति विरुत्पान्प्रतिभटाः ॥'

निश्चयान्तो यत्र संशय उपक्रमो निश्चये पर्यवसानम् । यथा--

'इन्दुः किं क फलङ्कः सरमिजमेतत्किमभ्यु कुत्र गतम् ।

ललितसविलासवचनैर्मुग्धमिति हरिणाक्षि निश्चितं परतः ॥'

कचिदारोप्यमाणानां भिन्नाश्रयन्त्वेन दृश्यते । यथा—

'शक्तिता नु विविधास्तदशैला नामितं नु गगनं म्यगितं नु ।

पूरिता नु विषमेषु धरित्री संहृता नु ककुभस्तिमिरेण ॥'

अत्रारोपविषये तिमिरे रागादि तर्वादिभिन्नाश्रयत्वेनारोपितम् । के-  
चित्त्वध्यवसायाश्रयत्वेन संदेहप्रकारमाहुः । अन्ये तु नुशब्दस्य संभा-  
वनाद्योतकत्वादुत्प्रेक्षाप्रकारमिममाचक्षते ।

[ वृत्ति ] वह [ संदेहालंकार ] तीन प्रकार का होता है ( १ ) शुद्ध ( २ ) निश्चयगर्भ और  
( ३ ) निश्चयान्त । [ इनमें से ]—( १ ) शुद्ध वह होता है जिसका पर्यवसान संशय में ही हो  
जाता हो । यथा—

‘यह क्या तारुण्यतरु की पर्याप्त रस लेकर खिली नई मंजरी है ? या लाला से उछलते लावण्य-  
जलनिधि की नन्हीं सी लहर या कि [ उत्कण्ठित जनों में ] अपने अनुरूप प्रवृत्ति का आरम्भ  
देखने से आशस्त शूद्रारी देव [ काम ] के द्वारा देने के लिए गाढतम उत्कण्ठा ( हूक ) से भरे [ कामि-  
जनों को उपदेश देने के लिए गृहीत डाढ़ी ? ( २ ) निश्चयगर्भ संदेहालंकार वह होता है । जिसमें  
आरम्भ और अन्त दोनों में संशय रहे किन्तु मध्य में निश्चय हो । उसका उदाहरण—

‘यह क्या सूर्य है, किन्तु वह [ सूर्य ] तो सदा सात घोड़ों से युक्त रहता है, क्या वह साक्षात्  
अग्नि है, किन्तु वह एक एक करके दिशाओं में योजनाबद्धरूप से [ सब दिशाओं में एक ही साथ ]  
नहीं फैलता; तो क्या यह साक्षात् यमराज है, पर वह तो भैंसें पर सवार रहता है’—आपको  
शुद्ध में सामने देखते हैं तो शत्रुयोज्जा ऐसे विकल्प करते हैं ।’

[ यहाँ सूर्य आदि के संशय का निराकरण हो जाता है उतने ही अंश में यहाँ निश्चय है  
अर्थात् यहाँ सूर्यादि के अभाव का निश्चय बीच बीच में आता गया है, निश्चयगर्भ का अर्थ यह  
नहीं इसमें बीच में विषय का निश्चय हो जाए । ]

( ३ ) निश्चयान्त संदेहालंकार में वहाँ होता है जहाँ आरम्भ में संशय हो और अन्त में निश्चय ।  
उदाहरण—

‘चन्द्रमा है क्या, पर कलंक कहाँ गया ? क्या कमल है परन्तु जल कहाँ गया ? [ ऐसे कल्प-  
विकल्प करने के ] पश्चात्, हे मृगाक्षि ! ललित और विलासपूर्ण वचनों से विदित हुआ कि यह  
मुझ है ।’ कहीं कहीं आरोग्यमाण का आश्रय [ आरोप विषय से ] भिन्न होने से भी [ यह  
अलंकार ] देखा जाता है । यथा—‘अन्धकार ने विविध [ रंग के ] वृक्ष और पर्वतों को रंग सा  
दिया; आसमान को झुका-सा या ढँक-सा दिया है, ऊबड़ खाबड़ स्थलों पर पृथिवी को भरवा दिया  
है [ और ] दिशाएँ [ नीरक्षीरवत् ] मिला-सी दी हैं ।’

यहाँ आरोप का विषय जो अन्धकार है उसपर राग आदि का आरोप किया तो गया किन्तु  
उन [ राग आदि ] को तरु आदि पर आश्रित बतलाया गया है ।

कुछ लोग [ इस स्थल में ] संदेह का अध्यवसायमूलक [ न कि आरोपमूलक नहीं ] भेद  
मानते हैं और कुछ लोग इस स्थल को उत्प्रेक्षा का अंग मानते हैं, क्योंकि ‘नु’ = ‘सा’ या ‘मानों’  
शब्द [ उत्प्रेक्षा वीज ] संभावना का योक्तक होता है ।

### विमर्शनी

एतदेव भेदश्रयं विवृण्वन्नुदाहरति—शुद्ध इत्यादि । अत्र प्रकृतावास्तव्याः संदेहप्रती-  
तिविषयत्वाभावाद्द्विपयिणां मञ्जर्यादीनामभेद संदेहः । विषयविषयिणोर्यथा—

‘किं पङ्कजं किमु सुधाकरविन्ममेतर्कि वा मुखं बलमहरं मदिरेक्षणायाः ।

यद्दृश्यते मशुकराभकुरङ्गकान्तिनेत्रद्वयासुकृति कार्ण्यममुष्य मध्ये ॥’

अत्र बलमहरत्वादिः समानो धर्मोऽनुगामित्वेनोपात्तः । न्वचिद्वस्तुप्रतिबस्तुभावेनापि  
भवति यथा—

‘किमिदमसितालिकलितं कमलं किं वा मुखं सुनीलकचम् ।

इति संशेते लोकस्त्वपि सुतनु सरोवतीर्णायाम् ॥’



अप्रासितत्वसुनीलत्वयोः शुद्धसामान्यरूपत्वम् । अलिकचानां च विम्बप्रतिविम्ब-  
भावः । एवं चास्य सादृश्यनिमित्तात्सात्मानधर्मानिकधर्मनिमित्तत्वेन द्विभेदस्य न व्या-  
कार्यम् । सादृश्यनिमित्तत्वेनैवास्य सग्रहसिद्धेः । विप्रतिपत्त्यादिनिमित्तान्तरवच्छास्त्रा-  
भावाच्च । भिन्नाश्रयत्वेनेति वैयधिकरण्येन ।

इन्हीं तीनों भेदों का अर्थ स्पष्ट करते हुए उदाहरण देने हैं—शुद्ध इत्यादि । यहाँ [ शुद्ध  
के उदाहरण—“कि तारण्यतरो.” में ] तन्वी प्रकृत है किन्तु वह सदेह प्रतीति का  
विषय नहीं, अतः यहाँ मञ्जरी आदि जो विषयी, है उन्हीं का सदेह है । विषय और  
विषयी दोनों के सदेह का उदाहरण—दुःख दूर करने वाला क्या यह कमल है,  
या चन्द्र बिम्ब है अथवा किसी मदिरेक्षण का मुद्र, जिसमें भौर ने ममान, हरिण के तुल्य  
धीर दो नेशों का अनुकरण करने वाली यह कालिमा दिसारं दे रही है । [ यहाँ चन्द्रमा रूपां  
विषय और अन्य सब विषयी है । इन दोनों का सन्देह किया जा रहा है । यहाँ, जो साधारण धर्म  
‘दुःख दूर करना है वह अनुगामी धर्म है’ । कहीं वस्तुप्रतिवस्तुमावात्मक साधारण धर्म से म  
[ सदेहालंकार निष्पन्न होता है । यथा—“हे सुतनु अब तुम तालाव में उतरनी हो तो खंग  
यह सदेह करते हैं कि अस्सि भौरो से ढँका हुआ यह कमल है या सुनील केशों से घिरा मुद्र ।’  
[ यहाँ भी मुद्र जो कि विषय है उसका और कमलरूपां विषयी का साथ-साथ सदेह है ] यहाँ ‘अमि-  
तत्व और ‘सुनीलत्व’ एक और अभिन्न हैं, अतः इनका यह जो साधारण धर्म है यह शुद्ध सामा-  
न्यात्मक वस्तुप्रतिवस्तुमावापन्न साधारणधर्म है । और जो भौरों तथा केशों का साधारणत्व  
है वह विम्बप्रतिविम्बभाव से निष्पन्न होता है [ भौरों तथा केश दोनों कृष्णवर्ण-रूपां साधारण  
धर्म के कारण अभिन्न प्रतीत होने लगते हैं ] इस प्रकार इस [सदेहालंकार] में समान धर्म तथा अनेक  
धर्म, इस प्रकार धर्म के आधार पर दो भेद नहीं जाने चाहिए [ जैसा कि अलंकाररत्नाकरकार  
ने बतलाया है क्योंकि यह अलंकार एक सादृश्यमूलक अलंकार है इसलिए उक्त  
दोनों भेद सादृश्यनिमित्तता में ही अन्तर्भूत हो जायेंगे । दूसरे इसमें चारहवें भी नहीं रहना  
जैसे कि [ रत्नाकरकार के ही अनुसार ] विप्रतिपत्ति-आदि अन्य निमित्तों में चारहवें नहीं रहता ।  
भिन्नाश्रयत्व का अर्थ है वैयधिकरण्य ।

विमर्श—अलंकाररत्नाकरकार ने सदेहालंकार के भेद बतलाने हुए लिखा है—‘कमल वा  
वदन वा इति वाच्यमभिज्ञा प्रतीतिः सदेहः । स च यद्यपि ममानधर्मानिकधर्म-विप्रतिपत्त्युपलक्ष्य  
व्यवधान इत्यनेकशोक्तः तथापि निमित्तान्तरोत्थापितस्य तस्य चारुत्वभावाच्च समानधर्मानिकधर्म-  
निमित्तत्वेनेह द्विविध एव ।’ अर्थात् ‘या तो कमल है या मुख है’—इस प्रकार वा-( या )-शब्द  
के अर्थ से मिश्रित प्रतीति का नाम सदेह है । वह यद्यपि—समानधर्म, अनेकधर्म, विप्रतिपत्ति,  
उपलब्धि और अन्यवत्त्वा इन तत्त्वों के आधार पर अनेक प्रकार का बतलाया गया है किन्तु अन्य  
तत्त्वों के आधार पर होने वाले सदेह में चारहवें नहीं होंगे । अतः केवल उमें दो ही प्रकार का  
मानना चाहिए एक समान धर्मनिमित्तक तथा दूसरा अनेकधर्मनिमित्तक । इन दोनों में से प्रथम  
के उदाहरण के रूप में उन्होंने ‘किं पद्मजम्०’ पद्य ही प्रस्तुत किया है तथा द्वितीय के उदाहरण  
के रूप में कालिदास के विक्रमोर्वशीय का “अस्याः सर्गविधौ०” वह प्रसिद्ध पद्य । प्रथम पद्य में  
सर्गों के बीच ‘कलमद्दरत्व’ यह एक ही समान धर्म है । द्वितीय पद्य में कान्ति, शृङ्गार आदि अनेक  
धर्म । विमर्शनीकार ने कहा है कि धर्म की सरत्या में भेद होने से चमत्कार की अनुभूति नहीं होती  
‘अतः उक्त दो भेद भी पूर्ववर्षी आचार्यों द्वारा प्रतिपादित उपर्युक्त अन्य भेदों के समान अमान्य  
हैं । अलंकाररत्नाकर द्वारा प्रतिपादित ये दो भेद भरत, मामह, दण्डी, वामन, उद्भट, रुद्रट  
तथा मम्मट में नहीं मिलते । कदाचिद् ‘अलंकारमाभ्य’ में ये भेद रहे हों ]

विमर्शिनी

अथैऽपदान्तरमाह—केचित्वादि । अनेन च संदेहस्याध्यवसायमूलत्वमपि ग्रन्थकृतै-  
वोक्तम् । तेनाध्यवसायाश्रयोऽप्ययं स्वरूपहेतुफलानां संदिग्धमानत्वेन त्रिधा भवति ।  
तत्र स्वरूपसंदेहो यथा—‘रञ्जिता’ इत्याद्येव । यथा वा—

पुतत्तर्क्य कौरवकलमहरे शृङ्गारदोषागुरौ  
दिक्कान्तामुकुरे चकोरसुहृदि प्रौढे तुपारत्विपि ।  
कर्पूरैः किमपूरि किं मलयजैरालेपि किं पारदै-  
रत्नालि स्फटिकोपलैः किमघटि चावापृथिव्योर्वपुः ॥’

अत्र कौमुदीधवलम्बनः कर्पूरपूरणादिनाध्यवसितत्वाद्यध्यवसायमूलत्वम् । हेतुसंदेहो  
यथा—

‘देवि त्वचरणान्बुजस्मृतिविधौ गाढावधानस्पृशां  
धन्यानां प्रसरन्ति संतततया ये वाष्पधाराभराः ।  
किं ते स्युश्चिरकालभावितभवाप्रनक्रियावेगतः  
किं वासादितमुक्तिचन्द्रवदनासदर्शानानन्दतः ॥’

अत्राश्रुहेतोरानन्दस्य संसारविद्योगो मुक्तिसांसुख्यं चेति हेतुद्वयमध्यवसितम् । फल-  
संदेहो यथा—

‘वृत्तान्ते पारिजातं किमु विघटयितुं स्पष्टुमाकाशगङ्गां  
किंस्विद्वा चन्द्रसूर्यौ किमु विदलयितुं श्वेतरक्ताब्जदुग्धया ।  
लक्ष्मुं नक्षत्रमालाभरणभरमुत स्वर्गजं वाभियोदुष्टुं  
दूरोदस्तः समस्तस्तव गणपतिना स्वस्तये सोऽस्तु हस्तः ॥’

अत्र करिणो निष्पादनस्य विघटनादिफलमध्यवसितम् । अत्रैवादिशब्दवन्नुदाहृतस्य  
संभावनाद्योक्तत्वात्पदान्तरमपि दर्शयितुमाह—अन्य इत्यादि । अतश्च रञ्जिता इवेत्यर्थः ।  
पूर्वत्रार्थं तु नुशब्दो वितर्कमात्र एव न्यासयेयः ।

विमर्शिनी—इसी [ रञ्जिता तु० ] पर दूसरे पक्ष प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं—‘केचिद्’—  
‘कोर्श’—इत्यादि । इससे यह बात आई कि ग्रन्थकार स्वयं संदेह को अध्यवसायमूलक भी मानते  
हैं । इस कारण [ हम इसके भी भेद बतलाए देते हैं ] अध्यवसायमूलक संदेह भी तीन प्रकार का  
होता है—( १ ) जिसमें स्वरूप का संदेह होता है ( २ ) जिसमें हेतु का संदेह होता है और  
( ३ ) जिसमें संदेह होता है फल का । इनमें से प्रथम स्वरूपसंदेह यथा—‘रञ्जितानु०’ इत्यादि  
मूल में उद्धृत पद्य ही । अथवा—‘कुसुम का कलम हरने वाले, शृङ्गारदोषा के गुरु, दिशारूपी  
सुन्दरी के दर्पण, चकोरों के मित्र ( इस ) शीतरश्मि [ चन्द्र ] के प्रौढ होने पर, थोड़ा यह तो  
तोचिए कि चावापृथिवी का संपूर्ण शरीर क्या कपूर से भर गया है, या धवल चन्दन से छिप गया  
है, या पारदरस ( पारे ) से भो दिया गया है या स्फटिकमणि से जड़ दिया गया है ।’ यहाँ चौदनी  
की धवलता [ का स्वरूप ही ] कर्पूरपूर आदि द्वारा अध्यवसित है [ चौदनी त्वशब्दतः अनुक्त  
है ], अतः यह भेद अध्यवसायमूलक [ स्वरूप संदेह का ] भेद हुआ ।

हेतुसन्देह यथा—

‘हि भगवति ! आपके चरणारविन्द का ध्यान करने में गाढ समाधि तक पहुँचि धन्य महात्मार्यों  
में जो अविरल रूप से अनेकानेक अश्रुधाराएँ बह निकलती हैं वे चिरकाल तक सेवित संतार-

का प्रश्न न रहने के वेग से निकलती है अथवा मुक्तिरूपी चन्द्रमुखी के सदृश से प्राप्त आनन्द से ।

—यहाँ अश्रुपात का कारण आनन्द है । उस [ आनन्द ] की उत्पत्ति में दो हेतुओं का संदेह किया जा रहा है एक समार से छुटी और दूसरा मुक्ति का आमिसुख्य । ये दोनों हेतु अश्रुवसित हैं । [ देखिए—इस प्रकार के अन्त का विमर्श ]

फलसंदेह यथा—

‘गणपति जी का वह हाथ आपके लिए कल्याणकारी हो जिस पूर्ण हाथ को उन्होंने या तो इसलिए दूरतक फैलाया है कि उन्हें स्वर्ग का पारिजात उखाड़ लाना है, या इसलिए कि उन्हें आकाश में गंगा का स्पर्श करना है, या इस लिए कि सफेद और लाल कमल समझ के चन्द्र और और सूर्य को ले लेना चाहते हैं, या इसलिए कि वे नञ्च माला [ शक्रीस रत्नों या गुरियों की माला तथा ग्रह नञ्चों की माला ] के आभूषण पहना चाहते हैं या तो वे स्वर्ग के हाथी से जूझना चाहते हैं ।’—यहाँ हाथी का जो निष्पादन ( गणपति पर आरोप है ) उसका फल विषट-नादि गणपतिगत विषटनादि से अश्रुवसित है ।

यहाँ [ काव्य में ] इव-आदि, [ भादिपद से मन्वे, शके, भुवन्, प्राय, नूनम् आदि ] शब्द के ही समान ‘नु’—शब्द भी [ उत्प्रेक्षाबीज ] समावना का चोतक होता है इसलिए [ रजिता नु०-पद्य में ] एक दूसरा भी पक्ष दिखलते हैं—अन्य इत्यादि द्वारा । हम [ उत्प्रेक्षा ] पद्य में ‘रजिता नु’ का अर्थ हुआ ‘रजिता इव’ [ मानों रजित = रंगे हुए ] पहले अर्थ में ‘नु’-शब्द की व्याख्या केवल वितर्क ही को जाना चाहिए ।

विमर्श—अश्रुवसायमूलक प्रस्तुत तीनों भेदों में से प्रथम के उदाहरण ‘एतत् तर्क्य०’ में तो संदेह सादृश्यमूलक है, किन्तु दूसरे तथा तीसरे के उदाहरण सादृश्यमूलक नहीं हैं, इनके पर भी इनमें संदेहालंकार माना जा रहा है । यह विचारणीय है । अलंकाररत्नाकरकार ने सादृश्येतर-मूलक संदेह को भी उसी प्रकार अलंकार माना है जिस प्रकार आयुर्धनम् = ‘धृत आयु है’ आदि सादृश्येतरसम्बन्धमूलक रूपक को रूपकालंकार । उनकी पक्ति है—

‘स्यागुर्वा पुरुषा वेति न त्वारसिक. संदेहोऽलंकार, अपि तु कविप्रतिमोत्थापित. । तत्र साधर्म्यं विहायापि निमित्तान्तरमवलम्ब्य कविप्रतिमोत्थापित संदेहोऽलंकार एव । उदाहरणम्—“देवि त्वच्चरणारविन्द०” । अप्राशुभारारूपस्य कार्यस्य ससारवियोगो मुक्तिनाम्मुख्य चेति हेतुद्वयं संशयितम् ।’

‘टूँठ है या आदमी’—यह लौकिक [ त्वारसिक ] संदेह है । यह संदेहालंकार नहीं हो सकता, क्योंकि वही संदेहालंकार होता है जो कविप्रतिमोत्थापित होता है । यहाँ तक कि संदेह यदि कविप्रतिमोत्थापित हो और सादृश्यमूलक न हो तब भी वह अलंकार माना जा सकता है । उदाहरण—‘देवि त्वच्चरणारविन्द०’ पद्य । यहाँ जो अश्रुभारारूपी कार्य है उसके हेतुरूप से दो तथ्यों का संदेह किया गया है—एक ससारवियोग० और दूसरा मुक्ति-साम्मुख्य ।

निश्चित ही विमर्शनीकार ने असादृश्यनिमित्तक संदेह को भी संदेहालंकार मान लिया है जो मूलविह्वल है । मूलकार सादृश्यमूलक संदेह को ही संदेहालंकार मानते हैं ।

यहाँ यह भी ध्यान देने की बात है कि ‘देवित्वच्चरण०’ पद्य में अलंकाररत्नाकरकार ने ‘अश्रुभारारूप कार्य’ के प्रति दो कारणों का संदेह बतलाया है जब कि विमर्शनीकार ने ‘अश्रुहेतोः आनन्दस्य ससारवियोगो मुक्तिसाम्मुख्य चेति०’ इस प्रकार ‘अश्रु के कारण आनन्द को कार्य मान कर उसके प्रति दो हेतु का संदेह बतलाया है । वस्तुतः कथन अलंकाररत्नाकरकार का ही

मान्य है। क्योंकि यहाँ “आसादितभक्तिचन्द्रवदनासंदर्शनाचन्द्रतः” इस प्रकार जिस आनन्द को कारण बतलाया जा रहा है वह कार्य नहीं माना जा सकता है। दूसरे अलंकाररत्नाकरकार के पाठ से “चिरकालभावितमवाप्रचनक्रियावेगतः” का अर्थ ‘चिरकाल तक भावित संसार पर विचार न करने या उसके छूटने के आवेग से’ करना होगा तभी संसारवियोग में ‘वियोग’—शब्द का स्वारस्य ठीक बैठेगा, नहीं तो संसारत्याग अर्थ करना पड़ता है। इसके अतिरिक्त वाच्यार्थ की दृष्टि से भी यह अर्थ अधिक रुचिर है। इसलिए कि ऐसा मानने पर हेतु रूप से विशुद्ध पदार्थ गृहीत होते हैं “आवेग और आनन्द।” फिर अश्रुपात होता भी आवेग या आनन्द से ही है। ‘आवेग’ अर्थ निकालने में पाठान्तर से भी सहायता मिलती है। यहाँ अलंकाररत्नाकर में “आवेशितः” पाठान्तर दिया गया है। उसे ‘आवेशतः’ होना चाहिए। संस्कृतग्रन्थों में आवेग और आवेश का यह हेर फेर प्रायः सार्वत्रिक ही है।

### संदेहालंकार का इतिहास—

भामहः—

‘उपमानेन तत्त्वं च भेदं च वदतः पुनः । ससन्देहं वचः स्तुत्यै ससन्देहं विदुर्यथा ॥  
किमयं शशी न स दिवा विराजते कुसुमायुधो न धनुरस्य कौशुमम् ।  
इति विस्मयाद् विमृशतोऽपि मे मतिस्त्वयि वीक्षिते च उमतेऽर्धनिश्चयम् ॥’

—उपमान के साथ उपमेय का अभेद और तत्पश्चात् भेद उपमेय की प्रशंसा के लिए जिन शब्दों में बतलाया जाय वे शब्द ससन्देह शब्द होते हैं। उसी को ससन्देहालंकार कहा जाता है। उदाहरण यथा—“तुन्हारे दिखाई देने पर क्या यह चन्द्रमा है, पर वह दिन में शोभित नहीं होता, क्या यह कुसुमायुध = काम है, किन्तु इसका धनुष कुसुम का नहीं है—ऐसा आश्चर्यपूर्वक विचार करता रहता हूँ, किन्तु वास्तविकता का निश्चय नहीं कर पाता !”

वामन = “उपमानोपमेयसंशयः सन्देहः—।” ४।१ ११।

उपमानोपमेयोरतिशयार्थं यः क्रियते संशयः स सन्देहः । यथा—

‘इदं कर्णोत्पलं चक्षुरिदं वेति विलासिनी । न निश्चिनोति हृदयं किन्तु दोलायते मनः ॥’

—उपमानोपमेय का संशय संदेह होता है। अर्थात् उपमानोपमेय में अतिशय अतलाने के लिए जो संशय किया जाता है वह संदेहालंकार कहलाता है। यथा “हे विलासिनी ! चित्त को कर्णोत्पल है या चक्षु है” ऐसा निश्चय नहीं हो पाता। चित्त केवल दोलायित ही रहा आता है।

उद्धटः—उद्धटने संदेहालंकार के दो लक्षण दिए हैं। प्रथम में उन्होंने भामह की ऊपर उद्धृत संदेहलक्षणकारिका ज्यों की त्यों अपना ली है। केवल उसमें अन्तिम पद ‘यथा’ के स्थान पर ‘युथा’ कर दिया है। दूसरा लक्षण इस प्रकार है—

‘अलंकारान्तरच्छायां यत्कृत्वा धीपु बन्धनम् । असन्देहेऽपि संदेहलुपं संदेहनाम तव ॥’

—दूसरे किसी अलंकार की छाया (शोभा) चित्त में रखकर संदेह होने पर भी जो संदेह का निरूपण उसे भी संदेह कहा जाता है। यथा—

‘नीलाब्धः किमयं नेरौ धूमोऽथ प्रलयानले । इति यः शङ्क्यते श्यामः पक्षीन्द्रेऽर्धतिवपि स्थितः ॥

—‘भगवान् स्वयं श्याम है और वे जिस पक्षिराज गरुड पर विराजमान हैं वह ही सूर्य के समान लाल। अतः उन्हें देखकर संदेह होता कि क्या यह मेरु पर्वत पर कोई नील मेघ है या प्रलयाग्नि पर धूम।’ यहाँ उपमानोपमेयभाव को मन में रखकर संदेह प्रस्तुत किया गया है।

रुद्रटः—( १ ) 'वस्तुनि यत्रैवस्मिन्ननेकविषयस्तु भवति सदेहः ।

प्रतिपत्तु. सादृश्यादनिश्रयः संशयः स इति ॥' ८१५९ ॥

उदाहरण = 'किमिदं नीलालिकुल कमलं किंवा मुखं मुनीलकचम् ।

इति संशयेने लोकस्त्वयि मृतनु सरोज्वतीर्णायाम् ॥'

( २ ) 'उपमेये सदसमवि विपरीतं वा तथोपमानेऽपि ।

यत्र स निश्चयगर्मस्तनोऽपरो निश्चयान्तोऽन्यः ॥

—जहाँ एक वस्तु में अनेक वस्तु का संदेह होता है, इसलिये कि ज्ञाता सादृश्य के कारण निश्चय नहीं कर पाता उस संदेह को संदेहालंकार कहा जाता है। उदाहरण विमर्शिनी में उद्धृत 'विमिदम्' ।

—जहाँ उपमेय में समव वस्तु भी असमव बतलाई जाए तथा असमव भी संभव और इसी प्रकार उपमान में भी, तो वह भी मदेहालंकार होता है। वह एक तो निश्चयगर्म होता है और दूसरा निश्चयान्त। उदाहरण उसी प्रकार के हैं जिस प्रकार के स्वयं ग्रन्थकार ने प्रस्तुत किए हैं यद्यपि पद्य मित्र हैं।

मम्मटः = 'ससन्देहस्तु भेदोक्तौ तदनुक्तौ च संशयः ।'

संशय का नाम ससंदेहालंकार है। वह भेदोक्ति और भेदानुक्ति में होता है। भेदोक्ति का उदाहरण = 'अयं माषण्ड'० तथा भेदानुक्ति का 'अस्या सर्गविधौ'० ।

रत्नाकरकार = अलंकाररत्नाकरकार शोभाकरने एक उदाहरणों के आधार पर संदेहालंकार से मित्र एक वितर्कालंकार भी खोज निकाला है। उनका संदेहालंकार का लक्षण इस प्रकार है—

[ सूत्र ] "तस्यापि सद्विद्यमानत्वे संदेहः ।"

[ वृत्ति ] विषयस्येत्येव तच्छब्देनारोप्यमाणप्रत्ययवर्धनं । 'कमलं वा वदनं वा' [ इत्यादि पूर्वोद्धृत ] ।

—विषय के साथ साथ यदि विषयी भी संदेह का विषय बने तो संदेहालंकार होता है।

इसके पश्चात् उन्होंने संदेह के भेद इस प्रकार किए हैं। ( १ ) सादृश्यमूलक तथा सादृश्येतर सम्बन्ध मूलक। इनमें से सादृश्यमूलक के भेद इस प्रकार किए हैं— १ = विषय और विषयी दोनों का संदेह २ = केवल विषयी का संदेह। इनमें से प्रथम आरोपगमित होता है और दूसरा दो प्रकार का १ = जहाँ विषय का शब्दतः कथन हो और २ = जहाँ न हो। इनमें से प्रथम, जिसमें विषय का उपादान रहता है—

१ = जिसमें विषय का अपह्व ( छिपाव ) रहता है और २ = जिसमें नहीं रहता है। ये दोनों ही भेद आरोपगमित ही होते हैं। दूसरा जहाँ विषय का शब्दतः उपादान नहीं रहता, अन्य-वसायमूलक संदेह माना जाता है। उदाहरण—

१ = आरोपगमित उभय संशय—' किं पकजं किन्नु'०' उदाहरण ।

—यहाँ धर्म केवल एक है फलमद्वरत्न ।

२ = आरोपगमित विषयिसंशय में विषय का उपादानपूर्वक अपह्व—'अस्या सर्गविधौ'० ।

इसमें पुराणमुनि को उर्वशी महिष से हटाया गया है यही उसका अपह्व है।

३ = इसी में अपह्ववामाव यथा—

'चिरं चित्तोचानि धरसि च धुराम्ब पिबसि च क्षणदेणाक्षीणां विरहपित्रेणं हरसि च ।

नृप त्वं मानार्द्रिं दलयसि च किं कौतुककरः कुरङ्गं किं शृङ्गो मरकतमणिः किं किमशनि' ॥'

—हे मृग ! तुम ( १ ) चित्तोपान में चिरकाल तक विचरण करते हो ( २ ) सुन्दरियों के सुख कमल का पान करते हो, ( ३ ) सुन्दरियों के विरहविषवेग को क्षणभर में दूर करते हो और मानादि का भेदन करते हो । इसलिए तुम क्या आश्चर्यकारी ( ? ) जुरंग हो ( २ ) क्या भृंग हो ( ३ ) क्या मरकतमणि हो या कि ( ४ ) वज्र हो ? । इन दोनों पक्षों में धर्म अनेक हैं । प्रथममें शृंगार कान्ति आदि तथा द्वितीय में उद्यानचार पान आदि ।

४ = विषय का उपादान करने पर विषयिसंदेह — 'किं तारुण्यतरोः' । सादृश्येतर संबन्धमूलक का उदाहरण इस संदर्भ में उद्धृत किया जा चुका है—'देवि त्वचरणविन्दो' इत्यादि ।

शोभाकार ने इसके पश्चात् वितर्कालंकार का निरूपण इस प्रकार किया है—

[ सूत्र ] 'सम्भावितसम्भाव्यमानापोहो वितर्कः ।'

[ वृत्ति ] सामान्येन दृष्टे वस्तुनि आशङ्कितस्य आशङ्क्यमानस्य वा विशेषस्य बाधकेनोत्पुंसनं वितर्कः । अतएव बाधकसद्भावाद् बाधक-बाधक-प्रमाणाभावनिमित्तात् संदेहादस्य भेदः । किंच तत्र सन्दिह्यमानानां 'वा'-र्थसम्भिन्नैकप्रतीतिविषयोक्तत्वम्, इह पुनः अनेकविकल्पेन सम्भावितस्य बाधकेनोत्पुंसितस्य अपरविकल्पोदयसमयेऽनुसन्धानामावाद् भिन्नप्रत्ययगोचरत्वम् ।

—अर्थात् संभावित अथवा सम्भाव्यमान का निराकरण वितर्क कहलाता है । अर्थात् सामान्य रूप से प्रतीत वस्तु में यदि विशेषकी संभावना की जा चुकी हो या की जा रही हो और यदि उसका किसी बाधक को बीच में लाकर निराकरण कर दिया जाय तो उसे वितर्क कहा जाता है । इसमें बाधक उपस्थित किया जाता है, इसलिए इसका संदेहालंकार से भेद है, क्योंकि संदेह में न तो साधक ही उपस्थित किया जाता, न बाधक ही । संदेह में एक विशेषता यह भी रहती है कि वहाँ जिन जिनका संदेह किया जाता है वे सब 'वा' अर्थात् "अथवा" शब्द के अर्थ की प्रतीति से मिश्रित प्रतीति में साथ साथ विषय बनते हैं, जबकि वितर्क में अनेक विकल्प रहते हैं और इसमें संभावित वस्तु का बाधक द्वारा निराकरण कर दिया जाता है । फलतः दूसरे विकल्प में होने वाले ज्ञान में वह सम्मिलित नहीं हो पाता, अतः प्रत्येक संभावित पदार्थ का ज्ञान अलग अलग पूर्वापरभाव के साथ होता है । इस पूरे विषय का संक्षेप शोभाकार ने इस प्रकार का दिया है—

“अर्थद्वयोःस्थेखवती मतिर्या स संशयः, केवलवस्तुनिष्ठा ।

संभावना बाधकबाधनीया यत्र स्फुटस्तत्र भवेद् वितर्कः ॥”

'जिस ज्ञान में एकाधिक पदार्थ भासित हो वह संशय, और केवल एक पदार्थकी ऐसी संभावना वितर्क जो बाधक द्वारा बाध्य हो ।'

उन्होंने संदेह के प्रसिद्ध उदाहरण—'अयं मार्तण्डः किन्' को वितर्क का उदाहरण बतलाया है । इनमें राजा या मार्तण्ड की संभावना की जाती है फिर उसका बाध प्रस्तुत कर दिया जाता है यह कह कर कि सूर्य सात घोड़ों से युक्त रहता है और राजा वैसा नहीं है । इसके पश्चात् दूसरा विकल्प किया जाता है अग्नि का और उसका भी बाध कर दिया जाता है । इसी प्रकार तीसरा विकल्प यमराज का किया जाता है और उसका भी बाध प्रस्तुत कर दिया जाता है । इस प्रकार अग्नि आदि की परवर्ती विकल्पशुद्धि में पूर्ववर्ती संभावित पदार्थ मार्तण्ड आदि का समावेश नहीं रहता अर्थात् वे पूर्ववर्ती पदार्थ के ज्ञान के विषय नहीं बनते । उनमें परवर्ती ज्ञान की विषयता का अभाव रहता है । इसलिए वितर्क का लक्षण इसमें पूर्णरूप से लागू होता है ।

आश्चर्य है कि पण्डितराज जगन्नाथ इस मार्मिक मोमांसा पर नुप हैं । न तो उन्होंने संदेह के प्रकरण में इसका खण्डन किया है न इसे स्वीकार ही ।

वहाँ तक इस अलङ्कार के नाम का संबन्ध है उद्धृत लक्षणों के अनुसार इसे पूर्ववर्ती मामह, चन्द्र और मम्मट ने 'ससन्देह' नाम दिया है तथा परवर्ती पण्डितराज जगन्नाथ ने भी इसका अनुकरण किया है। मामह के लक्षण से स्पष्ट है कि ससन्देहपद सन्देहप्रतिपादक पदों के लिए आया है। वे पद ही काव्य में अलङ्कार मान लिए जायें तो यह नाम अलङ्कार के लिए भी उपयुक्त माना जा सकता है। पण्डितराज ने पद को मदेहयुक्त न मानकर 'ज्ञान' को सदेहयुक्त माना है। ससन्देह जैसा ही एक नाम 'भ्रान्तिमान्' भी है। हम सोचते हैं यदि सन्देहयुक्त अर्थ या भ्रान्तियुक्त अर्थ या ज्ञान को अलङ्कार माना जाता है तो उपमा रूपक आदि में भी उपमा रूपक से युक्त अर्थ या ज्ञान को ही अलङ्कार मानना चाहिए। और इसीलिए उन्हें भी 'उपमावान्' 'रूपकवान्' ऐसे कुछ नम दिए जाने चाहिए। फिर यह एक अत्यन्त शूल तथ्य है कि अर्थ और अलङ्कार में अगाधिभाव है। अभेद नहीं। पद को ससन्देहादि नाम देने पर अलङ्कार में शब्दा-लङ्कारत्व मानना होगा जबकि है वे अर्थालङ्कार। ज्ञान को अलङ्कार मानना कुछ समझ में आने की बात है किन्तु सन्देह और भ्रान्ति भी अपने आप में ज्ञान ही हैं। अतः 'ज्ञानवान् ज्ञान' कहने के भ्रमान्त ससन्देह या भ्रान्तिमान् कथन अन्योन्याग्रयत्व या पौनरुक्त्य दोष से युक्त ठहरता है। वस्तुतः विरोधाभास में जैसे विरोधज्ञान की आभासात्मकता अथवा प्रातिभासिक विरोधज्ञान ही अलङ्कार है और इसी कारण 'विरोध' को 'विरोधवान्' नाम नहीं दिया जाता वैसे ही सदेहात्मक या भ्रान्त्यात्मक ज्ञान ही वस्तुतः अलङ्कार है, अतः उनका नाम भी सन्देह या भ्रान्तिमान् न होकर सन्देह तथा भ्रान्ति ही होना चाहिए। सबसे अधिक महत्त्व की बात यह है कि अलङ्कारों में नाम का मिश्रण चमत्कारकारी तत्त्व के आधार पर होता है। इसीलिए साहित्य की चारों विशेषताएँ रहने पर भी अनन्वय उपमेयोपमा और प्रतीप को मित्र अलङ्कार माना जाता है। उत्प्रेक्षा, अपहृति, अतिशयोक्ति और रूपक में अभेद की समानता रहने पर भी मभावना, अपहृष, अतिशय तथा आरोप इन चमत्कार हेतुओं में भेद होने से उन अलङ्कारों में स्वरूपतः तथा नामतः भेद माना गया है। प्रस्तुत सन्देह में चमत्कार का कारण सन्देह ही है। इसी प्रकार भ्रान्तिमान् में भी भ्रान्ति ही। अतः इन अलङ्कारों के नाम भी केवल सन्देह और भ्रान्ति ही होने चाहिए।

वृत्ति की अन्तिम पक्ति में 'नुशब्दस्य समावनाद्योतकत्वात्' के स्थान पर निर्णयसागरीय प्रति में 'नुशब्दस्य समावनाद्योतकसत्त्वात्' छपा है तथा संजीविनीसहित छपे संस्करण में डा० रामचन्द्र दिवेदी ने 'नुशब्दस्य द्योतकत्व मत्त्वा' पाठ दिया है। हमारा पाठ विमर्शिनी पर आधृत है और—

“मन्ये शङ्खे भ्रुवं प्रायो नूनमित्येवमादिभिः।

उत्प्रेक्षा व्यन्यते शब्दैरिवशब्दोऽपि तादृशः ॥”—२।२३४ काव्यादर्श।

इसमें आप आदि पद के अनुसार 'नु'-शब्द उत्प्रेक्षा का वाचक माना भी जा सकता है। इसी प्रमाण के अनुसार 'श्व'-शब्द भी उत्प्रेक्षावाचक होता है। अतः निर्णयसागरीय विमर्शिनी में 'अत्रैवादि०' के स्थान पर छपा 'अश्वैवादि०'—पाठ असंगत है। वहाँ इस अंश का 'पाठान्तर' अश्वैव चैवादि भी दिया है।

संजीविनीकार ने सन्देहालङ्कार का कारिकाबद्ध निरूपण इस प्रकार किया है—

'मन्देहोऽप्रकृतद्वारा प्रकृतं सत्प्ररोहं यदि।

प्रतिमोत्थापितः सोऽयं सन्देहालङ्कारकृतिर्मतः ॥'

'संदेह अप्रकृत के द्वारा यदि प्रकृत का स्पर्श करे और यदि वह सदेह प्रतिमोत्थापित हो तो वह सन्देहालङ्कारकृति माना जाता है।'

[ सर्वस्व ]

[ सू० १९ ] सादृश्याद् वस्त्वन्तरप्रतीतिभ्रान्तिमान् ।

असम्यग्ज्ञानत्वसाधर्म्यात्संदेहानन्तरमस्य लक्षणम् । भ्रान्तिश्चित्त-  
धर्मः । स विद्यते यस्मिन्भणितिप्रकारे स भ्रान्तिमान् । सादृश्यप्रयुक्ता  
च भ्रान्तिरस्य विषयः । यथा—

‘ओष्ठे विम्वफलाशयालमलकेपूपाकजम्बूधिया  
कर्णालंघृतिभाजि दाडिमफलभ्रान्त्या च शोणे मणौ ।  
निष्पत्या सरुदुत्पलच्छददशामात्तकलमानां मरौ  
राजन्गुर्जरराजपञ्जरशुकैः सद्यस्त्वा मूर्च्छितम् ॥’

गाढमर्मप्रहारादिना तु भ्रान्तिर्नास्यालंकारस्य विषयः । यथा—

‘दामोदरकराघातचूर्णिताशेषवक्षसा ।  
दृष्टं चाणूरमल्लेन शतचन्द्रं नभस्तलम् ॥’

सादृश्यहेतुकापि भ्रान्तिर्विच्छिद्यर्थं कविप्रतिभोत्थापितैव गृह्यते, यथो-  
दाहृतम्, न स्वरसोत्थापिता शुक्तिकारजतवत् । एवं स्याणुर्वा स्यात्पुरुषो  
वा स्यादिति संशयेऽपि बोद्धव्यम् ।

[ सूत्र १९ ] सादृश्य के कारण [ एक वस्तु पर ] दूसरी वस्तु की प्रतीति भ्रान्तिमान्  
[ अलंकार कहलाती है ] ।

[ वृत्ति ] सम्यक् ज्ञान के अभाव की समानता के आधार पर संदेह के [ तुरन्त ] पश्चात्  
इसका लक्षण दिया जा रहा है । भ्रान्ति चित्त का एक धर्म है । वह रहता है जिस उक्ति प्रकार में  
बढ़ होता है भ्रान्तिमान् । [ किन्तु ] इस भ्रान्तिमान् उक्तिप्रकार = अलंकार का क्षेत्र [ केवल ] सादृ-  
श्यमूलक भ्रान्ति है । जैसे—

हे राजन् ! एकाएक ज्यों ही वह विदित हुआ [ निष्पत्ति ] कि वे नीलकमल की पंखुड़ी से  
नेत्रों वाली थकी थकी सुन्दरियाँ ही तो [ निराश होकर ] गुर्जरराज के पञ्जरवद्ध शुक मरुस्थल में  
पिपासा से तत्काल मूर्च्छित हो गय; क्योंकि [ इसके पहिले ] वे [ उन सुन्दरियों के ] ओठों  
को विन्वफल समझ बैठे थे, नीले केशों पर तो उन्हें परिपक्व जामुन का आत्यन्तिक निश्चय  
ही हो गया था और कर्णफूल के लाल ( माणिक्यमणि ) को वे मान बैठे थे अन्तर् ।’

इसके विरुद्ध जो भ्रान्ति [ चकराना ] मर्मस्थान पर गहरी चोट आदि से होती है वह इस  
अलंकार का क्षेत्र नहीं होती । जैसे—

‘श्रीकृष्ण की मुट्ठी की चोट से जिसकी पूरी छाती चूर चूर हो गई थी ऐसे चाणूर नामक  
प्रहलवान ने देखा कि आकाश में सँझड़ो चन्द्र निकले हैं ।’

[ साथ ही ] जो भ्रान्ति सादृश्यमूलक भी होती है वह भी तभी अलंकार बनती है जब वह  
कविकल्पित होती है, जैसा कि पूर्वदश उदाहरण [‘ओष्ठे०’ इत्यादि] से स्पष्ट है न कि लौकिक भ्रान्ति  
यथा छिपनी में चौंकी की भ्रान्ति । इसी प्रकार ‘यातो यह दूँठ होगा या आदनी होगा’—इत्यादि  
लौकिक संशय में भी समझना चाहिए [ कि वह कविकल्पित न होने से अलंकार नहीं है ] ।



## विमर्शिनी

सादृश्यादित्यादि । असम्यग्ज्ञानत्वसाधर्म्यादिति न पुनरारोपगर्भत्वसाजायाह्वयित-  
मिति भावः । आरोपो हि विषयविषयिणोर्युगपदेकप्रमार्त्विपयोऽकृतत्वे भवतीति नारोप-  
गर्भोऽत्र भ्रमः क्वचिदपि सभवति, शुक्तिकादीनां शुक्तिकादिरूपतयावगमे रजताद्यभिमाना-  
भावात् ।

ननु भ्रान्तिश्चित्तधर्मः स यस्यास्ति स भ्रान्तिमानिति वक्तुं न्याय्यं तत्कथमलङ्कारस्यै-  
तदभिधानमित्याशङ्क्याह—भ्रान्तिरित्यादि । स इति भ्रणितिप्रकारः अलङ्कारे भ्रान्ति-  
मच्छब्द उपचरित इति भावः । सादृश्यप्रयुक्तेति । न तु

‘कामशोकभयोन्माद्चौरस्व’ नाद्युपप्लुताः ।

अभूतानपि पर्यन्ति पुरतोऽवस्थितानिव ॥’

इत्याद्यभिहितवान्तरनिमित्तोत्थापितेर्यर्थः । अतश्च सादृश्यनिमित्तैव भ्रान्तिरलङ्कार-  
विषय इति तात्पर्यार्थः । एवं च—

‘प्रासादे सा पथि पथि च सा पृष्टतः सा पुर’ सा

पर्यङ्के सा दिशि दिशि च सा तद्वियोगानुरस्य ।

हहो चेत्त. प्रकृतिरपरा नास्ति ते कापि सा सा

सा सा सा सा जगति सकले षोऽयमद्वैतवादः ॥’

इत्यत्रैकस्या एव परिमिताया अपि योपितो गाढानुरागाद्देतुकं तन्मयतानुसंधानं  
प्रासादादावनेकत्र युगपत्प्रतीतौ निमित्तमिति न भ्रान्तिमदलङ्कारः । स हि प्रासादादेर्वल्ल-  
भारूपत्वेन प्रतीतौ स्यात् । अन्यम्यान्यरूपत्वेन सम्यग्भिधानात्मा निश्चयो हि भ्रान्ति-  
मल्लक्षणम् । न च प्रासादादिर्वल्लभावेन प्रतीयत इति स्फुट एवाय विशेषालङ्कारस्य  
विषयः । अथ प्रासादादावभूताया अपि वल्लभाया दर्शनाद् भ्रान्तिरिति चेत्, नैतत् । एवं  
इत्यत्र भ्रान्तिमात्रं स्यात्प्रालङ्कारः । गाढानुरागात्मकनिमित्तसामर्थ्यात्स्वरसत एव प्रासादा-  
दावसत्या अपि युवस्याः प्रतीतिसमुल्लासाः । कविप्रतिभानिर्वर्तित्वाभावात् । ‘देवमपि  
हर्षं पितृशोकविह्वलीकृतं श्रियं स्ताप इति महीं महापातकमिति राज्य रोग इति भोगान्-  
भुजगा इति निलयं निरय इत्यादि मन्यमानम्’ इत्यादावपि न भ्रान्तिमदलङ्कारः । तत्र  
हि विषयानवगम एव निमित्तसामर्थ्यात्स्वरसत एव विषयप्रतीतिरुल्लेखः । शुक्तिकादीनां  
शुक्तिकादिरूपतयावगमे रजताद्यभिमानानुदयादिति समनन्तरमेवोच्छ्रयात् । इह  
पुनर्विषयरूपा श्रियमवगम्यापि श्रीहर्षेण पितृशोकविह्वलीकृतवाच्छ्रापत्वेन भाष्यत इति  
विषमालङ्कारो ज्ञायान् ।

‘दातुं वान्छति दक्षिणेऽपि नयने वामः करः कज्जलं

भौजंगं च भुजोऽङ्गदं घटयितुं वामेऽपि वामेतरः ।

इत्थं स्वं स्वमक्षिणितं भगवतोरर्थं वपु पर्यतोः

साधारस्मिन्लान्छितं दिशतु नो चक्त्र मनोवान्छितम् ॥’

इत्यत्रापि संस्कार एवालङ्कारो न भ्रान्तिमान् । अथ हि भगवत्या नेत्रद्वयाञ्जनदान-  
सतताभ्यासाद्दामनेत्राञ्जनदानानन्तरं दक्षिणेनेत्राञ्जनदानवासनानुरोधो जायत इति  
संस्कारस्यैव वाक्यार्थत्वम् । अथात्र संस्कारप्रबोधं विना तदभावाद्दञ्जनदान-  
संस्कारहेतुका भगवदर्थस्य स्वार्थत्वेनाभिमानरूपा भगवत्या भ्रान्तिरेवेति चेत्-  
नैतत् । प्रयुतात्र हि भगवदर्थस्य तथात्वेनैवावगमाद्दञ्जनदानसंस्कारो न प्ररोह-

मुपागत इति कारणस्यैव स्वलङ्कारित्वात्तत्कार्यस्य भ्रमस्योत्पाद एव न संभवतीति न भ्रान्तिमतोऽवकाशः । प्ररुढ एव हि संस्कारो भ्रमः । स्वात्ममात्रावस्थितस्तु संस्कारालंकारः । अत एव दातुं वान्ङ्गतीत्युक्तम् । एवं चात्र नेत्रद्वयाब्जनदानसतताभ्यासहेतुकाः संस्कार एव प्रतीयते न तु तन्निमित्तकोऽपि भ्रमः परमः । परमेश्वरार्थस्य तथात्वेनैवावगमात्तद्ग्रन्थस्याप्यभावात् । अत एवाशिक्षितं स्मितलाञ्छितं चेत्युक्तम् । अवान्तर एवानयोर्विशेषोऽलंकारभाष्य एवोक्त इति तत एवानुसर्तव्य इति । एवं च सादृश्यनिमित्तैव भ्रान्तिरलंकारविषयो न निमित्तान्तरोऽस्थापितेति न लक्षणस्याव्यापकत्वं वाच्यम् ।

एवं सादृश्यनिमित्तकत्वादस्य साधारणधर्मस्यापि त्रयी गतिः । तत्रानुगामिता यथा—  
नीलोत्पलमिति भ्रान्त्या विकसितविलोचनम् ।

अनुधावति मुग्धाच्च परय मुग्धो मधुवतः ॥'

अत्र विकासीत्यनुगामित्वेन निर्दिष्टो धर्मः । शुद्धसामान्यरूपत्वं तु यथा—

'अयमहिमरुचिर्भजन्प्रतीचीं कृपितवलीमुखतुण्डताम्रविम्बः ।

जलनिधिमकरैरुदीचयते द्राक्षन्वहृधिरारुणमांसपिण्डलोभात् ॥'

अत्र ताम्रस्वारुणत्वयोः शुद्धसामान्यरूपत्वम् । विम्बप्रतिविम्बभावो यथा—

'पुसिधा कृष्णाहरणेन्दुनीलकिरणाहृआ ससिमऊहा ।

भाणिणिवक्षणमि सकजलं सुसङ्गाए दृष्टएण ॥'

अत्र सकजलत्वेन्द्रनीलकिरणाहृत्त्वयोर्विम्बप्रतिविम्बभावः । सादृश्यनिमित्तकत्वमेव चास्य द्रढयितुं प्रत्युदाहरति—गाढेत्यादिना । सादृश्यनिमित्तकत्वेऽपि कविप्रतिभोऽस्थापितैव भ्रान्तिरस्यैव विषयो न पुनर्वास्तवोऽस्याह—सादृश्येत्यादि । उदाहृतमिति । ओष्ठे विम्बफलाशयेत्यादि । एतदेव संदेहेऽपि योजयति—एवमित्यादि । संशय इति । अर्थादारोपार्थ एव । तत्रैव ह्यस्य सादृश्यं निमित्तम् । अध्यवसायमूले हि संदेहे सादृश्यात्सम्बन्धान्तराद्वा विषयविषयिणोः संदिह्यमानत्वं स्यात् यथोदाहृतं प्राक् । एवमारोपार्थत्व एव सादृश्यं विना नायमलंकार इत्यवगन्तव्यम् । तस्माद्विशेषेणैव साधर्म्यं विहायापि निमित्तान्तरमवलम्ब्य नास्यालंकारत्वं वाच्यम् । सादृश्येऽपि कविप्रतिभोऽस्थापितस्यैवालंकारत्वं न पुनः स्वारसिकस्येति ।

विमर्शिनी—असम्यग्ज्ञानत्व के साधर्म्य से न कि आरोपार्थत्व के साधर्म्य से भ्रान्तिमान् का लक्षण संदेह के बाद तुरन्त किया । आरोप जो है तब होता है वह जब विषय और विषयी दोनों किसी एक ही शता के ज्ञान का विषय बनें इसलिये भ्रम कभी भी आरोपाश्रित नहीं हो सकता क्यों कि शुक्ति आदि का ज्ञान यदि शुक्ति आदि के रूप में ही होता है तो उसमें रजत आदि का विपर्ययात्मक ज्ञान नहीं होता ।

'भ्रान्ति एक चित्त धर्म है अतः भ्रान्तिमान् जिसे भ्रान्ति ही उस व्यक्ति को कहा जाना चाहिये; अलंकार को भ्रान्तिमान् क्यों कहा जा रहा है'—ऐसी शंका कर उसका उत्तर देने हेतु लिखते हैं—'भ्रान्तिः' इत्यादि । 'स'—'वह' अर्थात् भाषितप्रकार । इस प्रकार अलंकार के लिए 'भ्रान्तिमान्' शब्द का प्रयोग लाक्षणिक है [ मूलतः वाचक है वह भ्रान्तिरुक्त व्यक्ति का ] ।

सादृश्यप्रयुक्त न कि—'काम, शोक, भय, उन्माद चौर स्वप्न आदि से उद्भिन्न व्यक्ति असत्य वस्तुओं को भी सामने उपस्थित सा देखते हैं—' इत्यादि वानर्थों में प्रतिपादित अन्य निमित्तों से प्रयुक्त । इसलिये तात्पर्य यह निकला कि सादृश्यनिमित्ता भ्रान्ति ही भ्रान्तिमदलंकार का विषय होती है । [ अलंकाररत्नाकरकार ने सादृश्येतरकारणमूलक भ्रान्ति को भी भ्रान्तिमदलंकार

माना है और 'प्रासादे सा०' आदि पद्य ही उदाहरणरूप से प्रस्तुत किया है। इसके उल्लेख में विमर्शिनीकार लिखते हैं ] इस प्रकार—

‘उमङ्गे वियोग में आतुर मुझे प्रासाद में वही दिखार देती है और रास्ते रास्ते में वही, पीछे बड़ी, सामने वही और दिशा दिशा में वही, अरे चित्त तुझे कुछ और सूझता ही नहीं। सपूर्ण विश्व में केवल वह वह वह वह। आतुर यह कैसा अर्धवेनवाद है ?

—यहाँ नायिका एक ही है और उसकी अवस्थिति भी कहीं एक ही स्थान पर है तथापि प्रासाद आदि अनेक स्थानों में एक साथ उसकी प्रतीति हो रही है। इस प्रतीति में कारण है गाढ़ अनुराग से जनित तन्मयता का बोध। अतः यह भ्रान्ति भ्रान्तिमदलकार नहीं है। वह तब होता जब प्रासाद आदिका ज्ञान बलभारूप से होता क्योंकि ऐसे निश्चयकी ही तो भ्रान्तिमान् माना जाता है जिसमें मित्र वस्तु का मित्ररूप से कथन हो किन्तु वक्ता समझे कि वह ठीक कह रहा है। किन्तु यहाँ प्रासाद आदि का बलभारूप से प्रतीति नहीं हो रही है इसलिए स्पष्ट रूप से यहाँ विमर्शालंकार है। यदि यह कहा जाय कि प्रासाद आदि में अविद्यमान होने पर भी बलभा के दिखार देने से भ्रान्ति है तो वह भी निरर्थक है। क्योंकि ऐसा मानने पर यहाँ भ्रान्तिमात्र सिद्ध होगी भ्रान्तिमदलकार नहीं। ऐसा इसलिए कि यहाँ प्रासाद आदि में अविद्यमान होने पर भी बलभा की जो भ्रान्ति हो रही है वह कविप्रतिभाप्रसूत नहीं है। उसका कारण है गाढ़ अनुराग। अतः वह लौकिक भ्रान्ति ही है। इसी प्रकार [ रत्नाकरकार ने ] ‘महाराज हर्ष भी पितृशोक से विह्वल होकर श्री को शाप, मही को महापातक, राज्य को रोग मोगों को भुजग, प्रासाद को नरक आदि मान रहे थे।’—[ इस स्थल में भी भ्रान्तिमदलकार माना है किन्तु ] यहाँ और अन्य स्थलों में भी भ्रान्तिमदलकार नहीं है। क्योंकि उस [ भ्रान्ति ] के [ वास्तविक ] विषय [ भ्रान्ति के आधार ] की प्रतीति नहीं होती [ अपितु किसी ] निमित्त [ जिसे दोष कहा जाता है ] के बल पर [ अन्य किसी ] विषय की प्रतीति हो उठती है। यह अभी अभी कहा गया है कि ‘शुक्ति आदि का शुक्ति आदि के रूप से ज्ञान हो जाने पर उसके ऊपर रजत आदि की भ्रान्ति नहीं हो पाती। प्रस्तुत [ देव, हर्ष० ] उदाहरण में श्री विषय है और श्रीहर्ष को उसकी प्रतीति भी होती है। उसे वह शाप रूप इस कारण मानता है कि वह पितृशोक से विह्वल है। अतः यहाँ विमर्शालंकार ही अधिक प्रबल है। [ इसी प्रकार अलंकाररत्नाकरकार मद्रेशोमाकर ने— ] ‘बापों हाथ दाहिनी ओख में भी काजल लगाने लगना है और दाहिना हाथ भी बाएँ हाथ में सर्पका कंकण पहनाने लगता है। इस प्रकार नवीन अभ्यास से रहित अपने-अपने अर्ध भाग को देखकर भगवान् शिव तथा पार्वती जी का एकसाथ समानरूप [ साधार = साधारण = समान ] से या सकारण-स्मित युक्त हुआ मुख हमें हमारा मन चाहा लाभ प्रदान करे।’ यहाँ भी [ भ्रान्तिमान् अलंकार माना है किन्तु यहाँ भी ] केवल मस्कारालंकार ही है भ्रान्तिमान् अलंकार नहीं। यहाँ भगवती पार्वती को दोनों नेत्रों में अंजन लगाने का जो उदाहरण का अभ्यास है उसी से उन्हें बाएँ नेत्र में भी काजल लगाने के बाद दाहिने नेत्र में भी काजल लगाने की वासना बाध्य कर देती है। इस कारण यहाँ सस्कार ही वाक्यार्थ और इसलिए प्रधान है। यदि कहा जाय कि ‘सस्कारप्रबोध के बिना वैसा होना संभव न होने से शिवरूप अर्धभाग को निजलक्ष्य अर्ध समझ बैठने की अजनदानाभ्यासमूलक भ्रान्ति ही भगवती पार्वती को हुई’ तो यह ठीक नहीं है। वस्तुतः स्थिति उल्टी है। यहाँ भगवती पार्वती द्वारा भगवान् शिवरूपी अर्धभाग को शिवरूपी अर्धभाग ही समझा जा रहा है। इसलिए अजनदानमस्कार पूरा उभर नहीं पाता [ उनके उदित होते ही उसका बोध भी हो जाता है। इसलिए अंजन लगाने की मिश्रित चेष्टा संग्रह नहीं हो पाती अतः उसके आधार पर सिद्ध होने वाला भ्रम भी उत्पन्न नहीं हो पाता अतः यहाँ

भ्रान्तिमान् नामक अलंकार संभव नहीं है। जो संस्कार प्रस्ट हो जाता है वही भ्रम होता है। यहाँ तो संस्कार अपने तक ही सीमित है अतः संस्कार नामक ही अलंकार है। इसीलिए स्वयं कवि ने भी कहा है—'दिना चाहता है' [ न कि देता है ]। इस प्रकार यहाँ दोनों आँखों में अज्ञान लगाने के सतत अभ्यास से बना केवल संस्कार ही प्रतीत होता है, न कि उस संस्कार से होने वाला भ्रम भी। न तो यह भ्रम यहाँ ऐकान्तिक रूप से भ्रम ही सिद्ध हो पाता क्योंकि शिव का अर्धशरीर यहाँ उसी रूप में अर्थात् शिव के अर्ध शरीर के रूप में ही मासित होता है। इस कारण भ्रम का यहाँ गन्ध भी संभव नहीं है। इसीलिए श्लोक में भी 'अशिक्षित' और 'स्मितलाञ्छित' ये विशेषण रखे गए हैं। इस प्रकार इनमें थोड़ा सा ही अन्तर है। वह अलंकार-भाष्य में बतलाया जा चुका है, अतः उसे वहाँ से समझ लेना चाहिए। इस प्रकार सादृश्य निमित्ता भ्रान्ति ही भ्रान्तिमान् नामक अलंकार का विषय है, अन्य निमित्त से हुई भ्रान्ति नहीं। इसलिये [ सर्वस्वकार के भ्रान्तिमान् के ] लक्षण में अव्याप्ति दीप नहीं निकाला जा सकता।

इसी प्रकार सादृश्यमूलक होने से इसमें भी साधारण धर्म तीन प्रकार का होता है। उसमें अनुगामी साधारण धर्म का उदाहरण यथा—

'हे मुग्धाक्षि ! देख, तेरे खिले हुए नेत्र को नीले कमल समझकर भ्रम में पड़ा भोला मधुकर उसकी ओर दौड़ रहा है।'

यहाँ 'विकासी' = 'खिले हुए' यह धर्म अनुगामी धर्म के रूप में कथित है। शुद्ध सामान्यरूप धर्म का उदाहरण यथा—

'कुपित वानर के मुख सा ताम्रवर्ण का यह प्रतीची में पहुँचा सूर्य समुद्र के घडियाळों द्वारा मांस के रुधिरार्द्र नवीन पिण्ड के लीम से बड़ी तत्परता के साथ देखा जा रहा है।'

—यहाँ ताम्रत्व और अरुणत्व शुद्धसामान्य धर्म हैं। विन्वप्रतिविन्वभाव का उदाहरण यथा—

'प्रोञ्छिताः कर्णामरणेन्द्रनीलकिरणाहताः शशिमयूखाः।

मानिनीवदने सकञ्जलाशुशङ्कया दचितेन ॥'

'करनमूल के नीलम की किरणों से चन्द्रकिरणों को प्रिय ने मानिनी के चेहरे से यह समझ कर पौछ दिया कि ये कञ्जलमिश्रित आँसू हैं।']

—यहाँ सकञ्जलत्व [ अर्थात् कञ्जल ] तथा 'इन्द्रनीलकिरणाहतत्व' [ अर्थात् इन्द्रनीलमणिकिरण ] में विन्वप्रतिविन्वभाव है।

इसकी सादृश्यनिमित्तकता को ही और अधिक दृढ़ता से सिद्ध करने के लिए विपरीत उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—गाढ इत्पादि अन्यांशु द्वारा। 'सादृश्यनिमित्तक होने पर भी क्विकल्पित भ्रान्ति ही भ्रान्तिमदलंकार का विषय बनती है, वास्तविक नहीं—इस तथ्य को स्पष्ट करते हैं—सादृश्य इत्पादि द्वारा। उदाहृत अर्थात् 'ओष्ठे विन्मफलाशया' इत्यादि पद्य के रूप में। यही सिद्धान्त सन्देह में भी लागू करते हुए कहते हैं—पुत्रम०। संशय = अर्थात् आरोपगमित संशय ही। वहाँ जो संशय का कारण सादृश्य बन पाता है। संदेह को यदि अश्वत्थामूलक भी मान लिया जाए तो उसमें विषय तथा विषयी सादृश्य तथा तदितर अन्य संबन्ध से भी संदेह विषय बनने लगेंगे। जैसा कि पहले उदाहरण देकर बताया जा चुका है। इसी प्रकार यह भी जानना चाहिए कि आरोपगमित भी ही किन्तु यदि सादृश्यमूलक न हो तो संदेह नहीं बनता। अतः इसी प्रकार भ्रान्तिमान् को भी सादृश्य छोड़कर अन्य कारण से जनित होने पर अलंकार नहीं मानना चाहिए। सादृश्यमूलक होने पर भी क्विकल्पित होने पर ही यह अलंकार अलंकार होता है, न कि वास्तविक, लौकिक या त्वारसिक होने से।

**विमर्शः**—अलङ्काररत्नाकरकार ने भ्रान्ति को सादृश्यमूलक न होने पर भी अलङ्कार माना है, और 'प्रासादे सा०' 'देवमपि हर्षम्०' 'दातुं वाञ्छति०'—ये तीनों पद्य भी प्रस्तुत किए हैं। विमर्शिनीकार ने उन्हें एक एक कर उद्धृत किया है और उनका सण्डन किया है। सण्डन में विशेषता यह है अलङ्काररत्नाकरकार की पदावली का किञ्चित् हेर फेर के साथ उसी प्रकार प्रयोग किया गया है जिस प्रकार व्यक्तिविवेक में ध्वन्यालोक की पदावली का विमर्शिनीकार 'प्रासादे सा०' पद्य में 'प्रासाद' आदि का प्रतीति बहमा के अधिकरण के रूप में मानते हैं और कहते हैं कि यदि प्रासाद आदि का प्रतीति बहमारुप में होती तो भ्रान्ति समभव भी। रत्नाकर प्रासाद आदि में बहमारूपत्व ही मानते हैं। उनकी पक्ति है—'प्रासादे सा०'—अत्र गाढरागानुभवहेतुक तन्मय-तानुमयान प्रासादादेर्वहमारूपत्वेन प्रतीती निमित्तम् ।' विमर्शिनीकार ने अनुभव की दुहाई देकर इसका सण्डन इसी पदावली में जिस प्रकार किया है वह—'इत्यत्रैकस्या एव परमिताया अपि योपितो गाढानुगागहेतुक विशेषालकारस्य विषय'—इस पक्ति से स्पष्ट है। इसी प्रकार रत्नाकरकारने 'देवमपि हर्षम्' में माना है कि यहाँ 'श्री'—आदि का ज्ञान कविनिष्ठ है और 'ज्ञाप' आदि का हर्षनिष्ठ। अतः प्रमात्वेद होने से यहाँ वे भ्रान्तिमान् स्वीकार करते हैं। उनकी पक्ति है—'अियम् इत्यादि हि कवेरुक्ति ज्ञाप-इत्यादि भ्रान्तस्य श्रीहर्षस्य भ्रान्तिप्रतीत्यनुकरणमिति मित्रप्रमात्पुत्र्यविषयीकृतत्वेनारोपसमवादाध्यवसायमूल एव भ्रम ।' पृ० ५३। विमर्शिनीकार इसके विरुद्ध यहाँ 'श्री और ज्ञाप' दोनों का ज्ञाता केवल हर्ष को ही मानकर प्रमात्वेदामाव के कारण भ्रान्तिमान् को असमभव बतलाते और विषमालकार का अस्तित्व स्वीकार करते हैं। पद्य विमर्शिनीकार का ही हूब है।

इसी प्रकार निम्नलिखित पक्तियों की पदावली में विमर्शिनी पदावली से तुलनीय है—

१ = एकप्रमात्पुत्र्यविषयीकृतत्वे विषयविषयिणोरारोपां मत । न चारोपगर्भो भ्रमः क्वचिदपि संभवति । शुक्तिकादीनां शुक्तिकदिरूपतयाऽवगमे रजतापमिमानानुदयात् ।

२ = "दातुं वाञ्छति०" = इत्यथ मतनाभ्यासप्रवृद्धमस्कारहेतुका भ्रान्तिरेव । सत्कारबोधं विना तत्र भ्रान्त्यभावात् । न च सत्कारस्य प्रवृद्धत्वे प्रबोधत्वे वा कश्चिद् विशेषो भ्रान्ती । तेनैवमादौ भ्रान्तिरेव ।

३ = यदि च "सादृश्याद् वस्त्वन्तरप्रतीति भ्रान्तिमान्" इत्यव्यापक लक्षणं तर्हि लक्षणांतरं विधेयम् ।

अलङ्काररत्नाकरकार का यह सिद्धान्त ध्यान देने योग्य है—

"प्रतीतिभेदे हि अलङ्कारभेदो युक्तो न निमित्तभेदे, अलङ्कारानन्त्यप्रसंगात् । तद्भेदे तु कवि-प्रतिमोल्यापितविच्छित्तिसद्भावे अन्तर्भाव एव न्याय्यः ।"

—अर्थात् अलङ्कारों में भेद माना जाना चाहिए बोध में भेद न होने पर, न कि कारण में भेद होने पर, कारणभेद में अलङ्कारभेद मानने पर तो अलङ्कार इतने मानने पड़ेगें कि उनकी गिनती तक संभव न होगी। अतः कारण भेद रहने पर भी उसमें यदि कविप्रतिमो-ल्यापित विच्छित्तिसद्भाव हो तो उसको भी एक ही भेद में मगूहीत कर लेना चाहिए।

भ्रान्तिमान् के विषय में उनका कहना है—

'सादृश्यव्यतिरिक्तनिमित्तोल्यापिताया च भ्रान्ती विच्छित्तिविशेषसंभवे कथं नाम अनलङ्कारता ।'

जो भ्रान्ति सादृश्यातिरिक्त निमित्त से जनित हो यदि उसमें भी विच्छित्तिविशेष का सद्भाव हो तो उसे अलङ्कारत्वहीन कैसे कहा जा सकता है।

संपूर्ण विवेचन का संक्षेप अलङ्काररत्नाकरकार ने इस प्रकार किया है—

'सदेहसमावनयोर्व्यथस्ति प्रतीतिभेदः स्फुट एव, तद्वत् ।

सादृश्यहेत्वन्तरयोर्भ्रमेषु न लेशतः कापि विशेषबुद्धिः ॥  
प्रतीतिभेदेन विना न वाच्यः कुत्राप्यलङ्कारगतश्च भेदः ।  
निमित्तभेदेन च भिन्नतायां प्रसज्यते सा खलु संशयादी ॥'

अर्थात् जैसे सन्देह और संभावना में प्रतीतिगत भेद स्पष्ट रूप से लक्षित होता है सादृश्य तथा तद्विक्रम हेतु से होने वाली भ्रान्ति में वैसा लेशमात्र भी नहीं। जबतक प्रतीति में भेद न हो अलङ्कार में भेद नहीं मानना चाहिए। यदि निमित्त भेद से भी भेद माना जाने लगे तो फिर संशय आदि में भी अवान्तर भेदों को भिन्न भिन्न अलङ्कार मानने की नौबत आ खड़ी होगी।'

भ्रान्तिमान् का इतिहासः—

भामहः—	+	+	+
वामनः—	+	+	+
उद्भटः—	+	+	+

रुद्रटः—'अर्थविशेषं पश्यन्नवगच्छेदन्यमेव तत्सदृशम् ।

निःसन्देहं यस्मिन् प्रतिपत्ता भ्रान्तिमान् स इति ॥' ८।८७।

ज्ञाता यदि [ उपमेयरूप ] पदार्थ विशेष को देखकर उसके सदृश किसी अन्य ही पदार्थ का निश्चय कर बैठे तो उसे भ्रान्तिमान् कहते हैं। उदाहरण—

'पालयति त्वयि वसुधां विनिधाध्वरधूममालिनीः ककुमः ।

पश्यन्तो दूयन्ते घनसमयाशङ्कया इंसाः ॥' ८।८८

'आप के पृथ्वी को रक्षा करते रहते दिशाएँ विविध यज्ञ के धूम से युक्त रहती हैं। उन्हें देखकर इंसों का चित्त दुखता है क्योंकि वे उन्हें बादल समझकर बरसात आने के भ्रम में पड़ जाते हैं।'

मम्मटः—'भ्रान्तिमानान्यसंविद तत्तुल्यदर्शने ।'

प्राकरणिक ( उपमेय ) के समान [ अप्राकरणिक = उपमानभूत ] वस्तु के दिखाई देने से प्राकरणिक ( उपमेय ) में उसी समान वस्तु की प्रतीति भ्रान्तिमान् ।

उदाहरण—'कपाले मार्जारः पय इति कराल्लेढि शशिनः' । = कसोरे में पड़ रही चन्द्र-किरणों को विहरी दूध समझकर चादने लगती है।'

इस विवरण से स्पष्ट है कि भ्रान्तिमान् के प्रवर्तक रुद्रट ही हैं। मम्मट ने भी कदाचित् भ्रान्तिमान् को अलङ्कारों में नहीं विना, क्योंकि यह अलङ्कार परिकरालङ्कार के बाद के अलङ्कारों में है। ऐसी प्रसिद्धि है कि काव्यप्रकाश का निर्माण मम्मट ने परिकर तक ही किया है। शेषांश की पूर्ति हरविजय के टीकाकार अलक अथवा किसी अल्लटनामक विद्वान् ने की है। अन्तरंग प्रमाणों से यह तथ्य वास्तविक भी प्रतीत होता है। परिकर के बाद काव्यप्रकाश की पंक्तियों में वैसी कत्तावट नहीं है। दूसरा प्रमाण यह है कि काव्यप्रकाश में जैसा कि उद्धृत प्रमाण से स्पष्ट है, भ्रान्तिमान् को सादृश्यमूलक अलङ्कार माना गया है किन्तु उसकी गणना फुटकल अलङ्कारों में बहुत आगे जाकर की गई है।

आचार्य दण्डी ने भ्रान्तिमान् को उपमालङ्कार के अन्तर्गत मोहोपमा नाम से स्वीकार किया है—

'शशीत्युत्प्रेक्ष्य तन्वद्भि त्वन्मुखं, त्वन्मुखाशया ।

इन्दुमप्यनुधावामोत्पेया मोहोपमा स्मृता ॥ २।२५

मैं तुम्हारे चेहरे को चन्द्रमा समझ बैठता हूँ, अतः तुम्हारे विरह में चन्द्र को तुम्हारा मुख समझ पकड़ने दौड़ता हूँ।

अग्निपुराण में मोहोपमा को भ्रान्तिमान् कहा भी है—

‘प्रतियोगिनमारोप्य तदभेदेन कीर्त्तनम् ।

उपमेयस्य दन्मोहोपमासौ भ्रान्तिमद् वच ॥’

लगभग १२ वीं शती में ही हुए वाग्भट ने भ्रान्तिमान् स्वीकार किया है—

‘वस्तुन्यन्यत्र कुप्रापि तत्तुल्यस्यान्यवस्तुनः ।

निश्चयो यत्र भावेन भ्रान्तिमान् स स्मृतो यथा’ ॥ ४।७३॥

‘हिमकमलमिति वदने नयने नीलोत्पलमिति प्रसृताक्षि ।

कुसुममिति तद्वहसिते निपतति भ्रमराणां श्रेणि ॥’

जहाँ अन्य वस्तु में तत्तुल्य अन्य किसी वस्तु का निश्चय हो जाय उसी को भ्रान्तिमान् कहा जाता है । यथा—‘हि आयनाक्षि । मौरों की पाँव तुम्हारे चेहरे पर उसे हेमाम्बोज समझकर दूट पड़ती है, नेत्र पर नीलकमल समझ तथा ईंसी पर पुष्प समझकर ।’ सञ्जीविनीकार ने इस अलङ्कार को सश्लिष्टरूप में इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

‘सादृश्योत्पाप्ता भ्रान्तिर्यत्र स भ्रान्तिमान् मद्रः ।

अर्थात् भ्रान्ति अहाँ सादृश्यजनित ही वह भ्रान्तिमान् ।

### [ सर्वस्व ]

[ सू० २० ] एकस्यापि निमित्तवशादनेकधा ग्रहणमुल्लेखः ।

यत्रैकं वस्त्वनेकधा गृह्यते स रूपवाहुल्योल्लेखनाहुल्लेखः । न चेदं निर्निमित्तमुल्लेखमात्रम्, अपि तु नानाविधधर्मयोगित्वात्प्यनिमित्तवशादेतत्क्रियते । तत्र रुच्यर्थित्वव्युत्पत्तयो यथायोगं प्रयोजिकाः । तदुक्तम्—

‘यथावच्चि यथार्थित्वं यथाव्युत्पत्तिं भिद्यते ।

आभासोऽप्यर्थ एकस्मिन्ननुसंधानसाधिते ॥’ इति ॥

यथा—‘यस्तपोवनमिति मुनिभिः कामायतनमिति वैश्याभिः संगीतशालेति लासकैः’ इत्यादि हर्षचरिते श्रीकण्ठाख्यजनपदवर्णने । अत्र ह्येक एव श्रीकण्ठाख्यो जनपदस्तत्तद्गुणयोगात्तपोवनाद्यनेकरूपतया निरूपितः । रुच्यर्थित्वव्युत्पत्तयश्च प्रायशः समस्तव्यस्ता योजयितुं शक्यन्ते । नन्येतन्मध्ये ‘यत्र उल्लापमिति शरणागतैरसुराविवरमिति वातिकैः’ इत्यादौ रूपकालंकारयोग इति कथमयमुल्लेखालंकारविषयः । सत्यम् । अस्ति तावत् ‘तपोवनम्’ इत्यादौ रूपकविधिकोऽस्य विषयः । यत्र वस्तुतस्तद्रूपतायाः संभवः । यत्र तु रूपकं व्यथस्वित्तत्र चेदियमपि भङ्गिः संभाविनी तत्संक्रोऽस्तु । न त्वेतावतास्याभायः शक्यते वक्तुम् । ततश्च न दोषः कश्चित् । एवं हि तत्र विषये भ्रान्तिमदलंकारोऽस्तु अतद्रूपस्य तद्रूपताप्रतीतिनिबन्धनत्वात् । नैतत् । अनेकधाग्रहणाद्यस्यापूर्वस्यानिशयस्याभावात्, तद्वेतुं कस्याच्चास्यालंकारस्य । संक्रप्रतीतिस्वङ्गीकृतैव । यद्येवम्, अमेदे भेद इत्येवंरूपातिशयोक्तिरत्रास्तु । नैव दोषः । प्रहीतभेदाख्येन विषयविभागेनानेकधात्वोद्भूनात्तस्य च

विच्छिद्यन्तररूपत्वात् सर्वथा नास्यान्तर्भावः शक्यक्रिय इति निश्चयः ।  
यथा वा—

‘णाराधणो च्छि परिणववश्राहिं सिरिवल्लहो च्छि तरुणीहिं ।

वालार्हि उग कोदूहलेण एमे अ सच्चविभो ॥’

एवम् ‘शुरुर्वचसि पृथुररसि अर्जुनो यशसि’ इत्यादाववसेयम् । इयांस्तु विशेषः—पूर्वत्र ग्रहीतृभेदेनानेकधात्वोल्लेखः, इह तु विषयभेदेन । नन्वनेकधात्वोल्लेखने गुर्वादिरूपतया श्लेष इति कथमलंकारान्तरमत्र स्थाप्यते । सत्यम् । अनेकधात्वनिमित्तं तु विच्छिद्यन्तरमत्र दृश्यते इति तत्प्रतिभोत्पत्तिहेतुः श्लेषोऽत्र स्यात् । न तु सर्वथा तदभावः । अतश्चालंकारान्तरं यदेवंविधे विषये श्लेषाभावेऽपि विच्छित्तिसद्भावः । तस्मादेवमादाबुल्लेख एव श्रेयान् । एवमलंकारान्तरविच्छिद्यस्याश्रयेणाप्ययमलंकारो निदर्शनीयः ।

[ सू० २० ] कारणवशाद् एक ही वस्तु का अनेक प्रकार से ज्ञान उल्लेख ।

[ वृ० ] जहाँ एक ही वस्तु अनेक प्रकार से जानी जाती है वह अलङ्कार उल्लेख कहलाता है । उल्लेख इसलिए कि उसमें रूपबाहुल्य का उल्लेखन [ अवगम ज्ञान ] रहता है । यह यूँ ही हो जाने वाला सामान्य उल्लेखन नहीं होता, अपितु [ यह अलंकाररूप होता है और ] इसका [ यत्पूर्वक ] निष्पादन किया जाता है जिसमें उपाय बनता है [ पदार्थ की ] विविधभन्त्युक्तता नामक तत्त्व । इस [ विविधभन्त्युक्तता ] में कारण बनते हैं ( १ ) रुचि, ( २ ) अर्थिता तथा ( ३ ) व्युत्पत्ति, किन्तु योग्यता के अनुसार । जैसा कि [ आमान् उत्पद्येवाचार्य ने ] कहा है—‘पदार्थ एक ही हो और उसका ज्ञान भी यत्-पूर्वक ठीक ढंग से किया गया हो तथापि वह ज्ञान उसी रूप में बदल जाता है जैसी ज्ञाता की रुचि रहती है, जैसी उसकी गरज रहती है और जैसी व्युत्पत्ति ।’ जैसे—हर्षचरित के अन्तर्गत श्रीकण्ठ जनपद के वर्णन में—[ निर्णयसागरीय पृष्ठ ९७ पर ] ‘भित्ते मुनिओं ने तपोवन, वैश्याओं ने कामायतन, नटों ने संगीतशाला [ समजा ]—’ इत्यादि । यहाँ श्रीकण्ठ नामक एक ही जनपद तपोवन आदि अनेक रूप से निरूपित है, क्योंकि उस [ जनपद ] में उन [ तपोवन आदि ] के गुण थे । ये जो रुचि, अर्थित्व और व्युत्पत्ति हैं इनकी योजनाएँ एक साथ और पृथक्-पृथक् भी की जा सकती हैं । इस [ श्रीकण्ठ जनपद के वर्णन ] में ‘शरणागत व्यक्तियों ने वज्र का पिजरा, वादिकों [ भूगर्भ में छिपकर साधना करने वालों ] ने अमृतविबर [ पाताल माना ]’ इत्यादि स्थलों में रूपकालङ्कार का पुट भी है तब यह उल्लेखालङ्कार का विषय कैसे हो सकता है ? [ उत्तर ] ठीक है [ किन्तु ] ‘तपोवन’ इत्यादि स्थलों में उल्लेख रूपक से पृथक् भी विद्यमान है, जहाँ वस्तुतः तद्रूपता है । हाँ ! जहाँ रूपक होता है वहाँ यदि इस अलंकार की भी छाया आ जाए तो उसे संकरालङ्कार माना जा सकता है । किन्तु इतने [ सांकेत्य ] भर से इस [ उल्लेख ] का अभाव नहीं माना जा सकता । इसलिए यहाँ कोई दोष नहीं आता । शंका होती है—कि ‘यहाँ [ तपोवनम्० इत्यादि स्थल में यदि संकरालङ्कार नहीं है तो ] भ्रान्तिमदलंकार क्यों न माना जाए, क्योंकि यहाँ अलंकारत्व का मूल है मिश्र में मिश्र वस्तु के अभेद का ज्ञान [ जो भ्रान्तिमान् का जनक है ], [ उत्तर ] ऐसा नहीं [ अर्थात् भ्रान्तिमान् नहीं माना जा सकता ] क्योंकि [ उसमें ] ‘अनेक प्रकार से ग्रहण ( ज्ञान )’ रूची नवीन और विचित्र विशेषता नहीं रहती और यह [ उल्लेख ] अलंकार इत्नी विशेषता पर. निर्भर रहता है । जहाँ तक सांकेत्य की प्रतीति का प्रश्न है उसे तो स्वीकार कर ही लिया गया है ।



[ शका ] यदि देसा है [ यहाँ भ्रान्तिमान् और सकर नहीं मानना है ] तो यहाँ 'अभेद में भेद'—नामक अतिशयोक्ति यहाँ मान ली जाए [ उल्लेख ही क्यों माना जा रहा है ], [ उत्तर ] यह दोष भी नहीं ठहरता क्योंकि एक तो यहाँ [ अनिवार्य रूप से ] ज्ञाता अनेक होते हैं [ जब कि अतिशयोक्ति में ज्ञाता की अनेकता अनिवार्य नहीं रहती । इसलिए इन दोनों के विषय भिन्न हो जाते हैं, ] दूसरे यहाँ एक ही वस्तु का ज्ञान [ नियमन ] अनेक प्रकार से होता है [ अतिशयोक्ति के समान केवल भिन्नरूपमात्र में नहीं ] जो एक स्वतन्त्र हो विच्छिद्य है [ अतः विच्छिद्य में भी भेद पड जाता है ] ।

सर्वथा, इस [ उल्लेख ] का अन्तर्भाव करना समव नहीं है [ हमारा ] यहाँ निश्चय है ।

[ उल्लेखका ] अन्य उदाहरण यथा—

'नारायण इति परिणतयोभिः श्रीवल्लभ इति तर्णीभिः ।

बालाभिः पुन कौतूहलेन एवमेव सत्यापितः ॥'

—[ श्रीकृष्ण भगवान् को ] 'बृद्ध महिलाओं ने नारायण, युवतियों ने लक्ष्मीपति तथा बधिओं ने कुन्तूलपूर्वक ऐसा ही समझा' इसी प्रकार—वाणी में गुरु [ बृहस्पति तथा गमीर ] वक्ष'स्थल में पृथु, [ पृथुनामक राजा तथा विस्तीर्ण ], यश में अर्जुन [ अर्जुननाम पाण्डव तथा धवल ] इत्यादि में भी जानना चाहिए । [ इन दोनों में ] भेद इतना ही है कि प्रथम में ज्ञातगत अनेकता के कारण शेषगत अनेकता है और दूसरे में [ पृथु तथा अर्जुन के आरोप के ] विषय [ वक्ष'स्थल तथा यश ] की अनेकता के कारण ।

[ शका ] यहाँ 'गुरु' [ बृहस्पति तथा गमीरता ] आदि रूप से [ एक ही पुण्यभूति का ] अनेक रूप से ज्ञान होने पर [ यहाँ ] श्लेष मानना चाहिए, यहाँ दूसरा अलंकार [ उल्लेख ] क्यों घोषा जा रहा है । [ उत्तर ] ठीक है [ आप की शका किन्तु ] यहाँ जो [ विषयगत ] अनेकता का भाव है उससे एक नए चमत्कार की जन्म मिलता है, अतः [ यहाँ एक नया उल्लेख नामक अलंकार है, अधिक से अधिक ] श्लेष को यहाँ उस [ उल्लेख ] की श्लोक [ प्रतिमा ] भर शेष रहने देने वाला [ उसे दवा देने वाला मात्र ] माना जा सकता है, यहाँ उस [ उल्लेख ] का सर्वथा अभाव नहीं माना जा सकता । इसलिए भी यह एक भिन्न अलंकार है कि इस प्रकार के [ उपरिदत्त ] स्थलों में अहाँ श्लेष नहीं भी रहना वहाँ भी यह विशिष्ट चमत्कार अनुभव में आना है । इस कारण ऐसे स्थलों में [ श्लेष रहने पर भी ] उल्लेख ही मानना अधिक अच्छा है । इसी प्रकार अन्य अलंकारों की विच्छिद्यि के सहारे भी इस अलंकार की निष्पत्ति दिखलाई जा सकती है ।

### विमर्शिनी

एकस्यापीति । अनेकथा ग्रहणमिति । न पुनरनेकथा कल्पनम् । ग्रहणं हि स्वारसि-  
क्यामुत्पादितार्था च प्रतिपत्तौ संभवति न तु स्वारसिक्थामेव । यदाहुः—

'अतः शब्दानुसंधानवन्ध्यं तदनुवन्धि वा ।

जात्यादिविषयग्राहि सर्वं प्रत्यक्षमिष्यते ॥' इति ।

कल्पनं पुनरुक्त्वाद्य प्रतिषेधेकगामीति स्वारसिक्थ्यां प्रतिपत्तौ न सम्भवती-  
त्युभयत्रापि न्यापकत्वाद्यथासूत्रितमेव युक्तम् । रूपवाहुत्येति । अत एवामुपे वस्वन्तर-  
प्रतीतिरस्येव । अन्यथा श्लोकस्यानेकथाग्रहणमेव न स्यात् । अत एव चास्य भ्रान्तिमद्-  
न्तरमेव लक्षणम् । एकस्य च न स्वातन्त्र्येगानेकथाग्रहणम्, अपि तु तत्तत्प्रयोजन-  
घशादित्याह—न चेदमित्यादि । एतदिति । अनेकथा ग्रहणम् एकस्यैव नानाविधधर्मयोगिन

आखण्डधेन प्रतीतिगोचरीभावात्कथमेकैकधर्मविषयमनेकधाग्रहणं युक्तमिथाशास्त्र्याह—  
 तत्रेत्यादि । तत्रेश्यनेकधाग्रहणे । स्वातन्त्र्येण विकल्पनं रुचिः । अर्थक्रियाभिलाषपरत्वमर्थि-  
 त्वम् । बृहद्व्यवहारशरणा व्युत्पत्तिः । उक्तमिति श्रीप्रत्यभिज्ञायाम् । तत्तद्गुणयोगा-  
 दिति विविक्तत्वादिनानाविधधर्मसंबन्धात् । मुनीनां तपोवनविषयमर्थित्वम् । वैश्यानां  
 च कामायतनविषयमर्थित्वम् । एवं लासकानां तु संगीतशालाविषया व्युत्पत्तिरर्थित्वं च ।  
 प्रायश इति, अनेन रुचिरत्र नास्तीति सूचितम् । ननु योऽयं श्रीकण्ठाख्यजनपदवर्णन-  
 ग्रन्थखण्ड उदाहरणत्वेनानीतस्तत्रालंकारान्तरसंबन्धोऽप्यस्तीति कथमेतद्विषय एवेत्याह—  
 नन्वित्यादिना । एतदेवाभ्युपगम्य प्रतिविधत्ते—सत्यमित्यादिना । तावच्छब्दो रूपकाभाव-  
 विप्रतिपत्तिद्योतनार्थम् । तद्रूपताया इति तपोवनादिरूपतायाः । अत्रापि यदन्यैरवयवा-  
 वयविभावसंबन्धात्सरोपाया लक्षणायाः सत्त्वाद्व्युत्पत्तौ लक्षणाया विविक्तत्वस्य चिन्त्य-  
 त्वमुक्तं तदयुक्तम् । अवयवावयविभावसंबन्धाभावात्लक्षणाया एवासत्त्वात् । न हि  
 श्रीकण्ठाख्ये जनपदे तपोवनमवयवव्यायेन कुत्राप्येकदेशेऽस्ति यत्तत्रावयविनि मुनिभिरा-  
 रोपितम् । किं तु तत्तद्गुणयोगिनः श्रीकण्ठस्य विविक्तत्वादितपोवनादिगुणमुखेन निज-  
 निजवासनानुसारेणार्थित्वादिना मुनिप्रभृतीनामीदृशाभासः । अद्यापि यद्यस्यवयवावय-  
 विभावविवक्षा तल्लक्षणमात्रं न रूपकम् । तस्य लक्षणापरमार्थत्वेऽपि विषयस्य रूपवतः  
 करणादलंकारत्वम् । अन्यथा तु लक्षणाभावेनैव । नहि लक्षणापि रूपकपरमार्था । इह च  
 तपोवनाद्यारोपेणारोपविषयस्य नातिशयः कश्चित् । वस्तुत एव तद्रूपतायाः संभवात् ।  
 अतश्च स्थित एवात्र रूपकविविक्तोऽस्य विषयः । न केवलमन्यालंकारविविक्तोऽयमेवास्य  
 विषयो यावद् यत्रापि रूपकालंकारयोगोऽस्ति तत्राप्ययं संभवत्येवेति दर्शयितुमाह—यत्रे-  
 त्यादि । इयमपि भङ्गिरिति एकस्यानेकधाग्रहणरूपा । एतावतेति रूपकप्रयोगमात्रेण ।  
 तत्तश्चेति रूपकोल्लेखयोः संकरात् । ननु यत्र रूपकयोगो नास्ति तदलंकारान्तरयोगः  
 संभवतीत्याह—एवं हीत्यादि । अतद्रूपयेति । अतपोवनरूपस्यापि तपोवनरूपत्वोपनिबन्ध-  
 नात् । अतस्मिंस्तदग्रहो भ्रम इत्येतदेव हि भ्रमसतस्त्वम् । अपूर्वस्येति भ्रान्तिमदसंभ-  
 विनः । तद्वेतुक्त्यादिति अनेकधाग्रहणाख्यातिशयनिमित्तकत्वात् । यदि चात्र भ्रान्ति-  
 मान्प्यस्ति तत्तेन सहास्य संकर एवास्त्वित्याह—संकरेत्यादि । यद्येवमिति । भ्रान्तिमतो-  
 ऽस्य विशेषस्तेन सहास्य संकरो वैश्वर्यः । एष इति अतिशयोक्तिसंज्ञावः । तस्येति ग्रहीतृ-  
 भेदाख्यस्य विभागस्य । विच्छिन्नान्तरत्वमेव हि सर्वेषामलंकाराणां भेदहेतुः । तदेवं तत्त-  
 च्छब्दानिरासपूर्वममुमेव सिद्धान्तीकृत्य पुनरप्युदाहरति—गाराग्नौ सीति । अत्र च नारा-  
 यणत्वावृत्तत्वेन बृह्दाप्रभृतीनां यथाक्रमं व्युत्पत्त्यर्थित्वरुचयः । एतदेवान्यत्रापि योज-  
 यति—एवमित्यादि । विशेष इति पूर्वस्मात् । विषयभेदेनेति घञनादिभिन्नत्वेन । अनेकधात्वो-  
 ल्लेखे गुर्वादिरूपतया श्लेष इति गुर्वादीनामुभयार्थवाचित्वात् । तत्रप्रतिपत्तिहेतुरिति ।  
 श्लेषमन्तरेणात्रोल्लेखानिष्पत्तेः । तदभाव इति, उल्लेखाभावः । अतश्चेति, श्लेषाभावेऽप्ये-  
 तद्विच्छित्तिसंभवात् । एवंविध इति विषयभेदरूपे । तत्तु यथा—

‘सवीडा दयितानने सकरुणा मातङ्गचर्मगिबरे  
 सत्रासा भुजगे सविस्मयरसा चन्द्रेऽमृतस्यन्दिनि ।  
 सेष्या जहसुतांबलोकनविधौ दीना कपालोदरे  
 पार्वत्या नचसंगमप्रगयिनी इष्टिः शिवायस्तु वः ॥’

अत्रैकस्या एव इष्टेस्तत्तद्विषयभेदेनानानात्वोल्लेखनम् ।

एकस्यापि = एकं का मां अनेकधा ग्रहण = अनेक प्रकार से ग्रहण न कि अनेक प्रकार से

कल्पना करना [ जैसा कि रत्नाकरकार ने माना है ]। ग्रहण जो है वह तभी संभव है जब प्रतीति स्वारसिक [ = लौकिक सामान्य ] भी हो और [केवल कविद्वारा] उत्पादित भी। प्रतीति केवल स्वारसिक = लौकिक हो तो वह समभव नहीं होता। जैसा कि कहा है—'सर्मा प्रकार का प्रत्यक्ष जाति आदि [ गुण, क्रिया, सदा ] को विषय बनानेवाला माना जाता है, मन्त्रे ही शब्दानुसंधान से रहित हो या मिश्रित।' कल्पना पौनरुक्त्य आदि रूप है और वह एकमात्र शानात्मक ही है। इसलिए स्वारसिक = लौकिक प्रतीति में वह समभव नहीं है। इसलिए [ उल्लेख का ] जैसा लक्षण मूल- [ सर्वस्व ] कार ने किया है वैसा ही ठीक है क्योंकि उसमें [ ग्रहण शब्द के प्रयोग से स्वारसिक तथा कल्पना ] दोनों प्रकार के ज्ञान का संग्रह हो जाता है। अतः 'एकस्वानेकधा कल्पनमुल्लेख' इस प्रकार रत्नाकरकार द्वारा ग्रहण शब्द को बदल कर 'कल्पन'-शब्द का प्रयोग करना अनुचित है ]।

[ यहाँ यह ज्ञानव्य है कि रत्नाकरकार ने स्वारसिक तथा उत्पादित दोनों को परस्पर निरपेक्षभाव में उल्लेख का कारण बतलाया है। उन्होंने 'प्रथम का उदाहरण "नारायण इति०" यह पद्य माना है और द्वितीय का श्री कृष्ण को मङ्गों ने पर्वतराज, दूसरों ने शिशु, सुन्दरिओं ने काम० समझा'-यह ]।

रूपवाहुल्य इतील्लि आरम्भ में अन्य वस्तुओं की प्रतीति रहता ही है। ऐसा न हो तो एक का अनेक प्रकार से ग्रहण ही न हो। इसीलिए इस अलङ्कार का लक्षण भ्रान्तिमान् अलङ्कार के तुरन्त पश्चात् किया गया है। 'एक वस्तु का अनेक प्रकार से ग्रहण ऐसे ही ( स्वातन्त्र्येण ) नहीं अपि तु प्रयोजन के आधार पर होता है—इस तथ्य पर लिखा—'न चेदम्०' इत्यादि। एतद् अर्थात् अनेक प्रकार से ज्ञान। एक ही वस्तु में अनेक प्रकार के धर्म होंगे तो केवल एक एक धर्म लेकर अनेक प्रकार से ज्ञान होना समभव कैसे होगा—'क्योंकि उस वस्तु का ज्ञान तो अखण्डरूप में होगा—' इस शका पर उत्तर देते हुए लिखते हैं = 'तत्र' इत्यादि। तत्र = अर्थात् अनेक प्रकार से ग्रहण में। रुचि नाम है स्वतन्त्रतापूर्वक विकल्प करने का, अमीष्ट काम की इच्छा का नाम है अर्थित्व तथा व्युत्पत्ति नाम है वृद्ध व्यवहार का आश्रय होना। उक्तम् = कहा है अर्थात् उत्पलदेव ने श्रीप्रत्यभिज्ञा में [ द्रष्टव्य = ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृत्तिविमर्शिनो २।१।२ कारिका, यहाँ रुचि आदि के अर्थ अमिन्नगुण की विमर्शिनो से ही लिए गए हैं। विमर्शिनो में इनका अर्थ है—'रुचि स्वानन्त्य वा, अर्थकियाधित्व वा वृद्धव्यवहारं वा, अनतिक्रम्य आमासा भिद्यन्त इति 'सूत्रार्थः। ] सत्तद्गुण-योग विविक्तत्व = पक्षान्तत्व आदि माना प्रकार के धर्मों के सबन्ध से। मुनिओं में तपोवन विषयक अर्थित्व है, वेश्याओं को कामाद्यतनविषयक अर्थित्व है और नर्यों को समीतशालाविषयक व्युत्पत्ति भी है और अर्थित्व भी। प्रायशः इसमें यह सूचित किया कि यहाँ रुचि नहीं है।

[ शका ] यह जो श्रीकण्ठ जनपद के वर्णन का अंश यहाँ उद्धृत कर दिया है इसमें दूसरे अलङ्कार भी हो सकते हैं, केवल उल्लेख का ही विषय इसे क्यों माना जा रहा है—इस पर [ उत्तर देते हुए ] कहते हैं—'ननु०' इत्यादि। इसी का स्वीकार कर उगटन करते हुए कहते हैं—'सत्त्वम्'-इत्यादि। 'तावत्'-शब्द रूपकाभावरूपी अनुपपत्ति का सूचक है। तद्रूपता का का अर्थात् तपोवनादिरूपता का। इस स्थल में भी अन्य विद्वांशों ने [ शोभाकर ने नहीं ] जो अवयववाचयिभावसम्बन्ध से सारोपा लक्षणा का अस्तित्व स्वीकार कर रूपकालङ्कार माना है। और कहा है कि 'यहाँ केवल उल्लेख का अस्तित्व मानना ठीक नहीं है—वह अमान्य है। न यहाँ अवयववाचयिभावसंबन्ध है और न लक्षणा ही। श्रीकण्ठजनपद में तपोवन का अस्तित्व किसी एक अर्थ या अवयव में थोड़े ही है। जिससे मुनिओं ने उसे अवयवी मानकर उस पर तपोवन का आरोप किया हो। यहाँ तो उन-उन गुणों से एक श्रीकण्ठजनपद में तपोवन आदि के पक्षान्तता

[विविक्तत्व] आदिगुणों के द्वारा अपनी-अपनी वासना के अनुसार मुनि आदि को प्रयोजनवशात् ऐसा आभास हो रहा है। इतने पर भी यदि अवयवावयविभाव की विवक्षा ही भी तब भी यहाँ लक्षणा-मात्र हो सकती है, रूपक नहीं। क्योंकि यद्यपि रूपक लक्षणा के बिना नहीं होता; वह वहीं अलंकार होता है जहाँ विषयी के द्वारा विषय को अपने रूप से रूपित किया जाता है। जहाँ ऐसा नहीं होता वहाँ लक्षणा मर होकर रह जाती है। ऐसा नहीं है कि लक्षणा रूपकपरमार्था हो अर्थात् उसका स्वारस्य केवल रूपक में हो। फिर यहाँ तपोवन आदि के आरोप से आरोप के विषय (श्रीकण्ठजनपद) में कोई अतिशय नहीं आता। क्योंकि यहां तद्रूपता वस्तुतः ही विद्यमान है (रूपक तो कल्पित या आहार्य तद्रूपता में होता है।) इसलिए यहाँ रूपक से सर्वथा स्वतन्त्र ही है उल्लेख।

इस प्रकार 'इस (उल्लेख) का स्थल केवल वहाँ नहीं होता जहाँ अन्य किसी अलंकार का स्पर्श नहीं रहता यथा यह तपोवनम् इत्यादि, अपि तु उन स्थलों में भी यही अलंकार होता है जहाँ अन्य अलंकारों का स्पर्श भी रहता है'।—इतो तय्य के लिए लिखते हैं—'एवं हि' इत्यादि। अतद्रूपस्य = जो तद्रूप अर्थात् तपोवनरूप नहीं है उसे भी तपोवनरूप से कतलाया गया है।' भिन्न (अतद्) में भिन्न (तद्) रूप से बोध भ्रम होता है—और यही भ्रम का सर्वमान्य रूप है। अपूर्व = नवीन अर्थात् जो भ्रान्तिमान् में नहीं होता। तद्वैतुकत्वात् = अनेकधा ग्रहण नामक जो अतिशय (विशेषता) तन्निमित्तक। 'यदि यहाँ भ्रान्तिमान् भी है तो उसके साथ हुए उल्लेख का संकर ही माना जाय'—इस शंका को मन में रखकर स्वीकारात्मक उत्तर देते हुए कहते हैं—'संकर' इत्यादि। यद्येवम् = यदि ऐसा है अर्थात् यदि भ्रान्तिमान् से इसका अन्तर है अथवा उसके साथ इसका संकर है तो। पुप = यह अर्थात् अतिशयोक्ति का सद्भाव। तस्य = उसका अर्थात् ग्रहाता के भेद नामक विभाग का। सभी अलंकारों का भेदक विच्छित्तिगत भेद ही होता है। इस प्रकार विभिन्न शंकाओं का निराकरण करके फिर से उल्लेख का ही उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—'गाराबयो = नारायण' इत्यादि। यहाँ जो 'नारायणत्व' आदि का उल्लेख है उसमें बूढ़ा आदि का क्रम से व्युत्पत्ति, अर्थित्व और रचि निहित हैं। इसी को दूसरे स्थलों में भी लागू करते हुए कहते हैं—'एवम्'। विशेष = अन्तर अर्थात् पहले से। विषयभेदेन अर्थात् वाणी आदि की निवृत्ता से। 'अनेकधात्वोल्लेख' इत्येषः' गुरु आदि के रूप में अनेक प्रकार से उल्लेख होने पर श्लेष होगा = कारण कि गुरु आदि शब्द अर्थद्वय के वाचक हैं। तत्प्रतिभोत्पत्तिहेतुः क्योंकि यहाँ श्लेष के बिना उल्लेख की निष्पत्ति नहीं होती। तद्भाव = उल्लेख का अभाव। अतश्च अर्थात् श्लेष के न होने पर भी इस उल्लेख की विच्छित्ति की निष्पत्ति संभव होने से। एवंविध = ऐसे = विषय-भेदरूप स्थलों में। इसका उदाहरण—'पार्वती की शिवजी का नवीन समागम चाह रही (प्रणयः = याञ्छां) इष्टि आप के शिव = कल्याण के लिए हो, जो (इष्टि) शिवमुख पर सलज्ज, नज्जर्म पर सकरण, सर्म पर समय, अमृतवर्षी चन्द्र पर सविस्मय, गंगा पर ईर्ष्यायुक्त, कपाल पर दीन हो जाती है [ अर्थात्—वह उन-उन भावों को व्यक्त करने वाली मुद्रा से युक्त हो जाती है ] यहाँ एक ही इष्टि का (शिवमुख आदि) विषयों के भेद से अनेकत्व उल्लिखित है।

विमर्शः—'एवंविधे विषये' इस प्रकार के विषय में' इस मूल का अर्थ जयरथ और श्रीविद्या-चक्रवर्ती इन दोनों टीकाकारों ने 'विषयभेदरूप विषय' किया है, किन्तु किया जाना चाहिए 'एक वस्तु के अनेक प्रकार से ज्ञान वाले स्थलों में'। इस पंक्ति के तुरन्त पूर्व 'विषयभेदरूप' उल्लेख भेद का ही निरूपण है किन्तु श्लेष का अभाव 'ग्रहीतुभेद से अनेक प्रकार का ज्ञान—' इस भेद में भी होता ही है। खण्डन श्लेषयुक्त विषयभेद वाले अंश का चल रहा है अतः 'एवंविध' का

परामर्शविषय उसी को मानना चाहिए—यह तब मान्य होता जब 'तत्प्रतिभोत्पत्तिहेतु'—००० अन्तर्ध्यातृकारान्तरम्—इतने ग्रन्थ को अलग मान कर इसमें साध्यसाधकभाव माना जाता अर्थात् 'क्योंकि इत्ये उल्लेख को शलक भर रहने देता है, उसका यहा अभाव नहीं हो जाता। इस अंश को हेतु मानकर 'इसलिए उल्लेख भिन्न ही अलङ्कार है'—इसे साध्य माना जाता। किन्तु ऐसा होना समब नहीं है। 'अलङ्कारान्तरप्रतिभोत्पत्तिहेतुत्व को अन्य अलङ्कार के निराकरण का हेतु माना गया है न कि सिद्धि का। फिर 'अतश्च' में 'च' = 'और'—यह पदार्थ व्यर्थ हो जाता है। हमने इस ग्रन्थ की जैसी सगति लगाई है उसमें पेना कोई दोष नहीं रहता। हम 'तस्मादेवमादौ—धेयान्' को पूरे विवेचन का उपमहारभूत सिद्धान्त वाक्य मानते हैं। इसके पश्चात् जो 'एवमलङ्कारा० निदर्शनीय' कहा गया है वह इसलिए कि ऊपर केवल कुछ ही अलङ्कारों का निराकरण किया गया है।

एक यह तथ्य भी यहाँ ध्यान देने योग्य है कि उल्लेख में न केवल धेयगत अनेकत्व, अपितु शार्त्तगत अनेकत्व भी अपेक्षित होता है।

### विमर्शिनी

तदयं द्विप्रकारोऽपि रूपकाद्याश्रयवदन्यालंकाराश्रयोऽपि संभवतीत्याह—एवमलङ्कारान्तरेत्यादि। तत्राद्यः प्रकार' संदेहाश्रयो यथा—

किं भानु किमु चित्रभानुरिति य निश्चिन्वते वैरिणः।

किं चिन्तामणिरपि कल्पविटपी किं वेति चाशागता।

किं पुष्पाकर एष पुष्पवित्तिर किं वेति रामाजनः।

किं रामः किमु जामदग्न्य इति वा य धन्विनो मन्वते ॥'

अत्रैकस्यैव सदिह्यमानत्वेनानेकधात्वोक्तेखनम्। अतिशयोक्त्याश्रयश्चायमेव यथा—

'वज्रं सौराज्यंसाक्षी परिकल्पितमहाः शक्तिमार्द्रापराधो

दण्डं खड्गं रिपुह्नीप्रसमहरणविक्षुपवाप्यादिदृष्टा।

पाशं पागोवंपरधन्वजंमपि बलविकोपवेदी गदां च

स्वाच्छन्धज्ञस्त्रिशूलं लिखति करतले देव चित्राकृतेस्ते ॥'

अत्र 'त्वमेवेन्द्र' इत्याद्यतिशयोक्त्या लोकपालाभेदो राज्ञ उपलभ्यते इत्येकस्यानेकधात्वोक्तेखनम्। विषयभेदेन च रूपकाश्रयो यथा—

भृश्र्यं द्वैर्धातुरागस्तरुपु किंसलयं विदुर्मौघः समुद्रे

दिङ्मातङ्गोत्तमाद्भेज्वर्भिनवनिहित' सान्द्रसिन्दूररेणु'।

सोमिन् व्योमश्च हेमनः सुरशिखरिभुवो जायते यः प्रकाशः

शोणिग्न्यासाँ पराशोरुपसि दिशतु वः धर्म रश्मिप्रतान ॥'

'अत्रैकस्यैव विषयभेदेन रूपकाश्रय नानात्वम्। 'कारिकान्तर' इत्यपपाठः। प्रकृतकारकविच्छिद्यश्रयस्यैवानुक्तत्वात्। अयं स्वरूपहेतुफलोक्तेखनरूपवात्प्रिया। तत्र स्वरूपोक्तेखनं समनन्तरमेवोदाहृतः। हेतुोक्तेखनस्तु यथा—

'सगहेतोः सदा धर्म' स्थितिहेतोरपि प्रजाः।

द्विप संहारहेतोश्च विदुस्त्वा जातमात्मनः ॥'

अत्रैकस्यैव जन्मनो हेतूनामनेकधात्वोक्तेखनम्। फलोक्तेखनस्तु यथा—

'धर्मोयैव विदन्ति पार्थिव यथाशास्त्रं प्रजाः पालिता

अर्थायैव च जानतेऽन्तरविदः कोपैरुदेशस्य ये।

कामार्थैव कृतार्थतामुपगता नार्यश्च निश्चिन्वते

मोक्षार्थैव च वेद जन्म भवतः कश्चिद्विपश्चिञ्जनः ॥

अत्रैकस्यैव जन्मनः फलानामनेकधात्वोल्लेखनम् ।

‘दोनों ही प्रकार का यह उल्लेख जिस प्रकार रूपक आदि उक्त अलंकारों के स्थलों में होता है वसी प्रकार अन्य अलंकारों के स्थलों में’—यही बतलाते हैं—‘एवमलंकारान्तर०’ इत्यादि द्वारा दोनों प्रकारों में प्रथम प्रकार [ गृहीतगतानेकत्वजनित अनेकविध उल्लेख ] संदेह के स्थल में होता है, यथा—‘जिसके विषय में बैरी लोग सोचते हैं—‘यह सूर्य है क्या और यह अग्नि है क्या ? भास बांध कर आए लोग जिसके धारे में देखते हैं—‘क्या यह चिन्तामणि है और क्या यह कल्पवृक्ष है ? सुन्दरियाँ सोचती हैं—‘क्या यह मधुमास है या कामदेव ? और जिसे धनुषधारी लोग समझते हैं कि क्या यह राम है या परशुराम ।’ यहाँ एक ही का अनेक प्रकार से संदेह-विषयरूप से ग्रहण किया जा रहा है। यही भेद अतिशयोक्ति पर आश्रित इस उदाहरण में देखिए—

‘हे राजन् ! जब आपका चित्र लिखा जाता है तो आपके राज्य में सुख सगृह्णित देखने वाले आप के हथ में बज्र की रेखा बना देते हैं; तेज देखने वाले शक्ति की रेखा; अपराधी दण्ड की रेखा; रिपुक्षियों का बलाह हरण देखने वाले खड्ग की रेखा; कृप, वापी आदि देखने वाले पाश की रेखा; बलको जानने वाले ध्वज की रेखा; कोष जानने वाले गदा की रेखा और स्वच्छन्दता जानने वाले त्रिशूल की रेखा ।’

—यहाँ ‘तुम्हीं इन्द्र हो’—इत्यादि क्रम से लोकपालों का अमेद राजा पर प्रतीत होता है। इस प्रकार एक ही व्यक्ति का अनेक प्रकार से उल्लेख है।

विषयभेद से होने वाला रूपकाश्रित उल्लेख यथा—

‘भगवान् सूर्य को किरणों का समुदाय सवेरे की ललेश में आपको श्रेय प्रदान करे, वह अपनी ललेश से पर्वत शिखर पर धातुराम लगता है, पृथ्वी पर किसलय, समुद्र में मृंग का डेर, दिग्गजों के माथे पर तुरत लगाई गई सिन्दूर की धूल और क्षितिज में सुवर्ण पर्वत [ देवपर्वत सुमेरु ] की स्थलियाँ ।’

—यहाँ एक ही रश्मिप्रदान रूपी वस्तु पर ( पर्वत मृग आदि ) विषयभेद से रूपकाश्रित उल्लेख है।

यहाँ [ अलंकारान्तरविच्छिन्ति० ] में आप अलंकारान्तर शब्द के स्थान पर ] ‘कारकान्तर’ पाठ अशुद्ध पाठ है क्योंकि प्रकृत में कारककृत विच्छिन्ति का कोई उल्लेख नहीं है।

यह उल्लेख स्वरूपोल्लेख, हेतूल्लेख तथा फलोल्लेख इस प्रकार से तीन प्रकार का होता है। इनमें स्वरूपोल्लेख तो अभी-अभी बतला ही दिया गया, हेतूल्लेख का उदाहरण इस प्रकार है—

‘हे ब्रह्मन्, प्रजाएँ आपको सृष्टि तथा धर्मस्थिति के लिए स्वयं से उत्पन्न मानती हैं और शत्रुलोग संसार के लिए ।’

—यहाँ जन्म ( उत्पत्ति ) एक ही है किन्तु उसके हेतु अनेक बतलाए गए हैं [ सृष्टि, धर्मस्था तथा संहार ]।

फलोल्लेख का उदाहरण यथा—

‘हे राजन् शास्त्रानुसार पालित प्रजा आपका जन्म धर्म के लिए ही मानती है, मोक्ष का एक अंश जानने वाले अर्थ के ही लिए, कृतार्थता को प्राप्त नारियाँ केवल काम के ही लिए तथा कुछ विद्वान् केवल मोक्ष के ही लिए ।’

—यहां जन्म एक ही है और उसके फल अनेक बतलाए गए हैं ।

विमर्श—इतिहास—उल्लेख—‘मामह, वामन, दण्डी, उद्भट, रुद्रट, मम्मट’—इन पूर्ववर्ती सभी आलंकारिकों में नहीं मिलता । प्राप्त ग्रन्थों में अलंकारसर्वस्व में ही यह पहली बार मिलता है । पदाचित्र इस अलंकार का इर्दप्रथमता के साथ विवेचन अलंकार सर्वस्वकार ने ही किया है ।

परवर्ती अप्पय्यदीक्षित ने चित्रमीमांसा में और पण्डितराज जगन्नाथ ने रसगंगाधर में उल्लेख में ग्रहीतृगत अनेकत्व पर भी उतना ही बल दिया है जितना एक ही वस्तु की ग्रहणगत अनेकता पर । ऐसा करने का उद्देश्य उन्होंने मान्यरूपक से उल्लेख का अन्तर माना है । अप्पय्यदीक्षित का लक्षण इस प्रकार है—

‘निमित्तभेदादेकस्य वस्तुनो यदनेकधा । उल्लेखनमनेकेन तमुल्लेखं प्रचक्षते ॥’

यत्र नानाविधधर्मयोगि एक वस्तु तत्तद्धर्मरूपनिमित्तभेदादनेकेन ग्रहीत्रा अनेकधा उल्लिख्यते स उल्लेखः ।

‘कौत्सिर्गंगा हिमह्माश्रुदोजःसूर्वादयाचल । शत्रुसेनाभिमन्याद्रिगुणरत्नैकरोहण ॥’

—इति मालारूपके एकस्य राशो यद्वाश्वित्यादिधर्मयोगरूपनिमित्तभेदात् तुपारादित्वाधनेक-प्रकारेणोल्लेखनमस्तीति तत्रातिव्याप्तिनिरासायानेकेत्युक्तम् । तत्र ग्रहीतृभेदनिबन्धन न भवत्यनेक-धोऽल्लेखनमिति नातिव्याप्तिः ।<sup>१</sup> [ चित्रमीमांसा काशी सं० पृ० २२५ ]

पण्डितराज जगन्नाथकृत उल्लेखलक्षण इस प्रकार है—

‘एकस्य वस्तुनो निमित्तवशाद् यद् अनेकैर्ग्रहीतृभिरनेकप्रकारक ग्रहणं तदुल्लेखः ।’ धर्मस्यात्मा भागधेय क्षमायाः । इत्यादिमालारूपकेऽतिप्रसङ्गवाराणायानेकैर्ग्रहीतृभिरित्यविवक्षितबहुत्वकं ग्रहण-विशेषणम् ।<sup>१</sup>

विषयभेदमूलक उल्लेख और मालारूपक में अन्तर भी विचारणीय है । इसी ग्रन्थ में मालारूपक का उदाहरण दिया गया है “पीयूषप्रसूतिर्नवा मरुमुजा दात्र तमोऽस्तये०” इत्यादि और विषयभेदमूलक उल्लेख का—“शुरुर्वचसि, पृथुररसि०” इत्यादि । इन दोनों उदाहरणों में कोई अन्तर नहीं है । कारण कि उल्लेख के इस उदाहरण में किया ‘दिखाई देता था, प्रतीत होता था’ ऐसी कुछ न होकर ‘बभूव’-‘था’ यह अस्तित्वमात्राचक (क्रिया) ही है । ऐसी स्थिति में यहाँ भी ‘वचनादि’ को साधारणधर्म मानकर राजा पर ‘शुरु’ आदि का आरोप ही प्रतीत होता है और चमत्कार भी उसी आरोप में है, अनेक प्रकार से ज्ञान में नहीं । अर्थ यह कि यहाँ अभेद के ज्ञान में चमत्कार है अनेकत्व के ज्ञान में नहीं । अनेकत्व यहाँ केवल मालात्व का जनक है । यदि केवल इतना भी कह दिया जाता कि ‘प्रत्यप्यत पृथुर्हृदयेऽस्तावर्जुनो यशसि वाचि शुरुश्च’ ‘यद् राजा वक्षःस्थल में पृथु, यश में अर्जुन, वाणी में शुरु प्रतीत होता था’ तो यहाँ ज्ञानगत अनेकत्व द्वारा चमत्कार आ जाता और रूपक न होकर उल्लेख ही होता । यहाँ ज्ञान की एकता या अनेकता का कोई प्रश्न नहीं उठता क्योंकि वह शब्दन कथित नहीं है । ज्ञानगत अनेकत्व से चमत्कार की प्रतीति ही उल्लेख का प्राण है । मालारूपक में आरोपकृत चमत्कार ही प्रधान होता है, अनेकत्व उसका सदायकमात्र रहता है । इस कारण ग्रन्थकार द्वारा ‘ग्रहीतृगत अनेकत्व’ का अनुपादान हानिकार नहीं है । पण्डितराज और अप्पय्यदीक्षितद्वारा उसका उपादान करना ही अनावश्यक है ।

अलंकारररनाकरकार ने उल्लेख का लक्षण ‘एकस्यानेकधा कल्पनमुल्लेखः’—इस प्रकार किया है । ‘कल्पन’ का अर्थ करते हुए उन्होंने लिखा है—‘कल्पनं... वैकल्पिकः प्रत्ययः’—अर्थात् विकल्प पूर्ण ज्ञान का नाम ‘कल्पन’ है । इसे उन्होंने स्वारसिक = लौकिक तथा कल्पित दोनों प्रकार का

माना है किन्तु स्वारसिक को स्वतन्त्र मान कर कल्पित = उच्चाच को स्वारसिक मिश्रित मान लिया है ।

विमर्शिनीकार केवल मिश्रित को ही उल्लेख-जनक मानते हैं । मूल के 'ग्रहण'-शब्द का वे यही अर्थ करते हैं । सांचना यह है कि क्या वे दोनों विकल्प उल्लेख के प्रत्येक स्थल में वस्तुतः मिश्रित ही रहते हैं । उदाहरण से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है । 'णारागणो' उदाहरण में अलंकारसर्वत्वकार के ही समान अलंकाररत्नाकरकार को भी उल्लेख मान्य है विमर्शिनीकार को भी इस उदाहरण में कोई आपत्ति नहीं है । इसमें बृह, अवाग और नवेलो क्षियों द्वारा एक ही कृष्ण का जिन जिन रूपों का ज्ञान किया गया है वे सब स्वारसिक ही हैं कल्पित नहीं । कृष्ण को किसने क्या माना इसे कविने सोचा तो स्वयं ही है, अतः इसमें कल्पना तो अवश्य है किन्तु यह कल्पना तो काव्यमात्र का असाधारण आधार है । देखना यह है कि कल्पित वस्तु लौकिक है या केवल कल्पनाप्रसूत । केवल कल्पनाप्रसूत वस्तु 'गुरुर्वचसि, द्युधुरसि' है । यहाँ अंगभूत श्लेषद्वारा राजा में बृहस्पति आदि का बोध केवल काव्यनिक है, जिसका आधार बाणी आदि का लाभ है ।

अप्यथ्यदोक्षित ओर पण्डितरान जगन्नाथ दोनों ने उल्लेखालंकार के विषय में अलंकार-सर्वस्व, अलंकाररत्नाकर तथा विमर्शिनी दोनों की समस्त उपस्थापनाएँ अपना ली हैं । उन्होंने शातृगत अनेकत्व को महत्त्व देकर उसको एकाङ्कितता का भी अनुभव किया है । इसीलिए विषय-भेदमूलक उल्लेख का लक्षण अलग करना पड़ा है—

'ग्रहीतृभेदाभावेऽपि विषयाश्रयभेदतः ।

एकत्वानेकधोल्लेखमप्युल्लेखं प्रचक्षते ॥' चित्रमा० पृ० २३० काशी सं० १९६५

'प्रकारान्तरेणाप्युल्लेखो दृश्यते यत्रासत्यपि ग्रहीत्रनेकत्वे विषयाश्रयसामानाधिकरण्यादीनां सम्बन्धिनामन्यतमानेकावप्रयुक्तमेकस्य वस्तुनोऽनेकप्रकारत्वम् ।'

रसगं० पृ० ३६१ नि० सा० सं० ६, सं० १९४७

किन्तु अलंकारकौस्तुभकार विश्वेश्वर पण्डित उल्लेख को अतिशयोक्तिरूप ही मानते हैं, उसका अलग अस्तित्व नहीं । संजीविनीकार श्रीविद्याचक्रवर्ती ने अलंकारसर्वस्व के उल्लेख सम्बन्धी संपूर्ण विवेचन का संक्षेप इस प्रकार किया है—

'नानाधर्मबलादेकं यदि नानैव गृह्यते ।

नानारूपसमुल्लेखाद्य स उल्लेख इति स्मृतः ॥ १ ॥

यदेकं तद्धि नानैति गृह्यते रूपभेदतः ।

रुच्यादिवशतो लोके नानात्वं चेद्रुक्तिमम् ॥ २ ॥

अतद्रूपस्य तादरूप्यान्त एतौ आन्तिरिष्यते ।

न चाप्यतिशयोक्तिः स्यादभेदे भेदरूपिणी ॥ ३ ॥

आद्ये नानेकभासं स्याज् शातृभेदो न भ्रान्तिने ।

विषयशातृभेदाभ्यां विना नोल्लेखसंभवः ॥ ४ ॥

यद्यपि श्लेषतो वाधो न तथाप्यस्य निहवः ।

अनपेक्षयापि यच्छ्लेषं तत्रैव स्यातुमर्हसि ॥ ५ ॥

धर्मगत अनेकता के कारण एक ही वस्तु जो अनेक प्रकार से भासित होती है वही उल्लेख नामक अलंकार है । यद्यपि एकत्व और अनेकत्व परस्पर विरोधी हैं तथापि रूपगत भेद को लेकर वे एक ही वस्तु में संभव हैं । रूपभेद होता है रचि आदि के कारण । यही अनेकत्व यदि लोक में होता है तो अकृत्रिम अनेकत्व कहलाता है ।



इसमें भिन्न वस्तु को भिन्न वस्तु के साथ तादात्म्यप्रतीति रहने भाव से इसे भ्रान्ति नहीं कहा जा सकता और न अभेद में भेद प्रतीति की शलक से अतिशयोक्ति ही। क्योंकि प्रथम (भ्रान्ति) में चमत्कार अनेकधात्व पर निर्भर नही रहता और द्वितीय में हातुगत अनेकता पर-जब कि उल्लेख में चमत्कार विषय या इयत्ता दोनों में से किसी एक के अनेकत्व के बिना सम्भव नहीं होता।

यद्यपि यह अलङ्कार श्लेष से बाधित ही जना है। तथापि इसका अभाव नहीं माना जा सकता क्योंकि बिना श्लेष के भी यह अलङ्कार तत्र तत्र स्थलों में अनुभवगोचर होता है।

**सूचना**—इस अलङ्कार के मूल और टीका दोनों को ही अनेक स्थलों में हमने ठीक किया है। मूल में 'विच्छिद्यन्तररूपत्वात्' सर्वथा—पक्ति निर्णयसागरीय संस्करण के ही समान मोतीलाल बनारसादास संस्करण में भी 'विच्छिद्यन्तररूपत्वामर्बथा' इसी प्रकार छपी रह गई है।

उसी प्रकार उक्त दोनों संस्करणों में 'गुरुर्वचसि' नहीं है। डॉ० रा० च० द्विवेदी ने इस कमी पर ध्यान दिया है और 'पृथुररसि' के स्थान पर इसी पाठ को स्वीकार किया है तथापि छपा 'पृथुररसि' ही है 'गुरुर्वचसि' नहीं। हमने इन दोनों को स्वीकार कर लिया है कारण कि रत्नाकरकार ने और उनके अनुसरण पर अल्पव्यदाशित्र ने भी इन दोनों ही को अपनाया है। केवल दो ही अपेक्षा तीन का उल्लेख अधिक चमत्कारक भी होता है।

[ सर्वस्व ]

[ सू० २१ ] विषयस्यापह्ववेऽपहुतिः ।

घस्त्यन्तरप्रतीतिरित्येव । प्रकान्तापह्वववैधर्म्येणेदमुच्यते । आरोपप्रस्ता-  
वादारोपविषयापहुतावारोप्यमाणप्रतीतावपहुत्याख्योऽलङ्कारः । तस्य च  
त्रयी बन्धच्छाया, अपह्ववपूर्वक आरोपः, आरोपपूर्वकोऽपह्ववः । छलादि-  
शब्दैरसत्यत्वप्रतिपादकैर्वापह्ववनिर्देशः । पूर्वोक्तभेदद्वये वाक्यभेदः । तृतीय-  
भेदे त्वेकवाक्यत्वम् । आद्यो यथा—

'यदेतच्चन्द्रान्तर्जलदलवलीलां प्रकुरुते

तदाचष्टे लोकः शशक इति नो मां प्रति तथा ।

अहं त्विन्दुं मन्ये त्वदरिविरहाक्रान्ततरुणी-

कटाक्षोल्कापातव्रणकिणकलङ्काङ्किततनुम् ॥'

अत्रैन्दवस्य शशस्यापह्ववे उपक्षिते शशकप्रतिवस्तुकिणवत इन्दोरारोपो  
नान्वयघटनां पुष्यतीति न निरवयम् । तत्तु यथा -

'पूर्णेन्दोः परिपोषकान्तघपुपः स्फारप्रभामास्वरं

नेदं मण्डलमभ्युदेति गगनाभोगे जिगीपोर्जगत् ।

मारस्योच्छ्रितमातपत्रमधुना पाण्डुप्रदोपधिया

मानोन्नद्धजनाभिमानदलनोद्योगैरुद्देवाकिनः ॥'

द्वितीयो यथा—

'विलसद्मरनारीनेत्रनीलाभ्रपण्डा-

न्यधिषसति सदा यः संयमाधःकृतानि ।

न तु खचिरकलापे वर्तते यो मयूरे  
वितरतु स कुमारो ब्रह्मचर्यश्रियं वः ॥'

तृतीयो यथा—

'उद्भ्रान्तोज्झितगेहगूर्जरघधूकम्पाकुलोच्चैःकुच-  
प्रेङ्खोलामलहारवल्लिविगलन्मुक्ताफलच्छन्नना ।  
सार्धं त्वद्रिपुभिस्त्वदीययशसां शून्ये मरौ धावतां  
भ्रष्टं राजमृगाङ्क ! कुन्दमुकुलस्थूलैः श्रमाम्भःकणैः ॥'

अत्र शून्य इत्यस्य स्थाने मन्येशब्दप्रयोगे सापह्नवोत्प्रेक्षा इत्यपि स्था-  
पयिष्यते, 'अहं त्विन्दुं मन्ये' इति तु वाक्यभेदे मन्येशब्दप्रयोगेनोत्प्रेक्षेति च  
चक्षयते । एतस्मिन्नपि भेदोऽपह्नवारोपयोः पौर्वापर्यप्रयोगविपर्यये भेदद्वयं  
सदापि न पूर्ववच्चित्रतावहमिति न भेदत्वेन गणितम् । तत्रापह्नवपूर्वके आरोपे  
निरन्तरमुदाहृतम् । आरोपपूर्वके त्वपह्नवे यथा—

'ज्योत्स्नाभस्मच्छुरणधवला विश्रती तारकास्थी-  
न्यन्तर्धान्यसनरसिका रात्रिकापालिक्रीयम् ।  
द्वीपाद्द्वीपं भ्रमति दधती चन्द्रमुद्राकपाले  
न्यस्तं सिद्धाञ्जनपरिमलं लाञ्छनस्य च्छलेन ॥'

क्वचित्पुनरसत्यत्वं वस्त्वन्तररूपताभिवायि-वपुः-शब्दादिनिबन्धनं यथा—

'अमुष्मिह्लावण्यामृतसरसि नूनं मृगदृशः  
स्मरः शर्वण्लुष्टः पृथुजघनभागे निपतितः ।  
यदङ्गाङ्गाराणां प्रशमपिशुना नाभिकुहरे  
शिखा धूमस्येर्यं परिणमति रोमावलिबपुः ॥' इति ।

[ सूत्र २१ ] विषय का अपह्नव हो तो [ अलंकार ] अपहृति [ कहलाता है ] ।

[ वृत्ति ] [ सूत्र में— ]—'निज वस्तु को प्रतीति'-इतना [ भ्रान्तिमान् के लक्षण से ही ] चला  
आता है । प्रस्तुत का जो अपह्नव, तद्रूपी वैषम्य के कारण वह [ अपहृतिलक्षण उल्लेख भ्रान्ति-  
मान् आदि से पृथक् ] बतलाया जा रहा है । प्रकरण आरोप का है, अतः 'विषय' का अर्थ है आरोप  
का विषय । उसका अपह्नव [ तिरोपान ] बतलाया जाय और आरोप्यमाण अर्थ का ज्ञान कराया  
जाय तो अलंकार का नाम अपहृति होता है । उस [ अपहृति ] का वाक्य विन्यास तीन प्रकार  
से होता है ( १ ) जिसमें अपह्नव पूर्वक आरोप होता है, ( २ ) जिसमें आरोपपूर्वक अपह्नव होता है  
और ( ३ ) जिसमें असत्यत्वप्रतिपादक 'छल'-आदि शब्दों में अपह्नव का निर्देश रहता है ।  
प्रथम दो भेदों में [ से प्रत्येक में ] वाक्य बदल जाते हैं [ एक वाक्य नहीं रहता ] किन्तु तृतीय  
भेद में वाक्य एक ही रहता है । प्रथम का उदाहरण यथा—

'यद् जो चन्द्रमा के मध्य मेघखण्ड की लीला विखेर रहा है इसे लोग खरगोश कहते हैं परन्तु  
मुझे बैसा नहीं लगता । मैं तो चन्द्रमा को आपको शङ्खुशियों के कटाक्ष को उल्का से दगा अत-  
एव पाव की कालिखे से युक्त मानता हूँ ।'

किन्तु यह उदाहरण सर्वथा निर्दोष नहीं है, क्योंकि इसमें अपह्वय तो हो रहा है चन्द्र के खरगोश का और आशेष किया जा रहा है खरगोश के समान कलक से युक्त चन्द्रमा का [ जब कि किना जाना चाहिए था केवल कलक का ही ] अतः इस वाक्य में अर्धसमाप्ति बैठती नहीं है । निर्दोष उदाहरण यह है—

'आकाश मण्डल में पर्याप्त मात्रा से बिखरती प्रभा से चमचमाता यह परिपोष से कान्त शरीर के पूर्ण चन्द्र का विन्व उदित नहीं हो रहा, अपितु मान गर्वित व्यक्तियों का गर्व चूँ करने का उद्यम ही जिसको प्रधान छोटा है ऐसे सपूर्ण विश्व को जीतने के श्च्युक कामदेव का प्रदोषब्दनी ( सध्याश्री ) से ढीला पटा अग्नपत्र [ राजचिह्न = श्वेतछत्र ] फैलाया जा रहा है ।'

द्वितीय का उदाहरण यथा—

'ओ सविलास अप्मराओं के नेत्ररूपी नीलकमलों को अपने सयम से नीचा कर सदैव उन्हीं पर बैठता है, कि सुन्दर पिच्छ वाले मयूर पर वह कुमार [ काचिकेय ] आपको मङ्गचर्यश्री प्रदान करे ।'

तृतीय का उदाहरण—

'हे रात्रेन्द्र ! पर छोड़कर भागे गुर्जरदेशाधिपति की धरारं हुई वधुओं के कौपते हुए तथा तदम नदम उन्नत पयोधरों पर शूलती विमल हारलताओं से टपकते मोतियों के बहाने आपके शत्रुओं के साथ शून्य मरुस्थल में भाग रहे आपके यशों से कुन्दकली सी स्थूल, पर्साने की बूँदें टपक रही थी ।'

—इसी पद्य में 'शून्य' शब्द के स्थान पर 'मन्ये'-शब्द प्रयोग हो तो 'सापह्वय उत्प्रेक्षा'-होती है ऐसा तप किया जावेगा, किन्तु यह भी बनलाया जावेगा कि मले ही 'मन्ये'-शब्द का प्रयोग हो किन्तु यदि 'मं तो चन्द्र को मानना हूँ'—इत्यादि [ पूर्वोक्त क्रम से ] वाक्य बदल जावे तो उत्प्रेक्षा नहीं होती । इस [ तृतीय भेद ] में मां दो भेद ही सकते हैं यदि अपह्वय और आरोप का पूर्वपश्चाद्भाव ( आगे पीछे रखने ) का जो प्रयोग होता है उसे उलट दिया जाए । किन्तु इन भेदों में पहले बनलाय भेदों के समान कोई चमत्कार नहीं रहता अतः इन्हें भेदरूप से नहीं गिना । उदाहरणार्थ इन [ दोनों भेदों ] में से अपह्वयपूर्वक आरोप का उदाहरण अभी यहीं दिया गया [ उद्भ्रान्तो० ] पद्य । आरोपपूर्वक अपह्वय का उदाहरण यह पद्य हो सकता है—

[ काली कुल्च होने पर भी ] 'चौदनीरूपी भगमी पोन सफेद अक्कर बनी तारकरूपी अस्थियाँ लिए हुए [ तथा ] अन्तर्हित होने की आदत में कृती, यह रात्रि रूपी कापालिकी चन्द्र-विन्वरूपी मुद्राकपाल में सिद्धाञ्जन का औञ्जन लाञ्छन के बहाने धारण कर एक द्वीप से दूसरे द्वीप फिरा करती है ।'

कहीं कहीं अमत्यत्व 'वपु' 'शरीर' आदि शब्द के आधार पर प्रतिपादित किया जाता है, जो वस्त्वन्तर के वाचक होते हैं । यथा—

'शिवजी ने कामदेव के शरीर में आग लगाई तो निश्चिन् ही वह [ मृगाश्री ] के इस विशाल जपन माग [ तरेंट ]-रूपी लावण्यामृत सरोवर में आ कूदा है । नाभिकुहर में उमा के अंग रूपी अंगारों के प्रशाने की सूचना देने वाली यह धूमशिखा है जो रोमावली के आकार में में परिणत होती जा रही है ।'

विमर्शिनी

विषयस्येत्यादि । वत्स्वन्तरेति । भ्रान्तिमत्तांऽनुवर्तत इति शेषः । अत एव केचन मण्डूक-  
प्लुतिन्यायेनानुवर्तनस्यानुचितत्वाद् भ्रान्तिमदनन्तरमपहृतिर्ग्रन्थकृता लक्षिता उल्लेखश्रा-  
तिशयोक्त्यनन्तरमिति ग्रन्थं विपर्यासितवन्तः । न चैतत् । यत् उल्लेखस्तावदतिशयोक्त्य-  
नन्तरं ग्रन्थकृता न लक्षितः । यद्वचयति—‘एवमध्यवसायाश्रयेणालंकारद्वयमुक्त्वा ग्रन्थ-  
मानौपम्याश्रया अलंकारा इदानीमुच्यन्ते । तत्रापि पदार्थवाक्यार्थगतत्वेन तेषां द्वैविध्ये-  
ऽपि पदार्थगतमलंकारद्वयं क्रमेणोच्यते’ इति । तस्माद्द्वस्वन्तरप्रतीतेर्भावाद्भ्रान्तिमद-  
नन्तरमेवास्य ग्रन्थकृता लक्षणं कृतम् । अत एव उल्लेखेऽपि तत्संभवाद्द्वस्वन्तरप्रतीते-  
र्निरन्तरमेवानुवर्तनादिहैवास्या लक्षणमुचितमिति यथास्थित एव ग्रन्थः साधुः । यद्येवं  
तद्द्वैल्लेखापहृत्योरिहैव विपर्ययेण किं न लक्षणं कृतमित्याशङ्क्याह—प्रक्रान्तेत्यादि । इद-  
मित्यपहृतिलक्षणम् । तदेव व्याचष्टे—आरोपेत्यादिना । विषयस्यापहृते विषयिणोऽन्यस्य  
विधिरित्यर्थः । तेन

‘न विषं विपमित्याहुर्ब्रह्मस्वं विपमुच्यते ।

विपमेकाकिनं हन्ति ब्रह्मस्वं तु ससंततिम् ॥’

इत्यत्र विपस्य निषेधपूर्वं ब्रह्मस्वविषय आरोप्यमाणत्वाद् दृढारोपं रूपक-  
मेव नापहृतिः । अपहृतेर्हि निषेध्यविषयमित्तितयैवान्यस्य विपयिणो विधानं लक्षणम् ।  
अत्र तु निषेध्यस्यैव विपस्य ब्रह्मस्वविषये आरोप्यमाणत्वाद्विधानम् । अथ ‘अत्र मुख्यस्य  
विपस्य निषेधे आरोप्यमाणत्वाद् ब्रह्मस्वविषयस्य गौणस्य विधानम्’—[ अलंकाररत्नाकरे  
पृ० ४२ ] इति चेत्, तत्र ब्रह्मस्वविषयस्य गौणस्य विधानमिति भणितेः कोऽर्थः । किं ब्रह्म-  
स्वविषयस्य विधानं, किं वा द्रव्यपदार्थवद्ब्रह्मस्वस्य च विपस्य च, ब्रह्मस्वे वा विपस्येति ।  
तत्र नाद्यः पक्षः । विपादिन्यायेन ब्रह्मस्वविषयत्वनः कस्यचिद्द्रव्यो बहिरसंभवात् । तत्रा-  
प्यस्य ब्रह्मस्वं विषं चेति न भेदेनोक्तिः स्यात् । नापि गौणता स्वार्थ एव प्रकृतेः । अन्य-  
दन्यत्र वर्तमानं गौणमित्युच्यते । न चात्र ब्रह्मस्वविषयमन्यत्र कुत्रचिद्वर्तते येनास्य गौणता  
स्यात् । एवं द्वितीयेऽपि पक्षे न गौणत्वं युक्तम् । नाप्यत्रोभयविधिः । ब्रह्मस्वविषये विपस्यैव  
विधीयमानत्वात् । तृतीयेऽपि न गौणस्य सतो विपस्य विधानम् । ब्रह्मस्ववृत्त्यभावान्मु-  
ख्यार्थवाधाद्गुणेषु वर्तनात् विहितस्य तस्य गौणत्वात् । एवं ब्रह्मस्वस्य दाड्येन विपसा-  
म्यप्रतीतिप्रतिपादविषया तत्र निषेधपूर्वं विपमारोपितमिति दृढारोपमेव रूपकं युक्तम् । न  
ब्रह्मस्वं विपमिदमिति पुनरुच्यमानेऽपहृतिः स्यात् । तस्माद् ‘मुख्यस्य वेत्यपास्य विषयस्या-  
पहृतेऽन्यविधिरपहृतिरित्येव लक्षणं कार्यम् ।

‘वत्स्वन्तर’—इसकी अनुवृत्ति होती है अर्थात् भ्रान्तिमान् अलंकार से । इस प्रकार यहाँ  
जो अनुवृत्ति है वह बीच के उल्लेख को छोड़कर हुई है जैसे ही जैसे मेढ़क की जूद होती है ।  
कुछ टीकाकार ऐसी अनुवृत्ति को अनुचित मान टीका करते हैं कि अपहृति को ग्रन्थकार ने भ्रान्-  
न्तिमान् के वाद और उल्लेख को अतिशयोक्ति के वाद बतलाया है । और ऐसा मान उन्होंने ग्रन्थ  
में उलट फेर कर दिया है । किन्तु यह ठीक नहीं है क्योंकि उल्लेख को ग्रन्थकार ने अतिशयोक्ति  
के पश्चात् नहीं बतलाया है । यह तथ्य उनकी अतिशयोक्ति के इस उपसंहार वाक्य से स्पष्ट है—  
—‘एवमध्यवसायाश्रयेण—क्रमेणोच्यते’ । इसलिये [ उल्लेख में भी ] वत्स्वन्तरप्रतीति के रहने  
से वही मानना ठीक है कि ग्रन्थकार ने इसका लक्षणा भ्रान्तिमान् के ही वाद किया है । इस  
प्रकार उल्लेख में वत्स्वन्तरप्रतीति का सद्भाव सिद्ध हो जाने पर अनुवर्तन में कोई व्यवधान नहीं

आता, अतः इसका लक्षण यहाँ ठीक है और इसलिये ग्रन्थ जिस स्थिति में वहाँ है उसी स्थिति में उसका रहा जाना ठीक है। (शंका) 'यदि ऐसा है तो यहाँ भी अपद्धति को ही उल्लेख के बाद निरूपित क्यों किया, क्यों नहीं [ इसके विपरीत ] उल्लेख को अपद्धति के बाद निरूपित किया गया'—इस पर [ उत्तर देने हुए ] कहते हैं—'प्रक्रान्त०' इत्यादि। इदम् = अर्थात् अपद्धति का लक्षण। उसा को व्याख्या करते हैं—आरोप इत्यादि द्वारा। अर्थ यह कि 'विषय का अपद्धव होने पर लङ्गिन् विषयो का विधान'—[ यह अपद्धति का निश्चय लक्षण हुआ ]। इमलिये—

'विष को विष नहीं कहा जाता, विष कहा जाता है ब्राह्मणधन को। विष केवल अकेले एक व्यक्ति को मारता है किन्तु ब्राह्मणधन व्यक्ति और उसकी सन्तान को भी।'

—यहाँ दृढारोप रूपक ही है क्योंकि यहाँ ब्रह्मत्व—[ ब्राह्मणधन ] पर विषका निषेधपूर्वक आरोप किया जा रहा है, अपद्धति नहीं [ जैसा कि अलङ्काररत्नाकर ने माना है ]। अपद्धति वहाँ होती है जहाँ विधान विषयो का होता है और वह भी उमी विषय पर जिमका निषेध किया गया हो। यहाँ जिस विष का निषेध किया जा रहा है उसीका ब्राह्मणधन पर आरोप किया गया है अतः उसीका विधान है [ अर्थात् विष ही निषेध्य विषय है और विष ही ब्राह्मणधन पर आरोपित होने वाला विषयो ]। यदि [ आप = अलङ्काररत्नाकरकार शोभाकर ] यह कहें कि—'यहाँ निषेध विषयशब्द के मुख्य अर्थ का किया जा रहा है और विधान उसके गौण अर्थ ब्राह्मणविष का क्योंकि आरोप उसीका किया जा रहा है'—तो [ बलदास्य कि आपके ] 'विषयशब्द के गौण अर्थ ब्रह्मत्वविष का विधान किया जा रहा है'। इस कथन का क्या अर्थ है—यहाँ 'ब्रह्मत्वविष' इस शब्द का अर्थ (?) 'ब्रह्मस्वरूपी विषका विधान' यह है या (-) ब्रह्मत्व का और विष का विधान जैसा कि द्रव्य समाप्त होने पर होता है अथवा (३) ब्रह्मत्व पर विष का। इन तीनों में प्रथम पक्ष अमान्य है क्योंकि विषादि (?) न्याय से ब्रह्मत्वविषरूप किसी वस्तु की [ कल्पना से ] पृथक् उपलब्धि समभव नहीं। यदि ऐसा होता भा 'ब्रह्मत्व विष है' इस प्रकार [ ब्रह्मत्व को विष से ] भिन्न करके नहीं कहा जा सकता। यहाँ गौणता भी नहीं है, क्योंकि ब्रह्मत्वशब्द और विषशब्द यहाँ अपने प्रथम अर्थ के ही वाचक बन रहे हैं। गौण तो अन्य अर्थ में प्रयुक्त अन्यायार्थवाचक को कहते हैं।

ब्रह्मत्व-विष शब्द किसी भी अन्य अर्थ में प्रयुक्त नहीं है जिससे उसे गौण माना जावे। इस प्रकार द्वितीय पक्ष में भी गौणता समभव नहीं है। यहाँ [ ब्रह्मत्व = ब्राह्मण और ] दोनों का ही विधान हो ऐसा भी नहीं, क्योंकि ब्रह्मत्व को विषय बनाकर विष का ही यहाँ विधान किया जा रहा है। तृतीय पक्ष में भी यदि विष गौण है तो उसका विधान संभव नहीं है [ ब्रह्मत्व में विषयशब्द की ] कृत्ति [ अभिधा ] नहीं है, अतः [ वहाँ विषयशब्द का ] मुख्य अर्थ वाचित हो जाता है फलतः वह [ पातकत्व, मारकत्व आदि ] गुणों का प्रतिपादक बन जाता है। और इसलिये उसका अर्थ विषेय होने पर भी गौण होता है। इस प्रकार ब्रह्मत्व को दृढतापूर्वक विष के समान प्रतिपादित करने की इच्छा से उस [ विष ] पर निषेधपूर्वक विषका ही आरोप किया गया है, इमलिये इने दृढारोप रूपक ही मानना उचित है। अपद्धति तब होती जब वह कहा जाता कि 'यह ब्रह्मत्व नहीं, विष है'। इस कारण 'मुख्यस्य वा' = अथवा मुख्य अर्थ का यह अर्थ हटाकर केवल 'विषयस्य = विषय का अपद्धव होने पर अर्थ का विधान अपद्धति'—केवल इतना ही लक्षण बनाया जाना चाहिए [ न कि अलङ्काररत्नाकर के समान—'विषयस्य मुख्यस्य वा अपद्धवे अन्य-विधिरपद्धति'—इतना ]।

विमर्श—(१) पण्डितराज अजनाथ ने इस विषय में विमर्शनाकार का अनुमोदन किया है और उनके मतको प्रमाणरूप से प्रस्तुत करते हुए यहाँ दृढारोपरूपक ही स्वीकार किया है।

(२) मूल में 'प्रक्रान्तापहृत्ववैधर्म्येण'—के स्थान पर निर्णयसागरीयसंस्करण के पाठान्तर में 'विषयानपहृत्ववै०' यह पाठान्तर दिया है। श्रीविद्याचक्रवर्ती ने इसीको मूल पाठ माना है। तदनुसार डॉ० रामचन्द्र द्विवेदी ने भी यही स्वीकार किया है। विमर्शिनी में इसपर कोई विवेचन नहीं है। हमें 'प्रक्रान्तापहृत्व०' भी ठीक जँचता है। वैधर्म्य प्रकृत अलंकार में दिखाया जाना उचित है। अपहृति में अपहृत्व से ही रूपक, उल्लेख और भ्रान्तिमदलंकार का वैधर्म्य आता है। अन्य अलंकारों में अन्वपहृत्व रहता है, इसलिए उनमें अपहृति का अथवा अपहृति में उनका वैधर्म्य रहता है ऐसा कहना तब संभव है जब अपहृत्व का ज्ञान हो जावे; अतः जब अपहृत्व का वाक्य आवश्यक ही है तब उसी के आधार पर सीधे-सीधे वैधर्म्य का प्रतिपादन कहीं अधिक अच्छा है।

(३) 'इदमुच्यते'—का तात्पर्य टीकाकारों ने अलग-अलग बतलाया है। संजीविनीकार 'इदन्' को क्रियाविशेषण मानकर 'उच्यते' से अन्वित करते हैं और विमर्शिनीकार उसे 'लक्षण' के लिए प्रयुक्त मानते हैं। संजीविनीकार इस पंक्ति का अभिप्राय अपहृति का भ्रान्तिमान् से पार्थक्य इतलाना मानते हैं और विमर्शिनीकार उल्लेख तथा अपहृति में अपहृति का प्रतिपादन उल्लेख के पहिले न कर बाद में करने का कारण प्रतिपादन करना। वस्तुतः संजीविनीकार का ही पक्ष अधिक सारपूर्ण है। उल्लेख और अपहृति के पौर्वापर्यमात्र की अपेक्षा अन्य अलंकारों से अपहृति का स्वतन्त्र अस्तित्व बतलाना अधिक महत्त्व रखता है।

(४) अलंकाररत्नाकरकार ने अपहृति का विवेचन इस प्रकार किया है—

[ सू० ] 'विषयस्य मुख्यस्य वाप्रह्वे अन्यविधिरपहृतिः ।'

[ वृ० ] 'आरोपविषयस्य निषेधे विषयिणो विधानमेका, मुख्यस्य चन्द्रादेरन्यस्य मुखचन्द्रादेर्गौणस्य विधिरपरापहृतिः ।

—[ सू० ] विषयका अथवा मुख्य का अपहृत्व हो और अन्य का विधान हो वहाँ अपहृति होती है। अर्थात्

[ वृ० ]—'आरोप विषय का निषेध हो और विषयों का विधान'—यह एक प्रकार की अपहृति होती है। इसके अतिरिक्त 'मुख्य [ अभिषेधार्थ ] चन्द्र आदि से गिन्न गौण मुख—चन्द्र आदि का विधान' दूसरी अपहृति। इनमें से प्रथम का उदाहरण तो काव्यप्रकाश आदि में प्रसिद्ध 'अवाप्तः प्रागल्भ्यं परिणत०' इत्यादि पद्य माना है किन्तु द्वितीय का 'न वपं विषम्'० इत्यादि पद्य ही। इसी पर उनकी पंक्ति है—'अत्र मुख्यस्य विषयस्य निषेधे ब्रह्मस्व-विषयस्य विधानम्' जिसे विमर्शिनीकार ने उद्धृत किया है। यहाँ परिसंख्या सौ प्रतीत होती है। वस्तुतः इस पद्य में इद्वारोप, अपहृत्व, परिसंख्या तथा व्यतिरेक का सङ्घिपात है।

(५) नि० सा० संस्करण में—अपहृतेर्हि निषेध्य०' के स्थान पर 'नापहृतेर्हि निषेध्य०' इत इस प्रकार उल्टा पाठ छपा है। इसी प्रकार 'मुख्यस्य वेत्य०' के स्थान पर 'मुख्यत्वेवेत्य०'।

### विमर्शिनी

तस्येत्यपहृत्याख्यस्यालंकारस्य । वाक्यभेद इति एकवाक्यमिति चानेन यथासंभवं भेदत्रयस्य स्वरूपनिर्देशः कृतः । न निरवयवमिति । यथोक्तक्रमनिर्वाहाभावात् । अत एवोदाहरणान्तरमाह—पूर्वेन्द्रोरित्यादि । मन्येशब्दस्य प्रयोग इति संभावनाद्योतकत्वात् । नोत्प्रेक्षेति । साध्यवसायाद्युत्प्रेक्षासामग्र्यभावात् । वक्ष्यत इति । उत्प्रेक्षायाम् । तथा चास्या इवादिशब्दवन्मन्येशब्दोऽपि प्रतिपादकः । किंतुत्प्रेक्षासामग्र्यभावे मन्येशब्दप्रयोगो वितर्कमेव प्रतिपादयतीति । अतश्चात्र 'अवाप्तः प्रागल्भ्यम्—इत्यादावपहृत्युदाहरणत्वमभिदधतः समानेऽपि न्याये 'नो मां प्रति तथा'

इत्यनेन शशकपक्षस्य निराकृतत्वादन्यस्यान्यरूपतया संभावनाया अभावान् मन्य'-  
इत्यनेन ऋणपक्षस्यैव निश्चितत्वादतिशयोक्तिवमेवेति मन्यन्ते (अलङ्काररत्नाकर-  
कारादयः) । तेषां पूर्वापरविचारकुशलानां किमभिदध्मः । एवमन्यैरान्यत्र चोदा-  
हरणादौ बहुप्रकार स्तलितं तत् पुनर्ग्रन्थविस्तरमयाद्, अस्मद्दर्शनदत्तदूपणोद्धरणस्यैव  
प्रतिज्ञातवान्, अस्माभिः प्रातिपद्येन न दूषितम् ।

तस्य = उसका = अपहृति-अल्कार का वाक्यभेद तथा एकवाक्य ऐसा कहकर तीनों भेदों  
का स्वरूप यथासंभव बतलाया गया । 'न निरवधम्' = 'निर्दोष नहीं है' इसलिए कि यथोक्त  
क्रम का निर्वाह नहीं हुआ [ निषेधविषय पर आरोपविषयमात्र का आरोप न कर उससे युक्त  
पदार्थ का आरोप करने से ऐसा हुआ ] इसीलिए एक अन्य उदाहरण दिया — 'पूर्णेन्द्रो' ।  
'मन्ये'-शब्दस्य प्रयोगे' = 'मन्ये'शब्द का प्रयोग होने पर' क्योंकि [ 'मन्ये'शब्द ] समावना  
का शोचक होता है । नोत्प्रेक्षा = उत्प्रेक्षा नहीं होती क्योंकि 'साध्यवसायत्व' आदि उत्प्रेक्षा-  
सामग्री का अभाव रहता है । 'वक्ष्यते' = 'कहा जा रहा' अर्थात् उत्प्रेक्षा के प्रकरण में । अर्थ  
यह हुआ कि इव आदि शब्दों के समान उस [ अपहृति ] का वाचक 'मन्ये'-शब्द भी—होता  
है । किन्तु यदि उत्प्रेक्षासामग्री का अभाव हो तो 'मन्ये'-शब्द का ही प्रतिपादक होता है ।  
इसलिए 'अवास प्रागल्भ्यन्'-इत्यादि पद्यों को जो [ अलङ्काररत्नाकरकार आदि ] समाशुक्त  
अपहृति का उदाहरण बतलाने हैं वे ही 'यदेतच्छन्द्रा'० पद्य में स्थिति समान रहने पर भी अति-  
शयोक्ति मानने हैं और कहने हैं कि यहाँ 'नो मा प्रति तथा' = 'मुझे ऐसा नहीं लगता'—यह कहकर  
'शशक' का निराकरण कर दिया गया है और अन्यपदार्थ का अन्यपदार्थ के रूप से समावना न  
होने के कारण 'मन्ये = मानता हूँ'—ऐसा कहकर किण-पक्ष को ही निश्चित किया गया है । [ ४०  
अलङ्कारसर्वस्व ] उत्प्रेक्षा प्रकरण का अन्त वे समीक्षक सचमुच पूर्वापर विचार में बहुत कुशल  
हैं ( न्यन्योक्ति ) इनमें हम क्या करें ?

इसी प्रकार अन्य समीक्षकों ने भी यहाँ और अन्य अलङ्कारों में भी अनेक प्रकार की गलतिया  
की हैं किन्तु हम एक एक करके उन सब में दोष नहीं दिखला रहे हैं क्योंकि इमें ग्रन्थ विस्तार  
का भय है और हमने केवल उन्हीं पद्यों पर विचार करने की प्रतिज्ञा की है जो हमारे दर्शन  
[ अलङ्कारसर्वस्व ] में आए हैं ।

विमर्श.—अलङ्काररत्नाकरकार ने 'यदेतच्छन्द्रान्तर्गत'० इस पद्य में अतिशयोक्ति मानने हुए जो  
विवेचन दिया है उसको विमर्शनीकार ने—'नो मा प्रति तथा इत्यनेन—निश्चितत्वादतिशयो-  
क्तित्वमेव'—इन शब्दों में जैसा का तैसा उद्धार दिया है । निर्णयमागरीय सस्करण में 'अतिशयो-  
क्तित्वमेवेति'—के स्थान पर 'अतिशयोक्तिरेव' मूल में छपा गया है और पाठान्तर में 'अतिश-  
योक्तिः' इस द्वितीयान्त पद का निर्देश कर दिया गया है । वस्तुतः वह 'अतिशयोक्तिरन्' का  
ही अशुद्ध छेप है, क्योंकि द्वितीयान्त पद मानने पर या तो आगे प्रयुक्त 'इति' इदानी पठती  
है क्योंकि उसके योग में कर्म में प्रथमा विमर्श ही होती है या 'अतिशयोक्तिः' की द्वितीया को  
प्रथमा बनाना पड़ता है, और निर्णयमागरीय सस्करण के सपादक उसे वैसा बना दिया हों—  
अलङ्काररत्नाकर जिसके सामने न हो वह प्रत्येक विद्वान् ऐसा ही कर सकता है ।

'अवास प्रागल्भ्य परि'तरुच' शैलतनये कलङ्को नैवायं विलसति शशकस्य वपुषि ।

अमुष्येयं मन्ये विगल्दमृतस्यन्दशिशिरे रतिश्रान्ता शेते रञ्जिरमणी गाढमुरसि ॥'

—हे पार्वति ! परिपक्व कान्तिवाले [ इस पूर्ण ] चन्द्र के शरीर में यह कलक नहीं है ।  
मुझे लगता है कि इसके अमृतछावी अतएव शिशिर वक्ष पर इसकी रतिश्रान्त प्रिया रात्रि गहरी

नांद में सोई हुई है'।—इस स्थल में रत्नाकरकार ने अपहृति स्वीकार की है। विमर्शिनीकार का कथन है कि इस स्थल में भी अभिव्यक्ति बही है जो 'यदेतच्चन्द्रा०' स्थल में है। अर्थात् दोनों स्थलों में कलंक का निषेध किया गया है और उस पर तद्विन्न [ रात्रि तथा व्रणकण ] को 'मन्ये'—शब्द के प्रयोग के साथ प्रतिपादित किया गया है। रत्नाकरकार के अनुसार 'यदेतच्चन्द्रान्तर्गत' पद्य में संभावना का सर्वथा निराकरण कर दिया गया है 'ओ मां प्रति तथा'—कहकर। [ उनके अनुसार अपहृति में भी संभावना को पाँठिका आवश्यक होती है ] उनके इस कथन का अर्थ केवल इतना ही लगाया जा सकता है कि जहाँ संभावना का आत्यन्तिक निरास हो वहाँ उत्प्रेक्षा तो होती ही नहीं है अपहृति भी नहीं होती। 'यदेतच्चन्द्रान्तर्गत०' पद्य में विमर्शिनीकार के अनुसार यदि 'अवाप्तः प्राणस्म्यन्' जैसी ही स्थिति हो तो वहाँ भी अपहृति ही माननी होगी। वस्तुतः संभावना की आवश्यकता अपहृति में रहती नहीं है। वहाँ निषेध द्वारा संभावना के बाध से ही चमत्कार होता है। निषेध भी संभावना का नहीं अपितु संभावना के विषय [ मुख आदि ] रहता है।

### विमर्शिनी

एतस्मिन्निति छलादिशब्दप्रतिपाद्ये। संभवमात्रं पुनर्दर्शयितुमेतदुदाहृतम्। वत्स्वन्तर-  
रूपताभिवाचीति। वपुःशब्दस्य शरीरार्थाभिधायित्वात्। अत्र पुनरुपमानस्योपमेयरूपता-  
परिगतौ परिणाम इति परिणामालंकारस्वं यदन्यैरुक्तं तदयुक्तम्। तच्चे हि धूमशिक्षान्य-  
ग्भावे तत्परिणतिरूपरोमावलीप्राधान्यं स्यात्। इह पुनः शर्वप्लुष्टमदननिपतनानु-  
मापकत्वेन रोमावलयपह्वे धूमशिक्षाया एव प्राधान्यं विवक्षितमिति न परिणामः नापि  
रूपकम्। व्याजार्थपर्यवसायिवपुःशब्दछलादारोपविषयापहृतादारोप्यमाणस्य प्रतीतेः।  
आरोपविषयानपह्वे हि रूपकमिति पूर्वमेवोक्तम्। अथात्रापि भिन्नयोः सामानाधिकरण्या-  
योगादेकतरस्य निषेधप्राप्तावारोप्यमाणस्य च निषेधानुपपत्तेरारोपविषयस्यैव पर्यवसाने  
निषेधः प्रतीयत इति चेत्, नैतत्। अत्र हि मुक्तादी चन्द्रादेर्वृत्त्यभावाद् बाधितः संश्रन्द्गार्थः  
स्वामसहचारिणो गुणांल्लचयति न तु मुक्तादेर्विषयस्य निषेधः प्रतीयते। मुखशब्दादेः  
स्वार्थ एव प्रवृत्तेः। पर्यवसाने ह्यत्र मुक्तादि चन्द्रादिगुणविशिष्टं प्रतीयते। न तु मुक्तादे-  
र्वाधः। न मुखमित्येवमादेः प्रत्यवमर्शाभावात्। नापि निदर्शना। संबन्धविघटनाद्यभावात्।

एतस्मिन् = इसमें अर्थात् छलादिशब्द से प्रतिपाद्य [ अपहृत्त निर्देश ] में। यह जो  
[ यदेतच्चन्द्र० ] उदाहरण दिया है वह केवल संभवमात्र दिखलाने के लिए। 'वत्स्वन्तररूप-  
ताभिधायी = 'अन्यवस्तुत्वरूप होने का अभिधायक' = इसलिये कि वपुःशब्द 'शरीरार्थ' का  
अभिधायक है। [ अपहृति प्रसंग में अलंकाररत्नाकरकार ने 'अमुष्मिंलावण्यामृत०' पद्य में  
अपहृत्त नहीं माना है। उन्होंने वहाँ परिणाम रूपक या निदर्शना स्वीकार करने का संकेत  
दिया है। इस पर विमर्शिनीकार आपत्ति देते [ लिखते हैं— ] इस [ अमुष्मिंलावण्यामृत०  
पद्य ] में उपमान के उपमेयरूप से परिणत होने के कारण अन्य कुछ सज्जनों ने परिणाम माना  
है। वह युक्तियुक्त नहीं है। क्योंकि यदि वैसा होता [ परिणाम होता ] तो धूमशिक्षा अप्रधान  
हो जाती और तत्परिणति रूप रोमावली ही प्रधान रहती। किन्तु वहाँ रोमावली शिवदम्भ  
कामदेव के डूबने का अनुमापक बतलाई गई है। यह तर्मा संभव है जब रोमावली रूप से उसका  
अपहृत्त हो और उसमें धूमशिक्षात् स्वीकार किया जाय। इस प्रकार वहाँ धूमशिक्षा ही प्रधान  
है अतः वहाँ परिणाम नहीं है।



यहाँ रूपक भी नहीं है। यहाँ वपु शब्द व्याज- (बहाना) रूपी अर्थ का प्रतिपादन है। उसके आधार पर आरोप विषय [ रोमावली ] का अपह्व [ निषेध ] हो जाता है और उसपर आरोप्यमाण [ धूमशिला ] की प्रतीति होती है। जबकि रूपक आरोपविषय का अपह्व न होने पर ही होता है जैसा कि पहिले बतलाया जा चुका है। [ अलङ्काररत्नाकरकार ने रूपक के विषय में जो यह कहा है कि ]—‘यहाँ [ रूपक में ] भी भिन्न भिन्न दो वस्तुओं का ऐक्य प्रतिपादित तो रहता है परन्तु वास्तविकरूप से वह बनता नहीं है अतः यहाँ भी किसी एक का निषेध आवश्यक होता है और क्योंकि आरोप्यमाण पदार्थ [ विषेय होता है अतः उभय ] का निषेध संभव नहीं होगा फलतः वह आरोपविषय विषयक ही अन्त में ठहरता है—[ द्रष्टव्य अ र अपह्वति प्रकरण पृ० ४१ ]—यह भी ऐसा नहीं है। यहाँ [ ‘मुस चन्द्र है’—इत्यादि रूपक में ] चन्द्र आदि शब्दों की वृत्ति [ अभिधा ] मुख आदि पदार्थों में नहीं रहनी अतः ‘चन्द्र’ आदि अर्थ बाधित हो जाते हैं। बाधित होकर वे अपने साथ के अन्य गुणों को लक्षित [ लक्षण द्वारा प्रतिपादित ] करते हैं। वहाँ मुखादि विषयों का निषेध प्रतीत नहीं होता क्योंकि वहाँ के [ विषय वाचक ] मुख आदि शब्द अपने मुख्य अर्थों का ही बोध कराते हैं। अन्त में वाक्यार्थ बोध के समय प्रतीति होती है कि—‘मुख आदि चन्द्रादि के गुणों से युक्त है’। इसमें मुखादि [ भी प्रतीत होने रहते हैं, उन ] का वाच प्रतीत नहीं होता। क्योंकि ऐसी कोई प्रतीति उस समय नहीं होती कि—‘यह मुख नहीं है’।

यहाँ निदर्शना भी नहीं है क्योंकि सन्ध के अभाव आदि यहाँ नहीं है।

विमर्श.—इस पूरे प्रश्न का आधार अलङ्काररत्नाकर का निम्नलिखित विवेचन है -

‘अस्या सर्गविधौ’ इत्यादी०० पुराणस्य प्रजापतेर००० निषेधपर्यवसानादार्थ एवपह्व । न तु ‘अमुष्मिन् लावण्यामृतसरसि०’ इत्यादी वपुःशब्दमुखेन निषेधप्रतीतिः । आर्थोपह्व इति वाच्यम्, वपुरादिशब्दतुल्यार्थ-मयादि ( शब्द ) प्रयोगे ‘तरुमै सौमित्रिमैत्रीमयमुपहतवानानतर नाविकाय—’ इत्यादावपह्वप्राप्ती परिणामादावपह्वप्रदुतिप्रसङ्गात् । तेनात्र रूपकं निदर्शना वा । रूपकं च मित-स्वतया प्रसिद्धयो सामानाधिकरण्यायोगे एकतरस्य निषेधप्राप्ती अर्थात् आरोपविषयस्य पार्यवसानिकः प्रतीयमानो निषेधोऽभ्युपगन्तव्यः । आरोप्यमाणस्य निषेधे आरोपवैयर्थ्यप्रसङ्गात् । तत्र प्रतीयमाननिषेधनिमित्त एवमादावपह्वभ्रमः । न च निषेधस्य शब्दस्वार्थत्वकृत् एवापह्वतिरूपक-योर्भेदः, अपि तस्या निषेधगर्भत्वादप्यवसायतुल्यत्वम् । [ अल० रत्ना० अपह्वति पृ० ४१ ]

अर्थात्—‘अस्या सर्गविधौ’ इत्यादि स्थलों में पुराण प्रजापति निषेध में पर्यवसित होता है। अतः वहाँ अपह्व अर्थ है। किन्तु ‘अमुष्मिन् ला०’ में अपह्व अर्थ नहीं है क्योंकि यहाँ ‘वपुःशब्द’ के द्वारा निषेध का ज्ञान करा दिया जाना है [ अतः यहाँ निषेध शब्द हो जाता है ]। यदि यहाँ भी अर्थ अपह्व मान लिया गया तो ‘तरुमै सौमित्रिमैत्रीमयमुपहतवानानतर नाविकाय’ = ‘उस नाविक को लक्ष्मणमैत्रीरूप उतराई दो—’ इत्यादि स्थलों में भी अपह्व माना जाने लगेगा क्योंकि यहाँ भी वपुःशब्द का समानार्थक ‘मय’—शब्द प्रयुक्त है और तब परिणामालंकार के सभी स्थलों में अपह्वति अलङ्कार मानने की बात उठ खड़ी होगी। इसलिए यहाँ [ अमुष्मिन्० पव में ] रूपक या निदर्शना माननी चाहिए। रूपक जो है वह भी आरोप विषय का पार्यवसानिक निषेध ही है क्योंकि उसमें जो भिन्न भिन्न दो पदार्थों का सामानाधिकरण्य—[ अभेदात्मक ] निर्देश रहता है वह वस्तुतः बनता नहीं। फलतः [ आरोपविषय और आरोप्यमाण दोनों में से ] किसी एक का निषेध होता ही है। यह निषेध यदि आरोप्यमाण का हो तो आरोप ही व्यर्थ हो जाए। इस प्रकार प्रतीयमान निषेध को लेकर ही यहाँ [ अमुष्मिन्हा० में ] अपह्व का अर्थ हो

गया है। ऐसा नहीं है कि अपहृति और रूपक में निषेध के शाब्दत्व और आर्थत्वमात्र का अन्तर हो। यहाँ अपहृति में निषेध गर्भित रहने से आरोप अध्यवसायतुल्य हो जाता है।

विमर्शिनीकार ने रूपक में आरोप विषय में निषेध प्रतीति स्वीकार नहीं की। उन्होंने वहाँ आरोपविषय को सर्वथा अविच्छिन्न स्वीकार किया है। साथ ही आरोप्यमाण को ही बदलता हुआ बतलाया। उन्होंने आरोप्यमाण चन्द्र आदि के शब्दों को लक्षणिक माना और उन्हें समान-गुणपर्ववसायी बतलाया। यहाँ एक अत्यन्त सूक्ष्म तत्त्व पर ध्यान देना आवश्यक है। विमर्शिनीकार ने लिखा है कि 'चन्द्र आदि आरोप्यमाण पदार्थ बाधित होकर अपने साथ रहने वाले गुणों को लक्षित करते हैं।' यहाँ 'लक्षित'—शब्द का अर्थ निश्चित ही लक्षणाद्वारा प्रतिपादित करना अभिप्रेत है। फलतः यह अर्थ निकलता है कि लक्षणा का आरम्भ शब्द से नहीं अर्थ से होता है। यह तथ्य मम्मटाचार्य को भी मान्य है। उन्होंने भी 'लक्षणारोपिता क्रिया'—कश्कर लक्षणा को अर्थनिष्ठ ही स्वीकार किया है। कुमारिलभट्ट, मुकुलभट्ट तथा परवर्ती पैयाकरणों का भी वही सिद्धान्त है। किन्तु मुख्यार्थ के साथ रहने वाले गुणों में लक्षणा मानना विचारणीय है। असाधारण धर्म मुखत्व और चन्द्रत्व को छोड़ने पर—

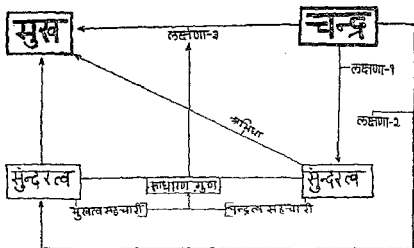
मुख	चन्द्र
सुन्दरत्व	सुन्दरत्व

--इस प्रकार आरोपविषय और आरोप्यमाण के पक्षों में जो दो दो षटक हैं उनमें से आरोप्यमाण चन्द्र को लक्षण का विषय नहीं माना जा सकता, वससे तो लक्षणा का आरम्भ होता है। शेष तान में से एक एक में लक्षणा मानने पर तीन ही पक्ष प्रस्तुत होते हैं। मम्मट के अनुसार इन्हें इस प्रकार कहा जा सकता है—

१ = चन्द्र शब्द की लक्षणा अपने चन्द्रत्व के साथ रहने वाले सुन्दरत्व में अथवा—

२ = मुख के मुखत्व के साथ रहने वाले सुन्दरत्व में, अथवा—

३ = सुन्दरत्वादि साधारण धर्मों के आधार पर स्वयं मुख में। यह तथ्य निम्न चित्र से स्पष्ट है—



इनमें से प्रथम और द्वितीय को अमान्य और तृतीय को सिद्धान्त रूप में स्वीकार किया जाता है।

निदर्शना का अर्थ यहाँ पदार्थनिदर्शना हो सकता है। उसीमें दूसरे का धर्म दूसरे में स्थित बतलाया जाता है। उदाहरणार्थ—'शैवक गिरि गजराज की शोभा धारण करता है'—यह

स्थल । इसमें गजराज की शोभा गजराज में ही रह सकती है और पर्वत की केवल पर्वत में । फलतः उक्त कथन का अर्थ निकलता है—'गिरि गज की शोभा जैसी शोभा को धारण करना है ।' यहाँ पर्वतशोभा का गिरि के साथ संबन्ध समव न होने पर सादृश्ययोजन्य द्वारा उते समव बनाया जाता है । इसीलिए निदर्शना का लक्षण है—'अमवन् वस्तुसम्बन्ध उपमापरिकल्पकः' । प्रस्तुत 'रोमावलिबपु धूमशिव्या' में यह समव नहीं कि धूमशिरसा रोमावली का शरीर अपना ले । वह तत्सदृश शरीर ही अपना सकती है । अतः पदार्थनिदर्शना समव है । विमर्शिनाकार यहाँ निदर्शना का अपौरुषमात्र स्वीकार करते हैं । वे सादृश्य तो मान लेते हैं किन्तु शेष अर्थात् 'संबन्धीभाव' स्वीकार नहीं करते । उन्हें 'अमुष्मिन्नावण्यामृतं' में ऐसा अनुभव नहीं होता कि यहाँ एक के शरीर का दूसरे में अस्तित्व बतलाया जा रहा है । उनका पक्ष कुछ दूर तक ठीक भी है । 'किस अलंकार में किन किन तत्त्वों की प्रतीति समव है?'—यह न सोचकर अलंकार निर्णय के लिए सोचना यह चाहिए कि उन तत्त्वों में चमत्कार का जनक वत्त कौन-सा है । उसी के आधार पर अलंकार को नाम दिया जाना चाहिए । हमारी दृष्टि से 'अमुष्मिन्नावण्यामृतं' पद्य में अपह्व हो चमत्कारकारी है । अतः यहाँ अपदुति ही मानी जानी चाहिए ।

### विमर्शिनी

आदिशब्दाश्च तृतीययापि क्वचिदस्त्यथ प्रतिपाद्यते । यथा —

'मद्वाङ्मोर्ष्यवहारमुभसतु लता कण्ठस्थले तावके

मा कार्यरतिसाहसं मियतमे दासस्तव प्रागिति ।

नीता वृद्धिममी स्वयैव कुसुमैर्वाप्यायमाणा द्रुमा

गृह्णन्ति क्षुरिकामिवालिपटलव्याज्रेण पाशच्छिदे ॥'

अत्र कुसुमैरिति तृतीययापह्वनिबन्धनम् । आरोपगर्भत्वाच्चेय सादृश्याद्वा भवति संबन्धान्तराद्वा । सादृश्येऽप्यस्याः साधारणधर्मस्य त्रयो गतिः । तत्रानुगामिता यथा—

'तरुणतमालकोमलमलीमसमेतदयं कलयति चन्द्रमाः किल कलङ्कमिति ध्रुवते ।

तद्वृत्तमेव निर्दयविधुतुददन्तपदवर्णविचरोपदर्शितमिदं हि विभाति नभः ॥'

अत्र तमालमलीमसत्वमनुगामित्वेनोपात्तम् । शुद्धसामान्यरूपत्वं यथा—

'अथ सुरेन्द्रोपवनाद्धरित्रीं स पारिजातो हरिणोपनीतः ।

न प्रापितोऽयं सुमनःप्रवर्हः करमीरदेशोद्भवताभिमानम् ॥'

अत्रोपनयनप्रापणयोः शुद्धसामान्यरूपत्वम् । विम्बप्रतिबिम्बभावो यथा—

'न ज्योत्स्नाभरण नभो न मिलितच्छायापयो वाग्दुदो

नो ताराप्रकरो न चेदममृतऽयोतिष्मतो मण्डलम् ।

क्षीरचोभमयोऽप्यपांनिधिरसौ नेत्राद्दिना मन्दरः

पृष्ठोऽयं मणिपूग पप कलशश्चाय सुधानिर्झरः ॥'

अत्र ज्योत्स्नाभरणत्वस्य क्षीरचोभमयत्वं प्रतिबिम्बत्वेन निर्दिष्टम् । संबन्धान्तराद्यथा—

'हेलोदञ्जन्मलयपवनाद्भ्रमरेणाजुलासु

प्रेङ्खलैर्लि कमपि भजतां चतशाखालतासु ।

वाचाळत्वं ननु यद्भ्रमत् कानने कोकिलानां

मौनित्वं तरपथिकहरिणीलोचनानां बध्दग ॥'

अत्र कोकिलवाचाळत्वस्य कारणस्य निषेधे पथिकलोमौनित्वस्य कार्यस्य विधिः ।

यद्भ्रमरोपगर्भस्य सप्रपञ्चं दर्शिता । अप्यवसायगर्भं पुनर्दर्शयति यथा—

‘न लक्ष्मीसौदर्याच्च च सुरशरणीकृतसुरा-

सुधादिव्येष्वत्वाच्च मुकुटमणिस्वाद्भगवतः ।

यदेवं बालेन्दोर्दिशि विदिशि वन्द्यत्वमुदितं

स्फुटं त्वेतत्कान्तामुखकमलदास्यादुपनतम् ॥’

अत्र वन्द्यत्वस्य प्रभावादिहेतुकत्वे निगीर्य हेत्वन्तरमध्यवसितम् । यथा वा—

‘कलाभिस्तृप्त्यर्थं सुरपितृवृणां पञ्चदशभिः

सुधासूतिर्देवः प्रतिदिनमुदेतीत्यसदिदम् ।

परिभ्रान्त्यत्येप प्रतिफलनमासाद्य भवती-

कपोलान्तर्युक्त्या त्वदधरसुधासंग्रहपरः ॥’

अत्रोदयादौ सत्तद्धारयुपभोगलक्षणं निमित्तं निगीर्य तत्फलमूर्तं निमित्तान्तरमध्य-  
वसितम् ।

[ ‘वस्त्वन्तररूपताभिर्भावयिषुःशब्दादिनिबन्धनम्-’ पद में प्रयुक्त ] आदि-शब्द से कहीं  
तृतीया के द्वारा भी असत्यता का प्रतिपादन होता है । यथा-[ लतापात्र से फाँसी लगाकर  
आणान्त का प्रयत्न कर रही नायिका से नाचक कह रहा है—]

‘हे प्रियतमे ! लता तुम्हारे कण्ठस्थल में यह कार्य न करे जो मेरी भुजाएँ करती हैं, अतिसाहस  
न करो, यह तुम्हारा दास जीवित है । पुष्पों से आँसू बहा रहे ये वृक्ष भी अमरावली के बहाने  
तुम्हारी फाँस काटने हेतु छुरी सी लिए हुए हैं । इन्हें तुम्हीं ने जो बढ़ाया है ।’

यहाँ ‘कुसुमैः—पुष्पों से’ इस तृतीया विभक्ति के द्वारा अपहृत्य-[ नियेष ] का उपनिबन्धन  
किया गया है ।

यह अलंकार आरोपणमित्त अलंकार है इसलिए या तो यह सादृश्यमूलक होता है या सादृश्ये-  
तरसम्बन्धमूलक भी । सादृश्य में भी इसमें [ पूर्ववर्चित ] तीनों प्रकार की स्थिति रहती है ।  
तीनों में से [ सादृश्य की ] अनुगामिता का उदाहरण यथा—

—‘यह चन्द्रमा जरठ तमालपत्र के समान कोमल तथा कृष्णवर्ण की यह जो वस्तु लिए हुए  
है इसे लोग ‘कलङ्क’ कहते हैं । वह सर्वथा मिथ्या है । यह तो निर्दय विधुन्तुद [ राहु ] के दाँत  
के धाव से बने विवर में से दिखाई देता आकाश है ।’

—यहाँ तमालमल्लोमसत्व अनुगामी धर्म के रूप में उपयुक्त है । शुद्धसामान्य [ वस्तुप्रति-  
वस्तुभावरूप ] सादृश्य का उदाहरण यथा—

‘इन्द्र के नन्दनवन से यह पारिजात श्रीकृष्ण द्वारा पृथ्वी पर नहीं लाया गया है, यह तो पुष्प  
का प्रवर्द्ध है जिसे कश्मीरदेश में उत्पन्न होने के अभिमान को प्राप्त करा दिया गया है ।’

—यहाँ लाना तथा प्राप्त कराना शुद्ध वस्तुप्रतिवस्तुभाव है । विन्वप्रतिविन्वभाव का  
उदाहरण यथा—

‘न तो यह चाँदनी से अलंकृत आकाश है, न तो आकाशगंगा से संस्पृष्ट मेघखण्ड है, न  
नक्षत्रों का पुञ्ज है और न चन्द्रमा का मण्डल । यह तो तरंगित दूध वाला समुद्र है, और यह  
नेती बने सर्पराज ने मन्दर को लपेट रखा है, यह रत्नों का समुदाय है और यह अमृतस्त्रावी  
सुधाकलश है ।’

—यहाँ ज्योत्स्नाभरणत्व = चाँदनी से विभूषित होने के लिए क्षीरक्षोभमयत्व = तरंगित  
दूध वाला होना प्रतिविम्बरूप से निर्दिष्ट है ।

दूसरे [ सादृश्येतर ] संबन्ध के आधार पर होने वाला—यथा—

‘लीलापूर्वक गतिशील मलयपवन के आढम्बर से आकुलित भाग्यशाखालताओं में अतिमनोश प्रेक्षावेलि [ शूलाशूलना ] कर रहे कोकिलों में ओ वाचालता आई वह पथिक-[ पुरुषों की ] वनिताओं के लोचनों में मौन का जागना था ।’

—यहा कोकिलवाचालता कारण है और पथिकवनिताओं का मौन कार्य है। इनमें से कारण का निषेध कर कार्य का विधान किया गया है। यह आरोपगर्भा अपहृति दिखलाई गई।

अब अध्यवनायगर्भा अपहृति दिखलाते हैं -

‘प्रत्येक दिशा और प्रत्येक विदिशा में ओ यह बालेन्दु को प्रणाम किया जाता है यह इसलिए नहीं कि यह लक्ष्मीजी का सगा भार ( सोदर्य ) है, न इसलिए कि देव तथा दानवों द्वारा अपनारं सुरा और सुधा आदि का बटा भार है और न इसलिए कि यह भगवान् शंकर का मुकुटमणि है। स्पष्टरूप से यह बन्धत्व केवल इसलिए है कि यह कान्तामुक्तकमल को गुलामी करता है ।’

—यहा बन्धना के वास्तविक हेतु प्रभाव [ या प्रमा ] आदि का निगरण [ अनुक्ति ] कर उस पर अन्य हेतु [ तादृश दास्य ] का अध्यवसाय किया गया है। दूसरा उदाहरण यथा—

‘सुधानिधि देव [ चन्द्र ] प्रतिदिन इसलिए उदित होते हैं कि-‘उ-हैं देवों, पितरों और मनुष्यों को तृप्त करना होना है-’ यह असत्य है। ये तो तुम्हारे अघर की सुधा बटोरने के लिए घूम रहे हैं और उसके लिए इन्होंने युक्ति सोची है तुम्हारे कपोल पर प्रतिदिभ्रित होना ।’

—यहा उदय आदि में हेतु है उन-उन [ मेष वृष आदि ] राशियों का जो उपभोग उसे निगल कर [ शन्दन न कइकर ] अन्य निमित्त अध्यवसित किया गया है जो वस्तुतः पूर्वोक्त कारण का फल है।

विमर्श—अपहृति का इतिहास =

भामह—‘अपहृतिरभीष्टा च किंचिदन्तर्गतोपमा।

भूतार्थोपहृतिरस्याः क्रियते चाभिशा यथा ॥

नेयं विरोति भृङ्गाली मदेन मुखरा सुहु ।

अयमाकृष्यमाणस्य कन्दर्पधनुषो ध्वनिः ॥’ ३।२१, २२ ॥

—उपमा यदि कुछ-कुछ छिपाई जावे ता अपहृति अल्कार मानी जाती है। इसका अपहृतिनाम इसलिए रखा जाता है कि इसमें भूतार्थ = वास्तविक अर्थ का अपहृति = छिपाव रहता है। उदाहरण = ‘मद से मुखर यह भृङ्गाली नहीं बोल रही। यह तो काम के र्थाचे जा रहे धनुष की ध्वनि है ।’

वामन—[ सूत्र ] समेन वस्तुनाऽन्यापलापोऽपहृति ॥४३॥५॥

[ वृत्ति ] समेन तुल्येन वस्तुना वाक्यार्थेनान्यस्य वाक्यार्थस्यापलापो निहवो यस्त-  
त्वाध्यारोपणाय असावपहृति । यथा—

‘न केतकीना विलसन्ति सूचय’ प्रवासिनो हन्न इत्ययथ विधि ।

तद्विलस्येय न चकास्ति चञ्चला पुर, स्मरज्योतिरिद विवर्तते ॥’

वाक्यार्थयोस्तारपर्यात् ताद्रूप्यमिति न रूपकम् ॥’

—समान वस्तु से अन्य का अपलाप--अपहृति। सम = तुल्य वस्तु = वाक्यार्थ से अन्य = वाक्यार्थ का जो अपलाप = निहव = छिपाव, जिसका उद्देश्य तत्त्व का आरोप हो अपहृति कहलाता है। उदाहरण यथा—[ वर्षा में ] ये केवडे के पुष्प की नोक दिखाई नहीं दे रही यह तो विधाता प्रवासियों पर ईस रहा है। सामने यह चंचल बिजली नहीं चमक रही यह तो

काम को ज्योति प्रतिफलित हो रहा है। यहाँ रूपक नहीं क्योंकि यहाँ दो वाक्यार्थों में अभेद वतलाया गया है [ रूपक पदार्थों के अभेद में होता है ]।

उद्धट = अपहृतिरमीषा च किंचिदन्तर्गतोपमा ।

भूतार्थापह्वनेनास्या निबन्धः क्रियते युधैः ॥

—[ प्रतोहारेन्दुराज कृत लघु विवृति— ]—यत्र भूतं विद्यमानम् उपमेयलक्षणम् अर्थम् अपहृत्य उपमानरूपारोपेण उपमानोपमेयभावो [ उक्तान्यते सोपहृति— ] तिरलङ्कारः । अत्र च००० अस्फुटेन रूपेणोपमानोपमेयभावश्चकास्ति ।

—‘जहाँ भूत = विद्यमान उपमेयस्वरूप वस्तु को छिपाकर उपमानस्वरूप का आरोप करने से उपमानोपमेयभाव प्रतिपादित हो उसे अपहृति अलङ्कार कहते हैं। इसमें.....‘उपमानोपमेय-भाव अस्फुट रूप से प्रतीत होता है।’—यहाँ मूलकारिका भामह की है। वृत्ति में प्रतिहारेन्दुराज ने भूतार्थ-शब्द का अर्थ विद्यमान अर्थ किया है यही एक नवीन तथ्य है। ‘भूतार्थव्याहृतिः सा तु न स्तुतिः परमेष्ठिनः [ र. १० ] कथयामि ते भूतार्थम्, इन प्रयोगों में भूतार्थ शब्द का अर्थ सत्यार्थ या वास्तविक अर्थ होता है। मीमांसा में जो तीन अर्थवाद माने जाते हैं उनमें से एक का नाम ‘भूतार्थवाद’ ही है। ‘किंचिदन्तर्गतोपमा’-शब्द का अर्थ प्रतोहारेन्दुराज ने अपेक्षाकृत अच्छा वतलाया है।

रुद्धट—‘अतिसाम्यादुपमेयं यस्यामसदेव कथ्यते सदपि ।

उपमानमेव सदिति च विशेषापहृतिः सेयन् ॥ ८१७

—जिसमें अत्यन्त साम्य के कारण उपमेय का सद्भाव होने पर भी उसे असद्भावात्मक चिह्नित किया जावे और उपमान को सद्भावात्मक उसे अपहृति कहते हैं। उदाहरण—

‘नवविसकिसलयकोमलसफलावयवा विलासिनी नैषा ।

आनन्दमति अनानां नवनानि सितांशुलेखैव ॥ ८१८ ॥

—नवीन विसांकुर के समान सपूर्ण अवयवों में कोमल यह विलासिनी नहीं है जो जनों के नेत्रों को आनन्दित कर रही है, यह तो चन्द्रलेखा ही है। निर्णयसागरीय संस्करण में ‘नैषा’ का ‘सैषा’ तथा ‘लेखैव’ का ‘लेखैव’ छप गया है।

मग्मट—‘प्रकृतं सन्निपिध्वान्द्यत् साध्यते सा त्वपहृतिः ।’ उपमेयमसत्यं कृत्वोपमानं सत्यतया यत् त्याप्यते सा तु अपहृतिः । उदाहरण—‘अवाप्तः प्रागल्भ्यम् ० ।’

—उपमेय को असत्य वतलाकर उपमान का सत्यरूप से जो स्थापन उसी का नाम है अपहृति० । उदाहरण—‘अवाप्तः प्रागल्भ्यम् ० ।’

इससे स्पष्ट है कि सभी आचार्यों ने अपहृति को सादृश्यमूलक अलङ्कार माना है और हममें उपमेय का छिपाया जाना अनिवार्य स्वीकार किया है। वामन ने उसका रूपक से भेद भी वतलाना चाहा है। वस्तुतः भेदकतत्त्व चमत्कार है। अपहृति में अपह्वन का ही चमत्कार होता है।

संजीविनीकार श्री श्रीविद्याचक्रवर्ती ने अपहृति के संपूर्ण निरूपण को इस प्रकार कारिकाबद्ध किया है—

‘प्रकृतं सन्निपिध्वान्द्यत् साध्यते सा त्वपहृतिः ।

नया छलादिशब्दैश्च सा शब्दान्तरतस्त्रिषा ॥

स्याद् भेदाभेदतुलया विच्छित्तिरुपमादिका ।

रूपकादिस्त्वभेदांशे मुख्ये त्वारोपसंश्रयात् ।

उत्प्रेक्षादिरभेदेन वक्ष्यतेऽप्यवसायमाक ॥’

—प्रकृत का निषेध कर अप्रकृत उपमान का विधान अपद्धति कहलाता है। यह तीन प्रकार की होती है ( १ ) 'जो नभ्-' द्वारा प्रतिपादित हो, ( २ ) जो छलादि शब्दों से प्रतिपादित हो और ( ३ ) जो अन्य 'वपु' आदि शब्दों से प्रतिपादित हो।

—'उपमादि वहां होते हैं जहां भेद और अभेद दोनों बराबर होते हैं। रूपकादि वहां होते हैं जहां आरोप के आधार पर अभेदाश प्रधान हो। उत्प्रेक्षादि वहां होंगे जहां अभेद होगा किन्तु उसमें अध्यवसाय रहेगा।'

श्री श्रीविद्याचक्रवर्ती के इस संग्रह से विदित है कि उन्होंने मम्मट के अपद्धतिलक्षण को अधिक महत्त्व दिया है।

पण्डितराज जगन्नाथ ने अपद्धति का लक्षण इस प्रकार किया है—

'उपमेयतावच्छेदकनिषेधसामानाधिकरण्येनारोप्यमाणमुपमानतादात्म्यमपद्धतिः।

[ मुखख आदि ] उपमेय धर्म का निषेध दिखलाते हुए उपमान के तादात्म्य का आरोप अपद्धति कहलाता है।

### विमर्शिनी

एतदुपसंहरन्नन्यदवतारयति। खमित्यादि।

इस [ अभेदप्रधान अलंकारों के ] प्रकरण का उपसंहार करते हुए अन्य प्रकरण का आरम्भ करते हैं—

### [ सर्वस्व ]

एवमभेदप्राधान्ये आरोपगर्भानलंकाराँल्लक्षयित्वा अध्यवसायगर्भा-  
ल्लक्षयति—

तत्र

[ सू० २२ ] अध्यवसाये व्यापारप्राधान्ये उत्प्रेक्षा।

विषयनिगरणेनाभेदप्रतिपत्तिर्विषयिणोऽध्यवसायः।

[ वृत्ति ] इस प्रकार अभेद की प्रधानता होने पर होने वाले आरोपगर्भित अलंकारों के लक्षण किए, अब अध्यवसायगर्भित अलंकारों के लक्षण करते हैं। उनमें—

[ सूत्र ] अध्यवसाय में यदि व्यापार की प्रधानता हो तो उत्प्रेक्षा [ अलंकार होता है ]।

[ वृत्ति ] [ विषय के ] निगरण द्वारा विषय के साथ विषयी का अभेदबोध अध्यवसाय होता है।

### विमर्शिनी

आरोपगर्भानिति। अत्राध्यवसायगर्भत्वस्यापि विद्यमानत्वान्मल्लग्राम इत्यादि-  
वदारोपगर्भस्य प्राधान्यादेवं व्यपदेशः। तत्र तावदुत्प्रेक्षा लक्षयति—अध्यवसाय इत्यादि।

'आरोपगर्भ'—कथन प्रसिद्ध मह के नाम पर गाँव को मल्लगाँव कहने के समान आरोप की प्रधानता पर निर्भर है, वस्तुन. अध्यवसाय भी इनमें रहता है।

अध्यवसायगर्भित अलंकारों में उत्प्रेक्षा का लक्षण करते हैं अध्यवसाय इति—

विमर्शः—अलंकारसर्वस्व के इस उत्प्रेक्षालक्षण को अलंकाररत्नाकरकार शोभाकरमित्र ने

सदोप ठहराया है और विमर्शिनीकार जयरथ ने शोभाकर का खण्डन कर उसका समर्थन किया है। शोभाकर का विवेचन इस प्रकार है—

[ सूत्र ] विपरित्वेन संभावनमुत्प्रेक्षा ।

[ वृत्ति ] विपरित्वेन अर्थाद् विषयस्य सम्भावनं=‘भवितव्यमनेन स्थाणुना’ इत्यादि अनिश्चयात्मक-वितर्कादि-शब्दानभिधेय-संभावनाप्रत्ययविपर्याकृतत्वम् उत्प्रेक्षा । अतश्चानिश्चयात्मकतया संभवानायाः संदेहमूलत्वम्, न त्वध्यवसायगर्भता । यत्रापि [ धर्मोत्प्रेक्षायां धर्मरूपविषयस्य शब्दतोऽनुपादाने ‘लिम्पतीच तमोऽद्धानि’-इत्यादी ] अंशेनाध्यवसायस्तत्रापि सन्देहानिवृत्तिः । तथाहि संदेहनिश्चयरूपत्वेन प्रत्ययानां द्वैविध्यम् । निश्चयश्च यथार्थोऽव्यभिचारी सम्यक्प्रत्ययः, व्यभिचारी त्वसम्यक् । तत्र तावदुत्प्रेक्षा न सम्यक्त्वम्, अर्थाव्यभिचारामावात् । नाप्यसम्यक्प्रत्ययरूपो विपर्यासः, तस्य निश्चयरूपत्वात् । अस्यां च शाब्देनापि वृत्तेन भ्रान्तिमदतिशयोक्त्यादिवद् विपरिणो निश्चयामावात् । अनिश्चिते च संदिग्धमेवेत्यविवादः । अत एव नाध्यवसायमूलत्वमस्याः । तस्य विषयनिर्गणं विपरिणो निश्चयश्च त्वरूपम् । न चात्रैकमपि संभवति विषयोपादानात् निश्चयामावाच्च । तेन ‘अध्यवसाये व्यापार-प्राधान्ये उत्प्रेक्षा’-इति लक्षणमपर्यालोचिताभिधानमेव । [ उत्प्रेक्षा पृ० ४७ पूना संस्करण-१९४२ ] ।

[ सूत्र ] विषय विपर्यय रूप से संभावन उत्प्रेक्षा ।

[ वृत्ति ] विपर्यय रूप से विषय का संभावन अर्थात् ‘इसे स्थाणु (टूँठ) होना चाहिए’-इत्यादि अनिश्चयात्मक तथा वितर्क आदि शब्दों से पुकारा जाने वाला जो संभावनात्मक ज्ञान उसका विषय बनाया जाना उत्प्रेक्षा कहलाता है । और इसलिये अनिश्चयात्मक होने के कारण संभावना संदेह-मूलक होती है, अध्यवसायगर्भित नहीं । जहाँ [ धर्मोत्प्रेक्षा में विषयभूत धर्म का शब्दतः कथन नहीं रहता जैसे ‘अन्धकार अंग-अंग को लीपता-सा जा रहा है’-यहाँ अन्धकार के फैलने का आंशिक अध्यवसाय भी होता है वहाँ ही संदेह दृष्ट नहीं जाता । क्योंकि ज्ञान दो प्रकार के होते हैं संदेहात्मक तथा निश्चयात्मक । इनमें से निश्चय सम्यग्ज्ञान = ठीक ज्ञान का नाम है जो यथार्थ अर्थात् पदार्थ के वास्तविक रूप के ही आकार का होता है, तद्विरुद्ध नहीं । जो वैसा नहीं होता उसे असम्यक् ज्ञान = अयथार्थ = गलत ज्ञान कहा जाता है । इनमें से उत्प्रेक्षा सम्यक् ज्ञान नहीं हो सकती, क्योंकि इसमें ज्ञान-स्वरूप वैसा ही नहीं रहता जैसा पदार्थस्वरूप रहता है । न तो यह असम्यग्ज्ञानस्वरूप विषय = विपरीतज्ञान ही है क्योंकि यह [ विपरीतज्ञान या विषय ] निश्चयरूप होता है [ रज्जु में सर्प का निश्चय ही भ्रान्ति है वही विषय है ] इस [ उत्प्रेक्षा ] में भ्रान्तिमान् अतिशयोक्ति आदि के समान विषय का निश्चय शब्दतः भी नहीं होता [ वाक्यार्थबोध में उसके निश्चय की बात तो बहुत दूर है ] और यह सर्वमान्य है कि अनिश्चित पदार्थ संदिग्ध ही माना जाता है । इसलिये इस [ उत्प्रेक्षा ] को अध्यवसायमूलक नहीं माना जा सकता । क्योंकि उस [ अध्यवसाय ] का स्वरूप है विषय का निगला जाना और विषय का निश्चय होना । यहाँ [ उत्प्रेक्षा में ] इन दोनों में एक भी संभव नहीं है क्योंकि यहाँ विषय का शब्दतः कथन रहता है [ शब्दतः अकथनरूप निगला जाना नहीं ] तथा निश्चय नहीं रहता । इस कारण ‘अध्यवसाये व्यापारप्राधान्य उत्प्रेक्षा’ = ‘अध्यवसाय में व्यापार को प्रधानता होने पर ‘उत्प्रेक्षा’ यह [ अलंकारसर्वस्वकार द्वारा निर्मित ] लक्षण निषेध पर्यालोचनशून्य उक्ति है । विमर्शिनीकार इसका खण्डन करते हुए लिखते हैं—

विमर्शिनी

अध्यवसाय इति न पुनः संदेह इति । इह हि निश्चयानिश्चयरूपत्वेन प्रत्ययानां द्वैविध्यम् । निश्चयश्चार्थाव्यभिचारी सम्यक्, अन्यथा त्वसम्यगिति



भेदो न प्राद्यः । प्रतीतिवृत्तिमात्रस्यैवेह विचारयितुमुपक्रान्तत्वात् । तस्य च प्रामाण्यविचारे उपयोगात् । अनिश्चयश्च सशयतर्करूपत्वेन द्विविधः । अतश्चानिश्चितं च संदिग्धमेवेति न वाच्यम् । तर्करामन' सभावनाप्रत्ययस्याप्यनिश्चयारम्भत्वे संदिग्धत्वाभावात् । उपेक्षा सभावनादिशब्दाभिधेयतर्कप्रतीतिमूलेति नास्याः सदेहमूलत्वम् । तस्य भिन्नलक्षणत्वात् । अध्यानवधारणज्ञान सशय इत्यनवधारणज्ञानत्वाविशेषारम्भशयान्नाध्यान्तराभावस्तर्कस्येत्यस्याः सशयमूलत्वमिति चेत्, नैतत् । अनवधारणज्ञानत्वाविशेषोऽपि सशयतर्कयोर्भिन्नरूपत्वात् । तथाहि—स्थाणुर्वा पुरुषो वेति सामान्येन पक्षद्वयोद्देशः संशयः । पुरुषेणानेन भवितव्यमित्येकतरपक्षानुकूलकारणदर्शनेन पक्षान्तरवाधनमिव तर्कः । पुरुष एवायमिति पक्षान्तरासस्पष्टनैकतरपक्षनिर्णयो निश्चय इत्यग्नि महदय-साक्षिक प्रत्ययानां त्रैविध्यम् ।

बाह्यमस्यैव प्रत्ययानां त्रैविध्यम्, किं त्वनवधारणज्ञानत्वाविशेषात् सशयप्रकारस्तर्क इति चेत्, नैतत् । एवं ससम्यग्ज्ञानत्वाविशेषात् भ्रमोऽपि संशयप्रकारः स्यात् । अर्थ-निश्चयानिश्चयस्वभावत्वादिना अस्यनयोर्विशेष इति चेत्, इह पुनर्नास्त्यत्र किं प्रमाणम् । सशयो ह्यनियतोभयाशावलम्बित्वेनोदेति, तर्कं पुनरंशान्तरवाधनेनेव बाह्यकैलिदर्शनाद्यनु-कूलकारणौचित्यादशान्तरावलम्बनेन चेत्यस्यनयोर्विशेषः । देशान्तरे हि यथा स्पर्धमान एव स्थाणुपक्ष आस्ते न तथा बाह्यकैलिभूमौ, अपि तु शिथिलीभवति, समयाप्रमादत्वाच्च सर्वात्मना न निवर्तत इति अत एव निश्चयः साधकप्रमाणाभावेऽप्यस्योपपत्तः । नहि प्रतिपक्षवाधादेव निश्चयो भवति । साधकवाधकप्रमाणसद्भावेन तदुत्पादान् । तेनानियतो-मयपक्षावलम्बी किंस्त्रिदिति विमर्शः सदेहः । एकतरपक्षावलम्बी तु तर्क इति ।

अथ 'काऽस्य फलस्योपायविशेषः' इत्येकतरपक्षावलम्बेनापि सदेहः सम्भवतीति चेत्, नैतत् । किमर्थनानियतपक्षान्तरस्वीकारादेकतरपक्षावलम्बनस्याप्रतिष्ठानात् । बाह्याली-दर्शनाच्च यथा पुरुषविशेषाः स्मरणपथं समवतरन्ति न तथा स्थाणुविशेषा इत्युभयविशेष-स्मरणजन्मनः सदेहादेकतरविशेषस्मरणजन्मा विशिष्यते तर्क इत्याद्यवान्तरमतिगहनमन-योरस्ति भेदसाधन तदपुनः प्रकृतानुपयोगादिह नोक्तम् । तेन सदेहनिश्चयान्तरालवर्ती त्राद्विलक्षण' सभावनाप्रत्ययस्त्रिद्विचरिव लम्बमानोऽवरयाम्युपगन्तव्यः ।

अध्यसाय न किं सदेहः । यदा, जो है सो, समस्त ज्ञान दो वर्गों में बटि जाते हैं (१) निश्चय तथा (२) अनिश्चय । इनमें निश्चयज्ञान दो प्रकार का होता है (१) सम्यक् और (२) असम्यक् । इन दोनों का अन्तर यह है कि सम्यक् निश्चय अर्थात् निश्चय अर्थात् पदार्थ के स्वरूप के विरुद्ध नहीं होता और असम्यक् ठीक इसके विपरीत अर्थात् निश्चय अर्थात् पदार्थस्वरूप के विरुद्ध । किन्तु यह अन्तर लौकिक अन्तर है । यदा [ कान्यक्षेत्र को अलङ्कारमीमांसा में ] इसे नहीं अपनाया जाना चाहिए । क्योंकि यहाँ तो केवल प्रतीतिवृत्ति [ प्रतीति रूप वृत्ति = अन्तःकरण वृत्ति, जिते कदमीरीदर्शन सर्वात्त कहते हैं ] पर ही विचार किया जा रहा है । उपर्युक्त जो भेद बतलाया गया है उसका उपयोग केवल प्रामाण्यविचार में होता है [ जहाँ वास्तविकता अथवा अवास्तविकता का न्याय किया जाता है ] । जहाँ तक अनिश्चयज्ञान का संबन्ध है वह दो प्रकार का होता है सशयत्मक और तर्कात्मक । इसीलिए 'अनिश्चित जो है वह संदिग्ध ही होता है' ऐसा नहीं कहना चाहिए । तर्कात्मक जो सभावनाज्ञान होता है उसे भी अनिश्चयारम्भ कहा जा सकता है, जब कि वह सदेहात्मक नहीं होता । उपेक्षा जो है वह सभावना-आदि शब्दों में कही जाने वाली तर्कात्मक प्रतीति पर निर्भर है, अतः इसे सदेहमूलक नहीं कहा जा सकता । उस [ सदेह ] का स्वरूप और ही प्रकार का होता है ।

और—'अनिश्चयात्मक ज्ञान संशय होता है, तथा यह अनिश्चयात्मकता तर्कों में भी रहती है अतः वह संशय से भिन्न नहीं है, फलतः उत्प्रेक्षा संशयमूलक मानी जा सकती है'—यदि ऐसा कहें तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि अनिश्चयात्मकता से युक्त होने पर भी तर्कों और संशय में अन्तर है। अन्तर इस प्रकार है कि 'टूँठ है या पुरुष' इस प्रकार दोनों पक्षों का समानरूप से ज्ञान संशय कहलाता है जब कि तर्क कहलाता है—'यह पुरुष होना चाहिए'—यह, जिसमें किसी एक ही पक्ष की ओर झुकाव दिखलाकर दूसरे पक्ष का मौन निराकरण-सा रहता है। निश्चयज्ञान वह ज्ञान कहलाता है जिसमें 'यह पुरुष ही है'—इस प्रकार दूसरे पक्ष का स्पर्श भी नहीं रहता और केवल एक ही पक्ष का निर्णय कर लिया जाता है। इस प्रकार ज्ञानों के तीन वर्ग होते हैं। इसमें साक्षी है सहृदय जन।

यदि यह कहें कि—'ज्ञान के ये भीनों प्रकार, हैं तो अनुभवसिद्ध' किन्तु इनमें जो तर्क है वह संशय का ही एक भेद है, क्योंकि संशय और तर्क दोनों में ही ज्ञान की अनिश्चयात्मकता समान रूप से रहती है।'—तो यह भी ठीक नहीं, तब तो भ्रम को भी संशय का भेद कहा जा सकता है क्योंकि ज्ञान की असत्यवक्ता (अवयार्थता) संशय के ही समान भ्रम में भी रहती है। यदि कहें कि भ्रम में पदार्थ का निश्चय रहता है और संशय में अनिश्चय, इस प्रकार दोनों में अन्तर है तो इसमें क्या प्रमाण है कि ऐसा अन्तर संशय और तर्क में नहीं है। संशय जो है उसमें विषय बनते हैं ऐसे दो अंश जो दोनों ही अनिश्चित, रहते हैं जब कि तर्क में एक अंश का वाच-सा रहता है और बाइकेलि [ संभवतः घुड़सवारी का क्षेत्र=Race ground ] आदि के दिखाई देने आदिअनुकूल (साधक) कारणों के औचित्य से दूसरे अंश का साधन। इस प्रकार अन्तर इन दोनों में भी है ही। अन्य स्थानों में जिस प्रकार स्थाणुपक्ष का ज्ञान बराबरी के साथ होता रहता है उस प्रकार बाइकेलि भूमि [ घुड़सवारी के मैदान ] में नहीं, वहाँ वह शिथिल हो जाता है, किन्तु जब तक उसमें प्रमाद की संभावना रहनी है वह सर्वात्मना दृट नहीं जाता। इसीलिए यह ज्ञान निश्चयस्वरूप है क्योंकि यह [निश्चय] साधक-प्रमाण के अभाव में भी माना जा सकता है। [ बाइकेलि भूमि आदि एकता पक्ष के समर्थक साधन तो हैं किन्तु उसे सर्वथा सिद्ध ही कर देने वाले नहीं हैं अतः वे साधक-प्रमाण नहीं हैं ]। ऐसा नहीं कि प्रतिपक्ष (Counterpart) का सर्वथा वाच होने पर ही निश्चय माना जाता हो, वह साधक और वाचक दोनों प्रकार के प्रमाणों के रहने पर भी माना जा सकता है। इसीलिए संदेह दो अनिश्चित पक्षों पर निर्भर ज्ञान का नाम है जिसमें 'ऐसा है या कि ऐसा'—इस प्रकार के विकल्प का बोध होता है, और तर्क किसी एक पक्ष पर निर्भर ज्ञान का, जिसे शिथिल निश्चयात्मक कहा जा सकता है। यद्यपि भ्रान्ति में निश्चय रहता है किन्तु उसमें निश्चय दृढ़ रहता है क्योंकि उसमें पक्षान्तर का ज्ञान नहीं रहता। संदेह में दृढ़ या शिथिल किसी भी प्रकार का निश्चय नहीं रहता इसीलिए उसे संदेह ही माना जाता है और इसीलिए तर्क उससे प्रतीतितः भिन्न है।

यदि यह कहें कि—संदेह भी एकतरपक्ष पर निर्भर होता है जैसे [ अनेक कारणों में से किसी एक कारण की विशिष्ट कारणता का निश्चय कर चुका व्यक्ति कहें— ] 'आखिर इस कार्य का विशिष्ट कारण क्या है' [ इस कथन में विशिष्ट कारणता पर प्रश्न है अतः है तो वह संदिग्ध किन्तु वक्ता किसी एक कारणभूत पदार्थ की विशिष्ट कारणता को मन में रख कर प्रश्न कर रहा है इसलिए उसका झुकाव उसी की ओर है अतः यह एकतरपक्षावलम्बी संशय है ], तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि इस वाक्य में जो 'कः' इस प्रकार किमर्थक = 'कौन'-अर्थ का वाचक पद है उससे एकतरपक्ष का अपत्या जाना सिद्ध नहीं हो पाता। और बाइकेलि [ घुड़सवारी का

मैदान अथवा बाहरी राजपथ ] देखने से जैसे पुरुषविशेष याद आते हैं वैसे स्थाणुविशेष नहीं, अतः दोनों विशिष्ट वस्तुओं के स्मरण से जो संदेह हुआ उसकी अपेक्षा किसी एक विशिष्ट के स्मरण से हुआ तर्क अवश्य ही मित्र है'—इत्यादि और भी बहुत से तत्त्व इन दोनों में अन्तर सिद्ध करते हैं जो अत्यन्त गहन हैं । उन सबकी चर्चा प्रस्तुत प्रकरण में निरर्थक है अतः उन्हें यहाँ नहीं बतलाया जा रहा । निष्कर्ष यह कि उक्त हेतुओं से संदेह और निश्चय के बीच का किन्तु इन दोनों से मित्र [ इन दोनों के बीच ] विशुद्ध के समान लयका हुआ संभावनात्मक बोध अवश्य ही स्वीकार करना चाहिए ।

### विमर्शिनी

एवमप्यनिश्चयात्मकसंभावनाप्रत्ययमूलत्वादुत्प्रेषायाः कथमध्यवसायमूलत्वम् । तस्य हि विषयनिगरणविषयनिश्चयश्च स्वरूपम् । न चात्रैकमपि सम्भवति । विषयोपादानाग्निश्चयाभावाच्चेति । अत्रोच्यते—इह द्विधास्त्यध्यवसायः—स्वारसिक उत्पादितश्च । तत्र स्वारसिके विषयानवगम एव निमित्तम् तरसामर्थास्वरसत एव विषयिप्रतीतेरुत्पादात् । न ह्यवगतशुक्तिकास्वरूपस्य प्रमातुः कदाचिदपि रजतमिदमिति प्रत्ययोरुत्पाद स्यात् । इतरत्र तु विषयभवगम्यापि तदन्तःकारेण प्रतिपत्तौ स्वात्मपरतन्त्रविकल्पबलाद् विषयिप्रतिपत्तिमुत्पादयेत् । जानान एव हि विषयिविविक्तं विषयं तत्र प्रयोजनपरतया विषयिणमध्यवस्येत् । तत्राद्यो भ्रान्तिमदादिविषयः । तत्र हि प्रमात्रन्तरगता स्वारसिकत्वेन तयाविधा प्रतिपत्तिर्वक्त्रानूद्यते न तूत्पाद्यते । यदाहुः—'प्रमात्रन्तरधीर्भ्रान्तिरूपा यस्मिन्नूद्यते । स भ्रान्तिमान्' इति । स्वारसिकत्वं पुनरत्र कविप्रतिभानिर्वर्तितमेवेष्टम् । अन्यथा हि भ्रान्तिमात्रं स्यादिति पूर्वमेवोक्तम् । इतरस्तुत्प्रेषाविषयः । स च द्विविधः—सिद्धः साध्यश्च । सिद्धो यत्र विषयस्यानुपात्ततया निर्गौर्यत्वाद्ध्यवसितप्राधान्यम् । साध्यो यत्रेवाद्युपादानात्संभावनाप्रत्ययान्तरत्वाद्ध्यवसायस्य निर्गौर्यमाणत्वाद्ध्यवसायक्रियाया एव प्राधान्यम् । अत एवाहुः—'व्यापारप्राधान्य' इति । अत एव चात्र क्वचिद्विषयानुपादानम् । चाद्योपयोग्यध्यवसायस्य साध्यमानवेनोपक्रान्तत्वात् । क्वचिच्च विषयस्यानुपादानेऽपि न सिद्धत्वम् । इवाद्युपादानाग्निर्गौर्यमाणतायाः प्राधान्यात्संभावनाप्रत्ययस्यैवोद्रेकात् । अत एव चात्र विषयस्य निर्गौर्यमाणत्वाद्वारोपगर्भस्य न वाच्यम् । तत्र विषयस्य विषयितया प्रतीतिः । इह पुनर्विषयस्य निर्गौर्यमाणत्वेन विषयिण एव प्रतीतिः । ननु विषयनिगरणमध्यवसायस्य लक्षणम् । इह पुनर्विषयस्य निर्गौर्यमाणतेति कथमत्राध्यवसायतेति चेत्, नैतत् । 'विषय्यन्तःकृतेऽन्यस्मिन् सा स्यात्साध्यवसानिका' इत्याद्युक्त्याध्यवसायस्य विषयिणा विषयस्यान्तःकरणं लक्षणम् । तच्च विषयस्य निगरणेन निर्गौर्यमाणत्वेन वा भवतीति न कश्चिद्विशेषः । निर्गौर्यमाणत्वमपि पूर्वोक्तनीत्या विषयस्योपात्तस्यानुपात्तस्य वा भवतीत्यपि न कश्चिद्विशेषः । एव सिद्धेऽध्यवसायेऽध्यवसितप्राधान्यं साध्ये च स्वरूपप्राधान्यमिति सिद्धम् । एतच्च ग्रन्थद्वये विभज्याग्रे वक्ष्यतीति तत् प्रवाक्यार्थम् । यदेव साध्यवसायस्य साध्यत्वं तदेव संभावनात्मकत्वम् । संभावना ह्येकतरपक्षशिथिलीकारेण पक्षान्तरदाह्येन च प्रादुर्भरतीत्यस्याः साध्याध्यवसायतुल्यत्वम् । तस्यापि विषयशिथिलीकारेण विषयिदाहर्षेण चोरपत्तेः । अत एव विषयिगोऽपि शाब्देन वृत्तेन सत्यत्वम् । विषयिदाहर्षेणैव साध्याध्यवसायस्वरूपप्रादुर्भावात् । यदुक्तं मञ्जिरेव 'संभावनायां च संभाव्यमानस्य दाहर्षादपरस्य च शैथिल्यात्' इति । इह संभाव्यमानस्य विषयिगो दाहर्षादत्र संशया-

द्वैलक्षण्यम् । तस्य ह्यनियतोभयांशावलम्बी किंस्विदिति विमर्शो लक्षणम् संभावना-  
विषयस्य च शैथिल्यान्निश्चयादपि भेदः । विषये हि बाधकसद्भावादेकस्य शैथिल्येन वा  
साधकसद्भावाच्च पक्षान्तरस्य सिद्धिः स्यात् । अतिशयोक्तिश्च निश्चयात्मिकेति ततोऽस्या  
भेदः । यस्तु 'साध्यो यत्र विषयिणोऽस्त्येतया प्रतीतिः' इत्यादि ग्रन्थकृद्ब्रूयति तद् वस्तु-  
वृत्ताभिप्रायेणावगन्तव्यम् । तदेवं विषयस्य निर्गोचरमाणाद्द्विपयिणश्च निश्चयात्मिकत्वमध्य-  
वसायमूलत्वमस्या इति यथोक्तमेव लक्षणं पर्यालोचिताभिधानम् । तस्मात्

‘इवादीं निश्चयाभावाद्द्विपयस्य परिग्रहात् ।

कचिदध्यवसायेन नोत्प्रेषापि तु संशयात् ॥’

इत्याद्युक्तमयुक्तमेवेत्यलं बहुना ।

[ शंका ] 'पेसा होने पर भी [ संभावना को संदेह से भिन्न मान लेने पर भी ] उत्प्रेक्षा होती  
तो अनिश्चयात्मक संभावना-प्रतीति पर ही निर्भर, उसे अध्यवसायमूलक [ अध्यवसाय पर निर्भर ]  
क्यों बतलाया जा रहा है' । उस [ अध्यवसाय ] का स्वरूप तो 'विषय का निगरण = निगला  
जाना [ शब्दतः अकथन ] तथा [ उत्प्रेक्षा ] विषयीरूप से निश्चय' होता है । यहाँ [ उत्प्रेक्षा में ]  
इन दोनों में से एक भी नहीं है । यहाँ तो उल्टे विषय का उपादान ही है और [ विषयीरूप से  
उसके ] निश्चय का अभाव ।—[ समाधान ] इस पर हमारा कहना है—'यहाँ अध्यवसाय दो  
प्रकार का होता है ( १ ) स्वारसिक तथा ( २ ) उत्पादित । इनमें से स्वारसिक अध्यवसाय में  
कारण रहता है विषय का अज्ञान ही क्योंकि उस [ अज्ञान ] के आधार पर विषयी की प्रतीति स्वाभा-  
विकरूप से ही हो जाती है । [ यथा शुक्ति में रजत की प्रतीति ] । ऐसा नहीं देखा जाता कि जिस  
व्यक्ति को शुक्ति [ सीप, छिपनी ] का शुक्तिरूप से ज्ञान होता रहता हो उसे उसमें कभी भी यह  
प्रतीति होती हो कि 'वह रजत है' । किन्तु द्वितीय [ उत्पादित ] अध्यवसाय में व्यक्ति विषय को  
जानता ही रहता है तब भी उसे छिपा देना चाहता है [ = अन्तःकार ] और उस पर [ बाह्य कारण  
के बिना भी ] केवल अपनी इच्छा से जनित विकल्प के द्वारा विषयी की प्रतीति पैदा करता  
है । वह विषय को विषयी से भिन्न समझता रहता है तथापि प्रयोजनविशेष से उस पर विषयी  
को अध्यवसित कर देता है ।

इनमें से प्रथम अध्यवसाय भ्रान्तिमान् आदि में होता है । उनमें [ पशु-पक्षी आदि ] अन्य  
प्रमाता व्यक्तियों में स्वभावतः हो रही वैसी [ भ्रमपूर्ण ] प्रतीति का वक्ता अनुवादमात्र करता है  
उसे उत्पन्न नहीं करता । जैसा कि कहा है—'अन्य प्रमाता का भ्रान्तिरूप ज्ञान जहाँ अनुदित  
किया जाता है वह है भ्रान्तिमान्' [ ] । किन्तु यहाँ जो स्वारसिकत्व है वह भी कवि-  
प्रतिमासंपादितस्वरूप ही है क्योंकि पेसा न मानने पर [ अर्थात् स्वारसिकत्व को शुक्तिरजत  
दृष्टान्त के समान केवल लौकिक मानने पर ] भ्रान्ति केवल भ्रान्ति ही हो सकेगी भ्रान्तिमान्  
अर्थकार नहीं । यह तथ्य पहिले ही स्पष्ट किया जा चुका है ।

दूसरा जो [ उत्पादित ] अध्यवसाय है वह उत्प्रेक्षा में होता है । वह भी दो प्रकार का  
होता है ( १ ) सिद्ध तथा ( २ ) साध्य । सिद्ध वह होता है जिसमें विषय उपात्त नहीं रहता,  
निर्गोचर (Understood) रहता है फलतः जिसमें अध्यवसित अर्थ (विषयी) ही प्रधान रहता है ।  
इसके अतिरिक्त साध्य वहाँ होता है जहाँ 'इव' 'यथा' [अथवा मानों] आदि शब्द रहते हैं अतः ज्ञान  
संभावनात्मक रहता है अतः विषय [शब्दतः उपात्त रहने पर भी] निर्गोचर ही रहता है और इसलिए  
जहाँ अध्यवसाय क्रिया की प्रधानता रहती है । इसीलिए लक्षण में ग्रन्थकार ने भी कहा - 'व्यापार, की  
प्रधानता रहने पर' । [ अभिप्राय यह कि जहाँ विषय का उपादान रहता है इसलिए 'इव' आदि

शब्दों के प्रयोग के कारण बुद्धिधारा वहाँ अध्यवसायात्मक ज्ञान की ओर बढ़ती तो है किन्तु वह अध्यवसायात्मक ज्ञान में परिणत नहीं हो पाती। अध्यवसायप्रयत्नमात्र तक सीमित रह जाती है।] और इसीलिए कहीं कहीं विषय का उपादान नहीं भी रहता। यह इसलिए कि यहाँ उनी अध्यवसाय को साध्यरूप में प्रस्तुत किया जाता है जो वाच्योपयोगी होता है। किन्तु जहाँ कहीं विषय का उपादान नहीं भी रहता वहाँ अध्यवसाय मित्र अध्यवसाय नहीं होता क्योंकि वहाँ 'इव'-'मानों' आदि शब्दों का उपादान रहता है इसलिए निर्गौर्यमाणता प्रधान हो जाती है और सभावनात्मक ज्ञान ही उद्विक्त हो जाता है। और इसलिए क्योंकि यहाँ विषय निर्गौर्यमाण रहता है उत्प्रेक्षा आरोपगमिन नहीं होती [ अलङ्काररत्ना० ने आरोपमा ही माना है द्र० पृ० ४८ ]। आरोप में विषय की प्रतीति विषयी रूप से होती है। अध्यवसाय में विषय निर्गौर्यमाण होता है इसलिए केवल विषयी की ही प्रतीति होती है।

यहाँ यह शका की जा सकती है कि 'अध्यवसाय का स्वरूप है विषय का निगरण [ अर्थात् इसमें निगरण की ही प्रधानता रहती है ] और यहाँ बनलायी जा रही है विषय की निर्गौर्यमाणता [ जिसमें निगरण अप्रधान है प्रधानता विषय की है ] अतः इसे अध्यवसाय रूप कैसे माना जाय ?' किन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि अध्यवसाय का स्वरूप है विषयी के द्वारा विषय का अपने भीतर छिपा लेना जैसा कि [ मम्मटभट्ट ने कान्यप्रकाश द्वितीय प्रकाश में ] कहा है 'साध्यवसाना लक्षणा वह ह्यंती है जिसमें विषय विषयी के द्वारा अन्तःकृत [= अपने भीतर छिपा हुआ ] रहता है।' यह अन्तःकृति चाहे विषय के निगरण से हा या विषय की निर्गौर्यमाणता में उसमें कोई अन्तर नहीं आता। निर्गौर्यमाणता भी उपात्त विषय की भी होती है और अनुपात्त विषय की भी। इसलिए ठममें भी कोई फरक नहीं पड़ना।

इस प्रकार यह मित्र हुआ कि मित्र अध्यवसाय में प्रधानता अध्यवसिन ( विषय ) का रहनी है और साध्य अध्यवसाय में स्वय अध्यवसाय की ही। इसे स्वय ग्रन्थकार ही अलग-अलग करके आगे मलीमौनि बनलायेंगे। अतः इसे वहाँ से समझ लेना चाहिए। हाँ! यहाँ जो अध्यवसाय की मान्यता है वही सभावनात्मकता होती है। संभावना जो है वह किसी एक पक्ष को शिथिल करके और अन्य पक्ष को दृढ़ करके ही होती है अतः यह साध्य अध्यवसाय के बराबर होती है। क्योंकि साध्य अध्यवसाय भी विषय को शिथिल कर विषयी को दृढ़ता से निष्पन्न होता है। इसलिए विषयी भी शाब्दबोध में सत्य ही रहता है क्योंकि साध्य अध्यवसाय विषयी की दृढ़ता से ही निष्पन्न होता है। जैसा कि आपने भी [ अलङ्काररत्नाकर के पृ० ४८ पर उत्प्रेक्षा प्रकरण में ही ] कहा है—'संभावना में सभाव्यमान [ विषयी ] की दृढ़ता रहती है और विषय की शिथिलता।' यहाँ सभाव्यमान विषयी की दृढ़ता रहती है अतः यहाँ मंशय से मित्रता रहती है। क्योंकि सशय दो अनिश्चित अक्षर पर निर्भर रहता है जिसका स्वरूप 'क्या'-'अथवा' इस प्रकार का विमर्श होता है। इसी प्रकार सभाव्यमान-विषय की शिथिलता के कारण यह निश्चय से भी मित्र रहता है।

जहाँ निश्चय होता है वहाँ एक ओर तो एक पक्ष दृढ़ जाता या शिथिल हो जाता है क्योंकि बाधक उपस्थित रहना है और दूसरी ओर दूसरे पक्ष की सिद्धि हो जाती है क्योंकि साधक भी उपस्थित रहा करना है। अनिश्चयान्ति निश्चयात्मिका होती है इसलिए उससे भी यह [ उत्प्रेक्षा ] मित्र है। ग्रन्थकार जो यह कहेंगे कि 'वह साध्य होता है जिसमें विषयी की प्रतीति असत्य रूप से होती है' वह वास्तविक स्थिति को मन में रखकर [ न कि नारूपनिक अथवा प्रातिभ स्थिति को ] ऐसा समझना चाहिए।

इस प्रकार विषय के निगौर्यमाण होने तथा विषयी का निश्चय होने से यही सिद्ध होता है कि यह = उत्प्रेक्षा आध्यवसायमूलक है, इसलिए ग्रन्थकारोक्त लक्षण ही सोच-समझकर बनाया गया लक्षण है— [ पर्यालोचिताभिधान ] । इस कारण अधिक क्या इतना कहना पर्याप्त है कि—

‘उत्प्रेक्षा सर्वत्र संशय से ही होती है, अध्यवसाय से कही भी नहीं, क्योंकि इसमें ‘इव’-आदि का प्रयोग रहता है, अतः निश्चय नहीं रहता तथा विषय का उपादान शब्दतः रहता है’— [ अलंकाररत्ना० पृ० ५१ ]

—इत्यादि कथन सर्वथा युक्तिशून्य है ।

विमर्शः—विमर्शिनी के अनुपदोक्त विवेचन का आधार अलंकाररत्नाकर का पूर्वाद्धृत विवेचन से लगातार आगे का यह विवेचन है—

‘न च ‘एषा स्थली०’ इत्यादावशब्दत्वादेः मौनित्वादिना अध्यवसितत्वाद् निमित्तविषयोऽध्यवसाय’ इति वाच्यम् । सर्वत्र निमित्तविषये अध्यवसायस्य सिद्धत्वेन साध्यत्वाभावात्निमित्तपक्षेया चाध्यवसायाद्गीकारे उपमादीनामध्यवसाय एव लक्षणं स्यात्, तेन आरोपगर्भवैयम् । क्वचित्तु विषया-नुपादान आरोपगर्भत्वाभावात्निश्चयरूपांशभावे अध्यवसायगर्भोत्प्रेक्षेति वाचोयुक्तिरुचितैव तद्गर्भ-सन्देहवत् । विषयनिर्गणारूपस्य मुख्यस्य तदंशस्य सिद्धत्वात् । संभावनायां च संभाव्यमानस्य दाक्ष्यात् अपरस्य च शैथिल्यात् इह संभाव्यमानस्य विषयिणः शाब्देन वृत्तेन सत्यत्वं न स्तितरस्य । वस्तुतस्तु विषयिणः सत्यतातिशयोक्तौ अपि नास्तीति तत्रापि विषयिणः सत्यतेति न वाच्यं स्यात् । अत एव सापह्नुवायां विषयस्यैवास्त्यत्वात् अपह्नवः अन्यथेतरस्यैव स्यात् । इयं च धर्मा वा धर्म्यन्त-रत्वेनोत्प्रेक्ष्यते धर्मा वा धर्मान्तरत्वेनेति प्रथमं द्विभेदा । आद्या शब्दत्वात्तत्वेनाद् आरोपस्य द्विविधैव । द्वितीयापि धर्मरूपविषयोपादाने आरोपगर्भा । अत्र च प्रधानभूतधर्म्युपसर्जनात्मकविशेष-णीमूतानां धर्माणां परस्परं विशेष्यविशेषणभावानुपपत्तौ सामानाधिकरण्याभावादार्थ एवारोपः । अनुपादाने तु अध्यवसायगर्भा । आरोपगर्भे तु भेदत्रये विषयापह्नवानपह्नवान्यां द्वैविध्यम् ।

‘इवादी निश्चयभावाद् विषयस्य परिग्रहात् । क्वचिदध्यवसायेन नोत्प्रेक्षापि तु संशयात् ॥’

— इति संग्रहः ।

—ऐसा नहीं कह सकते कि ‘एषा स्थली’ पक्ष में अशब्दत्व आदि मौनित्व आदि के द्वारा अध्यवसित है अतः यहाँ निमित्तविषयक अध्यवसाय है, क्योंकि एक तो जहाँ-जहाँ निमित्त के ऊपर अध्यवसाय होता है वहाँ अध्यवसाय सदा सिद्ध ही होता है, साध्य नहीं; दूसरे यदि निमित्त को लेकर अध्यवसाय मान लिया आवे तो उपमा आदि में भी अध्यवसाय को ही लक्षण मानना होगा । इस कारण उत्प्रेक्षा को आरोप से ही युक्त मानना चाहिए । हाँ, कहीं-कहीं जब विषय का कथन नहीं रहता वहाँ उत्प्रेक्षा को आरोप से युक्त नहीं माना जा सकता, साथ ही वहाँ निश्चयांश भी रहता है अतः वहाँ उत्प्रेक्षा को अध्यवसाय से युक्त माना जा सकता है, जैसे कि उसे संदेह से युक्त माना जाता है । यह इसलिए कि ऐसे स्थल में ‘विषयनिर्गण’-रूप उस [ अध्यवसाय ] का मुख्य अंश सिद्धरूप से विद्यमान रहता है । किन्तु संभावना में संभाव्यमान ही दृढ़ बनाया जाता है और दूसरे को शिथिल कर दिया जाता है फलतः इसमें संभाव्यमान विषयी ही शब्दतः सत्य प्रतीत होता है, न कि दूसरा [ विषय ] । परमार्थतः तो सच यह है कि विषयी की सत्यता स्वयं अतिशयोक्ति में ही नहीं रहती [ जिसका प्राण ही है अध्यवसाय ] इसलिए उत्प्रेक्षा में भी विषयी की सत्यता रहती है ऐसा नहीं कहना चाहिए । इसीलिए सापह्नुवा उत्प्रेक्षा में विषय ही असत्य माना जाता है और उसी का अपह्नव स्वीकार किया जाता है । ऐसा न हो तो दूसरे [ विषयी ] का ही अपह्नव स्वीकार किया जाने लगे ।

यह [ उत्प्रेक्षा ] प्रधानरूप से दो प्रकार की होती है। एक तो वह जिसमें धर्म किसी अन्य धर्म के रूप में उत्प्रेक्षित रहता है और दूसरी वह जिसमें धर्म किसी अन्य धर्म के रूप में। इनमें से प्रधान दो प्रकार की होती है शब्द और आर्थ, क्योंकि आरोप भी दो ही प्रकार का होता है। दूसरी जो है वह भी धर्म का उपादान होने पर तो आरोपयुक्त होती है और यह आरोप आर्थ ही होता है क्योंकि इसमें प्रधान रहता है धर्मों और धर्मों में से सब उसी धर्मों के विशेषण के रूप में प्रयुक्त रहने हैं फलतः उनका परस्पर में देख्य नहीं हो पाता। और यदि विषय का उपादान नहीं रहता तो यही उत्प्रेक्षा अर्थात् अर्थ से युक्त मान ली जाती है। जो भेद आरोप से युक्त होने हैं वे भी दो प्रकार के होते हैं सापेक्ष तथा निरपेक्ष। इस मूला विवेचन का सार यह है कि -

'उत्प्रेक्षा मंत्र सशय से ही होती है, अर्थात् अर्थ से नहीं, क्योंकि इसमें 'इव'—'मानों' आदि का प्रयोग रहता है। अतः निश्चय नहीं रह पाता और विषय का उपादान शब्दतः रहा करता है।' [ अलं० रत्ना० पृ० ४८, ५ ]।

### [ सर्वस्व ]

स च द्विविधः—साध्यः सिद्धश्च। साध्यो यत्र विषयिणोऽसत्यतया प्रतीतिः। असत्यत्वं च विषयिणतस्य धर्मस्य विषय उपनियन्वे विषयि-संभवेन विषयासंभवेन च प्रतीतिः। धर्मो, गुणक्रियारूपः तस्य संभ-वासंभवप्रतीतौ संभवाध्यस्य तत्रापरमार्थतया असत्यत्वं प्रतीयते, इतरस्य तु परमार्थतया सत्यत्वम्। यस्यासत्यत्वं, तस्य सत्यत्वप्रतीताध्यवसायः साध्यः। अतश्च व्यापारप्राधान्यम्। सिद्धो यत्र विषयिणो वस्तुतोऽसत्य-स्यापि सत्यताप्रतीतिः। सत्यत्वं च पूर्वकस्यासत्यत्वनिमित्तस्याभावात्। अतश्चाध्यवसितप्राधान्यम्। तत्र साध्यत्वप्रतीतौ व्यापारप्राधान्येऽध्यव-सायः संभावनमभिमानस्तर्क ऊह उत्प्रेक्षेत्यादिशब्दैरुच्यते। तदेवमप्रकृतगत-गुणक्रियामिसंबन्धात्प्रकृतत्वेन प्रकृतस्य संभावनमुत्प्रेक्षा। सा च चाच्या इवादिभिः प्रदर्श्यते। प्रतीयमानायां पुनरिवाद्यप्रयोगः। सा च जानिक्रिया-गुणद्रव्याणामप्रकृतानामध्यवसेपत्वेन चतुर्धा। प्रकृतस्यैतद्भेदयोगेऽपि न वैचित्र्यमिति न नै गणिताः। प्रत्येकं च भावामाद्याभिमानरूपतया द्वैविध्येऽष्ट-विधत्वम्। भेदाष्टकस्य च प्रत्येकं निमित्तस्य गुणक्रियारूपत्वे षोडश भेदाः। तेषां च प्रत्येकं निमित्तस्योपादानानुपादानाभ्यां द्वात्रिंशत्प्रभेदाः, तेषु च प्रत्येकं हेतुस्वरूपफलोत्प्रेक्षणरूपत्वेन पण्यतिर्भेदाः। एषा गतिर्या-च्योत्प्रेक्षायाः। तत्रापि द्रव्यस्य प्रायः स्वरूपोत्प्रेक्षणमेवेति हेतुफलो-त्प्रेक्षाभेदास्ततः पातनीयाः। प्रतीयमानायास्तु यद्यप्युद्देशत एतावन्तो भेदाः, तथापि निमित्तस्यानुपादानं तस्यां न संभवतीति तैर्भेदैर्युनोऽयं प्रकारः। इवाद्यनुपादाने निमित्तस्य चाकीर्तने उत्प्रेक्षणस्य निष्प्रमाण-त्वात्। प्रायश्च स्वरूपोत्प्रेक्षाया यथासंभवं भेदनिर्देशः।

पपा चार्थाश्रयापि धर्मविषये शिल्पशब्दहेतुका क्वचित्पदार्थान्वयवेला-  
यां सादृश्याभिधानादुपक्रान्ताप्युपमावाक्यार्थतात्पर्यसामर्थ्याभिमन्वृष्या-  
पारोपारोहक्रमेणोत्प्रेक्षायां पर्यवस्यति । क्वचिच्छलादिशब्दप्रयोगे साप-  
ह्वोत्प्रेक्षा भवति । अतश्चोक्तवक्ष्यमाणप्रकारवैचित्र्येणानन्त्यमस्याः ।

[ ५० ] वह [ अध्यवसाय ] दो प्रकार का होता है ( १ ) सिद्ध और ( २ ) साध्य । साध्य वह जिसमें विषयी असत्यरूप से भासित होता है । असत्यता इसलिए कि विषय में अस्तित्व दिखलाने पर विषयिगत धर्म की ऐसी प्रतीति होती है जिसमें वह विषयी में तो संभव प्रतीत होता है किन्तु विषय में असंभव । धर्म होता है गुणरूप और क्रियारूप । इसकी जो संभवात्मक और असंभवात्मक प्रतीति होती है । उसमें संभवात्मक में धर्म अपारमार्थिक अर्थात् काल्पनिक और इसीलिए असत्य प्रतीत होता है । ठीक इसी प्रकार दूसरा पारमाथिक = वास्तविक और सत्य । अब जो असत्य होता है उसकी सत्यरूप से प्रतीति हो तो अध्यवसाय साध्य होता है । इसीलिए उसमें प्रधानता व्यापार की मानी जाती है । सिद्ध अध्यवसाय वह होता है जिसमें विषयी होता तो वस्तुतः असत्य है किन्तु उसमें प्रतीति होती है सत्यता की । यहाँ सत्यता का अर्थ है पूर्वप्रतीत असत्यत्व प्रतिपादक हेतु का अभाव । इसीलिए इसमें प्रधानता अध्यवसित [ विषयी ] की रहती है । इनमें जिस अध्यवसाय में साध्यता और व्यापारप्रधानता रहती है उसमें संभावनात्व का कथन तर्क, ऊह, उत्प्रेक्षा आदि शब्दों से होता है । इस प्रकार अप्रकृतगत गुण और क्रिया के संबन्ध से अप्रकृतरूप से प्रकृत की संभावना उत्प्रेक्षा कहलाती है । यह जब वाच्य रहती है तब इवादि शब्दों का प्रयोग रहता है और जब प्रतीयमान तब इवादि का प्रयोग नहीं रहता ।

यह उत्प्रेक्षा चार प्रकार की होती है क्योंकि इसमें जाति, क्रिया, गुण और द्रव्य ये चार अप्रकृत अर्थ अध्यवसेय [ संभाव्य ] होते हैं । ये चारों भेद प्रकृत पदार्थ में भी हो सकते हैं किन्तु उनमें कोई चमत्कार नहीं होता इसलिए उन्हें छोड़ दिया गया है ।

उत्प्रेक्षा के ये चारों भेद भावरूप होते हैं और अभावरूप भी । अतः इनकी संख्या आठ हो जाती है । इन आठों भेदों में निमित्त गुणरूप होता है या क्रियारूप अतः सोलह हो जाते हैं । इन सभी भेदों में निमित्त दो प्रकार का होता है ( १ ) उपात्त और ( २ ) अनुपात्त । अतः ये ही १६ भेद ३२ हो जाते हैं । इन वत्तीसों भेदों में उपप्रेक्षणीय पदार्थ के हेतुरूप, स्वरूप रूप तथा फलरूप होने से भेदों की संख्या छियान्नवे हो जाती है । यह संपूर्ण प्रपंच वाच्य उत्प्रेक्षा का है । इन भेदों में भी जो द्रव्योत्प्रेक्षा है उसमें उत्प्रेक्षा केवल स्वरूप की ही होती है, अतः उसमें से शेष दो हेतुत्प्रेक्षा तथा फलोत्प्रेक्षा पर आश्रित भेद घटा दिए जाने चाहिए । प्रतीयमानोत्प्रेक्षा में भी इतने भेद होते हैं किन्तु केवल नामतः क्योंकि उसमें निमित्त का उपादान नहीं रहता । अतः उत्प्रेक्षा के इस प्रकार में उतने भेदों की कमी आ जाती है क्योंकि 'इव' आदि का उपादान न होने तथा निमित्त का भी उल्लेख न रहने से उत्प्रेक्षा माननेका कोई आधार शेष नहीं रह जाता । इसके अतिरिक्त प्रायः इस उत्प्रेक्षा में स्वरूपोत्प्रेक्षा संभव नहीं होती । इस प्रकार प्रतीयमान उत्प्रेक्षा के ये ही भेद बतलाए जाने चाहिए जो संभव हैं । [ आगे उपसंहार विमर्श में ये सब भेद स्पष्ट कर दिए गए हैं ] ।

यह [ उत्प्रेक्षा ] है तो अर्थालंकार अतः होना तो चाहिए इसका आधार केवल अर्थ ही तथापि इसमें जब कभी धर्म विषय वनता है तब इसका आधार शिल्प शब्द भी बन जाता है ।

कहीं-कहीं सादृश्य का शब्दतः कथन रहता है अतः आरम्भ में जहाँ पदार्थों का परस्पर में संबन्ध होता है वहाँ उपमा की ही प्रतीति होती है तथापि पर्यवसान उत्प्रेक्षा में ही होता है,



कारण कि वाक्यार्थ का तात्पर्य उसी में रहता है और इसका बोध होता है वक्ता [ अभिमन्ता ] की मानस प्रवृत्ति [ व्यापार ] की अन्तिम सीडी पर [ बोधा के विषय द्वारा ] चढ़ने पर [ उपारोह करने पर ] ।

कहाँ यही उत्प्रेक्षा अपह्नव से भी युक्त होती है जहाँ छल आदि शब्दों का प्रयोग रहता है । इन कारणों से पूर्वोक्त तथा आगे कहे जाने वाले भेदों के आधार पर इस [ उत्प्रेक्षा ] के भेदों की सख्या अनन्त हो जाती है ।

### चिन्मार्शनी

एतदेव व्याचष्टे—विषयेत्यादिना । अमेदप्रतिपत्तिरिति विषयान्त-करणात् । संभावना-प्रत्ययान्तकत्वेऽपि साध्यव्यवसायस्य वसवमिप्रायेण तद्वैलक्षण्यं प्रदर्शयितुमाह—साध्य इत्यादि । विषयपरिशोधनद्वारेण प्रमाणानुग्राहकत्वात्संभावनाप्रत्ययस्य पुरुषेणानेन मधितव्यमित्यत्र वस्तुवृत्तेन पुरुषस्य सत्यत्वम् । इह पुनस्तत्र तस्य प्रयोजनपरतयाध्य-वसीयमानत्वात्संभावनाविषये सभाध्यमानस्य वस्तुतो न सत्यत्वमित्याह—असत्यतया प्रतीतिरिति । अत्रैव निमित्तमाह—असत्यत्वं चेत्यादि । विषय उपनिबन्ध इति । तद्गतधर्मा-भेदेनाध्यवसित इत्यर्थः । अनेन सप्रयोजनत्वमेवोपोहल्लिखम् । धर्म इति विषयगतः । स एव चोत्प्रेक्षणे निमित्तम् । तस्येति धर्मस्य । संभावनाप्रत्ययस्येति विषयिणः । तत्रेति संभाव-नाश्रये विषये । इतरस्येति असम्भावश्रयस्य विषयस्य । यस्येति विषयिणः । अतश्चेति । अध्यवसायस्य साध्यमानत्वात् । असत्यस्यापीति । वस्तुतो विषयिणस्तत्रासम्भावात् । सत्य-ताप्रतीतिरिति । निश्चयस्वभावश्चादतिशयोक्तेः । असत्यत्वनिमित्तस्येति धर्मसंचारादेः । अतश्चेति धर्मसंचाराद्विगीयमाणतायाः प्राधान्याभावात् । अध्यवसितप्राधान्यमिति । विषय-स्य निगीर्णत्वाद्द्विषयिण एव प्राधान्यमित्यर्थः । साध्यत्वमिद्वैलक्ष्येण समनन्तरमेव स्वरूपमुपपादितमितीह न पुनरायस्तम् । तत्रेति द्वयनिर्धारणे । अध्यवसाय इत्यादि-शब्द्वैलक्ष्यत इति सवन्धः । एतदेवोपसंहरति—तदेवमित्यादि । यदाहुः—‘विषयित्वेन संभावनमुत्प्रेक्षा’ इति । प्रतीयमानायामिति । इवाद्यप्रयोगाच्छब्दानुक्तत्वादृष्ट्यायां न व्य-ङ्गयायाम्, अलंकारप्रभेदानां प्रतिपिपादयिषितत्वाद् व्यङ्ग्यभेदाभिधानस्याप्रस्तुतत्वात् । एवं वाच्या प्रतीयमाना चोत्प्रेक्षा भवतीत्यनुवादद्वारेण विधिः । सा चेति । वैचित्र्यमिति । तस्य निगीर्यमाणत्वेनाप्राधान्यात् । प्रत्येकमिति जात्यादीनाम् । निमित्तस्येति धर्मस्य । तद्वशादेव हि प्रकृतगतत्वेनाप्रकृतोपनिबन्धः । हेतुस्वरूपफललक्षणमेवास्या भेदत्रय जीवितभूतमिति तदेव विश्रान्तिधामतया पश्चादुद्दिष्टम् । जात्यादिभेदगणनं पुनरवैचिन्या-वहमपि धिरंतनानुरोधकृतम् । अत एव ग्रन्थकृता प्रातिपद्येन नोदाहृतम् । अस्माभिश्च नोदाहरिष्यते । एतेति । समनन्तरोक्ता । तत्रापीति । सरयामपि समनन्तरोद्दिष्टाया भेद-गणनायाम् । प्रायःशब्देन च हेतुफलयोः कुत्रापि सम्बन्धोऽस्तीति दर्शितम् । अत एवा-लंकारानुसारिण्यां ग्रन्थकृतानयोरपि सम्बन्धो दर्शितः । तदेव द्रव्यस्य हेतुफलयोः मध्ये प्रागुक्तं सख्या ज्यायसी । अन्यथा त्वेतद्भेदोपलक्षकत्वाभावादतीतिर्भेदाः । अस्याश्च वक्ष्यमाणगीर्या हेतुफलयोर्निमित्तानुपादानासंभवाच्चतु पट्टिरेव भेदा संभवन्ति । एतावन्त इति पणवति । अय प्रकार इति । प्रतीयमानोत्प्रेक्षालक्षणः । प्राय इति । वाच्या यथा स्वरूपोत्प्रेक्षा लक्ष्येषु प्रचुरा तथैव न भवतीत्यर्थः । न पुनरत्यन्तमेवास्या अभावे व्याख्येयः । क्वचिदपि लक्ष्येऽस्या दृष्टे । यथासंभवमिति लक्ष्ये भेदनिर्देशः कार्यः । तस्या-श्चाष्टचत्वारिंशद्भेदाः संभवन्ति । तदुक्तमलंकारानुसारिण्याम्—‘प्रतीयमानोत्प्रेक्षाभेदा

अष्टत्वारिंशत्' इति । अर्थाश्रयापीति । अर्थाश्रयस्य यद्यपि शब्दहेतुकत्वं न क्वाप्युपयुक्तं तथापि श्लिष्टशब्दहेतुकत्वमस्याः क्वचिद्वैचित्र्यमावहतीत्यर्थः । उपमा उत्प्रेक्षायां पर्यवस्यतीति संबन्धः । आनन्दमिति बहुप्रकारत्वम् ।

इसी [ उत्प्रेक्षासूत्र ] की व्याख्या करते हैं—विषय—[ निगरणेन ] इत्यादि के द्वारा । अभेदप्रतिपत्ति = अभेदप्रतीति क्योंकि विषय [ विषयों के ] भीतर छिप जाता है । ( सिद्ध अध्यवसाय के ही समान ) साध्य अध्यवसाय भी संभावनाशानात्मक होता है तथापि वस्तु = ज्ञान के विषय की दृष्टि से उस [ सिद्ध अध्यवसाय ] से इस [ साध्यअध्य० ] का भेद बतलाने के लिए लिखा—'साध्य' इत्यादि । जो संभावनाज्ञान प्रमाण = यथार्थज्ञान के कारण को [ यथार्थज्ञान कराने में ] सहायता देता है उसमें [ संभावना के ] विषय का विवेक निहित रहता है । विवेक का स्वरूप रहता है—[ पुरोवर्त्ती ] इस पदार्थ को [ स्थाणु नहीं ] पुरुष होना चाहिए यह । इसमें पुरुष की सत्यता वास्तविक होती है । [ जहाँ तक साध्य अध्यवसाय का सम्बन्ध है ] इसमें उस [ पुरोवर्त्ती पदार्थ ] पर इस [ पुरुष ] का अध्यवसाय प्रयोजनवशात् प्रतिपादित किया जाता है इसलिए संभावना के विषय पर संभाव्यमान वस्तु की वस्तुतः सत्यता नहीं रहती । इसी का प्रतिपादन करते हुए लिखा—'असत्यत्वा' प्रतीतिः = 'असत्यरूप से प्रतीति' इत्यादि । असत्यता में कारण बतलाते हुए लिखा—'असत्यत्वं च' = 'और असत्यत्व'—इत्यादि । 'विषय उपनिबन्धः' = 'विषय में उपनिबन्ध' = अस्तित्व दिखलाना = अर्थात् विषयगत धर्म का अभेद कर अध्यवसित करना । इससे सप्रयोजनत्व की पुष्टि की गई । धर्म अर्थात् विषयगत धर्म । उत्प्रेक्षा में निमित्त वहाँ बनता है । 'तस्य = उसका' अर्थात् धर्म का । संभावनाश्रयस्य = संभावना के आश्रय अर्थात् विषयों का । तत्र = उसमें अर्थात् संभावनाश्रय विषय में । इतरस्य = अन्य का अर्थात् असंभवाश्रय विषय का । यस्य = जिसका अर्थात् विषयों का । अतश्च = और इसलिए = क्योंकि अध्यवसाय साध्य है इसलिए । असत्यस्यापि वस्तुनः = वस्तु के असत्य होने पर भी—क्योंकि विषयों का अस्तित्व वहाँ वास्तविक नहीं केवल काल्पनिक होता है । सत्यता-प्रतीति = क्योंकि अतिशयोक्ति निश्चय पर निर्भर रहती है । असत्यत्वनिमित्तस्य = असत्यत्व पर निर्भर = इसलिए कि इसमें [ अन्य के ] धर्म का [ अन्य में ] संचार रहता है । अतश्च = और इसलिए = धर्मसंचार के कारण निगीर्यमाणता की प्रधानता न रहने के कारण 'अध्यवसित-प्राधान्यम् = अध्यवसित की प्रधानता' = अर्थ यह कि विषय के निगीर्यमाण रहने से प्राधान्य विषयों का ही रहता है । साध्यत्व और सिद्धत्व का भेद अभी-अभी बतला जा चुका है, इसलिए ग्रन्थकार ने उसके लिए पुनः यहाँ आयास नहीं किया । 'तत्र = उनमें' यह दोनों के क्षेत्र अलग-अलग करने के लिए लिखा । इसका संबन्ध है 'अध्यवास०००० इत्यादि शब्दों से कहा जाता है' इस अंश से । इसी का उपसंहार करते हुए लिखा—'तदेवम्=तो इस प्रकार' । जैसा कि कहा है 'विषयित्वरूप से संभावना उत्प्रेक्षा—[ अलंकाररत्नाकर० ] । 'प्रतीयमानायाश्च = प्रतीयमान उत्प्रेक्षा में' इत्यादि का प्रयोग न रहने से शब्दतः कथन न रहने के कारण ऊछ = [ ऊहा = तर्क = तद्विषय ] में, न कि व्यंग्य में, क्योंकि यहाँ प्रतिपादन अभीष्ट है अलंकारों के भेदों का, अतः यदि प्रतीयमान का अर्थ व्यंग्य किया गया तो वह अप्रस्तुत होगा । इस प्रकार 'उत्प्रेक्षा वाच्य और प्रतीयमान होती है'—इस प्रकार उत्प्रेक्षा के वाच्यत्व और प्रतीयमानत्व का विधान इत्यादि के प्रयोगाप्रयोग के विधान के द्वारा किया गया । 'सा च = और वह' । 'न वैचित्र्यम्' = 'कोई वैचित्र्य = चमत्कार नहीं होता' क्योंकि वह [ विषय ] निगीर्यमाण होने से अप्रधान रहता है । 'प्रत्येकन् = प्रत्येक का' = जाति आदि में से प्रत्येक का । 'निमित्तस्य = निमित्त का' = धर्म का क्योंकि उसी के आधार

पर प्रकृत पर अपकृत का उपनिबन्ध रहता है। 'हेतु, स्वरूप तथा फल' ये ही तीन भेद इस [उत्प्रेक्षा] के प्रधान भेद हैं इसलिए वे ही विश्रान्तिस्थान = वाक्यार्थपर्यन्तमान विषय हैं, अतः पुनः जो भेद किए उनमें इन्हीं तीन भेदों को दोहराया गया। चमत्कार तो जात्यादि भेदों की गणना में भी नहीं है तथापि प्राचीन आलंकारिकों ने इनकी गणना की है इसलिए इन्हें यहाँ बतलाया गया है। इमीलिय ग्रन्थकार ने उनमें से प्रत्येक का उदाहरण नहीं दिया, और हम मा प्रत्येक का उदाहरण नहीं देंगे। 'यथा = यह' = अमी अमी कथित उरप्रेक्षा। 'तन्नापि=उत्प्रेक्षा पर भी'—अर्थात् उरप्रेक्षा भेदगणना के रहने पर भी। प्रायः शब्द के प्रयोग से यह बतलाया कि उत्प्रेक्षा के इस प्रकार में हेतुप्रेक्षा तथा फलोत्प्रेक्षा भी कहीं समभव होती हैं। इसीलिए 'अलंकारानुसारिणी' में ग्रन्थकार ने इन दोनों भेदों का भी समभव बिलखाया है। तो हम प्रकार द्रव्योत्प्रेक्षा में भी हेतु और फल के समभव होने से वही मर्यादा अधिक उपयुक्त है जो अमी-अमी बतलाई गई है। नहीं तो इन सोलह भेदों की कमी हो जाने से उत्प्रेक्षा की कुल भेदगणना केवल अस्मी तक पहुँच सकेगी। हम उत्प्रेक्षा के केवल चौंसठ भेद होने हैं क्योंकि इसमें होने वाले हेतुप्रेक्षा और फलोत्प्रेक्षा में, जैसा कि आगे बतलाया जाने वाला है, निमित्तानुपादान समभव नहीं होता। 'एतावन्त एव = इतने ही' शिवात्रवेष्टा। 'अर्थ प्रकार = यह प्रकार' = प्रतीयमानोत्प्रेक्षा रूप प्रकार। 'प्रायः' = अर्थ यह कि जिस प्रकार वाच्य स्वरूपोत्प्रेक्षा के स्थल अधिक मिलते हैं उनके इस [प्रतीयमाना] के नहीं। यह नहीं कि इसके स्थल बिलकुल ही नहीं मिलते। क्योंकि कहीं-कहीं यह भी दिव्यार्थ देती है। 'यथा-संभवम् = यथासम्भव' = अर्थात् लक्ष्य में जितने भेद हो सकें उनमें ही भेदों का निर्देश किया जाना चाहिए। ऐसा करने पर इसके केवल ४८ भेद ही होते हैं। जैसा कि 'अलंकारानुसारिणी' में कहा है—'प्रतीयमान उरप्रेक्षा के भेद ४८ ही होते हैं।' 'अर्थाश्रयापि = अर्थ पर आश्रित होने पर भी' = जो अर्थ पर आश्रित या निर्भर रहता है उसमें शब्दहेतुकता कहीं भी उपयुक्त नहीं तथापि रसमें द्रष्टव्यशब्दहेतुकता भी कहीं कहीं चमत्कारकारिणी होती है। 'उपमा उत्प्रेक्षा में पर्यवसित हो जाती है'—इस प्रकार की पदार्थोपमना यहाँ [ कश्चिद् पदार्थान्वय ०० वाक्य में ] विवक्षित है। 'आनन्दधम् = अनन्तता' = प्रकारों की बहुतायत।

### [ सर्षम्भ ]

साप्रतं त्वियं दिङ्मात्रेणोद्वाहियते । तत्र जात्युत्प्रेक्षा यथा—

'स घः पायादिन्दुर्नयविसलताकोटिकुटिलः

म्मरारेयो मूर्ध्नि ज्वलनकपिशो भाति निहितः ।

स्रवन्मन्दाकिन्याः प्रतिदिवससिक्तेन पयसा

कपालेनोन्मुक्तः स्फटिकधवलेनाङ्कुर इव ॥'

अत्राङ्कुरशब्दस्य जातिशब्दत्वाज्जातिरत्प्रेक्ष्यते ।

[ ५० ] अब हम [ उत्प्रेक्षा ] के दिग्दर्शन के लिए कनिपय उदाहरण प्रस्तुत किए जाते हैं। पहिले उक्त भेदों में से जात्युत्प्रेक्षा का उदाहरण, यथा—

'आपकी रक्षा वह चन्द्र करे, नवीन कमलवक्त्रो [ विसलता ] को नौक सा कुटिल, कामारि [ शिव ] के माथे पर निहित, अत एव [ तुण्ड-नेत्र की ] अग्नि से पीला होने से जो ऐसा लगता है जैसे [ शिव के ही ] निरन्तर बहती मन्दाकिनो से प्रतिदिन सिक स्फटिकधवल ललाट [ कराल, न कि खपर ] से फूट पडा कोई अंकुर हो ।'

—यहाँ अंकुरशब्द वातिवाचक शब्द है इसलिए उत्प्रेक्षा जाति की ही हो रही है ।

**विमर्शः**—संजीविनी के अनुसार यहाँ कुटिलतारूपी गुण कारण है । अंकुरशब्द जाति का वाचक है । इसलिए यह उत्प्रेक्षा उपात्तगुणनिमित्ता भावामिमानरूपिणी जात्युत्प्रेक्षा हुई । यहाँ स्वरूपमात्र की उत्प्रेक्षा है, न हेतु की और न फल की, जब कि भेद प्रतिपादन में पहले हेतु की उत्प्रेक्षा बतलाई गई है उसके बाद स्वरूप की । इस प्रकार यहाँ गणनाक्रम का विरोध है । इससे यह सिद्ध होता है कि अन्य दो भेदों के उदाहरण देना ग्रन्थकार को अमांश नहीं है ।

यहाँ 'ज्वलनकपिशो' के स्थान पर नि० सा० संस्करण और मोतीमाल बना० संस्करण में 'ज्वलनकपिशो' छग है । धामन की काव्यालंकारसूचि तथा चित्रमीमांसा में भी वही पाठ मिलता है । इन पाठ में इस विशेषण को 'मूर्धा' का विशेषण माना गया है । किन्तु 'चन्द्रकला' की अंकुररूप से प्रतिपादित करने के लिए उसी में पीलापन बतलाया जाना उचित है । भाव के पीलेपन का यहाँ कोई उपयोग नहीं है । अतः हमने इसे 'ज्वलनकपिशो' बना दिया है । इसी प्रकार 'कपाल' का अर्थ शिव के गले को मुण्डमाला का कपाल या खप्पर करना भी गलत है क्योंकि गंगा द्वारा अभिषेक शिव के ललाट का ही प्रसिद्ध है, अन्य कपाल का नहीं । फिर सिर पर स्थित चन्द्रमा पर अंकुर की कल्पना करने के लिए उसका उत्पत्तिस्थान सिर के पास का ललाट ही माना जा सकता है गले में पड़ा मुण्ड अथवा हाथ में रखा खप्पर नहीं । यहाँ अंकुर के तीन धर्म, चन्द्रकला में बतलाए गए हैं—सफेदी, पीलापन तथा टेढ़ापन । इसमें के सफेदी और टेढ़ेपन के लिए उड़े कमलिनी की जड़ से मिलाया गया है और पीलेपन के लिए ज्वलनकपिश बतलाया गया है । अंकुर भी सफेदी, पीलेपन तथा टेढ़ेपन से युक्त रहता है ।

यहाँ निहित का अर्थ गढ़ा हुआ करना व्यर्थ है । यद्यपि निहित, निधान, निधि आदि शब्द मूलतः गड़े हुए पदार्थ के ही प्रतिपादक शब्द हैं । यहाँ निहित के स्थान पर विधृत भी कहा जा सकता है । विस का अर्थ कमल की नाल नहीं कमल की जड़ होता है । डॉ वासुदेवशरणजी ने 'कादम्बरोः एक संस्कृतिक अध्ययन' में कमलकण्ठी संबंध उचित कहा है । नाल तो हरी होती है । इसी प्रकार अंकुर शब्द फल और पुष्प के ही उद्भेद के लिए प्रयुक्त होता है, न कि नवीन पत्ते के लिए । तदर्थ 'किसलय' शब्द का प्रयोग होता है । फिर चन्द्रमा की सोलहवीं कला कौपल के समान हो भी नहीं सकती । किसलय भी लोई के लिए प्रसिद्ध होता है पीलेपन के लिए नहीं । इसमें वक्रता भी नहीं रहती । अंकुर सामान्यतः पीलेपन के लिए ही प्रसिद्ध होता है । लोई के लिए बहुत कम । उसमें वक्रता भी अप्रसिद्ध नहीं ।

[ सर्वस्व ]

**क्रियोत्प्रेक्षा यथा—**

'लिम्पतीव तमोङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः ।'

अत्र लेपनवर्षणक्रिये तमोनभोगतत्त्वेनोत्प्रेक्ष्येते । उत्तरार्धे तु

अस्तपुरुषसेवेव इष्टिर्निष्फलतां गता ॥'

इत्यत्रोपमैव नोत्प्रेक्षा ।

**गुणोत्प्रेक्षा यथा—**

'सैषा स्थली यत्र विचिन्वता त्वां भ्रष्टं मया नूपुरमेकमुर्व्याम् ।

अदृश्यत त्वच्चरणारविन्दश्लेषदुःखादिव चक्ष्ममौनम् ॥'

अत्र दखं गणः ।

द्रव्योत्प्रेक्षा यथा—

पातालमेतन्नयनोत्सवेन विलोक्य शून्यं मृगलाञ्छनेन ।

इहाङ्गनाभिः स्वमुखच्छलेन कृताम्बरे चन्द्रमयीव सृष्टिः ॥'

अथ चन्द्रस्यैकत्वाद् द्रव्यत्वम् । एतानि भावाभिमाने उदाहरणानि ।

[ वृत्ति ] क्रियोत्प्रेक्षा यथा—

'अन्धकार अग अग को लीप सा रहा है ।

[ आकाश कज्जलवृष्टि सी कर रहा है ।'—मृच्छकटिक ]

—यहाँ तम और नभ [ रूपी धर्म ] में क्रमशः लेपनक्रिया तथा वर्णनक्रिया [ रूपी धर्म ] की उत्प्रेक्षा की जा रही है । [ इस पद्य के ]—

'इष्टि असत् पुरुष की सेवा की नार्थ विफल हो गई है ।'

—इस उत्तरार्ध में उपमा ही है, उत्प्रेक्षा नहीं । [ सामान्यतः क्रियापद के साथ प्रयुक्त 'इव' पद उत्प्रेक्षावाचक होता है । उत्तरार्ध में वैसा नहीं है । वस्तुतः 'धर्मतीवाजन नभ'—में भी द्रव्योत्प्रेक्षा ही है क्योंकि वहाँ कज्जल की ही उत्प्रेक्षा में कविसरम्भ है । ]

गुणोत्प्रेक्षा यथा—

[ 'हे वैदेहि ! ] यह वह स्थल है जहाँ तुम्हें खोजने हुए मुझे भूमि पर पड़ा [ तुम्हारा ] एक नूपुर दिखा था जो मानों तुम्हारे चरणारविन्द के विदोष के डस से चुन्पी साधे था ।' [ रघुनन्द-१३ ]

—यहाँ [ जिसका उत्प्रेक्षा हो रही है वह ] दुःख गुण है ।

द्रव्योत्प्रेक्षा यथा—

'इस पाताल को नेत्रोत्सव मृगाक से शून्य देख सुन्दर बनिताओं ने यहाँ अपने मुखों के बढ़ाने आकाश में मानों चन्द्र ही चन्द्र की सृष्टि कर डाली है ।' [ श्रीरामचन्द्र द्विवेदी ने इसके अनुवाद में एक तो आकाश को छोड़ दिया है दूसरे उनके अनुवाद में मभावना का विषय सृष्टि मिट्ट होनी है, चन्द्र नहीं फलन वह क्रियोत्प्रेक्षा सिद्ध होती है द्रव्योत्प्रेक्षा नहीं । ]

—'यहाँ चन्द्रचन्द्र द्रव्यवाचक है क्योंकि चन्द्रमा केवल एक ही होता है ।'

ये सब उदाहरण हैं मात्रात्मक [ Positive पदों की ] उत्प्रेक्षा के ।

### चिमर्शिनी

सांप्रतमिति प्रासात्रसरम् । दिङ्मात्रेणेति । अनेन जात्यादिभेदानामनवकल्पतिर्घ्वनिता । तमोगतत्वेनेति । तमोगतव्यापनादिधर्मनिर्गणेनेत्यर्थः । अथ हि तमयो घमिगोऽन्यधर्म-घमिर्त्वं निर्गीर्यान्वधर्मधर्मिस्वमवस्थापितमित्यप्र एव यथ्याम । द्रव्योत्प्रेक्षेति । द्रव्यस्य स्वरूपेणोत्प्रेक्षणम् । तस्यैव हि हेतुत्प्रेक्षा यथा—

'जयति शिशिरतायाः कारणं सा हिमाद्रेः

खिपुरहरकिरीटादापतन्ती घुसिन्धुः ।

सततसहनिवामी शीरसिन्धोः प्रसूतो

हिमकर इव हेतुः शैत्यदौत्यस्य यस्याः ॥'

अग्नेन्दोर्द्वयस्य हेतुत्वेनोत्प्रेक्षणम् । फलोत्प्रेक्षा यथा—

'मध्वेसलिलमादित्यसंमुखं धूलिधूसराः ।

कुमुदिन्व्यस्तपस्यन्ति चन्द्रायेव दिने दिने ॥'

अत्र चन्द्रस्य द्रव्यत्वम् । मृगानेव भावाभिमानोदाहरणत्वमितिदिशति—एतान्तीत्यादिना ।

सामग्रतम् = अब अक्सर आ जाने पर । द्विङ्मात्रेण = दिग्दर्शनमात्र, इससे यह संकेत दे दिया गया कि जाति आदि भेदों के अवान्तर भेदों के उदाहरण नहीं दिए जावेंगे । तमोगतत्त्वेन = तम में = अर्थ यह कि तमोगत व्यापन आदि धर्म के निगरण के द्वारा । हम यह अग्नी आगि चलकर बतलावेंगे कि तमरूपी धर्मों में अन्य धर्म से युक्त होना छिपाकर [ निगोर्ण कर ] अन्य धर्म से युक्त होना ठहराया गया है । द्रव्योत्प्रेक्षा द्रव्य की अपने रूप से उत्प्रेक्षा [ स्वरूपोत्प्रेक्षा ] । द्रव्य की ही हेतुरूप से उत्प्रेक्षा का उदाहरण—

'हिमाद्रि में जो शिशिरता है उसका कारण है शिव के शिर से गिरती गंगा, जो [ गंगा ] मानों चन्द्रमा की सफेदी और शीतलता से सफेद और शीतल है क्योंकि वह चन्द्र सदा गंगा के समीप ही [ हरजटाजट में ] रहता है । वह [ त्वयं सफेद इसलिए है कि वह ] क्षीरसागर से उत्पन्न हुआ है, उसकी किरणें शीतल होती हैं ।

—यहाँ जो द्रव्यरूप चन्द्रमा है उसकी हेतुरूप से उत्प्रेक्षा की जा रही है । द्रव्य की ही फलरूप से उत्प्रेक्षा का उदाहरण यथा—

'कुमुदिनियों जो प्रतिदिन सूर्य की ओर मुँह करके और धूलि [ -पराग- ] धूसर होकर पानी के बीच तप करती हैं वह मानों चन्द्रमा के ही लिए ।'

—यह चन्द्रमा द्रव्य है [ और उसे फलरूप से बतलाया गया है ] ।

इन्हीं उदाहरणों को भावाभिमान के उदाहरण बतलाने हुए लिखते हैं—पुतानि ।

### [ सर्वस्व ]

अभावाभिमाने यथा—

'कपोलफलकावस्याः कष्टं भूत्वा तथाविधौ ।

अपद्रव्यन्ताविवान्योन्यमीदृक्षां क्षामतां गतौ ॥'

अत्रापश्यन्ताविति क्रियाया अभावाभिमानः । एवं जात्यादावप्युहाम् ।

गुणस्य निमित्तत्वं यथा—'नद्यविसलताकोटिकुटिलः' इत्यत्रोदाहृते कुटिलत्वस्य । क्रियाया यथा—'ईदृक्षां क्षामतां गतौ' इत्यत्र क्षामतागमनस्य । निमित्तोपादानस्यैते उदाहरणे । अनुपादाने 'लिम्पतीव तमोऽङ्गानि' इत्याद्युदाहरणम् ।

हेतूत्प्रेक्षा यथा—

'विश्लेषदुःखादिव दग्धमौनम्' इत्यादौ ।

स्वरूपोत्प्रेक्षा यथा—

'कुबेरजुष्टं दिशमुष्णरश्मौ गन्तुं प्रवृत्ते समयं विलङ्घय ।

दिग् दक्षिणा गन्धवहं मुखेन व्यलीकनिःश्वासमिषोत्ससर्ज ॥'

फलोत्प्रेक्षा यथा—

‘चोलस्य यद्गीतिपलायितस्य भालत्वचं कण्टकिनो वनान्ताः ।

अद्यापि किं घानुभविष्यतीति व्यपाटयन्द्रष्टुमिवाक्षराणि ॥’

एवं चाच्योत्प्रेक्षाया उदाहरणदिग् दत्ता । प्रतीयमानोत्प्रेक्षा यथा—

‘मद्विलासहम्सभरिप तुह द्विषप सुहृन्न सा अमावंती ।

अणुदिणमण्णणम्ममा अंगं तणुअंपि तणुपइ ॥’

अत्र—अमावंतीत्यधर्तमानेयेति तनूकरणहेतुत्वेनोत्प्रेक्षितम् ।

एवं भेदान्तरेष्वपि द्रोयम् ।

[ वृत्ति ] अभाव [ Negative पदार्थों की ] उत्प्रेक्षा यथा—‘बटे रंग की बात है कि इस [ पार्वती ] के चे, वैसे कपोल इस, ऐसी क्षामता [ दुर्बलता ] को प्राप्त हो गए । ऐसा कदाचित् इस लिए हुआ कि ये एक दूसरे को देख नहीं पा रहे हैं [ जैसे दो महंजर माई परस्पर के आत्यन्तिक वियोग से प्रेमवश सूख जाते हैं ] ।

—यहाँ ‘अपश्यन्ती = न देस पाने’—इस प्रकार [ दर्शन = ] क्रिया के अभाव की उत्प्रेक्षा है ।

इसी प्रकार जाति आदि [ की उत्प्रेक्षाओं ] में भी [ अभाव के उदाहरण ] समझे जा सकते हैं ।

[ उत्प्रेक्षा का ] निमित्त जहाँ गुणरूप होता है ऐसा स्थल यथा—[ ‘स व पाया-दिन्दुः’ पद्य से— ] ‘नवविसलजकोटिदुटिल = नवीन कमलवकटी की नौक सा कुटिल’—इस [ अश ] में [ अभी अभी ] निर्दिष्ट कुटिलता ।

निमित्त जहाँ क्रियारूप होता है यथा—‘ईदृशा क्षामता गनी = ऐसी कुशता को प्राप्त’—इस अंश में कुशता को प्राप्त होना ।

उक्त दोनों ऐसे उदाहरण हैं जिनमें निमित्त का उपादान [ शब्दतः कथन ] है । [ निमित्त के ] अनुपादान के उदाहरण हैं ‘तम अग-अग को लीप सा रहा है’—इत्यादि ।

हेतुत्प्रेक्षा यथा—[ ‘सैषा स्थली यत्र०’-पद्य में— ]

‘मानो वियोगदुग्ग से जुप्पी साथे’—इत्यादि में ।

स्वरूपोत्प्रेक्षा यथा—[ शिव के तपोवन में सहसा वसन्त ऋतु के आरम्भ होने लगने पर ]

‘सूर्य, अब समय [ दक्षिणाधन काल तथा निश्चित मिलनकाल ] का उरलवन कर कुवेरसेविन [ उत्तर ] दिशा की ओर चलने लगा तो दक्षिणादिशा ने अपने मुख [ दिग्-भगभाग तथा मुँह ] से मलयमाश्रत छोटना शुरू किया, मानो वह उसकी विप्रियजनित उसीम हो । [ कुमार-संगव सर्ग-३ ]

फलोत्प्रेक्षा यथा—

‘जिसके मय से भागे चोलप्रेक्षापि के भाल की त्वचा को कौट्यार जगल मानो यह देखने के लिए फाट रहे थे कि ‘अब इसे और क्या भोगना है’ ।

इस प्रकार वाच्य उत्प्रेक्षा के उदाहरणों का दिग्दर्शन किया ।

प्रतीयमान उत्प्रेक्षा के उदाहरण ये हैं—

‘महिलासहस्रभरिते तव हृदये सुभग सा अमान्ता ।

अनुदिनमनन्यकर्मा अङ्गं तवकमपि तनयति ॥’

—‘हे सुभग [ सुन्दरियों के प्रेमपात्र ] ! वह बेचारी सहस्रों महिलाओं से भरे तुम्हारे हृदय में जगह नहीं पा सक रही है, अतः वह और कुल नहीं करती, केवल अपनी स्वभावतः दुवली काया को और भी दुवली बनाती जा रही है ।’

—यहाँ ‘जगह नहीं पा सक रही है’ श्लेष काया को दुवली बनाने में हेतुरूप से उल्लेखित किया जा रहा है अर्थात् ‘मानों तुम्हारे हृदय में स्थान न पा सकने से वह अपनी स्वतः दुवली काया को और भी दुवली करती जा रही है ।’

इसी प्रकार अन्य भेदों में भी समझ लेना चाहिए ।

### चिमर्शिनी

अभ्युद्यमिति अभावाभिमानोदाहरणम् । निमित्तोपादानत्येति । कुटिलत्वस्य घामता-  
गमनस्य च साक्षाग्निर्देशात् । अनुपादान इति । तिरोधायकत्वादेर्निमित्तस्य गम्यमान-  
त्वात् । भेदान्तरेष्विति स्वरूपफलादिकेषु । ज्ञेयमिति प्रतीयमानत्वात् । तत्र स्वरूपो-  
त्प्रेक्षा यथा—

‘मलजसमीरसमागमसंतोलपणिच्चारामिसवन्तो ।

विध्याद्गृह चलकिसलजकराहि साहाहि बहुलच्छी ॥’

अत्र मधुलक्ष्मीमतत्वेन चलकिसलयकरत्वादि निर्गौर्य व्याहरणक्रिया स्वरूपेणोत्प्रेक्षि-  
ता । तदौन्मुख्योत्पादकत्वादि च निमित्तमनुपात्तम् । यत्पुनरुद्देशे प्रतीयमानोत्प्रेक्षार्थो नि-  
मित्तानुपादानं न संभवतीत्युक्तं तत्र प्रायस्तस्याः स्वरूपोत्प्रेक्षणस्यासंभवो निमित्तम् ।  
ग्रन्थकृतो हि प्रतीयमानोत्प्रेक्षा हेतुफलरूपैव भवतीत्यभिप्रायः । हेतुफलोत्प्रेक्षणयोश्च  
वक्ष्यमाणनीत्या निमित्तानुपादानं न संभवतीत्याशयेनैतदुक्तम् । तेन प्रतीयमानापि स्व-  
रूपोत्प्रेक्षा निमित्तोपादानानुपादानाभ्यामेव भवति । तत्र निमित्तानुपादाने उदाहृता ।  
उपादाने तु यथा—

‘प्रसारि सर्वतो विश्वं तिरोद्धद्विदं तमः ।

सर्वाङ्गं लिम्पति जनं सान्द्रैरसृतकृच्छकैः ॥’

अत्र प्रसारित्वादि निर्गौर्य तमागतत्वेन लेपनक्रिया स्वरूपेणोत्प्रेक्षिता तिरोधाय-  
कत्वादि च निमित्तम् ।

‘तुरीयो ह्येव मेधोऽग्निराग्नायः पञ्चमोऽपि वा ।

अपि वा जङ्गमं तीर्थं धर्मो वा मूर्तिसंचरः ॥’

इत्यादौ तु वामनमते विशेषोक्तिः—‘भूतलकार्तिकेयः’ इतिवत् । ग्रन्थकृन्मते तु दृढा-  
रोपं रूपकम् । यद्वक्ष्यति—था त्वेकहानिकल्पनायां साम्यदाढर्थं विशेषोक्तिरिति  
विशेषोक्तिर्लक्षिता सात्मदर्शने रूपकभेद एवेति । अत एवात्र तस्मात्प्रथमभावा-  
दुत्प्रेक्षोदाहरणत्वं न वाच्यम् । एवं ‘अपरः पाकशासनो राजा’ इत्यत्रापि दृढारोपमेव  
रूपकम् । एतच्चालंकारानुसारिण्यामुत्प्रेक्षाविचारे ग्रन्थकृतैव दर्शितम् । फलोत्प्रेक्षा यथा—

‘गिञ्जंते मंगलगाहिआहि वरगोचदत्तकण्णाय ।

सोत्तुं विगिग्गओ उअह होंतवहुआहि रोमंचो ॥’

अत्र श्रोतुमिवेति फलमुत्प्रेक्षितम् ।



'अभ्युद्यम् = समझ लेना कल्पना का लेना चाहिए'—अर्थात् अभाववातक उत्प्रेक्षा की। 'निमित्तोपादानस्य = निमित्त के उपादान के' [ उदाहरण, इमल्लिष कि = उक्त उदाहरणों में ] दुष्टिर्ता और क्षामना को प्राप्त होना इन दोनों का साक्षात् शब्दत निर्देश है, 'अनुपादान = निमित्त का उपादान न रहने पर' क्योंकि, लिम्पनीय तमोऽज्ञानि० आदि में ] निमित्तभूत जो निरोधायकत्वादि धर्म हैं वे प्रतीयमान हैं। 'भेदान्तरेषु = अन्य भेदों में' = स्वरूपोत्प्रेक्षा फलोत्प्रेक्षा आदि भेदों में। 'शेषम् = जानना चाहिए'—क्योंकि उनमें भी उत्प्रेक्षा प्रतीयमान ही होती है। इनमें स्वरूपोत्प्रेक्षा यथा—

'मलयममर समागम-मनोप-पाटशराभि सर्वत्र ।

विभ्याहरति चलकिमलयकराभि शान्याभिर्ममुलक्ष्मी ॥

—'मधुलक्ष्मी मलयपवन के समागम के सनोप को मुरा लेने वाली किमलयों के चल हाथों वाली शाखाओं से जहाँ तहाँ, सब कहीं बोल रही है।'

—यहाँ मधुलक्ष्मी में चलकिमलयकरत्व का निगरण कर व्याहरण = बोलना = क्रिया के स्वरूप की उत्प्रेक्षा है। इसमें कारण है उसकी ओर उन्मुखात्ता उत्पन्न करना आदि। वह अनुपात्त है। उत्प्रेक्षा गिनाते समय यह जो कहा है कि 'प्रतीयमान उत्प्रेक्षा में निमित्त का अनुपादान संभव नहीं होता' इसका कारण यह है कि इस प्रतीयमान उत्प्रेक्षा में प्रायः स्वरूप की उत्प्रेक्षा संभव नहीं होती। ग्रन्थकार का अभिप्राय यह है कि प्रतीयमान उत्प्रेक्षा केवल हेतुत्प्रेक्षारूप और फलोत्प्रेक्षारूप ही होती है। अर्थात् उक्त कथन का अभिप्राय यह है कि हेतुत्प्रेक्षा और फलोत्प्रेक्षा में आगे बतलाए क्रम से निमित्त का अनुपादान संभव नहीं होता। इसका निश्चय यह निकला कि स्वरूपोत्प्रेक्षा प्रतीयमान होने पर भी दो प्रकार की होती है। एक वह जिसमें निमित्त का उपादान रहता है और दूसरी वह जिसमें नहीं रहता। दोनों में से निमित्त के अनुपादान से होने वाली स्वरूपोत्प्रेक्षा का उदाहरण दे दिया गया है। उपादान में होने वाली स्वरूपोत्प्रेक्षा का उदाहरण यह है—

'यह अन्धकार सब ओर फैल रहा है और विश्व भर को छिपाता जा रहा है। यह प्रत्येक व्यक्ति के अंग अंग को अमृत की घनी कूचियों से छीपता जा रहा है।

—यहाँ प्रसारित्व = फैलने वाला होना निगल कर लेपन क्रिया के स्वरूप की अन्धकार के ऊपर उत्प्रेक्षा की जा रही है। उसमें निमित्त है तिरोधायकत्वादि [ जो कि शब्दतः कथित = उपात्त है ]।

'यह [ आवर्तनीय, दीक्षणीय तथा गार्हपत्य इन तीन यज्ञाग्निषु से मित्र ] चतुर्थ यज्ञाग्नि है अथवा पाँचवा वेद है, अथवा चल्ता फिरता तीर्थ है या तो मूर्तिमान् शेरक घूमता फिरता धर्म है।'

—इत्यादि में [ काव्यालंकार सूत्रकार ] वामन के अनुसार विशेषोक्ति अलंकार है जैसा 'भूत-लक्ष्मिनेय = पृथिवी पर उतरा स्कन्द या कार्तिकमास अथवा कार्तिक पूर्णिमा का चन्द्र'—रम स्थल में माना जाता है। ग्रन्थकार के मत में यहाँ इदारात्त रूपक ही है। जैसा कि आगे चलकर कहेंगे—'विशेषोक्ति का 'एक [ गुण की ] दानि कथित कर साम्य की दृढता विशेषोक्ति होती है'—यह जो लक्षण [ वामन ने ] किया है, यह हमारे अनुसार रूपक का ही एक भेद है। इमील्लिष इसे उत्प्रेक्षा का उदाहरण नहीं माना जा सकता क्योंकि यहाँ उत्प्रेक्षा की सामग्री नहीं है। इसी प्रकार 'यह राजा दूसरा इन्द्र है'—यहाँ भी इदारात्त रूपक ही मान्य है। यह सब अलंकारानुसारिणी में उत्प्रेक्षा पर विचार करने समय स्वयं ग्रन्थकार ने ही प्रतिपादित किया है।

फलोत्प्रेक्षा यथा—

गुह्यान्तं महलप्राहिकाभिर्दरभौद्रदत्तकर्णायाः ।

श्रोत्रं विनिर्गतः पश्यत भविष्यद्बध्वा दि रोमांचः ॥

गूढकर्म के बाद मंगलप्राहिकाओं द्वारा लिए गये वर के नाम पर दत्तकर्णा भविष्य बधू का रोमांच देखो जो मार्गो [ उसी नाम को ] सुनने के लिए निकली है ।

—यहाँ 'मानो सुनने के लिए' इस प्रकार फल की उत्प्रेक्षा की गई है ।

[ सर्वस्व ]

श्लिष्टशब्दहेतुर्यथा—

'अनन्यत्तामान्यतया प्रसिद्धस्त्यागोति गीतो जगतीतले यः ।

अभूदहंपूर्विकया गतानामतीव भूमिः स्मरमार्गणानाम् ॥'

अत्र धर्मविषये मार्गणशब्दः श्लिष्टः ।

[ वृत्ति ] श्लिष्टशब्दहेतुक [ उत्प्रेक्षा ] यथा—

"अन्य [ त्यागियों ] जैसा [ धुद्र ] न होने से 'प्रसिद्ध त्यागो, प्रसिद्ध त्यागी' इस प्रकार गायी जाने वाला जो काम के होड़ लगाकर पहुँचने वाले मार्गणों [ बाण तथा याचकों ] का बहुत ही अधिक लक्ष्य बना हुआ था ।"

—यहाँ [ वर्णनीय व्यक्ति में मार्गण अर्थात् याचकस्वरूप कामवागों का विषय बनना ] धर्म उत्प्रेक्षित किया जा रहा है तद्वाचकशब्द 'मार्गण' यहाँ [ याचक तथा बाण इन दो अर्थों का प्रतिपादक होने से ] श्लिष्ट है ।

विमर्शिनी

श्लिष्ट हृत्पर्याहारवाचकत्वात् ।

श्लिष्ट इसलिए कि वह [ मार्गण शब्द ] याचक तथा बाण दोनों अर्थों का वाचक है ।

[ सर्वस्व ]

उपमोपक्रमोत्प्रेक्षा यथा—

'कस्तूरीतिलकन्ति भालफलके देव्या मुखाम्भोरुहे

रोलम्बन्ति तमालवालमुकुलोत्सन्ति श्रौलावपि ।

याः कर्णे विकचोत्पलन्ति कुचयोरङ्गे च कालामुरु-

स्थासन्ति प्रथयन्तु तास्तव शिवं श्रीकण्ठकण्ठत्विपः ॥'

अत्र यद्यपि 'सर्वप्रतिपदिकेभ्यः क्विप्' इत्युपमानात्किञ्चिद्वाचामुखे उप-  
माप्रतीतिस्तथाप्युपमानस्य प्रकृते संभवौचित्यात्संभावनोत्थाने उत्प्रेक्षायां  
पर्यवसानम् । यथा वा विरहवर्णने 'केयूरायितमङ्गदैः' इत्यादौ । एषापि  
समस्तोपमाप्रतिपादकविषयेऽपि हर्षचरितवार्तिके साहित्यमीमांसायां च  
तेषु तेषु प्रदेशेषुदाहृता, इह तु ग्रन्थविस्तरभयात् प्रपञ्चिता ।

[ ७० ] ऐसी उत्प्रेक्षा का उदाहरण जिसके आरम्भ में उपमा प्रतीत हो—'नीलकण्ठ भगवान्  
शिव के कण्ठ की वे किरणें आपकी कल्याणवृद्धि करें जो भगवती पार्वती के ललाट पट्ट पर कस्तूरी

तिलक का काम करती हैं, उनके मुग कमल पर भ्रमर का, सिर पर तमाल की नन्दी नन्दी कलियों के उत्तम का, कान में सिले हुए नीलकमल का और आँचर के ऊपर काले अंगर के धागे का ।'

—यहाँ यद्यपि आरम्भिक वाक्यार्थप्रतीति में प्रतीत होती है उपमा; क्योंकि कस्तूरीतिलकान्ति आदि नामधातु पदों में प्रकृतिरूप से प्रयुक्त 'कस्तूरीतिलक' आदि नामशब्द तमी क्रियाशब्द बनने हैं जब वे उपमानार्थक होते हैं, एतदर्थ पाणिनिव्याकरण के नियम 'समो प्रातिपदिको से क्तिप्' [ वाचिक ३।१।२२ ] के अनुसार उनमें क्तिप् प्रत्यय लगता है और वह लगता है केवल उपमानार्थक शब्द के साथ ही, तथापि अन्तिम वाक्यार्थ प्रतीति में प्रतीत होती है उत्प्रेक्षा ही, क्योंकि [ इस वाक्यार्थ में आय ] कस्तूरीतिलक आदि उपमानों का इमी प्रसंग में वाग्विण ललाट आदि में होना भी समभव है, अतः यहाँ [ उत्प्रेक्षा का बीज ] संभावना उठ सकती होती है। [ अलङ्काररत्नाकरकारने यहाँ परिणामगर्भोपमा माने हैं ] और जैसे विरहवर्णन में 'अंगदों ने केयूर का काम किया' इत्यादि स्थलों में [ देखा जाता है ] ।

[ उत्प्रेक्षा के आरम्भ में प्रतीत होने वाली ] यह उपमोपक्रमोत्प्रेक्षा वहाँ भी होती है जहाँ उपमा का प्रतिपादक शब्द भी विद्यमान रहता है किन्तु ममास में । इसके उदाहरण हर्षचरित वाचिक और साहित्यमीमासा में तो उन उन स्थलों में अनेक बार प्रस्तुत किए हैं, किन्तु यहाँ विस्तारपूर्वक विवेचन नहीं किया केवल ग्रन्थविस्तार के मय से [ टीकाकार ने उदाहरण दे दिया है ] ।

### विमर्शिनी

आमुख इति न पुनः पर्यवसाने । उपमाप्रतीतिरिति । तदर्थमेव क्तिप् प्रयुक्ते । अत एवात्र वाचकाभावाद्धोत्प्रेक्षावमिति न वाच्यम् । नहि वाचकसमवामभ्रमाश्रमेवालङ्काराणां भावाभावाप्रयोजकम् । एवं हि ध्याजस्तुती निन्दादेवत्वस्येऽप्यवाच्यस्य स्तुर्यादेः प्रतीतिरलङ्कारवपर्यवसायिनी न स्यात् । तस्माद्वाक्यार्थे एव प्रकृतोऽलङ्काराणां स्वरूपप्रतिष्ठापकं प्रमाणम् । वाक्यार्थस्य च पदार्थान्वयवेलातोऽन्यैव प्रतिपत्तिः । समञ्जीवित्यादिति । कस्तूरीतिलकादेर्विषयिणो भालफलकादीं संभवे यथोचित्यं न तथा कण्ठस्त्रिवादेर्विषयस्येत्यर्थः । अत एवात्रोपमाया प्रकृतस्याप्रकृतकस्तूरीतिलकादिरूपतया परिणामापरिणामगर्भत्वं यदन्वयेकत्वं तत्तेषां परिणामस्वरूपानभिज्ञत्वम् । न ह्यौचित्यमेव तस्य स्वरूपं किं तु यथोक्तं प्रकृतोपयोगित्वम् । औचित्यं च नोत्प्रेक्षाया विरुद्धम् । तस्य सर्वत्रैव भावात् । उत्प्रेक्षायां पर्यवसानमिति । कण्ठस्त्रिवामेव कस्तूरीतिलकश्चादिप्रतीतेर्विषयिणो विषयनिर्गारणेनाभेदप्रतिपत्ते सादृश्यावगमाभावात् । सादृश्यं ह्युभयनिष्ठम् । न चात्र प्रकृतान्तरतयोः संपघितया प्रतीतिः । यथा वक्ष्येनास्या लक्ष्ये प्राप्नुयुर्दक्षितम् । समस्तोपमाप्रतिपादकविषये दृश्यमाना । सा तु यथा—

स दण्डपादो भवदण्डपादमुखण्डयन्रक्षतु चण्डिकाया ।

यस्येन्दुलेखा पुरतः स्फुरन्ती घुष्यत्तुलाकोटितुलामुपैति ॥'

अत्र सः यद्यपि तुलाशब्दे चन्द्रलेखाया एव तुलाकोटिविप्रतीतेरुत्प्रेक्षात्वम् ।

आमुख = आरम्भ में अर्थात् पर्यवसान = अन्त में नहीं । उपमाप्रतीति क्योंकि क्तिप् प्रत्यय होता है उसी अर्थ में है । इसलिए यह कथन कि 'यहाँ वाचक नहीं है अतः उत्प्रेक्षा नहीं हो सकती,' ठीक नहीं । वाचक का होना या न होना मात्र अलङ्कारों के होने या न होने में कारण

नहीं माना जाता। यदि ऐसा माना जाय तो व्याजस्तुति में निन्दा या स्तुति के किसी एक पक्ष के वाच्य रहने पर भी तद्विरुद्ध स्तुति या निन्दा का द्वितीय पक्ष अवाच्य रहता है और उस [ द्वितीय पक्ष ] का ज्ञान ही वहाँ अलंकाररूप में पर्यवसित होता हुआ माना जाता है, वह संभव न होगा। इसलिए निष्पन्न वाच्यार्थ को ही अलंकारों के स्वरूप का प्रतिष्ठापक प्रमाण मानना उचित है। जहाँ तक वाच्यार्थज्ञान का सम्बन्ध है उसका स्वरूप पदार्थों के सम्बन्ध के समय होने वाले ज्ञान से भिन्न ही होता है।

संभ्रवीचिन्ध्यात् अर्थ यह कि जितना औचित्य कस्तूरीतिलक आदि विषयों के ललाटपट्ट आदि में संभव होने में है उतना कण्ठकान्ति आदि विषय के संभव होने में नहीं। और इसलिए [ अलंकाररत्नाकरकार आदि ] अन्य आलंकारिकों ने जो इस पद्य में उपमा मानी है और उसे भी जो प्रकृत कण्ठकान्ति को अप्रकृत कस्तूरीतिलक आदि रूप से परिणत मान परिणामगमित उपमा बतलाई है वह उनसे अपना परिणाम के स्वरूप का अज्ञान ही जाहिर किया है। केवल औचित्य से ही परिणामालंकार निष्पन्न नहीं होता, उसकी निष्पत्ति प्रकृतोपयोग से होती है। और केवल औचित्य उत्प्रेक्षा में विरोधी नहीं होता, क्योंकि वह तो सर्वत्र ही रहता है।

उत्प्रेक्षायां पयवसानम् = उत्प्रेक्षा में पर्यवसान अर्थात् वहाँ कण्ठकान्ति कस्तूरीतिलक आदि के अभिन्न प्रतीत होता है; इसलिए क्योंकि वहाँ विषयों विषय से अभिन्नरूप से प्रतीत होता है अर्थात् वह विषय को अपने आप में निगले रहता है फलतः [ उपमा का बीज ] सादृश्य वहाँ पर्यवसान में प्रतीत नहीं होता। सादृश्य जो है वह सदा ही में रहता है और इस पद्य में प्रकृत और अप्रकृत अलग अलग बराबरी के साथ प्रतीत नहीं हो रहे हैं। [ दोनों में अमेद प्रतीत हो रहा है। दोनों अलग प्रतीत होते तो उनमें सादृश्य बनता ]।

[ वहाँ अलंकाररत्नाकरकार ने परिणाममुखी उपमा की सिद्धि कर खण्डन 'रूपकमुखी उत्प्रेक्षा' का किया है, उपमामुखी उत्प्रेक्षा का नहीं। कदाचित् अ० रत्नाकरकार को सर्वस्व की कोरें ऐसी प्रति मिली होगी जिसमें उपमा की जगह रूपक पाठ होगा। ]

'यथा वा = और जैसे' इस प्रकार एक और उदाहरण देकर यह बतलाया कि यह उपमामुखी उत्प्रेक्षा काल्यों में पर्याप्त मात्रा में मिलती है।

एषा = यह अर्थात् समस्तोपमाप्रतिपादक विषय में अर्थात् ऐसे स्थलों में जहाँ उपमा का प्रतिपादक शब्द रहता है और समास में रहता है, दिखाई देने वाली। उदाहरण—

उसका उदाहरण—'भगवान् शंकर के दण्डपाद [ नृत्य में पीछे पीठ की ओर से जाकर सिर की ओर ऊपर उठाए गए पैर ] से बाजी मार ले जाने वाला भगवती पार्वती का दण्डपाद [ हम सबकी ] रक्षा करे जिसके सामने चमकती [ भगवती पार्वती के जूड़े पर बंधी ] चन्द्रलेखा दृष्टे नूपुर की तुलना प्राप्त कर लेती है'। इस पद्य में [ उपमा के प्रतिपादक ] 'तुला'—शब्द का [ समास के भीतर ] प्रयोग है तब भी चन्द्रलेखा में नूपुरत्व की संभावनामूलक प्रतीति होने के कारण यहाँ उत्प्रेक्षा है।

[ सर्वस्व ]

सापह्नवोत्प्रेक्षा यथा—

'गतासु तीरं तिमिघट्टनेन ससंभ्रमं पौरविलासिनीपु।

यत्रोल्लसत्फेनततिच्छलेन मुक्तादृहासेव विभाति सिप्रा ॥'

अत्रेवशब्दमाहात्म्यात्संभावनं छलशब्दप्रयोगाच्चापह्नवो गम्यते। एवं

छद्मादिशब्दप्रयोगेऽपि ज्ञेयम् । 'अपर इव पाकशासनः' इत्यादावपरशब्दा-  
प्रयोगे उपमैवेयम् । तत्प्रयोगे तु प्रकृतस्य राज्ञः पाकशासनत्वप्रतीतावध्य-  
वसायसंभवाद्व्ययशब्देन च तस्य साध्यत्वप्रतीतेरुत्प्रेक्षैवेयम् । इवशब्दा-  
प्रयोगे सिद्धत्वाद्ध्यवसायस्यातिशयोक्तिः । इवापरशब्दयोरप्रयोगे तु  
रूपकम् । तदेवं प्रकारवेचित्र्येणावस्थिताया उत्प्रेक्षाया हेतूत्प्रेक्षायां  
यस्य प्रकृतसंबन्धिनो धर्मस्य हेतुरुत्प्रेक्ष्यते स धर्मोऽध्यवसायवशादभिन्न  
उत्प्रेक्षायां निमित्तत्वेनाश्रीयते । स च वाच्य एव नियमेन भवति । अन्यथा  
कं प्रति हेतुः म्यात् । यथा—'अपश्यन्ताविद्यान्योन्यम्' इत्यादौ । अप्र कपो-  
लयोः प्रकृतयोः संबन्धित्वेनोपात्तस्य क्षामतागमनस्य हेतुरदशनमुत्प्रेक्षि-  
तम् । हेतुफलं च क्षामतागमनं तत्र निमित्तम् । एवम् 'अदृश्यत त्वच्चरणार-  
विन्दविश्लेषदुःखादिव चद्धमौनम्' इत्यत्र नूपुरगतस्य मौनित्वस्य हेतु-  
दुःखित्वम् । तदुत्प्रेक्षणे मौनित्वमेव निमित्तं ज्ञेयम् । एवं सर्वत्र ।

'अपह्व से युक्त उत्प्रेक्षा यथा—

'जहा उछलती फेनराजि के बहाने सिप्रा अडुहाम विपेरती-सी प्रतीत होती है जब नगर-  
बनिताएँ [ स्नान के समय ] मछली के टकरा जाने से घबराकर किनारे पर पहुंचती हैं ।'

यहाँ 'इव = सी' शब्द का प्रयोग है इसलिये समावना और 'छल' शब्द का प्रयोग है इसलिये  
अपह्वति की प्रतीति होती है । इसी प्रकार 'छम' आदि शब्दों के प्रयोग रहने पर भी [ उत्प्रेक्षा  
होती है ऐसा ] जानना चाहिए ।

'दूसरा ना इन्द्र' इत्यादि स्थलों में यदि 'अपर = दूसरा' शब्द का प्रयोग न होता तो यहाँ  
उपमा ही होती, उमका प्रयोग हो जाने से प्रकृत राजा में इन्द्रत्व की प्रतीति होने लगी फलतः  
यहाँ अध्यवसाय होना समभव हो गया और 'इव = सा' शब्द द्वारा उस [ अध्यवसाय ] में साध्यत्व  
की प्रतीति करा दी, इसलिये यहाँ उत्प्रेक्षा ही हुई । यदि इव शब्द का प्रयोग न होता तो यहाँ  
सिद्ध अध्यवसाय प्रतीत होता और तब अनिशयोक्ति होती । और यदि, न इव शब्द का प्रयोग  
होता और न अपर शब्द का तो यहाँ रूपक होता ।

इस प्रकार उत्प्रेक्षा के भेदों में अनेक विचित्रताएँ मिलती हैं, अतः इसका जो हेतूत्प्रेक्षाभेद है  
इसमें प्रकृत के जिस धर्म का हेतु उत्प्रेक्षित किया जाता है वह धर्म [ अप्रकृत के धर्म से ] अध्य-  
वसाय के आधार पर अभिन्न प्रतीत होना है और वहाँ उत्प्रेक्षा का निमित्त स्वीकार किया जाता  
है । और वह सदैव केवल वाच्य ही रहता है । ऐसा [ वाच्य ] न हो तो उत्प्रेक्षित हेतु किमके  
प्रति हेतु सिद्ध होगा ? यथा—'मानों एक दूमरे को न देखने हुए' इत्यादि [ पूरांद्भूत ] स्थल में ।  
यहाँ प्रकृत है कपोल । उनमें धर्मरूप में दुर्बलता बनलाई जा रही है और उम [ दुर्बलता ] में हेतु  
बनलाया जा रहा है अदर्शन—न दिखारं देना । इस प्रकार उम [ उत्प्रेक्षा ] में निमित्त है [ न  
दिखारं देने रूप ] हेतु का फल = दुर्बल होना । इसी प्रकार—[ राम की सीता के प्रति उक्ति—  
तुम्हारा नूपुर ] 'मानों तुम्हारे चरणारविन्द में विडुडने से नुपुपी साधे दिखाई दिया था'—  
इत्यादि स्थलों में नूपुरगत मौनित्व = नुपुपी का हेतु है दुःखित्व । उसकी उत्प्रेक्षा में निमित्त माना  
जाना चाहिए मौनित्व ही और इसी प्रकार [ हेतूत्प्रेक्षा के ] सभी स्थलों में जानना चाहिए ।

विमर्शिनी

छुन्नशब्दप्रयोग यथा—

स्वेदोद्विन्दुसंदोहच्छुद्मना तव राजते ।

स्मरेणावैभ्यनर्धापि दत्तार्धेव कुचस्थली ॥'

अस्याश्च तत्तच्छब्दप्रयोगाप्रयोगाभ्यां प्रतीतिभेदादलंकारैः सह विभागं दर्शयितुमाह—  
अपर इत्यादि । तत्प्रयोग इत्यपरशब्दप्रयोगे । इवशब्दस्य संभावनाद्योतकस्याप्रयोगात्  
सिद्धत्वम् । अत एव चात्र विषयस्वानुपादानमेव । तदुपादाने हि द्वारोपं रूपकमिति  
समनन्तरमेवोक्तम् । अन्यत्र पुनः सर्वत्र विषयोपादानमेव न्याय्यम् ।

तदित्यं भेदवैचित्र्येणावस्थिताया उत्प्रेक्षाया हेतुस्वरूपफलानां यथासंभवं स्वरूपं  
दर्शयति—तदेवामित्यादिना । स धर्म इति यं प्रत्येव हेतुस्तप्रेष्यते । अध्यवसायवशादिति  
भेदेऽप्यभेदाश्रयणात् । अभिन्न इत्यप्रकृतसंबन्धिना धर्मेण । स इति निमित्तत्वेनाश्रितो  
धर्मः । नियमेनेति । अवाच्यः पुनर्न कदाचिद्भवतीत्यर्थः । अन्ययेति अवाच्यत्वे । कं प्रति-  
हेतुरिति । तस्यैव फलरूपत्वात् । नहि य प्रत्येव हेतुस्तप्रेष्यते तस्यैवावाच्यत्वं युक्तम् ।  
साध्यमन्तरेण साधनस्य निर्विषयत्वापत्तेः । यदि चास्य निमित्तमात्रत्वमेव स्यात्-  
द्वाच्यत्वमवाच्यत्व स्यात् । एवमेक एव धर्मो हेतोरस्तप्रेष्यमाणस्य निमित्तं फलं  
चेति सिद्धम् । एतद्वैव दर्शयति—अपश्यन्तावित्यादिना । तत्रेति हेतुस्तप्रेषणे । निमित्त-  
मिति तद्विनोत्प्रेषणस्थानिप्पत्तेः । द्विविधमत्र सामतारागमन तपोजनितमदर्शनजनितं  
च । तयोरध्यवसायवशाद्भिन्नत्वेनाश्रयणम् । अतश्च हेतोरक एव धर्मो निमित्तं फलं  
च । वस्तुतस्तु तपोजनितस्य निमित्तत्वमन्यस्य तु हेतुफलरूपत्वम् । अत एव नेतरेत-  
राश्रयदोषः । द्वयोरपि भिन्नत्वात् । मौनित्वमेवेति । न पुनरन्यत्रिकचिदित्यर्थः । अतश्च  
निश्चलत्वादिजनितस्य दुःखजनितस्य च मौनित्वस्याभेदेनाश्रयणम् । सर्वत्रेत्यनेन समस्त-  
लक्ष्याविरुद्धत्वं हेतुस्तप्रेक्षास्वरूपकथनस्योक्तम् ।

एवं हेतुस्तप्रेक्षाया यथासंभवं स्वरूपं प्रदर्श्य स्वरूपोत्प्रेक्षाया अपि दर्शयति—  
स्वरूपोत्प्रेक्षायामित्यादिना ।

छन्न शब्द का प्रयोग होने पर यथा—'तुम्हारी कुचस्थली है तो अनर्घ [ अमूल्य ] तथापि  
मैं सोचता हूँ कि कामदेव ने पत्नीने की पुँजीभूत बूँदों के बहाने इसे अर्धयुक्त [ अर्ध = पूजा में  
अलार्ध तथा मूल्य से युक्त ] सा बना दिया है ।' इस उत्प्रेक्षा में उन-उन शब्दों के प्रयोग रहने  
और न रहने के कारण अन्य अलंकारों का भ्रम होने लगता है, अतः अन्य अलंकारों से भेद  
दिखलाने के लिये ग्रन्थकार लिखते हैं—

तत्प्रयोग—उस अपरशब्द का प्रयोग [ अध्यवसाय की ] सिद्धता इसलिए कि संभावनाद्योतक  
इव शब्द का प्रयोग नहीं रहता, और इसीलिए यहाँ सर्वदा विषय का अनुपादान ही रहता है ।  
उपादान हो जाने पर द्वारोप रूपक हो जाता है जैसा कि यहाँ कुछ आगे कहा गया है । अन्य  
सभी स्थलों में विषय का उपादान ही उचित है ।

इस प्रकार अनेक प्रकार के भेदों से युक्त इस उत्प्रेक्षा के हेतु, स्वरूप तथा फल नामक मुख्य  
वर्गों में संभावित भेदों के स्वरूप बतलाते हुए लिखते हैं—तदेवम् इत्यादि । स धर्मः = वह  
धर्म अर्थात् जिसके लिए हेतु की उत्प्रेक्षा की जाती है । अध्यवसायवशात् = अध्यवसाय के  
कारण अर्थात् भेद रहने पर भी अभेद मानने से । अभिन्न अर्थात् अप्रकृत से संबन्धित धर्म से ।  
स = वह अर्थात् निमित्तरूप से आश्रित धर्म । नियमेन = नियमतः सदा ही = अर्थात् वह अवाच्य

कभी भी नहीं होना। अन्यथा वाच्य न होने पर। कं प्रति हेतुः = हेतु किमका होगा क्योंकि वही फलरूप रहता है। ऐसा ठीक नहीं कि जिसके लिए हेतु की उत्प्रेक्षा की जा रही है वही जवाब्य हो क्योंकि तब साध्य के अभाव में साधन निरर्थक हो जाएगा। यदि यह केवल निमित्त ही होता तो यह वाच्य और अवाच्य दोनों हो सकता था। इस प्रकार यह निश्चय हुआ कि एक ही धर्म उत्प्रेक्ष्यमाण हेतु का निमित्त भी होगा और फल भी। इसी तथ्य को उदाहरण द्वारा समझाने हैं—अप्यन्ती० न देखते हुए। सत्र हेतुप्रेक्षा में। निमित्त क्योंकि उसके बिना उत्प्रेक्षा की निष्पत्ति नहीं होती। यहाँ दुर्बलता दो प्रकार से आती है तपस्या से अंर अदर्शन से। इन दोनों को अध्यवसाय के आधार पर अभिन्नरूप से अपनाए गए हैं। इसीलिए एक ही धर्म हेतु का निमित्त भी है और फल भी। वस्तुतः तपोजनित दुर्बलता निमित्त है और दूसरी दुर्बलता हेतुफलरूप। इसलिए यहाँ अन्योन्याश्रय दोष नहीं है क्योंकि दोनों ही भिन्न हैं।

मौनित्वम्—अन्य कुछ नहीं। इसीलिए यहाँ निश्चलता आदि से अनित्य तथा दुःख से जनित मौनित्व अभिन्न मान लिए गए हैं। सर्वत्र पैमा कहकर हेतुप्रेक्षा के कविन स्वरूप का समस्त लक्ष्यों में अविरोध बनानाया।

इस प्रकार हेतुप्रेक्षा का स्वरूप यथाममव दिखानाया। अब स्वरूपोत्प्रेक्षा का स्वरूप भी बनाने हैं—

### [ सर्वस्व ]

स्वरूपोत्प्रेक्षायां यत्र धर्मा धर्म्यन्तरगतत्वेनोत्प्रेक्ष्यते तत्रापि निमित्त-भूतो धर्मः क्वचिन्निर्दिश्यते। यथा—‘स वः पायादिन्दु.’ इत्यादौ। अत्र कुटिलत्वादि निर्दिष्टमेव। ‘वैलेव रागसागरस्य’ इत्यादौ संक्षोभकारित्वादि गम्यमानम्। यत्र च धर्म एव धर्मिगतत्वेनोत्प्रेक्ष्यते तत्रापि निमित्तस्योपादानानुपादानाभ्यां द्वैविध्यम्। उपादाने यथा—

‘प्राप्याभिपेकमेतस्मिन्प्रतितिष्ठासति द्विषाम्।

चकम्पे लोप्यमानाश्चा भयविह्वलितेव भूः॥’

अत्र भूगतत्वेन भयविह्वलितत्वाद्यधर्मोत्प्रेक्षायां कम्पादिनिमित्तमुपात्तम्। अनुपादाने यथा—‘लिम्पतीव तमोऽहानि’ इत्यादौ। अत्र तमो-गतत्वेन लेपनक्रियाकर्तृत्वोत्प्रेक्षायां व्यापनादि निमित्तं गम्यमानम्। व्यापनादौ तूत्प्रेक्षाविषये निमित्तमन्यदन्वेष्यं स्यात्। न च विषयस्य गम्यमानत्वं युक्तम्। तस्योत्प्रेक्षिताधारत्वेन प्रस्तुतस्याभिधातुमुचितत्वात्। तस्माद् ययोक्तमेव साधु।

स्वरूपोत्प्रेक्षा में जहाँ धर्मा दूसरे धर्मा के मीनर उत्प्रेक्षित होना है वहाँ भी निमित्तभूत धर्म कहीं निर्दिष्ट रहता है; यथा—‘वह चन्द्र आप की रक्षा करे’ इत्यादि में, यहाँ कुटिलत्वादि निर्दिष्ट ही है। ‘रागसमुद्र की वेला = तटभूमि सी’—में वह गम्यमान अर्थात् अनिर्दिष्ट है।

जहाँ कहीं धर्म ही धर्मा के मीनर उत्प्रेक्षित होता है वहाँ भी दो विधायें रहती हैं क्योंकि वहाँ निमित्त का कहीं उपादान रहता है और कहीं अनुपादान। उपादान यथा—

अभिपेक प्राप्त कर जब वह अपनी प्रतिष्ठा चाहने लगा तो शत्रुओं की भूमि जिस पर [ शत्रुओं की ] आजा हुस होने वाली थी मानी भयविह्वल होकर काँप उठी।

--यहाँ भूमिरूपी धर्मों के भीतर भयविह्वलतारूपी धर्म की उत्प्रेक्षा की जा रही है और उसमें कल्प आदि का निमित्तरूप से उपादान किया गया है। अनुपादान यथा--'अन्वकार अर्गों को मानों लीप रहा है'-इत्यादि में। यहाँ जो तम के भीतर लेपन-क्रिया के कर्तृत्व की उत्प्रेक्षा है उसका निमित्त है व्यापन और वह गम्यमान = अनुपात है। यदि व्यापनादि को उत्प्रेक्षा का विषय माना जाय तो उसमें निमित्त कौर्द और ही खोजना होगा [ यह एक दोष होगा और दूसरा दोष यह होगा कि यहाँ ] विषय [ व्यापन ] गम्यमान है जो अनुचित है क्योंकि विषय ही तो प्रस्तुत होकर उत्प्रेक्षा का आधार होता है अतः उसका शब्दतः कथन आवश्यक होता है। इसलिए पहले जो [ तम में लेपन ] की उत्प्रेक्षा की जा रही है वही ठीक है।

### धर्मिणि

यद्यप्युद्देशत एवैतत्स्वरूपोत्प्रेक्षायां निमित्तोपादानत्वानुपादानत्वमवगम्यते तथापि हेतुत्प्रेक्षायां यथा निमित्तोपादानमेव संभवति तथात्रापि न संभाव्यमित्याशयेन पुनरिहैतदुक्तम् ।

यदा चात्र धर्मो धर्म्यन्तरगतत्वेनोत्प्रेक्ष्यते तदा तत्र निमित्तस्य कीदृग्रूपत्वं भवतीत्याशङ्क्याह—यत्रेत्यादि। धर्म एवेति। न पुनर्धर्मो धर्मिगतत्वेनेति। धर्मिभित्तितयेत्यर्थः। अत्र हि धर्मिणोऽन्यधर्मधर्मिणं निगीर्यन्यधर्मधर्मित्वमवस्थाप्यते। अत एवात्र धर्मो भित्तिभूततया विषयः। धर्मिण विना केवलस्यैव धर्मस्य व्यवस्थापयितुमशक्यत्वाद्भवस्थाप्यमानत्वे वा धर्मित्वमेव स्यात्। वस्तुतस्तु धर्म एवोत्प्रेक्षाविषयः। यन्निगरणेनाभेदप्रतिपत्तिर्विषयिणोऽवसीयते। स च निगीर्यमाणो धर्मः क्वचिदुपात्तो भवति क्वचिच्चानुपात्तः।

'प्राप्याभिपेकम्' इत्यादावन्ये हेतुत्प्रेक्षात्वं-मन्यन्ते इत्युदाहरणान्तरेणोदाह्रियते—  
नधरोसद्लिख-घणनिरवलंब-संपद्धि-तडिकडण्णव ।  
नरहरिणो जभइ कडारकेसरे कंधरावंधो ॥'

अत्र कंधरावंधधर्मिणि सकेसरत्वं निगीर्य सतडिकटप्रखमुत्प्रेक्षितम्। कडारत्वं च निमित्तमुपात्तम्। निगीर्यमाणश्च धर्मो धर्मिगतत्वेनोपात्तः। लेपनक्रियाकर्तृत्वोत्प्रेक्षाया-  
मिति, अर्थादाशङ्कितायाम्। एवं हि तमोलेपनमिवेति प्रतीतिः स्यात्। न चात्र तथेत्या-  
शङ्क्याह—व्यापनादावित्यादि। निमित्तमन्यदिति तिरोधायकत्वादि। तेन तमसि धर्मिणि  
व्यापनादिधर्मं निगीर्य लेपनक्रियाकर्तृत्वरूपो धर्म उत्प्रेक्षित इत्यर्थः। यदाह श्रीमम्मटः—  
'व्यापनादि लेपनादिरूपतया संभावितम्' इति। यत्र च धर्मान्तरनिगरणेन धर्म एव  
धर्मिभित्तितयोत्प्रेक्ष्यते तत्र भित्तिभूतत्वाद्धिषयरूपस्य धर्मिणः समनन्तरोक्तनीत्या गम्य-  
मानत्वं न युज्यत इत्याह—न चेत्यादि। विषयस्येति। निगीर्यमाणोत्प्रेक्ष्यमाणयोर्धर्मयो-  
भित्तिभूतस्य धर्मिण इत्यर्थः। न तु निगीर्यमाणस्येति व्याख्येयम्। तस्य ह्युपादानानु-  
पादानाभ्यां द्वैविध्यं भवतीति समनन्तरमेवोक्तम्। तच्चोदाहृतम्। यथा वा—

यत्पुण्डरीक इव पावणं एव वेन्द्राविन्दीवरद्वयमिवोदितमेकनालम् ।

तत्पद्मारागनिधिमूलमिवाधिगम्य सम्यग्जितं नयनयोर्मम भास्यशक्त्या ॥'

अत्र मुख्यादीनामुत्प्रेक्षाविषयाणामनुपादानाद्भवमानत्वम्। तस्येति धर्मिरूपस्य  
विषयस्य। उत्प्रेक्षिताधारत्वेनेति। उत्प्रेक्षितस्य लेपनादिधर्मस्य व्यापनादिधर्मनिगरणे-  
नोत्प्रेक्षाविषयीकृतस्याधारत्वेन भित्तिभूततयेत्यर्थः। धर्मिणमन्तरेण धर्मस्याविश्रान्तेः।  
प्रस्तुतस्येति। अवश्याभिधेयस्येत्यर्थः।



एवं हेतुफलोत्प्रेक्षयोरपि धर्मिगतधर्मैवान्यधर्महेतुकार्यं निगीर्यान्वधर्महेतुत्वमन्य-  
धर्मफलत्वं चाप्यवसीयते । अतश्च न धर्मो वाच्य एव भवति । यथोक्तोपपत्तेः । निगीर्य-  
माणः पुनर्धर्मं एवोपादानानुपादानाभ्यां द्विषा । तत्तु यथा—एषा स्थलीत्यादि । अत्र  
नूपुरस्य धर्मिणो बद्धमीनस्ये निश्चलत्वादि धर्महेतुकार्यं निगीर्यमाणश्चानुपातो धर्मः । उपा-  
चस्तु यथा—

मृगालसूत्रं निजवद्वलमाया' समुत्सुकश्चाटुपु चक्रवाक' ।

अन्योन्यविरलेषणयन्त्रसूत्रभ्रान्तयेव चञ्चुस्त्रियतमाचक्रप' ॥

अत्र चक्रवाकरयाकपणे चाटुसमुत्सुकहेतुत्वं निगीर्य भ्रान्तिहेतुत्वमप्यवसितम् ।  
निगीर्यमाणश्च धर्म उपात्तः । अनुपात्तस्तु यथा—

'कुमुदिन्य प्रमोदिन्यस्तदानीमुदमीमिलन् ।

नलिन्या मर्तुविरहान्मलानिमानमिवेचितुम् ॥'

अत्र कुमुदिनीनामुन्मीलने चन्द्रोदयहेतुकार्यं निगीर्य दर्शनं फलत्वेनोत्प्रेक्षितम् ।  
निगीर्यमाणश्च धर्मोऽनुपात्तः ।

तदेव हेतुस्वरूपयोर्यथासंभव स्वरूप दर्शयित्वा फलोत्प्रेक्षाया अपि दर्शयति—  
फलोत्प्रेक्षावामित्यादिना ।

यद्यपि स्वरूपोत्प्रेक्षा में निमित्त के उपादान और अनुपादान दोनों ही स्वतः प्रतिपादित हो  
जाते हैं क्योंकि जहाँ ये भेद गिनाए गए हैं वहाँ निमित्त के उपादान अनुपादान को चर्चा की  
जा चुकी है तथापि यहाँ हम विषय का उल्लेख जो पुनः किया गया उसका तात्पर्य यह है कि  
जैसे हेतुत्प्रेक्षा में सर्वत्र निमित्त का उपादान ही रहना है अनुपादान नहीं वैसे स्वरूपोत्प्रेक्षा में  
नहीं रहता [ अर्थात् यहाँ निमित्त का अनुपादान भी समझ होता है ] ।

शुकाहोमी है कि जब कोई धर्म किसी अन्य धर्मों के मोनर उत्प्रेक्षित होता है तब निमित्त  
कैसा होता है [ उपात्त अथवा अनुपात्त ] । इस पर उत्तर देने हैं—यत्र इत्यादि । धर्म एव =  
धर्म ही न कि धर्मों भी धर्मों के मोनर । धर्मिगत अर्थात् धर्मों को भित्ति बनाकर । यहाँ धर्मों में  
अन्य धर्म से आने वाला धर्मित्व छिपाकर अन्य ही धर्म से आने वाला धर्मित्व स्थापित किया  
जाता है । इसलिए यहाँ धर्मों भित्ति के रूप में उपस्थित रहता है इसलिए वही विषय होगा है,  
क्योंकि धर्मों के बिना केवल धर्म की स्थापना समझ नहीं होती, और यदि उसकी स्थापना की भी  
जाय तो वहाँ धर्मित्व ही सिद्ध होता है, जबकि उत्प्रेक्षा का विषय वस्तुतः धर्म ही होता है ।  
जिस [ धर्म ] के निगरण [ छिपाने ] से विषयों में अभेद प्रतीति होती है । वह जो निगीर्यमाण  
[ छिपाया जाने वाला ] धर्म है वह कहीं उपात्त होता है और कहीं अनुपात्त ।

'प्राप्याभिपेकं' इत्यादि पद्य में कुछ लोग हेतुत्प्रेक्षा मानते हैं इसलिए हम इसके लिए दूसरा  
उदाहरण प्रस्तुत करने हैं—

"नवरोपद्रवित-धननिरवलम्ब-सघटित-नदित्कटप्र ।

नरहरोर्जयति कडारकेसरः कन्धरावन्ध ॥"

यहाँ कन्धरावन्ध है धर्मों । उसमें सकेसरत्व को छिपाकर स्फटितनदित्कटप्रत्व की उत्प्रेक्षा की  
गई है । इसमें निमित्त है कडारत्व, जो उपात्त है । और निगीर्यमाण ( छिपाया जा रहा ) धर्म  
धर्मों के मोनर प्रतिपादित किया गया है ।

लेपनक्रियाकर्तृत्वोत्प्रेक्षायां = 'लेपनरूप क्रिया के कर्तृत्व की उत्प्रेक्षा भी यहाँ मानी जा  
सकती है । तब 'तम का लेपन सा' ऐसी प्रतीति होगी । किन्तु यहाँ ऐसा नहीं है'—ऐसी शुका

कर समाधान प्रस्तुत करते हैं--व्यापनादी । निमित्तमन्यत् = अन्य निमित्त अर्थात् तिरोभावकत्व आदि । इस पक्ष में तम को धर्म माना गया और उसमें व्यापनादि धर्म को छिपाकर लेपन-क्रियाकर्तृत्वरूप धर्म की उत्प्रेक्षा की गई । जैसा कि श्री मम्मट ने कहा है--'व्यापन आदि लेपन आदि रूप से उत्प्रेक्षित किया गया ।'

'जहाँ कहीं दूसरे धर्म को छिपाकर किसी दूसरे धर्म को ही धर्मों के ऊपर उत्प्रेक्षा की जाती है वहाँ आधारभूत धर्मों का गन्यमान होना = शब्दतः न कहा जाता उक्त रीति से ठीक नहीं होता'-इस अभिप्राय से लिखते हैं--'न च' इत्यादि । विषयस्य = विषय का अर्थात् निगौर्यमाण [ छिपाया जाता ] तथा उत्प्रेक्ष्यमाण [ जिसकी उत्प्रेक्षा की जा रही है ] इन दोनों धर्मों की भित्ति बने हुए धर्मों का । न कि निगौर्यमाण का । क्योंकि निगौर्यमाण के विषय में कहा जा चुका है कि कहीं उसका उपादान रहता है और कहीं अनुपादान । इस प्रकार वह दो प्रकार का होता है । और उसके उदाहरण भी दिए जा चुके हैं । यह भी उसका एक उदाहरण है--'पुण्डरीक [ श्वेतपत्र ] अथवा पूर्णिमा के चन्द्रमण्डल 'चेहरें' के बीच मानों पद्मारागमणि की निधि ( अक्षर ) से निकल कर जो एक ही नाल ( नासिका ) में दो नीलकमल ( नेत्र ) निकले हुए हैं उन्हें पाकर मेरे नेत्रों की भाग्यशक्ति सब से बढ़ गई' । यहाँ मुख आदि उत्प्रेक्षा के विषय हैं किन्तु वे गन्यमान अर्थात् शब्दतः अनुपात्त हैं ।

तस्य = उसके अर्थात् धर्मरूप विषय के । उत्प्रेक्षाधारत्वेन = उत्प्रेक्षा के आधार के रूप से अर्थात् व्यापनादि धर्म को छिपाकर उत्प्रेक्षा की वस्तु बनाए गए लेपनादि धर्म के आधार के रूप से अर्थात् भित्तिरूप से । ऐसा इसलिए कि धर्मों के बिना धर्मों को विश्रान्ति नहीं होती । प्रस्तुतस्य = प्रस्तुत अर्थात् अवश्य अभिषेय का ।

इस प्रकार हेतूप्रेक्षा और फलोत्प्रेक्षा में भी अन्यधर्महेतुकता को छिपाकर अन्य-धर्महेतुकता का अध्यवसाय धर्मों के भीतर किया जाता है । इसी कारण वह धर्मों नियमतः वाच्य ही होता है । कारण ऊपर बतलाया जा चुका है । निगौर्यमाण अर्थात् छिपाया जाने वाला होता है केवल धर्म, और वह भी उपादान तथा अनुपादान के आधार पर दो प्रकार का होता है । यथा--'यथा स्थली' इत्यादि । इस पक्ष में नूपुररूपी धर्मों में जो बद्ध-मीनत्वरूपी धर्म हैं उसका वास्तविक कारण है निश्चलत्व किन्तु उसे छिपा दिया गया है और उसके स्थान पर कारणरूप से दुःखहेतुकत्व को उत्प्रेक्षा की गई है । इस प्रकार यहाँ जो निगौर्यमाण है वह अनुपात्त है और वह धर्म ही है [ धर्मों नहीं ] । उपात्तधर्म यथा--'चाट्ट में समुत्सुक-चक्रवाक ने अपनी प्रिया को चोंच में रखे मृणालसूत्र को मानों एक दूसरे के वियोग के जन्मक यन्त्र के सूत्र के भ्रम से खींच लिया [ विक्रमांकदेवचरित । ]' यहाँ चक्रवाक द्वारा किए गए मृणालसूत्र के खींचनेरूपी कार्य में, है तो हेतु चाट्टसमुत्सुकता, किन्तु उसे उस रूप से प्रस्तुत न कर यहाँ भ्रान्ति को हेतुरूप से उत्प्रेक्षित किया गया । और जो धर्म निगौर्यमाण है अर्थात् कारण होने पर भी कारणरूप से प्रस्तुत नहीं किया जा रहा वह [ चाट्टसमुत्सुकता ] यहाँ उपात्त ही है । अनुपात्त धर्म यथा--

'उस ( चन्द्रोदय के ) समय प्रसन्न कुमुदिनी मानों कमलिनी की प्रिय ( सूर्य ) के विरह से उत्पन्न ग्लानि को देखने के लिए खिल उठी ।'

—यहाँ कुमुदिनी के खिलने में चन्द्रोदय हेतु है किन्तु उसे हेतुरूप से प्रस्तुत न कर दर्शन-क्रिया को हेतुरूप से प्रस्तुत किया गया है । इस प्रकार कुमुदिनी के विकास में चन्द्रोदयहेतुकत्व-रूपी वास्तविक धर्म को छिपा दिया गया है और उसे शब्दतः कहा भी नहीं गया है ।

इस प्रकार (उत्प्रेक्षा के दो भेद) हेतूप्रेक्षा और फलोत्प्रेक्षा के स्वरूप यथासंभव बतला दिए गए। अब फलोत्प्रेक्षा का स्वरूप 'फलोत्प्रेक्षायाम्' इत्यादि अगले ग्रन्थ द्वारा बतलाने हैं—

[ सर्वस्व ]

फलोत्प्रेक्षायां यदेव तस्य कारणं तदेव निमित्तम् । तस्यानुपादाने कस्य तत्फलत्वेनोक्तं स्यात् । तस्मात्तत्र तस्य निमित्तस्योपादानमेव न प्रकारान्तरम् । यथा—

'रथस्थितानां परिवर्तनाय पुरातनानामिव वाहनानाम् ।

उत्पत्तिभूमौ तुरगोत्तमानां दिशि प्रतस्थे रविचक्रस्याम् ॥'

अत्राभ्यपरिवर्तनस्य फलस्योत्तरदिग्गमनं कारणमेव निमित्तमुपात्तम् ।

फलोत्प्रेक्षा में उस ( फल ) का जो कारण होता है वही उसका निमित्त होता है। यदि उस ( निमित्त ) का उपादान न किया जाय तो वह (फल) किमका फल सिद्ध होगा? इस कारण फलोत्प्रेक्षा में फल के निमित्त का उपादान ही होता है, अन्य अनुपादान नहीं। यथा—

'[ वसन्त के समय ] सूर्य, मानों रथ में जुते पुराने घोड़ों को बदलने के लिए उत्तरदिशा की ओर चला जाईं उत्तम घोड़े उत्पन्न होते हैं [ 'विक्रमांकदेवचरित' ] ।

—यहाँ घोड़ों का बदलना फल है और उसका कारण है उत्तरदिशा में जाना। यहाँ यहाँ निमित्तरूप से उपात्त है।

विमर्शिनो

तस्येति फलस्य । एतच्च हेतूप्रेक्षाविचारग्रन्थविवृतेरवगतार्थमिति ग्रन्थविस्तरभयान्न पुनरावस्यते । तदेवं ग्रन्थकृदात्मन श्लघायां कटाक्षयन्नेतदुपसंहरति—

तस्य = उसका अर्थात् फल का। यह सब विचार हमारी टीका में हेतूप्रेक्षा पर किए गए विचार से गतार्थ हो जाता है अतः ग्रन्थविस्तार के मय से अब पुनः विचार नहीं करते।

इस प्रकार विवेचन कर ग्रन्थकार अपनी प्रशंसा व्यक्त करने हुए उत्प्रेक्षा प्रकारण का उरणहार करते हैं।

[ सर्वस्व ]

तदसावुत्प्रेक्षायाः कक्ष्याविभागः प्रचुरतया स्थितोऽपि लक्ष्ये दुरवधारत्वादिह न प्रपञ्चितः । तस्याश्चेवादिशब्दवन्मन्येशब्दोऽपि प्रतिपादकः । किं नूत्प्रेक्षासामग्र्यभावे मन्येशब्दप्रयोगो वितर्कमेव प्रतिपादयति । यथोदाहृतं प्राक् 'अहं त्विन्दुं मन्ये त्वदरिविरह' इत्यादि ।

तो इस प्रकार उत्प्रेक्षा का वर्गीकरण प्रचुररूप से किया जा सकता है, तथापि ( उदाहरणरूप ) शब्दों में इनका समझा जाना कठिन है फलतः [ इनके वर्गीकरण को ] सामग्र्यरूप से प्रस्तुत नहीं किया।

इस [ उत्प्रेक्षा ] का प्रतिपादन जैसे इवादि शब्दों द्वारा होता है उसी प्रकार 'मन्ये'-शब्द द्वारा भी, किन्तु यदि उत्प्रेक्षा की सामग्री नहीं रहती तो 'मन्ये'-शब्द का प्रयोग केवल वितर्क-मात्र का ही प्रतिपादन कर पाता है। जैसा कि पहले (अपभ्रुति प्रकारण में) उदाहरण दिया जा चुका है—'मैं तो चन्द्रमा को मानता हूँ तुम्हारे शत्रुओं के विरह'—इत्यादि।

विमर्शिनी

तदसावित्यादि । अस्याश्च वाचकव्यवस्थां दर्शयति—तस्याश्चेत्यादि । उत्प्रेक्षासामग्र्य-  
भाव इति संभावनाप्रत्ययात्मकत्वाभावात् । प्रागिति, अपह्नुती ।

एवमिवशब्दोऽपि क्वचिद्वितर्कमेव प्रतिपादयति । यथा—

‘वृत्तानुपूर्वे च न चातिदीर्घे जह्ये शुभे सृष्टवत्स्तदीये ।

शेषाङ्गनिर्माणविधौ विधातुर्लवण्य उल्पाद्य ह्र्वास यत्नः ॥’

इयं च भेदेऽभेद इत्याद्यतिशयोक्तिभेदमप्यपि दृश्यते । तत्र भेदेऽभेदो यथा—पृथ्वी-  
राजविजये—

गृह्णन्निः परया भक्त्या वागलिङ्गपरम्पराः ।

अनर्मदेव यत्सैन्यैर्निरमीयत नर्मदा ॥’

अत्र नर्मदाया अभेदेऽपि भेदः । संबन्धेऽसंबन्धो यथा—

अद्वैतं तद्भवतु भवतां संविदद्वैतपुष्टये चमाभृत्पुत्रीपरिवृट्परमाकाण्ठदेहद्वयस्य ।

यत्राकाण्यं निज इव विदन्दक्षिगार्धप्रभाभिर्देहेऽन्येषामपि पुररिपुः काण्यमन्तः प्रमाष्टि ॥’

अत्र काण्यसंबन्धेऽप्यसंबन्धः । असंबन्धे संबन्धो यथा—

क्षीरक्षालितचन्द्रेव नीलीधौताम्बरेव च ।

दङ्कोल्लिखितसूर्येव यत्सन्तश्रीरज्जुम्भत ॥’

अत्र क्षीरक्षालितत्वाद्यसंबन्धेऽपि संबन्धः । कार्यकारणयोस्तुल्यकालत्वे यथा—

यशसेव सहोद्भूतः श्रियेव सह वर्धितः ।

तेजसेव सहोद्भूतस्त्यागेनेव सहोत्थितः ।’

पौर्वापर्यविपर्यये यथा—

शराः पुरस्तादिव निष्पतन्ति कोदण्डमारोपयतीव पश्चात् ।

अन्वक्प्रहारा इव संघटन्ते प्राणान्निहपः पूर्वमिव त्यजन्ति ॥’

कार्यकारणयोर्विपर्ययेऽपीयं दृश्यते यथा—

‘स्येयं संततवर्तमानभगवद्वागार्चनैकाप्रताप्यप्रोपान्तलत्ताविमुक्ककुसुमा चन्द्रप्रसूतिर्नदी ।

यस्याः पाण्डुरपुण्डरीकपट लम्बाजेन तीरद्वये शश्वत्पावणचन्द्रमण्डलशतानीव प्रसूते जलम् ॥’

अत्र नर्मदातश्चन्द्रस्योत्पत्तिप्रतीतेः कार्यकारणविपर्ययः । क्रमिकविपर्ययेणापीयं  
दृश्यते यथा—

अखर्वगर्वस्मितदन्तुरेण विराजमानोऽधरपल्लवेन ।

समुद्धितः क्षीरविपाण्डुराणि पीत्वेव सद्यो द्विपतां यशांसि ॥’

अत्र समुत्थानान्तरभाविनो यशःपानस्य पूर्वनिर्देशात्क्रमिकविपर्ययः । अत्रैव  
‘पितृन्निब्रुच्यैः’ इति पाठे तु क्रमिकयोः समकालभाविष्यम् ।

इत् [ उत्प्रेक्षा ] के वाचक पदों की व्यवस्था पर प्रकाश डालते हैं—‘तस्याश्च’ = इसका ।  
उत्प्रेक्षासामग्र्यभाव = अर्थात् ज्ञान का संभावनात्मक न होना । प्राक्=पहले अर्थात् अपह्नुति  
प्रकरण में ।

[ जिस प्रकार मन्थे शब्द वितर्कमात्र का प्रतिपादन करता है ] इसी प्रकार इव शब्द भी  
वितर्कमात्र का प्रतिपादक होकर रह जाता है । यथा—

‘उत्स [ भगवती पार्वती ] की शुभ, ऊपर से नीचे तक बटुलाकार तथा अनधिक लम्बी पिडु-  
रियाँ बना लेने पर अन्य अंगों का निर्माण विधाता ने कदाचित् नवीन लावण्य शकटा कर किया  
होगा [ कुमार-१ ] ।’

[ यहाँ नवीन लावण्य की कल्पना मात्र की गई है। उसका किसी पर संभावनात्मक आरोप नहीं किया जैसे 'मेरी समझ में तो मुख चन्द्र है'—इत्यादि उक्तिओं में किया जाता है ]।

यह उत्प्रेक्षा भेद और अभेद इत्यादि अतिशयोक्ति के जो भेद हैं उनसे भी युक्त रहती है। यथा भेद में अभेद का उदाहरण पृथ्वीराजविजय कान्य में—

जिसके अत्यन्त भक्ति के साथ बाग— लिङ्गो [ भगवान् शंकर के लिङ्गों कदाचिद् बाणासुर द्वारा स्थापित शिवलिंगों ] का स्पर्श कर रहे सैनिकों ने नर्मदा को अनर्मदा सा बना दिया ।'

—यहाँ नर्मदा एक ही है तथापि उसमें भेद की कल्पना की गई है।

संबन्ध में असम्बन्ध का उदाहरण यथा—

भगवान् शिव तथा भगवान् विष्णु के दो ( क्रमशः गौर तथा श्याम ) शरीरों का अद्वैत हमारी अद्वैत बुद्धि का पोषक हो, जिस ( देहद्रयादित ) में ( विष्णुरूप ) दाहिने देहार्ध की ( श्याम ) कान्ति को अपने शरीर में कालीच समझ भगवान् शंकर ( न केवल उसे ही पोंछने हैं अपितु ) अन्य लोगों ( भक्तों ) की मानस कालीच भी पोंछ देते हैं ।'

—यहाँ कालीच का शिव से सम्बन्ध न होने पर भी सम्बन्ध प्रतिपादित किया गया है। असम्बन्ध में सम्बन्ध का उदाहरण यथा—

'वसन्त श्री अगर्बाद ले रही थी, उसका चन्द्रमण्डल मानों दूध से भी दिया गया था, आकाश मानों नील से नहला दिया गया था और सूर्यमण्डल मानों टक ( छेनी ) से सुधील बना दिया गया था ।'

—यहाँ दूध से धोना आदि चन्द्रमण्डल आदि में नहीं था तथापि उसकी वहाँ कल्पना कर ली गई है ।'

कार्यकारण का एक साथ उत्पन्न होना यथा—

'मानों यश के साथ उत्पन्न हुआ, मानों श्री के साथ वृद्धिगत हुआ, मानों नेत्र के साथ जनमा, मानों त्याग के साथ उठा ।'

—[ यहाँ वक्तव्य यह है कि वर्ण्यमान व्यक्ति के जन्म, वृद्धि, उत्थान यश आदि के कारण हुए, किन्तु वे इतने शीघ्र हो गए कि कारण और कार्य में कालक्रम प्रतीत नहीं हुआ ]

कार्यकारण के पौर्वापर्य में वैपरीत्य यथा—

'वाग पहिले ही निकल पडते हैं [ यह वीर ] मानों धनुष बाद में चडाता है, [ और बाणों के ] प्रहार बाद में होते हैं शत्रु प्राण पहिले ही छोड देते हैं ।'

कारण का कार्य और कार्य का कारण बनना यथा—

'—यह है वह चन्द्रमा से उत्पन्न होने वाली नदी [ नर्मदाजी ] जो तीर लताओं से पुष्प बरसा बरसा कर नदा ही भगवान् शिव के लिंग की पूजा में रक्षाप्रचिन्त रहे आने में व्यग्र है और जिसका जल दोनों तटों पर निकले दवेत पत्थों के बहाने मानों सदा ही पूर्णिमा के मैकड़ों चन्द्रमण्डल पैदा किया करता है ।'

—यहाँ नर्मदा से चन्द्रमा की उत्पत्ति प्रतीत होनी है इसलिए कार्य कारण में विपर्यय हुआ [ क्योंकि कार्य = नर्मदाजी से उनके कारण = चन्द्र की उत्पत्ति बतलाई गई ]।

क्रमिक वस्तुओं में क्रम का वैपरीत्य होने पर भी यह [ उत्प्रेक्षा ] होती है,

'[ विक्रमांकदेवचरित, १।५० में विषाणा की चुल्लू से एक अद्भुत पुष्प उत्पन्न हुआ ] जो अत्यन्त गवीले रिमन से उद्भासित अथर से विराजमान था अतः मानों तत्काल शत्रुओं का दुग्धवत् यश पीकर पैदा हुआ था ।'

--यहाँ यज्ञ का पान उत्पन्न होने के बाद संभव है किन्तु उसका वर्णन उत्पन्न होने के पूर्व कर दिया गया। इसलिए यहाँ [ क्रमिक वस्तुओं में विद्यमान स्वाभाविक ] क्रम का विपर्यय हुआ। यदि इसी पद्य में 'पीतरेव सद्यः' के स्थान पर 'पिबन्निवोच्चैः'--'पीता हुआ सा' पाठ कर दिया जाय तो यही उदाहरण क्रमिक पदार्थों को एक साथ उत्पत्ति का उदाहरण बन सकता है।

**विमर्श--उत्प्रेक्षा का पूर्वतिहास--**

**भामह** --'अविवक्षितसामान्या किञ्चिच्चोपमया सह।

अतद्गुणक्रियायोगादुत्प्रेक्षातिशयान्विता ॥ २।११ काव्यालं०।

किञ्चुकव्यपदेशेन तत्कारुण्य सर्वतः।

दन्धादन्धमरण्यान्वाः पश्यतीव विभावसुः ॥' २।१२ ॥

--'जिसमें सादृश्य बतलाना अभीष्ट न हो तथापि उपमा की आंशिक सामग्री हो साथ ही अतिशय द्वारा भिन्न वस्तु के गुण और क्रिया रूप धर्मों का संवन्ध भिन्न वस्तु में बतलाया वह उत्प्रेक्षा होती है। यथा--फूले टेनू के बहाने मारनों अग्नि वृक्ष पर चढ़ कर जंगल के जले-अनजले स्थान देख रहा है।'

**वामन**--[ सूत्र ] "अतद्रूपस्यान्यथाध्यवसानमतिशयार्थमुत्प्रेक्षा।"

[ वृत्ति ] अतद्रूपस्य अतस्त्वभावस्य, अन्यथा तत्त्वभावतया अध्यवसानमध्यवसायः, न पुनरध्यारोपो लक्षणा वा, अतिशयार्थमिति भ्रान्तिज्ञाननिवृत्त्यर्थम्। सादृश्यादियमुत्प्रेक्षेति।

--जिस वस्तु का [ गुण क्रियादि रूप जो स्वभाव है उसे छिपाकर उसमें ] जैसा नहीं है उसमें वैसे स्वभाव का अध्यवसाय = ज्ञान कराना है उत्प्रेक्षा। इसमें आरोप या लक्षणा नहीं होती। इसमें अतिशय रहता है भ्रान्ति नहीं। यह अलंकार सादृश्यमूलक होता है। उदाहरण--  
'स वः पायादिन्दुर्नवदिसलताकोटिकुटिलः।'

उद्भट = 'सान्यरूपाविवक्षायां वाच्येवाद्यात्मभिः पदैः।

अतद्गुणक्रियायोगादुत्प्रेक्षातिशयान्विता ॥ ३।३ ॥

लौकातिक्रान्तविषया भावाभावभिमानतः।

संभावनेयमुत्प्रेक्षा वाच्येवादिभिरिष्यते ॥३।४॥ --अलंकारसारसंग्रह।

--'यत्रेवादिपदनिवन्धः साम्यस्य च रूपं न विवक्ष्यते तत्रोत्प्रेक्षाख्योलङ्कारः। ००००। अत्र असुः अप्रकृतो योऽर्थस्तस्य ये गुणक्रियाः तद्योगात् साम्यरूपाविवक्षावामपि इवादिशब्दप्रवृत्तिरविरुद्धा। ००००। तेन अतद्गुणक्रियायोगादस्या इवादिवाच्यत्वम्। ००००। पुराणप्रजापतिविहितरूपविषदासिन कविबेधसा पदार्थस्य गुणातिशयविवक्षया रूपान्तरमप्यासक्तुं शक्यते। इयं चोत्प्रेक्षा वहिरसंभवतः पदार्थस्य संभवद्रूपत्रयोपवर्णनाल्लौकातिक्रान्तविषया संभावना।' --लघुवृत्तिः।

--जहाँ इवादि शब्द तो प्रयुक्त रहते हैं। परन्तु उपमा की विवक्षा नहीं रहती अर्थात् प्रकृत से भिन्न जो अप्रकृत अर्थ उसके धर्म गुण क्रिया का प्रकृत में अस्तित्व बतलाए जाने से इवादि उपमा वाचक पदों का प्रयोग तो होता है किन्तु उपमा तात्पर्यविषयीभूत नहीं रहती। इस लिए यह इवादि पदों से वाच्य होती है। भिन्न वस्तु के गुण भिन्न वस्तु में भले ही विधाता को सृष्टि में न जा सकें किन्तु कवि की सृष्टि में यह असंभव नहीं है। इसलिए यह उत्प्रेक्षा जिन विषयों को लेकर चलती है वह प्रायः अलौकिक = लोकभूमिका से ऊपर उठे हुए होते हैं अत एव वे संभावनाश्रित होते हैं। यह सम्भावना भावात्मक पदार्थों की भी होती है और अभाव-त्मक पदार्थों की भी। इसी प्रकार जब 'इव' आदि शब्दों का प्रयोग रहता है तो, यह वाच्य होती है।'

उदाहरण यथा भावात्मक विषय की समावना—

“अस्या” सदार्कविम्बस्यादृष्टिपीतातपैर्जपैः ।

श्यामिकाङ्गेन पतित गुणे चन्द्रभ्रमादिषु ॥ १ ॥

—‘पार्वती जी ने जो जप किया उसमें वे सदा ही सूर्यविम्ब पर दृष्टि लगाए रही और नेत्रों द्वारा सूर्यांतप का पान करती रही, [ और चन्द्रमण्डल भी ऐसा ही करता है ] इसलिए उनके मुखमण्डल पर जो सौंवलपन आया है सो चन्द्रके भ्रम से माना [ चन्द्रमण्डल गत ] कलक यहाँ जा पहुँचा है ।’ अभावात्मक विषय की समावना—

‘कपोलफल्कावस्या. कष्ट भूत्वा तथाविधौ ।

अपद्रवन्त्याविवान्योन्यमौदृश्या क्षामता गतौ ॥ ३ ॥

रुद्रट = ( १ ) अतिसारूप्यादैक्य विधाय सिद्धोपमानसद्भावम् ।

आरोप्यते च तस्मिन्नतदगुणादीति सोत्प्रेक्षा ॥

‘चम्पकनरशिशिरमिदं कुसुमसमूहच्छलेन मदनशिखौ ।

अयमुच्चैरासूढं पश्यति पथिकान् दिशसुरिव ॥ ८१३३ ॥

( २ ) सान्येत्युपमेयगत यस्या समाख्यतेऽन्यदुपमेयम् ।

उपमानप्रतिबद्धापरोपमानस्य तत्त्वेन ॥ ८१३४ ॥

आपाण्डुगण्डपालीविरचितमृगनामिपत्ररूपेण ।

शुशिशुकेव पतिन लान्छनमस्या मुखे सुतनो. ॥ ८१३५ ॥

( ३ ) यत्र विशिष्टे वस्तुनि सत्यसदारीप्यते सप्त तस्य ।

वस्वन्तरमुपपत्त्या समान्य सापरोत्प्रेक्षा ॥ ८१३६ ॥

अतिषनकुङ्कुमरागा पुर पताकेव दृश्यते सन्ध्या ।

उदयतदान्तरितस्य प्रथयत्यासन्नतां भानो ॥ ८१३७ ॥

—(१) ‘जहाँ पहले तो उपमान तथा उपमेय का अत्यन्त सादृश्य के आधार पर अमेद बतलाया जाय फिर उपमान का सद्भाव सिद्ध बतला कर उपमेय में उपमान [ गुणक्रिया रूप ] धर्मों का आरोप किया जाय—वहाँ उत्प्रेक्षा होती है ।’ यथा—

‘कामरूपी अग्नि फूलों के बक्षाने चम्पक तरह की चोटी पर चढकर पथिकों को देख रहा है मानों बहू उन्हें अलाना चाहता है ।’

—( २ ) दूसरी उत्प्रेक्षा यह होती है जहाँ प्रसिद्ध उपमेय में एक अन्य उपमेय की कल्पना की जाय और इस कल्पित उपमेय में प्रसिद्ध उपमान पर आरोपित एक अन्य उपमान के अमेद की समावना की जाय । यथा—

‘पीले कपोलों पर बनी कस्तूरी की पत्रलेखा के रूप से इस सुतनु के मुखमण्डल के भीतर चन्द्रमा की शंका से मानों लान्छन आ पटा है ।’

[—स्पष्ट ही दोनों लक्षण और दोनों उदाहरण भामह तथा उद्भट के लक्षण और उदाहरण के भावानुवादमात्र हैं । ]

—( ३ ) एक उत्प्रेक्षा वह भी होती है जिसमें शोभनत्व अशोभनत्व आदिगुणों से युक्त वास्तविक पदार्थ में उसी जैसे किसी अवास्तविक पदार्थ की युक्ति के आधार पर समावना की जाती है । यथा—

मेरों पर घना कुकुमराग लिप हुआ यह प्रातः सन्ध्या दूर से दिखाई दे रही मानों पताका है, जो बतला रही है कि सूर्य [ का रय ] उदयगिरि के पीछे छिपा है और उसका उदय आसन्न है ।

[—यहाँ रागविशिष्ट संध्यारूपी वास्तविक पदार्थ पर पताकारूपी एक अत्यन्त कल्पित पदार्थ ललेश की समानता पर संभावित किया गया। पताका की संभावना युक्तियुक्त है क्योंकि रवि यदि आ रहा है तो उसके साथ रथ का होना आवश्यक है और रथ है तो उसके ऊपर पताका। नमिसाधु ने भी उत्प्रेक्षा के कुछ भेद प्रस्तुत किए हैं ]

रुद्र ने अतिशयनामक वर्ग में भी एक उत्प्रेक्षा स्वीकार की है। उसका लक्षण उन्होंने इस प्रकार किया है—

यत्रातितथाभूते संभाव्येत क्रियाव्यसंभाव्यम् ।

संभूतमतद्वति वा विज्ञेया सेचमुत्प्रेक्षा ॥ १।११ ॥

अन्यनिमित्तवशाद् यद् यथा भवेद् वस्तु तस्य तु तथात्वे ।

हेत्वन्तरमतदीयं यत्रारोप्येत सान्वेयम् ॥ १।१४ ॥

अर्थात्—किसी पदार्थ में असंभाव्य क्रिया आदि की संभावना करना अथवा किसी पदार्थ में असंभूत क्रियादि को संभूत बतलाना। यथा चाँदनी अंग अंग को लीप सी रही है और राज-प्रासाद नीलमणि के फर्श पर पड़ती चाँदनी से पहलित और प्रतिबिम्बित तारों से पुष्पित था।

--अर्थात् वस्तु की निष्पत्ति में प्रसिद्ध कारण को छोड़ अन्य ही कोई कारण बतलाया जाना। यथा--बरसा में जब तालाब पानी से खूब भर गया तब मानों नील इंद्र के विद्योह से दुःखी होकर कमलिनी पानी में डूब गई।

मम्मट = 'संभावनमथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य समेन यत्' ।

--उपमेय का उपमानरूप से संभावन उत्प्रेक्षा है। यहाँ मम्मट ने संभावन-शब्द आलंकारिक-परम्परा से अपनाया है किन्तु टीकाकारों ने उसे अपने मन से इस प्रकार स्पष्ट किया है-- 'उत्कटोपमानैकलोचिकः संशयः संभावनम्' अर्थात् उस संशय को संभावन कहते हैं जिसमें उपमान की ओर बुद्धि का झुकाव अधिक हो। 'दिष्ट्या धूमाकुलितदृष्टेरपि यजमानस्थाहुतिरग्नावेव पतिता ॥'

शोभाकर = अलंकाररत्नाकरकार शोभाकर मिथ का उत्प्रेक्षा लक्षण पहले ही उद्धृत किया जा चुका है।

परवर्ती अप्पठ्यदीक्षित = 'यत्रान्यधर्मसम्बन्धादन्यत्वेनोपतर्कितम् ।

प्रकृतं हि भवेत् प्राधास्तानुत्प्रेक्षां प्रचक्षते ॥

--जहाँ प्रकृत ( उपमेय ) अपने से भिन्न पदार्थ ( उपमान ) के धर्मों के संबन्ध से तद्रूप से तर्कित किया जाय वहाँ उत्प्रेक्षा होती है। [ यहाँ संभावन के स्थान पर उपतर्कित शब्द महत्त्वपूर्ण है ] इसी प्रकार—

रत्नगंगाधरकार पण्डितराज जगन्नाथ = 'तद्भिन्नत्वेन तद्भाववत्त्वेन वा प्रमितस्य पदार्थस्य सम-पीयतद्वृत्ति-तत्समानाधिकरणान्यतरतद्धर्मसम्बन्धनिमित्तकं तत्त्वेन तद्वत्त्वेन वा संभावनमुत्प्रेक्षा' ।

इस लक्षण में धर्मों तथा धर्म इन दोनों की उत्प्रेक्षा के लक्षण मिला दिए गए हैं। उनके पृथक् रूप ये हैं—

धर्मों = 'सुन्दर साधारण धर्म के आधार पर भिन्न पदार्थ की अभेदसंभावना उत्प्रेक्षा होती है।

धर्म = 'अपने साथ रहने वाले सुन्दर साधारण धर्म के आधार किसी ऐसे धर्म की किसी पदार्थ में संभावना उत्प्रेक्षा होती है जो धर्म उस पदार्थ में वस्तुतः न रहता हो।'

इस प्रकार उत्प्रेक्षा प्रत्येक आलंकारिक को अलंकाररूप से तो मान्य है किन्तु उसके स्वरूप में उनकी मान्यताएँ भिन्न हैं। सामद और वामन इसे अतिशय और अव्यवसाय पर निर्भर मानते हैं। उद्भट इसमें पहिली दार अतिशय के साथ संभावना को भी स्थान देते हैं। रुद्र



अतिशय को छोड़ समावना के साथ आरोप को अपनाते हैं। यद्यपि उनका आरोप अतिशय से भिन्न प्रतीत नहीं होता किन्तु वे ऐतिहासिक अतिशय शब्द को छोड़ देने हैं। मन्मत् अतिशय और आरोप दोनों को छोड़ एकमात्र समावना को उत्प्रेक्षा मानते हैं। अलङ्कारसर्वस्वकार अपने पूर्ववर्ती आचार्यों में से माम्द और वामन को मान्यता प्रदान करते और अध्यवसाय को उत्प्रेक्षाबीज मानते हैं। शोभाकर भिन्न इसके विरुद्ध उद्भट द्वारा प्रवर्तित, रुद्रट द्वारा अनुमोदित तथा मन्मत् द्वारा सिद्धान्तित एकमात्र समावना को उत्प्रेक्षाबीज मानते हैं। विशेषता यह है कि सर्वस्वकार समावना पक्ष का खण्डन नहीं करते जब कि रत्नाकरकार शोभाकर अतिशय अथवा अध्यवसायपक्ष का स्पष्टन खण्डन करते हैं। विमर्शिनीकार जयरथ रत्नाकरकार को उच्चर देने और सर्वस्व का समर्थन करते हैं। अप्यव्यदीक्षित लक्षण में तो समावना या अध्यवसाय शब्द को छोड़ उपतर्क शब्द को स्थान देते हैं किन्तु वे वृत्ति में 'तर्क समावनामात्रम्, न स्वधारणम्, तदीयधर्मो हि तत्तादात्म्यसमावनामात्रहेतु, न व्याप्तिपक्षधर्मतावहिद्ववद् अवधारणहेतु'— अर्थात्—'तर्क का अर्थ यहाँ केवल समावनामात्र है, निश्चय नहीं। एक में दूसरे के धर्म का अस्तित्व दोनों की अभिन्नता की समावनामात्र कराता है, व्याप्ति और पक्षधर्मतामयुक्त हेतु के समान निश्चय नहीं।'—रुद्रट प्रकार तर्क को समावनारूप मान समावनापक्ष के अनुयायी हैं। रुद्रट के आरोपपक्ष का समर्थन कोई नहीं करता, अतः प्रथम और अन्तिमरूप में यह पक्ष रुद्रट तक ही सीमित है। इस प्रकार उत्प्रेक्षालक्षण में दो ही प्रधान पक्ष ठहरते हैं एक अध्यवसाय या अतिशय का और दूसरा समावना का। पण्डितराज जगन्नाथ के उत्प्रेक्षाविवेचन से इन दोनों पक्षों का ठीक से समन्वय हो जाता है। उन्होंने ठीक उसी प्रकार उत्प्रेक्षा में विषयभूत धर्म का अध्यवसाय माना है जिस प्रकार विमर्शिनीकार तथा मूल सर्वस्वकार ने। 'लिम्पतीव तमोऽज्ञानि' इसका उच्चम उदाहरण है। यहाँ 'व्यापन'—अनुक्त ई अतः निर्गोण है। यही दूसरे शब्दों में व्यापन का अध्यवसाय है। विमर्शिनीकार ने उक्त धर्म को भी अध्यवमित माना है और अध्यवसाय का अर्थ केवल इतना ही किया है कि उस धर्म पर अन्य धर्म की समावना न कर उस धर्म से युक्त धर्मों पर उस धर्म की समावना करना। उदाहरण के रूप में उन्होंने 'मृगालसूत्र निजवह-भाया'—इत्यादि पद्य प्रस्तुत किया है। यह अध्यवसाय समावना का अंग बन जाता है, अतः दोनों में कोई विरोध नहीं होता। पण्डितराज जगन्नाथ ने भी रसगगाधर में—'तनयमैनाक-गवेषण-लम्बीकृत-जलधिजठर-प्रविष्ट-हिमगिरिभुजायमानाया भगवत्या भागीरथ्या सखी'—'पुत्र मैनाक की खोज के लिए फ़ैलाई अत एव समुद्र में प्रविष्ट हिमाचल की मुष्ठा सी जो भगवती भागीरथी उसकी सखी यमुना'—इस उदाहरण में विषयी मुजा की लम्बाई और समुद्रप्रवेश के द्वारा गगारूपी विषय की स्वामाविक लम्बाई और समुद्र प्रवेश को 'अभेदाध्यवसानातिशयोक्ति' द्वारा अभिन्न मानकर उभय साधारण बतलाया है।—'एवं च विषयि-गततादृशगवेषणकलक—लम्बरवजल-धिजठरप्रविष्टत्वान्यां विषयगतयो. साहसिकलम्बत्व-जलधिजठरप्रविष्टत्वयो अभेदाध्यवसानातिश-योक्त्या साधारण्यसपत्तौ निमित्तता'—[ पृ० ३७७ निर्णयसागराय सस्करण-६ ]। उनके उत्प्रेक्षा-प्रकरण से ऐसे अनेक उद्घरण जुने जा सकते हैं।

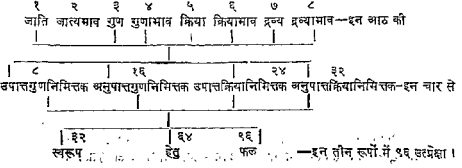
प्रश्न यह है कि उत्प्रेक्षाबोध में वस्तुतः प्रधानता किम तत्त्व की है अतिशयतत्त्व की अथवा समावनतत्त्व की। अतिशयतत्त्व बुद्धिधारा को अभेद की ओर ले जाता है और समावनतत्त्व सशय की ओर। मैं तो मुख को चन्द्र मानता हूँ—यह बोध वक्ता के—'मुख और चन्द्र' दोनों भिन्न हैं अथवा अभिन्न'—इस भेदाभेदविषयक सशय पर भी निर्भर माना जा सकता है और 'यह मुख है अथवा चन्द्र' इस सशय पर भी। इसी प्रकार 'चन्द्रमा कौन सा है यह (मुख) अथवा यह (चन्द्र)'—इस सशय पर भी। इन सब सशयों में मूल प्रश्न एक

ही है अभेद का । किन्तु चमत्कार अभेद प्रतीति में नहीं है । चमत्कार अभेद के संशय में मुख पक्ष को प्रबल बताने में है । इसलिए प्रथम अभेद से उठता और संशय में पर्यवसित हो संशय को ही प्रधान बना देता है । यदि अभेद ही प्रधान हो चमत्कार का कारण बन जाता तो यहाँ अलंकार रूपक होता है । संशय चमत्कारकारी है इसलिए यहाँ ससन्देहालंकार की भी शंका की जा सकती है, किन्तु वह भी यहाँ नहीं हो सकता क्योंकि ससन्देहालंकार के संदेह बोध में दोनों पक्ष बराबर रहते हैं अर्थात् यहाँ चमत्कार संदेह वा संदेहनिपयीभूत पदार्थों के बोध की बराबरी पर निर्भर रहता है, जब कि उत्प्रेक्षा में उपमानपक्ष को प्रबलता पर । अध्यवसाय, अतिशय या निगरण का अर्थ है साध्यवसाना गौणी लक्षणा द्वारा और रत्नाकरकार के अनुसार केवल साध्यवसाना लक्षणा द्वारा किसी पदार्थ का अन्य पदार्थ के रूप में प्रतिपादन । अर्थ यह कि उस पदार्थ में अपना असाधारण धर्म भासित न कराकर अन्य पदार्थ का असाधारण धर्म भासित कराना । ऐसा करने के लिए उस पदार्थ को उसके अपने वाचक शब्द से न कहकर जिस पदार्थ का असाधारण धर्म उसमें भासित कराना होता है उसके वाचक शब्द से कह देना । यथा 'चन्द्रः' । बतलाया जा रहा है मुख, किन्तु शब्द बोला जा रहा है चन्द्र । परिणाम यह कि व्यक्तिरूप से भासित हो रहा है मुख, किन्तु वस्तुमें धर्म प्रतिपादित हो रहा है 'चन्द्रत्व', मुखत्व नहीं । मुखत्व तब भासित होता जब मुख के लिए मुख शब्द का ही प्रयोग होता । इस प्रकार मुख का चन्द्रत्व-धर्म के साथ ज्ञान ही अध्यवसाय या अतिशय है । क्योंकि यहाँ मुखत्व को चन्द्रत्व ने दबा दिया है इसलिए उसे चन्द्रत्व के द्वारा निगला हुआ = निर्गोण कह दिया जाता है । यहाँ ही निगरण । उत्प्रेक्षाबोध में 'मुख' आदि का मुखत्व आदि भी भासित होता रहता है क्योंकि यहाँ मुख आदि का 'मुख' आदि शब्दों से भी बोध होता रहता है । उनमें चन्द्रत्व के विधान से मुखत्व छोड़ा जाता सा प्रतीत होता है । इतने भर से उसे पूरी तरह अध्यवसित नहीं कहा जा सकता । ऐसा आंशिक अध्यवसाय तो अपहृति आदि में भी रहता है । किन्तु उनका अर्थबोध अतिशयोक्ति सा नहीं रहता ।

अन्वकार ने अध्यवसाय को साध्य और सिद्ध इन दो भागों में विभक्त कर उत्प्रेक्षा को साध्य अध्यवसाय पर निर्भर बतला उते अतिशयोक्ति से भिन्न सिद्ध करने का प्रयत्न किया है । किन्तु यदि उनके अनुसार उत्प्रेक्षा में भी चमत्कार अतिशय पर ही आश्रित है तो साध्यत्व या सिद्धत्व केवल अवान्तरतामात्र को साधक होंगे अलंकारान्तरता के नहीं । अलंकार में भिन्नता चमत्कारक-तत्त्व के भेद से आती है । वह तो साध्य तथा सिद्ध दोनों ही स्थितियों में एक ही है अतिशय ।

वस्तुतः उपपत्तौ या वितर्क की ओर ले जाकर अप्पव्यदीक्षित ने अधिक स्पष्टता से काम लिया है ।

उत्प्रेक्षा के जो भेद सर्वस्वकार ने प्रस्तुत किए हैं उन्हें चित्रमीमांसा में अप्पव्यदीक्षित ने अधिक स्पष्ट किया है । उनके अनुसार वाच्य उत्प्रेक्षा के संभावित भेद ये हैं—



इनके नाम 'उपात्तगुणनिमित्तकजातिस्वरूपोत्प्रेक्षा, उपात्तगुणनिमित्तकजात्यभावस्वरूपोत्प्रेक्षा'— इत्यादि बनाए जा सकते हैं। इन १६ समाविन भेदों का एक सूत्र सस्कृत में इस प्रकार बनाया जा सकता है—'उपात्तानुपात्तान्यतर-गुणक्रियान्तर-निमित्तक-जातिगुणक्रियाद्रव्य-तद्भावान्यतर-स्वरूपहेतुफलान्यतरमोत्प्रेक्षा।' इन समाविन भेदों में से शक्यता के आधार पर कुछ भेद कम हो जाते हैं। यथा द्रव्योत्प्रेक्षा और द्रव्याभावोत्प्रेक्षा स्वरूपात्मक ही होती हैं, हेतुफलरामक नहीं। हम प्रकार उसके २४ भेदों में से १६ भेद कम हो जाते हैं, केवल आठ ही भेद शेष रहते हैं। आत्यादि ६ तत्त्वों की उत्प्रेक्षा में निमित्त का अनुपादान समव नहीं होता। फलतः उनके केवल २४ ही भेद शेष रहेंगे। हम प्रकार स्वरूपोत्प्रेक्षा में तो ३२ के ३२ ही प्रकार रहेंगे किन्तु हेतु और फल की उत्प्रेक्षा में केवल १२, १२ भेद होंगे। फलतः उन दोनों के प्रकार मिलकर २४ होंगे। और इस प्रकार स्वरूप, हेतु तथा फल तीनों की उत्प्रेक्षाओं के कुल मिलाकर ५६ प्रकार होंगे। किन्तु ये प्रकार केवल वाच्य उत्प्रेक्षा में ही होंगे। प्रतीयमान उत्प्रेक्षा में निमित्त का अनुपादान स्वरूपोत्प्रेक्षा में भी नहीं होगा। फलतः स्वरूपोत्प्रेक्षा ३२ भेदों में से केवल १६ भेद ही बचेंगे। इस प्रकार १६ स्वरूपोत्प्रेक्षा, १२ हेतुत्प्रेक्षा और १२ फलोत्प्रेक्षा मिलकर प्रतीयमानोत्प्रेक्षा के कुल ४० ही भेद होंगे। वाच्य उत्प्रेक्षा के ५६ भेदों में प्रतीयमान उत्प्रेक्षा के ४० भेद मिला देने पर पुन उत्प्रेक्षासामान्य के भेद १६ ही हो जाते हैं।

पण्डितराज जगन्नाथ ने एक ऐसा उदाहरण भी बना दिया जिसमें द्रव्य की भी हेतुरूप से उत्प्रेक्षा निकल आती है। वह उदाहरण है—

'बराका यं राकारमग इति बलग्नि सहसा सर स्वच्छ मन्ये मिद्धमृतमेतन्मखमुजाम्।

अमुष्मिन् या कापि सुतिरतिघना भाति मियतामिय नीलच्छायादुपरि निरपायाद् गगनत ॥'

—जिसे नासमझ लोग चन्द्र कहते हैं मैं इसे देवताओं का अमृतपूर्ण सरोवर मानता हूँ, और इसके बीच में जो अत्यन्त घनी नीली छाया दिखाई दे रही है इसे ऊपर के आकाश की छाया।'

—यहाँ अमृत सरोवर रूप से उत्प्रेक्षित चन्द्रमा में विद्यमान किन्तु यहाँ शब्दतः अक्षयित जो कलक है उसका कारण आकाश बनलाया जा रहा है। आकाश एक द्रव्य ही है, जाति, गुण, क्रिया नहीं। अतः उसकी हेतुरूप से उत्प्रेक्षा द्रव्यहेतुत्प्रेक्षा का अस्तित्व सिद्ध कर देती है। किन्तु यह पण्डितराज जगन्नाथ ने अपना सामर्थ्य मात्र दिखलाया है। वे स्वयं मानते हैं कि ऐसे उदाहरण सामान्यतः मिलते नहीं हैं। इसीलिए उन्होंने स्वयं फलोत्प्रेक्षा के प्रसंग में द्रव्याफलोत्प्रेक्षा नहीं दिखाई। और यह कह दिया कि आत्यादि भेद में कोई चमत्कार नहीं है। चमत्कार केवल स्वरूप, हेतु तथा फल भेद में ही है। मम्मट ने तो इन भेदों को भी छोड़ दिया। स्वरूपादि भेदों को कहरना पहिली बार अलङ्कारसर्वस्व में ही मिलती है।

वामन ने एक उत्प्रेक्षावयव नामक अलङ्कार भी माना है और उसका लक्षण—'उत्प्रेक्षाहेतुरत्प्रेक्षावयव'—ऐसा किया है, किन्तु इसका हेतुत्प्रेक्षा से कोई सम्बन्ध नहीं है। सजीविनाकार शीविदाचक्रवर्ती ने उत्प्रेक्षा के सपूर्ण विवेचन का सग्रह इस प्रकार किया है—

'गुणक्रियाभिसम्बन्धात् प्रकृतेःप्रकृतात्मना। समावन स्यादुत्प्रेक्षा वाच्येवापि परान्यथा ॥

जानिक्रियागुणद्रव्योरत्प्रेक्षात् सा चतुर्विधा। भावाभावाभिमानत्वे आत्यादेः साष्टया पुनः ॥

गुणक्रियानिमित्तत्वे श्रेया षोडशधा तथा। द्वात्रिंशच्च निमित्तस्योपादानादन्यथा स्थिते ॥

हेतौ स्वरूपे चोत्प्रेक्ष्ये फले षण्णवन्ति। पुनः। द्रव्ये हेतुफलरामत्वासम्भवात् तदिभदां च्युति ॥

तथा प्रतीयमानाया निमित्तत्त्वानुप्रसङ्गः। नापि स्वरूपं तैर्भेदैस्तत्सामान्यना भवेदियम् ॥

कचिच्छ्लेषेण घर्माश्रितेनैवा न बाध्यते। उपमोपक्रमाप्येषा भवेत् सापहवापि च ॥

—गुण या क्रिया के सन्बन्ध से प्रकृत में अप्रकृत को संभावना उत्प्रेक्षा होती है। यह तब वाच्य होती है जब श्व आदि का प्रयोग रहता है जब नहीं रहता तब प्रतीयमान। उत्प्रेक्षा जाति, गुण, क्रिया और द्रव्य को होती है अतः उसके चार भेद हो जाते हैं। ये चारों भावात्मक तथा अभावात्मक होते हैं, अतः उक्त चार भेद आठ हो जाते हैं। ये आठों भेद गुण को निमित्त बनाकर होते हैं अथवा क्रिया को अतः सोलह हो जाते हैं। ये सोलह भेद निमित्त के उपादान और अनुपादान के आधार पर बर्तीस हो जाते हैं। ये बर्तीसों भेद स्वरूप, हेतु और फल रूप होते हैं अतः ९६ हो जाते हैं। किन्तु द्रव्योत्प्रेक्षा हेतु तथा फल रूप नहीं होती अतः उनके भेदों की कमी हो जाती है। इसी प्रकार प्रतीयमाना उत्प्रेक्षा में निमित्त का अनुपादान नहीं रहता न स्वरूपोत्प्रेक्षा ही, अतः उक्त भेद और कम हो जाते हैं। उत्प्रेक्षा में कहीं कहीं धर्माश्रय में श्लेष रहता है किन्तु उससे यह बाधित नहीं होती। यह उपमोपक्रमा तथा अपहवोपक्रमा भी होती है।

—इस प्रकार स्पष्ट है कि संजीविनीकार ने उत्प्रेक्षा को संभावनस्वरूप माना अध्ववसाय-स्वरूप नहीं, जो मन्मटादि के अनुरूप होने पर भी मूलग्रन्थ सर्वस्व के विरुद्ध है।

स्वरूप हेतु और फल तीनों में ठीक वैसा अन्तर है जैसा गौणी लक्षणा और शुद्ध लक्षणा में होता है। संस्कृत के आलंकारिक आचार्यों की विशेषता है कि वे भेद करते समय किसी विशिष्ट भेद को एक नाम दे देते हैं। और शेष बचे सामान्य भेदों को शुद्ध भेद कह देते हैं। उत्प्रेक्षा में भी हेतु और फल की उत्प्रेक्षाओं को हेतुत्व और फलत्व के आधार पर विशिष्ट नाम दे दिया और जिस भेद में कोई असाधारण विशेषता नहीं देखी उसे अलग गिना दिया। किन्तु यहाँ उसे शुद्धोत्प्रेक्षा न कहकर स्वरूपोत्प्रेक्षा कह दिया। कुछ आचार्यों ने इसी को वस्तुत्प्रेक्षा कहा है। जो 'वस्तु, अलंकार और रस' इस प्रकार पसिद्ध भेदप्रक्रिया के अनुसार ठीक है। स्वरूपोत्प्रेक्षा जहाँ द्रव्यगत होती है वहाँ वह धर्म्योत्प्रेक्षा कहलाती है क्योंकि द्रव्य धर्म से युक्त होता है, इसीलिए रत्नगंगाधरकार ने उसका लक्षण स्वतन्त्र रूप से दर्शाया है। किन्तु वह सदैव धर्मगत ही नहीं होती धर्मगत भी होती है और रत्नगंगाधरकार ने 'धर्मस्वरूपोत्प्रेक्षा' शीर्षक से उसका उदाहरण स्वतन्त्र रूप से अलग दिया है। इस प्रकार कुछ लोग स्वरूपोत्प्रेक्षा को केवल धर्म्योत्प्रेक्षा मान बैठते हैं वह भ्रम है।

उत्प्रेक्षा के विकास में जो जो अंग जिस क्रम से छुड़े हैं वह क्रम ऊपर उद्धृत सभी आचार्यों के उत्प्रेक्षा लक्षणों से स्पष्ट है।

### [ सर्वस्व ]

पञ्चमध्यवसायस्य साध्यतायामुत्प्रेक्षां निर्णाय सिद्धत्वेऽतिशयोक्तिं लक्षयति—

[ सू० २३ ] अध्यवसितप्राधान्ये त्वतिशयोक्तिः ।

अध्यवसाने त्रयं संभवति—स्वरूपं विषयो विषयी च । विषयस्य हि विषयिणान्तर्निर्णीतत्वेऽध्यवसायस्य स्वरूपोत्थानम् । तत्र साध्यत्वे स्वरूपप्राधान्यम् । सिद्धत्वे त्वध्यवसितप्राधान्यम् । विषयप्राधान्यमध्यवसाये नैव संभवति । अध्यवसितप्राधान्ये चातिशयोक्तिः । अस्याश्च पञ्च प्रकाराः । भेदेऽभेदः । अभेदे भेदः । संबन्धेऽसंबन्धः । असंबन्धे संबन्धः । कार्यकारणपौर्वापर्यविध्वंसश्च ।

[ वृत्ति ] २स प्रकार [ उपर्युक्त क्रम से ] अध्यवसाय के साध्य होने पर भ्रम उत्प्रेक्षा का निर्णय किया जब [ उस अध्यवसाय के ] साध्य होने पर समव अतिशयोक्ति का लक्षण करने है—

[ सूत्र ] किन्तु [ अध्यवसाय में ] अध्यवसित की प्रधानता हो तो अतिशयोक्ति [ नाम अलंकार होता है ] ॥ २३ ॥

[ वृत्ति ] अध्यवसान में तीन पदार्थ रहने हैं, स्वरूप, विषय और विषयी । अध्यवसाय के स्वरूप की निष्पत्ति होती है तब जब विषय विषयी के द्वारा उसके अपने भीतर निगल लिया जाता है । इस [ निगलने ] में यदि साध्यता रहती है तो प्रधान रहता है स्वरूप [ निगलना = अध्यवसाय ही ] और यदि मिद्धता तो प्रधान होता है अध्यवसित [ विषयी ] । विषय की प्रधानता अध्यवसाय में हो ही नहीं सकती । वहाँ अध्यवसित [ विषयी ] की प्रधानता तो वह अतिशयोक्ति रूप से मान्य ही है । इस [ अतिशयोक्ति ] के पाच भेद होते हैं । ( १ ) भेद में अभेद ( २ ) अभेद में भेद ( ३ ) सम्बन्ध में असम्बन्ध ( ४ ) असम्बन्ध में सम्बन्ध तथा ( ५ ) कारण तथा कार्य के पूर्वापरत्व रूप क्रम का उलटना ।

### विमर्शिनी

एनदुपसंहरन्नन्यदवतारयति—

प्रमित्यादि । तामेव लक्ष्यिगुमाह—अध्यवसितेत्यादि । एतदेव श्याख्यानुमध्यवसायस्य तावद्यथामंभवं स्वरूप दर्शयति—अध्यवसान इति । परस्परनिष्ठवानुपपत्तेरध्यवसायस्य किं विषयविषयिभ्यामित्याशङ्क्याह—विषयस्य हीरयादि । विषयविषयिभ्यामन्तरेणाध्यवसाय एव न भवतीत्यर्थ । एवामेव विषयविभागं दर्शयति—तत्रेत्यादिना । तत्रेति त्रयनिर्धारणे । स्वरूपप्राधान्यमिति अध्यवसायप्राधान्यम् । अध्यवसितप्राधान्यमिति विषयिप्राधान्यम् । साध्यत्वं सिद्धत्वं चोत्प्रेक्षायामेव निर्गीतम् । नैव संभवतीति—अध्यवसायस्वरूपानुदयात् । तदेवं विषयिग. प्राधान्यविचक्षायामलंकारो भवतीत्याह—अध्यवसितेत्यादि । उक्तं चान्यत्र—

'अध्यवसायसाध्यत्वप्रतीताविषयिभ्यस्ते ।

तत्सिद्धताप्रतीतौ तु भवेदतिशयोक्तियः ॥' इति ।

पञ्चेति न्यूनाधिकसंख्यानिरासार्थम् । अत एव कार्यकारणपौर्वापर्यविध्वंसस्य चतुर्भेदान्तर्भावो न वाच्यः । एवं हि भेदान्तराणामपि तदन्तर्भाव एव स्यात् । अभेदाद्यसंबन्धेऽपि संबन्धोपनिबन्धनात् । अथ भवत्वेतदिति चेत् । न । 'अत्र च यद्यपि सर्वत्र भेदेऽभेदादौ घट्पुतोऽसंबन्धे संबन्ध एव वर्णयितुं शक्यते तथाप्यन्तर्भेदविवक्षयान्यैर्लक्षितत्वाद्द्विविधस्य संबन्धे संबन्धस्य दर्शित्वाच्च विभागेन निर्देशः कृत्' इति भवद्भिरेवोक्तत्वात् । तत्समानन्यायत्वात्कथमस्यापि चतुर्भेदान्तर्भावो न्याय्यः । अथ 'यदि कार्यकारणयोः पौर्वापर्यविध्वंसस्य समानकालताद्यभावोऽपि तयोपनिबन्धे पञ्चमोऽत्र प्रकार इष्यते तद्देशकालयोः पदार्थसंबन्धे विशेषाभावाद्भिन्नदेशत्वाभावेऽपि तयोपनिबन्धे पष्ठोऽपि भेदः परिगगनीय इति निर्विषयत्वाद्संगतेरभावः प्रसज्यत' इति चेत् । नैतत् । यस्मादतिशयोक्त्वात्तिशयाख्यप्रयोजनप्रतिपादविषया विषयनिर्गणेन विषयिप्राधान्य विवक्षितम्, असगती तु विरुद्धत्वप्रयायनाय कार्यकारणयोर्भिन्नदेशत्वमित्युभयत्राप्यस्ति तावच्चिर्विवादे लक्षणभेदः । कार्यकारणपौर्वापर्यविध्वंसे च बह्वनकर्तृकस्य हृदयाधिष्ठानस्य कारणस्य स्मरकर्तृकस्य च कार्यस्य पूर्वापरीभाव निरीर्य 'त्वद्दर्शनैर्नैव विषयान्तरैर्मुख्येन त्वदभिलाषपरैश्च जातेत्यतिशयप्रयोजनप्रतिपाद-

नार्थमन्यथात्वमभ्यवसितमित्यतिशयोक्तिभेदत्वमेवास्य न्यायं न त्वसंगतिभेदत्वम् । तत्र हि—

‘वबन्ध धम्मिल्लमधीरदृष्टेः क्षमानायकश्चम्पकमालिकाभिः ।

चित्तेषु मन्युः स्थिरतां जगाम विपक्षसारङ्गविलोचनानाम् ॥’

इत्यादौ धम्मिल्ले बन्धश्चित्तेषु च मन्युस्यैवमिति कार्यकारणयोर्भिन्नदेशत्वम् । यत्रैव बन्धस्तत्रैव तत्कार्यस्य स्वैर्यस्योपपत्तेर्विरुद्धत्वप्रथायकम् । विरोधस्य चात्राभासमानत्वम् । धम्मिल्लबन्धमन्युस्यैवयोर्वस्तुतोऽपि कार्यकारणभावसद्भावाभावाख्यस्य बाधकप्रत्ययस्योह्लासात् । न च बाधोदयेऽपि विरोधाप्रतीतिः । द्विचन्द्रप्रतीतिवदनुपपद्यमानतया स्खलद्रुतित्वेन तत्प्रतीतिरवस्थानात् । न चातिशयोक्तौ स्खलद्रुतित्वम् । निश्चयस्वभावात्त्वात्स्या अनुपपद्यमानत्वशङ्काया अप्यभावात् । नहि कार्यकारणयोः पौर्वापर्यविध्वंस उपपद्यत इत्यत्र विवक्षितं किंत्वेवं फलमंतदिति । अत एवासंगतेरतिशयोक्तेश्च स्वरूपभेदोऽपीति कार्यकारणयोः पौर्वापर्यविध्वंसेनासंगतिभिन्नदेशत्वेन चातिशयोक्तिरिति यथोक्तमेव युक्तम् । अत एव च

पौर्वापर्यविपर्याससमकालसमुद्भवौ ।

कार्यकारणयोर्यौ तौ विरोधाभासपह्लवौ ॥’

इत्याद्यपि यदन्यैरुक्तं तदयुक्तमेवेति न न्यूनप्रकारत्वम् ।

केषिञ्च सर्वालंकाराणामप्यतिशयोक्तेरेव प्रभेदत्वात्स्या बहुप्रकारतामाचक्षते । तथा व्युपमायामप्यस्येतद्भेदत्वम् । न्यूनगुणस्य सुखादेरधिकगुणेन चन्द्रादिना साम्येऽतिशयानतिपातात्, अतिशयं विना च गौरिव गवय इत्यादावन्लंकारत्वात् । अतश्चातिशयस्यैव सर्वालंकारबीजभूतत्वात् ‘एकैवातिशयोक्तिश्च काव्यस्यालंङ्कतिर्नता’ इत्युक्तम् । नैतत् । इह अतिशयस्य द्वयो गतिः यद्यं कविप्रतिभानिवर्तितः सामान्यात्मा भवति, भेदेऽप्यभेद इत्येवमादिरूपो विशेषात्मा वा । तत्राद्यः सर्वैरेवालंकारबीजतयाभ्युपगतः । अन्यथा हि गौरिव गवय इत्यादावलंकारत्वं स्यात् । तावता पुनरेतत्प्रभेदत्वं सर्वालंकाराणां न युक्तम् । तत्त्वे हि विशेषोक्त्युल्लेखादीनामपि तत्प्रसङ्गः । सर्वालंकाराणामपि विशेषोक्त्युल्लेखरूपत्वात् । अथ द्वितीयपक्षाश्रयेणैतदुच्यते तदप्ययुक्तम् । अस्या अध्येवसितप्राधान्यं लक्षणम् । तच्चालंकाराणां न संभवति । तथात्वानवगमात् । अतश्चैवामसंभवत्त्सामान्यस्वाकथं तद्विशेषत्वमिति बहुप्रकारत्वमस्या निरस्तम् ।

( १ ) इस [ उपेक्षा-प्रकरण ] का उपसंहार करते और अब दूसरे [ प्रकरण ] का आरम्भ करते हुए लिखते हैं—‘एवम्’-आदि ।

( २ ) उसी [ अतिशयोक्ति ] का लक्षण करते हुए लिखते हैं—‘अध्येवसित’ आदि ।

( ३ ) इस [ लक्षण ] की व्याख्या करने के लिए पहले अध्येवसाय का संभावित स्वरूप बतलाते हुए लिखते हैं—‘अध्येवसान’ आदि ।

( ५ ) ‘अध्येवसाय [ एकमात्र विषयी के ही रहने पर होता है अतः उस ] में ‘परस्पर [ विषय और विषयी दोनों ] के बीच संभव ही नहीं होता, तब, विषयविषयी की चर्चा निरर्थक है’—ऐसी शंका की कल्पना कर उत्तर में लिखते हैं—‘विषयस्य हि’ । अर्थ यह कि विषय विषयिभाव के बिना अध्येवसाय ही निष्पन्न नहीं होता ।

( ६ ) इन [ स्वरूप, विषय तथा विषयी ] का क्षेत्रविभाग दिखलाते हुए लिखा—‘तत्र’-आदि । ‘तत्र’ = इनमें-यह तीनों का रूप अलग अलग बतलाने के उद्देश्य से लिखा । स्वरूपप्राधान्य = अध्येवसाय की प्रधानता । अध्येवसितप्राधान्य = विषयी की प्रधानता । अध्येवसाय में साध्यत्व

और सिद्धत्व क्या है। इसका निर्णय ग्रन्थकार ने उपप्रेक्षा के आरम्भ में ही कर दिया है। 'नैव संभवति = हो ही नहीं सकती इसलिए कि वैसा होने पर अर्थात् स्वभाव का स्वरूप ही निष्पन्न नहीं हो सकेगा।

इस प्रकार जब विषयी की प्रधानता रहती है तब यह [ अतिशयोक्ति ] अलङ्कार होता है; इस निष्कर्ष को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं—'अध्यवसित.' आदि। दूसरे ग्रन्थ में कह भी गया है—'यद् [ उपप्रेक्षा ] वहाँ माना जाता है जहाँ अध्यवसाय में साध्यता की प्रतीति रहती है। उसमें यदि प्रतीति सिद्धता की हो तो अतिशयोक्ति का बोध होता है।'

पाँच = पाँच ही कहकर सख्या में कर्मा या वृद्धि को अमभावित ठहराया। इमीलिए 'कार्यकारणपूर्वापरत्वविपर्यय'—इस पाँचवे भेद का चतुर्थ भेद में अन्तर्भाव नहीं बतलाया जाना चाहिए—[ जैसा कि अलङ्काररत्नाकरकार ने बतलाया है पृ० ५८, ५९ ] क्योंकि वैसे तो अन्य भेद भी उसी भेद के भीतर अन्तर्भाव बतलाए जा सकते हैं, क्योंकि उन भेदों में भी अभेद आदि का कोई सम्बन्ध न रहने पर भी सम्बन्ध जोड़ा जाता है। यदि कहें कि 'उन भेदों का भी अन्तर्भाव चतुर्थ भेद में ही हो जाय—'तो यह ठीक नहीं, क्योंकि आपने ही कहा है—  
 " 'भेद में अभेद आदि अन्य भेदों में भी यद्यपि 'असम्बन्ध' में सम्बन्ध बतलाया जा सकता है तथापि [ इस 'असम्बन्ध' में सम्बन्ध'—नामक भेद में 'भेद में अभेद सम्बन्ध' आदि ] अवान्तर भेद मानने ही पढ़ेंगे इसलिए अन्य आचार्यों [ अलङ्कारसर्वस्वकारादि ] ने ये [ भेद में अभेद आदि ] भेद [ उत्सर्गापवादव्याय से ] अलग गिना दिए हैं और अन्त में [ जब अन्य अवान्तर भेद मभव न हुआ तब ] 'असम्बन्ध' में सम्बन्ध नामक भेद [ स्वतन्त्ररूप में ] गिना दिया है, और हम [ अलङ्काररत्नाकरकार ] ने भी उन्हीं के अनुकरण पर यहाँ अन्य भेदों को 'असम्बन्ध में सम्बन्ध नामक चतुर्थ भेद से अलग करके गिना दिया है—' [ अल० रत्ना० अतिशयोक्ति की अन्तिम पंक्ति-पृ० ६१ ] इस प्रकार उक्त हेतु से यदि आप प्रथम तीन भेदों का चतुर्थ भेद में अन्तर्भाव नहीं मानते तो उसी हेतु के रहते हुए केवल पंचम भेद का अन्तर्भाव कैसे मान सकते हैं, और यदि मान भी लें तो उसे उचित भिन्न कैसे कर सकते हैं।

और यदि [ आप अलङ्काररत्नाकार ] यहाँ यह आपत्ति प्रस्तुत करें कि—'कारण और कार्य में [ उत्पत्तिगत ] समानकालता [ एकसाथ उत्पन्न होना ] आदि [ धर्म ] वस्तुतः नहीं रहते तथापि यदि [ कालगत ] पौर्वापर्य क्रम को तोड़ उन्हें समानकालिक आदि रूपमें चित्रित कर अतिशयोक्ति का यह पाँचवा भेद माना जाता है तो [ कार्य कारण के ] देशगत अभेद [ जहाँ कार्य रहता है वहाँ कारण के रहने ] का नियम तोड़कर अतिशयोक्ति का एक छठा भेद भी माना जाना आवश्यक होगा, क्योंकि प्रत्येक पदार्थ के साथ जिस प्रकार काल का सम्बन्ध रहता है उसी प्रकार देश का भी। दोनों में कोई अन्तर नहीं है। और वह छठा भेद मान लेने पर असंगति अलङ्कार का एक भी स्थल शेष नहीं रह पाएगा, वह उच्छिन्न हो जाएगी [ अल० रत्ना० पृ० ५९ ] तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि अतिशयोक्ति और असंगति दोनों के लक्षण अत्यन्त भिन्न हैं। अतिशयोक्ति में विषय को छिपाकर विषयी की प्रधानता प्रतिपादित की जाती है और उसका प्रयोजन रहना है अतिशय का प्रतिपादन, क्योंकि अतिशयोक्ति में प्रयोजनीभूत अतिशय ही रहता है, जब कि असंगति में प्रतिपादित किया जाना है कार्य और कारण में देश भेद [ दोनों का एक स्थान में न रहकर अलग अलग रहना ] और इसका प्रयोजन रहना है [ प्रातिभासिक ] विरोध की प्रतीति। कार्यकारण के कालगत पौर्वापर्य क्रम के तोड़ने से जो पाँचवाँ अतिशयोक्ति निष्पन्न होती है उस [—'हृदयमधिष्ठितम्' इत्यादि जो उदाहरण

आगे दिया गया है उस ] में कारण है मालती के हृदय में 'बल्लभ का अधिष्ठित होना' और कार्य है 'काम का अधिष्ठित होना' । उनका जो स्वाभाविक कालगत पौर्वापर्य क्रम है उसे छिपा दिया गया है और उस पर उससे उल्टा पौर्वापर्यक्रम अव्यवसित किया गया है और इसका प्रयोजन है [ नायक के समक्ष दूती द्वारा ] इस अतिशय का प्रतिपादन कि 'तुम्हारे देखनेनाश से मालती ने अन्य सब बातें छोड़ एकमात्र तुम्हें ही चाहते रहना शुरू कर रखा है' । इस कारण इस स्थल को अतिशयोक्ति का ही भेद मानना उचित है, न कि असंगति का । असंगति का जो उदाहरण आप [ अलं० रत्ना० कार ] ने दिया है उसका तात्पर्य है विरोध की ही प्रतीति में । उदाहरण है—'विक्रमदेव ने चम्पक मालाओं से बाँधा तो चन्द्रलदेवी के जूड़े को किन्तु निश्चलता को प्राप्त हुआ सौतों के चित्तों में कोप' [ विक्रमांकदेव चरित-१०।५६ ] । इसमें 'बन्ध जूड़े में और कोप को स्थिरता चित्तों में'—इस प्रकार कार्य और कारण को अलग अलग स्थान पर चित्रित किया गया । इससे विरोध की प्रतीति हुई, क्योंकि सामान्यतः यहाँ स्थिरद्वारूपी कार्य को वहाँ बतलाया जाना चाहिए था जहाँ उसका कारण बन्ध बतलाया गया था । विरोध का भी यहाँ आभास-मात्र होता है, [ वह प्रलब्ध नहीं हो पाता ] क्योंकि वहाँ विरोध का बाधक ज्ञान भी उदित होता है । यह ज्ञान है 'जूड़े के बन्धन और कोपकी स्थिरता के बीच वास्तविक कार्यकारणभाव के अभाव का ज्ञान । किन्तु ऐसा नहीं होता कि बाधकज्ञान के होने पर विरोध ज्ञान न होता हो, क्योंकि उसकी प्रतीति उसी प्रकार बाधित रूप में अन्त तक बनी रहती है जिस प्रकार एक चन्द्र में दो चन्द्रों की प्रतीति । ज्ञान के बाधित होने का यह बात अतिशयोक्ति में नहीं रहती । क्योंकि यह होती है निश्चयरूप ज्ञान पर निर्भर । फलतः इसमें ज्ञानके बाधित होने का सन्देह होना भी संभव है । अतिशयोक्ति में यह बतलाना थोड़े ही अभीष्ट रहता है कि 'कारण और कार्य का कालगत पौर्वापर्य का ध्वंस संभव होता है' । यहाँ तो केवल इतना बतलाना अभीष्ट रहता है कि 'इस पौर्वापर्य ध्वंस का फल यह है' । और इसी कारण [ न केवल प्रयोजनों में अपितु ] अतिशयोक्ति तथा असंगति के स्वरूपों में भी भिन्नता है । इसलिए यही मानना उचित है कि; अतिशयोक्ति वहाँ होती है जहाँ कार्यकारण के कालगत पौर्वापर्य क्रम का अभाव बतलाया जाता है और असंगति वहाँ जहाँ कार्यकारण के देशगत एकत्व का अभाव । और इसी कारण किन्हीं अन्य आचार्यों का यह कथन भी अमान्य है कि—

'कार्य तथा कारण के ( १ ) पौर्वापर्य का विपर्यास' तथा ( २ ) 'उनकी एकसाय उत्पत्ति'—ये जो दो तथ्य हैं ये ही हैं विरोधाभास तथा पल्लव ( ? ) ।

इस प्रतिपादन से सिद्ध हुआ कि अतिशयोक्ति के [ पाँच ] भेदों में कमी नहीं की जा सकती ।

कुछ आचार्य [ भामह, आनन्दवर्धन, मम्मट ] सभी अलंकारों को अतिशयोक्ति का ही भेद मानते हैं और कहते हैं कि अतिशयोक्ति के भेद [ केवल पाँच नहीं ] बहुत अधिक संभव हैं । जैसे उपमा भी अतिशयोक्ति का भेद है, क्योंकि उसमें भी कम गुणवाले मुख आदि का अधिक गुण वाले चन्द्र आदि से जो सान्य बतलाया जाता है उसमें अतिशय दृष्टा नहीं है । इसी अतिशय के अभाव में 'शबद गौ के समान'—इत्यादि उपमिति नामक प्रमाण के वाक्य में [ सान्य रहने पर भी उपमान ] अलंकारत्व नहीं रहता । इसीलिए यही देखकर कि अतिशय ही सभी अलंकारों का बीज है कहा गया है—'एक अकेली अतिशयोक्ति ही कान्य का अलंकार मान्य है' । किन्तु यह ठीक नहीं है । अतिशय जो है वह दो प्रकार का होता है ( १ ) सामान्य ( २ ) विशेष । विशेष यथा भेद में अभेद । ये दोनों ही भेद कविप्रतिभा प्रसूत होते हैं । इनमें से प्रथम ही भेद सभी आचार्यों द्वारा अलंकारों का बीज स्वीकार किया गया है । इसे नहीं मानें तो



'गवय गौ सा'—आदि वाक्य में भी अलङ्कारत्व माना जाने लगेगा। केवल इतने से सभी अलङ्कारों को इसी अतिशयोक्ति का भ्रमेद मानना ठीक नहीं, क्योंकि सर्वालङ्कार बीजत्व की यह बात विशेषोक्ति, उल्लेख आदि में भी लागू होंगी, क्योंकि सभी अलङ्कार विशेषोक्तिरूप और उल्लेख रूप होंगे हैं। दूसरा जो विशेषरूप है उसके आधार पर सभी अलङ्कारों की निम्नपत्ति मानने का द्वितीय पक्ष भी अमान्य है, क्योंकि अतिशयोक्ति में मूलभूत विशेषता है अध्यवसित की प्रधानता। यह अन्य अलङ्कारों में नहीं मिलती न मिल ही सकती। क्योंकि उनमें अध्यवसित के प्राधान्य का ज्ञान नहीं होना, इसलिए इन अलङ्कारों में जब अतिशयोक्ति का सामान्य लक्षण लागू नहीं होता तो इन्हें अतिशयोक्ति के भेद मानना समझ ही कैसे है। इस प्रकार अतिशयोक्ति के भेदों की संख्या बहुत अधिक मानने की बात ठिक नहीं पानी।

विमर्श—विमर्शनीकार ने यहाँ अलङ्काररत्नाकर के त्रिन अर्श का खण्डन किया है वे ये हैं—  
 १= [ सू० ] अध्यवमानमतिशयोक्ति [ वृ० ]=इय च भेदेऽभेदः, अभेदे भेदः, सवन्धेऽसम्बन्धः, असम्बन्धे सम्बन्ध इति चतुर्था। कार्यकारणयोर्पौर्वापर्यविध्वंसस्य चतुर्थभेदान्तर्भावत्वात् पञ्चमेति न वाच्यम्, तत्रापि समानकालताद्यसम्बन्धेऽपि ( १ ) विध्वंसपौर्वापर्यसम्बन्धस्य तत्सम्बन्धोपनिबन्धात्, अन्यथा देशान्तरेणासम्बन्धेऽपि तयोपनिबन्धे पक्षस्यापि भेदस्य परिगणनीयतायाम् असङ्गत्तर्निविष्टत्वप्रसङ्गात्, न हि देशकालयोर्पदार्थसम्बन्धे कश्चिद् विशेषः, येनैकत्र भेदत्वेन कथनमन्यत्र तदभाव इति स्यात् । [ अलङ्काररत्नाकर पृ० ५८-५९ ]।

२ = 'अत्र च दद्यपि—निर्देश' कृत ' यह अत्र विमर्शनीकार ने अक्षरशः उद्धृत कर ही दिया है। इन दोनों अर्शों के अर्थ विमर्शनी में ही स्पष्ट हैं। विमर्शनी में प्रथम 'समानकालताद्यभाव' के स्थान पर निर्णयसागरीय प्रति में 'समानन्यायताद्यभाव' छपा है।

### [ सर्वस्य ]

तत्र भेदेऽभेदो यथा—

'कमलमनम्मसि कमले च कुचलये तानि कनकलतिकायाम् ।

सा च सुकुमारसुभगेत्युत्पातपरम्परा केयम् ॥'

अत्र मुख्यादीनां कमलाद्यैर्भेदेऽभेदः ॥

इन [ भेदों ] में [ से प्रथम ] 'भेद में अभेद' [ नामक भेद का उदाहरण ] यथा—[ सुन्दरी को लक्ष्य कर ]—

'अरे कमल [ चेहरा ], सो भी पानी के बिना और कमल के बीच दो नील कमल [ आँसू ] और ये तीनों सोने की छड़ी में, [ सुन्दरी श्री गोरी अगलतिका में ] और वह [ छड़ी ] भी सुकुमार तथा सुन्दर। अरे ये उत्पात पर उत्पात कैसा ।'

—यहाँ मुख आदि का कमल आदि से है तो भेद, किन्तु बतलाया जा रहा है अभेद ।

### विमर्शनी

मुख्यादीनामिति । न तु वास्तवस्य सौन्दर्यस्य कमलाद्यैरिति । न तु कविसमर्पितेन सौन्दर्येण । अत एव च, 'अत्रातिशयाख्यमित्यादिः' तद्विभ्रायेणैवाध्यवसितप्राधान्यम्—  
 इत्यन्तश्चोत्तरकालिको ग्रन्थः स्वमतिजाड्याह्वेनैकैरन्यथा लिखित इति निश्चिनुम । अयं हि ग्रन्थकृतः पश्चात्कैश्चिद्विपश्चिदिः पत्रिकाभिलिखित इत्यवगीता प्रसिद्धिः । ततश्च तैरनवधानेन ग्रन्थान्तरप्रसङ्गादनुपयुक्तत्वाद्वा पत्रिकान्तराद्यमसमञ्जसप्राप्तो ग्रन्थक्षण्डो लिखित

इति । न पुनरेकैव तदैव मुखादीनां कमलाद्यैर्भेदेऽप्यभेद इत्युक्त्वापि 'न तु वदनादीनां कमलादिभिरभेदाध्यवसायो योजनीयः' इत्यादि वचनं पूर्वापरपराहतमस्य वैदुष्यशालिनो ग्रन्थकारस्य संभाव्यम् ।

[ यहाँ अभेद ] मुखादीनाम् = मुख आदि का [ प्रतिपाद्य है ] न कि वास्तविक सौन्दर्य का, कमलाद्यैः = कमल आदि से, न कि कविकल्पित सौन्दर्य से । [ इन दोनों प्रतीकों को मिलाकर यह अर्थ निकाला जाना अभीष्ट है—'अभेद मुख और कमलरूपी दो धर्मों का अभीष्ट है न कि उनके भीतर रहने वाले सौन्दर्यरूपी धर्मों का, मुख में सौन्दर्य वास्तविक है और कमल में कविकल्पित ] । ग्रन्थकार के ऐसा कहने से हमारा निश्चय है कि ग्रन्थ की प्रतिलिपि करने वालों ने भागे का 'अत्र अतिशयाख्यम्' यहाँ से आरम्भ होने वाला और 'तदभिप्रायेणैवाध्यवसितप्राधान्यम्'—यहाँ समाप्त होने वाला ग्रन्थांश यहाँ नासमझी से लिख दिया है । यह प्रसिद्धि भी है कि यह अंश ग्रन्थकार के बाद कुछ विद्वानों ने 'पत्रिकाओं' में लिखा था । इसलिए निश्चित ही यहाँ असंगत यह अर्थलण्ड [ मूलकार की प्रसि से नहीं, अपितु ] अन्य को पत्रावली से यहाँ लिख लिया है । ऐसा इसलिए कि इस ग्रन्थांश का प्रसङ्ग यहाँ नहीं, अन्यत्र है, यहाँ वह अनुपयुक्त है । इस ग्रन्थ का विद्वान् रचयिता एक ही स्थान पर उसी समय तो यह कहे कि 'मुखादि का कमलादि से भेद रहने पर भी अभेद है' और उसी समय इसके विरुद्ध यह भी कहे कि 'मुखादि के साथ कमलादि का अभेदाध्यवसाय नहीं जोड़ना चाहिए'—ऐसा संभव नहीं ।

[ सर्वस्व ]

अभेदे भेदो यथा—

'अण्णं लडहत्तणअं अण्णाविअ कावि वत्तणच्छाया ।

सामा सामण्णपआवइणो रेहच्चिअ ण होइ ॥

अत्र लडहत्त्वादीनामभेदेऽप्यन्यत्वेन भेदः । यथा वा—

'मग्गिअलद्धम्मि वल्लामोडिअचुंविएँ अण्णणा अ उवणमिय ।

एक्कम्मि पिआहरय अण्णोण्णा हौंति रसभेआ ।'

अत्राभिन्नस्यापि प्रियाधररसस्य विषयविभागेन भेदेनोपनिबन्धः ।

संबन्धेऽसंबन्धो यथा—

'लावण्यद्रविणव्ययो न गाणतः क्लेशो महान्स्वीकृतः

स्वच्छन्दं चरतो जनस्य हृदये चिन्ताज्वरो निर्मितः ।

एषापि स्वगुणालुरूपरमणाभावाद् वराकी हता

कोऽर्थश्चेतसि वेधसा विनिहितस्तन्व्यास्तनुं तन्वता ॥'

अत्र लावण्यद्रविणस्य व्ययसंबन्धेऽप्यसंबन्धस्तन्वीलावण्यप्रकर्षप्रतिपादनार्थं निबन्धः । यथा वा—

'अस्याः सर्गविधौ प्रजापतिरभूच्चन्द्रो नु कान्तिप्रदः

शृङ्गारैकरसः स्वयं नु मदनो मासो नु पुष्पाकरः ।

वेदाभ्यासजडः कथं नु विषयव्यावृत्तकौतूहलो

निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं रूपं पुराणो मुनिः ॥'

अथ पुराणप्रजापतिनिर्माणसंबन्धेऽप्यसंबन्ध उक्तः ।

असंबन्धे संबन्धो यथा—

‘पुष्पं प्रवाल्लोपहितं यदि स्यान्मुक्ताफलं वा स्फुटविद्रुमस्थम् ।  
ततोऽनुकुर्याद् विशदस्य तस्यामन्ताम्रौष्ठपर्यस्तरुचः स्मितस्य ॥’

अत्र संभाषनया संबन्धः । यथा चा—

‘दाहोऽम्भःप्रसृतिपचः प्रचयवान् वाष्प- प्रणालोचितः  
श्वासाः प्रेङ्खितदीप्रक्षीपकलिकाः पाण्डिग्नि मग्नं वपुः ।

किं चान्यत्कथयामि रात्रिमखिलां त्वन्मार्गवातायने  
हस्तच्छत्प्रनिरुद्धचन्द्रमहसस्तस्याः स्थितिर्वर्तते ॥’

अत्र दाहादीनामम्भःप्रसृत्याद्यैरसंबन्धेऽपि संबन्धः सिद्धत्वेनोक्तः ।

‘अन्यत् सौन्दर्यमन्यापि च कापि वर्त्तनच्छाया ।

स्यामा सामान्यप्रजापते रेखैव न संभवति ॥’

—[ राम सुन्दरी का ] सौन्दर्य कुठ और ही है और चेहरे को शोभा भी कुठ और ही । यह शोभा सामान्य प्रजापति की रेखा भी नहीं हो सकती ।’

—यहाँ लटमाव अर्थात् सौन्दर्य आदि में कोई भेद नहीं है तथापि ‘कुठ और ही’ कहकर उसमें भेद बतलाया गया है । हमो भेद का दूसरा उदाहरण यथा—

‘भागितलभ्ये बलात्कारचुम्बिते आत्मना चोपनीते ।

एकरिमन्नपि प्रियाथरेऽप्येऽन्ये भवन्ति रसभेदाः ॥’

—‘खोजने या मैंगने से प्राप्त, बलात् चुम्बित अथवा स्वयं उपहृत एक ही प्रियाथर में और और ही रस आता है ।’

—यहाँ प्रिया के अथर का एक ही रस विषयभेद से भिन्नरूप में चित्रित किया गया । संबन्ध में असंबन्ध यथा—

‘छावण्य की संपत्ति का व्यय भी नहीं गिना, महान् बलेश भी उठाया, और स्वेच्छाचारी प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में चिन्ता की आग झुलगा दी । श्वर इस बेचारी की भी अपनी सुन्दरता के अनुरूप वर न देकर नष्ट कर दिया । अन्ततः विधाता का ध्येय क्या था इस सुन्दरी की सुन्दर काया गढ़ने में ।’

—यहाँ छावण्य की संपत्ति के व्यय [ की गणना ] के साथ संबन्ध के रहने पर भी उसका अभाव तन्त्री के छावण्य के प्रकार प्रतिपादन के लिए बतलाया गया । इसी का दूसरा उदाहरण यथा—

‘इस [ उर्वशी ] के निर्माण में प्रजापति तो कान्निप्रद चन्द्र रहा होगा, या एकमात्र शृंगार ही जिसका रस है ऐसा स्वयं काम ही अथवा पुष्पों का आकर मास चैत्र अर्थात् वसन्त ऋतु । वेद को रटने रटते जिसकी मति जब हो गई जिसका कुतूहल विषयों से हट चुका है ऐसा बृद्ध [ नारायण ] मुनि [ न कि ब्रह्मा ] इसका निर्माण कैसे कर सकता है ।’

—यहाँ निर्माण के साथ पुराण प्रजापति [ नारायण ऋषि न कि ब्रह्मा ] का संबन्ध है तब भी उसका अभाव बतलाया गया ।

डॉ० रामचन्द्र द्विवेदी ने यहाँ पुराण मुनि का अर्थ ब्रह्मा किया है जब कि स्वयं संजीविनीकार ने उसका अर्थ ‘पुराणो मुनिर्नरसख’, ऐसा किया है । द्विवेदी ने पाठ भी ‘पुराणो विधि’ ऐसा

मान लिया है जो निर्णयसागर की प्रति में भी पाठान्तर में दिया हुआ है। 'पुराण प्रजापति' = इस वृत्ति का अर्थ भी उन्होंने उल्टा मझा किया है।

असंबन्ध में संबन्ध का उदाहरण यथा—

[ कोई सफेद ] पुष्प यदि कोपलों के बीच खिले या मोती निखरे मूँगों के बीच रखा जाय तो कदाचित् वह उस [ पार्वती ] के लाल ओठों पर खिलरी उज्ज्वल स्मिति का अनुकरण कर सकता है। [ कुमारसंभव-१ ]।

-- यहाँ [ यदि शब्द पाद का ] संभावना द्वारा [ पुष्प और प्रवाल आदि का ] संबन्ध प्रतिपादित किया गया है। [ क्योंकि वृक्ष में जब फूल आते हैं तब उसके पत्ते कोपल नहीं रह जाते। वे हरे होकर ज़रठ पल्लव बन जाते हैं (संजीविनी) शोभाकर ने यहाँ क्रियातिपत्ति नामक अलंकार माना है ]।

इसी भेद का दूसरा उदाहरण यथा—

'दाह इतना है कि पसो [ प्रसृति, अंजलि ] भर पानी तक सुखा देता है। ओम् इतने जमड़ रहे हैं कि यदि कोई भारी नाली = (प्रणाल) हो तो उसमें ठीक से बह सकते हैं। सिस इतनी लम्बी है कि उनमें जलते दीपक की ली हिल उठती है। सारा शरीर पीलेपन में डूब गया है। और क्या कहूँ, आजकल उस [ मालती ] की बैठक तुम्हारे मार्ग की ओर का शरोखा हो बना हुआ है। वहाँ बह पूरी पूरी रातों हाथ के छत्ते से नौदनी का प्रकाश रोकती और बैठी रह जाती है।

-- यहाँ पानी की पसो आदि से दाह आदि का संबन्ध नहीं है असंबन्ध ही है, तथापि संबन्ध सिद्ध रूप से बतलाया गया है।

### विमर्शिनी

उदहत्वादीनामिति, आदिशब्दाद् वर्तनच्छायाया एव ग्रहणम्। तत्रैवाभेदेऽपि भेद-विवक्षणात्। उत्तरार्धे हि संबन्धेऽप्यसंबन्धः। 'लावण्यद्रविणव्ययो न गणितः' इत्यस्य पादत्रयी तन्वीलावण्यप्रकर्षप्रतिपादनार्थमित्येतत्प्रयोजनदर्शनं सर्वोदाहरणोपलक्षणपरम्। संभावनयेति। ननु वस्तुतः। अत एव संबन्धस्यात्रास्तवत्वाद्बुदाहरणान्तरमाह—दाहोऽन्म इत्यादि। वाशब्दः समुच्चयार्थः।

उदहत्वादीनाम् = यहाँ आदि शब्द के द्वारा वर्तनच्छाया = मुखकान्ति का ही ग्रहण करना अमोष्ट है। क्योंकि अभेद होने पर भी भेद की विवक्षा उसी में है। इत पद्य के उत्तरार्ध में तो 'सम्बन्ध में असम्बन्ध' है।

'लावण्यद्रविणव्ययो न गणितः'—इस पद्य के तीनों चरण का 'नायिका के लावण्य का उल्कर्ष बतलाने के लिए है'—यह जो प्रयोजन दिखलाया गया है। यह सभी उदाहरणों पर लागू होता है। इसलिए यहाँ अन्य पद्यों में प्रयोजन की कल्पना स्वयं ही कर लेनी चाहिए। संभावनया = संभावना द्वारा अर्थात् वस्तुतः नहीं। संबन्ध के अवास्तविक होने से ही एक दूसरा भी उदाहरण दिया—'दाहोऽन्म' इत्यादि। यहाँ [ 'यथा वा-का ] 'वा'-शब्द समुच्चयार्थक है।

### [ सर्वस्व ]

कार्यकारणपौर्वापर्यविध्वंसः पौर्वापर्यविपर्ययात्तुल्यकालत्वाद्वा। विपर्ययो यथा—

'हृदयमधिष्ठितमादौ मालत्याः कुसुमचापवाणेन।  
चरमं रमणीवल्लभ ! लोचनविषयं त्वया भजता ॥'

∴ तुल्यकालत्वं यथा—

‘अधिरल्विलोलजलदः कुटजार्जुननीपसुरभिवनवातः ।

अयमायातः कालो हन्त हता पथिकगेहिन्यः ॥’

कार्य और कारण के [ कालगत ] पौर्वापर्य का मितना दो प्रकार से समभव है (१) पौर्वापर्य में विपरीतता आने [ कार्य के कारण से पहले होने ] से और (२) [ कार्य और कारण की उत्पत्तिगत ] समानकालिकता से । दोनों में से विपरीतता का उदाहरण यथा—

‘तुम जब नेत्रों के विषय बने तो हे रमणीबहम ! मालती के हृदय में पुष्प के ही धनुष और पुष्प के ही बाण वाले [ कामदेव ] ने पहिले ही घर कर लिया, तुमने बाद में ।’ समानकालिकता का उदाहरण यथा—

हन्त ! यह काल [ समय = वर्षा ऋतु और मृत्यु ] जिसमें घने मेघ उमड़ते आ रहे हैं और कुरैया [ कुटज ] कोहा [ = अर्जुन ], तथा कदम्ब [ = नीप ] से वनवात सुरभित है, श्वर आया है और [ उसी के साथ ] श्वर पथिकों की घरवाली प्राण छोड़ रही है ।’

### विमर्शिनी

अत्र च कार्यकारणपौर्वापर्यविध्वंस इत्यनेन प्रसिद्धयोः कार्यकारणयोर्विध्वंसो विपर्ययस्तथा पौर्वापर्यस्थादिपश्चात्कालभावित्वेन प्रसिद्धस्य क्रमस्य विध्वंसो व्यत्ययः सहभावो वेद्यपि भेदत्रयं तन्त्रेणोक्तम् । एव च कार्यकारणविध्वंसस्यापि पञ्च प्रकाराः । अवान्तरप्रकारत्वात्पुनरेषां पञ्चप्रकारत्वं नियमगर्भीकारेण पूर्वं श्याख्यातम् । तत्र कार्यकारणयोर्विपर्ययो यथा—

एजत्तं अवअत्तं सकोअअरे मिअंककांतीहं ।

सहस्सपं अरहंदस्स कारण भणइ सरस्स ॥

अग्नेन्दुकान्ते. संकोचे विपर्ययेण शतपत्रस्य कारणत्वमध्यवसितम् । अत्र भेदेऽभेद इत्येवंरूपातिशयोक्तिहेतुत्वेन स्थिता । उत्तरे त्रयं सैव श्लेषशब्दनिबन्धना हेतुः । तथामावोपनिबन्धश्चात्र यत्रस्य लावण्यप्रकर्षप्रतिपादनाथम् । क्रमविपर्ययो यथा—‘कुपितस्य प्रथममन्धकारी भवति विद्या ततो भ्रुकुटिः, आशुविन्द्रियाणि रागः समास्कन्दति, चरमं चक्षुः, आरम्भे तपो गलति पश्चात्स्वेदसलिलम्, पूर्वमपदाः स्फुरत्यनन्तरमधर’ इति । अत्र कोपकार्ये विद्याभ्रुकुट्यादीनामन्धकारीभवनादौ क्रमं निगीर्य तद्विपर्ययोऽध्यवसितः । तस्यैव सहभावो यथा—

‘रहभवगाहि परिअणो मसणं मणिमेहल।णिअंवाहिं ।

लज्जा हिअआहि समोसरति सम ससिमुहीणम् ॥’

अत्र परिजनादीनामपसरणे क्रमिकत्वेऽपि समकालत्वमध्यवसितम् । पूर्वमेव सर्वेषामेव भेदानां लोकासम्भवद्विपर्यय दर्शयितुमाह—

यहाँ ‘कार्यकारण-पौर्वापर्य-विध्वंस’—इसी एक ही शब्द से—

( १ ) कार्य और कारणरूप में प्रसिद्ध पदार्थों में [ कार्यकारणभाव का ] विध्वंस अर्थात् उलटाव = कार्य का कारण बनना और कारण का कार्य, [ = अर्थात् कार्यकारणविध्वंस ] ।

( २ ) कार्य और कारण क्रमशः बाद में और पहले होने का जो प्रसिद्ध पौर्वापर्य [ कारण की उत्पत्ति पहले होने और कार्य की बाद में का ] क्रम है उसका विध्वंस = उलटा दिया जाना अथवा—

( ३ ) दोनों की सहोत्पत्ति—

—ये तीनों भेद बतला दिए गए हैं ।

इसके अतिरिक्त यह जो कार्यकारण के पौर्वापर्य के विपर्यय का भेद है इसमें [ अतिशयोक्ति के भेद में अभेद आदि ] पाँचों भेद भी आ जाते हैं किन्तु ये भेद अवान्तर भेद हैं [ अर्थात् प्रभेद हैं ] इसलिए [ अतिशयोक्ति के ] इन सब [ भेदों ] के पाँच पाँच भेद अतिशयोक्ति के नियम की दृष्टि में रखकर [ उपप्रेक्षाप्रकरण के अन्त में ] पहिले ही [ हमने ] स्पष्ट कर दिए हैं । इन [ तीनों ] भेदों में से [ प्रथम भेद ] कार्यकारण के विपर्यय = उलटाव का उदाहरण, यथा—

‘स्तावदवदातं संकोचकरं घृगाङ्कान्तीनाम् ।

सहस्रपत्रकमरविन्दस्य कारणं भवति सरसः ॥ १ ॥

—‘तालाव से निकले अरविन्द की इतनी उज्ज्वल हजार पँखुद्विपं चन्द्रमा की कान्ति में संकोच का कारण कही जा रही है ।’

—यहाँ चन्द्रमा की कान्ति के प्रति उलटे कमल को संकोच का कारण बतला दिया गया है [ जब कि चन्द्रकान्ति ही कमलसंकोच का कारण मानी जाती है ] । उसमें कारण है अतिशयोक्ति का प्रथम भेद ‘भेद में अभेद’ । उत्तरार्ध में भी वही शब्द श्लेष-द्वारा निष्पन्न होकर कारण बना है । इस प्रकार के वर्णन का उद्देश्य है नायिका के चेहरे की लुनार में प्रकर्ष जतलाना ।

क्रम के उलटने का उदाहरण यथा—

‘जो क्रुद्ध होता है उसकी विधा पहिले मलिन होती है झुकुटी बाद में, राग उसकी शन्द्रियों की पहिले दबोचता है नेत्रों को बाद में, उसका तप पहिले गिरता है पसीना बाद में, अपयश पहले फरफराता है अधर बाद में ।’

—यहाँ विषाभ्रुकुटि आदि का मलिन होना कोपज कार्य है तथापि उनके [ उत्पत्ति- ] क्रम में विपरीतता अभ्यवसित की गई है ।

कार्य-कारण-पौर्वापर्य-ध्वंस में सहभाव यथा—

‘रतिभवनेभ्यः परिजनो मसृणं मणिमेखला नितम्बेभ्यः ।

लज्जा हृदयेभ्यः सममपसरन्ति समं शशिसुखीनाम् ॥’

—‘चन्द्रमुखी सुन्दरियों के रतिभवनों से परिजन, नितम्बों से मणिमेखला और हृदयों से लज्जा एकसाथ चुपके से खिसक रही हैं ।’

—यहाँ परिजन आदि का निःसरण = खिसकना होता तो एक के बाद एक करके है किन्तु उसमें अध्यवसित किया गया है समकालत्व ।

अब इन सब भेदों के विषय में बतलाते हैं कि ये लोकभूमिका पर संभव नहीं हैं, [ केवल काव्य या कविकर्म की भूमिका पर ही संभव हैं ]—

[ सर्वस्व ]

एषु पञ्चसु भेदेषु भेदेऽभेदादिवचनं लोकातिकान्तगोचरम् । अतश्चात्रातिशयाख्यं यत्फलं प्रयोजकत्वान्निमित्तं तत्राभेदाध्यवसायः । तथा हि ‘कमलमनम्भसि’ इत्यादौ चदनादीनां कमलाद्यैर्भेदेऽपि वास्तवं सौन्दर्यं कश्चिसमर्पितेन सौन्दर्येणाभेदेनाध्यवसितं भेदेऽभेदवचनस्य निमित्तम् । तत्र च सिद्धोऽध्यवसाय इत्यध्यवसितप्राधान्यम् । न तु चदनादीनां कमलादिभिरभेदाध्यवसायो योजनीयः, अभेदे भेद इत्यादिषु प्रकारेष्वन्याप्तेः । तत्र

हि 'अणं लडहत्तणं' इत्यादी सातिशयं लडहत्वं निमित्तभूतमभेदेनाध्य-  
वसितम् । एवमन्यत्रापि द्वेषम् । तदभिप्रायेणैवाध्यवसितप्राधान्यम् । प्रका-  
रपञ्चकमध्यात्कार्यकारणभावेन यः प्रकारः स कार्यकारणताश्रयात्कार-  
प्रस्तावे प्रपञ्चार्यं लक्षयिष्यते ।

इन पाँचों भेदों में 'भेद में अभेद' आदि कवन लोकोत्तर [ कविप्रतिभा की ] भूमिका पर  
निर्भर रहता है । और इसी कारण इनमें जो—'अतिशय' नामक फल है जो [ अतिशयोक्ति का ]  
निष्पादक होने से निमित्त भी है उसमें अभेदाध्यवसाय का प्रतिष्ठा माना गई । उदाहरणार्थ—  
'कमल बिना पानी के'—आदि स्थलों में [ नायिका ]—मुख आदि का कमल आदि से भेद रहने  
पर भी वास्तविक सौन्दर्य को जो कविसमर्पित सौन्दर्य से अभिन्न प्रतिपादन किया गया वह  
निमित्त बना [ इस विधा को ] 'भेद में अभेद' [—विधा ] नाम देने का । और यहाँ जो  
अध्यवसाय हुआ वह सिद्ध अध्यवसाय है । इसलिए प्रधानता हुई अध्यवसित [ विषयो, कमलादि ]  
की । यहाँ 'मुख आदि से कमल आदि का अभेदाध्यवसाय है' ऐसी योजना नहीं करना चाहिए,  
क्योंकि बैसा करने पर 'अभेद में भेद—आदि प्रकारों में लक्षण नहीं जायगा । क्योंकि उनमें 'बुढ़  
और ही है सौन्दर्य' इत्यादि में अनिश्चययुक्त सौन्दर्य ही निमित्त होकर अध्यवसित हुआ है और  
इसी प्रकार अन्य भेदों में भी । उसीके अभिप्राय से कहा कि 'प्रधानता अध्यवमिन का रहती है' ।

पाँचों भेदों में जो भेद कार्यकारणभावमूलक है कार्यकारणभावमूलक अल्कारों के प्रकरण में  
उसका लक्षण एक बार और बतलाया जायगा किन्तु वह केवल विस्तार या स्पष्टीकरण की  
दृष्टि से ।

### विमर्शिनी

एवमित्यादि । एष्विति विषयसप्तमी । एष चावयवनिर्देशः । लोकातिक्रान्तेति । कवि-  
प्रतिभानिमित्तमेव सातिशय वस्तुषो विषय इत्यर्थः । अत्रेति भेदपञ्चके । चक्षब्दः प्रमे-  
यान्तरसमुच्चयार्थः । फलमिति । तस्यैव प्रतिपादादियमितत्वात् । तत्रेति । वा। तत्रस्य  
सौन्दर्यस्य कविसमर्पितेन सौन्दर्येणाभेदवचने । ननु चात्र वदनादीनां कमलाद्यध्यव-  
सायः प्रतीयत इति कथमेतदुक्तमित्याशङ्क्याह—न त्वित्यादि । कुतश्च तेष्वप्याप्तिरित्या-  
शङ्क्याह—तत्र हीत्यादि । कमलमनभसीत्यत्र हि यदि वदनादीनां धर्मिणासभेदाध्यव-  
साययोजनं क्रियते तत्रस्य धर्मिगतत्वेनैवेष्टेरिह धर्माणां न स्यादप्याप्तिः । अतश्च पूर्वत्र  
धर्माणामेवाध्यवसायो धोलनीयो येन सर्वत्रैक एव पक्षः स्यादिति तात्पर्यार्थः । उपलभ्यं  
चैतत् । यावता द्वाध्यवसितप्राधान्यमस्या लक्षणम् । तच्च धर्मिणामस्तु धर्माणां वेति को  
विशेषो येनाप्याप्तिः स्यात् । प्रत्युत धर्मयोरभेदाध्यवसायान्युपगमे उपमादीनामप्यति-  
शयोक्तिप्रसङ्गः स्यात् । तत्रापि धर्माणामेव भेदेऽभेदविवक्षणात् । एव च विज्ञानीयत्वेन  
भेदे धर्मयोरप्याप्याप्तिः प्रसज्यत इत्यलमसङ्गतग्रन्थार्थोद्दीरणेन । प्रपञ्चार्थमिति । न तु  
निर्णयार्थम् । इहैव तस्य निश्चितत्वात् । प्रपञ्चश्च तत्रैव दर्शयिष्यते ।

पुपु = इनमें यहाँ सप्तमी विषय अर्थ में है । और [ इनमें के ] 'इत' का अर्थ है अवयव ।  
लोकातिक्रान्त = कविप्रतिभानिमित्त एतएव अतिशय से युक्त वस्तु ही इन भेदों का विषय है ।  
अत्र = इनमें अर्थात् पाँचों भेदों में । 'च = और प्रयोजन है—अन्य प्रमेय [ अर्थ ] का सप्रह ।  
फलम्—क्योंकि फल ही का प्रतिपादन अभीष्ट रहता है । 'तत्र—यहाँ' अर्थात् वास्तविक सौन्दर्य  
को कविसमर्पित सौन्दर्य के साथ अभेद के कथन में ।—शंका होती है कि "यहाँ प्रतीति होती है

सुख आदि पर कमल आदि के अध्यवसाय की और कहा जा रहा है कि 'प्रतीत होता है अध्यव-सित', यह कैसे'—इसके उत्तर में लिखते हैं—तत्र हि । तात्पर्य यह कि 'कमल बिना पानी के'—यहाँ यदि मुखादि धर्मों का अमेदाध्यवसाय किया जाय तो वह केवल धर्मियों में ही रहेगा, धर्मों में नहीं होगा इसलिए अव्याप्ति होगी ? इस कारण पहिले अमेदाध्यवसाय धर्मों में ही मान लिया जाना उचित है जिससे सभी भेदों में एक ही योजना रहे ।

[ कुछ लोगों का कहना है कि ] यह तो उपलक्ष्यमात्र है क्योंकि इस अतिशयोक्ति का लक्षण है 'अध्यवसित की प्रधानता, वह अध्यवसान धर्मों का हो अथवा धर्म का, कोई अन्तर नहीं पड़ता इसलिए अव्याप्ति की बात नहीं बनती । बल्कि धर्मों में अमेदाध्यवसाय मानने पर उपमा में अतिशयोक्तित्व जाने का भय रहेगा, क्योंकि वहाँ भी धर्मों में भेद के रहते हुए भी अभेद की विवक्षा रहती है ।' [ किन्तु ] ऐसे तो धर्मों में लक्षण लागू न होगा क्योंकि उनमें भी भेद रहता है क्योंकि वे परस्पर में विजातीय होते हैं । इसलिए उक्त क्रम से [ 'उपलक्ष्य' कहकर ] जो मूल ग्रन्थ की व्याख्या की गई है वह असङ्गत है, उसकी चर्चा से विराम लेना ही अच्छा । [ यह कदाचित् अलंकाररत्नाकरकार के 'अध्यवसाने च सर्वत्र'—से लेकर 'निविपयत्वप्रसंगादित्यलं बहुना' यहाँ तक पृष्ठ ५९ [ U. B. A. Poona १९४२ ] पर विद्यमान विवेचन का सांकेतिक खण्डन है ।

प्रपञ्चार्थ न कि निर्णयार्थ । क्योंकि निर्णय तो यहीं किया जा चुका है । प्रपंच [ विस्तार मात्र शेष है सो वह आगे [ विशेषोक्ति और असंगति के बीच ] बतला दिया जायेगा ।

विमर्शः—अतिशयोक्ति का पूर्वोक्तिदास =

भामह = 'निमित्ततो वचो यत्तु लोकातिक्रान्तगोचरम् ।

मन्यन्तेऽतिशयोक्तिं तामलङ्कारतया यथा ॥

स्वप्नुच्छब्दविहारिण्या चन्द्रभासा तिरोहिता ।

अन्वमीयन्त मृद्गालिवाचा सप्तच्छदद्रुमाः ॥

अपां यदि त्वक् शिथिला च्युता स्यात् फणिनामिव ।

तदा शुक्लांशुकानि स्युरङ्गेष्वन्मसि योषिताम् ॥

इत्येवमादिरुदिता गुणातिशययोगतः ।

सर्वैवातिशयोक्तिरतु तर्कैव तां यथागमम् ॥

सेपा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते ।

यत्नोऽर्थां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनयाविना ॥' [ २।८१-८५ ]

—किसी निमित्त से कथित जो लोकोत्तर [ २।८१-८५ ] उक्ति वहाँ अतिशयोक्ति और उसी को अलंकार मानते हैं [ ८१ ] उदाहरण [ १ ] = अपने पुष्पों की कान्ति भुराने वाली चाँदनी में छिपे सप्तपर्ण [ छितवन ] वृक्ष मौलों की गूँज से अनुमानित किए गए [ ८२ ] और [ २ ] यदि पानी से कोई क्षीवी त्वचा निकले जैसे सापों से निकलती है [ केंचुल ] तो उससे बलक्रीडा निरत सुन्दरियों के आँग पर [ पारदर्शी ] आवरण बख बनावया जा सकता [ ८३ ] [ जिससे अंग छिपे नहीं, स्मरणीय कालिदास का 'संदष्टवल्लेष्वलानितम्बेणु' १६ सर्ग ] ।

—इन और ऐसे ही अन्य स्थलों में अतिशयोक्ति मानी जाती है । यहाँ गुणों में अतिशय जो ला दिया जाता है [ ८४ ] । यह जो अतिशयोक्ति है यही पूरी की पूरी वक्रोक्ति है । सामान्य अर्थ में इसी के द्वारा विभावन—[ रसनीयता, चमत्कार ]—शक्ति आती है । प्रत्येक कवि को इस दिशा में सचेष्ट रहना चाहिए । इसके बिना कोई भी अलंकार निष्पन्न नहीं होता [ ८५ ] ॥ अलंकारसर्वस्वकारने 'लोकातिक्रान्तगोचर'—शब्द और निमित्त शब्द भामह से ही लिए हैं ।'



मामह का प्रथम उदाहरण मीलित या सामान्य का उदाहरण हो सकता और द्वितीय उत्तरार्द्धकार का । किन्तु द्वितीय में 'यदि'—से निष्पन्न होनेवाली अतिशयोक्ति भी हो सकती है ।

वामन = उत्प्रेक्षैवातिशयोक्तिरिति वैचित्, तन्निरासार्थमाह—

[ सू० ] 'समाख्य-धर्म-तदुत्कर्षकत्पनातिशयोक्ति ।

[ वृ० ] समाख्यस्य धर्मस्य तदुत्कर्षस्य च कत्पनातिशयोक्तिः । यथा—

'उभौ यदि व्योम्नि पृथक् प्रवाहावाकाशगङ्गापयसः पतेताम् ।

तेनोपमोयेत तमालनीलमामुकमुकालतमस्य वशः ॥ माघ० ॥

यथा वा—

'मलयजरसविलुप्ततनवो' ।

—कुछ आचार्यों का कहना है कि 'उत्प्रेक्षा ही अतिशयोक्ति है।' हमका निराकरण करने के लिए [ उत्प्रेक्षानिरूपण के तुरन्त पश्चात् अतिशयोक्ति का लक्षण दिया— ]

[ सूत्र ] समाख्य धर्म और उसके उत्कर्ष की कत्पना अतिशयोक्ति ।

[ वृत्ति ] यथा = 'मौक्तिक की माला की दो लड्डियाँ से विभूषित भगवान् कृष्ण के तमाल नील वश की तुलना आकाश से की जा सकती है, यदि उसमें आकाशगंगा के जल के दो पृथक् प्रवाह ऊपर से नीचे की ओर बहने लयें।' और—

'श्वेत प्रसाधनो से युक्त श्वेतामिसारिकार्थे चाँदनी में अलग समझ नहीं पड़ती अतः निम्न होकर वे अपने प्रिय के स्थान तक पहुँच जाती हैं ।

निश्चित ही दोनों उदाहरण मामह के उदाहरणों के समानार्थक उदाहरण हैं ।

उद्धृत = 'निमित्ततो वचो यत्तु लोकातिक्रान्तगोचरम् ।

मन्यन्तेऽतिशयोक्तिं तामलकारतया ध्रुवा ॥ २।११ ॥

भेदेऽन्यत्वमन्यत्र नानात्वं यत्र बध्यते ।

तथा समाख्यमानार्थनिबन्धेऽतिशयोक्तिगो ॥ २।१२ ॥

कार्यकारणयोर्दत्र पौर्वापर्यविपर्ययात् ।

आशुभावं समाख्यं बध्यते सोऽपि पूर्ववत् ॥ २।१३ ॥

उदाहरणानि—

तपस्तेजस्पुरितया निजलावण्यसंपदा ।

कृशामप्यकृशामेव दूरयमानामसशयम् ॥

अचिन्तयच्च भगवानहो नु रमणीयता ।

तपसात्याः कृशान्यत्वं कौमाराद् येन लक्ष्यते ॥

पतेद् यदि शशियौतच्छटा पद्मे विक्रासिनि ।

मुक्तफलाक्षमालायाः करेऽस्याः स्वात् तदोपमा ॥

मन्ये च निपतन्त्यस्याः कटाक्षा दिशु पृष्ठतः ।

प्रायेणाग्रे तु गच्छन्ति स्मरवाणपरम्पराः ॥

—[ भगवती पार्वती ] तप से उत्पन्न तेज से चमचमानो अपनी लावण्यसंपत्ति से कृश होने पर मैं निश्चित अकृश लगती थीं ।

—[ पार्वतीजी को देखकर ] भगवान् ने सोचा थोड़ा कितनी अद्भुत है इसका सौन्दर्य । तप ने इसे कुमारी से मित्र [ युवती ] बना दिया है ।

—[ पार्वतीजी के ] हाथ में रखी मुक्तानिमित्त जयमाला की उगमा तब हो सकती है जब चन्द्रमा को कान्ति कमल में पड़े ।

— [ कदाचिद् पार्वती जी का ही वर्णन ] और मुझे कुछ पेंसा लगता है कि इसके कदाश्च वाद में गिरते हैं काम के बाणों का ताँता प्रायः पहिले ही रुग जाता है ।

इनमें प्रथम उदाहरण भेद में अभेद का, द्वितीय अभेद में भेद का, तीसरा असम्बन्ध में संबन्ध का तथा चौथा कार्यकारण के पौर्वापर्य के उलटने का उदाहरण है ।

इससे स्पष्ट है रुद्र ने 'संबन्ध में असम्बन्ध' नामक भेद नहीं माना है । किन्तु कार्यकारण-पौर्वापर्य-विपर्यय को अवश्य स्वतन्त्रभेद बतलाया है । यह भी स्पष्ट ही है रुद्र का आधार भामह का ही अतिशयोक्ति विवेचन है ।

रुद्र = रुद्र ने अतिशयोक्ति नाम से एक कोई स्वतन्त्र अलंकार नहीं बतलाया । अलंकारों के एक वर्ग को अतिशय नाम दिया है ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार एक वर्ग को वास्तव और एक वर्ग को औपम्य । अतिशयवर्ग में उन्होंने ( १ ) पूर्व ( २ ) विशेष ( ३ ) उत्प्रेक्षा ( ४ ) विभावना ( ५ ) तद्गुण ( ६ ) अधिक ( ७ ) विरोध ( ८ ) विपम ( ९ ) असंगति ( १० ) पिहित ( ११ ) व्याघात तथा ( १२ ) अहेतु ये १२ अलंकार माने हैं । इनमें प्रथम 'पूर्व' अलंकार कारण-कार्य-विपर्यय नामक भेद का ही दूसरा नाम है ।

उसका लक्षण—

‘यत्रातिप्रबलतया विवक्ष्यते पूर्वमेव जन्यस्य ।

प्रादुर्भावः पश्चाज्जनकस्य तु तद् भवेत् पूर्वम् ॥’

—जहाँ अतिप्रबलता अर्थात् कारण के द्वारा बिना व्यापार के ही कार्योत्पत्ति बतलाने की इच्छा से कार्य की उत्पत्ति कारण की उत्पत्ति से पहिले ही बतला दी जाती है वह है पूर्वम् । यथा—

‘जनमसुलभमभिलषतामादौ दन्द्यते मनो यूनाम् ।

गुरुरनिवारप्रसरः पश्चान्मदनानलो ज्वलति ॥’

—असुलभ व्यक्ति को चाहने वाले युवकों का मन पहिले ही जलता है भयंकर और अप्रश-मनीय भदनानल वाद में सुलगता है । अतिशयसामान्य का लक्षण रुद्र ने इस प्रकार दिया है—

‘यत्रार्थधर्मनियमः प्रसिद्धिवाधाद् विपर्ययं याति ।

कश्चित् क्वचिदतिलोकं स स्वादित्यतिशयस्तस्य ॥ ११ ॥’

—भाव यह कि जहाँ पदार्थ और उसके धर्म की प्राकृतिक व्यवस्था प्रसिद्धि के विरुद्ध उलटी प्रतिपादित की जाती है वहाँ उसकी वही अतिलोकता अर्थात् लोकातीतता अतिशय कहलाने लगती है ।

ठीक ऐसा ही एक अन्य 'पूर्व' नामक अलंकार रुद्र ने औपम्यवर्ग में भी बिनाया है —

‘यत्रैकविधावर्थी जायते यौ तयोरपूर्वस्य ।

अभिधानं प्राग्भवतः सतोऽभिधीयेत तत् पूर्वम् ॥ ८।१७ ॥

—अर्थात् उपमानोपमेय किसी एक कार्य से युक्त हो रहे हैं उनमें से उपमेयभूत पदार्थ भले ही उपमानसदृश वर्णित कार्य से युक्त साथ साथ या बाद में हो रहा हो परन्तु यदि उसे उपमान की अपेक्षा पहिले ही वैसे कार्य से युक्त बतला दिया जाए तो वहाँ पूर्व नामक अलंकार होता है । यथा—

‘काले जलदकुलाकुलदशदिशि पूर्वं वियोगिनीवदनम् ।

गलद्विरलसखिलमरं पश्चादुपजायते गगनम् ॥ ८।१७।’

—मेघकुलों से दशों दिशाओं को आकुल करने वाला समय अर्थात् वर्षाऋतु जब आती है तो वियोगिनीवदन अचिरजलस्रावी पहिले हो जाता है, आकाश बाद में ॥’

—उपर्युक्त उदाहरण तथा इस लक्षण से यह तो स्पष्ट होता है कि रुद्रट के मन में अतिशयोक्ति का पूर्वाचार्य प्रतिपादित रूप है किन्तु वे मामूह या उद्भट के अनुसार इनको स्वतन्त्र अलङ्कार नहीं मानते ।

यहाँ एक यह भी ध्यान देने योग्य लक्ष्य है कि वामनाचार्य ने उरप्रेक्षा को अतिशयोक्ति से अभिन्न मानने वालों का स्पष्ट खण्डन किया है और उनके परवर्ती रुद्रट स्पष्ट रूप से बैसा मानते हैं । निश्चित ही वामन के पूर्व अलङ्कार-संप्रदाय की कोई और भी कड़ी रही होगी जो अब अनुपलब्ध है किन्तु रुद्रट को उपलब्ध थी ।

मम्मट = 'निगीर्वाण्यवसानं तु प्रकृतस्य परेण यत् ।

प्रस्तुतस्य यदन्यत्र यणर्षोक्तौ च कल्पनम् ॥

कार्यकारणपौर्यश्च पौर्यपर्यविपर्यय ।

विश्लेषातिशयोक्तिः सा ।'

—( १ ) उपमान द्वारा उपमेय का निगरण, ( २ ) प्रस्तुत की अन्यरूपता, ( ३ ) यदि शब्द के अर्थ की उक्ति द्वारा अममावितार्थ की कल्पना तथा ( ४ ) कार्य और कारण के पौर्यपर्य का विपर्यय यह सब अतिशयोक्ति अलङ्कार है । हममें से मम्मट ने प्रथम का उदाहरण 'कमल-मनम्मसि', द्वितीय का 'अण्ण लडइत्तणअम्' तथा चतुर्थ का 'दुदयमधिष्ठिनम्' ही दिया है ।  
तृतीय का अवश्य—

'राकायाममृताशोश्चेदकलङ्कं भवेद् वपु ।

तस्या मुखं तदा साम्यपराभवमवाप्नुयात् ॥'

—पूणिमा में चन्द्रबिम्ब यदि कलकरहित हो तो उसका मुख साम्य का तिरस्कार ठठा सकता है, यह नया उदाहरण दिया है ।

. हम प्रकार मम्मट ने भी अतिशयोक्ति के चार ही भेद माने हैं । सबन्ध में असबन्ध नामक भेद उद्भट के ही समान उनके विवेचन में नहीं मिलता ।

शोभाकर = ने अतिशयोक्ति के यद्यर्थ अर्थात् असबन्ध में सबन्ध भेद के लिए-यद्यर्थात्काव-संभाव्यमग्नस्य क्रियातिपत्ति = 'यदि' आदि शब्दों के अर्थ के द्वारा जहाँ अर्धभाष्यमान पदार्थ की कल्पना की जाय वह क्रियातिपत्ति,—इस प्रकार क्रियातिपत्ति नामक एक स्वतन्त्र अलङ्कार माना है और उसका उदाहरण 'पुष्प प्रवालौषहितम्' पद्य ही दिया है । उनका अतिशयोक्ति सम्बन्धी शेष विवेचन पहले आ ही चुका है । इन्होंने एक अतिशयनामक अलङ्कार और माना है, किन्तु उसका अतिशयोक्ति से कोई संबन्ध नहीं है ।

अप्यप्यदीक्षित = परवर्ती अप्यप्यदीक्षित कुवलयानन्द में तो ( १ ) रूपकातिशयोक्ति ( २ ) सापेक्षवातिशयोक्ति ( ३ ) भेदकातिशयोक्ति ( ४ ) सम्बन्धातिशयोक्ति ( ५ ) असम्बन्धातिशयोक्ति ( ६ ) अक्रमातिशयोक्ति ( ७ ) चपलातिशयोक्ति तथा अत्यन्नातिशयोक्ति नामक सात भेद मानते और अष्टिम तान भेदों में कार्यकारणपौर्यविपर्ययमूलक अतिशयोक्ति भी स्वीकार करते हैं, साथ ही अपनी ओर से स्वतन्त्र अक्षत उदाहरण भी देने हैं, किन्तु चित्रमीमांसा में वे केवल चार भेद ही प्रतिपादित करते हैं भेदेऽभेदः, अमेदेऽभेदः, सम्बन्धेऽसम्बन्धः और असम्बन्धे सम्बन्धः । कार्यकारणपौर्यविपर्यय को वे छोड़ देने हैं । चित्रमीमांसा में उनसे अतिशयोक्ति का लक्षण इस प्रकार किया है—

'विषयस्यानुपादानाद् विषय्युपनिबध्यते ।

यत्र सातिशयोक्तिः स्याद् कविप्रौढोक्तिनिर्मिता ॥'

पण्डितराज जगन्नाथः—

लक्षण—‘विषयिणा विषयस्य निगरणमतिशयः, तस्योक्तिः । अर्थात्—विषयी द्वारा विषयका निगरण होता है अतिशय और उसको उक्ति = अतिशयोक्ति ।

पण्डितराज ने जो उदाहरण दिए हैं उन में उन्होंने सर्वत्वकार द्वारा प्रतिपादित पाँचों भेद नामोहोखपूर्वक धटाए हैं । और अन्त में उन्होंने इन सभी भेदों के उक्त लक्षण के समन्वय का प्रयत्न किया है । एतदर्थ उन्होंने प्राचीनों के अनुसार ‘एतद्भेदपञ्चकान्यतमत्वम्’ = ‘इन पाँचों भेदों में से कोई’—यह सामान्य लक्षण किया है । किन्तु उन्होंने नव्यों के अनुसार केवल प्रथम = निगरण मूलक भेद को ही अतिशयोक्ति बतलाया है और अन्य भेदों को अन्य कोई अलंकार, किन्तु उन अलंकारों का नाम नहीं बतलाया । ‘भेद में अभेद का, अभेद में भेदका, सम्बन्ध में असम्बन्धका, असम्बन्ध में सम्बन्ध का और कार्यकारण के क्रमविपर्यय में वास्तविक क्रम का निगरण’ माना जा सकता है, किन्तु यह निगरण वैसा निगरण नहीं होगा जैसा ‘कमलमनन्मस्ति’ आदि में विषयी द्वारा विषय के निगरण में होता है जहाँ विषय का ज्ञान उसके अपने धर्म के साथ नहीं होता । [ उसमें विषयी के धर्म का ही ज्ञान होता है ] क्योंकि प्रथम भेद के अतिरिक्त अन्य सब भेदों में विषय का ज्ञान भी होता ही रहता है । इसी अभिप्राय से पण्डितराज ने यह पंक्ति लिखी है—‘ननु प्रस्तुतान्यत्वभेदे भेदेनाभेदस्य, असम्बन्धे सम्बन्ध इति भेदे संवन्धेना-सम्बन्धस्य, सम्बन्धेऽसम्बन्ध इति भेदे असंवन्धेन सम्बन्धस्य कार्यकारणपूर्वापर्यविपर्यये च तेनै-वानुपूर्वस्य च निगरणं रत्नाकार-विमर्शिनीकारायुक्तक्रमेण संभवतीति चेत् न, अन्यत्वादिभिः [ सार्धम् ] अनन्यवस्तु-प्रतीतिरेव चमत्कारित्वम्, न त्वनन्यत्वादिभिः [ केवलैः ], तेषाम-नुमवासङ्गतेः ।

पूर्वाक्त ‘अन्यतमत्व’ द्वारा संभव निर्वाह पर भी वे कटाक्ष करते हुए नव्यों की ओर से लिखते हैं—‘न चान्यतमत्वमशुगठमिति शक्यते वक्तुम्, विच्छिन्निवैलक्षण्ये सति अन्यतमत्वस्या-प्रयोजकत्वात् ।’—‘अन्यतमत्व पाँचों भेदों में लागू हो जाता है किन्तु वह पाँचों भेदों को एक अलंकार सिद्ध नहीं करा पाता, क्योंकि पाँचों में जो चमत्कार है उस में अन्तर है ।

पण्डितराज के इस विवेचन की जड़ में जो दुर्बलता है वह वहाँ पकड़ में आ जाती है जहाँ वे द्वितीय से लेकर पाँचवे भेद तक के चार भेदों को अलंकारान्तर तो करार देते हैं किन्तु उनका नाम नहीं ले पाते । सच यह है कि इन सब भेदों में सामान्य धर्म है ‘लोकातिक्रान्तगोचरता’ । और इते पूर्ववर्ती सभी आचार्यों ने स्वीकार किया है । यहाँ इसी से चमत्कार होता है इसलिए अन्य अलंकारों में इसके रहने पर भी उन्हें अतिशयोक्ति नहीं कहा जाता, क्योंकि वहाँ चमत्कार के दूसरे दूसरे कारण रहते हैं ।

पण्डितराज ने ‘सम्बन्ध में असंवन्ध और ‘असम्बन्ध में सबन्ध’ दोनों भेदों को कुछ आचार्यों द्वारा अनभिमत बतलाया है । ये आचार्य कौन हैं यह एक गवेषणीय तथ्य है । संजीविनीकार ने अतिशयोक्ति विवेचन का सारसंग्रह इस प्रकार किया है—

‘अभेदाध्यवसायो हि फलेऽतिशयनामनि । न पुनः फलिनोस्तत्राभेदे भेदो न सिद्ध्यति ॥’

‘अभेदाध्यवसाय अतिशयनामक फल में होता है, फलवानों में नहीं क्योंकि इस पक्ष में ‘अभेद में भेद’ की सिद्धि नहीं हो पाती ।’

### विमर्शिनी

पुतदुपसंहरण्यद्वतारयति—

अब इस [ प्रकरण ] का उपसंहार करते हुए अन्य [ प्रकरण ] का आरम्भ करते हैं—

[ सर्वस्य ]

एवमध्यवसायाश्रयमलंकारद्वयमुक्त्वा गम्यमानौपम्याश्रया अलंकारा इदानीमुच्यन्ते । तत्रापि पदार्थवाक्यार्थगतत्वेन तेषां द्वैविध्ये पदार्थगतम-  
लंकारद्वयं क्रमेणोच्यते—

[ सू० २४ ] औपम्यस्य गम्यत्वे पदार्थगतत्वेन प्रस्तुता-  
नामप्रस्तुतानां वा समानधर्माभिसंबन्धे तुल्ययोगिता ।

इवाद्यप्रयोगे ह्यौपम्यस्य गम्यत्वम् । तत्र प्राकरणिकानामप्राकरणिकानां  
वार्थानां समानगुणक्रियासंबन्धे अन्वितार्था तुल्ययोगिता । यथा—

‘सज्जातपत्रप्रकाराञ्जितानि समुद्रद्वन्ति स्फुटपाटलत्वम् ।

विकस्वराप्यर्ककरप्रभावाद्दिनानि पद्मानि च वृद्धिमीयुः ॥’

अत्र ऋतुवर्णनस्य प्रकान्तत्वाद्दिनानां पद्मानां च प्रकृतत्वाद् वृद्धिगमनं  
क्रिया । एवं गुणेऽपि । यथा—

‘योगपट्टे जटाजालं तारयो त्वह्मृगाजिनम् ।

उचितानि तवाङ्गेषु यद्यमूनि तदुच्यताम् ॥

उचितत्वं गुणः । अप्राकरणिकानां यथा—

‘घावस्वदध्वपृतनापतितं मुखेऽस्य

निनिद्रनीलनलिनच्छदकोमलाङ्गया ।

भग्नस्य गूर्जरनृपस्य रजः कयापि

तन्व्या तवासिलतया च यशः प्रमृष्टम् ॥’

अत्र गूर्जरं प्रति नायिकासिलतयोत्प्राकरणिकत्वे मार्जनं क्रिया । गुणो  
यथा—

‘त्वदङ्गमार्दवं द्रष्टुः कस्य चित्ते न भासते ।

मालतीशशभृल्लेखाकदलीनां कठोरता ॥

कठोरत्वं गुणः । एवमेवा चतुर्विधा व्याख्याता ।

[ सू० ] इस प्रकार अद्यवसाय पर निर्भर दो अलंकारों का निर्वचन किया । अब ऐसे अलंकारों  
का निर्वचन किया जाता है जिनमें सादृश्य गम्यमान रहता है । उनमें भी दो विधायें रहती हैं  
( १ ) पदार्थगत और ( २ ) वाक्यार्थगत । इनमें से क्रम से पदार्थगत दो अलंकारों का निर्वचन  
[ पहले ] करते हैं—[ विमर्शनीकार ने अपहृति के आरम्भ में यहाँ के ‘एवमध्य० क्रमेणोच्यते’—  
इम ग्रन्थाश को उद्धृत किया है । वहाँ ‘क्रमेणोच्यते’ पाठ है, अतः यहाँ भी हमने वैसा ही पाठ  
रना दिया है ]—

विमर्शनी

[ सू० ] ‘सादृश्य यदि गम्य [ शब्दतः अकथित ] हो और [ केवल ] प्रस्तुतों अथवा  
[ केवल ] अप्रस्तुतों का पदार्थस्तर पर समानधर्म-संबन्ध हो तो तुल्ययोगिता  
[ होती है ] ॥ २४ ॥

[ ४० ] सादृश्य गम्य होता है जब श्वादि [ सादृश्यवाचक पदों ] का प्रयोग नहीं रहता । इस स्थिति में केवल प्राकरणिक अथवा केवल अप्राकरणिक अर्थों का ही गुण क्रिया आदि रूप समान धर्मों से संबन्ध हो तो उसे अर्थानुरूप तुल्ययोगिताशब्द से पुकारा जाता है । यथा—

[ ग्रीष्म में ] दिन और पत्र दोनों वृद्धि को प्राप्त हुए । दोनों सञ्जातिपत्रप्रकरांचित थे, दोनों पाटलता [ लवोंई ] धारण किए हुए थे और दोनों ही विकस्वर [ विकासशील ] थे । [ दिन पक्ष में = सज्ज = सख्द ओ आतपत्र = छाते उनके प्रकर = समुदाय से अंचित = युक्त, पत्र पक्ष में = सत् = अच्छे बात = उत्पन्न हुए जो पत्र = पत्ते उनके प्रकर = समुदाय से अंचित = सुशोभित ] । .

—यहाँ प्रस्तुत है ऋतुवर्णन, अतः उसमें दिन और पत्र दोनों ही प्रस्तुत हैं और दोनों में 'वृद्धि को प्राप्त होना' = क्रिया अन्वित होती है । इसी प्रकार गुण के भी उभयान्वयी होने पर भी यथा—

'योगपट्ट, जटापें, वृक्ष की छाल, मृगचर्म, ये सब तुम्हीं बतलाओ यदि तुम्हारे शरीर के लिए उचित हो ।'

—यहाँ उचितत्व गुण है । [ अलंकाररत्नाकरकार के अनुसार उचित शब्द नपुंसकलिङ्ग बहु-पचनान्त होने से योगपट्ट आदि प्रत्येक में अन्वित नहीं होता, यह एक दोष है ] अप्राकरणिकों का [ एक धर्म में अन्वय ] यथा—

—'नष्ट गुर्जरेश के चेहरे पर आपकी दौड़ती हुई अश्वसेना की पड़ी हुई धूल को उसकी खिले हुए नीलकमल के समान कोमल अंग वाली प्रिया ने पोंछा और उसकी कीर्ति को आपकी [ वैसी ही ] असिलता ने ।'

—यहाँ वर्णन है गुर्जरेश का अतः उसकी खाँ और असिलता दोनों ही अप्रस्तुत हैं । और उनमें मार्जन = पोंछना—रूपी क्रिया का अन्वय हो रहा है ।

[ अप्रकरणिकों में ] गुण का अन्वय यथा—

'तुम्हारे शरीर की शृदुता को देखने वाले किस व्यक्ति के चित्त में मालती, शशिकला और कदली की कठोरता का भास नहीं हो जाता ।'

—यहाँ कठोरता गुण है । इस प्रकार यह चार प्रकार की होती है और उसकी व्याख्या की गई ।

### विमर्शिनी

एवमित्यादिना । गम्यमानौपम्याश्रया दृति ह्वाद्यप्रयोगात् । पदार्थमिति । वाक्यार्था-पेक्षया पदार्थप्रतीतेरन्तरङ्गत्वात् । तत्र प्रथमं तुल्ययोगितामाह—औपम्येत्यादि । एतदेव व्याचष्टे—श्वेत्यादिना । तत्रैतौपम्यस्य गम्यत्वे सति । प्राकरणिकानामिति द्वयोः समान-धर्मसंबन्धस्य संभवादेव ग्रहणसिद्धेर्वहुवचननिर्देशो बहूनां ग्रहणार्थम् । अत एव च बहूनामौपम्यग्रहणायेति न वाच्यम् । वच्यमाणोदाहरणेषु द्वयोरौपम्यस्योच्चासमानत्वात् । एवं दीपकेऽपि ज्ञेयम् । अन्वितार्थेति । समानधर्मसंबन्धनामत्र भावात् । अनेनैव चास्याः प्रकृतानामप्रकृतानां च गुणक्रियारमकधर्मयोगाद् द्वैविध्येन चतुःप्रकारश्चनप्युक्तम् । न चास्यातिशयोक्तिरनुप्राणकतया वाच्या । तां विनापि वच्यमाणोदाहरणेष्वस्याः संभवात् । औपम्याभावेऽपि गुणसाम्योदाहरणद्वयं प्राच्योदाहृतत्वाद्ग्रन्थकृतोदाहृतम् । यत्र पुनरौ-पम्यं प्रतीयते तदुदाहियते यथा—

ईर्ष्याविकारावसरे तवोचितमिदं प्रिये ।

स्त्रलङ्घितं वचसां लीलाचङ्क्रमणस्य च ॥

अप्रोचितत्व गुणः । अप्रकृतयोस्तु यथा—

भूमारोहहृदयग्रे सुचिरं त्वयि तिष्ठति ।

देवाद्य फणिनामप्रयः कूर्मश्च सुखिनौ परम् ॥'

अत्र सुखित्व गुणः ।

केचिच्च नायिकामिच्छितयोः प्राकरणिकत्वं मन्यन्त इत्युदाहरणान्तरेणोदाह्रियते यथा—'शंभोर्यन्त्ररश्मिभिः प्रणमतश्चूडामणित्वे स्थिता

गङ्गा चन्द्रकला च सर्वजगता वन्द्यस्वभावादिता ।

युक्तायाः परतापदावविपदः कन्यापितृणामसौ

दूरीकार्यहिमालया कथमुभापादद्वयी प्राप्यते ॥'

अत्र भगवतीपादद्वयस्यैव वर्णनीयत्वाद् गङ्गाचन्द्रकलयोरप्रकृतत्वम् । आपादनं च क्रिया ।

विग्वप्रतिविग्वभावेनापीय भवति । यथा—

'क्षिपन्त्यच्चिन्त्यानि पदानि हेलया स्वराजहंसानधिदृष्टा च स्थिता ।

कवीन्द्रवक्त्रेषु च यत्र शारदा सहस्रपत्रेषु रमा च रज्यति ॥'

अत्र वक्त्रपद्मयोर्विग्वप्रतिविग्वभावः । अनेनैव चाशयेनालङ्कारवार्तिके ग्रन्थकृता वैशिष्ट्यमस्या दर्शितम् । शुद्धसामान्यरूपत्वेन यथा—

आस्तां बालस्य स नन्दे द्वे धान्यी तस्य वृद्धये ।

एका पयःप्रस्रविणी सर्वसंपत्प्रसूः परा ॥'

अत्र प्रस्रवणस्य शुद्धसामान्यरूपत्वम् ।

एवम् इत्यादिना । गन्थमानोपम्याश्रया = गन्थमान सादृश्य पर आश्रित अर्थात् इवादि का प्रयोग न होने से । पदार्थम् क्योंकि पदार्थ की प्रतीति वाक्यार्थ की प्रतीति की अपेक्षा अन्तरग [ पूर्ववर्ती ] होती है । पदार्थगत इस वर्ग के अलङ्कार में पहले तुल्ययोगिता का लक्षण करते हैं— 'औपम्य०' । इसी की व्याख्या करते हैं—इव । तत्र = प्राकरणिकानाम् = प्राकरणिकों का । यहाँ बहुवचन का प्रयोग दो से अधिक अप्राकरणिकों के समूह के लिए किया गया है, वैसे तुल्ययोगिता केवल दो अप्राकरणिकों में हुए समानधर्म सम्बन्ध से भी समभव है । इसीलिए यह कहा जाना ठीक नहीं कि 'बहुतों का औपम्य अपनाने के लिए—' [ यह अलङ्काररत्नाकरने नहीं कहा है ] । क्योंकि आगे कहे जाने वाले उदाहरणों में केवल दो दो के भी सादृश्य उपनिबद्ध है । यही स्थिति दोषक में भी मान्य है ।

अन्वितार्थ = क्योंकि इस [ तुल्ययोगिता ] में समानधर्म से सम्बन्धित पदार्थों का अस्तित्व है । इसीसे यह चार प्रकार की होती है क्योंकि इसमें प्राकरणिक और अप्राकरणिक का गुण और क्रिया रूप दो धर्मों से अन्वय होता है । अतिशयोक्ति को इसका साधक नहीं मानना चाहिए— क्योंकि यह अतिशयोक्ति के बिना भी आगे प्रदर्शित उदाहरणों में पाई जाती है । ग्रन्थकारने यहाँ जो गुणसाम्य के दो ऐसे उदाहरण दिए हैं जिनमें औपम्य = सादृश्य नहीं है वह केवल इसलिए कि उन्हें प्राचीन आलङ्कारिकों के उदाहरण रूप से प्रस्तुत किया था । औपम्ययुक्त स्थल ये हैं—

'हे प्रिये ! ईश्याविकार के समय तुम्हारे लिए यह उचित है कि तुम्हारी वाणी और लीलापूर्ण गतिमें रत्नलन आए ।'—यहाँ उचितत्व गुण है । [ यहाँ दोनों प्रकृत हैं ] । दोनों के अप्रकृत होने पर—

'हे देव [ राजन् ] आप पृथिवी का भार होने में निरत हैं इसलिए आजकल शेषनाग और आदि कूर्म दोनों बड़े सुखी हैं ।'—यहाँ सुखित्व गुण है [ और वर्णन राजा कार है अतः शेष और

दूम दोनों अप्रकृत हैं ]। कुछ लोग दो नायिकायुक्त पदार्थों में प्राकरभिकता मानते हैं अतः हम दूसरा उदाहरण देते हैं—

‘भगवती पार्वती की ऐसी चरणारविन्दद्वयी कैसे प्राप्त की जा सकती है जिसने प्रणाम कर रहे भगवान् शिव के सिर पर विद्यमान गंगा और चन्द्रकला दोनों को अपनी नखरश्मियों से संसार भर के लिए बन्ध बना दिया है तथा जिसने [ अपने पिता ] हिमालय को कन्या के पिताओं के हृदय में लगी अत्यन्त ताप रूपी दवाग्नि की विपत्ति से दूर कर दिया है ।’

—यहाँ भगवती पार्वती के चरण ही वर्णनीय हैं अतः ‘गंगा’ और ‘चन्द्रकला’ ये दोनों अप्राकरभिक हैं। उनमें एक [ जगदबन्धता विषयक ] ‘आपादन = प्राप्ति’ क्रिया का अन्वय है।

यह तुल्ययोगिता विन्वप्रतिविन्वभाव से भी निष्पन्न होती है। यथा—

‘जहाँ कवीन्द्रवक्त्रों में शारदा और कमलों में लक्ष्मी प्रेमपूर्वक रहती हैं, जो दोनों कभी तो अचिन्त्य पदों [ सरस्वतीपक्ष में = कान्यषटनानुरूप पद्मामली, लक्ष्मीपक्षमें = पद्मचाप ] को लीलापूर्वक विखेरती और धरती रहती हैं और कभी अपने राजहंसों [ सरस्वतीपक्ष में हंसविशेष तथा लक्ष्मी-पक्ष में राजारूपी हंस या हंसतुल्य विवेकी राजा ] पर सवारों किये हुए रहती हैं ।’

—यहाँ वक्त्र और कमल इन दोनों में विन्वप्रतिविन्वभाव है। इसी आशय से ग्रन्थकार ने अपने अलंकारवार्तिक नामक ग्रन्थ में [ तुल्ययोगिता के ] इस भेदको एक विशिष्ट भेद बतलाया है।

शुद्ध सामान्यरूप से निष्पन्न तुल्ययोगिता, यथा—

‘स बालक की वृद्धि के लिए दो धात्री [ धार्ई और पृथिवी ] सदा तत्पर थीं एक धात्री जो सुग्धदात्री [ धार्ई ] थी और दूसरी धात्री सर्वसन्पत्ति उत्पन्न करनेवाली [ पृथिवी ] ।’

—यहाँ [ पयः ]—‘प्रसवण = [ दूध ] देना शुद्ध सामान्यरूप क्रिया है।

विमर्शः—तुल्ययोगिता का पूर्वेतिहास—

भामह = ‘न्यूनस्यापि विशिष्टेन गुणसाम्यविवक्षया-

तुल्यकार्यक्रियायोगादित्युक्ता तुल्ययोगिता ॥’ यथा- -

‘शेषो हिमगिरिस्त्वं च महान्तो गुरवः स्थिताः ।

यदलङ्कितमर्यादां चलन्तीं विमृथ क्षितिम् ॥’ [ ३१२७-२८ ]

—कम गुणवाले पदार्थ का विशिष्टगुण वाले पदार्थ से गुणगत साम्य बतलाने के लिए समान कार्य करना प्रतिपादित किया जाय तो तुल्ययोगिता होती है। यथा—शेषनाग, हिमाचल, और हे राजन् आप अत्यन्त गरिमामय हैं जो मर्यादा की रक्षा कर डोलती पृथिवी को धारण करते रहते हैं ।

चामन = ‘विशिष्टेन साम्यार्थमेककालक्रियायोगस्तुल्ययोगिता ।

विशिष्ट से न्यून की समता बतलाने के लिए एककालिक क्रिया में दोनों का अन्वय तुल्ययोगिता कहलाता है [ अतः यह व्याजोक्ति से दिया है ] ।

यथा—‘जलनिधिरशनामिमां धरित्रीं वहति मुबंगविमुबं वदमुजश्च ।’

इस समुद्रमेखला पृथिवी को शेषनाग या आपका मुजदण्ड धारण करता है। ‘वहन = धारण’ क्रिया में शेष और मुजदण्ड का अन्वय है।

उद्भट = ‘उपमानोपमेयोक्तिश्चैरप्रस्तुतैर्वचः ।

साम्याभिधायि प्रस्तावमाग्निर्वा तुल्ययोगिता ॥ ५१७ ॥

जिनमें उपमानोपमेयभाव कथित न हो ऐसे केवल अप्रस्तुतों अथवा केवल प्रस्तुतों का साम्य-प्रत्यायक कथन तुल्ययोगिता ।

यथा = त्वदङ्गमार्दवम्० इत्यादि तथा ‘योगपट्टो जटांजालम्’ इत्यादि । . . .



रुद्रट = + + + + +

मम्मट = 'नियतानां सकृद् धर्मः सा पुनस्तुल्ययोगिता ॥

नियतानां प्राकरणिकानामेवाप्राकरणिकानामेव वा ।

यथा = पाण्डुश्यामम्,—केवल प्राकरणिकों या केवल अप्राकरणिकों में किसी एक धर्म का अस्तिश्व तुल्ययोगिता । यथा = 'इत्यादि,

'पाण्डु श्याम बदन इदय सरसं तवालस च वपुः ।

आवेदयति नितान्तं शोषिषरोग सखि हृदन्तः ॥'

—हे सखि, तुम्हारा पीला और दुर्बल चेहरा, आर्द्र हृदय तथा आलस्ययुक्त शरीर किसी हृदयस्थ प्रधान रोग की सूचना देते हैं । यहाँ सभी प्राकरणिक हैं ।

'कुमुदकमलनीलनीरजालिलितविलासजुषोर्दृशोः पुरः का ।

अमृतममृतरश्मिरम्बुजन्म प्रतिहनमेकपदे तवाननस्य ॥'

—कुमुद, कमल, नीलोत्पल तुम्हारी ललितविलास युक्त आँखों के सामने हैं ही क्या, और अमृत, चन्द्र, कमल तुम्हारे मुखविम्ब के समझ एक साथ व्यस्त हैं । यहाँ केवल नायिका वर्ण्यमान अतः प्रस्तुत हैं । शेष सब अप्रस्तुत हैं और उन में 'हे ही क्या' और 'ध्वस्त' पदों द्वारा व्यक्त तुच्छत्व रूपी प्रकथन का अन्वय हो रहा है ।

—इस संदर्भ से स्पष्ट है कि रुद्रट तुल्ययोगिता को दीपक से भिन्न नहीं मानते । भामह ने दीपक को आदि, मध्य तथा अन्त में स्थित किसी एक धर्म के साथ अनेक पदार्थों के अन्वय के आधार पर तीन भागों में बाँटा है आदि दीपक, मध्यदीपक तथा अन्त दीपक । उन्हीं के अनुकरण पर रुद्रट ने भी दीपक के ये तीनों भेद किए हैं । किन्तु उन्होंने दीपकगत अनेक पदार्थों के प्रस्तुतत्व या अप्रस्तुतत्व पर ध्यान नहीं दिया है, अतः उनके यहाँ तुल्ययोगिता के दीपक से भिन्न होने का प्रदन ही नहीं उठता । भामह और उनके अनुकरण पर वामन ने तुल्ययोगिता को दीपक से अलग अवश्य प्रस्तुत किया है किन्तु उस में प्रस्तुत या अप्रस्तुत की ऐकान्तिकता अथवा समष्टि का उन्होंने कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाया । उनके उदाहरण से स्पष्ट है कि वे तुल्ययोगिता में प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों का ही अन्वय मानते हैं क्योंकि उनके उदाहरण में स्तूयमान राजा की भुजा प्रस्तुत है और शेषनाग अप्रस्तुत । इन दोनों का एक वहन = धारण' किया में अन्वय बतलाया गया है । भामह और वामन ने यहाँ उपमानोपमेय में हीनाधिकगुणत्व पर ध्यान दिया जिसमें तुल्ययोगिता उपमा से भिन्न मिश्र नहीं होती । आगे दीपक के प्रकाश में उद्धृत उनके लक्षण तथा उदाहरणों से इस दिशा में और अधिक प्रकाश पड़ेगा कदाचिद इती लिये रुद्रट ने तुल्ययोगिता को स्वतन्त्र अलंकार की मान्यता नहीं दी ।

निश्चिन ही सर्वस्वकार ने मम्मट के ही समान तुल्ययोगिता के लिए उद्धृत को प्रमाण माना है । उन्होंने तो उदाहरण भी उद्धृत के ही प्रस्तुत किए हैं । परवर्ती आलंकारिकों में—

अलंकारत्नाकरकारने तुल्ययोगिता का लक्षण—'सकृद् धर्मस्य निर्देशप्रस्तुतानां प्रस्तुतानां वा तुल्ययोगिता'—अर्थात् अप्रस्तुत या प्रस्तुतों के धर्म का एक ही बार निर्देश तुल्ययोगिता कहलाता है—इस प्रकार का 'स्वदगमार्दव', पद्यको उदाहरण—स्वरूप प्रस्तुत किया है । उन्होंने यहाँ एक धर्मान्वयी पदार्थों में से किसी एक में उपमानता या उपमेयता मानना असंभव बतला कर परस्पर में उपमानोपमेयभाव बतलाया है ।

अप्पट्यदीक्षित को—चित्रमीमांसा में दीपक और तुल्ययोगिता दोनों ही अलंकार छूट गए हैं किन्तु उनके कुवलयानन्द में उन्होंने चन्द्रालोक से भिन्न—

'वर्णानामितरेषां वा धर्मैक्यं तुल्ययोगिता'

—अर्थात् वर्णनीय = प्रस्तुत अथवा अप्रस्तुत का धर्मैक्य तुल्ययोगिता—यह लक्षण कर उदाहरण रूप से सर्वस्वकार द्वारा प्रदत्त 'त्वदङ्गमादंबम्' तथा 'संजातपत्रप्रकरान्वितानि' ० पद्य प्रस्तुत किए हैं ।

पण्डितराज जगन्नाथ = 'प्रकृतानामेवाप्रकृतानामेव वा गुणक्रियादिरूपैकधर्मान्वयस्तुल्ययोगिता ।'  
—'अर्थात् केवल प्रकृतों अथवा केवल अप्रकृतों का गुण क्रिया आदि रूप किसी एक धर्म में अन्वय तुल्ययोगिता—इस प्रकार तुल्ययोगिता के लक्षण में गुण और क्रिया के अतिरिक्त अन्य अभाव आदि तत्त्वों को भी अनेकान्वयी वस्तु के रूप में स्वीकार कर सर्वस्वकार और कुवलयानन्दकार के 'गुणक्रियमात्र' तक सीमित पक्ष को उपलक्षणमात्र बतलाया है । उन्होंने तुल्ययोगिता के उदाहरण पूर्वाचार्यों से प्रायः मिलते-जुलते ही गढ़े हैं ।

कारकतुल्ययोगिताः पण्डितराज जगन्नाथ ने एक कारकतुल्ययोगिता भी स्वीकार की है । उसका लक्षण—

'यत्र च प्रकृतानामेवाप्रकृतानामेव वा क्रियाणामेककारकान्वयः सा कारकतुल्ययोगिता'—  
अर्थात्—'जहाँ केवल प्रकृत अथवा केवल अप्रकृत ही क्रियाओं का किसी एक कारक में अन्वय हो तो वह कारकतुल्ययोगिता कहलाती है'—इस प्रकार कित्ना है और उदाहरण के रूप में—

'धसु दातुं यशो धातुं विधातुमरिमर्दनम् ।

त्रातुं च सकलां पृथ्वीमतीव निपुणो भवान् ॥'

—'धन देने, यश लेने, शत्रुओं को मसलने और सारी पृथिवी को रक्षा करने में आप बहुत ही निपुण हैं ।'—यह पद्य प्रस्तुत किया है । इसमें दान, धान, विधान और त्राण ये सभी क्रियाएँ प्रस्तुत हैं और उन सब का एक स्तूयमान राजा रूपी कारक के साथ अन्वय है । पण्डित-राज ने इसे अर्थान्तरन्यास से भी अन्वित बतलाया है ।

संजीविनीकार ने तुल्ययोगितासंग्रह इस प्रकार किया है—

'प्रकृतेष्वथनान्येषु ज्ञातव्या तुल्ययोगिता ।

गुणक्रियाभिसम्बन्धात् समानादन्वितार्थिका ॥'

—प्रकृत अथवा अप्रकृतों में गुण अथवा क्रिया के समान सम्बन्ध से तुल्ययोगिता यह अन्वय-नामक अलंकार होता है ।

उद्भट, वामन और मम्मट ने तुल्ययोगिता को दीपक के वाद रखा है जब कि, अलंकारसर्व-स्वकार, अलंकाररत्नाकरकार, कुवलयानन्दकार तथा रसगंगाधरकार ने दीपक के पहिले । परन्तु आचार्यों ने यह क्रम प्रकृत और अप्रकृत के शुद्ध स्थल और दोनों के मिश्रित स्थल को दृष्टि में रखकर स्वीकार किया किन्तु तुल्ययोगिता और दीपक दोनों में एक वस्तु के अनेक वस्तु के साथ अन्वय की ही कला चमत्कारभूमि है, साथ ही आदि मुनि भरत से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ तक सभी आचार्यों ने दीपक को अलंकार माना है इसलिए वस्तुतः दीपक को ही प्रथम स्थान दिया जाना चाहिए । दीपक का ही सूक्ष्मरूप तुल्ययोगिता है । इसके विरुद्ध पण्डितराज ने दीपक-प्रकरण में तुल्ययोगिता से दीपक के प्रथमकरण पर आपत्ति उठाई है और कहा है—'अत्रेदं बोध्यम्—तुल्ययोगितातो दीपकं न पृथग्भावमर्हति धर्मसकृदवृत्तिमूलाया विच्छिन्नेरविशेषात् विच्छिन्नेवैलक्षण्यास्य चालंकारविभागेहेतुत्वात् । ०००० । तस्मात् तुल्ययोगिताया एव त्रैविच्यमुचितम्, प्रकृतानामेव धर्मस्य सकृत् वृत्तिः, अप्रकृतानामेव, प्रकृताप्रकृतानां चैति । एवं च प्राचीनानां तुल्ययोगितातो दीपकस्य पृथगलङ्कारतामाचक्षणानां दुराग्रहमात्रमिति नव्याः ।'—'यहाँ यह समझ लेना

आवश्यक है कि दीपक को तुल्ययोगिता से अलग नहीं किया जाना चाहिए, क्योंकि एक धर्म के अनेक से सबन्ध पर निर्मर चमत्कार दोनों में बराबर या एकसा ही है, और अलंकारों में भेद केवल चमत्कार में भेद के आधार पर ही किया जाता है। ०००० । इसलिए तुल्ययोगिता के ही तीन भेद मान लेना उचित है (१) प्रकृतों का ही किसी एक धर्म से सबन्ध, (२) अप्रकृतों का ही और (३) प्रकृत तथा अप्रकृत दोनों का । इस प्रकार नव्यों के अनुसार प्राचीनों ने जो दीपक को तुल्ययोगिता से पृथक् एक स्वतन्त्र अलंकार बतलाया है वह उनका दुराग्रहमात्र है । आगे दीपक के प्रकरण में विमर्शनीकार भी यही बात कहते दिखाते देते हैं [ द्रष्टव्य—‘न चैताव-  
तैवानयोः पृथक् लक्षण युक्तम्—चिरन्तनानुरोधात् कृतम्’ दीपक पर आरम्भिक विमर्शनी ] । किन्तु सच यह है कि दुराग्रह नवीनों का ही है । सामान्य भाषा में नवीनों का जो एकधर्मान्वय है वही प्राचीनों की आलंकारिक भाषा में दीपक है । नवीनों ने स्वयं कहा है कि जैसे दीपक उद्देस्यभूत वस्तु को तो दिखलाता ही है अन्य वस्तु को भी दिखला दिया करता है, उसी प्रकार कोई एक धर्म किसी एक प्राकरणिक में तो अन्वित्र होता ही है अप्राकरणिक में भी अन्वित्र हो जाता है और इस प्रकार वह धर्म पूरे वाक्यार्थ की शोभा बढ़ा देता है । फलतः दीपक के समान होने से उसे दीपक कहा जाता है ।

द्रष्टव्य—(१) ‘एकस्यस्यैव समस्तवाक्यदोषनाद् दीपकम्’—मम्मट । (२) प्रस्तुतैकनिष्ठः समानो धर्मः प्रसहादन्यत्रोपकरोति प्रासादार्थमारोपितो दीप इव रथ्यायाम् इति दीपसाध्याद् दीपकम्, ‘संशया च’ [ वा० २४५८ ] इतीवार्थे कन्प्रत्ययः ।—अप्यभ्यदोक्षित, कुवलवानन्द ।

(३) दीपयति प्रकाशयति सुन्दरोकरोति दीपकम्, यद् वा दीप इव दीपकम्, सशर्था कम् दीपसादृश्यं च प्रकृताप्रकृतप्रकाशकत्वेन बोध्यम्—५० जगन्नाथ, दीपकाराङ्कार ।

(४) दीप इव दीपकम्, सशर्था कम्, दीपस्यैकस्यैव सकलप्रकाशकत्ववदेकत्वस्यैव सर्वे. समन्वय-  
बोधजनकत्वेन तत्साधर्म्यात् । दीपयतीति दीपकमित्यन्ये ।—अलंकारकौस्तुभ दीपकप्रकरण ।

इस प्रकार यदि नव्य तुल्ययोगिता में दीपक को अन्तर्भूत करना चाहते हैं तो प्राचीन दीपक में तुल्ययोगिता का अन्तर्भाव बतला सकते हैं । भरतमुनि ने भी दीपक का जो उदाहरण दिया है [ आगे दीपक के प्रकरण में उद्धृत ] उसमें सभी पदार्थ प्राकरणिक हैं । दीपक को संपदीपक कह उन्होंने दीपक शब्द के प्रयोग के मूल में दीप के सादृश्य को मूल माना है । प्राकरणिकत्वा-  
प्राकरणिकत्व को नहीं । अतः हृदयसाक्ष्य, प्रस्तुत, दीपक के ही पक्ष में अधिक है, क्योंकि चमत्कार की अतिभूमि प्रस्तुत के साथ अप्रस्तुतविधान में ही अनुभव में आती है, केवल प्रस्तुतों अथवा केवल अप्रस्तुतों के उपनिबन्ध में नहीं । उसमें प्रतिभा का कोई चमत्कार नहीं रहता । केवल एक धर्मान्वय की कलामान का अभिव्यक्तिगत क्षीण प्रकाश वहाँ रहता है । फलतः हृदयसाक्ष्य अप्रस्तुत विधान की प्रतिभा और ऐतिहासिक मान्यता के आधार पर तुल्ययोगिता का ही दीपक में अन्तर्भाव अधिक समुचित है । अलंकारकौस्तुभकार विरवेद्वर पण्डित ने भी पण्डितराज के उक्त आक्षेप को उद्धृत कर उस पर यही उत्तर दिया है कि क्योंकि दीपक भरतमुनि से माना जाना आ रहा है अतः उसी में तुल्ययोगिता का अन्तर्भाव अधिक उचित है । [ द्रव दीपकप्रकरणान्त ] और यदि दोनों को दो स्वतन्त्र अलंकार भी मानना हो तो प्रथम- दीपक का निर्वचन ही उचित है ।

### विमर्शनी

एतदुपसंहरध्वन्यद्वयतारयति—

अब इस [प्रकरण] का उपसंहार करते और दूसरा [प्रकरण] आरम्भ करने के लिय कहते हैं—

[ सर्वस्व ]

प्रस्तुताप्रस्तुतयोर्व्यस्तत्वे तुल्ययोगितां प्रतिपाद्य समस्तत्वे दीपक-  
मुच्यते—

[ सू० २५ ] प्रस्तुताप्रस्तुतानां तु दीपकम् ।

औपम्यम्य गम्यत्व इत्याद्यनुवर्तते । प्राकरणिकाप्राकरणिकयोर्मध्या-  
देकत्र निर्दिष्टः समानो धर्मः प्रसङ्गेनान्यत्रोपकारादीपनादीपसादृश्येन दीप-  
काख्यालंकारोत्थापकः । तत्रेवाद्यप्रयोगादुपमानोपमेयभावो गम्यमानः । स  
च वास्तव एव । पूर्वत्र शुद्धप्राकरणिकत्वे शुद्धाप्राकरणिकत्वे वा वैवक्षिकः,  
प्राकरणिकत्वनिर्वर्तितत्वादुपमानोपमेयभावस्य । अनेकस्यैकक्रियाभिसंबन्धा-  
दौचित्यात्पदार्थत्वोक्तिः । वस्तुतस्तु वाक्यार्थत्वे आदिमध्यान्तवाक्यगतत्वेन  
धर्मस्य वृत्तावादिमध्यान्तदीपकाख्यास्त्रयोऽस्य भेदः ।

[ वृ० ] प्रस्तुत और अप्रस्तुत के अलग अलग रहने पर संभव तुल्ययोगिता का प्रतिपादन  
क्रिया । अब दोनों की मिलित स्थिति में संभव दीपक का प्रतिपादन करते हैं—

[ सू० २५ ] [ सादृश्य यदि गम्य = शब्दतः अकथित हो और समान धर्म में ] प्रस्तुत  
तथा अप्रस्तुत दोनों का [ एक साथ पदार्थान्तर पर संबन्ध ] हो तो दीपक [ नामक  
अलंकार होता है ] ॥ २५ ॥

[ वृ० ] यहाँ 'सादृश्य यदि गम्य हो' इत्यादि शेषांश की अनुवृत्ति [ तुल्ययोगिता से ] होती  
है । प्राकरणिक और अप्राकरणिक दोनों में से किसी एक के साथ निर्दिष्ट समान धर्म प्रसंग के  
आधार पर दूसरे का भी उपकार करता है [ तथा उसमें ] दीप्ति लाता है [ अतः ] दीप का सादृश्य  
होने से वह दीपक नामक अलंकार का जन्मदाता बनता है । उसमें 'इव' आदि का प्रयोग नहीं  
रहता इसलिए वहाँ उपमानोपमेयभाव गम्यमान रहता है । किन्तु वह रहता वास्तविक ही है  
जब कि पूर्वोक्त अलंकार में केवल प्राकरणिक अथवा केवल अप्राकरणिक के रहने पर वह [ उपमा-  
मानोपमेयभाव ] विवक्षापीन = ऐच्छिक होता है, [ क्योंकि वहाँ जहाँ केवल प्राकरणिकत्व रहता है  
वहाँ उपमानत्व अवास्तविक होता है । अतः उसे विवक्षा द्वारा निष्पन्न करना पड़ता है और जहाँ  
केवल अप्राकरणिकत्व रहता है वहाँ उपमेयत्व अवास्तविक रहता है क्योंकि उसे भी वहाँ विवक्षा  
द्वारा निष्पन्न करना होता है । इस प्रकार उपमानोपमेयभाव आंशिकरूप से ही रहता है ] क्योंकि  
उसकी निष्पत्ति प्राकरणिकत्व और अप्राकरणिकत्व पर निर्भर रहती है [ प्राकरणिकत्व पर  
उपमेयत्व की और अप्राकरणिकत्व पर उपमानत्व की ] । अनेक का एक क्रिया से संबन्ध रहता है  
इसलिए औचित्यतः [ दीपक में ] पदार्थगतत्व बतलाया गया है [ तुल्ययोगिता की अवतरणिका में ]  
वस्तुतः तो यह वाक्यार्थगत ही रहता है, तभी इसके आदि-दीपक, मध्यदीपक और अन्तदीपक  
नामक भेद होते हैं, क्योंकि इसका धर्म जिसके आदि, मध्य तथा में अन्त में रहता है वह  
वाक्य ही है ।

विमर्शिनी

प्रस्तुताप्रस्तुतानामिति । एकत्रेति प्राकरणिकेऽप्राकरणिके वा । अन्यत्रेति प्राकरणिकादी  
दीपकेति 'संज्ञायाम्' इत्यनेन कम् । सादृश्येन समुदायगम्यायाः संज्ञाया अभावात् ।

तत्रेति दीपके । वास्तव इति । प्रकृताप्रकृतयोः उपमानोपमेयरूपत्वात् । पूर्वत्रेति तुल्य-  
योगितायाम् । इयानेव च दीपकतुल्ययोगितयोर्विशेषोऽस्तीत्यप्यनेन दर्शितम् । न चैता-  
वतैवानयोः पृथग्लक्षणं युक्तम् । औपम्यगर्भत्वात्कस्य सामान्यस्य द्वयोरप्यनुगमात् ।  
पूर्वं च समुच्चितोपमादेरपि पृथग्लक्षणं स्यात् । अन्यकृता पुनश्चिरन्तनानुरोधार्थकृतम् ।  
वैवक्षिक इति । यत्रैव वक्तुरूपमानत्वमुपमेयत्वं वा वक्तुमिष्टं तत्रैव प्रकरणादिवलादी-  
श्रयणीयमित्यर्थः । अतश्च 'प्रस्तुतस्य तु नान्येन व्यभिचारस्य दर्शनात्' इति नीत्या  
प्रस्तुताप्रस्तुतत्वमात्रनिबन्धन एवोपमानोपमेयभावो न भवतीति भावः । एव 'प्रसिद्धेना-  
प्रसिद्धस्य सादृश्यमुपमा मता' इत्यादिदृशा प्रसिद्धाप्रसिद्धत्वमात्रनिबन्धनोऽप्युपमानो-  
पमेयभावो न वाच्यः । 'खमिव जलजलमिव रम' इत्यादीं द्वयोरपि तुल्यत्वात् प्रसिद्ध-  
गुणत्वाद्यभावेऽप्युपमानोपमेयभावस्येष्टेऽर्थ्यभिचारस्य दर्शनात् । ननु चात्र साधर्म्यं वा-  
क्यार्थगतत्वेनैव प्रतीयत इति कथं तस्य पदार्थगतत्वमुक्तमित्याह द्वाहाह—अनेकस्येत्यादि ।  
एवं पूर्वत्रापि ज्ञेयम् ।

प्रस्तुताप्रस्तुतयोः इति । इसी का लक्षण बतलाने है—प्रस्तुताप्रस्तुतानाम् इति । एकत्र =  
एक में, प्राकरभिक अथवा अप्राकरभिक में । अन्यत्र = प्राकरभिक आदि में । दीपक = 'सहाय'  
[ च' वाचिक ] द्वारा [सादृश्यार्थ में] कन् प्रत्यय, क्योंकि सादृश्य के आधार पर सहा समुदायगन्वा  
नहीं हो सकती । तत्र = वहा दीपक में । वास्तव = वास्तविक, क्योंकि प्रकृत और अप्रकृत कमश-  
उपमेयरूप तथा उपमानरूप होते हैं । पूर्वत्र = पूर्वोक्त तुल्ययोगिता में । इससे यह भी बतला दिया  
कि दीपक और तुल्ययोगिता में इतना ही भेद है । इसलिए केवल इतने से अन्तर के आधार पर  
इन दोनों का लक्षण अलग-अलग बतलाना ठीक नहीं है । क्योंकि सादृश्यप्रतिष्ठ होना दोनों का  
साधारण धर्म है और वह दोनों में ही अनुगत है । इसी प्रकार समुच्चितोपमा आदि का लक्षण भी  
अलग नहीं किया जाना चाहिए । अन्यकार ने जो 'इन्दे पृथक्-पृथक् बतलाया है वह केवल प्राचीन  
आलंकारिकों के अनुरोध पर ।

वैवक्षिक—तुल्ययोगिता में प्रसंग के आधार पर केवल वहीं उपमानोपमेयभाव स्वीकार  
किया जा सकता है जहाँ वह वक्ता को अभीष्ट हो । इससे तात्पर्य यह निकला कि 'उपमानोपमेय-  
भाव केवल प्रस्तुतत्वप्रस्तुतत्वमात्र पर निर्भर नहीं रहता है' जैसा कि [ अलंकाररत्नाकर में ]  
कहा गया है—[ 'सादृश्य' प्रस्तुत का अप्रस्तुत से नहीं माना जाना चाहिए क्योंकि अनेक स्थलों  
में उसको उल्टा भी देखा जाता है ।' और इसलिए उपमानोपमेयभाव को केवल प्रसिद्धत्व और  
अप्रसिद्धत्व मात्र पर आश्रित नहीं माना जा सकता जैसा कि [ 'अलंकाररत्नाकरकार ने ] कहा है—  
'प्रसिद्ध से अप्रसिद्ध का सादृश्य उपमा मानी जाती है ।' [ अलंकाररत्नाकर में ये दोनों अर्थाध्याय  
एक ही श्लोक को है । इस प्रकार—

‘प्रसिद्धेनाप्रसिद्धस्य सादृश्यमुपमामता ।

प्रस्तुतस्य तु नान्येन, व्यभिचारस्य दर्शनात् ।’

अर्थात् प्रसिद्ध का अप्रसिद्ध से सादृश्य उपमा मानी जाती है न कि प्रकृत का अप्रकृत से,  
क्योंकि अनेक स्थानों पर ऐसा नहीं देखा जाता यथा [ 'आकाश के समान जल और अल के समान  
आकाश'—इत्यादि स्थलों में दोनों ही एक से हैं अतः व्यभिचार दिखलाई देता है इसलिए कि प्रसिद्ध  
गुणत्व और अप्रसिद्धगुणत्व के अभाव में भी उपमानोपमेयभाव देखा जाता है ।

शंका होती है कि 'दीपक में साधर्म्यं वाक्यार्थगतरूप से ही प्रतीत होता है तो इसे पदार्थगत  
क्यों बतलाया जा रहा है—'इस पर उत्तर देते हैं—अनेकस्य । इसी प्रकार पूर्वत्रात् [ तुल्ययोगिता ]  
अलंकार में भी [ वाक्यार्थगता ] समझनी चाहिए ।

[ सर्वस्व ]

क्रमेणोदाहरणम्—

'रेहइ मिहिरेण णहं रसेण कब्बं सरेण जोळवणअं ।  
अमएण धुणीधवओ तुमए णरणाह भुवणमिणं ॥'  
'संचारपूतानि दिगन्तराणि कृत्वा दिनान्ते निलयाय गन्तुम् ।  
प्रचक्रमे पल्लवरागतात्रा प्रभा पतङ्गस्य मुनेश्च धेनुः ॥'  
'किवणाण धणं णाआणं फणमणी केसराइं सीहाणं ।  
कुलवाल्लिआणं थणआ कुत्तो छेप्पंति अमुआणं ॥'

पयमेकक्रियं दीपकत्रयं निर्णीतम् । अत्र च यथानेककारकगतत्वेनैक-  
क्रिया दीपकं तथानेकक्रियागतत्वेनैककारकमपि दीपकम् ।

यथा—

'साधूनामुपकर्तुं लक्ष्मीं धर्तुं विहायसां गन्तुम् ।  
न कुतूहलि कस्य मनश्चरितं च महात्मनां श्रोतुम् ॥'

अत्रोपकरणाद्यनेकक्रियाकर्तृत्वेन कुतूहलविशिष्टं मनो निर्दिष्टम् । छाया-  
न्तरेण तु मालादीपकं प्रस्तावान्तरे लक्ष्यिष्यते ।

क्रम से उदाहरण—[ आदिदीपक ]

'राजते मिहिरेण नभो रसेन काव्यं सरेण [ स्मरेण ] यौवनम् ।

अमृतेन धुन्तीधवस्त्वियां नरनाथ ! भुवंनमिदम् ॥'

—शोभित होता है सूर्य से आकाश, रसे से काव्य, सर=हार से अथवा स्मर=काम से यौवन=  
स्तन, अमृत से समुद्र और है नरनाथ तुमसे यह भुवन । [ यहाँ 'शोभित होना' यह क्रियापद  
वाक्यारम्भ में प्रयुक्त है और प्रकृत गूतल तथा अप्रकृत आकाश आदि से अन्वित होता है ] ।

[ मध्यदीपक ]—

'दिगन्तरालों को अपने संचार से पवित्र कर दिनान्त होने पर निलय को जाना आरम्भ  
क्रिया, पल्लवराग सी तामिया, सूर्य की प्रभा ने और मुनि की धेनु [ चन्दिनी ] ने ॥' [ यहाँ  
'आरम्भ करना' क्रिया वाक्य के मध्य में प्रयुक्त है और उसका अन्वय प्रकृत प्रभा तथा अप्रकृत  
धेनु से है ]

[ अन्तदीपक ]—

'कृपणानां धनं नावानां फणमणिः केसराः सिंहानान् ।

कुलवाल्लिकानां स्तनाः कुतः सृश्यन्तेऽमृतानाम् ॥'

—'कृपणों का धन, सर्पों की फणामणि, सिंह के शिरःकेश ( अवाल ) और कुलवाल्लिकाओं  
के स्तन कैसे छुप जा सकते हैं यदि ये मृत न हों ।' [ यहाँ 'स्पर्श' क्रिया अन्त में प्रयुक्त है और  
उसका अन्वय यदि कृपण पदार्थ प्रकृत हो तो उससे और कुलवाला प्रकृत हो तो उससे होने के  
साथ ही शेष सभी अप्रकृतों से भी हो रहा है ] ।

— इस प्रकार एक क्रिया के [ प्रकृताप्रकृतों में अन्वय से निष्पन्न ] तीनों दीपक निश्चित हुए ।  
जैसे [ उपर्युक्त ] इन दीपकों में अनेक कारक में अन्वित होने वाली एक क्रिया को दीपकें होती  
हैं वैसे ही अनेक क्रियाओं से अन्वित होने वाले एक कारक का भी दीपकें होते हैं । वहाँ—

—‘साधु पुरुषों का उपकार करने, दौलत समेटने, आकाश से उड़ने और महात्माओं के चरित्र सुनने में किस का मन कुतूहलयुक्त नहीं होता ।’

—यहाँ ‘उपकार’ आदि अनेक क्रियाओं के कर्ता के रूप में एक अकेले कुतूहलयुक्त मन का निर्देश किया गया है ।

इसी प्रकार एक मालादीपक भी होता है । उसका मीन्द्रयं निराळा ही होता है अत उछे दूसरे प्रसंग में बतलाया जाएगा ।

### विमर्शिनी

धेनुसंध्यो. प्रकृतस्वाद्यन्वे तुल्यधोगिनां मन्यन्त इत्युदाहरणान्तरेणोदाह्रियते—

‘धम्मज्जणेण काण वि काणवि अधज्जणेण घोलेई ।

कामज्जणेण काण वि काण वि एमेअ मसारो ॥’

एकक्रियमित्यनेकगुणमपि दीपकं स्वयमेवोदाहार्यमिति सूचितम् । तत्तु यथा—

‘फणासहस्रमृदधो दिवि नेत्रसहस्रभृत् ।

अद्वितीय. पृथिव्यां च भवान्नामसहस्रभृत् ॥’

अद्वितीयस्य गुणः । एवमेकां क्रियां गुणं वानेकारकगतत्वेनाभिधाय तदेव च दृष्टान्तो-  
कृत्यैकारकमप्यनेकक्रियागतत्वेन दीपकं भवतीत्याह—अत्रेत्यादि । अत्र चोच्छ्वासवर्ण-  
नीयं भैरवाचार्यादिसकमुपकारकरणादिविशेषरूपं प्रस्तुत श्रोतृनवबोधयितुं कविकर्तृक-  
मिदं साधुपकारकरणादीनां सामान्यानामप्रस्तुतानां प्रसंसनम् । तेषां च सामान्यानां  
परस्परमौपग्यप्रतीतिरेकारकगतत्वेनेयं कारकतुल्ययोगिता । अतश्च नेदं कारकदीपक-  
स्योदाहरणम् । तत्तु यथा—

आलिङ्गितुं दासिमुखीं च सुधां च पातु कीर्तिं च साधयितुमर्जयितुं च लक्ष्मीम् ।

खङ्गक्षिभङ्गतरसा हृदये च कर्तुं मन्दादरं जनमहं पशुमेव जाने ॥’

अत्रालिङ्गनाद्यनेकक्रियाकर्तृत्वेनैक एव जनो निर्दिष्टः । प्रस्तुताप्रस्तुत स्फुटमेव ।

[ संचारपूतानि’—पद्य में ] कुछ लोगों [ अर्लकाररत्नाकरकार ] के अनुसार धेनु और सध्या  
दोनों ही प्रकृत हैं अतः तुल्ययोगिता है इसलिये हम इसका एक दूसरा उदाहरण दिए देते हैं—

‘धर्माज्जेन केषामपि केषामप्यर्थाज्जेन व्यत्येति ।

कामार्जनेन केषामपि केषामप्येवमेव संसार’ ॥’

‘किन्हीं का समार धर्माज्जन में बौतता है, किसी का अर्थाज्जन में, किसी का कामार्जन में और  
किसी का ऐसे ही ।’

‘एवक्रिय = एक क्रिया का’, अर्थ यह कि एक गुण का भी दीपक हो सकता है, उसे स्वयं खोज  
लेना चाहिए । उसका स्थल, यथा—

‘नीचे [ पाताल में ] हजार फन धारण करने वाला [ शेषनाग ] अद्वितीय है, स्वर्ग में हजार  
नेत्र धारण करने वाला [ इन्द्र ] और पृथिवी पर सइस नाम धारण करने वाले आप ।’

—यहाँ अद्वितीयत्व गुण है । इस प्रकार एक क्रिया या एक गुण को अनेक कारकों में अन्वित  
होता बतलाया, अब उसी को दृष्टान्त पर एक कारक में अनेक क्रियाओं के अन्वय से निरूपण होने  
वाला दीपक भी सम्भव बतलाते हुए लिखते हैं—‘अत्र’ । [ इयं चरित के ] हम [ साधुनामुपकर्तुम्’—  
पद्य ] में आगे पूरे उच्छ्वास द्वारा वर्णनीय भैरवाचार्य का एक विशिष्ट उपकार करना आदि प्रस्तुत  
है । उसे श्रोताओं [ अथवा पाठकों ] को सूचित करने के लिए कवि ने सामान्यरूप से साधुओं का  
उपकार करना आदि विन पदार्थों को प्रस्तुत किया है वे सब अप्रस्तुत हैं । इस सामान्यरूप

[ अप्रस्तुत ] पदार्थों में परस्पर में सादृश्य की प्रतीति होती है तथा इन सबका एक [ मन-रूपी ] कारक में अन्वय है, अतः यहाँ कारकतुल्ययोगिता है। इस कारण यह [ पद्य ] कारकदीपक का उदाहरण नहीं हो सकता। कारक दीपक का उदाहरण यह होगा—

‘चन्द्रमुखी का आलिङ्गन करने सुधा का पान करने कीर्त्ति की प्राप्ति करने, लक्ष्मी का अर्जन करने और आपकी अद्भुत आनन्द देने वाली भक्ति को हृदय में लाने में जो जन मंदादर [ उत्सुक नहीं ] होता है उसे मैं पशु ही समझता हूँ।’

—यहाँ आलिङ्गन आदि अनेक क्रियाओं के रूप में ‘जन’ शब्द से एक ही निर्दिष्ट है साथ ही यहाँ जो प्रस्तुत है [ भगवद्भक्ति ] और जो-जो अप्रस्तुत [ चंद्रमुखी आदि ] वह स्पष्ट ही है।

विमर्श—( १ ) ‘साधूनामुपकहुंम्’—पद्य हर्षचरित के तृतीय उच्छ्वास के आरम्भ में आता है। तृतीय उच्छ्वास में हर्षवर्धन के पूर्वपुरुष पुष्यभूति का वर्णन है। वह भैरवाचार्य नामक योगी की सहायता करता है जिससे वह योगी यक्षदेह धारण कर आकाश में उड़ जाता है। संस्कृत साहित्य में महात्मा शब्द महासत्त्व स्यक्ति के लिए चलता है अतः पुष्यभूति और भैरवाचार्य दोनों ही महात्मा हैं। उनका चरित्र तृतीय उच्छ्वास की कथावस्तु है। इस पद्य द्वारा उसकी पूर्वसूचना दी जा रही है। यहाँ ग्रन्थकार ने कारकदीपक माना है और टीकाकार ने कारकतुल्ययोगिता। कदाचित् ग्रन्थकार की दृष्टि ग्रन्थ के प्रसंग पर है और टीकाकार की तृतीय उच्छ्वास की मावी कथावस्तु पर। हर्ष स्वयं महासत्त्व और महात्मा है उसका चरित ग्रंथविषय होने से प्राकरणिक है, इसलिए उक्त पद्य की ‘चरितं च महात्मानां श्रोतुम्’ यह चतुर्थचरणगत ‘श्रवण’-क्रिया प्रस्तुत है, शेष—‘उपकार, धारण, गमन’ क्रियायें आगामी कथावस्तु की अंत में ही प्रस्तुत हो सकती हैं आरम्भ में वे अप्रस्तुत ही हैं। फलतः प्रस्तुत और अप्रस्तुत क्रियाओं का एक ‘मन’ के साथ अन्वय होने से ग्रन्थकार के अनुसार यहाँ कारकदीपक है। टीकाकार के अनुसार आगामी भैरवाचार्यरूपी महात्मा के चरित का श्रवण, आरम्भ में अप्रस्तुत ही है अतः सभी क्रियायें एक-सी ही जाने से कारकतुल्ययोगिता है। वस्तुतः, प्रथम दो उच्छ्वासों में हर्ष का चरित न कहकर बाण ने अपने पूर्वपुरुषों का वर्णन किया है। अतः तृतीय उच्छ्वास के आरम्भ में वे श्रोतार्थों अथवा पाठकों का ध्यान कान्य के प्रधान वर्ण ‘हर्ष के चरित’ की ओर आकृष्ट रखने हेतु ‘चरितं च महात्मानां श्रोतुम्’ कह रहे हैं। यह अलग बात है कि उनके इस कथन का लक्ष्य परवर्ती कथापुरुषों का चरित भी बना रहा है। उनमें केवल भैरवाचार्य ही नहीं, प्रभाकरवर्धन, यशोवती, राज्यवर्धन, दिवाकरमित्र, राज्यश्री और स्वयं हर्षवर्धन भी आते हैं। अतः ‘चरित-श्रवण’ को प्रस्तुत मानना ही अधिक उचित है।

टीकाकार के अनुसार यदि सभी क्रियायों को अप्रस्तुत मान लें तो उनका यह कथन असंगत होगा कि भैरवाचार्य का वर्णन प्रस्तुत है, क्योंकि वह तो आगामी है। यदि कवि के चित्त में उपस्थित होने से उसे प्रस्तुत माना जाए तो सारी क्रियायें प्रस्तुत हो कहीं जानी चाहिए। फिर विचार तो सहृदय की अनुभूति की लेकर किया जाता है। तृतीय उच्छ्वास की कथावस्तु से अपरिचित सहृदय के लिए सारी क्रियायें अप्रस्तुत ही हैं। यदि सारी क्रियायें अप्रस्तुत हैं तो टीकाकार के अनुसार यहाँ प्रस्तुत भैरवाचार्य आदि विशेष व्यक्तियों के लिए अप्रस्तुत सामान्य का कथन होने से अप्रस्तुतप्रशंसा होनी चाहिये और यदि एक-सी अनेक क्रिया को एक कारक में अन्वय होने का शिल्प भी यहाँ है तो उन्हें यहाँ अप्रस्तुतप्रशंसा के साथ तुल्ययोगिता का स्वर मानना चाहिए।

( २ ) टीकाकार ने ग्रन्थकार के उक्त उदाहरण को अमान्य ठहरा, कारकदीपक का, जो



उदाहरण [ 'आलिङ्गितुम्'० ] अपनी ओर से प्रस्तुत किया है उस पर पण्डितराज जगन्नाथ ने निम्नलिखित आपत्तियाँ प्रस्तुत की हैं—

( १ ) उक्त पद्य में किसी एक व्यक्ति को पशु कहने की अपेक्षा एकाधिक व्यक्तियों को पशु कहना अधिक चमत्कारी है अतः 'जन'-शब्द को यहाँ जात्यर्थक एतद्वचन में प्रयुक्त मान अनेक व्यक्तिपरक मानना चाहिये। तब विमर्शिनोकार का यह कथन असंगत होगा कि 'आलिङ्गन आदि अनेक क्रियाओं का कर्त्ता केवल एक 'जन' ही है।'

( २ ) यहाँ चमत्कार का कारण श्लिमुखी, सुधा, वीरि, लक्ष्मी तथा भगवत्प्रति का विम्ब-प्रतिविम्बभाव है अतः विमर्शिनोकार का यह कथन अमान्य है कि यहाँ अनेक क्रिया का, एतद्वचनान्वयित्वरूपी साधारण धर्म के आधार पर निम्न सादृश्य चमत्कारी है।

( ३ ) उक्त पद्य में कारकदीपकत्व केवल 'मन्दादरत्व' को लेकर माना जा सकता है, क्योंकि उक्तका अन्वय प्रत्येक तुमुन्नत क्रिया के साथ अन्वित्र कर्त्ता के धर्म के रूप में होता है। किन्तु पण्डितराज यदि मन्दादर के मन्दादरत्व को लेकर कारकदीपक सिद्ध करना चाहते हैं तो 'जन'-के जनत्व को लेकर वैसा क्यों नहीं करते। तब उनकी कारकवद्वत्त्व की कार्यात्मिक आपत्ति कट चाएगी।

अलङ्काररत्नाकरकार ने प्रस्तुत पद्य देकर कारकदीपक में यह एक दोष बतलाया है कि कारक क्रिया का धर्म नहीं होता जब कि समान धर्मसम्बन्ध को दीपक का जनक माना गया है— इसका परिहार भी करते हुए उन्होंने कहा है कि कम से कम इस पद्य में मन्दादरत्वविशिष्ट कारक की योजना है जो अपने आप में चमत्कारकारी है, अतः चमत्कार होने से यहाँ दीपक अलङ्कार मान लिया जाएगा। उक्त दोषनिवारण के लिए लघुप्र को पदावली में छोटा अन्तर किया जा सकता है।

### विमर्शिनी

स्विद्यति क्षुणति वेद्यति विवलयति निमिषति विलोकयति तिर्यक् ।

अन्तर्नन्दति चुम्बितुमिच्छति नवपरिणीता वधुः शयने ॥

हायत्र तु स्वेदनादिक्रियाणां प्रस्तुतानामेकाधारगतत्वेन समुच्चयमानत्वाच्च समुच्चया-लङ्कारो न तु कारकदीपकम् । तद्वि प्रस्तुताप्रस्तुतानां क्रियाणामौपम्यसद्भावे भवति । एवं सर्वक्रियाणां प्रस्तुतत्वेऽपि समुच्चयस्योपम्याभावादेव तुष्ययोगितातोऽपि भेदः । औपम्य-सद्भावेऽपि तुष्ययोगितैव । यथा—

चकार दुर्वलानां यः चमामागरिवनामपि ।

जडे निरपराधानामपि यश्च बलीयसाम् ॥'

अत्र करणहरणयोः प्रकृतत्वम् । द्वयोरपि राशगतत्वेन वर्णनीयत्वात् ।

'नवोढा वधु [ प्रथम रात्रि में पति के साथ ] शय्या पर पसीना-पसीना होती, सिकुडती, करपट लेती, चितपुट होती, आँख मीचनी, कनखी से देखती, मन ही मन हरसाती और चूमना चाहती है।' यहाँ [ कान्यपकाशकार ने कारकदीपक माना है किन्तु ] स्वेदन आदि सभी क्रियाएँ एक तो प्रस्तुत हैं और दूसरे इन्हें एक ही आधार में एकट्ठा स्थित बतलाया गया है, अतः यहाँ समुच्चयालङ्कार है, न कि कारकदीपक। यह [ कारकदीपक ] तो तब होता है जब किनाद अनेक हों, उनमें कोई प्रस्तुत और कोई अप्रस्तुत हों, साथ ही उनमें सादृश्य प्रतीत हो। इसी प्रकार सभी क्रियाओं के प्रस्तुत होने पर भी यहाँ तुष्ययोगिता नहीं है, क्योंकि यहाँ उन क्रियाओं में परस्पर सादृश्य नहीं है। फलतः यहाँ समुच्चयालङ्कार ही है। यदि सादृश्य होता तो यहाँ तुष्ययोगिता ही होती।—से—

जिसने अपराधी होने पर भी जो दुर्बल थे उन्हें क्षमा किया और जो अपराधी नहीं थे किन्तु सबल थे उनकी क्षमा [ पृथिवी ] को हर लिया' ।

—यहाँ कारना और हरना दोनों क्रियाएं प्रकृत हैं क्योंकि दोनों ही प्रस्तुत राजा के भीतर प्रतिपादित की जा रही हैं ।

विमर्शः—टोकाकारमहोदय यहाँ क्रियाओं का सादृश्य बतलाते समय जुष्णी साथ गए हैं । वस्तुतः औपम्य या सादृश्य की बात तुल्ययोगिता या दोषक के क्रियागत भेद में परम अद्वै-  
ज्ञानिक है ।

अलंकाररत्नाकरकार ने भी तुल्ययोगिता तथा समुच्चय को औपम्य के आधार पर ही पृथक् किया है—

‘प्रकृतानां क्रियाणामेककारकसंबन्धे यदौपम्य-

प्रतीतिस्तत्तुल्ययोगिता, तदभावे तु समुच्चयालंकारः ।’ —[ दीपकप्रकरणान्त ] ।

रसगंगाधरकार ने भी यह तथ्य स्वीकार किया है—

( १ ) औपम्यम्०० अत्र गम्यम् = [ तुल्ययोगितालक्षणवृत्तिः ]

( २ ) अत्रौपम्यस्य गम्यत्वम् = [ दीपकलक्षणवृत्तिः ]

( ३ ) दीपकतुल्ययोगितादौ गम्यमानमौपम्यं जीवातुरिति सर्वेषां संमतम्—[ दीपकप्रकरण—

पृ० ४३४ नि० सा० सं० ६ ]

रसगंगाधरकार ने भी काव्यप्रकाशकार के उपर्युक्त ‘स्वियति०’ आदि उदाहरण पर विमर्शनी-  
कार के ही समान आपत्ति प्रस्तुत करते हुए कहा है—

इस पद्य में सभी क्रिया प्राकरणिक हैं । ००० । और उनके भी परस्पर सादृश्य में कवि का कोई संरम्भ नहीं है । इसलिए इतमें समुच्चयालंकार की ही छाया मानना ठीक है । यदि स्वेदन आदि क्रियाओं के बीच परस्पर में सादृश्य की प्रतीति मानी जा सके तो यहाँ कारकतुल्य-  
योगिता मानी जा सकती है, कारकदीपक नहीं, क्योंकि सभी क्रियाएं प्रस्तुत हैं । [ रसगंगाधर  
दीपकप्रकरण पृ० ४३४-५, नि० सा० ६ ]

वस्तुतः काव्यप्रकाशकार ने कारकदीपक का जो लक्षण किया है उसमें क्रियागत साम्य की  
प्रतीति का कोई बात नहीं है । उनका लक्षण है—

‘सङ्कद्वृत्तिस्तु धर्मस्य प्रकृताप्रकृतात्मनाम् ।

सैव क्रियासु बह्वेषु कारकस्येति दीपकम् ॥’

—अर्थात् एक दीपक वह होता है जिसमें अनेक प्रकृत और अप्रकृत पदार्थों में किसी एक  
धर्म का अस्तित्व रहता है और दूसरा वह जिसमें किसी एक कारक का अनेक क्रियाओं में  
[ अस्तित्व रहता है ]’ । उन्होंने—

‘मालादीपकमाद्यं चेद् यथोत्तरगुणावहम् ।’

—इस प्रकार एक मालादीपक भी माना है जिसका उदाहरण ‘संयामाद्गणभागतैन०’ इत्यादि  
पदार्थ है, जिसमें कहा गया है ‘राजन् ! आपके संग्राम में जाते ही जिस जिसने जो-जो वस्तु अप-  
नाई उसे मुनिप—धनुष ने बाण अपनाए, बाणों ने शत्रुओं के सिर, उनमें भूमण्डल, भूमण्डल  
ने आपको, आपने कीर्ति को और कीर्ति ने तीनों लोकों को ।’ यहाँ प्रस्तुत है राजा का वर्णन ।  
उसके प्रसंग में तत्सम्बद्ध सभी पदार्थ प्रकृत ही हैं । अतः यहाँ भी तुल्ययोगिता मानी जानी  
चाहिए । किन्तु काव्यप्रकाशकार के अनुसार यहाँ केवल मालात्व और आसादनरूपी धर्मगत एकता  
के आधार पर यहाँ मालादीपक है । इतने पर भी ‘धनुष, बाण, शत्रुसिर, भूमण्डल, राजा,

कृति और शैलोक्य में परस्पर किसी हृदयहारी सादृश्य की प्रतीति नहीं होती। आसादन-कर्तृत्व को साधारण धर्म मानकर यदि धनुष आदि में साम्य सिद्ध भी किया जाय तो यह सिद्ध नहीं होना कि कवि को किर्मा साम्य के आधार पर इन सबका स्मरण आया है, जैसा कि 'सचार-पूतानि' = आदि स्थलों में देखा जाता है। यहाँ तो केवल सम्बद्धत्वमात्र के आधार पर धनुष आदि को प्रस्तुत किया गया है। उतने में ही चमत्कार है और इसीलिए यद्वा दोषकत्व है।

इस प्रकार कारकदीपक और मालादीपक में कवि को साम्य की विवक्षा रहती है ऐसा काव्य-प्रकाशकार का आग्रह नहीं है। पण्डितराज भी इस तथ्य को समझते हैं। उन्होंने स्वस्वित्त कारकतुल्ययोगिता के समर्थन में इस तथ्य को पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत किया है और लिखा है— 'न च क्रियाणा प्रकृताप्रकृतात्मताविरहेऽपि शुद्धप्रकृतत्वे शुद्धाप्रकृतत्वेऽपि वा कारकस्य सङ्घट्ट-दीपकत्वम्, क्रियामित्राता तु प्रकृताप्रकृतात्मतायामेव क्रियात्रैर्मस्येति वैलक्षण्यात्—

[ 'सङ्घट्टत्तिस्तु धर्मस्य प्रकृताप्रकृतात्मनाम् । सैव क्रियास्तु बह्वीषु कारकस्येति दीपकम् इति ]  
लक्षणद्वयमुक्तम्—इति वाच्यम् कारकतुल्ययोगिनोच्छेदापत्तेः ।'

—अर्थात् 'दीपक के दो लक्षण हुए अन्तर के आधार पर किए हैं कि प्रथम में कारकों के बीच प्रकृताप्रकृतत्व अपेक्षित है, किन्तु द्वितीय में क्रियाओं के बीच नहीं, किन्तु ऐसा मानने पर कारकतुल्ययोगिता का उच्छेद होने लगता है।' पण्डितराज की इस आपत्ति का उत्तर हम तुल्ययोगिता के प्रकरण में यह कह कर दे चुके हैं कि—'तुल्ययोगिता का दीपक में अन्तर्भाव होगा दोष नहीं है। नव्यों के अनुसार उन्होंने तुल्ययोगिता में दीपक का अन्तर्भाव माना है। प्राचीनों के अनुसार तुल्ययोगिता का दीपक में अन्तर्भाव माना जा सकता है। और वही अधिक वैज्ञानिक है।'

निष्कर्ष यह कि कारकदीपक में न तो प्रकृताप्रकृतत्व में कोई चमत्कार रहता और न साम्य में। उसमें चमत्कार रहता है केवल एक कारक में अनेक क्रियाओं के अन्वय का। समुच्चयालकार में एक कारक में अनेक क्रियाओं के अन्वय का चमत्कार नहीं रहता। वहाँ चमत्कार रहता है किसी भी प्रकार के ऐसे अनेक पदार्थों की आकस्मिक एकत्र उपस्थिति में जिनमें किसी एक कार्य की सिद्धि के प्रति साधकता हो। अतः 'स्वियति० आदि पद्य में रत्नाकर-कार, विमर्शनीकार तथा रसगंगाधरकार का समुच्चय मानना अनुभूतिविह्वल है।

### चिमर्शनी

हृदं विम्बप्रतिविम्बभावेनापि भवति । यथा—

मणि. शाणोल्लीढः समरविजयी हृतिनिहतः कलाशेषश्चन्द्र. सुरतमृदित बालललना ।

मदक्षीणो नागः शरदि सरिद्राश्यानपुलिना तनिन्ना शोभन्ते गलितविभवाश्चार्थिषु जनाः ॥

अत्र शाणोल्लीढश्चादीना विम्बप्रतिविम्बभावः । शुद्धसामान्यरूपत्वं यथा—

फणरभणराहङ्गो सुअंगणाहो धरं समुच्चहृद् ।

णहृदप्पणोवसोहिभसिहो अ तुह गाह सुअददो ॥

अत्र राजितत्वशोभितत्वयोः शुद्धसामान्यरूपत्वम् । नन्वेतदनन्तरमेव 'मालादीपक-मन्थैर्लङ्घितं तदिहापि किं न लक्ष्यत ह्याशङ्क्याह—छापेत्यादि । छायान्तरेणेति शृङ्खला-रूपेण । प्रस्तावान्तर इति । शृङ्खलाबन्धोपचितरूपत्वात् ।

यद् [ दीपक ] विम्बप्रतिविम्बभावमूलक मी होता है । यथा —

'शाणचडी मणि, शशङ्कत समरविजेता, कलाशेष चन्द्र, सुरतमृदित बालवधु, मदक्षीण शायी,

शरत्कालीन सूखीवाली-वाली नदी तथा याचकों को वॉट-वॉट कर धनहीन बने दाता तनुता [ दुबलेपन ] से शोभित होते हैं ।'

—यहाँ शापोल्लीदत्त = शान पर चढ़ना आदि में विन्वप्रतिविन्वभाव है ।

शुद्ध सामान्यरूप [ दीपक ] का उदाहरण यथा—

‘फणरत्नराजिताक्षो मुजङ्गनायो धरां समुद्वहति ।

नखदर्पणोपशोभितशिखश्च तव नाथ मुजदण्डः ॥’

—‘स्वामिन् ! पृथिवी को धारण करता है फणरत्न से विराजित अंग वाला नागराज शेष, और नखरूपी दर्पण से शोभित शिखा वाला आप का मुजदण्ड ।’

—यहाँ राजितत्व और शोभितत्व शुद्ध सामान्यरूप हैं । [ उनमें वस्तुप्रतिवस्तुभाव है, यद्यपि, फण तथा लंगली, मणि तथा नख में यहाँ भी विन्वप्रतिविन्वभाव है । ]

प्रश्न—‘दीपक के ही तुरन्त पश्चात् [ मन्मद आदि ] अन्य आचार्यों ने एक मालादीपक भी बतलाया है, उसे यहाँ क्यों नहीं बतलाया जा रहा है?’ उत्तर देते हैं—‘छाया’ आदि । छायान्तर = शृङ्खलास्वरूप भिन्न शिल्प के द्वारा । प्रस्तावान्तर दूसरे प्रसंग में [ अर्थात् शृङ्खलामूलक जलंकारों के प्रसंग में ] क्योंकि वह [ मालादीपक ] भी शृङ्खला द्वारा निष्पन्न होता है ।

दीपक का पूर्वतिहास—

भरतमुनिः—‘नानाधिकरणस्थानां शब्दानां संप्रदीपकम् ।

एकान्त्येन संयोगं तद् दीपकमिदोच्यते ॥’ १६।५३ नाट्यशा०

यथा—

‘सरांसि हंसैः कुसुमैश्च वृक्षा मत्तैर्द्विरेफैश्च सरोरुहाणि ।

गोष्ठीमिरुचानवनानि चैव तस्मिन्नशून्यानि सदा क्रियन्ते ॥

‘तालाव हंसों से, वृक्ष पुष्पों से, कमल मत्त मौरो से तथा वन-उपवन गोष्ठियों से वहाँ सदा ही भरे रहते हैं ।’

यहाँ कारिका का अर्थ उदाहरण के आधार पर मनचाहा लगाया जा सकता है । उदाहरण में अनेक कारकों का एक ‘अशून्यीकरण’ क्रिया में अन्वय है । किन्तु यहाँ दीपक का प्राणभूत तत्त्व प्राकरणिकाप्राकरणिकत्वमिश्रण नहीं है, तालाव आदि सभी पदार्थ प्राकरणिक हैं ।

भामह—आदिमध्यान्तविषयं त्रिधा दीपकमिष्यते ।

एकस्यैव त्रयवस्यत्वादिति तद् मिथते त्रिधा ॥

अमूनि कुर्वन्तिऽन्वयार्थमस्वाख्यामर्थदीपनात् ।

( १ ) मदो जनयति प्रीतिं साऽनङ्गं मानभङ्गुरम् ।

स प्रियासङ्गमोक्तपठां साऽसखां मनसः शुचन् ॥

( २ ) मालिनीरंशुमृतः स्त्रियोऽलङ्कुरते मधुः ।

हारितशुकनाचथ भूधराणामुपत्यकाः ॥

( ३ ) चीरीमतीररण्यानीः सरितः शुष्यदन्मसः ।

प्रवासिनां च चेतोसि शुचिरन्तं निनीषति ॥

—दीपक तीन प्रकार का माना जाता है आदिदीपक, मध्यदीपक तथा अन्तदीपक, क्योंकि इसमें एक ही वस्तु तीन [ आदि मध्य अन्त ] स्थानों में रहती है । एक ही के [ आदि मध्य अन्त में ] अवस्थित होकर वाक्यार्थ में प्रकाश लाने के कारण, इसकी संज्ञा सार्थक हो जाती है ।

[ भामह के इस लक्षण में 'एक'-शब्द का अर्थ अस्पष्ट है। परवर्ती आचार्यों ने उसका क्रमशः स्पष्टीकरण किया है ] एक-एक का क्रमशः उदाहरण—

(१) मद् [ नशा ] प्रीति को उत्पन्न करता है, प्रीति मानमङ्गपट्ट काम को, काम प्रिया के सगम की उत्कण्ठा को और वह [ उत्कण्ठा ] असख मानस वेदना को । [ यहाँ वाक्य के आरम्भ में 'युक्त 'उत्पन्न करना' मद्, प्रीति, काम उत्कण्ठा के साथ अन्वित होता है। इसलिए यहाँ आदिदीपक है। साथ ही यहाँ शृङ्खलाक्रम भी है जिससे परवर्ती आचार्यों ने माला-दीपक माना है ] ।

(२) मालिनी, और शीनाञ्जुकपद्मिनी स्त्रियों को वसन्त अलङ्कृत करता है और हारीत तथा शुक्र को वाणी एव पर्वतों की उपत्यकाओं को भी । [ यहाँ 'अलङ्कृत करना' वाक्य के मध्य में प्रयुक्त है और मालिनी आदि अनेक कर्मों से अन्वित हो रहा है, अतः यह मध्य-दीपक हुआ ] ।

(३) क्षीगुर हाकार वाले घोर जंगल, सूख रहे पानी वाली नदियों और प्रवासियों के चित्तों को ग्रीष्म समाप्त करना चाहता है । [ यहाँ ग्रीष्म वाक्य के अन्त में प्रयुक्त है और उसका जंगल आदि अनेक कर्मों से अन्यय है अतः यह अन्तदीपक हुआ ] ।

वामन = [ सू० ] 'उपमानोपमेयवाक्येष्वेका क्रिया दीपकम् ।'

तरिन्विधम्, आदिमध्यान्तवाक्यवृत्तिभेदात् ॥'

—उपमानवाक्य और उपमेयवाक्यों में प्रसङ्गवशात् या सामर्थ्यवशात् लागू होने वाली एक क्रिया दीपक कहलाती है । दीपक तीन प्रकार का होता है, उस क्रियापद के वाक्य के आदि, मध्य और अन्त में रहने के कारण । उदाहरण—

'भूष्यन्ते प्रमदवनानि बालपुष्पैः कामिन्यो मधुमदमासलेर्विलासैः ।

ब्रह्माण. वृत्तिगतितैः क्रियाकलापै राजानो विरलितवैरिभिः प्रतापैः ॥'

—प्रमदवन बालपुष्पां ( कलियों ) से भूषित होते हैं, कामिनियों आसवजनित मधे से मांसल विलासों से, ब्राह्मण वृत्तिओं द्वारा प्रोक्त क्रियाकलापों से और राजा लोग शत्रुओं को नष्ट कर चुके अपने प्रतापों से ।'

यहाँ एक ही 'भूष्यन्ते = भूषित होते हैं' क्रिया का प्रमदवनादि कारकों से अन्यय हो रहा है और वह वाक्य के आरम्भ में प्रयुक्त है अतः यह आदिदीपक हुआ । इसी प्रकार अन्य दो उदाहरणों में वामन ने केवल क्रिया को अनेक कारकगत बनलाया है और उसे वाक्य के मध्य तथा अन्त से प्रयुक्त दिखलाकर वहाँ मध्यदीपक तथा अन्तदीपक की स्थापना की है । किन्तु वामन कारकों को प्राकरगिकता या अप्राकरगिकता का उल्लेख नहीं करते । यहाँ यह ध्यान देने योग्य तथ्य है कि दीपक में उपमानोपमेयभाव का निवेश वामन ही पहिले-पहल कर रहे हैं । इन्होंने भामह के अस्पष्टार्थ 'एक'-शब्द का अर्थ क्रिया कर दिया है ।

उद्धट—'आदिमध्यान्तविषया प्राधान्यैरयोगिनः ।

अन्तर्गतोपमा धर्मा यत्र तद् दीपक विदुः ॥'

'जहाँ धर्म प्राधान्य तथा अप्राधान्य से युक्त वा वैसे पदार्थों से संबद्ध वाक्य के आदि, मध्य तथा अन्त में स्थित तथा उपमागमित हों वह दीपक माना गया है ।' यहाँ प्राधान्याप्राधान्य का अर्थ प्रतोहारन्दुराज ने उपमेयत्व और उपमानत्व क्रिया है । उदाहरण—

'सबहार शरत्काल' कदम्बकुसुमश्रियः ।

प्रेयोवियोगिनीनां च निःशेषसुखसम्पदः ॥'

—‘शरत्काल मे कदम्बों की कुसुम-शोभा तथा प्रियवियुक्त वनिताओं को समस्त सुखसम्पत्ति समाप्त कर दी।’—यहाँ मूल श्लोक में ‘समाप्त करना’ क्रिया वाक्यारम्भ में प्रयुक्त है अतः आदि-दीपक हुआ। इसी प्रकार मध्यदीपक तथा अन्तदीपक के भी उदाहरण रुद्रट ने दिए हैं। उद्भट्ट भामह के ही समान केवल क्रिया को अनेकान्वयी नहीं बतलाते। भामह के अस्पष्ट ‘एक’-शब्द के स्थान पर वे स्पष्टतः धर्म का उल्लेख करते हैं। साथ ही वे उपमानोपमेयभावमात्र पर जोर देते हैं प्राकरणिकाप्राकरणिकत्व पर नहीं। वहाँ यह ध्यान देने योग्य तथ्य है कि इन तीनों आचार्यों का मालादीपक पर कोई ध्यान नहीं है।

रुद्रट—यथैकमनेकेषां वाक्यार्थानां क्रियापदं भवति ।

तदवत् कारकपदमपि तदेतदिति दीपकं द्वेषा ॥७६४॥

आदी मध्येऽन्ते वा वाक्ये तत्संस्थितं च दीपयति ।

वाक्यार्थानिति भूयस्त्रिधैतदेवं मवेत् षोडा ॥७६५॥

—जहाँ अनेक वाक्यार्थों में एक क्रियापद होता है और इसी प्रकार अनेक क्रियात्मक वाक्यार्थों में एक ही कारकपद वह दो प्रकार का दीपक माना जाता है।

यह [ क्रियापद अथवा कारकपद ] वाक्य के आदि, मध्य और अन्त में स्थित होकर वाक्यार्थों को दीप्त करता है अतः छ प्रकार का होता है। उदाहरण—

‘कान्ता ददाति मदनं मदनः संतापमसममनुपशमम् ।

संतापो मरणमहो तथापि शरणं नृणां सैव ॥’

—कान्ता काम प्रदान करती है, काम अतुल्य और अनुपशमनीय संताप और संताप मरण, किन्तु आश्चर्य यह है कि शतना होने पर भी मनुष्यों के लिए शरण = रक्षा करने वाली वह कान्ता ही है। यहाँ ‘दान क्रिया’ वाक्य के आरम्भ में प्रयुक्त है अतः आदि क्रिया दीपक है।

‘निद्राऽपहरति जागरमुपशमयति मदनदहनसंतापम् ।

अनयति कान्तासंगममुखं च कौऽन्यस्ततो वन्धुः ॥

—‘निद्रा से बड़ा वन्धु कौन है, वह जागर [ उन्निद्रता के रोग ] को दूर कर देती है, मदनानि के संताप को शान्त कर देती है और प्रियामिलन का सुख भी दे देती है।’—यहाँ एक निद्रा में अनेक क्रियाओं का अन्वय बतलाया गया। निद्रा वाक्य के आरम्भ में प्रयुक्त है अतः यह आदि-कारकदीपक हुआ। रुद्रट ने क्रिया और कारक के शेष चार अन्य दीपकों के भी उदाहरण दिए हैं। किन्तु उन्होंने भामह द्वारा प्रस्तुत उदाहरण में विद्यमान उस विशेषता पर भी ध्यान दिया है जिससे मालादीपक को विकास मिला है। यद्यपि उन्होंने मालादीपक नाम से किसी नवीन दीपक को प्रस्तुत नहीं किया है। इसके अतिरिक्त कारकदीपक की कल्पना भी पहिली बार रुद्रट में ही दिखाई देती है। किन्तु रुद्रट ने वामन के समान केवल क्रिया को ही अनेक कारकान्वयी धर्म बतलाया। वस्तुतः यह धारणा भामह से ही चल पड़ी थी क्योंकि भामह के सभी उदाहरणों में एक ही एक क्रिया का प्रयोग है।

मम्मट—‘सहृदवृत्तित्तु धर्मस्य प्रकृताप्रकृतात्मनाम् ।

सैव क्रियासु बह्वीषु कारकत्वेति दीपकम् ॥

मालादीपकमाद्यं चेद् यथोत्तरगुणावहम् ॥

इनका अर्थ अभी-अभी स्पष्ट क्रिया वा लुका है। इनके लक्षण में दीपक की आदि, मध्य तथा अन्त में पर्यादि के प्रयोग को लेकर होने वाली विशेषताएँ छोड़ दी गई हैं। पण्डितराज जगन्नाथ ने इसका कारण चमत्कार का अभाव बतलाया है अर्थात् वाक्य के आरम्भ आदि में किसी पद

के उपयुक्त होने से चमत्कार में कोई अतिशय नहीं आता। 'धर्मस्यादिमध्यान्तगतत्वेऽपि चमत्कार-  
वैलक्षण्यमावात् त्रैविध्योक्तिरपाठमात्रम्।' अन्वित होने वाला पदार्थ भी यहाँ धर्मरूप बतलाया  
गया है केवल क्रियारूप नहीं। अनेक क्रियाओं में एक कारक के अन्वय का भी स्वतन्त्र स्थान है  
और मालादीपक का भी। प्राकरणिकत्व और अप्राकरणिकत्व का भी स्पष्ट उल्लेख है। साहृदय  
का महत्त्व स्पष्ट शब्दों में स्वीकार नहीं किया गया है। इस प्रकार मम्मट का दीपकलक्षण प्राचीन  
लक्षणों के आधार पर निर्मित एक सुविचारित लक्षण है।

परवर्ती आचार्यों में—

शोभाकर ने अलङ्काररत्नाकर में दीपक का लक्षण इस प्रकार किया है—[सहृद् धर्मस्य  
निर्देशेऽप्रस्तुताना प्रस्तुताना वा आर्धमोपम्य तुल्ययोगिता—] 'मिश्रणां दीपकम्।' अर्थात्  
[ धर्म का एक बार निर्देश होने पर केवल अप्रकृत अथवा केवल प्रकृत पदार्थों का आर्ध औपम्य  
तुल्ययोगिता होती है और ] 'मिश्रित पदार्थों का दीपक।' यथा—

'दूरे परिच्छेदकथा हि सत्यमेतद्गुणानामुदधेरपां च।'

'इम [ साहसिक ] के गुणों और समुद्र के जलों की दृष्टा पाना बहुत दूर की बात है।'  
शोभाकर ने 'सत्कारपूतानि०' पद्य में प्रमा और धेतु दोनों को प्रस्तुत मान तुल्ययोगिता स्वीकार  
की है, दीपक नहीं, जब कि व्यक्तिविवेककार आदि ने दीपक स्वीकार किया है।

अप्पयदीक्षित ने कुवलयानन्द में दीपक का निरूपण इस प्रकार किया है—

'वदन्ति वर्ण्यवर्णानां धर्मैक्यं दीपकं बुधाः।

मदेन भाति कलम' प्रतापेन महोपति' ॥५१४८॥

—वर्ण्यं = प्रस्तुत = प्राकरणिक और अवर्ण्यं = अप्रस्तुत = अप्राकरणिक का धर्मैक्य दीपक, यथा  
हाथी मद्र से सुशोभित होता है और राजा प्रताप से। तथा—'मणि. शाणोक्ती ०'—पद्य।

पण्डितराज जगन्नाथ ने इसी का निरूपण इस प्रकार किया है—

'प्रकृतानामिप्रकृताना चैकसाधारणधर्मान्वयो दीपकम्।'

प्रकृत तथा अप्रकृतों का एक साधारण धर्म में अन्वय दीपक होना है।

पण्डितराज जगन्नाथ दीपक के मालादीपक भेद को दीपक का भेद न मान श्रृंखलामूलक  
अलङ्कार एकावली का भेद मानना उचित मानने हैं। उनका कहना है कि मालादीपक में साहृदय  
का अभाव रहता है। वस्तुतः कारकदीपक में भी कविप्रतिभा-साहृदय से प्रवृत्त नहीं होती,  
अतः साहृदय दीपक का अनिवार्य हेतु नहीं है। एकावली में एकान्वयित्व का अभाव रहता है जो  
दीपक का प्राग है। अलङ्कारसर्वस्वकार ने दीपक के इस भेद को गिनाया तो श्रृंखलामूलक भेदों में  
है किन्तु नाम मालादीपक ही रखा है।

विश्वेश्वर पण्डित ने दीपक का निरूपण इस प्रकार किया है—

१. [ सूत्र ] प्रकृताप्रकृतानां यथैकान्वयित्वास्ति दीपकं तद स्यात् ।'

[ वृ० ] यत्रोपमानोपमेयभूताना प्राकरणिकाप्राकरणिकानामेकपदोपात्तेन गुणक्रियादिना  
धर्मैकान्वयस्तदीपकम् ।

—जहाँ उपमानोपमेयरूप प्राकरणिकों तथा अप्राकरणिकों का एक शब्द से कथित गुणक्रिया  
आदि धर्म के साथ अन्वय हो वह दीपक।

२. [ सू० ] यत्रैकमेव कारकमन्वयमेति क्रियासु बहोपु ।

[ वृ० ] यत्रैकमेव कारकमनेकक्रियास्त्वन्वितं तदपि दीपकम् ।

—जहाँ एक ही कारक अनेक क्रियाओं में अन्वित हो वह भी एक दीपक होता है। विश्वेश्वर पण्डित ने कर्ता से लेकर अधिकरण तक के सभी कारकों के अनेक क्रिया में अन्वय के उदाहरण दिए हैं।

१. [ सू० ] माला तु पूर्वपूर्वे विध्यन्तरेणोत्तरान्वयिनि ॥

[ वृ० ] तस्यां क्रियाणां रूपान्तरेणान्वितस्य पुनस्तस्यामेव रूपान्तरेणान्वये मालादीपकम् ।

—एक ही कारक एक ही क्रिया में भिन्न-भिन्न रूप से अन्वित हो तो मालादीपक।

उदाहरण पूर्वाचार्यप्रदत्त उदाहरण जैसे ही दिए हैं। किन्तु उन्होंने मालादीपक को एकावली मानने के सुझाव पर पण्डितराज का खण्डन नहीं किया, न तो उसमें स्वयं सादृश्य की सिद्धि की। संजीविनीकार विद्याचक्रवर्ती ने दीपकविशेषण का सार-संग्रह इस प्रकार किया है—

‘दीपकं वास्तवीपम्यं प्रकृताप्रकृताशयम् ।

आदिमध्यान्तवास्येषु क्रियाकारकभेदतः ॥’

प्रस्तुत और अप्रस्तुत का परस्पर वास्तविक किन्तु [ वस्तुरूप वाच्य से ] गन्व [ = वास्तव ] सादृश्य दीपक होता है। क्रियादीपक और कारकदीपक दो प्रकारों का वह [ अनेकान्वयी धर्म के ] वाच्य के आरम्भ, मध्य और अन्त में प्रयुक्त होने से पुनः तीन प्रकार का हो छ प्रकार का माना जाता है। वस्तुतः संजीविनीकार की यह संग्रहकारिका अलंकारसर्वस्वकार के दीपकनिरूपण का आकलन समग्ररूप से नहीं करती।

[ सर्वस्व ]

[ सू० २६ ] वाक्यार्थगतत्वेन सामान्यस्य वाक्यद्वये पृथङ्निर्देशे  
प्रतिवस्तूपमा ।

पदार्थात्थो वाक्यार्थ इति पदार्थगतालंकारानन्तरं वाक्यार्थगतालंकार-  
प्रस्तावः। तत्र सामान्यधर्मस्येवाद्युपादाने सकृन्निर्देशे उपमा। वस्तुप्रति-  
वस्तुभावेनासकृन्निर्देशोऽपि सैव। इवाद्यनुपादाने सकृन्निर्देशे उपमा। वस्तु-  
प्रतिवस्तुभावेनासकृन्निर्देशे तु शुद्धसामान्यरूपत्वं विम्बप्रतिविम्बभावो वा।  
आद्यः प्रकारः प्रतिवस्तूपमा। वस्तु-शब्दस्य वाक्यार्थवाचित्वे प्रतिचा-  
वाक्यार्थमुपमा साम्यमित्यन्वर्थश्रयणात्। केवलं काव्यसमयात्पर्यायान्त-  
रेण पृथङ्निर्देशः। द्वितीयप्रकारश्रयेण दृष्टान्तो वक्ष्यते। तदेवमौपम्याश्रये-  
णैव प्रतिवस्तूपमा। यथा—

‘चकोर्य एव चतुराश्चन्द्रिकाचामकर्मणि ।

आवन्त्य एव निपुणाः सुदृशो रतनर्मणि ॥’

अत्र चतुरत्वं साधारणो धर्म उपमानवाक्ये, उपमेयवाक्ये तु निपुण-  
पदेन निर्दिष्टः। न केवलमियं साधर्म्येण यावद् वैधर्म्येणापि। यथात्रैवोत्तर-  
स्थाने ‘विनावन्तीर्न निपुणाः सुदृशो रतनर्मणि’ इति पाठे।

[ सू० ] [ यदि उपमा ] वाक्यार्थों में [ हो और तदर्थ ] साधारण धर्म का दो वाक्यों  
में भिन्न-भिन्न शब्दों से निर्देश किया गया हो तो [ वह उपमा ] प्रतिवस्तूपमा  
[ कहलाती है ] ॥ २६ ॥



[ वृ० ] वाक्यार्थ पदार्थ से निम्नत्र होता है, इस कारण वाक्यार्थगत अलङ्कारों का प्रकरण पदार्थगत अलङ्कारों के बाद प्रस्तुत किया जा रहा है। यहाँ जो यह सामान्य या साधारण धर्म है इसका निर्देश यदि केवल एक बार किया जाय तो वहाँ तो उपमालङ्कार होता ही है, वहाँ भी उपमालङ्कार ही होता है, अहाँ साधारण धर्म का निर्देश एकाधिक बार वस्तुप्रतिबन्धुभाव से किया जाता है, किन्तु यदि 'इव'-आदि शब्दों का उपादान नहीं रहता वहाँ यदि साधारणधर्म का निर्देश केवल एकबार हो तो दोषक या तुल्ययोगिता होते हैं, और यदि उसका निर्देश एकाधिक बार हो तो वहाँ या तो वह [ साधारणधर्म ] शुद्ध सामान्यरूप ही रहता है या वहाँ विन्वप्रतिबिम्बभाव रहता है। इन्हीं दो स्थितियों में से जो प्रथम स्थिति है उसमें उपमा को [ उपमा न कहकर ] प्रतिबन्धुत्व कहा जाता है, इसलिए कि ऐसा कहने से उसका अर्थ अपने समग्ररूप में स्पष्ट हो जाता है, क्योंकि 'वस्तु-' शब्द का अर्थ है 'वाक्यार्थ', अतः 'प्रतिबन्धु'-शब्द का अर्थ हुआ 'वाक्यार्थ वाक्यार्थ में' और 'उपमा' शब्द का अर्थ तो साम्य है ही। [ इस प्रश्नर प्रतिबन्धुत्व का अर्थ हुआ वाक्यार्थ का वाक्यार्थ से साम्य ] यहाँ साधारण धर्म को मित्र मित्र शब्दों से कहे जाने की जो प्रतिष्ठा है वह केवल इसलिए कि काव्यकला में सौन्दर्य की रक्षा वैसा ही करने से होती है [ शब्द न बदलने से अभिव्यक्ति में हृदयस्पर्शिता कम हो जाती है ]। इसीलिए काव्यशास्त्र = काव्य समय में एक ही शब्द के पुनः प्रयोग में 'कथितपदत्व' दोष माना गया है। ]

उक्त दो स्थितियों में विन्वप्रतिबिम्बभाव की जो द्वितीय स्थिति है उससे जो अलङ्कार निम्नत्र होता है उसे दृष्टात कहा जाता है, उसका निरूपण इस अलङ्कार के बाद किया जाएगा।

इस प्रकार प्रतिबन्धुत्व सादृश्य पर ही निर्भर रहने वाला अलङ्कार है। यथा—  
'चन्द्रिका के आवचन की कला में चक्रोरियाँ ही चन्द्र होती हैं [ और ] सुरतकेलि में निपुण अवन्तीजनपद की सुन्दरियाँ = मालविकायें ही हुआ करती हैं ।'

—यहाँ साधारण धर्म ही चतुरता, उसे उपमानवाक्य में चतुरशब्द और उपनेयवाक्य में निपुण शब्द से निर्दिष्ट किया गया है।

यह प्रतिबन्धुत्व केवल साधर्म्य के आधार पर नहीं, वैधर्म्य के आधार पर भी होती है। यथा इसी पद्य के उत्तरार्थ में 'अवन्तीजनपद की सुन्दरियों को छोड़ अन्य सुन्दरियाँ सुरतकेलि में निपुण नहीं होती।' ऐसा पाठ मान लेने पर।

### विमर्शिनी

वाक्यार्थेत्यादि। एतदेव व्याख्यातुमलङ्कारान्तरैः सहास्या विभागं दर्शयति—तत्रेत्यादिना। 'तथा स पूतश्च विभूषितश्च' इत्यश्रोपमायां सकृच्चिर्देशः। 'पाण्डवोऽयमंसार्वितलम्बहारः' इत्यादावपि चासकृच्चिर्देशः। तदेवमिवाशुपादाने साधारणधर्मस्य यथासंभवं स्वरूपं निरूप्येवाशुपादानेऽपि निरूपयति—इत्यादीत्यादिना। यद्यपि दीपकतुल्ययोगितयोः सामान्यस्यासकृच्चिर्देशोऽपि संभवति, तथापि सकृच्चिर्देशं विना तयोरेतयोः साहाय्येन वेह प्राधान्येनोक्तम्। असकृच्चिर्देशश्च द्विधा भवतीत्याह—असकृदित्यादि। आप. प्रकार इति शुद्धसामान्यरूपपरत्वम्। यदि चात्र सामान्यस्यैकरूपत्वमेवास्ति तर्हि पर्यायान्तरेण पृथङ्निर्देशः क्रियत इत्यादावाह—केवलमित्यादि। यदुक्तम्—'नैकं पदं द्विः प्रयोज्यं प्रायेण' इति। विन्वप्रतिबिम्बभावो द्वितीय प्रकारः।

एवमेतदुपसंहरन् प्रकृतमेव सिद्धान्तयति—तदेवमित्यादिना। औपम्याश्रयेति। एतदभिप्रेयता ग्रन्थकृता प्रतिबन्धुत्वमाया दृष्टान्ताद्भेदो दर्शितः। यतोऽस्याः प्रकृतार्थस्य विशेषाभिधिरसया सादृश्यार्थमप्रकृतमर्थान्तरमुपादीयते, अत एव चात्र प्रकृताप्रकृतयो-

रूपमानोपमेयभावः । दृष्टान्ते पुनरेतादृशो वृत्तान्तोऽन्यत्रापि स्थित इति प्रकृतस्यार्थ-  
स्याविस्पष्टा प्रतीतिर्मा भूदिति प्रतीतिविशदीकरणार्थमर्थान्तरमुपादीयते । अतः  
पुत्रात्रार्थान्तरोपादानं प्रकृतस्य न क्वाप्युपयुक्तमपि तु प्रतिपक्षः प्रकृतार्थप्रतीतेरविस्पष्ट-  
तानिरासात् । केचिच्च दृष्टान्ते द्वयोः समर्थ्यसमर्थकभावेनानयोर्भेदमाहुः ।  
तदसत् । यतः स्वरूपयोर्विशेषयोः समर्थ्यसमर्थकभावो न भवति । वस्त्वन्तरेण वस्त्व-  
न्तरसिद्धयनुपपत्तेः । त हि सामान्यविशेषयोरेव भवति । सामान्यस्य नियमेन विशेषनिष्ठ-  
त्वाद्विशेषस्य च नियमेन सामान्याश्रयत्वात् । यदि चात्र समर्थ्यसमर्थकभावः स्यादर्थांतर-  
न्यासादस्य पृथगलंकारता न स्यात् । समर्थ्यसमर्थकभावात्मनः सामान्यस्योभयत्राप्यनु-  
गमात् । अन्ये पुनरुभयत्राप्यार्थानौपम्यमाश्रित्य सामान्यस्य शुद्धसामान्यरूपत्वविन्द-  
प्रतिविम्बभावाम्भ्यां व्यवहितैरनयोर्भेदमाहुः । तदप्यसत् । एतावर्तनौपम्याख्यस्य सामा-  
न्यलक्षणस्यानुगतत्वाद्रूपमानेदवदनयोः पृथगलंकारत्वात्पुपत्तेः । तदेवं वाक्यनैरपेक्ष्येऽपि  
वक्तृप्रतिपक्षोरेव विशेषोपादानयोर्भेदः सिद्धः । वैधर्म्येणापीति । भवतीति शेषः ।

वाक्यार्थ इत्यादि, इती की व्याख्या करने के लिए अन्य अलंकारों से इसका विषयविभाग  
करते हुए लिखते हैं—तत्र । 'प्रमामहत्वा—तया स पूतश्च विभूषितश्च' [ कुमारसं० १ ]—पक्ष में  
आई उपमा में साधारणधर्म का निर्देश केवल एक बार किया गया है और 'पाण्डवोऽयमंस्तार्पित०'  
[ रघु० ६ ] पक्ष में साधारण धर्म [ विम्बप्रतिविम्बभाव से हुए आदि ] का निर्देश एकाधिक  
बार किया गया है । इस प्रकार 'इ' आदि का उपादान रहने पर साधारणधर्म का जैसा कुछ  
रूप संभव था उसका निरूपण किया । अब इवादि का उपादान न रहने पर संभव स्वरूप पर  
विचार करते हैं—'इवादि' इत्यादि अन्य द्वारा । यद्यपि दीपक और तुल्ययोगिता में साधारण-  
धर्म का एकाधिक बार भी निर्देश रह सकता है तथापि ये दोनों, बिना केवल एक बार निर्देश के  
निष्पन्न नहीं हो सकते इस कारण एक बार निर्देश ही प्रधान है अतः उसीका उल्लेख किया गया ।  
'एकाधिक बार निर्देश दो प्रकार से संभव है'—यह बतलाते हुए लिखते हैं—असकृत् इत्यादि ।  
आद्यः प्रकारः—प्रथम प्रकार जिसमें साधारणधर्म शुद्ध सामान्यरूप रहता है । [ साधारणधर्म के  
भिन्न-भिन्न शब्दों से निर्देश पर ] प्रश्न उठ सकता है कि 'यदि प्रतिवस्तूपमा में भिन्न-भिन्न वाक्यों  
में केवल एक ही साधारणधर्म बतलाना होता है तो उसका भिन्न-भिन्न पर्यायों से ही बतलाया  
जाना क्यों आवश्यक है' । इस पर उत्तर देते हैं 'केवलं काव्यसमयः' इत्यादि ।  
जैसा कि [ वामनाचार्य ने 'काव्यसमय' नामक प्रकरण में ] कहा है—'नैकं पदं द्विः प्रयोज्यं प्रायेण'  
[ का० सू० ५।११ ]—'प्रायः एक ही पद एक ही श्लोक में दो बार प्रयुक्त नहीं किया जाना चाहिए' ।  
द्वितीयः प्रकारः = द्वितीय प्रकार अर्थात् विम्बप्रतिविम्बभावात्मक ।

इस प्रकार इस विस्तार का उपसंहार करते हुए प्रकृत प्रतिवस्तूपमा पर निष्कृष्ट सिद्धान्त  
प्रस्तुत करते हैं—'तदेवम्' इत्यादि द्वारा । औपम्याश्रयेण = सादृश्य पर आश्रित कहकर  
ग्रन्थकार ने प्रतिवस्तूपमा का दृष्टान्त से मेद दिखला दिया । इस [ प्रतिवस्तूपमा ] में अप्रकृत अर्थ  
इसलिए अपनाया जाता है कि उसके साथ सादृश्य सिद्ध हो जाने से प्रकृत अर्थ और अधिक  
सुन्दर हो सके इस कारण इसमें प्रकृत और अप्रकृत अर्थों के बीच उपमानोपमेयभाव रहता है ।  
दृष्टान्त में अप्रकृत अर्थ का उपादान दूसरे उद्देश्य से किया जाता है । वह है प्रकृत अर्थ की  
विशदतया प्रतीति क्योंकि दृष्टान्त-वाक्यार्थ में प्रकृतरूप से उपादा अर्थ के विषय में दृष्टान्त देने के  
पूर्व ऐसा भाव नहीं होता है कि उस जैसी स्थिति अन्यत्र सम्भव नहीं है, अतः उसके  
विषय में कहीं गई बात चित्तमें ठीक अम नहीं पार्ता । दृष्टान्तरूप से अन्य वाक्यार्थ प्रस्तुत कर देने  
पर वह जन्म जाता है । इसलिए दृष्टान्त में दूसरे अर्थ का उपादान प्रकृत अर्थ के लिए उपयोगी न

शोकर प्रतिपत्ता = बोद्धा = महद्वय पाठक के लिए उपयोगा होता है, क्योंकि वह प्रकृत अर्थ के विषय में वनी घूमिल, अप्रकृत प्रतीति को उसके विषय में विस्पष्ट और प्रकृत बना देता है।

[ इस पर पण्डितराज जगन्नाथ का कहना है कि जब प्रकृत और अप्रकृत अर्थ प्रतिवस्तूपमा के ही समान दृष्टान्त में भी रहते हैं तो यह कहना युक्तिहीन है कि प्रतिवस्तूपमा में सादृश्य की प्रतीति होती है और दृष्टान्त में नहीं। किसी एक में सादृश्य मानने पर उलटे, दृष्टान्त में ही सादृश्य मान कर प्रतिवस्तूपमा में उमका अभाव बतलाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त अप्रकृतार्थ द्वारा प्रकृतार्थ का विद्यदीकरण सादृश्य से भिन्न कुछ नहीं हो सकता। द्रष्टव्य रम्यगाधर दृष्टान्तप्रकरण। ]

कुछ विद्वान् इन दोनों को [ दृष्टान्त में ] समर्थ्यसमर्थकभाव [ मान उस ] के आधार पर भिन्न बतलाते हैं, किन्तु वह ठीक नहीं, क्योंकि समर्थ्यसमर्थकभाव एक से ही एक से दो विशेषों में नहीं होता। क्योंकि भिन्न वस्तु से भिन्नवस्तु का समर्थन संभव नहीं होता [ विशेष-विशेष परस्पर भिन्न ही रहते हैं ]। वह केवल सामान्य और विशेष के ही बीच होता है, क्योंकि सामान्य नियमत-विशेष से अभिन्न रहता है और विशेष भी नियमत सामान्य से। यदि दृष्टान्त में समर्थ्यसमर्थकभाव होता तो इसे अर्थान्तरन्यास से अलग अलङ्कार मानना संभव न होता। क्योंकि समर्थ्यसमर्थकभावरूपी विशेषता दोनों में ही समानरूप से रहती है।

कुछ विद्वान् इन दोनों में विद्यमान अर्थ सादृश्य के धरातल पर इनका भेद करते हैं क्योंकि प्रतिवस्तूपमा में साधारणधर्म वस्तुप्रतिवस्तुभावापन्न शुद्ध सामान्यरूप साधारणधर्म रहता है और दृष्टान्त में विम्बप्रतिविम्बभावापन्न। किन्तु वह भी ठीक नहीं, क्योंकि इस आधार पर ये दोनों दो विशेष प्रकार की उपमा ही सिद्ध होंगी क्योंकि सादृश्यनरव दोनों में उपमा जैसा ही रहेगा। [ यह स्वयं सर्वस्वकार का ही स्पष्टन है ]।

इस प्रकार इनका भेद वाक्य से संभव नहीं होता। वक्ता और बोद्धा की मानस सविसि की ही स्वर इनका भेद ठीक ठहरता है।

वैधर्म्येणापि = वैधर्म्य से भी इसमें होता है—इतना जोड़ना शेष है।

विमर्श — प्रतिवस्तूपमा का पूर्वतिहास—

मामह और वामन ने प्रतिवस्तूपमा की उपमा का ही भेद माना है। यथा—

मामह—

‘समानवस्तुन्यासेन प्रतिवस्तूपमोच्यते। यथेवानभिधानेऽपि गुणसाम्यप्रतीतित्वात् ॥

कियन्तं सन्ति गुणिन साधुमाधारणश्रियः। साधुपाककलानम्राः कियन्तो वाञ्छशाशिनः ॥

साधुमाधारणत्वादिगुणोऽत्र व्यतिरिच्यते। स साम्यमाधादयति विरोधेऽपि तयोर्दत्त ॥

—२।३४-३६ ॥

—यथा श्व आदि का शब्द-कथन न रहने पर भी समान वस्तुओं [ वाक्यार्थों ] को उपस्थित करने से [ उपमा ही ] प्रतिवस्तूपमा करी जाती है क्योंकि वहाँ गुणसाम्य की प्रतीति होती है। यथा—‘श्वेने गुणी कितने जाने हैं जिनका सपत्ति साधुजनों के लिए सुखम रहती है, या परिपक्व फलों से झुके ऐसे कितने वृक्ष होने हैं जो रास्ते पर लगे रहने हैं।’

यहाँ पूर्वार्द्ध और उत्तरार्ध की वस्तुएं भिन्न भिन्न हैं तथापि साधुसाधारणत्व आदि गुण यहाँ दोनों अर्थ के वाक्यार्थों में साम्य की प्रतीति करा देता है यद्यपि वह पूर्वार्द्ध में साधुमाधारण शब्द से कथित है और उत्तरार्ध में उससे भिन्न मार्गस्थित शब्द ने [ क्योंकि ‘मार्गस्थित’ शब्द से ठीक रास्ते चलने वाला अर्थ भी निकलता है जिसका विरोधार्थी शब्द ‘उन्मार्गप्रवृत्त’ है ]।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि भामह प्रतिवस्तूपमा को प्रायः संपूर्ण सामग्री प्रस्तुत कर देते हैं।

चामनः—संप्रत्युपमाप्रपञ्चो विचार्यते ।

[सू०] प्रतिवस्तुप्रभृतिः उपनाप्रपञ्चः ॥ ४।३।१ ॥

वाक्यार्थोपमायाः प्रतिवस्तुनो भेदं दर्शयितुमाह—

[सू०] उपमेयस्योक्तौ समानवस्तुन्यासः प्रतिवस्तु ॥

[वृ०] समानं वस्तु वाक्यार्थः, तस्य न्यासः समानवस्तुन्यासः—

उपमेयस्यार्थाद् वाक्यार्थस्योक्तौ सत्यामिति ।

अत्र द्वौ वाक्यार्थो, एको वाक्यार्थोपमायामिति भेदः । तद्यथा—

‘देवीमात्रं गमिता परिवारपदं कथं भजत्वेषा ।

न खलु परिभोगयोग्यं देवतत्त्वाङ्कितं रत्नम् ॥’

—अब उपमा के प्रपंच पर विचार करते हैं—

[ सू० ] प्रतिवस्तूपमा आदि उपमा का प्रपंच है। वाक्यार्थोपमा [‘पाण्डयोऽयमंसापित०’ आदि पद्यों के पूरे वाक्यार्थ में रहने वाली उपमा] से प्रतिवस्तु की उपमा का भेद बतलाने के लिए लिखा—

[ सू० ] उपमेय को कहकर समान वस्तु प्रस्तुत करना [ है ] प्रतिवस्तूपमा ।

[ वृ० ] समान जो वस्तु अर्थात् वाक्यार्थ, उसका न्यास = अर्थात् प्रस्तुतीकरण हुआ समान-वस्तुन्यास, किन्तु तब, जब उपमेय अर्थात् वाक्यार्थरूप ही उपमेय पहिले प्रस्तुत किया जा चुका है। इस प्रकार इस [ प्रतिवस्तूपमा ] में दो वाक्यार्थ रहते हैं जब कि [ ‘पाण्डयोऽयमंसापित०’—इत्यादि पद्य के पूरे वाक्यार्थ में रहने से ] वाक्यार्थोपमा [ कही जाने वाली उपमा ] में केवल एक ही वाक्यार्थ रहता है। यथा—

‘यद् रत्नावली अब जब महारानी हो गई तो वह परिवार [ नौकर चाकर जो आसपास घिरे रहते हैं ] पद पर कैसे रह सकती है। जिस रत्न पर देवप्रतिमा उकेर दी जाय वह परिभोग के योग्य हो ऐसा नहीं होता ॥’

वामन के इस विवेचन से स्पष्ट है कि वे प्रतिवस्तूपमा को उपमा ही मानते हैं। यह भी स्पष्ट है कि प्रतिवस्तूपमालङ्कार की समग्रता यहाँ निष्पन्न हो जाती है।

उद्भट्ट = उद्भट्ट ने भी प्रतिवस्तूपमा को उपमा के ही प्रसङ्ग में प्रस्तुत किया है—

‘उपमानसन्निधाने च साम्यवाच्युच्यते बुधैर्द्वयं । उपमेयस्य च कविभिः सा प्रतिवस्तूपमा गदिता ॥ प्राकरणिकत्वस्थित्यैकश्वोपमेयतां लभते । उपमानत्वं चापर इत्युपमावाचिञ्चूत्स्वन् ॥

—कविजन, जहाँ साम्य [ साधारण्यमें ] वाची शब्द का प्रयोग उपमान के साथ भी करते हैं और उपमेय के साथ भी उसे प्रतिवस्तूपमा कहा गया है।

—यहाँ एक अर्थ प्राकरणिकत्व के आधार पर उपमेय सिद्ध हो जाता है और दूसरा उपमान इसलिए उपमावाचक शब्द का प्रयोग नहीं रहता। यथा—

उत्त [ पार्वती ] जैता सौन्दर्य और शील दोनों से सन्दृढ़ युवतियों कम ही होती हैं। ऐसी रातें कितनी होती हैं जिनमें वर्षा भी हो और पूर्ण चन्द्रविन्ध्य भी।

—स्पष्ट ही यहाँ उद्भट्ट ने भामह तथा वामन से आगे बढ़कर उपमावाचक शब्द के अभाव तथा साधारण धर्म के उपमान और उपमेय के साथ उल्लग्न-अल्ला प्रयोग पर बल दिया। किन्तु उनका ‘साम्यवाची’ शब्द भ्रामक है।

उद्भट्टः—उद्भट्ट ने प्रतिवस्तूपमा को उभयन्यास नामक औपन्यमूलक अलंकार माना है—

‘सामान्यावन्वर्थौ स्फुटमुपमायाः स्वरूपतोऽपेतौ ।

निर्दिश्येते यस्मिन्नुभयन्यासः स विद्वेषः ॥

—जहाँ दो सामान्य प्रतीत होने वाले अर्थ कहे तो स्पष्ट रूप से जायें किन्तु वे उपमा के स्वरूप से रहित हों उसे उभयन्यास समझना चाहिये। स्पष्ट ही रुद्रट की यह कारिका अर्थ की समग्रता का बहान नहीं कर पाती। उपमा के स्वरूप में रहित कहने का अर्थ उपमावाचक इवादि के प्रयोग का अभाव ही हो सकता है। मामह और वामन ने 'समानरस्तुन्यास' शब्द का प्रयोग किया था और एक अर्थान्तरन्यास नाम का अलंकार भी माना था। रुद्रट ने उसी 'अर्थान्तरन्यास' शब्द का अनुकरण कर प्रतिवस्तूपमा के लिए 'उभयन्यास' शब्द बना लिया। अधिक अच्छा होता यदि वे समानन्यास शब्द बोलते क्योंकि उभय शब्द 'वस्तु' या 'प्रतिवस्तु' शब्द के ही समान असमानद्वय तक व्याप्य है। सर्वथा रुद्रट ने प्रतिवस्तूपमा को उपमा से अभिन्न या उपमा का ही एक भेद न मानकर उसे कुछ दूर खींचना चाहा है जिसका अनुकरण मम्मट में देखा जाता है और कदाचित् प्रथमतः सर्वस्वकार ने ही इनका क्रम ठीक किया है। रुद्रट ने उभयन्यास नाम से प्रतिवस्तूपमा का लक्षण कर जो उदाहरण दिया है वह ठीक मामह के उदाहरण का माधर्म्य है—

‘सकलजगत्साधारणविभवा मुवि साधवोऽधुना विरला ।

सन्ति कियन्तस्तरवः सुस्वादुगन्धिचारुफला ॥’

—‘इस समय ऐसे साधुरूप विरल ही हैं जिनका वैभव सारे रूसार के लिए उपयोगी हो। ऐसे वृक्ष कितने होते हैं जो उत्तम स्वाद से युक्त, सुगन्धी तथा सुन्दर होते हैं। यहाँ मामह के उदाहरण में उपलब्ध 'मागस्थता' को छोड़ रुद्रट उपमानवाक्यार्थ में साधारणधर्म की स्थापना नहीं कर सके। कदाचित् वे साधारण धर्म के दो बार भिन्नशब्द के निर्देश को अनावश्यक मानते हों और कदाचित् उनके मनमें वस्तुप्रतिवस्तुभाव का अभिप्राय वही जमा हो जो परवर्ती टीकाकारों में मिलता है। वे 'एकस्यैव धर्मस्य पृथक्छब्दान्यानुपादानं वस्तुप्रतिवस्तुभाव'—'एक ही धर्म का भिन्न भिन्न शब्दों से उपादान वस्तुप्रतिवस्तुभाव है'—[ नागेश-रसगंगाधर प्रतिवस्तूपमा ] इस प्रकार वस्तुप्रतिभाव को वाक्यार्थपरक न बनाकर साधारणधर्मपरक बनाते हैं। रसगंगाधरकार के आगे उद्धृत किए जाने वाले लक्षण से यह तथ्य स्पष्ट है। इसीलिए रुद्रट ने कदाचित् प्रतिवस्तूपमा शब्द को भी हटा दिया है। यहाँ तक कि टीकाकार नमिसाधु ने भी यहाँ इस शब्द को स्मरण नहीं किया।

मम्मट :—[ सू० ] प्रतिवस्तूपमा तु सा, सामान्यस्य द्विरेकस्य यत्र वाक्यद्वये स्थितिः ।

[ वृ० ] साधारणो धर्मः उपमेयवाक्य उपमानवाक्ये च कथितपदस्य दुष्टतयाभिहितत्वात् शब्द-भेदेन यदुपादीयते सा वस्तुनो वाक्यार्थस्योपमानत्वात् प्रतिवस्तूपमा ।—यथा 'दीर्घमाद'० ।

[ सू० ] प्रतिवस्तूपमा वह जहाँ एक सामान्य दो वाक्यों में दो बार स्थित हो ।

[ वृ० ] [सामान्य = ] साधारण धर्मको उपमेयवाक्य और उपमानवाक्य में, कथितपदत्वदोष के परिहार के हेतु जो भिन्न भिन्न शब्दों से कहा जाता है उसीको वस्तु अर्थात् वाक्यार्थ के उपमान होने से प्रतिवस्तूपमा कहा जाता है ।

—मम्मट की पदावली वृत्ति में स्पष्ट रूप से साधारण धर्म के भिन्न शब्द से असङ्ख्य कथन की ओर अधिक उन्मुख है, कदाचित् वे प्रतिवस्तूपमा में चमत्कार का बीज इसी को मानने हों। उन्होंने वस्तु का अर्थ वाक्यार्थ तो किया है किन्तु उसमें जुड़े 'प्रति'-शब्द की ओर ध्यान नहीं दिया। वामन ने उसे ठीक से पकाया है। मम्मट ने साधारण धर्म की द्विरक्ति पर इस लिए अधिक बल दिया हो, कि रुद्रट ने उसकी सर्वथा उपेक्षा कर दी थी। किन्तु उनके इस क्रम से प्रतिवस्तूपमा की तुला में साधारणधर्म द्विरक्ति का पलड़ा वाक्यार्थगत साम्यप्रतिपत्ति के

पलड़े से मारों पड़ गया । वस्तुतः प्रतिवस्तूपमा का प्राण उपमा है और उसमें यहाँ प्राण है उसकी वाक्यार्थवृत्ति तथा गम्यता । साधारणधर्म की भिन्नशब्दा द्विरुक्ति और श्वादि उपमावाचकों की अनुक्ति तो इनमें साधन है ।

मामह, वामन, उद्भट और रुद्रट ने मालाप्रतिवस्तूपमा का उल्लेख नहीं किया न तो वैधर्म्य-मूलक प्रतिवस्तूपमा का ही । अलंकारसर्वस्वकार ने यद्यपि वैधर्म्यमूलक प्रतिवस्तूपमा को जोड़ा किन्तु मालाप्रतिवस्तूपमा उनसे भी छूट गई । परन्तु वस्तुतः प्रतिवस्तूपमा में मालात्व से उतना अतिशय नहीं आता जितना वैधर्म्य से आता है । फिर मालात्व उपमा आदि में प्रतिपादित भी किया जा चुका है । उसे यहाँ स्वयं भी जाना जा सकता है । वैधर्म्यमूलकता अवश्य ही एक उल्लेखनीय विशेषता थी ।

शोभाकरः—[ सूत्र ] वाक्यद्वयेऽसकृद् [ धर्मस्य निर्देशेऽप्रस्तुतानां प्रस्तुतानां चार्थमीपम्यं ] प्रतिवस्तूपमा ॥ १६ ॥

[ वृत्त ] वाक्यार्थयोरुपमानोपमेयभावस्यार्थत्वे साधारणधर्मस्यासकृदुपादाने प्रतिवस्तूपमा । कथितपदस्य दुष्टत्वाद् वाक्यद्वये शब्दभेदेन पृथक् निर्देशः ।

—[ सूत्र ] 'दो वाक्यों में साधारण धर्म का यदि एकाधिक बार निर्देश हो और प्रस्तुताप्रस्तुतों में आर्थ औपम्य हो तो प्रतिवस्तूपमा ।' [ वृ० ]—'दो वाक्याओं का सादृश्य आर्थ हो और साधारण-धर्म का उपादान एकाधिक बार किया गया हो तो प्रतिवस्तूपमा होती है । कथितपदत्व = अर्थात् एक ही वाक्य या पद्य में एक बार आए शब्द को दूसरी बार प्रयुक्त करना दोष है अतः दोनों वाक्यों में साधारण धर्म का वाचक शब्द भिन्न भिन्न शब्दों द्वारा प्रस्तुत किया जाना चाहिए ।'

रत्नाकरकार शोभाकर ने वाक्यार्थों के ( १ ) शुद्ध प्रकृत, ( २ ) शुद्ध अप्रकृत और ( ३ ) मिश्र के तीन वर्ग बनाकर प्रतिवस्तूपमा को तीन प्रकार का बतलाया है । यह उनका अलंकार-सर्वस्वकार से आगे बढ़कर प्रतिवस्तूपमा में किया गया योगदान है ।

रत्नाकरकार ने इसे वैधर्म्यमूलक भी माना है और उदाहरण के रूप में अलंकारसर्वस्वकार द्वारा प्रस्तुत 'चकोर्यं०० विनावन्तीर्न०' पद्य ही दिया है । किन्तु उन्होंने यहाँ एक मार्मिक विचार भी प्रस्तुत किया है ।—

'अत्र यद्यपि चातुर्यस्य न निपुणा इत्यनेनाभावप्रतिपादनाद् एकस्य धर्मस्यासकृन्निर्देशाभाव-स्तथापि वैधर्म्यस्य साधर्म्याक्षेपकत्वाद् अवन्तीनां रते निपुणत्वेन प्रतीतेरर्थाचातुर्यस्यासकृन्निर्देशः ।'

'चकोर्यं एव०' पद्य में उपमानवाक्य में 'चातुर्यं'-शब्द से जिस साधारणधर्म का निर्देश किया गया है उपमेयवाक्य में 'न. निपुणाः' = 'निपुण नहीं हैं'—इस प्रकार उसी साधारण धर्म का अभाव बतलाया गया है, फलतः साधारण धर्म का असकृद् निर्देश यहाँ नहीं हुआ तथापि यह दोष नहीं है क्योंकि 'अवन्ती की स्त्रियों को छोड़कर अन्य कोई निपुण नहीं है' ऐसा कहने से 'केवल अवन्ती की ही स्त्रियाँ निपुण हैं'—यह तथ्य निकल आता है और इसमें साधारणधर्म का दूसरी बार वैसे ही निर्देश हो जाता है वैसे सीधे साधर्म्य वाक्य के प्रयोग से साधर्म्यमूलक प्रति-वस्तूपमा में होता है । रत्नाकरकार ने वैधर्म्य शब्द के विषय में लिखा है—'अभिहितविपरीतो ह्यर्थो विधर्मा, तस्य मासो वैधर्म्यम् । यथा—'चकोर्यं' इत्यत्र चकोरीणां प्रतिपादितस्य चातुर्यस्य विपरीतोऽर्थः तदभाव उपमानवाक्ये चकोरीत्ववावन्तीव्यतिरिक्ता अन्या युवतयो न निपुणाः इत्य-भिहितः । न चात्र नञादिप्रयोगमात्राद् वैधर्म्यमिति वक्तव्यम्, 'स्थितो देवदत्तो न गतः' इत्यत्र पर्यायप्रयोगेऽपि वैधर्म्यप्रसङ्गात् ।'

—‘जो अर्थ कथित अर्थ के विपरीत हो वह अर्थ कहलाएगा विधर्मा और उसका भाव होगा वैधर्म्य । यथा ‘चकोर्यं०’ पद्य में पूर्वार्द्ध में जो चकोरियों की चतुरता बतलाने गर्द है उत्तरार्ध के उपमान में उससे उलटा ‘चकोरीमुख्य अवन्ती सुवतियों से भिन्न सुवतियों निपुण नहीं होती’—यह अर्थ कहा गया है । ऐसा नहीं समझना चाहिए कि प्रतिवस्तूपमा में केवल ‘न’ के प्रयोग मात्र से वैधर्म्य की प्रतीति हो जाती है, क्योंकि ‘देवदत्त अभी बैठा है, गया नहीं है’ इस वाक्य में भी, जहाँ केवल पर्याय मात्र का प्रयोग होता है, वैधर्म्य मानने की विवशता उठ पड़ेगी ।

‘वैधर्म्य’ पर सूक्ष्म विवेचन करने पर भी अलङ्काररत्नाकरकार मालाप्रतिवस्तूपमा पर सर्वस्वकार के हाँ समान चुप हैं ।

अप्पयदीक्षित की चित्रमीमांसा में प्रतिवस्तूपमा का विवेचन रह गया है किन्तु कुवलयानन्द में वह इस प्रकार है—

‘वाक्ययोरैकसामान्ये प्रतिवस्तूपमा मता ।

तापेन भ्रान्ते सूरः शूरश्चापेन राजते ॥’

—‘दो वाक्यों में यदि एक ही साधारण धर्म हो तो प्रतिवस्तूपमा होती है यथा—‘सूर्य ताप से झुगोमित होता है, शूर चाप से विराजता है ।’ [ वृत्ति ] = ‘यत्रोपमानोपमेयपरवाक्ययोरैकः समानो धर्मः पृथक् निर्दिश्यते सा प्रतिवस्तूपमा । प्रतिवस्तु प्रतिवाक्यार्थम् उपमा समानधर्मोऽस्त्या-मिति व्युत्पत्तेः ।’

—जहाँ उपमान और उपमेय के वाक्यों में एक ही समान धर्म पृथक् निर्दिष्ट हो वह होगी प्रतिवस्तूपमा क्योंकि प्रतिवस्तूपमा शब्द की व्युत्पत्ति है—‘प्रतिवस्तु प्रतिवाक्यार्थ उपमा = समान धर्म हो जिसमें ।’

अप्पयदीक्षित ने प्रस्तुताप्रस्तुतत्व का मिश्रण और वैधर्म्यमूलकता इन दोनों पर ध्यान दिया है किन्तु मालाप्रतिवस्तूपमा के विषय में वे भी मौन हैं ।

पण्डितराज जगन्नाथ ने प्रतिवस्तूपमा पर पर्याप्त सूक्ष्मता से विचार किया है और इस प्रकार लक्षण स्थिर किया है—

‘वस्तुप्रतिवस्तुमावापञ्चसाधारणधर्मकवाक्यार्थयोरर्थमौपम्यं प्रतिवस्तूपमा ।’

—‘जिसमें साधारणधर्म वस्तुप्रतिवस्तुभाव से युक्त हो ऐसे दो वाक्यार्थों का अर्थ सादृश्य प्रतिवस्तूपमा ।’

पण्डितराज ने वस्तुप्रतिवस्तुभाव को धर्म से जोड़कर ‘प्रतिवस्तूपमा’ शब्द के परम्परागत अर्थ को बदल दिया है । मालाप्रतिवस्तूपमा पण्डितराज ने भी छोड़ दी है । विश्वेश्वर पण्डित ने उसे भी अपना लिया है ।

दृष्टान्त से प्रतिवस्तूपमा का भेद विमर्शिनीकार ने जिस बिन्दु पर किया है उसमें स्वयं सर्वस्वकार का मत कट गया है । सर्वस्वकार ने वस्तुप्रतिवस्तूपमा को विन्व प्रतिविम्बभावमूलक दृष्टान्त से भिन्न किया है । विमर्शिनीकार इन दोनों भावों को प्रतिवस्तूपमा और दृष्टान्त को परस्पर में भेदक तो मान लेते हैं किन्तु वे कहते हैं कि इनके आधार पर इन दोनों का उपमा से भेद सिद्ध नहीं होता अतः उनका तर्क ही मानना उचित है । किन्तु आश्चर्य इस बात का है कि सर्वस्वकार प्रतिवस्तूपमा और दृष्टान्त को उपमा से भिन्न मानते ही नहीं, तब इसे विमर्शिनीकार उनके मत के विरोध में आपत्तिरूप से प्रस्तुत कैसे कर रहे हैं । अथापि इस विषय में तर्क विमर्शिनीकार के ही मान्य हैं ।

संजीविनी कार श्री विद्याचक्रवर्ती ने प्रतिवस्तूपमा का सार संक्षेप इस प्रकार किया है—

‘असङ्करधर्मनिर्देश इवादेरनुपमहे । प्रतिवस्तूपमा शेषा प्रतिवाक्यार्थसाम्यतः ॥

—यदि साधारण धर्म का निर्देश अनेक वार हो और इवादि—उपमावाचकों का उपादान न रहे तो वाक्यार्थ के साथ होने वाली वाक्यार्थ को उपमा प्रतिबन्तूपमा होती है ।

[ सर्वस्व ]

[ सू० २७ ] तस्यापि विम्बप्रतिविम्बभावतया निर्देशे दृष्टान्तः ।

तस्यापीति न केवलमुपमानोपमेययोः । तच्छब्देन सामान्यधर्मः प्रत्यव-  
सृष्टः । अयमपि साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां द्विविधः । आद्यो यथा—

‘अग्निर्लङ्घित एव वानरभटैः किं त्वस्य गम्भीरता-  
भापातालनिमग्नपीवरतनुर्जानाति मन्थाचलः ।  
देवीं वाचमुपासते हि बहवः सारं तु सारस्वतं  
जानीते नितरामसौ गुरुकुलकिल्लिष्टो मुरारिः कविः ॥’

अत्र यद्यपि ज्ञानाख्य एको धर्मो निर्दिष्टस्तथापि न तन्निबन्धनमौपम्यं  
विवक्षितम् । यन्निबन्धनं च विवक्षितं तत्राग्निर्लङ्घनादावस्त्येव दिव्य-  
वागुपासनादिना प्रतिविम्बनम् । द्वितीयो यथा—

‘कृतं च गर्वाभिमुखं मनस्त्वया किमन्यदेवं निहताश्च नोऽरयः ।  
तमांसि तिष्ठन्ति हि तावदंशुमान्न यावदायात्युदयाद्रिमौलिताम् ॥’  
अत्र निहतत्वादेः स्थानादिना वैधर्म्येण प्रतिविम्बनम् ।

[ सूत्र ] यदि उस [ साधारण धर्म ] का भी निर्देश विम्बप्रतिविम्बभाव से हो  
तो [ वही उपमा ] दृष्टान्त [ कहलाती है ] ॥ २७ ॥

[ वृत्ति० ] ‘उत्तमा भी’—का अर्थ यह हुआ कि केवल उपमान और उपमेय का ही नहीं ।  
यहाँ ‘उत्त’-शब्द का प्रयोग सामान्य धर्म के लिए है । यह [ दृष्टान्त ] भी साधर्म्य और वैधर्म्य  
भेद से दो प्रकार का होता है । इनमें से प्रथम यथा—

‘वानरवीरों ने समुद्र लौंघ तो लिया किन्तु इसकी जो गम्भीरता है उसे केवल मन्थाचल  
ही जानता है जिसका विशाल शरीर उसमें पाताल-पर्यन्त निमग्न है । ऐसे बहुत लोग हैं  
जो वाग्देवी की उपासना करते हैं किन्तु इसमें जो सारभूत तत्व है उसे केवल मुरारि कवि ही  
जानता है—जिसने गुरुकुल में कठोर तप किया है ।’

[ इस पद्य में ‘देवीं वाचम्’ के स्थान पर ‘दैवीं वाचम्’ पाठ छपा हुआ मिलता है उसके  
आधार पर इस शब्द का अर्थ ‘सुरमारती = संस्कृत भाषा कर लिया जाता है किन्तु ‘सारं तु  
सारस्वतं’ के ‘सारस्वत’-पदार्थ से अभिन्न सिद्ध करने के लिए वहाँ ‘वाग्देवी’—का अर्थ देने वाला  
‘देवीं वाचं’ पाठ ही माना जाना चाहिए । ‘संस्कृत भाषा’ को तो बहुत लोग पढ़ते हैं किन्तु  
सारस्वती का सार मुरारि ही जानता है यह कथन उसी प्रकार असंगत है जिस प्रकार ‘काव्य-  
प्रकाश तो बहुत लोग पढ़ते हैं पर साहित्य का सार मैं ही जानता हूँ—’ यह कहना । क्योंकि  
वक्ता को काव्यप्रकाश के ज्ञान में अन्वों से निज का अतिरेक दिखलाना है अतः ‘किन्तु उसका  
सार मैं ही जानता हूँ’ यह कहना है । ]

—यहाँ यद्यपि [ पूर्वार्द्ध के उपमान वाक्य तथा उत्तरार्द्ध के उपमेय वाक्य में धानार्थक एक  
ही ‘शा’ धातु के जानाति = जानता है और ‘जानीते’ = जानता है — इन दो रूपों द्वारा ] साधारण



धर्म तो एक ही [ अर्थात् एक ही शब्द द्वारा ] दिखलाया गया है और वह है ज्ञान, तथापि [ यहाँ प्रतिबन्धनपूमा नहीं है क्योंकि ] सादृश्य को उस पर निर्भर नहीं रखा गया है, और सादृश्य को जिन पर निर्भर रखा गया है वह है समुद्रलक्षण आदि, और उसमें [ विम्बभूत ] वाग्देवी की उपासना का प्रतिबिम्बन है ही ।

[ इस पद्य में विम्बभूत मुरारि कवि का प्रतिबिम्ब है—मन्याचल और बहुत शब्द से कथित विद्वानों का प्रतिबिम्ब है वानरवीरों का समुदाय । ये दोनों धर्मो-धर्मों के विम्बप्रतिबिम्बभाव हैं । इनके अतिरिक्त यहाँ विम्बभूत सरङ्गत की उपासना का समुद्रलक्षण और वैसे ही गुरुकुलकलेश का पातालपर्यन्त हृवना प्रतिबिम्ब है । ये दोनों हैं धर्मगत । विम्बप्रतिबिम्बभाव का अर्थ है भिन्न पदार्थों का सादृश्यमूलक ऐक्य । उक्त पदार्थों में वह औचित्यसिद्ध है, अतः यहाँ दृष्टान्त की ही अलङ्कारता मान्य है ] । दूसरा [ वैधर्म्यमूलक ] यथा—

‘आपने ज्यों ही आपका चित्त गर्व की ओर घुमाया कि, और क्या, हमारे सारे शत्रु नष्ट हो गए । अंधकार तभी तक ठहरता है जब तक भगवान् सूर्य उदयाचल से शृङ्ग पर नहीं पहुँचते ।

—यहाँ ‘नष्ट होना’ इसका प्रतिबिम्ब है ‘पहुँचना’ यित्तु वैधर्म्य से । [ अर्थात् ‘पहुँचना’ आशेष द्वारा ‘भागने’ की खींच लाता है और तब उसके साथ नष्ट होने का विम्बप्रतिबिम्बभाव बन जाता है ] ।

### विमर्शिनी

तस्यापीति [ साम्राज्यधर्मस्थापीत्यर्थः ] उपमानोपमेययोरिति । प्रकृताप्रकृतयोर्धर्मिणोरित्यर्थः । अतश्च धर्माणां धर्मिणां च विम्बप्रतिबिम्बभावेन निर्देशोऽयमलङ्कारः । यदुक्तमन्यथापि—‘दृष्टांत. पुनरेतेषां सर्वेषां प्रतिबिम्बनम्’ इति । उपमानोपमेययोरिति तु स्वार्थ एव न व्याप्येयम्, अर्थांतरस्य प्रकृतदाह्यायोपादानात्सादृश्याविवक्षणात् । आद्य इति साधर्म्येण । यथा वा—

‘स्थानेषु शिष्यमिच्छे’ प्रतिपाद्यमाना विद्या गुरुं हि गुणवत्तरमातनोति ।

आदाय शुक्तिषु चलाहकविप्रकीर्णं रत्नाकरो भवति चारिभिरम्बुराशिः ॥

अत्र स्थानादीनां शुक्त्वादिभिः प्रतिबिम्बनम् । यद्विबन्धन चेति । अर्थात्कारस्येन पुनरौपम्यम् । तस्य च समनन्तरोक्तयुक्त्यामंभवात् ।

तस्यापि = उसका ( अर्थात् साधारण धर्म का ) मी । उपमानोपमेययो = उपमान और और उपमेय का’ अर्थात् के प्रकृत और अप्रकृत धर्मोंका । इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि धर्म और धर्मों दोनों के विम्बप्रतिबिम्बभाव से निर्देश ही यह अलङ्कार है । जैसा कि अन्यत्र [ काव्यप्रकाश में ] कहा गया है—‘इन सभी का प्रतिबिम्बन दृष्टान्त ‘होता है’ । उपमानोपमेययो = उपमान-उपमेय का’, इसमें जो उपमान और उपमेय शब्द हैं इन्हें इन्हीं के अर्थ नक मीमित नहीं समझना चाहिए क्योंकि यहाँ जो दूसरा अर्थ अपनाया जाता है उसका उद्देश्य केवल प्रकृत अर्थ की पुष्टि करना रहता है, सादृश्य की सिद्धि करना नहीं । आद्य = प्रथम साधर्म्यमूलक । [ रत्नाकरकार ने इन पद्य में प्रतिबन्धनपूमा का सकर बनलाया है अतः — इसका दूसरा उदाहरण यह हो सकता है—

‘शिष्यगण जब स्थानों पर [ ठीक शिष्यों में ] विद्या प्रदान करने लगते हैं तो उससे गुरु और अपिक गुणी सिद्ध होने हैं । [ समुद्र से ] जल लेकर मेघ जब उसे सोंपों में बरसाने हैं तो उससे जलराशि समुद्र रत्नाकर कहलाने लगता है ।’—यहाँ ‘स्थान’ आदि का ‘सोंप’आदि से प्रतिबिम्बन किया गया है । [ आदि पद से शिष्य के प्रतिबिम्ब मेघ, गुरु का प्रतिबिम्ब समुद्र, विद्या का

प्रतिबिम्ब जल, गुणवत्तरता का प्रतिबिम्ब रत्नाकर ] 'यद्यिवन्धनं च = जिसके आधार पर, यह औपन्य के लिए नहीं, अर्थालङ्कारत्व के लिए कहा गया है। क्योंकि औपन्य तो अभी अभी प्रतिपादित युक्ति से यहाँ संभव ही नहीं होता। [ युक्ति है—'प्रकृत अर्थ की पुष्टिमात्र के लिए अप्रकृत अर्थ का प्रस्तुतीकरण, न कि सादृश्य या औपन्य को तात्पर्य रूप से प्रतिपादित करने के लिए, इसी तन्त्र को प्रतिवस्तूपमा प्रकरण में अप्रकृतार्थ द्वारा प्रकृतार्थ का विशदीकरण कहा है ]।

विमर्शः—( १ ) टीकाकार का कथन है कि यहाँ प्रकृत-अप्रकृत केवल प्रकृत-अप्रकृत ही रहते हैं उपमेय और उपमान नहीं बन पाते क्योंकि दृष्टान्त में अप्रकृत अर्थ केवल प्रकृत अर्थ की पुष्टि के लिए आता है, सादृश्य-सिद्धि के लिए नहीं, अतः सर्वस्वकार ने जो 'उपमानोपमेय'—शब्द दिया है उसका अर्थ केवल प्रकृताप्रकृत ही किया जाना चाहिए। किन्तु यहाँ प्रकृताप्रकृत उपमानोपमेय नहीं बन पाते यह कथन अनुभव विरुद्ध है। विन्वप्रतिबिम्बभाव एक साधन है साधारण धर्म की निष्पत्ति का, और साधारण धर्म की निष्पत्ति का एक फल यदि प्रकृतार्थ की पुष्टि है तो दूसरा उपमानोपमेयभाव की निष्पत्ति भी है। यह अलग बात है कि उपमानोपमेयभाव यहाँ प्रकृतार्थ पुष्टि के पीछे रहता है, स्वयं प्रधान नहीं बनता। सच तो यह है कि उपमालंकार में भी प्रकृत अर्थ की पुष्टि के अतिरिक्त और कुछ प्रयोजन नहीं रहता अप्रकृत अर्थ की उपस्थिति का।

जैसा कि प्रतिवस्तूपमाप्रकरण में बतलाया जा चुका है विमर्शिनोकार की इस मान्यता का खण्डन दृष्टान्त के ही प्रकरण में पण्डितराज जगन्नाथ ने भी प्रायः इन्हीं तर्कों द्वारा बहुत ही संरम्भ के साथ किया है और विश्वेश्वर पण्डित ने उनके खण्डन का समर्थन किया है। [ द्र० दृष्टान्त-लंकारान्त, अलं० कौस्तुभ ]।

( २ ) टीकाकार ने 'यद्यिवन्धनं' का अर्थ 'अर्थालंकारस्वनिबन्धनं' करना चाहा है किन्तु वह भी मूल के विरुद्ध है। मूल में 'औपन्यं, विवक्षितम्, यद्यिवन्धनं च विवक्षितम्' इस आनुपूर्वी से उपस्थित वाक्य के 'यत्' शब्द का अर्थ औपन्य को छोड़ और कुछ किया ही क्या जा सकता है। फिर प्रतिवस्तूपमा की भूमिका से ही अन्यकार दृष्टान्त को उपमा बतलाता आ रहा है। यहाँ आकर वह उसमें उपमा का अभाव सिद्ध करना चाहता है वह कैसे मान्य। टीकाकार यदि दृष्टान्त और प्रतिवस्तूपमा में अन्तर सिद्ध करने के लिए दृष्टान्त में प्रकृतार्थपुष्टि बतलाना चाहते हैं तो उसमें उपमानोपमेयभाव बाधक नहीं है, अतः उसका निराकरण भी आवश्यक नहीं है। यदि निराकरण भी करना हो तो उन्हें अपनी ओर से करना चाहिए। उसे अन्यकार या उसके ग्रन्थ पर नहीं थोपना चाहिए। विमर्शिनोकार की सर्वनाम के अर्थ पर इस मनमानी का उत्तर पण्डितराज ने और भी समर्थ शब्दों में दिया है। उन्होंने कहा है—

'न चैत्रार्थं ज्योदनः पक्कः, यदर्थं च पक्कः स मैत्रः' इत्यादी द्वितीयपक्षादिशब्दानाम् अध्याहत-ज्ञाकादिपरत्वे असंगतेः स्फुटत्वाच्च ।'

—'मात चैत्र के लिए नहीं पकाया गया है, जिसके लिए पकाया गया है वह है मैत्र'—इस उक्ति में जो द्वितीय वाक्य का 'पकाया गया' शब्द है वह पूर्वोक्त मात को छोड़ ऊपर से लाए गए ज्ञाकादि के लिए नहीं माना जा सकता। द्रष्टव्य = दृष्टान्तप्रकरण, रसगंगाधर।

( ३ ) विमर्शिनो की 'उपमानोपमेयवोरिति तु स्वार्थं एव न न्यास्वैम्' वह पंक्ति कदाचित् 'उप००० रिति त्वार्थवोरिति व्याख्येयम्' ऐसी होगी। 'न' निर्णयसागरीय संस्करण में ( न ) इस प्रकार जोड़ा गया है।

दृष्टान्त का पूर्वतिहास :—

मामह और वामन में दृष्टान्त नहीं मिलता।

उद्धटः—'इष्टस्यार्थत्व विस्पष्ट-प्रतिबिम्बनिदर्शनम्।

यथेवादिपदैः शून्यं बुधैर्दृष्टान्त उच्यते ॥ ६८ ॥

यथा—'किं चात्र बहुनोक्तेन व्रज भर्तारमाप्नुहि ।

उद्वन्तमनामाद्य महान् किमासने ॥ ६१९ ॥

—प्रतिपाद्य अर्थ का बिलकुल स्पष्ट प्रतिबिम्ब अर्थात् सद्गुण अर्थ सादृश्यवाचक इव आदि शब्दों के प्रयोग के बिना उदाहरण के रूप में प्रस्तुत करना दृष्टान्त नामक विद्वन्मान्य अलंकार है । यथा—

—[ पार्वतीजी के प्रति उसके पिता हिमाचल की उक्ति ] अधिक कहने से क्या ? जाओ और अपना पति प्राप्त कर लो । महानदियाँ क्या बिना समुद्र को पाय रुकती हैं ?

रुद्रट.—'अर्थविशेष पूर्व यादृच्छं न्यस्तो विवक्षितेतरयो ।

तादृशमन्य न्यस्येद् यत्र पुन मौड्य दृष्टान्त ॥ ८१९४ ॥

यथा—'त्वयि दृष्ट एव तस्या निर्वाति मनो मनोमवज्वलितम् ।

आलोके हि सितांशोर्विकसति कुमुद कुमुद्वत्याः ॥ ८१९५ ॥

—विवक्षित-अर्थात् प्रस्तुत और उससे भिन्न अर्थों में से पहिले जैसा अर्थात् निम्न प्रकार के गुणधर्म से युक्त अर्थ पहले प्रस्तुत किया गया हो बाद में उमी जैसा अन्य अर्थ यदि प्रस्तुत किया जाय तो वह काव्यकला का दृष्टान्त माना जाता है । यथा—'तुम्हारे दिखार देते ही उसका काम-दग्ध चित्त शान्त हो जाता है । ठोक ही है, कुमुदवती का पुष्प कुमुदवज्वल किरणों वाले चन्द्रमा के प्रकाश से ही न खिलता है ?'

[ यहाँ नायिकाचित्तरूपी जो पदार्थ पूर्वार्द्ध में प्रतिपादित किया गया उसमें प्रियदर्शनजन्य निवृत्ति = शांति relief रूपी धर्म बतलाया गया । उत्तरार्ध में ठोक वैसा ही दूसरा अर्थ प्रतिपादित किया गया = चन्द्र के दर्शन से कुमुद का विकसित होना ] इन दोनों वाक्यार्थों में नायिका और कुमुदवती, मन और कुमुद, दर्शन और प्रकाश तथा निर्वाण और विकास के बीच परस्पर विम्ब-प्रतिबिम्बभाव है अर्थात् दोनों निहित साम्य द्वारा अभिन्न से प्रतीत होते हैं ] ।

मम्मट—'दृष्टान्तः पुनरेतेषां सर्वेषां प्रतिबिम्बनम् ।'

यथा—'त्वयि दृष्ट ००००० सुधाशो००० कुमुदं कुमुद्वत्या ।'

कारिका का अर्थ विमर्शिनी में अभी अभी स्पष्ट हो चुका है और उदाहरण का ऊपर प्रदत्त रुद्रट के उदाहरण में ।

परवर्त्ता आचार्यों में—

शोभाकर—[ सू० ]—'प्रतिबिम्बेन दृष्टान्तः ॥ १७ ॥'

[ सू० ]—'वाक्यद्वये धर्मस्य प्रतिबिम्बेन = विम्बप्रतिबिम्बभावेनावस्थाने आधर्म्योपम्यं दृष्टान्तः ।— दो वाक्यों में धर्म के विम्बप्रतिबिम्बभाव से स्थित होने पर जो आधर्म्य औपम्य होना है उसे दृष्टान्त कहा जाता है ।

शोभाकर ने अलङ्कारसर्वस्वकार द्वारा उदाहरण 'अभिरर्द्धिन एव'—इस पद्य में आपत्ति उठाते हुए कहा है कि इसमें वस्तुप्रतिबन्धुभाव भी है क्योंकि इस पद्य में ज्ञानरूपी धर्म 'जानाति' और 'जानीन' इस प्रकार दो अभिन्नधातुक क्रियापदां से ही कथित है, दोनों क्रियापदों की प्रकृति एक ही है शानार्थक 'श' धातु । कदाचिद् इसालिय विमर्शिनीकार ने इसका दूसरा भी उदाहरण प्रस्तुत कर दिया है । परन्तु वह भी कोई अच्छा उदाहरण नहीं है ।

अप० यदीक्षितः—'स्याद् विम्बप्रतिबिम्बत्व दृष्टान्तस्तदलङ्कृतिः ।

त्वमेव कीर्त्तमान् राजन् विभुरेव हि कान्तिमान् ॥ ५२ ॥

- यदि विम्बप्रतिविम्बत्व हो तो दृष्टान्तालंकार होता है। यथा हे राजन् ! कीर्तिमान् केवलः सुम हो हो। कान्तिमान् केवल चन्द्र होता है।

द्वितीय उदाहरण—'देवीं वाचमुपासते०।

इस पद्य में शोभाकर द्वारा दर्शित प्रतिवस्तूपमा के संस्पर्श का अप्ययदीक्षित प्रतिवाद करते और अलंकारसर्वस्वकार के दृष्टान्तपक्ष का समर्थन करते हुए लिखते हैं—

नन्वत्र उपमानोपमेयवाक्ययोर्ज्ञानमेक एव धर्म इति प्रतिवस्तूपमा युक्ता, मैवम्, अचेतने मन्वाचले ज्ञानस्य बाधितत्वेन तत्र जानातीत्यनेन सागराभस्तलवधिसेरुपर्शमात्रस्य विवक्षितत्वात् ।'

—'यहाँ उपमानवाक्य और उपमेय वाक्य दोनों में 'ज्ञान'-रूपी एक ही धर्म [ एक ही शब्द से कथित ] है अतः यहाँ प्रतिवस्तूपमा माना जाना उचित है [ यह जो अलंकाररत्नाकर-कार का पक्ष है वह आपततः तो ठीक लगता है ] किन्तु तथ्य वैसा नहीं है। मन्वाचल अचेतन है, अतः उसमें ज्ञान अपने वास्तविक अर्थ में बाधित है, अतः उसके साथ ज्ञान का विवक्षित अर्थ यहाँ समुद्र का तलस्पर्शमात्र है ।'

वस्तुतः अलंकाररत्नाकर द्वारा प्रस्तुत आपत्ति अपरिहार्य है अतः इसका कोई प्रतिवाद नहीं किया जाना चाहिये। स्थिति यह है कि दृष्टान्तालंकार का ऐसा उदाहरण जिसमें वस्तुप्रतिवस्तुभाव का संस्पर्श सर्वथा न हो, मिलना कठिन है। शोभाकर ने भी आपत्ति प्रतिवस्तूपमा के संस्पर्श पर नहीं की है। उन्होंने आपत्ति की है प्रतिवस्तूपमा के 'प्रचुरतर' संस्पर्श पर। उनकी यंक्ति है—'देवीं वाचम्०' इत्यादी प्रतिवस्तूपमया सहास्य प्रचुरतरः सङ्करः ।' प्रतिवस्तूपमा के सामान्य स्पर्श से तो न शोभाकर के ही दृष्टान्तोदाहरण युक्त हैं और न स्वयं अप्ययदीक्षित के। स्वयं विमर्शिनी-कार ने जो नवीन उदाहरण 'स्थानेषु शिष्य०' आदि दिया है उसमें भी 'प्रतिपाद्यमानत्व' और विप्रकीर्णन अर्थतः एक ही धर्म है। अप्ययदीक्षित भी 'जानाति'-को लाक्षणिक भले ही बतला दें किन्तु लक्षणा द्वारा 'तलस्पर्श' अर्थ लाकर भी वे 'ज्ञानरूपी' अर्थ को सर्वथा दूर नहीं रख सकते, तट को गंगाशब्द से कहने पर तट में गंगात्व प्रतीत होता ही है।

पण्डितराज अगस्त्य—[ सूत्र ] 'प्रकृतवाक्यार्थघटकानामुपमानादीनां साधारणधर्मस्य च विम्ब-प्रतिविम्बभावे दृष्टान्तः'।

[ वृत्ति ] 'अस्य चालंकारस्य प्रतिवस्तूपमया भेदकमेतदेव यद्य तस्यां धर्मो न प्रतिविम्बितः, किं तु शुद्धसामान्यात्मनैव स्थितः, इह तु प्रतिविम्बितः ।'

[ सू० ] प्रकृत वाक्यार्थ के [ उपमेय आदि ] समी अङ्ग उपमान आदि साधारण धर्म इन सबका विम्बप्रतिविम्बभाव हो तो दृष्टान्त होता है।

[ वृत्ति ] इस अलंकार का प्रतिवस्तूपमा से भेद केवल यही है कि उसमें धर्म प्रतिविम्ब नहीं बनता, वह शुद्ध सामान्यरूप ही रहता है जब कि इस [ दृष्टान्त ] में वह [ धर्म ] भी प्रतिविम्बित होता है।

विश्वेश्वरपण्डित—[ का० ] साधारणस्य साम्यप्रतियोग्यनुयोगिनोर्थत्र ।

निर्देशः स्याद् विम्बप्रतिविम्बतया स दृष्टान्तः ॥

[ वृत्ति ] विम्बप्रतिविम्बभावेनैव यत्र साधारणधर्मस्योपमानोपमेयदिशि उपादानम्, न त्वेकत्वम्, स दृष्टान्तः । प्रतिवस्तूपमायां तु एकस्यैव वारद्वयं प्रयोगात्रातिव्याप्तिः ।

[ का० ]—साधारण धर्म और सादृश्य के प्रतियोगी [ उपमान ] तथा अनुयोगी [ उपमेय ] इन सबका विम्बप्रतिविम्बभाव से निर्देश ही वह दृष्टान्त ।

[ वृत्ति ] जहाँ साधारणधर्म का उपादान भाँ उपमान और उपमेय के समान विम्बप्रति-विम्बभाव से हो, न कि वह एक ही हो, वह दृष्टान्त । प्रतिवस्तुपमा में एक ही साधारण धर्म का दो बार प्रयोग होता है अतः दृष्टान्त का लक्षण उसमें लागू होने से बच जाता है ।

विद्वेदवरपण्डित ने दृष्टान्त शब्द की व्युत्पत्ति भी इस प्रकार दे दी है—

—‘दृष्टो ज्ञानप्रामाण्यक अन्नो दार्ष्टान्तिकवाक्यार्थनिश्चयो यत्रेति व्युत्पत्त्या प्रकृतवाक्यार्थ-प्रतिपाद्यकार्यकारणभावे द्राक्षे तद्द्राहर्काभूतान्वयव्यतिरेकयोर्योत्तरवाक्यार्थो दृष्टान्तरत्वेन पर्यव-स्यति स इत्यर्थः ॥

—जहाँ दृष्ट हों अर्थात् जिसका प्रामाण्य जाना जा चुका हो ऐसा अन्न = अन्तिम दार्ष्टान्तिक = प्रस्तुत = उपमेयभूत वाक्यार्थ हो जिसमें वह दृष्टान्त । इस व्युत्पत्ति के आधार पर अर्थ यह निकल कि दृष्टान्त में प्रकृत वाक्यार्थ में विवक्षित कार्य-कारणभाव साध्य रहता है और उसके साथक जो अन्वय-व्यतिरेक होने हैं उनकी पुष्टि दृष्टान्तरूप उत्तरवाक्यार्थ से होती है ।

कान्यप्रदीपकार महामहोपाध्याय गोविन्द ठक्कुर ने दृष्टान्त शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार दी है -

‘दृष्टोऽन्नो निश्चय उपमानिर्वाहकोऽत्रालङ्कार इति ।

—‘दिया गया अन्न अर्थात् निश्चय अर्थात् उपमानिर्वाहक ही यहाँ अलङ्कार है ।’

कान्यप्रदीप के टीकाकार नागेश ने अपने उद्योत में प्रदीप की उक्त पक्ति का जो स्पष्टीकरण दिया है उसे व्यवस्थित रूप वामन शलकीकर न इस प्रकार दिया है—

‘यत्र दृष्टान्तवाक्येन दार्ष्टान्तिकवाक्यार्थनिश्चयस्य प्रामाण्यप्रदो भवति स दृष्टान्तनामालङ्कारः ।’

—‘जहाँ दृष्टान्त वाक्य के द्वारा दार्ष्टान्तिक वाक्यार्थ के ज्ञान में प्रामाण्य बुद्धि जागती है वह होता है दृष्टान्त नामक अलङ्कार ।’

कान्यप्रकाश की एक अन्य टीका विवरण के रचयिता ने भी—दृष्टान्त शब्दपर यह निरुक्ति दी है—

‘निश्चयः प्रस्तुतम्यार्थस्य निःसन्देहा प्रतीतिः, सोदाहरणवाक्येन प्रतिपाद्यमानो द्रव्यो हेत्वा-काङ्क्षानिवृत्त्या असंशयमेव प्रतीयते । तद्विषय सञ्ज्ञा योगरूढिः ।

—[ कान्यप्रकाशकार ने दृष्टान्त को ‘दृष्टोऽन्नो निश्चयो यत्र स दृष्टान्तः’—यह जो व्युत्पत्ति दी है इसके ] निश्चय शब्द का अर्थ है प्रस्तुत अर्थ की सन्देह रहित अर्थात् प्रामाण्यपूर्ण प्रतीति । वान यह है कि जो विषय सोदाहरण वाक्य द्वारा प्रतिपादित किया जाता है उसकी प्रतीति में कोई संशय नहीं रहता, क्योंकि उदाहरण देने से हेतु [ क्यों ] की जिज्ञासा शान्त हो जाती है ।

इस प्रकार अलङ्कार अर्थ में ‘दृष्टान्त’—सञ्ज्ञा योगरूढ है । हमें कुछ ऐसा लगता है कि दृष्टान्त-शब्द में अन्न शब्द ठीक वैसे सौन्दर्य का वाचक है जैसे वनान्त में और दृष्ट शब्द का अर्थ है अनुभूत वस्तु । किमी अनुभूत वस्तु में साम्य के कारण सौन्दर्य आ जाता है । हम प्रकार दृष्टान्त का सीधा अर्थ प्रस्तुत अर्थ जैसा होने से सुन्दर कोई अन्य वस्तु । इस प्रकार एक स्थापना जहाँ विलकुल उमी जैसी किमी अन्य अनुभूत घटना के विशिष्ट प्रस्तुतीकरण द्वारा पुष्ट की जाती है, तो वहाँ अलङ्कार को ‘दृष्टान्त’-शब्द द्वारा अभिहित करना उचित ही है ।

श्रीविद्याचक्रवर्ती ने इसका सारसञ्ज्ञेय इस प्रकार किया है—

‘दिनानुदिनान्यायेन निर्देशे धर्मधर्मिणाम् ।

दृष्टान्तालङ्कृतिर्ज्ञेया भिन्नवाक्यार्थसत्रया ॥’

—धर्म और धर्मों दोनों का निर्देश यदि विन्वप्रतिविन्वन्याय से हो तो अलङ्कार दृष्टान्त कहा जाता है। यह दो भिन्न भिन्न वाक्यार्थों पर निर्भर रहता है।

विन्व और प्रतिविन्व दोनों भिन्न होते हैं क्योंकि उनके अधिकरण भिन्न होते हैं जैसे शरीरगत मुख और उसका दर्पणगत प्रतिविन्व। एक का अधिकरण है शरीर और दूसरे का दर्पण। अभिन्न वस्तु एक साथ दो भिन्न भिन्न अधिकरणों में नहीं रह सकती। किन्तु भिन्न होने पर भी विन्व का प्रतिविन्व में इतना सादृश्य रहता है कि उन्हें आपाततः अभिन्न ही कहा जाता है। मुख के प्रतिविन्व को प्रत्येक व्यक्ति 'मेरा मुख' ही कहता है। वस्तुतः विन्वप्रतिविन्वभाव समान-धर्मसंबन्ध, या सादृश्य का ही एक विशिष्ट रूप है जिसमें एक सादृश्य दूसरे सादृश्य का निष्पादक होता है, और निष्पादक सादृश्य निष्पाय सादृश्य की निष्पत्ति साक्षात् न कर अपने से विशिष्ट पदार्थों में प्रातीतिक जमेद निष्पन्न करा परम्परया कराता है। इस प्रकार निष्पाय सादृश्य में साधारण धर्म बने पदार्थ भी निष्पादक सादृश्यरूपी धर्म से युक्त होकर तो धर्मों वन ही जाते हैं, उनमें स्वगत अन्य असाधारण विशेषताओं का भी अस्तित्व प्रतीत होता रहता है अतः उनकी दृष्टि से भी वे धर्म ही होते हैं। यदि यह कहा जाय तो कदाचिद् दृष्टान्त का रहस्यभूत तत्त्व अधिक निकट से परखा जा सकेगा कि दृष्टान्त में साधारण धर्म भी धर्मरूप ही रहता है। इसमें उपमावाचक पद का प्रयोग नहीं रहता साथ ही उपमानोपमेयभाव के अनुयोगी-प्रतियोगी वाक्यार्थ ही रहते हैं।

[सर्वस्व]

[ सू २८ ] संभवताऽसंभवता वा वस्तुसंबन्धेन गम्यमानं प्रति-  
विन्वकरणं निदर्शना।

प्रतिविन्वकरणप्रस्तावेनास्या लक्षणम्। तत्र क्वचित्संभवन्नेव वस्तु-  
संबन्धः स्वसामर्थ्याद्विन्वप्रतिविन्वभावं कल्पयति। क्वचित्पुनरन्वयवाधाद्-  
संभवता वस्तुसंबन्धेन प्रतिविन्वनमाक्षिप्यते। तत्र संभवद्वस्तुसंबन्धा  
यथा—

‘चूडामणिपदे धत्ते यो देवं रविमागतम्।

सतां कार्यातिथेयीति बोधयन् गृहमेधिनः ॥’

अत्र बोधयन्निति णिचभूतत्समर्थाचरणे प्रयोगात्संभवति वस्तुसंबन्धः।  
असंभवद्वस्तुसंबन्धा यथा—

‘अव्यात्स वो यस्य निसर्गवक्रः स्पृशत्यधिज्यस्मरचापलीलाम्।

जटापिनद्धोरगराजरत्नमरीचिलीढोभयकोटिरिन्दुः ॥’

अत्र स्मरचापसंबन्धिन्या लीलाया वस्त्वन्तरभूतेनेन्दुना स्पर्शनमसंभ-  
वल्लीलासदृशीं लीलामवगमयतीत्यदूरविप्रकर्षात्प्रतिविन्वकल्पनमुक्तम्।

[ सूत्र ] वस्तुओं [ पदार्थों अथवा वाक्यार्थों ] के [ यीच उनके ] संभव अथवा  
असंभव संबन्ध से प्रतीयमान प्रतिविन्वन निदर्शना [ नामक अलङ्कार  
कहलाता है ] ॥ २८ ॥

[ वृत्ति ] इसका लक्षण यहाँ इसलिये किया गया क्योंकि यहाँ प्रतिविन्व का प्रकरण चला  
हुआ है। यहाँ कहीं तो पदार्थों का संबन्ध संभव रहता है और वह अपनी शक्ति से विन्व-प्रतिविन्व-

भाव को निष्पन्न करता है। किन्तु कहीं कहीं अन्वय बाधित हो जाने में वह वस्तुसम्बन्ध असंभव होता हुआ प्रतिबिम्बन का आशेष करता है। दोनों में से प्रथम का उदाहरण जिसमें वस्तुसम्बन्ध संभव होता है—'जो [ पर्वत ] अतिथि के समान आप हुए भगवान् सूर्य को चूडामणि के स्थान पर धारण करता है, गृहस्थों को यह बतलाते हुए कि सत्पुरुषों का आतिथ्य करना ही चाहिए।'

—'यहाँ बोधयन् = बतलाना हुआ' यह जो गिच = हेत्वर्थक प्रत्यय है इनका प्रयोग वैसा करने में सहायक होने अर्थ में हुआ है, अतः वस्तुसम्बन्ध संभव है।' [ तुल्यलयानन्दचन्द्रिकाकार के अनुसार समर्थाचरण = सामर्थ्यात्पादन, पर्वत गृहस्थों में आतिथ्य धर्म के बोध के सामर्थ्य की उत्पत्ति में सहायक हो ही सकता है, अतः 'बोधयन्' द्वारा शापित बोध सामर्थ्यात्पादन में सहायकता पर्वत में संभव ही है।

दूसरी का उदाहरण जिसमें वस्तुसम्बन्ध असंभव रहता है—'वि भगवान् शकर आप को रक्षा करें जिनका निसर्गवक्र [ स्वभावतः टेड़ा ] तथा जटाजूट में बंधे नागराज की फणामणि की किरणों से स्पष्ट दोनों नोक वाला चन्द्र कामदेव के प्रत्यक्षा चढे धनुष की शोभा को किंचिद् धारण करता है।' [ कल्पना कीजिए कि टेड़ी चन्द्रकला और नागराज का फण दोनों जटाजूट के बीच बराबरी बराबरी पर स्थित हैं और नागराज की फणामणि से निकलना और टेड़ी होकर सीधी फैलती किरणें चन्द्रकला की दोनों नोकें छूती हैं। इस प्रकार चन्द्रकला का बाँस के समान गोलकार नैवा विम्बवृत्त धनुष बन जाता है। बड़ा ही विम्बप्राही चित्रण है। ]

—इस पद्यार्थ में एक कामचाप की शोभा का कामचाप से भिन्न [ वस्त्वन्तर ] चन्द्रमा द्वारा किंचिद् भी धारण किया जाना संभव नहीं है। [जिसका धर्म उसी के ही पास रहेगा, उसे उससे भिन्न व्यक्ति नहीं अपना सकता ] अतः यहाँ यह अर्थ निकलता है कि चन्द्रमा कामचाप की शोभा के समान शोभा को धारण करता है। इन दोनों की शोभाओं में अधिक दूरी नहीं है अतः [ निदर्शन लक्षण में ] प्रतिबिम्ब कल्पना की बात कही गई है।

### विमर्शिनी

समवनेत्यादि । विम्बप्रतिविम्बभावमिति उपमानोपमेयव्यतिर्यक्तं । धर्मधर्मिणोरभेदोपचारात् । एवं चात्र निदर्शनाया सादर्याविनाभावः । तेन—

प्रभाते पृच्छन्तीरनुरहसज्जुप्तं सहचरीर्न बोधा न धीढामुकुलितमुत्सीयं कथयति ।

ल्लिखन्तीनां पत्राङ्कुरमनिशमस्यास्तु क्लृप्तयोक्षमकारो गूढं करजपद्मासां प्रथयति ॥'

इत्यादी समवन्धयपि वस्तुसंबन्धे प्रथनस्योपमेयाभावात् निदर्शनालंकारत्वम् । अनेनैव वस्तुसंबन्धस्य समवासंभवाभ्यामस्या भेदद्वयमप्युक्तम् । तदेवोदाहरति—चूडामणीत्यादिना । तन्समर्थाचरणे प्रयोगादिति 'कारीपोऽद्यापयति' इत्यादिवत् । अग्न्यागतस्य रवेर्गिरिणा शिरसा धारणं तत्समर्थाचरणम् । अत एवात्र बोधयन्निति गिचस्तत्समर्थाचरणे प्रयोगान्मयेव भवद्भिन्नस्यतिथिसपर्या कार्ष्णिके संभवसंबन्धमूलमत्रार्थोपमेयम् । एवं च पर्वतस्य बोधनक्रियाकर्तृत्वामंभवादेवाभिमन्तृव्यापारोपारोहाभावान्नात्र प्रतीयमानोत्प्रेक्षा । नापि स्मृत्यलंकारः । गृहमेधिना पर्वतकर्तृकरस्य मद्भिपयातिथ्यबोधस्त्वस्य वाक्यार्थत्वात् । तत्र हि मद्दशदर्शनाद्स्वस्वन्तरस्य स्मृतिर्भवति । नचात्र गृहमेधिनां रविदर्शनादतिथिस्मृतौ कर्तृत्वम् । तेषां सदातिथ्यकर्तृत्वनाया बोध्यत्वात् । नाप्यत्र रविणातिथेरतिथिमा वा रवेः साम्यं दिवक्षितम् । अपि तु मयेव गृहमेधिभिरपि सतामातिथ्यं कार्यमिति । अत एव नात्र वस्त्वन्तरकरगाभ्यापि विशेषालंकारः । तपनावगमेऽतिथ्यादेरसंभाव्यस्यावगमो जात इत्येवमात्मिकायाः प्रतिपत्तेरभावात् । अतश्च सत्यसति वा

संबन्धे निदर्शनेति वाच्यम् । तेन यथोक्तमेव भेदद्वयं स्यात् । असेभवदिति । धर्म्यन्तरसंबन्धिनो धर्मस्य धर्म्यन्तरेऽन्वयायोगात् । अदूरविप्रकर्षादिति । धर्ममुखेन सादृश्यस्य किंचिप्रत्यासक्तत्वात् । यथा वा-

अङ्गे पुलकं अहरं सवेपिअं जंपिअं ससिक्कारं ।  
सर्वं सिसिरेण कअं जं काअब्बं पिअअमेण ॥

अत्र बल्लभकार्यस्य पुलकादेर्धर्मस्य वस्त्वन्तरमृतेन शिशिरेण करणमसंभवत्तस्य साम्यमवगमयतीति शिशिरस्य बल्लमतुल्यताप्रतीतिरौपम्यम् । अतश्चात्र धर्माणामसंबन्धात् निदर्शनेत्युक्त्वा प्रतिमालंकारत्वं न वाच्यम् । प्रतिमायाश्चान्थोदाहरणेष्वलंकारान्तरावियोगः स्फुट एवेति न पृथगलंकारत्वं वाच्यम् । एवमन्येषामपि समग्राणामभिनवालंकाराणां चास्यैरभ्यालंकारयोगो योजयितुं शक्य एवेति ग्रन्थविस्तरभयादस्मद्दर्शने तद्दूषणोद्धारस्यैव च प्रतिज्ञातत्वादस्माभिः प्रातिपद्येन न दूषितम् । न पुनरेतावतैव परमतमप्रतिपिद्धमनुमतमेवेति दशा एवामपि पृथगलंकारत्वं युक्तं मन्तव्यम् ।

संभवता—इत्यादि । विन्वप्रतिविम्बभावम् = विन्वप्रतिविम्बभाव को अर्थात् उपमानोपमेयभाव को ऐसा इसलिए कि धर्म और धर्मों में औपचारिक अभेद माना जाता है । और इस प्रकार सिद्ध हुआ कि निदर्शन में सादृश्य रहता ही है । इसलिए [ अलंकाररत्नाकरकार का यह कथन मान्य है कि— ]

— [ प्रथम मधुयामिनी वीतने पर ] सवेरे जब सहचरियाँ = सखियाँ एकान्त [ शयनागार ] की बातें पूछती हैं तो नवोदा का चेहरा = मुखमण्डल लाज से मुकुलित हो जाता है और वह कुछ भी कह नहीं पाती किन्तु प्रतिदिन पत्रावली बनाने के कारण इसके उरोजों से परिचित वे सखियाँ आज इसके उन्हीं उरोजों में चमत्कार [ फूलापन ] देखती हैं तो उससे उन्हें विदित हो जाता है आज प्रिय ने उन पर मखझत किए हैं जो चोली में दबे हैं ।

— यहाँ और ऐसे अन्य स्थलों में भले ही 'प्रथम' = 'विदित कराना' = [ चमत्कार आदि ] संभव हो तथापि, जैसा कि अलंकाररत्नाकरकार ने भी कहा है यहाँ सादृश्य नहीं है अतः निदर्शनालंकार नहीं है । इसी वक्तव्य से इस अलंकार के वे दो भेद भी ग्रन्थकार ने बतला दिए जिनमें से एक में वस्तुसम्बन्ध संभव होता है और दूसरे में नहीं । इन्हीं को उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हैं—**चूडामणि०** इत्यादि । 'तरसमर्थाचरणे प्रयोगात् = वैसा कर सकने अथवा वैसा करने में समर्थ आचरण अर्थ में प्रयोग' । वह ठीक वैसा होगा जैसे 'कण्ठे की आग पढ़वा रही हैं'—प्रयोग में होता है [ अर्थात् दोनों स्थलों में पर्वत तथा अग्नि इन दोनों अचेतन कर्त्तारों में बोधन तथा अध्यापन का कार्य लक्षणया उपपन्न होता है ] । पर्वत में समर्थ आचरण है अन्वागत रवि का सिर पर धारण करना । [ समर्थाचरण' की व्याख्या आगे दिए उद्भेद के निदर्शान्तिरूपण में देखिए ] इसीलिए अर्थात् 'बोधयन् = बतलाता हुआ'— इसमें आए भिन्नु = प्रयोजकार्यक प्रत्यय का प्रयोग होने से यहाँ यह एक आर्थ सादृश्य निवृत्तता है कि 'मेरे ही समान आप सबको भी अतिथि-सत्कार करना चाहिए, इसमें वस्तुसम्बन्ध संभव है अर्थात् बन सकता है, असेभव वा वापित नहीं है । और इसीलिए यहाँ प्रतीयमान उद्प्रेक्षा नहीं है क्योंकि वह तब होती जब पर्वत स्वयं बोधन क्रिया का कर्त्ता बन न सकता और तदर्थ उस पर उसकी अधिष्ठात्री देवता का आरोप किया जाता [ जैसे वेद में 'नदियों बोलों' कहे जाने पर जड़ नदियों की देवियों का आरोप कर लिया जाता है जिन्हें नद्यधिष्ठात्री देवता कहा जाता है ] । क्योंकि पर्वत बोधन-क्रिया का कर्त्ता बन सकता है अतः उस पर उसकी अधिष्ठात्री देवता का आरोप नहीं हो पाता यहाँ



[ अलङ्काररत्नाकरकार ने प्रतीयमान स्मरणालङ्कार का स्पर्श बतलाया है और कहा है क्योंकि यह श्लोक सुनते ही जीवन में कभी अतिथि-सत्कार कर चुके व्यक्ति को अपने किये हुए अनिधि-सत्कार का स्मरण आ जाता है किन्तु वह ] स्मरणालङ्कार भी नहीं है क्योंकि यहाँ पद्यवाक्य का मुख्य प्रतिपाद है 'पर्वत द्वारा गृहमेधियों' को गृहागत सत्पुरुष के आतिथ्य का बोध कराना, जब कि स्मरणालङ्कार में जो स्मृति होती है वह समान वस्तु के दिखार पटने से याद आई किमी अन्य की वस्तु की होती है । [ आप बतला रहे हैं कि गृहस्थों को उनके द्वारा किए गए आतिथ्य का स्मरण आ रहा है किन्तु ] यहाँ गृहस्थों को सूर्यदर्शन में संभव अतिथि सत्कार का कर्त्ता नहीं बतलाया जा रहा यहाँ तो उन्हें सत्पुरुष के आतिथ्य का मशोध्य बतलाया जा रहा है । न तो यहाँ सूर्य के माथ अनिधि का या अनिधि के साथ सूर्य का कौद साम्य ही विवक्षित है । जो विवक्षित है वह केवल इतना ही कि 'मेरे समान गृहस्थों को भी सत्पुरुषों का आतिथ्य करना चाहिए ।' इमोलिप यहाँ [ एक वस्तु का निर्माण करने-करने ] 'दूसरी वस्तु का भी निर्माण-' एतद्रूप जो विशेषालङ्कार है वह भी सम्भव नहीं है क्योंकि यहाँ यह बोध नहीं होता कि सूर्य का शान होते ही अनिधि आदि अममाम्य व्यक्ति का भी शान हो गया । इस लिए यहाँ कहना उचित है कि सम्बन्ध के समव या असमव होने से निदर्शना ही है । इसलिए निदर्शना के केवल दो ही भेद होंगे जैसा कि कहा गया है ।

'असंभवद् = वस्तु के साथ सम्बन्ध के न बनने से' । इसलिए कि दूसरे धर्मों के धर्म का सवन्ध दूसरे धर्मों से बन ही नहीं सकता ।

अदूरविप्रकर्षात् = दूरी कम होने से - 'धर्म के द्वारा भव सादृश्य के कुछ पास रहने से ।  
अथवा दूसरा उदाहरण -

'अङ्गे पुलकम् अपरः सवेपितो जखिपत समीकारम् ।

सर्वं शिशिरेण क्लृप्त यत् कर्त्तव्यं प्रियजनेन ॥'

— 'शरीर में रोमांच है, अपर में कम्पन है, और बोलने में सीत्कार है । इस प्रकार शिशिर ने वह सब कार्य कर दिया है जो प्रिय के द्वारा किया जाना चाहिए ।'

— यहाँ पुलक आदि धर्म प्रिय के कार्य हैं उन्हें निपन्न होता हुआ बतलाया जा रहा है प्रिय से भिन्न शिशिर के द्वारा वह असमव है अतः वह प्रियकार्य जैसे कार्य का शान कराता है और तब प्रतीति होती है कि 'शिशिर प्रिय के समान है' । इसलिए यहाँ वाक्यार्थ सादृश्य में पर्यवसित होना है । [ इस गाथा = अगे पुलकम्' में अलङ्काररत्नाकरकार ने प्रतिमानामक एक नवीन अलङ्कार माना है । उसका लक्षण है 'अन्यधर्मयोगाद् आर्यन् औपम्य प्रतिमा' = एक वस्तु का दूसरी वस्तु से आर्य-साम्य हो उस वस्तु के धर्म के इस वस्तु में सवन्ध होने से, तो वह साम्य प्रतिमा होता है' । इस गाथा के वाक्यार्थ की स्थिति ऐसी ही है अतः यहाँ प्रतिमालङ्कार समव है । विमर्शनीकार इसका प्रतिवाद करते और कहते हैं ] क्योंकि उक्त क्रम से इस गाथा में निदर्शना है इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि 'यहाँ प्रतिमालङ्कार है निदर्शना नहीं और निदर्शना का अभाव बतलाने के लिये यह हेतु नहीं दिया जा सकता कि 'निदर्शना में एक केन्द्र धर्म का [ दूसरे में ] सवन्ध नहीं रहता जब कि यहाँ [ प्रिय के धर्म का शिशिर में सवन्ध ] है-' [ 'धर्मागमसम्बन्धाभावात् निदर्शना-' अलङ्काररत्नाकर, प्रतिमालङ्कार की आरम्भक श्रुति ] कारण कि प्रतिमा कोई स्वतन्त्र अलङ्कार नहीं है । उसके [ आपने ] जो और दूसरे उदाहरण दिए हैं उनमें भी स्पष्ट ही अन्यान्य अलङ्कारों का अभाव नहीं है । अब हमारे द्वारा प्रस्तुत इस क्रम से दूसरे समीक्षक [ अलङ्काररत्नाकरकार द्वारा स्थापित ] अन्य सभी नवीन अलङ्कारों में भी दूसरे प्राचीन

अलंकारों का अस्तित्व दखला सकते हैं इसलिए हम एक-एक कर, उन सब पर अपनी ओर से दोष नहीं दिखला रहे हैं। ऐसा करने में ग्रन्थ के विस्तार का भय है और हमने प्रतिष्ठा भी केवल यही की है कि हम उनके हमारी सीमा में आए दोषों का ही निराकरण करेंगे। किन्तु हम दोष नहीं दे रहे हैं इसलिए 'दूसरे का दूसरे को मत मान्य है यदि उसने उसका खण्डन नहीं किया है' इस सामान्य धारणा के आधार पर [ अलंकाररत्नाकरकार द्वारा प्रतिपादित ] प्रतिमातिरिक्त अन्य नवीन अलंकार हमें स्वतंत्र अलंकार के रूप में मान्य है ऐसा मान बैठना ठीक नहीं होगा।

[ सर्वस्व ]

एपापि पदार्थवाक्यार्थवृत्तिभेदाद् द्विविधा पदार्थवृत्तिः समनन्तरमुदाहृता । वाक्यार्थवृत्तियथा—

'त्वत्पादनखरतनां यदलक्तकमार्जनम् ।

इदं श्रीक्षण्डलेपेन पाण्डुरीकरणं विधोः ॥'

केचित्तु दृष्टान्तालंकारोऽयमित्याहुस्तदसत् । निरपेक्षयोर्वाक्यार्थयोर्हि विम्बप्रतिविम्बभावो दृष्टान्तः । यत्र च प्रकृते वाक्यार्थे वाक्यार्थान्तरमारोप्यते सामानाधिकरण्येन तत्र संबन्धानुपपत्तिमूला निदर्शनैव युक्ता, न दृष्टान्तः । एवं च—

'शुद्धान्तदुर्लभमिदं वपुराश्रमवासिनो यदि जनस्य ।

दूरीकृताः खलु गुणैरुद्यानलता वनलताभिः ॥'

इत्यत्र दृष्टान्तवृद्धिर्न कार्या । उक्तन्यायेन निदर्शनाप्राप्तेः ।

'यह [असंभववस्तुसंबन्धा निदर्शना] भी दो प्रकार की होती है पदार्थगता तथा वाक्यार्थगता । दोनों में से पदार्थगता का उदाहरण अभी दिया । [ अन्यात् स वः० ] वाक्यार्थगता का उदाहरण यह है—

'गुन्हारे पैर के [ पधराग या पुष्पराग ] मणियों के समान [ लाल लाल ] नाखूनों का अलते से जो रेंगा जाना है यह सफेद चन्दन का लेप कर चन्द्रमा का सफेद किया जाता है ।'

कुछ विद्वानों ने कहा है कि यहाँ दृष्टान्तालंकार है। किन्तु वह ठीक नहीं है। दृष्टान्त वहाँ होता है जहाँ दो निरपेक्ष वाक्यार्थों में विम्बप्रतिविम्बभाव रहता है। जहाँ प्रकृत वाक्यार्थ पर अन्य वाक्यार्थ [ सोऽद्म आदि के समान ] सामानाधिकरण्य [ नलमार्जन विधुलेपन है—इस प्रकार अभिन्नरूपता ] द्वारा आरोपित किया जाता है वहाँ संबन्ध संभव नहीं होता। अतः तन्मूलक [ सादृश्य में पर्यवसित होने वाली ] निदर्शना ही यहाँ मान्य है दृष्टान्त नहीं। इसी प्रकार—

[ शकुन्तला को देख दुष्यन्त की स्वगत बक्ति ] 'हमारे अन्तःपुर में दुर्लभ यह शरीर यदि आश्रमवासी जन का प्राप्त है तब तो उद्यानलताओं को वनलताओं ने अपने गुणों से जोश्ल कर दिया ।' [ शकुन्तल ]

—यहाँ दृष्टान्त नहीं समझ बैठना चाहिए क्योंकि उक्त हेतु से यहाँ भी निदर्शना ही प्राप्त है।

विमर्शिनी

एपेत्यसंभववस्तुसंबन्धनिबन्धनां । न केवलं निदर्शना यावत्तद्भेदोऽप्ययं द्विविध इत्यपिशब्दार्थः । उदाहृतेति 'अन्यात्स वः' इत्यादिना । केविदिति श्रीमम्मटादयः ।

तदिति दृष्टान्तालकारवचनम् । एतदन्यत्रापि योजयति—स्वमित्यादिना । उक्तन्यायेनेति, प्रकृतवाक्यार्थे वाक्यार्थांतरस्य सामानाधिकरण्यानाधारोप्यमाणत्वात् । अतश्चान्यैर्वाक्यार्थयोः सामानाधिकरण्यानिदृशाच्छ्रौतारोपमन्वायेन वाक्यार्थरूपक यदुक्तं तत्तावदास्ताम्, यत्पुनः प्रतिवस्तूपमोदाहरणत्वमुक्तं तदयुक्तमेव । निरपेक्षयोर्वाक्यार्थयोर्धर्मस्य शुद्ध-सामान्यरूपत्वे प्रतिवस्तूपमा । न चात्रैकमपि संभवति । वाक्यार्थयोः सापेक्षत्वाच्चुद्ध-सामान्यरूपत्वाभावाच्च अर्थापत्युदाहरणत्वमप्यत्रायुक्तम् ।

‘जाग्रत-कमलाकल्पधर्मी यज्जग्राह तद्बभूवुत् ।’

पादद्वन्द्वस्य मत्तेभ्यतिस्तेये तु का स्मृतिः ॥’

इत्यत्र तु प्रतिवस्तूपमोदाहरणत्वं पापारपापीयः । अत्र हि वाक्यार्थयोः परस्परं सादृश्य-मात्रमपि नास्तीति का कथा प्रतिवस्तूपमायाः । एवंविधमेव चान्यत्र सर्वालंकारोदाह-रणेष्वसमञ्जस्यं संभवदपि समनन्तरोक्तहेतुद्वयाच्च दर्शितम् । तथा च—

‘आज्ञाघर पञ्चशरः पुरस्तात्सुधा पुनः कर्मकरी मुखस्य ।

स चापि सौन्दर्यविशेषवन्दी यत्रेन्दुरिन्दीवरलोचनानाम् ॥’

इत्यत्र विषयविषयिणोर्द्वयोरप्युपादानात्स्फुटेऽपि रूपकत्वेऽतिशयोक्त्युदाहरणत्वमुक्तं तत्र चातिशयोक्तित्वमेव नास्तीति किं कार्यकारणभावपूर्वकत्वं निदर्शनेनेत्यलं बहुना । असंभवद्वस्तुसंबन्धनिबन्धनायाश्च यद्यपि वस्तुसंबन्धस्याविशेषेण समव उक्तस्तथापि सम-नन्तरोक्तोदाहरणेषु यद्योपमानसंबन्धी धर्म उपमेयगतत्वेनैव संभवति तथैवोपमेयसंबन्धी धर्मः क्वचिदुपमानेऽपीत्याह—इयमित्यादि ।

‘एषा = यह’ = असंभवद्वस्तुसंबन्धमूला निदर्शना । ‘मी’ का अर्थ यह है कि केवल निदर्शना-सामान्य ही दो प्रकार की नहीं होती, उसका यह एक भेद भी दो प्रकार का होता है । ‘उदा-हृता = जिसका उदाहरण दिया जा चुका है’ = ‘अव्याज स च’ इत्यादि । ‘केचित्—कुछ’ शोभममट आदि [ मग्मट के कान्यप्रकाश में ‘शुद्धान्तदुर्लभ’ पद्य कहीं भी उदाहृत नहीं है ] । ‘तत् = वह’ अर्थात् यह कथन कि यहाँ दृष्टान्तालकार है [ अमान्य है ] । इसी तथ्य को दूसरे पद्य में भी प्रतिपादित करते हैं और कहते हैं—‘एवं च’ । उक्तन्यायेन उक्त हेतु से = प्रकृत वाक्यार्थ में अप्रकृत वाक्यार्थ के सामानाधिकरण्या द्वारा अव्यारोपित किए जाने से । इसलिये दो वाक्यार्थों के सामानाधिकरण्या का निर्देश देख एक अन्य सज्जन ने शीत = शब्दत कथित आरोप के आधार पर निष्पन्न जो वाक्यार्थरूपक माना है वह तो बहुत दूर है, कुछ लोगों [ अलंकाररत्नाकरकार ] ने जो इसे प्रतिवस्तूपमा का उदाहरण मान रखा है वह भी बेतुका है । क्योंकि प्रतिवस्तूपमा वहाँ होती है जहाँ दो निरपेक्ष वाक्यार्थों में कोई एक शुद्ध सामान्यरूप साधारण धर्म रहना है । यहाँ इनमें से एक भी नहीं है । यहाँ दोनों वाक्यार्थ सापेक्ष हैं और धर्म भी शुद्धसामान्यरूप नहीं है । [ अलंकाररत्नाकरकार ने—‘दण्डापूर्विकार्थस्यापतनमर्थापत्ति = अर्थात् जैसे यदि चूहे दण्ड की कुतर दें तो उससे उस पर टगे मालपूओं का चूहों द्वारा खाया जाना भी सिद्ध हो जाता है तो उसे अर्थापत्ति कहते हैं वैसे ही किसी एक अर्थ के सिद्ध हो जाने पर जब कोई दूसरा अर्थ सिद्ध हो जाए तो उसे भी अर्थापत्ति अलंकार कहेंगे’—इस प्रकार अर्थापत्ति का लक्षण कर उसके ४८ भेद किए थे और उदाहरण के रूप में ‘शुद्धान्तदुर्लभ०’ पद्य प्रस्तुतकर लिखा था कि यहाँ शरीर के वृत्तान्त से उसी जैसी लता का वृत्तान्त लाया गया है अतः शरीर में लोकोत्तरता सिद्ध करने पर लताओं में भी वह अपने आप सिद्ध हो जाती है अतः यहाँ अर्थापत्ति है । विमर्शनी-कार इसका खण्डन करने हुए कहते हैं— ] इस पद्य को अर्थापत्ति का उदाहरण भी नहीं माना जा सकता । [ क्योंकि यहाँ वाक्यार्थ द्वयगत सापेक्षता होने और शुद्ध सामान्य धर्म का प्रयोग

न होने से निदर्शना है, अथवा अर्थापत्ति एक नवीन और कविरत अलंकार है जो अमान्य है अथवा आप जब इसमें प्रतिवस्तूपमा मानते हैं तो अर्थापत्ति कैसे मान सकते हैं। ] फिर—

[ उसके ] दोनों पैरों ने जागते हुए [ अतएव सावधान ] कमल से [ उसकी ] श्री छीन ली इसमें है आश्चर्य, मदमत्त [ अतएव असावधान ] हाथी की गति चुरा लेने में उसकी कोई चढ़ाई नहीं।

—इस पद्य में [ अलंकाररत्नाकरकार ने ] जो प्रतिवस्तूपमा मानी है [ और कहा है कि यहाँ 'ग्रहण करना' 'छीन लेना' साधारण धर्म है, उसे उत्तर वाक्य में 'स्तेय = चुराना' शब्द से कहा गया है, इधर केवल कान्ता प्रकृत है, पद्म और मत्तगज दोनों अप्रस्तुत-द्रष्टव्य प्रतिवस्तूपमा-प्रकरण ] वह तो वद से वदतर है। यहाँ जो वाक्यार्थ हैं उनमें सादृश्य तक तो है नहीं, [ अलंकार-रत्नाकरकारके ] प्रतिवस्तूपमा की क्या ही क्या ? अन्य सभी अलंकारों के उदाहरणों में भी ऐसा ही असामञ्जस्य है किन्तु [ ग्रन्थविस्तारभय तथा केवल अपने ऊपर दिए गए दोषों के निवारण की प्रतिज्ञा इन अभी अभी ] कथित दो कारणों से उसे हम नहीं दिखला रहे हैं। जैसे एक स्थल और लीजिए—

—'जहाँ कामदेव उत्पलाक्षियों = नीलकमलसी आँखोंवाली बालाओं के मुखमण्डल का आशाकारी है जो अपने पाँचों बाणों के साथ सदा सामने खड़ा रहता है, सुधा कमकरनी = चेदी है और चन्द्रमा उस [ मुख-मण्डल ] के अनोखे सौन्दर्य का वैतालिक है।'

—यहाँ विषय और विषयी दोनों का उपादान है अतः स्पष्ट ही यहाँ रूपकालंकार है तथापि [ अलंकाररत्नाकरकार ने ] इस पद्य को अतिशयोक्ति का उदाहरण माना है [ और कहा है कि 'यहाँ अतिशयोक्ति कार्यकारणभावमूला है। यहाँ 'एककार्यकारित्व'-रूपी संबन्ध के आधार पर पहले कामदेव से सर्वथा असंबद्ध आशाकारित्व का कामदेव से संबन्ध हो जाता है अर्थात् असंबन्ध पर संबन्ध का अभ्यवसायबोध हो जाता है, फिर कारणरूप आशापरत्व का उसकी कार्यभूत काम-विकारोत्पत्ति से अभेद बोध हो जाता है ] किन्तु यहाँ अतिशयोक्ति ही नहीं, उसके कार्य-कारणमूलकत्व की और तदर्थ इस पद्य को उदाहरणरूप से प्रस्तुत करने की तो बात ही क्या। इस प्रकार यह उदाहरण असंगत है। अब हम और अधिक उदाहरण देते बैठें यह ठीक नहीं।

'असंभवद्वस्तुसम्बन्धमूलक निदर्शना के जिस वस्तु-संबन्ध का अभी [ 'अव्याज सः'-पद्य में ] संभव प्रतिपादित किया गया है उसमें कोई विशेषता प्रतिपादित नहीं की गई थी, [ नहीं प्रतिपादित वस्तुसम्बन्ध सामान्यरूप से प्रतिपादित किया गया था ] तथापि [ उसमें विशेषताएँ भी हूँदी जा सकती हैं—जैसे ] अभी दिए उदाहरणों में जिस प्रकार एकमात्र उपमानगत धर्म का उपमेय में पहुँचना संभव प्रतिपादित किया उसी प्रकार उपमेयगत धर्म का उपमान में पहुँचना भी संभव प्रतिपादित किया जा सकता है—इस तथ्य का प्रतिपादन करने हेतु लिखते हैं—

[ सर्वस्व ]

इयं चोपमेय उपमानवृत्तस्यासंभवात्प्रतिपादिता पूर्वैः वस्तुतस्तूपमेय-वृत्तस्योपमानेऽसंभवाद्पि भवति । उभयत्रापि संबन्धविघटनस्य विद्यमान-त्वात् । तद्यथा—

'वियोगे गौडनारीणां यो गण्डतलपाण्डिमा ।

अलक्ष्यत स खर्जूरीमञ्जरीगर्भरेणुषु ॥'

अत्र गण्डतलं प्रकृतम् । तद्धर्मस्य पाण्डिस्रः खर्जूरीरेणुष्वसंभवादौपम्य-  
प्रतीतिः । एष च प्रकारः शृङ्खलान्यायेनापि भवति । यथा —

‘मुण्डसिरे योरफलं योरोघरि योरअं यिरं धरसि ।

विग्गुच्छाअइ अग्पा णालिअछेआ छलिज्जन्ति ।’

[ यह जो असंभवदस्तुसम्बन्धमूला निदर्शना है ] इसका प्रतिपादन [ मम्मट आदि ] प्राचीन  
आचार्यों ने केवल ऐसा किया था जिसमें केवल उपमेय में उपमान के धर्म का असंभव प्रतिपादित  
होता था, किन्तु सत्य यह है कि [ निदर्शना की ] यह [ विधा ] ऐसी भी होनी है जिसमें  
उपमेय के धर्म उपमान में असंभव प्रतिपादित रहता है, क्योंकि; सवन्ध का अभाव इन दोनों में  
ही समान रूप से विद्यमान रहता है । इस [ द्वितीय विधा ] का उदाहरण—[ जिसमें उपमेय धर्म  
उपमान में असंभव प्रतिपादित रहता है, यह है— ]

‘गौड देश की विद्युक्त वनितार्थ के कपोलतलों की पीतिमा [ वसन्त ऋतु में ] खर्जूरमजरी  
के पराग में दिखाई पड़ी ।’

—यहाँ कपोलतल प्रकृत [वर्णनीय] है [ अतः उपमेय है और ] उसका धर्म पीतिमा [ पंखपन  
में कपोलतल के उपमानभूत ] खर्जूरपराग में असंभव है अतः [ वाक्यार्थ का पर्यवसान उपमानो-  
पमेयभाव में होता है और अन्त में ] औपम्य की प्रतीति होती है—[ कि कपोलपीतिमा सदृश-  
पीतिमायुक्त खर्जूरपराग, खर्जूरपरागत न कि पीतिमा के समान पीतिमा से युक्त कपोलतल ] ।

यह [ उपमेय धर्म का उपमान में असंभवरूप अथवा असंभवदस्तुसम्बन्धमूलक ] जो प्रकार  
है यह शृङ्खला क्रम से भी होता है । यथा—

‘मुण्डसिरसि बदरफलं बदरोपरि बदर स्थिर धारयसि ।

विजिगृप्स्यस्यात्मानं नागरिकच्छेकाश्छल्पन्ते ॥’

‘तुम जो चतुर नागरिकों को छलना चाह रहे हो, यह एक प्रकार से मुँडे सिर पर बैर  
( बदरीफल ) और उस बैर पर एक और बैर [ थिराना ] चाह रहे हो, अपने आपको घृणास्पद  
बना रहे हो ।’

### विमर्शिनी

उभयत्रेयुपमेये उपमाने वा । वसन्तवर्णनस्य प्रक्रान्तत्वाद् द्वयोः प्रकृतत्वेऽपि गण्ड-  
तलस्योपमेयत्वम् । तद्गतत्वेनैव पाण्डिस्रः भिन्नाधयिपितरत्वात् । सिद्धसाध्यधर्मत्वमेव  
चोपमानोपमेयत्वम् । यथा वा—

‘श्वद्वयशलावण्यमिदं मृगाधि संलक्षयते पर्युरपि चपायाः ।

कथं त्वनेनाहृतमेतदद्य कलावतां वा किमसाध्यमस्ति ॥’

अत्र चाटुपु नायिकायाः प्रस्तुतत्वाद्द्वयमुपमेयम् । तद्धर्मस्य च लावण्यस्योपमाने  
शशिन्यसंभवः । एष ह्यति असंभवदस्तुसंयन्धनिवन्धनो वा वाच्यः ।

उभयत्र = दोनों में = उपमेय में और उपमान में । [ वियोगेपु पद्य में ] वसन्त का वर्णन किया  
जा रहा है अतः उसमें दोनों ही प्रकृत हैं [ वियोगिनीकपोल भी और खर्जूरमजरी भी ] तथापि  
उपमेय है कपोलतल ही, क्योंकि पीतिमा उसी के भोतर सिद्ध करना अभीष्ट है, क्योंकि सिद्ध  
धर्मवाला ही पदार्थ उपमान बनना है और साध्य धर्मवाला उपमेय । अथवा दूसरा उदाहरण लीजिए—

‘हे मृगाधि ! तुम्हारे चेहरे की उनार चन्द्र में भी दिखाई दे रही है । इतने इतने कैने हडपा  
होगा ? अथवा जो कलावान् होते हैं उनके लिए असाध्य ही क्या रहता है ।’

—यहां नायक नायिका का चाट कर रहा है अतः यहां नायिका का चेहरा प्रस्तुत है और इसीलिए उपमेय भी । उसका जो लावण्यरूपी धर्म है उसका चन्द्रमा में अंतमव है ।

'पृथ = वह' = प्रकार [ संभव है ], इसका दूसरा अर्थ असंभवद्वस्तु संबन्धमूलक निदर्शना भी किया जा सकता है ।

[ सर्वस्व ]

इयमपि क्वचिन्मालयापि भवन्ती दृश्यते । यथा—

'अरण्यरुदितं कृतं शवशरीरमुद्धर्तितं

स्थलेऽब्जमवरोपितं सुचिरमूषरे वर्षितम् ।

श्वपुच्छमवनामितं वधिरकर्णजापः कृतः

धृतोऽन्धमुखदर्पणो यद्वुधो जनः सेवितः ॥'

क्वचित्पुनर्निपेधसामर्थ्यादाक्षिप्तायाः प्राप्तेः संबन्धानुपपत्त्यापि भवति ।

यथा—

'उत्क्रोपे त्वयि किञ्चिदेव चलति द्वाग्गूर्जरक्षमाभृता

मुक्ता भूर्न परं भयान्मरुजुपां यावत्तदेणीदृशाम् ।

पद्भ्यां हंसगतिर्मुखेन शशिनः कान्तिः कुचाभ्यामपि

क्षामाभ्यां सहसैव वन्यकरिणां गण्डस्थलीविभ्रमः ॥'

अत्र मुक्तेति निषेधपदं तदन्यथानुपपत्त्या पादयोर्हंसगतिप्राप्तिराक्षिप्यते । सा च तयोरनुपपत्ता सादृश्यं गमयतीति असंभवद्वस्तुसंबन्धनिबन्धना निदर्शना ।

यह [ निदर्शना सामान्य ] कहीं भालारूप में भी मिलती है । यथा—

'मुखं व्यक्ति की चाकरी जो कि वह निर्जन जंगल में रोया गया, मृत शरीर में उबदन लगाया गया, मिट्टी पत्थर पर कमल रोपा गया, काफ़ी देर तक ऊपर में बरसा गया, कुत्ते की पूंछ सीधी की गर्द, बहिरे के कान में जप किया गया और [ दोनों आँखों के ] अन्धे के सामने दर्पण रखा गया ।

[ निषेध प्राप्तिपूर्वक होता है इस कारण ] कहीं-कहीं निषेध से आक्षिप्त प्राप्ति का संबन्ध बनने से भी [ यह निदर्शना ] होती है । यथा—

आपके क्रुद्ध होकर [ युद्धार्थ ] शौड़े से चलते ही भय से गुर्वर के राजा ने पृथिवी ही नहीं छोड़ी, अपितु महत्त्व में भयकती उसकी लुन्दरियों के पैरो ने हंसगति, मुखों ने चन्द्रकान्ति, दुर्बल स्तनों ने जंगली हाथियों के गण्डस्थली का विभ्रम भी एकाएक छोड़ दिया ।

—यहाँ 'मुक्ता = जोड़ दिया' यह निषेधवाचक पद पहिले पैरों द्वारा हंसगति की प्राप्ति करने का आक्षेप करता है, क्योंकि बिना उस [ प्राप्ति ] के वह निषेध बनता ही नहीं है । और वह [ हंस गति की ] उन [ पैरों ] में संभव नहीं है अतः 'उस जैसी गति' का ज्ञान कराती है । इसीलिए चहाँ असंभवद्वस्तुसंबन्धमूला निदर्शना हुई ।

विमर्शिनी

आक्षिप्ताया इति । प्राप्तिपूर्वकत्वान्निषेधस्य । सेति प्राप्तिः । सादृश्यमिति पादयोर्हंसगति-सुख्याया गतेः प्रतीतेः ।

इयं च सामान्यस्यानुगामितया । यथा—अव्यास व इत्यादि । अत्र निसर्गवक्रता-  
व्यधर्मस्यानुगामित्वम् । शुद्धसामान्यरूपावेन यथा—

हारेणामलकस्थूलमुक्तेनामुक्तकुन्तलः ।

फणीन्द्रवद्धजूटस्य श्रियमाप स धूर्जटे ॥

अत्रामुक्तवद्योः शुद्धसामान्यरूपत्वम् । विम्बप्रतिविम्बभावेन यथा—

‘उह सरसदन्तमण्डलकपोलपडिमागओ मअच्छीह ।

अंते सिन्दूरिअसएवत्तकरणि वदह चदो ॥’

अत्र दन्तमण्डलमिन्दूरितत्वयोर्विम्बप्रतिविम्बभावः ।

‘आक्षिप्तायाः = आक्षिप्त’ इसलिए कि निषेध प्राप्तिपूर्वक होता है । ‘मा = वह’ = प्राप्ति ।

‘सादर्यम्’ = क्योंकि पैरों में इसगति तुल्य गति की प्रतीति होती है ।

यह [ निदर्शना ] साधारण धर्म के अनुगामी होने पर भी होती है यथा—‘अव्यास व’  
इत्यादि में । यहाँ ‘निसर्गवक्रता’—नामक धर्म अनुगामी है । इसमें धर्म कहीं शुद्धसामान्यस्वरूप  
भी होता है । यथा—

—‘आँवले जैसे स्थूल मूर्तियों के द्वार से उसके केश कमे हुए थे । अत वह भगवान् शिव की  
शोभा प्राप्त कर रहा था जिनका जटाजूट शेषनाथ [ जो अपने धवल वर्ण के लिए प्रसिद्ध हैं ] से  
बँधा रहता है ।

यहाँ ‘आमुक्तत्व’ और ‘आवद्धत्व’ दोनों शुद्ध सामान्यरूप हैं ।

विम्बप्रतिविम्बभावमूलक, यथा—

‘पदय सरसदन्तमण्डलकपोलप्रतिमागतो मृगास्या’ ।

अन्ते सिन्दूरितशङ्खावत्तंकरणी [ क्रिया ] वदति चन्द्र ॥’

—देखो, [ ताम्बूलरस से ] सरस दंतमंडल [ ऊपर नीचे की दोनों पक्ति ] वाले कपोलों पर  
प्रतिबिम्बित यह चन्द्रमा नीचे [ मुखमाग में ] सिन्दूर से रँग हुए शय के आवर्त्त [ अजलि,  
कटोरी पीते समय जिसमें पानी भरा जाता है, या जिसमें ऊँगलियों के अग्रपर्व फँसाकर शख  
को पकटा जाता है और यदि यह शंख के दाहिनी ओर होना है तो शख को दक्षिणवर्त्त कहा  
जाना है, सामान्यतः यह शख के बाँई ओर ही होता । वस्तुतः केले कुण्डलित पत्ते जैसी एक परत  
होती है जो भीतर ही भीतर कुण्डलित होती जाती है इसलिए इसे आवर्त्त = भँर कहा जाना है । ]  
की करनी [ क्रिया ] धारण कर रहा है ।’

यहाँ ‘दन्तमण्डल’ और ‘सिन्दूरितत्व’ इन दोनों में विम्बप्रतिविम्बभाव है ।’

विमर्श—निदर्शना का पूर्व इतिहास—

भामहः = ‘क्रिययैव विशिष्टस्य तदर्धस्योपदर्शनात् ।

शेषा निदर्शना नाम यथेववतिविदिना ॥ ३।३३ ॥

यथा = अर्थ मन्दद्युतिर्मास्वानस्तं प्रति शियासति ।

उदयः पतनायेति श्रीमतो बोधयन् नरान् ॥ ३।३४ ॥

—‘निदर्शना इसलिए कहलाती है कि इसमें क्रिया के द्वारा ही विशिष्ट अर्थ प्रदर्शित किया  
जाता है और यथा, इव, वति आदि उपमावाचकों का प्रयोग नहीं रहता ।’

यथा = ‘यह प्रकाशराशि सूर्य तेजोहीन होकर अस्त की ओर जाना चाह रहा है, श्रीमान्  
छोगों को यह बतलाना हुआ सा कि ‘उदय का अन्त पतन होना है ।’

, स्पष्ट है कि भामह में समवद्वरनुसंधाना निदर्शना का ही निरूपण हुआ है । इन्हीं के अनुकरण  
पर वामन भी केवल निदर्शना का निरूपण करते हैं—

वामन = '[ सू० ] क्रिययैव स्वतदर्धान्वयख्यापनं निदर्शनम् ।'

[ वृ० ] क्रिययैव शुद्धया स्वस्थात्मनः तदर्धस्य चान्वयस्य संबन्धस्य ख्यापनम्, संतुलित—  
हेतुदृष्टान्तविभागदर्शनात् निदर्शनम् ।

[ सू० ] स्वयं और उसके प्रयोजन के अन्वय का कथन ही निदर्शन ।

[ वृ० ] 'शुद्ध [ अन्य निरपेक्ष ] क्रिया के द्वारा अपना और अपने प्रयोजन के संबन्ध का प्रतिपादन निदर्शना कहलाता है, क्योंकि इसमें हेतु और दृष्टान्त का अन्तर तिरोहित रहता है ।'

उदाहरण—'अत्युच्चपदाध्यासः पतनावेत्यर्थशालिनां संसद ।

आपाप्सु पतति पत्रं तरोरिदं बन्धनग्रन्थेः ॥'

—'धृष्ट का वह पीला पत्ता श्रीमन्त लोगों से यह कहता हुआ बन्धनग्रन्थि से गिर रहा है कि अत्यन्त ऊँचे पद पर पहुँच जाना पतनकारी ही होता है ।'

—यहाँ 'गिर रहा है'—यह क्रिया है, उसका प्रयोजन है 'अति उच्च पद पर पहुँचना पतनकारी होता है' यह, और इसका कथन हुआ है 'श्रीमन्त लोगों से कहता हुआ' इस प्रकार ।

उद्भटः—उद्भटाचार्यने निदर्शना को विदर्शना कह नाग में भी परिवर्तन कर दिया है और लक्षण में भी इस प्रकार परिष्कार किया है—

'अभवन् वस्तुसम्बन्धो भवन् वा यत्र कल्पयेत् ।

उपमानोपमेयत्वं कथ्यते सा विदर्शना ॥ ५।१० ॥

उदाहरण—'विनोचितेन पत्या च रूपवायपि कामिनी ।

विधुबन्धविभावर्षाः प्रविभक्त विशोभताम् ॥

—असंभव या संभव वस्तुसंबन्ध जहाँ उपमानोपमेय भाव की कल्पना कराए उसे विदर्शना कहा जाता है ।

विदर्शना शब्द की व्युत्पत्ति स्पष्ट करते हुए प्रतीहारेन्दुराज ने लिखा है—'वि = विशिष्ट अर्थ = उपमानोपमेयभाव, उसका दर्शन = प्रतिपादन = उससे युक्त 'विदर्शना' । निदर्शन शब्द उपमा से कुछ दूर हो दृष्टान्तपरक हो जाता है ।

उदाहरण 'उचित पति के बिना कौई भी सुन्दरी चन्द्रदीन रात्रि की शोभाशून्यता धारण करती है ।'

इस उदाहरण में रात्रि की शोभाशून्यता का सुन्दरी से संबन्ध संभव नहीं होता अतः उसका अर्थ तत्तुल्य अन्य शोभाशून्यता में परिणत हो जाता है । इस प्रकार यह उदाहरण असंभववस्तु—संबन्धमूला निदर्शना का है ।

द्वितीय का उदाहरण उद्भट ने नहीं दिया । अतः उद्भट के काव्यालंकारसारसंग्रह की टीका लघुविवृति के रचयिता प्रतीहारेन्दुराज ने अपनी ओर से मामह का 'अयं मन्दधृति' पद्य उद्धृत कर उसका विश्लेषण इस प्रकार किया है—

—'यहाँ उदित होकर अस्त होता सूर्य प्रयोजककर्ता है और प्रयोज्यकर्ता है उदयशाली श्रीमन्त जन । सूर्य उन्हें यह बोध करा रहा है कि 'उदय का अन्त पतन होता है' इसलिए इस 'बोधन'-क्रिया में वह हेतु है । किन्तु सूर्य जड़ है अतः उसमें प्रयोजक-हेतुत्व केवल 'बोध में समर्थ आचरण करने' तक सीमित है जैसे [ठंड में आग जलाकर पढ़ते छात्र की—] 'कारीय = कंठों की अग्नि अध्ययन करवा रही है' इस उक्ति में । इस प्रकार श्रीमन्तों और सूर्य के बीच वह जो प्रयोज्यप्रयोजकभाव है यह वस्तुतः संभव नहीं होता । फलतः यह उपमानोपमेयभाव का आक्षेप कराता है, अर्थात्, इस प्रयोज्यप्रयोजकभाव का पर्यवसान 'हे श्रीमन्त सज्जनों! जिस प्रकार मेरा उदय पतन में



परिणत हो रहा है उसी प्रकार आप का भी उदय पतन में परिणत होगा—येमा आप लीग समझ लें। इस प्रकार के उपमानोपमेयभाव में होता है।

यहाँ 'समर्थाचरण' शब्द का प्रयोग स्वयं अलङ्कारसर्वस्वकार, प्रतीशारेन्दुराज, विमर्दिनीकार रत्नाकरकार, अप्पयदीक्षित तथा पण्डितराज—इन सबने किया है किन्तु इसका अर्थ कुवलयानन्द के टीकाकार वैद्यनाथ तत्त्वतः तो बड़ी ही सफाई के साथ संक्षेप में इस प्रकार किया है—'समर्थाचरणे समर्थकरणे सामर्थ्योत्पादन इति यावत् भावप्राधान्यात्।' समर्थाचरण अर्थात् समर्थ बनाना अर्थात् सामर्थ्य उत्पन्न करना। इस प्रकार प्रयोजककर्त्ता भले ही जड़ हो वह चेतन के भीतर होने वाली शान्तीपत्ति में आलम्बन तो बन ही सकता है। जड़ की यह आलम्बनता न्यायशास्त्र की भाषा में विषय का ज्ञान के प्रति कारण होना माना जा सकता है। व्याकरण की भाषा में हमें ही शान्तीपत्त्यनुकूलता कहा जा सकता है। और यह तो जड़ में समभव ही है। प्रस्तुत पदार्थ में सूर्य भले ही जड़ है, वह श्रीमान् व्यक्ति अर्थात् चेतन व्यक्तियों में उत्पन्न होने वाले 'उदय पतन में बदलता है'—इस ज्ञान के प्रति सहायक तो हो ही सकता है। यही सहायकता उसकी प्रयोजककर्तृता है और यह सूर्य में भव ही है। 'चूडामणिपदे०' इस ग्रन्थकार के उदाहरण में इसी प्रकार यह प्रयोजकता पर्वत में सम्भव है। वस्तुतः यह भी एक औपचारिक प्रयोजकता ही है वास्तविक नहीं। इसीलिए रसगगाधरकार ने यहाँ न्यायशास्त्र के अनुसार व्यर्थ उदरेष्वा स्वीकार की है। सत्य यह है कि इस निदर्शना का ठीक निरूपण वामन ने ही किया है। वस्तुसम्बन्ध के समभव होने की बात बाल्कर उद्धृत ने उसमें एक विचार—स्पर्ष पैदा कर दिया।

उद्धृत. = उद्धृत के काव्यालङ्कार में निदर्शना नहीं मिलती।

मन्मथः = 'अभवन् वस्तुसम्बन्ध उपमापरिकल्पक।

स्वस्वहेत्वन्वयस्योक्तिः किययैव च सापरा ॥

—वस्तु सम्बन्ध न समभव होकर यदि उपमा की कल्पना कराए तो निदर्शना, अथवा कोई कार्य स्वयं का स्वयं के कारण के साथ सम्बन्ध बनलाना हुआ प्रतिपादित हो तो निदर्शना।

मन्मथ ने प्रथम के दो उदाहरण दिए हैं—उनमें से प्रथम की अभिव्यक्ति सर्वस्वकार के 'त्वत्पादनस०' और 'शुद्धान्तदुर्लभ०' की अभिव्यक्ति से और दूसरे की अभिव्यक्ति कव्याय सत्तो' की अभिव्यक्ति से संबंध मिलती है। द्वितीय निदर्शना का उदाहरण उन्होंने ठीक वैसा ही दिया है जैसा—सर्वस्वकार ने 'चूडामणिपदे०'। किन्तु विशेषता यह है कि काव्यप्रकाशकार ने इस भेद में वस्तुसम्बन्ध के समभव होने की बात नहीं कही है।

शोभाकर = अलङ्काररत्नाकरकार ने भी निदर्शनालक्षण में वस्तुसम्बन्ध के समभव होने की बात छोड़ दी है—

[ सूत्र ] 'असति सम्बन्धे निदर्शना ॥ ८ ॥

[ वृ० ] असति कर्मभवति सम्बन्धे आर्षमौपम्यं निदर्शना।

—सम्बन्ध समभव न हो तो निदर्शना होनी है यदि उपमानोपमेयभाव की प्रतीति अर्थनः हो। इसी तथ्य को और अधिक स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है—

'सबन्धबाधे सति लक्षणात् यत्रोपमाया' प्रतिपात्तरस्ति।

निदर्शना तत्र यदा तु विशिद्ध बन्धव लक्ष्ये तदा परे स्यु ॥'

—जहाँ सम्बन्ध का बाध ही जाने पर लक्षणा के द्वारा उपमा का ज्ञान हो वहाँ निदर्शना, और जहाँ किसी वस्तु का ही लक्षणा द्वारा ज्ञान हो वहाँ दूसरे अलङ्कार होते हैं।

उदाहरण के रूप में उन्होंने 'अशिव शिव की भक्तिमा धारण करता है'—यह वाक्यार्थ प्रस्तुत किया है।

संभवद्वस्तुसम्बन्धमूला निदर्शना तो अलंकाररत्नाकरकार ने मानी नहीं है तथापि उन्होंने उसके उदाहरण देने की असफल और असफल चेष्टा की है।

'त्वत्पादनखरत्नानाम्' पद्य में रत्नाकरकार ने वाक्यार्थरूपक मानते हुए कहा है कि 'नखों को अलते से लाल करना चन्द्रना को सफेद चन्दन से सफेद करना है' यहाँ प्रथम वाक्यार्थ पर द्वितीय वाक्यार्थ का आरोप उसी प्रकार है जिस प्रकार 'मुख चन्द्र है'—यहाँ प्रथम पदार्थ पर द्वितीय पदार्थ का। रूपक से निदर्शना का विषयभेद बतलाने हुए उन्होंने लिखा है कि 'जहाँ आरोप धीत = शब्दतः कथित नहीं हो और अर्थ संबन्ध न बनता हो वहाँ निदर्शना होती है और जहाँ ऐसा न हो वहाँ रूपक होता है। अलंकाररत्नाकर के इस प्रतिपादन का पण्डितराज ने अनुकरण किया है। और अलंकाररत्नाकर की ही पदावली का प्रयोग करते हुए उन्होंने इस उदाहरण में रूपक ही माना है। निदर्शना मानने के लिए इस पद्य में उन्होंने इस प्रकार परिवर्तन आवश्यक बतलाया है—

'त्वत्पादनखरत्नानि यो रञ्जयति यावकैः।

इत्तुं चन्दनलेपेन पाण्डुरीकुरुते हि सः॥'

—जो तुम्हारे पैर के नखों को अलते से रंगता है वह चन्द्रमा को चन्दन के लेप द्वारा सफेद करता है। यहाँ 'यत् इदम्' इस प्रकार उद्देश्यविषय वाक्यार्थों को अभिन्न बतलाने वाले सर्वनामपदों का प्रयोग नहीं है। पण्डितराज ने रूपक और निदर्शना में अन्तर भेद के उद्देश्य-विषयभाव पर निर्भर माना है। रूपक में वह उद्देश्यविषयभाव से युक्त रहता है और निदर्शना में नहीं। दोनों के उदाहरणों से यह तथ्य स्पष्ट भी है।

अप्यद्यद्विचित = अप्यद्यदोक्षित की चित्रमीमांसा में निदर्शना नहीं है किन्तु इसका निरूपण उन्होंने कुवलयानन्द में बड़ी ही सफाई से इस प्रकार किया है—

'वाक्यार्थयोः सदृशवोरैक्यारोपो निदर्शना।

या दातुः सौम्यता तेषां पूर्णेन्द्रोरकलंकता ॥

—दो सदृशवाक्यार्थों में ऐक्य का आरोप निदर्शना होती है। यथा 'दाता की जो सौम्यता है वह पूर्णन्दु की अकलंकता है 'जो'-'वह'—इन दो सर्वनामों से यहाँ दो वाक्यार्थों में ऐक्य बतला जा रहा है [ रत्नाकरकार के अनुसार यह रूपक है, अतः दोक्षितजी ने उदाहरण के रूप में सर्वस्वकारद्वारा उद्धृत 'अरण्यरहितं कृतम्' पद्य भी प्रस्तुत किया है ]।

पदार्थनिदर्शना के सर्वस्वकारद्वारा प्रतिपादित दोनों भेद भी उन्होंने बतलाए हैं। उपमान-धर्म के उपमेय में संबन्ध के लिए 'त्वन्नेत्रयुगलं धत्ते लीलां नीलाम्बुजम्भनीः' = तुम्हारे नेत्र नीलकमल की शोभा धारण करते हैं—यह उदाहरण और 'उपमेयधर्म' के उपमान में संबन्ध के लिए सर्वस्वकार द्वारा प्रदत्त 'वियोगे गीडो' पद्य ही प्रस्तुत किया है। इस द्वितीय उदाहरण में उन्होंने पदार्थनिदर्शना ही मानी है, सर्वस्वकार के अनुसार वाक्यार्थ निदर्शना नहीं, और वाक्यार्थ निदर्शना से पदार्थ निदर्शना का भेद यह कहते हुए किया है कि जहाँ उपमानोपमेय में से एक के धर्म का दूसरे में आरोप हो वहाँ पदार्थनिदर्शना तथा जहाँ दोनों के धर्मों में से एक धर्म का दूसरे पर आरोप हो वहाँ वाक्यार्थनिदर्शना माननी चाहिए।

तीसरी 'संभवद्वस्तुसम्बन्धा' नाम से सर्वस्वकारद्वारा प्रतिपादित निदर्शना को कुवल्यानन्दकार ने 'दोषतनिदर्शना' नाम दिया है।

'अपरां बोधनं प्राहुः क्रियया सदसदर्थयोः।'

क्रिया के द्वारा अच्छे या बुरे अर्थ का बोधन तीमरी निदर्शना । उदाहरण के रूप में अन्य उदाहरणों के अतिरिक्त 'बूढामणिवदे०' पद्य भी दिया है । इसके स्पष्टीकरण में उन्होंने लिखा है—

'बोधयन् गृहमेधिन' इत्यादी हि 'कारीषोऽग्निरध्यापयती'तिवत् समर्थाचरणे जिह्व. प्रयोगः । ततश्च यथा कारीषोऽग्नि. शीतापनयनेन बहून् अध्ययनसमर्थान् करोति एव वर्ण्यमान. पर्वत. स्वय-मुपमानभावेन गृहमेधिन उक्तबोधनसमर्थान् कर्तुं क्षमते ।'

—'बोधयन्' = बतलाना हुआ इत्यादि स्थलों में 'जिह्व' = प्रयोजक प्रत्यय का प्रयोग ठीक उनी प्रकार समर्थाचरण अर्थ में है जिस प्रकार 'कण्ठों की आग पलवा रही है' इत्यादि प्रयोगों में । जैसे कटे की आग ठंड दूर कर बटुओं को अध्ययनसमर्थ बनाती है वैसे ही पर्वत स्वयं उपमान बनकर गृहस्थों को आतिथ्य के उक्त बोध में समर्थ करने में सक्षम है ।

चन्द्रिकाकार ने समर्थाचरण का अर्थ 'समर्थ करना' किया है जैसा कि पाँछे बतलाया जा चुका है ।

अप्यव्यदीक्षित ने 'सप्तवद्वस्तुसम्बन्ध' और 'असप्तवद्वस्तुसम्बन्ध' नामों से निदर्शना का वर्गीकरण नहीं किया । केवल अन्त में अर्थों के नाम से इनका निर्देशमात्र कर दिया है ।

पण्डितराज जगन्नाथ—

सामान्य = 'विश्वप्रतिबिम्बभावानापत्रयोरुपात्तयोरर्थयोरार्थभेद औपम्यपर्यवसायी निदर्शना ।'

विशिष्ट ( १ ) व्यवहारद्वयवद्वयभेदप्रतिपादनाक्षितो व्यवहारद्वयभेदो वाक्यार्थनिदर्शना ।  
[ ललितालंकारप्रकरणे ] ।

( २ ) उपमानोपमेयधर्मयोरभेदाध्यवसायमूढ उपमेय उपमानधर्मसम्बन्ध. पदार्थनिदर्शना ।  
[ ललितालंकारप्रकरणे ]

—'विश्वप्रतिबिम्बभाव से रहित और शब्दतः कथित अर्थों का सादृश्य में पर्यवसित होने वाला अभेद निदर्शना कहलाता है ।' अत्रापि—

—'दो व्यवहारों से युक्त दो व्यवहारियों का अभेद बतलाने से व्यवहारों का जो अभेद फलित होता है वह वाक्यार्थनिदर्शना कहलाता है' और—

—'उपमान तथा उपमेय के धर्मों के अभेदाध्यवसाय के आधार पर उपमेय में उपमान के धर्म का सम्बन्ध पदार्थ निदर्शना ।'

इससे स्पष्ट है कि पण्डितराज ने उपमान में उपमेय के धर्म का संबन्ध स्वीकार नहीं किया है फलतः उनके मंत्र में 'वियोगे गौड०' पद्य में सर्वस्वकारद्वारा दर्शित यह प्रकार अमान्य है ।

पण्डितराज ने अलङ्कारसर्वस्वकार के निदर्शनालक्षण को अपर्याप्त ठहराते हुए कहा है कि वह रूपक तथा अतिशयोक्ति में भी लागू हो जाता है । 'मुख चन्द्र है' इत्यादि रूपक में औपम्य गम्यमान है ही और मुख को केवल 'चन्द्र' कहने से निष्पन्न अतिशयोक्ति में भी दोनों का उपमानोपमेयभाव गम्य रहता है । स्वयं पण्डितराज ने 'उपात्तत्व' तथा आर्थत्व का निवेशकर अतिशयोक्ति तथा रूपक से इन्हे पृथक् करने का प्रयत्न किया है । अतिशयोक्ति में विषय उपात्त नहीं रहता जबकि निदर्शना में रहता है । पदार्थनिदर्शना में भी वे एक 'शोभा' आदि शब्द का उपमान तथा उपमेय दोनों की शोभा का वाचक मानते हैं क्योंकि 'शोभात्व' धर्म उन दोनों में एक ही रहता है । रूपक में दोनों ही अर्थ उपात्त रहते हैं और अभेद भी रहता है किन्तु वह अभेद वाक्यार्थ की प्राथमिक प्रतीति में ही भासित हो जाता है जब कि निदर्शना में पहले दोनों वाक्यों अथवा पदों से अपने स्वतन्त्र अर्थ निकलते हैं, फिर असम्बद्धता हटाने के लिए उन में अभेद

लाया जाता है अतः वह बाद में प्रतीत होता है। रूपक और अतिशयोक्ति से निदर्शना का दूसरा भेदक अभेदगत अन्य वैशिष्ट्य भी है। रूपक तथा अतिशयोक्ति में उपमान का अभेद उपमेय में प्रतीत होता है जब कि निदर्शना में किसी एक का किसी दूसरे में अर्थात् दोनों का परस्पर में अभेद।

—'किं चास्याः शरीरं तादृशपदार्थयोः परस्परभेदमाश्रन् उभयत्र विश्रान्तम्, रूपकस्य तु उपमेयगत उपमानाभेदः अतिशयोक्तेश्च ।' [ ति० सं० पृ० ४६० ]

शिवेश्वर पण्डित ने निदर्शना का विवेचन अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट किया है—

[ का० ] उपमापर्यवसन्तो यत्रार्थोऽन्योन्यमन्वयानर्हः ।

यच्च क्रियया कारणकार्यान्वयधीनिदर्शना सौक्ता ॥

[ वृ० ] ( १ ) यत्र पदार्थयोर्वाक्यार्थयोर्वा अन्योन्यमेकवाक्यतयान्वयकोषाजनकयोरुपमानोपमेयभावं कल्पयित्वा न्वयवोधपर्यवसानं सा निदर्शना ।

( २ ) यत्र च कार्यकारणयोः क्रियया हेतुहेतुमद्भावे प्रतिपादिते उत्तरवाक्यार्थः पूर्ववाक्यार्थं प्रतिपाद्य सामान्यकार्यकारणभावे दृष्टान्ततया पर्यवस्यति सा द्वितीया निदर्शना ।

—जहाँ परस्पर में अर्थ परस्पर में अन्वययोग्य न होने से उपमानोपमेय रूप ठहरते हैं वह, और जहाँ क्रिया द्वारा कारण तथा उसके कार्य का सम्बन्ध ज्ञात हो वह निदर्शना। प्रथम निदर्शना का स्पष्ट रूप होगा—

—जहाँ विभिन्न पदार्थ या विभिन्न वाक्यार्थ अपने आप अपना बोध परस्पर में मिलित रूप से न करा रहे हों फलतः जहाँ उनका वैसा ज्ञान उनमें उपमानोपमेयभाव की कल्पना करने से बन पाता हो वह एक प्रकार की निदर्शना होगी।

—द्वितीय निदर्शना वह होगी जिसमें पूर्ववाक्यार्थ में क्रिया द्वारा प्रतिपादित सामान्य कार्यकारणभाव के लिए उत्तरवाक्यार्थ [ में प्रतिपादित कोई विशिष्ट कार्यकारणभाव ] दृष्टान्त बने।

द्वितीय निदर्शना के उदाहरण के रूप में इन्होंने मम्मटभट्ट द्वारा प्रदत्त और—

'उन्नतं पदमवाप्य यो लघुर्हेलयेव स पतेदिति ध्रुवम् ।

शैलशेखरगतो दृषत्क्षणश्चकारुमारुतध्रुतः पतत्यथः ॥'

—जो श्रुत हो और उन्नत पद या जाय तो यह निश्चित है कि वह गिरता ही है।

पर्वत की चोटी पर रखी कंकरी हवा के हलके झोके से भी नीचे आ पड़ती है।

शिवेश्वर ने इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार किया है—

'अत्र लाघवे सत्युन्नतपदप्राप्तित्वं कारणतावच्छेदकम् । पतनं कार्यावच्छेदकम्' इति कार्यकारणभावः पूर्वापं प्रतिपाद्यः । तत्र दृष्टान्ततयोत्तरार्द्धोपादानम् । तत्र 'लाघवे सत्युन्नतपदप्राप्तिः पातहेतुः, यथा दृषत्क्षणस्येति दृष्टान्तपर्यवसानान्निदर्शनात्वम् ।'

—इस पदार्थ में 'जो जो श्रुत होते हुए उन्नत पद पाता है वह प्रत्येक गिरता है' इस प्रकार पूर्वाहं के द्वारा 'श्रुतता के साथ उन्नत पद की प्राप्ति' कारण रूप से प्रस्तुत की गई है और 'पतन' कार्यरूप से। इस कार्यकारणभाव में उत्तरार्थ का वाक्यार्थ दृष्टान्तरूप से प्रस्तुत किया गया है। इसलिए पूर्णवाक्यार्थ—'श्रुतता के साथ उन्नत पद की प्राप्ति पतन का कारण होती है जैसे दृषत्क्षण = कंकरी की' [ श्रुतता के साथ उन्नत पद की प्राप्ति ] इस प्रकार दृष्टान्त में परिणत होता है अतः यहाँ निदर्शना है।

मम्मट ने इस पद्य में 'ध्रुवम्' के स्थान पर 'ध्रुवन्' पाठ माना था, जो पूर्व आचार्यों की परम्परा की रक्षा के लिए आवश्यक था। वामनाचार्य ने क्रिया के द्वारा कार्यकारणभाव के 'ख्यापन' की आवश्यक बतलाया था। मम्मट ने भी उस 'ख्यापन' के लिए अपने लक्षण में

‘उक्ति’ शब्द दिया है। इसी प्रकार प्राचीन आचार्यों के ‘अन्वय’-शब्द को भी उन्होंने अपनाया है। ‘भ्रुवन्’ पाठ होने पर पतन क्रिया का कर्ता दृपत्कण ‘क्षुद्रता के साथ उगनपदप्राप्ति पतनकारक होनी है’ यह तथ्य कहता हुआ चित्रित होता है अतः वहाँ ख्यापन की अभिसन्धि पूर्ण होती है। पण्डितराज यहाँ ‘भ्रवन्’ पाठ है ऐसा भ्रमवश समझ बैठे हैं। ‘भ्रुवन्’ पाठ होने पर जट दृपत्कण में पूर्वोक्त ‘समर्थाचरण’ की कठिनार्थ उपस्थित होती। धारणामात्र पर हुए इम गंभीर पाठभेद पर विद्वेदवर पण्डित और रमणगणेश के नागेश, मञ्जुनाथ तथा पुरुषोत्तमशर्मा-इन टीकाकारों का भी ध्यान नहीं गया है। आश्चर्य की बात यह है कुवलयानन्द में ‘भ्रुवन्’ पाठ ही है और उसका अर्थ ‘बोधयन्’ भी किया गया है। पण्डितराज का उमपर भी ध्यान नहीं है। अथवा उन्होंने यह पाठ अपनी ओर से स्वयं गढ़ लिया होगा। निदर्शना का अर्थान्तरन्यास से भेद समर्थसमर्थक वाक्यांशों के धर्म में रहने वाले अभेद और भेद को लेकर होता है। निदर्शन में अभेद रहना है और अर्थान्तर-न्यास में भेद। इसी तथ्य को विद्वेदवर ने इम प्रकार स्पष्ट किया है—‘समर्थनीयवाक्यांशप्रतिपाद्यकारणभावान्तर्गतकार्यतावच्छेदककारणतावच्छेदकधर्माभिन्नस्य निदर्शना, भेदे स्वार्थान्तरन्यासः।’

निदर्शना का दृष्टान्त से भेद है इनके वाक्यांशों में स्वसिद्धि के लिए अन्योन्यनिरपेक्षता तथा सापेक्षता को लेकर। दृष्टान्त में पूर्ववाक्यांश उत्तर वाक्यांश के बिना भी सिद्ध रहता है जबकि निदर्शना में पूर्ववाक्यांश अपनी सिद्धि के लिए उत्तर वाक्यांश की अपेक्षा रखता है। विद्वेदवर पण्डित ने इसे भी इस प्रकार स्पष्ट किया है ‘पूर्ववाक्यांशप्रतिपाद्यकारणभावे उत्तरवाक्यांशप्रतिपाद्यकारणभावस्य यत्र आदिकत्वं तत्र निदर्शना। ‘स्वयि दृष्ट’ इत्यादी [दृष्टान्तस्थले] तु उत्तरार्थीकार्यकारणभावो न पूर्वार्थीकार्यकारणभावस्य आदित्य आदिक-।’ [निदर्शना प्रकरण]। इसी प्रकार—

(२) यत्र पूर्वकार्यकारणभावे साक्षादेवोत्तरकार्यकारणभावोऽनुकूलस्तत्र निदर्शना, यत्र तु पूर्वकार्यकारणभावस्य एक एवोत्तरकार्यकारणभावोऽनुकूलस्तत्र दृष्टान्तः।’ [निदर्शनाप्रकरण]।

सत्रीविनीकार विद्याचक्रवर्ती ने इस अलंकार पर हुए अलंकारसर्वस्वकार के विवेचन को इस प्रकार श्लोकबद्ध किया है—

‘समवन् वस्तुसम्बन्धोऽम्भवन् वाऽवबोधवेद ।

प्रतिविम्ब यदि तदा निर्घान्वया निदर्शना ॥

विम्बानुविम्बार्थनया वाक्ययो प्रकृतान्ययो ।

स्यान्नैरपेक्ष्ये दृष्टान्तः सापेक्षत्वे निदर्शना ॥’

—समव अथवा अममव वस्तुसम्बन्ध यदि प्रतिविम्ब का बोधन कराए तो निदर्शना होना है।

—प्रकृत और अप्रकृत वाक्य में विम्बप्रतिविम्बता हो और दोनों निरपेक्ष हों तो दृष्टान्त, किन्तु यदि सापेक्ष हो तो निदर्शना।

वस्तुतः निदर्शना और दृष्टान्त दोनों का भेदक तत्त्व साधारण धर्म का विम्बप्रतिविम्बभाव है। दृष्टान्त में चमत्कार का अस्तित्व उसी पर निर्भर रहता है जब कि निदर्शना में असम्बद्ध वाक्यांशों के आर्थ उपमानोपमेयभाव में। अर्थ यह कि निदर्शना में चमत्कृति फलप्राप्ति है और दृष्टान्त में कलाश्रित।

ललितालङ्कार—

अप्यप्यदीक्षित ने कुवलयानन्द में ललितालंकार नामक एक नवीन अलंकार की उद्भावना की है। इसका लक्षण उन्होंने इस प्रकार दिया है—‘वर्ण्ये स्याद् वर्ण्यदृष्टान्तप्रतिविम्बस्य वर्णनम्’

ललितम् ।'— अर्थात् वर्णनीय = प्रस्तुत पदार्थ के वृत्तान्त = धर्म का वर्णन न कर उस वृत्तान्त के प्रतिविम्बभूत किसी वृत्तान्त का वर्णन करना ललित कहलाता है। अलंकारकौस्तुभ में यही लक्षण इस प्रकार उद्धृत है—'प्रस्तुते वर्ण्यवृत्तान्ते प्रतिविम्बव्य वर्णनम् ।' अधिक उपयुक्त यही पाठ है। उदाहरण दिया है—'निर्गते नीरे सेतुमेवा चिकीर्षति'—'पानी निकल जाने पर यह बौध बनाना चाह रही है।' यह किसी एक ऐसी सखी के प्रति किसी सखी की उक्ति है जिसका प्रिय आकर लौट गया हो और उसके बाद वह उसे पाने का यत्न कर रही हो। इस उक्ति में नायिका के व्यापार का नहीं अपितु उस जैसे गत-जल-सेतु-बन्धरूपा व्यापार का वर्णन है। यहाँ अप्रस्तुतप्रशंसा नहीं है क्योंकि इसमें प्रस्तुत पदार्थ = नायिका का ही वर्णन है। समासोक्ति भी नहीं क्योंकि उसमें प्रस्तुत व्यवहार ही कथित होता है। निदर्शना भी नहीं मानी जा सकती क्योंकि उसमें प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों के धर्म शब्दतः कथित रहते हैं और उनमें ऐक्य फलित होता है। इस प्रकार मन्मट का 'क सूर्यप्रमवो०' यह निदर्शना का उदाहरण ललित का उदाहरण सिद्ध होता है, क्योंकि इसमें 'मैं तुच्छ मति से सूर्यवंश का वर्णन करना चाहता हूँ। इस प्रस्तुतवृत्तान्त का उल्लेख नहीं है। उल्लेख केवल उस जैसे 'होगे से समुद्र को पार कराने' का है।

अप्ययदीक्षित के अनुकरण पर पण्डितराज जगन्नाथ ने भी ललितालंकार का लक्षण इस प्रकार किया है—'प्रकृतर्भिमिणि प्रकृतव्यवहारानुल्लेखेन निरूप्यमाणोऽप्रकृतव्यवहारसंबन्धो ललितालंकारः ।

—प्रकृत धर्मों में प्रकृत व्यवहार का उल्लेख न कर उसमें अप्रकृत व्यवहार के संबन्ध का निरूपण ललित अलंकार' ।

यह सत्य है कि ललित के स्थलों में निदर्शना के स्थलों के समान प्रकृत व्यवहार का उल्लेख नहीं रहता तथापि उपमा में जैसे लुप्तोपमा वर्ग के अन्तर्गत किसी किसी धर्म का अभाव रहता है तब भी उसे उपमा से भिन्न नहीं कहा जाता क्योंकि वहाँ सब भेदों में चमत्कार का एक ही कारण रहता है सादृश्य, जैसे ही प्रकृत धर्म के रहने और न रहने दोनों स्थलों में चमत्कार यदि असंबद्ध अर्थों के सादृश्य पर्यवसान में है तो अलंकार भी एक ही मानना होगा निदर्शना या ललित । निदर्शना पूर्वाचार्यों को मान्य है अतः ललित का ही उसमें अन्तर्भाव करना उचित है। इसी अभिप्राय से विश्वेश्वर पण्डित ने ललित का निदर्शनाप्रकरण में खण्डन किया है। स्वयं पण्डितराज ने भी ललित के प्रकरण में ललित को न मानने वालों की ओर से भी तर्क प्रस्तुत कर उसका निदर्शना में अन्तर्भाव दिखलाया है।

[ सर्वस्व ]

[ सू० २९ ] भेदप्राधान्ये उपमानादुपमेयस्याधिक्ये विपर्यये वा व्यतिरेकः ।

अधुना भेदप्राधान्येनालंकारकथनम् । भेदो वैलक्षण्यम् । स च द्विधा भवति, उपमानादुपमेयस्याधिकगुणत्वे विपर्यये वा भावात् । विपर्ययो न्यूनगुणत्वम् ।

[ सूत्र २९ ] [ सादृश्य में ] प्रधानता भेद की हो और यदि उपमान की अपेक्षा उपमेय में [ गुणों की ] अधिकता अथवा न्यूनता प्रतिपादित हो तो [ अलंकार ] व्यतिरेक [ कहलाता है ] ।

[ वृ० ] अब भेद की प्रधानता वाले अलङ्कारों का निर्वचन हो रहा है। भेद का अर्थ है विलक्षणता = भिन्नता। और यह दो प्रकार का होता है उपमान की अपेक्षा उपमेय में गुणों की अधिकता होने से अथवा हमके विपरीत। विपरीतता यानी गुणों की कमी।

### विमर्शिनी

भेदप्राधान्य इत्यादि। अधुनेति प्राप्तावसरम्। भेदस्य चात्र प्राधान्याद्भेदस्य वस्तुतः सद्भावः। सादृश्य एव पर्यवसानात्। अत एव सादृश्यव्यतिरेकेण संभवन्नपि भेदो नास्य विषयः। यथा—

'दिव्योत्तरीयमृति कौस्तुभरत्नभाजि देवे परे दधतु लुब्धधियोऽनुबन्धम्।

रूपं दिगम्बरमण्डनमुण्डचूड भावकमेव तु वतेश मम स्पृहाये ॥'

अत्र वैष्णवेभ्यः स्वात्मनि विष्णोर्वा परमेश्वरे भेदमात्र विवक्षित न तु केनापि कस्यचिदौपम्यम्। स इति भेदः। तस्याधिक्यत्रिपर्ययाभ्यां वैविष्याद्द्वयतिरेकोऽपि द्विविधः। तदाश्रयत्वादस्य।

भेदप्राधान्य इत्यादि। अधुना = अब अर्थात् अभेदप्रधान अलङ्कारों का निरूपण हो जाने पर भेदप्रधान अलङ्कारों का अवसर जाने पर। भेद की प्रधानता का अर्थ यह कि यहाँ [ अत्रधान रूप से ] अनेद भी रहता ही है क्योंकि इस अलङ्कार का पर्यवसान सादृश्य में हो जाता है। इमोलिप जहाँ भेद सादृश्यमूलक नहीं होता वहाँ यह अलङ्कार नहीं माना जाता। जैसे इस पद्याधे में—

'हे भगवान् [ शिव ] जिन्हें कुछ चाहिए वे उस देवता के पीछे पड़े जो दिव्य उत्तरीय [ पीताम्बर ] धारण किए हुए हैं और कौस्तुभमणि से अलङ्कृत हैं, क्योंकि वह भी उत्कृष्ट है। मुझे तो केवल आप के ही इस दिगम्बर [ विवस्त्र, नग्न ] और सिर पर अणुण्डित नरकपाल से शुकोभिन रूप की स्पृहा है।'

—यहाँ शिव भक्त में विष्णु भक्त से अथवा भगवान् शिव में विष्णु भगवान् से भेद मात्र बतलाया जाना अभीष्ट है। किमी का किमी से सादृश्य नहीं।

स = वह = भेद।

### [ सर्वस्व ]

क्रमेणोदाहरणम्—

'दिदृक्षयः पद्मलताविलासमङ्गणां सद्ब्रह्मस्य मनोहरं ते।

वापीषु नीलोत्पलिनी-विक्रासरम्यासु नन्दन्ति न पट्पद्मौघाः ॥'

'क्षीणः क्षीणोऽपि शशी भूयो भूयो विवर्धते सत्यम्।

विरम प्रसीद सुन्दरि यौवनमनिवर्ति यातं तु ॥'

अत्र विक्रस्वरनीलोत्पलिन्यपेक्षया अक्षिसहस्रस्य पद्मलताया अधिकगुणत्वम्। चन्द्रापेक्षया च यौवनस्य न्यूनगुणत्वम्। शशिवैलक्षण्यात् तस्यापुनरागमात्।

कम से एक एक का उदाहरण—[ उपमान से उपमेय में गुणाधिक्य का— ] मीरे आप के सहस्र नेत्रों की पद्मलता की छवि देखना चाहते हैं, अतः वे नीले कमलों के विकास से रम्य वाचकियों में नहीं रमते। [ उपमान से उपमेय में न्यूनगुणता का— ]

‘चन्द्रमा, सचमुच, घट पट कर फिर भी बढ़ जाता है, परन्तु सुन्दरि, मान जा, अधिक न लूठ, यह यौवन है, बीत गया तो फिर नहीं लौटने का ।’

— इन [ दोनों उदाहरणों में से प्रथम ] में खिले नील कमल की अपेक्षा नेत्रों में ‘पद्मलता’ रूपी गुण को लेकर अधिकता है [ द्वितीय में ] चन्द्र को अपेक्षा यौवन में न्यूनगुणता है क्योंकि उसमें पुनः न लौटना बतलाया गया है, जो चन्द्रमा में नहीं रहता ।

### विमर्शिनी

चन्द्रापेक्षयेति । शशियौवनयोर्हि समानेऽपि गत्वरत्वे शशिनः पुनरागमनमपि संभवति न तु यौवनस्येति ततोऽस्य न्यूनगुणवत्त्वम् ।

नन्वत्र विपर्ययमेवेति सूत्रितं भेदान्तरमयुक्तम् । उपमानादुपमेयस्य न्यूनगुणत्वे वास्तवत्वात्, तत्त्वे चालंकारत्वानुपपत्तेः । यौवनस्य चात्रास्थिरत्वे प्रतिपाद्ये चन्द्रापेक्षयाधिकगुणत्वमेव विवक्षितम् । यदेतच्चन्द्रवदयातं सन्न पुनरायातीति । असदेतत् । यतोऽत्र चन्द्रवद् गतं सद् यौवनं यदि पुनरप्यागच्छेत् तत् प्रियं प्रति चिरमीर्ष्यानुबन्धो युज्येत । कालान्तरेऽपि ह्यस्य तदवलोकनादिना सफलीकारः स्यात् । इदं पुनर्हंतयौवनं यातं सस्यु-नर्नागच्छतीतीर्ष्यान्तरायपरिहारेण निरन्तरतयैव प्रियेण सह सफलचित्तव्यमिति धिगी-र्ष्याम्, त्यज प्रियं प्रति मन्थुम्, कुरु प्रसादमित्यस्मिन् प्रियवधस्योपदेशे प्रियं प्रति कोपोपशमाय चन्द्रापेक्षया यौवनस्यापुनरागमनं न्यूनगुणत्वेनैव विवक्षितमिति वाक्यार्थ-विद् एव प्रमाणम् । न चैतद् वास्तवमुपमेयस्य न्यूनगुणत्वम् । तस्यैव सातिशयत्वेन प्रतिपाद्यत्वात् । प्रकृतार्थोपरञ्जकत्वे हि सर्वथा कवेः संरम्भः । तच्चाधिकगुणमुखेन भवतु, इतरथा वा को विशेषः । तस्माद्युक्तमेव विपर्यये वेत्ति सूत्रितम् । प्रस्युत प्रतिकूलत्वं वेत्ति सूत्रितमयुक्तम् । उपमानादुपमेयस्याधिक्ये इत्येतावतैव लक्षणेनास्य व्यासत्वात् । यतः ‘स्वरेण तस्या अमृतस्रुतेव’ इत्यादावन्यपुष्टालापस्य प्रतिकूलत्वोक्तेः कर्णकटुकत्वादिना न्यूनत्वावगतेऽप्युपमेयभूताया भगवत्याः संबन्धिनः स्वरस्यामृतस्रुतेवेत्यभिधानादानन्दा-तिशयदायित्वादेश्चाधिक्यमेवावगम्यत इत्यलं बहुना । अस्यापि सादृश्याश्रयत्वात्सामा-न्यस्य त्रयी गतिः । तत्रानुगामिता यथा—

नागेन्द्रहस्तास्त्वचि कर्कशात्वादेकान्तशैत्यात्कदलीविशेषाः ।

लडध्वापि लोके परिणाहि रूपं जातास्तदूर्वारूपमानबाह्याः ॥

अत्र परिणाहिरूपत्वस्यानुगामित्वम् । वस्तुप्रतिवस्तुभावे पुनर्ग्रन्थकृतैवोदाहृतम्— दिदृक्ष्व इत्यादि । अत्र मनोहरस्वरम्यत्वयोः शुद्धसामान्यरूपत्वम् । पचमलताविलासधिक-स्वरयोश्च विश्वप्रतिविम्बभावः ।

चन्द्रापेक्षया = चन्द्रमा की अपेक्षा । अर्थ यह कि क्षीण होना या जाना चन्द्रमा और यौवन दोनों का ही स्वभाव है, किन्तु चन्द्रमा का पुनः पुष्ट होना या लौट आना भी संभव रहता है, यौवन में नहीं । इसलिए यौवन में चन्द्रमा की अपेक्षा गुण की कमी है ।

[ अलंकाररत्नाकरकार ने उपमान की अपेक्षा उपमेय के न्यूनगुणत्व के आधार पर व्यतिरेक मानना असंभव बतलाते हुए कहा है—

‘उपमानत्यान्यस्मादाधिक्यं हि स्वभावतः सिद्धम् ।

तत्त्वे तेन न युक्तो व्यतिरेकश्चास्ताविरहाव ॥’

— अर्थात् ‘उपमान उपमेय की अपेक्षा अपने आप अधिक गुणशाली होता है अतः उसकी अपेक्षा उपमेय में न्यूनगुणता दिखलाने में कोई चमत्कार नहीं रहता । फलतः वहाँ व्यतिरेक तो हो सकता है, परन्तु व्यतिरेकनामक अलंकार नहीं हो सकता । वहाँ अधिक से अधिक उपमा-



लकार ही माना जा सकता है।' इसीलिए अलङ्कारसर्वस्वकार के 'विपर्यय' को छोड़ अलङ्कार रत्नाकरकार ने उसके स्थान पर 'प्रतिकूलता' को सूत्र में स्थान दिया है—'उपमेयादन्यस्य न्यूनत्व प्रतिकूलत्व वा व्यतिरेकः । 'श्रीगः श्लोणोऽपि०' पद्य में उन्होंने उपमान में उपमेय की अधिकगुणता ही मानी है न्यूनगुणता नहीं। उनका कहना है कि इस पद्य में न्यूनाधिकभाव की विवक्षा चन्द्र और यौवन में नहीं अपितु उनकी अस्थिरता में है। उपमेय = यौवन की अस्थिरता उपमान = चन्द्र की अस्थिरता से बड़ी है अतः यहाँ उपमेय ही अधिकगुणशाली है। फलनः यह पद्य प्रथम व्यतिरेक का ही उदाहरण है। इस प्रकार रत्नाकरकार ने सर्वस्वकार के 'विपर्यय'-पद्य को अमान्य ठहराया है। विमर्शनीकार इसका खण्डन और सर्वस्वकार के मत का समर्थन करते हुए कहते हैं ] शका = 'विपर्यय' कहकर सूत्र में जो द्वितीय [ उपमान से उपमेय की न्यूनगुणता का ] भेद प्रस्तुत किया गया है वह ठीक नहीं है, क्योंकि उपमान की अपेक्षा उपमेय में न्यूनगुणता [ स्वभाव सिद्ध अर्थात् ] वास्तविक ही होती है [ कविकल्पित नहीं ] अतः उपमेय के न्यूनगुण होने से कोई अलङ्कार सिद्ध नहीं हो सकता। [ श्रीग. श्लोणोऽपि पद्य में तो ] 'यह यौवन चन्द्र के समान चला तो जाता है परन्तु जैसे चन्द्र पुनः लौट आता है वैसे लौटता नहीं।' उपमेय = यौवन में ही उपमान = चन्द्र की अपेक्षा अधिकगुणत्व है क्योंकि इस पद्य में प्रतिपाद्य है यौवनगत अस्थिरता ही।

समाधान = यह कथन अमान्य है। क्योंकि यह [ प्रिय में रूठी नायिका के प्रति उमकी ] प्रियसखी का उपदेश है। इसका उद्देश्य है रूठी सखी के रोष की शान्ति। वह तभी सम्व है जब चन्द्र की अपेक्षा यौवन में 'पुनः न लौटना' कमी के रूप में ही प्रतिपाद्य माना जाय। सखी इमी कमी का इस प्रकार प्रतिपादित कर रही है—'चन्द्रमा जैसे जाकर पुनः लौट आता है वैसे ही यदि यौवन भी लौटने वाला होता तो प्रिय के प्रति देर तक रुठे रहना ठीक होता, क्योंकि तब प्रिय को और कमी भी देख लिया जाता और इस यौवन को सफल बना लिया जाता। किन्तु यह इत [ मुञ्जा ] यौवन, ऐसा है कि एक बार निकल जाने पर लौटता ही नहीं, इसलिए प्रिय से एक भी क्षण अलग न होना चाहिए और इसे सफल बना लेना चाहिए, ईर्ष्या आदि सब इसमें विज्ञ है, इन्हें तक में रोग देना चाहिए। अतः मार इस ईर्ष्या को छोड़ इस प्रियके प्रति अपनाय कोप को और अपना अपने प्रिय को खुशी से।' हमारा यह कथन कहाँ तक सगत है इसे वाक्याभेदा ही बतला सकते हैं। इसके अतिरिक्त अस्थिरता को लेकर यह जो उपमेयभूत यौवन में कमी बतलायी गई है वह वास्तविक = लौकिक कमी जैसी भी नहीं है, क्योंकि उसमें अतिशय प्रतिपाद्य है। कवि जो है वह सदा ही प्रकृत पदार्थ को शोभाशाली बनाने में प्रयत्नशील रहता है। वह चाहे किसी प्रकार हो, गुणाधिक्य के प्रतिपादन से या गुणगतन्यूनता के प्रतिपादन से। उसमें कोई अन्तर नहीं पड़ता। इसलिए ग्रन्थकार ने सूत्र में जो 'विपर्यये वा' कहकर उपमान से उपमेय की गुणन्यूनता का जो पक्ष प्रस्तुत किया है वह ठीक ही है। वल्कि [ अलङ्काररत्नाकरकार ने ही ] सूत्र में 'प्रतिकूलत्व वा' इस प्रकार प्रतिकूलता को स्थान दिया है वही अमान्य है। क्योंकि प्रतिकूलता की बात तो सूत्र के 'उपमानादुपमेयस्वाधिक्ये' = 'उपमान से उपमेय की अधिकता' इनने ही अंश से गतार्थ हो जाती है और इतना ही लक्षण अलङ्काररत्नाकरकार द्वारा प्रदत्त प्रतिकूलत्व के उदाहरण में भी लागू हो जाता है, क्योंकि प्रतिकूलता के लिए अलङ्काररत्नाकरकार ने जो—

'स्वरेण तस्यामश्रुतस्त्रुनेव प्रजल्पितायामभिजातवाचि ।

अप्यन्यपुष्टा प्रतिकूलशब्दा श्रोतुर्विगन्ध्रीरिव तादृथमाना ॥

कुमार स०।

—‘मगवती पार्वती की बाणी अत्यन्त अभिजात थी और स्वर अमृत-सा बरसाता था। वे जब कभी बोलती थीं तो कोयल की कूक श्रोता को वीणा के विरुद्ध तार की झनकार प्रतीत होती थी।’ [ कु. १।४५ ]

—यह उदाहरण दिया है [ और कहा है कि ‘यहाँ केवल यह प्रतीति होती है कि कोयल का स्वर पार्वती जी के स्वर के प्रतिकूल है। फलतः यहाँ उपमेय उपमान के केवल विरुद्ध है, उससे न्यूनगुण नहीं’, किन्तु ] इसमें कोयल की बोली को प्रतिकूल कहने से उसमें कर्णकटुत्व की प्रतीति होती है और इस प्रकार उसमें उपमेय पार्वतीस्वर की अपेक्षा न्यूनगुणता की प्रतीति होती है, इसी प्रकार उपमेयभूत जो मगवती पार्वती जी हैं उनके स्वर को अमृतस्वावी-सा कहने से उसमें अत्यन्त आनन्ददायित्व आदि अधिक गुणों की प्रतीति होती है। फलतः यहाँ भी उपमेय में उपमान की अपेक्षा गुणाधिक्य ही प्रतीति होता है। इस विषय में और अधिक क्या कहें इतना ही पर्याप्त है।

यह [ व्यतिरेक ] भी सादृश्य पर आश्रित अलंकार है। अतः इसमें भी धर्म = साधारणधर्म तीन प्रकार का रहता है। तीनों में से अनुगामी साधारणधर्म का उदाहरण होगा—[ अलंकाररत्नाकरकार द्वारा उद्धृत कुमारसम्भव का ‘नागेन्द्रहस्ता०’ इत्यादि पद्य का यह अर्थ— ]

—‘दायी की सूँड़ की चमड़ी कठोर होती है और कदलीस्तम्भ एकदम शीतल होते हैं। इस कारण ये दोनों संसार में पर्याप्त प्रसिद्ध और सुन्दर आकार पाकर भी पार्वती के ऊरुद्वय के उपमान नहीं हो सके।’ [ कु० १।३६ ]

—यहाँ ‘आकार की सुन्दरता या प्रसिद्धि’ [ उपमान तथा उपमेय दोनों में समानरूप से अन्वित होने वाला धर्म है अतः ] अनुगामी धर्म है। वस्तुप्रतिवस्तुभाव से युक्त साधारण धर्म का उदाहरण स्वयं ग्रन्थकार का ही ‘दिदृक्षवः’ यह उदाहरण है। यहाँ मनोहरत्व और रम्यत्व शुद्ध सामान्यरूप है अर्थात् वस्तुतः ये दोनों एक हैं, केवल शब्दों में भेद है। इसी पद्य में जो पक्षमलता विलास और विकस्वरता = विकास है इनमें विन्द्वप्रतिविम्बभाव [ भिन्न होने पर भी सादृश्य ] मूलक अभेद है।

### त्रिमर्श—व्यतिरेक का पूर्व इतिहास—

भामह—उपमानवतोऽर्थस्य यद् विशेषनिदर्शनम् ।

व्यतिरेकं तमिच्छन्ति विशेषापादनाद् यथा ॥ २।७५ ॥

सितासिते पद्मवती नेत्रे ते तान्नराजिनी ।

एकान्तशुभ्रश्यामे तु पुण्डरीकासितोत्पले ॥ २।७६ ॥

—उपमान के साथ उपमेय का उल्लेख हो और उसमें उपमान की अपेक्षा वैशिष्ट्य दिखलाया जाए उसे व्यतिरेक कहते हैं क्योंकि इसमें वैशिष्ट्य का संपादन किया जाता है। यथा—

—तुम्हारे नेत्र श्वेत भी हैं और श्याम भी, इनमें पद्म भी हैं और तान्नवर्ण की रेखाएँ भी [ इस प्रकार ये श्वेत, श्याम और रक्त इन तीनों रंगों से श्वलित हैं जबकि ] पुण्डरीक [ सफेद कमल ] केवल श्वेत ही होता है और नीलोत्पल केवल नील। स्पष्ट ही यहाँ उपमानभूत श्वेत कमल और नीलोत्पल की अपेक्षा, उपमेयभूत नेत्र में अधिक रंगों और उनसे जनित अधिक वैचित्र्य का प्रतिपादन है। इस प्रकार भामह केवल एक ही प्रकार का व्यतिरेक मानते हैं जिसमें उपमान से उपमेय का आधिक्य रहता है।

धाम्न = [ सु० ] उपमेयस्य गुणातिरेकित्वं व्यतिरेकः । ४।१२२ ।

[ वृ० ] उपमेयस्य गुणातिरेकित्वं गुणाधिक्यं यद्, अर्थात् उपमानात् स व्यतिरेकः ।

—‘उपमेय’ के गुणों का अतिरेक व्यतिरेक ।’ उपमेय के गुणों का जो अतिरेक अर्थात् आधिक्य अर्थात् उपमान की अपेक्षा वही व्यतिरेक ।’ [ स्पष्ट ही मामङ् ने व्यतिरेक शब्द के ‘वि’ उपसर्ग पर ध्यान दिया था और उसकी सार्थकता बनलार्थ थी जब कि वामन उसके ‘अतिरेक’-शब्द पर ध्यान दे रहे हैं । ] उदाहरण .—

‘सत्य हरिणशावाश्या प्रसन्नमुभग मुत्तम् ।

समान शशिन-किन्तु स कल्ङ्कविदम्बित ॥

—यद् सच है कि गृहछीने की आँखों-सी आँखों वाली इस सुन्दरी का मुख प्रसन्न भी है और सुन्दर भी इसलिए यह चन्द्रमा के समान है किन्तु चन्द्रमा कल्ङ्क से दूषित है ।’

वामन ने व्यतिरेक में उत्कर्षापकर्षद्वैतु गुणों को प्रतीयमान भी माना है । ‘तुम्हारी चतुर और ललित चित्रवन ने नीलोत्पल का कोइ स्थान नहीं रहने दिया’ = ‘चतुरललितैस्तुवार्थ-विश्लोकितै कुवलयवन प्रत्याख्यातम्’—यहा उपमेयभूत चित्रवन में तो उत्कर्षद्वैतु गुण चतुरता ललितता हैं, किन्तु उपमान में उनका अस्तित्व शब्दत कथित नहीं है अत वहाँ वे गम्य या प्रतीयमान हैं ।

वामन ने उपमेय के न्यूनगुणत्व का व्यतिरेकजनक नहीं बनलाया है ।

उद्भट ने भी केवल उपमान से उपमेय के गुणाधिक्य में ही व्यतिरेक माना न्यूनगुणता में नहीं । किन्तु उन्होंने व्यतिरेक में वामन के गम्यमान गुण नामक अभिनव भेद को भी अपनाया है और उपमानोपमेयभाव के गम्यत्व तथा वाच्यत्व के आधार पर व्यतिरेक के दो वर्ग बना उनमें दिल्ष्ट तथा शुद्ध शब्दों पर आश्रित [ उत्कर्षापकर्ष के ] निमित्तों के उपादान तथा अनुपादान के अनुच्छेदों द्वारा कुल मिलाकर आठ भेद प्रतिपादित किए हैं । यथा गम्य उपमानोपमेय-भाव में :—

( १ ) अनुपात्तनिमित्तक शुद्ध शब्दमूलक व्यतिरेक—

‘तप से कुछ पार्वती ने राहु में निपीन प्रमा वाले चन्द्र को जीत रखा था’ ।

यहाँ उपमेय पार्वती है, उपमान चन्द्र है, साधारण धर्म है ‘सुन्दर होने पर भी कारणवश आया फीकापन’ जो शब्दत कथित नहीं है और न उपमावाचक ‘इव’ आदि ही यहा उपलब्ध है । ‘जीत’-शब्द में उपमानभूत चन्द्र की अपेक्षा उपमेयभूत पार्वती में उत्कर्ष प्रतिपादित हुआ । इस उत्कर्ष का कारण है पार्वती जी का अधिक वृश होना और इसका कारण है तप में राहु की अपेक्षा अधिक तीक्ष्णता । ये दोनों ही कारण यहाँ शब्दत कथित नहीं हैं । इस प्रकार यहाँ उपमेय के वैशिष्ट्य के निमित्त अनुपात्त होने से यह व्यतिरेक अनुपात्तनिमित्तक हुआ । श्लेष भी किमी भी शब्द में नहीं है अत यह व्यतिरेक शुद्धशब्दमूलक हुआ ।

( २ ) उपात्तनिमित्तक शुद्धशब्द मूलक व्यतिरेक

‘पार्वती का मुखमण्डल रात्रिदिब कान्तिमान रहता था अत वह रात में श्रीविहीन हो जाने वाले पद्म को नीचा दिखला रहा था और दिन में जैसे ही हो जाने वाले चन्द्र को भी ।’

—यहाँ उपमान है चन्द्र और पद्म, उपमेय है पार्वतीमुख । साधारण धर्म है कान्तिमत्त्व, वह कथित नहीं है और ‘इव’ आदि उपमावाचक का भी यहा उपादान नहीं है । ‘मुख में चन्द्र और पद्म को नीचा दिखलाया’ इस कथन से मुख का उत्कर्ष और चन्द्र तथा पद्म का अपकर्ष व्यक्त हुआ । उत्कर्ष तथा अपकर्ष के निमित्त भी यहाँ उपात्त है । वे हैं मुख में रात्रिदिब ‘कान्तिमान् रहना’ और चन्द्र तथा पद्म का ‘केवल रात्रि या केवल दिन में ।’ शब्द समी श्लेषरहित है । इसलिए यह उपात्त निमित्तक, शुद्धशब्दमूलक व्यतिरेक हुआ ।

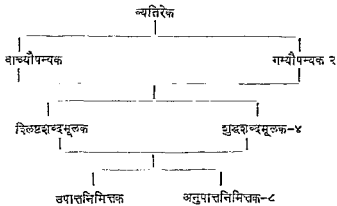
इन दोनों ही उदाहरणों में उपमा के वाचक 'इव' आदि शब्दों का अभाव है अतः ये दोनों भेद गन्धौपम्य वर्ग के हुए। यदि इन्हीं में श्वादि का प्रयोग कर दिया जाव तो ये ही वाच्यौपम्य वर्ग में आ सकते हैं। वयपि उद्भट ने उनके उदाहरण पृथक् दिए हैं। इस प्रकार चार भेद शुद्ध-शब्दमूलक गन्ध-औपम्य वर्ग के हुए। इन्हीं में यदि श्लेष का उपयोग कर दिया जाव तो ये ही चार श्लेषमूलक हो सकते हैं। श्लेषमूलक व्यतिरेक आगे मम्मट ने भी माना है, किन्तु उद्भट के समान नहीं। उद्भट ने व्यतिरेक में एक ही द्वयर्थक शब्द का उपमान तथा उपमेय दोनों के साथ दो बार पृथक्-पृथक् प्रयोग करना आवश्यक माना है। उदाहरण दिया है संस्कृत के 'तपस्' शब्द को लेकर। तपस् का एक तो तपश्चर्या अर्थ प्रसिद्ध है दूसरा अर्थ माघमास भी है। माघ शिशिर ऋतु का महीना होता है। उद्भट ने अपने त्वनिर्मित कुमारसंभव में इस शब्द का प्रयोग करते हुए लिखा—

'वा शैश्वरी श्रीस्तपसा मासेनैकेन विश्रुता ।

तपसा तां सुदीर्घेण दूराद् चिदधतीमधः ॥

—'शिशिर की जो श्री केवल एक महिने के तप से प्रसिद्ध थी उसे जगदम्बा पार्वती अपने सुदीर्घ अनेक वर्षव्यापी तप से बहुत ही निम्न सिद्ध कर रही थीं।'—इस पद्य में 'तपः'-शब्द की योजना द्वारा व्यतिरेक साधा गया है अतः वह श्लिष्टशब्दमूलक है।

इन बाठों भेदों का वृक्ष इस प्रकार बनाया जा सकता है।



यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि वामन ने निमित्त के अनुपादान में मम्मट के समान तीन भेद न मानकर केवल एक भेद माना है। मम्मट ने ( १ ) उपमानापकर्षनिमित्तानुपादान, ( २ ) उपमेयोत्कर्षनिमित्तानुपादान तथा ( ३ ) 'उपमानुपादान' इस प्रकार निमित्तानुपादान के तीन भेद किए हैं। निमित्त के उपादान का अर्थ दोनों में एक ही है अर्थात् उपमानापकर्ष तथा उपमेयोत्कर्ष इन दोनों के दोनों निमित्तों का उपादान।

उद्भट का मूलविवेचन इस प्रकार है—

'विशेषापादनं यत् त्वादुपमानोपमेययोः ।

निमित्ताद्दृष्टिदृष्टिभ्यां व्यतिरेको द्विधा तु सः ॥

यो वैधर्म्येण दृष्टान्तो यथेवादिसमन्वितः ।

व्यतिरेकोऽत्र सोऽमीष्टो विशेषापादानान्वयात् ॥

श्लिष्टोक्तियोग्यशब्दस्य पृथक् पृथगुदाहृती ।

विशेषापादनं यत् त्याद् व्यतिरेकः स च सृष्टः ॥२१७, ८॥

रुद्रट—सर्वरवकार के व्यतिरेक का आधार वस्तुतः रुद्रट का व्यतिरेक-निरूपण है। रुद्रट ने व्यतिरेक के—

[ क ]—[ १ ] उपमेय में गुणोक्ति तथा उपमान में दोषोक्ति ।

[ २ ] केवल उपमेय में गुणोक्ति तथा

[ ३ ] केवल उपमान में दोषोक्ति ।

[ ख ]—[ १ ] उपमेय में दोषोक्ति तथा उपमान में गुणोक्ति ।

—इस प्रकार केवल चार भेद माने हैं। दोष गुणों की उक्ति और अनुक्ति रुद्रट की भाषा में निमित्त उपादान और अनुपादान हैं। रुद्रट ने रुद्रट से आगे बढकर निमित्तानुपादान के दो भेद तो किए किन्तु परवर्ती मम्मट द्वारा लक्षित उभयानुपादान पर उनकी दृष्टि नहीं गई। वाच्यता और गन्धता, शुद्धता या फिल्ट्रता पर भा ने ध्यान नहीं देने। उनका मूल विवेचन इस प्रकार है—

( १ ) यो गुण उपमेये स्यात् तत्प्रतिपन्थो च दोष उपमाने ।

व्यस्तममस्तन्द्यस्तौ तौ व्यतिरेक द्विधा कुरतः ॥

( २ ) यो गुण उपमाने स्यात् तत्प्रतिपक्षी च दोष उपमेये ।

भवन्तौ यत्र समस्ती स व्यतिरेकोऽयमभ्यस्तु ॥

—उपमेय में गुण बतलाया जाय और उपमान में उसके विरुद्ध दोष तो अलङ्कार व्यतिरेक होता है। कहीं गुण और दोष दोनों कथित रहते हैं और कहीं दोनों में से कोई एक। इस प्रकार तन्मूलक व्यतिरेक तीन प्रकार का हो जाता है।

—इसके विरुद्ध जब उपमान में गुण बतलाया जाता है और उपमेय में दोष तो वह भी एक व्यतिरेक होता है। [ जिसे मामद्, वामन और रुद्रट ने छोड़ दिया है ]। इन्में विशेषता यह है कि उसमें गुण और दोष दोनों में से केवल किसी एक का उल्लेख नहीं होता। नियमतः दोनों का ही उल्लेख रहता है, अतः इसका एक ही भेद होता है। क्रम से उदाहरण—

( १ ) तुम्हारी उपमा हर ( नायक शिव ) से कैसे हो सकती है तुम अनुजग [ 'भुजगो विट-संपयो.' के अनुसार भुजग = विट अनुजग = अविट या विटरहित, संपयी ] हो [ जब कि शिव भुजग = सर्प से युक्त समुजग है ] और समनयन [ सबको बराबर मानने वाले ] जो हो [ जब कि शिव विषमनयन = त्रिनयन है ] —'अनुजग. समनयन' कथमुपमेयो हरेणासि ।'

( २ ) दोषाकर [ दोषा = रात्रि का कर = निर्माता और दोषों का आकर ] = चन्द्र तुम्हारा उपमान कैसे बन सकता है। वह तो कलकी [ काले धब्बे-पृथ्वी की छाया से युक्त ] और जड [ = जल, जलरूप ] जो है [ जब कि तुम निष्कलंक और चैतन हो ] ।

—'सकलङ्केन जडेन च साम्य दोषाकरेण कीदृक् ते ।'

( ३ ) तुम्हारे नेत्र तरल हैं और नीलकमल निश्चल। भला इनकी उपमा कैसे हो सकती है। इसी प्रकार तुम्हारा चेहरा विमल है और चद्रमा कलंक-मलिन। वह तुम्हारे चेहरे का उपमान कैसे बन सकता है।

—'तरलं लोचनमुगल कुवलयमचल किनेतयो. साम्यम् ।

विमलं मणिनेन मुख शशिना कपनेतुपमेयम् ॥'

( ४ ) 'क्षीणः क्षीणोऽपि०' ।

मम्मट ने व्यतिरेक के भेदों की संख्या चौबीस तक पहुँचा दी है। उन्हें व्यतिरेक का एक ही पक्ष मान्य है जिसमें उपमेय का उल्लेख बतलाया जाता है। उपमेय के अपकर्ष के व्यतिरेक की

संभावना का उन्होंने खण्डन किया है। उनका व्यतिरेकलक्षण इस प्रकार है—

‘उपमानाद् यदन्यस्य व्यतिरेकः स एव सः।’

—अन्यस्योपमेयस्य व्यतिरेक आधिक्यम्।

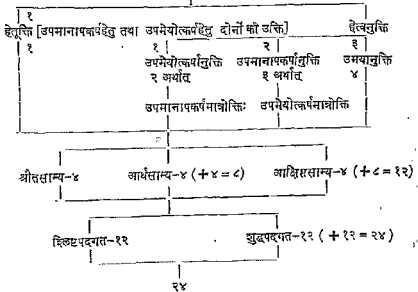
—‘उपमान की अपेक्षा उपमेय का आधिक्यरूप व्यतिरेक ही व्यतिरेकालङ्कार कहलाता है।’ इस लक्षण में मम्मट ने व्यतिरेक शब्द के अंश अतिरेकमात्र पर ध्यान दिया। ‘वि’ उपसर्ग का पूर्वाचार्य-प्रतिपादित सार्थकता को उन्होंने स्थान नहीं दिया। रुद्र के उपमेयगत अपकर्ष से संभावित व्यतिरेक पक्ष का खण्डन करते हुए उन्होंने कहा ‘क्षीणः क्षीणोऽपि०’ “इत्यादि में एक किसी ने उपमेय से उपमान की अधिकता बतलाई है किन्तु वह गलत है, क्योंकि यहाँ यौवन में अस्थैर्य की अधिकता ही बतलाना कवि को अभीष्ट है।” यहाँ मम्मट ने रुद्र का नाम नहीं लिया इसलिये काव्यप्रकाश के कुछ टीकाकारों ने इस मत को उद्धृत और अलंकारसर्वस्वकार का मत बतला दिया है। वामन शल्लोकर ने इसे अलंकारसर्वस्वकार का ही बतलाया है जब कि अलंकारसर्वस्वकार मम्मट से बाद के हैं।

भेदों की गणना में मम्मट ने उद्धृत की सभी विधाएँ अपना ली हैं केवल प्रतीवमान सादृश्यमूलक भेद के साथ ही उन्होंने आक्षिप्त-सादृश्यमूलक भेद की भी कल्पना कर ली है। इसके अतिरिक्त उन्होंने निमित्त के अनुपादाद्य को केवल एक भेद न मानकर तीन भेदों में विभक्त किया है। उनका भेदक्रम इस प्रकार है—

हितोश्चावनुक्तीनां त्रये साम्ये निवेदिते।

शब्दार्थान्यामयाक्षिते श्लिष्टे तद्वच थिरष्ट तद् ॥’ अर्थात्—

व्यतिरेकः



आक्षिप्तसाम्य का उदाहरण मम्मट ने यह दिया है—

‘ह्यं सुनयना दासीकृततामरसभिया।

आननेनाकलङ्केन जयतीन्दुं कलङ्किनम् ॥

—यह सुन्दराक्षी कमलश्री को दासी बना लेने वाले अपने अकलक मुख से कलंकी चन्द्र को जीत रही है।' यहाँ 'जयति = जीत रही है' इस कथन से साम्य का आक्षेप होता है। ऐसे उदाहरण उद्धृत ने भी दिए हैं किन्तु उन्हें गन्यौपम्य में गिना दिया है। मन्मत ने उसके भी आर्थ तथा आक्षिप्त ये दो भेद कर दिए हैं।

परवर्ती आचार्यों में—

शोभाकर—के व्यतिरेक का निरूपण सामान्यतः पूर्वपक्ष के रूप में विमर्शिनी के अनुवाद में दिया जा चुका है।

अप्ययदीक्षित—ने कुवलयानन्द में व्यतिरेक का विवेचन अति सक्षेप में किया है। उन्होंने उपमेयापकर्ष को भी व्यतिरेक का एक भेद मानकर सर्वस्वकार के ही समान रुद्रट की परम्परा का अनुमोदन किया है। उनका विवेचन इस प्रकार है—'व्यतिरेकों विशेषद्वेषेदुपमानोपमेययो।

—यदि उपमान तथा उपमेय में से किसी एक की अपेक्षा दूसरे में विशेषता दिखलाई जाए तो व्यतिरेक। स्पष्ट ही यहाँ व्यतिरेक शब्द की व्युत्पत्ति पर विमेष ध्यान नहीं दिया गया है।

उदाहरण—

[ १ ] उपमान से उत्कर्ष का उदाहरण यथा—'शैला श्वोन्नता. सन्त किन्तु प्रकृतिकोमला ।' सन्त लोग पर्वतों के समान उन्नत तो होते हैं परन्तु स्वभाव से कोमल रहते हैं।

यहाँ उपमेयभूत सन्त प्रकृतिकोमलता में उपमानभूत कठोर पर्वतों से उत्कृष्ट प्रतिपादित है।

[ २ ] उपमेय के अपकर्ष का उदाहरण—'सर्वं तुल्यमशोकं केवलमहं घात्रा सशोकः कृतः'।

—हे अशोक, तुम्हारी और मेरी और सब बातें तो समान हैं, केवल इतना ही अन्तर है कि मैं वैवश तुम अशोक हूँ और मैं सशोक।

दीक्षित जी के अनुसार यहाँ वक्ता ने अर्थात् उपमानभूत अशोक ने स्वयं को शोकाभाव में छोटा प्रतिपादित किया है। च्वनिकार तथा पण्डितराज जगन्नाथ ने यहाँ उपमादूरीकरण को तात्पर्यविषयीभूत माना है। जो जँचना है।

( २ ) अनुमयपर्यवसायी [ न तो किसी के अपकर्ष में पर्यवसित होने वाला और न किसी के उत्कर्ष में ] यथा—

'दृढतरनिबद्धमुष्टेः कोशनिपण्णरय सहजमलिनस्य ।

कृपणस्य कृपाणस्य च केवलमाकारतो भेदः ॥

—कृपण और कृपाण में भेद केवल 'आकार' [ 'आ' अक्षर तथा आकृति ] को लेकर है। जैसे दोनों ही बद्धमुष्टि होते हैं [ कृपाण में मुष्टि = मूठ = तसह, कृपण में खर्च न करना ] दोनों ही कोश स्थित [ कोश = म्यान, रजाना ] रहते हैं और दोनों ही स्वभावतः मलिन [ मलिनता = रंदिगी, श्यामता ] होते हैं।' यहाँ कृपण और कृपाण में भेदमात्र प्रतिपादित किया गया है किसी का किसी से उत्कर्ष या अपकर्ष नहीं। व्यक्तिविवेककार ने इस पद्य के वाक्यार्थ पर आपत्ति दी है। उनका तर्क है कि 'आकार' का अर्थ है 'आ' अक्षर। उसे लेकर दोनों अर्थों का अन्तर प्रतिपादित नहीं किया जा सकता किन्तु उन्होंने माना यहाँ व्यतिरेक ही है। यद्यपि इस संदर्भ में ऐकान्तिक रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि उनका व्यतिरेक शब्द अलंकार के लिए ही प्रयुक्त है। पण्डितराज जगन्नाथ ने भी इसे दूषित ठहराया है और इसमें केवल श्लेषमूलक उपमा ही स्वीकार की है। उनका कथन है कि यहाँ केवल दीर्घाक्षर मात्र में अन्तर प्रतिपादित करने का तात्पर्य है सर्वथा साम्य। क्योंकि अक्षरमात्र के अन्तर से अर्थगत कोई वास्तविक अन्तर सिद्ध नहीं होता। उनका कहना ठीक भी है, किन्तु कुवलयानन्द की टीका चन्द्रिका के रचयिता वैचनपाथ ने

पण्डितराज की इस मीमांसा को अत्यन्त तुच्छ बतलाया है और यहाँ तक कहा है कि 'यह इतनी तुच्छ है कि इसे उद्धृत भी करना अनुचित है।' यह उनकी मूलभक्ति ही है।

**पण्डितराज जगन्नाथ**—'उपमानाद् उपमेयस्य गुणविशेषवत्वेनोत्कर्षो व्यतिरेकः।'

—उपमान से उपमेय का गुणविशेष के आधार पर उत्कर्ष व्यतिरेक। इस लक्षण के अनुसार पण्डितराज उपमेयापकर्ष से व्यतिरेक की निष्पत्ति स्वीकार नहीं करते। वे उसका खण्डन भी करते हैं। उद्भट की व्यतिरेककारिका में वैधर्म्य शब्द आया है। उससे भ्रम होता है कि कदाचित् व्यतिरेक साधर्म्य के साथ ही वैधर्म्य से भी निष्पन्न होता है। पण्डितराज जगन्नाथ उसका स्पष्टीकरण कर देते हैं। वे वैधर्म्य को व्यतिरेकानुभूति में विघ्न प्रतिपादित करते हैं। सच भी है। व्यतिरेकबोध के लिए अपेक्षित साधर्म्य यदि दृष्टान्त आदि जैसे वैधर्म्य द्वारा प्रस्तुत हो तो काव्य पहेली बन जायगा। आक्षिप्त अथवा आर्ष सादृश्य में मानस बोध सीधे सादृश्य से टकराता है, जब कि वैधर्म्य में सादृश्य के अभाव से। इस प्रकार यहाँ व्यतिरेक बोध की भूमिका तिमिन्तली बन बैठती है। उद्भट के वैधर्म्य शब्द का अर्थ विपरीत धर्म नहीं, 'मित्र धर्म' है, और इस अर्थ में स्वयं पण्डितराज ने भी वैधर्म्य शब्द का प्रयोग इस प्रकरण में किया है। पण्डितराज ने व्यतिरेक शब्द के दोनों अवयवों पर भी ध्यान दिया है—'वि'—उपसर्ग पर भी और 'अतिरेक' शब्द पर भी। 'वि' उपसर्ग को उन्होने विशेषार्थक मानकर उसका अर्थ गुणविशेष किया तथा अतिरेक का उत्कर्ष। यह केवल इसलिए कि यह शब्द चल चुका है, परम्परागत है। अन्यथा 'अतिरेक'—शब्दमात्र पर्याप्त था। अतिरेक बिना विशेषता के संभव नहीं, अतः विशेषता का अपने आप आक्षेप संभव था।

पण्डितराज ने व्यतिरेक के चौबीस भेद मम्मट के ही अनुसार स्वीकार कर लिए हैं किन्तु श्लेषमूलक व्यतिरेक में कहीं उभयानुपादान को असंभव प्रतिपादित किया है। यथा—

'भवान् सहस्रैः समुपावगमानः कथं समानस्त्रिदशाधिपेन'।

—'आपकी तुलना इन्द्र से कैसे की जा सकती है। आप की सेवा सहस्रों करते हैं अतः आप सहस्राधिप हैं जब कि इन्द्र केवल त्रिदशाधिप।' यहाँ 'त्रिदशाधिप' शब्द के दो अर्थ हैं (१) त्रिदश = देवता तथा (२) तीन गुणा दश तीस अथवा तीन और दश = तेरह। इस प्रकार व्यतिरेकी अर्थ यह निकला कि जो त्रिदशाधिप अर्थात् केवल तीस अथवा तेरह का स्वामी है वह सहस्रों के स्वामी का उपमान कैसे बन सकता है। यहाँ यदि त्रिदशाधिपत्व तथा सहस्राधिपत्व ये विभिन्न धर्म हटा दिए जायें तो वाक्यार्थ ही निष्पन्न नहीं होगा, क्योंकि व्यतिरेकसिद्धि तो दूर की वस्तु है 'इन्द्र से राजा की तुलना अनुचित है' यह स्थापना निर्मूल रही आयेगी। पण्डितराज के इस तर्क को नागेश ने भी प्रदीपोद्योत में स्वीकार किया है। किन्तु यह तर्क वहीं तक सीमित है जहाँ श्लेष व्यतिरेकसाधक विशेषणों में ही हो। श्लेष जहाँ केवल साम्यसाधक विशेषणों में रहता है और व्यतिरेक की सिद्धि अन्य विशेषणों से होती है वहाँ तीनों अनुपादान संभव हैं और अलंकारकौस्तुभकार विश्वेश्वर पण्डित ने भी मम्मट के ही समान श्लेष में भी इस प्रकार के तीनों अनुपादानों के यथावत् उदाहरण दिए हैं। आगे अलंकारकौस्तुभकार के प्रकरण में इन्हें देखा जा सकता है। संख्यानियम पर दूसरी बात पण्डितराज ने यह भी कही है कि व्यतिरेक सादृश्यमूलक होता है अतः सादृश्य के जो २५ भेद उपमा में हुए हैं वे सब यहाँ भी संभव हैं जिससे व्यतिरेक की भेदसंख्या बढ़ भी सकती है।

पण्डितराज जगन्नाथ ने सर्वस्वकार द्वारा 'क्षीणः क्षीणोऽपि०' पद्य में प्रतिपादित उपमेयापकर्ष-मूलक व्यतिरेक का मम्मट तथा शोभाकर के ही तर्कों में खण्डन किया है। विशेषता यह है कि



उन्होंने विमर्शनीकार द्वारा किए गए इसके मण्डन का अक्षरशः अनुवाद किया और उसपर भी निम्नलिखित आपत्तियाँ दी हैं—मने ही यह उक्ति नायिका की हितेच्छु किमी प्रियसखी की हो तब भा इसमें उपमेयभूत यौवन में उपमानभूत चन्द्र की अपेक्षा गुणाधिक्य ही विवक्षित है, गुणरत्न नहीं। इससे विवक्षितार्थ का पुष्टि अधिक होती है क्योंकि इस उक्ति से सिद्ध होना है कि चन्द्र पुन पुन लोट आता है अतः सुकृम है अतः उमका उतना माहात्म्य नहीं है। यौवन कदापि नहीं लोटता इसलिए दुर्भन है और इसीलिये वह अधिक उत्कृष्ट है। उमे मान आदि विघ्न-भूत कार्यों से अमकल नहीं होने देना चाहिये जहाँ कहीं उपमेयगत अपकर्ष भा प्रतिपादित रहता है वहाँ भा वह अपकर्ष वस्तुन, उत्कर्ष में ही परिणत होने वाला होता है। जैसा 'चन्द्र ही मला है जो क्षीण होकर पुन पुष्ट हो जाता है, इस यौवन को धिदार है जो क्षीण हाकर पुनः नहीं लोटता।' यहाँ विस्कार द्वारा मान के प्रति आक्रोश व्यक्त किया गया है और वह आक्रोश यौवन के लाम के प्रति क्षुण्ण भी उदासीन न रहने का संकेत देता है।

विश्वेश्वर पण्डित ने अलङ्कारकोस्तुम में केवल उपमेयोत्कर्ष में ही व्यतिरेक स्वरूपकार किया है, उपमेयापकर्ष में नहीं—'उपयो. साम्यप्रोक्तौ विशेष उपमेयगे व्यतिरेक ।'

—दोनों के साम्य प्रतिपादित हों तब यदि उपमेय में वैशिष्ट्य बनलाया जाय तो व्यतिरेक होता है। व्यतिरेक शब्द की व्युत्पत्ति में विश्वेश्वर ने परम्परा को तोड़ दिया है। उन्होंने व्यतिरेक का अर्थ व्यावर्तन = अलगाय किया है—'व्यतिरिच्यते उपमानाद् व्यावर्ततेऽनेन उपमेयमिति व्युत्पत्तेः [ व्यतिरेक ]' = उपमान से उपमेय जिसके द्वारा हटा लिया जाय।'

व्यतिरेक में 'क्षीण क्षीण'—पद्य द्वारा प्रथमतः रुद्र द्वारा प्रतिपादित और प्रथम सर्वस्वकार द्वारा अनुमोदित उपमेयापकर्षजनितत्व का जैसा खण्डन प्रथमतः मम्मट ने किया है और उस खण्डन का पण्डितराज ने जैसा अनुमोदन किया है विश्वेश्वर ने भी उमे उसी रूप में स्वीकार कर लिया है। वे लिखते हैं—

'न चन्द्रयौवनयोरुपमानोपमेयभावो विवक्षित, किन्तु चन्द्रयौवनक्षययोरेव, तत्र चन्द्रक्षयस्य वृद्धिप्रागभावसमकालीनत्वेन न्यूनत्वन्, यौवनक्षयस्य चाप्ये तच्छरारावच्छेदेन यौवनाभावात् समानाधिकरणयौवनप्रागभावसमानकालीनत्व नास्तीत्याधिक्यम्। एव च विवक्षितस्य मानत्याग-स्यावश्यकत्वमिद्धि।'।'

—यहाँ उपमानोपमेयभाव चन्द्र और यौवन का नहीं अपितु उनके क्षयों का प्रतिपाद है। दोनों क्षयों में चन्द्र का क्षय तब तक ही रहता है जब तक चन्द्र की वृद्धि शुरू नहीं होती अतः वह क्षय क्षणिक है अतएव न्यून है, यौवन का क्षय किसी अन्य यौवन के पहले तक रहने वाला नहीं क्योंकि एक शरीर में दूसरा यौवन नहीं आता, इसलिए वह स्थायी है और इसीलिये अधिक है। इस प्रकार मानत्याग की आवश्यकता सिद्ध होती है।'

व्यतिरेक के भेद भी विश्वेश्वर ने मम्मट के ही अनुसार चौबीस माने हैं—

'हानिप्रकर्षहेत्वोरुक्तौ श्रेया च तदनुक्तौ।

शब्दाप्यश्लेषोत्पे साम्ये श्लेषे च दिग्गुणमित स' ॥

—'उत्कर्ष और अपकर्ष' इन दोनों की उक्ति, एक-एक और एक साथ दोनों की तीन अनुक्ति जहाँ शब्द, आर्थ और आक्षेपलभ्य साम्य होने पर अथवा श्लेष होने पर हों तो व्यतिरेक युग = श्रे तथा उस पर दिक्-चार अर्थात् २४ भेद होते हैं। पण्डितराज ने श्लेष में त्रिविध अनुपादान की जो अशक्यता ध्वनित की थी, उसका मौन उत्तर देने हुए विश्वेश्वर ने श्लेषमूलक तीनों अनुपादानों के तीन उदाहरण दे दिए हैं। वे ये हैं—

दोनों हेतुओं की अनुक्ति—

‘अतिनिविटस्य ह्यवाशिलदर्शनशक्तेस्तमोवचस्यैव ।  
भम्मिल्लस्य न तेऽसिद्यामलता तेजसा चाद्या ॥’

—तुम्हारा केशपाश ध्वान्तसंघात के ही समान अत्यन्त घना और प्रत्येक की समग्र दर्शनशक्ति नष्ट करने वाला है। किन्तु इसकी अतितुल्य व्यामता प्रकाशनाशय नहीं है। यहाँ व्यतिरेक है ‘व्यामता’ के प्रकाशनाशयत्व में और श्लेष है अतिघनत्व आदि विशेषण-वाचक शब्दों में।

उत्कर्षहेतुनुक्ति—

‘सकललोचनमानसहारिगोऽनिशयितां दधतः सुकुमारतान् ।  
नव मुखस्य सचिर्न परिच्छिद्रा वज्रति भास्वदधीनसरोजवध ॥

—‘तुम्हारा चेहरा प्रत्येक व्यक्ति के नेत्र और चित्त दोनों को आकृष्ट कर लेता है और अत्यन्त सुकुमारता लिए है। इसकी छवि सूर्य के अर्धान कमल की छवि-सी परिच्छिन्न नहीं है। यहाँ कमल की छवि की परिच्छिन्नता में हेतु है सूर्याधीनता, वह कथित है। मुख की छवि की अपरिच्छिन्नता का हेतु कथित नहीं है। इस प्रकार अपरिच्छिन्नतारूपी उत्कर्ष के हेतु की यहाँ अनुक्ति है। श्लेष है ‘सकल’ शब्दादि विशेषणार्थी में।

अपकर्षहेतुनुक्ति—

‘वैशर्ष भाववतो निखिलजनोऽस्लासनाहेतोः ।  
अपचयरहितस्य तवाननस्य नेन्दोरिव ह्युतेर्हानिः ॥

—‘तुम्हारा चेहरा और चन्द्र दोनों ही उज्ज्वल वर्ण के हैं और दोनों ही प्रत्येक व्यक्ति को उल्लसित कर देते हैं, किन्तु तुम्हारा चेहरा चन्द्र की भाँई घटता-बढ़ता नहीं है अतः इसकी छवि में चन्द्र की छवि-सी हानि नहीं है। यहाँ चन्द्र की छवि में अपकर्ष का हेतु हानियुक्तत्व कथित नहीं है।

विश्वेश्वर के उदाहरणों की अपेक्षा मम्मट के उदाहरण अधिक अच्छे हैं। मम्मट का उदाहरण है—

‘जितेन्द्रियतया सम्यग् विधावृद्धनिषेविणः ।  
अतिगाढगुणस्यास्य नाग्मवद् भङ्गुरा गुणाः ॥’

—यह जितेन्द्रिय है, विधावृद्धों की सेवा करता रहता है और इसके गुण अत्यन्त गाढ़ हैं इसलिए इसके गुण कमल के समान भङ्गुर नहीं हैं। यहाँ गुण शब्द में वसी प्रकार श्लेष है जिस प्रकार उद्भट के उदाहरण में ‘तपस्’ शब्द में। कमल के गुण भङ्गुर है और वर्णनीय पुरुष के गाढ़। इस प्रकार उपमानभूत कमल के गुणों में अपकर्ष का हेतु भङ्गुरत्व शब्दतः कथित है और उपमेयभूत पुरुष के गुणों में उत्कर्ष का हेतु गाढत्व। यदि इनमें से एक बार एक का उपादान किया जाय और दूसरी बार दोनों को छोड़ दिया जाय तब भी गुण शब्द में श्लेष रहेगा और तीनों अनुपादान बन जायेंगे।

वस्तुतः साम्य की वाच्यता और अवाच्यता से चमत्कार में कोई अधिक अन्तर नहीं आता फलतः प्राचीन आलंकारिकों द्वारा प्रतिपादित भेदक्रम ही अधिक उपयुक्त है।

इस प्रकार प्रायः सभी आचार्यों में केवल उद्भट, सर्वस्वकार तथा अर्धव्यदोक्षित ही ऐसे आचार्य हैं जो उपमेयगत अपकर्ष में भी व्यतिरेक मानते हैं। मामद, वामन, उद्भट, मम्मट, शोभाकर, पण्डितराज तथा विश्वेश्वर केवल उपमेयगत उत्कर्ष में ही व्यतिरेक प्रतिपादित करते हैं।

सजीविनीकार शीविद्याचक्रवर्ती ने व्यतिरेक के सर्वस्वकारकृत सपूर्ण प्रतिपादन का संक्षेप इस प्रकार किया है—

‘भेदप्रधाने साधर्म्ये व्यतिरेको विधीयते ।

आधिक्यादुपमेयस्य न्यूनत्वाद् बोधमाना ॥’

—साधर्म्य में यदि भेद की प्रधानता हो तो उपमान को अपक्षा उपमेय के उत्कर्ष अथवा अपकर्ष से व्यतिरेक होता है ।

[ सर्वस्व ]

[ सू० ३० ] उपमानोपमेययोरेकस्य प्राधान्यनिर्देशोऽपरस्य सहार्थसंबन्धे सहोक्तिः ।

भेदप्राधान्य इत्येष । गुणप्रधानभावनिमित्तकमत्र भेदप्राधान्यम् । सहार्थप्रयुक्तश्च गुणप्रधानभावः । उपमानोपमेयत्वं चात्र वैवक्षिकम्, द्वयोरपि प्राकरणिकत्वाद्प्राकरणीकत्वाद्वा । सहार्थसामर्थ्याद्धि तयोः तुल्यकक्षत्यम् । तत्र तृतीयान्तस्य नियमेन गुणत्वादुपमानत्वम् । अर्थाच्च परिशिष्टस्य प्रधानत्वादुपमेयत्वम् । शाब्दश्चात्र गुणप्रधानभावः । वस्तुतस्तु विपर्ययोऽपि स्यात् । तत्र नियमेनातिशयोकिमूलत्वमस्याः । सा च कार्यकारणप्रतिनियमविपर्ययरूपा अभेदाध्यवसायरूपा च । अभेदाध्यवसायश्च श्लेषभित्तिकोऽन्यथा वा । साहित्यं चात्र कर्त्रादिनानाभेदे ज्ञेयम् । तत्र च

कार्यकारणप्रतिनियमविपर्ययरूपा यथा—

‘भवदपराधै सार्धं संतापो वर्धतेतरामस्याः ।’

अत्रापराधानां संतापं प्रति हेतुत्वेऽपि तुल्यकालत्वेनोपनिबन्ध ।

श्लेषभित्तिकाभेदाध्यवसायरूपा यथा—

‘अस्तं भास्वान्प्रयातः सह रिपुभिरयं संहियन्तां बलानि ।’

अत्रास्तं गमनं शिल्ष्टम् । अस्तमित्यस्योभयाथत्वात् ॥

[ सू० ३० ] [ भेद की प्रधानता रहने पर ] यदि उपमान और उपमेय में ये एक की प्रधानता बतलाई गई हो और दूसरे में ‘साध’—वाचक किसी शब्द से प्रतिपादित अर्थ का [ अप्रधानताद्योतक ] संबन्ध हो तो [ अलंकार ] सहोक्ति [ कहलाता है ] ।

[ वृ० ] [ यहाँ ] ‘भेद की प्रधानता’ इतना पहले से ही प्राप्त है । [ किन्तु ] यहाँ भेद की प्रधानता निर्भर रहती है अप्रधानता तथा प्रधानता पर और अप्रधानता तथा प्रधानता निश्चय होता है ‘सह = साथ’ शब्द के अर्थ के कारण । यहाँ भी उपमानत्व और उपमेयत्व ई वे विश्वाधीन रहते हैं । यह इसलिए कि या तो दोनों अर्थ प्राकरणीक ही रहते हैं या अप्राकरणीक ही । [ उपमानोपमेयभाव के लिए अपेक्षित ] साम्य उनमें ‘सह = साथ’ शब्द के अर्थ से जाता है । उनमें भी जिसको सूत्रीवाक्यिक [ संस्कृत व्याकरण के अनुसार ‘सह’ शब्द के प्रयोग होने पर अप्रधान अर्थ के वाचक शब्द के साथ प्रयुक्त होने वाली विभक्ति ] जिसके साथ लगनी है उस

शब्द का अर्थ नियमतः अप्रधान रहता है अतः वही उपमान माना जाता है, शेष वचा प्रथमा-विभक्ति से युक्त शब्द का अर्थ तो वह प्रधान होता है अतः वह अपने ही उपमेय सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार यहाँ प्रधानता अप्रधानता का निर्धारण केवल शब्दस्थिति [ और तत्त्वनिव बोध ] पर निर्भर रहता है, अर्थस्थिति तो विपरीत भी हो सकती है।

इत्का आधार सदा ही अतिशयोक्ति बनती है। अतिशयोक्ति भी दो प्रकार की (१) कार्य-कारणभाव के पौर्वापर्य के विपर्यय से होने वाली और (२) अभेदाध्यवसानमूलक। इनमें से अभेदाध्यवसाय यहाँ दोनों ही प्रकार का हो सकता है (१) श्लेषमूलक भी और (२) शुद्ध [ श्लेषरहित ] भी।

यहाँ जो साहित्य = सहार्थक शब्दों से प्रतिपादित सम्बन्ध रहता है वह कर्त्ता, कर्म आदि कारकों में होता है, अतः वह अनेक प्रकार का होता है। इनमें से—

कार्यकारणभाव के विपर्यय से निष्पन्न अतिशयोक्ति पर निर्भर सद्योक्ति यथा—‘आपके अपराधों के साथ इत्का संताप बढ़ता ही चला जा रहा है।’

—यहाँ [ नायक के द्वारा किए गए ] अपराध संताप के प्रति कारण है तथापि उनको एक साथ उत्पन्न होता बतलाया गया है। श्लेषमूलक अभेदाध्यवसाय रूप अतिशयोक्ति से निष्पन्न सद्योक्ति यथा—

‘यह सूर्य मनुष्यों के ही साथ अस्त को प्राप्त हो गया है। अब सेनाएँ बंदोरे ली जाएँ।’

—यहाँ ‘अस्त को प्राप्त होना’ श्लेष है क्योंकि ‘अस्त’-शब्द उभयार्थक [ डूबना, नष्ट होना इन दो अर्थों में प्रयुक्त ] है।

### विमशिनी

उपमानेत्यादि। किंहेतुकं चात्र भेदप्राधान्यमित्याशङ्क्याह—गुणेत्यादि। गुणप्रधान-भावोऽपि किंहेतुक इत्याह—सहार्थेत्यादि। एकस्य प्रधानमूतविभक्तिनिर्देशादन्यस्य च विधिविभक्तिनिर्देशात्। वैबक्षिकमिति न पुनर्वास्तवम्। उपमानोपमेयत्वं हि द्वयोस्तु-त्यकक्षत्वे भवति तत्रात्र किंनिमित्तकमित्याशङ्क्याह—सहार्थेत्यादि। परिशिष्टस्येति प्रय-मान्तस्य। शाब्द इति न पुनरार्थः, वस्तुतो विपर्ययस्यापि संभवात्। एवं गुणप्रधान-भावनिमित्तकं भेदप्राधान्यमपि शाब्दमेवात्र ज्ञेयम्। वस्तुतो हि सादृश्यस्यैव पर्यवसा-नाच्चेदाभेदयोस्तुत्यत्वेनैव प्रतीतिः। तस्माच्छाब्दमेव भेदप्राधान्यमाश्रित्येहास्या वचनम्। विपर्यय इति। प्रधानविभवत्या निर्दिष्टस्याप्राधान्यं गुणविभवत्या च निर्दिष्टस्य प्राधान्यम्। नियमेनेति। अनेनातिशयोक्त्यनुप्राणनमन्तरेणालंकारत्वमेवास्या न भवतीति ध्वनितम्। सेश्यतिशयोक्तिः। कार्यकारणयोः प्रतिनियमस्य क्रमस्य विपर्ययस्तुत्यकालत्वादिनोवतेः। अन्यथेति अश्लेषरूपः। तदेवमस्या अतिशयोक्तिभेदचतुष्टयमनुप्राणकम्। कत्रादीति आदि-शब्दात् कर्मादयः। तत्रेति निर्धारणे। [ कार्यकारणप्रतिनियमविपर्ययरूपेति ]। अस्या-मनुप्राणकत्वेन स्थितेति शेषः। अत्रापराधानां शाब्दो गुणभावः। वस्तुतस्तु प्राधान्यं तेषामेव, प्रतिपाद्यत्वात्। एवमन्यत्र ज्ञेयम्। ‘अयमेति सा वराकी स्नेहेन समं त्वदीयेन’ इत्यस्यार्थम्। ‘कुर्वन्त्वासा हतानां रणशिरसि जना वहिसाद् देहभारान्धृन्मिश्रं कर्थाच्चह-दतु जलममी बान्धवा बान्धवेभ्यः। मार्गन्तां ज्ञातिद्वेहान् हतनरगहने खण्डितान्मृध्र-कञ्चैः’ इत्यस्यार्थं पादश्रवणम्।

उपमान इत्यादि। ‘यहाँ भेद की प्रधानता का आधार क्या है’ इस शंका पर उत्तर देते हैं—‘गुण०’ अप्रधानता। ‘गुणप्रधानभाव = अप्रधानता और प्रधानता किस पर निर्भर है’ इस शंका पर उत्तर है—‘सहार्थ०।’ ऐसा इसलिए कि एक में रहती है प्रधानमूत विभक्ति और

दूनरे में विधि [ अप्रधानभूत ] विभक्ति का निर्देश रहता है। वैवचिक = विवक्षाधीन अर्थात् वास्तविक नहीं। 'उपमानोपमेयभाव होना' है जब जब दो पदों में समानता रहती है। यह समानता यहाँ कौनो निश्चय होती है—इम गङ्गा पर उत्तर देने हैं—'सहाय्यमा०'। परिशिष्ट = शेष अर्थात् प्रथमा विभक्ति में वृत्त पद का अर्थ। शाब्द = शब्दजनित बोध पर निर्भर, न कि अर्थ पर निर्भर। क्योंकि वास्तविक स्थिति विपरान भी हो सकता है। इस कथन से निष्कर्ष यह निकलता कि प्राधान्यापवाचान्य में जनिभेद का प्रमानता भी सहोक्ति, में शब्दजनित बोध पर निर्भर रहेगी। और, मत्य ता यह है कि यहाँ अन्त में प्रतीति होता है सादृश्य ही, अतः यहाँ 'भेद आर अभेद' इन दोनों की प्रतीति समान रूप से ही होती है। इसलिये शब्द-जनित बोध पर निर्भर भेदप्रमानता को हाँ टेका यहाँ इम भेदप्रधान अलङ्कारों के प्रकरण में सहोक्ति क रखा गया है। विपर्यय = विपरीतस्थिति = प्रधान विभक्ति [ प्रथमा ] से निर्दिष्ट भी अप्रधान हो सकता है और अप्रधान विभक्ति [ तृतीया ] में निर्दिष्ट भी प्रधान। नियमेन = नियमित मन्दा ही। ऐसा कहकर यह मन्त्रेन किया कि सहोक्ति अतिशयोक्ति की सहायता के बिना अन्कार ही नहीं बनती। सा = वह - अनिश्चय कि। कार्य और कारण का प्रतिनियम = क्रम = नियमित बाद में और पहले उत्पन्न होना, इसका उलट जाना अर्थात् दोनों का एक साथ उत्पन्न होता हुआ बतलाया जाना या कार्य को पहले तथा कारण को बाद में। अन्यथा = दूसरे प्रकार का = श्लेषरहित। तो इस प्रकार चार प्रकार की अतिशयोक्ति से यहाँ सहोक्ति को सहायता मिलती है। कर्त्ता आदि, आदि पद से कर्म आदि भी। तत्र = उनमें यह परस्पर में अन्तर बतलाने के लिए कहा जा रहा है। [ कार्यकारणप्रतिनियमविपर्ययरूपा = ] अर्थात् यह अनिश्चयोक्ति जहाँ अनुप्राणक = सहायक रूप में स्थित रहती है वह भेद। यहाँ [ 'भवदपराधै'० में ] अपराधों की अप्रधानता केवल इसलिए है कि यहाँ उसके वाचक पद = अपराध में तृतीया विभक्ति जोड़ी गई है, वस्तुतः प्रधान वे ही हैं क्योंकि यहाँ प्रतिपाद्य वे ही हैं। इसी प्रकार अन्य उदाहरणों में भी जानने रहता चाहिए। इस [ 'भवदपराधै' पद्य० ] का उत्तरार्थ यह है—'क्षयमेति सा वरानी स्नेहेन सम त्वशीयेन' = वह बेवारी तुम्हारी प्रीति के ही साथ क्षय को प्राप्त होती जा रही है। इस [ 'अस्त मास्वान्०' पद्य ] के प्रथम तीन चरण ये हैं—

'कुर्वन्वासा हताना रणधिरसि धना बहिसाद् देहमाणा-

नश्र्मिथ कथञ्चिद् ददतु जलममी बान्धवा बान्धवेभ्य'।

मार्गन्ता शक्तिदेहान् हतनरगहने खण्डितान् गृध्रकट्टै'

—अब जो आप हैं वे लोग सुदृश्य में मृत लोगों की अन्वेषि करें, वे लगे हैं उनकी लाशों को ढेर, वे [ चारों ओर रोते विलखते ] भारी बन्ध अपने भारी बन्धों को अश्रुमिश्र [ आँसुओं से ] मिश्रित ] पानी जैसे जैसे दे लें, [ जिन्हें अभी तक अपने भारी बन्धुओं की लाशें नहीं मिली हैं वे ] अपने भारी बन्धुओं की लाशें फिर से खोजें, वहाँ खोजें जहाँ आदिमियों की लाशों के पुराने ढेर लगे हैं, उन्हें काले और सफेद गिद्धों ने विकृत कर दिया होगा—[ उनके नाक कान आँख नोंच खाई होगी ]।—वेणीसंहार ५।३६।

### [ सर्वस्व ]

तदन्यथारूपा यथा—

'कुमुदयनैः सह संप्रति विघटन्ते चक्रवाकमिदु नानि ।'

अथ विघटनं संबन्धिभेदाद्भिन्नं न तु श्लेषम् ।'

एतद्विशेषपरिहारेण सहोक्तिमात्रं नालंकारः । यथा—

‘अनेन सार्धं विहराम्बुराशेस्तीरेषु तालीवनमर्मरेषु’ इत्यादौ । एतान्येव कर्तृसाहित्ये उदाहरणानि ।

कर्मसाहित्ये यथा—

द्युजनो मृत्युना सार्धं यस्याजौ तारकामये ।

चक्रे चक्राभिधानेन प्रेष्येणात्मनोरथः ॥’

अत्र करोतिक्रियापेक्षया द्युजनस्य मृत्योश्च कर्मत्वम् ।

एषा च मालयापि भवन्ती दृश्यते । यथा—

‘वत्क्षितं सह क्रौशिकस्य पुलकैः सार्धं सुखैर्नामितं

भूपानां जनकस्य संशयधिया साकं समास्फालितम् ।

वैदेह्या मनसा समं च सहस्राकृष्टं ततो भार्गव-

प्रौढाहंकृतिकन्दलेन च समं तद् भग्नमैशं धनुः ॥’

शुद्ध अतिशयोक्ति पर निर्मल सहोक्ति यथा—

—‘कुमुदवनों के साथ इस समय चक्रवाकों के जोड़े भी अलग-अलग हो रहे हैं ।’

—यहाँ ‘अलग्नाव’ में श्लेष नहीं है [ क्योंकि वह मूलतः अनेकार्थक नहीं है ] वह सम्बन्धी [ कुमुद, चक्रवाक ] के भेद से भिन्नरूप बन जाता है [ कुमुद के साथ खिलने = पंखुदियों के अलग-अलग होने रूप में, चक्रवाक के साथ विद्युद्बने रूप में ] ।

विशेषता [ अतिशयोक्ति की सहायता ] के बिना केवल ‘सह=साथ’ शब्द या इसके समानार्थक शब्द का प्रयोग करने पर [ सहोक्ति उत्तुमात्र होती है वसमें ] अलंकारत्व नहीं आता । यथा—

—‘इसके साथ समुद्र के तटों पर विहार करो, जहाँ तालीवन लगा होगा और वसमें मर्मर-ध्वनि हो रही होगी ।’ [ इन्दुमती स्वयंवर-रघुवंश ] ।—इत्यादि में । [ अतिशयोक्ति से निष्पन्न सहोक्ति की सहायता के लिए दिए गए ] वे जो उदाहरण हैं, [ इसमें भिन्न-भिन्न व्यर्थों का ‘साथ’ प्रतिपादित है वे = अपराध और संताप, सूर्य और सेनाएँ, कुमुदवन और चक्रवाक-सभी कर्ता के रूप प्रस्तुत हैं अतः ] ये सभी [ उदाहरण ] कर्तृसाहित्य के उदाहरण हैं ।

कर्म—[ के साथ कर्म के ]—साहित्य का उदाहरण । यथा—

‘विस्रके चक्र नामक श्रेण्य = [ भेजने योग्य सेवक ] ने युद्ध के बीच, मृत्यु के ही साथ देवताओं को भी तारकासुररूपी बीमारी के विषय में पूर्णच्छ कर दिया ।’

[ यहाँ ‘तारकश्रेण्ये’ पाठ अधिक अच्छा रहता ] ।—यहाँ ‘करना’-क्रिया में देवता और मृत्यु दोनों कर्म हैं ।

यद् [ सहोक्ति ] माला रूप में भी दिखाई देती है । यथा—

—‘भगवान् राम ने भगवान् शिव का धनुष विश्वामित्र को रोमांच के साथ खड़ा किया, राजाओं के मुखों के साथ चँवाया, जनक जी की छंदेहबुद्धि के साथ आस्फालित किया [ प्रत्यंचा चढ़ाकर दो-चार बार उसे अंगूठा और तर्कनी से कुछ कुछ खींचकर छोड़ा, बुद्धिपक्ष में आस्फालन उभाड़ना, उछालना = ३० ‘आस्फालितं यद् प्रमदाकरामै०’ रघुवंश-१६ ] जानकीजी के हृदय के साथ खींचा और परशुराम के प्रौढ अहंकार के साथ टूक-टूक कर टाला ।’

विमर्शः—यहाँ 'अस्त'—शब्द में शशुपथ में लक्षणा थी और सूर्य पथ में अभिधा । 'अलगाव' में दोनों पथों में अभिधा ही है"—यह भी एक भेदक तथ्य दिखार देता है । किन्तु यहाँ अर्थश्लेष, जिसे उपमा आदि में साधारण धर्मों के बीच माना जाता है, अस्वीकार नहीं किया जा सकता । इन प्रश्न पर मज्जीविनोकार के ही साथ विमर्शिनोकार और विश्वेश्वर पण्डित भी नुप हैं । किन्तु पण्डितराज जगन्नाथ ने इस ग्रन्थ को खोलने और सुलझाने का अमफल प्रयत्न किया है । उन्होंने 'कहा है—श्लेष वहाँ होता है जहाँ प्रतिपाद्य अर्थों को भिन्न-भिन्न धर्म भासित होते हों । जैसे 'शशुपथों के नेत्र दिनों के ही साथ वर्धित हो रहे हैं' । यहाँ दिवमपथ में वर्ष का अर्थ है सवत्सर और नेत्रपथ में है वरसना, आँसू बहाना । 'पद्मपत्रों के साथ उन्मीलित होती सूर्य-रश्मियाँ' = इस स्थल में उन्मीलनरूपी अर्थ दोनों पथों में एक ही है अतः वहाँ श्लेष नहीं है । वस्तुतः यह पक्ष पण्डितराज की ही मान्यता के विरुद्ध है । पण्डितराज ने भी रूपक में 'विद्वन्मान-सदृस' इस स्थल में प्रयुक्त 'मानस' शब्द में श्लेष माना है जब कि उससे प्रतीत 'सरोवर तथा चित्त' इन दो भिन्न अर्थों में एक ही 'मानसत्व' धर्म भासित होता है । सस्कृत में पण्डित करने और देने अर्थ में कर्मवाच्य में एक ही शब्द निष्पन्न होता = 'दोयते' । पण्डितराज ने 'विपद्भिः सह दीयन्ते सपद' इन प्रयोग द्वारा उस पद में श्लेष स्वीकार किया है । वहाँ प्रतिपादित अर्थों में एक ही धर्म भासित होता है 'दान' अथवा 'दानाप्रयत्न' । सत्य यह है कि यदि यहाँ श्लेष नहीं माना जाता तो अर्थश्लेष उच्छिन्न हो जायगा । कहा केवल इतना जा सकता था कि अतिशयोक्ति में कहीं भगवत्श्लेष होता है और कहीं भगवत्श्लेष । श्लेष के ये सब उदाहरण इन्हीं दो कोटियों में आते हैं । इन दोनों उदाहरणों में एक के अस्त पर दूसरे के अस्त और एक के अलगाव पर दूसरे के अलगाव का अभेदाध्यवसान है क्योंकि दोनों अर्थों के वाचक के रूप में एक-एक शब्द का ही प्रयोग किया गया है ।

### विमर्शिनी

'सह कमलैर्ललनानां मानः संकोचमायाति' इत्यस्याधर्मम् । एतद्विज्ञेयपरिहारेणेति अतिशयोक्त्यनुप्राणनमन्तरेण । 'द्वीपान्तरानीतलवङ्गुप्पैरपाकृतश्वेदलवा मरद्भिः' इति द्वितीयमधर्मम् । एतानीति समनन्तरोक्तानि । यमापेक्षया पुञ्जनस्यानन्तरमासमनोर-यत्त्वमिति आदिपश्चाद्भावेन क्रमिकयोस्तुल्यकालत्वेनोक्तिः । यथा धा—

'भायैः सम समुत्पन्नं प्रजाभिः सह लालितम् ।

वर्धितं सुकृतैः सार्धमर्गोराजमसूत सा ॥'

अत्र समुत्पन्नन्तरं तद्भायानामुत्पत्तिरिति क्रमिकयोः समकालत्वम् । अस्याश्च शुद्ध-सामान्यरूपत्वं यथा—

मलभाणिलेण सह सोरहवासिपुण दहआणं ।

वड्ढान्ति चहलसोमालपरिमला सासणितरंवा ॥

अत्र सौरभपरिमलयोः शुद्धसामान्यरूपत्वम् । विग्वप्रतिविग्वभावो यथा—

दिनअरअरगितरंवा कगआअलकडअरेणुविप्पुरिआ ।

विअसति परिमलभरोऽभवेहि कमलकिरहि समं ॥

अत्र कनकाचलकडकरेणुविच्छुरितरवस्य परिमलभरोऽद्वयं विग्वप्रतिविग्वत्वेन निर्दिष्टम् ।

'कुमुदवनै०' का उत्तरार्थ है 'सह कमलैर्ललनानां मानः संकोचमायाति' = 'कमलवनो के साथ [ दिन भर की रूठी ] ललनाओं का मान संकुचित हो रहा है' । एतद्विज्ञेयपरिहारेण = इस विशेषता के बिना अर्थात् अतिशयोक्ति की सहायता के बिना । 'अनेन०' का उत्तरार्थ है—

‘दीपान्नरानीतलवद्गुप्पैरपाकृतस्वेदलवा मरुद्भिः’ = “यहाँ तुम्हारे [ भ्रमजनित ] स्वेदकण हवा के झोंके दूर करते रहेंगे, जो पार के द्वीप से लवंग गुप्प उड़ा-उड़ाकर आ रहे होंगे ।” [ रघुवंश-६ ] ।  
 एतानि = ये = अभी-अभी कथित । [ कर्म साहित्य को उदाहरण ‘धुजनों०’ में ] यम की अपेक्षा देवताओं की मनोरथसिद्धि वाद में होती है [ क्योंकि उनमें कार्यकारणभाव है ] इस प्रकार में पूर्ववर्तित्व और परवर्तित्व [ आदिपश्चाद्भाव ] होने के कारण क्रम है, क्योंकि यहाँ क्रमिक होने पर दोनों मनोरथ सिद्धियों को निम्पत्ति एक साथ वतला दी गई इसलिये यहाँ कार्यकारण-पौर्वापर्य विपर्ययारिम्भका अतिशयोक्ति है । दूसरा उदाहरण यथा—

‘उत्सने भान्यों के साथ उत्पन्न, प्रजाओं के साथ लालित, पुण्यों के साथ वर्धित जगन्नाथ को जन्म दिया ।’

—भान्यों की उत्पत्ति व्यक्ति की उत्पत्ति के बाद होती है किन्तु दोनों की उत्पत्ति एक साथ वतला दी गई है इसलिये यहाँ क्रमिक वस्तुओं में समकालिकता [ से निम्पन्न अतिशयोक्ति ] हुई ।

यह शुद्धसामान्यरूप भी होती है । यथा—

‘मलयानिलेन सह सौरभवासितेन दयितानाम् ।  
 वर्धन्ते बहलसुकुमारपरिमला श्वासनिकुरम्बाः ॥’

—सौरभ से वासित मलयानिल के साथ प्रियाजनों के पर्याप्त सुकुमार सुगन्ध से युक्त श्वासपुंज बढ़ते जा रहे हैं ।’

—यहाँ सौरभ और परिमल = सुगन्ध शुद्धसामान्यस्वरूप है । विन्वप्रतिविन्वभाव का उदाहरण यह है—

‘दिनकर-कर-निकुरम्बाः कनकाचल-कटक-रेणु-विस्फुरिताः ।  
 विकसन्ति परिमलभरोद्भट्टैः कमलाकरैः सार्धन् ॥’

—सुवर्ण गिरि सुमेरु के शृङ्गों की धूल में सनों सूर्य की सहस्र-सहस्र किरणें परागपुंज से उद्भूत कमलों के साथ विकसित हो रही हैं ।’

—यहाँ सुवर्णगिरि के शृंगों की धूल में सनना [ कनकाचलकटकरेणुविस्फुरितत्व ] और परागपुंज से उद्भूत होना [ परिमलभरोद्भट्टत्व ] इनका निर्देश विन्वप्रतिविन्वभाव के साथ है [ क्योंकि इन में वर्णगत सादृश्य है ] ।

विमर्शः—सहोक्ति का पूर्व इतिहास :—

भासह = ‘तुल्यकाले क्रिये यत्र वस्तुद्वयसमाश्रये ।

पदेनैकेन कथ्येते सा सहोक्तिर्गता सताम् ॥

—जहाँ एक पद के द्वारा ऐसी दो क्रियाएँ कही जाँव जो दो भिन्न वस्तुओं में रहती हों और समानकालिक हों वहाँ सहोक्ति होती है ।

उदाहरण = वृद्धिमायान्ति यामिन्यः कामिनां प्रीतिभिः सह ॥

—[ ठंड में ] रात्रियाँ कामिनों की प्रीति के साथ बढ़ती जा रही हैं ।’ यहाँ रात्रि और प्रीति दोनों की वृद्धि एक साथ होती है और उसे एक ही क्रियापद से कहा जा रहा है ।

वामन—[ सूत्र ] वस्तुद्वयक्रिययोस्तुल्यकालयोरेकपदामिधानं सहोक्तिः ।

[ वृत्ति ] वस्तुद्वयस्य क्रिययोस्तुल्यकालयोरेकेन पदेनामिधानं सार्धसामर्थ्यात् सहोक्तिः ।

—दो पदार्थों की समानकालिक क्रियाओं का यदि एक ही शब्द के द्वारा ‘सह’ शब्द के अर्थ के बल पर हो तो सहोक्ति ।

उदाहरण—‘अस्तं भास्वान् प्रयातः सह रिपुनिरयम् ॥’



इस प्रकार वामन ने भामह की ही सहोक्तिकारिका को सूत्र रूप दे दिया है इतना अवश्य है कि वृत्ति में उन्होंने सहोक्तिशब्द की सार्थकता बनाने के लिए 'सहोक्तिसामर्थ्य' का भी उल्लेख कर दिया है। अलङ्कारसर्वस्वकार ने श्लेषमूलक अभेदाध्यवसाय से निम्न सहोक्ति के लिए वामन के ही इस उदाहरण को प्रस्तुत किया है।

उद्भट—उद्भट ने भी वामन के ही समान भामह की ही सहोक्तिकारिका को—

‘तुल्यकाले क्रिये यत्र वस्तुद्वयसमाहिते।

पदेनैकेन कथ्येन सा सहोक्तिर्मता सनाम् ॥

—इस प्रकार प्रायः ज्यों का र्यों अपना लिया है। उदाहरण के रूप में उन्होंने अलङ्कार-सर्वस्वकार द्वारा बने माहित्य के उदाहरण के रूप में अपनाया गया पद्य 'युजनी०' ही दिया है।

रुद्रट—भामह से उद्भट तक सहोक्ति उपमानोपमेयभाव की चर्चा नहीं थी। न तो उसमें भेद ही किए गए थे। रुद्रट ने उसमें अधिक सरम्भ दिखाया, और सहोक्ति को निम्नलिखित रूपों में प्रस्तुत किया—

वास्तववर्गीय—

[ १ ]—‘भवति यथारूपोऽर्था कुर्वन्नेवापरं तथाभूतम्।

उक्तिस्तस्य समाना तेन सम या सहोक्ति सा ॥ ७।१३

—एक अर्थ अपने जैसे किसी दूसरे अर्थ का वस्तुतः हो तो निर्माता [ कारण ] किन्तु उन दोनों की उत्पत्ति मनाने रूप से एक साथ बनना ही जाय तो सहोक्ति। यथा

‘कष्टं सते। क यामं सकलजगन्मन्मथेन सह नस्यम्।

प्रतिदिनमुपैति वृद्धि कुचकलशनिमम्भमिच्छिमारः ॥’

—मित्र ! बड़ा कष्ट है। आखिर कहाँ जाय ? उसके कुचकुम्भ और नितम्भमिति रोज रोज बढ़ते जा रहे हैं और अकेले नहीं सारे ससार को मथ खालने वाले मन्मथ के साथ।

—यहाँ नायिका के अर्गों की वृद्धि कामवृद्धि का कारण है किन्तु उनकी उत्पत्ति साथ होती हुई बतलारं गई है।

[ २ ] ‘यो वा येन क्रियते तथैव भवता च तेन तस्यापि।

अभिधान यत् क्रियते समानमन्या सहोक्तिः सा ॥ ७।१५।

—साधारणधर्मयुक्त कार्यकारण की सहोत्पत्ति बतलाना भी एक अन्य सहोक्ति होती है। यथा—‘भवदपराधे सार्धम्’—पूर्णपद्य—

[ ३ ] ‘अन्योन्यं निरपेक्षी यावथाविककालमेकविधी।

भवतस्तत्कथनं यत् सापि सहोक्तिः- किलेत्पररे ॥’

—अन्य आचार्य [ भामह, वामन, उद्भट ] उसे भी सहोक्ति मानते हैं जिसमें दो ऐसे अर्थों को [ पूर्व उदाहरणों में आण अर्थों के समान परस्पर कार्यकारणभाव आदि से संबद्ध न होकर सर्वथा ] निरपेक्ष होते और एक ही समय में किसी एक क्रिया में अन्वित होते हैं। उदाहरण—‘कुमुददलैः०’ पूर्णपद्य।

इन्हीं तीन भेदों में से प्रथम दो भेदों में सर्वस्वकार ने कार्यकारणपीयोपमेयविपर्ययारिभका अतिशयोक्ति पर निर्भर सहोक्ति मानी है और तृतीय में शुद्धाभेदाध्यवसानारिभका अतिशयोक्ति पर निर्भर सहोक्ति। प्रथम और द्वितीय पद्य में उन्हें कोई विशेष अन्तर नहीं दिखाई दिया—कदाचित् इसीलिए उन्होंने उसे छोड़ दोष दोनों भेदों के उदाहरण भी रुद्रट से अपना लिए।

यह सच है कि रुद्रट ने जो लक्षणकारिकाएं बनाई हैं वे पहले जैसी अन्यकार्य और दुलुह हो गई हैं।

[ २ ] औपम्यवर्गीय —

[ १ ] 'सा हि सहोक्तिर्यस्यां प्रसिद्धदूराधिकक्रियो योऽर्थः ।

तस्य समानक्रिय इति कथ्येतान्यः समं तेन ॥' ८१९९

—'जहाँ अधिक सामर्थ्यवान् वस्तु को उससे कम सामर्थ्य वाली वस्तु के साथ-साथ समान बतलाया जाय वह सहोक्ति।' यथा—

'सपदि मयी निजसदनं मनसा सह यान्त्यमी पथिकाः ॥'

—वस्तुतः मैं ये पथिक मनके साथ अपने घर की ओर चल पड़े हैं। यहां गमनक्रिया में मन और पथिकों का साथ-साथ सम्बन्ध बतलाया जा रहा है जब कि मन तीव्रगति के लिए अनुपम होता है।

[ २ ] 'यत्रैककर्तृका स्यादनेककर्मभिता क्रिया तत्र ।

कथ्येतापरसहितं कर्मैकं सेयमन्या स्यात् ॥ ८१९०१ ।

—जहाँ किसी क्रिया का कर्ता एक हो किन्तु कर्म अनेक, और अनेक कर्मों में भी अन्य कर्मों को किसी एक प्रधान कर्म के साथ बतलाया जाय वह भी एक सहोक्ति होती है।' यथा—

'त त्वां विभक्तिं हृदये गुरुभिरसंख्यैर्मनोरथैः साधन् ॥'

—'सखि ! वह तुझे अनेक बड़े-बड़े मनोरथों के साथ हृदय में धारण किये हुए है।' यहाँ 'धारण करना' क्रिया में कर्ता तो एक ही है किन्तु कर्म नायिका और मनोरथ है। उनमें भी मनोरथों को नायिका के साथ लगाकर प्रस्तुत किया है।

नमिसाधु ने वास्तववर्गीय सहोक्ति का औपम्यवर्गीय सहोक्ति से भेद करते हुए कहा है कि वास्तववर्गीय में सादृश्य नहीं रहता और औपम्यवर्गीय में कार्यकारणभाव। सर्वस्वकार ने सब के सब भेदों को औपम्यमूलक मान लिया है। स्पष्ट है कि सर्वस्वकार का सहोक्तिविवेचन शतशः रुद्रट के अतिशयोक्तिविवेचन पर निर्भर है। मम्मट रुद्रट का यह विरलेपण ठीक से नहीं अपना सके।

मम्मट :—'सा सहोक्तिः सहार्थस्य बलादेकं द्विवाचकम् ।'

—'सहोक्ति वह जहाँ सहार्थ = सह शब्द के अर्थ को बल पर एक पद दो पदार्थों का प्रतिपादक हो।' यथा—

'सह दिवसनिशीथैर्दीर्घाः श्वासदण्डाः ।'

—'श्वासदण्ड दिन और रात के साथ लम्बे बनते जा रहे हैं। मम्मट के सहोक्ति लक्षण में रुद्रट की विविधता तो नहीं है किन्तु उसमें पूर्ववर्ती सभी आचार्यों की-सी कमी भी नहीं है। प्राचीन आचार्यों ने लक्षण में 'सह'-'साथ' शब्द नहीं दिए थे। उसके बिना वे सहोक्ति को दीपक आदि से भिन्न सिद्ध नहीं कर सकते। 'सह' = 'साथ' शब्द के अर्थ के द्वारा जो अर्थों में प्रभानता और अप्रधानता आती है वही वस्तुतः सहोक्ति का अन्य तत्सदृश अलंकारों से भेदक है। यह एक ध्यान देने की बात है कि मम्मट ने सहोक्ति को सादृश्यमूलक नहीं बतलाया है।

परवर्ती आचार्यों में—

शोभाकर ने—'सहार्थबलादेकस्यानेकसंबन्धे सहोक्तिः ।'—यह लक्षण कर मम्मट का ठीक अनुसरण किया है। इन्होंने सहोक्ति को न केवल अतिशयोक्तिपर ही अपितु तुल्य-योगिता पर भी निर्भर बतलाया है। मम्मट के सहोक्ति उदाहरण में उन्होंने विनोक्ति का संस्पर्श बतलाया है।

अप्यदीक्षित—ने चित्रमीमांसा में तो महोक्ति पर विचार नहीं हो किया, कुवलयानन्द में भी उस पर अत्यन्त ही थोड़ा विचार किया है—

‘सहोक्तिः सहमावद्वेद मासते जनरजनः ।

दिगन्तमगमत तस्य कीर्तिः प्रत्यर्थिभिः सह ॥

—सहोक्ति वह जिसमें सुन्दर सहमाव मासित हो । यथा—आपकी कीर्ति आपके शत्रुओं के साथ दिगन्त चली गई है ।

पण्डितराज ने अवश्य रुद्रट और सर्वस्वकार के पश्चात् पहिली बार सहोक्ति पर संरम्भ दिखलाया है । उनका विवेचन इस प्रकार है—

गुणप्रधानभाववच्छिन्नसहार्थसम्बन्ध सहोक्तिः ।

—प्रधानता तथा अप्रधानता से युक्त सह शब्द के अर्थ से सम्बन्ध का नाम सहोक्ति ।

यह एक प्रकार से सर्वस्व के ही लक्षण का परिष्कार है । पण्डितराज ने सहोक्ति को सर्वस्वकार के ही समान अतिशयोक्तिमूलक माना है । उसमें कर्तृसाहित्य और कर्मसाहित्य का भी प्रतिपादन किया है । सहोक्ति को शब्द भी माना है किन्तु आर्थ भी बतलाया है । किन्तु आर्थ कहकर उन्हें वैयाकरणों से झगड़ना पड़ा है जिसमें उन्होंने अपनी सहज स्वच्छन्दता दिखलाई है और इसीलिए उन्हें अपने वैयाकरण टीकाकार नागेश के दण्ड सहने पड़े हैं ।

पण्डितराज ने एक नवीन प्रश्न उठाया है और कहा है कि सहोक्ति अतिशयोक्ति में ही अन्तर्भूत कर दी जानी चाहिए । उन्होंने कारणकार्यविपर्ययमूलक अतिशयोक्ति से युक्त गुणप्रधानभाव में अमत्कार का कारण अतिशयोक्ति को ही माना है । इसका प्रामाण्य सहृदय को अनुभूति पर निर्भर है । कदाचिद् इसीलिए विद्वेषर ने ऐसा कोर् प्रश्न नहीं उठाया है ।

सर्वस्वकार ने सहोक्तिलक्षण में उपमानोपमेयभाव को स्थान देकर उसमें सादृश्य को अनावश्यक रूप से खींचना चाहा है । वह वस्तुतः अमान्य है ।

संजीविनीकार ने सहोक्ति का संक्षेप इस प्रकार किया है—

‘गुणप्रधानभावो यः शब्दस्तेन भिदोक्त्या ।

सश्रितातिशयोक्तिं च सहोक्तिः समयोर्मता ॥’

—यदि प्रधानता और अप्रधानता का घोटन शब्द द्वारा हो फलतः उसमें जिसमें भेद की प्रधानता सिद्ध हो, ऐसी अतिशयोक्ति पर आश्रित वह दो समान पदार्थों की सह-शब्दार्थ द्वारा की गई वक्ति सहोक्ति कहलाती है ।

[ सर्वस्व ]

सहोक्तिप्रतिभटभूतां विनोक्तिं लक्षयति—

[ सू. २८ ] विना किञ्चिदन्यस्य सदसत्त्वाभावो विनोक्तिः ।

सत्त्वस्य शोभनत्वस्याभावोऽशोभनत्वम् । एवमसत्त्वस्याशोभनत्वस्याभावः शोभनत्वम् । ते द्वे सत्त्वासत्त्वे यत्र कस्यचिद्संनिधानान्निवध्येते सा द्विधा विनोक्तिः । अत्र च शोभनत्वाशोभनत्वसत्तायामेव वक्तव्यायामसत्तामुपेनाभिधानमन्यनिवृत्तिप्रयुक्ता तन्निवृत्तिरिति एवापनार्थम् । एवं चान्याननिवृत्तौ विधिरेव प्रकाशितो भवति । आद्या यथा—

‘विनयेन विना का श्रीः का निशा शशिना विना ।

रक्षिता सत्कवित्वेन कीदृशी चाग्विदग्धता ॥’

अत्र विनयाद्यसंनिधिप्रयुक्तश्रीविरहाद्यभिधानमुखेनाशोभनत्वमुक्तम् ।

[ वृत्ति ] अब सहोक्ति से उल्टी विनोक्ति का लक्षण करते हैं —

[ सू० ३१ ] 'किसी [ अन्य ] के विना [ किसी ] अन्य में सत्त्व या असत्त्व का अभाव [ बतलाया जाना चमत्कारी हो तो ] विनोक्ति ।

[ वृत्ति ] सत्त्व = शोभनता, उसका अभाव = अशोभनता । इसी प्रकार असत्त्व = अशोभनता

अभाव = शोभनता । [ विनोक्ति में ] ये दोनों सत्त्व और असत्त्व किसी [ अन्य ] के असन्निधान से उत्पन्न बतलाए जाते हैं अतः यह विनोक्ति दो प्रकार की होती है । यहाँ प्रतिपाद्य तो रहता है शोभनत्व और अशोभनत्व का सञ्ज्ञान ही तथापि उसका प्रतिपादन अभाव के माध्यम से किया जाता है, यह इसलिए कि यह प्रतीति हो सके कि उसका अभाव किसी अन्य के कारण है, स्वतः नहीं । और इस प्रकार यदि किसी अन्य का अभाव प्रतीत न हो तो अन्य का सद्भाव भी प्रतिपादित हो जाता है । इनमें से प्रथम विनोक्ति यथा—

'नम्रता के विना धी कैसी ? चन्द्रमा के विना राशि कैसी ? सत्कवित्व के विना वाणी की विदग्धता कैसी ? ।'

—यहाँ विनय आदि के अभाव के कारण श्री आदि का अभाव बतलाया गया और इस प्रकार [ श्री आदि में ] अशोभनता का प्रतिपादन किया गया ।

### विमर्शिनी

प्रतिमटभूतामिति प्रतिपञ्चभूताम् । भत एवैतदनन्तरमेतल्लक्षणम् । तदेवाह—विना-  
किंचिदित्यादि । एतदेव व्याचष्टे—सत्त्वस्वैत्यादिना ।

कस्यचिदिति यत्र यादृशो विवक्षितस्तस्येति । ननु चात्र सत्त्वासत्त्वयोर्विधि-  
मुखेनैव वाच्यस्ये किमिति प्रतीतिवैपम्यदायिना निषेधमुखेन निर्देशः कृत इत्याश-  
ङ्कवाह—अत्र चेत्यादि ।

तच्छब्देन सत्त्वासत्त्वयोः प्रत्ययभर्शः । अन्यनिवृत्तिप्रयुक्तेन तन्निवृत्तिव्यापनेनापि  
किं भवतीत्याशङ्कवाह - एवं चेत्यादिना ।

अन्यस्य कस्यचिदनिवृत्तौ सत्त्वमसत्त्वमेव वा भवतीत्यर्थः । आद्येति असत्त्वनिवृ-  
न्धनोक्तिः । का श्रीर्न काचिच्छीरिति श्रियो विरहोऽसद्भावः । विनयासद्भावेऽपि श्रियोऽ-  
सद्भावोऽस्तीत्येतदभिधानं श्रियोऽपत्त्वे पर्यवस्यतीति विनयनिवृत्तिप्रयुक्तं श्रियोऽसत्त्व-  
मुक्तम् । एवं विनयस्यानिवृत्तौ श्रियः सत्त्व एव विधिः प्रकाशितो भवतीति विनय एव  
अन्यस्यः कार्यः । एवमन्यत्रापि ज्ञेयम् । अन्ये चात्र वास्तवत्वं मन्यमानाः—

'तस्याः शैत्यं विना ज्योत्स्ना पुष्पादिः सौरभं विना ।

विनोण्णात्वं च हुतभुक्त्वां विना प्रतिभासते ॥'

इत्यत्र विनोक्त्यलङ्कारत्वमाहुः । अत्र हि ज्योत्स्नादीनां शैत्यादिना नित्यमविनाभावेऽपि  
विनाभाव उपनिषद्दः । यदाहालङ्कारभाष्यकारः—'नित्यसंबन्धानामसंबन्धवचन  
विनोक्तिः' इति विनोक्तिरूपसंख्यास्यते" इति । ग्रन्थकृता पुनरियं चिरंतनलक्षितत्वा-  
लक्षिता ।

प्रतिमटभूता = उल्टी = विरुद्ध । इसी कारण इस [ सहोक्ति ] के लक्षण को बाद इस  
[ विनोक्ति ] का लक्षण रखा जा रहा है । यह लक्षण बतलाते हैं—'विना किंचिद० । इसी की व्याख्या  
करते हैं सत्त्वस्य इत्यादि के द्वारा । कस्यचिद = किसी के = जो अर्थ जहाँ जिस प्रकार का  
विवक्षित हो उसके । यहाँ प्रदंन उठता है—यदि यहाँ सत्त्व और असत्त्व का प्रतिपादन सञ्ज्ञा-

वात्मक रूप से ही विकसित है तो फिर प्रतीति में विपरीतता लाने वाले निषेध को द्वारा इसकी प्रतीति क्यों कराई जाती है, इसके उत्तर में कहते हैं—'अत्र च'-इत्यादि। 'तत् = तन्निवृत्ति-' में आया तत् शब्द सत्त्वासत्त्वं के लिए है। शका होती है कि भन्ने ही किसी वस्तु का अभाव अन्य किसी वस्तु के अभाव के माध्यम से प्रतिपादित किया जाय, उसमें लाम क्या है। इस पर उत्तर देते हैं—'एव च = इस प्रकार।' अन्य की निवृत्ति न होने पर शोभनता या अशोभनता ओ कैसी रहती है उसकी वसी रूप में प्रतीति होती है। आद्या = प्रथम = ऐसी विनोक्ति जिसमें अशोभनता प्रतीत होती हो। [ 'विनयेन विना'-पद्य में ] 'का थीः = श्री कैसी'-का अर्थ निकलता है 'किसी भी प्रकार की श्री नहीं'। इस प्रकार ओ का अभाव प्रतीत हुआ जो अशोभन है। 'विनय न होने पर भी श्री का अभाव ही रहता है' ऐसा कहने से 'श्री' की अशोभनता निकलती है। इस प्रकार श्री की अशोभनता विनय के अभाव में प्रतिपादित की गई। यदि विनय का अभाव न हो तो श्री में निषेधात्मक अशोभनता से उलटी विषयात्मक शोभनता ही प्रतीत होती है। इस प्रकार श्री की शोभनता अशोभनता का मारा मार विनय के अस्तित्व अनस्तित्व पर निर्भर है। अन्य स्थलों में भी ऐसी ही योजना करनी चाहिए।

[ अलङ्काररत्नाकरकार आदि ] कुछ आचार्य विनोक्ति को वास्तविकता पर भी निर्भर मानते हैं और वे—

'तुम्हारे विना उस [ बेचारी ] की चाँदनी विना शीतलना की प्रतीति होती है, पुष्पसमुदाय [ अथवा वसन्त ] विना सुगन्ध का, और अग्नि विना ऊष्मा की।'

—ऐसे स्थलों में विनोक्ति को अलङ्कार मानते हैं। चाँदनी आदि शीतलना आदि में कमी भी अलग नहीं रहती तथापि यहाँ उन्हें उनसे अलग बतलाया गया है। जैसा कि अलङ्कार-भाष्यकार ने [ भी ] कहा है—'नित्यसम्बद्धानामसम्बन्धवचनविनोक्तिः' = 'नित्य सम्बद्ध पदार्थों में सम्बन्ध का अभाव बतलाना विनोक्ति कहलाता है'। यह विनोक्ति भी आगे बतलावेंगे। ग्रन्थकार ने जो यह [ 'विनयेन०' आदि पद्य में ऊपर निर्दिष्ट ] विनोक्ति मर यहाँ बतलाई है यह इसलिये कि प्राचीन आचार्य [ गम्भट ] ने इसी भेद को विनोक्ति के रूप में प्रस्तुत किया है।

### [ सर्वस्य ]

अत्र विनाशब्दमन्तरेणापि विनार्थविवक्षा यथाकथंचिन्निमित्तीभवति यथा सहोक्तौ सहार्थविवक्षा। एवं च—

'निरर्थकं जन्म गतं नलिन्या यया न दृष्टं तुहिनांशुधिम्बम् ।

उत्पत्तिरिन्दोरपि निष्फलैव न येन दृष्टा नलिनी प्रवृद्धा ॥'

इत्यादौ विनोक्तिरेव । तुहिनांशुदर्शनं नलिनीजन्मनोऽशोभनत्वप्रतीतेः ।

इयं च परस्परविनोक्तिमङ्गल्या चमत्कारातिशयकृत् । यथोदाहृते धिपये ।

यहाँ विना शब्द के अभाव में भी विना शब्द के अर्थ की विवक्षा भी ठीक उसी प्रकार जिस किसी प्रकार कारण बन जाती है जिस प्रकार महोक्ति में [ सह शब्द के अभाव में भी ] सहशब्द के अर्थ की विवक्षा। और इस प्रकार—

'उस कमलिनी का जन्म निष्फल ही बत गया जिसने चन्द्रमा का विम्ब नहीं देखा। और चन्द्रमा का जन्म भी निष्फल ही रहा जिसने प्रबुद्ध कमलिनी को नहीं देखा।'

—इत्यादि स्थलों में विनोक्ति ही अलङ्कार माना जाएगा।

विनोक्ति तब अधिक चमत्कारक होती है जब उसमें दो पदार्थों में एक दूसरे के अभाव से परस्पर में शोभनत्व और अशोभनत्व बतलाया जात है। जैसे उदाहृत [ 'निरर्थक०' ] पद्य के स्थल में।

विमर्शिनी

यथाकथंचिदिति । यद्यपि यथा सहशब्दं विनापि सहाय्यं तृतीयास्ति तथा विनाशब्दं विनापि द्वितीयादीनां विनार्थं सद्भावोऽस्ति, तथापि वाक्यार्थपर्यालोचनसामर्थ्यात्तदर्थः पर्यवस्यतीत्यस्य भावः । सहशब्दं विनापि सहार्थविवक्षा यथा—

‘विवृण्वता सौरभरोरदोषं वन्दिवतं वर्णगुणैः स्पृशन्मया ।

विकस्वरे कस्य न कर्णिकारे प्रागेन हृष्टेर्वृधे विवाद्ः ॥’

अत्र प्रागेन सहेति तत्प्रयोगं विना तत्प्रतीतावेव विश्रान्ते । एवं चेति । यस्माद् विनाशब्दं विनापि तदर्थविवक्षा भवतीत्यर्थः । यथोदाहृत इति निरर्थकमित्याहौ । यथा वा—

हंसाण सरैहिं विण्ण सराण सोहाविण्णा ण हंसेहिं ।

अण्णोणं चिअ एप् अण्णाणं णवरं गरुप्ति ॥’

यथाकथंचिव् = जिस किसी प्रकार अर्थात् यद्यपि जैसे सहशब्द के विना भी सह अर्थ में तृतीया हो जाती है वैसे ही विना शब्द के विना भी विना के अर्थ में द्वितीया आदि होती हैं तथापि उनका अर्थ वाक्यार्थ के पर्यालोचन के दल पर निकलता है ।

सहशब्द के विना भी सहशब्द के अर्थ की विवक्षा का उदाहरण यथा—

‘कर्णिकार [ अमलनाश ] के फूल उठने पर ऐसा कौन व्यक्ति था जिसकी दृष्टि का शक्तो नासिका से विवाद न हो रहा हो । दृष्टि उसके सुवर्णोपम वर्ण की बन्दी बनी हुई थी और नासिका उसमें गन्ध का दारिद्र्य बतला रही थी ।’ [ मंजुकृत श्लोकचरित, इसी पद्य पर महर्षि को ‘कर्णिकार मंजु’ नाम दिया गया था ]

—यहाँ यद्यपि ‘सह’ शब्द का प्रयोग नहीं है तथापि प्रागपद में प्रयुक्त तृतीया विभक्ति उसी अर्थ में पर्यवसित होती है ।

एवंच = और इस प्रकार अर्थात् अब कि विना शब्द के अर्थ की विवक्षा विना शब्द के विना भी संभव होती है तब । यथा उदाहृत = ‘निरर्थक’ पर्याय में । दूसरा उदाहरण यह हो सकता है—

‘हंसानां सरोभिर्विना सरसां शोभा विना च हंसैः ।

अन्योन्यं चैवेते आत्मानं केवलं गरयन्ति ॥’

—हंसों की शोभा सरोवरों के विना नहीं होती और न तो सरोवरों की ही शोभा हंसों के विना । ये दोनों केवल आपस में एक दूसरे को समृद्ध बनाते हैं ।

[ सर्वस्व ]

द्वितीया यथा—

‘भृगुलोचनया विना विचित्रव्यवहारप्रतिभाप्रभाप्रगल्भः ।

अमृतद्युतिसुन्दराशयोऽयं सुहृदा तेन विना नरेन्द्रसूनुः ॥’

अत्राशोभनत्वाभावः शोभनपदार्थप्रक्षेपभङ्गयोक्तः । सैषा द्विधा विनोक्तिः ।

द्वितीय [ विनोक्ति ] यथा—

‘वह राजकुमार उस सुन्दरी के विना मीति मीति के व्यवहार की प्रतिभा की प्रभा से प्रगल्भ रहता है । इसी प्रकार उस मित्र के विना यह हृदय से चन्द्रमा के समान उज्वल रहा जाता है ।’—यहाँ अशोभनत्व का अभाव शोभन पदार्थ की उक्ति के द्वारा बतलाया गया है ।

इस प्रकार वह विनोक्ति दो प्रकार की हुई ।

## विमर्शिनी

द्वितीयेति शोभनत्वनिबन्धनोक्तिः ।

द्वितीय विनोक्ति = शोभनता में पर्यवसित होने वाली विनोक्ति ।

विमर्श.—विनोक्ति का पूर्व इतिहास.—विनोक्ति का प्रतिपादन प्रथम बार मम्मट ने ही किया है । भामह, धामन, उद्भट, रदट तथा भोज के ग्रन्थों में यह नहीं मिलती । मम्मट ने इसका निरूपण इस प्रकार किया है—

‘विनोक्ति सा विनान्येन यत्रान्य सत्र नेतरः ।

—जहाँ अन्य के बिना अन्य शोभन न हो अथवा अशोभन न हो वह विनोक्ति । अशोभनत्व का उदाहरण—

‘अरुचिनिष्ठया विना शशी शशिना सापि विना मद्दधम ।

उभयेन विना मनोभवस्फुरित नैव चकास्ति कामिनोः ॥’

—राशि के बिना चन्द्रमा में कोई सौन्दर्य नहीं रहता और राशि भी चन्द्रमा के बिना घोर सम मित्र होती है । इन दोनों के बिना कामिजनों में काम का स्फुरण नहीं रुचता । मम्मट का यह उदाहरण अन्योन्य विनोक्ति का स्थल माना जा सकता है ।

दूसरा शोभनत्व का उदाहरण—‘मृगलोचनया०’ पद्य । परवर्ती आचार्यों में अलङ्काररत्नाकरकार ने विनोक्ति को सहोक्ति के पक्षि ले रखा है और उसका लक्षण यह किया है—

[ सूत्र ] ‘विना कचिद् सदसत्त्वे विनोक्तिः’ ॥ ४१ ॥

[ वृत्ति ] केचिद् विना कस्यचिद् असन्निधानेऽर्थांतरस्य सत्त्वं शोभनत्वम् असत्त्वमशोभनत्वं वा विनोक्तिः ।

—किसी के बिना अर्थात् किसी के असन्निधान में अन्य किसी अर्थ का सत्त्व = शोभनत्व या असत्त्व = अशोभनत्व विनोक्ति ।

रत्नाकरकार ने विनोक्ति को शब्द और अर्थ दो भागों बाँटा है । प्रथम के उदाहरण के रूप में शोभनत्व के लिए तो रत्नाकरकार ने भी ‘मृगलोचनया०’ पद्य ही प्रस्तुत किया है किन्तु द्वितीय के लिए—

‘स्वामी पिशुनकिमुक्तो मात्सर्यरहित कविस्वधा लोके ।

विषयरक्ष्योऽपि निधिः प्राप्यते पूर्णपुण्यै ॥’

—जुगलस्रोतों से रहित स्वामी, मात्सर्य से रहित कवि और सर्प से रहित निधि पूरे पुण्यों से प्राप्त होते हैं ॥—यह उदाहरण दिया है जिसमें विनोक्ति का आधार ठीक उसी प्रकार वास्तविकता है जिस प्रकार ‘तस्याः शैत्यं विना ज्योस्ता’ इस स्थल में ।

विक्रमाकदेवचरित का ४।१२०—‘प्रत्यक्त्वं मधुनेव०’ पद्य रत्नाकरकार ने विना शब्द के अभाव के उदाहरण के रूप में दिया है । यह पद्य सर्वस्व की भी कुछ पाण्डुप्रतियों में मिलता है किन्तु बदरय और विद्या चक्रवर्ती इसका कोई उल्लेख नहीं करते । कदाचित् रत्नाकर के तुलनात्मक अध्ययन में लगे किसी विद्वान् ने अपनी हस्तलिखित प्रति में उसे जोड़ लिया होगा ।

रत्नाकरकार ने विनोक्ति को सम, विषम और प्रतिबन्धरूपमा अन्कारों पर निर्भर माना है । विनोक्ति को अप्यदादीक्षित ने केवल कुण्वयानन्द में ही बतलाया है किन्तु खाश नहीं । पण्डितराज ने विनोक्ति का लक्षण ‘विनार्थसम्बन्ध’—मात्र किया है, अर्थात् उसमें विनाहृत वस्तु की रमणीयता या अरमणीयता का निवेश नहीं किया और दीपक, प्रतिबन्धरूपमा तथा इलेपमूलक

उपमा को सहायक बतलाते हुए, 'निरर्थक जन्म' पद्य में विनोक्ति की ध्वनि मानी है। इस पद्य का चतुर्थ चरण इनके रसगंगाधर में ऐसा है—'कृता विनिद्रा नलिनीन येन'।

कौस्तुभकार विश्वेश्वर ने विनोक्ति का लक्षण पूर्ववर्ती आचार्यों के ही अनुसार इस प्रकार किया है—

'यत्रान्येन विनान्योऽसाधुः सन् वा विनोक्तिः सा ।'

—जहाँ अन्य के बिना अन्य शोभन या अशोभन हो वहाँ विनोक्ति।

अलंकारभाष्य का जो बचन विमर्शनीकार ने उद्धृत किया है उसको पण्डितराज तथा विश्वेश्वर पण्डित ने भी उद्धृत किया है और वहाँ अरुचि व्यक्त की है जो स्वयं विमर्शनीकार ने की है। इन तीनों ने वास्तविकता पर निर्भर विनोक्ति को अलंकार मानना अवैधानिक बतलाया है।

प्राचीन आलंकारिकों द्वारा विनोक्ति को अलंकाररूप से न गिनने में हेतु सोचते हुए रत्नाकर-कार ने कहा था कि—'इसमें चमत्कार स्वतः का नहीं अन्य अलंकारों का रहता है'—ऐसा मानकर ही कदाचित् अन्य आचार्य इसे स्वतन्त्र अलंकार नहीं मानते। वस्तुतः इसमें चमत्कार 'विनाभाव' से निष्पन्न होता है इसलिए इसे अन्य अलंकारों में अन्तर्भूत मानना अनुभवविरुद्ध है। पण्डितराज जगन्नाथ ने भी कदाचित् इन्हीं तर्कों पर विनोक्ति को स्वतन्त्रता का मौन समर्पण किया है। उन्होंने लिखा है—

'अलङ्कारान्तरसमालिङ्गनाविभूतमेवास्या ह्यतन्वन्, न स्वतः, तेनालङ्कारान्तरत्वमपि शिथिल-मेवेत्यपि वदन्ति ।' - अर्थात्—

'इसमें चमत्कार दूसरे अलंकारों के योग से ही आता है, स्वतः नहीं, इस कारण इसे स्वतन्त्र अलंकार मानना भी शिथिल ही है—'ऐसा भी कुछ लोग कहते हैं।' स्पष्ट ही उन्होंने—'कुछ लोग' कहकर अपनी असंमति व्यक्त कर दी है। विनोक्ति पर हुए इस आक्षेप के प्रति उनकी असंमति इससे भी स्पष्ट है कि यह पक्ष उन्होंने विनोक्ति के उपसंहार में सूचित किया है वह भी अलंकार-भाष्य के उपर्युक्त मत के पश्चात्। अलंकारकौस्तुभकार ने भी इस पक्ष को अमान्य बतलाया है। स्पष्ट ही विनोक्ति में 'विनाभाव'—का एक स्वतन्त्र चमत्कार रहता है इसलिए इसे सम, विषम, दीपक, प्रतिवस्तुपमा, उपमा या पर्यायोक्त आदि में अन्तर्भूत करना उचित नहीं है।

इस प्रकार सर्वस्वकार ने भेद की प्रधानता पर निर्भर व्यतिरेक, सहोक्ति और विनोक्ति इन तीन अलंकारों का निरूपण किया। वस्तुतः इनमें प्रथम दो ही भेद प्रधान माने हैं। विनोक्ति तो केवल इसलिए बतला दी गई है कि वह सहोक्ति से ठीक उलटी किन्तु चमत्कारक अभिव्यक्ति है। संज्ञोविनीकार ने विनोक्ति के सर्वस्वकारकृत इस संपूर्ण विवेचन का सारसंक्षेप इस प्रकार किया है—

'सदसस्त्वनिवृत्तिश्चेत्त्रिवृत्त्यान्यस्य वर्णयते ।

तदा द्विधा विनोक्तिः स्याद् विधिरत्र फलं भवेत् ॥'

'—अन्य की निवृत्ति से यदि अन्य के शोभनत्व और अशोभनत्व की निवृत्ति बतलाई जाए तो वह दो प्रकार की विनोक्ति होती है। इसमें फल रहता है विधि ।'

[ सर्वस्व ]

अधुना विशेषणविच्छिन्नस्याश्रयेणालंकारद्वयमुच्यते । तत्रादौ विशेषण-साम्याद्यष्टम्भेन समासोक्तिमाह—



[सू० ३२] विशेषणानां साम्यादप्रस्तुतस्य गम्यत्वे समासोक्तिः ।

इह प्रस्तुताप्रस्तुतानां कचिद् वाच्यत्वं कचिद् गम्यत्वमिति द्वैविध्यम् । वाच्यत्वं च श्लेषनिर्देशमहत्या पृथगुपादानेन चेत्पि द्वैविध्यम् । एतद् द्विभेदमपि श्लेषालङ्कारस्य विषयः । गम्यत्वं तु प्रस्तुतनिष्ठमप्रस्तुतप्रशंसा-विषयः अप्रस्तुतनिष्ठं तु समासोक्तिविषयः । तत्र च निमित्तं विशेषण-साम्यम् । विशेष्यस्यापि साम्ये श्लेषप्राप्तेः । विशेषणसाम्याद्धि प्रतीय-मानप्रस्तुतं प्रस्तुतावच्छेदकत्वेन प्रतीयते । अवच्छेदकत्वं च व्यवहारसमा-रोपः । रूपसमारोपे त्ववच्छादितत्वेन प्रकृतस्य तद्रूपरूपित्वाद् रूपकमेव ।

[ भेदप्रधान अलंकारों का निरूपण करने के पश्चात् ] अ० [ 'समासोक्ति और परिकर' इन ] दो अलंकारों का विवेचन करने ई जिनमें चमत्कार [ समास और सामिप्राय ] विशेषणों पर निर्भर रहता है । इन दोनों में विशेषणगत समानता [ दोनों पक्षों में अन्वित होने की क्षमता अतः श्लेषता ] को लेकर निष्पन्न होने वाले [ और हमीलिप परिकर की अपेक्षा अधिक चमत्कारक ] समासोक्ति का निरूपण पहले करते हैं—

[ सूत्र ३२ ] [ केवल ] विशेषणों के साम्य [ = श्लेष ] से यदि अप्रस्तुत गम्य हो तो समासोक्ति ॥

[ वृत्ति ] यहाँ [ अलंकारों में ] प्रस्तुत और अप्रस्तुत का निर्देश दो प्रकार से किया जाता है ( १ ) वाच्यरूप से और ( २ ) गम्यरूप से । जो निर्देश वाच्यरूप से किया जाता है वह भी दो प्रकार का होता है ( १ ) श्लेष द्वारा और ( २ ) अलग अलग शब्दों द्वारा । ये दोनों ही प्रकार के वाच्य निर्देशों में अलंकार श्लेष ही माना जाता है । किन्तु जहाँ निर्देश गम्यरूप से रहता है वहाँ यदि वह प्रस्तुत विषयक हो [ अर्थात् प्रस्तुत अर्थ गम्यरूप से प्रतीत हो ] तो अलंकार होता है—अप्रस्तुतप्रशंसा । और यदि अप्रस्तुतविषयक हो [ अर्थात् अप्रस्तुत अर्थ गम्यरूप से प्रतीत हो ] तो अलंकार को समासोक्ति कहा जाता है । इसका निमित्त होती है केवल विशेषणों की समानता क्योंकि यदि विशेष्य भी [ प्रकृताप्रदृतीमय— ] समान हो तो वहाँ श्लेष हो जाता है । अप्रस्तुत अर्थ जब विशेषण की समानता से गम्यरूप में प्रतीत होता है तब वह प्रस्तुत का अवच्छेदक होकर प्रतीत होता है । अवच्छेदक होने का अर्थ है व्यवहार का आरोप, रूप का आरोप नहीं । रूप का आरोप मानने पर तो प्रकृत अर्थ अप्रकृत अर्थ से अवच्छादित हो आप्ता और तब वहाँ रूपक होगा । क्योंकि [ अप्रकृतरूप से अवच्छादित ] प्रकृत वहाँ वस्तुतः अप्रकृत के रूप से रूपिन ही होगा ।

### विमर्शनी

तत्रैत्यलंकारद्वयमभ्यास । आदाविति प्रधानतया । अस्या हि विशेषणमात्रावष्टम्भा-परिकराद्विशेषणसाम्यावष्टम्भत्वेन विशिष्टत्वम् । विशेषणेत्यादि । अस्याश्चालङ्कारान्त रेभ्यो विभार्गं दर्शयितुमुपक्रमते—इत्यादिना । वाच्यत्वं चात्र द्वयोः प्रस्तुतयोरप्रस्तुतयोः प्रस्तुताप्रस्तुतयोश्च भवति । गम्यत्वं पुनः कचिदप्रस्तुतस्य कचिच्चाप्रस्तुतस्य । प्रस्तुताप्रस्तु-तयोरस्तु न भवति । तद्रूप्येण वस्तुसद्भावाभावात् । श्लेषनिर्देशमहत्यायति । प्रस्तुतयोरप्रस्तुत-योश्च । पृथगुपादानेनेति । प्रस्तुतयोरप्रस्तुतयोः प्रस्तुताप्रस्तुतयोश्चैतदिति वाच्यम् । अत्र चाप्रस्तुतस्य किंहेतुकं गम्यावमित्यह्याह—तत्र चेत्यादि । तत्रेति अप्रस्तुतस्य गम्यत्वे । विशेषणानां चात्र बहुत्वमेव विवक्षितमिति न वाच्यम् ।

‘श्वसनविषमा रात्रिर्ज्योत्स्ना तरङ्गितविभ्रमा शशिमणिभुवो चाप्पायन्तेनिमीलति पद्मिनी ।  
उपविततमोमोहा भूमिर्व्यनक्ति विवर्णतां तदिति गहने दर्शं दर्शं कथं सखि जीव्यते ॥’

इत्थं विशेषणवहुत्वाभावेऽपि समासोक्तेः सद्भावात् । अतश्च विशेषणानां साम्या-  
दीति न सूत्रणीयम् । अचहुत्वे तस्याभ्यासेः । विशेषणसाम्यमपि कस्मादत्र हेतुत्वं भजत  
इत्याशङ्क्याह—विशेषणेत्यादि । अप्रस्तुतमिति न पुनरप्रस्तुतधर्मा एव । नलान्यधर्मिसंब-  
न्धिनो धर्माः स्वधर्मिणमन्तरेणान्यत्रावतिष्ठन्ते । नलानाचके नायकधर्माणामन्वयो युज्यते ।  
अन्यधर्माणामन्यत्रान्वयासंभवात् । अत एवान्यरोप्यमाणोऽन्यवहारोऽन्यत्र न संभवतीति  
तद्विनाभावात्स्वव्यवहारिणमाक्षिपतीत्याक्षिप्यमाणेनाप्रस्तुतेन धर्मिणैव प्रस्तुतो धर्म्य-  
वच्छिद्यते न पुनरच्छाद्यते । तथात्वे ह्यप्रस्तुतेन प्रस्तुतस्य रूपरूपितत्वाद्भूपसमा-  
रोपः स्यान्न व्यवहारसमारोपः । अत एवाह—प्रस्तुतावच्छेदकत्वेनेति । अत एवाप्रस्तुतस्य  
गम्यत्वे इति सूत्रितम् । एवं समासोक्तौ व्यवहारसमारोपादप्रस्तुतेन प्रस्तुतस्य वैशिष्ट्य-  
लक्षणमवच्छेदकत्वं विधीयते । रूपके तु रूपसमारोपाद्भूपरूपितत्वात्पञ्चादकत्वमित्य-  
नयोर्भेदः । तेन ‘विशेषणानां साम्यादप्रस्तुतधर्मावच्छेद’ इत्थं पास्यात्मलक्षणानुगुण्येनैव  
विशेषणसाम्यादप्रस्तुतावच्छेदः समासोक्तिरित्येव सूत्रणीयम् । अतिशयोक्त्याशङ्का पुनरप्र-  
तिप्रमाणिकैव । विषयस्योपादानाद्विषयिणश्चानुपादानात् ।

तत्र = उन दोनों अर्थकारों में से । आक्षेप = पहले, पहले इसलिए कि दोनों में यही प्रधान  
है । समासोक्ति जो है, वह परिकर से अधिक महत्त्व की है क्योंकि परिकर में विशेषण केवल  
सामिप्राय रहते हैं जब कि समासोक्ति में प्रस्तुत के समान अप्रस्तुत अर्थ में भी अन्वित होने  
योग्य । ‘विशेषण’-इत्यादि [ सूत्र है ] । अब इसका अन्य अर्थकारों से अन्तर दिखलाने के लिये  
कहते हैं—‘इह = यहाँ = अर्थकारों में’ इत्यादि । यहाँ वाच्यता तो ऐसे भी दो पदार्थों की होती  
है जो केवल प्रस्तुत है, ऐसे भी दो की होती है जो दो केवल अप्रस्तुत हैं और ऐसी की भी  
जिनमें एक प्रस्तुत हो और दूसरा अप्रस्तुत । किन्तु गम्यता कहीं केवल प्रस्तुत की होती है और  
कहीं केवल अप्रस्तुत की । प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों एक साथ गम्य नहीं होते । इसलिए ऐसा  
होना कहीं संभव ही नहीं ।

श्लेषनिर्देशभङ्ग्या = श्लेष द्वारा निर्देश अर्थात् केवल प्रस्तुतों का ही या केवल अप्रस्तुतों का  
ही । पृथक्प्रदान = अलग अलग कथन अर्थात् केवल प्रस्तुतों का, केवल अप्रस्तुतों का या  
प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों का । ‘इस समासोक्ति में जो अप्रस्तुत गम्य रहता है इसका कारण  
क्या होता है’—इस पर उत्तर देते हैं—‘तत्र च’ । तत्र = वतमें = अप्रस्तुत के गम्य होने में । यहाँ  
यह कोई बाधकता नहीं है कि विशेषण बहुत ही हों क्योंकि—

‘रात समीर से विषम है, चाँदनी तरंग के विभ्रम से युक्त है । चन्द्रकान्तमणि की भूमियों  
आँसू बहा रही हैं, कमलिनी मुँद रही हैं, तम की अँधियारी बढ़ जाने से भूमि भी अब विवर्ण  
होती जा रही है—यह सब जंगल में देख देखकर, हे सखि जिस कितनी प्रकार जिया जा रहा है ।’

—यहाँ आदि में एक एक ही विशेषण है तथापि वतमें [ नायिकात्व आदि  
प्रतीत होने से ] समासोक्ति है । इसलिए [ सर्वस्वकार और रत्नाकरकार दोनोंको ] ‘विशेषणों की  
की समानता’ इस प्रकार सूत्र में विशेषण शब्द के साथ बहुवचन नहीं जोड़ना चाहिए । उसे  
जोड़ने से उस समासोक्ति में लक्षण लागू नहीं होगा जिसमें विशेषण अनेक नहीं होते ।

विशेषणसाम्य भी यहाँ हेतु कित्त कारण बन जाता है—‘इस शंका पर उत्तर देते हैं—  
‘विशेषण’- इत्यादि । अप्रस्तुत = अप्रस्तुत भी, न कि अप्रस्तुत के धर्म ही । क्योंकि जो धर्म  
किसी अन्य धर्म में रहते हैं वे अपने धर्मों को छोड़कर अन्य कित्त धर्मों में नहीं

पहुँचते। अनायक में नायक के धर्मों का सम्बन्ध ठीक होता भी नहीं। फिर वस्तुस्थिति यह है कि अन्य के धर्मों का अन्य में सम्बन्ध समव भी नहीं है। इस कारण सिद्धान्त यह मानना होता है कि जब अन्य का व्यवहार अन्य में समव नहीं होता तब यदि वह अन्य पर आरोपित किया जाना है तो वह अपने व्यवहारी = धर्मी अर्थात् जिसमें वह कमी भी अलग नहीं होता, का आक्षेप कर लेता है और तब आक्षेप द्वारा प्राप्त यह अप्रस्तुत व्यवहारी = धर्मी प्रस्तुत व्यवहारी = धर्मी में निविष्ट होता है; ऐसा नहीं कि प्रस्तुत धर्मी अप्रस्तुत धर्मी से अवच्छादित किया जाता है। क्योंकि अवच्छादिन किए जाने पर तो प्रस्तुत अप्रस्तुत के स्वरूप से रूपित हो जाएगा फलतः वह रूपका आरोप मानना होगा व्यवहार का नहीं। इसी विषय को मनमें रखकर कहते हैं— 'प्रस्तुतावच्छेदकत्वेन'०। इसीलिङ्ग सूत्र में 'अप्रस्तुत गम्य हो तो' ऐसा कहा गया है। इस प्रकार समासोक्ति में व्यवहार का समारोप हो जाने पर प्रस्तुत धर्मी अप्रस्तुत धर्मी से विशिष्ट बन जाता है, इसे ही अप्रस्तुत के प्रति अवच्छेदक बनना कहा जाता है।

रूपक में समारोप होता है रूपका, अतः वहाँ प्रकृत को अप्रकृत से अवच्छादित माना जाता है क्योंकि अवच्छादितत्व रूपरूपितत्व का ही दूसरा नाम है। यह है अवच्छेदकत्व और अवच्छादितत्व का परस्पर में अन्तर [इसलिए अप्रस्तुत धर्मी के प्रस्तुत धर्मी में अवच्छेदक बनने में अलङ्काररत्नाकरकारने जो रूपक की शंका प्रस्तुत की है वह निर्मूल हो जाती है] और इसीलिङ्ग [अलङ्काररत्नाकरकार की भी] समासोक्ति लक्षण के लिए—'विशेषणों की समानता के कारण अप्रस्तुत के धर्म से [प्रस्तुत का] अवच्छेद' ऐसा सूत्र न बनाकर हमारे लक्षण के अनुरूप केवल 'विशेषणों की समानता रहने से अप्रस्तुत का अवच्छेद' ऐसा ही सूत्र बनाना चाहिए। और [अलङ्काररत्नाकरकार ने प्रस्तुत धर्मी पर अप्रस्तुत धर्मी के अवच्छेद का खण्डन करते हुए] जो अतिशयोक्ति होने की शंका प्रस्तुत की है वह भी बिल्कुल निर्मूल है क्योंकि यहाँ उपादान विषय का ही रहता है और अनुपादान विषयों का ही [जब कि अतिशयोक्ति होती है विषय के अनुपादान तथा विषयी के उपादान होने पर]।

विमर्शः—अलङ्काररत्नाकरकार ने समासोक्तिका लक्षण अलङ्कारसर्वस्वकार से गिन्न किया था और उसका कारण सर्वस्वकार के लक्षण में रूपक या अतिशयोक्ति की समावना बतलाया था। विमर्शिनीकार ने उसी का खण्डन ऊपर के विवेचन द्वारा किया है। अलङ्काररत्नाकर का सम्बन्धित विवेचन इस प्रकार है—

[सूत्र] 'विशेषणानां साम्यादप्रस्तुतधर्मावच्छेद-समासोक्तिः'।

[वृत्ति] (क) समानविशेषणमहिम्ना यत्र प्रस्तुतस्वार्थस्याप्रस्तुतगतगुणक्रियादिरूप-धर्मविच्छेदः प्रतीयते सा समासोक्तिः। ततश्चाप्रस्तुतव्यवहारसमारोपः, न रूपसमारोपः। पृ. ७१

(ख) अत्र विशेषणमात्रसाम्यादप्रस्तुतवस्तुसम्बन्धिनो धर्मा एव प्रतीयन्ते, न तु धर्म्यपि; धर्मिणोऽपि प्रतीतो रूपसमारोपाद् रूपकम् अतिशयोक्तिर्वा स्यात्, न तु समासोक्तिः, अत एव नाप्रस्तुतस्य गम्यत्वम्, अपितु तद्धर्मांगामेव। तेन 'अप्रस्तुतस्य गम्यत्व' इत्याद्यलक्षणमेव।

[सू०] विशेषणों की समानता के कारण अप्रस्तुत के धर्म का [प्रस्तुत में] अवच्छेद समासोक्ति।

[वृत्ति] (क) समान विशेषणों के बल पर जहाँ प्रस्तुत अर्थ में अप्रस्तुत अर्थ के गुण क्रिया आदि रूप धर्मों का अवच्छेद प्रतीत हो वह समासोक्ति। इस प्रकार यहाँ अप्रस्तुत के व्यवहार का ही आरोप होता है रूपका नहीं।

(ख) यहाँ विशेषणमात्र या साम्य रहता है अतः यहाँ अप्रस्तुत वस्तु के धर्मों की ही प्रतीति होती है, धर्मों की नहीं। धर्मों की भी प्रतीति हो तो आरोप रूप का होगा। तब या तो

रूपक होगा या अतिशयोक्ति; समासोक्ति नहीं। इसीलिये गम्यता अप्रस्तुत की मानना ठीक नहीं है, अप्रस्तुत के धर्मों की ही गम्यता मानना ठीक है। इस कारण [ सर्वस्वकार का ] 'अप्रस्तुत गम्य हो तो'—इत्यादि समासोक्ति लक्षण ठीक लक्षण नहीं है।

पण्डितराज जगन्नाथ ने भी सर्वस्वकार के 'विशेषणसाम्याद्धि-प्रकृतलपरूपित्वाद् रूपकमेव स्यात्'—इस अंश को उद्धृत किया है और 'तदेतदुक्तिमात्रमणीयम्'—कहकर इसका खण्डन किया है और तदर्थ प्रायः रत्नाकरकार द्वारा प्रस्तुत तर्क ही उपस्थित किए हैं। किन्तु विमर्शिनीकार द्वारा प्रस्तुत समाधान से वे सहमत हैं। पण्डितराज ने प्रस्तुत धर्मों पर अप्रस्तुत धर्मों का आरोप तो स्वीकार नहीं किया, किन्तु वे उन दोनों धर्मियों के अभेद को अस्वीकार नहीं कर सके। उनकी पंक्ति है—

( क ) विशेषणसाम्यमहिम्ना प्रतीतोऽप्रकृतवाक्यार्थः स्वानुशुणं नायिकादिमर्ममाक्षिप्य तेन परिपूर्णविशिष्टशरीरः सन् प्रकृतवाक्यार्थे स्वावयवतादात्म्यापन्नतदवयवोऽभेदेनावितिष्ठते । स च परिणाम इव प्रकृतात्मनैव कार्योपयोगी, स्वात्मना च रसाद्युपयोगी ।

( ख ) अप्रकृताभिन्नतया व्यवसितः प्रकृतव्यवहारः स्वविशेष्ये तद्विशेष्याभिन्नतयाऽवस्थिते भासते ।

—[ क ] विशेषणसाम्य के बल पर प्रतीत हुआ वाक्यार्थ अपने अनुरूप नायिका आदि धर्मों का आक्षेप कर लेता है, और उसके द्वारा उस अप्रस्तुत वाक्यार्थ का शरीर पूर्ण हो जाता है। तब वह प्रकृतवाक्यार्थ में अभेद सम्बन्ध से सम्बन्धितप्रतीत होता है, इस अभेद में कारण होता है दोनों वाक्यार्थों के अवयवों का परस्पर में अभेद। अप्रकृत अर्थ कार्योपयोगी होता है प्रकृतलप से ही। अपने आप के रूप में वह रसोपयोगी बनता है।

[ ख ] प्रकृत व्यवहार अपने अप्रकृत धर्मों से अभिन्नरूप से प्रतीत हो रहे—धर्मों में अप्रकृत व्यवहार से अभिन्नरूप से भासित होता है। पण्डितराज ने कुनकनानन्दकार अन्यदीक्षित को सर्वस्वकार की आशा का अनुवर्ती कहा है और उनका विभिन्न सात तर्कों द्वारा खण्डन किया है।

### [ सर्वस्व ]

तच्च विशेषणसाम्यं श्लिष्टतया साधारण्येनौपम्यगर्भत्वेन च भवत् त्रिधा भवति तत्र श्लिष्टतया यथा—

'उपोढरानेण विलोलतारकं तथा गृहीतं शशिना निशामुखम् ।

यथा समस्तं तिमिरांशुकं तथा पुरोऽपि रागाद्गलितं न लक्षितम् ॥'

अत्र निशाशशिनोः श्लिष्टविशेषणमहिम्ना नायकव्यवहारप्रतिपत्तिः । अपरित्यक्तस्वरूपयोर्निशाशशिनोर्नायकताख्यधर्मविशिष्टयोः प्रतीतेः । साधारण्येन यथा—

'तन्वी मनोरमा बाला लोलाक्षी पुष्पहासिनी ।

विकासमेति सुभग भवदर्शनमात्रतः ॥'

अत्र तन्वीत्यादिविशेषणसाम्याल्लोलाक्ष्या लताव्यवहारप्रतीतिः । तत्र च लतैकवामिविकासख्यधर्मसमारोपः कारणम् । अन्यथा विशेषणसाम्यमात्रेण नियतलताव्यवहारस्याप्रतीतेः । विकासश्च प्रकृते उपचरितो ज्ञेयः । पद्यं च कार्यसमारोपेऽपि ज्ञेया । इयं च समासोक्तिः पूर्वापेक्षयाऽस्पष्टा ।

यद् जो विशेषणसाम्य है यद् ( १ ) श्लिष्ट रूप से ( २ ) साधारणरूप से और ( ३ ) उपमा-गमितरूप में होता है, अतः तीन प्रकार का होता है। इन तीनों में से प्रथम श्लिष्ट विशेषणसाम्य का उदाहरण है।

‘राग लिए चन्द्र ने निशा का चंचल ताराओं वाला मुख इन प्रकार पकड़ा कि उसने राग के कारण सामने से ही सारे के सारे जिसके अक्षररूपी अनुक को भी नहीं जाना।’

—यहाँ जो निशा और शशी के विशेषण हैं वे श्लिष्ट हैं। उनके आधार पर यहाँ नायक तथा नायिका के व्यवहार की प्रतीति होती है, क्योंकि यहाँ निशा और शशी अपना स्वरूप बिना छोड़े नायकता [ नायिकात्व तथा नायकत्व ] नामक धर्म से युक्त प्रतीत होते हैं।

साधारणधर्मरूप से ( विशेषणसाम्य ), यथा—‘हि सुभाग ! तुम्हें देखने भर से वह तन्वी, मनोरमा, बाला और पुष्पहासिनी चंचलाश्री खिल उठती है।’

—यहाँ ‘तन्वी’ आदि विशेषणों के साम्य से चंचलाश्री शब्द से कथित नायिका में लना के व्यवहार की प्रतीति होती है। इसमें कारण है विकास नामक धर्म का समारोप जो एकमात्र लता का ही धर्म है। इसके बिना अन्य विशेषणों के समान होने पर भी उतने भर से लता के व्यवहार की प्रतीति निश्चिन्तरूप से न होती। प्रस्तुत अर्थ [ नायिका ] में विकास को लाक्षणिक समझना चाहिए। [ हम उदाहरण से ] यह भी जान लेना चाहिए कि [ न केवल व्यवहार या धर्म के ही समारोप से अपितु ] कार्य के समारोप से भी समासोक्ति होती है [ क्योंकि इस पद्य में ‘विकसित होना’ = ‘खिलना’ एक क्रिया है ]। यह जो [ क्रिया के समारोप से सम्भव ] समानोक्ति है पूर्ववर्ती समानोक्ति की अपेक्षा कुछ कम स्पष्ट है।

### विमर्शिनी

तद्विति अप्रस्तुतस्य गम्यत्वे निमित्तम् । तत्रेति निर्धारणे । नायकेति सरूपयोरैकशेषः । अपरित्यक्तस्वरूपयोरिति । रूपरूपितत्वे हि परित्यक्तः स्वस्वरूपं स्यात् । तत्रेति । लना-व्यवहारप्रतीतिः । ननु यदि लतेकगाप्येव विकासशक्यो धर्मैस्तत्कार्यं प्रकृत्यै मंगच्छत् इत्याशङ्क्याह—विकास इत्यादि । एतदेवान्यथापि योजयति—एवमित्यादिना । तदेवं साधारण्येन समानोक्तैर्विशेषणसाम्ये सत्यप्यप्रकृतसवन्धि धर्मकार्यसमारोपमन्तरेण तद्व्यवहार-प्रतीतिर्न भवतीति सिद्धम् ।

तत्र = वह विशेषणसाम्य अर्थात् वह विशेषणसाम्य जो अप्रस्तुत को गम्यता में कारण बनना है। तत्र = इनमें, यह निर्धारणार्थक है। नायक = शब्द में एकशेष समास है क्योंकि नायक और नायिका ये दोनों शब्द समान रूप वाले हैं। ‘अपरित्यक्तस्वरूपयोः’ = ‘अपना स्वरूप बिना छोड़े’ = अब रूप का आरोप होना है तत्र [ आरोप के विषय निशा शशी आदि का ] अपना स्वरूप छूट जाता है। तत्र = इसमें अर्थात् लनाव्यवहारप्रतीति में। ‘यदि विकास धर्म केवल लनामात्र में अन्विष्ट होने वाला है तो फिर वह प्रकृत नायिका में अन्विष्ट कैसे होगा’ ऐसी शङ्का कर उत्तर देते हैं—‘विकामः’ इत्यादि। इसी विषय में से एक नवीन तथ्य का निर्देश करते हुए कहते हैं—‘एवम्’। इस प्रकार यह निश्चिन्त हुआ कि साधारण्य से निष्पन्न समानोक्ति में विशेषणों का साम्य रहता है तथापि अप्रकृत से सवन्धि धर्म अथवा कार्य के समारोप के बिना उस [ अप्रकृत ] के व्यवहार की प्रतीति नहीं होती। [ नीचे दिए विवेचन में पण्डितराज ने मूल का स्पष्टन करते हुए विमर्शिनी के इस अर्थ को निरस्त कर दिया है। पण्डितराज अग्रथाप ने ‘तन्वी मनोहरा’—इस पद्य में व्यंग्यरूपक मानना उचित बतलाया है, और अलङ्कारसर्वस्वकार का स्पष्टन करते हुए समासोक्ति को अमान्य ठहराया है। उनका प्रथम तर्क यह है कि इस पद्य में

कव्य अर्थ की प्रतीति एक मात्र साधारण अर्थ के आधार पर न होकर 'विकास'-रूपी असाधारण अर्थ के आधार पर हो रही है। समासोक्ति केवल नहीं मानी जा सकती है जहाँ सभी विशेषण साधारण हों। उन्होंने सर्वरवकार पर यह भी दोष लगाया है कि उनकी यह मान्यता उन्हीं के सूत्र के विरुद्ध है। सूत्र में विशेषणों की साधारणता को अन्यार्थ की प्रतीति में कारण बतलाया गया है जब कि वहाँ असाधारणता को। पण्डितराज का कथन अधिक संगत प्रतीत होता है। [३० रसगंगाधर पृ० ५०९-१०, नि. सा. सं. ६]

[ सर्वस्व ]

औपम्यगर्भत्वेन यथा—

‘दन्तप्रभापुष्पचिता पाणिपल्लवशोभिनी ।

केशपाशालिवृन्देन सुवेपा हरिणेक्षणा ॥’

अत्र दन्तप्रभा पुष्पाणीवेति सुवेपत्ववशादुपमागर्भत्वेन कृते समासे पश्चाद्दन्तप्रभासदृशैः पुष्पैश्चितेति समासान्तराश्रयणेन समानविशेषणमाहात्म्याल्लताव्यवहारप्रतीतिः । अत्रैव ‘परीता हरिणेक्षणा’ इति पाठे उपमारूपसाधकवाधकाभावात् संकरसमाश्रयेण कृते योजने पश्चात् पूर्ववत् समासान्तरमद्भिन्ना लताप्रतीतिर्ज्ञेया । रूपकगर्भत्वेन तु समासान्तराश्रयणात् समानविशेषणत्वं भवदपि न समासोक्तेः प्रयोजकम् । एकदेशविधतिरूपकमुखेनैवार्थान्तरप्रतीतिस्तस्या वैयर्थ्यात् । न च पूर्वदर्शितोपमासंकरविषये एव न्यायः । उपमासंकरयोरेकदेशविधतिनोरभावात् । तच्चैकदेशविधतिरूपकमश्लेषेण श्लेषेण च भवतीति द्विविधम् । अश्लिष्टं यथा—

‘निरीक्ष्य विद्युन्नयनैः पयोदो मुखं निशायामभिसारिकायाः ।

धारानिपातैः सह किं नु वान्तध्वन्द्वोऽयमित्यार्ततरं ररास ॥’

अत्र निरीक्षणानुगुण्याद्विद्युन्नयनैरिति रूपके पयोदस्य द्रष्टृपुरुषनिरूपणमार्ततरं ररासेत्यत्र प्रतीयमानोत्प्रेक्षाया निमित्तरत्वं भजते । श्लिष्टं यथा—

‘मदनगणनास्थाने लेख्यप्रपञ्चमुदञ्चयन्

विचकिल-वृहत्पत्रत्रयस्तद्विरेफमपीलवैः ।

कुटिललिपिभिः कं कायस्थं न नाम विसूत्रयन्

व्यधित विरहिप्राणेष्वायक्ययावधिकं मधुः ॥’

[ श्री० च० ६।७० ]

अत्र हि पत्रलिपिकायस्थशब्देषु श्लेषगर्भं रूपकं द्विरेफमपीलवैरित्येतद्रूपकनिमित्तम् । अस्य च प्रचुरः प्रयोगविषय इति न समासोक्तिबुद्धिः कार्या ।

उपमानित विशेषणसान्ध्या का उदाहरण यथा—‘दन्तप्रभापुष्प से खचित, पाणिपल्लव से सुशोभित और केशपाशभ्रमराली से सुवेपा है यह शृगावी ।’

—यहाँ [ नायिका में लनाभ्यवहार की प्रतीति होती है किन्तु ] सुवेपथ्व [ केवल नायिका का धर्म है अतः उस ] के कारण [ सभी विशेषणों को नायिकापक्ष में अन्वित करने हेतु ] पढ़िष्ठे 'दन्तप्रमा पुष्प के समान' ऐसा उपमागमित [ उपमित- ] समास करना होता है, तत्पश्चात् [ उन्हीं विशेषणों को लनापक्ष में अन्वित करने हेतु ] 'दन्तप्रमामदृश पुष्प' इस प्रकार एक दूसरा [ मध्यमपदलोपी या विशेषण ] समास अपनाना पड़ता है तब कहीं विशेषणों की समानता बनती और लताभ्यवहार की प्रतीति होती है। यहाँ यदि 'परीता = धिरी हुई है मृगक्षी' ऐसा पाठ होता [ अर्थात् केवल नायिका में ही अन्वित होने वाला सुवेपथ्व जैसा कोई विशेषण न रहता ] तो न तो यहाँ उपमा का साधक प्रमाण रहता और न रूपक का बाधक। तब [ बिग्रहवाच्य में ] दोनों का सकर मानकर पदार्थ योजना की जानी [ किन्तु तब भी नायिका पक्ष प्रथम पक्ष है अतः उसके अनुरूप विशेषणयोजना में महापक्ष उपमितिसमासमूलक विग्रह पढ़े किये जाते और ] तत्पश्चात् पूर्ववत् अन्य समास [ मध्यमपदलोपी या विशेषण समास ] के आधार पर लना प्रतीति होती हुई मानी जानी। यदि [ यहाँ विशेषण में सीधे सीधे ] रूपक ही माना जाय और तदर्थ अन्य समास [ मध्यमपदलोपी या विशेषण ] ही यहाँ [ प्रथमतः ] अपनाया जाय तो यहाँ विशेषणों में समानता [ उभयपक्ष में अन्वय की योग्यता ] तो आ जायगी, किन्तु उसमें समासोक्ति की सिद्धि नहीं होगी, क्योंकि तब दूसरे अर्थ [ लना ] का बोध एकदेशविवर्त्ता रूपक से ही हो जायगा फलतः उस [ इस समासोक्ति का कोई प्रयोजन नहीं रहेगा ] वह व्यर्थ पढ़ जायगा। यह स्थिति पूर्व-दृष्टि उपमा तथा संकर के विषय में लागू न होगी क्योंकि उपमा और संकर एक देशविवर्त्ता नहीं होने।

[ सर्तस्व के 'औपम्यगर्भत्वेन' इस अंश से लेकर उपमा संकरयोरैकदेशविवर्त्तितनोरभावात्— इस अंश तक स्पष्टीकरण पण्डितराज जगन्नाथ ने अपनी भाषा में इस प्रकार किया है—'औपम्यगर्भत्वेनापि विशेषणसाम्ये समवति। यथा - 'दन्त-शृणा' अत्र हरिणेशृणामाप्रवृत्ते सुवेपथ्वस्य मद्भिन्ना दन्तप्रमासदृशानि पुष्पाणीत्यादि योजनां विहाय दन्तप्रमा पुष्पाणीवेत्याद्युपमितसमासाश्रयेण कृते योजने प्रकृतार्थसिद्धौ मत्यां वृत्त्यन्तरेण त्यक्त्वाया अपि योजनाया पुनरुज्जीवने पुष्पपल्लवालिङ्गन्दै-रूपनेयैराक्षिप्तया लतायाः प्रत्ययादत्र तद्व्यवहारारोपः। एवं सुवेपथ्वपहाय परीतेति कृत उन्मा-रूपकसाधकबाधकप्रमाणाभावात् तदुभयसदृश्यरूपसकराश्रयेण कृते योजने पश्चात् पूर्वोक्तरीत्या लता-प्रतीतिः समासोक्तिरेव। समासभेदनार्थं भेदेऽपि शब्दैक्यमादाय दिलष्टमूलायामिव विशेषणामाम्य बोध्यम्। आदावन्ते वा रूपकाश्रयेण दन्तप्रमा एव पुष्पाणीति योजने कृते तु हरिणेशृणांशे आक्षिप्त-लतातादात्म्यकेनैकदेशविवर्त्तिरूपकेणैवाप्रकृतार्थप्रत्ययोत्पत्तेरर्थ समासोक्तेरत्र।'

—विशेषणसाम्य औपम्यगर्भित भी होता है। यथा—'दन्त प्रमा०' पद्यार्थ में। हरिणेशृणामात्र के विशेषण के सुवेपथ्व के बल पर 'दन्तप्रमासदृश पुष्प' इत्यादि योजना को छोड़कर दन्तप्रमा पुष्पों के समान इत्यादि उपमित समास की योजना करनी पड़ती है। तब प्रकृत (हरिणेशृणापक्षीय) अर्थ की सिद्धि होती है। इसके पश्चात् व्यंजना द्वारा छोड़ी हुई समाम्ययोजना को पुनः जिलाया जाता है। तब पुष्प, पल्लव और अलिङ्गन्द रूपी उपमेयों से लनारूपी उपमेय की प्रतीति आक्षेप से होती है फलतः उसके व्यवहार का आरोप नहीं हो पाता [ जिससे यहाँ रूपक ही सके ] किन्तु 'सुवेपथ्व' इस पद को छोड़कर 'परीता' यह पद अपना लिया जाय तो न तो यहाँ उपमा का साधक कोई प्रमाण रहेगा और न रूपक का बाधक। इसलिये इन दोनों का सदेह सकर होगा। इस संकर की प्रतीति पड़े होगी, तब पूर्वोक्तरीति से लना की प्रतीति होने पर यहाँ समासोक्ति ही होगी। यद्यपि समास बदलने ही अर्थ बदल जायगा तथापि शब्द नहीं बदलेंगे इसलिये जैसे श्चेवमूला समासोक्ति में विशेषणसाम्य होगा वैसे ही यहाँ भी हो जायगा। किन्तु

यदि आरम्भ या अन्त में रूपक के अनुरूप 'दन्तप्रभ' की युष्प' ऐसी योजना की गई तो हरिणेश्रृंगा रूपी अर्थ पर आक्षिप्त लता रूपी अर्थ का तादात्म्य भासित होगा फलतः यहाँ एकदेशवर्ती रूपक ही जायगा। और तब अप्रकृत अर्थ की प्रतीति उसीसे ही जायगी, निदान यहाँ समासोक्ति का कोई प्रयोजन ही न रहेगा।]

यह एकदेशविवर्ती रूपक कहीं श्लेषरहित होता है और कहीं श्लेषसहित। दोनों में से [प्रथम] श्लेषरहित का उदाहरण यथा—

'मेघ विपुत्रयनों से रात में अभिसारिका का मुख देखकर कदाचिद् यह सोचकर अधिक आर्तता के साथ नाद करता है कि क्या गिरती धाराओं के साथ यह चन्द्र गिर पड़ा है ?'

—यहाँ निरीक्षण [रूपीकार्य नयनों में संभव है और उसका अन्वय नयनों के साथ तब संभव है जब समास में वहाँ की प्रधानता हो और ऐसा समास वही समास होगा जिससे रूपक की निष्पत्ति होती है, इस प्रकार निरीक्षण रूपक का ] साधक है फलतः 'विशुन्नयन'शब्द में [ 'विशुद्धरूपी नयन' इस प्रकार ] रूपक सिद्ध हो जाता है। उससे मेघ में द्रष्टा पुरुष का निरूपण होता है। यह 'अधिक आर्तता के साथ नाद करता है'—इस प्रकार की प्रतीयमान उत्प्रेक्षा में कारण जनता है।

श्लेषसहित का उदाहरण यथा—

'मदन [रूपी राजा] के गणनास्थान में विचकिलवृद्धों के विशाल पत्तों [रूपी पत्रों] पर न्यस्त भ्रमररूपी मसीविन्दुओं से लेखा जोखा का प्रपंच फैलाते हुए मधु ने विरहियोंके प्राणों का आबन्धन अधिक बढ़ा दिया। इस प्रकार उसने कुदिल [और कूट] लिपि के लिए प्रसिद्ध [उपलक्षण में तृतीया] किस कायस्थ [काय = शरीर में स्थ = स्थित = आत्मा तथा काय = राज्याधिकरण में स्थ = स्थित = लेखपाल आदि अधिकारी] को व्यथित नहीं किया।

यहाँ जो है सो, पत्र, लिपि और कायस्थ शब्दों में श्लेषमूलक रूपक है। यह रूपक दिरेफ मपीलव शब्द से प्रतिपादित [भौरों पर स्याही की बूंदों के] रूपक का निष्पादक है।

इस एकदेशविवर्ती रूपक का प्रयोग बहुत अधिक होता है। यह समझे रहना चाहिए और वहाँ समासोक्ति नहीं समझ बैठना चाहिए।

### विमर्शिनी

सुखेषत्वं प्रकृतार्थ एवानुगुणमित्युपमायाः साधकम् अतश्च तत्समासाश्रयः । समासान्तराश्रयणेनेति । यद्यप्यश्रोपमासमास एव स्थितस्तथाप्युपमानोपमेययोर्पर्यवयादेव समासान्तरत्वमुक्तम् । पूर्वापेक्षयास्यान्यथात्वात् । अत्रैवेति दन्तप्रमेयादौ । उपमारूपकसाधकवाचकाभावादिति । परीतत्वस्य हि प्रकृताप्रकृतयोस्तथा नानुगुण्यमिति साधकत्वाभावः । तथा च न विगुणत्वमिति बाधकत्वाभावः । अतश्चैकपक्षाश्रयाभावाद्दुपमारूपकयोः संदेहसंकरः । तस्य समाश्रय उभयसमासग्रहणम् । तच्चैकस्मिन्नेव वाक्ये न संभवतीति कामपारेण तयोर्ग्रहणम् ।

संकरसमाश्रयेणाप्युपमासमासयोजने कृते यद्बदयमेवालंकारस्तद्दूपकसमासयोजनेऽपि किमप्यमेव किमुतालंकारान्तरमित्याशङ्क्याह—रूपकेत्यादि । एतच्च साक्षादपि रूपकगर्भे समासे योजयम्, समानन्यायत्वात् । यद्येवं तर्ह्युपमासमाश्रयेऽप्येकदेशविवर्त्युपमानुखेनैवाधान्तरप्रतीतेः किं नैतद्भवतीत्याशङ्क्याह—न चेत्त्यादि । एष इति रूपकोक्तः । अभावादिति उद्गतमतेन । यदाहुः—'न च रुद्रतस्यैवोद्गतस्यैकदेशविवर्ति-



रूपकवदुपमासकरावेकदेशिनौ स्तः ।' अतश्चैतत्तन्मताभिप्रायेणोक्तम् । ग्रन्थकृन्मते हि वक्ष्यमाणनीरया तयोः सम्भवः । ननु यदि तयोर्ग्रन्थकृन्मते सम्भवस्तद्वीपम्यगर्भविशेषणो-  
स्थापितः समानोक्तिप्रकारस्तद्दि न सम्भवति । तस्यैकदेशविवर्तिरूपकवदेकदेशविवर्तिभ्या-  
मुपमासकराम्यामेवार्थान्तरप्रतीतिसिद्धेर्वैयर्थ्यात् । नैतत् । यतोऽस्येव तावद्वीपम्यगर्भ-  
विशेषणहेतुकत्वं समासोक्तेः । किंयत्तद्व्यभेदसहचरितमेवास्या निमित्ततां भजते न पुनः  
केवलम् । तथात्वे हि विशेषणानामौपम्यगर्भत्वे एकदेशविवर्तिभ्या उपमायाः प्राप्तिः ।  
तत्र श्लिष्टत्वसहचरितमेतद्यथा—

'परिपिञ्जरितासिताम्बरैर्निविडैः कं न हरन्ति हरिभिः ।

अथि सायमिमाः पयोधरैः स्फुटरागाश्चलतारका दिशः ॥'

अत्र 'स्फुटसंभ्यातपकुङ्कुमैः' इति पाठे सभ्यातपकुङ्कुमैरित्यौपम्यगर्भं विशेषणम् ।  
साधारण्यसहचरितं यथा—

'तन्वी मनोरमा याटा लोलाघी स्तवकस्तनी ।

विकाममेति सुभग भवदर्शनमात्रतः ॥'

अत्र स्तवकस्तनीर्यौपम्यगर्भं विशेषणम् । शुद्धकार्यसमारोपसहचरितं यथा—

'समाहरोहोपरिपादपानां लुलोठ पुष्पोत्कररेणुपुञ्जे ।

लताप्रसूनांशुकमाचकर्पं फ्रीहन्वने किं न चकार चैत्र ॥'

अत्र प्रसूनांशुकमित्यौपम्यगर्भविशेषणम् । केवलत्वे पुनरैतेपामेकदेशविवर्तिन्युपमैव  
यथा—

'यमौ लोलाघरदलस्फुरद्दशनकैसरम् ।

भ्रूविलासालिवलयं ललितं ललनामुखम् ॥'

अत्र ललितावमुपमासाधकम् । समासान्तराश्रयात् समानविशेषणत्वं भवदपि नात्र  
समासोक्तेः प्रयोजकम् । एकदेशविवर्त्युपमासुखेनेवार्थान्तरप्रतीतेस्तस्या वैयर्थ्यात् । एवं  
दन्तप्रभेत्याश्रयपि ज्ञेयम् । दन्तप्रभाः पुष्पाणीवैर्येव समासे कृते उपमानभूताया लतायाः  
प्रतीतिसिद्धेः समासान्तराश्रयेणगतायास्तत्प्रतीतेर्गर्भत्वात् । अत्रकृतागूणे हि कवेः  
संरम्भः तच्चानयैव सिद्धमिति किं समासोक्त्या । चिरंतनानुरोधत्वात् पुनरत्र ग्रन्थकृता  
समासोक्तिरुक्ता । यत्तु 'यत्र समासोक्तायामुपमायां समासान्तरेण विशेषणसाम्यं योजयितुं  
शक्यं तत्रौपम्यगर्भविशेषणप्रभाप्रिता समासोक्तिरुक्ता' इति वक्ष्यति तदपि चिरंतनानु-  
रोधपरमेव । अन्यथा हि समानन्यायत्वादेकदेशविवर्तिनि रूपकेऽपि यत्र समानविशेषणत्वं  
योजयितुं शक्यं तत्रापि समासोक्तिरिति किं नोक्तम् । यत्तु नोक्तं तथुक्तम् । रूपक-  
माहात्म्यात् प्रथममेव तत्प्रतीतिमिद्वेदनन्तरं समासोक्तिगुणेनाप्रकृतप्रतीतेर्वैयर्थ्यात् ।

आहादिचन्द्रवदना स्फुरत्तारकमौक्तिका ।

धनान्धकारधम्मिहा राजते गगनस्थली ॥'

इत्यादौ पुनरुपमायाः साधकाभावादेकदेशविवर्ति रूपकमेवेति न समासोक्तिभ्रमः  
कार्यः । न चैवमादावुपमारूपरूपयोः सदेहसंकरो न्याय्यः । तस्यालंकारसारकारादिभिर्नि-  
राकृतत्वात् । समासोक्तिलक्षणावसरे किं रूपकनिरूपणेनेत्याशङ्क्याह—अस्या इत्यादि ।

'सुवेपथ्व' के प्रकृत अर्थ [ नायिका पक्ष ] में ही अन्वित होता है इसलिए वह उपमा का ही  
साधक है, अत्र. उक्त पक्ष में [ विशेषणों के लिए ] उसी [ उपमा ] का समास अपनाया जाता है ।

—[ शिवपरक अर्थ ]—‘जिन्होंने काम को ध्वस्त किया है, जिन्होंने एक बार ( त्रिपुरवध के समय ) विष्णु के शरीर को अन्न बनाया था, जो फनफनाते सर्पों के हार और कंकण पहने रहते हैं, जिन्होंने ( स्वर्ग से गिरती ) गंगा को धारण किया था, देवगण जिनके स्तिर को चन्द्रमा से युक्त कहते, तथा जिनका ‘हर’ यह स्तुत्य नाम पुकारते हैं ऐसे अन्धकासुर के निहन्ता पार्वती प्रिय स्वयं भगवान् शंकर आपकी रक्षा करें ।’

[ विष्णुपरक ] ‘जो अजन्मा है और जिन्होंने शकटासुर को ध्वस्त किया है, जिन्होंने अपना बलि को जीतने वाला शरीर [ अमृत वांछते समय मोहिनी अवतार में ] की शरीर बना दिया था, जिन्होंने फनफनाते [ कालिय ] सर्प का दमन किया, जो चक्र को धारण किए हैं, जिन्होंने [ गोवर्धन ] पर्वत और [ पाताल गई ] पृथिवी को धारण किया, देवलोग जिसका ‘राहुशिरोंमंजक’ यह स्तुत्य नाम लेते हैं वे अन्धकवंश को [ द्वारकामें ] बसाने वाले और उसके विनाश करने वाले, सर्वस्वदाता स्वयं भगवान् विष्णु आपकी रक्षा करें ।

[ ये दोनों अर्थ इस पद्य के शब्दों को तोड़ने से निकलते हैं । यथा शिवपक्ष में ध्वस्तमनोभव = ध्वस्त किया मनोभव कामको जिसने, विष्णुपक्ष में ध्वस्तम् अनः अभवेन = जिसने अन = शकट = शकटासुर को ध्वस्त किया है तथा जो अजन्मा है । बलिजित्काय = बलिजित = विष्णु, बलिको जीतने वाला शरीर, पुरास्त्रीकृत = शिवपक्ष में पुरा अस्त्रीकृत, वि० प० में पुरा स्त्रीकृत, उद्बृत्त भुजंगहारबलयः = शि० प० में—उद्बृत्त भुजंगों के हार और बलयवाले अथवा अ = विष्णु उनका रव = नाम उसमें लय है जिनका, वि० प० में = उद्बृत्त भुजंग के हा—‘मारक’, अरबलय = चक्र तद्वान्, शिवपक्ष में = रंगां = गंगाको विष्णुपक्ष में = अर्गं गां = पर्वत तथा पृथिवी को, शशि-मच्छिरोहर = शि० प० में—शशिमान् शिर वाले, तथा हर इस नाम वाले, वि० प० में—शशी को मथने = प्रसनेवाले राहु का शिर हरने वाले, अन्धकस्रवकर = शि० प० में—अन्धकासुर का क्षय विनाश करने वाले, वि० प्र० में—अन्धकवंश के लिए क्षय = निवासस्थान उसका बनाने वाले तथा उसका क्षय = विनाश करने वाले, सर्वदोमाधव = शि० प० में सर्वदा उमाधव = उमा के पति शिव, वि० प० में—सर्वदेः = सबकुछ देने वाला, माधव मा = लक्ष्मी के धव = पति = विष्णु । ]

[ दोनों अप्राकरणिक अर्थ यथा ]—

‘नीलानामाकुलीमावम्’ यह पद्य । [ इसमें दो अर्थ निकलते हैं १-पद्यपरक, २-हरिणपरक । प्रथम के पक्ष में श्लोक अर्थ होगा— ]

‘उसके नेत्र अनेक लुब्ध मीरों से आकुल और पानी में डग कर बड़े कमलों के समान हैं ।’

दूसरा पक्ष—उसके नेत्र अनेक वाण वाले बहेलियों द्वारा आकुल हुए जंगली हिरणों [ के नेत्रों ] के समान हैं ।

[ कमल पक्ष = लुब्ध = लोभी, शिलीमुख = अमर, वन = जल, कमल = मय । हरिणपक्ष = लुब्ध = बहेलिया, शिलीमुख = वाण, वन = जंगल, कमल = हिरण— ]

[ एक प्राकरणिक और एक अप्राकरणिक अर्थ, तथा विशेषण और विशेष्य दोनों का शब्दतः कथन—यथा ]—‘स्वेच्छोप०’ पद्य का यह अर्थ—

‘खेद की बात है कि नासमझ स्वामी काम के समान होता है जो स्वेच्छोपजातविषय [ प्रभु = अपनी इच्छा भर विषय = यनधान्यादि, काम = अपनी इच्छा के अनुसार विषय = स्त्री आदि ] पाकर भी मार्गणशत के द्वारा [ प्रभु = सैकड़ों याचकों द्वारा ] ‘देहीति’ [ प्रभु = देहि = दीजिए, शक्ति ऐसा ] कक्षा नहीं जाता, और दुःख देता है [ काम भी मार्गणशत = सैकड़ों वाणों के द्वारा दुःख देता है और देहीति = देही = शरीरी-आत्मा नहीं कक्षा जाता ] और मोह से [ प्रभु नासमझों से,

काम = मूर्च्छा से ] जीवित को [ प्रनु-जीविका को, काम = प्राणों को ] भी एकारक नष्ट कर देता है ।'

—इन [ तीनों पद्यों में मे प्रथम पद्य ] में शिव और विष्णु दोनों प्राकरणिक हैं, [ द्वितीय पद्य में ] पद्य और मृग दोनों उपमान हैं इसलिए अप्राकरणिक है [ और तीसरे पद्य में ] स्वामी प्राकरणिक है और काम अप्राकरणिक ।

यह शब्द, अर्थ और दोनों में रहता है, इसलिए तीन प्रकार का होता है । इनमें शब्द का श्लेष वह होता है जिसमें उदात्त आदि स्वर का अन्तर पढ़ जाता है फलतः [ उच्चारण के ] प्रयत्न में अन्तर आ जाता है अतः शब्द भी बदल जाता है । यहाँ प्रायः शब्द टूटता है । अर्थ श्लेष वहाँ होता है जहाँ स्वर आदि का भेद नहीं होता । इसीलिए इसमें शब्दों में भङ्ग (टूट) नहीं रहता । उभयश्लेष होता है इन दोनों के एकत्रीकरण से ।

यथा—

पद्य ठीक वैसे ही सुशोभित हो रहे थे जैसे श्रमण । क्योंकि वे लाल वर्ण के छद् (पल्लवी) धारण किये हुए थे [ श्रमण भी लाल वर्ण का छद् = कन्या धारण करते हैं ], वे विकच [ खिले हुए थे, श्रमण भी कच = केशों से रहित = विकच = मुण्डित सिर होते हैं ], जलों में सगत = डूबी नाल को धारण किए हुए थे और श्रमण भी जड़ व्यक्तियों का अधिक साथ नहीं करते = [ जलेपु = जलेपु अलम् = अधिक, सगतम् = सादृश्य न आदधाना. ] [ अन्य ] पुष्पों की सपूर्ण रुचि निरस्त कर चुके थे । [ श्रमण भी पुष्प = स्त्री या पुष्पधन्वा काम की सपूर्ण रुचि = वाइ समाप्त कर देने हैं ] ।

—यहाँ 'रक्तच्छदत्व' आदि [ आदि पद से विकचत्व, पुष्परुचिनिरसन ] में अर्थश्लेष है और 'नाल' आदि [ आदि शब्द ] में [ नाल तथा न अलम् ; जल तथा जड़ इम शब्दभेद होने से ] शब्दश्लेष है । क्योंकि यहाँ दोनों एक ही वाक्य में मिलित हैं इसलिए यहाँ उभयश्लेष हुआ । तीनों के उदाहरण अलग-अलग नहीं दिए ग्रन्थ कठेवर बढने के मय मे ।

### विमर्शिनी

एष इति त्रिविधोऽपि श्लेषः । तत्रेति प्रयनिर्धारणे । यत्रेति शब्दश्लेषे । अत एवेति स्वरादिभेदाभावात् । संकलनयेति समन्वयमङ्गपदसंमेलनया । पृथगिति भेदेन । तत्र शब्दश्लेषो यथा—

'ते गच्छन्ति महापदं सुवि, परामृतिः समुत्पद्यते

तेषां, तैः समलङ्कृतं निजकुलं, तैरेव लङ्घा दितिः ।

तेषां द्वारि नदन्ति वाजिनिवहास्ते भूपिताः प्रसहं

ये हृष्टाः परमेश्वरेण भवता तुष्टेन रुष्टेन वा ॥'

अत्र पदानां समङ्गत्वं स्पष्टम् । अर्थश्लेषो यथा—

'हृद्यन्तौ चिबुकाप्रसुम्बनमयो दौषिक्यशङ्कोज्जितौ

नैविद्वयेन परस्परस्य न मनाक केनापि लङ्घान्तौ ।

घन्यौ तौ तरुणीभूतनाविव न यौ स्वप्नेऽपि विशिलभ्यतो

विश्लेषं विषमं विपद्य भवतो नाधोमुखौ जातु वा ॥'

अत्र पदानामसमङ्गत्वं स्पष्टम् । संकलनया तु मन्वप्यतैवोदाहृतम् । अस्य च शब्दा-  
र्थाश्रितत्वाद्बुभयालंकारतां दर्शयति—अलंकार्यत्यादिना ।

एष = यह अर्थात् तीनों प्रकार का श्लेष । तत्र = तीनों में । यत्र = जहाँ अर्थात् शब्दश्लेष में ।

अत एव = इसीलिए अर्थात् स्वरादि का भेद न होने से । संकलनया = एकत्रीकरण अर्थात् समङ्ग

पद एवं अमङ्गल पद के मिश्रण से । पृथक् = अलग-अलग = अर्थात् प्रत्येक का उदाहरण भिन्न करके । भिन्न उदाहरण इस प्रकार है—

‘आप परमेश्वर हैं । आप जिस पर प्रसन्न या रुष्ट होते हैं वे महापद [ महान् उच्च पद, महा आपद् आपत्ति ] को प्राप्त होते हैं, पृथिवीमण्डल पर उनकी पराभूति [ परा = उत्कृष्ट भूति = वैभव, पराभूति = परामव ] होती है, वे अपने कुल को समलंकृत [ सन् = सब प्रकार से अलंकृत = शोभित, समल = मलसहित कलंकित ] कर देते हैं, वे ही क्षिति [ पृथिवी, क्षय ] को पा लेते हैं, उनके दरवाजे वाजिनिबह [ वाजि = घोड़ों के निबह समुदाय, वा = या आजि = युद्ध = निबह ] गरजते हैं, और वे ही प्रतिदिन भूषित [ अलंकृत, भू = पृथ्वी पर सित = पड़े हुए ] रहते हैं ।’ यहाँ पदों में मङ्गल है ।

अर्थश्लेष यथा

‘वे [ दम्पती ] धन्य हैं तदुणीस्तनों के समान जो सदा ही त्रिजुकाय [ ठुड्डी के अग्रभाग ] का चुम्बन करना चाहते हैं, जिनमें शिथिलता की शंका नहीं रहती, परस्पर में इतने घने [ सटे ] रहते हैं कि अन्य किसी को बीच में जगह नहीं मिलती, जो स्वप्न में भी अलग नहीं होते और अलग होते भी हैं तब भी कभी अचोमुख नहीं होते ।’ —यहाँ पदों में मङ्गल नहीं है यह स्पष्ट है । दोनों का मिलित उदाहरण स्वयं ग्रन्थकार ही [ ‘रक्तच्छदत्वं’ यह ] दे चुके हैं ।

यह शब्द और अर्थ दोनों पर आश्रित है, इसलिये इसको दोनों का अलंकार बतलाते हुए कहते हैं—

[ सर्वस्व ]

अलंकार्यालंकरणभावस्य लोकवदाश्रयाश्रयिभावेनोपपत्तेः ‘रक्तच्छदत्वम्’ इत्यादावर्थद्वयाश्रितत्वाद्यमर्थालंकारः ‘नालम्’ इत्यादौ तु शब्दद्वयाश्रितत्वाच्छब्दालंकारोऽयम् । यद्यप्यर्थभेदाच्छब्दभेद इति दर्शने ‘रक्तच्छदत्वम्’ इत्यादावपि शब्दाश्रितोऽयं तथाप्यौपपत्तिकत्वाद्न शब्दभेदस्य प्रतीतेरेकावसायान्नास्ति शब्दभेदः । ‘नालम्’ इत्यादौ तु प्रयत्नादिभेदात् प्रातीतिक एव शब्दभेदः । अतश्च पूर्वत्रैकवृन्तगतफलद्वयन्यायेनार्थद्वयस्य शब्दश्लिष्टत्वम्, अपरत्र जतुकाष्टन्यायेन स्वयमेव श्लिष्टत्वम् । पूर्वत्रान्वयव्यतिरेकाभ्यां शब्दहेतुकत्वाच्छब्दालंकारत्वमिति चेत्, न आश्रयाश्रयिभावेनालंकारत्वस्य लोकवद् व्यवस्थानात् ।

अलंकार्यालंकरणभाव [ काव्य में भी ] आश्रयाश्रयिभाव के आधार ही ठीक उसी प्रकार संभव होता है जिस प्रकार लोक में, अतः ‘रक्तच्छदत्वम्’ इत्यादि पद्य में यह [ श्लेष ] दो अर्थों पर आश्रित रहने से अर्थ का अलंकार है । इसके विपरीत ‘नालं’ इत्यादि स्थल में दो शब्दों पर आश्रित रहने से यही शब्द का अलंकार है । यद्यपि ‘अर्थ भिन्न हो तो शब्द भी भिन्न होता है’ इस सिद्धांत के अनुसार ‘रक्तच्छदत्वम्’ इत्यादि में भी यह [ श्लेष ] शब्दाश्रित ही माना जा सकता है तथापि यह शब्दभेद सिद्ध करने पर सिद्ध होता है, प्रतीति तो होती है एक रूप से ही । इस कारण यहाँ [ काव्य में प्रतीति का सारा खेल है अतः इसकी दृष्टि से ] शब्दभेद नहीं है । और इसीलिये प्रथम श्लेष में दो अर्थों का [ एक ] शब्द में श्लेष = जोड़ उसी प्रकार है जिस प्रकार एक वृन्त में दो फलों का होता है, जब कि दूसरे श्लेष में स्वयं शब्दों का ही श्लेष = जोड़ रहता है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार जतु = लाक्षा और फाण्ड = लकड़ी का । [ मन्मट का ] यह कहना ठीक नहीं है कि ‘प्रथम

[ अमग ] भेद में भी [ श्लेष ] शब्द का ही अलंकार है क्योंकि उसका रहना न रहना शब्द के रहने न रहने पर निर्भर है इसलिये उसके प्रति शब्द ही हेतु है, और अलंकार की शब्दार्थगत-त्वेन व्यवस्था हेतुहेतुमदभाव के आधार पर होनी चाहिये, क्योंकि वस्तुतः काव्यालंकार भी लौकिक अलंकारों के समान ही आशयाश्रयिभाव की लेकर ठहराए जा सकते हैं [ हेतुहेतुमद-भाव को लेकर नहीं ] ।

### विमर्शिनी

जनु च 'यावन्त एवमर्थाः स्युः शब्दास्तावन्त एव हि' इत्याद्युक्त्या रक्तच्छदत्वमिन्या-  
दावपि शब्दद्वयाश्रयाच्छुद्धालंकार एवाप्य तत्प्रथममन्यथोक्तमित्याशङ्क्याह—यद्यपीत्यादि ।  
एतावसायादिति । रक्तच्छदत्वादेः प्रयत्नादिभेद विना सादृश्येनार्थद्वयामिधानात् । अत-  
श्चेति । अर्थद्वयस्य शब्दद्वयस्य च श्लिष्टत्वात् । पूर्वत्रेति । रक्तच्छदत्वमिन्यादौ शब्दस्य  
वृत्तस्थानीयत्वात् । अपरत्रेति नालमिन्यादौ । जनुकाष्टन्यायेनेति परस्पर संवलितत्वात् ।  
पूर्वत्रेति रक्तच्छदत्वमिन्यादौ । अन्वयव्यतिरेकान्यामिति । रक्तच्छदत्वमिन्येष शब्दे स्थिते  
श्लेषः शब्दपरिवर्तने तु कृते न श्लेष इत्यत्रापि शब्दहेतुकरत्वात्तदलंकारत्वमेवेत्यर्थम् ।  
आश्रयाश्रयिभावेनेति । न पुनरन्वयव्यतिरेकान्याम् । ताभ्यां हि यस्य यद्वेतुकरत्वं तस्य  
तत्कार्यत्वं स्यात् पुनस्तदलंकारत्वम् । लोकत्रेदिति । लोके हि यथा कर्णाश्रितः कुण्डलादि-  
कर्णालंकार उच्यते न पुनः सुवर्णकारणहेतुकरत्वात्तदलंकारः ।

'शब्द उतने ही होते हैं जितने अर्थ' इत्यादि वाक्यों के अनुसार 'रक्तच्छदत्वम्' इत्यादि में भी यह श्लेष शब्द का ही अलंकार है क्योंकि वहाँ भी यह दो शब्दों पर आश्रित है । फिर आप इसके विपरीत इसे [ अर्थाश्रित ] क्यों बतला रहे हैं?—इस शंका पर उत्तर देते हैं— 'यद्यपि' इत्यादि । 'एकतावसायात्' = 'प्रतीति में एकता का ज्ञान'—इसलिये कि 'रक्तच्छदत्व' आदि शब्दों में प्रयत्न आदि के भेद के विना एकरूपता ( सादृश्य ) के आधार पर दो अर्थों का कथन होता है । 'अतश्च = और इसीलिये' = अर्थात् दो अर्थ और दो शब्दों के श्लिष्ट = जुटे हुए होने से । पूर्वत्र = प्रथम में—रक्तच्छदत्व इत्यादि में क्योंकि वहाँ शब्द रहता है वृत्ततुल्य । अपरत्र दूसरे में = 'नालम्' इत्यादि में । 'जनुकाष्टन्यायेन' = लाल और काष्ठ के समान एक दूसरे में चिपके रहने से । पूर्वत्र = प्रथम में = 'रक्तच्छदत्व' इत्यादि में । अन्वयव्यतिरेकान्याम् = 'एक के रहने पर दूसरे का रहना और न रहने पर न रहना' = 'रक्तच्छदत्व' इसी शब्द के रहने पर श्लेष रहता है, इस शब्द के बदल देने पर श्लेष नहीं रहता । इस प्रकार यहाँ पर भी श्लेष शब्दमूलक है अतः उसे शब्दालंकार ही मानना पड़ेगा । आश्रयाश्रयिभावेन = आश्रयाश्रयिभाव से, न कि अन्वयव्यतिरेक से । इन [ अन्वयव्यतिरेक ] के द्वारा यह सिद्ध हो सकता है कि जो जिससे पैदा होता है वह उसका कार्य है, यह नहीं कि वह उसका अलंकार है । लोकवद् = लोक के समान—लोक में जिस प्रकार कान में पहना कुण्डल आदि अलंकार कान का ही अलंकार [ शोभावर्धक ] कहा जाता है न कि सुवर्ण रुपी कारण से उत्पन्न होने के कारण सुवर्ण का अलंकार [ शोभावर्धक ] ।

विमर्श—श्लेष शब्द का प्रमुख अर्थ है जुटना, चिपकना, और अलंकार शब्द का अर्थ है शोभावर्धक तत्त्व अथवा अप्रधान रूप से चमत्कारजनक तत्त्व । प्रश्न उठता है श्लेष में अलंकार्य कौन है । श्लेष स्वयं हुआ अलंकार, अतः अलंकार्य शब्द या अर्थ इन दो में से कोई एक हो सकता है ।

उद्भट और सर्वस्वकार सभंग और अभंग हम दोनों श्लेषों को अर्थालंकारों के प्रकरण में रखते हैं अतः सामान्यतः यही सिद्ध होता है कि दोनों ही प्रकार का श्लेष अर्थालंकार ही है। उद्भट उद्भट ने सभंग श्लेष को शब्दालंकार कहा है अतः मम्मट ने उसके अर्थालंकारों के बीच रखे जाने पर आपत्ति उठाई है—‘शब्दालंकार इति चोच्यते, अर्थालंकारमध्ये च गण्यत इति कौयं नयः’ [ नवम उल्लास ] उद्भट के अनुकरण पर मम्मट ने स्वयं शब्दश्लेष को नवम उल्लास में शब्दालंकारों के बीच रखा है और अर्थश्लेष को अर्थालंकारों के बीच दशम उल्लास में। सर्वस्वकार ने अतिशयोक्ति को तो दो अलग-अलग प्रकरणों में रखकर वर्गीकरण को महत्त्व दिया, किन्तु यहाँ उन्होंने वैसा नहीं किया और सभंग श्लेष को शब्दालंकार कहकर भी उसे अर्थालंकारों के बीच रखा। विचित्रता यह है कि मम्मट द्वारा श्लेष पर उठाई गई अन्य आपत्तियों का उत्तर देते हुए भी वे इस आपत्ति पर मौन हैं। वस्तुतः यह उनकी शिथिलता ही है। इस प्रकार सभंग श्लेष में अलंकार्य शब्द ही मान्य है। अर्थ यह कि सभंग श्लेष शब्दालंकार ही है।

अभंग श्लेष में अलंकार्य के निर्णय की समस्या जटिल है। जटिलता इसलिए है कि निर्णायक विन्दु पर आचार्यों का मत एक नहीं है। उद्भट के अनुसार निर्णायक है आश्रयावयिभाव। इस मत में श्लेष का आश्रय ही श्लेष का अलंकार्य है। सभंग श्लेष में दो शब्दों का जोड़ रहता है और वह लाख और लकड़ी के जोड़ के समान स्पष्ट दिखाई देता है। अतः वहाँ शब्द ही श्लेष का आश्रय और अलंकार्य मान लिया जाता है। किन्तु अभंगश्लेष में आश्रय का निर्णय करना कठिन है। अभंग श्लेष में अर्थ दो होते हैं इसलिए अर्थ के जोड़ में कोई मतभेद नहीं उठता। जहाँ तक शब्द का संबन्ध है इसके विषय में दो मत हैं। एक के अनुसार अभंग श्लेष में यद्यपि शब्दों में भेद नहीं रहता अतः उनका वैसा जोड़ नहीं रहता जैसा सभंग श्लेष में रहता है, तथापि एक दूसरे प्रकार का जोड़ अवश्य रहता है। वह है गाय और भैंस के दो भिन्न दूधों के मिश्रण जैसा जोड़। फलतः उसमें जोड़ की प्रतीति नहीं हो पाती। प्रतीति न होने पर भी शब्दों में जोड़ इसलिए माना जाता है कि अर्थ बदलते ही शब्द भी बदल जाता है। जैसे मानस शब्द के दो अर्थ होते हैं, एक मानसरोवर तालाब और दूसरा चित्त। यद्यपि ‘म’, आ, न्, अ, सु, अ’ ये वर्ण उसी क्रम से तालाबवाचक मानस शब्द में आते हैं जिस क्रम से चित्तवाचक मानस शब्द में, जिससे दोनों मानस शब्दों के उच्चारण में प्रबलभेद नहीं होता, अतः दोनों शब्दों में एकता की प्रतीति होती है तथापि वे दो भिन्न शब्द हैं क्योंकि अर्थों में भेद है। जैसा कि कहा जाता है—‘प्रत्यर्थ शब्दा भिद्यन्ते।’ इस सिद्धान्त के अनुसार जोड़ या श्लेष का आश्रय शब्द है इसलिए श्लेषरूपी अलंकार का अलंकार्य शब्द ही है। इस मत के प्रवर्तक आचार्य हैं मम्मट। उनकी पंक्ति है—

[ का० ] ‘वाच्यभेदेन भिन्ना यद् युगपद्भाषणस्पृशः।

श्लेष्यन्ति शब्दाः श्लेषोऽस्ती..... ॥’

[ बृ० ] ‘अर्थभेदेन शब्दभेद’ इति दर्शने वाच्यभेदेन भिन्ना अपि शब्दा यद् युगपदुच्चारणेन श्लेष्यन्ति = भिन्न स्वरूपमपहुवते स श्लेषः। [ काव्यप्रकाश उ० ९ ]।

—‘अर्थभेद में शब्दभेद’ इस सिद्धान्त के अनुसार अर्थभेद से भिन्न हुए भी शब्द एक साथ उच्चारण के कारण अपना भिन्न रूप छिपा लेते हैं तो उसे शब्दश्लेष कहा जाता है।’

अर्थभेद से शब्दभेद का सिद्धान्त मम्मट के पूर्व उद्भट ने भी माना था और कहा था—

‘एकप्रयत्नोच्चार्याणां तच्छायां चैव विभ्रताम्।

स्वरितादिगुणैर्भिन्नैर्बन्धः श्लेषम्।’ ४।९ ॥ अर्थात्

—एक ही प्रयत्न से उच्चार्य अत एव समान प्रतीत होते शब्दों का कथं श्लेष = जुड़ा हुआ = जोड़ से युक्त कहलाता है। 'समान प्रतीत होने' इस कथन का आधार 'अर्थभेद में शब्दभेद' सिद्धान्त ही है। उद्भट के काव्यालङ्कारसारसंग्रह की टीका लघुवृत्ति में प्रतीहार-नुराज ने भी लिखा है—

'अर्थभेदेन तावच्छब्दा भिद्यन्त इति मञ्जुवर्मदस्य सिद्धान्तः ।'

किन्तु उद्भट ने ऐसे शब्दों के श्लेष का अलङ्कार शब्द को न मान अर्थ को मान लिया—

'पदै, द्विविधैरर्थशब्दोक्तिविशिष्ट तत'

—पद दो प्रकार के होते हैं—( १ ) एकोच्चारण वाले और ( २ ) भिन्न उच्चारण वाले। इन दो प्रकार के पदों से श्लेष भी दो प्रकार का होता है अर्थश्लेष और शब्दश्लेष एकप्रयत्नोच्चार्य शब्दश्लेष दूसरे शब्दों में अमगश्लेष ही है। इस पर मम्मट ने आपत्ति उठाई और कहा जब श्लेष शब्द में माना [ अर्थात् श्लेष का आश्रय शब्द को माना ] तब अलङ्कार्य अर्थ कैसे माना जा सकता है। रहे श्लेष किसी में और अलङ्कृत करे किसी को यह बात तर्कशून्य नहीं कही जा सकती। और हसीलिप अमग श्लेष को अर्थाङ्कार नहीं माना जा सकता। वह शब्दाङ्कार ही है।

एक प्रश्न और उपस्थित हुआ। यह कि अमग श्लेष में अर्थभेद से शब्दभेद मानना और फिर शब्द में ही श्लेष स्वीकार करना कहां तक वास्तविक है। यह केवल शास्त्रमति ही है, या इसमें कोई यथार्थ भी है। इसका उत्तर मम्मट ने तर्कशास्त्र की दुहाई देकर दिया। उन्होंने कहा अमगश्लेष में श्लेष का आश्रय कौन है यह तथ्य अन्वय और व्यतिरेक की कसौटी से परखा जा सकता है। यदि शब्द के हटा दिए जाने से श्लेष न हटे तो वह अवश्य ही शब्द का श्लेष न होगा, अर्थ का ही श्लेष होगा। 'रक्तच्छदत्व'-आदि अमग श्लेष के स्थलों में स्थिति ऐसी नहीं है। यहाँ यदि 'रक्तच्छद' शब्द के स्थान पर 'रक्तपत्र' शब्द दे दिया जाय तो इस शब्द का अर्थ अमग पक्ष में लागू नहीं होगा, फलतः श्लेष नष्ट हो जाएगा। विकच शब्द भी नहीं हटाया जा सकता। 'विकेश' या 'विकसित' कहने पर एकान्वयी अर्थ ही निकलता है अतः श्लेष नष्ट हो जाता है। इस प्रकार श्लेष का आश्रय अमग श्लेष में भी शब्द ही होता है।

अलङ्कारसर्वस्वकार और जयरय ने मम्मट की इस तार्किकता को सहृदयता से काटने की कोशिश की। अन्वयव्यतिरेक को इन दोनों ने कार्यकारणभाव का निवामक माना, अलङ्कार का नहीं। अलङ्कार को इन्होंने आश्रयाश्रयिभाव पर ही निर्भर मानने का पक्ष प्रस्तुत किया है। यह उनके अभी आप यन्थाश से ही स्पष्ट है। लोक में जैसे केयूर का कारण सुवर्ण होता है किन्तु वह अलङ्कार होता है मुजा का, इसलिए केयूर के अन्वयव्यतिरेक सुवर्ण के साथ रहने हैं, सुवर्ण के न रहने पर केयूर नहीं रहता और रहने पर रहता है, जब कि अलङ्काराङ्कारभाव मुजा के साथ, जो केयूर का आश्रय है। फलतः अलङ्काराङ्कारभाव आश्रयाश्रयिभाव पर निर्भर माना जाना चाहिए। अमगश्लेष में जहाँ तक आश्रय का सम्बन्ध है इसका निर्णय कल्पित शास्त्रसिद्धान्त पर नहीं, अनुभव और सन्निति पर किया जाना चाहिए, क्योंकि यह क्षेत्र काव्य का क्षेत्र है। सन्निति में अमगश्लेषस्थल में द्वैत अर्थगत ही मासित होता है, शब्दगत नहीं। फलतः शब्द एक वृत्त = वृत्तल है, जिसमें दो अर्थ के दो फल होने हुए हैं।

फल दो हों तो वृत्त को भी दो मानने की नासमझी कोई नहीं करता। वृत्त के एक होने से उसमें श्लेष या जोड़ का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। प्रश्न फल में ही उठ सकता है क्योंकि द्वैत यहाँ है। फलतः श्लेष व्यर्थों में ही है। अर्थ ही श्लेष के आश्रय है। अर्थ ही श्लेष के अलङ्कार्य है।

श्लेष अर्थ का ही अलंकार है। और सच भी है। वह और बेटे यदि आश्लेष करें तो उसे अलंकार सात सष्टर का नहीं माना जा सकता।

निश्चित ही इन आचार्यों को तर्क सुन्दर और समर्थ हैं। प्रातीतिक भेद मानकर शब्द में श्लेष की सिद्धि अवश्य ही शास्त्रमत्ति है।

मनमट के अन्वयव्यतिरेक पक्ष का पुनर्बोध करने पर कुछ और भी विवशताएँ सामने आती हैं। अन्वयव्यतिरेक अलंकारालंकारभाव को लिए भी अत्यन्त उपेक्षणीय नहीं है। यह अवश्य ही एक विचारणीय तथ्य है कि शब्द को बदल देने पर अमंगलश्लेष क्यों समाप्त हो जाता है। आश्रयाश्रयिभाववादी उक्त दोनों आचार्य इसका उत्तर यह देंगे कि शब्द के साथ श्लेष का कारणकार्य-भाव संबन्ध है। अर्थों का श्लेष संभव नहीं होता जब तक रक्तच्छदत्व आदि उभयान्वयी शब्द का प्रयोग नहीं होता। फलतः द्वयर्थक शब्द ही विभिन्न अर्थों को श्लेष का कारण है। अर्थ यह कि श्लेष अर्थों में ही रहता है तथापि वह तब तक संभव नहीं होता जब तक विशिष्ट शब्द का प्रयोग न हो। इस प्रकार अन्वयव्यतिरेक से अमंगल श्लेष में कारण तो शब्द ही सिद्ध होता है तथापि श्लेष रहता अर्थों में ही है। सुमित्रा के गर्भ में लक्ष्मण और शत्रुघ्न जुड़े हुए थे। सुमित्रा एक ही थी। शत्रुघ्न के लिए दूसरी और लक्ष्मण के लिए दूसरी नहीं। इसीलिए श्लेष—जोड़ केवल लक्ष्मण और शत्रुघ्न में ही था, कारणभूत सुमित्रा में नहीं। अन्वयव्यतिरेकवादी श्लेषी और से यह कहा जा सकता है कि दो विभिन्न अर्थों में श्लेष उत्पन्न करने की जो क्षमता 'रक्तच्छदत्व' आदि द्वयर्थक शब्दों में रहती है वह क्षमता अपने आप में कोई विशिष्ट धर्म है या नहीं। उससे कोई चमत्कार काव्य में आता है या नहीं। अवश्य ही वह चमत्कार में अंशतः प्रयोजक है। इसके अतिरिक्त अभिन्नानुपूर्वीक अतएव एकप्रयत्नोच्चार्य शब्दों में यदि वास्तविक भेद नहीं रहता और उनका श्लेष एक प्रातिमासिक या कल्पित श्लेष है तो ऐसे शब्द से प्रतीत दो अर्थों का श्लेष वास्तविक है इसमें भी क्या प्रमाण। एकशब्दवाच्य होने से उनमें सहसा भेद लक्षित नहीं होता केवल इतना ही अनुभवसिद्ध है। दोनों शब्द जुड़े रहते हैं यह नहीं। और यदि ऐसा कोई श्लेष अमंगलश्लेष के अर्थों में रहता है तो वह समंगल श्लेष के अर्थों में भी रहता ही है। तब समंगल श्लेषको उभयालंकार क्यों नहीं माना जाता। यदि यह कहा जाय कि समंगल श्लेष में शब्दों के अनुकाष्ठवत् जोड़ के कारण अर्थों में जोड़ रहता, अर्थों का जोड़ वहाँ स्वाधीन नहीं होता तो यही बात अमंगल श्लेष में कही जा सकती है। वहाँ भी अर्थश्लेष शब्दश्लेष पर निर्भर है केवल अनुकाष्ठवत् शब्दों में श्लेष ही वहाँ लक्षित नहीं होता। तब यदि शब्द के कारण होने से समंगलश्लेष में श्लेष शब्द का अलंकार है तो अमंगलश्लेष में भी कारण होने से श्लेष को शब्द का ही अलंकार क्यों नहीं माना जा सकता। एक बात और। यह कि अलंकार्य अलंकार का आश्रय हो हो यह आवश्यक नहीं है। यदि वाक्यार्थ में भावादि सामग्री नहीं हो तो उसमें आप रूपक आदि अलंकार नहीं माने जाते। भावादि सामग्री अलंकाराश्रय नहीं होती। अलंकाराश्रय अर्थ होता है और वह उससे व्यक्त होती है। इस प्रकार जब अलंकार्य अलंकाराश्रय से भिन्न सिद्ध होता है तब जिसमें श्लेष हो उसी को श्लेष का अलंकार्य और उसी के प्रति श्लेष को अलंकार मानना ठीक नहीं है। फलतः अमंगल श्लेष में भले ही श्लेष अर्थों में हो तथापि अर्थ ही श्लेष का अलंकार्य हो यह नहीं माना जा सकता। अलंकार्य वह होता है जिसमें शोभा का आधान हो। और अमंगल श्लेष में भी शोभा का आधान समंगल श्लेष के ही समान शब्द में ही होता है। वहाँ अर्थद्वयवाचकता से शोभा आती है अतः वह शब्द में ही रहती है। दूसरे शब्दों में श्लेष-प्रतिपादकता शब्द में होने से शब्द ही अलंकार्य माना जा सकता है, अर्थ नहीं, इसे शास्त्रकारों ने 'तन्त्र' शब्द से पुकारा है। तन्त्र का अर्थ एकाधिक अर्थों का प्रतिपादक शब्द माना जाता है।



फलतः अधिक अञ्छा हो कि मम्मट और अलङ्कारसर्वस्वकार अपने पूर्ववर्ती आचार्य उद्भट और अर्थभेद से शुब्दभेद मानने वाले अन्य दार्शनिकों का मुल्हाद्दिजा न कर अमंग इन्धे के स्थान पर 'तन्त्रालङ्कार' नामक एक स्वतन्त्र अलङ्कार को स्वीकार करें।

पण्डितराज जगन्नाथ तथा विश्वेश्वर ने इन मनभेदों का उन उन आचार्यों के नाम के साथ अनुवादमात्र कर दिया है। इन पर अपनी ओर से कोई टिप्पणी नहीं है।

### विमर्शिनी

तन्, एव रूपस्यास्य 'निरवकाशा द्वि विधयः सावकाशान्विधीन्याघन्ते' इति नीत्या निरवकाशावात्सर्वालङ्कारापवादकत्वं क्वचिदाहुरित्याह—एष चेत्यादि।

'जो विधि निरवकाश होनी है वे सावकाश विधियों को बाधित कर उनके स्थान पर चरितार्थ मानी जाती है' इस सिद्धान्त के अनुसार उक्त प्रकार के हम इन्धे को निरवकाश मानकर कुञ्ज [ उद्भट आदि ] आचार्य अन्य सब अलङ्कारों का अपवाद या बाधक मानते हैं। प्रत्यकार इनी तस्य को प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं—

### [ सर्वस्य ]

एव च नाप्राप्तेष्वलङ्कारान्तरेष्वारभ्यमाणस्तद्वाचकत्वेन तदप्रतिभोत्पत्तिहेतुरिति केचित् । 'येन ध्वस्तमनोभवेन घल्लिजित्कायः पुरास्त्रीकृतः' इत्यादौ विविक्तोऽस्य विषय इति निरवकाशात्त्वाभावात्प्रान्यवाचकत्वमित्यन्यैः सह संकरः, दुर्यलत्वाद्वा वाच्यत्वमित्यन्ये । तत्र पूर्वेषामयमभिप्रायः । इह प्राकरणिकाप्राकरणिकोभयरूपानेकार्थगोचरत्वेन तावत्प्रतिष्ठितोऽयमलङ्कारः । तत्राद्यं प्रकारद्वयं तुल्ययोगिताया विषयः । तृतीये तु प्रकारे दीपकं भवतीति तावदलङ्कारद्वयमिदं श्लेषविषयं व्याप्या व्यवतिष्ठते । तत्पृष्ठे चालङ्कारान्तराणामुत्थानमिति नास्ति विविक्तोऽस्य विषयः । अत एवालङ्कारान्तराणां वाधितत्वात्प्रतिमानमात्रेणावस्थानम् । 'येन ध्वस्तमनोभवेन' इत्यादौ च प्राकरणिकत्वाद्द्वयस्य तुल्ययोगितायाः प्रतिमानम् । एवं च 'सफलकलं पुरमेतज्जातं संप्रति सुधांशुविष्यमिव' इत्यादौ न गुणक्रियासाम्यवच्छब्दसाम्यमुपमाप्रयोजकम् अपि तूपमाप्रतिभोत्पत्तिहेतुः श्लेष एवावसेयः । श्लेषगमं तु रूपके रूपकहेतुकस्य श्लेषस्य तृतीयकक्षार्या रूपक एव विश्रान्तिरिति रूपकेण श्लेषो वाध्यते : श्लेषविशेषणनियन्धनायां च समासोक्तौ विशेष्यस्यापि गम्यत्वाच्छ्लेषस्य वाधिका समासोक्तिः ।

[ उद्भट आदि ] कुञ्ज आचार्यों की मान्यता है कि यह [ इन्धे ] जहाँ-जहाँ होता है वहाँ अन्य कोई अलङ्कार अवश्य ही उपस्थित रहता है [ न अप्राप्त = इसमें आए दो निषेध आवश्यकत्व के वाचक हैं ] इसलिए यह अन्य अलङ्कार का बाधक होता है, फलतः वहाँ इन्धे के कारण अन्य अलङ्कारों का आभासमात्र [ प्रतिमा ] हो पाता है [ अन्य अलङ्कार अलङ्कारत्वेन प्रकृत नहीं हो पाते ] ।

इसके विरुद्ध [ मम्मट आदि ] अन्य आचार्यों का मन है कि 'इन्धे' 'येन ध्वस्त' आदि स्थलों में अन्य अलङ्कारों की बाधा से रहित है, अत्र इन्धे निरवकाश नहीं है फलतः यह अन्य अलङ्कारों का बाधक नहीं है। निदान अन्य अलङ्कारों के साथ इसका मकर = मिश्रण हो सकता है अथवा दुर्बल होने के कारण अन्य अलङ्कारों के द्वारा यही बाधित माना जा सकता है।'

इनमें से प्रथम आचार्यों का अभिप्राय यह है—'यह तो सर्वमान्य है कि यह (श्लेष) अलंकार प्राकरणिक, अप्राकरणिक अथवा उभयरूप को अनेक अर्थ होते हैं उनको लेकर प्रतिष्ठित होता है। इनमें से प्रथम दो प्रकार के अर्थ तुल्ययोगिता का विषय हैं और तीसरा प्रकार दोषक का। इस प्रकार ये दो अलंकार श्लेष के संपूर्ण क्षेत्र को व्याप्त किए रहते हैं। इनके पीछे [उपमा आदि] अन्य अलंकार भी उठते दिखते देते हैं। इसलिए इस [श्लेष] का ऐसा कोई स्थल नहीं है जिसमें केवल श्लेष माना जा सके। इसलिए अन्य अलंकारों को श्लेष से बाधित मानना पड़ता है और श्लेषस्थल में उनके अस्तित्व का आभासमात्र स्वीकार करना पड़ता है। [विविक्त विषय के रूप में जो उदाहरण प्रस्तुत किया गया है उस] 'येन ध्वस्तमनोमवेन०' में भी दोनों अर्थ प्राकरणिक हैं अतः तुल्ययोगिता का आभास होता ही है। इस प्रकार गुण और क्रिया के साम्य के ही समान सकलकल [कलकल शब्द-सहित] यह नगर इस समय चन्द्रबिम्ब सा [सकलकल = सकल कला से युक्त] हो गया है' इस स्थल में [मम्मट ने जो] शब्द के साम्य को भी उपमा का प्रयोजक [माना है वह] नहीं माना जा सकता, अपितु यहाँ [उस अंश में] श्लेष माना जाना चाहिए जिससे उपमा का तो आभासमात्र रह जाता है। [ 'विद्वन्मानस' आदि परम्परित रूपक में ] रूपक जहाँ श्लेष से युक्त माना गया है वहाँ रूपक श्लेष से इसलिए बाधित नहीं होता कि वहाँ [पहले राजा पर हंस के रूपक की प्रतीति होती है तब वह] रूपक [मानस में] श्लेष को जन्म देता है तदनन्तर [वाक्यार्थ की] तीसरी कक्षा में रूपक की प्रतीति में [वाक्यार्थ की] विश्रान्ति होती है। किन्तु समासोक्ति जहाँ श्लेषयुक्त विशेषणों से युक्त होती है वहाँ विशेष्य के [शब्दतः कथित न होकर] गम्य होने से समासोक्ति ही श्लेष की बाधिका होती है। और—

### विमर्शिनी

केचिदिति, उद्गटादयः। केचित्पुनर्विषयवैविध्यस्य संभवाक्षिरवकाशत्वाभावात्तस्य सर्वालंकारापवादकत्वमभ्युपयन्तीत्याह—येनेत्यादि। अन्यथा इति माहशाः। विविक्तोऽस्य विषय इति तुल्ययोगिताया अत्राभावात्। सा हि द्वयोरपि प्रकृतयोरप्रकृतयोर्वा विशेष्ययोः पृथगुपादाने औपम्यस्य च गम्यत्वे भवति। इह तु तदभावः। विशेष्ययोः पृथगनुपादानात् औपम्यस्य च गम्यत्वाभावात्। न ह्यत्रोपाधवस्य साधवेन तेन वा तस्य सादृश्यं विवक्षितम्। एकेनैव शब्देन श्लेषतत्पर्यार्थद्वयस्य प्रतिपिपादयिषितत्वात्। अत्र हि परस्परनैरपेक्षयात् तयोर्माधववाक्यार्थपरामर्शवैलायां साधववाक्यार्थपरामर्शमात्रमपि नास्तीति को नामौपम्यस्यावसरः। तस्मादेवमादावलंकारान्तरविविक्तविषयत्वाच्छ्लेषतायाश्चोद्भुरकंधरीभावेन प्रतीतेर्न निरवकाशः श्लेषः। अन्यैः सह संकर इति द्वयोरपि तुल्यकक्षताप्रतीतेः। बाध्यत्वमिति। श्लेषस्य पुर्वलत्वात्तलंकारान्तराणां च बलवत्त्वात्। एतच्च ग्रन्थकृद्वाग्रे दर्शयिष्यतीति नेहायस्तम्। तदेवमस्य सर्वालंकारापवादकत्वं न युक्तम्। अन्यालंकारवदेव बाध्यबाधकभावाद्दिदर्शनात्। एतच्छालंकारसारङ्गता सप्रपञ्चमुक्तमितीह ग्रन्थविस्तरभयात् तथा नोक्तम्। पूर्वमिति, उद्गटादीनाम्। अविप्रतिपत्ति-द्योतकस्तावच्छब्दः। व्याप्त्येति। सर्वलक्ष्यव्यापकत्वेन, सर्वत्रैवास्य त्रिरूपत्वात्। तस्य इति तुल्ययोगितादीपकोपरि। अलंकारान्तराणामिति उपमादीनाम् उत्थानमिति। तुल्ययोगितादीपकाभ्यामपि तत्प्रतीतेरुद्देशात्। अत एवेति। तस्य विविक्तविषयत्वासंभवात्। प्रतिमानमिति आभासमात्रम्। न पुनस्तत्रैव विश्रान्तिरित्यर्थः। एतच्च यथा नोपपद्यते तथा समन्तरमेवोक्तम्। तदेवं स्वमतोपोद्गलनाय पूर्वमन्यान्यैः सह संकरो दुर्वलत्वादावाध्य-

खमिति यदुक्तं तदेव प्रपञ्चयिनुमेतत्कर्तुं तावदन्यालंकारवाध्यर्थं दर्शयति—श्लेषेत्यादिना । तृतीयकक्षायामिति । प्रथमकक्षायां हि रूपरुप्रतीतिरेव । द्वितीयकक्षायां तु श्लेष-प्रतीतिः । श्लेषस्य सर्वालंकाराणां स्वमिच्छन्निरस्यौद्धटैवंदन्यालकारवाध्यत्वमेतत्स्योक्तं तत् स्ववचनविशुद्धप्रायमेतेषामिति च्वनयितुं तदुक्तमेव रूपकसमासोक्तिवाध्यत्वमेतस्य ग्रन्थहृत्तेह दर्शितम् । बाध्यत इति विद्वन्मानसहमेत्यादौ । बाधकेति उपोढरागेनेत्यादौ ।

केचित् = कुछ उद्गादि आचार्य । किन्तु [ मम्मट आदि ] कुछ [ आचार्य ] इसे अन्य सब अलंकारों का अपवादक नहीं मानते क्योंकि वे इसे निरवकाश नहीं मानते, एतदर्थं वे हमका स्वतन्त्र [सर्वालंकार रहित] विषय बतलाते हैं । इस तथ्य को लिखते हुए कहते हैं—'येन ध्वस्त' इत्यादि । अन्यैः = अन्य मुझ जैसे [ अर्थात् स्वयं ग्रन्थकार जैसे ] । 'विविक्तोऽस्य विषयः = 'इस श्लेष का अलंकारान्तराण्य विषय' क्योंकि यहाँ [ 'येन ध्वस्त'-पद्य में ] तुल्ययोगिता नहीं है । वह तब होती है जब केवल प्रकृत या केवल अपकृत विशेष्यों का पृथक् पृथक् उपादान हो तथा सादृश्य गम्य हो । इस [ येन ध्वस्त ] पद्य में उस [ तुल्ययोगिता ] का अभाव है क्योंकि यहाँ विशेष्यों का उपादान पृथक् नहीं हुआ है तथा सादृश्य गम्य नहीं है । ऐसा नहीं है कि इस पद्य में उमाधव [शुकर] का माधव से या माधव का उमाधव से सादृश्य विवक्षित हो । यहाँ तो दोनों अर्थों का एक ही शब्द के द्वारा श्लेषरूप से प्रतिपादन अमोष्ट है । यहाँ तो उन [ दोनों पक्षों ] में परस्पर निरपेक्षता होने से जब उमाधव-सम्बन्धित वाक्यार्थ की प्रतीति होती है तब माधववाक्यार्थ का परामर्शमात्र तक नहीं रहता । तब यहाँ सादृश्य का अवसर ही क्या हो सकता है । इस कारण ऐसे स्थलों में श्लेष अन्य अलंकारों के रूपों से रहित रहकर विद्यमान है, तथा यहाँ श्लेषता प्रमुख रूप से परिलक्षित दिखाई दे रही है फलतः इसे निरवकाश नहीं कहा जा सकता । अन्यैः सह संकर — अन्यो के साथ संकर—क्योंकि दोनों समानरूप से प्रतीत होते हैं । वाध्यत्वम् = बाध्य होना' = क्योंकि श्लेष दुर्बल होता है और अन्य अलंकार प्रबल । इसे स्वयं ग्रन्थकार ही आगे दिखलाये इसलिये इसके विवेचन पर यहाँ श्रम नहीं किया जा रहा । तो इस प्रकार इस [ श्लेष ] का सभी अलंकारों को बाधित कर उनका अपवाद माना जाना ठीक नहीं है । क्योंकि [ उपमा और रूपक आदि ] अन्य [ स्वतन्त्र ] अलंकारों के ही समान बाध्यबाधक-भाव [ तथा स्वतन्त्र विषयता ] आदि दिखाई देते हैं । इसका विस्तृत विवेचन अलंकारसारकार ने कर रखा है । इसलिये उतने विस्तार के साथ यहाँ विवेचन नहीं किया जा रहा । इससे ग्रन्थ विस्तार का भी भय था [ इससे स्पष्ट है कि विमर्शिनोकार मूल के विशुद्ध मम्मट के समर्थक हैं ] पूर्वेषाम् = प्राचीन = उद्घट आदि । तावत्—शब्द इस बात का चोतक है कि इस विषय में विपक्षी को भी आपत्ति नहीं है । व्याप्यता = व्याप्त कर = लक्ष्य के सर्वदेश में व्याप्त होने से क्योंकि तीन रूपका यह [ श्लेष या अर्थ ] सर्वत्र किसी न किसी रूप में दिखाई देता है । तरपृष्ठे = उसके पीछे अर्थात् तुल्ययोगिता और दीपक के ऊपर । अलंकारान्तराणाम् = अन्य अलंकारों का अर्थात् उपमा आदि का । उत्थानमिति = क्योंकि उन [ अन्य अलंकारों ] की प्रतीति तुल्य-योगिता और दीपक से ही उठती है । अतएव = इसीलिये अर्थात् विविक्तविषयता = स्वतन्त्र-क्षेत्र न होने से । प्रतिमानम् = आमासमाप्त । अर्थ यह कि विश्रान्ति इसी में नहीं होती । किन्तु वह तथ्य त्रिस प्रचार सिद्ध नहीं होता वह अभी अभी कहा जा चुका है । इस प्रकार अपने मन के समर्थन के लिए पहले जो कहा है कि—'इसका अन्य अलंकारों के साथ या तो संकर रहता है या फिर दुर्बल रहने पर अन्य अलंकारों से बाधित, इसी को और अधिक विस्तार में प्रतिपादित करने के लिए अब यह बतलाते हैं कि यह अलंकार अन्य अलंकारों को बाध देता है—श्लेष-

इत्यादि के द्वारा । 'तृतीयकषायाम्—तृतीय कक्षा में' = प्रथम कक्षा में रूपक की ही प्रतीति होती है । श्लेष की प्रतीति होती है द्वितीय कक्षा में । 'उद्भटानुयायी आचार्य एक ओर तो श्लेष को सभी अलंकारों का बाधक बतलाते हैं और दूसरी ओर वे ही कुछ अलंकारों से उसे बाधित होता हुआ भी बतलाते हैं, यह उनके द्वारा अपनी मान्यता का ही विरोध है'—इस तथ्य को ध्वनित करने के लिए उन्हीं [ उद्भट आदि ] के द्वारा प्रतिपादित श्लेष का रूपक और समासोक्ति से बाधित होना ग्रन्थकार ने यहाँ दिखलाया । बाध्यते = बाधित होता है—'विद्वन्मानसहंस' इत्यादि [ शिल्प परम्परित रूपक ] में । बाधिका = 'उपोढरागेण' इत्यादि पणों में ।

विमर्श—'नाप्राप्ते' = का मूल 'येन नाप्राप्ते य आरभ्यते स तस्य बाधकः'—यह है । इसमें येन की तृतीया का अर्थ है कर्तृत्व, प्रतिषेधद्वय का अर्थ है आवश्यकत्व, क प्रत्यय का अर्थ है भाव । इस प्रकार न्याय की भाषा में इस वाक्य का अर्थ निकलेगा—

'यत्कर्तृकावश्यप्राप्ते य आरभ्यते स तस्य बाधकः' । पुनः येन के 'यत्'—शब्द का अर्थ है व्यापकत्व और यः इसके यत् शब्द का अर्थ है व्याप्यत्व । अतः न्याय की भाषा में अर्थ होगा—

'व्यापकस्यैव सर्वत्र प्राप्ते निरवकाशो व्याप्यस्तं [ व्यापकं ] बाधते ।'

इन्हीं तथ्यों को ग्रन्थकार ने 'नाप्राप्तेषु आरभ्यमाणः' तथा 'व्याप्या'—इन अंशों द्वारा सूचित किया था । पण्डितराज ने श्लेष पर उद्भट का मत इसी प्रकार स्पष्ट किया है—अनाहुशुद्धाचार्याः—'येन नाप्राप्ते य आरभ्यते स तस्य बाधकः' इति न्यायेनार्लंकारान्तरविषय एवायमारभ्यमाणोऽलंकारान्तरं बाधते ।' यह उद्भट के मत का अलंकारसर्वस्व पर आश्रित भावानुवाद मात्र है । उद्भट की उक्ति इस विषय पर ऐसी है—

'दिलष्टन्, अलंकारान्तरगतां प्रतिमां जनयत्०' १४९, १०१

—दिलष्ट अलंकारान्तर की प्रतिमा उत्पन्न करता है । उद्भट ने इस विषय में इससे अधिक कुछ नहीं लिखा । केवल उदाहरणमात्र प्रस्तुत कर दिए हैं—

'प्रमातसन्ध्येवास्वापफललुब्धेहितप्रदा'—

—पार्वती प्रमात सन्ध्या के समान थीं—अस्वापफललुब्धेहितप्रदा = [ पार्वती—न, सु आप फल = दुर्लभ फल पर लुब्धको र्हित = अभीष्ट फल देने वाली तथा प्रमात 'सन्ध्यास्वापफल = निद्राफल श्रमपरिहार पर लुब्धस्वाप फल लुब्ध, तद्विन्न अस्वापफललुब्ध उसमें हित = हितकारी अष्टष्ट उत्पन्न करने वाली ] इसी प्रकार—

'अदिन्दुसुन्दरी नित्यं मल्लबाण्यविन्दुका'

—पार्वती अविन्दुसुन्दरी भी थीं और उनसे लावण्यविन्दु सरते रहते थे [ विरोध ], [ परिहारार्थ— ] अप् = जल उसमें प्रतिविम्बित जो इन्दु = चन्द्र उसी सुन्दरी ।

प्रथम में उपमा और द्वितीय में विरोधालंकार है । उद्भट के अनुसार उसका अस्तित्व प्रातिभासिक मात्र है । वास्तविक सत्ता श्लेष की ही है । परन्तु उद्भट ने अपनी इस मान्यता को पुष्टि में कोई हेतु नहीं दिया । आनन्दवर्षनाचार्य ने इसे इसी रूप में स्वीकार कर लिया । उन्होंने ध्वन्यालोक के द्वितीय उद्योत में श्लेष को उपमा व्यतिरेक, विरोध आदि अलंकारों से पृष्ट होता हुआ कहा है और वहाँ 'येन ध्वस्त०' पद्य प्रस्तुत कर यह भी कह दिया है कि श्लेष वहाँ होता है जहाँ दोनों अर्थ अग्निधा द्वारा कथित होते हैं साथ ही वहाँ यदि अन्य कोई अलंकार भी बाध्य होता हो तो वहाँ श्लेष ही माना जाना चाहिए—'वस्तुद्वये द्रष्टृशक्त्या प्रकाशमाने श्लेषः, तथा—यत्र शब्दशक्त्या साक्षादलंकारान्तरं बाध्यं सद्य प्रतिभासते स सर्वः श्लेषविषयः' । [ पृ० २३५-३६

ची० सं० १९१७ ]। आनन्दवर्धनाचार्य के ही समान महिमथट्ट ने भी उद्भट के मत को स्वीकार कर लिया। उन्होंने व्यक्तिविवेक के द्वितीय विमर्श में अलंकारों की सीमा निर्धारित करते हुए और अनेक अलंकारों में वाच्यावचन दोष बनाने हुए लिखा है—

‘यत्र द्वि यदलंकारप्रतिमानुगुणशब्दोपरचित श्लेषः तत्र तदलंकारनिवन्ध तमेव श्लेषमभिव्यनक्ति, न तु तस्य विषयमतिक्रामति ।’ [ पृ० ३९५ ची० सं० २०२५ ]

‘इहाँ अिप्त अलंकार का आभास मात्र कराने के लिए की गई पदरचना से श्लेष बनता है, वहाँ वह अलंकार उसी श्लेष को अभिव्यक्त करता है, उस [ श्लेष ] के क्षेत्र में वह स्वयं नहीं घमकता।’ इसी तथ्य को फारिकारूप में उपनिबद्ध करते हुए उन्होंने लिखा—

‘यदलंकारव्यनक्तये ये शब्दात्प्रदितरोऽपि तैरेव ।

व्यन्येनाप्यसरेर्यदि तदसौ मृद्योत लाघवान्नान्य ॥’

व्यक्तिविवेक की टीका में भी अलंकारसर्वस्वकार ने श्लेष को निरवकाश मानकर अन्य अलंकारों का बाधक ही माना है—‘उपमोत्थापिते श्लेष भोपमा श्लेष बाधते, तस्य विविक्तविषयत्वाभावात्, श्लेषस्तु तां बाधते इति युक्तम् ।’ [ दृष्टव्य-पृ० ३९६ च० सं० नवीन संस्करण ]।

आनन्दवर्धनाचार्य ने श्लेष के विचार के पूर्व अररष्ट त्वर में श्लेष को अलङ्कारान्तर से पृथक् बतलाया था। मम्मट ने उसे पकड़ लिया। और उद्भट के मत के विरुद्ध श्लेष को अन्य अलंकारों द्वारा बाध्य बतलाने हेतु अपेक्षित अलंकारान्तर से श्लेष का पार्थक्य बनाने के लिए उन्होंने—

दिव ! त्वमेव पातालमाशानां स्वं निबन्धनम् ।

त्वं चामरमरुदभूमिरेको लोकत्रयात्मकः ॥’

—यह पद्य उद्भट्ट किया। इसका अर्थ है—हे राजन् ! आप लोकत्रयात्मक हैं, आप ही ‘पातालम्’ [ पाताल = आगलोक तथा पाता अलम् = पर्याप्त रक्षक ] हैं, आप ही आशानिबन्धन [ = आशा = दिशा उनके आधार पृथ्वीलोक, आशा = इच्छाएँ उनके आधार ] हैं, आप ही ‘चामर-मरुदभूमि’ [ च = और अमरमरुद = देवगण तथा पवन की भूमि = स्वर्ग तथा चामर—चँवर की भरत—इवा की भूमि=आरपद = विषय निम्नर चँवर डुले जाते हैं ]। परन्तु यहाँ राजा पर तीनों लोकों का आरोप है तथा ‘अन्य राजा जहाँ कोई एक कार्य करने तक सोमित हैं वहाँ यह राजा अन्य सब कार्य भी करता है अन- यद् उनसे उत्कृष्ट है’, इस व्यतिरेक का भी अस्तित्व है। अन- यह स्थल शुद्ध श्लेष का स्थल नहीं माना जा सकता। पण्डितराज ने भी रसगंगाधर में इन पद्य में रूपकप्रतीति मान मम्मट का खण्डन किया है। वस्तुतः स्वयं मम्मट ने भी इस स्थल में रूपक व्यतिरेक का रस अनुभव किया था। यह तथ्य उन्हीं के इस पद्य के बाद के ग्रन्थाश से शक्यता है। श्लेष की अलंकारान्तररहितता के लिए अलंकारसर्वस्वकार ने आनन्दवर्धनाचार्य द्वारा प्रस्तुत ‘येन ध्वस्तो’ पद्य चुना। इससे मम्मट की स्थापना को बल मिला।

मम्मट ने उद्भट्ट के मत का खण्डन करते हुए अन्य तर्क भी दिए थे। उन्होंने कहा था ‘पूर्वोपमा’ में साधारण चर्म को निष्पत्ति नियमन श्लेष से ही होगी, वहाँ यदि श्लेष को ही अलंकार माना जायगा तो पूर्वोपमा कहीं होगी ही नहीं—‘पूर्वोपमाया विषयापहार एव स्यात्’। इसी प्रकार उन्होंने व्यतिरेक, विरोध, रूपक आदि अन्य अलंकारों में भी श्लेष को निःशब्दक और व्यतिरेक आदि को ही निष्पाद्यरूप से प्रधान अलंकार माना है।

पण्डितराज जगन्नाथ ने इन दोनों पक्षों को अपनी भाषा में स्पष्टीकरण के साथ उद्भट्टमात्र कर दिया है। उनका संपूर्ण विवेचन सर्वस्वकार तथा विमर्शनीकार के मतों पर आश्रित है। सर्वस्वकार उद्भट्ट और ध्वनिकार के अनुयायी हैं और विमर्शनीकार मम्मट के। उन्होंने ‘येन ध्वस्त’

पद्य में तुल्ययोगिता का अभाव बड़ी बारीकी से सिद्ध किया है। पण्डितराज ने उसे स्वीकार कर लिया है। वस्तुतः 'येन ध्वस्त' पद्य में तुल्ययोगिता के अभाव की बात अलंकाररत्नाकर से ली गई है। अलंकाररत्नाकरकार ने सर्वस्वकार के—'इह प्राकरणिका—तुल्ययोगितायाः प्रतिमानम्'—इस कथन का भावार्थ स्पष्ट कर उसका निराकरण करते हुए कहा है—

—'येन ध्वस्तमनौभवेने'—त्यादौ यत्र प्रकृतयोरप्रकृतयोर्वा विशेष्ययोः सङ्गुपादानं तत्र तुल्ययोगितायाः अभावात् ।

—[ सर्वस्वकार का उक्त कथन अमान्य है ] क्योंकि तुल्ययोगिता में प्रकृत या अप्रकृत विशेष्यों का अनेक बार कथन रहता है, एक बार कथन रहने पर तुल्ययोगिता नहीं होती। 'येन ध्वस्त०' पद्य में विशेष्यों का कथन एक बार ही है अतः यहाँ तुल्ययोगिता नहीं है। आगे कोटि प्रकोटि चलाते हुए उन्होंने लिखा कि यदि आवृत्ति के द्वारा विशेष्यों का असङ्गुपादान मान लिया जाय तो धर्मों का उपादान भी उसी प्रकार आवृत्ति के द्वारा एकाधिक बार मानना पड़ेगा। उससे धर्मों में अनेकता चली जाएगी। तुल्ययोगिता या दीपक केवल धर्म की एकता में ही होते हैं। अतः आवृत्ति द्वारा विशेष्य की अनेकता मानने पर भी तुल्ययोगिता सिद्ध न होगी। इस प्रकार मम्मट, शोभाकर और जयरथ श्लेष की वाध्यता स्वीकार करते हैं जबकि उद्भट आनन्दवर्धन तथा अलंकारसर्वस्वकार अलंकारान्तर की। एकतर पक्ष के निर्णय के लिए एकमात्र चमत्कारप्रयोजकता को कसौटी माना जा सकता है। सहृदयों के अनुभव से चमत्कारनिष्पत्ति श्लेष या श्लेषेतर भिन्नसे सिद्ध होती हो उसीको अलंकार माना जाएगा। तब निरवकाशत्व और सावकाशत्व के शास्त्रीय जल्प अकिञ्चित्कर सिद्ध होंगे। जहाँ एकाध श्लेष विशेषण से उपमादि निष्पन्न होते हों वहाँ उपमादि का ही चमत्कार माना जा सकता है और जहाँ 'उदात्तोत्कलिका' आदि स्थलों में अनेक विशेषणों में श्लेष हो वहाँ निश्चित ही चमत्कार श्लेषयोगना से होगा। फलतः वहाँ श्लेष ही मानना उचित होगा। अलंकाररत्नाकरकार शोभाकरमित्र ने इस तथ्य को स्वीकार किया है और श्लेष को पांच स्थिति में मिलता बतलाया है—

प्रधानभूतालंकारवियोगात् सावकाशता ।  
कुत्रचिद् प्रतिभोरपत्तिहेतुत्वं क्वचिदज्ञता ॥  
क्वचिद् प्ररोहविरहात् प्रातिभत्वं परत्र च ।  
अनुप्राणकतास्येति श्लेषोऽयं पञ्चभूमिकः ॥

श्लेष पांच भूमिकाओं में निष्पन्न होता है—

( १ ) स्वतन्त्र भूमिका, जहाँ अन्य किसी अलंकार का इसके साथ मिश्रण नहीं होता। [ यथा—'येन ध्वस्त०'—पद्य में ]।

( २ ) अन्य अलंकारों की सत्ता प्रातिभासिक सिद्ध कर रहने की भूमिका। [ यथा—'सकलकलम्' इत्यादि पद्य में ]।

( ३ ) अप्रधानता की भूमिका, [ यथा—'विष्णुका बद्धस्थल समुद्रतट के समान वनमालाभरण है' इस वाक्य में 'वनमालाभरण' शब्द में वनमाला एक माला, वनमाला = सटवर्ती जंगल की पात यहाँ श्लेष उपमा का अंग है ]।

( ४ ) आभासात्मकता की भूमिका [ यथा—'अविन्दुसुन्दरी०' स्थल में विरोध की प्रधानता होने से श्लेष की आभासात्मकता ]।

( ५ ) अनुप्राणकता की भूमिका, [ यथा—समासोक्ति में ]।

## विमर्शिनी

एव श्लेषशालंकाराणां च परस्परं वाध्यबाधकभावं प्रकाशयान्यैः सहाभ्य संकीर्णत्वं दर्शयति—इह त्वित्यादिना ।

इस प्रकार [ उपयुक्त ग्रन्थ द्वारा ] श्लेष और अन्य अलंकारों का परस्पर में वाध्यबाधकभाव दिखलाया । अब श्लेष का अन्य अलंकारों के साथ साक्यं दिखलाने हुए लिखते हैं—

## [ सर्वस्य ]

इह तु—

‘प्रथीमयोऽपि प्रथितो जगत्सु यद्वाहणीं प्रत्यगमद् विवस्वान् ।  
मन्येऽस्तशैलात् पतितोऽत एव विवेश शुद्ध्यै वडवाग्निमध्यम् ॥’

इति श्लोके विवस्वतो वस्तुवृत्तसंभवि अधःप्रदेशसंयोगलक्षणं यत्पतितत्वं यच्च वडवाग्निमध्यप्रवेशस्ते द्वे अपि प्रथीमयत्तसंयन्धिवारुणीगमनरूपविरुद्धाचरणहेतुकाभ्यां पतितत्वाग्निप्रवेशाभ्यामतिशयोक्त्या श्लेषमूल्या अभेदेनाध्यवसिते । सोऽयमेकक्रियायोगः । तद्धेतुका च मध्ये ‘अत एव शुद्ध्यै’ इत्युत्प्रेक्षा । अत्रात एवेति परामृष्टो विरोधालंकारालंकृतोऽर्थो हेतुत्वानोत्प्रेक्ष्यते । शुद्ध्यै इति च फलत्वेन । ततश्च हेतुफलयोर्द्वयोरप्यत्रोत्प्रेक्षा । विरोधालंकारस्य च विरोधाभासत्वं लक्षणम् । अतो विरोधाभासनसमय एव हेतुफलोत्प्रेक्षयोक्त्यानम् । उत्तरकालं तु विरोधसमाधिः । श्लेषस्य च सर्वालंकारापवादत्वाद् विरोधप्रतिभोत्पत्तिहेतुरयं श्लेषः ।

[ वेद- ] प्रथीमय रूप से त्रैलोक्य में प्रसिद्ध होने पर भी सूर्य वारुणी [ पश्चिम दिशा तथा मदिरा ] की ओर जो गया मैं सोचता हूँ कदाचिद् इसी से [ पतित होकर भीर ] अस्ताचल से गिरकर शुद्धि के लिए वडवाग्नि में प्रवेश कर रहा है ।

इस पदार्थ में अधःप्रदेश से सयुक्त होना रूपी जो वास्तविक पतितत्व = गिरना है और जो वडवाग्नि में प्रवेश करना है ये-दोनों वेदप्रथीमय होने पर भी वारुणीगमन करने रूपी विरुद्ध आचरण से जनित जो पतितत्व तथा अग्निप्रवेश है उनके द्वारा श्लेषमूलक अतिशयोक्ति के आधार पर अभिन्न रूप से अध्यवसित हैं और यह हुआ [ समासोक्ति का जनक सूर्य तथा धार्मिक पुरुषरूपी दो विभिन्न व्यक्तियों का अग्निप्रवेश रूपी ] एक क्रिया में अन्वित होना । इसके आधार पर निष्पन्न होती है ‘मैं समझना हूँ कि इसीसे शुद्धि के लिए’—यह [ हेतु-फलोत्प्रेक्षा रूपी ] उत्प्रेक्षा-इस [ उत्प्रेक्षाश ] में इसीसे [ अर्थात् विरुद्ध आचरण करने से ] इस प्रकार परामृष्ट जो विरोधालंकार है उन्मत्ते अलङ्कृत अर्थ हेतुरूप से उत्प्रेक्षित हो रहा है और [ वसतीमें ] ‘शुद्धि के लिए’ यह अर्थ फलरूप में । इस प्रकार यहाँ हेतु और फल दोनों की उत्प्रेक्षा हो रही है । और जो विरोधालंकार है उसका लक्षण है विरोधाभासत्व, अतः हेतु और फल की उत्प्रेक्षाओं का उत्थान उसी समय होना है अब विरोध का आभासात्मक ज्ञान होता रहता है । बाद में तो विरोध का समाधान ( परिहार ) हो जाता है । इधर श्लेष जो है वह सभी अलंकारों का अपवादक है अतः इस पद्य में श्लेष विरोधप्रतिभोत्पत्तिहेतु होकर स्वयं प्रधान अलङ्कार है ।

विमर्शिनी

वदवाग्निमध्यप्रवेशोऽपि वस्तुवृत्तसंभवीति विशेषणं लिङ्गविपरिणामाद् योऽयम् । ते द्वे इति, वदवाग्निमध्यप्रवेशपतितत्त्वे । पतितत्वाग्निप्रवेशाभ्यामिति, ब्राह्मण्यपरिचयाव-  
प्रायश्चित्तात्मकाभ्याम् । सोऽयमिति । यत् पतितत्वाग्निप्रवेशयोर्वस्तुतोऽन्यथास्थितयोरप्य-  
न्यथाभूताभ्यां ताभ्यामभेदेनाध्यवसायः । तद्धेतुकेति तच्छब्देन तद्विध्यायोगपरासर्शः ।  
फलत्वेनेति उपप्रेष्यत इत्यत्रापि संबन्धः । ततश्चेति हेतुफलयोर्द्वयोर्मुखेऽप्यमाणात्वात् ।

‘वस्तुवृत्तसंभवि’ = ‘वास्तविक’ यद् जो विशेषण है इसे लिङ्गपरिणाम [ नपुंसकलिङ्ग को पुंलिङ्ग में ‘वस्तुवृत्तसंभवी’ इस प्रकार बदल ] कर भन्वित करना चाहिए । ते द्वे = वे दोनों अर्थात् वदवाग्नि में प्रवेश और पतितत्व । ‘पतितत्वाग्निप्रवेशाभ्याम्’ = ‘पतितत्व और अग्निप्रवेश’ जो ब्राह्मण्य = ब्राह्मण्युक्ति से च्युत होने का प्रायश्चित्त है । ‘सोऽयम्’ = यह अर्थात् मूलतः भिन्न रूप के पतितत्व और अग्निप्रवेश भिन्न रूप के उन्हीं पतितत्व और अग्निप्रवेश द्वारा अभिन्न रूप से अध्यवसाय तद्धेतुका = इसमें तव शब्द से उपर्युक्त [ प्रवेश ] क्रिया में [ दो भिन्न व्यक्तियों के ] अन्वय का परामर्श है । फलत्वेन = फल रूप से = इसमें भी उपप्रेष्यते = उपप्रेक्षा की जाती है = इसका संबन्ध है । ततश्च = इस प्रकार = हेतु और फल इन दोनों की उपप्रेक्षा हो रही है इस कारण ।

विमर्शिनी

ननु विरोधालंकारस्य विरोध एव रूपं तस्य दृष्टत्वात् कृते च समाधाने विरोध एव नास्तीति विरोधालंकारोऽर्थः कथमत्रोपप्रेक्षायां हेतुत्वं भजत इत्यादाद्वयाह—विरोधस्यादि । यद्वच्यति—‘विरोधाभासत्वं विरोधः’ इति । अत एव च विरोधस्थाभासमात्रसारत्वाद् यथावभासं विश्रान्त्य भावात् प्ररोहो नापि बाधोऽपत्तिः, अपितु पैत्तिकञ्ज्वलस्तम्भतैमिरिक-  
चन्द्रद्वयावभासवद्विस्त प्रत्यय इति नात्र पूर्वं विरोधबोधः पश्चाद्विरोधधीरिति वाक्य-  
स्यावस्थात्त्वम् । ननु बाध्यनिपेक्षपरो नैतदेवमिति प्रत्ययरूपो बाधो बाध्यं च तथैव प्रतीयते चेत् किं तेन कृतं स्यादिति चेत्, स्वलङ्घित्वमिति द्रुमः । तथाहि शुकिकारजतमरीचिका-  
सलिलादिविभ्रान्तिष्विव नात्र प्रथमप्रवृत्तविचरद् प्रतिभासस्वभावबाध्यविज्ञानसमुत्पुंस-  
नेन बाधकत्वमुदेति, बाधोदयेपि पैत्तिकञ्ज्वलस्तम्भतैमिरिकचन्द्रद्वयावभासवद् विरुद्ध-  
प्रतिभासानिवृत्तेः । केवलमत्र तद्दशादेवानुपपद्यमानताकारा स्वलङ्घित्वैवावगम्यते ।  
स्वलङ्घित्वे च प्रतिपन्नव्यवहारं प्रति निमित्तत्वानुपपत्तिः । न हि पैत्तिकः स्वपित्तविका-  
राञ्ज्वलस्तम्भदर्शनं मन्यमानस्तत्र दाहपाकाद्यर्थितया प्रवर्तते । तिमिरदोषं वा जानान-  
स्तैमिरिकोऽपि यद्विश्वचन्द्रद्वयास्तित्वव्यवहारं विधत्ते । एवं बाधोत्पत्तेरनुपपद्यमानत्वात्  
स्वलङ्घित्वेन प्रतीयमानोऽपि विरोधो न प्रतिपन्नपेक्षोत्प्रेक्षणलक्षणव्यवहारनिमित्तभाव-  
मुपगन्तुमुत्सहते । यतोऽनुपपद्यमानत्वेन स्वलङ्घित्वमुपपद्यमानत्वेन च व्यवहारनिमित्त-  
त्वमिति परस्परविरुद्धत्वादनुभवविरोधाच्च तयोः कथमेकत्र समावेशो वदते । अतश्चाने-  
नैवाभिप्रायेणाह—अत इत्यादि । विरोधाभासनसमय एवेति, न तु बाधकोदयसमय  
इत्यर्थः । बाधोदयानन्तरं विरोधस्योत्प्रेक्षाहेतुत्वं न युज्यते इत्युपपादितं स्थितं चोत्प्रेक्षा-  
हेतुत्वं विरोधस्येति बाधोदयाप्रागेवाभ्यथानुपपत्त्या निश्चीयते । बाधस्य च स्वारसिकत्व-  
वस्तुत्वेः पर्यालोचनालभ्यत्वेन द्विविधस्यापि सर्वत्रोत्तरकालमेवोत्पासः संभवति । तस्य  
च बाध्यनिष्ठत्वाद्वाध्यस्य च पूर्वकालभावित्वात् । अन्यथा हि निर्विषयो बाधः स्यात् ।  
अतश्चोत्तरकालं तु विरोधसमाधिरिति भणितेरर्थमजानानेनायमर्थोऽन्वेषणीयः । यदि हि



घाघः प्रागप्युत्प्रेषायाः स्वाधिकारवशेन स्वरसत एवोक्तसेत् तदुक्तनीत्या उत्प्रेषोत्थानमेव न श्यादित्यथाधित एव विरोध उत्प्रेषाया निमित्तमित्युक्तमुत्तरकालं विरोधसमाधिरिति । स च समाधिरत्र दिगाघर्थाभिगमादब्रह्मभ्यत इति विरोधस्य श्लेषोऽङ्गम् । तद्भाषादेशाः श्योरथानात् । तथा आग्रानयोः सकर्णत्वमात्रमेव न पुनः संकरालंकारः । स तु यथा—

‘सजातपत्रप्रकराखितानि समुद्रहन्ति स्फुटपाटलध्वम् ।

विकारवराण्यकंकरप्रभावाद् दिनानि पद्मानि च वृद्धिमीयु ॥’

अत्र श्लेषपदस्ययोगितयोरैकवाचकानुप्रवेशेन सकरः । प्राच्याना मते पुनरेतत्प्रति-  
भोरपत्तिहेतुः श्लेषोऽयमित्याह—श्लेषस्येत्यादि । तेनाघः पञ्च स्वानिप्रायेण ग्रन्थकृतोक्तः ।  
यद्ब्रह्मभ्यतेच्छ्लोकविचार एव संकरालंकारे । अत्र प्रथमेऽर्थे विरोधप्रतिभोरपत्तिहेतुः  
श्लेषः । दशान्तरे तु विरोधश्लेषौ द्वावलंकाराविति ।

प्रथम = विरोधालंकार का स्वरूप विरोध ही है और वह अपने आप में दोष रूप है, फलतः  
उसका समाधान [ परिहार ] किया जाता है, और जब परिहार हो जाता है तब विरोध का  
अस्तित्व ही नहीं रहता । इस प्रकार विरोध से कोई अर्थ अलंकृत ही कैसे होगा जो उत्प्रेषा में हेतु  
बनेगा ।’ इस पर उत्तर देते हुए लिखते हैं—‘विरोध’ इत्यादि । जैसा कि आगे कहेंगे ‘विरोधा-  
भासत्व विरोध’ है । [ अलंकाररत्नाकरकार ने ‘त्रयीमयोऽर्थ’ पद्य और उसपर अलंकारसर्वस्वकार  
का मत उद्धृत कर उसका खण्डन करते हुए लिखा था—विरोध में समाधान शब्दलभ्य न होकर,  
सामाजिक की मानस अनुभूति से लभ्य होता है जो पर्यालोचनरूपी होती है । विरोध का बाध  
हो जाने पर भी शब्द से तो विरुद्ध अर्थ का ही ज्ञान होता रहता है । इसलिये विरोध का परिहार  
वाक्यार्थ का अंग कभी भी नहीं बनता, इसलिये यहाँ उत्प्रेक्षाप्रतीति के बाद परिहार का वाक्यार्थ  
में मानना ठीक नहीं । अन्त में विरोधपरिहार का अर्थ केवल इतना ही है कि विरोध प्रातीतिक  
है, वास्तविक नहीं । अन्त में परिहार का अर्थ यह नहीं है कि आरम्भ में विरोध वस्तुतः रहता है  
और अन्त में उसका परिहार हो जाता है ( ३० पृ० १२, १३ पूना संस्करण ) । इसीको स्वीकार  
करते हुए किन्तु अलंकारसर्वस्वकार के मत का समर्थन ( खण्डन नहीं ) करते हुए विमर्शनीकार  
कहते हैं— ] और इसीलिये [ ग्रन्थकार के मत में ] विरोध के अभासमात्ररूप होने से उसकी  
प्रतीति पर्यवेसान में आरम्भ जैसी नहीं होती, फलतः न तो वह प्ररुद्ध ही हो पाता और न उसका  
परिहार ही होता अपितु यहाँ पित्तरीग से पीडित को जैसे जलते अग्निस्तम्भ दिखाई देते हैं  
अथवा तिमिररोग से पीडित को दो चन्द्र, वैसे ही दो अर्थों की प्रतीति मात्र होती है । इसलिये  
न तो यहाँ पहले विरोध का [ अभास रूप में ज्ञान न होकर विरोध रूप में ही ] ज्ञान होता  
और न बाद में अविरोध का ज्ञान होता, जिससे वाक्यार्थ को दो भागों में विभक्त किया जा सके  
[ प्रथम ] बाध ‘यह ऐसा नहीं है’ इस प्रकार के ज्ञान का नाम है । इससे बाध्य अर्थ का  
निषेध हुआ करता है । यदि यहाँ बाध और बाध्य दोनों की ही वैसी [ द्विवन्द आदि जैसी ]  
प्रतीति मान ली जाय तो उससे क्या होगा ? [ उत्तर = ] इससे विरोध का ज्ञान केवल अभासा-  
त्मकमात्र सिद्ध होगा । [ विरोध पूर्णतः कट नहीं आया ] विरोधालंकार के विरोध के परिहार  
में जो बाधकता होती है वह पहले से ही रहे अभासात्मक विरुद्ध ज्ञान रूपी बाध्य को उखाड़ कर  
नहीं होती वैसी कि शक्ति में हो रही है या मरुमरीचिका में होती जल की आन्ति में । यहाँ तो  
बाध की प्रतीति ही आने पर भी विरोधाभासरूपी बाध्य अर्थ इतना नहीं है जैसे पित्तव्याधिकार  
के समाने से असत्य रूप से विदित होने पर भी अग्निस्तम्भ नहीं इटता या तिमिररोग वाले  
के सामने से चन्द्रद्वैत । यहाँ केवल इतना होता है विरोध में अनुपपद्यमानता [ प्ररुद्ध न ही

—इस अर्थ में सरःश्री में नायिकात्व की प्रतीति का जहाँ तक संबन्ध है वह समासोक्ति से नहीं होती क्योंकि यहाँ विशेषणों का साम्य [ उभयान्वयित्व ] नहीं है। इसलिए यहाँ नायिका उपमानरूप से ही प्रतीत होती है न कि नायिकात्व की प्रतीति सरःश्री के धर्म के रूप में, इसलिए यहाँ एकदेशविवर्त्ती उपमा ही स्वीकार की जानी चाहिए। दूसरी कोई गति [ अलंकार ] है भी नहीं। एकदेशविवर्त्ती उपमा का जिन्होंने लक्षण नहीं किया है उन्हें भी इसका संग्रह करना ही चाहिए। जहाँ कहीं 'केशपाशालि०' आदि पद्यों में उपमा [ उपमित ] समास के द्वारा कथित रहती है, साथ ही अन्य समास के द्वारा विशेषणसाम्य की योजना भी संभव रहती है वहाँ 'औपम्यगर्भ विशेषण' से निष्पन्न समासोक्ति ही रहती है। इस प्रकार [ इन दोनों का परस्पर में ] कोई विरोध नहीं है।

### विमर्शिनी

अविप्रतिपत्तिद्योतनार्थस्तावच्छब्दः। कुत्रस्थेति। किमस्या निमित्तमिति भावः। तदानुगुण्यादिति। शरदो नायिकात्वप्रतीत्यनुगुणत्वात्। तयोरिति रविशशिनोः। कथमिति। अप्रकृतार्थाननुगुणत्वात् साम्यायोगात्। कथमत्र व्यवस्थेति। विशेषणसाम्यायोगात् समासोच्छेदप्राप्तेरेकदेशविवर्त्तिन्या उपमाया अनुक्तत्वात्। सामान्यलक्षणेति। उपमानोपमेययोः साधर्म्यं भेदाभेदसुषयत्वे उपमेति। एवमेकदेशविवर्त्युपमासामर्थ्यादेवात्र नायकत्वप्रतीतिरिति भावः। अथेति पश्चान्तरे। यदि चात्र पूर्वोक्तयुक्तयैवानुगुण्याद् रविशशिनोः समासोक्तिमुखेन नायकत्वप्रतीतिस्तद्भार्द्रनखक्षताभिमिति विशेषणं कथं साम्येन योजयितुं शक्यमित्याशङ्क्याह—तदत्रेत्यादि। एतदेव शास्त्रान्तरप्रसिद्धदृष्टान्तमुखेन हृदयंगमीकरोति—यथेत्यादिना। अग्निहोत्रं जुहुयादित्यनेनोत्पत्तिविधवाक्येन हि होमो विहितः। तस्य च पुनर्विधानमदग्धवहनन्यायेन यावदप्राप्तं तावद् विधेर्विषय इत्यभ्युपगमात् युज्यत इति तत्रायुक्तत्वादुपपदे दधिन संचार्थत इत्यर्थः। उपमानुप्राणितेति। औपम्यगर्भविशेषणोरथापितेत्यर्थः। समासोक्तिरेवेति। न पुनरेकदेशविवर्त्तिन्युपमा। गत्यन्तरमलंकारान्तरम्। यैरित्युद्गटादिभिः। यत्र त्वित्यादेर्ग्रन्थस्य पूर्वमेवास्माभिरभिप्राय उक्तः।

'तावत्'—'तो'—शब्द सूचना देता है अविप्रतिपत्ति की [ अर्थात् 'ऐन्द्र धनुः' पद्य में नायकत्व की प्रतीति रविशशी में होती है इसमें किसी की आपत्ति नहीं है ]। 'कुत्रस्था' = [ रविशशी में नायकत्व की प्रतीति ] हो कैसे रही है' = अर्थात् इस प्रतीति का मूल क्या है। तदानुगुण्यात् = उसके अनुरूप होने से = शरद् में हो रही नायिकात्व की प्रतीति के अनुरूप होने से। कथम् = कैसे [ 'भार्द्रनखक्षताभम्०' यह विशेषण ] [ नायिकारूपों ] अप्रकृत अर्थ के अनुरूप नहीं है [ क्योंकि नायिका में नखक्षत के समान इन्द्रचाप नहीं अपितु इन्द्रचाप के समान नखक्षत ही संभव है, अतः उक्त विशेषण में ] साम्य [ उभयान्वयित्व ] वन नहीं पाता। 'कथमत्र व्यवस्था' = 'यहाँ व्यवस्था कैसे दी जाए' = क्योंकि विशेषणसाम्य न होने से समासोक्ति हो नहीं सकती और एकदेशविवर्त्ती उपमा कहीं नहीं गई है। 'सामान्यलक्षणा०'—[ उपमा का ] सामान्य लक्षण = 'उपमान और उपमेय का समान धर्म के साथ ऐसा संबन्ध जिसमें भेद और अभेद [ प्रधान या अप्रधान न होकर ] समान हों उपमा [ नामक अलंकार ] कहलाता है, यह। इस प्रकार यहाँ नायकत्व की प्रतीति एकदेशविवर्त्ती उपमा से ही हो जाती है। 'अथ = इसके अतिरिक्त'—इस प्रकार दूसरा पक्ष प्रस्तुत किया जा रहा है। 'यहाँ यदि पूर्वोक्त युक्ति से ही अर्थात् [ शरद् के प्रति ] अनुरूप होने से ही रवि और शशी में समासोक्ति के द्वारा नायकत्व की प्रतीति मान ली जाए तो 'भार्द्रनखक्षताभम्' यह विशेषण [ दोनों पक्षों में ] समानरूप से कैसे अन्वित किया जा सकेगा ऐसी शंका कर

उत्तर देने हैं—तद्ग्रह इत्यादि। हमी तथ्य को दूसरे शास्त्र [ मीमांसा ] में प्रसिद्ध वृष्टान्त द्वारा हृदयंगम कराने हुए कहने हैं—‘यथा’—इत्यादि। ‘अग्निहोत्र जुहुयात्’ = ‘अग्निहोत्र के लिए हवन करे’ यह एक विधि वाक्य है। इसमें हवन की उत्पत्ति का विधान होता है। फलतः इससे हवन का भी विधान हो जाता है। उसी हवन का विधान पुनः [ ‘दध्ना जुहोति = दही से हवन करता है’ इस वाक्य के द्वारा ] किया जाय यह ठीक नहीं क्योंकि नियम यह है कि विधान उतने का ही होना है जिनका पूर्वतः प्राप्त नहीं रहता जैसे [ अन्नक आदि की भस्म बनाने में जो द्वितीय पुत्रीय पुट दिए जाते हैं उनमें ] आग उभो को जगती है जो पहले से दग्ध नहीं रहता। इमाल्प उस [ हवन ] में [ विधान के ] अशुक्त होने से उसका जो उपपद दही है उसमें विधान का संक्रमण माना जाता है। उपमानुप्राणिता = अर्थात् [ दही ] औपम्यगर्भ विशेषण से निष्पन्न समासोक्ति [ मानना उचिन है ] ‘समासोक्तिरेव’ = ‘समासोक्ति ही’ = अर्थात् एकदेशविवर्त्तो उपमा नहीं। ‘गायन्तर’ = ‘अन्य गति’ अर्थात् अन्य अलंकार नहीं है। यैः = जिनने अर्थात् उद्धृत आदि ने। यद्य तु इत्यादि को पक्ति है इसका अभिप्राय हम पहले ही [ हम अलंकार के आरम्भ में ] बना चुके हैं।

विमर्शः—[ क ] ‘अथात्र—नायकत्वप्रतीति’ इस पक्ति के कुछ अर्थों में पाठान्तर है। उनका विवरण इस प्रकार है—

१ अथात्र = यद्यप्यत्र—निर्णयसागर पाठान्तर।

२ नोपमानत्वेन = उपमानत्वेन—निर्णयसागर पाठान्तर।

३ नायकः स्वस्वरूपेण = नायकत्व स्वरूपेण—निर्णयसागर,  
नायकत्वम्—अनन्तशयन, मेहरचन्द्र

४ नायकत्वप्रतीतिः = नायकव्यवहारप्रतीति —निर्णयसागर मूल

नायकत्वप्रतीतिः—निर्णयसागर पाठान्तर, मोतीलाल शारदाप्रति,

नायकत्वव्यवहारप्रतीति मोतीलाल, अनन्तशयन, मेहरचन्द्र

समासोक्ति में अप्रकृतार्थ की प्रतीति प्रकृतार्थ से निरपेक्ष अर्थात् स्वतन्त्र रूप से नहीं होती, उपमा में अप्रकृतार्थ प्रकृतार्थनिरपेक्ष होकर ही प्रतीत होता है मने ही वह वाच्य हो या अवाच्य। इस स्थिति में ‘दिन्द्र धनुः०’ पद्य में अप्रकृत नायक और उसके व्यवहार की प्रतीति को प्रकृत रवि-शशी तथा उनके व्यवहार की प्रतीति से निरपेक्ष नहीं माना जा सकता, फलतः ‘नायकः स्वस्वरूपेण’ और ‘नायकत्वप्रतीति’ पाठ ही ठीक बैठता है। नायकत्व और नायकव्यवहार तत्त्वतः एक हैं इसलिए ‘नायकत्वव्यवहार’ पाठ में एक ही तत्त्व का कथन भाववाचक ‘त्व’-प्रत्यय से तथा ‘व्यवहार’ शब्द से होने के कारण पुनश्चि दोष है। सञ्जीविनीकार ने ‘रविशशिनोरेव नायकत्व-व्यवहारे प्रतीति’ ऐसा कह ‘नायकत्वव्यवहारप्रतीति’ को ही मूल माना है। इनकी हम पक्ति का अर्थ ‘नायकत्वरूपी व्यवहार किया जाय या ‘नायकत्वानुरूप व्यवहार’, ‘त्व’ और ‘व्यवहार’ दोनों में से कोई एक व्यर्थ ठहरता है। नायकत्वानुरूप व्यवहार के स्थान पर ‘नायकानुरूप’ व्यवहार भी कहा जा सकता है।

[ ख ] ग्रन्थकार ने जो धनुष को उपमान बनाकर नखशून को उपमेय बनाने का विवक्ष्य प्रस्तुत किया है यह केवल नायिकापक्ष की दृष्टि से संगत है। नायिका नखशून ही धारण कर सकती है जिस प्रकार शरद् इन्द्रधनुष ही। इस विशेषण को नायिकैक्यामी बनाने पर ‘तन्वी’ इत्यादि पद्य के ‘विकास’—धर्म के समान इस विशेषण को एकमात्र अप्रकृतपक्षीय विशेषण मानना होगा। किन्तु यह सब अत्यन्त अवैज्ञानिक है। कहा जाय ‘नखशून के समान धनुष’ और अर्थ निकाला जाय ‘धनुष के समान नखशून’ यह संभव ही कैसे है। अहाँ तक ‘दध्ना जुहोति’ का संवन्ध

है उसमें 'विधान' जुड़ोति से हटाकर दधि में संक्रान्त कर किया जा सकता है। उद्देश्यविषयभाव व्याकरण पर निर्भर नहीं रहता अतः उसे विवक्षा के अनुरूप खींचा-ताना जा सकता है। यहाँ नखद्वत का उपमानत्व 'अर्द्धनखद्वताम' इस प्रकार समास में आए आभा शब्द पर निर्भर है। यह श्लोक में धनुष के साथ नहीं जोड़ा जा सकता। इस प्रकार वह केवल शब्द का ही विशेषण बनता है और इससे धनुष उपमेय ही प्रतीत होता है उपमान नहीं। निदान इस विशेषण में उपमा ही मान्य है। शब्द में नायिकात्व और रधि तथा शशी में नायकत्व स्वतन्त्ररूप से प्रतीत नहीं होते, इसलिए उतने अंश में समासोक्ति मानी जा सकती है। पूर्ण वाच्यार्थ में चमत्कार उपमानुप्राणित समासोक्ति से ही माना जा सकता है किन्तु अनुप्राधानुप्राहकभावगूलक संकर की रीति से, न कि औपम्यगमित समासोक्ति की रीति से।

यहाँ ग्रन्थकार सर्पचुचुन्दरन्याय का शिकार हो गया है। पहले तो उसने उड्डट आदि के अनुकरण पर अथवा समासोक्ति पर अधिक मोह के कारण एकदेशविवर्ती उपमा नहीं मानी। जब यहाँ समासोक्ति का निर्वाह कठिन दिखाई दिया तो उसे राजनीतिक चाल चलकर मान लिया, किन्तु उसे समासोक्ति की निर्वाह स्थिति का मोह सताने लगा और उसने उपमानत्व का भवन धनुष में करना शुरू कर दिया। इसीलिए इनकी इस नववस्था का अनुमोदन न पण्डितराज ने किया है और न विश्वेश्वर ने ही। अप्पय्यदीक्षित के ही समान ये दोनों आचार्य भी इस विषय पर चुप हैं।

[ सर्वस्व ]

सा च समासोक्तिरर्थान्तरन्यासे क्वचित्समर्थ्यगतत्वेन क्वचित्समर्थक-  
गतरत्वेन च भवति । क्रमेण यथा—

‘अथोपगूढे शब्दा शशाङ्के प्रावृड् ययौ शान्ततडित्कटाक्षा ।

कासां न सौभाग्यगुणोऽङ्गनानां नष्टः परिभ्रष्टपयोधराणाम् ॥’

‘असमाप्तजिगीपस्य स्त्रीचिन्ता का मनस्विनः ।

अनाक्रम्य जगत् सर्वं नो संध्यां भजते रविः ॥’

अत्रोपगूढत्वेन शान्ततडित्कटाक्षत्वेन च शशाङ्कशब्दोर्नायकव्यवहार-  
प्रतीतौ समासोक्त्याल्लिङ्गित एवार्थो विशेषरूपः सामान्याश्रयेणार्थान्तरन्या-  
सेन समर्थ्यते । सामान्यस्य चात्र श्लेषवशादुत्थानम् । शान्ततडित्कटाक्षे-  
त्यौपम्यगर्भं विशेषणं समासान्तराश्रयेणात्र समानम् । असमाप्तेत्यादौ तु  
स्त्रीशब्दस्य सामान्येन स्त्रीत्वमात्राभिधानात् सामान्यरूपोऽर्थो लिङ्गविशेष-  
निर्देशगर्भेण कार्योपनिबन्धनेनोत्थापितया समासोक्त्या समारोपितनायक-  
व्यवहारेण रविसंध्यावृत्तान्तेन विशेषरूपेण समर्थ्यते ।

आकृष्टिवेगविगलद्भुजगेन्द्रभोगनिर्मोकपट्टपरिवेषतयाम्बुराशेः ।

मन्थव्यथाव्युपशमार्थमिवाशु यस्य मन्दाकिनी चिरमवेष्टत पादमूले ॥’

अत्र निर्मोकपट्टापह्वेन समारोपिताया मन्दाकिन्या यद्वस्तुवृत्तेन पाद-  
मूले वेष्टनं तच्चरणमूले वेष्टनत्वेन श्लेषमूलयातिशयोक्त्याध्यवसीयते । तत्

तथाध्यवसितं मन्थयथाव्युपशमार्यमिवेत्युत्प्रेक्षामुत्थापयति । सोत्थाप्य-  
मानैवाभ्युराशिमन्दाकिन्योः पतिपत्नीव्यवहाराश्रयां समासोक्तिं गर्भाकरोति ।  
एवं चोत्प्रेक्षासमासोक्त्योरेकः कालः ।

एवं 'नखसतानीव वनस्थलीनाम्' इत्यत्रापि वनस्थलीनां नायिका-  
व्यवहार उत्प्रेक्षान्तरानुप्रविष्टसमासोक्तिमूल पद्य ।

एवमियं समासोक्तिरनन्तप्रपञ्चेत्यनया दिशा मयमुत्प्रेक्षया ।

यह समासोक्ति अर्थान्तरन्यास में भी होती है, कर्मी समर्थ अश में और कर्मी समर्थक अश  
में । [ दोनों के ] नम से उदाहरण यथा—

'अब, जब चन्द्र का आलिंगन शरद ने कर लिया तो वर्षा अपना तटित्वटाश शान्त कर चली  
गई । पयोधर नष्ट हो जाने पर विन खियों का सौभाग्यगुण नष्ट नहीं हो जाता ।'

'जब तक विजयेच्छा समाप्त नहीं हो जाती किसी भी मनस्वी को खी की चिन्ता कैसे हो  
सकती है । सपूर्ण जगत् पर आक्रमण कर लेने के पूर्व सूर्य सन्ध्या को नहीं भजता ।'

इनमें [ से प्रथम में ] आलिंगन और तटित्वटाश की शान्ति [ इन दो विशेषणों ] से चन्द्रमा  
और शरद में नायक तथा नायिका के व्यवहार की प्रतीति होती है । इस प्रकार यहाँ जो विशेषरूप  
अर्थ है वह समासोक्ति से युक्त है और वसी रूप में उभका सामान्यरूप [ अगनाशब्द से कथित ]  
अन्य अर्थ के उपन्यास से उत्पन्न अर्थान्तरन्यासालङ्कार से समर्थन होता है । [ अतः प्रथम पद्य में  
समासोक्ति समर्थ अश में है ] । यहाँ [ समर्थक ] सामान्याश की निष्पत्ति श्लेष से हुई है  
[ क्योंकि पयोधर शब्द में मेघ तथा रतन अर्थ का श्लेष है इसी प्रकार समर्थ विशेषाश में ]  
'शान्ततटित्वटाशा—'—यह विशेषण [ 'तटित्वरूपी कटाश' इस समास के अतिरिक्त 'तटित्व के  
के समान कटाश'—इस ] एक अन्य समास के मानने पर [ उभयपक्ष में ] समान बनता है ।  
'असमाप्त०' इत्यादि पद्य में [ समर्थक वाक्य में आया ] खीशब्द [ खी-]—सामान्य का वाचक है ।  
इसलिये [ उससे उपरिधन ] सामान्यरूपी अर्थ [ समर्थ है उस ] का रविसन्ध्यावृत्तान्तरूपी  
विशेष अर्थ से समर्थन हो रहा है, जिस पर समासोक्ति के द्वारा नायक तथा नायिका के वृत्तान्त  
का आरोप हो रहा है । यह समासोक्ति निष्पन्न हो रही है [ समान ] कार्य के निर्देश से, जिसमें  
विशिष्ट लिंगों [ खीलिंग तथा पुंलिङ्ग ] का योग है । [ इस प्रकार इस पद्य में समासोक्ति समर्थक  
अश में है ] ।

'[ समुद्रमन्थन के समय ] त्रिचाव के जोर से शैषानाग के [ धवल ] शरीर का [ धवल ]  
निर्मोकपट्ट [ कंचुल की पट्टी ] निकल कर गोल गोल लिपट जाने के कारण जिस [ मन्दराचल ]  
के पाद—[ प्रत्यन्तपर्वत और चरण ] मूल को मानों समुद्र के मन्थन की व्यथा शीघ्र शान्त करने  
के हेतु बहुत देर तक मन्दाकिनी लपेटे रहती थी ।' [ हरविजय ५।७ ]

—यहाँ [ 'यह निर्मोकपट्ट नहीं है अपि तु मन्दाकिनी है' इस विवशा द्वारा ] निर्मोकपट्ट का  
अपहव कर उस पर मन्दाकिनी का आरोप किया गया है और उस [ मन्दाकिनी ] का जो पर्वत-  
कटक के मूल में वास्तविकरूप से लिपटना है उसे उसके चरण के मूल में लिपटने के रूप में श्लेष-  
मूलक अतिशयोक्ति द्वारा प्रस्तुत किया जा रहा है । [ यह हुआ चरणमूल में लिपटनेरूपी अर्थ के  
द्वारा कटकमूल में लिपटनेरूपी अर्थ का अध्यवसाय ] । इस प्रकार प्रस्तुत [ अध्यवसित ] वह  
'मानों मन्थन की व्यथा शान्त करने के हेतु' [ किया गया ] इस प्रकार उल्लेखा को निष्पन्न करता  
है । वह [ उत्प्रेक्षा ] निष्पन्न होने लगती है तो समुद्र तथा मन्दाकिनी के पति पत्नी व्यवहार से अनित

समासोक्ति को अपने भीतर ले लेती है। इस प्रकार उत्प्रेक्षा और समासोक्ति दोनों ही एक साथ निष्पन्न होती हैं।

इसी प्रकार [ कुमारसंभव के तृतीयसर्ग के बालेन्दुवक्राणि० इस पद्य के ] 'वनस्थली के नखक्षतों से' इस अंश में भी जो नायिका के व्यवहार की प्रतीति होती है वह उत्प्रेक्षा के भीतर निविष्ट समासोक्ति से ही होती है।

इस प्रकार यह सोचकर कि इस समासोक्ति के फैलाव का अन्त नहीं है उपरिनिर्दिष्ट पद्धति से इसके अन्य भेदों की कल्पना स्वयमेव कर लेनी चाहिए।

### विमर्शिनी

सैर्युक्तप्रपञ्चा । सामान्यस्यैश्वर्यज्ञानाशब्दस्य स्त्रीश्वमात्राभिधानात् । श्लेषवशादिति, पयोधराणां हि शिल्पत्वम् । लिङ्गविशेषेति, रविसंघ्ययोः पुंसोरूपेण कार्यं भजनाख्यम् । पुत्रमन्यालंकारसंमिश्रध्वमप्यस्या दर्शयति—आकृष्टीत्यादिना । सैर्युत्प्रेक्षा । एकः काल इति । इती समासोक्तिगर्भाकारेणोत्प्रेक्षाया उरथानात् । एवमिति । यथोक्तपद्येत्यर्थः ।

'सा = वह अर्थात् यह अर्थात् यह समासोक्ति जिसका विरुद्ध विवेचन किया जा चुका है। सामान्यस्य = सामान्य का अभिधायक इसलिए कि अंगनाशब्द खौरवमात्र का अभिधान करता है। श्लेषवशात् = श्लेषद्वारा अर्थात् पयोधरों के अनेकार्थक होने से। लिङ्गविशेष = रवि और संघ्या में पुंलिङ्ग तथा स्त्रीलिङ्ग और उनका कार्य भजनक्रिया कथित भजन = सेवन। इसी प्रकार इसका अन्य अलंकारों के साथ भी मिश्रण रहता है, उसे दिखलते हैं—'आकृष्टि' इत्यादि उद्घरणों द्वारा। सा = वह = उत्प्रेक्षा। एकः कालः = एक ही समय में प्रतीति होता है अर्थात् बोध में उत्प्रेक्षा समासोक्ति को अपने भीतर लेकर ही निष्पन्न प्रतीत होती है। एवम् = उक्त क्रम से।

विमर्शः—( १ ) कुमारसंभव का 'बालेन्दुवक्राणि०' पद्य पूरा इस प्रकार है—

'बालेन्दुवक्राण्यविकासमावाद् ध्रुवः पलाशान्यतिलोहितानि ।

सथो वसन्तेन समागतानां नखक्षतानीव वनस्थलीनाम् ॥३१२९॥

'पलाश [ टेसू ] के अनखिले पुष्प [ प्रतिपद् के ] बालेन्दु के समान देड़े और लालचट्ट थे इसलिए वे ऐसे लग रहे थे मानों वसन्त से तत्काल मिली वनस्थलियों के नखक्षत हों ।'

( २ ) मन्दाकिनो का अर्थ ग्रन्थकार के अनुसार भागीरथी गंगा प्रतीत होती है। इस अर्थ में पद्य का अभिप्राय यह माना जायगा कि जैसे कोई सपत्नी अपने पति की रक्षा के लिए आक्रान्ता के चरण से लिपट जाती है वसी प्रकार मन्दाकिनो भी अपने पति समुद्र को मन्थन व्यवथा से बचाने के लिए मन्दर के कटकों में लिपट गई।

( ३ ) समासोक्ति का इतिहास—

आमह = यत्रोक्तो गन्धतेज्योऽर्धस्तत्समानविशेषणः ।

सा समासोक्तिरद्विष्टा संक्षिप्तार्थतया यथा ॥

स्कन्धवानृजुरव्यालः स्थिरोऽनेकमहाफलः ।

जातस्तदरयं चोच्चैः पातितश्च नभस्त्वता ॥२१७९, ८०॥

—जहाँ एक के कहने पर उसी जैसा समान विशेषण वाला दूसरा अर्थ प्रतीत हो तो उसे समासोक्ति कहा जाता है क्योंकि इसमें अधिक अर्थ थोड़े में कह दिया जाता है। यथा—

—इस स्कन्धों से युक्त, सीधे, सापों से रहित, और दृढ घृक्ष में ज्यों ही बड़े बड़े फल लगे, इसे आँधी ने गिरा दिया ।'

वामन = [ सूत्र ] 'अनुक्तौ समासोक्तिः १४१३।३

[ वृत्ति ] उपमेयस्यानुक्तौ समानवस्तुन्यासः समासोक्तिः, सक्षेपवचनात् समासोक्तिरित्यारया ।

—उपमेय को बिना कहे समान वस्तु का विन्यास समासोक्ति कहलाता है । [ समास का अर्थ है सक्षेप ] सक्षेप में कथन रहने से समासोक्ति यह नाम पड़ा । यथा—

'दलाच्या ध्वस्तार्धगगलने करीरस्य मरौ रिपतिः ।

धिष् मेरौ कल्पवृक्षाणामभ्युत्पन्नार्थिनां श्रिय ॥'

—पेठ करील का ही हो और गले ही वह महभूमि में ही जमा हो तब भी वह दलाव्य है क्योंकि वह रास्तागोरी की ग्लानि ( धकावट ) दूर करता रहता है । इसके विरुद्ध याचकों की इच्छा पूर्ण करने वाला कल्पवृक्ष ही क्यों न हो और सुवर्ण के पर्वत सुमेरु पर ही क्यों न लगा हो, उसे धिक्कार है ।

स्पष्ट ही समासोक्ति के नाम से वामन ने जिस अलङ्कार को प्रस्तुत किया परवर्ती आचार्यों के अनुसार वह अप्रस्तुतप्रशंसा ही है ।

उद्धट = 'प्रकृतार्थेन वाक्येन तत्समानविशेषणैः ।

अप्रस्तुतार्थकणनं समासोक्तिरुदाहृता ॥२।१०॥

—वाक्य प्रकृतार्थक हो किन्तु उसके विशेषण इस प्रकार समान हों कि उनसे अप्रस्तुत अर्थ का कथन होता हो तो उसे समासोक्ति कहा जाता है । उदाहरण—पूर्वोद्धृत 'दन्तप्रभासुमनम्' = पद्य ।

—स्पष्ट ही उद्धट भी एक देवविषयी रूपक में समासोक्ति समझ बैठे ।

उद्धट = उद्धट ने समासोक्ति का निर्वचन भागद के अनुकरण पर इस प्रकार किया है—

'सकलसमानविशेषणमेकं यन्नामिधीयमानं सत् ।

उपमानमेव गमयेदुपमेय सा समासोक्तिः ॥८।१७॥

यथा—'फलमविकल्मलधीयो लघुपरिणति आयतन्म्य सुस्वादु ।

प्रीणितसकलप्रणयिप्रणतस्य सदुत्रने सुनरोः ॥८।१८॥

—जहाँ केवल उपमेय ही कहा जाय और वह सभी विशेषणों की समानता के आधार पर उपमान की प्रतीति व्यञ्जना द्वारा कराए तो वहाँ समासोक्ति होती है । यथा—

—'सभी याचक और प्रगत व्यक्तियों को प्रसन्न करने वाले अच्छे बड़े हुए इस सुन्दर वृक्ष का फल कमी चूकता नहीं, आकार में बहुत बड़ा होता है, शीघ्र परिणत ( पक ) हो जाता है और बड़ा ही स्वादु रहता है ।' [ यहाँ वृक्ष ही प्रस्तुत है अतः उपमेय है । उससे उस जैसे सत्पुरुष की प्रतीति समान विशेषणों के आधार पर होती है । ] अतः यहाँ समासोक्ति है ।

नमिसाशु ने वामन के अनुसार यहाँ 'उपमान से उपमेय की प्रतीति' ऐसा अर्थ कर दिया है, किन्तु यह उदाहरण से मेल नहीं खाता । उदाहरण में वृक्ष का 'इम' = इस प्रकार देने सर्वनाम द्वारा निर्देश किया जा रहा है जिससे यह प्रतीत होता है कि वृक्ष सामने लगा है । फलतः वह प्रस्तुत है । यूँ तो खींचतान कर दूसरा अर्थ भी लगाया जा सकता है किन्तु जब उपयुक्त अर्थ निकाला जा सकता है तब अनुपयुक्त अर्थ का आग्रह करना उचित नहीं कहा जा सकता । कदाचित् मम्मट को उद्धट के इम द्वितीय अर्थ से ही समासोक्ति का निम्नलिखित लक्षण बनाने की प्रेरणा मिली होगी ।

मम्मट = 'परोक्तिर्भेदकैः श्लिष्टैः समासोक्तिः ।'

श्लिष्ट विशेषणों द्वारा अन्य अर्थ की प्रतीति समासोक्ति कहलाती है ।

—पूर्ववर्ती आचार्यों ने विशेषण के उभयार्थक होने की बात तो कही थी किन्तु विशेष्य के उभयार्थक होने का प्रतिषेध नहीं किया था । मम्मट ने उक्त लक्षण की वृत्ति द्वारा उसे भी स्पष्ट

कहा — 'प्रकृतार्थप्रतिपादकवाक्येन श्लिष्टविशेषगमाहात्म्यात्, न तु विशेष्यस्य सामर्थ्यादपि यद् अप्रकृतत्वार्थस्याभिधानं सा समासेन संक्षेपेणार्थद्वयकथनाद् समासोक्तिः'—प्रकृत अर्थ का प्रतिपादक वाक्य यदि केवल श्लिष्ट विशेषणों के बल पर, न कि विशेष्य के भी बल पर अप्रकृत अर्थ का प्रतिपादन करे तो वह समासोक्ति कहलाती है, समास अर्थात् संक्षेप के द्वारा दो अर्थों का प्रतिपादन करने से ।

परवर्त्तों आचार्यों में—

शोभाकर ने अलंकारसर्वस्वकार के समासोक्ति-लक्षण पर जो आपत्तियाँ उठाई हैं उन्हें पहले ही प्रस्तुत किया जा चुका है ।

अप्पग्रहीणित—ने उनके कुबलयानन्द में चन्द्रालोक के 'समासोक्तिः परिस्फूर्तिः प्रस्तुतेऽप्रस्तुतस्य चेत ।'—इस समासोक्ति लक्षण की वृत्ति लिखते हुए कहा है—

'यत्र प्रस्तुतवृत्तान्ते वर्णमाने विशेषणसाम्यबलाद् अप्रस्तुतवृत्तान्तस्यापि परिस्फूर्तिः तत्र समासोक्तिरलंकारः ।'

—जहाँ वर्णन किया जा रहा हो प्रस्तुतवृत्तान्त का किन्तु विशेषणसाम्य के बल पर अप्रस्तुतवृत्तान्त भी निकल रहा हो तो अलंकार का नाम समासोक्ति होता है ।

पण्डितराज जगन्नाथ ने समासोक्ति का लक्षण और भी अधिक संरम्भ के साथ इस प्रकार किया है—

'यत्र प्रस्तुतधर्मिको व्यवहारः साधारणविशेषणमात्रोपस्थापिताप्रस्तुतधर्मिकव्यवहाराभेदेन भासते सा समासोक्तिः ।'

—जहाँ प्रस्तुत धर्मों का व्यवहार साधारणविशेषणमात्र के द्वारा उपस्थापित अप्रस्तुत धर्मों के व्यवहार से अभिन्न भासित होता हो वह समासोक्ति है ।

विश्वेश्वर ने समासोक्ति का लक्षण इस प्रकार किया है—

'यत्र प्रकारवाचकपदमात्रं व्यङ्ग्यवाच्यसामान्यम् ।

तच्छक्तेरप्रकृतार्थोक्तिः सोका समासोक्तिः ॥'

—जहाँ केवल विशेषणवाचक पद ही वाच्य और व्यङ्ग्य दोनों अर्थों में समान हों और उनकी शक्ति से अप्रकृतार्थ का कथन हो तो उसे समासोक्ति कहा जाता है ।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि केवल वामन को छोड़ समासोक्ति के विषय में सभी अलंकारिक एकमत हैं और समासोक्ति के भेद-प्रभेदों की कल्पना का श्रेय अलंकारसर्वस्वकार को ही है ।

अलंकाररत्नाकरकार ने यहाँ समासोक्ति, श्लेष और शब्दशक्तिमूलक ध्वनि का अन्तर भी स्पष्ट किया है । हम इसे श्लेषप्रकरण के पश्चात् प्रस्तुत करेंगे ।

संजीविनीकार ने समासोक्ति के संपूर्ण विवेचन का सारसंक्षेप इन कारिकाओं में किया है—

[ १ ] 'अप्रस्तुतं प्रतीतं चेद् भेदकांशैकसान्द्रतः ।

व्यवहारं स्वमारोप्य प्रस्तुते न्यग्भवत्यथ ॥

[ २ ] 'तेनाप्रस्तुतवृत्तान्तारोपेण प्रस्तुतं स्वयम् ।

संक्षेपेणोच्यते तस्मात् समासोक्तिरियं मता ॥

[ ३ ] 'स्याद् विशेष्यांशसाम्यं चैव प्रस्तुताकाररूपितम् ।

भवेदप्रस्तुतं भेदं रूपकालङ्कृतिस्तदा ॥



- [ ४ ] विशेषणांशसाम्येनाप्रस्तुतार्थस्य गम्यता ।  
समासोक्तिर्माता येन संक्षिप्यार्थोऽभिधीयते ॥
- [ ५ ] शुद्धकार्यसमारोपे साम्य स्यादौपचारिकम् ।  
व्यवहारसमारोप. साक्षादस्या प्रयोजकः ॥
- [ ६ ] स्याद् विशेषणसाम्य चेद् ममासान्तरमथवात् ।  
उपमा बाधते नैनामेकदेशविवर्तिनी ॥
- [ ७ ] वृद्ध्यतेऽर्थान्तरन्यासे समर्थ्ये च समर्थके ।  
उत्प्रेक्षायोगिनी चैवा वचिद् स्यादेककाल्या ॥

[ १ ] अप्रस्तुत यदि केवल विशेषणों के साम्य के आधार पर प्रतीत हो और वह प्रस्तुत पर अपना व्यवहार आरोपित कर अप्रधान रहा आए

[ २ ] तो यह समासोक्ति अलङ्कार माना जाता है क्योंकि यहाँ अप्रस्तुत वृत्तान्त के आरोप के साथ प्रस्तुत भ्रंश में कहा जाता है ।

[ ३ ] यदि विशेषणांश का साम्य भी हो और अप्रस्तुत विशेष प्रस्तुत के रूप में रूपित हो तो वह रूपकालंकार होता है ।

[ ४ ] यदि विशेषणांश का साम्य हो और उसे अप्रस्तुत अर्थ गम्य हो तो समासोक्ति मानी जाती है । समासोक्ति नाम इसलिए कि हममें संक्षिप्त रूप से अर्थों का कथन रहता है ।

[ ५ ] हममें बहाँ केवल कार्य का समारोप रहता है तो साम्य औपचारिक माना जाता है, वस्तुतः इसका साक्षात् प्रयोजक व्यवहार का समारोप रहता है ।

[ ६ ] विशेषण का साम्य यदि अन्य सामान के सहारे हो तो समासोक्ति को एकदेशविवर्तिनी उपमा नहीं बाधती ।

[ ७ ] यह अर्थान्तरन्यास में भी कभी समर्थक्य और कभी समर्थक्य रहती है । कहीं यह उत्प्रेक्षा में मिली रहती है, और कहीं उत्प्रेक्षा के साथ साथ प्रतीत होती है ।

### [ सर्वस्व ]

[ सू० २३ ] विशेषणसामिप्रायत्वं परिकरः ।

विशेषणवैचित्र्यप्रस्तावाद्स्येद्द निर्देशः । विशेषणानां सामिप्रायत्वं प्रतीयमानार्थगर्भोक्तारः । अत एव प्रसन्नगम्भीरपदत्वान्नायं ध्वनेर्विषयः । एवं च प्रतीयमानांशस्य वाच्योन्मुखत्वात्परिकर इति सार्थकं नाम ।

‘राज्ञो मानधनस्य कार्मुकभृतो दुर्योधनस्याप्रतः

प्रत्यक्षं कुटवान्धवस्य मिततः कर्णस्य शल्यस्य च ।

पीतं तस्य मयाद्य पाण्डवधधूकेशाम्बराकर्षिणः

कोष्णं जीवत एव तीक्ष्णकरजश्रुणादसृग्धक्षसः ॥’

अत्र राज्ञ इत्यादौ सोऽप्रासत्यपरं प्रसन्नगम्भीरपदत्वम् ।

एवम्—

‘अङ्गराज सेनापते राजवल्लभ द्रोणोपहासिन् कर्ण, सांप्रतं रक्षैनं भीमाद् दुःशासनम्’ इत्यादौ द्वेषम् ।

[ सू० ३३ ] विशेषणों की सामिप्रायता परिकर [ कहलाती है ] ॥

[ वृ० ] प्रकरण विशेषण के वैचित्र्य का है इसलिये इसे यहाँ रखा जा रहा है। विशेषणों की सामिप्रायता अर्थात् उनका प्रतीयमानार्थ से गमित रहना [ इसका अर्थ केवल इतना ही है कि ] यहाँ विशेषण प्रसन्न के साथ गम्भीर भी रहते हैं [ अर्थात् प्रधानता उन्हीं की रहती है ] अतः इसे ध्वनि का विषय नहीं माना जा सकता। इसीलिए इसका परिकर नाम भी सार्थक है क्योंकि इसमें प्रतीयमान अर्थ वाच्य अर्थ के प्रति [ परिकर = सामग्री, दास की नई ] उन्मुख रहता है। यथा—

‘एत राजा, मानधनी और [ चिह्नित्ये नहीं, हाथ में ] धनुष लिए दुर्योधन के सामने, इसी प्रकार कौरवों के बन्धु बने कर्ण और शल्य के अपनी आँखों से देखते-देखते मैंने आज उस, पाण्डवों की वधू [ द्रौपदी ] के केश और वस्त्र खींचने वाले [ दुःश्शासन ] के तोखे नाखूनों से विदारित वक्ष से निकला खून उसके जीते जी पी लिया। [ वेणीसंहार ]

—यहाँ ‘राजा’ आदि [ विशेषण ] में उपहास-[ तोत्प्रासत्व ]-परक प्रसन्नगम्भीरपदत्व है। इसी प्रकार ‘अरे अह्मदेश के राजा’ अरे [ कौरव ] सेना के पति, अरे राजा के प्रिय, अरे द्रोण का उपहास करने वाले कर्ण, अब वक्ता इस दुःश्शासन को मीम से, [ वेणीसंहार ] इत्यादि स्थलों में भी जानना चाहिए।

### विमर्शिनी

विशेषणेत्यादि। इहेति समासोक्त्यनन्तरम्। विशेषणानां चात्र बहुत्वमेव विवक्षितम्। अन्यथा ह्यपुष्टार्थस्य दोषवाभिधानात् तस्मिन्कारणेन स्वीकृतस्य पुष्टार्थस्यार्थ विषयः स्यात्। एवमेवविधानैकविशेषणोपन्यासद्वारेण वैचित्र्यातिशयः संभवतीत्यस्यालंकारत्वम्। प्रतीयमानार्थस्य वाच्योन्मुखत्वेन प्राधान्याभावाद्गर्भीकारस्तदन्तःकृतत्वम्। अत एवेति प्रतीयमानार्थस्य प्राधान्याभावात्। प्रसन्नत्वं वाच्यस्यैव प्राधान्येन निर्देशात्। गम्भीरत्वं प्रतीयमानस्याप्यर्थस्य गुणीभावेन गर्भीकारात्। यत्र च प्रतीयमानं प्रति उपसर्जनीकृतस्वार्थयोः शब्दार्थयोरवस्थानं स ध्वनेर्विषय इति ध्वनिविद्ः। यदाहुः—‘तत्परावेव शब्दार्थौ यत्र व्यङ्ग्यं प्रति स्थितौ। ध्वनेः स एव विषयः’ इति। अत्र च न तथात्वमित्युक्तं नायं ध्वनेर्विषय इति। अत एव नामाप्यस्य श्रौंगिकमित्याह—एवं चेत्यादि। सोत्प्रासत्वपरमिति। तथा च राज्ञो जगद् रक्षितव्यमस्य पुनरनुजमाप्ररज्ज्गासिद्धेरन्यदेव नाममात्रेण राजत्वमित्युपहासपरत्वम्। एवमन्येषामपि स्वयमेवैतदवगन्तव्यम्। आदिशब्देन

‘यस्यैकस्यैव दोषाणां जयति दशशती साम्बयो द्वारि रुद्रः  
कारागारे सुराणां पतिरपि च शची चामरध्वग्रहस्ता।  
कन्या तस्येयमेका रजनिचरपतेरेप शुब्धान्तमेको  
वाल्लो निःशङ्कमस्याः प्रविशति च नमस्तेनसे वैष्णवाय ॥’

इत्यादावपि विशेषणानां प्रसन्नगम्भीरत्वं ज्ञेयम्।

विशेषण इत्यादि। इह = यहाँ अर्थात् समासोक्तिवाद। यहाँ विशेषणों का अनेक ही होना अपेक्षित है। नहीं तो, ‘अपुष्टार्थक [ विशेषण पद ] को दोष कहा गया है, उसके निराकरण से आई पुष्टार्थकता का यह विषय होगा। इसके विरुद्ध ऐसे ही [ पुष्टार्थक ] विशेषणों की संख्या अधिक रहती है तो उससे [ वाक्यार्थ में ] अतिशय विचित्रता निम्पन्न होने लगती है, अतः यह अलंकार का विषय बन जाता है। प्रतीयमान अर्थ वाच्य के प्रति उन्मुख रहता है, अतः उसका प्राधान्य नहीं रहता, अतः उसका जो गर्भीकार है वह वाच्य के भीतर दबा रहता है। ‘अतएव = इसीलिए’ अर्थात् प्रतीयमान अर्थ की प्रधानता न रहने से। प्रसन्नत्व इसलिये कि वाच्य का

ही निर्देश प्रधान रूप से रहता है। गम्भीरत्व इसलिए कि प्रतीयमान अर्थ भी [ वाच्य में ] अप्रधान होकर छिपा रहता है। इसके विपरीत जहाँ प्रतीयमान अर्थ के प्रति शब्द और अर्थ अप्रधान बनकर रहें वहाँ ध्वनि मानी जाती है—ऐसा ध्वनिवादी आचार्यों का मत है। जैसा कि [ व्यानन्दवर्धनाचार्य ने ] कहा है—

'ध्वनि का विषय वही माना जाना चाहिए जहाँ शब्द और अर्थ व्यङ्ग्यार्थ के प्रति तत्पर होकर ही स्थित हों।'

'इसी कारण इस [ अलङ्कार ] का नाम भी यौगिक है'—यह कहते हुए लिखते हैं—'पूर्व' च' इत्यादि। स्रोतप्रासत्वपरम = [ शारदालिपि की प्रति में यही पाठ है ]—उपहासपरक = 'जो राजा हो उसे तो रक्षा पूरे जगत् को करनी चाहिए, यह तुच्छ ऐसा है कि अपने ही छोटे भार को रक्षा करने में असफल है, इसका राजत्व तो और ही कुछ है, केवल नाममात्र का राजत्व है'—इस प्रकार उपहासपरक है यह। इसी प्रकार अन्य विशेषण भी उपहासपरक हैं। उनकी उपहासपरकता स्वयं जान लेनी चाहिए। आदि शब्द से—

'जिस [ सहस्रबाहु ] की अपनी ही हज्जार मुजापें उत्कृष्टम पराक्रम से युक्त हैं, जिसके द्वार पर भगवान् रुद्र अपने पूरे परिवार के साथ खड़े रहते हैं, जिसके कारागार में देवों का पति इन्द्र विद्य है और [ उसकी पत्नी ] शची हाथ में चमर लेकर जिसके ऊपर डुलाती है, उसी राक्षस राज की यह एक ही कन्या है और उसके शुक्रान्त ( रनिवास ) में यह एक अकेला बालक निःशुक्र प्रवेश करता जा रहा है। सचमुच भगवाम् विष्णु के तेज को नमन है।'

—इत्यादि में विशेषणों की प्रसन्नता और गम्भीरता जाननी चाहिए।

विमर्श.—परिकर का निरूपण पहिली बार रुद्र के काव्यालङ्कार में मिलता है। भामह, दण्डी, वामन और उद्भट में इसकी कोई चर्चा नहीं है। रुद्र ने परिकर का लक्षण इस प्रकार किया है—

'सामिप्राये-सम्बन्धिविशेषणैर्वस्तु यद् विशिष्येन।

द्रव्यादिभेदभिन्नं चतुर्विध परिकर-स इति ॥ ७।७२

—द्रव्य, गुण, क्रिया तथा जाति रूप चार वस्तु जब सामिप्राय विशेषणों से ठीक-ठीक विशिष्ट की जाए तो [ चार वस्तुओं में से एक-एक वस्तु के आधार पर ] चार प्रकार के परिकर होते हैं। उदाहरण—

द्रव्यपरिकर—'अचिन्तपरिणामरम्यं स्वादु सुगन्धि रव्यं करे पतिनम्।

फलमुस्त्यय तदानीं ताम्यसि मुग्धे मुषेदानोम् ॥

—अचिन्त परिणाम ( पाक ) से रम्य, स्वादु, सुगन्धि अपने आप हाथ में आ गिरे फल को छोड़कर है मुग्धे। तू घृष्या ही व्यथित हो रही है।' ( यहाँ फल के विशेषण अनेक हैं और सामिप्राय हैं। फल द्रव्य है अतः यह द्रव्यपरिकर हुआ )। नमिसाधु ने फल को जातिवाचक मान वेगोसंहार का 'कर्ता द्यूतच्छलनां' पद्य उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है। सर्वस्वकार का 'राशो मानधनस्य' पद्य उसका ठीक समानार्थी पद्य है। इसमें दुर्घोषन एक व्यक्ति है अतः उसका वाचक शब्द द्रव्यवाचक शब्द है। उसके विशेषण द्रव्य के विशेषण होने से यहाँ द्रव्यपरिकर हुआ।

गुणपरिकर—'कार्येषु विहितेच्छ विहितमद्भयोऽपराधसंवरणम्।

अस्माकमधन्यानामार्जवमपि दुर्लभं जातम् ॥

—कार्यों में इच्छा विहित करने वाला, बड़े से बड़े अपराध का भी संवरण करने वाला आर्जव ( सीधापन ) भी हमारे दुर्भाग्य से दुर्लभ हो गया।' यहाँ आर्जव गुण है और उसमें अनेक सामिप्राय विशेषण जोड़े गए हैं।

क्रियापरिकर—‘सततमनिर्घृतमानसमायाससहस्रसंकटविल्टम् ।

गतन्द्रमविश्वासं जीवति राजा जिगीपुरयन् ॥

—यह विजयेच्छु राजा सदा ही अशान्त चित्त हो सहस्रों आयासों के संकट से क्लेश में पड़ा प्रजागरव्यथित हो, विना किसी का विश्वास किए जीता है ।’ यहाँ ‘जीना’ क्रिया के अशान्त-चित्ता आदि अनेक साभिप्राय विशेषण हैं अतः यहाँ परिकर क्रियापरिकर हुआ ।

जातिपरिकर—‘अत्यन्तमसहनानामुरुशक्तीनामनिम्नवृत्तीनाम् ।

एकं सकले जगति स्पृहणीयं जन्म केसरिणाम् ॥

—केवल सिद्धों का ही जन्म एक ऐसा जन्म है जो स्पृहणीय है, जो अत्यन्त असह्यदाकि, अत्यन्त बलशाली और अपराधीन रहने है ।’ यहाँ सिद्ध जातिवाचक शब्द है अतः यहाँ जाति-परिकर हुआ ।

चमिसाधु ने यहाँ भृगुहरि का ‘कृशः काणः खण्डः’ पद्य भी उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है, जो अत्यन्त उपयुक्त है । रद्रट के इतने मध्वपूर्ण और विशद विवेचन को मम्मट ने संक्षेप में इस प्रकार प्रस्तुत किया—

मम्मट = ‘विशेषणैर्दत्त साकृत्तरुक्तिः परिकरस्तु सः ।’

—अनेक साभिप्राय विशेषणों के साथ विशेष्य का कथन परिकर कहलाता है । उदाहरण के रूप में दिया है किरातार्जुनीय का—

‘महीजसो मानधना धनार्चिता धनुर्भृतः संयति लव्यकीर्त्तयः ।

न संहतास्तस्य न भिन्नवृत्तयः प्रियाणि वाञ्छन्त्यस्तुभिः समीहितुम् ॥’— यह पद्य

यहाँ धनुर्धर वीरों को महान् आँजखी आदि अनेक विशेषणों से युक्त बतलाया गया है । अन्त में मम्मट ने अपुष्टार्थत्व दोष के अभाव में परिकर के अन्तर्मान की संभावना कर उसका परिहार इस प्रकार किया है—

‘यद्यप्यपुष्टार्थस्य दोषताभिधानात् तथिराकरणेन पुष्टार्थस्वीकारः कृतः तयान्येकनिष्ठत्वेन बहूनां विशेषणानामेवमुपन्यासे वैचित्र्यमित्यलंकारमध्ये गणितः ।’

विमर्शनीकार ने इन्हीं पंक्तियों को तानिक से रूपान्तर के साथ परिकर-विमर्शनी के प्रारम्भ में उद्धृत कर मम्मट के इस सिद्धान्त को मान लिया है कि साभिप्राय विशेषणों की अनेकता दोषाभाव से आगे आलंकारिक चमत्कार तक व्याप्त वस्तु है ।

निश्चित ही अलंकारसर्वस्वकार ने रद्रट और मम्मट के केवल साभिप्रायत्व का व्यंग्यार्थ से संबन्ध जोड़ और परिकर शब्द की अन्वयता की सिद्धि कर परिकर-विचार को पर्याप्त पुष्टि दी है ।

शोभाकर अलंकाररत्नाकरकार ने सर्वस्वकार का मत ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया है । उनका विवेचन इस प्रकार है—

[ सूत्र = विशेषणानां ] साभिप्रायत्वं परिकरः ।

[ वृत्ति = ] साभिप्रायत्वं प्रतीयमानार्थगर्भता । तस्य च प्रतीयमानस्य वाच्यं प्रत्युपस्कारकत्वाद् गुणीभूतत्वेनालङ्कार्यत्वाभावाद् अलंकारता । वाच्यस्यैवोपस्कार्यत्वेन प्राधान्यादलंकार्यता । यत्र तु वाच्यस्य व्यवह्यार्थपर्यवसायितया व्यवह्यस्य प्राधान्यं न व्यवह्यगर्भता स ध्वनेविवयः ।

—विशेषणों की साभिप्रायता परिकर । साभिप्रायता अर्थात् प्रतीयमानार्थ से गर्भित होना । यह प्रतीयमान अर्थ वाच्य के प्रति गुणीभूत होता है क्योंकि वह वाच्य का उपस्कारक होता है, और इसीलिए अलंकार्य नहीं होता फलतः अलंकार कहलाता है । उपस्कार्य वाच्यार्थ ही होता है

इसलिए वह अलङ्कार्यं होना है। जहाँ वाच्य व्यङ्ग्य के प्रति समर्पित रहना है वहाँ व्यंग्य प्रमान रहता है न कि वाच्य में गमित, वहाँ ध्वनि होती है।

पण्डितराज जगन्नाथ ने शोभाकररुन परिकर ही परिकर के लक्षण के रूप में अपना लिया है 'विशेषणानां सामिप्रायत्वं परिकरः।' सामिप्रायत्वं का अर्थ भी उन्होंने—'प्रकृतार्थोपपादकत्वमन्कारिव्यङ्ग्यकत्व' किया है।

अप्यप्यदोक्षित ने परिकर का कोरं स्वनन्व लक्षण नहीं दिया है। चन्द्रालोक का 'अलङ्कारः परिकरः' सामिप्राये विशेषणे यद् पूर्वार्थादीं के परिकर-लक्षण का समानार्थी लक्षण ही उन्होंने स्वीकार कर लिया है। किन्तु दोक्षित जा ने एक नवीन प्रश्न उठाया है। वह यह कि जहाँ मम्मट और विमर्शिनोकार ने स्पष्टरूप से तथा रुद्रट, सर्वस्वकार तथा शोभाकर ने अप्यप्य रूप परिकर में विशेषणों की अनेकता पर बल दिया था वहाँ अप्यप्यदोक्षित ने हमके विहङ्ग केवल एक विशेषण की सामिप्रायता में भी परिकर को अलङ्कार मानने की पहलू की है। उनका आधार चन्द्रालोक के उक्त लक्षण में आया विशेषण शब्द का एकवचन है। इस पक्ष का प्रतिपादन करते हुए दोक्षित जी ने कुवलयानन्द में लिखा है—

'अनेकविशेषणोपन्यास एव परिकर इति न नियमः। श्लेषयमकादिषु ००० एकस्यापि विशेषणस्य सामिप्रायस्य विन्यासे विच्छिन्नविशेषसङ्गत्वात् परिकरस्योपपत्तेः।' 'अपि च एकपदार्थद्वेषुक्तं कान्यच्छिन्नमलकार इति सर्वसम्मतम्, तददेकस्यापि विशेषणस्य सामिप्रायस्थालकारत्वं युक्तमेव'।

—यह आवश्यक नहीं कि अनेक विशेषणों के आने पर ही परिकर अलङ्कार माना जाय। सामिप्राय विशेषण केवल एक भी हो किन्तु उसमें चमत्कार प्रतीति ही रही हो तो वहाँ भी परिकरालङ्कार माना जा सकता है। श्लेष, यमक आदि में वैसी प्रतीति होती भी है। एक तथ्य यह भी ध्यान देने योग्य है कि केवल एक पदार्थ के हेतु होने पर काव्यलिङ्ग को सर्वसमति से अलङ्कार माना जाता है। इसी प्रकार एक सामिप्राय विशेषण से परिकर को भी अलङ्कार मानना ठीक ही है। पण्डितराज जगन्नाथ ने भी अप्यप्यदोक्षित के इस मत को मान लिया है। उन्होंने लिखा है—

'विशेषणानेकत्वं हि व्यङ्ग्याधिक्याथायकत्वाद् वैचित्र्यविशेषाधायकमस्तु नाम, न तु प्रकृत्यालङ्कारशरीरं तदेवेति शक्यं वक्तुम्, एकस्यापि विशेषणस्य चमत्कारिताया अनपह्वनोद्यत्वात्।'

—'विशेषण की अनेकता से व्यङ्ग्य की मात्रा बढ जाती है अतः वह वैचित्र्य में अधिका भासे ही ला दे, यह नहीं कि वह परिकर का शरीर मानी जाने लगे। क्योंकि केवल एक विशेषण में भी चमत्कार रहना है इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता।' ऐसा मानने पर पुष्टार्थारूप दोषामात्र से परिकर को पृथक् करना कठिन हो जाता है। पण्डितराज ने इस पर ये सुक्तिवर्ष प्रस्तुत की हैं—

[ 'पुष्टार्थारूपेण दोषामात्रेण परिकरालङ्कारस्य विषयविभागो दुःशक इति प्राप्तेः मूः ]—'सुन्दरत्वे सत्युपस्कारकत्वमलङ्कारत्वेन, चमत्कारापकर्षकामात्रेण च दोषामात्रत्वम्। तदेतद् धर्मद्वय निर्विकल्पिकविषय यदि देवादेकरिणम् विषयविशेषे समाविशेत् तदा का हानिः स्यात्, उपपेयसकरोऽप्युपाध्यस्करात्। यथा ब्राह्मणस्य मूर्त्तत्वं दोषः, विषय तु दोषामात्रश्च भवति गुणश्च तथेहाप्युपपत्तिः। न च दोषामात्रतया प्राप्तस्यापि परिकरस्य किमित्यलङ्कारेषु गगनागौरवमिति वाच्यम्, उभयात्मकत्वेनेतरवैलक्षण्यज्ञापनार्थं यथा गगतोपपत्तेः, यथा गुणाभूतव्यङ्ग्यभेदतया स्मृहीनापि समासोक्तिरलङ्कारगगनार्था पुनर्गण्यते, यथा वा प्रामादवासिषु गणितोऽप्युपपत्तासी भूवासिगगनाया पुनर्गण्यते तथेहातीति न कश्चिद् दोषः। अन्यथा प्राचा काव्यलिङ्गमप्यलङ्कारो न स्यात्, तस्यापि निर्देष्टरूप-दोषामात्रात्मकत्वात्।

—अलंकारत्व है सुन्दरता के साथ उपस्कारकता और दोषाभाव है चमत्कार के अपकर्षकतत्त्वों का अभाव। अलग अलग क्षेत्र के ये दोनों तत्त्व यदि एक ही क्षेत्र में आ जायें तो कोई हानि नहीं। क्योंकि इनके मिलने पर भी इनकी विशेषताएँ भिन्न ही होंगी। उदाहरण के रूप में जैसे ब्राह्मण के लिए मूर्खता दोष है और विद्या मूर्खतादोष का अभाव भी और गुण भी। वैसा ही यहाँ भी माना जा सकता है। परिकर दोषाभाव के साथ ही अलंकारस्वरूप उसी प्रकार है जिस प्रकार समासोक्ति गुणीभूतव्यंग्य भी और अलंकार भी, अथवा जैसे भवन और भूमि दोनों में रहने वाला भवन निवासी भी माना जाता है और भूमि निवासी भी। ऐसा न मानने पर प्राचीन आलंकारिकों द्वारा अलंकाररूप से मान्य काव्यलिंग भी अलंकार नहीं होगा, क्योंकि उसका भी अन्तर्भाव निर्हेतुत्वदोष के अभाव में कर लिया जावेगा।

विश्वेश्वर ने अलंकारकौस्तुभ में मम्मट और जयरथ, अप्यवदीक्षित और पण्डितराज जगन्नाथ सब के उक्त मतों को प्रस्तुत किया है।

पदार्थहेतुक काव्यलिंग से परिकर को पण्डितराज ने व्यंग्यांश को लेकर भिन्न किया है। काव्यलिंग में चमत्कार, वस्तु के हेतुत्वेन प्रस्तुतीकरण पर निर्भर रहता है जब कि परिकर में उसके व्यंग्यगमितत्व पर।

केवल एक साभिप्राय विशेषण से निष्पन्न परिकर का उदाहरण चन्द्रालोककार ने यह दिया है—

‘सुभांशुकलितोत्सस्तापं हरतु वः शिवः।’

—‘चन्द्रचूट शिव आपका संताप दूर करें।’ यहाँ चन्द्रचूडत्व से शीतता व्यक्त होती है जो तापहरण में सहायक है।

संजीविनीकार ने परिकर-विवेचना का संक्षेप द्वा प्रकाश किया है—

‘विशेषणानां व्यंग्यार्थगर्भीकरणलक्षणा।

सोत्प्रासता परिकरो व्यङ्ग्यः परिकरो मतः॥’

—अनेक विशेषणों की व्यंग्यार्थ को अपने गर्भ में लिए रहने रूप सोत्प्रासता परिकर कहलाती है क्योंकि इसमें व्यंग्यार्थ परिकर [ सेवक, सामग्री ] के रूप में विद्यमान रहता है।

परिकराङ्कुर—चन्द्रालोककार जयदेव तथा कुवलयानन्दकार अप्यव्यदीक्षित ने विशेष्य के साभिप्राय होनेपर एक परिकराङ्कुर नामक अलंकार भी माना है।—

‘साभिप्राये विशेष्ये तु भवेत् परिकराङ्कुरः’

इसका उदाहरण माना है—‘चतुर्णां पुरुषार्थानां दाता देवश्चतुर्भुजः।’ चतुर्भुज देव चार पुरुषार्थों का दाता है।

यहाँ पुरुषार्थ चार हैं और भुजाएँ भी चार इसलिए एक एक हाथ से एक एक पुरुषार्थ देने का तथ्य व्यक्त होता है। विश्वेश्वर पण्डित के कथनानुसार उनके सबसे छोटे भाई उमापति पण्डित इसे परिकर में ही अन्तर्भूत मानते हैं। उनके कथनानुसार—‘चतुर्भुज’ शब्द भगवान् विष्णु के अर्थ में रूढ़ है अतः ‘चार भुजाएँ’ यह अर्थ यहाँ विष्णु का विशेषण होकर ही भासित होता है और चमत्कार उसी में है इसलिए यहाँ परिकरालंकार ही है।

‘कचिद् विशेषणं साक्षादेव प्रकृतोपकारकम्, कचित्तु प्रकृतोपकारकमर्थान्तरमाक्षिव्येति०० विशेष्यविशेषणोभयसाभिप्रायस्त्वेऽपि परिकर एवेति त्वस्माकं यद्यिष्टभ्रातुरुहमापतेः पक्षः।’

—विशेषण कहीं साक्षात् ही प्रकृतार्थ का उपकारक होता है और कहीं प्रकृतोपकारकम किसी अन्य अर्थ का आक्षेप कर, इसलिए दोनों ही स्थलों पर परिकर ही होता है जहाँ विशेषण साभिप्राय रहता है वहाँ और जहाँ विशेष्य साभिप्राय रहता है वहाँ भी।

[ सर्वस्व ]

[ सू० ३४ ] विशेष्यस्यापि साम्ये द्वयोर्वोपादाने श्लेषः ।

केवलविशेषणसाम्यं समासोक्तावुक्तम् । विशेष्ययुक्तविशेषणसाम्यं त्वधिकृत्येदमुच्यते । तत्र द्वयोः प्राकरणिकयोरप्राकरणिकयोः प्राकरणिका-प्राकरणिकयोर्वा श्लिष्टपदोपनिबन्धे श्लेषः । तत्रार्थं प्रकारद्वयं विशेषणविशेष्यसाम्य एव भवति । तृतीयस्तु प्रकारो विशेषणसाम्य एव भवति । विशेष्यसाम्ये त्वर्थप्रकरणादिना चाच्यार्थनियमेऽर्थान्तरगतध्वनेर्विषयः स्यात् । आद्ये तु प्रकारद्वये द्वयोरप्यर्थयोर्वाच्यत्वम् । अत एवात्र—'द्वयोर्वोपादाने' इति तृतीयप्रकारविषयत्वेनोक्तम् । 'विशेष्यस्यापि साम्ये' इति तु श्लिष्टप्रकारद्वयविषयम् ।

[ सूत्र ३४ ] विशेषणों के साथ ] यदि विशेष्य का भी साम्य हो अथवा [ समान विशेषण वाले दोनों [ विशेष्यों ] का शब्दतः कथन हो तो [ अलंकार को ] श्लेष [ कहा जाता है ] ॥

[ वृत्ति ] केवल विशेषणों का साम्य समासोक्ति में बतलाया गया, उससे मिला विशेष्य से युक्त विशेषणों के साम्य को लेकर बतलाया जा रहा है यह । ऐसे दो अर्थों का श्लिष्ट पदों द्वारा कथन श्लेष कहलाता है जिनमें से दोनों ही अर्थ प्राकरणिक हों अथवा दोनों ही अप्राकरणिक और एक प्राकरणिक तथा एक अप्राकरणिक । इन तीनों प्रकारों में से जो प्रथम दो प्रकार हैं वे तभी होते हैं जब विशेषण और विशेष्य इन दोनों का ही साम्य [ द्वयर्थकता ] हो इसके विरुद्ध जो तीसरा प्रकार है वह केवल विशेषण के ही साम्य में होता है । यदि विशेष्य का भी साम्य हो तो वह अन्य अर्थ का बोध कराने वाली ध्वनि का विषय बन जाएगा क्योंकि वहाँ अर्थगत वाच्यता प्रयोजन, प्रसरण आदि से नियमित हो जायगी [ फलतः वाच्यरहित अन्य अर्थ का ज्ञान ध्वनि से होगा ] ।

प्रथम दो प्रकारों में दोनों ही अर्थ वाच्य होने हैं । इसीलिए यहाँ 'द्वयोर्वोपादाने'—'अथवा दोनों का शब्दतः कथन यह तृतीय प्रकार के लिए कहा गया है और 'विशेष्य में भी साम्य हो'—यह तो श्लेष बचे [ प्रथम ] दो प्रकारों के लिए ।

### विमर्शिनी

विशेष्यस्वापीत्यादि । इदमिति श्लेषकथनम् । आद्यमिति । प्राकरणिग्रगतत्वेनाप्राकरणिकग्रगत्वेन च । एवकारश्चात्र जिह्वप्रभो द्रष्टव्यः । तेज प्रकारद्वयमेवेति श्लेषकथनम् । अतश्च तृतीयः प्रकारो विशेषणसाम्य एव भवतीति श्लेषकथनम् । अन्यथा हि प्रकारद्वयस्यास्य विशेष्यसाम्याभावेऽपि दर्शनादभ्यासिः स्यात् । तद्यथा 'संचारपूतानि दिगन्तराणि' इत्यादि । अत्र प्रमाथेन्वोर्द्वयोः प्रकृतयोर्विशेष्ययोः साम्याभावः ।

'आयाहूतमण्डलाप्रक्षयः संनद्धवचःस्थलाः

सोन्माणो जगिनो विपद्यहृदयपोन्मायिनः कर्कशाः ।

उत्सृष्टाभ्ररहृदविग्रहभरा यस्य स्मराप्रेसरा

योषा देवबधूस्तनाश्च न दधुः शोभं स वोऽभ्यागिजनः ॥'

अत्र स्तनयोधयोरप्रकृतयोर्विशेष्ययोः साम्याभावः । विशेषणसाम्यं ख्येति च पुनर्विशेष्यसाम्ये । एतदपि विशेष्यसाम्ये किं न भवतीत्याशङ्क्याह—विशेष्यसाम्ये त्रिधायादि । यथा—

‘लंकालङ्कारेण पुस्तकं वसन्तमासमि लब्धप्रसराणम् ।  
आपीतलोहितानां वीहेद् जनो पलाशणम् ॥’

अत्र पलाशानामिति विशेष्यस्यापि श्लिष्टत्वम् । प्रकरणवशाच्च वृत्तविशेषणमेव वाच्यत्वनियमात्प्रस्तुतत्वेन निशाचराणामप्रस्तुतानां व्यङ्ग्यत्वम् । अत्र चोपमाया एव व्यङ्ग्यत्वं युक्तं नातिशयोक्तेरिति प्रकृतानुपयोगादिह नोक्तम् । ननु च यथैवायं ध्वनेर्विषयस्तथैवायमपि भेदद्वयं किं न भवतीत्याशङ्क्याह—आप इत्यादि । वाच्यत्वमिति, अत एव न ध्वनेर्विषयः । तस्य वाच्यातिरिक्तस्वरूपत्वात् । तृतीयप्रकारविषयत्वेनेति प्राधान्यादुक्तम् । आपस्यापि प्रकारद्वयस्य द्वयोरुपादानसंभवात् ।

विशेष्यस्यापि । इदम् = यह अर्थात् श्लेष का लक्षण । आद्यम् प्राकरगिक गत तथा अप्राकरगिकगत । ‘एव = ही’ कहा गया है साम्य के बाद किन्तु इसे प्रकारद्वय के साथ लगाना चाहिए [ ‘ये दो प्रकार ही’ इस प्रकार ] देखा करने पर ही तृतीय प्रकार विशेषण के ही साम्य में होता है यह व्यवच्छेद सार्थक सिद्ध होगा । ‘एव-ही’ को ‘साम्य’ से अलग कर यदि ‘प्रकारद्वय’ के साथ नहीं रखा गया तो प्रथम दो उन स्थलों में नहीं माने जा सकेंगे जिनमें विशेष्य का साम्य नहीं रहता यथा—‘संचारपूतानि दिगन्तराणि’ यह [ दीपक प्रकरण में आया रघुवंश का पद्य ] यहां प्रमा और धेनु दोनों विशेष्य प्राकरगिक और इन्हें श्लिष्ट शब्द से न कहकर स्ववाचक पृथक् शब्द से कहा गया है ।

‘यह जिन आपकी रक्षा करे, काम के अग्रगामी वीर वीर अप्सराओं के स्तम्भ जिसमें क्षोभ उत्पन्न नहीं कर सके, जो दोनों भुजाओं तथा फूले मण्डल [ घेरा वीर पक्ष में धनुष का घेरा ] से सुशोभित थे, जिन्हें वक्षःस्थल को सत्रद्ध [ कवचादि से बद्ध, परिपूर्ण ] कर रखा था, जो गरम [ वीर पक्ष में लोभ, गर्व ] से भरें थे जिन पर व्रण [ घाव, स्तनपक्ष में नखशत ] बने थे, जो विपक्ष [ वीरपक्ष = शत्रुपक्ष, स्तनपक्ष में—सपत्नी ] के हृदय के दहलने वाले थे जो कर्कश थे, और जो उत्तुष्टान्तर दृष्टविग्रह भी [ वीर पक्ष में—खुले आकाश में दिखाई दे रहा है विग्रह = युद्ध जिनका या मरने पर वीर गति प्राप्त होने के कारण आकाश में दिखाई दे रहें, विग्रह = शरीर जिनके, स्तनपक्ष में—उत्तरीय छोड़ अपना पूरा शरीर दिखाला रहे ] थे ।’ [ का० अ० सू० वृ० में वामन के द्वारा उद्धृत ] ।

—यहां [ प्रकृत है जिन अतः ] वीर और स्तन दोनों अप्रकृत हैं और इन्हें किसी श्लिष्टशब्दद्वारा नहीं कहा गया है । [ वस्तुतः इन स्थलों में श्लेष नहीं है । अलंकार है तुल्ययोगिता या दीपक ] ।

विशेषणसाम्यं एव = केवल विशेषणों के ही साम्य में यह प्रकार क्यों नहीं होता ? इस प्रश्न पर उत्तर देते हैं—‘विशेष्यसाम्ये तु’—‘यदि विशेष्य का भी साम्य हो तो’ इत्यादि । जैसे—

‘लंकालयानां पुत्रक ! वसन्तमासे लब्धप्रसराणान् ।

आपीतलोहितानां विभेति जनः पलाशानाम् ॥

—‘हे पुत्र ! लंका के वसन्त में लब्धप्रसर तथा लाल-पीले पलाशों से लोग भर रहे हैं ।’

यहां पलाश—यह विशेष्य भी श्लिष्ट है परन्तु प्रकरण के आधार पर वाच्यता केवल वृक्ष-विशेष ( टेसू ) में ही नियमित हो जाती है, क्योंकि वही प्रस्तुत है, अतः अप्रस्तुत निशाचर ( पल=



मांस, अशु-खाने वाले ) यहाँ व्यञ्जना द्वारा प्रतीत होते हैं । फलतः यह ध्वनि का उदाहरण है यहाँ उपमा को ही व्यंग्य मानना उचित है, अतिशयोक्ति को नहीं, यह विचार प्रकृतोपयोगी नहीं है इसलिए इसका प्रतिपादन नहीं किया गया ।

प्रदान. जिम प्रकार यह ( तृतीय भेद विशेष्य के साम्य में ) ध्वनि का विषय मान लिया जाता है उसी प्रकार प्रथम दो भेदों को ध्वनि का विषय क्यों नहीं मान लिया जाता । इस पर उत्तर देने हुए लिखा—‘आद्य’ । इत्यादि । वाच्यत्व इसीलिये यह ध्वनि का विषय नहीं होता । क्योंकि उमका स्वरूप वाच्य से मित्र होना है । तृतीयप्रकारविषयस्वेन = ( दोनों का शब्दत कथन’ यह केवल ) तृतीय प्रकार के लिये ही कहा गया है’ यह केवल प्राधान्य को लेकर कहा गया है क्योंकि प्रथम दोनों प्रकारों में भी दोनों का पृथक् उपादान सभव है ।

### [ सर्वस्व ]

क्रमेण यथा—

‘येन ध्वस्तमनोभवेन वल्लिजित्कायः पुरास्त्रीकृतो  
यश्चोद्वृत्तभुजंगद्वारघलयो गङ्गां च योऽधारयत् ।  
यस्याहुः शशिमच्छिरोहर इति स्तुत्यं च नामामराः  
पायात्स स्थयमन्ध्रक्षयकरस्त्वां सर्वक्षोमाधवः ॥’  
‘नीतानामाकुलीभावं लुभ्यैर्भूरिशिलीमुखैः ।  
सदृशे वनवृद्धानां कमलानां तदीक्षणे ॥’  
‘स्वेच्छोपजातविषयोऽपि न याति घक्तुं  
देहीति मार्गणशतैश्च ददाति दुःखम् ।  
मोहात्समास्त्रिपति जीवितमप्यकाण्डे  
कष्टं मनोभव इवैश्वरदुर्विदग्धः ॥’

अत्र हरिहरयोर्द्वयोरपि प्राकरणिकत्वम् । पद्मानां मृगाणां चोपमानत्वाद्-  
प्राकरणिकत्वम् । ईश्वरमनोभययोः प्राकरणिकाप्राकरणिकत्वम् । एवं च  
शब्दार्थोभयगतत्वेन वर्तमानत्वादिप्रविधेः । तत्रोदात्तादिस्वरभेदात्प्रयत्नभेदाच्च  
शब्दान्यत्वे शब्दश्लेषः । यत्र प्रायेण पदभङ्गो भवति । अर्थश्लेषस्तु यत्र  
स्वरादिभेदो नास्ति । अत एव न तत्र समङ्गपदत्वम् । संकलनया तूभय  
श्लेषः । यथा—

‘रक्तच्छदत्वं विक्रवा वहन्तो नालं जलैः संगतमादधानाः ।  
निरस्य पुष्पेषु रुचिं समग्रां पद्मा विरेजुः श्रमणा यथैव ॥’

अत्र रक्तच्छदत्वमित्यादावर्थश्लेषः । नालमित्यादौ शब्दश्लेषः । उभय-  
घटनायामुभयश्लेषः । ग्रन्थगौरवमयात्तु पृथङ्गोदाहृतम् ।

क्रम से [ एक एक के उदाहरण ] यथा—( दोनों प्राकरणिक अर्थ )—

संस्कृत का ‘येन ध्वस्त०’ दद पद्य । ( इसमें दो समानान्तर अर्थ निकलते हैं, एक शिवपरक  
और दूसरा विष्णुपरक । दोनों में से प्रथम शिवपरक अर्थ इस प्रकार है—

—[ शिवपरक अर्थ ]—‘जिन्होंने काम को ध्वस्त किया है, जिन्होंने एक बार ( त्रिपुरवप के समय ) विष्णु के शरीर को अन्न बनाया था, जो फनफनाते सर्पों के द्वार और कंकण पहने रहते हैं, जिन्होंने ( स्वर्ग से गिरती ) गंगा को धारण किया था, देवगण जिनके स्तिर को चन्द्रमा से युक्त कहते, तथा जिनका ‘हर’ यह स्तुत्य नाम पुकारते हैं ऐसे अन्धकासुर के निदन्ता पार्वती प्रिय स्वयं भगवान् शंकर आपकी रक्षा करें !’

[ विष्णुपरक ] ‘जो अजन्मा हैं और जिन्होंने शकटासुर को ध्वस्त किया है, जिन्होंने अपना बलि को जीतने वाला शरीर [ अमृत वांटते समय मोहिनी अवतार में ] स्वी शरीर बना दिया था, जिन्होंने फनफनाते [ कालिय ] सर्प का दमन किया, जो चक्र को धारण किए हैं, जिन्होंने [ गोवर्धन ] पर्वत और [ पाताल गई ] पृथिवी को धारण किया, देवलोग जिसका ‘राहुशिरोगंजक’ यह स्तुत्य नाम लेते हैं वे अन्धकवंश को [ द्वारकामें ] बसाने वाले और उसके विनाश करने वाले, सर्वस्वदाता स्वयं भगवान् विष्णु आपकी रक्षा करें ।

[ ये दोनों अर्थ इस पद्य के शब्दों को तोड़ने से निकलते हैं । यथा शिवपक्ष में ध्वस्तमनोभव = ध्वस्त किया मनोभव कामको जिसने, विष्णुपक्ष में ध्वस्तन् अनः अमवेन = जिसने अन = शकट = शकटासुर को ध्वस्त किया है तथा जो अजन्मा है । बलिलित्काय = बलिजित = विष्णु, बलिको जीतने वाला शरीर, पुरास्वीकृत = शिवपक्ष में पुरा अस्वीकृत, वि० प० में पुरा स्वीकृत, उद्बृत्त मुजंगाहारवलयः = शि० प० में—उद्बृत्त भुजंगों के द्वार और वलयवाले अथवा स = विष्णु उनका रव = नाम उसमें लय है जिनका, वि० प० में = उद्बृत्त भुजंग के हा—‘मारक’, अरवलय = चक्र तद्वान्, शिवपक्ष में = गंगा = गंगाको विष्णुपक्ष में = अंगं गां = पर्वत तथा पृथिवी को, शशि-मच्छिरोहर = शि० प० में—शशिमान् शिर वाले, तथा हर इस नाम वाले, वि० प० में—शशी को मथने = प्रसनेवाले राहु का शिर हरने वाले, अन्धकक्षयकर = शि० प० में—अन्धकासुर का क्षय विनाश करने वाले, वि० प्र० में—अन्धकवंश के लिए क्षय = निवासस्थान उसका बनाने वाले तथा उसका क्षय = विनाश करने वाले, सर्वदोमाधव = शि० प० में सर्वदा उमाधव = उमा के पति शिव, वि० प० में—सर्वदः = सबकुछ देने वाला, माधव मा = लक्ष्मी के धव = पति = विष्णु । ]

[ दोनों अप्राकरणिक अर्थ यथा ]—

‘नीतानामाकुलीभावम्’ यह पद्य । [ इसमें दो अर्थ निकलते हैं १-पद्यपरक, २-हरिणपरक । प्रथम के पक्ष में श्लोक अर्थ होगा— ]

‘उसके नेत्र अनेक लुम्ब मौरों से आकुल और पानी में लगे कर बड़े कमलों के समान हैं ।’

दूसरा पक्ष—उसके नेत्र अनेक बाण वाले बहेलियों द्वारा आकुल हुए जंगली हिरणों [ के नेत्रों ] के समान हैं ।

[ कमल पक्ष = लुम्ब = लोभी, शिलीमुख = भ्रमर, वन = जल, कमल = पद्म । हरिणपक्ष = लुम्ब = बहेलिया, शिलीमुख = बाण, वन = जंगल, कमल = हिरण— ]

[ एक प्राकरणिक और एक अप्राकरणिक अर्थ, तथा विशेषण और विशेष्य दोनों का शब्दतः कथन—यथा ]—‘स्वेच्छोप०’ पद्य का यह अर्थ—

‘देव की बात है कि नासमझ स्वामी काम के समान होता है जो स्वेच्छोपजातविषय [ प्रभु = अपनी इच्छा भर विषय = धनधान्यादि, काम = अपनी इच्छा के अनुसार विषय = स्त्री आदि ] पाकर भी मार्गणशत के द्वारा [ प्रभु = सैकड़ों पाचकों द्वारा ] ‘देहीति’ [ प्रभु = देहि = दीजिए, इति ऐसा ] कहा नहीं जाता, और दुःख देता है [ काम भी मार्गणशत = सैकड़ों बाणों के द्वारा दुःख देता है और देहीति = देही = शरीरी आत्मा नहीं कहा जाता ] और मोह से [ प्रभु नासमझी से,

काम = मूर्च्छा से ] जीवन को [ प्रयु-अधिक को, काम = प्राणों को ] भी एकाएक नष्ट कर देता है ।

—इन [ तीनों पद्यों में से प्रथम पद्य ] में शिव और विष्णु दोनों प्राकरणिक हैं, [ द्वितीय पद्य में ] पद्म और मृग दोनों उपमान हैं इसलिए अप्राकरणिक हैं [ और तीसरे पद्य में ] स्वामी प्राकरणिक है और काम अप्राकरणिक ।

यद् शब्द, अर्थ और दोनों में रहता है, इसलिए तीन प्रकार का होता है । इनमें शब्द का श्लेष वह होता है जिसमें उदात्त आदि स्वर का अन्तर पढ़ जाता है फलतः [ उच्चारण के ] प्रयत्न में अन्तर आ जाता है अतः शब्द भी बदल जाता है । यहाँ प्रायः शब्द टूटना है । अर्थ श्लेष वहाँ होता है जहाँ स्वर आदि का भेद नहीं होता । इसीलिए इसमें शब्दों में भङ्ग (टूट) नहीं रहता । उभयश्लेष होता है इन दोनों के एकत्रीकरण से ।

यथा—

पद्य ठीक वैसे ही सुशोभित हो रहे थे जैसे अमण । क्योंकि वे लाल वर्ण के छद (पशुडी) धारण किये हुए थे [ अमण भी लाल वर्ण का छद = कन्या धारण करने है ], वे विकच [ सिले हुए थे, अमण भी कच = केत्यों से रहित = विकच = मुण्डित सिर होते हैं ], जलों में सगन = डूबी नाल को धारण किए हुए थे और अमण भी जब व्यक्तियों का अधिक साप नहीं करते = [ जलेपु = जलेपु अलम् = अधिक, सगतम् = साहचर्य न आदधाना ] [ अन्य ] पुण्यों की सपूर्ण रूचि निरस्त कर चुके थे । [ अमण भी पुण्य = स्त्री या पुण्यधन्या काम की सपूर्ण रूचि = चाह समाप्त कर देने हैं ] ।

—यहाँ 'रक्तच्छदत्व' आदि [ आदि पद से विकचत्व, पुण्यरूचिनिरसन ] में अर्थश्लेष है और 'नाल' आदि [ आदि शब्द ] में [ नाल तथा न अलम् ; जल तथा जड़ इत शब्दभेद होने से ] शब्दश्लेष है । क्योंकि यहाँ दोनों एक ही वाक्य में मिलित हैं इसलिए यहाँ उभयश्लेष हुआ । तीनों के उदाहरण अलग-अलग नहीं दिए अन्य कलेवर बढने के मय से ।

### विमर्शिनी

एव इति त्रिविधोऽपि श्लेषः । तत्रेति त्रयनिर्धारणे । यत्रेति तादृश्लेषे । अत्र एवेति स्वरादिभेदाभावात् । संकलनयेति समङ्गासमङ्गपदसंमेलनया । पृथगिति भेदेन । तत्र तादृश्लेषो यथा—

'ते गच्छन्ति महापदं भुवि, पराभूतिः समुत्पद्यते

तेषां, तैः समलंकृतं निजकुलं, तैरेव लब्धा क्षितिः ।

तेषां द्वारि भदन्ति वाजिनिवहास्ते भूपिताः प्रययहं

ये ह्यष्टाः परमेश्वरेण भवता तुष्टेन रुष्टेन वा ॥'

अत्र पदानां समङ्गत्वं स्पष्टम् । अर्थश्लेषो यथा—

'इच्छन्तौ विद्युकाप्रचुग्वनमयो शैथिल्यशङ्कोक्षितौ

नैविद्येन परस्परस्य न मनाक केनापि लब्धान्तरी ।

धन्यां तौ तद्विगतनाविव न यौ स्वप्नेऽपि विरिच्छप्यतो

विरलेपं विषमं विषयं भवतो नाचोमुखौ जानु वा ॥'

अत्र पदानामसमङ्गत्वं स्पष्टम् । संकलनया तु ग्रन्थकृतैवोदाहृतम् । अस्य च तादृश्लेषाभिन्नत्वादुभयालंकारतां दर्शयति—अलंकारैर्यादिना ।

एव = यह अर्थात् तीनों प्रकार का श्लेष । तत्र = तीनों में । यत्र = जहाँ अर्थात् शब्दश्लेष में । अत एव = इसीलिए अर्थात् स्वरादि का भेद न होने से । संकलनया = एकत्रीकरण अर्थात् समङ्ग

पद एवं अमङ्ग पद के मिश्रण से। पृथक् = अलग-अलग = अर्थात् प्रत्येक का उदाहरण भिन्न करके। भिन्न उदाहरण इस प्रकार है—

‘आप परमेस्वर हैं। आप जिस पर प्रसन्न या रुष्ट होते हैं वे महापद [ महान् उच्च पद, महा आपद् आपत्ति ] को प्राप्त होते हैं, पृथिवीमण्डल पर उनकी परामृति [ परा = उत्कृष्ट भूति = वैभव, परामृति = परामव ] होती है, वे अपने कुल को समलंकृत [ सम् = सब प्रकार से अलंकृत = शोभित, समलं = गलसहित कलंकित ] कर देते हैं, वे ही क्षिति [ पृथिवी, क्षय ] को पा लेते हैं, उनके दरवाजे बाजिनिवह [ बाजि = घोड़ों के निवह समुदाय, वा = या आजि = युद्ध = निवह ] भरवते हैं, और वे ही प्रतिदिन भूषित [ अलंकृत, भू = पृथ्वी पर सित = पड़े हुए ] रहते हैं।’  
यहाँ पदों में मङ्ग है।

अर्थश्लेष क्या -

‘वे [ दम्पती ] धन्य हैं तरुणीस्तनों के समान जो सदा ही चिबुकाग्र [ डुब्डी के अग्रभाग ] का चुम्बन करना चाहते हैं, जिनमें शिथिलता की शंका नहीं रहती, परस्पर में इतने घने [ सटे ] रहते हैं कि अन्य किसी को बीच में जगह नहीं मिलती, जो स्वप्न में भी अलग नहीं होते और अलग होते भी हैं तब भी कभी अधोमुख नहीं होते।’ —यहाँ पदों में मङ्ग नहीं है यह स्पष्ट है। दोनों का मिलित उदाहरण स्वयं ग्रन्थकार ही [ ‘रक्तच्छदत्वम्’ यह ] दे चुके हैं।

यह शब्द और अर्थ दोनों पर आश्रित है, इसलिये इसको दोनों का अलंकार बतलाने हुए कहते हैं—

[ सर्वस्व ]

अलंकार्यालंकरणभावस्य लोकवदाश्रयाश्रयिभावेनोपपत्तेः ‘रक्तच्छदत्वम्’ इत्यादावर्थद्वयाश्रितत्वादयमर्थालंकारः ‘नालम्’ इत्यादौ तु शब्दद्वयाश्रितत्वाच्छब्दालंकारोऽयम्। यद्यप्यर्थभेदाच्छब्दभेद इति दर्शते ‘रक्तच्छदत्वम्’ इत्यादावपि शब्दाश्रितोऽयं तथाप्यौपपत्तिकत्वाद्भ्रंशब्दभेदस्य प्रतीतिरेकतावसायान्नास्ति शब्दभेदः। ‘नालम्’ इत्यादौ तु प्रयत्नादिभेदात् प्रातीतिक एव शब्दभेदः। अतश्च पूर्वैकवृत्तगतफलद्वयन्यायेनार्थद्वयस्य शब्दश्लेषत्वम्, अपरत्र जतुकाष्ठन्यायेन स्वयमेव श्लेषत्वम्। पूर्वत्रान्वयव्यतिरेकाभ्यां शब्दहेतुकत्वाच्छब्दालंकारत्वमिति चेत्, न आश्रयाश्रयिभावेनालंकारत्वस्य लोकवद् व्यवस्थानात्।

अलंकार्यालंकरणभाव [ काव्य में भी ] आश्रयाश्रयिभाव के आधार ही ठीक उसी प्रकार संभव होता है जिस प्रकार लोक में, अतः ‘रक्तच्छदत्वम्’ इत्यादि पद्य में यह [ श्लेष ] दो अर्थों पर आश्रित रहने से अर्थ का अलंकार है। इसके विपरीत ‘नाल’ इत्यादि स्थल में दो शब्दों पर आश्रित रहने से यही शब्द का अलंकार है। यद्यपि ‘अर्थ भिन्न हो तो शब्द भी भिन्न होता है’ इस सिद्धांत के अनुसार ‘रक्तच्छदत्वम्’ इत्यादि में भी यह [ श्लेष ] शब्दाश्रित ही माना जा सकता है तथापि यह शब्दभेद सिद्ध करने पर सिद्ध होता है, प्रतीति तो होती है एक रूप से ही। इस कारण यहाँ [ काव्य में प्रतीति का सारा खेल है अतः इसकी दृष्टि से ] शब्दभेद नहीं है। और इसीलिये प्रथम श्लेष में दो अर्थों का [ एक ] शब्द में श्लेष = जोड़ उसी प्रकार है जिस प्रकार एक वृत्त में दो फलों का होता है, जब कि दूसरे श्लेष में स्वयं शब्दों का ही श्लेष = जोड़ रहता है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार जतु = लाक्षा और काष्ठ = लकड़ी का। [ मन्मट का ] यह कहना ठीक नहीं है कि ‘प्रथम

[ अमग ] भेद में भी [ श्लेष ] शब्द का ही अलङ्कार है क्योंकि उसका रहना न रहना शब्द के रहने न रहने पर निर्भर है इसलिए उसके प्रति शब्द ही हेतु है, और अलङ्कार की शब्दार्थगत-त्वेन व्यवस्था हेतु हेतुमद्भाव के आधार पर होनी चाहिए, क्योंकि वस्तुतः काव्यालङ्कार भी लौकिक अलङ्कारों के समान ही आश्रयाश्रयिभाव को लेकर उद्घारा जा सकते हैं [ हेतुहेतुमद्भाव को लेकर नहीं ] ।

### विमर्शिनी

ननु च 'धावन्त एवमर्थाः स्युः शब्दास्तावन्त एव हि' इत्याद्युक्त्या रक्तच्छदत्वमित्या-  
दावपि शब्दद्वयाश्रयाच्छब्दालङ्कार एवात्र तत्कथमन्यथोक्तमित्याशङ्क्याह—यवशीत्यादि ।  
एकतावसायादिति । रक्तच्छदत्वादेः प्रयानादिभेद विना सादृश्येनायं द्वयाभिवानात् । अत-  
श्चेति । अर्थद्वयस्य शब्दद्वयस्य च श्लिष्टत्वात् । पूर्वत्रेति । रक्तच्छदत्वमित्यादौ शब्दस्य  
घृन्तस्थानीयत्वात् । अपरत्रेति नालमित्यादौ । अतुकाष्टन्यायेनेति परस्पर संबलितत्वात् ।  
पूर्वत्रेति रक्तच्छदत्वमित्यादौ । अन्यव्यतिरेकाभ्यामिति । रक्तच्छदत्वमित्येव शब्दे स्थिते  
श्लेष शब्दपरिवर्तने तु कृते न श्लेष इत्यत्रापि शब्दहेतुकत्वात्तदलङ्कारत्वमेवेत्यर्थः ।  
आश्रयाश्रयिभावेनेति । न पुनरन्वयव्यतिरेकाभ्याम् । ताभ्यां हि यस्य यद्हेतुकत्व तस्य  
तत्कार्यत्वं स्याच्च पुनस्तदलङ्कारत्वम् । लोकवदिति । लोके हि यथा कर्णाश्रित, कुण्डलादिः  
कर्णालङ्कार उच्यते न पुनः सुवर्णकारणहेतुकत्वात्तदलङ्कारः ।

'शब्द उतने ही होने हैं जितने अर्थ' इत्यादि वाक्यों के अनुसार 'रक्तच्छदत्वम्' इत्यादि में  
भी यह श्लेष शब्द का ही अलङ्कार है क्योंकि वहाँ भी यह दो शब्दों पर आश्रित है । फिर  
आप इसके विपरीत इसे [ अर्थाश्रित ] क्यों बतला रहे हैं—इस शंका पर उत्तर देते हैं—  
'यद्यपि—' इत्यादि । 'एकतावसायात्' = 'प्रतीति में एकता का ज्ञान'—इसलिए कि 'रक्तच्छदत्व'  
आदि शब्दों में प्रयत्न आदि के भेद के बिना एकरूपता ( सादृश्य ) के आधार पर दो अर्थों का  
कथन होता है । 'अतश्च = और इसीलिए' = अर्थात् दो अर्थ और दो शब्दों के श्लिष्ट = जुड़े  
हुए होने से । पूर्वत्र = प्रथम में—रक्तच्छदत्व इत्यादि में क्योंकि वहाँ शब्द रहता है घृन्ततुल्य ।  
अपरत्र दूसरे में = 'नालम्' इत्यादि में । 'अतुकाष्टन्यायेन' = साठ और काष्ठ के समान एक  
दूसरे में चिपके रहने से । पूर्वत्र = प्रथम में = 'रक्तच्छदत्व' इत्यादि में । अन्यव्यतिरेकाभ्याम् =  
'एक के रहने पर दूसरे का रहना और न रहने पर न रहना' = 'रक्तच्छदत्व' इसी शब्द के  
रहने पर श्लेष रहता है, इस शब्द के बंदरू देने पर श्लेष नहीं रहता । इस प्रकार यहाँ पर भी  
श्लेष शब्दमूलक है अतः उसे शब्दालङ्कार ही मानना पड़ेगा । आश्रयाश्रयिभावेन = आश्रया  
श्रयिभाव से, न कि अन्यव्यतिरेक से । इन [ अन्यव्यतिरेक ] के द्वारा यह सिद्ध हो सकता है  
कि जो जिससे पैदा होना है वह उसका कार्य है, यह नहीं कि वह उसका अलङ्कार है ।  
लोकवद् = लोक के समान—'लोक में जिस प्रकार कान में पहना कुण्डल आदि अलङ्कार कान का  
ही अलङ्कार [ शोभावर्धक ] कहा जाता है न कि सुवर्ण रूनी कारण से उत्पन्न होने के कारण  
सुवर्ण का अलङ्कार [ शोभावर्धक ] ।

विमर्शः—श्लेष शब्द का प्रमुख अर्थ है जुटना, चिपकना, और अलङ्कार शब्द का अर्थ है  
शोभावर्धक तत्त्व अथवा अप्रधान रूप से चमत्कारजनक तत्त्व । प्रश्न उठता है श्लेष में अलङ्कार्य कौन  
है । श्लेष स्वयं हुआ अलङ्कार, अतः अर्थकार्य शब्द या अर्थ इन दो में से कोई एक हो सकता है ।

उद्भूत और सर्वस्वकार समंग और अभंग हम दोनों श्लेषों को अर्थालंकारों के प्रकरण में रखते हैं अतः सामान्यतः यही सिद्ध होता है कि दोनों ही प्रकार का श्लेष अर्थालंकार ही है। उधर उद्भूत ने समंग श्लेष को शब्दालंकार कहा है अतः मम्मट ने उसके अर्थालंकारों के बीच रखे जाने पर आपत्ति उठाई है—‘शब्दालंकार इति चोच्यते, अर्थालंकारमध्ये च गण्यत इति कोथं नयः’ [ नवम उल्लास ] उद्भूत के अनुकरण पर मम्मट ने स्वयं शब्दश्लेष को नवम उल्लास में शब्दालंकारों के बीच रखा है और अभंगश्लेष को अर्थालंकारों के बीच दशम उल्लास में। सर्वस्वकार ने अतिशयोक्ति को तो दो अलग-अलग प्रकरणों में रखकर वर्गाकरण को महत्त्व दिया, किन्तु यहाँ उन्होंने वैसा नहीं किया और समंग श्लेष को शब्दालंकार कहकर भी उसे अर्थालंकारों के बीच रखा। विचित्रता यह है कि मम्मट द्वारा श्लेष पर उठाई गई अन्य आपत्तियों का उत्तर देते हुए भी वे इस आपत्ति पर मौन हैं। वस्तुतः यह उनकी शिथिलता ही है। इस प्रकार समंग श्लेष में अलंकार्य शब्द ही मान्य है। अर्थ यह कि समंग श्लेष शब्दालंकार ही है।

अभंग श्लेष में अलंकार्य के निर्णय की समस्या जटिल है। जटिलता इसलिए है कि निर्णायक विन्दु पर आचार्यों का मत एक नहीं है। उद्भूत के अनुसार निर्णायक है आश्रयश्रयिभाव। इस मत में श्लेष का आश्रय ही श्लेष का अलंकार्य है। समंग श्लेष में दो शब्दों का जोड़ रहता है और वह लख और लकड़ी के जोड़ के समान स्पष्ट दिखाई देता है। अतः वहाँ शब्द ही श्लेष का आश्रय और अलंकार्य मान लिया जाता है। किन्तु अभंगश्लेष में आश्रय का निर्णय करना कठिन है। अभंग श्लेष में अर्थ दो होते हैं इसलिए अर्थ के जोड़ में कोई मतभेद नहीं बैठता। जहाँ तक शब्द का संबन्ध है इसके विषय में दो मत हैं। एक के अनुसार अभंग श्लेष में यद्यपि शब्दों में भेद नहीं रहता अतः उनका वैसा जोड़ नहीं रहता जैसा समंग श्लेष में रहता है, तथापि एक दूसरे प्रकार का जोड़ अवश्य रहता है। वह है गाय और भैंस के दो भिन्न दूधों के मिश्रण जैसा जोड़। फलतः उसमें जोड़ की प्रतीति नहीं हो पाती। प्रतीति न होने पर भी शब्दों में जोड़ इसलिए माना जाता है कि अर्थ बदलते ही शब्द भी बदल जाता है। जैसे मानस शब्द के दो अर्थ होते हैं, एक मानसरोवर तालाब और दूसरा चित्त। यद्यपि ‘म, भा, नू, अ, सू, अ’ वे वर्ण उसी क्रम से तालाबवाचक मानस शब्द में आते हैं जिस क्रम से चित्तवाचक मानस शब्द में, जिससे दोनों मानस शब्दों के उच्चारण में प्रबलभेद नहीं होता, अतः दोनों शब्दों में एकता की प्रतीति होती है तथापि वे दो भिन्न शब्द हैं क्योंकि अर्थों में भेद है। जैसा कि कहा जाता है—‘प्रत्यर्थ शब्दा भिद्यन्ते।’ इस सिद्धान्त के अनुसार जोड़ या श्लेष का आश्रय शब्द है इसलिए श्लेषरूपी अलंकार का अलंकार्य शब्द ही है। इस मत के प्रवर्तक आचार्य हैं मम्मट। उनकी पंक्ति है—

[ का० ] ‘वाच्यभेदेन भिन्ना यद् युगपदुच्चारणस्यः ।

द्विलभ्यन्ति शब्दाः श्लेषोऽसौ..... ॥’

[ वृ० ] ‘अर्थभेदेन शब्दभेद’ इति दर्शने वाच्यभेदेन भिन्ना अपि शब्दा यद् युगपदुच्चारणेन

द्विलभ्यन्ति = भिन्न स्वरूपमपद्रुवते स श्लेषः । [ काव्यप्रकाश ७० ९ ] ।

—‘अर्थभेद में शब्दभेद’ इस सिद्धान्त के अनुसार अर्थभेद से भिन्न हुए भी शब्द एक साथ उच्चारण के कारण अपना भिन्न रूप छिपा लेते हैं तो उसे शब्दश्लेष कहा जाता है।’

अर्थभेद से शब्दभेद का सिद्धान्त मम्मट के पूर्व उद्भूत ने भी माना था और कहा था—

‘एकप्रयत्नोच्चार्याणां तच्छायां चैव विभ्रतान् ।

स्वरितादियुगैर्भिन्नेर्वन्धः द्विलभ्यन् ॥ ४१९ ॥ अर्थात्

—एक ही प्रयत्न से उच्चार्य अत एव समान प्रतीत होते शब्दों का वन्न श्लेष = जुड़ा हुआ = जोड़ से युक्त कहलाता है। 'समान प्रतीत होने' इस कथन का आधार 'अर्थभेद में शब्दभेद' सिद्धान्त ही है। उद्भट के काव्यालंकारसारसंग्रह की टीका लघुवृत्ति में प्रतीहारेन्द्रराज ने भी लिखा है—

'अर्थभेदेन तावच्छब्दा मिथन्त इति मट्टोद्भटस्य सिद्धान्तः ।'

किन्तु उद्भट ने ऐसे शब्दों के श्लेष का अलंकार्य शब्द को न मान अर्थ को मान लिया—  
'पदै', द्विविधैरर्थशब्दोक्तिविशिष्टं मत्'

—पद दो प्रकार के होते हैं—( १ ) एकोच्चारण वाले और ( २ ) भिन्न उच्चारण वाले। इन दो प्रकार के पदों से श्लेष भी दो प्रकार का होना है अर्थश्लेष और शब्दश्लेष एकप्रयत्नोच्चार्य शब्दश्लेष दूसरे शब्दों में अमंगलश्लेष ही है। इस पर मम्मट ने आपत्ति उठाई और कहा जब श्लेष शब्द में माना [ अर्थात् श्लेष का आश्रय शब्द को माना ] तब अलंकार्य अर्थ कैसे माना जा सकता है। रहे श्लेष किसी में और अलंकृत करे किसी को यह वान तर्कशुद्ध नहीं रही जा सकती। और इसीलिए अमंग श्लेष को अर्थालंकार नहीं माना जा सकता। वह शब्दालंकार ही है।

एक प्रश्न और उपस्थित हुआ। यह कि अमंग श्लेष में अर्थभेद से शब्दभेद मानना और फिर शब्द में ही श्लेष स्वीकार करना कहाँ तक वास्तविक है। यह केवल शास्त्रमति ही है, या इसमें कोई यथार्थ भी है। इसका उत्तर मम्मट ने तर्कशास्त्र की दुहाई देकर दिया। उन्होंने कहा अमंगलश्लेष में श्लेष का आश्रय कौन है यह तथ्य अन्वय और व्यतिरेक की कसौटी से परखा जा सकता है। यदि शब्द के हटा दिए जाने से श्लेष न हटे तो वह अवश्य ही शब्द का श्लेष न होगा, अर्थ का ही श्लेष होगा। 'रक्तच्छदत्व'-आदि अमंग श्लेष के स्थलों में स्थिति ऐसी नहीं है। वहाँ यदि 'रक्तच्छद' शब्द के स्थान पर 'रक्तपत्र' शब्द दे दिया जाय तो इस शब्द का अर्थ अमंगल पक्ष में लागू नहीं होगा, फलतः श्लेष नष्ट हो जायगा। विकच शब्द भी नहीं हटाया जा सकता। 'विकेश' या 'विकसित' कहने पर एकान्वयी अर्थ ही निकलता है अतः श्लेष नष्ट हो जाता है। इस प्रकार श्लेष का आश्रय अमंग श्लेष में भी शब्द ही होता है।

अलंकारसर्वस्वकार और जयरथ ने मम्मट की इस तार्किकता को सहृदयता से काटने की कोशिश की। अन्वयव्यतिरेक को इन दोनों ने कार्यकारणभाव का नियामक माना, अलंकार का नहीं। अलंकार को इन्होंने आश्रयाश्रयिभाव पर ही निर्भर मानने का पक्ष प्रस्तुत किया है। यह इनके सभी व्याख्यान से ही स्पष्ट है। लोक में जैसे केयूर का कारण सुवर्ण होता है किन्तु वह अलंकार होता है भुजा का, इसलिए केयूर के अन्वयव्यतिरेक सुवर्ण के साथ रहने है, सुवर्ण के न रहने पर केयूर नहीं रहता और रहने पर रहता है, अब कि अलंकार्यालंकारभाव भुजा के साथ, जो केयूर का आश्रय है। फलतः अलंकार्यालंकारभाव आश्रयाश्रयिभाव पर निर्भर माना जाना चाहिए। अमंगलश्लेष में जहाँ तक आश्रय का सम्बन्ध है इसका निर्णय कल्पित शास्त्रसिद्धान्त पर नहीं, अनुभव और सवित्ति पर किया जाना चाहिए, क्योंकि यह क्षेत्र काव्य का क्षेत्र है। सवित्ति में अमंगलश्लेषस्थल में द्वैत अर्थगण ही भासित होता है, शब्दगण नहीं। फलतः शब्द एक वृत्त = बँटल है, जिसमें दो अर्थ के दो फल लगे हुए हैं।

फल दो हों तो वृत्त को भी दो मानने की नासमझी कोई नहीं करता। वृत्त के एक होने से उसमें श्लेष या जोड़ का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। प्रश्न फल में ही उठ सकता है क्योंकि द्वैत नहीं है। फलतः श्लेष अर्थों में ही है। अर्थ ही श्लेष के आश्रय है। अर्थ ही श्लेष के अलंकार्य है।





फलन अधिक अच्छा हो कि मम्मट और अलङ्कारसर्वस्वकार अपने पूर्ववर्ती आचार्य उद्भट और अर्थभेद से शब्दभेद मानने वाले अन्य दार्शनिकों का मुलाहिजा न कर भ्रमग श्लेष के स्थान पर 'सन्मालंकार' नामक एक स्वतन्त्र अलङ्कार को स्वीकार करें।

पण्डितराज अगम्राथ तथा विश्वेश्वर ने इन मतभेदों का उन उन आचार्यों के नाम के साथ अनुवादमात्र कर दिया है। इन पर अपनी ओर से कोई टिप्पणी नहीं है।

### विमर्शिनी

तत्, एव रूपस्यास्य 'निरवकाशा हि विधयः सावकाशाशान्विधीन्याधत्ते' इति नीत्या निरवकाशाशासर्वालंकारापवादकत्वं केचिदाहुरित्याह—एव चेत्यादि।

'जो विधि निरवकाश होती है वे सावकाश विधियों को बाधित कर उनके स्थान पर चरितार्थ मानी जाती है' इस सिद्धान्त के अनुसार उक्त प्रकार के इस श्लेष को निरवकाश मानकर कुछ [ उद्भट आदि ] आचार्य अन्य सब अलङ्कारों का अपवाद या बाधक मानते हैं। ग्रन्थकार इसी तथ्य को प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं—

### [ सर्वस्व ]

एव च नामात्तेष्वलंकारान्तरेष्वारभ्यमाणस्तद्वाचकत्वेन तत्प्रतिभोत्पत्तिहेतुरिति केचित्। 'येन ध्वस्तमनोभवेन बलिजित्कायः पुरास्त्रीकृतः' इत्यादौ विविक्तोऽस्य विषय इति निरवकाशाभावाद्गान्यवाचकत्वमित्यन्यैः सह संकरः, दुर्बलत्वाद्वा वाध्यत्वमित्यन्ये। तत्र पूर्वोपमयमभिप्रायः। इह शकुरणिकाप्राकरणिकोभयरूपानेकार्यगोचरत्वेन तावत्प्रतिष्ठितोऽयमलंकारः। तत्रार्थ प्रकारद्वयं तुल्ययोगिताया विषयः। तृतीये तु प्रकारे दोषकं भवतीति तावदलंकारद्वयमिदं श्लेषविषयं व्याप्त्या व्यवतिष्ठते। तत्पृष्ठे चालंकारान्तराणामुत्थानमिति नास्ति विविक्तोऽस्य विषयः। अत एवालंकारान्तराणां बाधितत्वात्प्रतिभानमात्रेणावस्थानम्। 'येन ध्वस्तमनोभवेन' इत्यादौ च प्राकरणिकत्वादर्थद्वयस्य तुल्ययोगितायाः प्रतिभानम्। एवं च 'सकलकलं पुरमेतज्जातं संप्रति सुधांशुविम्बमिव' इत्यादौ न गुणक्रियासाम्यवच्छन्दसाम्यमुपमाप्रयोजकम् अपि तूपमाप्रतिभोत्पत्तिहेतुः श्लेष एवावसेयः। श्लेषगर्भे तु रूपके रूपकहेतुकस्य श्लेषस्य तृतीयकक्षार्या रूपक एव विद्यान्तिरिति रूपकेण श्लेषो वाध्यते। श्लेषविशेषणनिबन्धनायां च समासोक्तौ विशेष्यस्यापि गम्यत्वाच्छ्लेषस्य बाधिका समासोक्तिः।

[ उद्भट आदि ] कुछ आचार्यों को मान्यता है कि यह [ श्लेष ] नहीं-जहाँ होता है वहाँ अन्य कोई अलङ्कार अवश्य ही उपस्थित रहता है [ न अप्राप्त = इसमें आप दो निषेध आवश्यकत्व के वाचक हैं ] इसलिए यह अन्य अलंकार का बाधक होता है, फलतः वहाँ श्लेष के कारण अन्य अलङ्कारों का आमासमात्र [प्रतिभा] हो पाता है [ अन्य अलङ्कार अलङ्कारत्वेन प्ररूढ नहीं हो पाते ]।

इसके विरुद्ध [ मम्मट आदि ] अन्य आचार्यों का मत है कि 'श्लेष 'येन ध्वस्त' आदि स्थलों में अन्य अलङ्कारों को बाधा से रहित है, अतः श्लेष निरवकाश नहीं है फलतः यह अन्य अलङ्कारों का बाधक नहीं है। निदान अन्य अलङ्कारों के साथ इसका संकर = मिश्रण हो सकता है अथवा दुर्बल होने के कारण अन्य अलङ्कारों के द्वारा यही बाधित माना जा सकता है।'

इतमें से प्रथम आचार्यों का अभिप्राय यह है—'यह तो सर्वमान्य है कि यह (श्लेष) अलंकार प्राकराणिक, अप्राकराणिक अथवा उभयरूप जो अनेक अर्थ होते हैं उनको लेकर प्रतिष्ठित होता है। इनमें से प्रथम दो प्रकार के अर्थ तुल्ययोगिता का विषय हैं और तीसरा प्रकार दोषक का। इस प्रकार में दो अलंकार श्लेष के संपूर्ण क्षेत्र को व्याप्त किए रहते हैं। इनके पीछे [उपमा आदि] अन्य अलंकार भी उठते दिखाई देते हैं। इसलिये इस [श्लेष] का ऐसा कोई स्थल नहीं है जिसमें केवल श्लेष माना जा सके। इसीलिए अन्य अलंकारों को श्लेष से बाधित मानना पड़ता है और श्लेषस्थल में उनके अस्तित्व का आभासमात्र स्वीकार करना पड़ता है। [विविक्त विषय के रूप में जो उदाहरण प्रस्तुत किया गया है उस] 'येन ध्वस्तमनोमवेन०' में भी दोनों अर्थ प्राकराणिक हैं अतः तुल्ययोगिता का आभास होता ही है। इस प्रकार गुण और क्रिया के साम्य के ही समान सकलकल [कलकल शब्द-सहित] वह नगर इस समय चन्द्रविम्ब सा [सकलकल = सकल कला से युक्त] हो गया है' इस स्थल में [मन्मत ने जो] शब्द के साम्य को भी उपमा का प्रयोजक [माना है वह] नहीं माना जा सकता, अपितु यहाँ [उस अंश में] श्लेष माना जाना चाहिए जिससे उपमा का तो आभासमात्र रह जाता है। ['विद्वन्मानस' आदि परम्परित रूपक में] रूपक जहाँ श्लेष से युक्त माना गया है वहाँ रूपक श्लेष से इसलिये बाधित नहीं होता कि वहाँ [पहले राजा पर इस को रूपक की प्रतीति होती है तब वह] रूपक [मानस में] श्लेष को अन्त देता है तदनन्तर [वाक्यार्थ की] तीसरी कक्षा में रूपक की प्रतीति में [वाक्यार्थ की] विश्रान्ति होती है। किन्तु समासोक्ति जहाँ श्लेषयुक्त विशेषणों से युक्त होती है वहाँ विशेष्य के [शब्दतः कथित न होकर] गम्य होने से समासोक्ति ही श्लेष की बाधिका होती है। और—

### विमर्शिनी

केचिदिति, उद्धटादयः। केचिदपुनर्विषयवैविध्यस्य संभवाविरचकाशात्वाभावाज्ञास्य सर्वालंकारापवादकरवमभ्युपयन्तीत्याह—वेनेत्यादि। अन्यथा इति माहश्चाः। निविकोऽस्य विषय इति तुल्ययोगिताया अत्राभावात्। सा हि ह्योरपि प्रकृतयोरप्रकृतयोर्वा विशेष्ययोः घृयगुपादाने औपम्यस्य च गम्यत्वे भवति। इह तु तदभावः। विशेष्ययोः घृयगुपादानात् औपम्यस्य च गम्यत्वाभावात्। न शत्रोमाधवस्य माधवेन तेन वा तस्य सादृश्यं विवक्षितम्। एकेनैव शब्देन श्लेषतयार्थद्वयस्य प्रतिपिपादयित्वात्। अथ हि परस्परनैरपेक्षयात् तयोर्माधववाक्यार्थपरामर्शवेलायां माधववाक्यार्थपरामर्शमात्रमपि नास्तीति को नामौपम्यस्यावसरः। तस्मादेवमाशयलंकारान्तरवियिक्तविषयत्वाच्छ्लेषितायाश्चोद्धुरकंधरीभावेन प्रतीतेर्न निरवकाशः श्लेषः। अन्यैः सह संकर इति द्वयोरपि दुष्यकञ्जताप्रतीतेः। वाक्यत्वमिति। श्लेषस्य दुर्बलत्वाद्दलंकारान्तराणां च बलवत्त्वात्। एतच्च ग्रन्थकृदेवाग्रे दर्शयिष्यतीति नेहायस्ताम्। तदेव प्रस्य सर्वालंकारापवादकरं न युक्तम्। अन्यालंकारवदेव घाध्रवाधकभावादिदर्शनात्। एतशलंकारसारकृता सप्रपञ्चमुक्तितीह ग्रन्थविस्तरभयात् तथा नोक्तम्। पूर्वामिति, उद्धटादीनाम्। अविप्रतिपत्ति-द्योतकत्वाच्चन्द्रः। व्याप्येति। सर्वलक्ष्यगयापकत्वेन, सर्वप्रैवास्य त्रिरूपत्वात्। तस्य इति तुल्ययोगितादीपकोपरि। अलंकारान्तराणामिति उपमादीनाम् उत्थानमिति। तुल्ययोगितादीपकाभ्यामपि सप्रतीतेचद्रेकात्। अत एवेति। तस्य विविक्तविषयत्वासंभवात्। प्रतिमानमिति आभासमात्रम्। न पुनस्तत्रैव विश्रान्तिरित्यर्थः। एतच्च यथा नोपपद्यते तथा समन्तरमेवोक्तम्। तदेवं स्वमतोपोद्धलनाय पूर्वमन्यान्वैः सह संकरो दुर्बलत्वादाघाध-

स्वमिति यदुक्तं तदेव प्रपञ्चयितुमेतत्कर्तुं तावदन्यालङ्कारवाच्यत्वं दर्शयति—श्लेषेत्यादिना। तृतीयकक्षायामिति। प्रथमकक्षायामिति रूपरूपप्रतीतिरेव। द्वितीयकक्षायामिति श्लेषप्रतीतिः। श्लेषस्य सर्वालङ्कारापवाश्वमिच्छद्विरप्यौद्भटैर्षदन्यालङ्कारवाच्यत्वमेतस्योक्तं तत् स्ववचनविषयप्रपञ्चयितुं यत्नयितुं तदुक्तमेव रूपकसमासोक्तिग्राह्यत्वमेतस्य ग्रन्थहृत्तेह दर्शितम्। बाध्यत इति विद्वन्मानसहसोऽयादौ। बाधेति उपोढारामेत्यादौ।

केचित् = कुछ उद्भटादि आचार्य। किन्तु [ मम्मट आदि ] कुछ [ आचार्य ] इमे अन्य सब अलङ्कारों का अपवादक नहीं मानते क्योंकि वे इमे निरवकाश नहीं मानते, एतदर्थ वे स्वका स्वतन्त्र [सर्वालङ्कार रहित] विषय बनलाते हैं। इम तथ्य को लिखने हुए कहते हैं—'येन ध्वरत्त' इत्यादि। अन्यैः = अन्य मुझ जैम [ अर्थात् स्वयं ग्रन्थकार जैसे ]। 'विविक्तोऽभ्य विषयः = 'इस श्लेष का अलङ्कारान्तरशून्य विषय' क्योंकि यहाँ [ 'येन ध्वरत्त'-पद्य में ] तुल्ययोगिता नहीं है। वह तब होती है जब केवल प्रकृत या केवल अप्रकृत विशेष्यो का पृथक् पृथक् उपादान हो तथा सादृश्य गम्य हो। इम [ येन ध्वरत्त ] पद्य में वस [ तुल्ययोगिता ] का अभाव है क्योंकि यहाँ विशेष्यो का उपादान पृथक् नहीं हुआ है तथा सादृश्य गम्य नहीं है। ऐसा नहीं है कि पद्य में उभाषव [शुकर] का माधव से या माधव का उभाषव से सादृश्य विवक्षित हो। यहाँ तो दोनों अर्थों का एक ही शब्द के द्वारा शिष्टरूप से प्रतिपादन अभीष्ट है। यहाँ तो उन [ दोनों पक्षों ] में परस्पर निरपेक्षता होने से जब उभाषव-सम्बन्धित वाक्यार्थ की प्रतीति होनी है तब माधववाक्यार्थ का परामर्शमात्र तक नहीं रहता। तब यहाँ सादृश्य का अवसर ही क्या हो सकता है। इस कारण येमे स्थलों में श्लेष अन्य अलङ्कारों के स्पर्श से रहित रहकर विद्यमान है, तथा यहाँ श्लेषता प्रमुख रूप से परिलक्षित दिखाई दे रही है फलतः इमे निरवकाश नहीं कहा जा सकता। अन्यैः सह संकरः—अन्यों के साथ संकर—क्योंकि दोनों समानरूप से प्रतीत होते हैं। बाध्यत्वम् = बाध्य होना = क्योंकि श्लेष पूर्वल होता है और अन्य अलङ्कार प्रबल। इमे स्वयं ग्रन्थकार ही आगे दिखलाये इसलिये इसके विवेचन पर यहाँ श्रम नहीं किया जा रहा। तो इस प्रकार इस [ श्लेष ] का सभी अलङ्कारों को बाधित कर उनका अपवाद माना जाना ठीक नहीं है। क्योंकि [ उपमा और रूपक आदि ] अन्य [ स्वतन्त्र ] अलङ्कारों के ही समान बाध्यबाधक भाव [ तथा स्वतन्त्र विशेषता ] आदि दिखाई देते हैं। इसका विस्तृत विवेचन अलङ्कारसारकार ने कर रखा है। इसलिये उतने विस्तार के साथ यहाँ विवेचन नहीं किया जा रहा। इससे ग्रन्थ विस्तार का भी मय था [ हमसे स्पष्ट है कि विर्माशुनीकार मूल के विरुद्ध मम्मट के समर्थन हैं ] पूर्वेषाम् = प्राचीन = छद्म आदि। तावत्—एवम् इस बात का घोटक है कि इस विषय में विपक्षों को भी आपत्ति नहीं है। व्याप्यमा = व्याप्त कर = लक्ष्य के सर्वदेश में व्याप्त होने से क्योंकि तीन रूपका यह [ श्लेष या अर्थ ] सर्वत्र किसी न किसी रूप में दिखाई देता है। सादृष्टे = उसके पीछे अर्थात् तुल्ययोगिता और दीपक के ऊपर। अलङ्कारान्तरागाम् = अन्य अलङ्कारों का अर्थात् उपमा आदि का। उभयानामिति = क्योंकि उन [ अन्य अलङ्कारों ] की प्रतीति तुल्य योगिता और दीपक से ही उठती है। अतएव = इसीलिये अर्थात् विविक्तविषयता = स्वतन्त्र क्षेत्र न होने से। प्रतिमानम् = आन्नासमाज। अर्थ यह कि विश्रान्ति उसी में नहीं होती। किन्तु वह तथ्य ब्रह्म प्रकार सिद्ध नहीं होता वह अभी अभी कहा जा चुका है। इस प्रकार अपने म के समर्थन के लिए पहले जो कहा है कि—'इसका अन्य अलङ्कारों के साथ या तो संकर रहता। या फिर दुर्बल रहने पर अन्य अलङ्कारों से बाधित, इसी को और अधिक विस्तार में प्रतिपादित करने के लिए अब यह बतलाने है कि यह अलङ्कार अन्य अलङ्कारों को बाध देता है—श्लेष-

इत्यादि के द्वारा : 'तृतीयकक्षायाम्—तृतीय कक्षा में' = प्रथम कक्षा में रूपक की ही प्रतीति होती है। श्लेष की प्रतीति होती है द्वितीय कक्षा में। 'उद्गटानुयायी आचार्य एक ओर ती श्लेष को सभी अलंकारों का बाधक बतलाते हैं और दूसरी ओर वे ही कुछ अलंकारों से उसे बाधित होता हुआ भी बतलाते हैं, यह उनके द्वारा अपनी मान्यता का ही विरोध है'—इस तथ्य को ध्वनित करने के लिए उन्होंने [ उद्गट आदि ] के द्वारा प्रतिपादित श्लेष का रूपक और समासोक्ति से बाधित होना ग्रन्थकार ने यहाँ दिखलाया। बाध्यते = बाधित होता है—'विद्वन्मानसहंस' इत्यादि [ श्लेष परम्परित रूपक ] में। बाधिका = 'उपोढरागेण' इत्यादि पद्यों में।

विमर्श—'नाप्राप्ते' = वा मूल 'येन नाप्राप्ते य आरभ्यते स तस्य बाधकः'—यह है। इसमें येन की तृतीया का अर्थ है कर्तृत्व, प्रतिषेधद्वय का अर्थ है आवरणकत्व, क प्रत्यय का अर्थ है भाव। इस प्रकार न्याय की भाषा में इस वाक्य का अर्थ निकलेगा—

'यत्कर्तृकावश्यप्राप्तौ य आरभ्यते स तस्य बाधकः'। पुनः येन के 'यत्'—शब्द का अर्थ है व्यापकत्व और यः इसके यत् शब्द का अर्थ है व्याप्यत्व। अतः न्याय की भाषा में अर्थ होगा—

'व्यापकत्वेन सर्वत्र प्राप्ते निरवकाशे व्याप्यते [ व्यापके ] बाधते।'—

इन्हीं तथ्यों को ग्रन्थकार ने 'नाप्राप्तेषु आरभ्यमाणः' तथा 'व्याप्या'—इन अंशों द्वारा सूचित किया था। पण्डितराज ने श्लेष पर उद्गट का मत इसी प्रकार स्पष्ट किया है—'अत्राहुः उद्गटाचार्याः—'येन नाप्राप्ते य आरभ्यते स तस्य बाधकः' इति न्यायेनालंकारान्तरविषय एवायमारभ्यमाणोऽलंकारान्तरं बाधते।' यह उद्गट के मत का अलंकारसर्वस्व पर आश्रित भावानुवाद मात्र है। उद्गट की उक्ति इस विषय पर ऐसी है—

'श्लेषम्, अलंकारान्तरगता प्रतिभा जनयत्' १४१९, १०।

—श्लेष अलंकारान्तर की प्रतिभा उत्पन्न करता है। उद्गट ने इस विषय में इससे अधिक कुछ नहीं लिखा। केवल उदाहरणमात्र प्रस्तुत कर दिए हैं—

'प्रभातसन्धेवास्वापफलसुधेदितप्रदा'—

—पार्वती प्रभात सन्ध्या के समान थीं—अस्वापफलसुधेदितप्रदा = [ पार्वती-न, सु आप फल = दुर्लभ फल पर लुब्धको इदित = अभीष्ट फल देने वाली तथा प्रभात 'सन्ध्यास्वापफल = निद्राफल श्रमपरिहार पर लुब्धस्वाप फल लुब्ध, तद्भिन्न अस्वापफलसुधे उसमें दित = हितकारी अद्भुत उत्पन्न करने वाली ] इसी प्रकार—

'अविन्दुसुन्दरी निरयं गललावण्यविन्दुका'

—पार्वती अविन्दुसुन्दरी भी थी और उनसे लावण्यविन्दु धरते रहते थे [ विरोध ], [ परि-  
हारार्थ— ] अप् = जल उसमें प्रतिविम्बित जो इन्दु = चन्द्र उसती सुन्दरी।

प्रथम में उपमा और द्वितीय में विरोधालंकार है। उद्गट के अनुसार उनका अस्तित्व प्रातिभासिक मात्र है। बारम्बारिक सत्ता श्लेष की ही है। परन्तु उद्गट ने अपनी इस मान्यता की पुष्टि में कोई हस्त नहीं दिया। आनन्दवर्धननाचार्य ने इसे इसी रूप में स्वीकार कर लिया। उन्होंने ध्वन्यालोक के द्वितीय उद्योत में श्लेष को उपमा व्यतिरेक, विरोध आदि अलंकारों से पुष्ट होता हुआ कहा है और वहाँ 'येन ध्वस्त' पद्य प्रस्तुत कर यह भी कह दिया है कि श्लेष वहाँ होता है जहाँ दोनों अर्थ अभिधा द्वारा कथित होते हैं साथ ही वहाँ यदि अन्य कोई अलंकार भी वाच्य होता हो तो वहाँ श्लेष ही माना जाना चाहिए—'वस्तुद्वयै शब्दशक्त्या प्रकाशमाने श्लेषः, तथा—यद्यप्युच्यते साक्षादलंकारान्तरं वाच्यं सत्यं प्रतिभासते स सर्वः श्लेषविषयः'। [ पृ० २३५-३६

चौ० स० १९९७ ]। आनन्दवर्षनाचार्य के ही समान महिममट्ट ने भी उद्भट के मत को स्वीकार कर लिया। उन्होंने व्यक्तिविवेक के द्वितीय विमर्श में अलंकारों की सीमा निर्धारित करते हुए और अनेक अलंकारों में वाच्यावचन दोष बतलाते हुए लिखा है—

‘यत्र हि यदलंकारप्रतिमानुगुणशब्दोपरचितः श्लेषः तत्र तदलंकारनिबन्धः तमेव श्लेषमभि-  
व्यनक्ति, न तु तस्य विषयमतिक्रामति ।’ [ पू० ३९५ चौ० स० २०२५ ]

‘जहाँ जिस अलंकार का आभास मात्र कराने के लिए की गई पदरचना से श्लेष बनता है, वहाँ वह अलंकार उसी श्लेष को अभिव्यक्त करता है, उस [ श्लेष ] के क्षेत्र में वह स्वयं नहीं घमकता ।’ इसी तथ्य को कारिकारूप में उपनिबद्ध करते हुए उन्होंने लिखा—

‘यदलंकारव्यक्तये ये शब्दास्तद्विस्तरोऽपि तैरेव ।

व्यन्येतात्पतरैर्यदि तदसौ गृह्येण लापवान्नाम्यः ॥’

व्यक्तिविवेक की टीका में भी अलंकारसर्वस्वकार ने श्लेष को निरवकाश मानकर अन्य अलंकारों का बाधक ही माना है—‘उपमोत्थापिते श्लेषे नोपमा श्लेष बाधते, तस्य विविक्तविषयत्वा-  
भावात्, श्लेषस्तु तां बाधते इति युक्तम् ।’ [ द्रष्टव्य-पृ० ३९६ च० स० नवीन संस्करण ]।

आनन्दवर्षनाचार्य ने श्लेष के विचार के पूर्व अस्पष्ट स्वर में श्लेष को अलंकारान्तर से पृथक् बतलाया था। मम्मट ने उसे पकड़ लिया। और उद्भट के मत के विरुद्ध श्लेष को अन्य अलंकारों द्वारा बाध्य बतलाने हेतु अपेक्षित अलंकारान्तर से श्लेष का पार्थक्य बनाने हुए उन्होंने—

‘देव ! स्वमेव पातालनाशनां त्व निबन्धनम् ।

त्वं चामरमहद्भूमिरेको लोकत्रयात्मकः ॥’

—यह पद्य उद्धृत किया। इसका अर्थ है—हे राजन् ! आप लोकत्रयात्मक हैं, आप ही ‘पातालम्’ [ पाताल = नागलोक तथा पाता अलम् = पर्याप्त रक्षक ] हैं, आप ही आशानिबन्धन [ = आशा = दिशा उनके आधार पृथ्वीलोक, आशा = इच्छाएँ उनके आधार ] हैं, आप ही ‘चामर-  
महद्भूमि’ [ च = और अमरमरुद् = देवगण तथा पवन स्त्री भूमि = स्वर्ग तथा चामर—चँवर की मरुद्=द्वा की भूमि=आस्पद = विषय निम्नपर चँवर डुले जाते हैं ]। परन्तु यहाँ राजा पर तीनों लोकों का आरोप है तथा ‘अन्य राजा जहाँ कोई एक कार्य करने तक सीमित हैं वहाँ यह राजा अन्य सब कार्य भी करता है अतः यह उनसे उत्कृष्ट है,’ इस व्यतिरेक का भाँ अस्तित्व है। अतः यह स्थल शुद्ध श्लेष का स्थल नहीं माना जा सकता। पण्डितराज ने भी रसगगाधर में इस पद्य में रूपकप्रतीति मान मम्मट का खण्डन किया है। वस्तुतः स्वयं मम्मट ने भी इन स्थल में रूपक व्यतिरेक का स्पर्श अनुभव किया था। यह तथ्य उन्हीं के इस पद्य के बाद के ग्रन्थांश से झलकता है। श्लेष को अलंकारान्तररहितता के लिए अलंकारसर्वस्वकार ने आनन्दवर्षनाचार्य द्वारा प्रस्तुत ‘यिन ध्वस्तं’ पद्य चुना। इसमें मम्मट की स्थापना को बल मिला।

मम्मट ने उद्भट के मत का खण्डन करते हुए अन्य तर्क भी दिए थे। उन्होंने कहा था ‘पूर्वोपमा’ में साधारण धर्म की निष्पत्ति नियमन श्लेष से ही होगी, वहाँ यदि श्लेष को ही अलंकार माना जायगा तो पूर्वोपमा कहीं होगी ही नहीं—‘पूर्वोपमाया विषयापहार एव स्यात्’। इसी प्रकार उन्होंने व्यतिरेक, विरोध, रूपक आदि अन्य अलंकारों में भी श्लेष को निष्पादक और व्यतिरेक आदि को ही निष्पादक से प्रधान अलंकार माना है।

पण्डितराज जगन्नाथ ने इन दोनों पक्षों को अपनी भाषा में स्पष्टीकरण के साथ उद्धृतनाम कर दिया है। उनका संपूर्ण विवेचन सर्वस्वकार तथा विमर्शनीकार के मतों पर आधृत है। सर्व-  
स्वकार उद्भट और ध्वनिकार के अनुयायी हैं और विमर्शनीकार मम्मट के। उन्होंने ‘यिन ध्वस्त’

पद्य में तुल्ययोगिता का अभाव बड़ी बारीकी से सिद्ध किया है। पण्डितराज ने उसे स्वीकार कर लिया है। वस्तुतः 'धेन ध्वस्त' पद्य में तुल्ययोगिता के अभाव की बात अलंकाररत्नाकर से ली गई है। अलंकाररत्नाकरकार ने सर्वस्वकार के—'इह प्राकरणिका—तुल्ययोगितायाः प्रति-भानम्'—इस कथन का भावार्थ स्पष्ट कर उसका निराकरण करते हुए कहा है—

—'धेन ध्वस्तमनोमवेने'—त्यादौ यत्र प्रकृतयोरप्रकृतयोर्वा विशेष्ययोः सकृदुपादानं तत्र तुल्ययोगितायाः अभावः ।

—[ सर्वस्वकार का उक्त कथन अमान्य है ] क्योंकि तुल्ययोगिता में प्रकृत या अप्रकृत विशेष्यों का अनेक बार कथन रहता है, एक बार कथन रहने पर तुल्ययोगिता नहीं होती। 'धेन ध्वस्त०' पद्य में विशेष्यों का कथन एक बार ही है अतः यहाँ तुल्ययोगिता नहीं है। आगे कोटि प्रकोटि चलाते हुए उन्होंने लिखा कि यदि आवृत्ति के द्वारा विशेष्यों का असकृदुपादान मान लिया जाय तो धर्मों का उपादान भी उसी प्रकार आवृत्ति के द्वारा एकाधिक बार मानना पड़ेगा। उससे धर्मों में अनेकता चली आयेगी। तुल्ययोगिता या दीपक केवल धर्म की एकता में ही होते हैं। अतः आवृत्ति द्वारा विशेष्य की अनेकता मानने पर भी तुल्ययोगिता सिद्ध न होगी। इस प्रकार सम्मट, शोभाकर और अरथ श्लेष की वाच्यता स्वीकार करते हैं जबकि उद्भट आनन्दवर्धन तथा अलंकारसर्वस्वकार अलंकारान्तर की। एकतर पक्ष के निर्णय के लिए एकमात्र चमत्कारप्रयोजकता को कसौटी माना जा सकता है। सद्बुद्धियों के अनुभव से चमत्कारनिष्पत्ति श्लेष या श्लेषेतर भिन्नसे सिद्ध होती हो उसीको अलंकार माना जाएगा। तब निरवकाशत्व और सावकाशत्व के शास्त्रीय जब्त अकिञ्चित्कर सिद्ध होंगे। जहाँ एकाध श्लेष विशेषण से उपमादि निष्पन्न होते हैं वहाँ उपमादि का ही चमत्कार माना जा सकता है और जहाँ 'उद्दामोत्कलिका' आदि स्थलों में अनेक विशेषणों में श्लेष हो वहाँ निश्चित ही चमत्कार श्लेषयोजना से होगा। फलतः वहाँ श्लेष ही मानना उचित होगा। अलंकाररत्नाकरकार शोभाकरभिर ने इस तथ्य को स्वीकार किया है और श्लेष को पांच स्थिति में मिलता बतलाया है—

‘प्रधानभूतालंकारवियोगात् सावकाशता ।  
कुत्रचिद प्रतिभोत्पत्तिहेतुत्वं क्वचिद्वृत्ता ॥  
क्वचिद प्ररोहविरहात् प्रातिभत्वं परत्र च ।  
अनुप्राणकतास्येति श्लेषोऽयं पञ्चभूमिकः ॥’

श्लेष पांच भूमिकाओं में निष्पन्न होता है—

( १ ) स्वतन्त्र भूमिका, जहाँ अन्य किसी अलंकार का इसके साथ मिश्रण नहीं होता।

[ यथा—'धेन ध्वस्त०'—पद्य में ] ।

( २ ) अन्य अलंकारों की सत्ता प्रातिभासिक सिद्ध कर रहने की भूमिका। [ यथा—'सकल-कलम्' इत्यादि पद्य में ] ।

( ३ ) अप्रधानता की भूमिका, [ यथा—'विष्णुका वक्षत्यल समुद्रतट के समान वनमालामरण है' इस वाक्य में 'वनमालामरण' शब्द में वनमाला एक माला, वनमाला = तटवर्ती जंगल की पात यहाँ श्लेष उपमा का अंग है ] ।

( ४ ) आभासात्मकता की भूमिका [ यथा—'अविन्दुसुन्दरी०' स्थल में विरोध की प्रधानता होने से श्लेष की आभासात्मकता ] ।

( ५ ) अनुप्राणकता की भूमिका, [ यथा—समासोक्ति में ] ।

## विमर्शिनी

एव श्लेषशालंकाराणां च परस्परं वाच्यवाचकभावं प्रकाशयान्यैः सहास्य संकीर्णत्वं दर्शयति—इह विन्यादिना ।

इम प्रकार [ उपर्युक्त मन्थ द्वारा ] श्लेष और अन्य अर्थकारों का परस्पर में वाच्यवाचक-भाव दिखलाया । अब श्लेष का अन्य अर्थकारों के साथ सांकर्य दिखलाने हुए लिखने हैं—

[ सर्वस्व ]

इह तु—

‘श्रयीमयोऽपि प्रथितो जगत्सु यद्वाचरणां प्रत्यगमद् विवस्थान् ।  
मन्थेऽस्तशैलात् पतितोऽत एव विवेश शुद्ध्यै घडवाग्निमध्यम् ॥’

इति श्लोके विवस्वतो घस्तुवृत्तसंभवि अधःप्रदेशसंयोगलक्षणं यत्प-  
तितत्वं यच्च घडवाग्निमध्यप्रवेशस्ते द्वे अपि श्रयीमयत्वसंबन्धिवारणा-  
गमनरूपविद्वद्वाचरणहेतुकार्थ्या पतितत्वाग्निप्रवेशाभ्यामतिशयोक्त्या श्लेष-  
मूल्या अभेदेनाध्ययसिते । सोऽयमेकक्रियायोगः । तद्धेतुका च मन्थे ‘अत  
एव शुद्ध्यै’ इत्युत्प्रेक्षा । अत्रात एवेति परामृष्टो विरोधालंकारालंङ्कितोऽर्थो  
हेतुत्वनेोत्प्रेक्षयते । शुद्ध्यै इति च फलत्वेन । ततश्च हेतुफलयोर्द्वयोरप्यभो-  
त्प्रेक्षा । विरोधालंकारस्य च विरोधाभासत्वं लक्षणम् । अतो विरोधाभासन-  
समय एव हेतुफलोत्प्रेक्षयोक्त्यानम् । उत्तरकालं तु विरोधसमाधिः ।  
श्लेषस्य च सर्वालंकारापवाद्वाद् विरोधप्रतिभोत्पत्तिहेतुरयं श्लेषः ।

[ वेद- ] श्रयीमय रूप से त्रेलोक्य में प्रसिद्ध होने पर भी सूर्य वाक्वा [ पश्चिम दिशा तथा  
मदिरा ] की ओर जो गया मैं सोचना हैं कराचिप र्सी से [ पतित होकर और ] अस्ताचल से  
गिरकर शुद्धि के लिए बडवाग्नि में प्रवेश कर रहा है ।

इम पदार्थ में अधःप्रदेश से मयुक्त होता रूपी जो वास्तविक पतितत्व = गिरना है और  
जो बडवाग्नि में प्रवेश करना है ये-दोनों वेदश्रयीमय होने पर भी वाक्वागीगमन करने रूपी विद्वद्  
आचरण से जनित जो पतितत्व तथा अग्निप्रवेश हैं उनके द्वारा श्लेषमूलक अतिशयोक्ति के आधार  
पर अभिन्न रूप से अध्ययसित हैं और यह हुआ [ ममाप्तोक्ति का जनक सूर्य तथा धार्मिक पुरुषरूपी  
दो विभिन्न व्यक्तियों का अग्निप्रवेश रूपी ] एक क्रिया में अभिन्न होना । इसके आधार पर  
निष्पन्न होने है ‘मै समझता हूँ कि इसीसे शुद्धि के लिए’ - यह [ हेतु फलोत्प्रेक्षा रूपी ] उत्प्रेक्षा-  
इस [ उत्प्रेक्षा ] में इसीने [ अर्थात् विद्वद् आचरण करने ने ] इस प्रकार परामृष्ट जो विरोधालंकार  
है उसमें अलङ्कनार्थ हेतुरूप से उत्प्रेक्षित हो रहा है और [ उत्प्रेक्षा में ] ‘शुद्धि के लिए’ यह अर्थ  
फलरूप से । इम प्रकार यहाँ हेतु और फल दोनों को उत्प्रेक्षा हो रही है । और जो विरोधा-  
लंकार है उसका लक्षण है विरोधाभासत्व, अब हेतु और फल की उत्प्रेक्षाओं का उत्थान उत्ती  
समय होना है अब विरोध का आभासात्मक जान होता रहता है । बाद में तो विरोध का समा-  
पत्य ( परिहार ) हो जाता है । इधर श्लेष जो है वह सभी अर्थकारों का अपवादक है अतः इस  
एव में श्लेष विरोधप्रतिभोत्पत्तिहेतु होकर स्वयं प्रधान अलङ्कार है ।

विमर्शिनी

चरवाग्निमध्यप्रवेशोऽपि वस्तुवृत्तसंभवीति विशेषणं लिङ्गविपरिणामाद् योऽयम् ।  
ते द्वे इति, चरवाग्निमध्यप्रवेशपतितत्त्वे । पतितत्वाग्निप्रवेशान्यामिति, ब्राह्मण्यपरिच्छाव-  
प्रायश्चित्तात्मकाभ्याम् । सोऽयमिति । यत् पतितत्वाग्निप्रवेशयोर्वस्तुतोऽन्यथास्थितयोर्न्य-  
न्यथाभूताभ्यां ताभ्यामभेदेनाध्यवसायः । तद्वेतुकेति तच्छब्देन तत्क्रियायोगपरामर्शः ।  
फलत्वेनेति उपप्रेषयत इत्यत्रापि संबन्धः । ततश्चेति हेतुफलयोर्द्वयोस्तुप्रेषयमाणत्वात् ।

'वस्तुवृत्तसंभवि' = 'वास्तविक' यह जो विशेषण है इते लिंगपरिणाम [ वपुंसकलिंग को पुंलिङ्ग में 'वस्तुवृत्तसंभवी' इस प्रकार बदल ] कर गन्वित करना चाहिए । ते द्वे = वे दोनों अर्थात् चरवाग्नि में प्रवेश और पतितत्व । 'पतितत्वाग्निप्रवेशाभ्याम्' = 'पतितत्व और अग्निप्रवेश' जो ब्राह्मण्य = ब्रह्मवृत्ति से च्युत होने का प्रायश्चित्त है । 'सोऽयम्' = यह अर्थात् मूलतः भिन्न रूप के पतितत्व और अग्निप्रवेश भिन्न रूप के उन्हीं पतितत्व और अग्निप्रवेश द्वारा अभिन्न रूप से अध्यवसाय तद्वेतुका = इसमें तव शब्द से उपर्युक्त [ प्रवेश ] क्रिया में [ दो भिन्न व्यक्तियों के ] अन्य का परामर्श है । फलत्वं = फल रूप से = इसमें भी उपप्रेष्यते = उपप्रेक्षा की जाती है = इसका संबन्ध है । ततश्च = इस प्रकार = हेतु और फल इन दोनों की उपप्रेक्षा ही रही है इस कारण ।

विमर्शिनी

ननु विरोधालंकारस्य विरोध एव रूपं तस्य द्रुष्टत्वात् इति च समाधाने विरोध एव नास्तीति विरोधालंकारोऽर्थः कथमत्रोपप्रेक्षायां हेतुत्वं भजत इत्याशङ्क्याह—विरोधस्यापि ।  
यद्व्यपत्ति—'विरोधाभासत्वं विरोधः' इति । अत एव च विरोधस्याभासमात्रसारत्वाद् यथावभासं विश्रान्त्यभावात् प्ररोहो नापि बाधोऽपत्तिः, अपितु पैत्तिकज्वलस्तम्भतैमिरिक-  
चन्द्रद्वयावभासवदस्ति प्रत्यय इति नात्र पूर्वं विरोधबोधः पश्चादविरोधधीरिति वाक्य-  
स्यावस्थाह्यम् । ननु बाध्यनिषेधपरो नैतदेवमिति प्रत्ययरूपो बाधो बाध्यं च तथैव प्रतीयते चेत् किं तेन कृतं स्यादिति चेत्, स्वलङ्कृतत्वमिति द्रूमः । तथाहि श्रुत्तिकारजतमरीचिका-  
सलिलादिविभ्रान्तिष्विव नात्र प्रथमप्रभृत्तविशदप्रतिभासस्वभावबाध्यविज्ञानसमुत्पुंस-  
नेन बाधकत्वमुदेति, बाधोदयेपि पैत्तिकज्वलस्तम्भतैमिरिकचन्द्रद्वयावभासवद् विशद-  
प्रतिभासानिवृत्तेः । केवलमत्र तद्दशादेवानुपपद्यमानताकारा स्वलङ्कृतितैवावगम्यते ।  
स्वलङ्कृतिवे च प्रतिपत्तव्यवहारं प्रति निमित्तत्वानुपपत्तिः । न हि पैत्तिकः स्वपित्तविका-  
राज्वलस्तम्भदर्शनं मन्यमानश्च द्वाहपाकाद्यर्थतया प्रवर्तते । तिमिरदोषं वा लानान-  
स्तैमिरिकोऽपि यहिश्चन्द्रद्वयास्तित्वव्यवहारं विधत्ते । एवं बाधोत्पत्तेरनुपपद्यमानत्वात्  
स्वलङ्कृतित्वेन प्रतीयमानोऽपि विरोधो न प्रतिपत्तप्रेषोत्प्रेक्षणलक्षणव्यवहारनिमित्तभाव-  
मुपगन्तुमुत्सहते । यतोऽनुपपद्यमानत्वेन स्वलङ्कृतिस्वमुपपद्यमानत्वेन च व्यवहारनिमित्त-  
त्वमिति परस्परविरुद्धत्वादानुभवविरोधाच्च तयोः कथमेकत्र समावेशो घटते । अतश्चाने-  
नैवाभिप्रायेणाह—अत इत्यादि । विरोधाभासनसमय एवेति, न तु बाधकोदयसमय  
इत्यर्थः । बाधोदयानन्तरं विरोधस्योत्प्रेषाहेतुत्वं न युज्यते इत्युपपादितं स्थितं चोत्प्रेषा-  
हेतुत्वं विरोधस्येति बाधोदयात्प्रागेवानुपपत्त्या निश्चीयते । बाधस्य च स्वारसिकत्व-  
चस्तुवृत्तेः पर्यालोचनालभ्यत्वेन द्विविधस्यापि सर्वत्रोत्तरकालमेवोक्तासः संभवति । तस्य  
च बाध्यनिष्ठत्वाद्वाध्यस्य च पूर्वकालभावित्वात् । अन्यथा हि निर्धिष्यो बाधः स्यात् ।  
अतश्चोत्तरकालं तु विरोधसमाधिरिति भणितेरर्थमजानानेनाथमयोऽन्वेपणीयः । यदि हि



धातुः प्रागप्युद्येष्टायाः स्वाधिकारवशेन स्वरसत एवोवृत्तसेत तदुक्तनीत्या उत्प्रेक्षीयानमेव न स्यादित्यवाधित एव विरोध उत्प्रेक्षायाः निमित्तमित्युक्तमुत्तरकालं विरोधसमाधिगिति । स च समाधिरत्र दिगाद्यधाधिगमादवबुध्यत इति विरोधस्य श्लेषोऽङ्गम् । तद्वत्पादेवाः स्योरथानात् । तथा चात्रानयोः सकीर्णत्वमात्रमेव न पुनः संकरालंकारः । स तु यथा—

‘सञ्जातपत्रप्रकराञ्चितानि समुद्बहन्ति स्फुटपाटलश्वम् ।

विकसवराण्यर्ककरप्रभावाद् दिनानि पद्मानि च वृद्धिमीयुः ॥’

अत्र श्लेषपदस्ययोगितयोरेकवाचकानुप्रवेशेन संकरः । प्राच्यानां मते पुनरेताप्रति-  
भोरपत्तिहेतुः श्लेषोऽयमित्याह—इत्येवस्यैत्यादि । तेनाद्यः पद्यः स्वाभिप्रायेण ग्रन्थकृतोक्तः । यद्व्यपययेत्च्छ्लोकविचार एव संकरालंकारे । अत्र प्रथमोऽर्थं विरोधप्रतिभोरपत्तिहेतुः श्लेषः । दर्शनान्तरे तु विरोधश्लेषौ द्वावलंकाराविति ।

प्रश्न = विरोधालंकार का स्वरूप विरोध ही है और वह अपने आप में दोष रूप है, फलतः उसका समाधान [ परिहार ] किया जाता है, और जब परिहार हो जाता है तब विरोध का अस्तित्व ही नहीं रहता । इस प्रकार विरोध से कोई अर्थ अलङ्कृत ही कैसे होगा ओ उत्प्रेक्षा में हेतु बनेगा । इस पर उत्तर देते हुए लिखते हैं—‘विरोध’ इत्यादि । जैसा कि आगे कहेंगे ‘विरोधा-  
भासत्व विरोध’ है । [ अलंकाररत्नाकरकार ने ‘त्रयीमयोऽपि’ पद्य और उसपर अलंकारसर्वस्वकार का मत उद्धृत कर उसका खण्डन करते हुए लिखा था—विरोध में समाधान शब्दलभ्य न होकर, सामाजिक की मानस अनुभूति से लभ्य होता है जो पर्यालोचनरूपा होती है । विरोध का बाध हो जाने पर भी शब्द से तो विरुद्ध अर्थ का ही ज्ञान होता रहता है । इसलिए विरोध का परिहार वाक्यार्थ का अग कभी भी नहीं बनता, इसलिए यहाँ उत्प्रेक्षाप्रतीति के बाद परिहार का वाक्यार्थ में मानना ठीक नहीं । अन्त में विरोधपरिहार का अर्थ केवल इतना ही है कि विरोध प्रातीतिक है, वास्तविक नहीं । अन्त में परिहार का अर्थ यह नहीं है कि आरम्भ में विरोध वस्तुतः रहता है और अन्त में उसका परिहार हो जाता है ( ६० पृ० ९२, ९३ पूना संस्करण ) । इसीको स्वीकार करते हुए किन्तु अलंकारसर्वस्वकार के मत का समर्थन ( खण्डन नहीं ) करते हुए विमर्शनीकार कहते हैं— ] और इसीलिए [ ग्रन्थकार के मत में ] विरोध के अभासमात्ररूप होने से उसकी प्रतीति पर्यवसान में आरम्भ जैसी नहीं होती, फलतः न तो वह प्रकृत ही हो पाता और न उसका परिहार ही होता अपितु यहाँ पिच्छरोग से पीड़ित को जैसे जलते अग्निस्तम्भ दिखाई देते हैं अथवा तिमिररोग से पीड़ित को दो चन्द्र, वैसे ही दो अर्थों की प्रतीति मात्र होती है । इसलिए न तो यहाँ पहले विरोध का [ अभास रूप में ज्ञान न होकर विरोध रूप में ही ] ज्ञान होता और न बाद में अविरोध का ज्ञान होता, जिससे वाक्यार्थ को दो भागों में विभक्त किया जा सके [ प्रश्न ] बाध ‘यह देसा नहीं है’ इस प्रकार के ज्ञान का नाम है । इससे बाध्य अर्थ का निषेध हुआ करता है । यदि यहाँ बाध और बाध्य दोनों की ही वैसी [ द्विचन्द्र आदि जैसी ] प्रतीति मान ली जाय तो उससे क्या होगा ? [ उत्तर = ] इससे विरोध का ज्ञान केवल अभासात्मकमात्र सिद्ध होगा । [ विरोध पूर्णतः कट नहीं जाएगा ] विरोधालंकार के विरोध के परिहार में जो बाधकता होती है वह पहले से हो रहे अभासात्मक विरुद्ध ज्ञान रूपी बाध्य को उखाड़ कर नहीं होती जैसी कि पुक्ति में हो रही है या महमरीचिका में होती जल की आन्ति में । यहाँ तो बाध की प्रतीति हो जाने पर भी विरोधाभासरूपी बाध्य अर्थ इतना नहीं है जैसे पिच्छ्याभिवाले के समाने से असत्य रूप से विदित होने पर भी अग्निस्तम्भ नहीं इतना या तिमिररोग वाले के सामने से चन्द्रद्वैत । यहाँ केवल इतना होता है विरोध में अनुपपद्यमानता [ प्रकृत न हो

पाना ] आ जाती है वह भी इसलिए कि केवल [ परिहार, समाधान ] की उपस्थिति के कारण ही । इस आभासात्मकता, स्खलद्गतिता या अनुपपद्यमानता से लाभ यह है कि विरोधज्ञान बोद्धा की प्रवृत्ति का कारण नहीं बन पाता । ऐसा थोड़े ही है कि पिच का रोगी यह जानते हुए कि उसे जो अग्निस्तम्भ दिखाई दे रहा है वह विकार के कारण दिखाई मर दे रहा है उसका वास्तविक अस्तित्व नहीं है, उस अग्निस्तम्भ में कुछ जलाने या कुछ पकाने पहुँच जाता हो अथवा तिमिर रोग का रोगी तिमिर-विकार को जानते हुए भी [ अपनी अभासात्मक द्विचन्द्र प्रतीति से ] बाहर भी दो चन्द्रों का अस्तित्व जतलाता फिरता ही । इस प्रकार बाध [ परिहार ] उत्पन्न हो जाने के कारण विरोध वास्तविक सिद्ध नहीं हो पाता । वह अभासात्मकमात्र सिद्ध होता है । और इस रूप में प्रतीत होता रहने पर भी विरोध बोद्धा के मानस में उत्प्रेक्षारूप व्यवहार का कारण नहीं बन सकता । बात यह है कि अवास्तविकता सिद्ध हो जाने पर आभासात्मकता, उत्पन्न होती है व्यवहारनिमित्तता [ नहीं, वह ] सिद्ध होती है वास्तविकता सिद्ध होने पर । इस प्रकार [ अभासात्मकता तथा व्यवहारनिमित्तता ] ये दोनों धर्म परस्पर में विरुद्ध हैं और अनुभव में भी ये विरुद्ध ही प्रतीत होते हैं, अतः इन दोनों का एक ही स्थान पर समावेश कैसे हो सकता है । इसी आपत्ति के कारण इस सब अभिप्राय से ग्रन्थकार ने लिखा—अतः [ विरोधाभासनसमय ] श्रुत्वादि । 'विरोधाभासनसमय एव = विरोध के आभासात्मक ज्ञान के समय तक ही' न कि बाधक [ परिहार ] के ज्ञान के समय तक । बाधोदय के पश्चात् विरोध उत्प्रेक्षा को जन्म नहीं दे सकेगा और अनुभव में आ रहा है कि विरोध उत्प्रेक्षा को जन्म दे रहा है, अतः अन्यथानुपपत्ति रूप अर्थापत्ति के आधार पर यहां बाधोदय के पहले ही विरोध को उत्प्रेक्षाहेतु मान लेना होगा । और [ अलंकारलंकारकार के द्वारा प्रतिपादित ] जो दो प्रकार का बाध है ( १ ) वास्तविक और ( २ ) बोद्धा की पर्यालोचना से प्राप्य, दोनों ही प्रकार का वह [ बाध ] प्रत्येक स्थल में विरोध की प्रतीति के बाद ही हो सकता है क्योंकि वह निर्भर है बाध्य पर, फलतः बाध्य को पहले से विद्यमान होना चाहिए । और वह पहले से रहा भी आता है । ऐसा न हो तो बाध ही किसका ? इसलिए [ अलंकारलंकारकार ने सर्वस्वकार के ] 'बाध में तो विरोध का परिहार ही हो जाता है'—इस वचन का [ हमारे द्वारा प्रतिपादित ] उक्त अर्थ नहीं समझा । [ अतः इसका खण्डन किया है ] अतः उन्हें [ उनके अनुयायियों को ] यहां ऐसा ही अर्थ निकलना चाहिए । 'यदि परिहार अपने आप उत्प्रेक्षा के पहले हो जाए तो उक्त क्रम से उत्प्रेक्षा का उत्थान ही न हो, अतः विरोध परिहार के पूर्व ही उत्प्रेक्षा का निमित्त बनता हुआ माना जाना चाहिए'—यह है अभिप्राय 'बाध में तो विरोध का परिहार हो जाता है'—इस वचन का । यह जो परिहार है वह [ वाणी का ] दिशा आदि रूप अर्थ समझने पर चिदित होता है इसलिए श्लेष विरोध का अंग है । क्योंकि उस [ श्लेष ] के ही आधार पर इस [ विरोध ] की निष्पत्ति होती है । तो उस प्रकार [ त्रयीमयोपि ] इस पद्य में इन दोनों [ विरोध और श्लेष ] में संकरमात्र है, संकरालंकार नहीं । वह [ संकरालंकार ] तो [ यहाँ तुल्ययोगिता के प्रकरण में उद्धृत ] 'सजातपत्रप्रकरा०' इस पद्य के अर्थ में है । क्योंकि इस पद्यार्थ में श्लेष और तुल्ययोगिता का एकवाचकानुपवेश संकर है । प्राचीन आचार्यों ने श्लेष को विरोध का बाधक [ प्रतिभोत्पत्तिहेतु ] माना है, इस तथ्य को बतलाते हुए लिखते हैं—श्लेषस्य इत्यादि । ग्रन्थकार ने अपने मत के रूप में प्रथम पक्ष ही प्रस्तुत किया है, जैसा कि संकरालंकार पर विचार करते समय आगे कहेंगे । इस [ त्रयीमयो पद्य ] में पूर्वार्ध में विरोध को दबाकर श्लेष ही अलंकार है । दूसरे सिद्धान्तों के अनुसार यहाँ विरोध और श्लेष दोनों ही अलंकार हैं ।

## विमर्शिनी

तदेवं स्वमतामिप्रायेणाभ्यालङ्कारान्तरवदन्यालङ्कारैः सह वाध्यवाधकभावं संकीर्णत्वं च प्रकारस्य शब्दशक्त्युद्भवाद् ध्वनेर्विशेषं प्रतिपादयति—यत्र दिवत्यादिना ।

इस प्रकार अन्य अलङ्कारों के समान इस अलङ्कार का वाध्यवाधकभाव तथा सांकेय्य अपने मन के अनुसार प्रकाशित किया । अब शब्दशक्तिमूलक ध्वनि से इस [ श्लेष ] का अन्तर बनाने के लिए लिखते हैं—

## [ सर्वस्व ]

यत्र तु प्रभुनाभिवेयपरत्वेऽपि वाक्यस्य शिल्पपदमहिम्ना वक्ष्यमाणा-  
र्यनिष्ठमुपक्षेपापराभिधानं सूचकत्वं तत्र किं श्लेष उत शब्दशक्तिमूल-  
ध्वनिरिति विचार्यते - तत्र न तावच्छ्लेषः, अर्थद्वयस्यानन्वितत्वेनाभिवेयतया  
वस्तुमनिष्टेः । नापि ध्वनिः, उपक्षेप्यस्यार्थस्य संबद्धत्वाभावात् तेन सहोप-  
मानोपमेयत्वस्याविचक्षणात् । न चान्या गतिरस्ति । तदत्र किं कर्तव्यम् ।  
उच्यते—श्लेषम्योक्तनयेनाप्रवृत्तेर्ध्वनेरेवायं विषय इति निश्चिनुमः । तथाहि  
शब्दशक्तिमूले ध्वनावर्थान्तरस्यासंबद्धत्वात् संबन्धार्थमौपम्यं कल्प्यते ।  
स च संबन्ध' प्रकारान्तरेणौपम्यपरिहारेण यद्युपपादयितुं शक्यः स्यात्  
तत् कोऽयमभिवेयशस्तत्र ? उपमाध्वनौ वस्तुध्वनिरपि संबन्धान्तरेण  
समीचीनः स्यात् । अत एव—

‘अलङ्कारोऽथ वस्त्वेव शब्दाद् यथावभासते ।

प्रधानत्वेन स श्लेषः शब्दशक्त्युद्भवो द्विधा ॥’

इति न्यायभयनवन्धेन द्विधा शब्दशक्त्युद्भव उक्तः । एवं प्रकृतेऽपि  
यत्र सूचनाव्यापारोऽस्ति तत्र शब्दशक्तिमूलो वस्तुध्वनिर्वोद्भवः । यथा—

‘सद्यः कौशिकदिग्बिजृम्भणवशादाकाशराष्ट्रं रसात्

त्यक्त्वा धूसरकान्तिवल्कलधरो राजास्तशैलं ययौ ।

तत्कान्ताप्यथ सान्त्वयन्त्यलिकुलध्वानैः समुद्भानिभिः

फन्दन्तं कुमुदाकरं सुतमिद्य क्षिप्रं प्रतस्ये निशा ॥’ इति ।

हरिश्चन्द्रचरितेऽत्र प्रमानवर्णनानुगुण्येन राजशब्दाभिवेयेऽस्तमुपेयुपि  
चन्द्रे रोहिताभ्याल्यतनयसहितया उशीनर्या वध्या युक्तस्य हरिश्चन्द्रस्य  
राज्ञो विध्वामित्प्रसंपादितोपद्रववशात् प्रातः म्भराष्ट्रं त्यक्त्वा चाराणसीं प्रति  
गमनं सूचितं म्यात् । तथा च कौशिकशब्दः प्रकृते इन्द्रोल्कयोर्धर्तते ।  
सूचनीयार्थविषयत्वेन तु विध्वामित्ववृत्तिः । वल्कलसुताभ्यां त्वौपम्यं  
सूचनीयार्थनैरपेक्षेण सादृश्यसंभवमात्रेण विश्रमणीयम् । अतश्च प्रकृतेन  
सूचनीयस्य संबन्धाच्छब्दशक्तिमूलो वस्तुध्वनिरयम् ।

‘जहाँ [ नाटक आदि में ] वाक्य, प्रस्तुत होने के कारण केवल अभिभावृत्ति से प्रतिपाद्य अर्थ ही प्रधानतया बतलाता रहता है तथापि शब्दों में श्लेष [ अनेकार्थकता ] होने के कारण अग्रे कहे जाने वाले अर्थ की भी सूचना दे देता है जिसे [ नाट्यशास्त्र की भाषा में ‘वीजन्यास उपक्षेपः’ इस सूत्र के अनुसार ] उपक्षेप भी कहा जाता है वहाँ श्लेष होता है कि शब्दशक्तिमूलक ध्वनि इस पर विचार करते हैं—

वहाँ श्लेष तो होता ही नहीं, क्योंकि वहाँ दोनों अर्थ परस्पर में असम्बद्ध रूप में बतलाना अभीष्ट नहीं रहता, ध्वनि भी नहीं होती क्योंकि [ वहाँ भी ] उपक्षेप्य [ सूच्य ] अर्थ प्रकृत अर्थ से सम्बद्ध नहीं रहता अतः उसके साथ उपमानोपमेयभाव की विवक्षा नहीं रहती। तीसरी कोई गति है नहीं। अतः यहाँ क्या करना चाहिए। इस पर हमारा कहना है—

वहाँ श्लेष वक्त [ अर्थों में असंबद्धता न होने रूप ] हेतु से पहुँच नहीं सकता इसलिए इसे हम ध्वनि का ही विषय निश्चित करते हैं। यह इसलिए कि शब्दशक्तिमूलक ध्वनि में तो दूसरा अर्थ असम्बद्ध ही रहता है, फलतः संबन्ध के लिए उपमानोपमेयभाव की कल्पना करनी पड़ती है। इतना अवश्य है कि यदि वह सम्बन्ध उपमानोपमेयभावसम्बन्ध को छोड़कर अन्य किसी प्रकार से उपपन्न किया जा सके तब उस [ उपमानोपमेयभावसंबन्ध ] पर ही वह अभिनिवेश कैसा ? [ यहाँ ] उपमाध्वनि के स्थान पर वस्तुध्वनि भी किसी अन्य सम्बन्ध से समीचीन होगी।

इसीलिए ( काव्यप्रकाशकार ने )—‘अलंकार या वस्तु जहाँ प्रधानरूप से शब्द के द्वारा भासित हो रही हो तो उसे दो प्रकार की शब्दशक्तिमूलक ध्वनि माना जाता है।’

—[ काव्यप्रकाश ४।३८, ३९ ]

—इस प्रकार शब्दशक्तिमूलक ध्वनि को दो प्रकार का कहा है क्योंकि वहाँ [ शब्दों का ] वचन [ जमान देसा रहता है जिस ] में दोनों अर्थों के सूचक हेतु [ न्याय ] रहते हैं [ भवन = स्थान ]। प्रकृत में भी इसी प्रकार जहाँ सूचनाव्यापार हो वहाँ शब्दशक्तिमूलक वस्तुध्वनि जानना चाहिए। यथा हरिश्चन्द्रचरित [ नामक नाटक ] के—

‘कौशिकदिग्विजृम्भण [ कौशिक = इन्द्र, उसकी दिक् = दिशा = पूर्वदिशा, उसका विजृम्भण = प्रभात तथा कौशिक = उल्लू, उनका दिशाओं में विजृम्भण = मागदौढ़ उस ] के कारण आकाश-राष्ट्र [ आकाशरूपी राष्ट्र तथा आकाश राष्ट्र के समान ] को [ रसाव = ] स्वेच्छया छोड़कर मलिन-कान्तिवल्कल [ मलिनकान्तिरूपी मलिन वल्कल तथा मलिनकान्ति वल्कल के समान ] धारण किए हुए राजा [ राजा तथा चन्द्रमा ] अतिशीघ्र अस्तशैल [ अस्त वैभवहीनता शैल के समान तथा अस्तगिरि ] को प्राप्त हो गया तो उठते भ्रमरझांकार से रो रहे कुमुदाकर को पुत्र जैसे सान्त्वना देती हुई उसकी काम्ना [ राजमहिषीरूपी ] निशा ने भी [ वहाँ से ] प्रस्थान कर दिया।’

—इस पद्यार्थ में प्रकरण प्रभातवर्णन का है इस कारण ‘राजा’-शब्द से पहले तो अभिधा द्वारा अर्थ निकलता है चन्द्रमा, जो अस्त हो रहा है, फिर उसी ‘राजा’-शब्द से महाराज हरिश्चन्द्र [ का ज्ञान होता है और उन ] के रोहिताश्व पुत्र को लेकर पत्नी उशीनरी के साथ प्रातःकाल अपना देश छोड़कर बाराणसी की ओर प्रस्थान की सूचना मिलती है। यह इसलिए कि ‘कौशिक’-शब्द का अर्थ [ प्रभात के ] इस प्रसंग में इन्द्र हो सकता है या उल्लू, किन्तु [ नाटक के भावी ] सूचनीय [ कथावस्तु— ] पक्ष में उसका अर्थ होगा विश्वामित्र। जहाँ तक वल्कल और पुत्र का संबन्ध है उनके साथ [ प्रकृत मलिनकान्ति तथा कुमुदसमूह का ] उपमा मान लेनी चाहिए क्योंकि [ यहाँ ] सादृश्य बन जाता है किन्तु उस उपमा को सूचनीय अर्थ से असंबद्ध रखना होगा [ क्योंकि उस पक्ष में धूसरकान्तिवल्कल का अर्थ मटंगैला वल्कल करना होगा और ‘कुमुदाकरं

सुतमिव' को 'सुत कुमुदाकरमिव' के रूप में लोकर 'कुमुदसमूह के जैसे पुत्र को' यह अर्थ करना होगा फलतः, प्रथम में तो उपमा बनेगी ही नहीं, दूसरे में बनेगी भी तो उसमें चन्द्रपक्ष का उपमान उपमेय बन जाएगा और उपमेय उपमान ] हसी [ शब्दों की आशिक द्रव्यकता तथा आशिक साम्ययोजना के ] कारण [ तथा दोनों अर्थों के केवल प्रकृत अथवा केवल अप्रकृत न होकर एक के प्रकृत तथा दूसरे के अप्रकृत होने साथ ही दोनों के परस्पर में असम्बद्ध न होकर ] प्रकृत के साथ सूचनीय [ अप्रकृत ] अर्थ के सम्बद्ध होने से यदा [ श्लेष न होकर ] यह शब्दशक्तिमूलक वस्तु ध्वनि हुई ।

### विमर्शिनी

संयद्वाभावादिति उपप्लेप्यस्यार्थस्यावर्णनीयत्वात् । अन्येति श्लेषध्वनिव्यतिरिक्ता । उक्तनयेनेति अर्थद्वयस्याभिव्यक्तत्वेनाभिधेयतया वक्तुमनिष्टेरित्यनेन । सवन्धार्थमिति संगत्यर्थम् । यथा—

‘अतन्द्रचन्द्राभरणा समुद्दीपितमन्मया ।  
तारकातरला श्यामा सानन्दं न करोति कम् ॥’

अत्र प्रकृताप्रकृतयोरसंबन्धार्थत्वं मा प्रसाङ्गिदिति नायिकानिशाघोरौषम्यं कल्पनीयम् । संबन्धान्तरेणेति यत्र यादृशेन विवक्षितेन । तत्रेति शब्दशक्तिमूले ध्वनौ । अत एवेति । औषम्यं विनापि प्रकृताप्रकृतयोः प्रकारान्तरेण संबन्धस्योपपादयितुं शक्यत्वात् । उक्त इति काव्यप्रकाशकृता । चन्द्र इति वर्ण्यमान इति शेषः । सूचितमिति शब्दशक्यता । तामेव विभज्य दर्शयति—तथा चेत्यादिना । अतश्चेति, इत्येव शब्दशक्तेर्भावात् । अत्र च यद्यपि सुतादिरूपार्थशक्तिरप्यस्तीति वस्तुध्वनेरुभयशक्तिमूलत्वमेव तथापि शब्दशक्तिरत्र स्फुटा स्थितेति तन्मूलत्वमेव ग्रन्थकृतास्योक्तम् । शुद्धस्तु शब्दशक्तिमूलो वस्तुप्रतिपत्त्या—

‘न महानय न च विभर्ति गुणसमतया प्रधानताम् ।  
स्वस्य कथयति चिराय पृथग्जनतां जगद्यनभिमानतां दधत् ॥’

अत्र केवलस्यैव शब्दशक्त्या सांख्यपुरुषरूपं वस्त्वभिप्रेक्ष्यम् । यत्तु काव्यप्रकाशसंकेते ग्रन्थकृता वस्तुध्वनेः शब्दशक्तिमूलत्वं चिन्त्यमुक्तं तदुदाहरणाभिप्रायेणैवोन्नेयम् । तत्र हि ‘वन्धिष्य ण ह्यथ सधर’ इत्याद्युदाहरणमुभयशक्तिमूल शब्दशक्तिमूलस्य वस्तुध्वनेः श्रीमन्मटेनोपात्तम् । इह तु यथासंभवमेव विचारितम् ।

एवं स्वमतेन श्लेषस्य यद्योपपत्ति स्वरूपं प्रतिपाद्यापि प्राच्यानुरोधात् पुनरपि तद्वीय-  
मेव मत दर्शयितुमाह—इह चेत्यादि ।

संयद्वाभावादं = ( उपप्लेप्य अर्थ प्रकृत से ) सम्बद्ध नहीं रहता क्योंकि उपप्लेप्य अर्थ वहाँ वर्णनीय [ अतः प्रकृत ] नहीं रहता [ विमर्शिनी के निर्णय मा० संस्करण में यह पक्ति असम्बन्धस्य वर्ण० इस प्रकार छपी है ] । अन्या = अन्य [ तीसरी ] गति = श्लेष और ध्वनि को छोड़ । उक्त-  
नयेन = उक्त हेतु से = दोनों अर्थों के परस्पर में सम्बद्ध होने तथा दोनों को अभिधेयरूप से कहना अभीष्ट न होने से । सम्बन्धार्थम् = सगति के लिए । यथा—

‘अतन्द्र चन्द्र [ चन्द्रमा, कर्पूर ] से अलंकृत, समुद्दीप्त मन्मथवाली, और चंचल तारका [ तारे और आँख की पुतली ] वाली इयामा [ रात्रि, यौवशी ] किसे आनन्दित नहीं कर देती ।’

—यहाँ प्रकृत [ रात्रि ] और अप्रकृत [ नायिका ] में असम्बद्धता न आ जाए इस हेतु नायिका और निशा में उपमानोपमेयभाव की कल्पना करनी होती है ।

सम्बन्धान्तरेण = अन्य सम्बन्ध = जहाँ जो विवक्षित हो । तत्र = वहाँ अर्थात् शब्दशक्तिमूलक ध्वनि में [ अमिनिवेश कैसा ] । अत एव = इसीलिए, अर्थात् उपमानोपमेयभाव के विना भी प्रकृत और अप्रकृत का संबन्ध दूसरे प्रकार से भी सिद्ध किया जा सकता है इस कारण । 'उक्तः = कहा है' = अर्थात् काव्यप्रकाशकार ने । चन्द्रे = चन्द्र अर्थात् जो प्रस्तुत प्रसंग में वर्णन का विषय बना हुआ है । सूचित = शब्दशक्ति के द्वारा । उसी शब्दशक्ति को [ अर्थशक्ति से ] अलग कर बतलाते हुए लिखते हैं—तथा च-इत्यादि अतश्च = इसी कारण अर्थात् उपयुक्त इस शब्दशक्ति के रहने से । यहाँ यद्यपि मुतादिरूप अर्थों की भी शक्ति [ अन्यार्थ की सूचक ] है इस कारण वस्तुध्वनि उभयशक्तिमूलक ही है तथापि यहाँ शब्दशक्ति अधिक स्पष्टरूप से स्थित है इसलिए ग्रन्थकार ने इसे शब्दशक्तिमूलक ध्वनि नाम ही दिया । केवल शब्दशक्तिमूलक वस्तुध्वनि यह है—

'न तो यह [ श्रीकृष्ण ] महान् [ उच्च, बुद्धितत्त्व ] है और न गुण [ शीलसौन्दर्यादि, सत्त्वरजस्तम ]-गत समता के अभाव में यह प्रधानता [ प्रमुक्तता, प्रकृतिरूपता ] ही धारण करता । यह तो संसार में निरभिमान होकर पृथग्जन [ तुच्छ व्यक्ति, प्रकृति और बुद्धितत्त्व के नीचे की विद्युतियों से पुत्रक पुरुषरूप ] सिद्ध होता है । [ शिशुपालवध १५१२ प्रक्षिप्त ]

—यहाँ केवल शब्दशक्ति के ही द्वारा सांख्यपुरुषरूपी वस्तु व्यक्त होती है । ग्रन्थकार ने काव्य-प्रकाश-[ पर स्वरचित ]-संकेत-[ नामक टीका ] में [ काव्यप्रकाशकार द्वारा 'पथिषण ण इत्थं' पद्य में प्रतिपादित शब्दशक्तिमूलक ] वस्तुध्वनि का शब्दशक्तिमूलकत्व अमान्य बतलाया था वह केवल उन्हीं के [ उक्त ] उदाहरण को लेकर बतलाया गया मानना चाहिए । यहाँ [ शब्दशक्ति-मूलक वस्तुध्वनि के ] उदाहरण रूप में प्रस्तुत 'पथिषण इत्थं सत्थरम्'—इस पद्य में उभयशक्ति-मूलकता है तथापि वस्तुध्वनि को श्रीमम्मट ने केवल शब्दशक्तिमूलक बतलाया है । यहाँ [ 'सयः कौशिक' पद्य में ] जो विचार किया गया है वह केवल आंशिक संभावना को लेकर [ इस पद्य में आंशिकरूप से शब्दशक्ति है और आंशिकरूप से ही अर्थशक्ति भी ] ।

इस प्रकार अपने मत के अनुसार श्लेष का स्वरूप तर्क और युक्तियों द्वारा प्रतिपादित कर दिया तब भी प्राचीन आचार्यों की मान्यताओं के अनुसार श्लेष पर फिर से विचार करते और अब केवल उन्हीं प्राचीनों का मत प्रस्तुत करने के लिए लिखना आरम्भ करते हैं—

[ सर्वस्व ]

इह च—

'आकृष्यादावमन्दग्रहमलकंचयं वक्त्रमासज्य वक्त्रे

कण्ठे लग्नः सुकण्ठः प्रभवति कुंचयोर्दत्तगाहाङ्गसङ्गः ।

चद्वासक्तिर्नितम्बे पतति चरणयोर्यः स तादृक् प्रियो मे

वाले ! लज्जा निरस्ता, नहि नहि सरले ! चोलकः किं त्रपाकृत् ॥'

इत्यलंकारान्तरविविक्तोऽयं श्लेषस्य विषय इति नाशङ्कनीयम्, अपहु-  
तेरत्र विद्यमानत्वात् । वस्तुतोऽपह्वस्य सादृश्यार्थमत्र प्रवृत्तेर्नायमपहुत्य-  
लंकार इति चेत्, न । उभयथाप्यपहुतिर्संभवात्, सादृश्यपर्यवसा-  
यिना वापह्वेनापह्वपर्यवसायिना वा सादृश्येन, भूतार्थापह्वस्योभयत्र  
विद्यमानत्वात् ।

'सादृश्यव्यक्तये यत्रापह्वोऽसावपहुतिः ।

अपह्ववाय सादृश्यं यत्राप्येपाऽप्यपहुतिः ॥'

इति संक्षेपः । आद्या स्वप्रस्ताव पद्योदाहृता, द्वितीया तु संप्रति  
दर्शिता । तेनालङ्काराभ्यन्तरविविक्तो नास्य विषयोऽस्तीति सर्वालङ्कारापवादेऽ-  
पमिति स्थितम् ।

और यहा—

‘जो पहले तो केशों को जोरों से पकड़कर र्णाचना है, [ फिर ] मुँह से मुँह मटा देता है,  
जिसका स्वयं का कण्ठ बड़ा ही अच्छा होता है और जो कण्ठ से चिपक जाता है, जो अग अग  
का गाढ़ आलिंगन कर कुचों पर प्रभुत्व जमा लेता है, इसी प्रकार जो नितम्बों से सटवर पैरों  
पर पटा रहता है वैसा वह मेरा प्रिय है । [ सुनकर दूसरी सर्ती कहती है—वह इतना सब कर  
हालना है तो क्या ] बाले ! तुझे अब लाज नहीं आनी ! [ प्रत्युत्तर में पूर्वसर्ती कहती है ] नहीं,  
नहीं । तू बड़ी मोर्छा है, [ मेरा अभिप्राय समझो नहीं ] अरे वही चोलक [ चोली, चोल देश के  
मुक्क ] से भी लाज आती है ।’

—इस पद्यार्थ में ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए कि यह श्लेष का स्थल है जिसमें अन्य  
कोई अलङ्कार नहीं है, क्योंकि यहाँ अपहृति विद्यमान है । ‘यहाँ वास्तविक स्थिति यह है  
कि यहाँ जो अपहृत् [ छिपाव ] अपनाया गया है उसका उद्देश्य है सादृश्य की निष्पत्ति, अतः  
यहाँ अपहृति [ साधनमात्र है वह ] अङ्कार नहीं हो सकती’ यदि ऐसा कहें तो वह ठीक  
नहीं, क्योंकि अपहृति दोनों ही प्रकार से हो सकती है, क्योंकि जहाँ अपहृत् [ छिपाव ]  
सादृश्य में पर्यवसित होता है या जहाँ सादृश्य अपहृत् [ छिपाव ] में पर्यवसित होना है वहाँ  
दोनों ही जगह वास्तविक वस्तु का अपहृत् रहता ही है । संक्षेप में—

‘सादृश्य की व्यंजित करने के लिए जहाँ अपहृत् होता है अर्थात् किसी वस्तु को छिपाया  
जाता है वह तो अपहृति होती ही है, अपहृति वह भी होती है जहाँ अपहृत् को व्यक्त करने के  
लिए सादृश्यविधान किया जाता है ।’

[ इनमें से ] प्रथम का उदाहरण तो [ अपहृति के ] अपने प्रकरण में ही दे दिया है, द्वितीय का  
उदाहरण यही [ आह्व्या० ] पद्य है ।

इस प्रकार सिद्धान्त यह निकला कि इम [ श्लेष ] का ऐसा कोई स्थल नहीं है जिसमें अन्य  
अलङ्कार न हो, फलतः यह सभी अलङ्कारों का अपवाद है ।

### विमर्शिनी

भूतार्थो वास्तवः । संक्षेप इति प्रमेयसंचयात् । आद्योऽद्यादि सादृश्यपर्यवसायपहृत्-  
स्वरूपा । स्वप्रस्ताव इत्युपहृतिलक्षणे । उदाहृतेति पूर्णेन्द्रोरित्यादिना । द्वितीयेति  
अपहृतिपर्यवसायिसादृश्यरूपा । प्रदर्शितेति आकृष्यादाविरयादिना । अत्र च ग्रन्थकृता  
श्लेषः सर्वालङ्कारापवादक इति न केवलं प्रव्ययमतानुसारमुक्तम् यावदपहृत्पर्यवसा-  
यिसादृश्यरूपोऽपहृतिभेदोऽपि तन्मतानुसारमेवोक्तः । यदुच्यते—व्याजोर्ध्वं चोत्तरः  
प्रकारो विद्यत इत्युपहृत्प्रयोजकसिद्धान्ताश्रयेण तत्तत्रोक्तमिति । अतश्चात्र ग्रन्थकृन्मते  
वक्ष्यमाणसादृश्या श्लेषमूला व्याजोक्तिः । तस्या एव वाप्यार्थामृतत्वेन विघ्नान्ते ।

भूतार्थ = वास्तविक । संक्षेप = प्रतिपाद्य का एकत्र संयोजन होने से संक्षेप कहा [ न कि प्रति-  
पाद्य को स्वरूप में प्रस्तुत करने से ] क्योंकि कारिका भी अपने आपमें काफ़ी बड़ी है ] ।  
आद्या = प्रथम अर्थात् सादृश्य में पर्यवसित होने वाले अपहृत् की अपहृति । ‘स्वप्रस्ताव एव

अपने प्रकरण में ही' अर्थात् अपहृति के प्रकरण में ही। उदाहता = उदाहरण दिया जा चुका है—'पूर्णन्दोः'० इत्यादि पद्य। द्वितीया = दूसरी अपहृति अर्थात् अपहृत्त में पर्यवसित होने वाले सादृश्य से बनी। प्रदर्शिता = 'आकृत्यादी०' इत्यादि पद्य के द्वारा।

यहां ग्रन्थकार ने केवल श्लेष को ही प्राचीन आलंकारिकों के मत के अनुसार प्रस्तुत नहीं किया अपितु अपहृति के द्वितीय भेद 'अपहृत्त में पर्यवसित होने वाले सादृश्य से बने वाली अपहृति' को भी प्राचीनों के मत के अनुसार प्रस्तुत किया है। जैसा कि भागे [ व्याजोक्ति प्रकरण में ] कहेंगे—'व्याजोक्ति में [ अपहृति का ] दूसरा प्रकार विद्यमान है' यहाँ से आरम्भ कर 'यहाँ वह उल्टे के मत के अनुसार कहा है' यहाँ तक के ग्रन्थांश द्वारा। इसलिए उक्त [आकृत्या०] पद्य में अपने मत में तो बक्ष्यमाणसादृश्या श्लेषमूला व्याजोक्ति ही अलंकार है। क्योंकि वही यहाँ प्रधान वाक्यार्थ के रूप में पर्यवसित होती है।

### श्लेष का पूर्वतिहास—

**भामह—**भामह ने श्लेष को द्रिष्ट कहा है और श्लेष का वही पद्य भेद बतलाया है जिसे 'दोनों का उपादान' कहकर सर्वस्वकार ने तृतीय भेद के रूप में लक्षित किया है। भामह के अनुसार केवल विशेषणों को ही उभयान्वयिता मात्र श्लेष है। भामह ने दोनों का उपादान सह-भाव और उपमानोपमेयभाव के द्वारा होता हुआ बतलाया है। इस प्रकार उनका श्लेष अलंकारान्तरशून्य नहीं ठहरता। भामह श्लेष का लक्षण रूपक के लक्षण से भिन्न नहीं बना सके है। रूपक का लक्षण ही श्लेष में संगत मानकर भामह ने रूपक से श्लेष का भेद भी बतलाते हुए कहा है—रूपक में उपमान तथा उपमेय के विशेषण अलग-अलग रहते हैं जैसे 'जलद-दन्ती शीबराम्मोमद चुआ रहे हैं।' श्लेष में ऐसा न कहकर कहा जाएगा 'मार्गद्रुमाः महान्तश्च छायावन्तः' = मार्गद्रुम और बड़े लोग छाया [ छांड़ और कान्ति ] वाले होते हैं। इसी प्रकार—'अच्छे राजा मेघों के समान उन्नत होते हैं, और आप रत्नशाली और अगाध होने से समुद्र के सदृश हैं'। इन तीनों स्थलों में प्रथम 'द्रुम और महा-जन' दोनों का छायाशीलता सादृश्य होने से भामह के अनुसार श्लेष सद्बोक्ति से अनु-प्राणित है, द्वितीय में उसी प्रकार उपमा से और तृतीय में भी उपमा से ही अनुप्राणित है किन्तु उसमें हेतुहेतुमदभाव कथित है जो द्वितीय में नहीं है। इस प्रकार भामह के अनुसार श्लेष के तीन भेद हुए सद्बोक्तियुक्त, उपमायुक्त, हेतुयुक्त। भामह की यह भेदकल्पना अत्यन्त स्थूल है। ऐसे तो 'रत्नवाले होने से आप समुद्र हैं' ऐसा कह दिया जाए तो तृतीय भेद रूपकानु-प्राणित श्लेष कहा जा सकता है और इसी प्रकार उक्तिभेद से श्लेष के अनेक भेद किए जा सकते हैं।

श्लेष में श्लेष = जोड़ बिसका होता है यह प्रश्न भी भामह को मस्तिष्क से टकराया था। इस पर भी उन्होंने उत्तर दिया है किन्तु वह भी अस्पष्ट है। उन्होंने कहा है—'श्लेषादेवार्थवत्त्वोः०' इस श्लेष में श्लेष दोनों में रहता है अर्थ में भी और शब्द में भी।

इस प्रकार भामह का श्लेषविवेचन ही परवर्ती आचार्यों ने तीन प्रश्नों को जन्म देता है। शब्दश्लेष और अर्थश्लेष का परस्पर भेद, दोनों के अलंकार्य और अन्य अलंकारों से श्लेष की मिश्रित स्थिति में अन्य अलंकारों का श्लेष द्वारा अपवाद।

भामह का विवेचन अपने मूलरूप में इस प्रकार है—

'उपमानेन यत् तस्सुपमेयस्य साध्यते।

गुणक्रियाभ्यां नाम्ना च श्रिष्टं तदभिधीयते ॥



लक्षणं रूपकेऽपीद लक्ष्यते कामगत्र तु ।  
 इष्टं प्रयोगो युगपदुपमानोपमेययोः ॥  
 शीकराम्भोमदसृजस्तुज्ञा बलददन्तिनः ।  
 इत्यत्र मेघकरिणां निर्देश कियते समम् ॥  
 श्लेषादेवार्थवचसोरस्य च कियते मित्रा ।  
 तत्सहोक्त्युपमाहेतुनिर्देशात् त्रिविधं यथा ॥  
 छायावन्तो गन्ध्यालाः स्वारीद्वा फलदायिनः ।  
 मार्गद्रुमा मदान्तश्च परेषामेव भूतये ॥  
 उन्नता लोकद्वयता महान्त प्राज्यवर्षिणः ।  
 शमयन्ति क्षितेस्ताप मुराजानो घना इव ॥  
 रत्नवत्त्वादगाधत्वात् स्वमर्थादविलङ्घनात् ।  
 बहुसत्त्वाश्रयत्वाच्च सदृशस्त्वमुदन्वना ॥ ३१४-४० ॥

भामह के तीनों उदाहरणों से स्पष्ट है कि उपमा आदि अन्य अलङ्कारों में भी अनेक शिष्ट विशेषणों का एक स्वतन्त्र महत्त्व है, उनमें कविकर्म की एक नवीन विधा और वैचित्र्य की असाधारण उदाहरण अवश्य ही निहित है ।

वामन—श्लेष का रूपक से जो अन्तर भामह ने बतलाया था उसी का अनुवाद करते हुए वामन ने लिखा—

[ सूत्र ] 'स धर्मेषु तन्त्रप्रयोगे श्लेष' [ ४११।७ ]

[ वृत्ति ] उपमानेनोपमेयस्य धर्मेषु गुणक्रियाशब्दरूपेषु स तत्त्वाधारोपस्तन्त्रप्रयोगे नन्त्रेणोच्चारणे सति श्लेष । यथा—'आकृष्टामलमण्डलाग्र'० ।

[ रूपक के ही समान ] उपमान का उपमेय पर समान गुणक्रिया आदि धर्मों को आधार पर तत्त्वारोप हो और यदि तन्त्र [ अनेकार्थशब्द ] प्रयोग हो तो [ रूपक ही ] श्लेष कहलाने लगता है । उदाहरण यथा—

[ विमिश्रिणी में उद्धृत ] 'आकृष्टा०' यह [ पूर्ण ] पद्य । वामन ने भामह में प्राप्त अन्य अलङ्कारों से श्लेष के पार्थक्य या ऐक्य का विवाद नहीं अपनाया । उस पर पहिली बार काव्यालंकारसारसंग्रह में उद्भट ने विचार किया जिसका अधिकांश पूर्वप्रकरणों में उद्धृत किया जा चुका है ।

उद्भट—उद्भट का पूर्ण श्लेषविवेचन इस प्रकार है—

'एकप्रयत्नोच्चार्याणां तच्छायां चैव विभ्रताम् ।

स्वरितादिगुणैर्मिन्नैर्बन्धः शिष्टमिहोच्यते ॥

अलंकारान्तरगतां प्रतिमां जनयत् पदैः ।

विविधैर्यंशब्दोक्तिविशिष्टं तत् प्रतीयताम् ॥ ४१९, १० ॥

इस विवेचन में 'एकप्रयत्नोच्चार्यं' पद अन्य कुछ नहीं वामनाचार्य 'तन्त्र'-शब्द की व्याख्या है । लघुविवृतिकार प्रतीहारेन्दुराज ने लिखा भी—'ये तन्त्रेणोच्चारयितुं शक्यन्ते ते एकप्रयत्नोच्चार्याः !' तन्त्र का अर्थ करते हुए उन्होंने सूत्र भी 'साधारण भवेत् तन्त्रम्' यह उद्धृत किया है । उद्भट की उक्त प्रथम कारिका अपना पूरा अर्थ देने में असमर्थ है, अतः इसका भावार्थ मम्मटाचार्य ने इस प्रकार स्पष्ट किया है—

'स्वरितादिगुणभेदात् मित्रप्रयत्नोच्चार्याणां तदभावादमित्रप्रयत्नोच्चार्याणां च शब्दानां बन्धे ।'

—स्वरित आदि गुणों के भिन्न होने से भिन्न प्रयत्नों के द्वारा उच्चारण करने योग्य तथा उसके अभाव [ स्वरितादि गुणों में भेद न होने ] के कारण अभिन्न प्रयत्न,के द्वारा उच्चारण योग्य जो शब्द उनका बन्ध० ।' [ काव्यप्रकाश उल्लास-९ ] ।

उद्भट ने जो पूर्वोद्धृत उदाहरण दिए हैं उनमें प्रतीहारन्दुराज ने स्वरितादि स्वरों का अन्तर भी दिखलाया और तदनुसार अर्थभेद भी उसी प्रकार स्पष्ट किया है जिस प्रकार 'इन्द्रशत्रु' आदि वैदिक शब्दों में किया जाता है । किन्तु उनका यह विश्लेषण छान्दससंस्कृत से भिन्न लौकिक संस्कृत की प्रवृत्ति से मेल नहीं खाता । अतः मम्मट ने 'काव्यमार्गे स्वरों न गण्यन्ते = काव्य में स्वर की गणना नहीं की जाती' कहकर उसे छोड़ दिया । हम भी उसका विवेचन आवश्यक नहीं समझते ।

रुद्रट—मामह, वामन और उद्भट ने श्लेष को शब्दगत मानते हुए उसे अर्थालंकारों में गिनाया था । रुद्रट ने उसे अलग-अलग भागों में विभक्त किया और शब्दश्लेष के वे आठों भेद काव्यालंकार के चतुर्थ अध्याय में उन्होंने बतलाए जो मम्मट ने काव्यप्रकाश के नवम उल्लास में दिखलाए हैं । इस विषय में मम्मट ने रुद्रट के ही विवेचन का सारसंक्षेप कर दिया है । केवल उदाहरण नवीन दिए हैं । उन्होंने एक नवम श्लेष भी माना है जिसे अभङ्गश्लेष कहा जा सकता है । पूर्ववर्ती आठ भेद की गणना में मम्मट ने रुद्रट की—

'वर्णपदलिङ्गमायाप्रकृतिप्रत्ययविभक्तिवचनानाम् ।

अत्रायं गतिमङ्गिर्विधीयमानोऽष्टधा भवति ॥'

इस कारिका को इसी रूप में—'स च वर्णपदलिङ्गमायाप्रकृतिप्रत्ययविभक्तिवचनानां भेदादष्टधा' इस प्रकार उद्धृत कर दिया है । रुद्रट ने अर्थश्लेष को स्वतन्त्ररूप से दशम अध्याय में रखा है और उसमें श्लेष को एक अलंकार नहीं अपितु एक वर्ग माना है जिसके अन्तर्गत इन दस भेदों के नाम गिनाए हैं—अविशेष, विरोध, अधिक, वक्र, व्याज, उक्ति, असंभव, अवयव, तत्त्व तथा विरोधामास । इनमें से प्रत्येक के उदाहरण देकर अन्त में इन भेदों के संकर तथा संसृष्टि से निष्पन्न भेदों का संकेत भी किया । संकर और संसृष्टि में भी व्यक्तत्व और अव्यक्तत्व दो-दो भेद किए हैं । स्पष्ट ही वे श्लेष को स्वतन्त्र अलंकार नहीं बतला सके और कदाचित् वे भी उद्भट के ही समान श्लेष को अन्य अलंकारों का अपवाद मानते हैं ।

इन दसों भेदों में एक खटकने वाला तथ्य यह है कि रुद्रट ने जो उदाहरण दिए हैं उनमें से अनेक ऐसे हैं जिन्हें मम्मट के अनुसार शब्दश्लेष का उदाहरण ही माना जा सकता है यथा 'दुर्योधनोऽपि युधिष्ठिरः' यहाँ न तो दुर्योधन शब्द ही बदला जा सकता और न युधिष्ठिर शब्द ही, अतः उन्हीं के साथ अव्ययव्यतिरेक होने से श्लेष शब्दगत ही माना जाना चाहिए । [ द्रष्टव्यः—रुद्रटप्रणीत काव्यालंकार, चौखंभा संस्करण तथा दिल्ली से छपा चौधरी संस्करण ] ।

मम्मट—मम्मटाचार्य ने श्लेष की तीनों समस्याओं की ठीक व्यवस्था कर सिद्धान्त स्थिर किया कि समंग और असंग दोनों ही श्लेष शब्द के ही अलंकार हैं और उन्हें शब्दालंकारों में ही गिनाया । साथ ही मामह, उद्भट और रुद्रट की नाईं श्लेष को अन्य अलंकारों का अपवाद मानने की भूल उन्होंने नहीं की । उन्होंने श्लेष की स्वतन्त्रता का अनुभव किया, भले ही वे उसका उदाहरण ठीक नहीं दे सके । उनका विवेचन तद्य तद्य प्रसङ्गों में यथास्थान उद्धृत किया जा चुका है ।

सर्वस्वकार ने श्लेष का जो विवेचन किया है उसका झुकाव उद्भट की ओर अधिक है। यद्यपि विमर्शिनीकार यह सिद्ध करने का प्रयत्न करने रहे हैं कि सर्वस्वकार ने उद्भट का मत सुचित्यों द्वारा स्पष्ट कर उद्भटमात्र किया है, उसे अपना स्वयं का मत नहीं माना है; तथापि ग्रन्थकार की प्रवृत्ति वैसी नहीं दिखाई देती। अन्वयव्यतिरेक को काटकर आश्रयाश्रयिभाव को निर्णायक मान अमगदश्लेष को अर्धश्लेष सिद्ध करते समय सर्वस्वकार ने उद्भट का अनुसरण किया हो ऐसा नहीं लगता। 'येन ध्वस्त०' पद्य में तुल्ययागिता सिद्ध करने में सर्वस्वकार उसी प्रकार विफल है जिस प्रकार काव्यप्रकाशकार मम्मट 'देव त्वमेव०' पद्य में शुद्ध श्लेष। इसलिए मम्मट द्वारा प्रस्तापित श्लेष की स्वतन्त्रता भले ही उनके स्वयं के उदाहरण से सिद्ध न होती हो, उनके विरोधी आचार्य सर्वस्वकार के उदाहरण से अवश्य ही सिद्ध हो जाती है। फलतः श्लेष निर-वकाश नहीं रह पाता। किन्तु अन्य अलंकारों में जहाँ श्लेष की मात्रा अधिक रहेगी वहाँ भी श्लेष को ही वाच्य मानने की ऐकान्तिकता भी अनुभवविरुद्ध होगी। फलतः 'उत्तमोत्कलिकाम्०' आदि पद्यों में मम्मट को पुनर्विचार करना होगा।

मम्मट के पूर्ववर्ती आचार्य महिममट्ट ने भी श्लेष का विदलेषण विस्तारपूर्वक किया है। यह भी उद्भट किया जा चुका है। महिममट्ट ने स्पष्टरूप से उद्भट का मत स्वीकार कर लिया है।

सर्वस्वकार के परवर्ती आचार्यों में से शोभाकर, अप्ययदीक्षित और पण्डितराज के मत उद्भट फिर जा चुके हैं। उनके मामान्यलक्षण ये हैं—

शोभाकर—'विशेष्यरयापि साम्ये द्वयोर्वाच्यत्वे श्लेषः।'

—विशेष्य के साथ विशेष्य भी यदि सम्यार्थक हो और यदि उससे निकालने दोनों अर्थ वाच्य होते हों तो अलंकार श्लेष होता है।

अप्ययदीक्षित—'अनेकार्थशब्दविन्यासः श्लेषः। स त्रिविधः प्रकृतानेकविषयः, अप्रकृतानेकविषयः, प्रकृतप्रकृतानेकविषयश्च।'

—'अनेकार्थक शब्दों का विन्यास श्लेष कहलाता है। वह तीन प्रकार का होता है, प्रथम—जिसमें अनेक अर्थों में से सभी प्रकृत होते हैं, द्वितीय—जिसमें सभी अप्रकृत और तृतीय—जिसमें दोनों होते हैं।' दीक्षितजी ने इनके उदाहरण भी अलग अलग दिए हैं। हम 'येन ध्वस्त०' पद्य को प्रथम दो का तथा तृतीय का उदाहरण विमर्शिनीकार द्वारा उद्भट 'अतन्द्रचन्द्रामरणा—सानन्द न करोति कम्' पद्य माना जा सकता है। तृतीय में शब्दशक्तिमूलक ध्वनि का अस्तित्व दीक्षितजी ने दूसरे प्रकार से साधा है। उसे आगे स्पष्ट करेंगे।

पण्डितराज—[ सू० ] 'श्रुत्यैकयानेकार्थप्रतिपादनं श्लेषः।'

[ सू० ] 'तच्च द्वेषा, अनेकधर्मपुरस्कारेण, एकधर्मपुरस्कारेण च। आद्यं द्वेषा अनेकशब्दप्रतिमानद्वारा एकशब्दप्रतिमानद्वारा चेति त्रिविधः। तथाच, समङ्गं द्वितीयो धमङ्ग इति वदन्ति। तृतीयस्तु शुद्धः। एवं त्रिविधोऽप्यय प्रकृतमात्रप्रकृतमात्रप्रकृतोभयाश्रितत्वेन पुनस्त्रिविधः। तथाये भेदे द्वितीये च विशेष्यस्य द्रिष्टतार्या कामचारः, तृतीयभेदे तु विशेषणवाचकस्यैव द्रिष्टत्वम्, न विशेष्यवाचकस्य, तथात्वे तु शब्दशक्तिमूलकव्यनेरुच्छेद एव स्यात्'।

—'एक शब्द के द्वारा अनेक अर्थों का प्रतिपादन श्लेष। वह दो प्रकार का होता है। एक वह जिसमें अनेक धर्मों का ज्ञान होता है और दूसरा वह जिसमें एक धर्म का। इनमें से प्रथम दो प्रकार का होता है ( १ ) जिसमें अनेक शब्दों का मान होता है और ( २ ) जिसमें केवल एक शब्द का। कुछ आचार्य दोनों में प्रथम को समङ्ग और द्वितीय को अमङ्ग नाम से पुकारते हैं। तृतीय शुद्ध [ अर्थात् अर्धगत ] होता है। ये तीनों श्लेष पुनः तीन प्रकार के होते हैं प्रकृतश्रित, अप्रकृतश्रित

और उभयाश्रित । इनमें से प्रथम और द्वितीय भेद में विशेष्यवाचक पद द्वयर्थक हो या न हो किन्तु तृतीय में केवल विशेषणवाचक पदों में ही द्वयर्थकता होती है विशेष्यवाचक पदों में नहीं । यदि विशेष्यवाचक में भी द्वयर्थक हो तो शब्दशक्तिमूलक ध्वनि का कोई स्थान ही नहीं रहेगा ।

**विश्वेश्वर—**‘उभयविशेष्यान्वितयोरैकेन प्रोक्तिरर्थयोः श्लेषः ।’

दोनों विशेष्यों में अभिन्न अर्थों की एक शब्द के द्वारा उक्ति श्लेष कहलाती है ।

समासोक्ति, श्लेष और शब्दशक्तिमूलक ध्वनि इन तीनों अनेकार्थक शब्दों द्वारा अनेक अर्थों की योजना रहती है, किन्तु समासोक्ति में अनेकार्थकता केवल विशेषणवाचक शब्दों में ही रहती है जब कि श्लेष और ध्वनि में विशेष्यवाचक शब्दों में भी । इस कारण समासोक्ति का द्वितीय अर्थ विशेष्यांश में पंशु रहता है । इसी प्रकार समासोक्ति और श्लेष ध्वनि में एक अर्थ प्रस्तुत और अभिधा द्वारा कथित रहता है तथा द्वितीय अर्थ अप्रस्तुत और व्यंजना द्वारा प्रतीत, इसमें भी प्रस्तुत अभिधेय अर्थ ही नियमतः पहले प्रतीत होता है, अप्रस्तुत व्यंग्य अर्थ नियमतः पश्चात्, साथ ही द्वितीय अर्थ प्रथम अर्थ पर निर्भर रहता है । अतः दोनों में असम्बद्धता न रहकर संबन्ध ही रहता है । श्लेष में विशेष्य और विशेषण दोनों के वाचक शब्दों में द्वयर्थकता या अनेकार्थकता रहने पर भी दोनों ही या सभी अर्थ श्लेष के प्रथम दो भेदों में या तो केवल प्रस्तुत होते हैं या केवल अप्रस्तुत, फलतः दोनों ही अर्थों का ज्ञान केवल एक ही वृत्ति से होता है, अभिधा से । इसके अतिरिक्त दोनों या सभी अर्थों की प्रतीति अलग पदों का प्रयोग होने पर एक साथ हो जाती है और समंग पदों का प्रयोग होने पर क्रम से, किन्तु इस क्रम से किसी भी अर्थ की प्रतीति पहले और किसी की भी बाद में मानी जा सकती है क्योंकि इन अर्थों में संबन्ध या सापेक्षता का अभाव रहता है । गाय के सिर पर निकले शृङ्गों के समान ये अर्थ परस्पर में निरपेक्ष रहते हैं । तृतीय भेद में एक अर्थ प्रकृत और दूसरा अप्रकृत माना जाता है तथापि उसमें समासोक्ति के समान विशेष्यांश में श्लेष नहीं रहता, उपमा रूपक आदि के समान विशेष्यों का कथन पृथक्-पृथक् शब्दों से होता है । अन्तर केवल श्लेष विशेषणों की अनेकता या अधिकता और एकता या न्यूनता का रहता है । उपमादि में श्लेष विशेषण केवल कुछ ही रहते हैं जब कि श्लेष में उन्हीं की भरमार रहती है । फलतः चमत्कार, उन्हीं का प्रधान हो जाता है । यद्यपि सर्वस्वकार एक भी श्लेषविशेषण हो तो श्लेष ही मान लेते हैं । अलंकाररत्नाकरकार ने समासोक्तिप्रकरण में यही भेद इस प्रकार श्लोकवद्ध किया है—

‘प्रकृतस्यापवाच्यस्य विशेष्यस्याभिधायकम् ।

समानं यत्र नो तत्र समासोक्तिर्, ध्वनिर्हि तः ॥

विशेषणानां तुष्यन्वे विशेष्याणामपि क्वचिद् ।

अनेकार्थाभिधायित्वे श्लेषः स्यादिति निर्णयः ॥’

अलंकाररत्नाकरकार ने विशेष्य की श्लेषता में भी जो श्लेषालंकार माना है वह श्लेष का वही तीसरा भेद है जिसमें सर्वस्वकार ने पूर्वाचार्यों के अनुकरण पर दोनों विशेष्यों का पृथक् उपादान आवश्यक माना है । अप्ययदीक्षित ने एक डग और मरी और इस तीसरे भेद में भी श्लेषप्रसिद्धि के लिए दोनों का पृथक् पृथक् उपादान आवश्यक मान, इस भेद में भी विशेष्य को श्लेष स्वीकार कर लिया । तब शब्दशक्तिमूलक ध्वनि से श्लेष का अन्तर करने का प्रश्न उठा तो उत्तर में लिखा—

‘यद्य प्रकृताप्रकृतश्लेषोदाहरणे शब्दशक्तिमूलध्वनिमिच्छन्ति प्राञ्चः तत्र प्रकृताप्रकृताभिधान-  
मूलकस्योपमादेरलंकारस्य व्यवहृत्यामिप्रायवम्, न तु अप्रकृतार्थस्यैव व्यवहृत्यामिप्रायकम्, ।’

अप्रकृतार्थस्यापि शब्दशक्त्या प्रतिपाद्यस्याभिधेयत्वावश्यकत्वात् व्यक्त्यनपेक्षणात् । यद्यपि प्रकृतेश्च प्रकरणशब्दाद्भेदिति बुद्धिस्थे सत्येव पश्चात् तत्तद्विषयकशक्त्यन्तरोन्नेयपूर्वकमप्रस्तुतार्थः स्फुरेत्, न चैतावता तस्य व्यङ्ग्यत्वम्, शक्त्या प्रतिपाद्यमाने सर्वथैव व्यक्त्यनपेक्षणात् ।'

—प्राचीन आल्कारिक प्रकृतप्रकृतोभयाभित श्लेष के उदाहरण में जो शब्दशक्तिमूलक ध्वनि मानने हैं वह अभिधा द्वारा कथित प्रकृत और अप्रकृत दोनों को व्यङ्ग्य उपमादि [ अलंकारों ] के अभिप्राय से, न कि अप्रकृत अर्थ को व्यङ्ग्य मानकर; क्योंकि अप्रकृत अर्थ अभिधा द्वारा प्रतिपादित होता है अतः उसे अभिधेय मानना आवश्यक है, फलतः उसको व्यञ्जना की कोई अपेक्षा नहीं है । यद्यपि प्रकृत अर्थ के साथ प्रकरण रहता है इस कारण उसका ज्ञान अविलम्ब हो जाना है और अप्रकृत का ज्ञान उसके पश्चात् होता है जब उसके विषय की दूसरी अभिधा का उत्पान होता है तथापि इतने मर से उसे व्यङ्ग्य नहीं कहा जा सकता । जहाँ प्रतीति अभिधा से होती है वहाँ व्यञ्जना की कोई अपेक्षा नहीं रहती ।'

रसगंगाधर के द्वितीय आनन के आरम्भ में द्वितीय अर्थ की प्रतीति में प्रत्यायक शक्ति का निर्णय करने समय पण्डितराज जगन्नाथ ने अप्ययदीक्षित के इस मत को अपने शब्दों में अनेक विकल्पों और विविध ऊहापोहों द्वारा प्रस्तुत किया है । उनके उस लम्बे विवेचन का निष्कर्ष इनना ही है कि—( १ ) नानार्थक शब्द के सुनारं देने ही सभी अर्थों का ज्ञान तत्काल अभिधाशक्ति के द्वारा ही हो जाता है, क्योंकि सकेत सभी अर्थों में गृहीत रहता है, ( २ ) इसके पश्चात् यह संदेह होना है कि इस शब्द का तात्पर्य किस अर्थ में है, अर्थात् इन सभी अर्थों में से वाक्यार्थ के लिए उपयुक्त अर्थ कौन है, ( ३ ) जिसका निर्णय प्रकरणादि से हो जाता है, तदनन्तर ( ४ ) दो में कोई एक बोध होता है या तो एकार्यमात्रविषयक पुनर्बोध या उसके बिना ही सीधे-सीधे वाक्यार्थबोध । इस प्रकार दोनों ही अर्थों का ज्ञान पहले से ही अभिधा द्वारा हुआ रहता है, दूसरे अर्थ में व्यञ्जना मानना ठीक नहीं है ।'

पुनर्बोध मानने का संकेत अप्ययदीक्षित ने भी किया है जहाँ उन्होंने [ यहीं उद्धृत अंश में ] दूसरी शक्ति के उन्नेय की बात कही है । वस्तुतः जब सभी अर्थों का बोध पहले ही हो चुका है तब किसी एक अर्थ का पुनर्बोध न होकर पहले से ज्ञात उस एक अर्थ के भीतर वाक्यार्थोपयोगित्व-मात्र का नवीन बोध होता है, इसलिए पण्डितराज ने द्वितीय पक्ष को प्रथम पक्ष के संशोधन के रूप में प्रस्तुत किया है । मम्मट आदि सभी आचार्य पुनर्बोधवादी हैं । अप्ययदीक्षित और पण्डितराज का कहना है कि पुनर्बोध हो या सीधा वाक्यार्थबोध, ये दोनों प्रश्न अनेक अर्थों में से किसी एक अर्थ से संबन्धित हैं । जहाँ तक द्वितीय अर्थ का संबन्ध है उसका ज्ञान अभिधा द्वारा पहले ही हो चुका रहता है अतः उसमें व्यञ्जना मानना आवश्यक नहीं है । हाँ अभिधा द्वारा विदित दोनों अर्थों के संबन्ध में अवश्य व्यञ्जना मानी जा सकती है । मम्मट आदि द्वितीय अर्थ का ज्ञान भी व्यञ्जना द्वारा मानने हैं । तदर्थ वे ऐसा उदाहरण देते हैं जिसमें प्रकरण का ज्ञान पहले से रहता है । उनका कहना है कि वहाँ अभिधा प्रकरणोपयोगी अर्थ की ही ओर प्रवृत्त हो पाना है । वाक्यार्थ-बोध होने के पश्चात् अप्राकरगिक अर्थ का ज्ञान भी होने लगता है किन्तु उसमें अभिधा क्रियाभित नहीं होती क्योंकि वह प्रकरण द्वारा नियन्त्रित हो जाती है । सर्वस्वकार भी ऐसा ही उदाहरण देते हैं । 'सद्यः कौशिकं' पद्य का हरिदचन्द्रपरक अर्थ पूरा नाटक पढ़ लेने के पश्चात् पद्य को पुनः पढ़ने अथवा नाटक की कथावस्तु प्रसिद्ध होती है इसलिए उसका पहले से ध्यान रहने के कारण होता है । पण्डितराज का कथन है कि प्रकरण ज्ञान रहने पर भी यदि द्वयर्थक शब्द उपस्थित है तो उससे दूसरा अर्थ अलग शक्ति से निकलना माना जाना ठीक नहीं है । प्रकरण या इससे उत्पन्न तात्पर्यनिर्णय अभिधा का नियन्त्रण नहीं करते, वे किसी एक अर्थ का निर्णय करा-

कर वाक्यार्थबोध में सहायकमात्र बनते हैं । इस विषय पर हमारा अपना मत हमने हमारे हिन्दी व्यक्तिविवेक की भूमिका में स्पष्ट कर दिया है । इस विषय में हमें व्यक्तिविवेककार महिमभट्ट का सिद्धान्त ही स्वीकार है । व्यंजना का शब्दवृत्तित्व तत्त्वचिन्तन से परे एक निरी भायुक्तता है । व्यंजना के शब्दवृत्तित्व का खण्डन हमने अपने एक अन्य लेख 'साहित्य-संप्रदाये तात्पर्यरत्नरत्नम्' में भी किया है । देखिए सारस्वती सुधमा २१।३ अंक ।

संजीविनीकार श्री विद्याचक्रवर्ती ने सर्वस्वकार के संपूर्ण विवेचन का संक्षेप इस प्रकार किया है—

‘शब्दसाम्यं मवेच्छ्लेषो विशेषणविशेष्ययोः ।  
यद्येकोऽप्रकृतोऽर्थश्चेद् भेषांशे भिन्नशब्दता ॥  
शब्दाधोभयनिष्ठोऽयं सर्वालङ्कारवाधकः ।  
पूर्वसिद्धस्य चेदङ्गं तदा न्यायेन वाध्यते ॥’

—‘शब्दसाम्य [ शब्दों की अनेक पक्षों में समानार्थकता ] श्लेष कहलाता है, किन्तु यह साम्य विशेषण और विशेष्य दोनों में रहता है । अनेक अर्थों में से यदि कोई अर्थ प्राकरणिक हो तो विशेष्यांश अलग-अलग शब्दों से कथित रहते हैं ।

—यह [ श्लेष ] शब्द में रहता है और अर्थों में भी तथा यह [ अन्य ] सभी अलंकारों का वाधक है । [ हां, यदि कोई अलंकार पहले से सिद्ध हो तो श्लेष उस ] से वाधित हो जाता है यदि [ श्लेष ] उस [ पूर्वसिद्ध अलंकार ] का अंग हो ।’

संजीविनीकार ने सारसंक्षेप की इन कारिकाओं के तुरन्त बाद अपना विरोध भी प्रकट कर दिया है और अपना मत मम्मट के पक्ष में दे दिया है ।

भाषाशास्त्र भी श्लेष पर विचार करता है किन्तु उसकी विचारभूमिका अर्थपरिवर्तन के कारणों से संबन्धित है, अलंकारशास्त्र उससे भिन्न परिवर्तित अर्थों अथवा विकसित अर्थों की चमत्कार-भूमिका से विचार आरम्भ करता है । इस प्रकार भाषा एक सुन्दरी है । भाषाशास्त्र उसके वंश पर विचार करता है और अलंकारशास्त्र उसके सौन्दर्य पर । कविता एक लता है और भाषाशास्त्र वनस्पतिशास्त्र जो लता के निष्पादक तत्त्वों की गवेषणा करता है । अलंकारशास्त्र मनःशास्त्र है जो यह खोजता है कि लता अपने किस अंग के सौन्दर्य से दर्शक को आकृष्ट और आनन्द-विभोर कर रही है ।

[ सर्वस्व ]

प्रस्तुतादप्रस्तुतप्रतीतौ समासोक्तिरुक्ता । अधुना तद्वैपरीत्येनाप्रस्तुतात्  
प्रस्तुतप्रतीतावप्रस्तुतप्रशंसोच्यते —

[ सू० ३५ ] अप्रस्तुतात् सामान्यविशेषभावे कार्यकारणभावे  
सारूप्ये च प्रस्तुतप्रतीतावप्रस्तुतप्रशंसा ।

इहाप्रस्तुतस्य वर्णनमेवायुक्तम्, अप्रस्तुतत्वात् । प्रस्तुतपरत्वे तु कदाचित् तद् युक्तं स्यात् । न चाप्रस्तुतादसंबन्धे प्रस्तुतप्रतीतिः, अतिप्रसङ्गात् । संबन्धे तु भवन्ती न त्रिविधं संबन्धमतिवर्तते, तस्यैवार्थान्तरप्रतीतिद्वैतत्वोपपत्तेः । त्रिविधश्च संबन्धः—सामान्यविशेषभावः कार्यकारणभावः सारूप्यं चेति । सामान्यविशेषभावे सामान्याद् विशेषस्य विशेषाद् वा सामान्यस्य प्रतीतौ द्वैविध्यम्, कार्यकारणभावेऽप्यनयैव भङ्गव्या

द्विधात्वम्, सारूप्ये त्वेको भेद इत्यस्याः पञ्च प्रकाराः । तत्रापि सारूप्यहेतुके भेदे साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां द्वैविध्यम् । वाच्यस्य संभवासंभयोभयरूपताभिन्नयः प्रकाराः । श्लिष्टशब्दप्रयोगे स्वयन्तरस्यावाच्यत्वाच्छ्लेषाद् विशेषः । श्लेषे ह्यनेकस्यार्थस्य वाच्यत्वमित्युक्तम् ।

प्रस्तुत से अप्रस्तुत की प्रतीति होने पर समासोक्ति होती है और उनके [ ठीक ] विपरीत अप्रस्तुत से प्रस्तुत की प्रतीति होने पर अप्रस्तुतप्रशंसा । समासोक्ति का निर्वचन किया जा चुका है । अप्रस्तुतप्रशंसा का निर्वचन अब आरम्भ करने हैं—

[ सूत्र ३५ ] अप्रस्तुत से सामान्य विशेषभाव, कार्यकारणभाव अथवा सादृश्य सम्बन्ध होने पर प्रस्तुत की प्रतीति हो तो [ अलङ्कार की संज्ञा ] अप्रस्तुतप्रशंसा [ होती है ] ॥

[ वृत्ति ] यहाँ [ अप्रस्तुत से प्रस्तुत की प्रतीति की जो यह बात है इसमें ] अप्रस्तुत का वर्णन [ सामान्यतः ] अनुचित ही होता है । यदि वह [ अप्रस्तुत ] प्रस्तुतपरक हो तो कदाचित् [ उमका वर्णन ] उचित हो सकता है । इधर अप्रस्तुत से प्रस्तुत की प्रतीति तब तक सम्भव नहीं जब तक [ उनका ] कोई सम्बन्ध न हो क्योंकि बिना संबन्ध के प्रतीति मानने पर किसी में भी किसी की भी प्रतीति सम्भव होगी । संबन्ध से होने पर भी [ उक्त ] तीन प्रकार के सम्बन्ध को छोड़ अन्य किसी सम्बन्ध से वह सम्भव नहीं होती, क्योंकि वही [ तीन प्रकार का ही सम्बन्ध ] अन्य अर्थ की प्रतीति कराने में समर्थ [ हेतु ] बन पाता है । तीन प्रकार का सम्बन्ध है [ १ ] सामान्यविशेषभाव [ २ ] कार्यकारणभाव तथा [ ३ ] सादृश्य । सामान्यविशेषभाव संबन्ध में या तो सामान्य से विशेष की प्रतीति होती है या विशेष से सामान्य को, इसलिए यह दो प्रकार का हो जाता है । कार्यकारणभाव में भी इसी प्रकार दो प्रकार होते हैं [ कारण से कार्य की प्रतीति या कार्य से कारण की प्रतीति ] । सादृश्य में केवल एक ही प्रकार होता है । इन प्रकार इस [ अप्रस्तुतप्रशंसा ] के [ मूल ] भेद [ केवल ] पाँच होने हैं । इनमें भी जो भेद सादृश्य-मूलक होना है उसमें भी दो भेद होने हैं माधर्म्यमूलक और वैधर्म्यमूलक । [ हममें ] वाच्य अर्थ भी तीन प्रकार का होता है [ १ ] संभव, [ २ ] असम्भव और [ ३ ] उभयरूप । [ इसमें ] यहाँ कहीं [ श्लिष्ट शब्दों का प्रयोग होता है वहाँ दूसरा अर्थ वाच्य नहीं होना अतः यह श्लेष से निवृत्त है । श्लेष में, जो है सो, पूरा का पूरा अर्थ वाच्य ही होता है जैसा कि [ श्लेषप्रकरण में अभी-अभी ] कहा जा चुका है ।

### विमर्शिनी

उक्तेति समनन्तरम् । यत्तु समासोक्तयनन्तरं परिकरश्लेषयोर्वचनं तद् विशेषणसाम्यादिना प्रसङ्गागतम् । तामेवाह—अप्रस्तुतादित्यादि । नन्विहाप्रस्तुतस्य वर्णनमेवायुक्तमिति कथं तस्मादपि प्रस्तुतस्य प्रतीतिर्भवतीत्याशङ्क्याह—इदित्यादि । तदिति, अप्रस्तुतवर्णनम् । अतिप्रसङ्गादिति सर्वस्मात् सर्वप्रतिपत्त्यारमणम् । तस्यैवेति त्रिविधस्य संबन्धस्य । सामान्यस्य विशेषाश्रयात् विशेषस्य च सामान्यनिष्पत्त्यात् सामान्यविशेषयोः परस्परमागुरणे संबन्धः । एवं च कार्यस्य कारणपरतन्त्रत्वात्संबन्धस्य कारणस्य कार्यनिष्पत्त्यात् कार्यकारणयोरपि संबन्धः । इत्यमेतत् संबन्धद्वयं वास्तवम् । सारूप्यं पुनः प्रतीतिकमेव । प्रतीतावेव सदस्यो न यस्त्वन्तरेण सदस्यस्य यस्त्वनन्तरस्य प्रतीतिसिद्धेः । वस्तुतः हि वस्तुवन्तरप्रतीत्या वस्तुवन्तरप्रतीतिर्न स्यात् । अनयैव भङ्गयेति कारणात्

कार्यस्य कार्याद् वा कारणस्य प्रतीतौ । तत्रापीति सत्यपि पञ्चप्रकारत्वे । श्लिष्टशब्दप्रयोग इति । श्लिष्टशब्दनिबन्धनाप्यप्रस्तुतप्रशंसा भवतीत्यनुवादाद् विधिः । अत एवास्य बहुप्रकार-त्त्वमुक्तम् ।

उक्ता—समासोक्ति का निर्वचन किया जा चुका है अर्थात् अभी-अभी । समासोक्ति के बाद [ तुरन्त पश्चात् अप्रस्तुतप्रशंसा का निर्वचन न कर बीच में ] परिश्रम और श्लेष का जो निर्वचन किया गया है वह विशेषणसामान्य आदि के कारण आनुषङ्गिक रूप से किया गया है । उक्ती [ अप्रस्तुतप्रशंसा ] का लक्षण सूत्ररूप में प्रस्तुत करते हैं—अप्रस्तुतात् इत्यादि ।

[ प्रश्न ]—जब यहाँ [ काव्य में ] अप्रस्तुत का वर्णन संभव ही नहीं है तब उससे प्रस्तुत की भी प्रतीति कैसे होगी इस पर उत्तर देते हुए कहते हैं इष्ट इत्यादि । तत् = वह अर्थात् अप्रस्तुत का वर्णन । अतिप्रसङ्ग = सभी से सभी अर्थों की जो प्रतीति तत्स्वरूप । तस्यैव = वही = त्रिविध सम्बन्ध । सामान्य और विशेष का परस्पर की बंधना में सम्बन्ध रहता है क्योंकि सामान्य विशेष पर आश्रित रहता है और विशेष सामान्य पर । इसी प्रकार कथं भी कारण के बिना निष्पन्न नहीं होता और कारण भी अपनी अन्तिम [ परिणति की ] अवस्था में कार्यरूप में परिणत होने वाला होता है अतः इनका भी परस्पर में सम्बन्ध है । इस प्रकार ये जो दो सम्बन्ध हैं वे दोनों वास्तविक हैं । किन्तु सारूप्य = सादृश्य काल्पनिक ही होता है, क्योंकि समानवस्तु की प्रतीति होने पर ही तत्समान अन्य वस्तु की प्रतीति होती है । यदि वह वास्तविक ही तो अन्य वस्तु की प्रतीति से अन्य वस्तु की प्रतीति न हो । 'अनयैव भङ्ग्या = इसी प्रकार' अर्थात् कारण से कार्य की और कार्य से कारण की प्रतीति होने से । 'तत्रापि = इनमें भी' अर्थात् ये पाँच मूल भेद होने पर भी । 'श्लिष्टशब्द-प्रयोगे = श्लिष्टशब्द का प्रयोग होने पर' इस अनुवादात्मक [ उद्देश्यभावपूर्ण ] कथन से यह विधि निकलती है कि अप्रस्तुतप्रशंसा श्लेषमूलक भी होती है । और इस कारण इसके और भी अनेक प्रकार संभव बतलाए हैं ।

### [ सर्वस्व ]

तत्र सामान्याद् विशेषस्य प्रतीतौ यथा—

'तण्णत्थि किंपि पट्ठणो पक्कण्णिअं जं ण णिअइधरणीय ।

अणवरअग्गणसीलस्स कालपट्ठिअस्स पाट्ठिजं ॥'

अत्र प्रहस्तवधे विशेषे प्रस्तुते सामान्यमभिहितम् ।

उक्त भेदों में से सामान्य से विशेष की प्रतीति का उदाहरण—

'तन्नास्ति किमपि पत्तुः प्रकल्पितं यत्र नियतिगेहिन्या ।

अनवरतगमनशीलस्य कालपथिकस्य पाथेयम् ॥

'ऐसी कोई वस्तु नहीं है जिसे नियतिरूपी गेहिनी ने अपने अनवरत गतिशील कालपथिकरूपी पति के लिए पाथेय ( रास्ते का कलेवा ) न बना दिया हो ।'

यहाँ प्रहस्तवधरूपी विशेष अर्थ प्रस्तुत है और कहा गया है सामान्य अर्थ ।

### चिमर्शिनी

प्रस्तुत इति । प्रहस्तवधवर्णनस्यैव प्रक्रान्तत्वात् । अत्र वाक्यान्तरोपात्ते विशेषात्मनि प्रस्तुते प्रहस्तवधे नियतिकर्मलक्षणं सामान्यासिद्धानमर्थान्तरन्यास इत्यन्ये मन्यन्त इत्युदाहरणान्तरेणोदाह्रियते । यथा—

'दुर्जनदूषितमनसां पुंसां सुजनेऽपि नास्ति विश्वासः ।

बालः पायसदग्धो दध्यपि फूसूय मज्जयति ॥'



अत्र केनापि दुर्जनेन विपलवधस्य कस्यचित् सुजनविशेषे विघ्नमो न जायते तस्य सुजनस्येयं विशेषे प्रस्तुते सामान्योक्तिः ।

प्रस्तुत क्योंकि प्रकरण प्रहस्त के वष का ही चल रहा है । इस पद्य में अन्य आचार्य [ अलङ्काररत्नाकरकार ] यह मानने हैं कि 'यहाँ विशेषरूप और प्रस्तुत प्रहस्तवष अन्य वाक्यों से कथित है इस कारण नियतिकर्मरूप सामान्य अर्थ का कथन अर्थात्तरन्यास ही है' । इसी कारण वे अप्रस्तुतप्रशंसा के इस भेद पर यह एक दूसरा उदाहरण देते हैं—

'जिन पुरुषों का मन दुर्जनों से दूषित हो जाता है वे सुजनों का भी विश्वास नहीं करते । दूध से जला बालक दही को भी फूँककर खाता है ।'

यहाँ विशेष प्रस्तुत है और तदर्थ यह अप्रस्तुत सामान्य की उक्ति है क्योंकि यह किसी दुर्जन द्वारा ठगे गए अतएव किसी सुजन पर भी विश्वास न कर रहे व्यक्ति के प्रति उसी सुजन की उक्ति है ।

[ बस्तुतः अप्रस्तुतप्रशंसा इसी पद्य में नहीं है, इसमें रूपकाशुप्राणिन दृष्टान्तालकार है दुर्जन, सुजन और साधारण व्यक्ति का गरम दूध, दही और बालक के साथ सामान्यविशेषभाव नहीं है । विन्वप्रतिविन्वभाव ही हो सकता है । अनः यहाँ अर्थात्तरन्यास भी नहीं है । 'तत्रास्ति' पद्य अपने आपमें अप्रस्तुतप्रशंसा हो सकती है । विशेष अर्थ का ज्ञान इस वाक्य से नहीं होता, अन्य वाक्यों से होने पर भी उसका प्रभाव इस पर नहीं पड़ता क्योंकि विशेष का ज्ञान जिस किसी प्रकार तो पहले से रहना अपेक्षित ही है वह चाहे वाक्यान्तर से हो या प्रत्यक्ष, प्रकरण आदि से । ]

[ सर्वस्व ]

विशेषात् सामान्यप्रतीतौ यथा—

'पतत् तस्य मुखात् कियत् कमलिनीपत्रे कणं चारिणो

यन्मुक्तामणिरित्यमंस्त स जडः शृण्वन्त्यदस्मादपि ।

अद्भुत्यप्रलघुक्रियाप्रविलयिन्यादीयमाने शनै

स्तथोड्डीय गतो हृदयनुदिनं निद्राति नान्तःशुचा ॥'

अत्र जडानामस्थान पवोद्यम इति सामान्ये प्रस्तुते विशेषोऽभिहितः ।

कारणात् कार्यप्रतीतौ यथा—

'पद्यामः किमियं प्रपद्यत इति स्वैर्यं मयालक्षितं

किं मां नात्पतीत्ययं खलु शठः कोपस्तयाप्याधितः ।

इत्यग्न्योन्यविलक्षदृष्टिचतुरे तस्मिन्नवस्थान्तरं

सव्याजं हसितं मया धृतिहरो वाष्पस्तु मुक्तस्तया ॥'

अत्र धाराधिरुदो मानः कथं निवृत्त इति कार्यं प्रस्तुते निवृत्तिकारणमभिहितम् ।

कार्यात् कारणप्रतीतौ यथा—

इन्दुलिप्त श्वाङ्गनेन जडिता दृष्टिर्मृगीणामिव

प्रमल्लानारुणिमेव चिद्रुमरुचिः श्यामेव हेमप्रभा ।

कार्कश्यं कलयामि कोकिलधृक्कण्ठेग्विव प्रस्तुतं

सीतायाः पुरतश्च हन्त शिभिनां वर्धाः सगर्हा इव ॥'

अत्र संभाव्यमानैरिन्द्रादिगतैरञ्जनलितत्वादिभिः कार्यरूपैरप्रस्तुतैर्लोकोत्तरो वदनादिगतः सौन्दर्यातिशयः कारणरूपः प्रस्तुतः प्रतीयते । तेनैयमप्रस्तुतप्रशंसा ।

[ अप्रस्तुत ] विशेष से [ प्रस्तुत ] सामान्य की प्रतीति यथा—

‘उसके मुख से इतना जो तुमने सुना है कि वह जड़ [ मूर्खत्वकि ] कमलपत्र पर पड़ी पानी की बूँद को मुकामणि मान बैठा’ यह कौन बड़ी बात है, इससे भी बड़ी बात [ एक और है उसे ] सुनो कि [ एक दूसरा जड़ ] उसे उठाने लगा किन्तु ज्योंही [ उसने ] उंगली के अप्रमाण से भी और बड़ी ही बारीकी के साथ भी उसे छुआ वह [ बूँद पत्ते पर से छड़क कर पानी में मिल गई और इस प्रकार ] छुप्त हो गई । इसका उसे इतना शोक है कि कितने ही दिनों से उसे नींद नहीं आ रही है । वह मन ही मन हाथ हाथ कर रहा है कि मेरा मोती जड़ गया ।’

—इस पदार्थ में वक्तव्य तो है यह सामान्य वस्तु कि जो जड़ या नासमझ होते हैं वे कहीं भी कुछ भी करने लगते हैं किन्तु कथन [ किसी व्यक्ति ] विशेष का किया गया है । [ यही पद्य काव्यप्रकाशकार ने भी दिया है किन्तु वहाँ ‘तत्र’ के स्थान पर ‘कुत्र = कहीं पड़ गया’ यह पाठ है । ‘शृण्वन् यत् अस्मादपि’ का पदच्छेद ‘शृणु अन्यत् अस्मादपि’ भी किया जा सकता है और ‘शृण्वन् यत् अस्मादपि = कि इससे सुनते हुए भी’ द्वितीय पदच्छेद में ‘भी—अपि’ व्यर्थ होगा और भी अनेक दोष आ जायेंगे । ]

[ अप्रस्तुत ] कारण से [ प्रस्तुत ] कार्य की प्रतीति होने पर यथा—

‘मैं तो यह सोचकर झूठे ही गम्भीर हो गया कि देखूँ यह क्या करती है, और वह भी यह सोचकर कुपित हो गई कि एक तो यह छिपकर दूसरी से मिला और ऊपर से बातचीत भी बन्द किए बैठा है । इस विनयीत स्थिति में हम दोनों [ कुछ देर तक तो ] झुकी निगाहों से [ एक दूसरे को ] बड़ी ही सफाई के साथ देखते रहे, बाद में, मैं, किसी बहाने हँस पड़ा और उसका भी धीरेज टूट गया और आँसू बह निकले ।’

—यहाँ [ जिज्ञासा तो थी ] ‘देर तक प्रवृत्त भान हट गया ?’ इस प्रकार कार्य [ के विषय में अतः ] कार्य [ ही ] प्रस्तुत था किन्तु कक्षा गया है ‘हट जाने’ का कारण ।

[ अप्रस्तुत ] कार्य से [ प्रस्तुत ] कारण की प्रतीति, यथा—

‘सीता के समझ चन्द्रमा मानों कानल से पुता हुआ है, मृगियों की दृष्टि मानों स्तम्भ है, मृगों की कान्ति की अरुणता मानों कुम्हला गई है, सुवर्ण की कान्ति मानों काली पड़ गई है, कोयल की कूक में कर्कशता दिखाई देती है, क्या कहें, अब मोरोंगे [ मधूरपिच्छ ] निन्द्रास्पद प्रतीत हो रहे हैं ।’

यहाँ चन्द्रमा आदि में जिन कञ्जललितत्व आदि की संभावना की जा रही है वे कार्यरूप हैं और अप्रस्तुत हैं । इनसे इनका कारण सीताजी के मुख आदि का लोकोत्तर और अतिशायी सौन्दर्य जो वर्णनीय होने से प्रस्तुत है, प्रतीत होता है । इस कारण यहाँ अप्रस्तुत प्रशंसा है [ उत्प्रेक्षा नहीं ] ।

### चिमर्शिनी

तेनेति । अप्रस्तुतात् कार्यात् प्रस्तुतस्य कारणस्य प्रतीतेः । यथा वा—

अनेन सार्धं सरयूवनान्ते कूकन्मयूरीमुखरे विहृत्य ।

विलासवातायनसेवनेन श्लाघ्यामयोध्यां नगरीं विधेहि ॥

अत्र स्वयंवराद्ये कारणे प्रस्तुते कार्यभ्यामिधानम् ।

ननु चात्र कार्यात् कारणस्य प्रतीतिं यदि अस्तुतप्रदांसा र्थात् तद् वच्यमाणस्य पर्यायोक्तालंकारस्य को विषय इत्याह—नन्वित्यादि ।

'सेन = इम कारण' क्योंकि यहाँ अस्तुतुन कार्य से प्रस्तुत कारण की प्रतीति हो रही है । अथवा दूसरा उदाहरण—

'सगि ! तुम मोरनियों का बोली से मुझ मरवू तट के बन उपवर्ना में [ स्वयंवर में जाय ] इस [ राम के वशधर कुमार ] के साथ विशार करने के पश्चात् विलास वातायन [ विलासार्थं निर्मित मवन की तड़की ] का सेवन करके अयोध्यापुरी को इलाय्य बनाओ ।' [ विक्रमांकदेव चरित १।१४ ] ।

यहाँ स्वयंवररूपी कारण प्रस्तुत है किन्तु कथन किया गया है [ उससे होने वाले विहारादि ] कार्य का [ यह उदाहरण विमर्शनीकार ने अलङ्काररत्नाकर से लिया है 'अत्र स्वयं - कार्यभ्यामिधानम्' यह पूरी पक्ति अलङ्काररत्नाकर से उद्धृत पक्ति है 'निर्णय सागर संस्करण में इस पद्य के पहले और 'नेनेति' के बाद आई पक्ति तथा इम पक्ति में कारण शब्द के स्थान कार्य शब्द छाया है, तथा कार्यशब्द के स्थान पर कारण शब्द जो सर्वथा असंगत है । ]

यदि 'इस कार्य से कारण की प्रतीति' भेद में [ अलङ्कार ] होगी अस्तुतुतप्रदांसा तो भाग्य कहे जाने वाला पर्यायोक्तालंकार कदा होगा—'स शका पर उत्तर देते हुए कहते हैं

[ सर्वस्व ]

ननु कार्यात् कारणे गम्यमानेऽप्रस्तुतप्रदांसायामिष्यमाणायाम् —

'येन लम्बालका सास्त्रः कराघानाचणस्तनः ।

अकारि भग्नवलयो गजासुरवधूजनः ।' इति,

तथा—

'चक्रामिघातप्रसभादयैव चकार यो राहुवधूजनस्य ।

आलिङ्गनोद्दामविलासशून्यं रतोत्सवं शुभ्यनमानदोषम् ॥'

इत्यादौ सुप्रसिद्धे पर्यायोक्तविषयेऽप्रस्तुतप्रदांसायोगः । अत्र हि गजासुरवधूगतेन लम्बालकात्वादिना कार्येण कारणभूतो गजासुरवधः प्रतीयते । तथा राहुवधूगतेन विशिष्टेन रतोत्सवेन राहुशिष्येण कारणरूपो गम्यते । एवमन्यत्रापि पर्यायोक्तविषये श्रेयम् । तस्मादप्रस्तुतप्रदांसाविषयत्वात् पर्यायोक्तस्य निविषयत्वप्रसङ्गः । नैव दोषः । इह यत्र कार्यात् कारणं प्रतीयते । तत्र कार्यं प्रस्तुतमप्रस्तुतं चेति द्वयी गतिः । तत्र यत्र प्रस्तुतत्वं कार्यस्य कारणवत् तस्यापि वर्णनीयत्वात् तत्र कार्यमुखेन कारणं पर्यायोक्तमिति पर्यायोक्तालंकारः । तत्र हि कारणापेक्षया कार्यभ्यातिशयेन सौन्दर्यमिति तदेव वर्णितम् । यथोक्तोदाहरणद्वये । गजासुरवधूवृत्तान्तेऽपि भगवत्प्रभावजन्यत्वात् प्रस्तुत एव । परं राहुवधूवृत्तान्तेऽपि श्रेयम् । ततश्च नायमप्रस्तुतप्रदांसाविषयः । यत्र पुनः कारणस्य प्रस्तुतत्वे कार्यमप्रस्तुतं वर्ण्यते

तत्र स्पष्टैवाप्रस्तुतप्रशंसा । यथा—‘इन्दुलिप्त इवाञ्जनेन’ इत्यादौ । अत्र हि इन्द्रादयः स्फुटमेवाप्राकरणिक्ताः । तत्प्रतिच्छन्दभूतानां सुखादीनां प्राकरणिकत्वात् । तेनाञ्जेन्द्रादिगतेनाञ्जनलितत्वादिना अप्रस्तुतेन कार्येण प्रस्तुतं मुक्तादिगतं सौन्दर्यं सहृदयाह्लादकारि गम्यते इत्यत्राप्रस्तुतप्रशंसा । एवं च यत्र वाच्योऽर्थोऽर्थान्तरं तादृशमेव स्वोपस्कारकत्वेनाभूरयति तत्र पर्यायोक्तम्, यत्र पुनः स्वात्मानमेवाप्रस्तुतत्वात् प्रस्तुतमर्थान्तरं प्रति समर्पयति तत्राप्रस्तुतप्रशंसेति निर्णयः । ततश्चानया प्रक्रियया

‘राजन् राजसुता न पाठयति मां देव्योऽपि तूष्णीं स्थिताः

कुञ्जे भोजय मां कुमार सच्चिवैर्नाद्यापि संभुज्यते ।

इत्थं राजशुकस्तघारिभवने नुक्तोऽध्यगैः पञ्जरा-

ञ्चिन्नस्थानवलोक्य शून्यबलभावेकैकमाभापते ॥

इत्यत्र पर्यायोक्तमेव बोध्यम् । अन्ये तु ‘दृषडयात्रोद्यतं त्वां बुद्ध्वा त्वदरयः पलाय्य गता इति कारणरूपस्यैवार्थस्य प्रस्तुतत्वात् कार्यरूपोऽर्थोऽप्रस्तुत एव राजशुकवृत्तान्तस्याप्रस्तुतत्वात् प्रस्तुतार्थं प्रति स्वात्मानं समर्पयतीत्यप्रस्तुतप्रशंसेवात्र न्याय्येति वर्णयन्ति । सर्वथा पर्यायोक्ताप्रस्तुतप्रशंसयोर्विषयविभागः सुनिरूपित एवेति स्थितम् । एतानि साधर्म्यादाहरणानि ।

शंका—यदि कार्यं से कारण की [व्यञ्जना द्वारा] प्रतीति होने पर अप्रस्तुतप्रशंसा अमोघ है तो

—जिस [शिव] ने गजासुर की खियों के केश लटका दिए, आँसू बहा दिए, स्तन इथेलियों के आघातों से लाल कर दिए और चूड़ियों बुढ़वा दी ।’ इस तथा—

—जिस [विष्णु] ने [अपने] वक्त्र [सुदर्शन] की आवात की एकाग्र आशा देकर ही राहु की खियों के रतोत्सव को आलिंगन के उदाम विलास से शून्य और केवल चुम्बनमात्र तक सीमित कर दिया ।’

इस जैसे पर्यायोक्तालंकार के सुप्रसिद्ध स्थलों में भी अप्रस्तुतप्रशंसा का व्यवहार होने लगेगा । यहाँ भी गजासुर-आगत केश लटकने आदि कार्य से उसके कारण गजासुर-वध की प्रतीति होती है । उसी प्रकार राहुवधगत विशिष्ट रतोत्सव [रूपी कार्य] से कारणरूप राहुसिरच्छेद की प्रतीति होती है । वही स्थिति पर्यायोक्त अलंकार के अन्य उदाहरणों में भी जानी जा सकती है । इस प्रकार [कार्य से कारण की प्रतीति वाले स्थलों को] अप्रस्तुतप्रशंसा का विषय मानने पर पर्यायोक्तालंकार का कोई स्थल ही नहीं रह पायगा ।

उत्तर—यह दोष नहीं आता । यहाँ [इन दोनों अलंकारों में] यहाँ कार्य से कारण की प्रतीति होती है वहाँ कार्य दो प्रकार का होता है प्रस्तुत या अप्रस्तुत । उन [दोनों] में से वहाँ कारण के समान कार्य भी वर्णनीय होता है अतः कार्य प्रस्तुत रहता है वहाँ पर्यायोक्तालंकार होता है क्योंकि वहाँ कारण का प्रकारान्तर से अर्थात् कार्य के द्वारा कथन रहता है, साथ ही वहाँ कारण की अपेक्षा कार्य का सौन्दर्य साविशय होता है इसलिए उसी का वर्णन किया जाता है, जैसे [पर्यायोक्त के] वक्त्र दोनों उदाहरणों में । इन [उदाहरणों में] से प्रथम उदाहरण ]

में गजासुर की खियों की दशा भी [ वर्णनीय अन एव ] प्रस्तुत ही है, क्योंकि वह भी मगवान् [ शिव ] के ही प्रभाव से जनित है। इसी प्रकार राहु खियों की दशा भी [ प्रस्तुत ही ] समझी जानी चाहिए। इसी कारण ये स्थल अप्रस्तुतप्रशंसा के नहीं माने जा सकते। जहाँ कहीं कारण प्रस्तुत रहता है और कार्य अप्रस्तुत, साथ ही वर्णन अप्रस्तुत कार्य का किया जाता है वहाँ स्पष्ट ही अप्रस्तुतप्रशंसा रहती है [ उसमें पर्यायोक्त की समावना क्यमपि नहीं रहती ] जैसे 'इन्दु' इत्यादि पद्य में। इस पद्य में स्पष्ट ही इन्दु आदि अप्रस्तुत हैं क्योंकि उनके प्रतिपक्षी मुख आदि ही यहाँ प्रस्तुत [ वर्णनीय ] हैं। इसलिए यहाँ इन्दु आदि में वर्णित अजन-लितत्व [ काजल से लिना हुआ होना ] आदि जो अप्रस्तुत कार्य हैं उनमें मुख आदि के भीतर [ कारणरूप ] सौ दर्य प्रतीत होता है। और वहीं सहृदय-हृदय में आनन्दानुभूति जगाता है। इसलिए यहाँ अप्रस्तुतप्रशंसा है। इस प्रकार निर्णय यह हुआ कि पर्यायोक्त वहाँ होता है जहाँ वाच्य अर्थ अपने ही जैसे [ वाच्यरूप से प्रतीत ] अन्य अर्थ को अपनी शोभा बढ़ाने वाले अर्थ के रूप में व्यञ्जित करता है, किन्तु जहाँ वह [ वाच्य अर्थ ] अप्रस्तुत होने के कारण स्वयं को ही [ व्यञ्जना से प्रतीत ] प्रस्तुत अर्थ के प्रति समर्पित कर देता है वहाँ अप्रस्तुतप्रशंसा होती है। और इस प्रक्रिया के अनुसार—

रास्तागोरों द्वारा पिंजरे से उड़ाया रायसुअ आपके शत्रुओं के भवनों में शून्य छत्रों पर लिखित एक एक के पास आकर कहा करता है—'राजन्, राजकुमारी मुझे पडा नहीं रही, रानियों भी चुप हैं, अरी कुवही ! खिला मुझे, कुमार ! मित्रों के साथ अभी तक भोजन नहीं हो रहा'।

—'इस वाक्यार्थ में पर्यायोक्त ही समझना चाहिए। [ काव्यप्रकाशकार आदि ] अन्य [ आल-कारिक ] इसके विरुद्ध यह कहते हैं कि यहाँ प्रस्तुत है—'आपको युद्ध यात्रा के लिए उचित जान आपके शत्रु भाग गए हैं' यह कारण रूप अर्थ [ उक्त राजशुकवृत्तान्तात्मक ] कार्य रूपी अर्थ अप्रस्तुत है, क्योंकि रायसुअ की स्थिति का जो वर्णन है वह अप्रस्तुत है [ वर्ण्य या मुख्य प्रतिपाद नहीं है ], अतः वह प्रस्तुत अर्थ के प्रति अपना समर्पण कर देता है, फलतः यहाँ अप्रस्तुत-प्रशंसा ही मानना उचित है।' जो हो उक्त निरूपण से यह भलीभांति निश्चित हो चुका है कि पर्यायोक्त और अप्रस्तुतप्रशंसा के विषय भिन्न हैं।

अभी जो उदाहरण दिए गए हैं वे सब साधन्य के उदाहरण हैं।

### विमर्शिनी

सुप्रसिद्ध इति सर्वालंकारकाराभिभते । तत्रेति द्वयनिर्धारणे । तदेव वर्णितमिति कार्य-मेवोक्तम्, कारणस्य गम्यमानत्वात् । तत्रचेति द्वयोरपि कार्यकारणयोः प्रस्तुतत्वात् । स्पष्टेवेति । अप्रस्तुतत्वेव कार्यस्य प्रशंसितत्वात् । अतश्च द्वयोरपि प्रस्तुतत्वे पर्यायोक्तम्, प्रस्तुताप्रस्तुतत्वे स्वप्रस्तुतप्रशंसैति त्रिपयविभागः । अतश्च सामान्यविशेषयोः प्रस्तुतत्वामं-भवात् कार्यकारणयोः प्रस्तुतत्वेऽपि कार्यात् कारणप्रतीतिवत् कारणत् कार्यप्रतीतेर्व-विश्यामावाद्यः ।

—'पर्यायस्य कार्यहेतवोर्भेदसामान्ययोस्तथा ।

अप्रस्तुतप्रशंसायां सरूपस्यैव गम्यता ॥'

हरयाद्युक्तमयुक्तम् ।

यद्येवं तदत्र पर्यायोक्ताप्रस्तुतप्रशंसयोः प्रस्तुताप्रस्तुतरूपं कार्यं प्रस्तुतं कारणं कथमा-गूरयतीत्याशङ्क्याह—एवं चेत्यादि । तादृशमेवेति वाच्यम् । स्वोपकारकत्वेनेति, स्वसिद्धार्थ परस्वात्तेपात् । समर्पयतीति वाच्योऽर्थः । हर्यं च 'स्वसिद्धये परात्तेपः परार्थं स्वसमर्पणम् । उपादान लक्षणं च' इत्युक्त्या लक्षणाद्व्याश्रितत्वादनपौरवान्तरोऽपि विषयभेदोऽस्तीत्यत्र

तात्पर्यम् । ततश्चेति अनयोर्भिन्नविषयत्वात् । अन्य इति काव्यप्रकाशकारादयः । सर्वयिति, तत्र पर्यायोक्तमप्रस्तुतप्रशंसा वास्वित्यभिप्रायः ।

इह च साधर्म्येण सारूप्योदाहरणानां पूर्वमनुद्दिष्टानामपि 'एतानि साधर्म्योदाहरणानि' इत्यनेनातिदेशवाक्येन [ अतिदेश ] इति निश्चिनुमः । अयं हि ग्रन्थो ग्रन्थकृतः पश्चात्-कैरपि पत्रिकाभिलिखित इति प्रसिद्धिः । तैश्चानवधानादुदाहरणपत्रिका न लिखिता । अतिदेशवाक्यं च पत्रिकान्तरालिखितमिति ग्रन्थस्यासंगतत्वम् । बहूनि पुनरुदाहरणानि सारूप्यहेतुकस्य भेदस्य, लक्षणे प्रानुर्यदर्शनाथम् । एवं 'वाच्यस्य संभवे उक्तान्येवोदाहरणानि' इत्यग्राप्ययमेवाभिप्रायो योग्यः । अतश्च—

'परार्थे यः पीडामनुभवति भङ्गेऽपि मधुरो यदीयः सर्वेषामिह खलु विकारोऽप्यभिनतः ।  
न संप्राप्तो वृद्धिं यदि स भृशमचेन्नपतितः किमिच्छोर्दोषोऽसौ न पुनरगुणायाम् मरुभुवः ॥'  
तथा—

'पातः पूर्णो भवति महते नोपतापाय यस्मात्  
कालेनास्तं क इव न गता यान्ति वास्यन्ति चान्धे ।  
एतावत्त व्यययति यदालोकवाद्यैस्तमोभि-  
स्तस्मिन्नेव प्रकृतिमहति व्योम्नि लब्धोऽवकाशः ॥' तथा—

'पथि निपतितान् शून्ये लब्ध्वा निरावरणामनां ननु दधिघर्षं गर्वोन्नद्धः समुद्भुरकंधरः ।  
निजसमुचित्तास्तास्तश्चेष्टा विकारशताकुलो यदि न कुशते काणः काकः कश्च नु करिष्यति ॥'

इत्युदाहरणान्यत्र मध्ये लेखितव्यानि येन ग्रन्थस्य संगतत्वं स्यात् । अत्र च सारूप्यं साधर्म्यं वाच्यसंभवश्च स्फुट एव ।

सुप्रसिद्ध = [ आनन्दवर्धन आदि ] सभी आलङ्कारिकों को मान्य । सत्र = इनमें से अर्थात् इन दोनों में से । तदेव वर्णितम् = उसी का वर्णन किया जाता है = उसी का अर्थात् कार्य का, वर्णन = शब्दतः कथन, क्योंकि कारण [ शब्दतः कथित न होकर ] प्रतीयमान रहता है । ततश्च = इसी कारण = अर्थात् कार्य और कारण इन दोनों के ही प्रस्तुत होने के कारण । स्पष्टैव = क्योंकि यहाँ अप्रस्तुत कार्य ही शब्दतः कथित है । इस प्रकार 'दोनों ही प्रस्तुत हों तो पर्यायोक्त होता है, एक प्रस्तुत और एक अप्रस्तुत तो अप्रस्तुतप्रशंसा' यह हुआ [ इन दोनों का ] विषयविभाग । इसलिए 'कार्य और कारण तथा सामान्य और विशेष ये दोनों भेद पर्यायोक्त के अन्तर्गत आ जाते हैं अतः अप्रस्तुतप्रशंसा में केवल सारूप्य ही गम्य होता है ।'

—इत्यादि जो [ किसी आचार्य ने, अलंकाररत्नाकरकार ने नहीं ] कहा है वह ठीक नहीं है, क्योंकि सामान्य और विशेष [ दोनों एक साथ ] प्रस्तुत बन नहीं पाते, जो बन पाते हैं उन कार्यकारण में भी [ प्रस्तुत ] कारण से [ प्रस्तुत ] कार्य की प्रतीति में वैसा कोई चमत्कार नहीं होता जैसा [ प्रस्तुत ] कार्य से [ प्रस्तुत ] कारण की प्रतीति में होता है ।

यदि ऐसा है तो बतलाइए कि पर्यायोक्त में प्रस्तुत और अप्रस्तुत-प्रशंसा में अप्रस्तुत कार्य [ दोनों में ही ] प्रस्तुत कारण को किस रूप में व्यंजित करते हैं [ अर्थात् इन दोनों के कारणश में भी कोई भेद है अथवा नहीं ] इस [ प्रश्न ] पर [ उत्तर ] देते हुए लिखते हैं—एवं च । तादृशमेव = वैसे ही अर्थात् वाच्य ही । स्वोपस्कारकत्वेन = अपनी शोभा बढ़ाने वाले अर्थ के रूप में इसलिए कि इसमें दूसरे अर्थ का आक्षेप अपनी सिद्धि के लिए होता है । समर्पयति = समर्पित कर देता है अर्थात् वाच्य अर्थ समर्पित कर देता है । इस प्रकार तात्पर्य यह कि [ काव्यप्रकाशकार द्वारा कथित ] 'अपनी सिद्धि के लिए दूसरे का आक्षेप उपादान कइलाता है और दूसरे अर्थ

को अपना समर्पण [ अर्थात् स्वस्वरूप का सर्वथा त्याग ] लक्षणा—ये जो दो लक्षणाएँ हैं, उक्त दोनों अलङ्कार इन पर निर्भर रहते हैं [ पर्यायोक्त उपादान पर और अप्रस्तुतप्रशंसा लक्षण पर ] और इनका यह भी एक नवीन विभाजक तत्त्व है। तत्तश्च = और [ इस कारण ] = इन दोनों में विषय विभाग हो जाने से। अन्य = काव्यप्रकाशकार आदि। सर्वथा = जो हो, अर्थात् 'राजन् राजसुता न' पद्य में पर्यायोक्त हो या अप्रस्तुतप्रशंसा।

यहाँ हम इस निश्चय पर पहुँचते हैं कि 'ये सब साधर्म्य के उदाहरण हैं' इस अतिदेशवाक्य द्वारा साधर्म्यमूलक सारूप्यजनित अप्रस्तुतप्रशंसा के भेदों का अतिदेश भी हो जाता है यद्यपि ये भेद अभी तक बतलाए नहीं गए हैं। बात यह है कि यह ग्रन्थ ग्रन्थकार के पश्चात् अन्य कुछ व्यक्तियों ने [ ताल आदि की ] पत्तियों पर लिखा था, [ प्रतिफलित की भी ] ऐसी प्रसिद्धि है। उन व्यक्तियों ने मूल से उदाहरणों की पपत्ती तैयार नहीं की। और उक्त अतिदेशवाक्य अन्य पत्तियों पर से उतार लिया। इसलिए ग्रन्थ की संगति टूट गई। जहाँ तक अप्रस्तुतप्रशंसा के सारूप्यमूलक भेद के उदाहरणों का सम्बन्ध है इसके उदाहरण [ ग्रन्थकार ने या मम्मटादि अन्य आचार्यों ने ] जो अनेक पद्यों द्वारा प्रस्तुत किए गए हैं केवल यह दिखलाने के लिए कि काव्य में यही भेद प्रचुर मात्रा में मिलता है। उक्त [ लेखक-प्रमाद की ] बात [ अभी यहाँ आगे जाने वाले ] 'वाच्य जहाँ समव होना है उसके उदाहरण भी ये ही हैं'—इस ग्रन्थांश के विषय में भी लागू होता माननी चाहिए। इसलिए यहाँ बीच में—

'जो दूसरों के लिए पीटा का अनुभव करता है [ पेरा जाना है ], पीटा जाने पर भी जो मधुर ही रहता है, जिसका विकार [ गुह-शर्करा आदि ] भी सबको प्रिय होता है, ऐसा हलु [ रस, गन्ना, सोटा ] यदि विपरीत भूमि में रोप दिया जाय और पनप न पाए तो क्या यह उस हलु का दोष होगा ? ऊपर मरुभूमि का नहीं ?

तथा—

'सूर्य नारायण दृव जाने हैं इसका तो अधिक दुःख नहीं होता, क्योंकि समय आने पर कौन व्यक्ति नहीं दृवा, कौन नहीं दृवता और कौन नहीं दृवेगा, क्या इसकी है कि उसी प्रकृति-महान् आकाश में आलोकविरोधी अन्धकार ने घर कर लिया।'

तथा—

'एक पथ में सुले मुँह पड़ी दही की मटकी पाकर यदि काना कौआ गर्व से फूलकर गरदन घटा घटाकर और सैकड़ों विकारों से भरकर अपने अनुरूप तब तब चैष्टाएँ न करे तो फिर कब करेगा।'

—ये उदाहरण लिख दिए जाने चाहिए, जिसमें ग्रन्थ [ में विषय ] की संगति बन सके। इनमें सारूप्य, साधर्म्य और वाच्यार्थ की समवता स्पष्ट रूप से विद्यमान है।

विमर्श—मूल ग्रन्थ की 'सुनिरूपित एवेति स्थितम्' पंक्ति के पश्चात् डॉ० राधकृष्ण ने अपने संस्करण में 'सारूप्ये यथा' यह अंश और दे दिया है। इसके आगे उदाहरण उन्होंने भी नहीं दिए हैं। इस प्रकार सारूप्यमूलक भेद के उदाहरण की कमी सर्वत्र के सभी संस्करणों में विद्यमान है। यह कमी विमर्शनीकार के समय में ही है जैसा कि उनके उक्त विवेचन से स्पष्ट है। समुद्र-वन्ध ने भी इस कमी को परखा है और अपनी ओर से उदाहरण जोड़कर ग्रन्थ पूरा कर दिया है। किन्तु संजीविनीकार का ध्यान इस ओर नहीं गया है। वस्तुतः इन दोनों संस्करणों में यहाँ की संजीविनी अन्यवस्थित है। दोनों ही संस्करणों में यहाँ यह पंक्ति ही हुई है—'एतानि साधर्म्यं इति, वैधर्म्यं तु न्येयानि। सारूप्यहेतुकं तु भेदमनया नीत्या साधर्म्येण सुगानत्वाद् वैधर्म्येणोदाहरति धन्या इति।' इम अंश में 'सारूप्ये यथा' पंक्ति का कोई प्रतीक नहीं मिलता। उसकी

आवश्यकता भी नहीं है। यदि प्रतिक्रियाकार ने यह लिखा होता तो वह उदाहरण लिखना न भूलता। इस अंश पर विमर्शनी भी धूमिल है। उसमें 'वाक्येनातिदेश इति' के स्थान पर 'वाक्येनेति'—इतना ही लिखा मिलता है। 'वाक्येनातिदेशः' योमना हमने अपने मन से की है। इसी प्रकार 'वहूनि पुनरुदा—प्राचुर्यदर्शनार्थम्' पंक्ति का स्वारस्य हमने खान्खान कर निकाला है। स्पष्ट ही अलंकारसर्वस्व की प्रतियां उसने निर्माण के कुछ ही वर्षों बाद अव्यवस्थित हो गई थीं और मूल प्रति नष्ट हो गई थी।

[ सर्वस्व ]

वैधर्म्येण यथा—

'धन्याः खलु वने वाताः कङ्कारस्पर्शशीतला ।

राममिन्दीवरश्यामं ये स्पृशन्त्यनिवारिताः ॥'

अत्र वाता धन्या इत्यप्रस्तुतादर्थादहमधन्य इति वैधर्म्येण प्रस्तुतोऽर्थः प्रतीयते ।

वाच्यस्य संभव उक्तान्येवोदाहरणानि ।

असंभवे यथा—

'कस्त्वं भोः कथयामि दैवहतकं मां विद्धि शाखोटकं

वैराग्यादिव वक्षि साधु विदितं कस्मादिदं कथ्यते ।

वामेनात्र वदस्तमश्वगजनः सर्वात्मना सेवत

तच्छायापि परोपकारकृतये मार्गस्थितस्यापि मे ॥'

अत्राचेतनेन सह प्रशोत्तरिका नोपपन्नेति वाच्यस्यासंभव एव । प्रस्तुतं प्रति तात्पर्यात् प्रमुख एव तदध्यारोपेण प्रतीतिरिति युज्यत एवैतत् । उभयद्वयत्वे यथा—

'अन्तश्छिद्राणि भूयांसि कण्टका वद्वो वहिः ।

कथं कमलनालस्य सा भूवन् भङ्गुरा गुणाः ॥'

अत्र वाच्येऽर्थे कण्टकानां भङ्गुरीकरणे हेतुत्वं संभवि छिद्राणां त्वसंभवात्पुण्यभयरूपवम् । प्रस्तुतस्य तात्पर्येण प्रतीतेस्तदध्यारोपात् तत्र संगतमेवैतदिति नासमीचीनं किञ्चित् । एतदेव च श्लेषगर्भायामस्यामुदाहरणम् ।

वैधर्म्यमूलक यथा—

'रक्तकमल के स्पर्श से शीतल वनवायु बड़ी ही धन्य हैं जो नीलकमल के समान स्वाम भगवान् राम को निर्वाधरूप से छून रहती हैं ।'

—यहाँ 'वायु धन्य हैं' इस प्रकार के अप्रस्तुत अर्थ से 'मैं कधन्य हूँ' यह प्रस्तुत अर्थ वैधर्म्य के द्वारा प्रतीत होता है ।

जहाँ वाच्यार्थ संभव होता है उसके उदाहरण पूर्वोक्त उदाहरण ही हैं ।

वाच्य जहाँ असंभव होता है उसका उदाहरण यह है—

'तुम कौन हो, भाई ! बतलाता हूँ, मुझे भाग्य का मारा शाखोटक समझो । तुम तो ऐसे बोल रहे हो जैसे विरक्त हो । आपने ठीक समझा । ऐसी क्यों ! बतलाता हूँ । यहाँ जो बौद्ध और बड़



का पेठ है, रास्तागीर इसका सेवन सब प्रकार से करते हैं, मैं तो रास्ते पर ही लगा हूँ किन्तु मेरी छाया तक दूसरों का लाभ नहीं कर पाती ।'

—यहाँ अचेतन के साथ प्रश्नोत्तर नहीं हो सकते इसलिए वाच्यार्थ असंभव ही है । वह प्रस्तुत के प्रति तत्पर है, अतः पहले उस [ प्रस्तुत ] का आरोप हो जाता है तब [ वाच्यार्थ की ] प्रतीति होती है, फलतः यह [ प्रश्नोत्तर ] समभव हो जाता है ।

उभयरूप [ समभव और असंभव वाच्य ] का उदाहरण यथा—

भीतर बहुत से छिद्र हैं और बाहर बहुत मे कटि । मला कमल नाल के गुण [ तन्तु ] मयुर कैसे न हों ।'

—यहाँ [ तन्तुओं के ] भङ्गुरत्व में काटों की कारणता समभव है [ काटों में उलझ कर धागे, सूत्र, कपड़े फट ही जाते हैं ] किन्तु छिद्रों की कारणता समभव नहीं है [ तन्तुनिमित्त वस्त्रादि में छिद्र तो रहते ही हैं, उनसे बख नष्ट नहीं होता ] इसलिए [ यहाँ वाच्यार्थ ] उभयरूप है [ समभव भी है और असंभव भी ] । प्रस्तुत की प्रतीति तात्पर्यविषयीभूत अर्थ के रूप में होती है अतः उस [ प्रस्तुत ] का [ अप्रस्तुत पर ] आरोप हो जाता है । फलतः यह [ अप्रस्तुत भी ] यहाँ संगत ही है । फलतः यहाँ कोई दोष नहीं आता । श्लेषगमित इस [ अप्रस्तुतप्रशंसा ] का उदाहरण भी यही है ।

### विमर्शिनी

तदध्यारोपेणेति प्रस्तुतारोपेण । पृतद्विति अचेतनेन सह प्रश्नोत्तरकरणम् । पृतच्च सामान्यादिभेदपञ्चकं वाच्यसदर्थान्तरन्यासदृष्टान्तयोर्विषयो भवति । अन्यथा पुनरस्या भवेति दर्शयितुमाह—तत्रेत्यादिना ।

तदध्यारोपेण = उसके अध्यारोप के द्वारा = प्रस्तुत के अध्यारोप के द्वारा । पृतत् = यह अर्थात् अचेतन के साथ प्रश्नोत्तर । 'ये जो सामान्यादि पांच भेद हैं ये यदि वाच्य [ मात्र ] होते हैं तो अर्थान्तरन्यास और दृष्टान्त के विषय बनते हैं, नहीं तो इसी [ अप्रस्तुतप्रशंसा ] के'—यह दिखलाने के लिए कहते हैं—

### [ सर्वस्व ]

तदत्र सामान्यविशेषत्वेन कार्यकारणत्वेन सारूप्येण च यद्भेदपञ्चकमुद्दिष्टं तत्र द्वयोः सामान्यविशेषयोः कार्यकारणयोश्च यद्वा वाच्यत्वं भवति तदार्थान्तरन्यासाविर्भाव । सारूप्योस्तु वाच्यत्वे दृष्टान्तः । अप्रस्तुतस्य वाच्यत्वे-प्रस्तुतस्य गम्यत्वे सर्वप्रस्तुतप्रशंसेति निर्णयः ।

यहाँ यह निष्कर्ष निकलता है कि ये जो सामान्यविशेषमूलक कार्यकारणमात्रमूलक तथा सादृश्यमूलक पांच भेद बतलाए गए हैं इनमें जब [ आदिम ] दो [ भेदों ] में सामान्य और विशेष तथा कार्य और कारण [ ये दोनों ही अर्थ ] वाच्य होते हैं तो [ अलङ्कार ] निष्पन्न होता है अर्थान्तर-न्यास, और जब [ सादृश्यमूलक भेद के ] दोनों समान अर्थ वाच्य होते हैं तो दृष्टान्त । किन्तु वहाँ सर्वथा अप्रस्तुतप्रशंसा ही होती है जहाँ अप्रस्तुत वाच्य होता है और प्रस्तुत गम्य ।

### विमर्शिनी

सर्वधैत्यनेनैतच्छब्दगणस्याप्यभिचार उक्तः ।

सर्वथा कह कर यह संकेत किया कि अप्रस्तुतप्रशंसा का जो लक्षण बनाया गया है वह दूसरे अलंकारों में संक्रान्त नहीं होता ।

**विमर्श**—यहाँ एक ध्यान देने की बात यह है कि कार्य से कारण की प्रतीति वाले भेद में अप्रस्तुतप्रशंसा से पर्यायोक्त का अन्तर ग्रन्थकार ने बड़ी कहकर किया है जो कहकर अप्रस्तुतप्रशंसा से अर्थान्तर न्यास का अन्तर कर रहे हैं । उन्होंने पर्यायोक्त में भी कार्य को प्रस्तुत ही बतलाया है जैसा कि यहाँ अर्थान्तरन्यास में भी बतला रहे हैं । फलतः पर्यायोक्त और अर्थान्तरन्यास के बीच भेदक तत्त्व का विचार करना है । ग्रन्थकार ने इस विषय पर यहाँ और इन दोनों अलंकारों के प्रकरण में भी कुछ नहीं लिखा । विमर्शनीकार भी चुप हैं । इसलिए कि अन्तर स्पष्ट है । यह कि अर्थान्तरन्यास में कारण दोनों वाच्य रहते हैं अब कि पर्यायोक्त में केवल कार्य ही वाच्य होता है । इसीलिए अर्थान्तरन्यास में समर्थसमर्थकभाव बन जाता है, पर्यायोक्त में नहीं ।

**अप्रस्तुतप्रशंसा का पूर्वतिहास—**

**भामह**—भामह में अप्रस्तुतप्रशंसा के भेद नहीं मिलते । सामान्य लक्षणमात्र इस प्रकार मिलता है—

‘अधिकारादपेतस्य वस्तुनोज्यस्य वा स्तुतिः ।

अप्रस्तुतप्रशंसेति सा चैव कथ्यते यथा ॥ १।२९ ॥

प्रीणितप्रणयि स्वादु काले परिणतं बहु ।

विना पुरुषकारेण फलं पश्यत शशिनाम् ॥ ३।३० ॥

—अधिकार = [ प्रकरण ] से अलग [ अप्राकरणिक ] किसी अन्य पदार्थ की जो स्तुति उसे ‘अप्रस्तुतप्रशंसा’ इस नाम से कहा जाता है । यथा—

—वाचकों को संतुष्ट करने वाले, स्वादु, समय पर फले तथा विशाल फल, देखो तो, वृक्षों में विना ही पुरुषार्थ के लग गए हैं ।’

यहाँ भामह ने प्रशंसा शब्द का अर्थ स्तुति किया है । वस्तुतः प्रशंसा का अर्थ केवल कथनमात्र है । परवर्ती आचार्यों ने यही अर्थ माना है ।

**वामन** :—वामन के यहाँ अप्रस्तुतप्रशंसा का स्वरूप अत्यन्त भूमिल और अस्पष्ट है । उसका अन्तर्भाव अतिशयोक्ति के निगिर्याध्यवसान भेद में हो जाता है । वामन का अप्रशंसाविदेचन यह है—

[ सूत्र ] [ उपमेयस्य ] किंचिदुक्तावप्रस्तुतप्रशंसा ।

[ वृत्ति ] उपमेयस्य किंचिल्लिङ्गमात्रेणोक्तौ समानवस्तुन्यासोऽप्रस्तुतप्रशंसा । यथा—

‘लावण्यसिन्धुरपरैव हि केयमत्र यत्रोत्पलानि शशिना सह संप्लवन्ते ।

बन्मञ्जति द्विरद्वुन्मत्तटी च यत्र यत्रापरे कदलिकाण्डमृगालदण्डाः ॥’

अप्रस्तुतप्रशंसार्थस्य प्रशंसनमप्रस्तुतप्रशंसा ।

—उपमेय का सांकेतिकरूपमात्र से ही उल्लेख हो और प्रधानरूप से उल्लेख हो तत्समान पदार्थ का तो अप्रस्तुतप्रशंसा होती है । जैसे [ किसी युवती के वर्णन में कथित यह वृत्ति ]— ‘यह तो कोई एक भिन्न ही लावण्यसिन्धु है जिसमें कमल [ नेत्र ] चन्द्रमा [ मुखमण्डल ] के साथ तैर रहे हैं । साथ ही जहाँ हाथी के कुम्भ [ स्तन ] उभर रहे हैं और जहाँ कोई दूसरे ही कदली के काण्ड तथा मृगाल के दण्ड भी विद्यमान हैं ।’ अप्रस्तुत की प्रशंसा होने से यह अप्रस्तुतप्रशंसा नाम से पुकारी जाती है ।’

स्पष्ट ही भामह और वामन केवल सारूप्यमूलक भेद को ही अपस्तुतप्रशंसा बतला रहे हैं। वामन इसीलिए इसे उपमा का अवान्तरूप बतलाते हैं उनका उदाहरण स्पष्टरूप से अतिशयोक्ति का ही उदाहरण है।

उद्भट = उद्भट ने भामह के लक्षण को प्रायः ज्यों का त्यों अपना लिया है—

‘अधिकारादपेतस्य वस्तुनोऽन्यस्य या स्तुति ।

अप्रस्तुतप्रशंसैव प्रस्तुतार्थानुवन्धिनी ॥’

—अधिकार [ प्रकरण ] से दूर किसी अन्य अर्थ को ऐसी स्तुति जो प्रकृत अर्थ से सवन्ध रखती है अप्रस्तुतप्रशंसा कहलाती है। स्पष्ट ही उद्भट ने भामह से आगे बढ़कर एक ही बात कही। वह है अप्रस्तुत का प्रस्तुत से सबद्ध रहना। उन्होंने उदाहरण दिया—

‘यान्ति स्वदेशेषु अरामसंप्राप्तोपमोक्तुका ।

फलपुष्पदिमानोऽपि दुर्गदेशवनप्रिय ॥’

—दुर्गम स्थान की वनभी फल और फूल की समृद्धि से युक्त होने पर भी उपमोक्ता न मिलने से अपने देश में ही जरा को प्राप्त हो जाना है। यह वाक्य अविवाहित और अस्तुरूप या अशुचि वेश की सुन्दरी को लक्ष्य कर कहा गया है। अतः यह अप्रस्तुतप्रशंसा का सारूप्य-मूलक भेद है। इसके अतिरिक्त अन्य भेद उद्भट में भामह और वामन के ही समान नहीं मिलते। अप्रस्तुतप्रशंसा नाम के विषय में भामह और उद्भट का मत एक ही है।

रुद्रट = रुद्रट के काव्यालंकार में अप्रस्तुतप्रशंसानाम से कोई अलंकार नहीं मिलता। अन्योक्ति नाम से जो अलंकार मिलता है उसे सारूप्यमूलक अप्रस्तुतप्रशंसा माना जा सकता है। अन्योक्ति का निरूपण रुद्रट ने इस प्रकार किया है—

‘असमानविशेषणमपि यत्र समानेतिवृत्तमुपमेयम् ।

उत्तेन गम्यते परमुपमानेनेति सान्योक्ति ॥ ८।७।४ ॥

यथा—

‘मुक्त्वा सलीलहम विकसितकमलोज्ज्वल सर- सरसम् ।

वकतुलितत्रल पल्लवममिलयमि सखे । न इसोऽसि ॥’

—जहाँ केवल उपमान ही कहा जाए और उपमेय विशेषणों की उभयार्थकता न रहने पर भी केवल इतिवृत्त की समानतामात्र से आक्षिप्त हो वह [ अलंकार ] अन्योक्ति कहलाता है। यथा—

—‘मित्र ! इसी की लीला से युक्त, खिले कमलों से उद्भासित तथा सरस जलवाले सरोवर को छोड़कर बगुलों से भरे गडढे की चाह रहे हो, तुम हम नहीं हो।’ यहाँ विदग्धगोष्ठी की छोट उष्र्णों के गिरोह में जा रहे किमी शिष्ट मित्र ने उपालम्भ किया है। सारूप्यमूलक अप्रस्तुत-प्रशंसा का यह एक उत्तम उदाहरण है। भामह, वामन और उद्भट के उदाहरणों की अपेक्षा यही इसका वास्तविक उदाहरण माना जा सकता है।

मम्मट = अप्रस्तुतप्रशंसा का भी निरूपण अलंकारमर्वस्वकार ने किया है उसका आधार मम्मट का अप्रस्तुतप्रशंसाविवेचन है। मम्मट ने उक्त पाँचों भेद स्वीकार किए हैं, और सारूप्यमूलक भेद के अनेक उदाहरण दिए हैं। ‘करत्वं मो ०’ पद्य मम्मट ने भी उद्धृत किया है और उस पर चेतनारोप की बात आनन्दवर्षण के ही समान कही है। ‘पन्तु तय’ पद्य भी मम्मट ने उद्धृत किया है। ‘राजर् राजसुता ०’ पद्य में उन्होंने अप्रस्तुतप्रशंसा ही मानी है जिसपर सर्वस्वकार ने अपनी विमति व्यक्त की है। मम्मट का अप्रस्तुतप्रशंसा निरूपण इस प्रकार है—

[ लक्षण = ] 'अप्रस्तुतप्रशंसा या सा सैव प्रस्तुताश्रया ।

[ भेद = ] कार्ये निमित्ते सामान्ये विशेषे प्रस्तुते सति ।

तदन्यस्य वचस्तुल्ये तुल्यस्येति च पञ्चमा ॥

लक्षण पर वृत्ति लिखते हुए मम्मट ने अप्रस्तुतप्रशंसा नाम पर अपना मामद तथा उद्धृत के मत से भिन्न मत संकेतित किया है—'अप्राकरणिकस्याभिधानेन प्राकरणिकस्याशेषोऽप्रस्तुत-प्रशंसा ।' अर्थात्—

[ अप्रस्तुत = ] अप्राकरणिक [ अर्थ ] की [ प्रशंसा = ] अभिधा० द्वारा उक्ति से प्राकरणिक अर्थ का आक्षेप होने के कारण अलंकार का नाम अप्रस्तुतप्रशंसा पड़ता है । लक्षण में भी मम्मट ने अप्रस्तुतप्रशंसा शब्द को यौगिक शब्द के रूप में अपनाया है और उद्धृत के 'प्रस्तुतार्थानु-बन्धिनौ' पद का अर्थ अपनाकर 'प्रस्तुताश्रया' कहते हुए उन्होंने लक्षण के रूप में अप्रस्तुतप्रशंसा शब्द को ही पर्याप्त बतला दिया है । उनकी लक्षणकारिका का अनुवाद होता—

'प्रस्तुताश्रित जो अप्रस्तुतप्रशंसा वही अप्रस्तुतप्रशंसा' । विमर्शिनीकार ने सादृश्यमूलक भेद के जो अनेक भेदों का संकेत दिया है उसका मूल मम्मट का विवेचन ही है । मम्मट ने लिखा है—

'तुल्ये प्रस्तुते तुल्याभिधाने त्रयः प्रकाराः, श्लेषः, समासोक्तिः, सादृश्यमात्रं वा तुल्यात् तुल्यस्य शाक्षेपे हेतुः ।'—

—अर्थात् प्रस्तुत तुल्य के अप्रस्तुत तुल्य से आक्षेप में तीन भेद होते हैं, क्योंकि तुल्य से तुल्य के आक्षेप में श्लेष, समासोक्ति और सादृश्यमात्र ये तीन हेतु होते हैं ।

यहाँ श्लेष का अर्थ द्वयवैतनात्मात्र है । इसी प्रकार समासोक्ति का अर्थ भी संक्षेप में अनेकार्थानु-रूप शब्दयोजना है । श्लेषालंकार वा समासोक्तिअलंकार नहीं । इन तीनों के एक एक उदाहरण देने के पश्चात् मम्मट ने यह भी स्पष्ट किया है कि अप्रस्तुतप्रशंसा में कहीं चेतन का अध्वारोप अपेक्षित नहीं होता, कहीं अपेक्षित भी होता है तो या तो सर्वात्मना वा फिर अंशतः । 'कस्त्वं भोः' पद्य को उन्होंने सर्वात्मना अध्वारोप का उदाहरण माना है ।

मम्मट ने साधर्म्य-वैषम्य की चर्चा नहीं की है, न तो पर्यायोक्त, इष्टान्त तथा अर्थान्तरन्वय के साथ सान्यवैषम्य ही उन्होंने बतलाए । सर्वस्वकार का अप्रस्तुतप्रशंसा में वही ऐसा योगदान है जिसे मम्मट से आगे बढ़ा हुआ कहा जा सकता है ।

**शोभाकर**—परवर्ती शोभाकर ने अप्रस्तुत में एक नवीन विचार छेड़ा है । वह है द्वितीय अर्थ की प्रतीति करनेवाली शब्दवृत्ति का । आनन्दवर्धनाचार्य ने अप्रस्तुतप्रशंसा में द्वितीय अर्थ की प्रतीति व्यंजना द्वारा मानी थी । मम्मट ने उसका विरोध नहीं किया । शोभाकर का कहना है कि यहाँ द्वितीयार्थ की प्रतीति व्यंजना से न होकर लक्षणा से होती है । उनका कहना है कि—'अप्रस्तुत अर्थ प्रस्ताव अर्थात् प्रकरण के द्वारा बाधित हो जाता है, अतः उसको सादृश्य आदि सम्बन्ध के आधार पर प्रकरणानुरूप अर्थ में लक्षणा हो जाती है । इसका प्रयोजन होता है प्रस्तुत अर्थ का प्रतिपादन छिपाकर करना । इस प्रकार इसमें लक्षणा के मुखार्थबाध, मुखार्थसम्बन्ध तथा प्रयोजन ये तीनों हेतु विद्यमान रहते हैं । व्यंजना वहाँ होती है जहाँ वाच्यार्थ बाधित नहीं रहता ।' शोभाकर ने इस विषय में किस अज्ञात आचार्य की एक कारिका भी उद्धृत की है—

'मुख्यार्थबाधादिसमस्तहेतुयोगादसौ लक्षणवैध युक्ता ।' विमर्शिनीकार ने कदाचित् इसी धारणा पर उपादान और लक्षणलक्षणा की चर्चा चलाई है । रत्नाकरकार ने यहाँ चिन लक्षणभेदों का नाम लिया है वे इनसे भिन्न हैं ।

रत्नाकरकार यहाँ लक्षणा के कौन से भेद मानना चाहते हैं यह उनके लेख से स्पष्ट नहीं होता। यद्यपि पर्यायोक्तारंकार में आप इसी प्रकार से लगता है कि वे अप्रस्तुतप्रशंसा में भी उपादानलक्षणा ही मानते हैं। यद्यपि सर्वस्वकार ने भी 'यत्र वाच्योऽर्थोऽन्तरं स्वोपरकारकत्वे-नागूरयति तत्र पर्यायोक्तम्' तथा 'यत्र पुन स्वात्मानमेवाप्रस्तुतत्वात् प्रस्तुतमर्थान्तरं प्रति समर्पयति तत्राप्रस्तुतप्रशंसा' इन पक्तियों के द्वारा मम्मट की 'स्वसिद्धये पराश्रेय' तथा 'परार्थे स्वसमर्थनम्' इस लक्षणाभिरूपक कारिका की पदावली से मिलनी जुलती पदावली में पर्यायोक्त से अप्रस्तुत-प्रशंसा का भेद दिखलाया है तथापि उनमें उनका प्रतिपाद्य लक्षणा नहीं है। उनके उक्त कथन का अर्थ केवल इतना ही है कि पर्यायोक्त में व्यर्थार्थ वाच्यार्थ की शोभा शाना है और अप्रस्तुत-प्रशंसा में उससे उल्टे वाच्यार्थ ही व्यर्थार्थ की भी। आगूरण शब्द को मम्मट ने व्यंजना का पर्याय माना है [ द्वितीय ब्रह्मसूत्र ]। पण्डितराज ने भी अप्रस्तुतप्रशंसायां प्रस्तुत व्यङ्ग्यमिति निर्वि-वादम् [ अप्रस्तुतप्रशंसाप्रकरण का अंत ] इस प्रकार अप्रस्तुतप्रशंसा में प्रस्तुतार्थ को व्यंजनालभ्य ही माना है। वहाँ अनिशयोक्ति से अन्तर करने हुए उन्होंने अप्रस्तुतप्रशंसा में लक्षणा का खण्डन भी किया है। लक्षणा मानने से अप्रस्तुतप्रशंसा के सादृश्यमूलक भेद का अतिशयोक्ति से अन्तर नहीं किया जा सकेगा। अन्य भेदों में कार्य को कारण में अथवा कारण की कार्य में लक्षणा माननी होगी, जो असंगत होगी क्योंकि कार्यकारण के बीच हुई लक्षणा का प्रयोजन कार्य और कारण के बीच अभेद सिद्ध करना ही होता है जैसा कि 'घृण आयु है' आदि प्रयोगों में देखा जाता है। अप्रस्तुतप्रशंसा में अभेद की विवक्षा नहीं रहती। केवल छिपाकर कहने की विवक्षा करती है। इसीलिए पण्डितराज जगन्नाथ ने भी अप्रस्तुतप्रशंसा में दोनों अर्थों में भेद ही माना है और इसी तर्क पर लक्षणा का खण्डन किया है। द्रष्टव्य—'वाच्यार्थतादस्थयैव व्यङ्ग्यप्रतीतिः सर्वसद्वदय-सम्मतत्वात्' [ अप्रस्तुतप्रशंसाप्रकरणान्त ] फलतः विमर्शिनीकार के द्वारा भी इस प्रकरण में लक्षणा का अस्तित्व मानना रत्नाकरकार आदि की सर्वस्व की इन पक्तियोंके विषय में बनी अन्यथा धारणा का प्रमाद मानना होगा।

शोभाकर का अप्रस्तुतप्रशंसालक्षणा इस प्रकार है—

'अप्रस्तुतादन्यप्रतीतिरप्रस्तुतप्रशंसा।'

—अप्रस्तुत से अन्य की प्रतीति अप्रस्तुतप्रशंसा।'

अप्रस्तुतप्रशंसा का प्रवाद अप्ययदीक्षित तक आकर संसुद में गिरती रागा के प्रवाह के समान बहुमुखी हो गयी। समाप्तोक्ति में प्रस्तुत से अप्रस्तुत की व्यंजना होती थी और अप्रस्तुतप्रशंसा में अप्रस्तुत से प्रस्तुत की। एक स्थल ऐसा मिला जिसमें प्रतीति होने वाञ्छा द्वितीय अर्थ भी प्रस्तुत ही रहता है और प्रतीति कराने वाला प्रथम अर्थ भी। अप्ययदीक्षित ने उसे एक पृथक् अलंकार बतलाया और उसे परिकरान्कुर के समान प्रस्तुतान्कुर नाम दिया। उसका निरूपण इस प्रकार किया—

'प्रस्तुतेन प्रस्तुतस्य चोत्तने प्रस्तुतान्कुरः।

[ यथा— ] किं मृद्ग ! सत्यां मालत्या केतक्या कण्ठवेदना ॥

—प्रस्तुत से प्रस्तुत का [ ही ] चोत्तन हो तो अलंकार प्रस्तुतान्कुर होगा। यथा—

—अरे मृद्ग ! मालती के रहते हुए कटीली केतकी से क्या।

अप्ययदीक्षित के अनुसार यह उक्ति नायक के साथ उद्यानविहार कर रही नायिका की है, फलतः यहाँ मृद्गपक्ष भी प्रस्तुत ही है और सुन्दर कुलवधू को छोड़ कर वेदया के प्रति आकृष्ट होने वाले नायक का पक्ष भी प्रस्तुत ही है। इसी प्रकार 'कस्त्वं भोः कवयामि०' पद्य में भी अप्यय-दीक्षित ने प्रस्तुतान्कुर ही माना है। उनका कहना है कि अचेतन के साथ भी बातचीत संभव है

असंभव नहीं, भोलेपन में या अधिक माधुक्ता में ऊपर मूढ़ के प्रति नायिका की उक्ति के समान शाखोटक के साथ भी पथिक की उक्ति बन सकती है।

पण्डितराज जगन्नाथ ने ऐसे स्थलों में अप्रस्तुतप्रशंसा ही मानी है। उनका कहना है कि 'अप्रस्तुतप्रशंसा में अप्रस्तुत शब्द का अर्थ है वह अर्थ जो मुख्यतात्पर्यविषय न हो।'—'अप्रस्तुत शब्देन हि मुख्यतात्पर्यविषयीभूतार्थातिरिक्तोऽर्थो विवक्षितः' [ द्रष्टव्य रत्नगंगाधर ५४२ निर्णय० संस्क० ६ ] शृंग के प्रति नायिका की उपर्युक्त उक्ति में नायिका का मुख्य तात्पर्य नायक की चपलता की ओर इंगित करना है। मूढ़चेष्टा तो वहाँ माध्यम मात्र है।

आगे चलकर पण्डितराज भी बहक गए हैं। उन्होंने एक प्रश्न उठाया कि यदि ऐसा कोई स्थल हो जिसमें विशेषणगत श्लेष न हो किन्तु प्रस्तुत से अप्रस्तुत की प्रतीति हो रही हो वहाँ समासोक्ति मानी नहीं जा सकेगी क्योंकि समासोक्ति विशेषण श्लेष पर निर्भर रहती है। अप्रस्तुत-प्रशंसा इसलिए नहीं होगी कि वहाँ प्रस्तुत से अप्रस्तुत की व्यंजना रहती है। तब वहाँ कौन सा अलंकार माना जाएगा। उदाहरण के रूप में उन्होंने निम्नलिखित पद्य बनाया—

'आपेद्विरेऽम्बरपथं परितो विद्वद्वा

शृगा रसालमुकुलानि समाश्रयन्त ।

संकोचमञ्जति सरस्वधि दीनदीनो

मीनो नु इत्त कतमा गतिमन्युपैतु ॥

—हे सरोवर ! तुम विलकुल सूखने लगे तो पंख वाले पक्षेरु आकाश में उड़ गए, भौंरे आश्रमनंजरी पर आ बैठे। परन्तु यह अत्यन्त दीन मीन कहाँ जाए।'

—यहाँ सरोवृत्तान्त ही प्रस्तुत हो और राज्यनाशोन्मुख राजा अथवा संपत्तिनाशोन्मुख आश्रयदाता अप्रस्तुत तो सामान्यतः न तो समासोक्ति मानी जा सकेगी क्योंकि विशेषणों में द्वयर्थकता नहीं है, और अप्रस्तुतप्रशंसा भी नहीं मानी जा सकेगी क्योंकि यहाँ वाच्यार्थ प्रस्तुत है अप्रस्तुत नहीं।

पण्डितराज इसका उत्तर न दे सके। उन्होंने यहाँ अप्रस्तुतप्रशंसा को ही मान्य ठहरा दिया। उन्होंने कहा कि अप्रस्तुतप्रशंसाशब्द का अर्थ अप्रस्तुत की प्रशंसा करने के साथ ही अप्रस्तुत से प्रशंसा भी किया जा सकता है। अर्थात् अप्रस्तुतप्रशंसा शब्द में पठितत्पुरुष के साथ तृतीया तत्पुरुष भी माना जा सकता है। द्वितीय अर्थ के अनुसार उक्त पद्यार्थ में भी अप्रस्तुतप्रशंसा मानी जा सकेगी। पण्डितराज की पंक्तियाँ हैं—

'अप्रस्तुतप्रशंसैवात्रालंकारः। अप्रस्तुतस्य प्रशंसेति न तदर्थः किं त्वप्रस्तुतेनेति। सा चार्थात् प्रस्तुतस्यैव। एवं च वाच्येन व्यक्तेन वा अप्रस्तुतेन वाच्यं व्यक्तं वा प्रस्तुतं यत्र सादृश्यान्वयतम-प्रकारेण प्रशस्यते साऽप्रस्तुतप्रशंसेति, न तु वाच्येनैव व्यङ्ग्यमेवेति।

—उक्त स्थिति में भी अलंकार अप्रस्तुतप्रशंसा ही होगी। वहाँ उसका अर्थ अप्रस्तुत की प्रशंसा न होगा अपि 'अप्रस्तुत से प्रशंसा' होगा। अर्थात् प्रस्तुत की प्रशंसा। इस प्रकार अप्रस्तुत-प्रशंसा का लक्षण होगा कि 'वाच्य या व्यङ्ग्य अप्रस्तुत के द्वारा वाच्य या व्यंग्य प्रस्तुत की प्रशंसा जहाँ सादृश्यादि पांच प्रकारों में से किसी एक प्रकार से हो वह अप्रस्तुतप्रशंसा' न कि वाच्य के ही द्वारा व्यंग्य की ही प्रशंसा हो तो।'

पण्डितराज ने अप्रस्तुतप्रशंसा का लक्षण इस संशोधन के पहले इस प्रकार किया था—

'अप्रस्तुतेन व्यवहारेण सादृश्यादिवह्यमाणप्रकारान्वयतमप्रकारेण प्रस्तुतव्यवहारो यत्र प्रशस्यते-साऽप्रस्तुतप्रशंसा।'

—जहाँ अप्रस्तुत व्यवहार से सादृश्यादि [ पाँच ] प्रकारों में से किसी प्रकार के द्वारा प्रस्तुत व्यवहार का प्रशस्तीकरण हो वह अप्रस्तुतप्रशसा' प्रशसा का अर्थ करते हुए उन्होंने स्पष्ट लिखा—'प्रशसन च वर्णनमात्र, न तु स्तुति, भिक् नान्म्योन्नता यस्य च्छायापि नोपकाराय'—इत्यादावध्याख्यापत्ते ।' अर्थात् 'प्रशसा का अर्थ यहाँ केवल वर्णन है, स्तुति नहीं, क्योंकि 'ता' की लक्षणा को विकार है जिसकी छाया तक उपकार में नहीं आती'—इत्यादि अप्रस्तुतप्रशसाओं में लक्षण सगत न होगा। इस लक्षण में पण्डितराज ने प्राचीन आचार्यों का मुलाहिजा तोड़कर नवीन व्यवस्था प्रस्तुत की थी। प्राचीनों ने अप्रस्तुत का शब्दतः कथन चमत्कारहेतु माना था और अप्रस्तुतप्रशसा शब्द की वैसी ही व्याख्या की थी। पण्डितराज ने यहाँ चमत्कारहेतु माना अप्रस्तुत द्वारा प्रस्तुत के वर्णन को। वर्णन शब्द का अर्थ उन्होंने ज्ञान मात्र माना है क्योंकि भेद करते हुए लिखा है 'इयं च पञ्चम अप्रस्तुतेन प्रस्तुत गम्यते यस्यामित्येका'। परवर्ती सशोधित लक्षण में उन्होंने 'प्रशस्यते = प्रशस्तीकरण' का अर्थ स्पष्ट नहीं किया। किन्तु वे यहाँ प्रशसा का अर्थ प्रस्तुत की शोभावृद्धि को छोड़कर और कुछ कर ही नहीं सकते। क्योंकि अन्य कोई अर्थ 'आपेदिरं' पदार्थ जैसे पदार्थ में लागू नहीं होगा। और शोभावृद्धि अर्थ का वे समासोक्ति से अप्रस्तुतप्रशसा को मिला नहीं कर सकते। समासोक्ति में अप्रस्तुत के द्वारा प्रस्तुत की शोभा बढ़ाई ही जाती है। नागेश ने यह आपत्ति उठाई ही और 'आपेदिरं' पद में इसी कारण समासोक्ति ही मानी। शोभा बढ़ाने की बात कार्यकारणभाव और सामान्यविशेषभाव में कट जायगी। वहाँ आपत्ति में किमी की किमी से शोभा नहीं बढ़ती, केवल 'छिराव' की बला द्वारा वाक्यार्थ की शोभा बढ़ाई जाती है। जहाँ तक समासोक्ति शब्द के अर्थ का सम्बन्ध है उसका जो अर्थ विशेषणरूपेण द्वारा संक्षेप में दो भिन्न भिन्न पदार्थों की उक्ति किया जाता है वह 'आपेदिरं' पदार्थ में अवश्य नहीं है क्योंकि वहाँ श्लेष नहीं है तथापि समासोक्ति शब्द को श्लेष में न बांध कर उसका अर्थ किमी भी प्रकार 'संक्षेप में अधिक अर्थ की उक्ति' कर लिया जाय तो वैसी कोई आपत्ति नहीं उठती। वस्तुतः प्रस्तुत के स्थान पर अप्रस्तुत के कथन को ही अप्रस्तुतप्रशसा का चमत्कारकेन्द्र मान कर इस अलङ्कार को अन्य अलङ्कारों से भिन्न किया जा सकता है। पण्डितराज ने प्रश्न तो मार्मिक उठाया किन्तु समासोक्ति को केवल विशेषणरूपेण से जकड़कर वे समाधान ठीक नहीं दे पाए। पण्डितराज की इस पलायनवृत्ति पर विश्वेश्वर चुप रह गए यह आश्चर्य का विषय है। उन्होंने उक्त अन्य सब विषयों पर विचार किया किन्तु पण्डितराज द्वारा 'आपेदिरं' पद पर अपनाए गए पद की ओर देखा तक नहीं।

विद्याचक्रवर्ती ने अप्रस्तुतप्रशसा का भाससंक्षेप इस प्रकार किया है—

अप्रस्तुतप्रशसा तु प्रस्तुतावगमोऽन्यतः ।  
 सा सामान्यविशेषादिविच्छिन्ना पञ्चधा मना ॥  
 भवेत् साधर्म्यवैधर्म्ययोगतः सा पुनर्द्विधा ।  
 समवेत्समवेद्वैधे वाच्यस्याप्य पुनस्त्रिधा ॥  
 प्रस्तुतस्यावगम्यत्वात् पर्यायोक्ताद् विभिन्ये ।  
 इयमर्थान्तरन्यामाद् दृष्टान्मालङ्कृतेरपि ॥

—अप्रस्तुतप्रशसा यह है जिनमें प्रस्तुत का ज्ञान अन्य [ अप्रस्तुत ] से हो। वह सामान्य विशेष आदि प्रकारों में पांच प्रकार की मानी गई है।

—वह साधर्म्य तथा वैधर्म्य के द्वारा पुन दो प्रकार की होती है। इसी प्रकार वाच्य के समवेत्, असमवेत् तथा दोनों प्रकार के होने से बही तीन प्रकार की भी हो जाती है।

—वहाँ प्रस्तुत अर्थ प्रतीयमान होता है इस कारण वह पर्यायोक्त से भिन्न सिद्ध होती है और इसी कारण अर्थान्तरन्यास तथा दृष्टान्त से भी ।

[ सर्वस्व ]

उक्तन्यायेन प्राप्तावसरमर्थान्तरन्यासमाह—

[ सू० ३६ ] सामान्यविशेषकार्यकारणभावाभ्यां निर्दिष्टप्रकृत-  
समर्थनमर्थान्तरन्यासः ।

निर्दिष्टस्याभिहितस्य समर्थनार्हस्य प्रकृतस्य समर्थकात् पूर्वं पश्चाद्वा निर्दिष्टस्य यत् समर्थनमुपपादनम्, न त्वपूर्वत्वेन प्रतीतिरनुमानरूपा सोऽर्थान्तरन्यासः । तत्र सामान्यं विशेषस्य विशेषो वा सामान्यस्य समर्थक इति द्वौ भेदौ । तथा कार्यं कारणस्य कारणं वा कार्यस्य समर्थकमित्यपि द्वौ भेदौ । तत्र भेदचतुष्टये प्रत्येकं साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां भेदद्वयेऽष्टौ भेदाः । हिशब्दाभिधानानभिधानाभ्यां समर्थकपूर्वापन्यासोत्तरोपन्यासाभ्यां च भेदान्तरसंभवेऽपि न तद्गणना सहृदयहृदयहारिणी, वैचित्र्यस्याभावात् । तस्माद्भेदाष्टकमेवेहोद्भूतम् ।

उक्त हेतु [ सामान्य विशेष तथा कार्यकारण दोनों के वाच्य होने ] से [ अर्थान्तरन्यास निष्पन्न होता है अतः अप्रस्तुतप्रदर्शना के पश्चात् उसका ] अवसर प्राप्त है फलतः अब अर्थान्तरन्यास का विचार करते हैं—

[ सू० ३६ ] किसी निर्दिष्ट [ शब्दतः कथित ] प्रकृत अर्थ का समर्थन सामान्यविशेष-  
भाव या कार्यकारणभाव सम्बन्ध के द्वारा हो तो [ अलंकार का नाम ] अर्थान्तर-  
न्यास [ होगा ] ॥

[ वृत्ति ] निर्दिष्ट अर्थात् अभिधावृत्ति के द्वारा कथित । समर्थन की अपेक्षा रखने वाले प्रकृत [ वर्णनीय ] अर्थ का समर्थन करने वाले अर्थ के पहले या उसके पश्चात् शब्दतः निर्देश करके जो समर्थन अर्थात् उपपादन किया जाता है वह अर्थान्तरन्यास कहलाता है, बिना निर्देश के पहले से अज्ञात प्रस्तुत का समर्थन अर्थान्तरन्यास नहीं कहला सकता क्योंकि इस प्रकार का ज्ञान अनुमान का विषय बनता है क्योंकि वहाँ सामान्य से विशेष या विशेष से सामान्य का अनुमान आ पहुँचता है, इसी प्रकार कार्य से कारण का भी । इनके दो भेद होते हैं— एक वह जिसमें सामान्य विशेष का समर्थक बनता है और दूसरा वह जिसमें विशेष सामान्य का । इसी प्रकार जहाँ कार्य से कारण का तथा कारण से कार्य का समर्थन होता है, इसके वे भी दो भेद होते हैं । इन चारो भेदों में से प्रत्येक भेद साधर्म्यमूलक तथा वैधर्म्यमूलक होकर दो प्रकार के होते हैं । फलतः इसके आठ भेद हो जाते हैं । [ उद्धृत के अनुसार ] इसके और भी भेद संभव हैं । जैसे कहीं इसका 'हि'-न्यायिक [ आदि ] शब्दों के द्वारा अभिधान रहता है और कहीं नहीं । कहीं इसमें समर्थनीय अर्थ का समर्थक अर्थ के पहले निर्देश रहता है और कहीं बाद में, किन्तु ये भेद सहृदयों के चित्त आकृष्ट नहीं कर पाते क्योंकि इनमें कोई अमरकार नहीं रहता, इस कारण यहाँ आठ ही भेदों का उल्लेख किया गया है ।



## विमर्शिनी

उक्तन्यायेनेति अप्रस्तुतप्रशंसाभेदानामेव वाच्यत्वकथनात् । आदेति सामान्येत्यादिना । समर्थनार्थेति, साकाङ्क्षत्वाद्युपपादनापेक्षत्वात् । उपपादनमिति, एवमेवैतदिति नैराकाङ्क्षयोःपादनलक्षणम् ।

'उक्तन्यायेन' = उक्त हेतु मे अर्थात् [ अप्रस्तुतप्रशंसाप्रकरण के अन्त में ] 'अप्रस्तुतप्रशंसा के रूप में परिणत होने वाले वाक्यार्थ ही अर्थान्तरन्यास रूप में परिणत होते बतलाए गए हैं यदि उनमें दोनों ही अर्थ वाच्य हों जाएँ' इस हेतु से । 'आह = विचार करते हैं—सामान्य इत्यादि सूत्र-वाक्य से आरम्भ कर लिखे गए ग्रन्थ द्वारा । समर्थनार्थ—साकांक्ष होने के कारण उपपादन की अपेक्षा करने के कारण । उपपादनम् 'ऐसा ही है यह' इस प्रकार की निराकाङ्क्ष प्रतीति को जो उत्पन्न करना तत्त्वरूप ।

## [ सर्वस्व ]

क्रमेण यथा—

'अनन्तरत्नप्रभवस्य यस्य हिमं न सौभाग्यविलोपि जातम् ।  
एको द्वि दोषो गुणसंनिपाते निमज्जतीभ्योः किरणेष्विवाङ्कः ॥'

'लोकोत्तरं चरितमर्पयति प्रतिष्ठां

पुसां कुलं नहि निमित्तमुदात्तताया ।

वातापितापनमुनेः फलशात्प्रसूति-

र्त्नीत्यायतं पुनरमुद्रसमुद्रपानम् ।

'सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम् ।

वृणते द्वि विमृश्यकारिणं गुणलुब्धाः स्वयमेव संपद ॥'

अत्र सहसाविधानाभावस्य विमृश्यकारित्वरूपस्य चकारणस्य संपद्वचरणं कार्यं साधर्म्येण समर्थकम् । तस्यैवैतत्कार्यविरुद्धमापत्पदत्वम् सहसाविधानाभावविरुद्धाविवेककार्यं वैधर्म्येण समर्थकम् ।

'पृथिव्य स्थिरा भव भुजंगम धारयैनां

त्वं कूर्मगज तदिदं द्वितयं दधीथा ।

दिवकुञ्जराः कुर्वत तन्प्रितये दिधीर्षां

देयः करोति हरकामुंकमाततज्यम् ॥'

अत्र हरकामुंकमाततज्याकरणं पृथ्वीस्यैर्यादिप्रवर्तकत्वे कारणं समर्थ-  
कत्वेनोक्तम् ।

क्रम से उदाहरण यथा—

'जो [ हिमालय ] अनन्त रत्नों को उत्पन्न करता रहता है, इसलिए एक अकेला हिम उसके महत्त्व का नाशक नहीं बन सका । ऐसा इसलिए कि जहाँ गुणों का जमघट रहता है वहाँ एक आध दोष हूब बापा करता है, जैसे चन्द्रमा की किरणों में कलङ्क [ कुमार० २ ] [ यहाँ उत्तरार्थ की गुण और दोष रूपी सामान्य पदार्थों की उक्ति से पूर्वार्थ की रत्न तथा हिमरूपी विशेष पदार्थों की उक्ति का समर्थन है ] ।

‘प्रतिष्ठा दिलाता है लोकोत्तर चरित, कुल व्यक्तियों की उदात्तता का कारण नहीं बनता । वातापी राक्षस को नष्ट करने वाले मुनि अगस्त्य की उत्पत्ति षडे से हुई थी, किन्तु महत्त्व भिला निःसीम समुद्र के पान का ।’

[ यहाँ पूर्वार्थ में कथित व्यक्ति सामान्य तथा चरितसामान्य का उत्तरार्थ में कथित अगस्त्यरूपी व्यक्तिविशेष तथा समुद्रपानरूपी चरितविशेष के द्वारा समर्थन किया गया है ] ।

—कोई कार्य एकाएक न करे, अविवेक भारी विपत्ति का आस्पद होता है । विचारपूर्वक कार्य करने वाले व्यक्ति को गुणों पर लुब्ध संपत्तियों स्वयं ही वरण कर लेती हैं । [ किरातार्जुनीय-२ ]

यहाँ सहसा कार्य न करना तथा विचार कर कार्य करना ये दो कारण हैं, इनका समर्थन हो रहा है संपत्तियों द्वारा वरण करने रूपी कार्य से । यह समर्थन साधन्यमूलक है । [ इसी प्रकार ] उसी [ कारण ] का समर्थन इस [ संपद्वरणरूप ] कार्य से विरुद्ध विपत्ति का आस्पद होने से भी हो रहा है, जो एकाएक कार्य न करने के विरुद्ध विना विचारे कार्य करने का कार्य है । किन्तु यह समर्थन वैधर्म्यमूलक है ।

—पृथ्वी ! स्थिर हो जा, नागराज ! तुम इसे सम्हाले रहो, कूर्मराज ! तुम इन दोनों को सम्हाले रहो, और दिग्गजो तुम लोग इन तीनों को धारण किए रहने में लगे रहो [ क्वोंकि ] देव [ राम ] शिव धनुष पर प्रत्यंचा चढ़ाने जा रहे हैं ।

—यहाँ पृथ्वी आदि से स्थिर होने आदि की बात कहने में कारण है शिवधनुष पर प्रत्यंचा का चढ़ाया जाना । यह यहाँ समर्थक रूप से कहा गया है ।

### विमर्शिनी

कार्यकारणभावाश्रयस्य भेदद्वयस्य काव्यलिङ्गत्वं ग्रन्थकृदेव वक्ष्यतीति सामान्य-विशेषभावाश्रयमेव भेदद्वयमाश्रयणीयम् । विशेषेणापि सामान्यसमर्थने यत्र सामान्यवाक्य-स्योपपादनापेक्षत्वं सन्नायमेवालंकारः । नहि विशेषात्मकागस्त्यवृत्तान्तोपादानं विना पुंसां कुलवैलक्षण्येन चरितमात्रमेव प्रतिष्ठानिमित्तमिति सामान्यारामा प्रकृतोऽर्थः सिद्धयेत् । यत्र पुनः स्वतःसिद्धस्वैव प्रतीतिविशदीकरणार्थं तदेकदेशभूतो विशेष उपादीयते तत्रोदाहरणालंकारः । गुणसंनिपाते दोषनिमज्जनात्मनः सामान्यस्य नैराकाङ्क्षधेणु सिद्धयेन्दोः किरणेष्विवाह हति तदेकदेशभूतो विशेषस्तत्र प्रतीतिविशदीकरणार्थमुपात्तः । अतश्च ‘विशेषस्यान्येन समर्थनमर्थान्तरन्यास’ इत्यत्र विशेषेणापि सामान्यस्य समर्थनमिति सूत्रणीयम् । अन्यथा ह्यभ्यासिः स्यात् । तस्वैवेति सहसाविधानाभावस्य । एतत्कार्यविरुद्ध-सिति संपद्वरणकार्यविरुद्धम् ।

कार्यकारणभावमूलक जो दो भेद हैं वे काव्यलिङ्ग के भेद सिद्ध होते हैं यह स्वयं ग्रन्थकार ही आगे बतलाने वाले हैं, इसलिए यहाँ सामान्यविशेषभावमूलक दो भेदों को ही गिना जाना चाहिए । इन दो भेदों में भी विशेष से सामान्य के समर्थन का जो भेद है उसमें भी जब सामान्यार्थ-प्रतिपादक वाक्य समर्थन की अपेक्षा रखता है तब तो यहाँ [ अर्थान्तरन्यास ] अलंकार होता है, ऐसा नहीं है कि अगस्त्यवृत्तान्तररूपी विशेष अर्थ के उपादान के बिना, ‘कुलनिरपेक्ष चरितमात्र ही व्यक्तियों की प्रतिष्ठा का निमित्त होता है’ वह सामान्य अर्थ सिद्ध हो जाए । किन्तु जहाँ वह [ सामान्य अर्थ ] स्वतःसिद्ध रहता है और उसके एक अंशविशेष का उपादान केवल इसलिए किया जाता है कि उस सामान्य अर्थ की प्रतीति और स्पष्ट हो जाए वहाँ अलंकार उदाहरण होता है । गुणों के समुदाय में दोष के दूबने रूपी सामान्य अर्थ की प्रतीति अन्य किसी [ समर्थक ] अर्थ की अपेक्षा के बिना अपने आप भी सिद्ध हो जाती है इसलिए ‘चन्द्रमा की किरणों में कलंक’ यह जो उसी का

विशेषरूप एक अर्थ है हमका उदाहरण उस [ सामान्य ] अर्थ की प्रतीति में स्पष्टता लाने मात्र के लिए है । [ इस कारण 'अनन्तरत्न०' पद्य में उदाहरणालंकार ही मान्य है ] इसीलिए [ अलंकार-रत्नाकरकार को चाहिए कि वे ] 'विशेष का सामान्य के द्वारा समर्थन अर्थान्तरन्यास'—इस सूत्र में 'विशेष के द्वारा भी सामान्य का समर्थन' इतना अर्थ और जोड़ें । नहीं तो उनका लक्ष्य अर्थान्तरन्यास के एक [ विशेष से विशेषणमापेक्ष सामान्य के समर्थन में निष्पन्न ] भेद में लागू नहीं हो पायगा ।

सर्वैव = उसी का = एकाएक कार्य न करने का । एतत्कार्यविरुद्धम् इस कार्य के विरुद्ध = सपत्ति द्वारा वरण किए जानेरूपी कार्य के विरुद्ध ।

### [ सर्वैव ]

वैधर्म्येण सामान्यविशेषभावो यथा—

'अहो हि मे बह्वपराद्धमायुषा यद्प्रियं चान्यमिदं मयेदृशम् ।

त एव धन्याः सुहृदां परामवं जगत्यदृष्ट्यैव हि ये क्षयं गताः ॥'

अत्रायुःकर्तृकापराद्धत्वाक्षित्तस्याधन्यत्वस्यायुर्विद्वक्षयगतिप्रयुक्तं धर्म्यत्वं विरुद्धं सामान्यरूपतया समर्थकत्वेनोक्तम् । कार्यकारणतायां वैधर्म्येणोदाहृतम् । द्विशब्दाभिहितत्वानभिहितत्वादिभेदाः स्वयमेव योज्यव्याः, चादत्वातिशयाभावाद्भेद प्रदर्शिताः ।

वैधर्म्यमूलक सामान्यविशेषभाव का उदाहरण यथा—

'ओ हो हो ! मेरी इस आयु ने बहुत बड़ा अपराध किया कि मुझे ऐसी अमिय बात कहनी पड़ रही है । वे ही अन धन्य हैं जो समाज में मित्रों का परामव देखे बिना ही चल बसने हैं ।'

यहाँ 'आयु के द्वारा अपराध किए जाने की बात से आक्षिप्त अधन्यता' के प्रति इसके विरुद्ध 'आयु की उलटे, चल बसने रूपी कार्य से अनित्य ओ सामान्यरूप धन्यता' है उसे समर्थकरूप से कहा गया है ।

कार्य कारणभाव में जो वैधर्म्यमूलकता होती है उसका उदाहरण [ सहसा विदधीन० ] द्वारा दे ही दिया है । इसके अतिरिक्त 'हि = क्योंकि' शब्द के द्वारा अर्थान्तरन्यास के अभिधा द्वारा कथित होने और कथित न होने से जो भेद होते हैं उनका अनुसंधान स्वयं ही कर लेना चाहिए । उनमें कोई विशिष्ट चमत्कार नहीं रहता अतः उन्हें यहाँ नहीं दिखलाया गया ।

### विमर्शिनी

विरुद्धं सामान्यरूपतयेत्यनेन वैधर्म्येण विशेषः [सामान्येन समर्थितं २२२] युक्तम् । सामान्यं तु विशेषेण समर्थ्यते यथा—

'गुणानामेव दौराभ्याद्भुरि धुर्वो नियुज्यते ।

असंज्ञातकिणस्कन्धः सुखं स्वपिति भीर्गढी ॥'

अत्रापि समर्थ्यसमर्थकभावसमर्थनादुदाहरणत्वं वाच्यम् । उदाहरणमिति 'सहसा विदधीन—' इत्यादिना ॥

'विरुद्धं सामान्यरूपतया' इत्यादि द्वारा यह बतलाया कि यहाँ वैधर्म्य के द्वारा सामान्य में विशेष का समर्थन हुआ । यहाँ तक विशेष से सामान्य के समर्थन का सन्ध है उसका उदाहरण यह है—

‘यह गुणों की ही दुरात्मता है कि धुर्य [ बोझ होने में अधिक सज्जम वैल ] बोझ होने के लिए जोंता जाता है । गलियार वैल के गले में धड़ा तक नहीं पड़ता और मजे में सोता रहता है ।’ समर्थसमर्थकभाव इसमें भी है इसलिए इसे भी [ अर्थान्तरन्यास का ] उदाहरण कहा जा सकता है [ अलंकाररत्नाकरकार के अनुसार अर्थ उदाहरणालंकार नहीं ] । उदाहृतम् = ‘सहसा विदधीत’—पद्य द्वारा ।

विमर्श—अर्थान्तरन्यास का पूर्वतिहास—

भामह, वामन तथा उद्भट में अर्थान्तरन्यास के सामान्यविशेषभाव की चर्चा नहीं मिलती । इसकी चर्चा रुद्रट से आरम्भ होती है । मम्मट उसका अनुसरण करते हैं । किन्तु कार्यकारणभाव की योजना प्रथम और अन्तिम बार केवल सर्वस्वकार करते हैं । रश्माकर, विमर्शिनी, कुवलयानन्द तथा रसगंगाधर में उसको मान्यता नहीं मिली है । भामह ने ‘हि’-शब्द के उपादान से आने वाली स्पष्टता को अर्थान्तरन्यास में प्रकट किया था । उद्भट ने उसके आगे समर्थ्य वस्तु के समर्थक वस्तु के पहले तथा पश्चात् उपादान की भी चर्चा की । रुद्रट ने पहिली बार साधर्म्य तथा वैधर्म्य की भी चर्चा की । इसके पहले के आचार्य इस विषय में भी चुप थे । इस प्रकार अर्थान्तरन्यास का जो सर्वसमत स्वरूप मान्य है उसे स्थिर करने का श्रेय रुद्रट को है । पूर्वाचार्यों के अर्थान्तरन्यास विवेचन इस प्रकार हैं—

भामह—

‘उपन्यसनमन्यस्य यदर्थस्योदितादृते ।

श्रेयः सोऽर्थान्तरन्यासः पूर्वार्थानुगतो यथा ॥

परानीकानि सोमानी विविक्षोर्न च ते व्यथा ।

साधु वासाधु वागामि पुंसामात्मैव शंसति ॥

द्विशब्देनापि हेत्वर्थप्रथनादुक्तसिद्धये ।

अयमर्थान्तरन्यासः सुतरां व्यज्यते यथा ॥

वहन्ति गिरयो मेघानभ्युपेतान् गुरुनपि ।

गरीयानेव हि गुरुन् विमर्त्ति प्रणवायताम् ॥ २।७१-४ ॥

—जब कोई एक बात कही जाय और फिर उससे मिलती-जुलती दूसरी बात तो उसी का नाम अर्थान्तरन्यास हो जाता है । [ अर्थान्तर = अन्य अर्थ का न्यास उपस्थिति ] । यथा—

—शत्रु की भयंकर सेना में आप प्रवेश करना चाह रहे हैं और आपको तनिक भी व्यथा नहीं हो रही । होने वाले भले या बुरे की सूचना व्यक्ति को उसकी आत्मा ही दे देती है ।

हेत्वर्थ का स्पष्टीकरण करने के लिए जब हि = क्योंकि शब्द का प्रयोग रहता है तब यह अर्थान्तरन्यास अधिक स्पष्ट हो जाता है । जैसे—

—पर्वत अपने पास आये बड़े से बड़े नेशों को भी अपना लेते हैं । इच्छा लेकर आये बड़ों को बड़े लोग ही बहान करते हैं ॥

वामन = [ सू० ] उक्तसिद्धये वस्तुनोऽर्थान्तरस्यैव न्यसनमर्थान्तरन्यासः ॥—कथित वाक्यार्थ की सिद्धि के लिए अन्य वाक्यार्थ की उपस्थिति अर्थान्तरन्यास । यथा—

‘प्रियेण संश्रथ्य त्रिपदासन्निवातुपाद्वितां वक्षसि पीवरस्तने ।

स्रजं न काचित् विजही जला विलां वसन्ति हि प्रेमिणि गुणा न वस्तुपु ॥

—‘प्रिय ने स्वयं श्रृंखलकर सीतों के सामने पीवरस्तन वक्ष पर पहनाई माला को किसी सुन्दरी ने ध्याया नहीं यद्यपि वह माला पानी से भीगी हुई थी । बात यह है कि मद्दत्त प्रेम का होता है वस्तु का नहीं ।’

स्पष्ट ही वामन अर्थान्तरन्यास के आर्थ भेद से शब्द भेद के अन्तर पर मामह के समान ध्यान नहीं देते। इतना अवश्य है कि वे समर्थक अर्थ का वाक्यार्थरूप होना आवश्यक मानते हैं। पदार्थरूप होने पर वे अर्थान्तरन्यास की निष्पत्ति स्वीकार नहीं करते। स्पष्ट ही वामन का लक्षण मामह के लक्षण की छाया है।

उद्धट = 'समर्थकरय पूर्व यद् वचोऽन्यस्य च पृष्ठतः ।

विपर्ययेण वा यद् रयाद्विशब्दोक्त्याऽन्यथापि वा ॥

श्लेषः सोऽर्थान्तरन्यासः प्रकृतार्थसमर्थनात् ।

अप्रस्तुतप्रशंसाया दृष्टान्ताच्च पृथक् स्थिति ॥ २।४५ ॥

—समर्थक का कथन पहले हो और समर्थनीय वाद में, अथवा इससे ढलटा हो, और यह 'हि = क्योंकि' शब्द के साथ हो अथवा उससे रहित तो इसे अर्थान्तरन्यास समझना चाहिए। इसमें प्रकृत अर्थ का समर्थन रहता है। इसलिए यह अप्रस्तुतप्रशंसा और दृष्टान्त से भिन्न हो जाता है।

उद्धट के अनुसार अर्थान्तरन्यास के चार भेद हुए। उनके नाम इस प्रकार रखे जा सकते हैं (१) हेतुवाचकपदोत्तिपूर्वकसमर्थकपूर्वोपन्यासात्मक अर्थान्तरन्यास। (२) हेतुवाचकपदोत्तिरहितसमर्थकपूर्वोपन्यासात्मक अर्थान्तरन्यास। (३) हेतुवाचकपदोत्तिपूर्वकसमर्थनीयपूर्वोपन्यासात्मक अर्थान्तरन्यास तथा (४) हेतुवाचकपदोत्तिरहितसमर्थनीयपूर्वोपन्यासात्मक अर्थान्तरन्यास। 'समर्थकपश्चादुपन्यासात्मक'—इत्यादि योजना के द्वारा भी ये चारों नाम बनाए जा सकते हैं। इन चारों के उदाहरण उद्धट ने दिए हैं किन्तु वे खतः सोचे जा सकते हैं।

मामह ने जिसे 'पूर्वावगुणति' कहा था और वामन ने 'उत्तसाधन', उसी सम्बन्धतत्त्व को उद्धट ने पहली बार 'समर्थन'-शब्द से कहा। आगे यही शब्द अपना लिया गया।

उद्धट—'धर्मिणमर्थविशेषं सामान्यं वाभिधाय तत्सिद्धये ।

यत्र सधर्मिकमितर न्यस्वेद सोऽर्थान्तरन्यासः ॥

पूर्ववदभिधायैक विशेषसामान्ययोद्वितीय तु ।

तत्सिद्धयेऽभिधेयाद् विपरीतं यत्र सोऽन्योन्यम् ॥

साधर्म्यमूलक—'जहाँ विशेष या सामान्य रूप किसी धर्मों को कहकर उसकी सिद्धि के लिए उसी से मिलने जुलने किसी अन्य धर्मों को उपस्थित किया जाय वह अर्थान्तरन्यास कहलाता है।

वैधर्म्यमूलक—इसी प्रकार विशेष या सामान्य में से किसी एक को कहकर उसकी सिद्धि के लिए उनके विपरीत किसी अन्य वस्तु का कथन दूसरा अर्थान्तरन्यास होता है।

विशेष के सामान्य द्वारा साधर्म्यमूलक समर्थन का उदाहरण इनके अनुसार यह है—

'तुहानामपि मेधा शैलानामुपरि विदधने छावाम् ।

उपकर्तुं हि समर्था भवन्ति महता महीशाम् ॥

—मेघ उचे-उचे पर्वतों पर भी छाया कर देते हैं। ठीक है वहाँ का उपकार बड़े ही कर पाते हैं। उद्धट का यह उदाहरण सर्वश्रेष्ठ और वाग्यप्रकाश के उदाहरणों से इस भेद के लिए अच्छा है।

उद्धट ने अन्य तीनों के भेदों के उदाहरण भी अच्छे दिए हैं। इन चारों में 'हि तथाहि' आदि हेतुवाचक पदों का उपयोग है, अतः अर्थ अर्थान्तरन्यास का उदाहरण उनमें नहीं है।

रुद्र के लक्षण में 'धर्मों' शब्द का प्रयोग विशेषतः विचार्य है। इसका अर्थ नामिसाधु ने उपमेय किया है। विशेष और सामान्य समान गुणों से युक्त होते हुए भी उपमानोपमेयभाव से युक्त नहीं होते। उपमानोपमेय वे वस्तु हैं जो परस्पर में भिन्न भी होते हैं और समान भी, इसीलिए अनन्वय को उपमाभिन्न माना जाता है। सामान्य और विशेष समान तो है, भिन्न नहीं होते। वस्तुतः वामन ने वस्तु शब्द का प्रयोग जिस अर्थ में किया था रुद्र उसी अर्थ में धर्मों शब्द का प्रयोग कर रहे हैं। साध्यसाधकभाव यदि पदार्थगत हुआ तो उसे अर्थान्तरन्यास मानना संभव न होगा। वामन ने इसका उदाहरण देकर निराकरण भी किया है—'वस्तुग्रहणात् पदार्थस्य हेतोर्मूलकं नार्थान्तरन्यासः, यथा इह नातिदूरगोचरमस्ति सरः कमलसौगन्धात्—'इति—यदि हेतु पदार्थरूप हुआ तो वहाँ अर्थान्तरन्यास न होगा यथा—'यहां से तालाब अधिक दूर नहीं दिखाई देता है, कमल सुगन्ध से'—यहां।

मम्मट—'सामान्यं वा विशेषो वा तदन्येन समर्थ्यते।

यत्तु सोऽर्थान्तरन्यासः साधर्म्येणतरेण वा ॥'

[ धृति ] साधर्म्येण वैधर्म्येण वा सामान्यं विशेषेण यत् समर्थ्यते विशेषो वा सामान्येन सोऽर्थान्तरन्यासः ।'

—साधर्म्य या वैधर्म्य के द्वारा सामान्य अर्थ से विशेष का समर्थन किया जाय या विशेष अर्थ से सामान्य अर्थ का तो वह अर्थान्तरन्यास होता है।

सामान्य से विशेष के साधर्म्यमूलक समर्थन का उदाहरण मम्मट ने यह दिया है—

'निगदोषावृत्तमनसामतिमुन्दरमेव भाति विपरीतम् ।

पश्यति पित्तोपहतः शशिशुभ्रं शङ्कमपि पीतम् ॥

—स्वयं सदोष व्यक्ति को सर्वथा अदोष वस्तु भी विपरीत दिखालाई देती है। पील्या का रोगी चन्द्र से शुभ्र शंख को भी पीला ही देखता है।

मम्मट ने विशेष को सामान्य द्वारा साधर्म्यमूलक समर्थन का जो उदाहरण दिया है वह रुद्र के ऊपर उद्धृत उदाहरण द्वारा तथा सर्वस्वकार के 'लोकोत्तरं चरितम्' पद्य के द्वारा प्तार्थ है। वैधर्म्य का एक उदाहरण मम्मट ने 'गुनात्तमेव०' यह पद्य दिया है जिसे विमर्शितकार ने उद्धृत किया है और दूसरा 'अहो शि०' यह पद्य जो स्वयं मूल में ही उद्धृत है।

अर्थान्तरन्यास और काव्यलिङ्गः—

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि सर्वस्वकार के पहले तक अर्थान्तरन्यास में कार्यकारणभाव का समावेश नहीं हुआ था। परवर्ती आलंकारिकों ने इसका खण्डन किया। शोभाकर ने इसे हेत्वलंकार का विषय माना। हेत्वलंकार शब्द शोभाकर ने काव्यलिङ्गालंकार के लिए अपनाया है मम्मट ने भी हेत्वलंकार को काव्यलिङ्ग से अभिन्न बतलाया था। इस प्रकार विमर्शितकार ने जो कार्यकारणभावमूलक भेदों को काव्यलिङ्ग में अन्तर्भूत बतलाया उसका मूल रत्नाकर ही है। रत्नाकरकार ने हेत्वलङ्कार के उदाहरण के रूप में विद्वान् कवि की—

'वज्रःस्थली रक्षतु सा जगन्ति जगत्प्रसूतेर्गण्डध्वजस्य ।'

—'जगत् के पिता विश्व भगवान् की वज्रःस्थली जगत् की रक्षा करें' यह उक्ति दी है। इसमें जगद् रक्षा के लिए जगत्पितृत्व कारण है। पिता अपने वज्र पर संतान की रक्षा करता है। यहाँ हेतु पदार्थात्मक है अतः यह मिथित ही पदार्थकाव्यलिङ्गालङ्कार है। सर्वस्वकार द्वारा अर्थान्तरन्यास के लिए उद्धृत कार्यकारणभावमूलक भेदों में जो हेतु है वे वाक्यार्थात्मक हैं, इसलिये

रतना पदार्थकाव्यलिङ्ग या पदार्थहेतु में अन्तर्भाव नहीं हो सकता । वाक्यार्थहेतुक काव्यलिङ्ग का उदाहरण मम्मट ने यह दिया है—

‘वपुःप्रादुर्भावादनुमितमिदं बग्मनि पुरा।

पुरारे ! न प्रायः वच्चिदपि मवन्न प्रणतवान् ।’

—‘हे भगवान् शंकर ! इस शरीर में पुनर्जन्म से यह अनुमान है कि गजजन्म में मैंने आप को कभी भी प्रणाम नहीं करने का अपराध किया है ।’ इस स्थल में प्रणाम न करना अपराध के प्रति हेतु है । यह हेतु वाक्य के द्वारा प्रतिपादित है, अतः यह वाक्यार्थहेतुक काव्यलिङ्ग हुआ । अब यह सोचना है कि सर्वस्वकार द्वारा दिए उदाहरणों की स्थिति इस उदाहरण की स्थिति से भिन्न है अथवा अभिन्न । ‘पृथिवि स्थिरा भव’ पद्य में तो स्थिति सर्वथा अभिन्न है । ‘भगवान् राम के द्वारा शिवधनुष का चढ़ाया जाना’ वाक्यार्थ कारण है पृथिवी आदि को स्थिर आदि होने की हिदायत करने में । यहाँ अवश्य ही कारण अर्थान्तर है और उसका उपस्थापन न्यास, अतः अर्थान्तरन्यासत्व यहाँ है, किन्तु सोचना यह है अलङ्कार भी वही है अथवा अन्य कोई । स्पष्ट ही यहाँ चमत्कार हेतुकथन में है, या तो उभसे हो रही भगवान् राम के शौर्यातिशय की व्यञ्जना में । इस कारण यहाँ अलङ्कारत्व हेतुक्ति में है, हेतुगत अर्थान्तरत्व में नहीं । दूसरी बात यह है कि जिस प्रकार ‘वपुःप्रादुर्भावात्’ पद्य में अपराध का सिद्धि बिना नमनाभाव के नहीं होती उसी प्रकार ‘पृथिवि ! स्थिरा०’ पद्य में भी पृथिवी आदि को आदेश देने या सावधान करने की बात शिवधनुष के चढ़ाए जाने रूप कारण के बिना मिद नहीं होती । इस प्रकार इन दोनों पद्यों के अर्थ अधिकांश में समान है । जहाँ तक ‘सहसा विशधीन०’ पद्य का प्रश्न है, इस पद्य में पूर्वार्थ तथा उत्तरार्थ में एक ही बात कही गई है कि ‘बिना विचारे काम न करे’ और इसकी पुष्टि अनुरूप और प्रतिरूप दो फलश्रुतियों द्वारा की गई है बिना विचारे काम करने से सिर पर आफत आती है और विचार के काम करने से सम्पत्ति मिलती है । इस प्रकार यहाँ सामान्यविशेषभाव नहीं है क्योंकि दो विशेष ही विशेष वक्तव्य यहाँ दिए गए हैं । कार्यकारणभाव अवश्य है । इसलिए यहाँ वस्तुतः एक ही अर्थ का न्यास है—अर्थान्तर का नहीं । इसी प्रकार चमत्कार भी हेतु कथन में है फलतः इसे भी काव्यलिङ्ग का स्थल मानना ही उचित है । इतना अवश्य है कि इतनाकरकार ने ‘प्रजानां विनयाषानाद सपिता, प्रजा के पिता दिखीए ही थे क्योंकि वे उन्हें शिक्षा देते थे’ इस स्थल में हेतु का कथन स्पष्ट होने से उसमें चमत्कार का अभाव माना है और उसे काव्यलिङ्गालङ्कार या हेतुत्वकार मानना उचित नहीं माना है । ठीक ऐसी ही स्थिति ‘सहसा’ पद्य की है । किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि यहाँ कोई अलङ्कार नहीं है क्योंकि इस पद्य में चमत्कारकला का स्पष्ट ही अस्तित्व है । इस प्रकार कार्यकारणभावमूलक अर्थान्तरन्यास के स्थल काव्यलिङ्ग या हेतु के स्थलों से अभिव्यक्तिगत आशिक भेद रखने पर भी सौन्दर्यबोधगत भेद नहीं रखते अतः भिन्न नहीं कहे जा सकते । सर्वस्वकार को इन भेदों के ममत्व ने इसलिए सताया होगा कि भाग्य ने ‘हेतुहेतुमद्भाव’ का अस्तित्व अर्थान्तरन्यास में बतलाया था । और सामान्यविशेष के समर्थ्यसमर्थकभाव में भी हेतुहेतुमद्भाव रहता ही है । वस्तुतः अर्थान्तरन्यास का प्राग्गतत्व समर्थ्यसमर्थकों की मौलिक एकता है । वैधर्म्यमूलक अर्थान्तर में भी अनुरूप अर्थान्तर का आक्षेप होने के पश्चात् ही समर्थ्यसमर्थकभाव चरितार्थ होता है । शुद्ध कार्यकारणभाव में यह एकता नहीं रहती । फलतः एकतापन्न अर्थान्तर का न्यास ही अर्थान्तरन्यास की स्वतन्त्र अलङ्कारता का बीज है । ऐसे तो अर्थान्तर का न्यास उपमा में भी उपमानरूप से रहता ही है ।

अर्थान्तरन्यास और उदाहरणलंकारः—

जिस प्रकार कार्यकारणभावमूलक अर्थान्तरन्यास पर विवाद था उसी प्रकार 'विशेष से सामान्य के समर्थन वाले भेद में भी विवाद है ; रत्नाकरकार ने इस भेद को भी अर्थान्तरन्यास से हटा दिया है । उन्होंने अर्थान्तरन्यास का लक्षण केवल इतना ही किया है—

'विशेषत्वान्येन समर्थनमर्थान्तरन्यासः' ।

—विशेष का अन्य [ सामान्य ] से समर्थन अर्थान्तरन्यास होता है । विमर्शिनीकार ने इसी का खण्डन करते हुए विशेष के द्वारा भी सामान्य का समर्थन सूत्र में सनिविष्ट करने की बात कही है । रत्नाकरकार ने सामान्य द्वारा विशेष के समर्थन में उदाहरणलंकार माना है । उनका तर्क यह है कि इस भेद को भी अर्थान्तरन्यास का भेद मानने पर अर्थान्तरन्यास के लक्षण में एकलपता नहीं आती । कारण यह दिया है कि सामान्य के द्वारा विशेष के समर्थन में व्याप्यव्यापकभाव का अनुभव होता है । विशेष व्याप्य रहता है और सामान्य व्यापक । यदि विशेष से सामान्य का समर्थन माना जाय तो यह व्याप्यव्यापकभाव अनुभव में नहीं आता । इस प्रकार सामान्य द्वारा विशेष के समर्थन में व्याप्यव्यापकभाव दक्षित रहेगा और विशेष द्वारा सामान्य के समर्थन में हेतुहेतुमद्भावमात्र । कोई सामान्य सम्बन्ध नहीं बन पायगा । विमर्शिनीकार ने इसका खण्डन करते हुए कहा कि विशेष से सामान्य का समर्थन दो स्थितियों में होता है एक तो तब जब समर्थनीय सामान्य वाक्यार्थ समर्थकरूप से प्रस्तुत विशेष वाक्यार्थ के समर्थन के विना प्रतिष्ठित नहीं हो पाता अतः उसकी अपेक्षा रखता है, इस प्रकार जहाँ समर्थनीय अर्थ की सिद्धि समर्थन पर निर्भर रहती है । दूसरी स्थिति वह होती है जिसमें समर्थनीय अर्थ समर्थन की अपेक्षा नहीं रखता, स्वतः ही सिद्ध हो जाता है । इनमें से समर्थनसापेक्ष सामान्य अर्थान्तरन्यास के अन्तर्गत आता है और समर्थननिरपेक्ष सामान्य उदाहरणलंकार के अन्तर्गत । ऐसा अन्तर कर विमर्शिनीकार ने 'लोकोत्तरं चरितम्' पद्य को अर्थान्तरन्यास का उदाहरण माना था, किन्तु 'अनन्त रत्न०' पद्य को उदाहरणलङ्कार का ही उदाहरण स्वीकार किया था । रत्नाकरकार द्वारा उठाई आपत्ति का उन्होंने कोई उत्तर नहीं दिया । वस्तुतः अर्थान्तरन्यास में प्राणभूत तत्त्व सामान्य विशेष का परस्पर समर्थ्यसमर्थकभाव है, व्याप्यव्यापकभाव नहीं । जहाँ तक समर्थ्यसमर्थकभाव का सम्बन्ध है यह विशेष द्वारा सामान्य के समर्थन में भी रहता है । इसके अतिरिक्त व्याप्यव्यापकभाव भी नहीं रहता ऐसी बात नहीं । सामान्य से विशेष के समर्थन में वह व्याप्यामिमुखी है और विशेष से सामान्य के समर्थन में व्यापकामिमुखी इतना ही अन्तर रहता है । हाथी देखकर उसके पदचिह्न का भी अनुमान किया जा सकता है और पदचिह्न देखकर हाथी का भी । व्याप्यव्यापकभाव दोनों ही ओर बन जाता है । पण्डितराज अगन्नाथ ने विमर्शिनीकार द्वारा प्रस्तुत समर्थनसापेक्षता और समर्थननिरपेक्षता के तर्कों द्वारा अर्थान्तरन्यास और उदाहरणलंकार का भेद न मान अन्य प्रकार से माना है । विमर्शिनीकार का इस विषय में उल्लेखपूर्वक खण्डन करते हुए उन्होंने लिखा है—'मन्मत द्वारा दिए गए 'निजदोषानुगत०' पद्य में समर्थनीय वाक्यार्थ की सिद्धि समर्थन पर निर्भर नहीं है । वह स्वतः निष्पन्न हो आती है । 'दोष से भ्रम होता है इस तथ्य में गंवार भी संदेह नहीं करता ।' [ ३० रसगंगाधर-निर्णयसागर संस्करण-६ पृ० ६३९ ] उक्त अलंकारों के भेद के विषय में उन्होंने जो तर्क दिए हैं वे ये हैं— 'सामान्यार्थसमर्थक विशेष अर्थ दो प्रकार का होता है । एक वह जिसमें अपना स्वतन्त्र विधेय नहीं रहता और दूसरा वह जिसमें रहता है । इनमें से प्रथम में उदाहरणलंकार होता है और द्वितीय में अर्थान्तरन्यास । उदाहरण—

'उपकारमेव कुरुते विपद्गतः सञ्जनो नितराम् ।

मूर्च्छां गतो मृतो वा निदर्शनं पारदोऽय रसः ॥'



—सत्पुरुष अत्यन्त विपद्ग्रस्त हो जाने पर भी एकमात्र उपकार ही करता है, इसमें इष्टान्त है मूर्च्छित हुआ अवयव मरा हुआ पारा।

अर्थान्तरन्यास—

‘उपकारमेव कुरुते विपद्गत मञ्जनां नितराम्।

मूर्च्छां गनो मृतो वा रोगानपहरति पारद’ सकलान् ॥’

—सत्पुरुष अत्यन्त विपद्ग्रस्त हो जाने पर भी उपकार ही करत है। मूर्च्छित या मृत हुआ पारा ममो रोगों को दूर करता है।

स्पष्ट ही प्रथम पदार्थ में विधेयभूत क्रिया एक ही है ‘उपकार करना’ जब कि द्वितीय पदार्थ में उत्तरार्थ की क्रिया स्वतन्त्र है ‘दूर करना’। इनमें से प्रथम पदार्थ में जो दो वाक्यार्थ कहे हैं उनमें से प्रथम अर्थ अवयवी है और दूसरा उर्मी का अवयव। इस प्रकार यहाँ अवयवावयविभाव का निरूपण है। उदाहरणालंकार का प्राग अवयवावयविभाव का निरूपण ही होता है। पण्डितराज ने इसका उल्लेख इसी प्रकार का बनाया है—

—‘सामान्येन निरूपितस्यार्थस्य सुखप्रतिपत्तये तदेकदेशं निरूप्य तदोरवयवावयविभाव उच्यमान उदाहरणम्।’

—सामान्यरूप से निरूपित वाक्यार्थ की प्रतीति सुखपूर्वक हो सके पदार्थ उर्मी वाक्यार्थ के किमी एक अंश का निरूपण कर उन दोनों का अवयवावयविभाव शब्द से कहना उदाहरण नामक अलंकार कहलाता है।

अर्थान्तरन्यास में सामान्य और विशेष भी परस्पर में अवयवावयविभाव से युक्त रहते हैं। उनमें सामान्य अवयवी होता है और विशेष अवयव। किन्तु इनका यह अवयवावयविभाव शब्द में कहा नहीं जाता। उदाहरणालंकार में इस भाव के वाचक शब्द होते हैं ‘इव, यथा, निदर्शन, इष्टान्त’ आदि। उपर्युक्त पद्य में निदर्शन शब्द प्रयुक्त है। अर्थान्तरन्यास वाले पद्य में ऐसे किमी भी शब्द का स्पष्ट ही अभाव है। इस प्रकार उदाहरणालंकार में चमत्कार का कारण अवयवावयविभाव रहता है। इसी भाव को लेकर यह उपमा में मिला रहता है। उपमा में उपमान तथा उपमेय के बीच अवयवावयविभाव की विवक्षा नहीं रहती। इस प्रकार उदाहरणालंकार पण्डितराज के अनुसार नियमत शब्द या वाच्य ही होता है। रत्नाकरकार ने इन अर्थों भी माना है। पण्डितराज ने इसका उत्तर उदाहरणालंकार के प्रकरण में देते हुए लिखा है कि अवयवावयविभाव अर्थ होगा हमका अर्थ इतना ही है कि उसके वाचक शब्द का प्रयोग न होकर उसके प्रतिपादक शब्द का प्रयोग होगा। अर्थ यह कि जहाँ अर्थ होगा वहाँ भी उसका शब्दतः प्रतिपादन रहेगा ही-माशुल कथनमात्र नहीं रहेगा। इस प्रकार यह अर्थों उपमा के समान ही अर्थ कहा जा सकेगा। अर्थान्तरन्यासालंकार के प्रयोग में भी रत्नाकर के इस पक्ष को पण्डितराज ने उठाया है। वहा उन्होंने इसका खण्डन तो नहीं किया किन्तु हमके उत्तर में समर्थसमर्थक वाक्यों में विधेयगत उपर्युक्त एकता का एक स्वतन्त्र तर्क प्रस्तुत कर अर्थान्तर-याम से उदाहरण का भेद स्पष्ट कर दिया। इस तर्क में अवयवावयविभाव की सिद्धि ही प्रमुख है। उसका तात्पर्य यह निकालना चाहिए कि जहा चमत्कार का कारण अवयवावयविभाव या उसके द्वारा किया गया समर्थन ही वहाँ उदाहरणालंकार होता है। अर्थान्तरन्यास में चमत्कार का कारण सामान्यविशेषभाव या तद्गत समर्थन रहता है इसलिये इसमें उदाहरणालंकार मिला उद्हरता है।

इस प्रकार अवयवावयविभाव का वाच्य या वाच्येतर रूप में प्रतिपादन तथा उसका ही चमत्कारजनक होना उदाहरणालंकार का प्रधान भेदक तत्त्व उद्हरता है।

पण्डितराज ने यह भी कहा है कि मम्मट आदि प्राचीन अलंकारिक उदाहरणालंकार को उपमा से अभिन्न मानते हैं। उनके अनुसार जब उदाहरण नाम का कोई स्वतन्त्र अलंकार होता ही नहीं है तब 'विशेष से सामान्य के समर्थन' से निष्पन्न भेद को अर्थान्तर के अतिरिक्त अन्य किस में अन्तर्भूत किया जा सकेगा अलंकारसर्वस्वकार ने भी उदाहरण को स्वतन्त्र अलंकार नहीं माना है। अतः उन्होंने 'अनन्तरत्न०' पद्य को अर्थान्तरन्यास का ही अंग माना है।

इस प्रकार जैसे सर्वस्वकार का यह मत अमान्य ठहरता है कि अर्थान्तरन्यास में कार्य-कारणभावात्मक भेद भी होते हैं उसी प्रकार अलंकाररत्नाकरकार का यह मत भी अमान्य ही ठहरता है कि विशेष से सामान्य का समर्थन' अर्थान्तरन्यास न होकर उदाहरणालंकार होता है। फलतः अर्थान्तरन्यास को केवल एक या चार भेद मान्य न होकर केवल दो भेद ही मान्य ठहरते हैं। और इस प्रकार अर्थान्तरन्यास पर रुद्रट का सिद्धान्त ही मान्य सिद्धान्त ठहरता है।

कार्यकारणभावमूलक भेदों की गणना में द्विवचिवाह्य तो सर्वस्वकार को भी थी क्योंकि इन्होंने भेदों की गणना दो-दो करके ही है। एक साथ चार करके नहीं।

### विकस्वरालंकार—

जयदेव ने चन्द्रालोक में समर्थसमर्थकभाव को लेकर एक नवीन कल्पना की है। उन्होंने एक ऐसा समर्थक खोज निकाला है जिसमें तीन अंश रहते हैं—आरम्भ में (१) विशेषांश, मध्य में (२) सामान्यांश, अन्त में पुनः (३) विशेषांश। इसका निरूपण उन्होंने इस प्रकार किया है—

'यत्किमन् विशेषसामान्यविशेषाः स विकस्वरः।

'स न जिग्ये महान्तो दि दुर्धर्षाः सागरा इव ॥'

—जिसमें पहले विशेष फिर सामान्य तथा तत्पश्चात् पुनः विशेष का उल्लेख हो वह विकस्वर नामक अलंकार माना जाना चाहिए। उदाहरण—'उसे [ उस राजा को ] बीता नहीं जा सका क्योंकि जो महान् होते हैं वे बड़े दुर्धर्ष होते हैं। जैसे सागर।'

यहाँ व्यक्तिविशेष के अपराभव का महान् अक्रियों की दुर्धर्षता से समर्थन किया गया पुनः उसकी पुष्टि के लिए सागररूपी विशेष पदार्थ की उपमा प्रस्तुत कर दी गई। इस प्रकार यहाँ विशेष का सामान्य से और सामान्य का पुनः विशेष से समर्थन किया गया। ठीक यही स्थिति 'अनन्तरत्नप्रभव०' पद्य में है। अल्पव्यदोक्षित ने स्पष्ट उदाहरण के रूप में इसी पद्य को प्रस्तुत किया है। इस पद्य में हिमाचल के सीमान्त्यलोप के अभाव का समर्थन गुणसङ्कीर्णता में एक दीप के छिप जाने की उक्ति के द्वारा और इस समर्थक वाक्यार्थ का समर्थन चन्द्रकिरणों में छिपे कलंक के द्वारा किया गया है। पण्डितराज अनन्ताय और उन्हीं के अनुयायी विद्वेश्वर पण्डित ने यहाँ अल्पव्यदोक्षित का खण्डन करते हुए लिखा है कि यहाँ उदाहरणालंकार और अर्थान्तरन्यास अथवा अर्थान्तरन्यास के ही भेदों की संसृष्टि मान लेना अधिक उपयुक्त है।

### पाठान्तरः—

'सहसा विद्वधीत०' पद्य के तुरन्त बाद की जो पंक्ति है उसका निर्णयसागरीय रूप ही हमने स्वीकार्य माना है। त्रिवेन्द्रमसंस्करण में उसमें 'च' नहीं है। डॉ० राघवन् तथा डॉ दिव्येदी ने अपने संस्करणों में त्रिवेन्द्रम् वाला पाठ ही अपनाया है। 'सोचे दिना काम न करना' तथा 'सोच-संमश कर काम करना' दो भिन्न तत्त्व हैं, अभिन्न नहीं। एक अभाववाचक है और दूसरा

भावात्मक । यह आवश्यक नहीं कि जो व्यक्ति 'बिना विचारे काम नहीं करता' वह विचार कर काम करे ही । मभव है कोई ऐसा व्यक्ति हो जो चाहता तो हो बिना विचारे काम न करना, किन्तु सोचविचार न कर पाता हो अतः निष्क्रिय बैठ रहता हो । इस प्रकार 'सहसा विधानामाव' तथा 'विमृश्यकारित्व' को अभिन्न मानकर मूल पंक्ति से समुच्चायक 'च' को हटाना ठीक नहीं है । मूल की परवर्ती पंक्ति की स्थिति से भी यह तथ्य प्रमाणित होता है । उभमें 'सहसाविधानामावविरुद्धाविवेककार्यम्' पद से अर्थ निकलता है कि अविवेक सहसा कार्य करने का विरोधी तत्त्व है । अविवेक विरोधी है तो विवेक को अविरोधी या अनुकूल ही कहा जा सकता है । यदि विवेक सहसाविधानामाव से अभिन्न होता तो अविवेक को उससे भिन्न कहा जाना विरुद्ध नहीं । निर्णयसागर संस्करण में इन पंक्तियों में कोई पाठान्तर भी नहीं है । दर्शन का सिद्धांत भी यह नहीं है कि अभावभाव नियमतः भावस्वरूप हो ही । इसीलिए काव्यप्रकाशकार ने 'य. कौमारहर'०' पद्य में विभावना और विशेषीकृति को अस्पष्ट माना है क्यों कि उनमें अपेक्षित कारणभाव तथा कार्याभाव अभावभावमुखेन कथित हैं स्वरूप से नहीं । उत्कण्ठा का कारण उद्दीपनजन्य नवत्व होता है । उसका अभाव यहाँ नवत्वभावरूप से न कहा जाकर तरपद द्वारा परामृष्ट प्राचीनत्व रूप से कहा गया है । इसी प्रकार प्राचीनत्व का कार्य उत्कण्ठा का अभाव यहाँ उत्कण्ठारूप से कहा गया है जो अनुकण्ठाभाव या उत्कण्ठाभावभाव के गर्भ से निष्पन्न होने वाला अर्थ है । अभावभाव यदि सर्वात्मना भावरूप होता तो अस्पष्टता का यह द्वेष यहाँ न जाता । फलतः सहसाविधानामाव और विमृश्यकारित्व को भिन्न मानना और तदनुसार पंक्ति में परिवर्तन न करना ही ठीक है । संजीविनीकार विष्णुचक्रवर्ती ने अर्थान्तरन्यास का समग्र कारिका में इस प्रकार किया है—

'समर्थस्त्वेन निर्दिष्टः प्रकृतो यत् समर्थ्यते ।

सोऽयमर्थान्तरन्यासः सामान्यादिभिरष्टथा ॥'

—समर्थनीय रूप से निर्दिष्ट प्रकृत अर्थ का जो समर्थन वह अर्थान्तरन्यास सामान्यादि प्रकारों से भाठ प्रकार का होता है ।

### चिमर्शिनी

पुनरुपसंहरघ्न्यदवतारयति—एवमित्यादिना ।

इस [ अर्थान्तरन्यास प्रकरण ] का उपसंहार करते और अन्य प्रकरण का आरम्भ करते हुए कहते हैं—

### [ सर्वस्व ]

पञ्चमप्रस्तुतप्रशंसानुपह्नायातमर्थान्तरन्यासमुक्त्वा गम्यमानप्रस्तावागतं पर्यायोक्तमुच्यते—

[ सू० ३७ ] गम्यस्यापि भङ्गयन्तरेणाभिधानं पर्यायोक्तम् ।

यदेव गम्यते तस्यैवाभिधाने पर्यायोक्तम् । गम्यस्य सतः कथमभिधानमिति चेत्, गम्यापेक्षया प्रकारान्तरेणाभिधानस्य भावात् । नहि तस्यैव तदैव तयैव विच्छिद्यया गम्यत्वं वाच्यत्वं च संभवति, अतः कार्यादिद्वारेणाभिधानम्, कार्यादेरपि तत्र प्रस्तुतत्वेन वर्णनार्हत्वात् । अत एवाप्रस्तुत-

प्रशंसातो भेदः । पतञ्च वितत्याप्रस्तुतप्रशंसाप्रस्तावे निर्णयमिति तत एवा-  
वधार्यम् । उदाहरणम्—

‘स्पृष्टास्ता नन्दने शच्याः केशसंभोगलालिताः ।  
सावर्षं पारिजातस्य मञ्जर्यो यस्य सैनिकैः ।’

अत्र हयग्रीवस्य कार्यमुखेन स्वर्गविजयो वर्णितः । प्रभावातिशय-  
प्रतिपादनं च कारणादिव कार्यादपीति कार्यमपि वर्णनीयमेवेति पर्यायो-  
क्तस्यार्थविषयः ।

इस प्रकार [ समासोक्ति लक्षण से प्राप्त अर्थान्तर और उसी गम्यता, इन दो तत्त्वों में से प्रथम  
अर्थान्तर का निरूपण ] अप्रस्तुतप्रशंसा [ मैं किया और उसी ] से लगे-लगे अर्थान्तरव्यास का  
[ भी ] निरूपण किया, अब गम्यता के प्रसंग से प्राप्त पर्यायोक्त का निरूपण करते हैं—

[ सूत्र ३७ ] गम्य [ अर्थ ] का भी प्रकारान्तर से अभिधान पर्यायोक्त [ नामक  
अलंकार कहलाता है ] ॥

[ वृत्ति ] जिसकी प्रतीति व्यंजना से हो रही हो उसी को यदि अभिधा से भी कहा जा रहा  
हो तो [ अलंकार ] पर्यायोक्त [ कहलाता है ] । जो अर्थ व्यंजना से प्रतीत हो रहा होगा उसका  
अभिधान [ अभिधा से कथन ] संभव ही कैसे ? [ जिस रूप से व्यंग्य होगा उस ] से भिन्न रूप से  
अभिधान होने से । ऐसा नहीं कि वही [ अर्थ ] उसी समय उसी रूप में व्यंग्य और वाच्य दोनों  
हो, अतः अभिधान [ जो होता है वह ] कार्य आदि के द्वारा होता है क्योंकि कार्य आदि भी  
प्रस्तुत ही होते हैं अतः वर्णनयोग्य होते हैं । इसीलिए [ इस अलंकार का ] अप्रस्तुतप्रशंसा से  
भेद है । यह [ भेद ] विस्तारपूर्वक अप्रस्तुतप्रशंसाप्रकरण में तय कर दिया है अतः इसे वहीं से  
जान लेना चाहिए ।

उदाहरण—

‘शची के केशसंभोग से लालित वे पारिजातमञ्जरियों नन्दनवन में जिसके सैनिकों ने  
अवशापूर्वक लुई ।’

यहाँ कार्य के द्वारा हयग्रीव का स्वर्गजय बतलाया गया । प्रभावातिशय का प्रतिपादन कारण  
के समान कार्य से भी संभव होता है अतः कार्य भी वर्णित किया जा सकता है, अतः यह स्थल  
पर्यायोक्त का विषय है ।

### विमर्शिनी

तदेवाह-गम्यस्यापीत्यादि । ननु कथमेकस्यैवैकस्मिन् काले गम्यत्वं वाच्यत्वं च संभवती-  
त्याह-तन्म्यस्यैवेत्यादि । प्रकारान्तरेणे कार्यादिद्वारेण । अत इति । एकस्यैवैकस्मिन् काले गम्य-  
त्ववाच्यत्वासंभवात् । कार्यादिद्वारेणेति, आदिशब्दः प्रकारे । अभिधीयमानं हि कार्यं तद्वि-  
नाभाविस्वात् स्वसिद्धये कारणमाक्षिपतीति गम्यमपि तद् वाच्यत्वानामिति यदेव गम्यते  
तस्यैव भङ्गघन्तरेणाभिधानम् । अतश्च

‘स्वभ्यस्तदुर्नयजयस्तनयस्तदीयः शमामारश्च जयवाहननामधेयः ।

दुर्वारवैरिवरवीरत्रिलासिनीनां स्वप्नावशेषमकरोऽप्रियदर्शनं यः ॥

इत्यादायलंकारप्रकारार्थं न वाच्यम्, बहुधाजयत् इति हि क्रियमाणे ‘गतोऽस्तमकौ  
भातीन्दुः’ इत्यादिवदेतदकाव्यमेव श्याम् । न च दोषाभावमात्रमलंकारत्वमिति बहुशः  
प्रागुक्तम् । यत् स्वप्नावशेषप्रियदर्शनात्मककार्यरूपेणार्थेन स्वसिद्धयर्थं कारणरूपस्तद्वच

आचिप्यते तदितरप्रकारान्तरं पृथग्भवतु न युक्तमिति निर्वाजैव पर्यायोक्तान्तरयाचोयुक्तिः ।  
अन एवेति । द्वयोरपि कार्यकारणयो' प्रस्तुतत्वात् । कार्यमुखेनेति । पारिजातमञ्जरीस्पर्श-  
द्वारेणेशयर्थः । स्वर्गविजय इति कारणरूपः । वर्णनीयमिति, प्रस्तुतमेवेत्यर्थः ।

उत्पी को कहते हैं 'गम्यस्याधि'— इत्यादि के द्वारा । 'एक ही वस्तु एक ही समय में गम्य और  
वाच्य दोनों कैसे हो सकती है'—इस शका पर समाधान देते हुए कहते हैं 'गम्यस्यैव । 'प्रकारा-  
न्तरेण = दूसरे प्रकार, दूसरे रूप से' = कार्य आदि रूप से । 'अतः = इसलिये' अर्थात् एक ही का  
एक ही समय में गम्य और वाच्य दोनों होना समब नहीं होता इसलिये । कार्यादि द्वारेण =  
इसमें आया आदि शब्द प्रकारवाचक है, अर्थात् कार्य आदि के रूप से । कार्य को अभिधा से  
बढ़ा जाता है तो वह अपनी सिद्धि के लिये कारण का आशेष कर लेता है क्योंकि यह कारण से  
अलग नहीं रहता । इस प्रकार कारण गम्य होने पर भी [ वाच्यसिद्धि का कारण होने से ] वाच्य  
जैसा ही हो जाता है । इस प्रकार जो अर्थ व्यक्तना से प्रतीत होता है, दूसरे रूप में अभिधा द्वारा  
कथन भी उसी का होता रहता है । और इसी कारण [ अलङ्काररत्नाकरकार ने जो—'सापेक्षत्वा-  
दुपादानेनान्यप्रतीति, भङ्गान्तरेण चाभिगान पर्यायोक्तम्'—'सापेक्ष होने के कारण उपादान लक्षणा  
द्वारा अन्य अर्थ को प्रतीति अथवा दूसरे रूप से अभिगान पर्यायोक्त होता है'—इस प्रकार  
पर्यायोक्त के दो अलग-अलग भेद माने और— ]

'अयवाहन नाम का उसका दुर्नीति को जीतने में खूब अभ्यस्त पुत्र पृथ्वी की रक्षा करने  
लगा, जिसने दुर्जय शत्रुओं को सुन्दर वनिताओं के लिये उनके प्रिय का दर्शन केवल स्वप्न तक  
सीमित कर दिया ।'

—इस पद्यार्थ को द्वितीय पर्यायोक्त का उदाहरण माना है, यह नहीं मानना चाहिए । यदि  
यहाँ केवल इतना ही कहा जाय कि 'अयवाहन ने बहुत सी विजयों को प्राप्त किया' तो यह  
कथन 'सूर्य अस्त हो गया है, चन्द्र चमक रहा है'—इत्यादि कथनों के समान अकार्य ही सिद्ध  
होगा और हम पीछे यह कई बार कह चुके हैं कि दोषामावमाय अलङ्कार नहीं होता, और  
वर्णोंके यहाँ भी 'प्रियदर्शन का स्वप्नावशेष होना' यह जो कार्यरूप अर्थ है यह अपनी सिद्धि के  
लिये अपने कारण शत्रुत्व का आशेष करता है [ अतः यहाँ भी कारणरूप अर्थ वाच्य सिद्धि का  
कारण है ] फलतः इसे पर्यायोक्त का [ ऐसा एक ] दूसरा प्रकार मानना ठीक नहीं है [ जिसमें  
वाच्यार्थ की सिद्धि व्ययार्थ का अशेष नहीं रखती ] । अतएव = कार्य और कारण दोनों के ही  
प्रस्तुत होने से । कार्यमुखेन = कार्य के द्वारा अर्थात् पारिजातमञ्जरी के स्पर्श के द्वारा । स्वर्ग-  
जय अर्थात् कारणरूप स्वर्गजय । वर्णनीय = अर्थात् प्रस्तुत ।

त्रिमर्श—पर्यायोक्त का पूर्वोक्तिदास—

भामहः—

'पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते ।  
उवाच रत्नाहरणे चैव शार्ङ्गधनुयथा ॥  
गृहेष्वध्वसु वा नात्र मुग्महे यदधीतिन ।  
न मुञ्जते द्विजास्तच्च रसदानविवृत्तये' ॥ ३८९ ॥

—पर्यायोक्त वह जिसमें अन्य प्रकार से अभिगान होता है । जैसे रत्नाहरण नामक [ अनुप-  
लम्भ ] वाच्य में श्रीकृष्ण ने शिशुपाल से कहा—

'इम रास्ते में भोजन नह' करने और घरों में भा बढ़ भोजन नहीं करते जिने वेदपाठी  
मन्त्रों ने न किया हो'—

यद् जो कहा है यह केवल विपदान का परिहार करने के लिए ।

यहां मन की बात न कहकर बातें बनाने का नाम ही पर्यायोक्त है ।

चामन में पर्यायोक्त का निरूपण नहीं मिलता ।

उद्धृत—उद्धृत ने पर्यायोक्त का निरूपण भामह से ले लिया है किन्तु उसमें 'अन्य प्रकार' का अर्थ भी जोड़ दिया है—

'पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणामिधीयते ।

वाच्यवाचकवृत्तिभ्यां शून्येनावगमात्प्रमाणा ॥

'वाच्यवृत्ति = लक्षणा तथा वाचकवृत्ति अभिधा से भिन्न व्यञ्जनावृत्ति के द्वारा अन्य प्रकार से कथन पर्यायोक्त कहलाता है ।'

अभिनवगुप्त ने लौचन में इसे उद्धृत किया है और इसकी व्याख्या इस प्रकार की है—

'पर्यायिण प्रकारान्तरेण अवगमात्मना व्यङ्ग्येनोपलक्षितं सद् यद् अभिधीयते तदभिधीयमान-मुक्तमेव सद् पर्यायोक्तमित्यभिधीयते ।'

—पर्याय का अर्थ है प्रकारान्तर, प्रकृत में उसका अर्थ होगा व्यञ्जना, अतः पर्यायोक्त का अर्थ होगा व्यङ्ग्यत्व से युक्त होकर कथित । [ ध्वन्यालोक १।१३ वृत्ति ]

आनन्दवर्धनाचार्य के लेख से ऐसा विदित होता है कि वे उद्धृत का मत ही स्वीकार करते हैं । एक नहस्त्रपूर्ण तथ्य यहाँ यह है कि उद्धृत की इस कारिका में व्यञ्जनावृत्ति का अस्तित्व स्वीकार कर लिया गया है । इस प्रकार व्यञ्जनावृत्ति का अस्तित्व आनन्दवर्धन के पूर्व ही आचार्यों के अनुभव में आ चुका था ।

अभिनवगुप्त ने इस कारिका को उद्धृत कर उदाहरण के रूप में निम्नलिखित पद्य प्रस्तुत किया था—

'शत्रुच्छेददृढेच्छस्य मुनेरुत्पथगामिनः ।

रामस्यानेन धनुषा देशिता धर्मदेशना' ॥—

—अर्थात् शत्रुच्छेद की दृढ़ इच्छा वाले अतएव विपरीत पक्ष में लगे मुनि परशुराम को [ भीष्म के ] इस धनुष ने धर्मशिक्षा दे दी है ।' यहाँ कहना तो है परशुराम के प्रभाव को दबा देने वाले भीष्म के प्रभाव को, किन्तु कहा गया है धनुष द्वारा धर्मोपदेश की बात को ।

उद्धृत—उद्धृत ने पर्यायोक्त तथा पर्यायालंकार को 'पर्याय' नामक एक ही शीर्षक में प्रतिपादित किया है उनका लक्षण इस प्रकार है—

'वस्तु विवक्षितवस्तुप्रतिपादनशक्तमसदृशं तस्य ।

यद्व्यजनकमन्यं वा तत्त्वार्थनं यद् स पर्यायः ॥ ७।४२ ॥

—ऐसी वस्तु जो विवक्षित वस्तु का प्रतिपादन करने में समर्थ तो हो किन्तु न उसके समान हो, न उसकी कारण हो और न कार्य, तो उसका जो कथन वह होता है पर्याय नामक अलङ्कार ।' उदाहरण—

'राजन् ! जहासि मित्रां रिपुवन्दीनिवदनिगदशब्देन ।

तेनैव यदन्तरितः स कलकलो वन्दिवृन्दस्य ॥

—राजन् ! आपकी नाँद बन्दी बनाए शत्रुओं की वेदियों के तुमुल शब्द से खुलती है । नाँद खुलाने के लिए बैतालिकों का जो कलकल होता था वह उसी में छिप गया है ।

नमिसाधु का कहना है कि—'यद् वक्ति राजा की नापलसी में कही गई है । इसमें वन्दियों की वेदियों के शब्द से नाँद खुलना ही तात्पर्य नहीं है, अपितु यह भी तात्पर्य है कि

आपने शत्रुओं को जीत लिया है और इनकी क्रियों को बन्दी बना लिया है। इस प्रकार सभी शत्रुओं को जीत लेना भी यहाँ प्रकारान्तर से व्यक्त होता है।'

रुद्र ने जो व्यंग्यार्थ में सादृश्य का व्यवच्छेद करने के ही भाव कार्यकारणभाव का भी व्यवच्छेद किया वह दिए उदाहरण की वस्तुस्थिति के विपरीत है। हम उदाहरण में शत्रुत्व कारण है उनके या उनकी क्रियों के बन्दी बनाए जाने का। अतः यहाँ कार्यकारणभाव का अभाव नहीं है।

मम्मट—मम्मट ने पर्यायोक्त का जो लक्षण बनाया है वह अपने आप में पर्यायोक्त का उदाहरण बन गया है। वे जो कहना चाहते हैं वह अर्थ उनकी कारिका से बड़ी कठिनार्थ से निकलना है—

‘पर्यायोक्त विना वाच्यवाचकत्वेन यद् वच ।

इयका अर्थ मम्मट ने ही वृत्ति में ठीक बड़ी किया है—जो उद्धृत ने अपनी कारिका द्वारा स्पष्ट किया था। वह है—

‘वाच्यवाचकभावव्यतिरिक्तेनावगमनव्यापारेण यत् प्रतिपादनं तत् पर्यायेण मङ्गलान्तरेण कथनात् पर्यायोक्तम् ।

अर्थात् वाच्यवाचकभाव से मित्त व्यङ्ग्यवाचकभाव के द्वारा जो प्रतिपादन बड़ी पर्याय अर्थात् भिन्न प्रकार से कथन होने के कारण पर्यायोक्त।’

यहाँ इतना अवश्य है कि उद्धृत ने जो ‘वृत्तिभ्याम्’ कहा था और दिववन का प्रयोग किया था उसकी सार्थकता सिद्ध करने के अनावश्यक प्रयास से मम्मट ने पाठक को बचा लिया है। इन अलंकारपर मम्मट का उदाहरण ध्वन्यालोककार के ‘चक्राभितान०’ पद्य के समान ही सटीक उतरा है—

‘यं प्रेक्ष्य चिरञ्छ्वापि निवामप्रीतिरुज्जिता ।

मदनैरावणमुखे मानेन हृदये हरेः ॥’

—जिस [ हयग्रीव ] को देखकर मदन ने ऐरावत के मुख में और मान ने इन्द्र के हृदय में चिरञ्छ्व निवासप्रीति को छोट दिया।’

इस पर मम्मट ने लिखा है—

‘अत्र ऐरावणशकौ मरमानमुक्ती जाताविति व्यङ्ग्यमपि शब्देनोच्यते। तेन यदेवोच्यते तदेव व्यङ्ग्यम्, यथातु व्यङ्ग्यं न तयोच्यते ।

—यहाँ व्यङ्ग्य निकलता है कि ‘ऐरावत और इन्द्र मदन तथा मान से रहित हो गए’ किन्तु इसे शब्द से भी कहा जा रहा है। इस प्रकार यह तय हुआ कि जो बात अभिधा से कही जा रही है वही बात व्यङ्ग्य भी हो रही है, किन्तु जिस प्रकार से व्यंग्य हो रही है शब्दतः कथन इस प्रकार से नहीं हो रहा।’

मम्मट के अनुसार प्रकार का अर्थ विशेष्यविशेषणभाव भी है। उक्त पद्य में विशेष्यविशेषण का क्रम वाच्यरूप में इस प्रकार का है—‘मरमानकर्तृकैरावणमुखेन्द्रहृदयाधिकरणकचिरञ्छ्वनिवास-प्रीतिकर्मक यत्प्रदवाच्यहयग्रीवप्रेक्षणप्रयोज्यमुज्ज्वलम्’ अर्थात् उक्त वाक्य में छोटना किया में मदन और मान का अन्वय कर्ता के रूप में हो रहा है, ऐरावत के मुख तथा इन्द्र के हृदय का अधिकरण के रूप में तथा चिरञ्छ्व निवासप्रीति का अन्वय कर्मरूप में।’ व्यंग्यार्थ यदि ‘ऐरावत तथा इन्द्र तथा इन्द्र मदन तथा मान से मुक्त हो गए’ यह हो तो इसका विशेष्य विशेषण भाव होगा—‘ऐरावतशकौ मरमानकर्मकमुत्थाथयी’ अर्थात् इसमें छोटना किया में ऐरावत तथा इन्द्र का अन्वय कर्ता के रूप में तथा मदन तथा मान का अन्वय कर्म के रूप में

हो रहा है। व्यंग्य का कोई अन्य रूप हो सकता है। वह निश्चित नहीं इस प्रकार विशेष्यविशेषणभाव दोनों ही अर्थों में भिन्न हैं किन्तु वक्तव्यार्थ एक ही है। मम्मट ने इसे समझाने के लिए सविकल्पकज्ञान तथा निर्विकल्पकज्ञान का उदाहरण दिया है। निर्विकल्पक ज्ञान में व्यक्ति तथा जाति, अलग-अलग भासित होते हैं। निर्विकल्पक ज्ञान यदि घट का हो रहा है तो उसमें ज्ञान तो घट और घटत्व दोनों का होगा किन्तु यह ज्ञान न होगा कि घटत्व घट में रह रहा है। सविकल्पक ज्ञान में घटत्व घट में रहता हुआ विदित होता है। इस प्रकार ज्ञान दोनों ज्ञानों में अभिन्न या एक ही विषय का होता है किन्तु एक में विषय अलग-अलग भासित होते हैं, अन्य में संलुप्त, सम्बद्ध और अन्वित रूप में। वह केवल विशेष्यविशेष्यभाव मात्र का भेद हुआ। इस प्रकार मम्मट के अनुसार पर्याय का अर्थ प्रकार हुआ और प्रकार का अर्थ हुआ विशेषण-विशेष्यभाव, सामहाभिमत 'उक्ति का ढंग' नहीं। इसी प्रकार मम्मट के अनुसार पर्यायोक्त में वाच्य को समान व्यंग्य भी दोनों ही होते हैं, धर्म भी और धर्मी भी।

अप्यवदीक्षित—जयदेव ने सर्वस्वकार के ही आधार पर पर्यायोक्त का लक्षण यह किया था—'कार्याधीः प्रस्तुतैरुक्ते पर्यायोक्तिं प्रचक्षते'—प्रस्तुत कार्यादि उक्ति से वक्तव्य अर्थ का कथन पर्यायोक्ति कहलाता है। अप्यवदीक्षित ने इसे स्वीकार नहीं किया। उन्होंने मम्मट के लक्षण को आधार माना है। उन्होंने मम्मट के उक्त मत को जैसा का तैसा मान लिया है। उन्होंने चन्द्रालोक के लक्षण के स्थान पर—

'पर्यायोक्तं तु गम्यस्य वचो मङ्गयन्तराश्रयम् ।

नमस्तस्मै कृतौ येन सुधा राहुवधूकुचौ ॥'

—दूसरे प्रकार से गम्यार्थ का अभिधान पर्यायोक्त। यथा उक्तको नमस्कार है जिसने राहुवधुओं के कुचों को व्यर्थ दिया।—यह लक्षण बना कर लिखा कि यहाँ भगवान् विष्णु अपने बसाधारण रूप से गम्य हैं (व्यंग्य नहीं) और वे ही राहुवधूकुचवैयर्थ्यकारित्व रूप से वाच्य भी हैं।

पण्डितराज ने मम्मट की इस मान्यता का खण्डन किया है और धर्मों को व्यंग्य न मानकर केवल वाच्य माना है। वाच्यता और व्यंग्यता दोनों को एक साथ केवल धर्म में स्वीकार किया है।

'यो व्यंग्यांशुः स न कदापि रूपान्तरपुस्कारेणामिबोधते, यश्चामिबोधते धर्मो स तु तदानीमभिधाश्रयत्वाद् व्यञ्जनव्यापारानाश्रय एवेति व्यङ्ग्यस्य प्रकारान्तरेणामिधानमसंगतमेव [ पृ० ५४९ रस० ]।

अन्ततः पण्डितराज ने अलंकारसर्वस्वकार के मत को ही सिद्धान्तित करते हुए इन्हीं पंक्तियों के तुरन्त बाद लिखा है—

'तस्मात् कार्यादिमुत्तेनोक्तमिव पर्यायोक्तम् । तेनाक्षिप्तमित्येवार्थः ।' [ पृ० ५४९ रस० ]।

—इसलिए पर्यायोक्त का अर्थ होना चाहिए कार्य आदि के द्वारा कक्ष हुआ सा अर्थात् आक्षिप्त।

अलंकारसर्वस्वकार का मत उन्हीं के शब्दों में पण्डितराज ने इस प्रकार उद्धृत किया है—  
'अलंकारसर्वस्वकारस्तु—'गम्यास्यापि मङ्गयन्तरैणामिधानं पर्यायोक्तम् । गम्यस्यैव सतः कथमभिधानमिति चेत् कार्यादिद्वारेण' इत्याह । [ पृ० ५४८ रस० ]।

इसका तात्पर्य भी उन्होंने यही तय किया है कि 'चक्रामिधात०' पद्य में 'यः = जो' पद के द्वारा विष्णुभगवान् कथित हैं, अतः व्यंजना के द्वारा उनके भीतर 'राहुशिरश्छेत्तु'—रूपी धर्म ही



भासित होता है। इसी राशिदृष्टित्व को वाच्यरूप में कवि ने 'राहुवधूजनसम्बन्धितुम्बनमाशा-विशिष्टरतोरसवनिर्मातृत्व' रूप से कहा है।

इस प्रकार पण्डितराज के अनुसार मम्मट व्यंग्यांश में धर्मी या विशेष्य को भी सन्निविष्ट मानने हैं और अलङ्कारसर्वस्वकार केवल धर्म को। इन दोनों में से पण्डितराज सर्वस्वकार का मत स्वीकार करते हैं।

वस्तुतः अलङ्कारसर्वस्वकार व्यंग्यांश को न तो धर्मी-अंश में वाच्य मानने और धर्म-अंश में। उनके मत में वाच्य होने हैं कार्य आदि और व्यंग्य होते हैं कारण आदि। इस प्रकार वे भामह द्वारा प्रतिपादित पर्यायोक को मान्यता देते हैं। यद्यपि 'आदि' शब्द से विमर्शनीकारने 'विशेषण' को भी सर्वस्व के मत में लाने का यत्न किया है तथापि यह उनकी मम्मटमति ही है। कारण कि सर्वस्वकार ने वैया कोई उदाहरण नहीं दिया।

पण्डितराज—पण्डितराज ने स्वयं पर्यायोक का लक्षण इस प्रकार बताया है—

[ सू० ] विवक्षितस्यार्थस्य मह्यन्तरेण प्रतिपादनं पर्यायोकम्।

[ वृ० ] येन रूपेण विवक्षितोऽर्थस्तदतिरिक्तः प्रकारो मह्यन्तरम्। आक्षेपो वा।

—विवक्षित अर्थ का दूसरी शक्ति से प्रतिपादन पर्यायोक। मह्यन्तर = दूसरी शक्ति का अर्थ है जिस रूप से अर्थ को विवक्षा हो उसमें भिन्न प्रकार 'या तो आक्षेप।'।

यहाँ अन्तर इतना ही है कि प्रकारान्तर का अस्तित्व अन्य आचार्यों ने व्यंग्यांश में बतलाया था। पण्डितराज उसे वाच्यांश में बतला रहे हैं। मत पण्डितराज का ही मान्य है, क्योंकि प्रथम अर्थ वही अर्थ रहना है, जिसे बाद में कवि दूसरा रूप देकर अभिप्रा में संजोता है।

विश्वेश्वर—विश्वेश्वर पण्डित ने पण्डितराज जगन्नाथ के विशद मम्मट के मत का समर्थन किया है। उनका लक्षण इस प्रकार है—

[ कारिका ]—'पर्यायोक कथितं वाच्यस्यैवान्यमह्योक्तिः।'

[ वृत्ति ] वाच्य एवार्थो यत्र व्यङ्ग्यतदोच्यते तत्र पर्यवस्यति।

एवं च व्यङ्ग्यप्रकारसमानाधिकरणप्रकारान्तरेणामिधानं तदिति पर्यवस्यति।

—वाच्यार्थ की ही अन्य प्रकार से उक्ति को पर्यायोक कहा गया है। अर्थात् पर्यायोक वह है जहाँ वाच्य अर्थ ही व्यङ्ग्यरूप से कहा जाता है। निष्कर्ष यह कि किसी वस्तु का एक साथ व्यंग्य और वाच्य दो प्रकारों के साथ कथन।

विश्वेश्वर ने वक्ता की मनस्थिति के विपरीत व्यवस्था दी है। वक्ता कहना जो चाहता है उसे अपने मूलरूप में न कहकर भिन्न रूप में कहता है, किन्तु इस प्रकार कहता है कि मूलभूत अर्थ बिना निकले नहीं रहता। इसी उक्तिप्रक्रिया को पर्यायोक कहा जाता है। इसके अनुसार व्यंग्यार्थ का वाच्य बनना मान्य है, वाच्य का व्यंग्य बनना नहीं। इस प्रकार भामह, उद्भट, रुद्रट, मम्मट, सर्वस्वकार, शोभाकर, जयदेव, अप्ययदक्षिण तथा पण्डितराज का ही क्रम वैज्ञानिक क्रम है।

उपशुंक्त विवेचन से निष्कर्ष यह निकलना है कि सभी आचार्यों ने पर्यायोक के विषय में मूलस्थापना तो भामह की ही मान रखी है, अर्थात् भामह ने जो 'अन्य प्रकार से अभिधान' को पर्यायोक कहा था, परवर्ती प्रत्येक आचार्य ने इस 'अन्य-प्रकार से अभिधान' की बात को अपना रखा है, किन्तु 'अन्य प्रकार' का स्वरूप निर्धारित करने में आचार्यों में तीन मत हैं। एक उनका जो प्रकार का अर्थ शब्दवृत्ति करते हैं, इसके प्रवर्तक हैं उद्भट। दूसरा उनका जो प्रकार का अर्थ शब्दवृत्ति के माप ही विशेषण भी करने हैं। इसके प्रवर्तक हैं मम्मट।

और तीसरा उनका जो प्रकार का अर्थ शब्दवृत्ति तो करते हैं किन्तु उसका अर्थ विशेषण न कर कार्य आदि संबन्धित वस्तु अर्थ करते हैं। इसके प्रवर्तक हैं सर्वस्वकार। इस प्रकार यदि प्रथम मत को द्वितीय-तृतीय मत में अन्तर्लान मान लिया जाय अथवा द्वितीय और तृतीय मत को उक्त प्रथम मत का परिवर्धन या विकास मान लिया जाय तो केवल दो ही मत शेष बचेंगे। एक मम्मट का और दूसरा सर्वस्वकार का। दोनों के अनुसार विवक्षित अर्थ व्यंजना से ही प्रतीति होगा किन्तु वाच्य अर्थ मम्मट के अनुसार व्यंग्य धर्मों का कोई अन्य धर्म या घटक होगा और सर्वस्वकार के अनुसार व्यंग्य धर्मों का धर्म या घटक न होकर उससे संबन्धित कार्य आदि होगा।

अप्ययदीक्षित ने कुवलयानन्द में 'व्याज से इष्टसिद्धि' को भी पर्यायोक्तभेद माना है—

पर्यायोक्तं तद्रूप्याहुयंदव्याजेनेष्टसाधनम् ।

यामि चूतलतां द्रष्टुं युवाभ्यामास्यतामिह ॥

—उत्ते भी पर्यायोक्त ही कहा गया है जिसमें व्याज द्वारा इष्ट साधन कथित हो। यथा— मैं आज की दृष्टिनियां देखने जा रही हूँ आप दोनों यहीं रहें। यहाँ दूती नायक-नायिका को मिलाकर इष्ट रही है, वस्तुतः यह मामझ के उदाहरण जैसा ही उदाहरण है। इसमें अलंकारत्व की मनोती मनःपूत नहीं है।

लक्षणा = पर्यायोक्त में द्वितीय अर्थ की प्रतीति उक्त, आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त, मम्मट, पण्डितराज और विद्वेश्वर स्पष्टरूप से व्यंजना द्वारा मानते हैं। सर्वस्वकार ने व्यंजना शब्द का तो किसी भी रूप में प्रयोग नहीं किया है किन्तु वे व्यंजना का खण्डन नहीं करते अतः उन्हें भी पर्यायोक्त में अपरार्थ की प्रतीति व्यंजना द्वारा मानने वाला माना जा सकता है। रत्नाकरकार जिनका पर्यायोक्तलक्षण पहले दिया जा चुका है [शोभाकर-] को इस पर आपत्ति है। जैसा कि अप्रस्तुतप्रशंसाप्रकरण में पहले बतलाया गया है कि रत्नाकरकार ने पर्यायोक्त में वाच्यार्थ को अपरार्थसापेक्ष माना है और अपरार्थनिरपेक्ष भी। इनमें से अपरार्थनिरपेक्ष को उन्होंने ध्वनिरूप माना है, किन्तु अपरार्थसापेक्ष वाच्य वाले भेद में वे अपरार्थ की प्रतीति में व्यंजना न मानकर लक्षणा ही मानते हैं। उनका तर्क यह है कि यदि यहाँ भी व्यंजना ही मान ली गई तो उपादान-लक्षणा के सभी स्थलों में व्यंजना ही मानी जाने लगेगी। फलतः उपादानलक्षणा का विलोप हो जाएगा। उनकी पंक्ति है—

'सापेक्षत्वे तु कुन्ताः प्रविशन्तीतिवद अर्थप्रतीतिर्लक्षणया, न तु व्यजनेन, उपादानलक्षणया वस्तुप्रयप्रसङ्गात् । तेनैवमादौ लक्ष्यत्वेनार्थान्तरस्य व्यङ्ग्यत्वाभावात् गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वभेदत्वं न वाच्यम् । [ अतः ]—

मुख्यार्थसाकालक्ष्यतया प्रतीतिराश्लेषतोऽर्थस्य हि लक्षणैव ।

व्यङ्ग्यस्त्वगन्धोऽपि न विद्यतेऽत्र ध्वनित्वशङ्कापि न ते न कार्या ॥'

इस प्रकार रत्नाकरकार अप्रस्तुतप्रशंसा के ही समान पर्यायोक्त में भी अवाच्यार्थ की प्रतीति लक्षण द्वारा मानते हैं। व्यंजना द्वारा नहीं। पण्डितराज जगन्नाथ ने इसका स्पष्ट विरोध किया है। उनका कथन है—

'न हि 'चक्रामिषातप्रसभाद्यैव' इति पद्ये नुम्बनमात्रशेषरतोत्सवांशे वाधोऽस्ति, येन लक्षणा स्यात् । पद्यमप्रस्तुतप्रशंसायामप्रस्तुतस्य प्रस्तुते न लक्षणा किं तु व्यंजनेवेति सर्वसम्मतम् । अन्यथा पर्यायोक्ते वाच्यस्य प्राधान्यम्, अप्रस्तुतप्रशंसायां तु गम्यस्यैति सिद्धान्तस्य भङ्गः स्यात् । लक्षणार्था हि लक्ष्यस्यैव प्राधान्यं स्यात्, न वाच्यस्य ।' [ पृ० ५५५ ] ।

[ पर्यायोक के प्रसिद्ध उदाहरण ] 'वकाभिवान' पद्य में चुम्बनमाप्रवेपरतोत्सवस्वनी अश में कोरे वाच नहीं है जिससे यहाँ लक्षणा माना जा सके। इस प्रकार अप्रस्तुतप्रशसा में भी अप्रस्तुत का प्रस्तुत में लक्षणा नहीं अभिप्रेष्यवना ही होगा है यहाँ मना की मान्य है। ऐसा न होना ता पर्यायोक में वाच्य की ओर अप्रस्तुतप्रशसा में शक्य अर्थ की प्रधानता रहती है यह सिद्धान्त कह जाया। क्योंकि लक्षणा मानने पर प्रधानता लक्ष्य की ही होगा वाच्य की नहीं।

पण्डितराज का यह मत हमें भी मान्य है जैसा कि हम शोभाकर के मत के निरूपण में अप्रस्तुतप्रशसा प्रकरण में बतला आए हैं।

पाठान्तर—(१) सर्वस्व के पर्यायोकमूत्र में निर्गयसागर प्रति में मङ्ग्यन्तर शब्द के स्थान पर 'पर्यायान्तर' शब्द पाठान्तर के रूप में दिखलाया गया है। डॉ० रामचन्द्र त्रिवेदी ने उसी को मूल मान लिया है और मङ्ग्यन्तर शब्द को पाठान्तर में ढाक दिया है। डॉ० जानकी ने इनके विपरीत मङ्ग्यन्तर को ही मूल माना है। त्रिवेन्द्र सस्करण में भी मङ्ग्यन्तर को मूल माना गया है। वस्तुतः 'मङ्ग्यन्तर'—पाठ ही मूल पाठ है। विमर्शिनी में इसी पद का प्रयोग मिलता है यद्यपि यह प्रयोग प्रतीकभूत पद के रूप में नहीं किया गया है। संज्ञोविनी में प्रतीकरूप से मङ्ग्यन्तर को ही उद्धृत किया गया है। सूत्र भी वसमें मङ्ग्यन्तर—पदघटित ही बनवाया गया है—'तत्र सूत्रम् = गम्यस्यापि मङ्ग्यन्तरेणाभिधानं पर्यायोकमिति'। इनके अतिरिक्त सर्वस्वकार का पर्यायोक सूत्र मध्यवशीशुत्र, पण्डितराज तथा विद्वेश्वर ने भी उद्धृत किया है। उनके उद्धरणों में 'मङ्ग्यन्तर'—पाठ ही मिलता है।

अप्यपदोचित—'अलङ्कारसर्वस्वहनापि पर्यायोकस्य सप्रदायागनमिदमेव लक्षणासङ्गीकृतम्-  
गम्यस्यापि मङ्ग्यन्तरेणाभिधानं पर्यायोकमिति। [ द० कुवल्लभानन्द पर्यायोक ]

पण्डितराज—का उद्धरण पहले दिया जा चुका है।

विद्वेश्वर—'सर्वस्वकारस्तु-गम्यस्यैव मङ्ग्यन्तरेणाभिधानं पर्यायोकम्' इति [ कीर्तुमं, पर्यायोक प्रकरण ]।

इन दोनों के अपने पर्यायोकमूत्रों में भी मङ्गी और मङ्ग्यन्तर शब्द का उपयोग किया गया है। रत्नाकरकार ने भी अपने पर्यायोकमूत्र में मङ्ग्यन्तर शब्द ही अपनाया है। उद्धृत वचन से स्पष्ट है कि मङ्ग्यन्तर ने भी वृत्ति में मङ्ग्यन्तर शब्द का प्रयोग किया है। पर्यायशब्द को मूल मानने का उद्देश्य पर्यायोकशब्द की व्युत्पत्ति ही सकती है। किन्तु पर्यायशब्द का कुछ ऐसा दुर्भाग्य रहा है कि अभिनवगुप्त को छोड़ कमका उल्लेखपूर्वक स्पष्टीकरण किसी ने नहीं किया। पण्डितराज ने तो बल्ले मङ्ग्यन्तर शब्द की ही व्याख्या करना उचित समझा। इस प्रकार पर्याय का ही अर्थ है प्रकारान्तर और मङ्ग्यन्तर। किन्तु मङ्ग्यन्तर शब्द का प्रयोग ही पूर्व और पर के अलङ्कारिकों में सर्वस्व के नाम से प्रसिद्ध है अतः उसे इटाकर वास्तविक इकाए पर्याय शब्द को मूल मूत्र में स्थान देना उचित नहीं हो पा रहा है। यद्यपि सर्वस्वकार ने मङ्ग्यन्तर शब्द का वृत्ति में एक बार भी प्रयोग नहीं किया है।

(२) सूत्र के पद्याद की प्रथम पक्ति में भी पाठान्तर की समस्या टकरानी है। वहाँ निर्गय-सागर संस्करण में 'यदेव गम्यत्वं तदेवैवमिधाने०' छाया है और इस पर पाठान्तर के रूप में कुछ नहीं दरसाया गया है। डॉ० जानकी ने निर्गयसागर को इस पक्ति में 'अभिधाने' के स्थान पर 'अभिधान' भर बढ़ाया है। पाठान्तर में उन्होंने भी कोई अन्य पाठ नहीं दिखलाया है। विमर्शिनी और संज्ञोविनी में इस पक्ति के प्रत्येक शब्द को प्रतीकरूप में उद्धृत नहीं किया गया है। अतः उनके आधार पर भी मूलभूत पाठ की योजना नहीं की जा सकती। संज्ञोविनी में इस पक्ति का

प्रथम 'यदेव' पद प्रतीक के रूप में दिया हुआ है। उपर विमर्शिनी में 'गम्यमपि तद् वाच्याय-  
मानमिति यदेव गम्यते तस्यैव भङ्ग्यन्तरेणामिधानम्' इस पंक्ति में 'यदेव गम्यते' पद से लगता है  
कि मूल पंक्ति में गम्यत्वं के स्थान पर 'गम्यते' रखा होगा। इस कारण हमने यही पाठ  
मान लिया है। यद्यपि डॉ० रामचन्द्र द्विवेदी ने 'यदेव गम्यं तस्यैवामिधानं पर्यायोक्तम् गम्यस्य  
सतः' इस प्रकार जो पंक्ति बनाई है, वह 'गम्यस्य सतः' इस पंक्ति से मिलती-जुलती पंक्ति है अतः  
अधिक साफ है तथापि इसके अनुसार 'गम्यत्वं'-का सर्वत्र अव्यभिचारी प्रयोग लिपिदोष न सिद्ध  
होकर विषयदोष सिद्ध हो जाता है। 'गम्यते'-रूप मानने पर विषयदोष हट जाता है। 'गम्यस्य०  
सतः' के साथ इस पाठ का भी कोई अधिक वैपम्य नहीं रहता।

पर्यायोक्त के संपूर्ण विवेचन को संजीविनीकार ने इस प्रकार कारिकाबद्ध किया है—

'पर्यायोक्तं तु कार्यादिद्वारा गम्यस्य वर्णनम्।

अप्रस्तुतप्रशंसातो वाच्यस्य प्रस्तुते भिदा ॥'

—कार्यादि के द्वारा गम्य अर्थ का वर्णन पर्यायोक्त कहलाता है। इसमें वाच्य प्रस्तुत रहता है  
इसलिए इसका अप्रस्तुतप्रशंसा से भेद रहता है।

[ सर्वस्व ]

गम्यत्वविच्छिच्छिप्रस्ताबाद् व्याजस्तुतिमाह—

[ सू० ३८ ] स्तुतिनिन्दाभ्यां निन्दास्तुत्योर्गम्यत्वे व्याजस्तुतिः।

यत्र स्तुतिरभिधीयमानापि प्रमाणान्तराद् बाधितस्वरूपा निन्दायां पर्य-  
चस्यति तत्रासत्यत्वाद् व्याजरूपा स्तुतिरित्यनुगमेन तावदेका व्याजस्तुतिः।  
यत्रापि निन्दाशब्देन प्रतिपाद्यमाना पूर्ववद् बाधितरूपा स्तुतौ पर्यचसिता  
भवन्ति सा द्वितीया व्याजस्तुतिः। व्याजेन निन्दामुखेन स्तुतिरिति कृत्वा।  
स्तुतिनिन्दारूपत्वस्य विच्छिच्छिविशेषस्य भावादप्रस्तुतप्रशंसातो भेदः।

गम्यत्वजनित चमत्कार के प्रसंग में अब व्याजस्तुति का निरूपण करते हैं—

[ सूत्र ३८ ] स्तुति और निन्दा से निन्दा और स्तुति गम्य हो तो [ अलंकार की  
संज्ञा ] व्याजस्तुति [ होती है ] ॥

[ वृत्ति ] जहाँ अनिष्टा द्वारा स्तुति ही प्रस्तुत की जा रही है किन्तु अन्य प्रमाण से उसका  
स्तुतिरूप बाधित हो रहा हो फलतः वह निन्दा में परिणत हो रही हो वहाँ, असत्य होने से  
'व्याजरूप स्तुति' इस प्रकार की व्युत्पत्ति के द्वारा एक प्रकार की व्याजस्तुति होती है। इसी  
प्रकार जहाँ शब्द से निन्दा कही जाती हो किन्तु पूर्ववद् उसका स्वरूप बाधित हो रहा हो और  
वह स्तुति में परिणत हो रही हो तो वह दूसरी व्याजस्तुति होती है—'व्याज अर्थात् निन्दा के  
वहाने स्तुति' इस व्युत्पत्ति के आधार पर। इसमें स्तुति और निन्दारूप विशिष्ट प्रकार की वृत्ति  
रहती है इसलिए इसका अप्रस्तुतप्रशंसा से भेद है।

विमर्शिनी

आहेति स्तुतिनिन्दाभ्यामित्यादिना। प्रमाणान्तरादिति वक्तृवाच्यप्रकरणादिपर्यालोच-  
नात्मनः। बाधितस्वरूपेति। आमुख एव प्रसङ्गलक्ष्यैरर्थैः। अत एवास्या ध्वनेर्भेदः।  
स हि विश्रान्ते वाच्यार्थे वक्तृवाच्यौचित्यपर्यालोचनाबलादवगम्यते। इह पुनः प्रमा-

पान्तराद्वाधितः सन् वाक्यार्थः स्वयमनुपपद्यमानत्वात् परत्र निन्दाश्चैव समर्पयति । तत्रैव प्रकृतवाक्यार्थस्य विश्रान्तेः । एवम्—

‘अह सज्जगण ममो सुहृद तए च्चेअ णवरँ निहृदो ।

इण्हि अण्णं हिअप् अण्णं वाआइ लोअस्स ॥’

इत्यादौ विश्रान्ते वाक्यार्थे वक्तृवाच्यौचित्यपर्यालोचनाबलान्निन्दायाः प्रतीतिरिति ध्वनिविपर्ययमेव युक्तम् । पूर्ववदिति प्रमाणान्तरात् । एका द्वितीयाचेर्यभिदधता द्वे एवात्र व्याजस्तुती न पुनरेकैव द्विविधा व्याजस्तुतिरिति सूचितम् । प्रकारप्रकारिभात्रो हि सामान्यलक्षणासद्भावे न भवति । असंभवत्तसामान्यस्य तद्विशेषपरत्वाभावात् । शब्द-निघन्धनं तु सामान्यमाश्रित्य द्वयोरश्राभिधानम् । एव स्तुतिनिन्दाभ्यामप्रस्तुताभ्यां निन्दास्तुरयोः प्रस्तुतयोर्गम्यत्वमित्यत्र सिद्धम् । यद्येव तत्किमियमप्रस्तुतप्रशस्यैव न भवतीत्यादाह—स्तुतीत्यादि । तत्र हि सामान्यविशेषादीना गम्यत्वमुक्तम् ।

आह = निरूपण करते हैं—‘स्तुतिनिन्दाभ्याम्’ इत्यादि अगले ग्रन्थ के द्वारा । प्रमाणान्तरात् = अन्य प्रमाण से वक्ता, वाच्य, प्रकरण आदि के पर्यालोचनरूपी प्रमाण से । बाधितस्वरूप = आरम्भ में ही उसका अपना रूप प्रस्तुत होने लगता है । इसीलिए इसका ध्वनि से भेद है । ध्वनि वहाँ होती है जहाँ वाक्यार्थ में कोई आपत्ति नहीं रही अर्थात् वह विश्रान्त हो जाता है । तदनन्तर वक्ता, वाच्य और औचित्य आदि के पर्यालोचन से अन्य अर्थ विदित होता है ; इसके विपरीत यहाँ वाक्यार्थ प्रमाणान्तर से बाधित हो जाता है । अतः अपने आप में वह अनुपपन्न रहता है अतः स्वयं को निन्दा आदि अन्य अर्थों में परिणत कर देता है । क्योंकि प्रकृत वाक्यार्थ को विश्रान्त उन्हीं अर्थों में होनी है । इस प्रकार—

‘इह सज्जनानां मार्गं सुहृत्तया चैव केवलं निर्व्यूढः ।

इदानीमन्यदधृदयमन्यद् वचनानि लोकरय ॥’

—‘अभी तक तो सज्जनों का मार्ग केवल सौदार्य के कारण निमता रहा है । अब तो लोगों के हृदय मित्र और वचन मित्र हो गए हैं ।’

—इत्यादि स्थलों में वाक्यार्थ ठीक उतर जाता है, तब वक्ता, वाच्य और औचित्य पर ध्यान देने से निन्दा की प्रतीति होती है, इसलिए यहाँ ध्वनि ही मानना ठीक है । [ वस्तुतः यहाँ निन्दा भी उक्तार्थ से स्फुट है अतः हो तो, यहाँ केवल गुणभूतव्यंग्यता हो सकती है, किन्तु यह तय है कि यहाँ व्याजस्तुति नहीं है ] । पूर्ववत् = अन्य प्रमाणों से । एक और दूसरी ऐसा कहने से यह सूचिन किया ये दोनों व्याजस्तुति दो अलग-अलग अर्थात् स्वतन्त्र व्याजस्तुति हैं, एक व्याजस्तुति के दो भेद नहीं हैं । किसी का कोई भेद सिद्ध नहीं होता यदि कोई सामान्य लक्षण न हो । क्योंकि भेद का अर्थ होता है विशेष और किसी का सामान्य धर्म किसी में नहीं रहे तो वह उसका विशेष नहीं माना जाता । यहाँ जो दोनों व्याजस्तुतियों को एक साथ कहा गया है वह नाम-साम्यमात्र के आधार पर । इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि यहा शब्दतः कथित स्तुति और निन्दा अप्रकृत रहती हैं और उनसे गम्य निन्दा स्तुति प्रकृत । ‘यदि ऐसा है तो यह अप्रस्तुतप्रशंसा ही क्यों नहीं मान ली जाय’—इस शङ्का पर उत्तर देने हैं—‘स्तुति०’ इत्यादि । वहाँ अप्रस्तुतप्रशंसा में जो है सो गम्य होते हैं सामान्य विशेष, [ न कि स्तुति निन्दा ] ।

[ सर्वस्व ]

क्रमेण यथा—

‘दे हेलाजितयोधिसस्य वचसां किं विम्नरैस्तोयधे

नास्ति त्यत्सदृशः परः परहिताधाने गृहीतवतः ।

तृष्यत्पान्थजनोपकारघटनावैमुख्यलब्धायशो-

भारप्रोद्धहने करोषि रूपया साहायकं यन्मरोः ॥'

अत्र विपरीतलक्षणाया वाच्यवैपरीभ्यप्रतीतिः ।

'इन्दोर्लक्ष्म त्रिपुरजयिनः कण्ठपीठी मुरारि-

दिङ्नागानां मदजलमपीभाञ्जि गण्डस्थलानि ।

अद्याप्युर्वावल्यतिलक श्यामलिम्नानुलिप्ता-

न्युद्भासन्ते वद धवलितं किं यशोभिस्त्वदीयैः ॥'

अत्र धवलताहेतुयशोविपयानवक्लृप्तिप्रतिपादनैः 'विशेषप्रतिषेधे शेषाभ्यनुज्ञानम्' इति न्यायात्कतिपयपदार्थवर्जं समस्तवस्तुधवलताकारित्वं नृपयशसः प्रतीयते ।

किं वृत्तान्तैः परगृहगतैः किं तु नाहं समर्थ-

स्तूष्णीं स्थातुं प्रकृतिमुखरो दाक्षिणात्यस्वभावः ।

गेहे गेहे विपणिषु तथा चत्वरे पानगोष्ठ्या-

मुन्मत्तेव भ्रमति भवतो बल्लभा हन्त कीर्तिः ॥

इत्यत्र प्रक्रान्तापि स्तुतिपर्यवसायिनी निन्दा हन्त कीर्तिरिति भणित्या उन्मूलितेति न प्ररोहं गमितेति श्लिष्टमेतदुदाहरणम् ।

क्रम से [ उदाहरण ] यथा—[ स्तुति से निन्दा ]—

'हे जलनिधे, हे [ गंभीरता की ] मुद्रा में बोधिसत्त्व को जीत लेने वाले ! अधिक क्या कहें, दूसरों का हित करने का मत धारण करने वाला तुम्हारे जैसा कोई दूसरा नहीं है । प्यासे पथिकों के उपकार से विमुख होने की अपकीर्ति के भार को ढोने में मरुस्थल की जो तुम सहायता करते हो ।'

—यहाँ विपरीत लक्षणा के द्वारा वाच्य के विपरीत अर्थ की प्रतीति होती है ।

[ निन्दा से स्तुति यथा— ]

'हि पृथ्वीमण्डल के तिलक ! चन्द्रमा का कलंक, शिवजी का कण्ठ, विष्णु भगवान्, दिग्गजों के मदजल की स्याही से लिप्त गण्डस्थल अभी तक सांवल्लेपन से लिप्त दिखाई दे रहे हैं [ तब ] बतलाइए आपके यशों ने किसे धवल बनाया ।'

—यहाँ धवलता के जनक यश की विषयों में अपर्याप्ति का प्रतिपादन करने के कारण 'विशेष [ किसी एक ] के निषेध से शेष का विधान' इस नीति से कुछ पदार्थों को छोड़ शेष सब पदार्थों को धवल करने का गुण राजा के यश में प्रतीत होता है । [ किन्तु— ]

'दूसरे की धरेलू बातों से करना ही क्या है, परन्तु चुप बैठ नहीं पा रहा हूँ, बोलने की आदत पड़ गई है, दाक्षिणियों जैसा स्वभाव हो गया है । पर-पर में, दाशर-वाशर में, चौरास्तों पर, आसवगोष्ठियों में उन्मत्त जैसी घूमती फिर रही है । [ कौन ] आपकी बल्लभा ! [ कौन ] हन्त कीर्ति ।

—यहाँ स्तुति में पर्यवसित होने वाली निन्दा आरम्भ तो की गई किन्तु 'हन्त कीर्ति' इस कथन से वह उखाड़-सी दी गई, जमने नहीं दी गई, अतः [ अभिनवयुग द्वारा लौचन के प्रथम उद्योत में व्याजस्तुति के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत ] यह उदाहरण [ एक प्रकार से ] श्लेष का

ही उदाहरण है। जैसे दोनों अर्थ श्लेष में अभिधा द्वारा साफ साफ बह दिख जाते हैं वैसे ही वे यहाँ भी कथित ही हैं।

### विमर्शिनी

विपरीतलक्षणवेति। सनिमित्तात्र वाच्यवैपरीत्यप्रतीतिरिति भावः। अन्यथा हि सर्व-  
स्वमात् सर्वप्रतिपत्तिः श्यात्। लक्षणा च मुख्यार्थवाधपूर्विकैव भवतीत्यभिधीयमानायाः  
स्तुतेर्वाधितस्वरूपत्वमुक्तम्।

अस्याश्च निन्दास्तुत्योर्वाच्यत्वे स्तुतिनिन्दयोर्बद्धा गम्यत्वमेव भवति तद्वैवाङ्कारत्वं  
मान्यदेति दर्शयित्वाह—किं वृत्तान्तेरित्यादि। उन्मूलनेति। स्तुतिरेव वाच्यत्वेनोक्तेरर्थः।  
श्लिष्टमिति। अट्टदाहरणमेवैतदिति तात्पर्यम्। अतश्चास्य लोचनकारेण यद्वाञ्छितयुदा-  
हरणत्वमुक्तं तदयुक्तमेवेति भावः।

विपरीतलक्षणा विपरीतलक्षणा के द्वारा, भाव यह कि यहाँ वाच्य के विपरीत अर्थ की  
जो प्रतीति होती है वह सदेष्टुक है। ऐसा न होता तो सभी से सभी अर्थों की प्रतीति होने लगती।  
और लक्षणा सदा मुख्य अर्थ का बाध होने पर ही होती है, इसलिए अभिधा द्वारा कहीं आ नहीं  
[ अतएव मुख्यार्थभूत ] स्तुति का अपना स्वरूप यहाँ बाधित हो बनलाया गया है।

'यद् [ व्याजस्तुति ] तस्य अलङ्कार होता है जब वाच्य निन्दा और वाच्य स्तुति से [ उनकी  
उलटी ] स्तुति और निन्दा गम्य हो गईं। नहीं तो नहीं।'—इस तथ्य को बतलाने के लिए कहते  
हैं—'किं वृत्तान्ते ०'। उन्मूलिता = उखाड़ सी दी गईं = अर्थ यह कि स्तुति को ही वाच्यरूप से  
कह दिया। श्लिष्टम् = इसका तात्पर्य यह कि यह पद्य व्याजस्तुति के पद्य के रूप में उदाहरणीय  
नहीं है। और इसलिए लोचनकार ने इसे जो व्याजस्तुति का उदाहरण कहा है वह गलत ही  
है [ पण्डितराज जगन्नाथ ने इस पद्य में सभासोक्तिगमिन व्याजस्तुति मानी है और सर्वस्वकार  
तथा विमर्शिनीकार का उदाहरणपूर्वक खण्डन कर लोचनकार का समर्थन किया है [ ट्ट० रस०  
पृ० ५६० ]

### व्याजस्तुति का पूर्वैतिहास—

व्याजस्तुति के जो रूप यहाँ सर्वस्वकार ने प्रस्तुत किये हैं इसकी स्थापना पहली बार रद्रट  
ने की थी। रम्यट ने उन्हें सर्वस्वकार के ही समान ज्यों का त्यों अपना लिया है। मामह और  
वामन में व्याजस्तुति की झलक तो पाई जाती है परन्तु उनकी दृष्टि इन विषय में स्फूर्त नहीं है।  
रद्रट की दृष्टि स्फूर्त अवश्य है किन्तु वह प्रकाशी है। निम्नलिखित उद्धरणों से यह तथ्य  
स्पष्ट है—

मामह—'दूराधिकगुणान्प्रव्यपदेशेन तुल्यताम्।

किंचिद् विभित्तोर्या निन्दा व्याजस्तुतिरसौ यथा।

रामः सत्तामनव सालान् गिरि क्रीञ्च भृगुसमः।

शतशिनापि मवता किं तयोः सइशं कृतम् ॥ ३१२२, ३३

—अत्यधिक गुणशाली व्यक्ति की स्तुति के बहाने समकी समानता बतलाना चाहने वाले के  
द्वारा [ अन्य किसी व्यक्ति की ] जो निन्दा की जाती है वह व्याजस्तुति होती है। यथा—

—राम ने सात वृशों की वैधा, परशुराम ने क्रीच पर्वत का। उनके समान आपने शनाश  
भी क्या किया ? इसका अर्थ यह निकलता है कि मनुष्य जो कर सकता है वह आप कर चुके,  
देवक देवों का पीर ही आप में शेष है।

वामन—वामन ने भामह के अनुकरण पर ही व्याजस्तुति का निरूपण किया है। वामन का व्याजस्तुतिनिरूपण भामह का स्पष्टीकरण है। उनका निरूपण इस प्रकार है—

[ सू० ] 'संभाव्यविशिष्टकर्माकरणाग्निन्दा स्तोत्रार्था व्याजस्तुतिः ।

[ वृ० ] अत्यन्तगुणाधिको विशिष्टः, तस्य च कर्म विशिष्टकर्म, तस्य संभाव्यस्य कर्तुं शक्यन्याकरणान्निन्दा विशिष्टसाम्यसंपादनेन स्तोत्रार्था व्याजस्तुतिः । यथा—

'ध्वम्भ सेतुं गिरिचक्रवालैर्विभेद सक्षैकशरेण तालान् ।

एवंविधं कर्म ततान रामस्त्वया कृतं तत्र सुधैव गर्वः ॥'

'गुणों में अत्यन्त बड़े अक्षय किसी विशिष्ट व्यक्ति का किया कार्य किया तो जा सकता हो किन्तु उसे किसी ने किया न हो तो उसकी निन्दा व्याजस्तुति कहलाती है क्योंकि उससे विशिष्ट व्यक्ति के साथ निन्दा वाले व्यक्ति की समानता झलकने लगती है फलतः वह निन्दा स्तुति में पर्यवसित हो जाती है। यथा—

'पहाड़ों का पुल बाँध डाला, एक बाण से सात तारों को बंध दिया। राम ने ऐसा कार्य किया। तुमने वैसा कार्य नहीं किया है, अतः गर्व व्यर्थ है।'।

स्पष्ट ही वामन का लक्षण उसका स्पष्टीकरण और उदाहरण अक्षरशः भामह के व्याजस्तुति-निरूपण का स्पष्ट अनुवाद है। हमें तो इन दोनों आचार्यों के उक्त विवेचन में पर्यायोक्त की छाया दीखती है। आचार्यों के अनुसार यहाँ कवि को कहना यह है कि 'तुम राम के समान हो'। इसी को वह निन्दामुखेन प्रतिपादित कर रहा है। साम्य का प्रतिपादन यहाँ अत्यन्त क्षीण है अतः स्तुति का कोई स्पष्ट भाव जागता नहीं। एकमात्र साम्य तक सीमित रख कर भी उक्त आचार्यों ने व्याजस्तुति को व्यापक अभिव्यक्ति का अधिकांश छोड़ दिया है।

उद्धट—उद्धट की धारण भामह और वामन से मिलती-जुलती ही है किन्तु उनका निरूपण अत्यन्त प्राञ्जल है—

'शब्दशक्तिस्त्वभावेन यत्र निन्दैव गम्यते ।

वस्तुतस्तु स्तुतिः श्रेष्ठा व्याजस्तुतिरसौ मता ॥'

यथा—धियन्त्योपमानेतां तावकी रूपसम्पदम् ।

त्रैलोक्येष्वनुरूपो यद् वरस्तव न लभ्यते ॥

—शब्दशक्ति के त्वभाव से [ अभिधा द्वारा ] जहाँ विदित तो होती है निन्दा-सी किन्तु वास्तविकरूप में रहती हो उच्छ्रद्धतम स्तुति तो उसे व्याजस्तुति कहेंगे। यथा—[ तप कर रही पार्वती के प्रति उनकी सखी की उक्ति ]—

—तुम्हारी इस अतुलनीय रूपसंपत्ति को धिक्कार है, जिसके अनुरूप वर तीनों लोकों में नहीं मिल रहा है।'

यहाँ भगवती पार्वती को अतुलनीय रूप से युक्त बतलाकर उनकी प्रशंसा की जा रही है।

व्याजपूर्ण स्तुति से निन्दा की प्रतीति का दूसरा व्याजोक्तिभेद भामह और वामन के समान उद्धट की दृष्टि में नहीं आया। इसके अतिरिक्त उन्होंने अपने व्याजस्तुतिभेद का जो उदाहरण दिया उसमें स्तुतिपक्ष एकमात्र गम्य न होकर वाच्य भी हो गया है। 'अनन्योपमा' विशेषण द्वारा पार्वती-रूपसम्पत्ति की अतुलनीयता को शब्दतः भी कह दिया गया है। सर्वस्वकार के अनुसार यह उदाहरण भी 'कि वृचान्तैः'० पद्य के समान ही व्याजस्तुति का उदाहरण नहीं माना जा सकता।

उद्धट—उद्धट ने व्याजस्तुति को व्याजश्लेष नाम दिया गया है और इसे अर्थश्लेष के प्रकरण में रखा है। इसके अतिरिक्त उन्होंने स्तुति से निन्दा की व्यंजना वाले भेद को भी इसके अन्तर्गत गिना है। उनका निरूपण भी सर्वथा स्पष्ट है—



‘यन्मिन्द्रा स्तुतितो निन्द्राया वा स्तुतिः प्रतीयेत ।

अन्या विवक्षिताया व्याजश्लेषः स विधेयः ॥ १०११ ॥

—‘जहां शब्दत कही जा रही स्तुति या निन्द्रा से तन्नित्र [ निन्द्रा या स्तुति ] की प्रतीति हो रही हो उसे व्याजश्लेष समझना चाहिए ।’

यहां यह एक विशेष रूप से ध्यान देने योग्य तथ्य है कि रुद्रट ने स्तुति से व्यक्त होने वाली निन्द्रा को प्रथम स्थान दिया है । निदिचित ही यह उनका पूर्वाचार्यों में इसके अभाव और अपने द्वारा इसके श्दप्रथमनया प्रतिपादन की ओर सकेत है ।

रुद्रट ने दोनों के जो उदाहरण दिए हैं उनमें शब्दगन श्लेष भी है और उनमें शुद्ध व्याजस्तुति नहीं है, अन्य बालकारिक विधाओं का भी स्पर्श है, अतः मम्मट ने रुद्रट का लक्ष्यमात्र अपनाकर व्याजस्तुति का निरूपण इस प्रकार किया है—

मम्मट—‘व्याजस्तुतिर्मुनि निन्द्रा स्तुतिर्वा रुदिरन्यथा ।’

—‘व्याजस्तुति वह जिसमें आरम्भ में भासित हो निन्द्रा या स्तुति और अन्त में सिद्ध हो उससे उलटी स्तुति या निन्द्रा ।’

स्तुति से निन्द्रा का उदाहरण उन्होंने ‘हे हेला०’ पद्य ही दिया है ।

व्याजस्तुति शब्द की संगति उन्होंने ‘व्याजरूपा व्याजेन वा स्तुति’ ‘व्याजरूप स्तुति या व्याज से स्तुति’ यही दी थी ।

इस प्रकार व्याजस्तुति का स्वरूप तो मम्मट तथा सर्वस्वकार ने रुद्रट से ही अपनाया, किन्तु उसका नाम उन्होंने परम्परा से ही लिया । रुद्रट ने व्याजस्तुति में जो श्लेष का अस्तित्व माना था उसमें उसे अलग करने का श्रेय मम्मट को जाना है । सर्वस्वकार ने जो ‘किं वृत्तान्तै०’ पद्य के पश्चात् ‘दिल्लटमेवैतत्’ कहा है इसका स्रोत कदाचित् रुद्रट द्वारा व्याजोक्ति में श्लेष का अस्तित्व मानना ही है । इस कारण सजीविनीकार द्वारा दिल्पट शब्द के लिए किल्लट शब्द की पाठान्तर-कल्पना उचित प्रतीत नहीं होती । सजीविनी तथा विमर्शिनी द्वारा इस शब्द पर लुप्पी साधना भी वैसा ही है ।

शोभाकर—परवर्ती शोभाकर ने भी व्याजस्तुति के ये दोनों भेद माने हैं । उनका सूत्र है—

[ सू० ] स्तुतिनिन्द्राम्याम् [ अन्यप्रतीतिः ] व्याजस्तुतिः ।

[ वृ० ] स्तुत्या निन्द्रा, निन्द्रया वा स्तुतिर्यत्र भवति सा व्याजस्तुतिः ।

—स्तुति और निन्द्रा से अन्य [ निन्द्रा और स्तुति ] की प्रतीति व्याजस्तुति कहलाती है ।

सर्वस्वकार के ही समान रत्नाकरकार ने भी व्याजस्तुति में अन्य अर्थ की प्रतीति लक्षणा द्वारा मानी है ।

विमर्शिनीकार ने व्याजस्तुति के विषय में एक महत्त्व की बात यह कही थी कि व्याजस्तुति नाम से जिन दो भेदों की गणना की गई है ये दोनों भेद वस्तुतः दो स्वतन्त्र व्याजस्तुतियाँ हैं किसी एक व्याजस्तुति के भेद नहीं । परवर्ती सजीविनीकार ने भी यह तथ्य स्वीकार किया है इस दिशा में स्वयं सर्वस्वकार तथा रत्नाकरकार का भी ध्यान नहीं गया था न तो उनके पूर्ववर्ती मम्मट आदि आचार्यों का ही । परवर्ती आचार्यों में कुवलयानन्दकार अभ्ययदीक्षित पण्डितराज जगन्नाथ तथा विद्वेधर से भी यह तथ्य छूटा रह गया है । जयदेव का ‘वक्तिव्याजस्तुतिनिन्द्रास्तुतिभ्यां स्तुतिनिन्द्रयो’—‘निन्द्रा और स्तुति के द्वारा स्तुति और निन्द्रा की वक्ति का नाम है व्याजस्तुति’ । यह लक्ष्य मानकर अभ्ययदीक्षित ने व्याजोक्ति के चार भेद बतलाए हैं । दो भेद तो वस्तुतः भेद

ही हैं। दो अन्य भेद वे हैं जिनमें जिसकी निन्दा या स्तुति कथित होती है अन्य स्तुति या निन्दा उससे भिन्न की प्रतीति होती है। अन्य की निन्दा से अन्य की स्तुति का उदाहरण उन्होंने यह दिया है—

अप्पयदीक्षित = 'कर्त्तुं वानर ! रामराजमवने लेखार्थसंवाहको

वातः कुत्र पुरागतः स इनुमान् निर्दग्धलङ्कापुरः ।

बद्धो राक्षससूनुनेति कथिभिः संताडितस्तजितः

स त्रीडात्तपरामवो वनमृगः कुत्रेति न श्रायते ॥

[ लंका में अंगद से किसी राक्षस की उक्ति ] 'अरे वानर तू कौन-सा वानर है, [ उत्तर ] राम के राजमवन में डाकिया का काम करने वाला । [ प्रश्न ] यह जो एक इनुमान् नामक वानर पहले यहाँ आया था और लंका को जला गया था वह कहाँ गया । [ उत्तर ] यह जानकर कि उसे राक्षस के लड़कै ने बाँध लिया था, उसे वानरों ने मारा पीटा और दुस्कारा, तो लाज के मारे वह जंगली वानर कहाँ चला गया पता नहीं ।

—यहाँ निन्दा इनुमान्जी की की गई है और स्तुति व्यक्त हो रही है उनसे भिन्न वानरों की। इसी प्रकार अप्पयदीक्षित ने स्तुति से निन्दा की प्रतीति का भी ऐसा ही उदाहरण भी दिया है।

इन दो भेदों की कल्पना रत्नाकरकार के मरित्क में भी आई थी, किन्तु उन्होंने इन्हें अतिशयोक्ति और अप्रस्तुतप्रशंसा में गतार्थ बतलाया था। अतिशयोक्ति में तब जब पर्यवसित होने वाली निन्दा या स्तुति में अतिशय की विवक्षा हो यथा 'इन्दुलिप्त' इत्यादि उद्धृत पद्य में। यदि अतिशय की विवक्षा नहीं रहती तो इन भेदों का अन्तर्भाव अप्रस्तुतप्रशंसा में ही होता है। यथा पूर्वोद्धृत 'धन्याः खड्ग वने वाताः' पद्य में। अन्त में रत्नाकरकार ने कहा है कि 'यस्यैव स्तुतिनिन्दे तस्यैव निन्दास्तुतिप्रतीति त्वतिशयविवक्षायां व्याजस्तुतिः' व्याजस्तुति वहाँ होती है जहाँ जिसकी निन्दा और स्तुति कही जाय पर्यवसान भी उसी स्तुति या निन्दा में हो और उस पर्यवसित में अतिशय की विवक्षा हो।

पण्डितराज—पण्डितराज ने भी इन दो नवीन भेदों को अमान्य ठहराते हुए तर्क दिया है कि अन्य की निन्दा से अन्य की स्तुति व्यक्त होने पर निन्दा का स्तुति में पर्यवसान होने की बात नहीं बनेगी। व्याजोक्ति में निन्दा या स्तुति ही स्तुति या निन्दा में परिणत होती है। अन्य की स्तुति या निन्दा स्तुति या निन्दा रूप ही रही आरंगी। इस प्रकार यहाँ 'व्याजत्व' ही उच्छिन्न हो जायगा। पण्डितराज का कथन है—

'इयं व्याजस्तुतिर्यस्यैव वस्तुनः स्तुतिनिन्दे प्रथममुपक्रम्येते तस्यैव चेन्निन्दास्तुत्योः पर्यवसानं भवेत् तदा भवति । वैयधिकरण्ये तु न ।' [ पृ० ५६२ ]

इन भेदों का खण्डन करते हुए पण्डितराज रत्नाकर का उल्लेख नहीं करते। पण्डितराज ने स्वयं व्याजस्तुति का लक्षण इस प्रकार किया है—

'आसुप्तप्रतीतान्यां निन्दास्तुतिभ्यां स्तुतिनिन्दयोः क्रमेण पर्यवसानं व्याजस्तुतिः ।

—आरम्भ में प्रतीत या निन्दा स्तुति के द्वारा पर्यवसान में क्रम से स्तुति या निन्दा का बोध व्याजस्तुति ।

पण्डितराज ने भी व्याजस्तुति में अपरार्थ की प्रतीति में लक्षणा को ही कारण माना है।

विश्वेश्वर—विश्वेश्वर ने भी व्याजस्तुति के रुद्रवाभिमत भेद ही माने हैं। अप्पयदीक्षित के चार भेदों का विवेचन भी उन्होंने किया है और उनका अपनी ओर से कोई खण्डन नहीं किया

किन्तु प्राचीनों की ओर से नवीन दो भेदों की अप्रस्तुतप्रशंसा में गतार्थ बतलाया है। विश्वेश्वर का व्याजस्तुत लक्षण इस प्रकार है—

‘व्याजस्तुतिर्विपर्ययपर्यवसानेऽस्तुतिस्तुत्यो ।’

—अस्तुति [ निन्दा ] और स्तुति का उल्टा पर्यवसान व्याजस्तुति कहलाना है । निन्दा और अस्तुति अभिन्न नहीं कही जा सकतीं। अस्तुति स्तुति का अभाव ही है। निन्दा अमावात्मक नहीं होकर भावात्मक ही है। इस प्रकार तो स्तुति को भी निन्दा का अभाव कहा जा सकता है।

पाठान्तर = व्याजस्तुति की अन्तिम पंक्ति में डॉ० जानकी ने उन्मूलिता के स्थान पर ‘उन्मीलिता’ पाठ माना है और दिल्लट के स्थान पर ‘विल्लट’। ‘उन्मीलिता’ पाठ के अनुसार ‘निन्दा उन्मीलिता’ यह अन्वय होगा और अर्थ निकलेगा—‘निन्दा को उद्घाटित कर दिया गया’ जब कि निन्दा ‘किं वृत्तान्ते’०’ पद्य में वाच्य है अन उद्घाटित ही है। दूसरा अर्थ निकाला जाएगा ‘उसका रहस्य खोल दिया गया’। यह दूरगामी कल्पना होगी। वस्तुतः पण्डितराज ने इस पंक्ति को ‘गमिता’ तक उद्घृत किया है। उसमें ‘उन्मूलिता’ पाठ ही है—[‘द्रष्टव्य-व्याजस्तुति प्रकरण पृ० ५६०] दिल्लट और विल्लट का विचार हम यहीं रुद्रट के प्रसंग में कर आए हैं।

श्रीविद्याचक्रवर्ती ने अपनी सजीविनी में व्याजस्तुति का मध्य कारिका द्वारा इस प्रकार किया है—

‘व्याजेन व्याजरूपा वा स्तुतिर्व्याजस्तुतिद्वयम् ।

अप्रस्तुतप्रशंसात् स्तुतिनिन्दात्मिका मिदा ॥’

—‘व्याज से स्तुति और व्याजरूप स्तुति ये दो व्याजस्तुति होती हैं। स्तुतिनिन्दा होने से वे अप्रस्तुतिप्रशंसा से भिन्न हो जाती हैं।’

### [ सर्वस्व ]

गम्यत्वमेव प्रकृतं विशेषविषयत्वेनोत्तरीकृत्याक्षेपालंकार उच्यते—

[ सू० ३९ ] उक्तवक्ष्यमाणयोः प्राकरणिकयोर्विशेषप्रतिपत्त्यर्थं निषेधाभास आक्षेपः ।

इह प्राकरणिकोऽर्थः प्राकरणिकत्वादेव वक्तुमिष्यते तथाविधस्य विधानार्हस्य निषेधः कर्तुं न युज्यते। स कृतोऽपि याधितस्वरूपत्वान्निषेधायत इति निषेधाभासः संपन्नः। तस्यैतस्य करणं प्रकृतगतत्वेन विशेषप्रतिपत्त्यर्थम्। अन्यथा गजस्नानतुल्यं स्यात्। स चामासमानोऽपि निषेधस्तन्नोक्तस्य वा स्यात् आसूत्रिताभिधत्वेन वक्ष्यमाणस्य वा स्यादित्याक्षेपस्य द्वयी गतिः। तन्नोक्तविषयत्वेन कैमर्यक्षयपरमालोचनमाक्षेपः। वक्ष्यमाणविषयत्वेनानयनरूपमागूरणमाक्षेपः। एवं चार्थभेदादाक्षेपशब्दस्य द्वावाक्षेपाविति चदन्ति। तन्नोक्तविषये यस्यैवेष्टस्य विशेषस्तस्यैवाक्षेपः। वक्ष्यमाणविषये त्विष्टस्य विशेषः, इष्टसंवन्धिनस्त्यन्यस्य सामान्यरूपस्य निषेधः। तेनात्र लक्षणभेदः। विशेषस्य चात्र शब्दानुपात्तत्वाद् गम्यत्वम्। तन्नोक्त-

विषय आक्षेपे क्वचिद्वस्तु निषिध्यते क्वचिद्वस्तुकथनमिति द्वौ भेदौ । वक्ष्यमाण-  
विषये तु वस्तुकथनमेव निषिध्यते । तच्च सामान्यप्रतिष्ठायां क्वचिद्विशेष-  
निष्ठत्वेन निषिध्यते क्वचित् पुनरंशोक्तार्थशाभ्तरगतत्वेनेत्यत्रापि द्वौ भेदौ ।  
तदेवमस्य चत्वारो भेदाः । शब्दसाम्यनिबन्धनं सामान्यविशेषभावमवलम्ब्य  
चात्र प्रकारिप्रकारभावप्रकल्पनम् ।

गम्यता का प्रकरण चला आ रहा है और आक्षेप में 'विशेष' की गम्यता रहती है इस कारण  
उत्ती को लेकर अब आक्षेपालङ्कार का निरूपण करते हैं—

[ सूत्र ३९ ] विशेषता की प्रतीति कराने के लिए उक्त [ कहे जा चुके ] अथवा वक्ष्य-  
माण [ कहे जाने वाले ] प्रकरणिक के निषेध का आभास आक्षेप [ नामक अलङ्कार  
कहलाता है ]

[ वृत्ति ] यहाँ [ प्रत्येक वाक्य में ] जो अर्थ प्राकरणिक होता है प्राकरणिक होने के कारण  
ही उसका कथन अभीष्ट होता है । ऐसा अर्थ विधानार्ह होता है अतः उसका निषेध करना  
उचित नहीं होता । यदि वह [ निषेध ] किया भी जाता है तो उसका स्वरूप बाधित हो जाता  
है, अतः वह निषेध वैसा रहता है फलतः वह निषेधाभास बन जाता है । इस प्रकार के इस  
[ निषेध ] का जो विधान होता है उसका उद्देश्य [ वक्तव्यार्थ ] में वैशिष्ट्य [ जोर ] लाना होता है ।  
ऐसा न हो तो वह गजस्नान के समान [ किया न किया बराबर ] हो जाए । यह जो आभासमान  
निषेध है वह भी या तो ऐसे अर्थ का होता है जिसे कह चुका जाता है या फिर ऐसे अर्थ का  
जिसके कथन की भूमिकामात्र बनी रहती है; और जिसे स्पष्टरूप से आगे कहना शेष रहता  
है, इस कारण आक्षेप भी [ उक्तविषयक और वक्ष्यमाणविषयक, इस प्रकार ] दो प्रकार का हो  
जाता है । इन [ दोनों ] में [ प्रथम में ] विषय उक्त रहता है तो [ निषेधरूप ] आक्षेप ऐसा ज्ञान  
सिद्ध होता है जिसमें अन्ततः [ कथित अर्थ के विषय में ] किमर्थकता = 'इस सब के कहने से क्या'  
इस अभिप्राय की प्रतीति होती है, [ और द्वितीय आक्षेप में ] विषय वक्ष्यमाण रहता है तो [ यही  
निषेधरूप ] आक्षेप [ अकथित अर्थ को अर्थबलात् ] 'ले आने'-रूप न्यञ्जना सिद्ध होता है । इस  
प्रकार आक्षेप शब्द का अर्थ बदल जाने से [ नामक आदि ] कुछ आचार्य यह कहते हैं कि आक्षेप-  
लङ्कार [ अलग-अलग ] दो होते हैं ।

इन [ दोनों आक्षेपों ] में से [ प्रथम ] उक्तविषय [ नामक आक्षेप ] में उत्ती का आक्षेप  
[ निषेधाभास ] रहता है जिसमें विशेषता का प्रतिपादन अभीष्ट रहता है जब कि [ द्वितीय ]  
वक्ष्यमाणविषय [ नामक आक्षेप ] में विशेषता अभीष्ट अर्थ में ही प्रतीत होती है, किन्तु निषेध  
उस अभीष्ट अर्थ से सन्बन्धित अन्य रूप का होता है जो सामान्यात्मक रहता है । इस कारण इन  
दोनों भेदों में लक्षण बदल जाता है ।

विशेषता यहाँ गम्य होती है क्योंकि उसके वाचक शब्द का प्रयोग नहीं रहता । उक्तविषय  
( नामक ) आक्षेप में कहीं तो निषेध रहता है स्वयं वस्तु का, और कहीं वस्तु के कथन का; इस  
प्रकार उसके दो भेद हो जाते हैं, परन्तु वक्ष्यमाणविषय ( नामक ) आक्षेप में केवल वस्तुकथन  
का ही निषेध रहता है । उस [ कथन ] में भी यदि सामान्य का कथन रहता है तो निषेध विशेष  
का हुआ करता है और कथन आधिक्यरूप से होता है तो [ निषेध ] अन्य अंश वा [ हुआ करता  
है ] इस प्रकार इस भेद में भी दो भेद हो जाते हैं । इस प्रकार आक्षेप के चार भेद होते हैं ।  
[ सभी आक्षेपों का वाचक आक्षेप ] शब्द एक ही है इस कारण सामान्यविशेषभाव मानकर और  
प्रकारिप्रकारिभाव [ प्रकार = विशेष, प्रकारी = सामान्य ] की कल्पना की है ।

## विमर्शिनी

उररीकृष्येति आधिरथ । तमेवाह—उक्तवक्ष्यमाणयोरित्यादि । तथाविधस्येति वस्तु-  
मिष्टस्य । अत एव विधानार्हस्येष्टुक्तम् । स इति निषेधः । बाधितस्वरूपत्वादिति । प्राक्-  
रणिके विधानार्हे तस्यासम्भवात् । यद्येव तद्व्यसावकार्यं एवेत्यादाह—तस्येत्यादि ।  
अन्यथेति, विशेषप्रतिपत्तिर्न स्यात् । तस्य च त्रिपयं दर्शयति—स चेत्यादिना । उक्तस्येति  
वस्तुत कथनरूपस्य । आसूत्रिताभिधस्येनेति सामान्यमुखेनाशोक्तिमुखेन वा । अन्यथा  
हि सर्वत्र विवक्षितार्थस्य निषेधमात्रादेव प्रतीतिप्रसङ्गः । कैमर्थस्येति, किमर्थमेतदिति पर्य-  
नुयोगरूपं ह्यस्यर्थं । एवमिति । कैमर्थव्यप्यालोचनानयनरूपागूरुणरूपत्वात् । वदन्तीति  
प्राच्याः । यदाह मामह —

'वक्ष्यमाणोक्तविषयस्तत्राद्येपो द्विधा मतः ।

एकरूपतया शेषा निदिश्यन्ते यथाक्रमम् ॥' इति ।

तेनाभाकमेतन्न मतमिति भावः । वक्ष्यमाणविषये हि कथनस्यैव निषेधत्वात्  
कथ्यत इति कैमर्थव्यप्यरमालोचनमेव प्रतीयते इत्येक एवाद्येपशब्दस्यार्थं इति भेदाभावाद्  
द्वावाद्येपाविति न युक्तम् । तरिकमेक एवाद्येपो भवन्मते युक्त इत्यादाह—तत्रेत्यादि ।  
आद्येप इति विशेषः । कार्यकारणयोरभेदोपचारात् । इष्टस्येति विशेषात्मनः । अन्यस्येति  
विशेषान् । एवं निषेधविशेषयोर्भेदेनावस्थितेनात्र सामान्यलक्ष्यसम्बन्धोऽस्तौति तात्पर्यम् ।  
ननु सर्वविशेषाणां सामान्यानुप्रागित्वादेकशक्ति कृतो निषेधादिरपरश्रावणमेव पर्यव-  
स्यतीति कथमत्र निषेधविशेषयोर्मिन्नविषयत्वमुक्तम् । सत्यम् । यद्यप्येवं तथाप्येतन्न  
शब्दार्थम् । अर्थवशेन तत्र तथारवावगते । इह च शब्दसम्बन्धेत्वाद्येपाङ्गं नार्थवशायातम् ।  
तथाखे हि रूपकादीनामप्युपमाश्च स्यात् । तेषामप्यार्थस्य सादृश्यस्य भावात् । एतच्चोद्भट-  
विचारे राजानकतिलकेनैव सप्रपञ्चमुक्तमिति 'न तथारमाभिराविष्कृतम् । नेनेति । निषेध-  
विशेषयोरेव मिन्नविषयत्वादाद्येपशब्दस्यार्थं भेदान् । यस्वत्र विशेषः स किं वाच्यं किमुत  
गम्य इत्यादाह—विशेषस्येत्यादि । कथनमेवेति, न पुनः साक्षाद् वस्तु । तदिति कथनम् ।  
सामान्यप्रतिपत्तेरिति । सामान्यमेवाधिरथेस्यर्थं । विशेषनिष्ठत्वेनेति । सामान्यस्य विशेषाविना-  
भावित्वात् । निषिध्यत इति, अत्र, उत्तरत्र च भवन्धेनीयम् । अंगान्तरगतत्वेनेति । सामान्य-  
प्रतिपत्तेरप्येवमपि संयन्धः । अत्रापि ह्यपराशोक्ति सामान्यमुखेनैव निषिध्यते । विशेषस्य  
हि साक्षाद् निषेधो न भवति । निषेधानन्तर तत्प्रतीतेर्भावितो निषेधासम्भवात् । न ह्युक्तो  
निषेधः शब्दासमर्पिते तत्कालमप्रतीयमाने च विषये सम्भवति । अस्येत्याद्येपस्य । ननु  
इयोरौप्येपयोश्चरवारो भेदाः सम्भवन्तीति कथमेकस्यैवोक्ता इत्यादाह—शब्देत्यादि ।  
प्रकल्पनमिति । न पुनर्वस्तुतः सद्भावं इत्यर्थः ।

उररीकृष्य = लेकर = उसी को आधार बनाकर । उसी को कइने हैं—उक्त-वक्ष्यमाणयोः  
इत्यादि द्वारा तथाविधस्य = ऐसा अर्थ = विवक्षित, वक्तव्य । इसीलिए विधानार्ह । सः = वह =  
निषेध । बाधितस्वरूपत्वात् = उसका स्वरूप बाधित रहना है इसलिए = अर्थात् जो अर्थ प्राकरणिक  
होता वह विधानार्ह होता है अत उसका संभव नहीं होता इसलिए । 'यदि यह ममव नहीं होता  
तो फिर इसका विधान ही नहीं किया जाना चाहिए'—इस शका पर उत्तर देते हैं—तस्य  
इत्यादि । अन्यथा = यदि ऐसा न हो अर्थात् विशेष अर्थ का ज्ञान न हो । उम [ निषेध ] का  
विषय [ प्रतिपोगी, जिसका निषेध होता है वह विषय ] बतलाने हैं—'स च' इत्यादि के द्वारा ।  
उक्तस्य = कथित का = किन्तु वस्तुतः कथनरूप का । आसूत्रिताभिधस्य = जिसके कथन को भूमिका-

मात्र वनी रहती है। अर्थात् या तो सामान्यात्मक रूप से या फिर अंशमात्र के कथन के रूप से। यदि ऐसा न हो तो फिर विकक्षित अर्थ की प्रतीति सभी स्थलों में निषेध के द्वारा ही होने लगे। कैमर्थव्यय = 'इससे क्या' इस प्रकार का अर्थात् पर्यनुयोगरूप। एवम् = इस प्रकार अर्थात् वैमर्थव्यपर्यालोचन और 'मानयन = ले आना'—रूप जो भागूरण तद्रूप। वदन्ति = कहते हैं अर्थात् प्राचीन आचार्य। जैसा कि मामह ने कहा है—

'उन [ आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, विभावना, समासोक्ति और अतिशयोक्ति:—इन छ अलंकारों ] में से केवल आक्षेप 'वक्ष्यमाणविषय और उक्तविषय' इस प्रकार दो प्रकार का, और शेष सब एक ही एक प्रकार के क्रमशः बतलाए जाएंगे। [ कान्यालंकार २।६६-६७ ]।'

इसका अर्थ यह कि हमें [ सर्वस्वकार का ] यह मान्य नहीं है। वस्तुतः वक्ष्यमाणविषय नामक आक्षेप में भी निषेध किया जाता है कथन का ही। अतः वहाँ भी ध्यान में 'ऐसा किस लिए [ अर्थात् निरर्थक ]' इस प्रकार का बोध होता है इसलिए [ दोनों ही भेदों में ] आक्षेप शब्द का अर्थ एक ही रहता है। इस प्रकार [ दोनों भेदों में ] भेद नहीं रहता, फलतः 'आक्षेप श्रे ही' ऐसा कहना ठीक नहीं है। 'तो क्या आपके मन में आक्षेप एक ही प्रकार का मान्य है'—इस प्रश्न पर उत्तर देते हुए कहते हैं—तत्र इत्यादि। आक्षेप अर्थात् विशेष, कार्य और कारण में औपचारिक अभेद मानकर। इष्टस्य = अभीष्ट अर्थ अर्थात् विशेषरूप। अन्यस्य = अन्य भिन्न अर्थात् विशेष-पातमक अर्थ से भिन्न [ सामान्य अर्थ ]। इस प्रकार तात्पर्य यह निकला कि निषेध और विशेष ये दोनों अलग-अलग रहते हैं, इस कारण इसमें सामान्य लक्षण का होना संभव नहीं है। [ शब्दा ] 'सभी विशेष सामान्य से अनुप्राणित रहते हैं इसलिए एक का निषेध अपने आप अवश्य ही अन्य का निषेध बन जाता है, तब यहाँ निषेध और विशेष को अलग-अलग कैसे कहा गया?। [ उत्तर ] ठीक है। यद्यपि होता ऐसा ही है तथापि यह अर्थ शब्द से नहीं निकलता। ऐसा प्रतीत होता है अर्थसंगति से। प्रकृत में जिस आक्षेप का विचार चल रहा है वह शब्द आक्षेप का ही अंग है, अर्थवशाद् आया हुआ नहीं है। वैसा मानने पर तो रूपकादि भी उपमादि-स्वरूप सिद्ध होंगे। क्योंकि अर्थवलात् सप्रत्यय तो उनमें भी रहता ही है। यह सब उद्भट विचार में राजानक तिलक ने ही विस्तारपूर्वक कह दिया है इस कारण उतने विस्तार में हमने इसका विचार नहीं किया। तेन = इस कारण = निषेध और विशेष दोनों के भिन्नविषयक हो जाने से आक्षेप शब्द के अर्थ में भेद हो जाने के कारण। अथ 'जो यहाँ विशेष रहता है वह वाच्य होता है या गम्य' ऐसी शब्दा का उत्तर देते हैं—विशेषस्य इत्यादि। कथनमेव = कथन ही, न कि स्वयं वस्तु। तत् = वह = कथन। सामान्यप्रतिज्ञया = सामान्य का ही आशय लेकर [ कथन होने से ]। विशेषनिष्ठत्वेन = विशेषपरक होने से = सामान्य विशेष से पृथक् नहीं रहता इसलिए। निदिध्यसे = निषेध किया जाता है इसका संबन्ध यहाँ और आगे भी जोड़ना चाहिए। 'अंशान्तरगतत्वेन = अन्य किसी अंश का [ निषेध ]' इसका संबन्ध 'सामान्यप्रतिज्ञया = सामान्य-मात्र का कथन रहता है'—इससे भी करना चाहिए क्योंकि यहाँ भी अन्य अंश का निषेध सामान्य-रूप के ही माध्यम से हुआ करता है। सीधे-सीधे विशेष का निषेध नहीं होता। क्योंकि उसकी प्रतीति निषेध के बाद होती है, तब [ वक्ष्यमाण ] भावी का निषेध नहीं हो पाएगा। जो निषेध कहा जाता है वह शब्दतः अकथित या प्रतीयमान विषय का नहीं हो सकता। अस्य = इसके = आक्षेप के। 'चार भेद दो आक्षेपों के होते हैं, तब एक ही आक्षेप के चार भेद कैसे बतलाए जा रहे हैं' इस शंका पर कहते हैं—शब्द इत्यादि। अकक्ष्यन्म् = कल्पना की है = अर्थ यह कि इसका वास्तविकं सद्भाव नहीं है।

[ सर्वस्व ]

क्रमेण यथा—

‘बालकं णाहं दूई तीए पिओ सि त्ति णम्हवावारो ।  
सा मरइ तुज्ज अयसो एअं धम्मअखरं भणिमो ॥’

प्रसीदेति प्रयामिदमसति कांसे न घटते  
करिष्याम्येवं नो पुनरिति भवेदभ्युपगमः ।  
न मे दोषोऽस्तीति त्वमिदमपि द्वि घास्यसि मृषा  
किमेतस्मिन्वक्तु क्षममिति न चेद्भि पियतमे ॥’

‘सुहृथ विलंयसु थोअं जाव इमं चिरहकाअरं द्विअअं ।  
संठविऊण भणिस्सं अहवा घोलेसु किं भणिमो ॥’

‘ज्योत्स्ना तम पिफचचः क्रकचस्तुपारः  
क्षारो मृणालवलयानि कृतान्तदन्ताः ।  
सर्वं दुरन्तमिदमद्य शिरीषमृद्धी  
सा नूनमाः किमयथा हतजल्पितेन ॥’

आद्ये उदाहरणद्वये यथाक्रमं वस्तुनिषेधेन भणितिनिषेधेन चोक्तविषय आक्षेपः । तत्र चोक्तस्य दृतीत्वम्य वस्तुनो निषेधमुखेनेव चास्तवत्वादि-विशेष । तथा भण्यमानस्य प्रसादस्य निषेधमुखेनेव कोपोपरागनिवर्तनेना-द्यस्यस्वीकार्यत्वं विशेषः । उत्तरस्मिन् पुनरुदाहरणद्वये यथाक्रमं सामान्य-द्वारेणोपस्थांशोक्तावप्यंशान्तरस्य स्वरूपेण च भणितिनिषेधे वक्ष्यमाणविषय आक्षेपः । तत्र च वक्ष्यमाणस्त्रेष्टस्य भणित्समितिप्रतिज्ञातस्य सातिशयो मरणशङ्कोपजनकत्वादिर्विशेषः । तथा चांशोक्तावप्यंशान्तरस्य म्रियत इति प्रतिपाद्यस्याशक्यवचनीयत्वादिर्विशेषः । एवं च आक्षेपे इष्टोर्थः तस्यैव निषेधः, निषेधस्यानुपपद्यमानत्वादसत्यत्वम्, विशेषप्रतिपादनं चेति अनुप-यमुपयुज्यते । तेन न निषेधविधिः न विहितनिषेधः । किं तु निषेधेन विधेराक्षेपः । निषेधस्यासत्यत्वाद् विधिपर्यवसानात् । विधिना तु निषेधोऽस्य भेदत्वेन वक्ष्यते । ततश्च हर्षचरिते—‘अनुकूपो देव इत्यात्मसंमाधना-’ इत्यादौ, तथा ‘यामीति न स्नेहसदृशम्’ इत्यादावुक्तविषय आक्षेपः ।

क्रम से उदाहरण यथा—

‘बालक ! नाह दूनी तस्या प्रियोऽमीति नास्मद्ब्यापारः ।  
सा भियसे तवायस पतद् धर्माअरं भगामः ॥’

[ १ ]—[ दूरी की नायक के प्रति उक्ति ] ‘बालक ! तुम उन [ मेरी सखी ] के प्रिय हो इस उद्यमसे दूरी न समझ बैठना, हम लोग यह काम नहीं करनीं । हम तो ‘बद मर जायगी और तुम्हारा भयच होगा’ यह परम की वान भर कहने आई हैं ।’

[ २ ]—‘यदि कहूँ कि प्रसन्न हो जाओ’ तो यह जमता नहीं, क्योंकि तुम गुस्सा [ तो ] हो नहीं, ‘देसा पुनः न कलंगा’ यह कहूँ तो यह अपना दोष स्वीकार करना है, कहूँ कि ‘दोष मेरा नहीं है’ तो इसे तुम झूठ समझोगी । हे भ्रियतमे ! मैं नहीं समझ पा रहा कि इस विषय स्थिति में क्या कहना उचित है ।’

‘सुमय विलम्बत्व स्तीकं यावदिदं विरङ्कातरं हृदयम् ।

संस्थाप्य भणिन्यान्वधवापक्राम किं भगामः ॥

[ ३ ]—‘सुभग ! थोड़ा ठहरो । अपने विरङ्कातर हृदय को स्थिर तक कहूँगी, या जाओ चले जाओ । कहूँ ही क्या ?’

[ ४ ]—चाँदनी अभियारी हो गई है, कोकिल की कूक आरा बन गई है, भोस की बूँदें श्वार और नृगालपुंज यम की दंतौड़ी प्रतीत हो रहे हैं । इस प्रकार इस समय ये सभी दुखदायी बन बैठे हैं । शिरीषबोमल अबेली वह निश्चित ही, किन्तु आः इस सब बेकाम मायग से क्या लाभ ।

[ इन चार स्थलों में से ] प्रथम दो स्थलों में कम से ( प्रथम में ) वस्तुनिषेधात्मक तथा [ द्वितीय में ] कथननिषेधात्मक आक्षेप है । यह आक्षेप उक्तविषय आक्षेप है । इनमें से [ प्रथम में ] दूतीत्वरूपी वस्तु कही जा चुकी है । उसका निषेध किया गया है । उसी से उसमें वास्तविकता आदि रूप विशेषता का ज्ञान होता है । इसी प्रकार [ द्वितीय में ] प्रसन्न होने की जो बात कही जा रही है उसमें ‘कोप [ रूपी राहु ] का प्रदण हटाकर अवश्य स्वीकार किये जाने योग्य होने’ की विशेषता विदित होती है । यह विशेषता निषेध के द्वारा ही निकलती है ।

परवर्ती जो दो उदाहरण हैं । उनमें क्रमशः [ प्रथम में ] विवक्षित अर्थ सामान्य रूप से कह दिया गया है अतः उसका आक्षेप कथन ही चुका है तदनन्तर अन्य अंश और स्वयं कथन का ही निषेध होता है । अतः यहाँ वक्ष्यमाणविषय [ ज्ञामक ] आक्षेप है । इसमें ‘कहूँगी’-शब्द के द्वारा जिस वस्तु के कहने की बात कही गई है उस अभीष्ट-वस्तु में जो वैशिष्ट्य प्रतीत होता है वह है—‘अत्यधिक मात्रा में मरणशुंका उत्पन्न करना’ । इसी प्रकार [ अन्तिम स्थल में ] प्रतिपाद्य वस्तु का कुछ अंश कह दिया गया है और कुछ अंश जिसका प्रतिपादन ‘मरने वाली है’ इस प्रकार किया जाना शेष है उसमें [ निषेध के द्वारा ] ‘उसका कहा जाना संभव नहीं है’ आदि विशेषताएँ प्रतीत होती हैं ।

इस प्रकार आक्षेप में ( १ ) अभीष्ट अर्थ, ( २ ) उसी अर्थ का निषेध, ( ३ ) निषेध का सिद्ध न होना और ( ४ ) विशेषता का प्रतिपादन इन चार तत्वों का उपयोग होता है । इस लिए न तो यहाँ निषेध का विधान होता और न विदित का निषेध ही । यहाँ तो निषेध से विधि का आक्षेप होता है । यह इसलिए कि निषेध असत्य होता है अतः उसका विधि में ही पर्यवसान हो जाता है । विधि से जो निषेध प्रतीत होता है उसे तो हम इसी [ आक्षेप ] का एक भेद बतलाने वाले हैं ।

इसलिए हर्षचरित में आई [ प्रथम उच्छ्वास में दाधोच की दूती मालती द्वारा सरस्वती के प्रति कथित इनारे ] मालिक आपके अनुरूप हैं यह स्वयं की बहार् करती है—[ ३६ पृ० नि० ला० सं० ७ ] इत्यादि उक्ति में, तथा—[ तृतीय उच्छ्वास में द्रक्षरूप में परिणत भैरवाचार्य के राजा पुण्यभूति के प्रति कथित ] ‘जाता हूँ’ यह कहना स्नेह के अनुरूप न होगा [ पृ० ११६ वही ] इत्यादि वाक्यों में उक्तविषय आक्षेप है ।

### विमर्शिनी

वस्तुनो निषेधमुखेन विशेष इत्यनेन यस्यैव निषेधस्तस्यैव विशेष इत्युक्तं निर्वाहितम् ।



‘दूरप्रवामे समुहो सि सुहृअ आलिंगणं राण कुरुसु ।  
अहवा छा हि इमिणा गमणम्मि विलवभारेण ॥’

इत्यत्र पुनरुक्त्यालङ्कारस्य निषेधो विधौ तात्पर्याभावात् निषेधाभासतामिवादि-  
स्येतदुदाहरणं न वाच्यम् । यतोऽत्र विलम्बनकारिण आलङ्कारस्यैव निषेधेन गमनविधि-  
रत्रेक्षितः । स च विधिरनुपपद्यमानत्वादप्रस्थानलक्षण निषेध लक्ष्यति । अत्र च गमन-  
स्यावश्यपरिहार्यत्वादिर्विरोधः प्रयोजनम् । अत्रालङ्कारमात्रस्यैव चेष्टस्य गमनस्य  
विधिरैव पर्यवस्येद्य निषेध इति विवक्षितवाच्यार्थविप्रलोप एव स्यात् । अतश्चेक्यविषयं  
विहितनिषेधेऽप्याद्येपरमन्थत्र निषेधोऽन्यत्र विशेष्येति न वाच्यम् ।

‘वस्तुनो निषेधमुखेन विशेष — वस्तु के निषेध से उसकी विशेषता’ इस कथन का तात्पर्य यह  
निकला कि ‘विशेषता उसी में प्रतीत होगी जिसका निषेध होगा ।’ [ अतः अलङ्काररत्नाकरकार  
को उक्तविषय आक्षेप के लिए ]

‘दूर-प्रवामे समुहोऽसि सुमग ! आलिंगनं क्षण कुरुष्व ।  
अपवा छलमेनेन गमने विलम्बकारिणा ॥’

—‘सुमग ! दूर देश जाने को उद्यत हो । आओ, एक क्षण छाती से लग लो [आलिंगन कर लो]  
अपवा रहने दो । इससे जाने में विलम्ब हो जाएगा ।’

इसे उदाहरण नहीं बनलाना चाहिए । क्योंकि इसमें उक्त [ कह दिए गए ] आलिंगन का जो  
निषेध किया गया है उसका तात्पर्य [ अपने ] विधान में नहीं है अतः वह निषेधाभास नहीं बन  
पाता । ऐसा हस्तलिपि होता है कि इस पद्य में [ पूर्वविहित ] ‘अलिंगन करो’ शब्द के द्वारा विलम्ब-  
कारी आलिंगन का ही [पदवाच्य ‘रहने दो इसे’] इम प्रकार [ निषेध कट गमनविधि का समर्थन किया  
गया है । यह विधि अपने आप में बाधित है [ क्योंकि वक्ता को अनमीष्ट है ] अतः इसकी ‘अप्रस्थान’—  
[ गमनाभाव, गमन निषेध ]-रूपी निषेध में लक्षणा ही जाती है और इस लक्षणा का प्रयोजन  
ठहरता है गमन में इस देशिष्टय की प्रतीति कि वह अवश्यमेव परिहार्य है । [ इस प्रकार निषेध  
किया गया आलिंगनरूपी अन्य अर्थ का और विशेषता प्रतीति हुई, गमनरूपी अन्य अर्थ में ] ।  
[ वस्तुतः इम पद्यार्थ में गमनविधि के द्वारा प्रतिपादित गमननिषेध ही अभीष्ट अर्थ है ] यदि यहाँ  
क्षणालिंगनमात्र अभीष्ट होता तो गमन का विधान [ बाधित न होकर विधान रूप में ] ही अन्त  
तक प्रतीत = [ पर्यवसित ] होता, निषेध नहीं, और इस प्रकार वाक्य से जो अर्थ विवक्षित  
[ = अभीष्ट ] है वही अर्थ सर्वथा छूट जाएगा । और इसी कारण [ अलङ्काररत्नाकरकार को ]  
यह भी नहीं कहना चाहिए कि ‘उक्तविषय आक्षेप यहाँ भी होता है जहाँ विहित का निषेध होता  
है और यहाँ भी जहाँ निषेध अन्यत्र होता है और विशेषता की प्रतीति अन्यत्र ।

विमर्श—विमर्शिनी का यह अश रत्नाकर की सर्वस्वविरोधी मान्यताओं का उत्तर है ।  
रत्नाकर में शोभाकरमित्र ने ‘दूरप्रवासे०’ पद्य में उक्तविषय नामक आक्षेप का वस्तुनिषेध नामक  
भेद माना है । उनके अनुसार इस पद्य में क्षणालिंगन ही वक्ता का अभीष्ट अर्थ है । उसके निषेध से  
वे गमन में ‘आवश्यकत्व’ और ‘अपरिहार्यत्व’ इन विशेषताओं की प्रतीति मानते हैं । इस प्रकार  
शोभाकर के अनुसार निषेध आलिंगन का होने पर भी विशेषता की प्रतीति गमन में होती है ।  
सर्वस्वकार का सिद्धान्त है कि निषेध और विशेष दोनों एक ही वस्तु के होते हैं । रत्नाकर इसका  
उल्लेखपूर्वक खण्टन करते और इस पद्यार्थ के आधार पर कहते हैं—‘स्व चैवमादावालिङ्गनादनिषेध-  
प्यन्यविशेषप्रतीतेः’ ‘यस्यैव निषेधस्तस्यैव विशेष’ इत्याद्यसङ्गतम्, अव्यापकत्वात्’ ।—‘उक्त पद्य के  
अर्थ में निषेध आलिंगन का हो रहा है, और विशेषता गमन में प्रतीत हो रही है इस कारण

[ सर्वस्वकार का ] 'जिसका निषेध हो विशेषता भी उसी में प्रतीत हो' यह कथन असंगत है । यह आक्षेप के सभी भेदों को व्याप्त नहीं करता ।'

सर्वस्वकार ने कहा है 'विहित का निषेध नहीं होता' । रत्नाकरकार इसके भी विरोध में स्पष्ट-रूप से कहते हैं—'अत्रालिङ्गनस्य विहितस्यापि निषेधे आक्षेपसंभवाद् 'विहितस्य निषेधो नाक्षेप' इति न वाच्यम्' = अर्थात् इस पद्य में जो आलिङ्गन विहित है उसी का निषेध हुआ है । यहां आक्षेप संभव है तो [ सर्वस्वकार को ] 'विहित का निषेध आक्षेप नहीं होता' यह नहीं कहना चाहिए ।

विमर्शिनीकार इस पद्य में गमन का निषेध विवक्षित [या वक्ता को अभीष्ट] मानते हैं और उसी में अवश्यपरिहार्यत्व रूपी विशेषता की प्रतीति स्वीकार करते हैं । इस प्रकार उनके अनुसार यहाँ निषेध और विशेषता दोनों का आधार एक ही ठहरता है । इतने पर भी वे इस पद्य को आक्षेप का उदाहरण नहीं मानते, क्योंकि यहां न तो गमन का विधान ही कथित है और न उसका निषेध ही । दोनों विमर्शिनीकार के अनुसार शब्दशक्ति से भासित न होकर अर्थशक्ति से भासित होते हैं । गमन का विधान भासित होता है उसमें विलम्ब करने वाले आलिङ्गन के निषेध से व्यञ्जना द्वारा, और उसका निषेध भासित होता है लक्षणा द्वारा । रत्नाकरकार के अनुसार यदि गमन में प्रतीत होने वाली विशेषता थी अवश्य अपरिहार्यता तो विमर्शिनीकार के अनुसार उसके निषेध में प्रतीत होने वाली विशेषता हुई अवश्य परिहार्यता । फलतः निर्णयसागर संस्करण में रत्नाकर की ही पंक्ति के समान विमर्शिनी में भी जो 'अवश्यापरिहार्यत्व' छपा है वह सर्वथा विपरीत है ।

वस्तुतः 'दूरप्रवासे'० पद्य वाच्य आक्षेप का उदाहरण न होकर व्यंग्य आक्षेप का उदाहरण है । निषेध और विशेष दोनों जो यहां शब्द वाच्य न होकर व्यंग्य हैं । व्यंग्य होने पर भी यह ध्वनिरूप न होकर गुणीभूतव्यंग्यरूप है क्योंकि इसमें गमन शब्दतः कथित है । ध्वनित्व उसी व्यंग्य में संभव होता है जो किसी भी अंश में वाच्य न हो ।

विमर्शिनीकार के मत में एक विचित्र तथ्य यह है कि वे आक्षिप्त या व्यंग्य अर्थ में भी लक्षणा का उत्थान मानते हैं । गमन शब्द से गमनविधि का आक्षेप होता है, वह वक्ता को अभीष्ट नहीं है बतः उसका पर्यवसान निषेध में हो जाता है । विमर्शिनीकार इस पर्यवसान में कारण मानते हैं विपरीत लक्षणा । लक्षणा तो शब्द से कथित अतएव मुख्य या वाच्य अर्थ के बाध से उत्थान पाती है, वाच्य या मुख्य अर्थ से आने वाले अर्थ के बाध से नहीं ।

### विमर्शिनी

प्रसाश्येति वस्तुतो न, ब्रयामिति तत्कथनस्यैव निषेधः । सामान्यद्वारेणेति । भणिप्यामीति भणनसामान्यमाश्लिष्यैथर्थः । तच्च तत्तदपराधोदीरणपरमेवेति तस्य विशेषागूरकत्वम् । इष्टस्येति काकाञ्चिन्यायेन योज्यम् । अंशोक्ताविति सर्वं दुरन्तमिरयादिना । अंशान्तरस्येति त्रियते इत्यादेः । किमयवा हतजल्पितेनेति सामान्यरूपस्यैव निषेधः । एकमप्यस्य विभज्य स्वरूपं प्रतिपादयति—एवं चेत्यादिना । उपयुज्यत इति । एतच्चतुष्टयमन्तरेणाक्षेप एव न भवतीत्यर्थः । तदेवाह—तेनेत्यादिना । निषेधविधानाक्षेप इति संबन्धः । एतदुत्तरत्रापि योज्यम् । यद्वाहुः—

'विहितस्य निषेधेन न निषेधविधौ भवेत् ।

निषेधेन विधिर्यन्न तत्राक्षेपः प्रकीर्तितः ॥' इति ।

तत्र निषेधविधिर्यथा—

'एष क्षीरोद्गजन्मा कुमुदकुलपतिः सेयमाकाशगङ्गा

ब्राह्मं शीर्षं तदेतत्तद्वदमनिमिषं नेत्रमनेरगारम् ।

सैवा हालाह्वश्रीर्वलविततनवो नागराजास्त एते  
कङ्काल कालियारेरिदमपि तदलं भाषितैरौ नमस्ते ॥'

अत्रालमिति निषेधस्यैव विधिः । अतश्च न तस्यासत्यत्वम् । तद्भावाच्च न विधिपर्य-  
वसानमित्याद्येपोपयोगिन्याः सामप्रथा अभाव इति नायमशालंकारः । स हि चतुष्टय-  
संनिधावेव भवति । विहितनिषेधस्तु यथा—

'प्रह्वभ्यः शिवमस्तु वस्तु विततं किञ्चिद् वय प्रमूढे  
हे सन्तः शृणुनावधत्त च घृतो युष्मासु सेवाञ्जलिः ।  
षट्वा किं विनयोक्तिभिर्मम गिरां यद्यस्ति सूक्तामृतं  
माद्यन्ति स्वयमेव तासुमनसो याच्या परं दैन्यभूः ॥'

अत्र विहितानां विनयोक्तीनां निषेध इति विहितनिषेधः । पूर्ववद्वात्र नाचेपा-  
लंकारः । निषेधेन विधिस्तु ग्रन्थकृतैवोदाहृतः ।

प्रसादइत्य = प्रसाद का निषेध, वस्तुतः प्रसादरूपी वस्तु का नहीं, अपितु उसके ज्ञानम् =  
कहें इस प्रकार शब्द से कथित कथन का ही निषेध किया गया है । 'सामान्यद्वारेण = सामान्य  
द्वारा, सामान्यरूप से अर्थात् 'भगिन्यामि = कहूँगी' इस प्रकार शब्द से कथित कथन सामान्य को  
लेकर । और यह [ कथनसामान्य ] नायक के उन-उन अपराधों की ओर संकेत करने के लिए ही  
है, इसलिए वह विशेषता का व्यञ्जक है । इष्टइत्य = अभीष्ट इसका अन्वय कौप की [ एक ] आँसु  
का [ दोनों ] गोलकों के समान दोनों [ अंश और अंशान्तर ] में करना चाहिए । अंशोक्ती =  
अंशतः उक्ति = आंशिक कथन, अर्थात् 'सर्वं दुर्न्तम् = सभी दुखदायी' इत्यादि के द्वारा । 'अंशा-  
न्तरस्य = अन्य अंश का' 'अप्रियते = मर रहा है' इत्यादि का । 'किमथवा हतवृष्टिपतेन = अथवा  
इस व्यर्थ माषण से क्या' इस प्रकार सामान्यरूप से कथित का ही निषेध किया जा रहा है ।

इस प्रकार आक्षेप का विवेचन अलग-अलग भेदों में किया तब भी भेदों का प्रतिपादन पुनः  
करते हुए कहते हैं—'एवं च' इत्यादि । उपयुगवते = उपयोग होता है = अर्थ यह कि इन चार  
भेदों के बिना आक्षेप की निष्पत्ति ही नहीं हो पागी । इसी तथ्य को पुनः कहते हैं—'तेन = अतः  
इसलिए—'इत्यादि के द्वारा यहाँ इस प्रकार अन्वय करना चाहिए—'निषेधविधि आक्षेप नहीं है'  
इसी प्रकार परवर्ती वाक्य में भी—'विहितनिषेध आक्षेप नहीं है' । जैसा कि कहा गया है—  
'आक्षेप न तो विहित के निषेध में होता और न निषेध के विधान में, अपितु जहाँ निषेध से विधि  
का आक्षेप होता है वहाँ आक्षेप माना गया है ।'

इनमें से निषेध का विधान यथा—

'यद्द तो क्षीरमागर से उत्पन्न चन्द्रमा, यह आकाशगंगा, यह ब्रह्मा का सिर, यह अग्नि का  
निवासगृह निर्निषेध तीसरा नेत्र, यह वह हालाह्व की नील छटा, शरीर को घेरे हुए वे वे नाग-  
राज, यह वह कालियारि का कंकाल, अधिक कहने से क्या, भगवन् आपको 'मैं नमः' ।

यहाँ 'अलम् = अधिक कहने से क्या' इस प्रकार निषेध का ही विधान विवक्षित है । इसीलिए  
इस निषेध में असत्यता नहीं है । असत्यता न होने से उसका पर्यवसान विधि में नहीं  
होता । इस प्रकार यहाँ आक्षेपोपयोगी सामग्री ही नहीं है । फलन यहाँ यह [ आक्षेप ] अलंकार  
नहीं है । वह तो चारों अंगों के रहने पर ही होता है ।

विहित का निषेध यथा—

'ब्राह्मणों का कल्याण हो । हम अत्यन्त विस्तीर्ण वस्तु को संक्षेप में कहने जा रहे हैं । हे  
सत्पुरुषो ! आप सब इसे सुनें और समझें । आप की सेवा में हमारी यह अर्बलि है [ हम हाथ

जोड़ते हैं ]। अथवा वे विनयपूर्ण वचन कहने से क्या। यदि मेरी वाणी में थोड़ा-बहुत सुमापितरूपी अमृत होगा तो सुचेता जन स्वयं ही प्रसन्न होंगे। वाचना में तो दीनता रहती है।

यहां विनयोक्ति का विधान हो चुका है। तदनन्तर उनका निषेध किया गया है इस कारण यह विहितनिषेध हुआ। प्रथम उदाहरण के समान यहां भी आक्षेपालङ्कार नहीं है। निषेध से विधि का जो उदाहरण हो सकता है वह स्वयं ग्रन्थकार ने ही दे दिया है।

### विमर्शिनी

अत्र च निषेधः स्वयमनुपपद्यमानत्वाद्विश्राम्यन् स्वात्मानं विध्यर्थं समर्पयतीति 'परार्थं स्वसमर्पणम्' इत्येवंरूपलक्षणा मूलत्वमस्य सिद्धम् । यदुक्तमन्यत्र—

'यत्र स्वयमविभ्रान्तेः परार्थं स्वसमर्पणम् ।

कुर्वतेऽसौ स आक्षेपो निषेपस्यावभासनात् ॥ इति ।

निषेधविधौ विहितनिषेधे च पुनरभिधेयः । न पुनः 'स्वसिद्धये पराक्षेप' इत्येवं लक्षणा मूलत्वमत्र वाच्यम् । मुख्यार्थस्यैव विभ्रान्तेर्मुंघ्यार्थवाधाद्यभावात् । अतश्चाम्यैः

'स्वसिद्धये पराक्षेपः प्रतिषेधस्य यत्र हि ।

आक्षेपस्तत्र नैवेष्टः प्रतिषेधस्य भासनात् ॥'

इत्याद्युक्तमेवोक्तम् । यद्यपि लक्षणायां 'स्वसिद्धये पराक्षेपस्य प्रागभाव एव प्रागुक्ततथाप्येतरपक्षाश्रयेऽपि प्राच्यानामपर्यालोचिताभिधानमित्येवंपरमेतदुक्तम् । ननु च यद्येवं निषेधात्यासत्त्वाद् विधिपर्यवसाने आक्षेप उक्तस्तद्देव विधेर्निषेधपर्यवसाने को नामालङ्कार इत्याशङ्क्याह—विधिनेत्वादिना । अस्पृति आक्षेपस्य । शब्दसाम्यनिबन्धनं सामान्यभावमाश्रित्य चात्र प्रकारप्रकारभावः कल्पितो न तु वास्तवः । विधिनिषेधयोर्निषेधविध्यागूरकत्वाद्नयोः सामान्यलक्षणाशोभात् । ततश्चेति निषेधस्य विधिपर्यवसानात् ।

अस्य चालङ्कारान्तराश्रयाद् वेदलक्षण्यं दर्शयति—केवलमित्यादिना ।

इसमें निषेध अपने आप में बनता नहीं है बाधित हो जाता है अतः अपने आप को विधि अर्थ में समर्पित कर देता है। इस कारण यह 'दूसरे अर्थ के लिए अपना समर्पण' इस प्रकार की जो [ लक्षणलक्षणा या अद्वैत्वार्था नामक ] लक्षणा होती है तन्मूलक सिद्ध होता है। जैसा कि अन्यत्र कहा गया है—'जहां स्वयं में असिद्ध रहने से वाच्यार्थ अपना समर्पण दूसरे अर्थ की कर देता है उसे आक्षेप कहा जाता है क्योंकि उसमें निषेध का आमासमात्र होता है।' निषेधविधि या विहितनिषेध में आक्षेप अभिधेय होता है। इन स्थलों में उक्त 'अपनी सिद्धि के लिए अन्य अर्थ का आक्षेप'—इस प्रकार की [ उपादान ] लक्षणा से उसका ज्ञान नहीं होता। वहां [ उपादान लक्षणा में ] तो मुख्य अर्थ अन्त तक बना ही रहता है, अतः लक्षणा के लिए अपेक्षित मुख्यार्थ बाधादि सामग्री का अभाव रहता है। इसीलिए किन्हीं अन्य आचार्यों ने—

—'जहां निषेध अपनी सिद्धि के लिए दूसरे अर्थ का आक्षेप करता है, वहां आक्षेप नहीं होता, क्योंकि वहां तो निषेध का मान ही होता रहता है।'

—इत्यादि अमान्य बातें ही कही हैं। यद्यपि हमने [ उपादान लक्षणा नाम से केवल लक्षण का खण्डन करते हुए ] वाक्यार्थ द्वारा अपनी सिद्धि के लिए दूसरे अर्थ का आक्षेप हुआ करता ही नहीं यह अभी-अभी कहा है तथापि [ उपादान लक्षणा को न मानने वाले अतः हमारे ही पक्ष के ही होने पर भी ] एक आचार्य के मत का हमने अभी-अभी जो यह खण्डन किया है वह यह बतलाने के लिए कि यदि प्राचीन आचार्य यह [ उपादान लक्षणा का ] पक्ष भी अपनाएँ तब भी

उनका [ विहितनिषेध और निषेधविधि से समव आक्षेपालङ्कार के पक्ष का ] प्रतिपादन प्रश-  
पूर्ण नहीं होगा ।'

'यदि ऐसा है तो [ यह बतलाए कि ] निषेध के असत्य हो जाने से उसके विधि में पर्यवृत्ति  
होने पर जैसे आक्षेप बनलाया गया, वैसे ही विधि के निषेध में पर्यवृत्ति होने पर कौन सा अलंकार  
होगा' ऐसी शंका कर उत्तर देते हैं—'विधिना' इत्यादि के द्वारा । अर्थ—इसका आक्षेप का ।  
[ आक्षेप शब्द दोनों के लिए प्रयुक्त होता है । इस ] शब्दसाम्य के आधार पर निषेध  
सामान्य भाव को लेकर यहाँ प्रकारप्रकारिभाव की कल्पना की गई है, यह प्रकारप्रकारिभाव  
वास्तविक नहीं है । यह इसलिए कि विधि और निषेध से [ उनमें उलट ] निषेध और विधि का  
ज्ञान होता है, फलतः दोनों भेदों में कोई सामान्य लक्षण समव नहीं हो सकता । ततश्च—इसलिए  
अर्थात् निषेध का विधि में पर्यवृत्तान होने से ।

यह [ निषेध का विधि में पर्यवृत्तान ] अन्य अलंकारों में भी रहता है अतः उनसे अलग  
बनाने हैं—

### [ सर्वस्व ]

'केवलं चाल इति सुनरामपरित्याज्योऽस्मि, रक्षणीय इति भयद्भुजपञ्जरमेव  
रक्षास्थानम्' इत्यादावाक्षेपशुद्धिर्न कार्या, चालत्वादेवकस्य निषेध्यत्वेना-  
धिवक्षितत्वात् । प्रत्युतात्र चाल्यादिः परित्यागनिषेधकत्वेन प्रतीयते । तेन  
नायमाक्षेपः । कस्तर्ह्ययं विच्छित्तिप्रकारोऽलंकार इति चेत्, व्याघाताख्य-  
स्यालंकारस्यायं द्वितीयो भेदो वक्ष्यते ।

'तद्विष्टस्य निषेध्यत्वमाक्षेपोक्तेर्निबन्धनम् ।

सौकर्येणान्यकृतये न निषेधकता पुनः ॥'

इति पिण्डार्थः ।

इह तु—

'साहित्यपाथोनिधिमन्यनोत्थं कर्णामृतं रक्षत द्वे कवीन्द्राः ।

यदम्य दैत्या इव लुण्ठनाय कान्यार्थचौराः प्रगुणीभवन्ति ॥

शृङ्खन्तु सर्वे यदि वा यथेच्छं नास्ति क्षतिः कापि कवीश्वराणाम् ।

रत्नेषु लुप्तेषु बहुध्वमर्त्यैरद्यापि रत्नाकर एव सिन्धुः ॥' इति ।

तथा—

देया शिलापट्टकवाटमुद्रा श्रीखण्डशैलस्य दरीगृहेषु ।

वियोगिनीफण्टक एव वायुः कारागृहस्यास्तु चिरादमिशः ॥

वाणेन हत्वा मृगमस्य यात्रा निवार्यतां दक्षिणमारुतस्य ।

इत्यर्थनीयः शयराधिराजः श्रीखण्डपृथ्वीधरकन्दरस्थः ॥

यद्वा मृपा विष्टतु दैन्यमेतन्नेच्छन्ति वैरं मरुता किराताः ।

केलिप्रसङ्गे शयराङ्गनानां स हि स्मरग्लानिमपाकरोति ॥' इति

नाक्षेपबुद्धिः कार्या । विहितनिषेधो ह्ययम् । न चासाधाक्षेपः । निषेध-  
विधौ तस्य भाधादित्युक्तत्वात् । चमत्कारोऽप्यत्र निषेधहेतुक एवेति न  
तद्भावमात्रेणाक्षेपबुद्धिः कार्या ।

[ मालवराज पर आक्रमण करने जाते समय राज्यवर्धन से स्वयं को भी ले जाने के लिए  
हर्षवर्धन की उक्ति— ]

‘केवल दालक हूँ’ [ ऐसा समझकर न ले जा रहे हों ] तब तो और भी अपरित्याज्य [ साथ  
ले चलने योग्य ] हूँ, रक्षणीय हूँ [ ऐसा समझकर न ले जा रहे हों ] तब भी रक्षास्थान आपका  
मुजपंजर है ।’ [ —हर्षचरित उच्छ्वास-६, नि.सा. पृ० १८४ ]

इत्यादि स्थलों में आक्षेप नहीं समझ लेना चाहिए, क्योंकि वहाँ कथित बालत्वादि निषेधरूप  
से विवक्षित नहीं है । बालत्वादि तो उलटे, छोड़ जाने के निषेधक प्रतीत होते हैं । इसलिये [ यहाँ ]  
यह आक्षेप नहीं है [ प्रश्न ] तब कौन सा अलंकार है क्योंकि उक्ति तो वैशिष्ट्यपूर्ण है ? [ उत्तर ]  
आगे बतलाया जायगा कि यह व्याघात नामक अलंकार का दूसरा भेद है । इस प्रकार सार  
यह है कि—

[ अलंकार को ] आक्षेप कहने में कारण अमोष्ट अर्थ की निषेधता [ बनलाना ] है, न कि अन्य  
[ अप्रस्तुत ] कार्य के प्रति सौकर्य से अन्य [ प्रस्तुत ] कार्य के प्रति [ अन्य अप्रस्तुत कार्य में ]  
निषेधकता [ बतलाना ] । [ आगे कहे जा रहे ] इन पदों में भी आक्षेप नहीं समझ बैठना चाहिए—

‘हे कवीन्द्रो ! [ श्रव्यदृश्यात्मक काव्यरूपी ] साहित्य-समुद्र के मन्थन से निकले कर्णामृत  
[ इस महाकाव्यरूपी श्रव्यकाव्यविद्या ] की रखवाली रखो क्योंकि कान्यार्थचौर लोग इसे  
सूटने के लिये दैत्यों के समान समुद्यत रहते हैं ।’ ‘अथवा ऐसे जितने लोग हैं वे सब [ इसे ]  
चयेच्छ चुराते चलें [ इतसे ] जो कवीश्वर हैं उनकी कोई क्षति संभव नहीं है । देवताओं ने  
बहुत से रत्न निकाल लिए तथापि समुद्र अभी तक रत्नाकर ही है ।’

इसी प्रकार—

‘मलयगिरि की गुफागृहों में चट्टानों के किवाड़ बन्द कर देने चाहिए [ जिससे ] वियोगिनियों  
के लिए कौंटा बना यह [ मलय ]-पवन काफी देर तक कारागृह का मजा चखे ।’

‘मलयगिरि के श्वरपति से यह प्रार्थना करनी चाहिए कि इस दक्षिणापवन के  
[ वाहन ] मृग को वाग से मार डालो और इसे श्वर आने से रोक दो ।’

‘अथवा यह फिजूल को [ याचनागत ] दीनता रहे, किरात लोग वायु से बैर नहीं करना  
चाहते । केलिप्रसंग में श्वराज्ञानों की स्मरग्लानि को यही वायु जो दूर करता है ।’

यह तो विहितनिषेध है । यह आक्षेप नहीं है । क्योंकि यह कहा जा चुका है कि वह वहाँ  
होता है । जहाँ निषेध की विधि होती है । यहाँ चमत्कार भी निषेध से ही हो रहा है [ न कि  
निषेधजनित विधि से ] । इसलिये केवल आक्षेप से मिलती-जुलती स्थितिमात्र को देखकर  
[ जहाँ-कहाँ भी ] आक्षेप नहीं समझ बैठना चाहिए ।

### दिमर्शिनी

अत्र राज्यवर्धनोक्तौ बाह्यावादेहकारवम् । ओहर्षदेवोक्तौ तु निषेधाविवक्षा । प्रत्युतेति ।  
न केवलं बाह्याशत्रानिषेध्यत्वेन विवक्षितम्, यावदेतदेवान्यनिषेधकत्वेनापीत्यर्थः । तेनेति,  
बाल्यावादेर्निषेध्यत्वेनाविवक्षितत्वात् । वक्ष्यत इति, सौकर्येण कार्यविहता क्रिया चेत्यादिना ।

एतदेव सारार्थतया पिण्डीकृत्यापि प्रतिपादयति— तदिष्टस्येत्यादिना । अन्यकृतय इति निषेधार्थम् । अस्य च यथा विधिगुणेन प्रतीतिरतथा निषेधगुणेनेति सौकर्यम् । एवं च निषेधकतैवाक्षेपोक्षेन निषेधनमिति विहितनिषेधादायेतद्भ्रमो न विषेय इत्याह—इत्कित्यादि । तस्येश्याक्षेपस्य । तद्भावमात्रेणेति । केवलेनैव चमत्कारसद्भावेनेत्यर्थः ।

यदा राज्यवर्धन की उक्ति [ बाल, रक्षणाय इति ] में बालत्वादि उक्त है और श्री इष्यदेव की उक्ति [ सुतरामपरित्याज्योऽस्मि० ] में [ उनके ] निषेध की विवक्षा नहीं है ।

प्रार्युत = उलटे = अर्थ यह कि यहाँ बालत्वादि न केवल अविषेधरूप से विवक्षित है, अपि तु ये ही अन्य के निषेधक के रूप में भी विवक्षित हैं । तेन इत कारण - अर्थात् बालत्वादि के निषेधरूप से विवक्षित न होने के कारण । वचयते = कहा जायगा 'सौकर्येण कार्यविरहदा क्रिया च' इत्यादि के द्वारा हमी तथ्य को साररूप से बयोर कर प्रतिपादिग करते हुए लिखते हैं—'तदिष्टस्य' इत्यादि कारिका द्वारा । अन्यकृतये = अर्थात् निषेध के लिए । इसकी प्रतीति जैसे विधि के द्वारा होती है वैसे ही निषेध के द्वारा भी यही है सौकर्य । 'इम कारण केवल निषेधकता ही आक्षेप संज्ञा में कारण नहीं बनती, इसलिए विहितनिषेधादि में इसका भ्रम नहीं करना चाहिए—' इस तथ्य को बताते हुए लिखते हैं—'इह तु' इत्यादि । तस्य उक्ता = आक्षेप का । तद्भावमात्रेण = उसके भावमात्र से = चमत्कार के सद्भावमात्र से [ इसकी अपेक्षा हमारा अर्थ अधिक अच्छा है ] ।

### [ सर्वस्व ]

अयं चाक्षेपो ध्वन्यमानोऽपि भवति । यथा—

'गणिकासु विधेयो न विश्वासो चल्लभ त्वया ।

किं किं न कुर्वतेऽनर्थमिमा धनपरायणाः ॥'

अत्र हि गणिकाया उक्तौ तद्दोषोक्तिप्रस्तावे नाहं गणिकेति प्रतीयते । न चासौ निषेध एव । गणिकात्वेनावस्थितयैव गणिकात्वस्य निषेधात् । सोऽयं प्रम्वलद्रूपो निषेधाभासरूपो घञ्श्रया गणिकायाः शुद्धस्नेहनिबन्धनत्वेन धनविमुखत्वाद्दौ विशेष पर्यवस्यतीत्युक्तविषय आक्षेपध्वनिरयम् । न तु—

'स वक्तुमखिलाञ्शक्तो ह्यग्रीयाश्रितान् गुणान् ।

योऽभ्युक्तुम्भैः परिच्छेदं शान्तुं शक्तो महोदधेः ॥'

इत्याक्षेपध्वनावुदाहार्यम् । निषेधस्यैवात्र गम्यमानत्वात् । न निषेधाभासस्य । गुणानां वक्तुमशक्यत्व एवात्र तात्पर्यम् । तन्निमित्तक एवात्र चमत्कारो न निषेधाभासहेतुक इति नाक्षेपध्वनिधीरत्र कार्या । सर्वथेष्ट निषेधाभासस्य विध्युन्मुखस्याक्षेपत्वमिति स्थितम् ।

यह आक्षेप ध्वन्यमान भी होता है । यथा—

'मिथ ! तुम्हें गणिकाओं पर विश्वास नहीं करना चाहिए । धनपरायण वे क्या-क्या अनर्थ नहीं करती ।

—यह उक्ति गणिका है। इसमें स्वयं के दोष की बात कही जा रही है अतः प्रतीत होता है कि [ बोलनेवाली गणिका यह बतलाना चाहती है कि ] मैं गणिका नहीं हूँ। किन्तु यह निषेध ही हो ऐसा नहीं, क्योंकि यहाँ [ गणिका ने ] गणिकात्व को गणिकात्वरूप से रखते हुए ही उसका निषेध किया है, अतः इस निषेध का स्वरूप वाधित हो जाता है। इसलिए यह निषेधाभासरूप सिद्ध होता है और बोलने वाली जो गणिका है उसके शुद्धस्नेहमूलक धनविमुखता-रूपी वैशिष्ट्य में पर्यवसित हो जाता है। इसलिए यह उक्त विषय [ नामक ] आक्षेप की ध्वनि हुई। [ आनन्दवर्धनाचार्य को— ]

‘हयग्रीव के पूरे गुणों को गिनने में समर्थ वही हो सकता है जो महोदधि की शय्या पानी के थड़ों से जान सकता हो।’

—इस पथार्थ को आक्षेप का उदाहरण नहीं बतलाना चाहिए क्योंकि यहाँ निषेध ही गम्य है, निषेधाभास नहीं। गुणों की अवचनीयता में ही यहाँ तात्पर्य है। उली को लेकर यहाँ चमत्कार है न कि निषेधाभास को लेकर। इस कारण यहाँ आक्षेपध्वनि नहीं समझनी चाहिए।

इस प्रकार तब यह रहा कि ‘विधानोन्मुख इष्टनिषेधाभास ही सर्वथा आक्षेपरूप सिद्ध होता है।’

[ पण्डितराज ने इस पथ में ध्वनिकार का समर्थन और सर्वस्वकार का नामोल्लेखपूर्वक खण्डन किया है। उनका कहना है कि ‘निषेध का आभास ही आक्षेप नहीं है। इसलिए इस पथ में निषेधमात्र भी आक्षेप हो सकता है। इसके अतिरिक्त उन्होंने ध्वनिकार के आसत्त्व की भी इहार्थ देकर सर्वस्वकार का खण्डन करना चाहा है [ ३० रसगंगाधर आक्षेप प्रकरण ] वस्तुतः स्वयं ध्वनिकार ने आक्षेप का बही लक्षण स्वीकार किया है जो भामह और उद्भट ने प्रस्तुत किया है ‘विशेषणामिधानेच्छया प्रतिषेधः आक्षेपः’ [ ‘उद्योत० १ ] फलतः उन्हें निषेध की आभासात्मकता ही मान्य है। इस कारण पण्डितराज का सर्वस्वकार पर आक्रोश व्यक्त करना अदामात्र है ध्वनिकार के प्रति।

### विमर्शिनी

प्रतीयत इति गम्यते, नाहं गणिकेति निषेधस्य शब्दानुपात्तत्वाद् विशेषमात्रस्य गम्यत्वे आक्षेपालंकारो वाच्य एव, निषेधाभासस्यापि गम्यत्वे ध्वन्य इत्यनेन दर्शितम्। अन्यथा ह्यस्य ध्वन्यमानोदाहरणत्वमयुक्तं स्यात्। तस्यैहानुपक्रान्तत्वात्। इत्थं च निषेधाभासस्यैव गम्यत्वेऽयं ध्वन्यमानो भवति न निषेधमात्रस्यैवेति दर्शयितुमाह— नत्वित्यादि। अतश्च ध्वनिकृता यदेतदाक्षेपध्वनाजुदाहृतं तदयुक्तमेवेति भावः। एवं च अस्य यथोपपादितं स्वरूपमुपसंहारमद्रथापि प्रतिपादयति—सर्वथेत्यादिना। सर्वथेत्यनेन कुत्राप्यस्य व्यभिचारो नास्तीति दर्शितम्। एतदुपसंहारमभ्युदयतारयति—एवमित्यादिना।

प्रतीयते = प्रतीत होता है = गम्य = व्यंग्य होता है क्योंकि ‘मैं गणिका नहीं हूँ’ यह निषेध शब्दतः कथित नहीं है। ऐसा कहकर अन्यकार ने यह सिद्धान्त बतलाया कि ‘विशेषमात्र के गम्य होने पर आक्षेपालंकार वाच्य होता है और विशेष के साथ-साथ निषेधाभास भी गम्य हो तो [ गम्य और प्रधानरूप से गम्य अर्थात् ] ध्वन्य। यदि ऐसा सिद्धान्त न निकाला जाय तो इस [ आक्षेप ] की ध्वन्यमानता का उदाहरण देना ही ठीक नहीं होगा क्योंकि [ वाच्यालंकारों के लिए रचे जा रहे ] इस ग्रंथ में ध्वन्यमानता का कोई प्रसंग नहीं है। इसी प्रकार यह बतलाने



के लिए कि यह [ आक्षेप ] वहीं गम्य होना है जहाँ निषेधामास ही व्यंग्य हो, केवल निषेध नहीं लिखने हैं—न तु इत्यादि। इसका भाव यह हुआ कि ग्रन्थकार यह कहना चाहते हैं कि उक्त कारणों से ध्वनिकार ने [ स वक्तु ] इस पद्य को जो आक्षेपध्वनि का उदाहरण माना वह अमान्य ही है। इस प्रकार इस आक्षेप का अभी तक जो [ एक ] भेद प्रतिपादित किया उसका उपसंहार करने हुए भी अरना उक्त सिद्धान्त बगला देते हैं—‘सर्वथा’ इत्यादि लिखकर। सर्वथा कहकर यह दिखलाया कि इस सिद्धान्त या लक्षण का व्यभिचार कहीं नहीं होता।

अब इस भेद के विवेचन का उपसंहार करते हैं और अन्य भेद का उपक्रम करते हुए कहते हैं—

[ सर्वस्व ]

एवमिष्टनिषेधेनाक्षेपमुक्त्वा समानन्यायत्वाद्निष्टविधिनाक्षेपमाह—

[ सू० ४० ] अनिष्टविध्याभासश्च ।

यथेष्टस्येष्टत्वादेव निषेधोऽनुपपन्न एवमनिष्टस्याप्यनिष्टत्वादेव विधानं नोपपद्यते । तत् क्रियमाणं प्रस्त्रलद्रूपत्वाधिपेधे पर्ययस्यति । ततश्च विधिरूपकरणीभूतो निषेधे, इति विधिनायं निषेधोऽनिष्टविशेषपर्यवसायी निषेधागूरणादाक्षेपः । यथा—

‘गच्छ गच्छसि चेत् कान्त पन्थानः सन्तु ते शिवा ।

ममापि जन्म तत्रैव भूयाद् यत्र गतो भवान् ॥

अत्र कयाचित् कान्तस्य प्रस्थानमात्मनोऽनिष्टमप्यनिराकरणमुत्तेन विधीयते । न चास्य विधिर्युक्तः । अनिष्टत्वात् । सोऽयं प्रस्त्रलद्रूपत्वेन निषेधमागूरयति । फलं चात्रानिष्टस्य प्रस्थानस्यासंविज्ञानपदनिबन्धनमत्यन्तपरिहार्यत्वप्रतिपादनम् । इदं च ममापि जन्म तत्रैवेत्याशीःप्रतिपादनेनानिष्टपर्यवसायिना व्यञ्जितम् । यथा वा—

‘नो किञ्चित् कथनीयमस्ति सुभग प्रौढाः परं त्वाहशः

पन्थानः कुशला भवन्तु भवतः को माहशामाग्रहः ।

किं त्वेतत् कथयामि संतनरतङ्कान्तिच्छिद्रस्तास्त्वया

स्मर्तव्याः शिशिराः सहंनरुचयो गोदावरीधीचयः ॥’

अत्रानभिप्रेतमपि कान्तप्रस्थानं यदा प्रमुख एवाभ्युपगम्यमानं प्रतीयते, तदायमनिष्टविधिराभासमानमाक्षेपाङ्गम् । स्मर्तव्या इत्यनेन गमननिवृत्तिरेयोपोद्धलिता । तस्माद्यमपि प्रकार आक्षेपस्य समानन्यायतयाभिनवन्वेनोक्तः ।

इस प्रकार इष्ट के निषेध के द्वारा निष्पन्न आक्षेप का निर्वचन किया अब उसी प्रकार अनिष्ट की विधि से निष्पन्न आक्षेप का निर्वचन करते हैं—

[ सू० ४० ] तथा अनमीष्ट [ अप्राकरगिक ] के विधान का आभास [ भी ] ।

[ ६० ] जिस प्रकार इष्ट पदार्थ के इष्ट होने से ही उसका निषेध नहीं बनता इसी प्रकार अनमीष्ट पदार्थ के अनमीष्ट होने से ही उसका विधान भी नहीं बन पाता । वह यदि किया जाता है तो बाधित होकर निषेध में परिणत हो जाता है ।

फलतः यहां विधि-निषेध का साधन [ शापक हेतु ] है । इस प्रकार क्योंकि निषेध का ध्यान विधि से होता है अतः इस [निषेध] का फल होता है अनमीष्ट पदार्थ में वैशिष्ट्य का ध्यान कराना । [ इस प्रकार क्योंकि इस भेद में ] निषेध को ऊपर से लाया जाता है [ जिसे प्रथम दो भेदों के निर्वचन में आनन्दनरूप आगूरण कहा गया है ] फलतः [यह] आक्षेप कहलाता है [ और इसीलिए यह केवल वक्ष्यमाणविषय तथा आगूरणात्मक ही होता है ] । उदाहरण यथा—

‘कान्त ! यदि का ही रहे हो तो जाओ । तुम्हारे पथ मंगलमय हों । मेरा भी जन्म वहीं हो जाए जहाँ आप पहुँचे हुए हों ।’

यहां कित्ती नायिका द्वारा अपने प्रिय के प्रस्थान का जो उसे अभीष्ट नहीं है, निराकरण न कर विधान किया जा रहा है । किन्तु उसका विधान संभव नहीं है, क्योंकि वह अनमीष्ट है । ऐसा वह विधान बाधित हो जाता है और [ लक्षणा द्वारा ] निषेध का ध्यान कराता है । इस [ लक्षणा ] का फल [ प्रयोजन ] है यहां इस अनमीष्ट प्रस्थान की अर्त्तविज्ञान- [ अनभिधायक तथा वक्ता की विवक्षता और तन्मूलक तदस्थता के घोटक ]-पद [ चेत् = यदि ] के प्रयोग से प्रतीत अत्यन्त अपरिहार्यता का साधन । यह [ फल ] व्यञ्जनावृत्ति से प्रतीत होता है जिसमें [ उपयुक्त तदस्थता घोटक अर्त्तविज्ञान पदप्रयोग के अतिरिक्त ] अमंगल [ वृत्त्यु ] रूपी अर्थ देने वाली 'मेरा भी जन्म नहीं हो जाए' इत्यादि इच्छा [ भी एक ] कारण है ।

एक उदाहरण और—

‘कुछ कहना नहीं है सुभग ! तुम जैसे तो स्वयं ही काफी समझदार होते हैं । [ तुम्हारे ] पथ मंगलमय हों । तुमसे सुझ जैसी का आग्रह ही क्या हो सकता है ? तब भी इतना कष्टी हूँ कि तुम गोदावरी की वे निरन्तर मुरत से उत्पन्न थकावट हटाने वाली, पर्याप्त शीतल और हंस-संचार से सुन्दर तरंगों याद करते रहना ।’

--यहाँ आरम्भ में ही सही किन्तु जब प्रिय का प्रस्थान अनमीष्ट होने पर भी स्वीकार किया जा रहा प्रतीत होता है तब तक तो यह अनमीष्ट विधान ठहरता है, किन्तु बाद में कारण [ वंग ] बन जाता है आक्षेप का, क्योंकि [ तब यह वास्तविक न ठहर कर ] अभासात्मक ठहरता है । [ ऐसा इसलिए भी कि यहाँ ] ‘स्मर्त्तव्याः = याद किया करना’ इस कथन के द्वारा गमननिवृत्ति पर ही बल दिया गया है । इसी कारण [ अभिव्यक्ति के ] इस प्रकार को भी स्थितिसाम्य के आधार पर आक्षेप का एक नया प्रकार बतलाया है ।

### विमर्शिनी

समानन्यायत्वव्यति । यथात्रेष्टस्य निषेधो बाधितत्वाद् विधौ पर्यवस्यति तथैवेहाप्यनिष्टस्य विधिनिषेधे इत्येवंरूपात् । पृथमेतावन्माश्रमस्याग्रस्य चाज्ञेपस्य साजाप्यम् , न पुनः सामान्यलक्षणसंभव इति भावः । तदेवाह—अनिष्टत्वादि । एतदेव दृष्टान्तद्वारकं व्याघटे—यथेत्यादिना । तदिति विधानम् । प्रसङ्गकद्रूपत्वादिति स्वार्थवाधात् । पर्यवस्यतीति । स्वात्मसमर्पणेन निषेधं लक्षयतीत्यर्थः । ततश्चेति । विधेनिषेधलक्षणात् । उपकरणभूत इति । स्वार्थवाधादुपसर्जनीभूत इत्यर्थः । अनिष्टविशेषेति, अनेन प्रयोजनमत्रोक्तम् । अन्यथा हि गजज्ञानतुल्यत्वं स्यात् । निषेधागूणादिति निषेधस्यात्र लक्ष्यमाणात्वात् । सर्वत्रैव हि लक्षणायां लाक्षणिकेनैव लक्ष्योऽर्थ आगूर्यते । तस्मात्तत्प्रतिपत्तेः ।

समानन्यायत्वात्—उसी प्रकार अर्थात् जिस प्रकार अमीष्ट पदार्थ का निषेध बाधित होकर विधि में पर्यवसित होता है उसी प्रकार इस भेद में भी अनमीष्ट की विधि निषेध में पर्यवसित होती है। भाव यह कि हम और इसके पूर्व प्रतिपादित आक्षेप में इतनी सजातीयता भर है, इनमें कोई सामान्य लक्ष्य समझ नहीं है। उसी को [ सूत्र के द्वारा ] कहते हैं—अनिष्ट इत्यादि। इसी को इधान्त के द्वारा स्पष्ट करते हैं—‘यथा’-इत्यादि के द्वारा। तत्र-वह अर्थात् विधान। प्रस्खलद्रूपत्वात्। अर्थात् स्वार्थ का बाध हो जाने से। पर्यवस्यति = पर्यवसित होता है अर्थात् अपना समर्पण करके निषेध को लक्षणा द्वारा बतलाया है। ततश्च = इस कारण = विधि से निषेध की लक्षणा द्वारा प्रतीत होने के कारण। उपकरणभूतः = उपकरण = हेतु बना हुआ अर्थात् स्वार्थ का बाध हो जाने से अप्रधान बना हुआ। अनिष्ट विशेष = इसके द्वारा लक्षणा का प्रयोजन बतलाया गया। अन्यथा गजस्नान के समान लक्षणा का होना न होना बराबर हो जाता [ हाथी नहाने के बाद अपने ऊपर घूल उछाल लेता है अतः उसका नहाना न नहाना बराबर हो जाता है ] निषेधागूरणात् = निषेध को लक्षणा के द्वारा लाया जाता है। लक्षणा में सर्वत्र लाक्षणिक शब्द के द्वारा ही लक्ष्य अर्थ लाया जाता है क्योंकि उस [ लक्ष्य ] की प्रतीति उसी [ लाक्षणिक ] से होती है।

विमर्श—अलङ्काररत्नाकरकार ने आक्षेप के इस भेद को विध्यामास नाम दिया है और सर्वस्वकार के खण्डन में लिखा है—

[ सू० ] अनिष्टविधान विध्यामास, [ वृ० ] ०००० । न चायमाक्षेपस्य भेद इति वाच्यम् आक्षेपपदार्थस्य पर्यनुयोगस्याभावात् । विधिना निषेधरयोपादानरूपाद्राक्षेपत्वे कथ्यमाने व्याज-स्तुत्यादावपि आक्षेपभेदत्वप्रसङ्ग, तथापि निन्दादिना स्तुत्यादाक्षेपसंभवात् । १०० । तेनालङ्कारान्तरमेव । ‘आक्षिप्यतेऽत्र विधिना न यतो निषेधः स्वार्थे विधावपि न पर्यनुयोगबुद्धिः’ ।

तस्मादनिष्टविधिरेष विलक्षणत्वात्त्राक्षेपमध्यपरितोऽपि तु भिन्न एव ॥ इति सप्रह. ।

—अनमीष्ट का विधान विध्यामास [ कहलाता है ], ००० । यह आक्षेप का [ ही एक ] भेद है ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि यहाँ आक्षेप शब्द का जो अर्थ है—पर्यनुयोग [ इससे क्या लाभ, किमर्थकता रूप ], वह नहीं है। यदि विधि से निषेध के उपादान आदि को आक्षेप कहा जाय तो व्याजस्तुति आदि भी आक्षेप के ही भेद कहे जाने लगेंगे क्योंकि उनमें भी निन्दा आदि के द्वारा स्तुति आदि का आक्षेप [ उपादान ] होता है। ००००० । इसलिये यह एक भिन्न ही अलङ्कार है। संक्षेप में ‘इस [ अनिष्टविधानरूपी विध्यामास नामक अलङ्कार ] में न तो विधि से निषेध का आक्षेप होता और न विधि में ही स्वार्थ के प्रति पर्यनुयोग [ किमर्थकता ] की बुद्धि होती। इस कारण अनमीष्ट का यह विधान विलक्षण होने से आक्षेप में अन्तर्भूत नहीं होता। यह सर्वथा भिन्न है ।’

विमर्शिनीकार हम खण्डन का खण्डन करने और कहते हैं—

### विमर्शिनी

तच्चार्थान्तरागूरणं ‘स्वसिद्धये पराक्षेप’ इत्येवं लक्षणाप्रकारस्य पूर्वं निरस्तत्वात् स्वात्मसमर्पणेनैव भवतीति यथोक्तमेव युक्तम् । अत एवास्यान्वर्थाभिधत्त्वम् । पर्यनुयोग वशादागूरणमपि शाक्षेपशब्दस्यार्थः । व्याजस्तुत्यादाौ तु व्याजेन स्तुतेर्विवक्षितत्वात् तत्र तत्रमेव युक्तं नापेक्षत्वं । ‘इह हि प्रधानेन व्यपदेशा भवन्ति’ इति न्यायाद् यदेव यत्र

प्रधानतया विवक्ष्यते तदेव तत्र स्थपदेशनिमित्तम् । न तु प्रज्ञातिशयवतां 'प्राज्ञा वस्तुनि युध्यन्ति न तु सामयिके ध्वनौ' इति नीत्या नाम्नि विवादो युक्तः । तस्मात्

'आक्षिप्यतेऽत्र विधिना न यतो निषेधः स्वार्थो विधावपि न पर्यनुयोगबुद्धिः ।

तस्मादनिष्टविधिरेव विलङ्घनत्वाच्चाक्षेपमध्यपतितोऽपि तु भिन्न एव ॥'

इत्यादि न वाच्यम् । अनिराकरणमुखेनेति । प्रवृत्तक्रियत्वात् कान्तस्यानुमोदनात् । ननु विधिमुखेनास्य किमागूरणं स्वयं निषेध एव क्रियतामि'याशङ्क्याह—फलमित्यादि । एतच्चेति विधेर्निषेधागूरकत्वम् । यथा वेत्यनेनास्य लक्ष्ये प्राचुर्यं दर्शितम् । प्रमुख एवेति । न पुनः पर्यवसान इत्यर्थः । एतदेवोपसंहरति—तस्मादित्यादिना । अभिनवत्वेनेति दण्डवाद्यपेक्षया । तेन ह्यसौ

'ह्याशीर्वचनाक्षेपो यदाशीर्वादवर्त्मना ।

स्वावस्थां सूचयन्त्यैवं प्रिययात्रा निषिध्यते ॥'

इत्युक्तेरसंभवतापि लक्षणैर्न लक्षितः । न पुनर्ग्रन्थकृत्युपज्ञत्वेनेतद्व्याख्येयम् । 'विधि-निषेधाभ्यां प्रतिषेधविध्युक्तिराक्षेपः' इतीहमेव हि श्रीभोजदेवेनाप्यस्य लक्षणं कृतम् ।

और जो यह अन्य अर्थ का लक्षणा द्वारा लाया जाना है यह वाक्यार्थ के समर्पण के [ अर्थात् लक्षणलक्षणा के ] द्वारा ही संभव होता है, न कि 'अपनी सिद्धि के लिए दूसरे के आक्षेप [ अर्थात् उपादानलक्षणा ]' के द्वारा, क्योंकि लक्षणा के इस [ उपादान नामक ] भेद का निराकरण किया जा चुका है, अतः [ सर्वस्वकार ने ] जो कहा है वही ठीक है इसीलिए [ अलंकार का आक्षेप यह ] नाम भी सार्थक ठहरता है क्योंकि आक्षेप शब्द का अर्थ [ पूर्वोक्त ] पर्यनुयोग के कारण आगूरण [ अन्य अर्थ का लक्षणा द्वारा लाया जाना ] भी है । व्याजस्तुति आदि में व्याज से स्तुति का किया जाना अभीष्ट रहता है अतः उसमें भी तद्रूपता [ लक्षणलक्षणाजन्य ऐक्य ] ही मानना ठीक है [ भिन्न रहकर अन्य अर्थ की ] अपेक्षा करना नहीं । जहाँ तक नाम का सम्बन्ध है वह जहाँ जो भेद प्रधान होता है उसी के नाम पर पड़ता है । कहा भी जाता है 'नाम प्रधान का लिया जाता है' । सच यह है कि समस्त के धनी लोगों को नाम पर विवाद नहीं करना चाहिए, जैसा कि कहा जाता है—'प्राज्ञ जग पदार्थ पर लड़ते हैं [ समय = शास्त्र, सामयिक = ] शास्त्रीय [ ध्वनि ] शब्द [ नाम ] पर नहीं । इसलिये [ पूर्वोक्त ] 'आक्षिप्यते' इत्यादि कहना ठीक नहीं है ।

अनिराकरणमुखेन = निराकरण न कर अर्थात् कान्त जा ही रहा था अतः उसका अनुमोदन कर । प्रखलद्रूपत्वेन = स्वार्थ के बाधित हो जाने से । आगूरयति = दूसरे अर्थ को लाता है अर्थात् अपने अर्थ का उसे समर्पण [ सर्वथा त्याग ] कर । [ शंका ] 'इस प्रकार विधान के द्वारा निषेध का आगूरण क्यों, स्वयं निषेध ही कर दिया जाना चाहिए'—ऐसी आशंका कर कहते हैं = फलम् इत्यादि । एतच्च = विधान में निषेध का जो आगूरकत्व है वह । यथा चा इस उदाहरणान्तर के द्वारा यह बतलावा कि यह द्वितीय भेद भी काव्यों में खूब मिलता है । प्रमुख एव = आरम्भ में ही अर्थात् अन्त में नहीं । अब इस भेद का उपसंहार करते हैं—तस्मात् इत्यादि के द्वारा । अभिनवत्वेन = नवीन प्रकार अर्थात् दण्डी आदि के मत में । दण्डी ने [ काव्यादर्श में २।१४२ पद्य के रूप में गच्छ गच्छसि० पद्य देकर ] इस आक्षेप का—'यह आक्षेप आशीर्वचनाक्षेप है क्योंकि इसमें आशीर्वाद के माध्यम से अपनी अवस्था की सूचना दे रही प्रिया द्वारा प्रिययात्रा का निषेध किया जा रहा है'—[ काव्यादर्श २।१४२ ] इस प्रकार लक्षण बनाया था जो वस्तुतः संभव नहीं है । इस [ अभिनवत्व ] की व्याख्या यह नहीं करनी चाहिए कि इस आक्षेप को पहले-पहल ग्रन्थकार [ सर्वस्वकार ] ने ही प्रस्तुत किया है । ठीक ऐसा ही लक्षण भोजदेव ने भी विधि या निषेध से निषेध या विधि की उक्ति आक्षेप—इस प्रकार बनाया है । [ भोज की मूलकारिका इस प्रकार है—

‘विधिनाथ निषेधेन प्रतिषेधोक्तिरत्र या ।

शुद्धा मिश्रा च साक्षेपः ॥ सरस्वतीकण्ठामरण, ४।६४ ॥

इसमें विधि और निषेध दोनों से केवल निषेध की ही उक्ति को आशेष कहा गया है, विधि की उक्ति को नहीं। भोज ने भी उदाहरण के रूप में ‘गच्छ०’ पद्य दिया है।]

विमर्ग—दृतिहास—[ १ ] प्रथम आधेराजकार एक स्पष्ट अलंकार है। इसका स्वरूप भामह—पद्ले पद्ले भामह ने ही स्पष्ट कर दिया है। उनका आशेष लक्षण इस प्रकार है—

‘प्रतिषेध इवेष्टस्य यो विशेषाभिहित्तया ।

आशेष इति त सन्त दसन्ति द्विविधम्०० ॥ २।६८

—वैशिष्ट्यप्रतिपादन के लिए अमीष्टपदार्थ का जो निषेध जैसा किया जाता है उसे विद्वज्जन आशेष कहते हैं। वह दो प्रकार का होता है। भामह ने इन दोनों प्रकारों के जो नाम दिए थे परवर्ती आचार्य उन्हें ही दुहराने गए हैं। ये नाम हैं वक्ष्यमाणविषय तथा उक्तविषय। इन पर भामह की कारिका विमर्शिनीकार ने इन अलंकार के विवेचन के आरम्भ में ही उद्धृत कर दी है—‘वक्ष्यमाणोक्तविषयरनप्राशेपो द्विधा मन । २।६७।

दण्डी—दण्डी ने आशेष को प्रतिषेधोक्ति कहा है—

‘प्रतिषेधोक्तिराशेषः ।’ २।१२० ।

प्रतिषेधोक्ति का अर्थ उनके उदाहरणों से ‘किन्ती भी वस्तु का निषेध कथन’ निकलता है। इस निषेध का न तो आमासात्मक ही होना आवश्यक है और न निषेध्य वस्तु में विशेषता का ज्ञान। यह तथ्य निम्नलिखित एक उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है—

‘कुतः कुवलय कर्णे करोपि कलमापिणि ।

किमपाङ्गमपर्याप्तमरिमन् कर्मणि मन्यसे ॥ २।१-३ ॥

कलमापिणि ! कान में नीलकमल [ का कर्णपूर ] क्यों पहन रही हो? क्या अपने अपाङ्ग [ नेत्र ] को इस कार्य में अपर्याप्त मानती हो!’ इस पर स्पष्टीकरण देते हुए दण्डी ने स्वयं लिखा—

‘स वर्तमानाशेषोऽयं कुर्वत्येवास्तिनोत्पलम् ।

कर्णे काचित् प्रियेणैव चाटुकारेण कथ्यते ॥ २।-४ ।

—इसमें, कान में नीलोत्पल पहन रही कोई उसके चाटुकार प्रिय के द्वारा रोकी जा रही है, अतः यह आशेष है।’

स्पष्ट है कि इस आशेष में न तो निषेध आमासात्मक है और निषेध्य नीलोत्पल में ही कोई विशेषता का ज्ञान होता। हाँ नीलोत्पल की अपेक्षा सुन्दरी के नेत्रों में अदृश्य विशेषता प्रतीत होती है।

भामह में आशेष की कालजनिन विशेषताएँ दो ही थीं, वक्ष्यमाणविषय में भविष्यद्विषय-कता और उक्तविषय में भूतविषयकता दण्डी ने इन दोनों के अतिरिक्त वर्त्तमानविषयता को भी स्वीकार किया है। इसका उदाहरण ऊपर दिया पद्य ही दिया है। उसमें पहने जा रहे नीलोत्पल का निषेध है, अतः उसे वर्त्तमानाशेष कहा है।

दण्डी ने इन प्रकार के बीबीस आशेष गिनाए हैं और इनकी सख्या आशेष्य वस्तु की सख्या पर निर्भर बतलाकर अनन्त बतला दी है। किन्तु जो बीबीस उदाहरण दिए हैं उनमें ऐसा एक भी उदाहरण नहीं है जिसमें भामहोक्त आशेष के ममान किसी कहीं हुई अथवा कहने के लिए उपक्रान्त वस्तु को न कहने की भंगिमा आई हो।

इस प्रकार दण्डी का आक्षेप केवल निषेधोक्तिमात्र है। फलतः इसका अन्तर्भाव प्रतीप, व्यतिरेक आदि अन्य अलंकारों में हो जाता है।

वामन—वामन ने आक्षेप को उपमानोपमेयभाव तक सीमित रखा है। उन्होंने इसके भी दो भेद किए हैं एक उपमान की निरर्थकता से जनित प्रतिषेधरूप आक्षेप और दूसरा उपमान की आर्था प्रतीति से जनित आक्षेप। इनमें से प्रथम भेद में आक्षेप शब्द का अर्थ होगा अभिषेप। यह तथ्य दिये उदाहरण से स्पष्ट है। उदाहरण है—

‘तस्याश्चेन्मुखमस्ति सौम्यसुभगं किं पावणेनेन्दुना’।

—यदि उस सुन्दरी का सौम्य सुभग मुख है तो फिर पूर्णिमा के चन्द्र से क्या ?

दूसरे का उदाहरण समासोक्ति में सर्वस्वकार द्वारा उद्धृत ‘ऐन्द्रं धनुः’<sup>१०</sup> पद्य है। इसमें शरद् ऋतु, चन्द्रमा और रवि के उपमान क्रमशः वेद्या, नायक तथा प्रतिनायक का ज्ञान ऊपर से होता है।

स्पष्ट ही वामन का प्रथम आक्षेप प्रतीप में तथा द्वितीय समासोक्ति में अन्तर्भूत हो जाता है। यहाँ यह ध्यान देने योग्य तथ्य है कि दण्डी का उपर्युक्त वर्तमानाक्षेप तथा वामन का उपमानाक्षेपरूप प्रथम आक्षेप सर्वथा अभिन्न हैं। द्वितीय आक्षेप में भी बहुचर्चित आगूरण की स्थिति है यद्यपि यहाँ आगूरण का विमर्शिनोकाराभिमत लक्षणरूपी अर्थ नहीं हो सकता।

वामन का मूलभूत सूत्र है—‘उपमानाक्षेपश्चाक्षेपः।’<sup>१</sup> उन्हीं की वृत्ति में इसके अर्थ हैं—  
( १ ) उपमानस्याक्षेपः प्रतिषेधः। तुल्यकार्यार्थस्य नैरर्थक्यविनशायामाक्षेपः। ( २ ) उपमानस्याक्षेपः, आक्षेपतः प्रतिपत्तिरित्यपि सूत्रार्थः।

उद्भट—उद्भट ने आक्षेप का पूरा लक्षण भामह से ले लिया है। उन्होंने भेद भी भामह के शब्दों में ही प्रस्तुत किए हैं—

‘प्रतिषेध इवेष्टस्य वो विशेषाभिहितया।

आक्षेप इति न सन्तः अंसन्ति कवयः सदा ॥ २।२ ॥

वक्ष्यमाणोक्तविषयः स च द्विविध इष्यते।

निषेधेनेव तद्वन्धो विधेयस्य च कीर्तितः ॥ २।३ ॥

—‘विशेषता बतलाने के लिए अभीष्ट अर्थ का जो निषेधाभास उसे विद्वान् कवि आक्षेप कहते हैं। वह दो प्रकार का माना जाता है वक्ष्यमाणविषय तथा उक्तविषय। दूसरे शब्दों में उस [ आक्षेप ] का निर्माण विधेय के निषेधाभास से भी बतलाया गया है ॥ २।२, ३ ॥

रुद्रट—रुद्रट का आक्षेप कथनाक्षेप है। इसे दूसरे शब्दों में उक्तविषय भी कह सकते हैं। आक्षेप का अर्थ निषेध ही है। रुद्रट ने इसके कारण दो बतलाए हैं प्रसिद्धि और विपरीतता। रुद्रट के अनुसार आक्षेप केवल प्रतिषेध तक सीमित नहीं है। उसमें निषेध का दृष्टान्त द्वारा प्रमाणित किया जाना भी अपेक्षित है। इस प्रकार रुद्रट के अनुसार आक्षेप के दो भाग हैं एक कथननिषेध और दूसरा उसकी पुष्टि में तत्समान पदार्थ का उपन्यास। लक्षण है—

‘वस्तु प्रसिद्धमिति यद् विरुद्धमिति वास्य वचनमाक्षिप्य।

अन्यद् तथात्वसिद्धयै वन्न ज्ञ्याद् स आक्षेपः ॥ ८।८९ ॥

—वस्तु के प्रसिद्ध होने या विरुद्ध होने के कारण उसका कथन रोककर, उसकी प्रसिद्धता या विरुद्धता की सिद्धि लिए के अन्य किसी पदार्थ का कथन आक्षेप, उदाहरण—

( १ ) ‘जनयति संतापमसौ चन्द्रकला कोमलापि मे चित्रम्।

अथवा किमत्र चित्रं दहति हिमानी हि भूमिरुहः ॥ ८।९० ॥

—कोमल होते हुए भी यह चन्द्रकला मुझे सजाप दे रही है, यह आश्चर्य की बात है। अथवा इसमें क्या आश्चर्य। पाला पेड़ों को जला देता है।'

( २ ) 'तत्र रागयामि गुणान्दमलमयवासत्पलापिनीं धिक्माम् ।

क खनु कुम्भैरम्भो मातुमल जलनिधेरसिलम् ॥ ८।१२ ॥

—मैं तुम्हारे गुण गिनती रहनी हूँ। नहीं, नहीं में उल्टा बोल बैठो, मुझे धिक्कार है। ऐसा कौन होगा जो घड़े भर-भरकर समुद्र का पूरा पानी नाप सके।'

इन दोनों में से प्रथम में पाठ और पेठ का उदाहरण देकर आश्चर्य में प्रसिद्धता सिद्ध की गई है और तत्प्रयुक्त अकथनीयता की। द्वितीय में गुणगणना में अनुचितत्व या विपरीयता प्रतिपादित कर उसकी अकथनीयता बतलाई गई है।

उक्त प्रतिपादन से स्पष्ट है कि कथनाश्लेष की आश्लेष का रूप पहले पहल रुद्रट से मिला है। सर्वस्वकार ने इसको प्रेरणा रुद्रट से ही पाई होगी। रुद्रट के प्रतिपादन में दोष यह है कि उन्होंने आश्लेष शब्द का अर्थ नहीं दिया। किन्तु प्राचीन आचार्यों ने आश्लेष का प्रतिषेध या निषेध नाम से जो अर्थ किया था रुद्रट को वही मान्य है। वामन ने जो अधिश्लेष अर्थ किया था रुद्रट के उक्त विवेचन से वह उन्हें मान्य प्रतीत नहीं होता।

रुद्रट ने आश्लेष के वक्ष्यमाणविषय तथा उक्तविषय नाम से भेद नहीं किए, किन्तु लगता है कि उन्हें वक्ष्यमाणविषय भेद सर्वथा अमान्य है यद्यपि उसका उन्होंने उलटन नहीं किया है। इसी प्रकार उक्तविषय उन्हें मान्य है यद्यपि उसका भी उन्होंने नामोल्लेख नहीं किया है।

सर्वथा रुद्रट का आश्लेष पूर्ववर्ती आचार्यों से गृहीत न होकर स्वतः कश्चिन् प्रतीत होता है।

मम्मट—मम्मट का आश्लेष भामह के आश्लेष से उद्भूत के ही आश्लेष के समान सर्वथा अभिन्न है। उन्होंने उद्भूत के समान भामह की कारिका उद्धृत कर दी है किन्तु उसका अनावश्यक अंश हटा दिया है—

'प्रतिषेध इवेष्टस्य यो विशेषाभिधिरसया ।

वक्ष्यमाणोक्तविषय. स आश्लेषो दिधा मतः ॥'

अर्थ स्पष्ट है। इस कारिका का यही रूप भामह के नाम से लोचन में उद्धृत आश्लेषकारिका में भी मिलता है। यदि इस कारिका को काव्यप्रकाश के संस्कार पर परवर्ती पण्डितों ने सुधारा नहीं है तो कारिका के परिष्कार का श्रेय मम्मट को नहीं अभिनवगुप्त को ही है [ द्रव्य लोचन प्रथम उद्योत ]।

[ २ ] द्वितीय आश्लेष की उद्भावना प्रथमतः दण्डी में ही मिलती है। भोज में दण्डी का ही अनुकरण है। दोनों आचार्यों के मत ऊपर दिए जा चुके हैं।

उपयुक्त इतिहास से स्पष्ट है कि प्रथम आश्लेष के विषय में सर्वस्वकार के पहले तक निम्न-लिखित तीन मत बन चुके थे—

१—विशेषाभिधान के लिए हृष्टप्रतिषेधाभास। इसके प्रवर्तक हैं भामह और अनुयायी हैं उद्भूत, रुद्रट, आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त तथा मम्मट।

२—केवल प्रतिषेधोक्ति। इसके प्रवर्तक हैं दण्डी और अनुयायी भोजदेव। तथा—

३—उपमानाश्लेष। इसके प्रवर्तक हैं वामन और अनुयायी कोई नहीं।

इन मनों में से तृतीय मत के आश्लेष का स्वतन्त्र अस्तित्व सिद्ध नहीं होता। इसका प्रथम भेद प्रतीप और द्वितीय भेद समासोक्ति में अन्तर्भूत हो जाता है। अभिनवगुप्त ने वामन का मत उद्धृत

कर 'दिन्द्रं धनुः' पद्य में आक्षेप को समासोक्ति से अभिन्न ही बतलाया है। कहा है 'यथा तु समासोक्तिरेव' [ ध्वन्यालोकलोचन उद्योत—१ ] प्रथम भेद का उदाहरण उन्होंने बदल दिया है और उसका प्रतीप में अन्तर्भाव नहीं दिखलाया है तथापि यह अन्तर्भाव तर्कशुद्ध है। आगे होने वाले प्रतीप के विवेचन से यह तथ्य स्वयं ही स्पष्ट हो जाएगा। पण्डितराज जगन्नाथ ने सर्वस्वकार का मत स्पष्ट करते हुए उपमान के आक्षेप को प्रतीप का भेद बतलाया भी है। अलंकार-कौस्तुभकार ने भी इसे काव्यप्रकाशकारादि के अनुसार प्रतीप ही बतलाया है। इस प्रकार वामन का आक्षेपमत निरस्त हो जाने पर दो ही मत शेष बचते हैं।

प्रथम दो मतों में से द्वितीय मत में आक्षेप का लक्षण अपूर्ण है। एक तो उसमें विशेषाभिधानेच्छा को स्थान देना आवश्यक है। क्योंकि 'गच्छ गच्छसि'—पद्य में भी विशेष का अस्तित्व है ही। दण्डी ने इसमें भी आशीर्वचनाक्षेप माना है। दूसरे आशीर्वचनाक्षेप में आक्षेप का अर्थ यदि निषेध हो तो लक्षण में एकमात्र व्यंग्यदशा का ही समावेश रहता है, बाध्यदशा के लिए पुनः कोई निर्वचन अपेक्षित रहता है। इसीलिए सर्वस्वकार ने 'अनिष्टविध्याभास' को लक्षण माना है। उक्त आशीर्वचनाक्षेप में बाध्य विध्याभास ही है।

दण्डी के लक्षण के ही अनुसार मामह के लक्षण में भी एकाङ्गिता चली आती है। यदि रत्नाकर के अनुसार द्वितीय आक्षेप को स्वतन्त्र अलंकार मान लिया जाय तो मामह का आक्षेप-लक्षण निर्दोष अवश्य रह सकता है किन्तु यदि सर्वस्वकार और विमर्शनीकार के अनुसार उसे आक्षेप का ही एक अन्य रूप मान लिया जाता है तो इस द्वितीय रूप के समावेश के लिए मामह के लक्षण में संशोधन या संवर्धन की आवश्यकता आ पड़ती है। उन्होंने तो केवल प्रतिषेधाभास को ही लक्षण में स्थान दिया है।

सर्वस्वकार ने इन दोनों मतों को आदर देना चाहा किन्तु वे दोनों में अन्वित होने योग्य कोई एक लक्षण नहीं बना सके। दोनों को अलग-अलग ही रखना ही तो रत्नाकर का दोनों को दो स्वतन्त्र अलंकार मान लेना क्या बुरा है। परवर्ती अप्ययदीक्षित और पण्डितराज ने भी इन दोनों मतों का कोई समन्वित लक्षण नहीं दिया है। पण्डितराज ने जहाँ प्रत्येक अलंकार का एक त्वान्मित स्वतन्त्र लक्षण दिया है वहाँ वे आक्षेप के लिए विभिन्न मतों को उपस्थित कर संतुष्ट हो गए हैं। पण्डितराज का निषेधमात्रमाक्षेपः' कथन सामान्य लक्षण के लिए पर्याप्त है। हमारी दृष्टि में—

'विशेषप्रतिपत्त्यर्थमिष्टविधিনিषेधान्यतराभास आक्षेपः'—

—अर्थात् 'विशेषता के प्रतिपादन के लिए दृष्टपदार्थ के विधान और निषेध में से किसी एक का आभास आक्षेप।' यहाँ यह कहना अधिक आवश्यक नहीं कि विशेषता का ज्ञान निषेध्य वस्तु अथवा निषेध में ही होना चाहिए।

**शोभाकर**—सर्वस्वकार के बाद के आचार्यों में शोभाकर का मत आक्षेप के विषय में इस प्रकार है—

[ सूत्र ] 'विशेषानगमाद्येष्टनिषेध आक्षेपः'

[ वृत्ति ] इष्टस्योक्तस्य वक्ष्यमाणस्य वा विशेषानगमाय निषेधाभास आक्षेपः।

—विशेषता के ज्ञान के लिए इष्टनिषेध आक्षेप। इष्ट पदार्थ जो उक्त होगा या वक्ष्यमाण, का निषेधाभास आक्षेप कहलाता है।

इसी विषय को रत्नाकरकार ने कारिका द्वारा भी विशद किया है—

'विहितेऽर्थे निषेधस्य त्याच्चेदाभासमानता। आक्षेपोऽसौ।



—विहित अर्थ का निषेध हो अतः वह आभासमात्र सिद्ध हो रहा हो तो वह आशेष कहलाता है।

इस प्रकार प्रथम आशेष ही रत्नाकरकार को आशेषरूप में मान्य है। द्वितीय को उन्होंने जिस प्रकार विध्याभास नामक स्वतन्त्र अलंकार बतलाया है वह स्पष्ट ही ही जुका है।

अप्ययदीक्षित—अप्ययदीक्षित ने उक्त तीनों मतों का पृथक्पृथक् उल्लेख मात्र किया है। कोई स्वतन्त्र लक्षण नहीं दिया। सर्वस्वकार ने विहितनिषेध के लिए उद्भूत 'साहित्यपाथोनिधि०' आदि जिन पदों में आशेष नहीं माना था अप्ययदीक्षित ने उनमें भी आशेष स्वीकार किया। एतदर्थ उन्होंने यह लक्षण बनाया है—

आशेषः स्वयमुक्तस्य प्रतिषेधो विचारणात् ।

स्वयं के द्वारा कथित अर्थ का, विचार करने पर प्रतिषेध आशेष कहलाता है। वक्त पदों में काव्यार्थचौरी से रखवाली की प्रार्थना की गई है किन्तु बाद में अपने सूक्तिरत्नों की अज्ञप्यता का ध्यान आने ही रखवाली का निषेध कर दिया गया है। उन्होंने सर्वस्वकार का मत इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

( २ ) निषेधामासमाशेषं तुषा केचन मन्यते ।

—कुछ विद्वान् निषेधामास को आशेष मानते हैं। वृत्ति में 'कुछ'—शब्द के रूपदोहरण में उन्होंने अलंकारसर्वस्वकार का ही उल्लेख किया है—वेचिदलंकारसर्वस्वकारादयः। स्पष्टम्. वे मामह से प्रवृत्त इस परम्परा की अग्निम कही सर्वस्वकार पर अधिक आस्थावान् हैं। इसके उदाहरण में उन्होंने 'बालक नाह दूती०' पद्य का रूपान्तर रख दिया है।

( ३ ) 'आशेषोऽन्यो विधौ व्यक्ते निषेधे च तिरोहिते ।'

तीसरा आशेष वह होता है जिसमें विधान होता है वाक्य किन्तु उससे व्यञ्जित होता है प्रतिषेध। इसके उदाहरण के लिए उन्होंने 'गच्छ गच्छसि०' पद्य का ही संक्षेप कर दिया है।

पण्डितराज—पण्डितराज जगन्नाथ ने आशेष पर विविध मत इस प्रकार प्रस्तुत किए हैं—

( १ ) 'उपमेयस्योपमानसम्बन्धितकलप्रयोजननिष्पादनस्यमत्वाद्दुपमानकैतव्यमुपमानाभिधेयरूप-माशेषः' इति केचिदाहुः ।

कुछ कहते हैं कि उपमेय में उपमान से होने वाले सभी कार्यों को निष्पन्न करने की क्षमता होने से उपमान की निरर्थकता आशेष कहलाती है जिसका अर्थ उपमान का अनादर होता है। स्पष्ट ही वह वाचन का मत है उदाहरण के लिए 'तस्यास्तन्मुखमस्ति०' पद्य के भाव पर एक दूसरा पद्य पण्डितराज ने बना दिया है।

( २ ) अपरे तु—पूर्वोपन्दस्तस्यार्थस्य पश्चान्तरावलम्बनप्रयुक्तो निषेध आशेष = इत्याहुः ।

दूसरे आचार्य—पूर्वकथित पदार्थ का अन्य पक्ष के आधार पर किया गया निषेध आशेष है, ऐसा कहते हैं। स्पष्ट ही ये 'साहित्यपाथोनिधि०' आदि पद्यममुदाय में आशेष मानने वाले अप्ययदीक्षित हैं। कुछ ऐसे ही विचार रुद्र के भी प्रतीत होते हैं।

( ३ ) तीसरे मत के लिए पण्डितराज ने मम्मट की 'निषेधो वस्तुमिष्टस्य' कारिका उद्भूत की है। किन्तु उन्होंने मम्मट का नाम नहीं लिया है। कदाचिद् वे भी इस कारिका का मूल अमिनवगुप्त के पूर्व उद्भूत लोचन में पाते हैं और इसके सिद्धान्त का मूल मामह में। इसी प्रसंग में वे सर्वस्वकार के संपूर्ण आशेष विवेचन का सार भी अत्यन्त सुलझी भाषा में ( अप्ययदीक्षित की नारां संक्षेप के साथ नहीं ) सर्वांगीणता के साथ प्रस्तुत करते हैं। इसमें उन्होंने आशेष के दोनों

ही पक्ष उपस्थित किए हैं निषेधामासात्मक तथा विध्याभासात्मक । किन्तु वे विध्याभासात्मक आक्षेप के लिए उसके मूल प्रवर्तक दण्डी का उल्लेख नहीं करते ।

( ४ ) चतुर्थमत में पण्डितराज ने उक्त सभी मतों का समाहार करने का यत्न किया है । इसके लिए उन्होंने लिखा है—

‘चमत्कारनिषेधमाप्रमाक्षेपः । वे सभी निषेध आक्षेप हैं जिनमें चमत्कार निषेधगत रहता है ।’ पण्डितराज का कहना है कि उक्त सभी पक्षों में निषेध का चमत्कार रहता है, अतः उनका इस बहुवचन मत में समाहार हो जाता है । ऐसा लगता है कि यह उनका अपना पक्ष है किन्तु वे इसमें अपना नाम जोड़ने का साहस नहीं कर सके कारण यह है कि इतनी उदारता बरतने पर उन्हें प्रतीपालंकार से हाथ धो लेना पड़ता । एक बार वे प्रतीप और उपमेयोपमा का उपमा में भी अन्तर्भाव मान बैठे थे [ द्र० रसगं० उपमा विवेचन का आरम्भ ] ।

विश्वेश्वर— विश्वेश्वर पण्डित ने आक्षेप पर उक्त सभी मत पण्डितराज के ही समान उपस्थित किए हैं किन्तु उन्होंने अपनी मूल कारिका ‘निषेधामास’ पक्ष पर ही बनाई है अतः उन्होंने अपना मत मामहादि के पक्ष में सुलभकर दे दिया है । पण्डितराज के समान अपने मत को छिपाए रखने का प्रयत्न उन्होंने नहीं किया है । उन्होंने कदाचित् पण्डितराज के समाहारपक्ष का खण्डन भी किया था, किन्तु उनके अलंकारकौस्तुभ का यह अंश खण्डित हो गया है ।

विश्वेश्वर की आक्षेपकारिका इस प्रकार है—

‘इष्टस्याव्यभिधातुं योऽर्थस्य विशेषबोधाय ।

स्वयमेव प्रतिषेधः स बद्धमाणोक्तविषय आक्षेपः ॥’

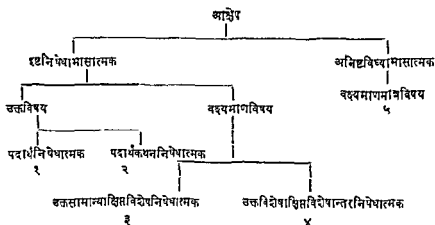
इससे अच्छी कारिका तो स्वयं मन्मत की ही थी । उसी को दे देना उचित था । सिद्धान्त तो उनका है ही । सर्वस्वकार का मत भी विश्वेश्वर उतनी सफाई के साथ नहीं दे सके जितनी सफाई के साथ उसे पण्डितराज ने दिया था ।

इस प्रकार पूर्व और पश्चात् के आचार्यों के मतपरीक्षण से सिद्ध यह होता है कि आक्षेप पर जो सिद्धान्त सर्वस्वकार ने दिया है वही सर्वमान्य है ।

लक्षणा— आक्षेप में वाच्य निषेध या विधि में विमर्शनीकार ने विपरीतलक्षणा स्वीकार की है और रत्नकरकार ने उपादानलक्षणा, किन्तु सर्वस्वकार ने संपूर्ण आक्षेपविवेचन में लक्षणा का नाम एक बार भी नहीं लिया है । उन्होंने विधि और निषेध को वाच्यरूप में केवल वाचित होता हुआ कहा है । उनका शब्द है ‘निषेधस्यानुपपद्यमानत्वादसत्यत्वम्’ । यहाँ असत्यता का अर्थ यह नहीं है कि निषेध की लक्षणा असत्यता में हो जाती है । असत्यता का ज्ञान यहाँ ठीक वैसे ही होता है जैसे ‘धार्मिक ! गोदावरीतट पर रह रहे शेर ने उस कुत्ते को मार डाला है जो तुम्हें वहाँ सताता रहता था, अब प्रेम से वहाँ घूमना’ इस वाक्य में भ्रमणनिषेध का ज्ञान होता है । यहाँ निश्चित ही भ्रमणनिषेध का ज्ञान लक्षणा से न होकर व्यंजना या अनुमान से होता है । यह इसलिए कि यहाँ भ्रमण की विधि सर्वथा अशक्य नहीं है । एक कठिनार्थ, लक्षणा मानने पर, यह भी आती है कि आक्षेप में निषेध की लक्षणा निषेधभाव में ही की जा सकती है । यह निषेधामास अभावत्वकामात्र सिद्ध होता है फलतः यहाँ ऐसा कोई अर्थ नहीं आता जैसा व्याजस्तुति में स्तुति की लक्षणा से निन्दा या निन्दा की लक्षणा से स्तुतिरूपी विपरीत अर्थ आता था । निन्दा या स्तुति या निन्दा का एकमात्र अभाव नहीं है वे अपने आपमें अरितत्वशाली भावात्मक तत्त्व भी हैं । आक्षेप में ऐसा कोई अतिरिक्त अर्थ मासित नहीं होता । यह

निषेध तो ठीक वैसा ही आभासात्मक निषेध है वैसा आभासात्मक स्त्रीत्व कण्डों को दूकानों पर खड़ी स्त्रीमूर्ति में रहता है। उसमें स्त्रीत्व का विधान तो रहता है किन्तु वह एकमात्र आभासात्मक ही रहता है। सच यह है कि इष्ट के निषेध से या अनिष्ट के विधान से इष्ट में अनिष्टत्व और अनिष्टत्व में इष्टत्व का ज्ञान होता है, तत्पश्चात् तात्पर्य जिज्ञासा द्वारा अनिष्टरूप से प्रतिपादित इष्ट या इष्टरूप से प्रतिपादित अनिष्ट में विशेषता का ज्ञान होता है। इस प्रकार निषेध या विधि अनात्मपर्यविपरीतभूतमात्र सिद्ध होते हैं, उनका बाध नहीं होता। इष्ट या अनिष्ट में अनिष्टत्व या इष्टत्व का प्रतिपादन उनमें बाध उत्पन्न नहीं करता। फलतः आक्षेप के हम अक्ष में भी लक्षणा का मानना अवैज्ञानिक है।

सर्वस्वकार के अनुसार आक्षेप वृक्ष इस प्रकार का होगा—



इस प्रकार आक्षेप के पाँच भेद सिद्ध होते हैं।

सजीविनीकार ने सर्वस्वकार के सपूर्ण आक्षेपविवेचन का सक्षेप कारिकाओं में इस प्रकार किया है—

प्रथम आक्षेप—‘निषेधाभासा आक्षेप. प्रकृतस्येष्टसिद्धये।

स उक्तविषये वस्तुतदुक्तयोर्वाङ्गात्मकः ॥

वक्ष्यमाणे पुनरत्वन्यो ज्ञेय आग्रगण्यतमः ।

सामान्यतो विशेषोऽशाश्वत्स्ये च द्विधा ॥

इतोऽर्थोऽस्य निषेधोऽन्य बाधोऽजातिशयश्च निः ।

चतुष्टयमिदं ज्ञेयं संभूयाक्षेपकारणम् ॥

द्वितीय आक्षेप—‘अनुक्तस्य निषेधस्य विध्याभासेन सूचनम् ।

आक्षेपो वक्ष्यमाणैकविषयस्त्वेष समः ॥’

पाठान्तर—आक्षेप विवेचन का सर्वस्व और विमर्शिनी दोनों में अभी तक छपे संस्करणों में काफी पाठभेद है। मूल में ये पाठभेद प्रधान हैं—

( १ ) ‘मुद्गल’ पद को वृत्ति में ‘सातिशयो मरणशुद्धोपजनकत्वादि.’ के स्थान पर निर्णय-सागर संस्करण में ‘सातिशयाद्य कोपजनकत्वादिः’ छपा है। डॉ० दिवेदी ने इसके स्थान पर ‘सातिशयोक्तोपजनकत्वादिः’ पाठ बना लिया है। डॉ० राघवन् ने यहाँ मूल में तो ‘सातिशयको-

पञ्जनकत्वादिः' पाठ बनाया है। परन्तु पाठान्तर में 'सातिशयकोपजनकत्वम्' पाठ रख छोड़ा है। अनन्तशयन (त्रिवेन्द्रम्) संस्करण तथा काशी के शारदा ग्रन्थमाला संस्करण में क्रमशः 'सातिशयो मरणशङ्कोपजनकत्वादिः' तथा 'सातिशयान्मरणशङ्कोपजनकत्वादिः' पाठ को मूल पाठ माना गया है। इनमें प्रधान समस्या 'मरणशङ्कोपजनकत्वादि' और 'कोपजनकत्वादिः' की है। इसके नीचे आई पंक्ति में 'त्रियते' इस प्रकार मरण की बात को प्रतिपाद्य बतलाया गया है। अतः हम अधिक पाण्डुप्रतियों में अन्य पाठ मिलने पर भी मूल पाठ में 'मरण'-शब्द को आवश्यक समझते हैं। 'शङ्कोपजनकत्व' और 'कोपजनकत्व' के विषय में औचित्य से निर्णय किया जा सकता है। यहाँ गुस्से की बात ही मला क्या है? प्रिय के प्रवास का दुःखपूर्ण अवसर है। यहाँ कोप नहीं, विषाद या दैन्य ही अधिक संभव है। कोप तो लौटने में विलम्ब करने पर संभव है।

(२) 'अनुरूपो देव इत्यात्मसंभावना'—इस पंक्ति में सभी संस्करणों में देव की जगह 'देव्याः' छपा है। प्रसंग है हर्षचरित में दाधीच की दूती मालती के द्वारा शोणतट पर रकी सरस्वती के प्रति उसके अनुराग की व्यंजना का। मालती ने पहले दाधीच की दशा का वर्णन किया है। तदनन्तर उसके विषय में अपनी इच्छा व्यक्त की है। इसमें उसका यही प्रथम वाक्य है। इसमें कुमार का परामर्श किया जाना अत्यन्त आवश्यक और वक्ता की वाक्प्रवृत्ति के अनुरूप है। निर्णय-सागर संस्करण में छपा भी 'देव' ही है। राधवन् सा० ने इसका संदर्भ तो ढूँढ निकाला है परन्तु संशोधन नहीं किया। इसी प्रकार 'केवलम्' की सभी ने उद्धरण का अंग मान रखा है। वह न तो वाक्यार्थ के अनुरूप है और न मूल में ही प्राप्त है।

(३) 'चमत्कारोप्यत्र निषेधहेतुक एवेति न तद्भावमात्रेण०' पंक्ति के 'न तद्भाव' के स्थान पर डॉ० द्विवेदी और डॉ० राधवन् ने 'न तत्सद्भाव' पाठ को महत्त्व दिया है। हमारी दृष्टि में यह पंक्ति 'ततश्च हर्षचरिते' से आरम्भ होने वाले पूरे प्रबन्धक के उपसंहार के लिए आई पंक्ति है। अतः हमने 'तद्भाव' का अर्थ 'आक्षेप जैसा आशय' या आक्षेप से मिलता-जुलता करना उचित समझा है। 'तत्सद्भाव'—पाठ मानने पर अर्थ होता है चमत्कार का अस्तित्व। इससे पंक्ति का महत्त्व केवल 'साहित्यपाथो०' से आरम्भ होने वाले प्रकरण तक सीमित रह जाता है। क्योंकि निषेधमूलक चमत्कार इन्हीं पथों में है। हर्षचरित के वाक्यों में चमत्कार सौकर्यमूलक है। विमर्शिनीकार ने भी यहाँ 'तत्' शब्द को चमत्कार का ही परामर्शक माना है। उन्होंने 'तद्भाव' का 'चमत्कारसद्भाव' शब्द के द्वारा स्पष्टीकरण किया है। इसमें सद्भाव शब्द से उनके मस्तिष्क में भी 'तत्सद्भाव' पाठ ही मान्य होने की संभावना झलकती है किन्तु वह अत्यन्त ठीक है। फिर उन्हें मूल की प्रतियाँ बहुत अशुद्ध मिली थीं। समुद्रबन्ध ने यहाँ 'तत्सद्भाव' पाठ ही माना है किन्तु उसका अर्थ उन्होंने 'तत्सद्भावो निषेधसद्भावः' इस प्रकार निषेधपरक किया है।

विमर्शिनी में भी अशुद्धियों की भरमार है। उसमें जैसे अवश्यपरिहार्यत्व के स्थान पर अवस्था-परिहार्यत्व छपा है वैसे ही 'विहितस्य निषेधे न' के स्थान पर 'विहितस्य निषेधेन', 'निषेधस्याव-भासनाद्' के स्थान पर 'निषेधस्यैव भासनाद्', 'शब्दानुपात्तत्वाद् विशेष०' के स्थान पर 'शब्दानु-पात्तत्वाद् विशेष०' तथा 'अनिराकरणमुत्प्रेनेति' के स्थान पर 'निराकरणमुत्प्रेनेति'।

### विमर्शिनी

इदानीं विरोधस्य लक्षणमुपक्रमते—आक्षेप इत्यादिना ।

अब विरोध का लक्षण आरम्भ करते हैं—

### [ सर्वस्व ]

आक्षेपे इष्टनिषेधेऽनिष्टविधौ चानुपपद्यमानत्वाद् विरुद्धत्वमप्रविष्टम् ।

एतत्प्रस्तावेन विरोधगर्भोऽलङ्कारधर्मः प्रक्रियते । तथापि विरोधालङ्कार-  
स्तावहृक्ष्यते—

[ सूत्र ४१ ] विरुद्धाभासत्वं विरोधः ।

इह जात्यादीनां चतुर्णां पदार्थानां प्रत्येकं तन्मध्ये एव सजातीयविजा-  
तीयाभ्यां विरोधिभ्यां संयन्वे विरोधः । स च समाधानं विना प्रकृतो दोषः ।  
सति तु समाधाने प्रमुच्य एवाभासमानत्वाद्विरोधाभासः । तत्र जाति-  
विरोधस्य जात्यादिभिः सह चत्वारो भेदाः । गुणस्य गुणादिभिः सह त्रयः ।  
क्रियायाः क्रियाद्रव्याभ्यां सह द्वौ भेदाः । द्रव्यस्य द्रव्येण सहैकः । तदेवं  
दश विरोधभेदाः ।

आशेष में, इष्टनिषेध और अनिष्टविधि के बाधित होने के कारण [ इनके ] बीच विरोध आ  
गया है । इसी [ विरोध ] के प्रसंग से अब विरोधमूलक अलङ्कार आरम्भ किए जा रहे हैं । तथापि  
[ मूलभूत ] विरोधालङ्कार का लक्षण पहले दिया जा रहा है—

[ सूत्र ४१ ] विरुद्धता का आभास विरोध [ नामक अलङ्कार कहलाना है ] ॥

यहाँ जाति आदि [ गुण, क्रिया और यदृच्छा = द्रव्य ] चार पदार्थों में से प्रत्येक के उन्हीं के  
बीच के सजातीय और विजातीय विरोधियों के साथ सम्बन्ध का नाम है विरोध । वह, यदि  
समाधान न हो और अन्त तक बना रहे तो दोष होता है, और यदि समाधान हो जाए तो  
[ होता है ] विरोधाभास [ नामक अलङ्कार ] क्योंकि तब वह केवल आरम्भ में ही भासित हुआ  
करता है । इनमें भी जाति विरोध जाति आदि चारों के साथ होता है, इसलिए उसके चार भेद  
होते हैं । गुण का विरोध गुणादि तीन के साथ होता है अतः उसके भेद केवल तीन होते हैं ।  
क्रिया का विरोध क्रिया और द्रव्य इन दो के ही साथ होता है इसलिए इसके दो भेद होते हैं ।  
द्रव्य का विरोध केवल द्रव्य के साथ होता है, अतः यह केवल एक ही प्रकार का होता है । इस  
प्रकार विरोध के दस भेद होते हैं ।

### विमर्शिनी

एतत्प्रस्तावेनेति । विरुद्धाभावानुप्रवेशानुगुण्येनेत्यर्थः । तथापीति । विरोधगर्भोऽलङ्कारोप-  
क्रमेऽपीत्यर्थः । तावद्विशुभकमे । तत्र हि विरुद्धगर्भत्वस्य प्राधान्यम् । तदेवाह—विह-  
देत्यादि । तन्मध्ये एवेति । जात्यादीनां गुणादय एव विजातीया, गुणादीनामपि जात्यादय  
एव विजातीया प्राज्ञाः, न पुनरन्ये यद्विजातीय इत्यर्थः । ननु विरोधस्य दोषत्वं वाच्यं  
प्रयुक्तं, अन्य कथनमलङ्कारत्वमुच्यत इत्याशङ्क्याह—स चेत्यादि । समाधानमिति । वस्तु-  
वृत्तपर्यालोचनात्म्यो विरोधप्रतीत्यनन्तरमावी नैतदेवमिति प्रत्ययरूपो वाचः । प्रमुख  
एवेति न पुनः पर्यवसाने । तेनामुखावगतो विरोधः पर्यवसाने न तथा प्ररोहमेतीति  
भावः । एतच्च श्लेष एव विज्ञाय प्रतिपादितमितीह न पुनरायतम् । एवं च साधयपि  
समाधाने दोषामावमाप्रमेवास्य स्वरूपं नाशङ्कनीयम् । अलङ्कारत्वपर्यवसायिनो विच्छि-  
त्तिविरोधस्यापि समवायः । जातेर्गुणेन सह विरोधे उक्ते 'विरोधोऽन्योन्यवाचनम्' इति  
दशा तेनैव गुणस्त्वापि जात्या सह विरोधः सिद्धः । अत एव गुणस्य जातिवर्जं त्रयो  
भेदाः । एवमन्यत्रापि ज्ञेयम् ।

‘पुतप्रस्तावेनेति — इसी प्रसंग से’ = अर्थात् विरोध का प्रवेश दोनों अलंकारों में समानरूप से रहना है इस अनुकूलता के कारण । तत्रापि = विरोधमूलक अलंकारों के निरूपण के आरम्भ में भी । तावत् = आरम्भ में । इसलिये कि इसमें विरोध ही प्रधानरूप से चमत्कारकारी होता है । यही [ विरोध का लक्षण सूत्र द्वारा ] प्रस्तुत करते हुए कहते हैं—‘विद्वद्’ इत्यादि ‘तन्मध्य एव = उन्हीं के बीच’ अर्थात् जाति आदि के प्रति [ स्वयं सजातीय और शेष वचे ] गुण आदि [ तीन ] ही विजातीय मानने होंगे, इसी प्रकार गुण आदि के प्रति भी [ स्वयं सजातीय और शेष वचे ] जाति आदि [ तीन ] ही विजातीय होंगे । न कि इन [ चारों से ] भिन्न नामशब्द आदि, [ अर्थात् जाति गुण और क्रिया ये तीनों द्रव्य के वास्तविक धर्म माने जाते हैं और नामशब्द काल्पनिक । इस प्रकार वास्तविक होने से जाति आदि को परस्पर में सजातीय मानकर नामशब्द को काल्पनिक होने से विजातीय माना जा सकता है, किन्तु यह उक्त चारों से भिन्न पाँचवा तत्त्व है । ‘तन्मध्य एव’ कहकर ग्रन्थकार सजातीय विजातीय का निर्णय इसको लेकर नहीं मानते । [ शंका ]—विरोध को तो उलटा दोष कहा जाना चाहिए, इसे अलंकार कैसे कहा जा रहा है” ऐसी शंका का उत्तर देते हैं—स च । समाधानम् = समाधान का अर्थ है [ विरोध का ] वाप अर्थात् ‘यद् वस्तु ऐसी नहीं है’ इस प्रकार का ज्ञान, जो विरोध प्रतीति के बाद वास्तविक स्थिति का अनुशीलन करने पर होता है । ‘प्रमुख एव = आरम्भ में ही’ । न कि अन्तिम पर्यवसान में भी इससे तथ्य यह निकला कि विरोध केवल वाक्यार्थप्रतीति के आरम्भ में ही भासित होता है, वाक्यार्थप्रतीति के अन्त में वह बैसा नहीं रहता । यह विषय श्लेषालंकार में ही विस्तारपूर्वक प्रतिपादित किया जा चुका है अतः यहाँ उसके लिये पुनः आयास नहीं किया गया । इसी प्रकार समाधान ही जाने पर विरोध दोषामावरूप भर नहीं रहता, इसमें बड़ विशेषता भी रहती है जो [ किसी भी उक्ति में ] अलंकारत्व में पर्यवसित होती है । जाति का गुण के साथ विरोध बतला देने पर ‘विरोध का अर्थ है परस्पर में एक दूसरे को बाधित करना’ इस दृष्टि से गुण का जाति के साथ विरोध भी स्वयं ही वहाँ अवगत हो जाता है, इसीलिये ग्रन्थकार ने गुण के विरोध के केवल तीन ही भेद बतलाए हैं । जाति के साथ विरोध को छोड़ दिया है । अन्य क्रिया आदि में भी इसी प्रकार [ पूर्वभेदों से त्वतः अवगत भेदों को छोड़ कर शेष भेद बतलाने का क्रम ] अपनाया गया जानना चाहिए ।

### [ सर्वस्व ]

तत्र दिङ्मात्रेणोदाहरणं यथा—

‘परिच्छेदातीतः नकलवचनानामविषयः

पुनर्जन्मन्यस्मिन्ननुभवपर्यं यो न गतवान् ।

धिवेकप्रध्वंसादुपचितमहामोहगहनो

विकारः कोऽप्यन्तर्जडयति च तापं च कुञ्चते ॥’

अत्र जडोक्तिरुदाहरणयोः क्रिययोर्विरोधो वस्तुसौन्दर्येणाप्राप्ति-पर्यवसानेन परिह्रियते । तथा—

‘अयं वारामेको निलय इति रत्नाकर इति

श्रितोऽस्माभिस्त्वृष्णातरलितमनोभिर्जलनिधिः ।

क एवं जानीते निजकरपुटीकोटरगतं

क्षणादेनं ताम्यत्तिभिमकरमापास्यति मुनिः ॥’

अत्र जलनिधिः पीत इति द्रव्यक्रिययोर्विरोधो मुनिगतेन महाप्रभावत्वेन समाधीयते । एवमन्यदपि ज्ञेयम् ।

विचिक्तविषयत्वेन चास्य दृष्टेः श्लेषगर्भत्वे विरोधप्रतिभोत्पत्तिहेतुः श्लेष औद्गटानाम् । दर्शनाग्तरे तु संकरालंकारः । यथा—‘संनिहित-वालान्धकारा भास्वन्मूर्तिश्च’ इत्यादौ विरोधिनोर्द्वयोरपि द्रिष्टत्वे । एकस्य तु श्लिष्टत्वे ‘कुपतिमपि कलत्रवल्लभम्’ इत्यादौ । एकविषयत्वे चायमिष्यते । विषयभेदे त्वसंगतिप्रभृतिर्वक्ष्यते ।

इन [ दस भेदों ] में से [ प्रत्येक का उदाहरण देकर ] कुछ के उदाहरण दिए जा रहे हैं, जो इस प्रकार हैं—

इनके कतिपय उदाहरण यथा—[ विरही माधव की उक्ति— ]

‘जो शय्या से परे है, जो किसी भी प्रकार के शब्दों का विषय नहीं बनता, इस जन्म में जो पुनः कभी अनुभव में नहीं आया, विवेक के सातिशय ध्वंस से प्रवृद्ध महामोह के कारण जो अन्यत्र निविड है ऐसा कोई [ चेनो— ] विकार हृदय को शीतल भी बना रहा है और तथा भी रहा है ।

—यहां शीतल बनाना और तथाना इन दो क्रियाओं का विरोध है । यह वस्तु [ पदार्थ ] के सौन्दर्य के द्वारा हटा दिया जाता है । [ यह सौन्दर्य अभिलाष शृंगार में पर्यवसित होता है । ] इसी प्रकार—

‘यह जलसमूह का एकमात्र निलय है [ सभी जल इसी में आकर समाने हैं ], यह रत्नों का मण्डार है’ यह सोच ठुण्णातुर चित्त वाले हम लोगों ने जलनिधि का आसरा लिया था, यह कौन जानता था कि तिलमिलाते समस्त तिमि मकरों से व्याप्त इसे अपनी अंजलि की खोद में समेट कर अगस्त्य मुनि एक क्षण में ही पूरा का पूरा पी जायेंगे ।’

—यहाँ ‘समुद्र’ [ जलनिधि ] और ‘पीना’ इन दो द्रव्य और क्रिया का विरोध है । इसका समाधान मुनि के प्रभाव की महत्ता से हाँ जाता है । अन्य [ भेदों के उदाहरण ] भी ऐसे ही जानना चाहिए ।

यह [ विरोध श्लेषरहित अतः ] स्वतन्त्र स्थलों में भी देखा जाता है अतः वहाँ कहीं यह श्लेषमूलक होता है वहाँ उद्गटाचार्य के अनुयायी श्लेष को विरोध का वाचक मानते हैं अन्य मत में यहाँ संकरालंकार माना जाता है । उदाहरणार्थ—

‘जो [ सरस्वती ] सन्निहितवालान्धकारा [ जिसके बाल = केशों में बाल अन्धकार कालिमा सन्निहित है ] और भास्वन्मूर्ति [ सूर्यरूप, प्रकाशित ] है ।’

इत्यादि [ हर्षचरित-१ पृ० २७ ] में जहाँ विरोधिओं में से दोनों ही [ के वाचक पद ] श्लेष युक्त हैं । जहाँ केवल एक के [ वाचक पद में ] श्लेष होता है उसका उदाहरण यह है—

‘कुपति [ कुतिसन पति और कु = पृथिवी का पति ] होने पर जो प्रियाओं को प्रिय था ।’ यह [ संकर ] यहाँ माना जाता है जहाँ [ विरोध और श्लेष ] दोनों एक ही स्थान [ पद ] में रहते हैं । जहाँ वहाँ अलग अलग रहते हैं वहाँ असंगति आदि अन्य अलंकार बतलाए जायेंगे ।

विमर्शिनी

दिह्नात्रेणेति । अनेनेपां लघये तथा वैचिन्याभावादनवक्त्रुसिर्ध्वनिता । अत एवा-  
स्माभिरप्येते नोदाहृताः । अन्यदिति । अनेनेह चिरंतनैरनुष्ठा अपि वैचिन्याघायिनो  
भेदा अनुसर्तव्या इत्यपि सूचितम् । तेन भावयोरभावयोश्च विरुद्धत्वोपनिबन्धे विरोधो  
ज्ञेय इति । तत्र भावयोर्ग्रन्थकृतैवोदाहृतम् । अभावयोस्तु यथा—

‘तं वीषय वेपथुमती सरसाङ्गयष्टिर्निचैप एव पदमुद्धतमुद्गहन्ती ।

मार्गाचलध्यतिकराकुलितेव सिन्धुः शैलाधिराजतनया न ययौ न तस्यौ ॥’

अत्राभावरूपयोः क्रिययोर्विरोधः । भावाभावयोस्तु यथानङ्गलेखायां राजवर्णने

‘विदर्भाङ्गनाजनमपि दर्भगर्भकरमकरोत्, पञ्चतां जनयन्नपि पञ्चालस्य वैमुख्यम-  
पुष्पात्, पारसीकरणमप्यपारसीकरणं चकार, मागधानपि विमागधान् श्यधात्,  
चोलकान्ता अप्यचोलकान्ताः समपादयत्, कुन्तलालसानप्यकुन्तलालसांश्च निर्ममे  
शूरसेनानप्यशूरसेनानदर्शयत् ।’ इत्यादि ।

अस्यापि मतभेदेन श्लेषेण सह व्यवस्थितिं दर्शयितुमाह—विकिञ्चत्यादिना । ‘जडयति  
च तापं च कुशते’ इत्यत्रास्य विकिञ्चविषयत्वम् । दर्शनान्तर इति ग्रन्थकृदभिमतो संकर-  
शब्दश्चात्र संकीर्णत्वमात्रे वर्तते । तेनात्र संकरेण संकीर्णत्वेन च श्लेषमिश्रत्वेनालंकारो  
विरोधाभास इति श्याख्येयम् । अलंकारशब्देन चात्र विरोधाभास एवाभिधीयते । तस्यै-  
वेह प्रस्तुतत्वात् । अत्र हि श्लेषो विरोधोत्पत्तौ हेतुत्वं भजते । तेन विना तस्यानुत्थानात् ।  
संकरश्च स्वहेतुचललक्ष्यसत्ताकारयोर्भवंति । तेन चो यस्य हेतुत्वं भजते तेन  
सह तस्य संकरो न युक्तः । यद्दृश्यति—‘न च विरोधोत्पत्तिहेतौ श्लेषे श्लेषस्य विरो-  
धेन सहाङ्गसंकरः’ इति । द्वयोरेकस्येत्यनेन श्लेषमिश्रत्वस्यापि वैचिन्यं दर्शितम् ।  
अस्य च वक्ष्यमाणोदविरोधगर्भादलंकाराद् वैलक्षण्यं दर्शयति—एकेत्यादिना । जडीकरण-  
त्तापकरणयोर्विकारयोर्विकारिगतत्वेनास्वैकविषयत्वम् । विषयभेद इति । कार्यकारणादी-  
नामेकविषयत्वोपपत्तावपि भिन्नदेशत्वाद्युपनिबन्धनात् ।

दिह्मात्रेण = कुछ ऐसा कहकर । व्यक्त किया कि इन भेदों के जो स्थल होते हैं उनमें  
चमत्कारगत अन्तर नहीं रहता । इसी कारण हमने भी इनके उदाहरण नहीं दिए । अन्यत् =  
अन्य, इसके द्वारा यह भी सूचित किया कि विरोध के जो भेद प्राचीन आचार्यों ने नहीं भी  
बतलाए हैं किन्तु यदि उनमें कोई वैचिन्य हो तो उन्हें भी गिन लेना चाहिए । इसके अनुसार  
वहाँ भी विरोध माना जा सकता है जहाँ केवल भाव भाव का विरोध बतलाया जाता है या  
केवल अभाव अभाव का या भाव और अभाव का । इनमें से केवल भाव-भाव के विरोध का उदा-  
हरण स्वयं ग्रन्थकार ने ही दे दिया है । अभाव अभाव के विरोध का उदाहरण यह है—

‘[ बलाचारी का वेप छोड़कर अपने रूप में आए और पार्वती को पकड़ कर जाने से रोक  
रहे ] उन [ भगवान् शंकर ] को देखकर पार्वती काँपने लगीं, उनकी शरीरयष्टि सस्वेद हो  
गई और वे आगे रखने के लिए उठाए पैर को उठाए हुए ही थीं । इस प्रकार मार्ग में पर्वत  
[ सामान्य पहाड़ और प्रकृत प्रसंग में हिमाचल ] के आ जाने से आकुलित नदी के समान पर्वतराज  
की पुत्री न तो आ ही सकीं और न रुक सकीं ।

—यहाँ अभावात्मक क्रियाओं का विरोध है ।

भाव और अभाव के विरोध का उदाहरण अनङ्गलेखा में राजा के इस वर्णन में मिलता है—  
‘वित्तने विदर्भ [ दर्भ = कुश-रहित तथा विदर्भ जनपद की ] सुन्दरियों को दर्भपूर्ण हाथ  
वाली [ विषवा अतएव तपस्विनी बना दिया, पञ्चता उत्पन्न करता हुआ [ मृत्यु को प्राप्त करता



हुआ ] भी जो पञ्चाल की विमुसना में वृद्धि कर रहा था, पारसीकों के रण को अ-पारसीक-रण [ अपार = सीकरण = सीकरता ] के रूप में बदल दिया, मागधों को जिसने विमागध [ मागध-स्वविरुद्ध, मागध = बैतालिकों से रहित ] बना दिया, चोल की कान्ताओं को जिसने अचोल-कान्ता [ चोल की कान्ता से उलटा, चोलकान्त सुन्दर चोली से रहित ] कर दिया, कुन्तल में सब प्रकार से शोभिन होने वालों को अ-कुन्तलालस [ कुन्तल देश में सब प्रकार की शोभा से से रहित कुन्तल = केश से रहित अर्थात् मुण्डित और अलस = आलस्य युक्त ] बना दिया, शूरसेनों को भी अशूरसेन [ कायरसेना वाला ] प्रमाणित कर दिया ।—इत्यादि ।

इम [ विरोध ] की भी श्लेष के साथ भिन्न भिन्न मतों में जो भिन्न-भिन्न स्थितियाँ हैं उन्हें दिखलाने के लिए लिखने हैं—'विविक० । 'शीतल करता है और तपाता भी है' यह इस [ विरोध ] का स्वतन्त्र [ श्लेषयुक्त ] स्थल है । धर्मानान्तर = अन्य मत में अर्थात् ग्रन्थकार को मान्य मत में । यह [ संकरालंकारशब्द में ] सकर शब्द का प्रयोग सकीर्णतामात्र के लिए किया गया है । इस यहाँ [ संकरालंकारशब्द की ] सकर और सकीर्णत्व दोनों ही प्रकार से श्लेष का मिश्रण होने पर निष्पन्न होने वाला अलंकार अर्थात् विरोधमास ऐसी व्याख्या करनी चाहिए । [ संकरालंकार शब्द में जो अलंकार शब्द [ है उस ] से यहाँ विरोधमास का ही कथन हो रहा है । क्योंकि यहाँ वही प्रस्तुत है । यहाँ जो है सो श्लेष विरोध की उत्पत्ति में कारण बनता है । क्योंकि उस [ श्लेष ] के बिना वह [ विरोध ] खड़ा नहीं हो पाता । सकर तो उन अलंकारों का होता है जो अपने अपने हेतुओं से निष्पन्न हो चुके रहते हैं । इसलिये जो जिसका हेतु होता है उसके साथ उसका सकर मानना ठीक नहीं है । जैसा कि स्वयं ग्रन्थकार ही [ संकरालंकार से प्रकरण में ] कहेंगे—'ऐसा नहीं कि श्लेष यदि विरोध की निष्पत्ति का हेतु हो तो श्लेष का विरोध के साथ अंगगमिभावसकर माना जाए ।' 'द्वयोः एकस्य' = दोनों या एक' ऐसा कहकर ग्रन्थकार ने यह बतलाया कि अहाँ विरोध श्लेषनिमित्त रहता है वहाँ भी इसके अनेक भेद होते हैं । इस [ विरोध ] का आगे कहे जाने वाले विरोधमूलक अलंकारों से भेद दिखलाने हैं—'एक' इत्यादि कहकर । 'अढीकरण = शीतकरण और तापकरण = तपाना इन दोनों विकारों का आशय एक ही है अतः वहाँ विरोध को एक ही स्थान में रहना माना जा सकता है । 'विषयभेद = अलग-अलग रहने पर' अर्थात् कार्य और कारण आदि का विषय एक होने पर भी स्थान में भिन्नता आदि के बतलाने से ।

विमर्शः—पूर्वं इतिहास—

विरोधालंकार के उद्युक्त दस भेदों का निर्देश पहले पहल रुद्रट ने किया है । रुद्रट के पूर्व उद्भट, वामन और मामह ने विरोध का जो निर्बचन किया है उससे विरोध का मूलभूत रूप निखरता नहीं है ।

मामह—मामह ने विरोध का निरूपण इस प्रकार दिया है—

'गुणस्य वा क्रियाया वा विरुद्धान्यक्रियाभिषा ।

या विरोधाभिधानाय विरोधं त विदुर्बुधा ॥

यथा—

उपान्तस्त्वोपवनच्छायाशीतापि धूरती ।

विदूरदेशानपि व सन्तापयति विद्विषः ॥

—विरोधता बतलाने के लिए गुण या क्रिया के विरुद्ध अन्य क्रिया का जो उल्लेख उसे विद्वान् लोभ विरोध कहते हैं । यथा—

—'पास में ही लगे उपवनों की छाया के समान शीतल होने पर भी आपकी यह धुरी [ राज्यभार ] सद्ग देश में भी रह रहे शत्रुओं को तथा रही है।' यहाँ एक ही राज्यभार-रूपी पदार्थ में शीतलतारूपी गुण के साथ उसके विरुद्ध संतापक्रिया बतला दी गई है। मामह के इस निरूपण में गुण और क्रिया को जो चर्चा है वही है परवर्त्ता दस भेदों की कल्पना का स्रोत। इतने पर भी मामह का निरूपण अपूर्ण है।

वामन—वामन ने विरोध का मर्म समझ लिया था किन्तु वे उसको असंगति से भिन्न नहीं कर सके थे। उनका निरूपण इस प्रकार है—

[ सू० ] विरुद्धाभासत्वं विरोधः।

[ वृ० ] अर्थस्य विरुद्धस्यैवामासत्वं विरुद्धाभासत्वम्।

यथा—( १ ) 'पीतं पानमिदं त्वयाद्य दयिते। मत्तं ममेदं मनः०।

( २ ) 'सा वाला वयमप्रगल्भमनसः सा स्त्री बयं कातराः।'

—विरुद्धाभासत्व विरोध। विरुद्धाभासत्व का अर्थ है किसी पदार्थ में विरुद्धता-सी प्रतीत होना। यथा—

( १ ) 'हे प्रिये ! आसव पिया है तुमने, किन्तु नशा चढ़ा है हमारे चित्तको।

( २ ) वाला है वह, अप्रीड मन वाले हो रहे हैं हम, स्त्री है वह किन्तु कातर हो रहे हैं हम०।' स्पष्ट ही वामन का विरोधसूत्र सर्वस्वकार तथा रत्नाकरकार ने ज्यों का त्यों अपना लिया है, किन्तु वामन ने जो उदाहरण दिए हैं वे असंगति को उदाहरण हैं, अतः उक्त आचार्यों ने उन्हें छोड़ दिया है।

उद्भट—उद्भटाचार्य ने विरोध पर मामह की ही पदावली को इस प्रकार उतार दिया है—

'गुणस्य वा क्रियाया वा विरुद्धान्यक्रियावचः।

'यद्विशेषाभिधानाय विरोधं तं प्रवक्षते ॥'

उदाहरण मामह का ठीक था किन्तु उद्भट ने उसे छोड़ अपना एक ऐसा पद्य दिया है जो स्पष्टतः विपमालंकार का उदाहरण है—

'भवत्याः वनायमाकारः क्वेदं तपसि पाठवम्'

'आपकी यह आकृति कहाँ और कहाँ यह तपस्या में तत्परता।' कालिदास की 'तपः क्व वत्ते ! क्व च तावकं वपुः—' यह उक्ति ही उक्त पदार्थ में ढाल ली गई है। स्पष्ट है कि उक्त दोनों आचार्यों ने मामह के ही समान जातिविरोध आदि अनान्तर भेदों की ओर ध्यान नहीं दिया। न तो इन आचार्यों ने विरोध में श्लेष का अस्तित्व ही बतलाया है।

रुद्रट—रुद्रट ने विरोधलंकार का दो अलग-अलग प्रकरणों में प्रतिपादन किया है। एक अतिशय प्रकरण में और दूसरा श्लेष प्रकरण में। श्लेष प्रकरण के विरोध को उन्होंने ठीक वसी प्रकार विरोधश्लेष नाम दिया है जिस प्रकार व्याजस्तुति को व्याजश्लेष। इस प्रकरण में रुद्रट ने विरोधाभास नामक एक स्वतन्त्र अलंकार भी माना है। इस प्रकार स्पष्टरूप से रुद्रट ने विरोध में श्लेष का अस्तित्व भी स्वीकार किया है। रुद्रट का विरोध निरूपण इस प्रकार है—

लक्षण—

'यस्मिन् द्रव्यादीनां परस्परं सर्वथा विरुद्धानाम्।

एकत्रावस्थानं समकालं भवति स विरोधः ॥' १।३०॥

—जहाँ परस्पर में सर्वथा विरुद्ध द्रव्य आदि का एक ही स्थान में एकसाथ अस्तित्व दिखलाया जाय वह विरोध [ नामक अलङ्कार ] होता है ।' इस लक्षण से स्पष्ट है कि रुद्रट के मन में विरोध और असंगति का वह भेदक तत्त्व भी स्पष्ट था जिसे सर्वस्वकार ने विरोध-प्रकरण के अन्त में विषयैक्य और विषयभेद नाम से दिया है । रुद्रट के लक्षण में अधिकरणैक्य के साथ ही समयैक्य का भी सन्निवेश है जो अत्यन्त अपेक्षित है । विरुद्ध वस्तुओं का अधिकरणैक्य यदि भिन्न-भिन्न समय में बतलाया जाए तो उसमें विरोध उत्पन्न नहीं हो पाता ।

भेदों के विषय में रुद्रट की धारणा मम्मट, सर्वस्वकार आदि परवर्ती आचार्यों को प्रभावित करती हुई भी अशुभ-भिन्न है । इन्होंने केवल नौ ही भेद स्वीकार किए हैं । दशम जातिद्रव्यविरोध भेद का खण्डन किया है । रुद्रट की भेदगणना भी बहुत स्पष्ट है । वह इस प्रकार है—

‘अस्य सजातीयानां विधीयमानस्य सन्ति चत्वारः ।

भेदास्तन्नामान पञ्च स्वन्ये तदन्येषाम् ॥

जातिद्रव्यविरोधो न समवत्येव तेन न षडेते । ३१, २२ ॥

—जब यह विरोध सजातीय पदार्थों का [ अर्थात् द्रव्य का द्रव्य के साथ, जाति का जाति के साथ, गुण का गुण के साथ तथा क्रिया का क्रिया के साथ ] होता है तो इसके छन्दों नामों के चार भेद होते हैं । इनसे भिन्न [ विजातीयों ] के साथ जो विरोध होता है उससे पाँच ही भेद होते हैं [ जाति गुण, जातिक्रिया, गुणक्रिया, गुणद्रव्य, क्रियाद्रव्य—के विरोध ] । जाति और द्रव्य का विरोध ही नहीं सकता, अतः ये [ विजातीय ] भेद छ नहीं माने जा सकते ।' उक्त जात्यादि के विरोध के अर्थों के भेदों की जो चर्चा विमर्दिनी में मिलती है उसका भी स्रोत रुद्रट ही है । उन्होंने लिखा है—

‘यथावश्यमावी ययोः सजातीययोर्मवेदेकः ।

एकत्र विरोधवतोस्तयोरभावोऽयमन्यस्तु ॥ १।३३ ॥

—‘जहाँ ऐसे दो सजातीय पदार्थ जो परस्पर में विरुद्ध हों, और जिन दो में से किसी एक का [ अभाव रहने से दूसरे का ] अस्तित्व अवश्यमावी हो, तथापि यदि दोनों का ही अभाव दिखलाया जावे तो वह भी एक [ चार सजातीयों के आधार पर चार ] प्रकार का विरोध होता है ।’ रुद्रट ने उक्त सभी भेदों को उदाहरण दिए हैं । क्रिया से क्रिया के और क्रिया से द्रव्य के विरोध के उदाहरण सर्वस्वकार ने रुद्रट से ही लिए हैं । इनमें से प्रथम में सजातीय विरोध है और द्वितीय में विजातीय विरोध । दोष के उदाहरण रुद्रट से इस प्रकार लिए जा सकते हैं—

द्रव्य से द्रव्य का विरोध :—

अत्रेन्द्रनीलमित्तिषु गुहासु शैले सदा सुबेलाख्ये ।

अन्योन्यानभिभूते तेजरतमसी प्रवर्त्तते ॥’

—‘यहाँ सुबेल नामक गिरि पर जो इन्द्रनील मणि की मित्तियों से बनी गुफाएँ हैं उनमें तेज और तम दोनों परस्पर से अभिभूत हुए विना फैलते रहते हैं’ । यहाँ तम और तेज दोनों पद द्रव्यवाचक पद हैं, अतः यहाँ विरोध द्रव्यगन हुआ ।

गुण से गुण का विरोध—

‘अद्यम् । परमसि विमलो वितताध्वरधूममलिनोऽपि’ ।

‘हे इन्द्रदेव ! तुम यशधूम से मलिन होते हुए भी अत्यन्त निर्मल हो ।’ यहाँ मलिनत्व और निर्मलत्व गुणों का विरोध है । क्रिया से क्रिया के विरोध का उदाहरण रुद्रट ने भी ‘जद्यत्ति च सवापयति च’—इसी पदावली के पदद्वारा दिया है । जाति से जाति के विरोध का उदाहरण—

‘एकस्यामेव तनी विमत्ति युगपन्नरत्वसिंहत्वे ।  
मनुजत्ववराहत्वे तथैव यो विमुससौ जयति ॥’

—‘जो परमेश्वर एक ही शरीर में एक साथ नरत्व और सिंहत्व को धारण करता है, इसी प्रकार मनुष्यत्व और वराहत्व को, यह प्रणम्य है ।’ यहाँ नरत्व जाति का पशुत्व व्याप्य जाति सिंहत्व और वराहत्व के साथ विरोध है । विजातीय भेदों में—

द्रव्यगुणविरोध—

‘तेजस्विना गृहीतं मादं वमुपयाति पश्य लोहमपि’ ।

—‘तेजस्वी [ अग्नि ] द्वारा गृहीत लोहा भी कोमलता को प्राप्त हो रहा है ।’ यहाँ लोह द्रव्य है कठिन किन्तु बतलाया जा रहा है कोमल ।

गुणक्रियाविरोध—

‘सा कोमलापि दलयति मम हृदयम् ।’

‘कोमल होते हुए भी वह सुन्दरी मेरा हृदय दल रही है ।’

जातिक्रियाविरोध—

‘मय्नासि येन नितरामवलापि बलाग्मनो यूसान् ।’

—‘सुन्दरि ! तेरा चरित्र अद्भुत है । अबला होते हुए भी तू सभी युवकों का चित्त बलाव मय रही है ।’ यहाँ अवलात्व जाति है । मय्यनक्रिया उसके विरुद्ध है । अभाव के चार उदाहरण इस प्रकार हैं—

द्रव्य-द्रव्य के अभाव का विरोध—

‘अविवेकितया स्थानं जातं न जलं न च स्थलं तस्याः ।’

—‘अविवेक के कारण न तो उसके लिए जल में ही जगह रह गई है और न स्थल में ।’ यहाँ जल और स्थल द्रव्य हैं । सामान्यतः किसी को यदि जल में जगह न मिले तो स्थल में अवश्य ही मिल जानी चाहिए, इसी प्रकार यदि स्थल में जगह न मिले तो जल में मिल जानी चाहिए । यहाँ दोनों में ही उसका अभाव बतलाया जा रहा है ।

गुण-गुण के अभाव का विरोध—

‘न मृदु न कठिनमिदं मे हृत्तद्दयं पश्य मन्दुपण्यायाः ।

यद् विरहानरुतप्तं न विलयमुपयाति न च दाहयन् ॥’

—‘सुखा अभागिन का यह मृत्त हृदय न तो मृदु ही है और न कठिन ही । क्योंकि विरहानल में तप कर यह न तो विलय को ही प्राप्त होता और न तो दहता को ही ।’ यहाँ हृदय को मृदु न होने पर कठिन होना चाहिए, परन्तु उसमें दोनों का अभाव बतलाया गया है ।

क्रिया-क्रिया के अभाव का विरोध—

‘नास्ते न याति हंसक पश्यन् गगनं धनश्यामम् ।

चिरपरिचितां च नलिनीं स्वयमुप भुक्तातिरिक्तरसान् ॥’

—‘बाकाश को भेदों से नील तथा चिरपरिचित कमलिनो को स्वयं उपभुक्तक्षेप रस से युक्त देखकर हंस न तो ठहरता ही है और न जाता ही ।’ यह ठीक ‘न चयौ न तस्यौ’ की अभिव्यक्ति का अनुकरण है ।

जाति-जाति के अभाव का विरोध—

‘न स्त्री न चाथमस्त्री जातः कुलपांसनो जनो यत्र ।

कथमिव तद् पातालं न यातु कुलमनवउम्भितया ॥’

—जिसमें ऐसा कुल-कुलकी पुरुष पैदा हो गया हो जो न तो खो ही हो और न अक्षी ही वह कुल निरवच्छन्न होकर रसानल को प्राप्त क्या नहीं हो ।' यहाँ 'अक्षी' शब्द में स्त्रीविरुद्ध अक्षी और अक्ष वाला इस प्रकार श्लेष माना जा सकता है । जो न तो खो हो और न यह वह नपुंसक अवयव ही कुल जुमाने वाला होगा ।

श्लेषमूलक विरोध का निर्बचन रुद्रट ने इस प्रकार किया है—

'यत्र विरुद्धविशेषणमवगमयेदन्यदर्थसामान्यम् ।

प्रकान्तमतोऽन्याद्गुणव्ययश्लेषो विरोधोऽसौ ॥ १०१५ ॥

—'जहाँ प्रसंग प्राप्त अर्थ दूसरा हो किन्तु विशेषण देने हों त्रिनिते विपरीत अर्थ भी निकलता हो तो ऐसे वाक्यश्लेष को विरोध [ श्लेष ] कहा जाता है ।

उदाहरण—

'सर्वधितविविधाधिककमलोऽप्यवदलितनालिकः सोऽभूत् ।

सकलारिदार-रसिकोऽप्यनभिमत पराङ्गनामङ्ग ॥' १०१६ ॥

—'वह सर्वधित कमल [ सर्वधित किया है कमल को जिसने वह तथा सर्वधित किया है कमला थी को जिसने वह ] होने हुए भी अवदलितनालिक [ अवदलित = नष्ट किया है नालिक = कमल को जिसने तथा नालिक = मूर्ख को जिसने ऐसा ] था । इसी प्रकार सकलारिदाररसिक [ सकल = सभी अरि = शत्रुओं के दार = स्त्रियों का रसिक = रस लेने वाला, मरुत् शत्रुओं का दार = दारण करने का रसिक ] होने पर भी पराङ्गीसङ्ग से विमुख था ।' यहाँ संवधितकमल तथा अरिदार-रसिक शब्द प्रकरणविरुद्ध प्रथम अर्थ भी प्रस्तुत करते हैं ।

विरोधाभास—

'स इति विरोधाभासो यस्मिन्नर्थद्वयं पृथग्भूतम् ।

अन्यद् वाक्य गमयेदविरुद्धं सद् विरुद्धमिव ॥' १०१२२ ॥

—'जहाँ एक ही वाक्य ऐसे दो भिन्न भिन्न अर्थों को अवगमन कराए जो वस्तुतः अविरुद्ध रहने पर भी विरुद्ध जैसे प्रतीत हो ।' यथा—

'तव दक्षिणोऽपि वामो बलमशोऽपि प्रलम्ब एव भुज' ।

दुर्योधनोऽपि राजन् सुधिष्ठिरोऽस्तीत्यहो चित्रम् ॥'

—'गुहारा बाहु दक्षिण होने पर भी वाम [ दक्षिणतर तथा सुन्दर ] है, बलमद्र [ बलराम, बल से सुन्दर ] होने पर भी प्रलम्ब [ प्रलम्बासुर, आजानुलम्बी ] है । दुर्योधन [ कौरवाधिप या धृतराष्ट्र का प्रथम पुत्र और जिनके माय मुद्दिगल से लडा जा सके ऐसा ] होने पर भी सुधिष्ठिर [ पाण्डुपुत्र धर्मराज तथा युद्ध में स्थिर ] है । यह आश्चर्य की बात है ।' हम स्थल की अपेक्षा पूर्वोद्धृत स्थलों में अन्तर केवल इतना है कि इस भेद में स्वयं विशेष्यपद श्लिष्ट है और उनके द्वितीय विरुद्ध अर्थ भी निकलता है जब कि पूर्वोद्धृत स्थलों में विशेषणांश में ही श्लेष और विरोध है । यह भेद अकिञ्चत्कर है अतः अमान्य है ।

रुद्रट के इस विवेचन में लाना ही विस्तार है अतः प्राचीन दोनों आचार्यों के विवेचन में संश्लेष था । परवर्ती आचार्यों में रुद्रट के विरोधसम्बन्धी विकीर्ण तर्कों का संकलन और संश्लेष दिखाई देता है ।

मम्मट—मम्मटाचार्य ने विरोध का दशवाँ भेद भी मान लिया है किन्तु अभाव तथा श्लेष और आभास के आधार पर किए भेदों को अलग नहीं गिनाया है । मम्मट इन सब भेदों को विरोध का ही अंग मानते हैं । मम्मट के अनुसार विरोध का लक्षण हम प्रकार है—

'विरोधः सोऽविरोधेऽपि विरुद्धत्वेन यद् वच.' ।

—'विरोध वह जिसमें विरोध न रहने पर भी बात ऐसी कही जाय कि विरोध आभासित हो।' इसके भेद गिनाते हुए मम्मट ने लिखा—

'जातिश्रुतुभिर्जात्याद्यैर्विरुद्धा स्याद् गुणस्त्रिभिः ।

क्रिया द्रान्यामथ द्रव्यं द्रव्यैर्षवेति ते दश ॥'

—'जाति का विरोध जाति आदि चारों से होता है, गुण का गुण आदि तीन से, क्रिया का क्रिया और द्रव्य दो से तथा द्रव्य का केवल द्रव्य से ही इस प्रकार विरोध के दस भेद होते हैं।' इस प्रकार मम्मट ने जाति का द्रव्य के साथ विरोध माना किन्तु रुद्रट का खण्डन नहीं किया है। उन्होंने इसका उदाहरण यह दिया है—

सृजति च जगदि-दमवति संहरति च हेलयैव यो नियतम् ।

अवसरवशतः शफरो जनादनं सोऽपि वित्रभिदम् ॥

—'जो परमेश्वर, इस संसार को खेल-खेल में बनाता, पालता और मिटाया करता है वह भी अवसर आने पर मछली बना यह आश्चर्य की बात है।' यहाँ भगवान् विष्णु एक हैं अतः द्रव्यरूप हैं। मछली का वाचक शफर शब्द जातिवाचक है क्योंकि मछलियाँ अनेक होती हैं। विष्णु भगवान् में शफरत्व जाति का रहना स्थितिविरुद्ध है अतः यहाँ जातिद्रव्यविरोध है। सर्वस्वकार ने 'परिच्छेदातीतः०' तथा 'अयं वारामेकः०' पद्य भी मम्मट के विरोधोदाहरणों में से ही लिए हैं। मम्मट ने भी इन पद्यों में क्रियाक्रियाविरोध तथा क्रियाद्रव्यविरोध माना है।

लघुयुक्त विवेचन से स्पष्ट है कि जहाँ रुद्रट के अभावमूलक विरोधों को मम्मट ने नहीं अपनाया वहाँ मम्मट द्वारा अपनाया दस भेदों को सर्वस्वकार ने आदर नहीं दिया। परवर्ती -

शोभाकर—शोभाकर मित्र ने अलंकाररत्नाकर में जाति, गुण, क्रिया, धर्ममात्र, द्रव्य तथा अभाव इनमें पूर्व पूर्व के पदार्थों का वाद-वाद के पदार्थों के साथ विरोध मानकर जाति विरोध के छ, गुणविरोध के पाँच, क्रियाविरोध के चार, धर्मविरोध के तीन, द्रव्यविरोध के दो तथा अभाव-विरोध का एक भेद मान विरोध के भेद ग्यारह के स्थान पर शक्रीस माने हैं। प्रत्येक का उदाहरण उन्होंने भी उसी प्रकार नहीं दिया जिस प्रकार सर्वस्वकार ने। अभावविरोध के लिए जो 'तं वीक्ष्य०' उदाहरण विमर्शनीकार ने दिया है वह उन्होंने रत्नाकर से ही लिया है। विरोध का लक्षण उन्होंने भी सर्वस्वकार के ही समान वामन से लिया है—'विरुद्धाभासत्वं विरोधः।'

अप्पयदीक्षित—कुवलयानन्दकार ने विरोधालंकार पर कोई विशेष विवेचन नहीं किया है। उन्होंने—चन्द्रालोक का ही—

'आमासत्वे विरोधस्य विरोधाभास इष्यते'।

—'विरोध यदि आभासरूप हो तो विरोधाभास माना जाता है—' यह लक्षण देकर—

'दिनापि तन्वि हारेण वशोजौ तव हारिणी'—

हे सुन्दरि ! तेरे उरोज बिना हार के भी हारी [ हार वाले, आकर्षक ] हैं।'—यह उदाहरण दे दिया है।

पृष्ठतराज—पृष्ठतराज जगन्नाथ ने विरोध का लक्षण दो विकल्पों में प्रस्तुत किया है—

( १ ) 'एकाधिकरणसम्बद्धत्वेन प्रतिपादितवोरर्थयोर्भासमानैकाधिकरणासंबद्धत्वम्, एकाधिकरणसम्बद्धत्वमानं वा विरोधः। यदा—

( २ ) 'एकाधिकरणसंबद्धत्वेन प्रसिद्धयोरेकाधिकरण — संबद्धत्वेन प्रतिपादनं सः।'

—‘एक ही अधिकरण में सन्निधिरूप से प्रतिपादित अर्थों का एक अधिकरण में संबन्धित न होने का आभास अथवा एक अधिकरण में संबन्धित न होने का मान विरोध कहलाता है। अथवा [ इसका उलटा ] एक अधिकरण में सन्निधित न होने वाले रूप से प्रसिद्ध अर्थों का एक अधिकरण में सन्निधितरूप में प्रतिपादन विरोध होता है।’ स्पष्ट ही रूढ़त की प्रथम विरोध-परिभाषा का यह नव्यन्यायमूलक विशुद्धीकरण है। तब भी इसमें एककालत्व की छोट दिया गया है। पण्डित-राज ने ‘आभास’ का अर्थ किया है ‘कुछ-कुछ भासित होने वाला’ = ‘आ = ईषद् भासत इत्या-भास’। इन्होंने शक्रीस भेदों को न मान दस भेदों को ही स्वीकार किया है। यद्यपि अभावमूलक भेदों का निरूपण भी कर दिया है। विशेषता यह है कि पण्डितराज ने धर्ममात्र तथा अभाव को जात्यादि के भीतर ही अन्तर्भूत मान लिया है। उनका कहना है—‘जात्यादिरिति धर्ममात्रं विवक्षितम्, उपलक्षणपरत्वात्, तेन ‘य. बालकोऽपि पुराणपुरुषः’ ‘अगोदारकोऽपि नागोदारकः’ इत्यादी सखण्डोपाधेरभावस्य च परिग्रहः।’

—‘जात्यादि का अर्थ है धर्ममात्र। अतः जो ‘बालक होते हुए भी पुराणपुरुष है, जो अगो-दारक [ वृक्ष का उद्धारकर्ता ] होते हुए भी नागोदारक [ वृक्ष का उद्धार न करने वाला, नाग = कुवलयपीठ हाथी का उद्धारक ] है—’ इत्यादि स्थलों में उपलब्ध पुराणपुरुषत्व आदि खण्डोपाधि तथा अभाव का समग्र भी हो जाता है।’ पण्डितराज ने उक्त दस भेदों को भी सर्वस्वकार के ही समान अदृष्ट माना है और कहा है—

‘वस्तुतो जात्यादिभेदानामदृष्टत्वाच्छुद्धत्वश्लेषमूलत्वान्मां द्विविधो ज्ञेयः।’

—‘सत्य यह है कि जात्यादि भेदों में कोई चमत्कार नहीं है अतः विरोध के शुद्ध और श्लिष्ट इस प्रकार केवल दो ही प्रकार का मानना चाहिए।’ [ रसभगाधर विरोधप्रकरण ]।

विश्वेश्वर—विश्वेश्वर ने भी मम्मट से ही मिलती पदावली में—

‘अविरोधेऽपि विरोधो यत्रोक्तः स्याद् विरोधः सः।

स्याज्जातेर्गुणकभेद्व्याणां स्वस्वपरयोगात् ॥’

इस प्रकार विरोध का लक्षण तथा उसके दम ही भेद स्वीकार किए हैं।

मजीबिनीकार श्रीविद्याचक्रवर्ती ने विरोध के सर्वस्वकाररूप संपूर्ण विवेचन का सार समग्र इस प्रकार किया है—

‘विरोधस्तु तदभासो जात्याद्यवसमाश्रयः।

तद्वैचित्र्याद् दशविधो विषयैक्ये व्यवस्थितः ॥’

—‘विरोध कहलाता है विरोध का आभास। यह जाति आदि पर निर्भर रहता है और शक्री विशेषता से दस प्रकार का होता है। यह वहीं होता है जहाँ विषयैक्य रहता है।’

[ सर्वस्व ]

एवं विरोधमुक्त्वा विरोधमूला अलंकाराः प्रदर्श्यन्ते। तथापि कार्य-कारणमात्रमूलत्वे विभावनां तावदाह—

[ सू० ४२ ] कारणाभावे कार्यस्योत्पत्तिर्विभावना।

इह कारणान्त्रयस्यतिरेकानुविधानात् कार्यस्य कारणमन्तरेणासंभवः। अन्यथा विरोधो दुष्परिहरः स्यात्। यदि तु कयाचिद् भङ्ग्या तथाभावे

उपनिबध्यते तदा विभावनाख्योऽलंकारः । विशिष्टतया कार्यस्य भावनात् । सा च भङ्गिर्विशिष्टकारणाभावे कार्योपनिबन्धः । अप्रस्तुतं कारणं वस्तुतोऽस्तीति विरोधपरिहारः । कारणाभावेन चोपक्रान्तत्वाद् बलघता कार्यमेव वाध्यमानत्वेन प्रतीयते, न तु तेन कारणाभाव इत्यन्योन्यबाधकत्वानुप्राणिताद् विरोधालंकाराद् भेदः । एवं विशेषोक्तौ कार्याभावेन कारणसत्ताया एव वाध्यमानत्वमुन्नेयम् । येन सापि विरोधाद् भिन्ना स्यात् ।

इह च लक्षणे यद्यप्यन्यैः कारणपदस्थाने क्रियाग्रहणं कृतं तथापीह कारणपदमेव विहितम् । नहि सर्वैः क्रियाफलमेव कार्यमभ्युपगम्यते । वैयाकरणैरेव तथाभ्युपगमात् । अतो विशेषमनपेक्ष्य सामान्येन कारणपदमेवेह निर्दिष्टम् ।

इस प्रकार विरोध का निर्वचन किया । अब विरोधमूलक अलंकार बतलाए जा रहे हैं । इनमें भी कार्यकारणभावमूलक अलंकारों में प्रथमतः विभावना का निर्वचन करते हैं—

[ सू० ४२ ] कारण के अभाव में कार्य की उत्पत्ति [ बतलाई जाए तो अलंकार की संज्ञा ] विभावना [ होती है ] ।

[ वृ० ] यहाँ कारण के होने न होने पर कार्य का होना न होना निर्भर रहता है इसलिए कारण के बिना कार्य की निष्पत्ति संभव ही नहीं होती । ऐसा न हो तो विरोध का परिहार करना संभव न हो । शतने पर भी यदि किसी प्रकार वैसा [ कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति का ] उद्गम किया जाता है तो वहाँ अलंकार विभावना नामक होता है, क्योंकि इसमें 'वि = विशिष्ट' रूप से कार्य का भावन = उत्पादन यह व्युत्पत्ति लागू होती है । वह प्रकार है विशिष्ट [ प्रसिद्ध ] कारण के अभाव में कार्य की उत्पत्ति बतलाना । यहाँ धाने वाला विरोध 'अप्रस्तुत कारण वस्तुतः विद्यमान है' इस धान से हट जाता है । यहाँ कथन का आरम्भ कारणभाव के प्रतिपादन से होता है अतः वहाँ बलवान् होता है, फलतः उसके द्वारा कार्य ही बाधित होता-सा प्रतीत होता है, न कि उस [ कार्य ] के द्वारा कारणभाव [ बाधित होता है ], फलतः अन्योन्यबाधकत्व पर निर्भर विरोध नामक अलंकार से [ इस अलंकार का ] अन्तर हो जाता है । इसी प्रकार विशेषोक्ति में कार्याभाव के द्वारा कारणसद्भाव बाधित होता प्रतीत होता हुआ जानना चाहिए । फलतः वह भी विरोध से भिन्न सिद्ध होती है ।

यद्यपि यहाँ लक्षण में [ भामह, वामन, उद्भट और मम्मट इन ] अन्य आचार्यों ने कारणशब्द के स्थान पर क्रियाशब्द अपनाया है तथापि [ ग्रन्थकार ने ] यहाँ कारणशब्द का ही विधान किया, क्योंकि ऐसा नहीं है कि कार्य को क्रिया का ही फल सभी [ दार्शनिक ] मानते हों । वैसी मान्यता तो केवल वैयाकरणों की ही है । इस कारण विशिष्ट [ केवल वैयाकरण को अभिमत पदावली ] को छोड़ यहाँ [ विभावनालक्षण को ] सामान्य [ सर्वमान्य ] रत्नाने के लिए कारण पद का उपयोग किया ।

### विमर्शिनी

तावदिति प्रथमम् । कारणाभावे कार्योत्पत्तेरत्यन्तं विरुद्धत्वात् । आदेति । कारणाभाव इत्यादिना । तत्र तावत् कार्यस्य कारणपरतन्त्रतां दर्शयति—इहेत्यादिना । यदुक्तम्—

'यो हि येन विना नास्ति यस्मिंश्च विद्यते क्रिया ।

तदेव कारणं तस्य नान्यत् कारणमुच्यते ॥' इति ।



अन्यथेति । यद्वि कारणं विनापि कार्यस्य संभव उपनिषद्यत इत्यर्थः । ननु यद्येवं तत्कथं कारणभावे कार्योत्पत्तिरूपा विभावना भवतीत्यादाह—यदि स्थित्वादि । तथाभाव इति कारणभावे कार्योत्पत्तिः । अत एव कार्यस्य विनिश्चयम् । सेति । यथा भङ्ग्या कारण विनापि कार्यस्य संभव उपनिषद्यत इत्यर्थः । विशिष्टेति प्रसिद्धम् । विरोध-परिहार इति । अग्रिमद्वयस्य कारणान्तरस्य प्रस्तुतत्वात् । ननु यद्येवं तत्कथमय विरोध एव न भवतीत्यादाह—कारणेत्यादि । तेनेति कार्येण । यदुक्तम्—

‘कारणस्य निषेधेन चाप्यमान, फलोदयः ।

विभावनायामामाति विरोधोऽन्योन्यबाधनम् ॥

अतो दूरविभेदोऽस्या विरोधेन व्यवस्थितः ।’ इति ।

एतदेव प्रमत्ताद्-विशेषोक्तेरप्याह—एवमित्यादि । एतदकस्मिन्पक्षायमपपाठः । तथा हि—‘हरतापि तनु यस्य’ इत्यादीं बलाहरणेन कार्यभावेन तनुहरणरूप कारणं न चाप्यते अपि तु सत्यपि तनुहरणायै सामग्र्ये कथं न बल हतमिति कार्यभावरूपैव चाप्यत्वेन प्रतीतिः । तस्मात् ‘एव विशेषोक्ती कारणसत्तया कार्यभावरूपैव चाप्यमानत्वमुन्नेयम्’ इति पाठो ग्राह्यः । एतदेव राजानकनिलकण्ठनाप्युक्तम्—‘कारणसामग्र्यमिह बाधकत्वेनैव प्रतीयते कार्यानुत्पत्तिस्तु बाध्यत्वेन’ इति । ग्रन्थकृष प्रयस्तन्मतानुवर्षेव । तदुक्तसमानन्यायोऽस्माभिः पाठो लक्षितः । येनेति । एकस्यैव चाप्यत्वेन प्रतीतिः । ननु च ‘क्रियायाः प्रतिषेधेऽपि यत्फलस्य विभावनम् । ज्ञेया विभावना-’ इत्यादिनोद्गतादिभिरेतदलक्षणे क्रियाग्रहणं कृतमिति कथमिह तदुक्तत्वेन कारणग्रहणं कृतमित्यादाह—इदित्यादि । सर्वैरिति यौद्धादिभिः । अत इति । वैयकारणैरेव क्रियाफलस्य कार्यस्यानुपगमात् । सामान्येनेति । सर्वैवादिसाधारणतयैत्यर्थः । सर्वैवादिसाधारणोऽय ग्रन्थः ।

तावत् = प्रथमतः । इसलिये कारण के अभाव में कार्य की उत्पत्ति अत्यन्त विरुद्ध होती है । आह—निर्वचन करते हैं, ‘कारणभावः’ इत्यादि के द्वारा । यहाँ पहले कार्य को कारण पर निर्भर बतलाने हैं—‘इह’ इत्यादि के द्वारा । जैसा कि कहा है—‘जो जिसके बिना [संभव] नहीं होता तथा जिसमें क्रिया रहती है वही उस [कार्य] का कारण होता है । अन्य किसी को कारण नहीं कहा जाता ।’ अन्यथा = अर्थात् यदि कारण के बिना भी कार्य की उत्पत्ति बतलाई जाती है । यदि ऐसा है तो कारण के अभाव में कार्योत्पत्तिरूपी विभावना कैसे मानी जाती है—ऐसी शंका कर कहते हैं—यदि तु । तथाभावः = वैसा वर्णन अर्थात् कारण के अभाव में कार्य की उत्पत्ति का वर्णन । इसीलिये यहाँ कार्य विशिष्ट [ असामान्य ] हुआ । सा = जिस प्रकार से कारण के बिना भी कार्य की उत्पत्ति बतलाई जाती है । विशिष्ट = प्रसिद्ध । विरोधपरिहार = क्योंकि वहाँ अन्य कोई अप्रसिद्ध कारण उपस्थित रहता है । यदि ऐसा है तो यह [ विभावना ] विरोध ही क्यों नहीं मान ली जाती’ इस शंका पर उत्तर देने हैं—कारण इत्यादि । तेन = उससे = कार्य से । जैसा कहा है—‘विभावना में कारणभाव से कार्योत्पत्ति का बाध प्रतीत होता है, जब कि विरोध में एक दूसरे से एक दूसरे का बाध । इसलिये विरोध से इस [विभावना] का पर्याप्त अन्तर है ।’

श्री मर्म्य में विशेषोक्ति से भी विरोध का भेद बतलाने हुए लिखते हैं—एवम् इत्यादि के द्वारा । वस्तुतः पक्ष का यह रूप किसी प्रतिलिपिकार की कल्पना है, जो गलत है । क्योंकि [ आगे दिए जाने वाले ] ‘हरतापि तनुम्’ पक्ष में और ऐसे ही अन्य स्थलों में ‘बल के न हरे जाने-’ रूप कार्योत्पत्ति से ‘शरीर का हरा जाना’ रूप कारण बाधित नहीं होता । प्रत्युत ‘शरीर-

हरणरूप कारण के रहने पर भी फल का हरण क्यों नहीं हुआ' इस मानसविकल्प के द्वारा कार्य का अभाव ही वाधित प्रतीत होता है। इसलिए यहाँ मूल पाठ यह मानना चाहिए— 'इवं विशेषोक्तौ०' = 'इसी प्रकार विशेषोक्ति में कारणसद्भाव के द्वारा कार्याभाव वाधित होता समझा जाना चाहिए'। राजानक तिलक ने भी यही कहा है—'यहाँ कारणों की समप्रता वाधकरूप से ही प्रतीत होती है और कार्य की अनुत्पत्ति वाच्यरूप से।' ग्रन्थकार प्रायः उनके मत का अनुसरण ही करते हैं। अतः हमने उनके [ इस उद्धृत ] कथन से मिलता हुआ ही पाठ प्रस्तुत किया है। येन = जिससे अर्थात् किंसा एक के ही वाच्यरूप से प्रतीत होने के कारण। शंका—'क्रिया का अभाव रहने पर भी फल को जो विशिष्ट उत्पत्ति उसीको विभावना जानना चाहिए'—इत्यादि कश्कर उद्भट आदि ने इसके लक्षण में क्रियाशब्द अपनाया है। आपने उसका उल्लंघन कर कारणशब्द का ग्रहण क्यों किया है ऐसी शंका कर उत्तर देते हैं— 'इह'०—इत्यादि। सर्वैः = बौद्ध आदि के द्वारा। अतः = वैयाकरणों ही ने कार्य को क्रिया का फल स्वीकार किया है। सामान्येन = सामान्यरूप से अर्थात् सभी दार्शनिकों को अभिमतरूप से। [ कारण शब्द दे देने से अब ] यह ग्रन्थ सर्वमान्य हो गया।

[ सर्वस्व ]

यथा—

'असंभृतं मण्डनमङ्गयष्टेरनासवाख्यं करणं मदस्य ।

कामस्य पुष्पव्यतिरिक्तमस्त्रं बाल्यात् परं साथ वयः प्रपेदे ॥'

अत्र द्वितीये पादे मदस्य प्रसिद्धं यदासवाख्यं करणं तदभावेऽपि यौवनहेतुकत्वेनोपनिबन्धः कृतः । मदस्य च द्वैविध्येऽप्यभेदाध्यवसायादेकत्वमतिशयोक्त्या । सा चास्यामव्यभिचारिणीति न तद्वाघेनास्या उत्थानम् , अपि तु तदनुप्राणितत्वेन ।

इयं च विशेषोक्तिवदुक्तानुक्तनिमित्तभेदाद् द्विविधैव । तत्रोक्तनिमित्तोदाहृता । अनुक्तनिमित्ता यथा—

'अङ्गलेखामकाश्मीरसमालम्भनपिञ्जराम् ।

अनालक्तकताम्राभामोष्ठलेखां च विभ्रतीम् ॥'

अत्र सहजत्वं निमित्तं गम्यमानम् । असंभृतं मण्डनमिति, कामस्य पुष्पव्यतिरिक्तमस्त्रमिति चात्र विवदन्त—इयमेव विभावनेति केचित् । संभरणस्य पुष्पाणां च मण्डनमस्त्रं प्रत्यकारणत्वाद् वाङ्मात्रमेतत् । एकगुणहानौ विशेषोक्तिरित्यन्ये । रूपकमेवाधिरोपितवैशिष्ट्यमिति त्वपरे । आरोप्यमाणस्य प्रकृते संभवात् परिणाम इत्यद्यतनाः ।

[ ( उक्तनिमित्ता ) विभावना का उदाहरण ] यथा—

'अब वह [ पार्वती ] अंगयष्टि का साजसज्जारहित अलंकरण, आसवनाभरहित मद का कारण, काम का पुष्पभिन्न अस्त्र जो बाल्य के बाद का वय [ यौवनारम्भ ] उसमें पहुँची । [ कुमारसं० १ । ] —यहाँ द्वितीय चरण में नशे का जो आसवनामक प्रसिद्ध कारण है उसके अभाव में भी मद की यौवन से उत्पत्ति बतलाई गई है । वस्तुतः [ आसवननित और यौवनजनित ] मद दो अलग-अलग प्रकार के हैं तथापि [ एकशब्दवाच्यतामूलक ] अतिशयोक्ति के

द्वारा अभेदाध्यवसाय होने से [ यहाँ ] दोनों एक हैं । यह [ अतिशयोक्ति ] यहाँ [ विभावना में ] नियमन. रहेगी ही अतः इस [ विभावना ] की निष्पत्ति उस [ अतिशयोक्ति ] के बाध से नहीं होनी, अपितु उससे अनुप्राणित होकर होती है ।

विशेषोक्ति के [ ही ] समान यह [ विभावना ] दो प्रकार की होती है उक्तनिमित्ता तथा अनुक्तनिमित्ता । इनमें से उक्तनिमित्ता का उदाहरण [ असंभृतम् ] दिया जा चुका है । अनुक्तनिमित्ता का उदाहरण यह है—

‘अगलेखा [ अगयष्टि ] जो केशर रस के लेप के बिना ही पीत वर्ण की थी तथा ओड़लेखा जो बिना आलकक के ताम्रवर्ण की थी, का धारण की हुई [ पार्वती ] ।’

—यहाँ अपने आप उत्पन्न होना रूपी कारण [ शुद्धत. कथित नहीं है, अतः ] गम्य है ।]

‘साजसज्जारहित मण्डन’ यह, और ‘काम का पुष्पमित्र अक्ष’ यह [ जो अंश है ] इस पर कुछ विचारक [ हमारे ] विरुद्ध मान्यता प्रस्तुत करते और कहते हैं ‘[ वस्तुतः ] विभावना यहाँ [ अथवा यह विभावना ही ] है’, [ किन्तु सत्य यह है कि ] यह उक्तिमान है [ उक्तिवैविध्यरूप अलङ्कार नहीं ], क्योंकि साजसज्जा और पुष्प क्रमशः मण्डन और अक्ष के प्रति कारण नहीं हैं । अन्य आचार्य [ वामन आदि ] यहाँ [ वैविध्य का अनुमन करते और ] एक गुण की दृष्टि से होने वाली विशेषोक्ति मानते हैं । दूसरे [ उद्भटादि ] आचार्य वैशिष्ट्य के आरोप से युक्त रूपक मानते हैं । यहाँ आरोप्यमाण [ मण्डन, अक्ष ] प्रकृत [ वय ] में समव है अतः आधुनिक विचारक यहाँ परिणाम स्वीकार करते हैं ।

### चिमर्दिनी

द्वितीय इति । अन्यपादयोर्न विभावनेत्यर्थः । यौवनहेतुकत्वेनेति । समाधानायाप्रसिद्धं कारणमाश्रित्येत्यर्थः । अन्यथा हि विरोधपरिहारो न स्यात् । ननु चासवत्रमितोऽन्य एव मद्दो यौवनहेतुकश्चान्य एवेत्यत्र यौवनहेतुक एव विवक्षित इति कथं कारणाभावे कार्यस्योपपत्तिरित्याशङ्क्याह—मदस्येत्यादि । द्वैविध्य इति चैव्यदर्परूपे । सेत्यतिशयोक्ति । अन्यभिचारिणीति । अतिशयोक्तिं विनास्या अनुस्थानात् । अत एवेयमतिशयोक्त्यनुप्राणितैव भवतीति सिद्धम् । तदेवाह—तदनुप्राणितत्वेनेति । यदुक्तमन्यत्रापि—‘आश्लिष्टातिशयोक्तिश्च सर्वत्रैव विभावना’ इति ।

‘निहपादानसंभारमभित्तावेव तन्वते ।

जगच्चित्रं नमस्तस्मै ककारलाप्याय शूलिने ॥’

इत्यत्र तु जगत उपादानादिविरहेणैव भगवत्कार्यस्य वास्तवत्वाद् विभावनैव नास्तीति कस्यातिशयोक्त्यनुप्राणितत्व स्यात् । एवम्—

‘ण अ रुवं ण अ ऋद्धी णावि कुलं ण अ गुणा ण विष्णुणां ।

एमे अ तह वि कसस वि को वि अणो चत्तहो होह ॥’

इत्यादावपि ज्ञेयम् । अतश्च कश्चिद्बुद्धस्यापि संभवात् सर्वत्रास्यातिशयोक्त्यनुप्राणितत्वमिति न वाच्यमिति यदुक्तं तदयुक्तम् । विशेषोक्तिवदिति । विशेषोक्तौ प्राच्यैर्यथोक्तमित्यर्थः ।

अत्र चाप उदाहरणे द्वितीयपाद एव विभावना व्याख्येया न पुनरन्यैर्यथोक्तमित्याह—असंभृतमित्यादि । केचिदिति विवदन्त इति संबन्धः । अकारणत्वादिति । संभरणादि हिमण्डनादेः स्वरूपम् । यथेवं तद्व्याख्यः कोऽलङ्कार इत्याशङ्क्याह—एकेत्यादिना ।

अन्य इति वामनीयाः । अपर इत्यौद्गटाः । तृतीयस्तु पक्षो न ग्राह्यः' लेखकपरिकल्पित-  
त्वात् । तथाह्यारोप्यमाणस्य प्रकृते संभव इति न परिणामलक्षणम् । आरोप्यमाणस्य  
प्रकृत उपयोग इति तस्य लक्षितत्वात् । संभवोपयोगयोश्च नैकत्वम् । भिन्नत्वात् । ग्रन्थ-  
कृतापि साहित्यमीमांसायामेतच्छ्लोकविवृतौ पक्षद्वयमेवोक्तम् । लेखकैश्चास्य ग्रन्थस्य  
प्रतिपक्षमेव विपर्यासः कृतः । तथा चात्रैवासंभृतमित्यादिको ग्रन्थस्तदनुप्राणितत्वेनेत्य-  
स्य पश्चाद्गुणपत्रोऽपि गम्यमानमित्यस्य पश्चाद्विहितः । एतच्च न तथा दृष्यमाणमित्यस्मा-  
भिर्यथास्थित एव ग्रन्थो व्याख्यातः ।

द्वितीय = द्वितीय चरण कहने का अर्थ यह है कि अन्य दो [ प्रथम तथा तृतीय ] चरणों  
में विभावना नहीं है । 'यौवनहेतुकत्वेन' 'यौवन से जनित अर्थात् समाधान के लिए अप्रसिद्ध  
कारण को अपना कर । अन्यथा विरोध का परिहार न होता । [ शंका ] आसन्नजनित मद अन्य  
ही है और यौवनजनित अन्य ही, यहाँ यौवनजनित मद ही विवक्षित है तब कारण विद्यमान  
ही है उस ] के अभाव में कार्य को उत्पत्ति कैसे बतलाई जा रही है' ऐसी शंका कर उचर देते  
हैं—मदस्य० । द्वैविध्य = क्षीबता [ नशा ] रूप और दर्प रूप । सा = वह = अतिशयोक्ति ।  
अव्यभिचारिणी = अतिशयोक्ति के बिना इस [ विभावना ] की निष्पत्ति नहीं होती इसलिये  
सिद्ध यह हुआ कि यह [ विभावना ] अतिशयोक्ति से सदा ही अनुप्राणित रहती है ।  
इसी को कहते हैं—तदनुप्राणितत्वेन । जैसा कि अन्यत्र भी कहा गया है—'विभावना सदा  
अतिशयोक्ति का आलिंगन किए रहती है ।'

'बिना उपादान सामग्री के और बिना मिति के जगद रूपी चित्र बनाने वाले अतः श्लाघ्य  
फला वाले भगवान् शंकर को नमस्कार है ।

—यहाँ तो जगत् उपादान के बिना ही वास्तविकरूप से भगवान् का कार्य सिद्ध होता है  
अतः यहाँ [ अलंकाररत्नाकरकार द्वारा स्वीकार की गई ] विभावना ही नहीं है फलतः अति-  
शयोक्ति से अनुप्राणित किसे माना जाय । इसी प्रकार—[ रत्नाकरकार द्वारा विभावना के  
लिए उद्धृत ]—

'न च रूपं न ऋद्धिर्नापि कुलं न च गुणा न विधानम् ।

एवमेव तथापि कस्यापि कोऽपि जनो बहभो भवति ॥'

—'न तो रूप ही रहता, न ऋद्धि [ धन ] न कुल, न गुण और शिल्प [ विधान ] ही ।  
तथापि, ऐसे ही किसी के लिए कोई जन प्रिय होता है ।'—इस और ऐसे ही अन्य स्थलों में  
भी जानना चाहिए । [ प्रीति जिस प्रकार सहेतुक होती है उसी प्रकार अहेतुक प्रीति भी  
होती है, अतः यहाँ वस्तुकथनमात्र है अलंकार नहीं ] और इसीलिए [ अलंकाररत्नाकरकार  
ने 'निरुपादान०' पद्य में अतिशयोक्तिरहित शुद्ध विभावना मानकर सर्वस्वकार की 'विभावना  
सदैव अतिशयोक्ति से अनुप्राणित रहती है'—इस मान्यता का निराकरण करते हुए जो—]  
'कहाँ शुद्ध [ अतिशयोक्तिरहित ] विभावना भी संभव है अतः यह सर्वत्र अतिशयोक्ति से  
अनुप्राणित रहती है ऐसा नहीं कहना चाहिए'—यह कहा है [ अलंकाररत्नाकर पृ० १४ ]  
वह ठीक नहीं है । वह 'विशेषोक्तिवत्' = विशेषोक्ति के समान—' अर्थात् प्राचीन आचार्यों  
ने जो भेद केवल विशेषोक्ति में बतलाए हैं, वे इस विभावना में भी संभव हैं ।

यहाँ जो पहला [ असंभृतम्० ] उदाहरण है उसमें विभावना केवल दूसरे ही चरण में है ऐसी  
व्याख्या करना चाहिए न कि अन्य लोगों ने (?) जैसा कहा है । यही कहने के लिए लिखते  
हैं—असंभृतं इत्यादि० । 'केचित्' = इसका संबन्ध 'विवदन्ते' से है । अकारणत्वात् = कारण न  
होने से—अर्थात् संभरण = साजसज्जा आदि तो मण्डन स्वरूप ही हैं, उनसे भिन्न नहीं, जो कारण

है। 'यदि ऐसा है तो यहाँ दूसरा कौन अलङ्कार है'—ऐसी शका उठाकर लिखते हैं—एक० इत्यादि। अन्ये = अन्य अर्थात् वामनानुयायी। अपरे = दूसरे अर्थात् उद्गटानुयायी। तृतीय [ परिणामपक्ष ] अप्राप्त है क्योंकि वक्ष प्रतिलिपिकार द्वारा जोड़ा गया है। इसलिए कि परिणाम का 'आरोप्यमाण का प्रकृत में समव'—यह लक्षण नहीं है। इसका लक्षण तो ग्रन्थकार ने 'आरोप्यमाण का प्रकृत में उपयोग' ऐसा दिया है। समव और उपयोग दोनों एक नहीं हो सकते। वे भिन्न हैं। ग्रन्थकार ने साहित्यमीमांसा में जहाँ इस पद्य की व्याख्या की है वहाँ [ विशेषोक्ति और रूपक के ] दो ही पक्ष प्रस्तुत किए हैं [ परिणाम पक्ष नहीं ]। यह तो स्पष्ट है कि लिपिकारों ने इस ग्रन्थ में पदे पदे उलट कर किए हैं। यहाँ 'असृष्टम्' इत्यादि [ अर्थात् 'असृष्टम्-अद्यतनाः' इस अन्तिम ] ग्रन्थाश को रखना उचित था 'तदनुप्राणितत्वेन' के पश्चात्, किन्तु उसे रखा है 'गम्यमानम्' इसके पश्चात्। यह उतना सदेव नहीं था, इस कारण हमने ग्रन्थ स्थिति को सुधारे बिना ही व्याख्या कर दी है। [ विमर्शनीकार का सुझाव ठीक है। दक्षिणी पौधियों में ऐसा पाठ मिलता भी है ]।

विमर्श—सर्वस्वकार ने 'असृष्टं०' पद्य में विभावना इसलिए मानी कि उद्गत ने 'अगलेत्ता०' पद्य में विभावना मानी थी। उद्गत के पुत्र कुमारसमव के इस पद्य पर कालिदास के कुमारसमव के उपर्युक्त 'असृष्टम्' पद्य की स्पष्ट ही छाया है। समानभाव वाला होने से सर्वस्वकार ने 'अगलेत्ता' पद्य को छोड़ 'असृष्ट' पद्य को अपनाया यद्यपि उन्हें इस पद्य में अरुचि भी है। वस्तुतः उनकी अरुचि निर्मूल है। उनका कहना है कि इस पद्य में केवल द्वितीय चरण में ही विभावना है। प्रथम तथा तृतीय चरण में नहीं। इसका कारण उन्होंने यह माना है कि प्रथम तथा तृतीय चरणों में जिसके अभाव में जिसकी उत्पत्ति बनलाई गई है उनमें परस्पर में काय कारणभाव नहीं है। अर्थात् प्रथम चरण में जो संभरण और मण्डन हैं वे एक दूसरे के कारण नहीं हैं। वे परस्पर में अभिन्न हैं अर्थात् जो संभरण है वही मण्डन है तथा जो मण्डन वही संभरण। इसी प्रकार पुष्प भी काम के बाणों के कारण नहीं खद्युत बाण ही है। वस्तुतः संभरण का अर्थ सर्वस्वकार ने ठीक नहीं समझा। वे उसे क्रिया रूप या क्रियाफल समझ गए। कवि की विवक्षा उससे भिन्न है। वह कहना चाहता है कि यौवन के आते ही बिना अलंकरण सामग्री के शरीरवष्टि का रोम रोम अलंकृत हो गया। असृष्ट शब्द का अर्थ 'संभरण या सामग्री के बिना' है। कालिदास के ही इस पद्य से यह तथ्य स्पष्ट है—

'अथ मधु वनितानां नेत्रनिर्वेदनीय मनमिजतरु पुष्पं रागबन्धप्रवालम्।

अकृतकविधिसर्वाङ्गीणमावलयकजात विलसितपदमाद्य यौवन स प्रपेदे ॥' [रघु० १८।५२]

'अग्निवर्ण यौवन में पहुँचा। यौवन क्या था, वनितार्थों के द्वारा आँसों से पिया जाने वाला मधु था, कामवृक्ष का रागबन्धरूपी प्रवाल से मण्डित पुष्प था, बिना बनावट के अंग अंग का अलंकरण था और विलास का घर था।'

यहाँ 'अकृतकविधि' शब्द से निकलते कृतकशब्द द्वारा कृत्रिमता और कृत्रिमता द्वारा मण्डन के ऊपरी साजसज्जा से बनावट जाने का तथ्य स्पष्ट है। स्त्री और पुरुष के मण्डन में जिन जिन वस्तुओं की आवश्यकता होती थी कालिदास ने उनका भी उल्लेख राग्याभियेक के पूर्व हुए अतिथि के अलंकरण में [ रघु० १८।२२-२५ ], तथा शिव और पार्वती के विवाह के प्रकरण [ कुमारस. ७ ] में एक एक करके कर दिया है। 'समार' शब्द का प्रयोग भी वे सामग्री के लिए करते हैं। रघुवंश में भगवान् राम के यज्ञ का वर्णन करते हुए वे लिखते हैं—

'विधेरधिकसंभारतत' प्रवृत्ते मत्तः।

आसन् यत्र क्रियाविधा राक्षसा एव रक्षिणः ॥ १५।३२ ॥

'यश्च आरम्भ हुआ, जिसमें संभार विधिसे अधिक था और जिसमें यशस्वंसक राक्षस ही रक्षक थे' इस पद्य में विधि से अधिक संभार का अर्थ यह है कि यश्च विधान में जितनी सामग्री अपेक्षित थी उससे भी अधिक सामग्री वहाँ थी। कालिदास बड़ा और विधि के साथ वित्त भी यश्च के लिए अपेक्षित मानते हैं—

'श्रद्धा वित्तं विधिश्चेति त्रितयं तत् समागतम्'—[ शाकुन्तल ७ ]

'शकुन्तला, सर्वदमन तथा दुष्यन्त तीनों का मिलन एक प्रकार से श्रद्धा वित्त और विधि का मिलन है।' इस प्रकार 'असंभृतम्' का अर्थ सामग्री रहित करना ही ठीक है। सामग्री और मण्डन में कार्यकारणभाव सिद्ध ही है। फलतः प्रथम चरण में भी विभावना मानी जा सकती है।

तृतीय चरण में भी विभावना मानी जा सकती है क्योंकि काम के वाण के प्रति पुष्प कारण रूप से प्रसिद्ध है। कालिदास स्वयं लिखते हैं—

'सद्यःप्रवालोलूढमचारुपत्रे नीति समाप्तिं नवचूतवाणे ।

निवेशयामास मधुर्द्विरेफान् नामाक्षराणोव मनोभवस्य ।' [ कु० ३१२७ ]

— नवीन आम्रपुष्प रूपी वाण तत्काल निकली कोंपलों के लाल लाल पत्तों से युक्त होकर जब पूरा बन चुका तब वसन्त ने उसपर मानों मौरों को कामदेव के नामाक्षर के रूप में जड़ा रूपष्ट है कि पुष्प सृष्टिकास्थानीय है और वाण घटस्थानीय। दूसरे शब्दों में वृक्ष मानों बॉस है, पुष्प बॉस की पतली शाखा अथवा कटी और छँदी छण्डी। वाण नहीं। वाण वह तब बनती है जब उसमें पीछे पंख लग जायें। पंख हैं पत्ते। रति विलाप करते हुए वसन्त के लिए एक विशेषण प्रयुक्त करती है—'कुसुमायोजितकामुंको'—

'श्व नु ते हृदयंगमः सखा कुसुमायोजितकामुंको मधुः । [ कु० ४१२४ ]

'तुम्हारा प्रिय मित्र वसन्त कहा है जो पुष्पों से तुम्हारा धनुष बनाया करता था।' इससे स्पष्ट है कि एक पुष्प न तो वाण ही बनता और न चाप ही। वाण और चाप की योजना पुष्पों की गूँथ गूँथ कर की जा सकती है। इसीलिए उपर्युक्त पद्य में आम्रमञ्जरी को वाण कहा है। मञ्जरी विशिष्ट आकार के पुष्प समुदाय का ही नाम होता है। संस्कृत के अन्य कवियों में भी यह अभिप्राय पर्याप्त मात्रा में मिलता है। इस प्रकार 'काम का वाण और 'पुष्प' इनमें भी कार्य कारणभाव सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार सर्वस्वकार का यह कथन कविसंमत नहीं कि पुष्प और वाण में कार्य कारणभाव नहीं है। हों वे इतना कह सकते थे कि तृतीय चरण में प्रसिद्ध कारण का अभाव प्रतिपादित नहीं है, अपितु अप्रसिद्ध कारण का प्रतिपादन विवक्षित है—'पुष्प व्यतिरिक्त वाण कहने का यही अभिप्राय हो सकता है। इस कारण यहाँ विभावना के एक अंश कारणभाव का अभाव है फलतः विभावना संभव नहीं। हो तो वह व्यंग्यमात्र हो सकती है, क्योंकि पुष्पव्यतिरिक्त कहने से पुष्प के अभाव में भी वाणनिष्पत्ति की गूँज सुनाई देती है। इस प्रकार प्रथम चरण में तो विभावना निश्चित रूप से विद्यमान है ही तृतीय चरण में विभावना भले ही सिद्ध न हो सर्वस्वकार द्वारा उसके अभाव के लिए दिया हेतु संगत सिद्ध नहीं होता।

पण्डितराज जगन्नाथ ने भी असंभृतम्—'पद्य पर सर्वस्वकार के उद्धृत तर्कों का खण्डन किया है। उनका कहना है कि—'यहाँ यौवन में दो तत्त्व प्रतिपादित किए जा रहे हैं एक तो आसव-भिन्नता और दूसरा मदकारणता। इनके प्रतिपादन से विभावना की निष्पत्ति संभव नहीं। यह तब संभव होती जब मद रूपी कार्य की निष्पत्ति बतलाई जाती और बतलाया जाता आसव का अभाव, साथ ही अन्य किसी कारण का अस्तित्व न बतलाया जाता। यहाँ तो यौवन रूपी

कारण का अस्तित्व ही बनलाया था रहा है अतः विभावना के लिए अपेक्षित कारणभाव रूपी एक अंग यहाँ नहीं है। यौवन भी भासव के ही समान मद का कारण है। [ ३० रसगंगाधर ५८४ पृ० ]

अन्ततोगत्वा पण्डितराज ने यहाँ प्रथम और तुनीय चरण में न्यूनाभेद रूपक मानने की संभावना व्यक्त की है और द्वितीयचरण में प्रतीयमान उत्प्रेक्षा। वस्तुतः इस पद्य में 'असंगृह्यं मण्डनम्' इस प्रथम चरण में ही हमारे द्वारा प्रतिपादित अर्थ के अनुसार शुद्धतम विभावना संभव है। शेष चरण विवादास्पद है।

### विभावना का इतिहास—

मामह, दण्डी, वामन, उद्भट, रुद्रट, मम्मट और सर्वस्वकार के विभावनाविवेचनों से विदित होता है कि विभावना का मूलभूत तत्त्व कारण के अभाव में कार्योत्पत्ति का वर्णन है। यह वर्णन अनेक प्रकार से किया जाता है अतः उक्त आचार्यों में से रुद्रट तथा दण्डी ने विभावना के एकाधिक प्रकार बतलाने का प्रयत्न किया है। उपर्युक्त आचार्यों का कालक्रम पूर्व प्रदत्त अलंकारों के इतिहास में स्पष्ट है अतः यहाँ इनके विभावना लक्षण उपजीव्य-उपजीवक भाव के आधार पर दिए जाते हैं—

#### मामह—तथा

उद्भट— 'क्रियायाः प्रतिषेधे वा तत्फलस्य विभावना ।

येवा [विभावनैवासी समाधौ सुलभे सति ॥

—[ कारणभूत ] क्रिया के अभाव में उसके फल की विभावना [ असंभव सी उत्पत्ति ] ही विभावना [ नामक अलंकार ] कहलाती है किन्तु यदि समाधान सुलभ हो ।' उदाहरण—

मामह = 'अपीतमसा- शिखिन' = पक्षी बिना मधुपानके मत्त थे ।'

उद्भट = सर्वस्वकार द्वारा उदाहृत 'अगलेखाम०' पद्य ।

वामन—[ सूत्र ] क्रियाप्रतिषेधे प्रसिद्धतत्फलव्यक्तिर्विभावना ॥'

[ वृत्ति ] क्रियायाः प्रतिषेधे तस्या एव क्रियाया फलस्य प्रसिद्धस्य व्यक्तिर्विभावना ।

—क्रिया की निषेधोक्ति के साथ साथ उसके फल के [ प्रसिद्ध = सिद्ध = ] निष्पन्न होने की [ व्यक्ति ] उक्ति विभावना कहलाती है। उदाहरण = अक्षालित विशुद्ध हृदय ।' स्पष्ट है कि मामह के लक्षण की पदावली में वामन ने अपनी ओर से केवल दो नए शब्द जोड़ दिए हैं एक प्रसिद्ध और दूसरा व्यक्ति। ये दोनों शब्द व्याख्यासापेक्ष हैं। संस्कृत में प्रसिद्ध शब्द का प्रयोग सिद्ध अर्थ में भी होता है [ ३० हमारा लेख—'कालिदास के शब्द'—नागरी प्रचारिणी पत्रिका २०१९ ] व्यक्ति का अर्थ नीचे दिए मम्मट के लक्षण तथा उसकी वृत्ति के अनुसार प्रकाशन है अतः एव हमने इसे 'उक्ति' शब्द से अनूदित किया है। मम्मट का लक्षण वामन के लक्षण का अधिक विशुद्ध और सारसक्षेप है—

मम्मट = [ सू० ] 'क्रियायाः प्रतिषेधेऽपि फलव्यक्तिर्विभावना' ।

[ वृत्ति ] 'हेतुरूपक्रियाया निषेधेऽपि तत्फलप्रकाशन विभावना ।

—हेतुरूप क्रियाया का अभाव [ अभावोक्ति ] रहने पर भी उसके फल की उत्पत्ति [ उत्पत्ति रूपन विभावना कहलाती है ।'

उदाहरण = 'बह वियोगिनी भ्रमरपंक्ति द्वारा न काटने पर भी लोट-वीट हो रही थी'  
[ अलङ्कारदृष्ट्यापि परिवर्तते स्म सा ]

इस प्रकार उक्त चार आचार्यों में विभावना का स्वरूप प्रायः एक ही पदावली में स्पष्ट किया हुआ मिलता है। इनके उदाहरणों में भी अभिव्यक्ति की एकरूपता मिलती है। सब में विभावना के दोनों अंग स्पष्ट हैं ( १ ) कारण का अभाव और ( २ ) कार्य की उत्पत्ति। दण्डी और रुद्रट ने इन अभिव्यक्तियों में विभावना का समर्थन किया किन्तु उन्होंने अन्य अभिव्यक्तियों पर भी विचार किया। इनके विवेचन इस प्रकार हैं :—

दण्डी = [ १ ] 'प्रसिद्धहेतुव्यापृत्त्या यत्किञ्चित् कारणान्तरम् ।

[ २ ] यत्र स्वाभाविकत्वं वा विभाव्यं सा विभावना ॥

—प्रसिद्ध हेतु को अलग का जहाँ कोई अन्य हेतु अथवा स्वाभाविकता प्रकाशित की जाए उसे विभावना कहते हैं।' उदाहरण—

१ = 'अपीतक्षीवकादम्बं जगत्' = शरत्काल में संसार कुछ ऐसा था जिसमें कादम्ब [ नीले हंस ] विना मद्यपान के मत्त थे ।'

२ = 'अकारणरिपुश्चन्द्रः' = चन्द्रमा विना कारण के शङ्कु है ।

इनमें से प्रथम में मत्तता का प्रसिद्ध हेतु मद्यपान इटाकर अन्य हेतु मद्यपानाभाव बतलाया गया है। द्वितीय में चन्द्र को अकारण अर्थात् स्वभावतः रिपु बतलाया गया है। अतः काव्यादर्शकार दण्डी के अनुसार दोनों स्थलों में क्रमशः पूर्वोक्त दोनों विभावनाएं हैं। वस्तुतः मद्यपान का अभाव अन्य कोई कारण नहीं, अपितु प्रसिद्ध कारण मद्यपान का अभाव ही है। इसका ठीक उदाहरण उपरि उद्धृत 'असंभृतं' इत्यादि पूर्ण पद्य है। उसमें यौवनरूपी नवीन कारण प्रस्तुत किया गया है। रुद्रट द्वारा आगे जो तीसरी विभावना बतलाई जाने वाली है उसका उदाहरण 'मदहेतुरनासवो लक्ष्मीः' भी इसके लिए उपयुक्त उदाहरण कहा जा सकता है। भामह और दण्डी दोनों के उदाहरणों में समानार्थकता विचारणीय है। द्वितीय विभावना में एक सूक्ष्म अन्तर है। यह कि विभावना में प्रायः कारण विशेष का उल्लेख कर उसका अभाव बतलाया जाता है। उपर्युक्त सभी उदाहरणों में मद्यपान, झालन, केसर तथा झमरदंश ऐसे ही कारण हैं जिनका अभाव बतलाकर उनके कार्य का सञ्जाव बतलाया गया है। 'अकारणरिपुश्चन्द्रः' में ऐसे किसी विशेष कारण का अभाव नहीं बतलाया गया। इस कारण इस उक्ति में उसका आक्षेप द्वारा ज्ञान होता है। ज्ञान होता है कि 'चन्द्रमा का वैसा कोई अहित वियोगी ने नहीं किया जैसा कि राहु आदि के द्वारा किया जाता है, अथापि चन्द्रमा उन बेचारों का बैरी बना हुआ है। इस प्रकार यहाँ विभावना बन तो आती है परन्तु वह अस्पष्ट या व्यङ्ग्य रहती है।

रुद्रट = रुद्रट ने कारण के अभाव के कार्य की उत्पत्ति के साथ साथ दो अन्य प्रकारों से भी विभावना बनाई है किन्तु उनके ये दोनों प्रकार प्रथम ३ कार में ही अन्तर्भूत हो जाते हैं तीनों प्रकार क्रमशः इस प्रकार हैं—

१ = 'सैयं विभावनाख्या यस्वामुपलभ्यमानमभिधेयम् ।

अभिधीयते यतः स्यात् तत्कारणमन्तरेणैव ॥'

—'जहाँ कोई पदार्थ विना उसके कारण के प्राप्त होता हुआ बतलाया जा रहा हो उसे विभावना कहते हैं।' उदाहरण = 'शं वो दिश्याद् दिनश्रुतैलपूरो जगदीपः।'—'वह सूर्य आपका कल्याण करे जो विना तैल भरे पूरे जगत् में उजाला करने वाला दीपक है।'

२ = यस्यां यथा विकारस्तत्कारणमन्तरेणैव सुव्यक्तः ।

प्रभवति वस्तु विशेषे विभावना सैयमन्या तु ॥'



—जहाँ कोई विकार अपने कारण के बिना ही किसी वस्तु में व्यक्त दिखलाया जाय तो वह एक अन्य विभावना होती है। यथा—

‘आता ते सखि सांप्तमश्रमपरिमन्धरा गतिः किमियम् ।  
करमाद्रमवदकरमादियममधुमदालसा दृष्टिः ॥’

—हे सखि ! तेरी यह गति बिना श्रम के मन्धर क्यों हो गई है और यह दृष्टि मधुमद के बिना अकम्माय ही अलसार्थ क्यों हो गई ।’

३ = ‘यस्य यथास्व लोके प्रसिद्धमर्थस्य विषये तस्मात् ।

अन्यस्यापि तथास्व यस्यामुच्येत सान्येयम् ॥’

कोई विशेषता किसी एक वस्तु में ही प्रसिद्ध हो किन्तु यदि उसे अन्य वस्तु में भी बतला दिया जाए तो वह भी एक प्रकार की विभावना होती है। यथा—‘मदहेतुरनासवो लक्ष्मीः’ = लक्ष्मी आसव नहीं है और मद का हेतु है।’ यहाँ मदजननकरूपी गुण है तो प्रसिद्ध बबल आसव में, किन्तु बतलाया जा रहा है वह लक्ष्मी में भी।’ वस्तुतः यही वह उदाहरण है जिसके लिए दण्डी का प्रथम लक्षण उपयुक्त ठहर सकता है।

उक्त अध्ययन से स्पष्ट है कि पूर्ववर्ती किसी भी आचार्य ने विभावना में उक्तहेतुत्व और अनुक्तहेतुत्व की कल्पना नहीं की। इनका श्रेय प्रथमतः सर्वस्वकार को ही प्राप्त है। यद्यपि यह भी स्पष्ट है कि प्राचीनों के उदाहरणों में वे दोनों बर्ण बनाए जा सकते हैं। ‘अपीतक्षीवता’ आदि में अनुक्तनिमित्ता और ‘लक्ष्मी अनासव मदहेतु है’ में उक्तनिमित्ता अप्रयासलभ्य है।

उक्त अध्ययन से यह भी स्पष्ट है कि विभावना निर्बचन में स्वीकार मामद् की परम्परा के अनुयायी है। दण्डी और रूद्रट के नवीन विकरणों में वे भी मौलिकता नहीं पाते।

परवर्ती आचार्यों में—

शोभाकर—‘हेत्वभावे फलोत्पत्तिविभावना’—

हेतु के अभाव में फल की उत्पत्ति विभावना’ इस प्रकार सर्वस्वकार का अनुमरण ही करते हैं। वे क्रियाशब्द को छोड़ सर्वस्वकार द्वारा मुझाप कारण शब्द को ही लक्षण में स्थान देते हैं। इसी प्रकार निषेध और व्यक्ति शब्द को उल्लेखन से बचने के लिए अलङ्कारसर्वस्वकार ने जो अभाव तथा उत्पत्ति शब्द दिए थे रत्नाकरकार उन्हें भी अपना लेते हैं। इतना अवश्य है कि प्राचीन आचार्यों के समान वे प्रसिद्धि और अप्रसिद्धि को भी लक्षण में स्थान देते हैं। जहाँ सर्वस्वकार कारण में प्रस्तुतत्व और अप्रस्तुतत्व का निवेश करते हैं वहाँ रत्नाकरकार प्रसिद्धि और अप्रसिद्धि का निवेश करते हुए लिखते हैं—

‘प्रसिद्धस्य हेतोरभावे फलोत्पत्तिविभावना । वस्तुतरिखद्वाप्रसिद्ध कारणमस्त्येव, अन्यथा विरोधो दुष्परिहर एव स्यात् ।’

—प्रसिद्ध हेतु के अभाव में फल की उत्पत्ति विभावना कहलाती है। यहाँ, सच यह है कि, अप्रसिद्ध कारण रहता ही है, नहीं तो विरोध का परिहार ही नहीं हो पायगा ।’

रत्नाकरकार का सर्वस्वकार से भिन्न अर्थ में विरोध है उसे विमर्शनीकार प्रस्तुत कर चुके हैं।

अप्यदीक्षित—ने विभावना के छ प्रकार बतलाए हैं—

१—कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति, उदाहरण = ‘अपीतक्षीव०’ ।

२—असमग्र हेतु से कार्योत्पत्ति = उदा० काम अतीशय बागों से अग्र को जीत लेता है ।

३—प्रतिबन्धक के रहने पर भी कार्य की उत्पत्ति = उदा०—आपका अमिर्ष नरन्द्रों [ राजा तथा विषवैदों ] को ही रक्षता है। सर्वदंश में विषवैध प्रतिबन्धक-माधक होता है ।

४—अन्य को कार्य की उत्पत्ति अन्य से = यथा—

यह 'शहू से वीणानाद हो रहा है' यहाँ गा रही सुन्दरी के कण्ठ के लिए शहू तथा उसके गान के लिए वीणा निनाद का प्रयोग है।

५—विरुद्ध वस्तु से विरुद्ध वस्तु के कार्य को निरूपति यथा—'उसे शीतांशु की किरणें तथा रही हैं।'

६—कार्य से कारण का जन्म = यथा—

तुम्हारे कर करपतक से यशरूपी पयोराशि उत्पन्न हुआ।'

सामान्यतः करपट्टश ही उत्पन्न होता है समुद्र से। इनमें से वस्तुतः प्रथम भेद को छोड़ शेष पाँचों में विरोधात्मकता के भेद हैं। पण्डितराज ने भी इसका प्रतिपद खण्डन किया है।

पण्डितराज जगन्नाथ—'कारणव्यतिरेकसामानाधिकरण्येन 'प्रतिपाद्यमाना कार्यात्पत्तिः विभावना'—

'कारण के अभाव के साथ-साथ कार्य की उत्पत्ति का बतलाना विभावना'। पण्डितराज ने अपने इस लक्षण के लिए प्रमाणरूप से मम्मद का लक्षण प्रस्तुत किया है—'तदुक्तम्—'क्रियायाः प्रतिषेधेऽपि फलव्यक्तिर्विभावना' इति। मम्मद को प्रामाणिक मानते हुए भी क्रिया और कारण के विक्षेप में पण्डितराज ने सर्वस्वकार को ही अधिक आदर दिया है।

'निरुपादान'० पद्य में पण्डितराज ने रत्नाकरकार का ही समर्पण किया है। उन्होंने कहा है कि भले ही संसार के प्रति अकेले भगवान् की ही कारणता संभव हो किन्तु संसार स्वरी चित्र के प्रति तो भगवान् अकेले कारण नहीं हो सकते। उसके लिए तो मणि आदि की आवश्यकता है ही। भगवान् में तो कोई वर्ण या रंग है नहीं। इस कारण इस पद्य में विभावना सिद्ध हो जाने पर वह भी सिद्ध हो जाता है कि विभावना में अतिशयोक्ति की सहायता अनिवार्य है क्योंकि इस पदार्थ में अतिशयोक्ति नहीं है। पण्डितराज ने कार्यांश में अतिशयोक्ति के अतिरिक्त रूपक या आहार्य अभेद बुद्धि को भी कहीं-कहीं सहायक माना है। 'जगच्चित्र' में वह है। अतिशयोक्ति या रूपक की अनिवार्यता का उद्देश्य 'खल लोग अकारण ही बैरी बन जाते हैं' इत्यादि सामान्य वाक्यों में विभावना का परिहार है। यहाँ बैररूपी कार्य में न तो अतिशयोक्ति है और न रूपक। 'खल लोग अकारण ही संताप देते हैं' इस वाक्य में कार्यांश संताप में अतिशय है, क्योंकि अग्नि आदि का संताप भिन्न होता है और खलजनित संताप भिन्न रहने पर भी यहाँ पण्डितराज ने विभावना स्वीकार नहीं की है। उनका कहना है, जैसा कि हम भी हृदय के 'अकारणरिपुश्चन्द्रः' उदाहरण पर कह आए हैं, कि कारण विशेषरूप से उपस्थित रहना चाहिए। यदि 'खलजन विना ही अग्न के जलाने रहते हैं' ऐसी योजना हो तो इसमें विभावना मानी जा सकती है। वे यह भी कहते हैं कि जिसका अभाव बतलाया जा रहा हो उस वस्तु को अतिशय या आरोप से युक्त कार्य के अध्यवसायी या आरोप्यमाग अंश के प्रति कारण भी होना चाहिए। अन्यथा विभावना नहीं होगी। उदाहरणार्थ 'खलजन विना ही अरराध के जलाने रहते हैं'—इस वाक्य में कार्य ही जलाना। इसमें अग्नि के द्वारा होने वाली जलन के द्वारा खल के द्वारा होने वाली पोड़ा का अध्यवसाय है। किन्तु अध्यवसायी जलन के प्रति, जिसका अभाव प्रतिपादित है वह अरराध कारण नहीं है। उसके प्रति कारण एकमात्र अग्नि हो सकती है। फलतः अभाव बतलाया जाना चाहिए उस वस्तु का जो कार्य शरीर के विषयीरूपी अंश के प्रति कारण हो।

इस प्रकार सिम्पर्क यह निकलता है कि विभावना में एक ओर जहाँ कार्यांश में अतिशय या आरोप अपेक्षित है वहीं कारणभावान्श में कारणरूप से उक्ति उस वस्तु की होनी चाहिए जो कार्य

शरीर के विषयी-अश के प्रति कारण हो अर्थात् जो कार्यशरीर के उस अंश के प्रति कारण हो जो अश विषयी हो, आरोपित किया जा रहा हो या अध्ववसित। पण्डितराज ने इस तथ्य का स्पष्टीकरण नव्यन्याय की भाषा में इस प्रकार किया है—

‘अथ ‘सुम्भकधोवरपिशुना निष्कारणवैरिणो अगति’ इत्यत्र विभावनापत्तिः [ ततः ] कारणता-वच्छेदकरूपावच्छिन्नप्रतियोगिकत्वेन कारणभावो विशेषणीयः “खला विनैवापराधं भवन्ति खड्गवैरिण इत्यत्रातिव्यापनात् कार्याशोऽतिशयोक्त्यालीढत्वेनाभेदानिश्चयालीढत्वेन वा विशेषणीयः। ‘खला विनैवापराधं दहन्ति खलु सज्जानान्’ इत्यादावतिव्याप्तिवारणाय च ‘कार्याशे यद् विषयिता-वच्छेदक तदवच्छिन्न’—कार्यतानिरूपिताया’ कारणताया अवच्छेदकमिद् ग्राह्यम्, दाहत्व चेद् विषयितावच्छेदकम्, उदवच्छिन्नमित्तत्वे पीडाया अध्ववसानात्। न हि दाहत्वावच्छिन्नकार्यतानिरूपितकारणताया अवच्छेदकमपराधत्वम्, अपितु दाहत्वावच्छिन्नाभिन्नत्वेनाध्ववसिता या पीडा तन्निष्कार्यतानिरूपितकारणताया, इति तदवच्छिन्नप्रतियोगिताकामावसानाभिर्करण्येन कार्योत्पत्तिवर्णनेऽपि नात्र विभावनाप्रसङ्गः। यदि तु ‘खला विनैव दहनं दहन्ति अगतीतलम्’ इति क्रियते तदा भवत्येव विभावना।” [ विभावनान्त, रसगंगाधर ]

पण्डितराज के इस विवेचन से विभावना का लक्षण उन्हीं की इस पदावली में देखा होगा—

—‘उत्पत्तिवर्णनविषयीभूतकार्यशरोघटकीभूतविषयितावच्छेदकावच्छिन्नकार्यतानिरूपितकारणतावच्छेदकरूपावच्छिन्नप्रतियोगिकामावर्णन विभावना’।

विश्वेश्वर—पण्डितराज के इस प्रकार के सूक्ष्म विवेचन पर विश्वेश्वर ने आपत्ति उठाई है। उन्होंने कहा है कि कारण का विशेषरूप से उपस्थित होना आवश्यक नहीं है और उदाहरण के रूप में प्रतिद्व ‘निरुपादान०’ पद दिया है। यहाँ उपादान संभार के बिना जगच्चित्र के निर्माण की वृत्ति में विभावना है और मधी आदि कारणों का मयीत्व आदि रूप से उल्लेख नहीं है। उपादान-शब्द से ही उल्लेख है। इस पद में स्वयं पण्डितराज भी विभावना मान चुके हैं। इस प्रकार विश्वेश्वर द्वारा स्वयं पण्डितराज ही अपनी मान्यता के विरुद्ध सिद्धान्त उपस्थित करते हुए प्रतिपादित किए गए हैं। चिन्तन से सूझता है कि ‘अकारण वैरी’ इस उक्ति और निरुपादान ‘इस उक्ति में अन्तर स्पष्ट है। कारण का उल्लेख दोनों ही स्थलों में सामान्य रूप से ही है तथापि उसमें अन्तर है। वह अन्तर ‘कारण तथा ‘उपादानसंभार’-शब्द से ही स्पष्ट है। चित्र का कारण तो परमात्मा भी है परन्तु वह चित्र का उपादान नहीं है। उपादान है रंग। इस प्रकार ‘उपादानसंभार’ शब्द से चित्र के विशिष्ट कारण का बहुत कुछ स्पष्टीकरण हो जाता है। यद्यपि कारणनावच्छेदकरूप से तो यहाँ मणित्व आदि की उपस्थिति नहीं होती तथापि पण्डितराज की मान्यता का उद्देश्य उसमें खण्डित नहीं होना क्योंकि उसका उद्देश्य जिस किमी प्रकार कारणगत वैशिष्ट्य का शान हो जाना है। वह ‘उपादान संभार’ शब्द से ही जाता है। इसके अतिरिक्त ‘अभिज्ञा-वेव’ पद के द्वारा तो भित्तिवावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव उपस्थित है ही। ‘तन्वते’ में आई ‘तनु क्रिया’ का अर्थ विस्तार या फैलाव है। उसके छिप भित्ति प्रमुख कारण है। फलतः उसका विशेष रूप से उल्लेख हो जाने पर इस अश में विभावना अधिक स्पष्ट हो जाती है फलतः ‘निरुपादान०’ अश में भी आंशिक अस्पष्टता प्रनिबन्धक नहीं बनती। पण्डितराज की पंक्ति है—

‘अत्र हि भगवतः सकाशात् केवलस्य अगत उत्पत्तिर्न कवेरभिप्रेता.. किन्तु जगद्रूपस्य चित्रस्य। चित्रस्य च केवलस्योपादानानां मधी-हरितालादीनामाधारस्य भित्त्यादेरुच्चाभावे केवला-काशे जागर्द्वोत्पत्तेरसंभवः।’ [ पृ० ५८०-१० रसगंगाधर ]

सत्य यह है कि ‘निरुपादान०’ पद में विभावना नहीं व्यतिरेक अलंकार है। सामान्य शिल्पी

से शिव रूपी शिल्पी का अन्तर और उत्कर्ष ही यहाँ चमत्कार का कारण है। विश्वेश्वर का विभावनालक्षण इस प्रकार है—

‘हेतुं विनापि कार्यं यत्रोक्तं स्याद् विभावना सा तु ।’ विश्वेश्वर ने ‘असंभृतं’ पद्य में अलंकार-सर्वस्वकार का समर्थन और पण्डितराज जगन्नाथ द्वारा उनके खण्डन का विरोध किया है। उन्होंने यौवन को ऐसा कारण बतलाया है जिसमें मद के प्रति कारणता पड़ली वार बतलाई जा रही है जब कि आसव प्रसिद्ध कारण है। अतः विश्वेश्वर के अनुसार प्रसिद्ध कारण के अभाव में यहाँ विभावना स्वीकार्य ही है भले अप्रसिद्ध कारण यौवन का यहाँ अस्तित्व रहा आप। विश्वेश्वर पण्डित ने यहाँ चमत्कार की भी सहायता ली है। कहा है कि क्योंकि इस पद्य में चमत्कार है अतः इसमें विभावना को अलंकार मानना ही होगा। इस प्रकार भक्तमतान्तरों के बीच विभावना अलंकार का वही स्वरूप सर्वमान्य ठहरता है जो मामू की परम्परा के आचार्यों वामन, उद्भट, रुद्रट और मम्मट की भावक प्रतिभाओं से निष्कृष्ट होकर सर्वस्वकार तक आया था।

सर्वस्व के टीकाकार श्रीविद्या चक्रवर्ती ने इसका संक्षेप कारिका में इस प्रकार उपनिबद्ध किया है—

‘प्रसिद्धकारणभावे कार्यात्पक्षिर्बिभावना ।  
कार्योत्पादनवैशिष्ट्याद् द्विधा चैयं निमित्ततः ॥’

चक्रवर्ती ने विभावना और विशेषोक्ति के संदेहसंकर के लिए भी भिन्न लिखित कारिका दी है—

‘कार्याशस्य यदा भावाभावौ वक्तुमपेक्षितौ ।  
विभावनाविशेषोक्त्योस्तदा सन्देहसङ्करः ॥’

—‘जब कार्याश के भाव अभाव विवक्षित हों तो विभावना विशेषोक्ति का सन्देहसङ्कर होता है।’

पाठान्तर = विभावना का जो मूल सर्वस्व के निर्णयसागर संस्करण में मिलता है उसपर स्वयं विमर्शिनीकार ने ही आपत्ति व्यक्त कर रखी है। संजीविनीकार ने ‘अंगलेखा०’ पद्य के वाद की ‘अत्र सहजत्वं निमित्तं गम्यमानम्’ इस पंक्ति के बाद ‘इयं च मालयापि भवन्ती दृश्यते यथा—

अनिद्रो दुःस्वप्नः प्रपतनमनद्रिद्रुमतरं जराहीनः कम्पस्तिभिररहितलाससमयः ।  
अनाघातं दुःखं विगतनिगडा बन्धनधृतिः सजीवं जन्तूनां मरणमवनीशाययरसः ॥’

—इतना अंश और जोड़ा है तथा इसे मूल माना है। कु० जानकी तथा डॉ० राधवन् के सहस्रंशोधन में निकले मेहरचन्द्र संस्करण में यह अंश इसी स्थान पर मूल में मुद्रित भी है। अनन्तशयन से प्रकाशित समुद्रबन्धी प्रति में यह पाठ विभावना निरूपण के अन्त में है। इसी के साथ ‘असंभृतं मण्डनम्—०००० इत्यधतनाः’ यह अन्तिम अंश उसमें विमर्शिनी के सुझाव के ही अनुसार ‘अपि तु तदनुप्राणितत्वेन’ के बाद ही मुद्रित है।

हमारे मत में ‘इयं च मालयापि भवन्ती दृश्यते यथा अनिद्रो०’ इत्यादि मालाविभावना का प्रतिपादक अंश अवश्य ही प्रक्षेप है। कारण यह है कि मालाविभावना रत्नाकर, विमर्शिनी, अप्पयदीक्षित, पण्डितराज तथा विश्वेश्वर किसी में नहीं मिलती। ‘सर्वस्व में होती तो सभी आचार्यों में उसके प्रति मौन न मिलता। अमूल होने पर भी हमारी दृष्टि में इसका उपयुक्त स्थान विभावना का अन्त है न कि मध्य। इसी प्रकार ‘अत्र विददन्ते’ का सम्यन्ध ‘कैचिद्’ के साथ बतलाते हुए विमर्शिनीकार ने ‘अन्दे’, ‘अपरे’ और ‘अधतनाः’ के साथ अन्वय से उसे

रोक लिया है। हमने भी उन्हीं का अनुसरण किया है। यह उचित भी है क्योंकि ग्रन्थकार ने सभी मतों को केवल उद्धृत कर कर दिया है जब कि प्रथम 'केचित्'—के मत का खण्डन भी किया है। बीच में खण्डनांश आ जाने से 'विवदन्ते' की 'व्याप्ति' खण्डित हो जाती है। 'भवतना.' वाले पद्य पर विमर्शनीकार की आपत्ति यथार्थ ही है कि यह किमी पाठक ने अपनी प्रति में स्वयं जोड़ दिया है। सपादकों अथवा परवर्ती लिपिकों ने उसे मूल में मिश्र दिया होगा।

विमर्शनीकार ने इस प्रसंग में ग्रन्थकार के अन्य ग्रन्थ 'साहित्यमीमांसा' की चर्चा की है। त्रिवेन्द्रन् से सन् १९३४ में छपी साहित्यमीमांसा में यह विषय नहीं मिलता।

[ सर्वस्व ]

विभावनां लक्षयित्वा तद्विपर्ययस्वरूपां विशेषोक्तिं लक्षयति—

[ मू० ४२ ] कारणसामग्रये कार्यानुत्पत्तिविशेषोक्तिः ।

इह समग्राणि कारणानि नियमेन कार्यमुत्पादयन्तीति प्रसिद्धम् । अन्यथा समग्रत्वस्यैवाभावप्रसङ्गात् । यत्तु सत्यपि सामग्रये न जनयति कार्यं सा कञ्चिद्विशेषमभिव्यङ्गकुं प्रयुज्यमाना विशेषोक्तिः । सा च द्विविधा—उक्तनिमित्तानुक्तनिमित्ता च । अचिन्त्यनिमित्ता त्वनुक्तनिमित्तैव । अनुक्तस्य च चिन्त्याचिन्त्यत्वेन द्वैविध्यात् । क्रमेण यथा—

'कर्पूर इव दग्धोऽपि शक्तिमान् यो जने जने ।  
नमोऽस्त्ववार्यवीर्याय तस्मै कुसुमधन्वने ॥'  
'बाहूतोऽपि सहायैरेमीत्युक्त्वा विमुक्तनिद्रोऽपि ।  
गन्तुमना अपि पथिकः संकोचं नैव शिथिलयति ॥'  
'स एकस्त्रीणि जयति जगन्ति कुसुमायुधः ।  
हरतापि तनुं यस्य शंभुना न हृतं यत्नम् ॥'

अत्र सत्यपि दाहलक्षणेऽविकले कारणेऽशक्तत्वाद्यस्य कार्यस्थानुत्पत्तिः शक्तिस्वरूपेणाविरुद्धेन धर्मणोपनिबद्धा । अवार्यवीर्यत्वं चाशौकं निमित्तम् । तथाहानादयः संकोचशिथिलीकारहेतव इति तेषु सत्त्वपि तस्यानुत्पत्तौ प्रियतमास्यप्लवमागमाद्यनुक्तं सच्चिन्त्यं निमित्तम् । तथा तनुहरणकारणे सत्यपि यत्नहरणस्य कार्यस्थानुत्पत्तौ निमित्तमनुक्तमप्यचिन्त्यमेव, प्रतीत्य-शोचरत्वात् ।

कार्यानुत्पत्तिश्चात्र क्वचित्कार्यविरुद्धोत्पत्त्या नियध्यते ।

एवं विभावनायामपि कारणभावः कारणविरुद्धमुखेन क्वचित्प्रतिपाद्यते । तथा च सति,

'यः कौमारहर स एव हि वरस्ता एव चैत्रक्षपा-  
स्ते चोन्मीलितमालनीसुरभयः प्रौढाः कदम्बानिलाः ।  
सा चैवास्मि तथापि शौर्य-सुरतव्यापारलीलाविधौ  
रेवारोघसि चेतसीतरुतले चेतः समुत्कण्ठते ॥'

इत्यत्र विभाचनाविशेषोक्तयोः संदेहसंकरः । तथा ह्युत्कण्ठाकारणविरुद्धं 'यः कौमारहर' इत्यादि निवृद्धमिति विभाचना । तथा 'यः कौमारहर' इत्यादेः कारणस्य कार्यं विरुद्धं 'चेतः समुत्कण्ठत' इत्युत्कण्ठाख्यं निवृद्धमिति विशेषोक्तिः । विरुद्धमुखेनोपनिबन्धात्केवलमस्पष्टत्वम् । साधकवाधकप्रमाणाभावाच्चात्र संदेहसंकरः ।

या तु 'एकगुणहानिकल्पनायां साम्यदाढ्यं विशेषोक्तिः' इति विशेषोक्ति-  
र्लक्षिता सास्मिन्दर्शने रूपकभेद एवेति पृथङ् न वाच्या ।

विभावना का लक्षण बनाया अब उससे ठीक उलटे स्वरूप की विशेषोक्ति का लक्षण बनाते हैं—  
[ सू० ४३ ] 'कारण की समग्रता रहने पर भी कार्य की अनुत्पत्ति [ बतलाई जाए तो अलंकार की संज्ञा ] विशेषोक्ति [ होती है ] ॥

यहाँ यह निश्चित तथ्य है कि सब कारण शकट्टे होते ही कार्य को निश्चित ही उत्पन्न करते हैं, ऐसा न हो तो उनकी समग्रता [ समग्रता ] ही नहीं हो । परन्तु समग्रता के रहने पर भी जो उसे कार्य उत्पन्न करती हुई नहीं बतलाया जाता वह विशेषोक्ति होती है । इसका प्रयोग किसी विशेष तथ्य की व्यंजना के लिए होता है । वह दो प्रकार की होती है [ १ ] उक्त निमित्ता तथा [ २ ] अनुक्तनिमित्ता [ भ्रमद द्वारा प्रतिपादित ] अचिन्त्यनिमित्ता तो अनुक्त निमित्ता ही है । क्योंकि अनुक्त [ निमित्त ] दो प्रकार का होता है [ १ ] चिन्त्य और [ २ ] अचिन्त्य । कम से इनके उदाहरण यथा—[ उक्तनिमित्ता ]—

'कर्म के समान जल जाने पर भी जो जन जन में शक्तिमान्, है ऐसे अप्रतिहत पीरूप वाले किन्तु पुण्य के ही धनुष वाले काम को नमस्कार है ।' [ अनुक्तनिमित्ता में चिन्त्यनिमित्ता— ]

'साथियों द्वारा पुकारे जाने पर भी, 'आ रहा हूँ' ऐसा कह कर भी, नाँद खुल जाने पर भी और जाने की इच्छा रहने पर भी पथिक [ अपना ] संकोच शिथिल नहीं कर रहा ।' [ अनुक्तनिमित्ता में अचिन्त्यनिमित्ता— ]

'वह कुसुमायुध अकेला ही तीनों लोकों को जीत लेता है, शंकर ने शरीर छोड़ कर भी जिसका बल नहीं छोड़ा ।'

इन [ तीनों ] में [ से प्रथम में ] दाहुरूपी अविकल कारण के उपस्थित रहने पर भी अशक्तिरूपी कार्य की अनुत्पत्ति [ शक्तिमान् कहकर ] शक्तिरूपी धर्म के द्वारा प्रस्तुत की गई है जो [ शक्ति ] उस [ अशक्ति की अनुत्पत्ति ] के विरुद्ध है । इसका कारण अवार्थवीर्यत्व यहाँ कथित है ।

[ दूसरे पद्य में ] इसी प्रकार पुकारना आदि संकोच के शिथिलीकरण में कारण हैं । वे सब विद्यमान हैं तब भी उस [ संकोच के शिथिलीकरण ] की जो अनुत्पत्ति बतलाई जा रही है उसके कारण स्वप्न में प्रियतमा के समागम आदि हैं जो अकथित अवश्य हैं किन्तु उनकी कल्पना की जा सकती है ।

[ तृतीय पद्य में ] इसी प्रकार 'शरीर का हरण' यह कारण विद्यमान रहने पर भी बल-हरणरूपी कार्य की [ जो ] अनुत्पत्ति [ बतलाई गई है उस ] का कारण अकथित भी है और अचिन्त्य [ अकल्पनीय ] भी । क्योंकि वह समझ में आता नहीं है ।

इस [ अलंकार ] में कार्य की अनुत्पत्ति कहीं कार्य से विरुद्ध वस्तु की उत्पत्ति के द्वारा बतलाई जाती है । इसी प्रकार विभावना में भी कहीं कारणाभाव कारणविरुद्ध वस्तु के [ सद्भाव के ] द्वारा प्रतिपादित किया जाता है । इस प्रकार—

‘वही वर है जिसने कौमार्य दूर किया, वे ही वसन्त की रातें हैं, खिन्नी माळशी ने सुगन्धिन और [ धूलो ] कदम्ब से मिश्रित वे ही हवा के प्रौढ़ झोंके हैं और मैं भी वही हूँ तथापि सुरतग्यापार को उन्हीं मुक्तपूर्व लीलाओं के पुनर्विधान के लिए रेवा के तट पर वेगसतक के मोचे वित्त उरकण्ठित हो रहा है ।’

—यहाँ विभावना और विशेषोक्ति का सकर है। क्योंकि यहाँ उरकण्ठा के कारण के विरुद्ध ‘जो कौमार्य को दूर करने वाला है’ इत्यादि प्रस्तुत किया गया। इसलिए विभावना हुई। इसी प्रकार ‘जो कौमार्य का हरण करने वाला है’ इस कारण के कार्य [ अनुत्कण्ठा ] के विरुद्ध ‘वित्त उरकण्ठित हो रहा है’ इत्यादि उरकण्ठा नामक कार्य यहाँ प्रस्तुत किया गया है इसलिए विशेषोक्ति हुई। इतना है कि ये दोनों अस्पष्ट हैं क्योंकि इनका प्रस्तुतकरण विरुद्ध वस्तु के द्वारा किया गया है। सकर का सदेहसकरभेद इसलिए है कि यहाँ न तो किसी एक का साधक प्रमाण है और न अन्य का बाधक प्रमाण ही।

[ वामन ने ] जो ‘एक गुण की कमी की कल्पना करके समता को दृढ़ बनाया जाय तो विशेषोक्ति’ इस प्रकार विशेषोक्ति का लक्षण बनाया है वह इस सिद्धान्त के अनुसार रूपक का ही भेद है। इसलिए उसे स्वतन्त्र अलंकार नहीं कहना चाहिए।

### चिमर्शिनी

तद्विपर्ययेति। कारणसामग्रये कार्यानुत्पादात्। तामेवाह—कारणेत्यादि। समग्राणीति नावश्यं कारणानि कार्यवन्ति भवन्तीति न्यायादसमग्राणां पुनः कार्यजनकरवं न स्यादिति भावः। अत एवाभ्यभिचारायाह—नियमेनेति। अन्यथेति यदा कारणानि कार्यं नोत्पादयन्ति। एवं नैकं किञ्चन जनकं, सामग्री ये जनिहेति नीत्या समग्राणां कारणानां कार्यजनकरवं भवत्येवेति तापर्यायः। यदा श्वेतद्विपर्यय उपनिष्यते तदा विशेषोक्तिर्भवतीत्याह—यत्स्वित्यादि। अत्र च वस्तुतो निमित्तमस्तीति विशेषपरिहारः। तद्धेतुकमेवास्या भेदनिर्देशमाह—सा चेत्यादि। अचिन्त्येषुत्तानाशयैः। वस्तुतस्तु सभवत्येव। अन्यथा ह्यस्या विरोधो दुष्परिहार्यः स्यात्। अविकल इति। समग्रे विरुद्धधर्मत्व शक्यशक्योर्विरोधात्।

अस्याश्च कार्यानुत्पत्तेर्विरुद्धायन्तरेण घन्धं दर्शयितुमाह—कार्येत्यादि। यथा कपूर इवेत्यादौ। एवमिति। यथैवात्र कार्यानुत्पत्तिर्विरुद्धमुखेनोपनिष्यत इत्यर्थः। तथा च सतीति। ह्योरप्यनयोर्विरुद्धमुखेन कार्यकारणभावोपनिषन्धे सतीत्यर्थः। उग्रण्ठायाः कारणं कौमारहरवराद्यसंनिधानम्। तस्य विरुद्धं तस्यसंनिधानम्। तेन कौमारहरवराद्यसंनिधानरूपं कारणं विनाप्युत्कण्ठाया उत्पाद इति विभावना। तथा कौमारहरवरादिसंनिधानरूपस्य कारणस्य कार्यमनुत्कण्ठा, तस्याश्च, विरुद्धोत्कण्ठा। तेन सत्यपि कौमारहरवरादिसंनिधानरूपे कारणे समग्रे कार्यस्यानुत्कण्ठारूपस्याभाव इति विशेषोक्तिः। अत्रहत्वमिति। कार्यकारणयोः साक्षात्प्रेष्यत्वेनाप्रतीते। ननु चात्रानयोः किमिति संदेहः, एकपक्षाश्रय एव क्रियतामित्यादाह—साप्येत्यादि। ननु ‘घृतं हि नाम पुष्यस्यासिंहासनं राज्यम्’ इत्यादौ वामनेन या विशेषोक्तिरुक्ता सा किं नोच्यत इत्यादाह—या स्वित्यादि। एवमनप्यैव इशा ‘एकगुणहान्युपचयादिकवचनायां साम्यदायं विशेष’ इति लक्षितो विशेषोपालंकारोऽप्यस्मिन्दर्शने रूपकभेद एवेति न पृथग्वाच्यः।

तद्विपर्ययं उससे उलटी अर्थात् पूरे पूरे कारण रहने पर भी कार्य की उत्पत्ति न होना। उसी का लक्षण बतलाने है—‘कारण’ इत्यादि। समग्राणि = समग्र अर्थात् ‘कारण कार्य से युक्त हो ही ऐसा

नियम नहीं है' इस प्रकार का जो एक सिद्धान्त है उसको अनुसार असमग्र कारण कार्य के जनक नहीं होते। इसीलिए अव्यभिचार [ निरपवादता ] बतलाने के लिए कदा 'नियमेन' नियमतः। अन्यथा अर्थात् जब कारण कार्य को उत्पन्न नहीं करते। इस प्रकार तात्पर्य यह कि 'कोई एक कार्य का जनक नहीं होता, सामग्री जो है वह जनक होती है' इस उक्ति के अनुसार जब सभी कारण उपस्थित रहते हैं तो कार्य उत्पन्न होता ही है। 'जब कभी इसका उल्टा बतलाया जाता है तब विशेषोक्ति होती है' इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए कहते हैं—'वस्तु' इत्यादि।

यहाँ [ विशेषोक्ति में ] भी [ सभी कारण उपस्थित रहने पर भी कार्य न होने में ] कोई वास्तविक कारण रहता ही है इसलिए विरोध हट जाता है। इसी [ वास्तविक कारण ] को लेकर इसके भेद बतलाते हैं 'सा च' इत्यादि। अचिन्त्य अधिक भावुक लोगों ने कदा है वस्तुतः कारण वहाँ भी संभव रहता है। नहीं तो वहाँ विरोध का परिहार ही न हो। अविकल = समग्र। विरुद्धभर्मत्व इसलिए कि शक्ति और अशक्ति में परस्पर विरोध रहता है।

यह जो कार्यानुत्पत्ति है उसी को अन्य प्रकार से भी प्रस्तुत किया जाता है। यही बतलाने के लिए कदा 'कार्य' इत्यादि। इसका उदाहरण है 'कर्पूर इव' इत्यादि। एवम् = अर्थात् जैसे यहाँ कार्य की अनुत्पत्ति विरुद्ध वस्तु के द्वारा प्रस्तुत की जा रही है उसी प्रकार ००। तथा च सति = अर्थात् इन दोनों [ विभावना तथा विशेषोक्ति ] के ही कार्यकारणभाव का विरुद्ध वस्तु के द्वारा उपनिबन्ध रहने से। उत्कण्ठा का कारण है कौमार्य का हरण करने वाले वर आदि का असन्निधान। उसके विरुद्ध हुआ उनका सन्निधान। इस प्रकार कौमार्यहरणकारी वर आदि के असन्निधान-स्वरूप कारण के बिना भी उत्कण्ठा की उत्पत्ति बतलाई गई। अतः यह विभावना हुई। इसी प्रकार कौमार्य हरण करने वाले वर आदि का सन्निधान कारण है अनुत्कण्ठा रूपी कार्य का। उसके विरुद्ध हुई उत्कण्ठा। इस प्रकार कौमार्य हरणकारी वर आदि का सन्निधानरूपी समग्र कारण रहने पर भी अनुत्कण्ठारूपी कार्य का अभाव बतलाया गया, इसलिए यहाँ विशेषोक्ति हुई। अस्पष्टत्वम् = अस्पष्टता, क्योंकि यहाँ कार्य और कारण साक्षात् नियेधरूप से प्रतीत नहीं होते। [ शंका ] अच्छा, इसमें संदेह [ संकर ] ही क्यों माना जा रहा है, [ दोनों में से ] किसी एक को ही क्यों स्वीकार नहीं कर लिया जाय' इस पर उत्तर देते हैं साधक इत्यादि [ शंका ] अच्छा, 'जुआ जो है वह पुरुष के लिए बिना सिंहासन का राज्य है [ मृच्छकटिक ]' इत्यादि [ उक्तियों ] में वामन ने [ काव्यालंकारसूत्रधृति में ] जो विशेषोक्ति बतलाई है वही यहाँ क्यों नहीं मान ली जा रही 'इस पर कहते हैं—'या तु' इत्यादि। इसी प्रकार 'एक गुण की हानि या वृद्धि को कल्पना कर साम्य को छूट बनाना विशेष' [ रत्नाकर में नहीं ] इस प्रकार जो विशेष नामक अलंकार का लक्षण किया गया है वह भी इस पक्ष में रूपक का ही एक प्रकार सिद्ध होता है इसलिए वह भी स्वतन्त्र अलंकार के रूप में बतलाने योग्य नहीं है।

**विमर्शः—विशेषोक्ति का इतिहास :—**

सर्वस्वकार ने उदाहरण तो भामह का स्वीकार किया है परन्तु लक्षण उद्धृत का। भामह का लक्षण ठीक वामन जैसा ही है। यथा—

**भामह—**

'एकदेशस्य विगमे या गुणान्तरसंस्थितिः।

विशेषप्रथनायासी विशेषोक्तिर्मता यथा ॥'

'स प्रकृषीणि ज' ॥



—एक गुण की कमी बतलाकर विशेषता के प्रतिपादन के लिए जो अन्य गुण की स्थापना वह विशेषीकृति मानी जाती है। यथा 'स एकस्त्रीणि' पद्यार्थं। यहाँ शरीर की हानि और बल की स्थापना बनलाई गई है। इसका उद्देश्य कामशक्ति की अपरिहार्यता बतलाना है।

वामन = [ सू० ] 'एकगुणहानिकल्पनायां साम्यदाढ्यं विशेषीकृतिः'।

[ सू० ] एकस्य गुणस्य हाने- कल्पनायां शेषैर्गुणैः साम्यं यत् तस्य दाढ्यं विशेषीकृतिः। रूपकं चेद् प्रायेण। यथा 'घृतं हि नाम' ॥

किसी एक गुण की हानि की कल्पना कर शेष गुणों से प्राप्त समता का जो दृढ करना वह विशेषीकृति है। यह प्रायः रूपक ही है। उदाहरण 'जुआ जो है वह।' स्पष्ट है कि वामन में वामन के समान एकगुणहानि की चर्चा तो है परन्तु अन्य गुण की स्थापना और विशेषता के प्रतिपादन की चर्चा नहीं है। वामन ने स्वयं इस प्रकार की विशेषीकृति को रूपक ही मान लिया है।

उद्भट = 'यत् सामग्र्येऽपि शक्तीनां फलानुत्पत्तिर्बन्धनम्।

विशेषतयाभिधित्सात्तत्त्वं विशेषीकृतिरुच्यते ॥ ५१४ ॥

दक्षिणेन निमित्तेन निमित्तादर्शनेन च।

तस्या बन्धो द्विधा लक्ष्ये दृश्यते ललितारत्मकः ॥ ५१५ ॥

—उत्पन्न करने वाला शक्तियों सबकी सब उपस्थित रहे तथापि किसी विशेषता के प्रतिपादन की इच्छा से फल की उत्पत्ति न दिखलाई जाए तो वह विशेषीकृति कही जाती है। काव्यों में यह दो प्रकार की मिलती है [ १ ] जहाँ निमित्त दिखला दिया जाता है और [ २ ] जहाँ नहीं दिखलाया जाता। यथा :—

'महर्द्धिनि गृहे जन्म रूपं स्मरसुहृद् वय।

तथापि न सुखप्राप्तिः कास्य चिन्तयते न धीः ॥

—'अत्यन्त समृद्धिशाली घर में जन्म, रूप और काम का मित्र वय। इतने पर भी सुख की प्राप्ति नहीं। किसकी बुद्धि अचरज में नहीं पड़ती।' यहाँ विधाता की वामना रूपी कारण अनुक्त है। उक्तकारण का उदाहरण—

'इत्थं विसंगुल इष्टा तावकीन विचेष्टितम्।

नोदेति किमपि प्रष्टुं सत्वरस्यापि मे वचः ॥

—सुन्दारी इस प्रकार की विपरीत चेष्टाएँ देखकर पूछने के लिए अत्यन्त उत्सुक होने पर भी मेरा मुँह नहीं खुलता।' यहाँ पार्वतीजी की तपोनिष्ठा वह कारण है जिससे पूछने की उत्सुक व्यक्ति का पूछना रुका हुआ है। स्पष्ट है विशेषीकृति का स्पष्ट और मान्य रूप पहले पक्ष उद्भट ने ही प्रस्तुत किया है।

रुद्रट = रुद्रट ने विशेषीकृति नाम से तो किसी अलङ्कार का निर्वाचन नहीं किया किन्तु उसके व्याख्यान नामक अलङ्कार में इस अलङ्कार के सभी लक्षण आ जाते हैं—

'अन्यैरप्रतिहतमपि कारणमुत्पादनं न कार्यस्य।

यस्मिन्नभिधीयेत व्याख्यानं- स इति विधेयः।' ॥ ११५२ ॥

—अहाँ कारण पूरा का पूरा रहता है तथापि कार्य की उत्पत्ति नहीं बनलाई जाती, उसे व्याख्यान समझना चाहिए।' यथा—

'यत्र सुरतप्रदीपा निष्कञ्जलवर्चयो महामणयः।

माव्यस्यापि न शम्वा' इतवधूवसनविसृष्टस्य ॥'

—'जहाँ बड़ी बड़ी मणियाँ सुरतप्रदीप रहती हैं जिनमें न तो कज्जल पड़ता और न बत्ती ही रहती। साथ ही हतवश बधुजन द्वारा दुःखाने के लिए फँकी मालाओं से भी बुझते नहीं।' यहाँ दीपक महामणियों पर आरोप है अतः यह उदाहरण वामन की विशेषोक्ति के ही उदाहरण के समान रूपक का ही उदाहरण है। इस प्रकार रुद्रट विशेषोक्ति के विषय में अधिक प्रामाणिक नहीं है।

मम्मट—मम्मट ने उद्भट का ही अनुमोदन किया है और लक्षण में कारणसमग्रता तथा उसके साथ कार्य के अभाव इन दोनों अंगों को यथावत् स्थान दिया है। उनका लक्षण इस प्रकार है—

[ सू० ] 'विशेषोक्तिरखण्डेषु कारणेषु फलावचः।'

[ घृ० ] मिलितेष्वपि कारणेषु कार्यस्याकथनं विशेषोक्तिः ॥

—'कारण एकत्रित रहने पर भी कार्य का अकथन विशेषोक्ति कहलता है।' मम्मट ने इसके तीन भेद नामे हैं उक्तनिमित्ता, अनुक्तनिमित्ता तथा अचिन्त्यनिमित्ता। इनमें से उक्तनिमित्ता तथा अचिन्त्यनिमित्ता के तो उदाहरण वे ही हैं जो सर्वस्वकार ने दिए हैं। अनुक्तनिमित्ता का उदाहरण यह है—

'निद्रा निवृत्ताशुदिते चुरत्ने सखीजने द्वारपदं पराप्ले।

श्लथीकृताश्लेपरसे भुवङ्गे चचाल नालिङ्गनतोऽङ्गना सा ॥'

'नींद खुल जाने पर, सूर्य उग आने पर, सखियों के दरवाजे पर आजाने पर तथा प्रिय के आलिङ्गनामन्द के शिथिल हो जाने पर भी वह सुन्दरी आलिङ्गन से नहीं बिगो।' यहाँ प्रवासज्ञान कारण है जो अनुक्त है। मम्मट ने अचिन्त्यनिमित्ता और अनुक्तनिमित्ता को स्वतन्त्र माना है। सर्वस्वकार ने इसी पर संशोधन देते हुए अचिन्त्यनिमित्ता का अनुक्तनिमित्ता में अन्तर्भाव दिखला दिया है। स्पष्ट है कि सर्वस्वकार ने उद्भट और मम्मट को परम्परा पर विशेषोक्ति का लक्षण बनाया है।

परवर्ती आचार्यों में—

शोभाकर—ने विशेषोक्ति का लक्षण सर्वस्व के पथ पर ही बनाया है—

'हेतुसाकन्त्ये फलानुरपत्तिर्विशेषोक्तिः।'

रत्नाकरकार द्वारा अचिन्त्यनिमित्ता में निमित्तगत अचिन्त्यता पर मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। उन्होंने उसे प्रमातृबुद्धिसापेक्ष माना है। जो तथ्य किसी एक प्रमाता के लिए अचिन्त्य होता है, उसे समझ नहीं पड़ता, वही अन्य किसी प्रमाता के लिए चिन्त्य हो सकता है, उसकी समझ में आ सकता है। उदाहरणार्थ 'स एकलीणि०' पद्य में ही कुहमायुध की बल का शरीर नाश होने पर नष्ट न होने में कारण है काम का चिन्तयोनित्व = चिन्त से उत्पन्न होना। फलतः वह चिन्त्य ही है, अचिन्त्य नहीं। उनका कहना—

'अचिन्त्यता नाम न वस्तुधर्मः संदेहवत् सा हि भवेत् प्रमातुः।

कत्यापि, सर्वस्य तु नैव, तस्माद् विभावनादिक्रिषिषो न वाच्यः ॥'

—'अचिन्त्यता वस्तुनिष्ठ धर्म नहीं है। वह भी सन्देह के ही समान प्रमातृनिष्ठ धर्म है। वह भी किसी-किसी प्रमाता में रहता है, सब में नहीं। अतः विभावनादि अलंकार को तीन प्रकार का कहना ठीक नहीं।

अप्ययदीक्षित—ने कुवलयामन्द में जयदेव के—'विशेषोक्तिरनुत्पत्तिः कार्यस्य सति कारणे।'—इय विशेषोक्तिलक्षण को—

'कार्याजनिर्विशेषोक्तिः सति पुष्कलकारणे।'

इस प्रकार बदल दिया है। शरद ही जयदेव के लक्षण में कारणगत समग्रता का उल्लेख नहीं था। अलङ्कार के नाम से कारिका का आरम्भ यथावत् रहने के लिए अप्ययदीक्षित को कारिका इस प्रकार की गइनी थी—

‘विशेषोक्तिरनुत्पत्तिः कार्यस्यासिलकारणे’ ।

यदि अलङ्कार का नाम कारिका के आरम्भ में नया भा देना था तो भी द्वितीय चरण का निर्माण उन्हें ‘पुष्कले सति कारणे’ इस प्रकार ‘कारणे सति पुष्कले’ इस प्रकार ‘पुष्कले कारणे सति’ इस प्रकार अथवा ‘कारणे पुष्कले सति’ इस प्रकार करना चाहिए था। उक्त सभी योजनाओं में ‘सब के सब कारण रहने पर भी कार्य की अनुत्पत्ति विशेषोक्ति’ अर्थ यहाँ निकलना है। उदाहरण—

‘नमन्ममपि धीमन् न लक्ष्म्यनि कथन’—जयदेव ।

‘हृदि स्नेहक्षयो नाभूत् स्मरदोषे उल्लस्यपि’—दीक्षित ।

‘बुद्धिमान् लोप नवने है तो भी उन्हें कोई लोपना नहीं’—जयदेव ।

‘हृदय में स्मरदोष के बलते रहने पर भी स्नेहक्षय नहीं हुआ’—दीक्षित ।

दोनों में विशेषोक्ति का अधिक शुद्ध रूप जयदेव के उदाहरण में ही है। उसमें आश्चर्य-ज्ञान की पृष्ठभूमि नहीं के बराबर है, जबकि अप्ययदीक्षित के उदाहरण में उमी का साम्राज्य है। इसी प्रकार जयदेव के उदाहरण में श्लेष नगण्य जैसा है और अप्ययदीक्षित के उदाहरण में स्नेहशब्द में श्लेष तो ही स्मरदोष पद में रूपक भी है।

पण्डितराज—‘प्रसिद्धकारणकल्पसामानाधिकरण्येन वर्ण्यमाना कार्यानुत्पत्तिर्विशेषोक्तिः ।’

‘प्रसिद्ध कारणों के समुदाय के विद्यमान रहने पर भी वसी के साथ साथ बनलाई जा रही कार्य की अनुत्पत्ति विशेषोक्ति कहलानी है।’ यहाँ पण्डितराज ने कारणमामत्रों में प्रसिद्धि का भी निवेश किया है। यह उनकी नवीन देन है। अचिन्त्यनिमित्ता को पण्डितराज ने भी स्वीकार नहीं किया है। उन्होंने उस पर सर्वस्वकार द्वारा उठाई गई आपत्ति का उल्लेख भी किया है।

विश्वेश्वरपण्डित ने लक्षण में कारणगत समग्रता का उल्लेख नहीं किया है और न अचिन्त्य निमित्ता की स्वतन्त्रता अस्वीकार की है। यह उनके निम्नलिखित विवेचन से स्पष्ट है—

‘हेतौ मत्यपि कार्यानुत्पत्ति स्याद् विशेषोक्तिः ।

—हेतु के रहने पर भी कार्य की अनुत्पत्ति विशेषोक्ति होती है।

‘सा च त्रेधा—अनुत्पत्तिनिमित्ता, उक्तनिमित्ता, अचिन्त्यनिमित्ता च’—‘वह तीन प्रकार की होती है अनुत्पत्तिनिमित्ता, उक्तनिमित्ता तथा अचिन्त्यनिमित्ता ।’

विश्वेश्वर ने अचिन्त्यनिमित्ता के विषय में पूर्वाचार्यों का विरोध न तो उपस्थित किया है और न उसका स्रष्टन ही किया है।

सजीविनीकार श्री विद्याचक्रवर्ती ने सर्वस्वकार के सपूर्ण विवेचन का श्लेष कारिका में इस प्रकार किया है—

‘विशेषोक्तिर्भेद कार्यानुत्पत्ति सति कारणे ।

अत्रैकगुणहान्या तु साम्यदाहर्णमलक्षणात् ॥’

—‘कारण के रहने पर कार्य की अनुत्पत्ति विशेषोक्ति होती है। एक गुण की हानि में साम्य की पुष्टि इसका लक्षण नहीं है।’

[ सर्वस्व ]

अतिशयोक्तौ लक्षितायामपि कश्चित्प्रभेदः कार्यकारणभावप्रस्तावेने-  
होच्यते—

[ सू० ४४ ] कार्यकारणयोः समकालत्वे पौर्वापर्यविपर्यये चाति-  
शयोक्तिः ।

इह नियतपूर्वकालभावि कारणं नियतपश्चात्कालभावि च कार्यमिति  
कार्यकारणयोर्लक्षणं प्रसिद्धम् । यदा तु विशेषप्रतिपादनाय तयोरेतद्रूपाप-  
गमः क्रियते तदातिशयोक्तिः । एतद्रूपापगमश्च कालसाम्यनिवन्धनः कालविप-  
र्यासनियन्धनश्चेति द्विधाभवन्नतिशयोक्तिमपि द्वैधे स्थापयति । क्रमेण यथा—

‘पद्मत्सूदृतसान्द्रविस्मयरसप्रोत्फुल्लनेत्रोत्पलं

भूपालेषु तवात्र सूक्ष्मनिशिते निखिलशधाराध्वनि ।

कीर्त्या च द्विषतः श्रिया च युगपद् राजन्यचूडामणे ।

हेलानिर्गमनप्रवेशविधिना पश्येन्द्रजालं कृतम् ॥’

‘पथि पथि शुक्चञ्चूचाराभाङ्गराणां

दिशि दिशि पवमानो वीरुधां लासकश्च ।

नरि नरि किरति द्राक् सायकान् पुष्पधन्वा

पुरि पुरि च निवृत्ता मानिनीमानवर्चा ॥’

पूर्वत्र प्रौढोक्तिनिर्मितेऽर्थे शत्रुश्रीप्रवेशः कीर्तिनिर्गमनस्य हेतुरिति  
भिन्नकालयोस्तुल्यकालत्वं निवद्धम् । उत्तरत्र च माननिवृत्तिः स्मरशर-  
प्रकिरणकार्येति तयोरुपपन्नं पौर्वापर्यं व्यत्ययेन निर्दिष्टमित्यतिशयोक्तिः ।  
कार्यस्य चाशुभावाखयो विशेषः प्रतिपाद्यते ।

अतिशयोक्ति का लक्षण किया जा चुका है तथापि उसका एक भेद [ कार्यकारणभावमूलक होने  
से ] कार्यकारणभाव के प्रसङ्ग में यहाँ बतलाया जा रहा है—

[ सू० ४४ ] ‘कार्य और कारण के समकालीन हो जाने अथवा उनके पूर्वपश्चाद्भाव  
के तलट जाने से अतिशयोक्ति [ होती है ] ।

यहाँ कारण और कार्य के ‘नियततः पहले उत्पन्न होने वाला कारण’ तथा ‘नियततः पश्चात्  
उत्पन्न होने वाला कार्य’—ये लक्षण प्रसिद्ध हैं । किन्तु जब विशेषता के प्रतिपादन के लिए उनकी  
इस स्थिति को हटा दिया जाता है तब अतिशयोक्ति होती है । इस स्थिति का निराकरण ‘उत्पत्ति-  
काल में एकता या समता लाने से होता है और उत्पत्तिकाल के विपर्यास से’ इस प्रकार दो प्रकार  
का होता है अतः अतिशयोक्ति को भी दो प्रकार की बना देता है । इनके क्रम से उदाहरण यथा  
[ कारण कार्य की समकालिक उत्पत्ति से होने वाली अतिशयोक्ति यथा ]—

क्षत्रियचूडामणे ! देखिए तो शत्रुओं की कीर्ति तथा श्री ने आपके इस अत्यन्त सूक्ष्म और  
तीक्ष्ण खड्गधारा-पथ पर कीडापूर्वक निकलने तथा प्रवेश करने का इन्द्रजाल किया है । राजालोग  
इस इन्द्रजाल को उमड़ते हुए घने आश्चर्य से प्रोत्फुल्ल नेत्रोत्पल होकर देख रहे थे । [ इन्द्रजाल में  
दर्शकों की बीच दो ऐन्द्रजालिक तलवार की तीखी धार पर जैसे चाहें वैसे निर्भोक होकर चलते हैं ] ।

[ कार्यकारण के उत्पत्तिकाल में विपर्यास से हुई अतिशयोक्ति यथा ]—

‘पथ-पथ में तोने की चोंच जैसी अजुरों की शोभा बिखरी हुई है, दिशा दिशा में लगाओं को नचाने वाला पवमान [ वायु ] बड़ रदा है, पुष्पधन्वा आदमी-आदमी में वागों की नेजी से बिखर रहा है—और नगर-नगर में मानवनी बनिताओं के मान की चर्चा मगात हो गई है ।’

[ इनमें से ] प्रथम पद्य में जो अर्थ है बड़ कवि की प्रौढोक्ति में निमित्त [ कविकल्पित ] है । उसमें शत्रुघोष का प्रवेश शत्रुकीर्त्तिके निर्गमन का हेतु है अतः वे दो भिन्न भिन्न काल में उत्पन्न होने वाले हैं तथापि उनमें उत्पत्ति एक साथ होती हुई बनला दी गई है ।

दूसरे पद्य में माननिश्चित कामशरवणों का कार्य है । इस कारण उनकी उत्पत्ति का पूर्वपश्चाद्-भार निश्चित है । उसे यहाँ उल्ट कर बनझाया गया है । इसलिये [ उक्त दोनों स्थलों में ] अतिशयोक्ति है । इनमें जो विशेषता बख्शार जा रही है बड़ है कार्य का शीघ्र होना ।

### विमर्शिनो

प्रस्तावेनानुगुण्येन । अतः प्रवेयन्तः कार्यकारणभावाश्रया त्रिच्छित्तिविशेषाः संभवन्तीति प्रपञ्चमात्र दर्शयितुं पुनरिहास्या वचनम् । एतच्च ग्रन्थकृतेचोक्तम् ‘प्रकारपञ्चकम् प्यारकार्यकारणभावेन यः प्रकारः स कार्यकारणनाश्रयालकारप्रस्तावे प्रपञ्चार्थं लक्षयिष्यत’ इति । उच्यते इति न पुनर्निर्णीयते, पूर्वज्ञेयस्य निर्णीतत्वात् । तामेवाह—कार्यकारणयोरित्यादि । उभयत्रापि नियतशब्द एतदभ्यभिचारदर्शनात् । एतद्रूपापगम इति । कार्यकारणयोः सामान्यविपर्यासाम्यामुपनिबन्धनात् । प्रौढोक्तिनिमित्त इति । कीर्त्तिश्रियोर्वस्तुतो निर्गमनप्रवेशासंभवात् । प्रतिपाद्यत इति प्रयोजनत्वात् ।

प्रस्तावेन—प्रमग में अर्थात् हमके विवेचन के इसी प्रमग के अनुगुण्य होने से । तात्पर्य यह कि इस अतिशयोक्ति को यहाँ उपस्थित करने का उद्देश्य यह बनलाना है कि कार्यकारणभावमूलक अलङ्कारों के इनके भेद हो सकते हैं । [ अतिशयोक्ति के प्रकरण में ] यह स्वयं ग्रन्थकार ने ही कह दिया है कि ‘[ अतिशयोक्ति के ] पाँच भेदों में से जो कार्यकारणभावमूलक भेद है उसे कार्यकारणभावमूलक अलङ्कारों के प्रकरण में प्रपञ्च के लिए दिखलाया जाएगा ।’ उच्यते = कही जा रही है, न कि उसका निर्णय किया जा रहा है । क्योंकि उसका निर्णय तो पहले ही किया जा चुका है । उसी [ अतिशयोक्ति ] को बतलाते हैं—कार्यकारणयोः इत्यादि । दोनों ही जगह नियत-शब्द इस स्थिति का कर्मा भी निराकरण न होने के कारण दिया गया है । एतद्रूपापगमः = इसी स्थिति का निराकरण = इसलिये कि यहाँ कार्यकारण का सामान्य स्थिति के विपरीत उपनिबन्धन रहता है । प्रौढोक्तिनिमित्त = क्योंकि कीर्त्ति और श्री के निर्गमन और प्रवेश वस्तुतः नहीं हो सकते । प्रतिपाद्यते = बनलाया जा रहा है अर्थात् प्रयोजनरूप से ।

विमर्श—हस अतिशयोक्ति का इतिहास—पूर्वप्रतिपादित अतिशयोक्ति के इतिहास से ही गतार्थ है ।

श्री विद्याचक्रवर्ती ने सर्वस्वकार द्वारा किए गए इस अतिशयोक्ति के विवेचन का संक्षेप इस प्रकार किया है—

‘कार्यकारणयोर्यो तु कालसाम्यविपर्ययो । अन्या स्वतिशयोक्ति सा विरोधाशोपजीवनात् ॥’

—‘यह एक अन्य ही अतिशयोक्ति होनी है जिनके कार्य और कारण के उत्पत्ति समय में एकता या उलटाव रहता है । यह विरोधाश पर निर्भर रहती है ।’

### [ सर्वस्व ]

[ सू० ४५ ] तयोस्तु भिन्नदेशत्वेऽसंगतिः ।

तयोरिति कार्यकारणयोः । यद्देशमेव कारणं तद्देशमेव कार्यं दृष्टम् ।

नहि महानसस्यो वह्निः पर्वतदेशस्थं धूमं जनयति । यदा त्वन्यदेशस्थं  
कारणमन्यदेशस्थं च कार्यमुपनिवध्यते, तदोचितसंगतिनिवृत्तेरसंगत्या-  
ख्योऽलंकारः । स च विरुद्धकार्यकारणभावप्रस्तावादिह लक्ष्यते । यथा—

‘प्रायः पथ्यपराङ्मुखा विषयिणो भूपा भवन्त्यात्मना

निर्दोषान् सचिवान् भजत्यतिमहाल्लोकापवादञ्चरः ।

वन्द्याः श्लाघ्यगुणास्त एव विपिने संतोषभाजः परं

वाह्योऽयं वरमेव सेवकजनो विक्रं सर्वथा मन्त्रिणः ॥’

अत्र पथ्यपराङ्मुखत्वमुपालम्भञ्चरविषयत्वस्य भिन्नदेशहेतुरित्य-  
संगतिः । एवम्—

‘सा वाळा वयमप्रगल्भवचसः सा स्त्री वयं कातराः

सा पीनोन्नतिमत्पयोधरभरं धत्ते सखेदा वयम् ।

सा क्लान्ता जघनस्थलेन गुरुणा गन्तुं न शक्ता वयं

दोषैरन्यसमाश्रितैरपटवो जाताः स्म इत्यद्भुतम् ॥’

इत्यत्र श्लेषम् । अत्र वात्यनिमित्तमप्रगल्भवचनत्वमन्यदन्यच्च स्मर-  
निमित्तकमित्यनयोरभेदाध्यवसायः । एवमन्यत्र श्लेषम् ।

[ सू० ४५ ] किन्तु वे [ कार्यकारण ] भिन्नदेशगत हों तो [ अलंकार का नाम ]  
असंगति [ होता है ] ॥

तयोः = वे अर्थात् कार्यकारण । कारण जिस स्थान पर रहता है उसी स्थान पर कार्य का  
रहना देखा गया है । ऐसा नहीं है कि रसोर्ध्वर की अग्नि पर्वत पर के धुँव को उत्पन्न करे ।  
किन्तु जब कारण अन्य स्थान पर और कार्य अन्य स्थान पर बतलाया जाता है तब उचित संगति  
न रहने से असंगति नामक अलंकार होता है । वह यहाँ इतल्लिप बतलाई या रदी है कि यहाँ  
विरुद्ध कार्यकारणभाव का प्रसंग चला हुआ है । उदाहरण यथा—

‘पथ्यपराङ्मुख और विषयी प्रायः राजा लोग ही स्वयं होते हैं किन्तु लोकापवाद का महान्  
ञ्चर आता है निर्दोष मन्त्रियों को । वे [ मन्त्री ] लोग ही यदि जंगल में जाकर संतोष के साथ  
रहें तो इनकी वन्दना और इनके गुणों की प्रशंसा होती है । इतल्लिप ये बाहरी सेवक लोग ही  
अच्छे । मन्त्री लोगों को सर्वथा पिचकार है ।’

यहाँ पथ्यपराङ्मुखत्व हेतु है उपालम्भञ्चर का किन्तु वह भिन्नदेशस्थ है इतल्लिप असंगति है ।  
इसी प्रकार—[ वामन के द्वारा—विरोधालंकार के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत ]—

‘वाला है वह किन्तु अप्रगल्भ वाणी है हमारी, स्त्री है वह किन्तु कातर है हम, मोटे और उन्नत  
पयोधरों का भार है उस पर किन्तु खेद है हमें, जघनस्थल की गरिमा से क्लान्त है वह किन्तु  
चलने में असमर्थ हैं हम । इस प्रकार हम अन्वाश्रित दोनों से अभिभूत हो गए हैं यह आश्चर्य की  
बात है ।’—इस पद्य में भी जानना चाहिए । यहाँ वात्यजनित अप्रगल्भ वचन भिन्न है और स्मर-  
जनित अप्रगल्भ वचन भिन्न । यहाँ इन दोनों में अभेदाध्यवसाय है । इसी प्रकार अन्य उदाहरणों  
में भी समझना चाहिए ।

### विमर्शनी

तयोरित्यादि । एतदेव द्यतिरेकमुखेनापि दर्शयति—नहीत्यादिना । उचितसंगतिनिवृत्तेरिति ।  
एकदेशयोरपि कार्यकारणयोर्भिन्नदेशत्वेनोपनिबन्धनात् । अत एव च तयोर्भिन्नदेशवादिष्यं

विषयभेदेन भवतीत्येकविषयाद् विरोधादस्य भेदः। इह लक्ष्यत इति। अस्या अपि कार्य-  
कारणयोर्भिन्नदेशत्वेन विरोधगर्भत्वात्। अभेदाध्यवसाय इति। अनेनातिशयोक्तिरस्या  
अप्यनुप्राणकत्वेन कटाक्षिता। अन्यथा हि विरोधो दुष्परिहरः। स्यात् एवं पथ्यज्वर-  
दान्द्योरतिशयोक्तिबलात्प्रजापालनयुक्तिसंतापवाचकत्वं द्रष्टव्यम्। अन्यत्रेति कातरत्वाद्दी।

तयोरित्यादि। इसीको व्यतिरेक द्वारा भी बतलाते हैं 'न हि' इत्यादि द्वारा। उचित-  
सगतिनिवृत्ते उचित सगति न रहने से = क्योंकि कार्य और कारण सदा ही रहते तो एक ही  
स्थान पर है तथापि यहाँ उनका भिन्न भिन्न स्थान में दिखलाए जाने से और इसी कारण कि वे  
दोनों भिन्न भिन्न स्थान में रहते हैं। फलन इसमें विषयभेद रहता है, यह विरोधात्कार से भिन्न  
है, क्योंकि उसमें विषय एक ही रहता है। इह लक्ष्यते = इसका लक्षण यहाँ किया जा रहा है।  
इसमें भी कार्यकारण भिन्न भिन्न स्थलों में रहते हैं अतः यह भी विरोध गमित है, इसलिये।  
अभेदाध्यवसाय—इससे यह बतलाया कि इस [ असगति ] में अतिशयोक्ति अनुप्राणक है। अन्यथा  
विरोध का परिहार कठिन हो जाए। इसी प्रकार 'पथ्य' और 'ज्वर' शब्दों में भी अतिशयोक्ति  
के बल पर प्रजापालनयुक्ति और सताप की वाचकता समझनी चाहिए। अन्यत्र = अन्य स्थलों  
में अर्थात् 'कातरत्व' आदि में।

**विमर्ग—असंगति का पूर्वतिहास—**

असंगति नाम का कोई भी अलंकार न तो मामू के काव्यालंकार में मिलना न वामन  
और उद्भट के। वामन में विरोधात्कार के लिए जो 'सा बाला०' पद्य दिया गया है उसमें असंगति  
अवश्य है किन्तु वहाँ अलंकार का नाम असंगति नहीं है। असंगति नाम पहले पहल रुद्रट के  
काव्यालंकार में मिलता है।

**रुद्रट—**'विन्पष्टे समकालं कारणमन्यत्र कार्यमन्यत्र।

यस्यामुपलभ्येते विदेयासंगतिः सेयम् ॥'—१।४८॥

**उदाहरण—**'नवयौवनेन मुननोरिन्दुकलाकोमलेन पूर्वन्ते।

अज्ञान्यसङ्गताना यूनां हृदि वर्धते कामः ॥'

'जहाँ स्वप्नरूप से कार्य अन्यत्र प्राप्त हो और कारण अन्यत्र तो उमे असंगति समझना  
चाहिए।' यथा—

—'इन्दुकला के समान कोमल नवीन यौवन से मरे तो जा रहे हैं अग उस सुन्दरी के,  
किन्तु काम की वृद्धि हो रही है दूरस्थ युवकों के हृदयों में।'

**मम्मट—**'भिन्नदेशनायाऽत्यन्त कार्यकारणभूतयो'।

युगपद्धर्मयोर्यत्र ख्यातिः सा स्यादसंगतिः ॥'

'जहाँ कार्यकारणभूत धर्मों का अत्यन्त भिन्न भिन्न स्थानों में प्रतिपादन हो उमे असंगति  
कहते हैं।'

**उदाहरण—**'दन्तश्च कपोले बध्वा वेदना सपरनीनाम्'

—'दोत का घाव तो है बधू के कपोल पर किन्तु वेदना है सौतों में।' मम्मट ने विरोध से  
असंगति का अन्तर विरुद्ध तत्त्वों की भिन्नदेशता तथा एकदेशता को लेकर किया है। विमर्शिनी-  
कार ने उसी को अपना लिया है। विरोध में भिन्न भिन्न स्थानों में रहने वालों का एक  
स्थान में आना विरोध का कारण होता है जब कि असंगति में सदा एक ही स्थान पर रहने  
वालों का भिन्न भिन्न स्थान पर रहना। आगे पण्डितराज के मत से भी यह तथ्य स्पष्ट होगा।

**शोभाकर—**ने असंगति के बाठ भेद माने हैं। उनका सामान्य लक्षण यह है—

'तयोर्देशकालान्यत्वमसंगतिः ॥'

‘उन—हेतु और कार्य के देश तथा काल की विपरीतता असंगति कहलाती है।’ यह विपरीतता इस प्रकार होती है।

- [ १ ] एकदेशस्थ कार्य की भिन्नदेशस्थता
- [ २ ] भिन्नदेशस्थ कार्य की एकदेशस्थता
- [ ३ ] पश्चात्कालभावी की पूर्वकालभाविता
- [ ४ ] पश्चात्कालभावी की सहकालभाविता
- [ ५ ] तुरन्त वाद होने वाले की विरकालभाविता
- [ ६ ] विरकालभावी की तत्कालभाविता
- [ ७ ] ऐहिक कार्य की आसुष्मिकता और
- [ ८ ] आसुष्मिक कार्य को ऐहिकता।

इनमें से नवीन सात भेदों के उदाहरण देकर रत्नाकरकार ने अन्त में सभी में चारुत्व की सत्ता मानी है। उन्होंने लिखा है -

‘भेदसतकमत्रान्यद् यदस्माभिरुदाहृतम्।

चारुत्वातिशयात् तत्तिमन्नलङ्कारता कुतः।’

ये अतिरिक्त भेद भावुकतामात्र हैं। इनमें अतिशयोक्ति आदि से भिन्न कोई स्वतन्त्र मौलिकता नहीं है।

**अप्यप्यदीक्षित**—ने भी असंगति के तीन भेद माने हैं। उनमें से प्रथम तो कार्यकारण की भिन्नस्थानस्थतामूलक ही है, शेष दो में से एक ‘अन्यत्र करणीय कार्य के अन्यत्र किए जाने’ से तथा द्वितीय ‘अन्य किसी कार्य को करते-करते उसके विरुद्ध कार्य के कर डालने’ से होती है। इनके लक्षण ये हैं—

- [ १ ] ‘विरुद्धं भिन्नदेशत्वं कार्यहेतोरसंगतिः।’
- [ २ ] ‘अन्यत्र करणीयस्य ततोऽन्यत्र कृतिश्च सा।’
- [ ३ ] ‘अन्यत् कर्तुं प्रवृत्तस्य तद्विरुद्धकृतित्तथा।’

इनके उदाहरण हैं—

[ १ ] ‘विषं जलधरैः पीतं मूर्च्छिताः पथिकाङ्गनाः।’

विष [ जल तथा जहर ] पिया मैघों ने और मूर्च्छित हुईं पथिकों की कियां।

[ २ ] अपारिजाता वसुधा त्रिकीर्पन् थां तथाऽकरोत्।

‘श्रीकृष्ण चाहते बनाना पृथिवी को अपारिजात [ अप = अपगत हो गया है हट गया है अरि = शत्रु का जात = समुदाय जिससे तथा ‘पारिजातरहित’ ] किन्तु बना दिया अपारिजात [ पारिजात हरण द्वारा पारिजात रहित ] धौ को।’

[ ३ ] ‘गोत्रोद्धारप्रवृत्तोऽपि गोत्रोद्भेदं पुराऽकरोत्।’

श्रीकृष्ण रुने तो ये गोत्रोद्धार [ गोत्रा = पृथिवी के उद्धार में ] किन्तु कर दिया उन्होंने उससे उल्टा गोत्रोद्भेद [ गोत्रा पृथिवी का भेद नाश तथा गोत्र = पर्वत अथवा वंश का ] कर दिया।’

इनमें द्वितीय भेद विशेषालंकार में तथा तृतीय विरोधालंकार या विषमालंकार में अन्तर्भूत हो जाता है। पण्डितराज ने भी इनका स्पष्टन किया है।

**पण्डितराज**—अगत्राय ने असंगति का लक्षण इस प्रकार किया है—

‘विरुद्धत्वेनापाततो भासमानं हेतुकार्ययोर्वैयधिकरण्यमसंगतिः।’

हेतु और कार्य का भिन्न-भिन्न अधिकरण में रहना, जो आपाततः विरुद्ध-सा लगता है, असंगति कहलाता है।



पण्डितराज ने सर्वस्वकार की इस मान्यता का खण्डन किया है कि असंगति में अतिशयोक्ति सहायक होती है। खण्डन में उन्होंने केवल शब्द पर आश्रय किया है। कहा है कि यहाँ अनिशयमात्र सहायक है अनिशयोक्ति नहीं। वस्तुतः यह सर्वस्वकार के कथन का स्वीकरण-मात्र है।

विमर्शनीकार का भी खण्डन करते हुए पण्डितराज ने लिखा है कि उन्होंने 'एक अधिकरण में दो के मन्त्र से विरोध होता है और असंगति में भिन्न भिन्न अधिकरणों में' यह जो भेद बनलाया है वह अमान्य है। कारण कि असंगति में भी दो विरुद्ध धर्म एक ही स्थान पर रहने हैं वे धर्म हैं कार्यत्व और कारणवैयधिकरण्य [ कारण के अधिकरण में अग्र रहना ]। अन्नत विरोध से असंगति का अन्तर पण्डितराज ने दो हेतुओं द्वारा बनलाया है।

१—उत्पत्तिपरामर्श, यह विरोध में नहीं रहता। असंगति में रहता है।

२—भिन्न भिन्न स्थान पर रहने के लिए प्रसिद्ध पदार्थों का एक स्थान में रहना विरोध का निष्पादक तत्त्व है और एक स्थान में रहने वालों का भिन्न स्थान में रहना असंगति का। यह भेद हम भी अभी-अभी बतला आए हैं।

विश्वेश्वर—'हेतुव्यधिकरण स्यात् कार्यं चेत् सा त्वसंगति- प्रोक्ता ।'

—'यदि कार्यं हेतु के आश्रय से भिन्न आश्रय में बतलाया जाय तो उसे असंगति जाननी चाहिए।'

विश्वेश्वर ने पण्डितराज द्वारा किए गए विमर्शनीकार के उपर्युक्त विरोध का प्रतिवाद किया है। वस्तुतः पण्डितराज का तात्पर्य भेदक कसौटी तय करने में था। वह उन्होंने द्वितीय कल्प द्वारा तय कर दी है। विश्वेश्वर को भी वह मान्य है।

श्रीविद्याचक्रवर्ती ने असंगति का संक्षेप इस प्रकार किया है—

'कार्यकारणयोर्मित्रदेशत्वे स्यादसंगति ।  
अभेदाव्यवसायादिविच्छित्त्वा दृश्यते च सा ॥'

[ सर्वस्व ]

[ सू० ४६ ] विरूपकार्याऽनर्थयोरुत्पत्तिर्विरूपसंघटना च विषमम् ।

विरोधप्रस्तावेनेह लक्षणम् । तत्र कारणगुणप्रक्रमेण कार्यमुत्पद्यत इति प्रसिद्धौ यद्विरूपं कार्यमुत्पद्यमानं दृश्यते तदैकं विषमम् । तथा कंचिदर्थं साध्यित्तुमुद्यतस्य न केवलं तस्यार्थस्याप्रतिलम्भो यावदनर्थप्राप्तिरपीति द्वितीयं विषमम् । अत्यन्ताननुरूपसंघटनयोर्विरूपयोश्च संघटनं तृतीयं विषमम् । अननुरूपसंसर्गो हि विषमम् । क्रमेण यथा—

'सद्यः करस्पर्शमवाप्य चित्रं रणे रणे यस्य कृपाणलेखा ।

तमालनीला शरदिन्दुवाण्डु यशस्त्रिलोकामरणं प्रसूते ॥'

'तीर्थान्तरेषु मलयङ्कवतीर्विहाय दिव्यास्ननूस्तनुभृतः सहसा लभन्ते ।

चाराणसि त्वयि तु मुक्तकलेवराणां लामोऽस्तु मूलमपि यात्यपुनर्भवाय ॥'

‘शरण्यानी केयं धृतकनकसूत्र. क स नृगः

क मुक्ताहारोऽयं क च स पतगः केयमवला ।

क तत्कन्यारत्नं ललितमहिभर्तुः क च वयं

स्वमाकृतं धाता निभृतनिभृतं कन्दलयति ।

अत्र कृष्णवर्णाच्छुक्लवर्णात्पत्तिः कलेवराभ्यन्तापहारलक्षणानर्थान्तरो-  
त्पत्तिः, अत्यन्ताननुरूपाणां चारण्यान्यादीनां परस्परं संघटनं क्रमेण मन्त-  
व्यम् । केवलमनर्थोत्पत्तिरत्र व्याजस्तुतिपर्यवसायिनीति शुद्धोदाहरण-  
मप्युद्धम्<sup>१</sup> ।

[ सू० ४६ ] विपरीत कार्य तथा अनर्थ की उत्पत्ति साथ ही विपरीत संघटना विषम  
[ नामक अलंकार होता है ] ।

इसका लक्षण यहां विरोध के प्रसंग से किया जा रहा है । इसमें ‘कार्य, कारण के गुणों के  
अनुरूप [ गुणों से युक्त होकर ] ही उत्पन्न होता है’ इस प्रसिद्धि के रहते हुए भी जो विपरीत गुण  
वाला कार्य उत्पन्न होता दिखलाया जाता है वह एक प्रकार का विषम होता है । इसके अतिरिक्त  
‘किसी लाभ को सिद्ध करने के लिए उद्यत व्यक्ति को उस लाभ की प्राप्ति तो नहीं ही हो ऊपर  
से अनिष्ट की प्राप्ति और हो जाए’ यह दूसरे प्रकार का विषम होता है । दो अत्यन्त  
अननुरूप अर्थात् पदार्थों की संघटनाएँ तृतीय प्रकार का विषम होता है । प्रतिकूल संघटना ही  
विषम है । इनके क्रम से उदाहरण [ विपरीतगुणी कार्य की उत्पत्ति से होने वाला विषम ]—

‘यद् आश्चर्यं कां वात ई कि तमाल जैसी नीली कृपाणलेखा प्रत्येक बुद्ध में जिसके कर का  
स्पर्श पाकर शरत्कालीन चन्द्रमा से शुभ्र और त्रिलोकी के आमरण यश को उत्पन्न करती है ।’  
[ नवसाहस्रांकचरित १।६२ ]

[ अनर्थ की उत्पत्ति से होनेवाला विषम ]—

‘अन्य तीर्थों में शरीरपारी लोग मलिन शरीर छोड़कर दिव्य शरीर प्राप्त कर लेते हैं । परन्तु  
हे काशी ! तुझमें शरीर छोड़ने वालों का लाभ तो दूर रहे, मूल [ भूत शरीर ] भी फिर से उत्पन्न  
न होने के लिए चल बसता है [ वस्तुतः इस पद्य में व्याजस्तुति और व्यतिरेक अलंकार है ] ।

[ विपरीत पदार्थों की संघटना से होने वाला विषम यथा ]—

‘कहाँ यह [ विन्ध्य ] अटवी और कहाँ वह सुवर्ण की सौकल पहने हिरना, वहाँ यह मोतियों  
का द्वार और कहाँ वह पक्षी [ हंस ], कहाँ यह अबला [ पाटला नामक शशिप्रभा की सखी ],  
सर्पराज [ शंखपाल ] को कहाँ वह उत्तम सुन्दरी कन्या और कहाँ हम । विपाता अपनी इच्छा अत्यन्त  
निभृत रूप से पूर्ण करता रहता है [ नवसाहस्रांकचरित ५।८१ ] ।’

१. निर्णयसागर प्रति में इतना पाठ अधिक है—‘यथा—

‘परहिअअं सर्गतीड् भारिअं अत्तणो तए हिअअं ।

अव्यो ल्लाहसस कए मूलाओ विछेइभा जाभा ॥’

[ परहृदयं मार्गन्या दारितमात्मनस्तथा हृदयम् ।

हंहो लाभस्य कृते मूलविच्छेदिका जाता ॥ ]

इति तत्रोदाहार्यम् ।

इत [ तीन पद्यों में ] क्रम से [ प्रथम पद्य में ] कृष्णवर्ण से शुद्धवर्ण की उत्पत्ति, [ द्वितीय में ] शरीर के अत्यन्त अपहरणशील अनर्थ की प्राप्ति तथा [ तृतीय में ] जगल आदि अत्यन्त बेमेल पदार्थों का परस्पर मिलान मानना चाहिए। इतना अवश्य है कि यहाँ अनर्थोत्पत्ति व्याजस्तुति में पर्यवसित हो रही है फलतः इसका कोई शुद्ध उदाहरण सोच लेना चाहिए।

### विमर्शिनी

विरूपेत्यादि। इहेति। अस्याप्यननुरूपसंसर्गो विरोधगर्भत्वात्। विरूपमिति। कारणापेक्षया विजातीयत्वेनातद्गुणत्वात्। यद्यपि 'गोमयाद्वृश्चिकोरपत्तिः' इतिवत्कार्यकारणयोर्वैस्त्वं विरूपस्य संभवति, तथापीह कविप्रतिभानिर्वर्तितमेव तद् प्राश्यम्। तेन

'द्राक्षाफलानि शिखरेषु शिलोच्चयानां पीयूषसारसनिभंरगर्भवन्ति।

विष्वग्दृष्टकठिनकायनिगूढशृङ्गशृङ्गाटकानि पुनरम्भसि सम्भवन्ति ॥'

इत्यादौ विषम न वाच्यम्। ईदृश एव कार्यकारणभावरस्य वस्तुतः संभवात्। तस्येति साधयितुमिष्टम्। अप्रतिष्ठा इति। असिद्धिरिति यावत्। अत्यन्तेति। न केवलं तयोरेव विरूपत्वं यावत्संसर्गनाया अप्यननुरूपत्वमित्यत्र तात्पर्यम्। एकमिष्याद्यभिदधता ग्रन्थकृता विषमणां भिन्नत्वमुक्तम्, न प्रकारप्रकारित्वम्। सामान्यलक्षणस्यासंभवात्। एवमेव पुनरेषां कस्माद्भिधानमित्याशङ्क्याह—अननुरूपेत्यादि। यत्किञ्चिपुनरम्भदर्शनविद्वद्मन्वैरधिकमुष्ण तदिहास्माभिर्मन्थावस्तुप्रन्यायमाश्रय्यावधाननिर्वाहसमुत्सुकमानसत्वात् निराकृतमिति न तदेव सिद्धान्तीकार्यम्। तस्य पृथङ्निरसिष्यमाणत्वात्। इह हि यथाशक्त्यस्मात्प्रहप्रवृत्तपरकीयदूषणोद्धारमात्रमेव विवक्षितम्। यद्योपयोगं पुनस्तन्निराकरणमपि कृतं करिष्यते च।

अत्र शुद्धकृष्णवर्णैर्वा कार्यकारणरमकत्रिपयद्वयगतत्वेन स्थितमिष्यस्य भिन्नविषयत्वादेकविषयाद्विरोधाद्भेदो ज्ञेयः। एवमन्यत्रापि ज्ञेयम्। अस्यान्यादीनामननुरूपमन्योन्यघटन वास्तवमित्युदाहरणान्तरेणोदाह्रियते। यथा—

'शिरीषादपि मृदङ्गी श्वेयमायतलोचना।

अथ वव च कुकूलाभिकर्कशो मदनानलः ॥'

अत्राननुरूपयोस्तन्वीमदनानलयोः सघटनम्। अत्रेति तीर्थान्तरेष्वित्यादौ। शुद्धेति। यत्र विषममेव न स्यात्। तत्तु यथा—

'यो हठं प्रतिनिपेद्घुमुदस्तः सुध्रुवा प्रियतमस्य कटाक्षः।

स प्रतोद् इव तस्य विशेषात्प्रेरकः किमपि हन्त ध्रुव ॥'

अत्र कटाक्षस्य हठनिपेधायोदस्तस्य न केवलं तदसिद्धिर्यावत्परपैवात्यन्तं स प्रेरको जान इत्यनर्थोत्पत्तिः।

विरूपेत्यादि। इह = इम प्रसंग में क्योंकि यह अलङ्कार भी अननुरूपसंसर्गात्मक होने से विरोधगमित है। विरूप = कारण की अपेक्षा विजातीय होने के कारण अर्थात् उसके गुण से युक्त न होने के कारण। यद्यपि कार्य और कारण में विरूपता वास्तविक भी होती है [ यथा ] गोमय [ गोबर ] से विच्छू की उत्पत्ति होती है, तथापि यहाँ कविप्रतिभाप्रस्तुत विरूपता ही अपनाती चाहिए। इमल्लि—

अमृतसाररूपी रस से निवर्तित गमित द्राक्षाफल पदार्थों के शिखर पर होते हैं और चारों ओर से कठिन शरीर के शृंग छिपाए सिंघाड़े पैदा होते हैं पानी में।

—इत्यादि स्थलों में विषम नहीं मानना चाहिए। क्योंकि ऐसे ही हैं वे कार्य-कारणभाव जो वास्तविक होते हैं, [ कल्पित नहीं ]। तस्य = उस सिद्ध करने के लिए अभीष्ट। अप्रतिलम्भ, असिद्धि। अत्यन्त—अर्थ यह कि केवल वे स्वयं ही विरूप नहीं होते, अपितु उनकी संघटना भी वैसी ही विरूप होती है। एक इत्यादि कहकर ग्रन्थकार ने तीनों विषमों की परस्पर भिन्नता बतलाई न कि प्रकारप्रकारिभाव। क्योंकि इनसे कोई सामान्य लक्षण संभव नहीं है। फिर इन्हें बतलाया कैसे इस पर कहते हैं अननुरूप०। अन्य आचार्यों ने थोड़ा अधिक कह दिया है जो हमारे सिद्धान्त के विरुद्ध है, और हमने भी उसका खण्डन नहीं किया है, क्योंकि हमारा चित्त ग्रन्थस्थित पदार्थों की व्यवस्थित व्याख्या करने के लिए वन्मुक्त है। किन्तु पनावता उसे सिद्धान्तभूत नहीं मान लेना चाहिए। उसका निराकरण अलग से किया जाने वाला है। यहाँ तो हमें आप्रह में पढ़कर दिए गए दूसरे के दोषों का उद्धारमात्र यथाशक्ति करना अभीष्ट है और वह जहाँ जितना आवश्यक था हमने पहले भी किया है और आगे भी करेंगे।

यहाँ कृपणता और शुन्यता कार्यकारणत्मक दो भिन्न वस्तुओं में अवस्थित है अतः विषम भिन्न होने से इसका विरोध से अन्तर है, विरोध में आधार एक ही होता है। अन्यत्र भी इसी प्रकार समझना चाहिए।

‘अरण्यानी०’ आदि पद्य में जो पदार्थों की विपरीत योजना है वह वास्तविक है इसलिए हम एक अन्य उदाहरण द्वारा इसे स्पष्ट करते हैं। यथा—

‘कहाँ तो शिरीष से भी अधिक कोमल अंगों वाली यह विशालनेत्रा और कहाँ यह तुपाग्नि के तमान कर्कश कामानल ।’

—यहाँ [ कविकल्पना में ] दो विपरीत गुणों पदार्थ, तनूंगी तथा कामानल का मिलन है। अत्र = यहाँ अर्थात् ‘तीर्थान्तरेषु’ पद्य में। शुद्धा = अर्थात् जहाँ केवल विषम ही हो। उसका उदाहरण यथा—

‘अच्छी मौंहो वाली उस कामिनी ने जो कटाक्ष [ वाण ] हठ का प्रतिषेध करने के लिए प्रियतम पर छोड़ा, इन्त, वह तो किसी भी कारण चावुक की नाई उसके लिए और अधिक प्रेरक हो गया ।’

—यहाँ हठ के निषेध के लिए चलाय कटाक्ष से इस कार्य को असिद्धि ही केवल नहीं हुई प्रत्युत ‘वह उसी हठ का अधिक प्रेरक बन गया’ इस प्रकार अनर्थोत्पत्ति और हो गई।

त्रिमूर्ति - अनर्थोत्पत्ति वाले विषम के शुद्ध उदाहरण के रूप में स्वयं मूल में ही एक गायत्री निर्णयसागरीय प्रति में छपी हुई है। श्रीरामचन्द्र द्विवेदी ने उसे मूल मान लिया है। पृष्ठ ४८९ पर उसे हमने अविकल रूप से अपनी नवार्थ संस्कृत छाया के साथ पादटिप्पणी में दे दिया है। ग्रन्थकार ने जब उसके उदाहरण की कल्पना करना ‘अभ्युद्यम्’ कहकर पाठकों पर छोड़ दिया, तब वह स्वयं उदाहरण देगा वह संभव नहीं लगता। विमर्शिनी, समुद्रवन्धी तथा संजीविनी में भी इस अंश का उल्लेख नहीं है।

**विषम का इतिहास :—**

भामह, वामन तथा उद्भट में विषम का विवेचन नहीं मिलता। पहले पहल रुद्रट के काव्यालङ्कार में इसका विवेचन इस प्रकार मिलता है—

रुद्रट—

‘कार्यस्य कारणस्य च यत्र विरोधः परस्परं गुणयोः ।  
तद्वत् क्रिययोरथवा संजायेतेति तद् विषमम् ॥ १४५ ॥

—जहाँ कार्य और कारण के गुण या क्रियाओं में परस्पर विरोध हो उसे विषम कहते हैं।

उदाहरण = [ १ ] 'नीले रङ्ग मे शुभ्र यश उत्पन्न होना'—इसी भाव का पद्य ।

[ २ ] आनन्दममन्दमिम कुशल्यदल्लोचने ददासि स्वम् ।

निरहस्त्वयैव जनिनस्तापयतितरां शरीर मे ॥ ९।४७ ॥

'हे नीलकमल की पंखुड़ी जैसी आँतों वाली ! तुम स्वयं तो अत्यन्त आनन्द देती हो किन्तु दुन्दारे द्वारा ही उत्पन्न वियोग उनना ही तपाता है ।' रुद्र ने विरूपमंघटना वाले विषम को भी बारम्बार नामरु अलंकार वर्ग में गिनाया है—

'विषम इति प्रथितोऽर्मा वक्ता विषयति किमपि सम्बन्धम् ।

यथार्थयोरसन्त परमतमाशङ्क्य नत्सत्त्वे ॥ ७।१७ ॥

—उने विषम कहा जाता है जहाँ वस्तुओं के असोमन सम्बन्ध को दूसरे के अनुसार सोमन रूप से प्रतिपादित समझ वक्ता अनुचित प्रतिपादित करता है । यथा—'कव खला. क्व च सञ्जन स्तुतय.' कहाँ खल और कहाँ सजनों की स्तुति ।'

मम्मट—मम्मट ने रुद्र से बड़कर विषम में बड़ भेद और जोड़ा जिसे सर्वस्वकार ने अनर्थ-प्राप्ति कहा है । उनका विषमालंकार विवेचन इस प्रकार है—

'क्वचिद् यदतिवैषम्यात् श्लेषो घटनामियात् । कर्तुं क्रियाफलावाप्तिर्नवानर्थश्च यद् भवेत् ।

गुणक्रियाभ्यां कार्यस्य कारणस्य गुणक्रिये । क्रमेण च विरुद्धे यद् स एव विषमो मतः ॥'

—यहाँ [ १ ] अत्यन्त वैषम्य होने से वस्तुओं का सम्बन्ध फलता न हो [ २ ] कर्ता को क्रियाफल की प्राप्ति तो हो ही नहीं अनर्थप्राप्ति और हो जाए, [ ३ ] कार्य के गुण तथा क्रिया क्रमशः कारण के गुण तथा क्रिया में विरुद्ध हों तो यह [ चार प्रकार का ] विषम होना है ।' उदाहरण के रूप में उन्होंने प्रथम दो के लिए निम्नलिखित पद्य दिये हैं—

[ १ ] 'श्रीरीपादपि मृदवक्त्री' [ विमंशिनी में उद्धृत ]

[ २ ] सिद्धिकाद्युनमत्रत' शशः शीनांशुमागल । अग्रसे साश्रय तत्र तमन्य' सिद्धिकाद्युनः ॥

—सिद्धिका [ सिद्धी ] के सुन [ शेर ] से बरा हुआ खरहा चन्द्रमा में पहुँचा । वहाँ उसे उसके आश्रय के साथ ही एक दूसरे सिद्धिका [ राहु की माता ] के सुन [ राहु ] ने प्रस लिया । [ यहाँ सिद्धिकापद में श्लेष है ] ।

शेष दो भेदों के लिए मम्मट ने नवमाहस्तांशुवरित का 'सद्य. करशयशंभवाप्य' यह पद्य तथा रुद्र का ही 'आनन्दममन्दमिमम्' पद्य उद्धृत कर दिया है ।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि सर्वस्वकार ने कार्यकारण के वैषम्य को गुण तथा क्रिया के दो भागों में नहीं बाँटा । विमंशिनीकार ने भी इम दिशा में ध्यान नहीं दिया ।

परवर्ती आचार्यों में—

शोभाकर—ने

[ १ ] अर्थानर्थपदे तदन्यस्योरपत्तिविषमम् ।

[ २ ] अनर्थोरपत्तिविरूपकार्योरपत्तिविरूपसघटनमसाकर्यं च ।

—इन दो सूत्रों में विषम के निम्नलिखित पाँच भेद माने हैं—

१—अर्थ के स्थान पर अनर्थ की प्राप्ति

१—अनर्थ के स्थान पर अर्थ की प्राप्ति

३—विरूपकार्योरपत्ति

४—विरूपसंघटन तथा

५—असमग्रता

इनमें से प्रथम, द्वितीय तथा चतुर्थ के उदाहरण तो वे ही माने जा सकते हैं जो सर्वस्वकार ने दिए हैं। शेष द्वितीय तथा पंचम के उदाहरण रत्नाकर में ये हैं—

‘वेन राहुरपि निग्रहेच्छुना दुर्मरं दरभिदा सखोद्धतः ।’

‘जिन विष्णु भगवान् ने चाहा तो था राहु का निग्रह किन्तु दुर्मर उदर अलग कर बना लिया उसे मित्र०’ ।

‘पृथ्वीं खलु पीठिका सुवदितं लिङ्गं तदेनजसः

सानी चामरनिम्नगा जलमिदं सखीकृतं वर्त्तते ।

अस्त्येषा पुरतः स्थिता नयनवा नक्षत्रपुष्पावली

स्याच्चैत कश्चन पूजकोऽत्र तदियं पूजोपकल्पता भवेत् ॥

—यह वितत भूषण पीठिका है और यह आकाश है शिवलिङ्ग । सुमेरुशृंग पर गंगाजी का यह जल भी तैयार है । सामने ही नक्षत्रों को यह नर्द-नर्द पुष्पावली भी उपस्थित है । कोई [ पूजा ] करने वाला यहाँ होता तो यह पूजा पूरी हो जाती ।’ इस पद्यरत्न में केवल पूजा करने वाले की कमी है इस कारण पूजा में कमी पड़ रही है । यह एक खलने वाली बात है अतः यहाँ विषम हुआ ।

रत्नाकरकार ने विषम विवेचन में एक कान्ति भी प्रस्तुत की है । उन्होंने अधिकालंकार को भी विषम में ही अन्तर्भूत करना चाहा है । उनका कहना है—

‘आधाराधेययोर्यत्र संसर्गः स्याद् विरूपयोः ।

स स्फुटो विषमो वाच्यमधिकं नाधिकं ततः ॥’

—जहाँ आधार तथा अधेय का संघटना भी विरूप हो वहाँ विषम ही मानना चाहिये, अतः एक स्वतन्त्र अलंकार अधिकालंकार नहीं हो सकता ।’ उन्होंने इस तर्क की पुष्टि में अन्य तर्क प्रस्तुत करते हुए लिखा है ‘यदि अधिक नामक एक स्वतन्त्र अलंकार माना जाता है तो ‘विगुण’—नामक भी एक स्वतन्त्र अलंकार माना जाना चाहिये जहाँ कारण कार्य के गुण परस्पर विरुद्ध हों। रत्नाकर-कार की तार्किक उर्वरता स्तुत्य है, किन्तु वस्तुतः अधिक अलंकार अतिशयोक्ति पर निर्भर है और विषम विरोध पर । ‘प्रलयकाल में पूरा संसार जिनमें समा जाता है वहाँ श्रीकृष्ण में नारद-मिलन का आनन्द नहीं अँटा’—इस उक्ति में विरोध नहीं अतिशय ही अधिक आनन्दकारी है ।

अप्यप्यदीक्षित ने विषम के वे ही भेद माने हैं जो मम्मट ने माने हैं । उनके उदाहरण प्रायः वे ही अभिनवकृतियाँ हैं जो मम्मट ने प्रस्तुत की हैं । यथा—

[ १ ] ‘विषमं वर्ण्यते यत्र घटनानुरूपयोः ।

त्र्येयं शिरीषसृष्ट्वङ्गी क्व तावन्मदनञ्जवरः ॥

विषम उसे कहते हैं जिसमें अनुरूप पदार्थों की जोड़ी उतलाई जाती है । कहीं तो यह शिरोपशुष्य कोमल अंगों वाली छन्दरी और कहीं यह कामञ्जर ।’

[ २ ] विरूपकार्यस्योत्पत्तिरपरं विषमं मतम् ।

कीर्त्तिं प्रभूते धवला श्यामा तव कृपाणिना ॥

विपरीत कार्य की उत्पत्ति दूसरा विषम है । यथा आपको श्याम अस्ति श्वेत कीर्त्ति उत्पन्न करती है ।

[ ३ ] अनिष्टस्याप्यवाप्तित्त्वं तदिष्टार्थसमुद्यमात् ।

भक्ष्याशयाऽहिमञ्जूषां दृष्ट्वाऽखुस्तेन भक्षितः ॥

इष्टार्थ के लिए प्रयत्न करते-करते अनिष्ट की प्राप्ति भी विषम होती है । यथा—‘भक्ष्य वस्तु की आशा से सोंप की पिटाही कुतर कर चूहा सोंप के द्वारा खा लिया गया ।’

अप्यप्यदोक्षित ने केवल अनिष्टप्राप्ति में भी विषम माना है और उसके अनेक उदाहरण दिए हैं। उनमें से एक यह है—

‘नपुंसकमिति शात्वा प्रियायै प्रेषित मनः ।

तद्यु तत्रैव रमते हता. पाणिनिना वयम् ॥

—‘हमने मन को नपुंसक मगझ का प्रिया के पास भेगा किन्तु वह वहीं रम कर रह गया। पाणिनि ने [ मन को नपुंसकलिङ्ग बनलाकर ] होने मार डाला।’ किन्तु यहाँ भी इष्टावाप्ति विवक्षित है। केवल शब्द बधिन नहीं है। दूतसंप्रेषण प्रियाप्राप्ति के उद्देश्य से ही होता है। पण्डितराज ने भी हमी तर्क से अप्यप्यदोक्षित के इस मन का खण्डन किया है।

पण्डितराज ने सर्वस्वकार का ‘अगनुरूपमसर्गो विषमम्’ यही वाच्य विषम का लक्षणमूय मान लिया है। रमणं को उन्होंने अनेक प्रकार का बनलाया है जिनमें मम्मटाभिमत समी विषमभेद आ जाने हैं। ‘अरण्यानी’ पद्य में दिग्दर्शनीकार के ही समान कविकल्पितता के अभाव में विषम संसर्ग को अलङ्कार नहीं मानना ही उचित बनलाया है। विश्वेश्वर ने सर्वस्व के समर्थन में तर्क देने हुए लिखा है कि ‘अरण्यानी’ आदि पदार्थों में कविकल्पितता मले ही न हो किन्तु उनकी परस्पर योजना तो कविकल्पित ही है। हरिण और इस में कनकमूष तथा मुत्तादार की और उन दोनों की विन्ध्याटवी में उपस्थिति कविकल्पित ही है।

मम्मट की ही परम्परा पर विषम का लक्षण विश्वेश्वर ने इस प्रकार बनाया है—

‘सम्बन्धानुपपत्ताविद्यार्थानाप्यनिष्ठसंप्राप्ती ।

जन्यजनकोभयगुणक्रियाविरोधे च विषमः स्यात् ॥’

विश्वेश्वर ने उदाहरण कालिदास साहित्य में चुने हैं—

( १ ) ‘क रुजा हृदयप्रमाथिनी०’ [ मालविह्वानिभिव २।२ ]

( २ ) न खलु न म्युत् नाण [ शाकुन्तल-१ ] जो अधिक स्वाभाविक और प्रभावपूर्ण है।

संप्रेषणीयता इनमें भरपूर है।

श्रीप्रियाचक्रवर्ती ने सर्वस्व के विषमालङ्कार के विवेचन का कारिकात्मक मक्षेप इस प्रकार किया है—

‘विरूपानर्थोर्हेत्वोन्पत्तिर्विषम मनम् । तथा विरूपवटना तेनेद शिप्रभेदकम् ॥’

[ सर्वस्व ]

[ सूत्र ४७ ] तद्विपर्ययः समम् ।

विषमवैधर्म्यादिह प्रस्तावः । यद्यपि विषमस्य भेदत्रयमुक्तं तथापि तच्छब्देन संभवाद्दन्त्यो भेदः परामृश्यते । पूर्वभेदद्वयविपर्ययस्यानलंकारत्वात् । अन्त्यभेदविपर्ययस्तु चाहत्वात् समाख्योऽलंकारः । स चाभिरूपा-  
नभिरूपविपर्ययेन द्विविधः । आद्यो यथा—

‘स्वमेयंसौन्दर्या स च रुचिरतायाः परिचितः

कलानां सीमान्तं परमिह युवामेव भजयः ।

अयि द्वन्द्वं दिष्ट्या तदिह सुभगे संवदति वा-

मतः शेषं यत्स्याज्जितमिह तदानां गुणितया ॥’

अत्राभिरूपस्यैव नायकयुगलस्योचितं संघटनमाशंसितम् ।  
द्वितीयो यथा—

‘चित्रं चित्रं यत यत महच्चित्रमेतद्विचित्रं  
जातो देवाद्युचितरचनासंविधाता विधाता ।  
यन्निश्चानां परिणतफलस्फीतिरास्वादनीया  
यच्चैतस्याः कवलनकलाकोविद्ः काकलोकः ॥’

अत्रानभिरूपाणां निम्बानां कालानां च समागम आशंसितः । आनुरूप्यात्  
समत्त्वव्यपदेशः ।

[ सूत्र ४७ ] उस [ विषम ] का उलटा सम [ अलंकार कहलाता है ] ॥

विषम के साथ [ इत अलंकार का ] वैधर्म्य है अतः [ इसे ] यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है । यद्यपि विषम के तीन भेद बतलाए हैं तथापि यहाँ ‘तत् = उस’ शब्द से अन्तिम भेद का ही परामर्श किया जा रहा है, क्योंकि उसी का परामर्श यहाँ संभव है । यह इतलिए कि [ विषम के ] प्रथम दो भेदों का विषय अलंकाररूप नहीं होता । जब कि अन्तिम भेद का विषय चारुत्व से युक्त होने के कारण ‘सम’-नामक अलंकार होता है । वह दो प्रकार का होता है सुन्दरविषयक [ सुन्दर सुन्दर का योग ] तथा असुन्दरविषयक [ असुन्दर असुन्दर का योग ] । इनमें से प्रथम, यथा—

‘सखि ! तेरा सौन्दर्य ऐसा है और वह सौन्दर्य का नेता है । कलाओं की अन्तिम सीमा को तुम दोनों ही धारण करने हो । तुम दोनों का जोड़ा भी, भाग्य से, फवता है । अतः अब जो होना शेष है यदि वह हो जाए तो चुगवत्ता की जीत हो जाए ।’

यहाँ नायक नायिकारूपी अच्छों-अच्छों के ही उचित योग की श्रष्टा की गई है ।  
द्वितीय यथा—

‘आश्चर्य, आश्चर्य, वाह वाह, बहुत ही बड़ा आश्चर्य, विचित्र ही है यह । विधाता, भाग्य से, उचितरचना करने वाला सिद्ध हुआ । क्योंकि नीम की पकी मिमोरी की स्फीतता जैसी आस्वादनीय है उसकी कवलनकला का वैसा ही कोविद काक समुदाय उसे मिल गया है ।’

यहाँ नीम और काक इन असुन्दर वस्तुओं का समागम बतलाया गया है । [ दोनों में ] अनुरूपता है अतः इसे सम कहा गया ।

### त्रिमर्शिनी

तद्विपर्ययैत्यादि । संभवादिति, अलंकारत्वस्य । अनलंकारत्वादिति । कारणात् कार्योत्पत्तेः, वस्तुसाधनोद्यतस्य तत्सिद्धेश्च वास्तवत्वात् । यद्येवं तत् सरूपसंघटनापि वस्तुत एव युक्तेति तस्या अपि कथमलंकारत्वमित्याशङ्क्याह—अन्वयेत्यादि । चाहत्यादिति, अलंकारत्वपर्यवसायिनः । अभिरूपेति । शोभनाशोभनविषयत्वेनेत्यर्थः । आद्य इति, अभिरूपविषयः । द्वितीय इति, अनभिरूपविषयः । आनुरूप्यादिति, औचित्यलक्षणात् ।

तद्विपर्ययैत्यादि । संभवाद = संभव होने से अर्थात् अलंकारत्व के संभव होने से । अनलंकारत्वात् = अलंकार न होने से अर्थात् कारण से कार्य की उत्पत्ति के अलंकार न होने से । क्योंकि किसी व्यक्ति का किसी वस्तु की सिद्धि के लिए उद्यत तथा उसको उसकी सिद्धि मिलना लौकिक सत्य है, यदि ऐसा है तो सरूप सरूप की संघटना भी लौकिक सत्य है, उसे भी अलंकार कैसे



माना जाय १ इस पर उल्टर देने हैं—अन्वय रत्यादि । चाख्वात् चाख्य होने से अर्थात् अलङ्कारत्व में पर्यवसित होने वाले चाख्य के होने से । अभिरूप = अर्थात् शोभन-विषयक और अशोभन-विषयक होने से । आद्य = प्रथम = अभिरूपविषय [ सु दरविषय ] । द्वितीय = अनभिरूपविषय = अमन्दरविषय । धानुरूप्यात् = अनुरूपता जो औचित्यस्वरूप होती है ।

**विमर्श—समाहंकार का इतिहास—**

भामह, वामन, उद्भट तथा रुद्रट में समाहंकार नहीं मिलता । अतः यह मानना अप्रामाणिक नहीं होगा कि हमका निरूपण पहले पहले मम्मट ने ही इस प्रकार किया है—

‘सम योग्यतया योगी यदि समाहित वचिर् ।’

—‘यदि किसी के माथ किसी के द्रव्य सन्ध की समावना की जाय तो समाहंकार होता है ।’ मम्मट ने हमे दो प्रकार का भी बतलाया है सदयोगात्मक तथा अमद्योगात्मक । इन्हीं दो शब्दों के लिए मरुत्स्वकार ने अभिरूपविषय और अनभिरूपविषय शब्द दिए हैं । मम्मट ने इनमें से प्रथम का जो उदाहरण दिया है वह सर्वस्व के ‘स्वमेवसौन्दर्यां’ पद्य का समानार्थी पद्य है—  
‘धातु शिल्पानिश्चयः’ । मम्मट ने ‘स्वमेवसौन्दर्यां’ पद्य की भी सप्तम उल्लास के दोष प्रकरण में अमवन्मनयोग दोष के लिए उद्धृत किया है । हमने चतुर्थपरण में चेत के लिए अपेक्षित ‘तत्’ पद्य का अभाव है । अतः उसमें अपेक्षित चेत का सन्ध हो नहीं पाता । द्वितीय के उदाहरण के लिए मम्मट ने ‘चित्रं चित्रं’ पद्य ही उपरिधन किया था ।

परवर्ती आचार्यों में—

शोभाकर ने सम का लक्षण तो वही बनाया जो सर्वस्वकार ने बनाया है—‘तद्विपर्ययः समम्’ किन्तु उन्होंने तत्पद से विषम के तीन भेदों का भी परामर्श किया है ।—‘तच्छब्देन प्रयागां विषमभेदानां परामर्शः ।’ ये तीन भेद हैं अनुरूपसयोग, कारण से अनुरूप कार्य की उत्पत्ति तथा सामग्रीसाकश्य । कारण से अनुरूप कार्य की उत्पत्ति में भी वे चान्त्व पाते हैं और सामग्री की समप्रता में भी । इनके उदाहरण उन्होंने इस प्रकार दिए हैं—

‘सन्ध्यासगोत्र कुमुमप्रबन्धमुवाह यद् गदमशोकशाखी ।

विलासिनीयावकपङ्कदिग्धपादप्रहारस्य तदेव कृत्यम् ॥’

—‘अशोक वृक्ष ने जो सन्ध्या जैसे कुमुमसमूह की पर्याप्तमात्रा में धारण किया वह ठीक ही है क्योंकि विलासिनी के यावकरजित पाद प्रहार का परिणाम होगा ही वही ।’ यहां लाल अलते से रजित पैर के प्रहार के अनुरूप लाल पुष्पों की उत्पत्ति की कल्पना में चमत्कार अवश्य है । हमें लगता है यह चमत्कार व्यय उत्प्रेक्षा पर निर्भर है । समप्रता के लिए उदाहरण—

श्रीहर्षो निपुणः कविः परिषद्भ्येषा गुणप्राहिणी

लोकानग्नि च बोधिसत्त्वचरित नाटये च दक्षा बधम् ।

वस्त्वैकैकमपीह वाञ्छितफलप्राप्तेः पद किं पुन—

मङ्गाभ्योपचयाद्य समुद्दिनः सर्वो गुणाना गणः ॥’

—[ नागानन्द नाटक में सूत्रधार का प्रवीरना वाक्य ] ‘श्रीहर्ष निपुण कवि है, यह दर्शक समान भी गुणप्राही है, बोधिसत्त्व का चरित लोकानन्ददायी है और हम भी नाट्यनयन में दक्ष हैं । एक एक वस्तु भी अभीष्ट फल देने में कारण बनता है, तब मेरे भाग्यातिशय से तो यह सभी के सभी गुणों का समुदाय एकत्रित हो गया है ।’

रत्नाकरवार ने सर्वस्वकार पर कटाक्ष करने हुए भी लिखा—

‘एव चानुरूपकार्यात्पत्तौ विधिच्छिद्विशेषव्येन सौन्दर्यातिशयदर्शनात् कारणानुरूपत्वे कार्यस्य न किञ्चिद् चान्त्वमिति न वाच्यम् ।’

विमर्शिनीकार ने इतने स्पष्ट आक्षेप का भी कोई उत्तर नहीं दिया। कदाचिद् उन्हें भी यह मत मान्य हो।

अपपद्यदीक्षित—अपपद्यदीक्षित ने रत्नाकर के इस मत को स्वीकार कर लिया है। उन्होंने समालंकार के तीन भेद माने हैं—

[ १ ] समं स्याद् वर्णनं यत्र द्वयोरप्यनुरूपयोः।

अच्छे या दुरे दोनों अनुरूपों का वर्णन समालंकार। इसे दीक्षितजी ने प्रथम विषम का प्रतिद्वन्दी माना है। इसके दोनों प्रकार के उदाहरण उन्होंने दे दिए हैं। उनमें अशोभन योग के लिए तो 'चित्रं चित्रं' पद्य ही उन्होंने दिया है।

[ २ ] साल्प्यमपि कार्यस्य कारणेन समं विदुः।

—कारण से कार्य की सरूपता भी सम कही गई है। इसे दीक्षित जी ने द्वितीय विषम का प्रतिद्वन्दी माना है। उदाहरण के लिए उन्होंने यह पद्य उद्धृत किया है—

'दवदहनादुत्पन्नो धूमो घनतामवाप्य वर्षस्तम्।

यच्छभयति तद् युक्तं सोऽपि हि दवमेव निर्देहति ॥'

—'दवाग्नि से उत्पन्न धुआँ नेघ बनकर वर्षा के द्वारा दवाग्नि को जो बुताता है वह ठीक ही है, वह [ दवाग्नि ] भी तो [ जिससे उत्पन्न होता है उसी ] दव [ जंगल ] को ही जला डालता है।'

[ ३ ] 'विनानिष्टं च तत्सिद्धिर्वमर्थं कर्तुमुद्यतः।'

—'जिस कार्य को करने के लिए कोई उद्यत हो उसकी सिद्धि यदि विना अनिष्ट के हो जाए तो वह भी सम होता है।' इस भेद को दीक्षितजी ने अनर्थप्राप्ति नामक विषमभेद का प्रतिद्वन्दी माना है।

उदाहरण—हाथी के याचक को राजदरबार से अर्धचन्द्र मिलने पर कथित—

'युक्तो वारणलामोऽयं जातस्ते वारणार्थिनः।'

—तुम तो वारण [ हाथी ] चाह ही रहे थे अतः तुम्हें यह वारण [ निवारण ] का लाभ ठीक ही हुआ।'

पण्डितराज—श्रेष्ठ अनुरूप वस्तुयोजना के विपर्यय को ही समालंकार मानने तथा अन्यविषम-भेदों के विपर्यय को अलंकार न मानने के सर्वस्वकार द्वारा प्रस्तुत सिद्धान्त और विमर्शिनीकार द्वारा किए गए उसके समर्थन का जो खण्डन रत्नाकरकार ने किया था वह दीक्षितजी के ही समान पण्डितराज को भी उचित लगा। पण्डितराज ने समालंकार का 'अनुरूपसंसर्गः समम्' इस प्रकार सम को अनुरूपसंसर्गात्मक मान अनुरूपसंसर्गात्मक विषम से सर्वथा उल्टा बतलावा और सम को भी विषम के ही समान तीन प्रकार का मान सर्वस्व और विमर्शिनी का स्वयं भी खण्डन किया। इसी प्रकार विषम के सभी भेदों के विपरीत आनुरूप्य के चारत्त्व से निष्पन्न इस अलंकार के एक-एक कर के उदाहरण भी दिये। पण्डितराज ने सर्वस्व और विमर्शिनी को जिस रूप में उपस्थित किया है उसे सर्वस्व और विमर्शिनी की टीका ही कहा जा सकता है।

विरवैश्वर ने भी

'अन्योन्यसंगमाहौं संवध्वैते यदा समं तत् स्यात्।'

इस प्रकार शोभन या अशोभन पदार्थों की परस्पर सम्बन्ध की अनुरूपता को समालंकार का कारण मानकर कार्यकारण के आनुरूप्य में समालंकार स्वीकार कर लिया है। उसका उदाहरण उन्होंने यह दिया है—

'सुगौ पयोधेनिजकारणस्य न हानिवृद्धी कथमेतु चन्द्रः'।

—‘अपने कारण समुद्र के गुण दानिवृद्धि को चन्द्रमा कैसे न प्राप्त करे’।

विश्वेश्वर ने पण्डितराज द्वारा सर्वस्व के खण्डन का कोई उत्तर नहीं दिया है। अन. सर्वस्व का मन उन्हें भी अस्वीकार ही है।

श्रीविद्याचक्रवर्ती ने समालंकार का सारसंक्षेप सञ्जीविनी में इस प्रकार किया है—

‘सरूपयो. सद्वदना समालङ्कार इत्यन्ते।

शलाव्याशलाव्यवयोगेन द्वी भेदावस्य सम्मती ॥’

[ सर्वस्व ]

विरोधमूलं विचित्रं लक्षयति—

[ सूत्र ४८ ] स्वविपरीतफलनिष्पत्तये प्रयत्नो विचित्रम् ।

यस्य हेतोर्यत्फलं तस्य यदा तद्विपरीतं भवति तदा तद्विपरीतफल-  
निष्पत्त्यर्थं कस्यचित् प्रयत्न उत्साहो विचित्रालंकारः, आश्चर्यप्रतीति-  
हेतुत्वात् । न चायं प्रथमो विपमालंकारप्रकारः । स्वनिषेधमुखेन वैपरीत्य-  
प्रतीनेः । विपरीतप्रतीत्या तु स्वनिषेधस्तस्य विषयः । यथा—‘तमाल-  
नीला शरदिन्दुपाण्डु यशस्त्रिलोकामरणं प्रसूते’ । इह त्वन्यथा  
प्रतीतिः । यथा—

‘घिचुं मुच्यइ अहरो अणगंतो बलइ पेक्किउं दिट्ठी ।

घडिटुं विहडंति भुआ रआअ सुरअम्मि धीसामो ॥’

अत्र मोक्षनवलनघिघटनविधमाणां यथाक्रमं ग्रहणप्रेक्षणघटनरमणानि  
विपरीतफलानि प्रयत्नविषयत्वेन निघट्टानि । यथा या—

‘उन्नत्यै नमति प्रभुं प्रभुगृहान् द्रष्टुं बहिस्तिष्ठति

स्वद्रव्यव्ययमातनोति जडधीरागामिवित्ताशया ।

प्राणान् प्राणितुमेव मुञ्चति रणे क्लिश्नाति भोगेच्छया

सर्वं तद्विपरीतमेव कुरुते तृष्णान्धदृक् सेवकः ॥’

अत्र विपरीतफलनिष्पादनप्रयत्नः सुज्ञानः ।

विरोधमूलक [ एक ] विचित्र [ नामक सर्वथा स्वोपश, पूर्वकार्यों द्वारा अग्रतिपादित अलंकार ]  
का लक्षण बनाते हैं—

[ सू० ४८ ] ‘अपने विद्वद् फल की निष्पत्ति के लिए प्रयत्न विचित्र [ कहलाता है ] ॥’

जिस हेतु का जो फल होना है उम्मा जब समझे विपरीत फल होता है तब उसके विपरीत  
फल की निष्पत्ति के लिए किसी का प्रयत्न अर्थात् उत्साह विचित्रालंकार कहलाता है, इसलिये कि  
यह आश्चर्य की प्रतीति का कारण बनता है। यह विपमालंकार का ही प्रथम प्रकार है ऐसा नहीं  
क्योंकि यहाँ वैपरीत्य की प्रतीति अपने निषेध के माध्यम से होती है, जब कि विषय में वैपरीत्य  
की प्रतीति के माध्यम से अपना निषेध प्रतीत होता है। यथा ‘तमालनील कृपाग शरदिन्दुपाण्डु  
यश को त्रिलोक का आमरण है, पैदा करता है’ इत्यादि में। यहाँ प्रतीति उलटी होती है। यथा—

‘अद्वीतु मुच्यतेऽपरोऽन्यतो बलति प्रेक्षितु इष्टि ।

घटितुं विषंटे भुजौ रताय सुरतेषु विषमः ॥

‘अधर छोड़ा जाता है ग्रहण करने के लिए, दृष्टि अन्यत्र घूमती है देखने के लिए, मुजापै छूटती है जुड़ने के लिये, सुरत में विश्राम होता है रमण के लिए ।’

वहाँ छोड़ा जाना, घूमना, छूटना और विश्राम के प्रति ग्रहण, देखना, जुड़ना तथा रमण विपरीत फल हैं जो प्रयत्न के विषय के रूप में यहाँ निबद्ध हैं ।

दूसरा उदाहरण यथा—

—‘उन्नति के लिए प्रभु के समक्ष झुकता है, प्रभु के घर देखने के लिए बाहर बैठता है, जड़धी आगामी धन की आशा से अपने धन का व्यय कर डालता है, जोषित रहने के ही लिये रण में प्राण छोड़ देता है, भोग की इच्छा से क्लेश उठाता है । इस प्रकार तृष्णा से अन्धी आँख का सेवक [ जो कुछ चाहता है ] सब कुछ उसके विपरीत ही करता रहता है ।’

यहाँ विपरीत फल की निष्पत्ति का प्रयत्न सुखपूर्वक जाना जा सकता है ।

## विमर्शिनी

स्वविपरीतेत्यादि । एतदेव व्याचष्टे—यस्येत्यादिना । यदिति प्रसिद्धम् । फलमिति का 'म् । तस्येति हेतोः । तदिति कार्यम् । प्रयत्नस्य कार्यादिभेदेऽपि न वैचित्र्यमिति तद्विद् नोक्तम् । एवं यस्य यत्कार्यं तस्य तावत्तद्विपरीतं न भवति । यदि च तत्त्वं स्यात्तन्निष्पत्त्यर्थं च यदि कस्यचित्प्रयत्नः स्यात्तदायमलंकार इत्यत्र तात्पर्यम् । ननु चैतद्विरूपकार्योत्पत्तेः किं न विषयमेव भवतीत्याशङ्क्याह—न चायमित्यादि । तस्येति विषयस्य । नीलयापि पाण्डु यशः प्रसूतमिति विपरीतप्रतीतिबलादेतन्नोपपद्यत इति ह्यत्र प्रतीतिः । अन्ययेति निषेध-बलाद् वैपरीत्यप्रयत्न इति । यद्यपि विषये विरूपस्य कार्यस्य स्वयमेवोत्पत्तिरिह च तन्निष्पत्त्ये प्रयत्न इति स्थितोऽप्यनयोः स्फुटो भेदस्तथापि ग्रन्थकृता विशेषपरिपोषार्थैव सूत्रमेष्टिकागम्यो भेदोऽयमुक्तः । साञ्चनस्याग्रहणं स्वं फलम् । ग्रहणं पुनः कथं भवतीत्या-सुख एवोद्विक्त्वेनात्र निषेधप्रतीतिः । अनन्तरं च तन्निमित्ता वैपरीत्यप्रतीतिः । अत्र एव विषयमादस्य भेदः । तुज्ञान इति । पूर्वोक्तयुक्त्यैवावगतःवात् पुनरुदाहरणमस्य लक्ष्ये प्राञ्चर्य-दर्शनार्थम् । एतद्विद्वि ग्रन्थकृतैवाभिनवत्वेनोक्तम् ।

स्वविपरीतेत्यादि । इसी की व्याख्या करते हैं—यस्य इत्यादि के द्वारा । यत् = जो = प्रसिद्ध । फलम् = कार्य । तस्य = हेतुका । तत् = वह कार्य । [ जैसा कि अलंकाररत्न (करकार ने बतलाया है—प्रयत्न कार्य आदि के भेदों से कई प्रकार का [ अर्थात् कायिक, वाचिक, मानस ] होता है किन्तु उसकी गणना में कोई विशेषता [ चमत्कृति ] नहीं रहती अतः [ यहाँ ] उसे नहीं कहा गया । इस प्रकार तात्पर्य यह हुआ कि जो जिसका [ उद्देश्यभूत ] कार्य होता है वह सामान्यतः तो उसके विपरीत नहीं होता, तथापि यदि विपरीत हो और यदि उसके लिये कोई व्यक्ति प्रयत्न करता है तब यह अलंकार होता है । अच्छा, इसे विरूपकार्यसिद्धित्वरूप विषय ही क्यों न मान लिया जाय ? ऐसी शंका उठाकर लिखते हैं न चायम् इत्यादि । तस्य उसका = विषय का । ‘नीलो तलवार ने भी सफेद यश को जन्म दिया’ ऐसी वैपरीत्य की प्रतीति से यह प्रतीति होती है यहाँ कि ‘यह ठीक नहीं है’ । अन्वयथा = निषेध के आधार पर वैपरीत्य के लिए प्रयत्न होता है । यद्यपि विषय में विरूप कार्य की उत्पत्ति बिना प्रयत्न के स्वयमेव होती है और यहाँ होता है उसके लिए प्रयत्न, इस प्रकार इन दोनों का अन्तर स्पष्ट ही है तथापि ग्रन्थकार ने इसी अन्तर की पुष्टि के लिए यह अन्तर बतलाया है । यह सूक्ष्म दृष्टि से समझा जा सकता है । छोड़ने का अपना फल है ग्रहण न करना । ग्रहण करना उसका फल कैसे हो सकता है इस प्रकार यहाँ आरम्भ में निषेध की प्रतीति साफ-साफ हो जाती है । उससे होने वाले वैपरीत्य की प्रतीति उसके

वाद होनी है। इसलिये यह विषम से भिन्न है। सुज्ञानः = सुखपूर्वक समझा जा सकता है, अर्थात् यह कि हम विचित्रालङ्कार का अस्तित्व प्रथम उदाहरण में ही स्पष्ट हो जाता है। तब यह जो दूसरा उदाहरण दिया गया है यह केवल लक्ष्य [काव्यश्रेत्र] में इसकी प्रचुरता दिखलाने के लिए। इस अलङ्कार को ग्रन्थकार ने ही पहले पहल नवीन अलङ्कार के रूप में प्रस्तुत किया है।

**विमर्दा**—मामह, दण्डी वामन, उद्भट, रुद्रट और मम्मट में यह अलङ्कार नहीं मिलता। विमर्दिनीकार का कहना यथार्थ है कि हम अलङ्कार की उदा सर्वस्वकार ने ही की है। परवर्ती अलङ्कारिकों में—

**शोभाकर**—ने अलङ्काररत्नाकर में इस अलङ्कार को मान तो लिया है किन्तु इसका लक्षण अधिक व्यापक बना दिया है। उनका लक्षण इस प्रकार है—

‘विफल. प्रयत्नो विचित्रम् । —विफल प्रयत्न विचित्र ।’

प्रयत्न के उन्होंने तीन भेद किए हैं [ १ ] कायिक, [ २ ] वाचिक तथा [ ३ ] मानसिक। इन तीनों प्रयत्नों को उन्होंने पुनः प्रवृत्तिरूप और निवृत्तिरूप, इस प्रकार दो प्रकार का माना है। इस प्रकार रत्नाकरकार के अनुसार प्रयत्न ६ प्रकार का हुआ। विमर्दिनीकार ने इसी को ओर कटाक्ष किया है और इनकी अलङ्कारमर्षस्व में अप्राप्त गगना का समर्थन किया है।

रत्नाकरकार ने विफलता को भी अनेक भेद तथा उपभेदों में बाँटा है [ १ ] प्रथम विफलता वह है जिसमें प्रसिद्ध फल के विपरीत फल के लिए प्रयत्न हो। [ २ ] द्वितीय विफलता वह है जिसमें प्रयत्न तो बहुत बढ़ा हो परन्तु फल तुच्छ हो अथवा इसके विपरीत स्थिति हो [ ३ ] तीसरी विफलता वह है जिसमें प्राप्त फल असाध्य, असम्भव या अनुपयोगी हो। इन प्रकार ६ प्रकार के प्रयत्नों में से प्रत्येक प्रयत्न में इन छहों विफलताओं का गुणन करने से विचित्र के शुद्ध ३६ भेद हो जाते हैं। रत्नाकरकार ने निम्नलिखित कारिका द्वारा हमका स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है—

‘अर्थो विरुद्धविषमादिरनेकभेदः कार्याश्रितो भवति यद्यपि किन्तन्मुष्मिन् ।

औचित्यवत्फलवियोगवपुस्तथापि सामान्यलक्षणमलण्डितभेदमाणि ॥’

—‘कार्य की दृष्टि से अर्थ विरुद्ध और विषम आदि अनेक प्रकार का होता है तथापि हम अलङ्कार में ‘उचित फल का अभाव’ यह सामान्य लक्षण प्रत्येक में अलण्डित ही रहता है।’

उक्त भेदों में से कतिपय भेदों के उदाहरण भी रत्नाकरकार ने दिए हैं किन्तु उनमें से अधिकांश अन्य अलङ्कारों में अन्तर्भूत सिद्ध होने हैं।

अष्टपदयद्दीक्षित ने भी विचित्रालङ्कार को स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार की है। उनका लक्षण हम प्रकार है—

‘विचित्र नत्प्रयत्नश्चेद् विपरीतफलेच्छया ।’

—‘फल के लाभ के लिए विपरीत प्रयत्न विचित्र ।’

उदाहरण—‘नमन्ति सन्तश्चैलोक्यादपि लब्धु समुन्नतिम् ।’

—‘सत्पुरुष यैलोन्य से ऊँचा होने के लिए नवते हैं ।’

पण्डितराज जगन्नाथ ने भी विचित्र को स्वतन्त्र अलङ्कार माना है और इसका लक्षण इस प्रकार किया है—

‘इष्टनिद्वयार्थमिष्टैपिणा क्रियमाणमिष्टविपरीताचरण विचित्रम् ।’

—‘इष्टसिद्धि के लिए इष्टवस्तु को ही वाह रहे व्यक्तिके द्वारा किया जा रहा इष्टवस्तु के विपरीत अर्थात् प्रतिकूल आचरण विचित्र कहलाता है ।’ विषम से इसका भेद पण्डितराज ने एक ही किन्तु

पर किया है। वह है पुरुषप्रयत्न। विषय में वैषम्य प्राकृतिक होता है पुरुषप्रयत्नकृत नहीं। विषय में कार्य और कारण के गुणों में विपरीतता ही चमत्कारजनक होती है। रक्षाकरकार द्वारा प्रस्तुत प्रपंच को पण्डितराज ने छोड़ दिया है।

विश्वेश्वर ने विचित्र को स्वतन्त्र अलंकार नहीं माना यद्यपि विषय के विवेचन में उन्होंने इसका अन्तर्भाव भी नहीं दिखाया।

श्रीविषाचक्रवर्ती की कारिका इसपर इस प्रकार है—

‘प्रयत्नस्तु विचित्रं स्याद् विपरीतफलाप्तये ।  
निषेधतो वैपरीत्याद् विषमालङ्कृतेभिदा ॥’

[ सर्वस्व ]

[ सू० ४९ ] आश्रयाश्रयिणोरनानुरूप्यमधिकम् ।

विरोधप्रस्तावादिह निर्देशः। अनानुरूप्यस्य विरोधोत्थापकत्वात् । तच्चानानुरूप्यमाश्रयस्य वैपुल्येऽप्याश्रितस्य परिमितत्वाद्वा भवति आश्रितस्य वैपुल्येऽप्याश्रयस्य परिमितत्वाद्वा । क्रमेण यथा —

‘चौरत्र क्वचिदाश्रिता प्रविततं पातालमत्र क्वचित्  
क्वाप्यत्रैव धरा धराधरजलाधारावधिर्वर्तते ।  
स्फीतस्फीतमहो नभः कियदिदं यस्येत्यमेवंविधै-  
र्दूरे पूरणमस्तु शून्यमिति यन्नामापि नास्तं गतम् ॥’  
‘दोर्दण्डाञ्चितचन्द्रशेखरधनुर्दण्डावभङ्गोद्यत-  
टंकारध्वनिरार्यवालचरितप्रस्तावनाडिण्डिमः ।  
द्राक्पर्यस्तकपालसंपुटमिलद्ब्रह्माण्डभाण्डोदर-  
भ्राम्यत्पिण्डितचण्डिमा कथमहो नाद्यापि विश्राम्यति ॥’

पूर्वत्र नभस आश्रयस्य वैपुल्येऽप्याश्रितानां द्युप्रभृतीनां पारिमित्यं चास्त्यहेतुः। उत्तरत्र तु टंकारध्वनेराश्रितस्य महत्त्वेऽपि ब्रह्माण्डस्याश्रयस्य स्तोक्तत्वम् ।

[ सू० ४९ ] आश्रय और आश्रयी की अननुरूपता अधिक [ नामक अलंकार कहलाता है ] ।

विरोध के कारण इसे यहाँ बनलाया जा रहा है, क्योंकि अननुरूपता [ अनुरूपता का अभाव ] विरोध खड़ा करती है। यह अननुरूपता आश्रय के विशाल होने पर भी आश्रित के परिमित होने से भी होती है और आश्रित के विशाल होने पर भी आश्रय के परिमित होने पर भी। क्रम से उदाहरण—[ आश्रयविपुलता तथा आश्रिततुच्छता पर आश्रित अधिक ]—

‘इसी में कहीं स्वर्ग आश्रित है, कहीं इसी में पर्याप्त विस्तृत पाताल भी है, और इसी में कहीं पर्वत-समुद्रों तक व्यापक भूमि भी टिकी हुई है। इस प्रकार देखो तो कितना स्फीत और स्फीततर है यह आकाश, जिसके इस प्रकार के इन [ स्वर्ग, पाताल और पृथ्वी जैसे पदार्थों ] के द्वारा भी मर जाने की बात तो दूर रहे, जिसका ‘शून्य’ यह नाम भी समाप्त नहीं हो सका !’

[ आश्रयतुच्छता तथा आश्रितविपुलता पर आश्रित अधिक ]—

'भुजदण्ड द्वारा खींचे शिवधनुष के टूटने से उठी टंकार, जो बड़े भारे [ राम ] के बालचरित [ रूपी नाटक ] की प्रस्तावना [ आरम्भ ] की सूचक नान्दी [ नगाटा ] है तथा जिसकी पुजीभूत प्रवण्डता, तत्काल कपालसन्धि के शिथिल हो जाने से लगमगते ब्रह्माण्डरूपी भाण्ड [ घट ] में धूम रही है, अहो ! अभी तक शान्त नहीं हो रही ।'

प्रथम [पद्य] में आकाशरूपी आश्रय के विशाल होने पर भी स्वर्ग आदि आश्रित की परिमितता चारुता का हेतु है और दूसरे में टकारध्वनिरूपी आश्रित के विपुल होने पर भी ब्रह्माण्डरूपी आश्रय की परिमितता ।

### विमर्शिनी

आश्रयेत्यादिना । इहेति विचित्रान्तरम् । नन्वननुरूपयोः सघटने विषममुक्तमित्याश्रयाश्रयिणोस्तस्ये कथमलंकारान्तरमुच्यत इत्याशङ्कवागीकारेणेतद्वाचष्टे-तच्चेत्यादिना । आश्रयस्वेति, आधारस्य । आश्रितस्येति, आश्रयस्य । अनेनैव चास्य भेदद्वयमप्ययुक्तम् । एवं च परिमितवापरिमितत्वयोः सापेक्षत्वात्तथाविधवस्तुद्वयसंघटनयैव तदवगमनसिद्धिरित्यत्राधाराश्रययोः सघटनेनैवाननुरूपत्वमवगम्यते । विषमे चानन्यापेक्षत्वेन स्वतः पदानुरूपयोः संघटनमित्यनयोर्महात् भेद इत्यत्र पिप्पहायः । इत्यम्—

'आधाराश्रययोर्ध्वं संसर्गः स्याद् विरूपयोः ।

स स्फुटो विषमो वाच्यमधिक नाधिकं ततः ॥'

इति न वाच्यम् । तच्चाश्रयाश्रयिणोः कविप्रतिभाकरिपतमेव प्राक्षम् न पुनर्वास्तवम् । तेन चाक्षत्वाप्रतीतेः । तेन नभसो घुप्रभृतीनां चान्योन्यापेक्षया चैषुध्वं पारिमिर्यं च वास्तवमेवैश्वर्यनुदाहरणमेतत् । तदुदाहरणान्तरमन्वेप्यम् । तत्तु यथा—

'रगरणभगुणिअमुज्जत्तणमि तणुई समुद्गहिरमि ।

मेदअडवच्छसः गुज्ज हिअए कहं णु ठाई ॥'

अत्र हृदयस्य महत्त्वं तन्भ्याश्च तनुत्वमित्याधाराश्रययोरनानुरूप्यम् ।

आश्रयेत्यादि । इह = यहाँ अर्थात् विचित्रालंकार के पश्चात् । 'अननुरूप के मिलन में विषम अलंकार माना ही है अतः जब आश्रय और आश्रयी अननुरूप हैं तो इसे अलग अलंकार क्यों बतलाया जा रहा है'—इस आशंका को हृदय में रतकर हम सूत्र की व्याख्या करते हैं— तच्च इत्यादि द्वारा । आश्रय = आधार । आश्रित = आश्रय । इसी के द्वारा इस अलंकार के दो भेद भी बतला दिए । इस प्रकार परिमितत्व और अपरिमितत्व परस्पर सापेक्ष होते हैं, अतः इनसे युक्त दो वस्तुओं के समागम से ही इनकी परिमितता और अपरिमितता तथा तदाश्रित अननुरूपता का बोध समझ होता है । इस प्रकार यहाँ अननुरूपता का बोध आधार और आश्रय के योग पर निर्भर रहता है । विषम में अननुरूपता दूसरे पर निर्भर नहीं रहती, वहाँ अननुरूप पदार्थों का योग स्वतः ही होता है । इस प्रकार इन दोनों में महान् भेद है । इस प्रकार—[ अलंकाररत्नाकरकार के ]

'जहाँ विरूप आधार और आश्रय का संबन्ध हो वह भी एक स्पष्ट विषम है । अतः अधिक को अधिकालंकार या अतिरिक्त अलंकार नहीं मानना चाहिए ।' ऐसा नहीं कहना चाहिए ।

आधाराश्रय की वही वह [ अननुरूपता ] यहाँ [ अलंकारत्व के लिए ] प्राप्ता है जो कविकल्पित हो, वास्तविक नहीं । वास्तविक से चारुत्व की प्रतीति नहीं होती । इसलिए, आकाश

और स्वर्ग आदि की परस्पर के प्रति विपुलता और परिमितता वास्तविक है अतः इसे उदाहरण नहीं माना जाना चाहिए । अतः उसका अन्य कोई उदाहरण खोजा जाना चाहिए । वह यह है—

‘रणरणकगुणितमुग्धत्वे तन्वी समुद्रगम्भीरे ।  
मेरुकटवक्षसस्तव हृदये कथं नु स्थास्यति ॥’

अर्थात् ‘तुम्हारे उस हृदय में वह तन्वी कैसे बैठेगी जिसमें भरा हुआ मुग्धत्व उत्कण्ठा से कई गुना हो गया है जो समुद्र के समान गंभीर है और जिसका वक्षस्थल सुवर्णगिरि-सुमेरु के तट के समान है ( ? ) ।

यहाँ हृदय में विपुलता और तन्वी में परिमितता बतलाई जा रही है अतः आधार और आधेय में अननुरूपता है ।

**अधिकालंकार का इतिहास—**

भामह, वामन तथा उद्भट में अधिक नहीं मिलता । इसकी कल्पना पहले-पहल रुद्रट ने की है । रुद्रट ने इसके दो भेद बतलाए हैं—

[ १ ] दो विरुद्ध वस्तुओं का एक ही वस्तु से जन्म । यथा ‘मेष पानी और चलती आग दोनों एक साथ बरसा रहा है ।’

[ २ ] छोटा होने पर भी आधेय बड़े आधार से बढ़ जाना । यथा ‘उसके जगद्विशाल हृदय में वह तन्वी इतनी फौल कर रह रही है कि दूसरी किसी सुन्दरी को वहाँ अवकाश ही नहीं है ।’

उपर्युक्त दोनों के लक्षण इस प्रकार हैं—

[ १ ] यत्रान्योन्यविरुद्धं विरुद्धतलवरिक्रयाप्रसिद्धं वा ।

वस्तुद्वयनेकस्माज्जायत इति तद् भवेदधिकम् ॥ १।२६ ।

[ २ ] यत्राधारे शुभदृत्याधेयमवस्थितं तनीयोऽपि ।

अतिरिच्येत कथंचित् तदधिकमपरं परिज्ञेयम् ॥ १।२८ ।

**भम्मट—**भम्मट ने रुद्रट के प्रथम अधिक को छोड़ केवल द्वितीय को ही अलंकार माना है । उनको कारण यह है—

‘महतीर्थन्महीयांसावाश्रिताश्रययोः कमात् ।

आश्रयाश्रयिणौ स्यातां तनुत्वेऽप्यधिकं नु तत् ॥’

—‘प्रस्तुत वस्तु के प्रकर्ष की विवक्षा से, छोटे होने पर भी वहाँ आश्रय और आश्रित [ अर्थात् आधार और आधेय ] अपने से बड़े अपने आश्रित और आश्रय से बड़े बतलाए जाएँ वह अधिक ।’ दोनों में से प्रथम का उदाहरण—

‘अशो विशालं भूपाल भुवनत्रितयोदरन् ।

माति मातुमशक्योऽपि यशोराशिर्दत्त ते ॥’

—‘अशो, तीनों भुवन का उदर बहुत बड़ा है राजन् ! इसमें आपका अमेय यशोराशि भी जो बन जाता है ।’

इसमें आधेय यश को बड़ा बतलाकर उससे छोटे त्रैलोक्यरूपी आधार को बड़ा बतलाया जा रहा है । इसमें विवक्षित है यशोराशि का प्रकर्ष । द्वितीय का उदाहरण—

‘युगान्तकालप्रतिसंहतात्मनो जगन्ति यस्यां सविकासमास्तत् ।

तनी मसुरतत्र न कैटभद्रिपस्तपोधनाभ्यागमत्संभवा मुदः ॥’

—‘युगान्त काल में जो अपना प्रबंध बंदोरे लेते हैं तो जिनके शरीर में सारे भुवन पर्याप्त फौलाड़ के साथ बन जाते हैं भगवान् कृष्ण के उसी शरीर में तपोधन नारद के आने का प्रकर्ष नहीं बन सका ।’ यहाँ वास्तविक रूप से छोटे प्रहर्ष को प्रहृष्ट बतलाने के लिए उसे उससे बड़े भगवच्छरीर रूपी आधार से बड़ा बतलाया जा रहा है ।



इस प्रकार अधिक के स्थापक रुद्रट से आगे बढ़कर मम्मट तक आते-आते ही अधिक के लक्षण में अन्तर आ गया। आगे सर्वस्वकार तक पहुँचते-पहुँचते तो उसके लक्षण में पर्याप्त परिवर्तन दिखाई दे रहा है। रुद्रट और मम्मट के लक्षणों में तीन-तीन कोटियाँ भी छोटा, बड़ा और छोटा बड़े से बड़ा। सर्वस्वकार ने इन कोटियों से बच कर लक्षण योजना का सरलनम रूप निकाला। इसमें दो ही कोटियाँ आती हैं। एक तो आधार और आधेय की वास्तविकता की कोटि और दूसरी उसके विपरीत उनके कार्पणिक आकार की कोटि। इसमें वास्तविकता के ये दो अग्र एक ही सूत्र में आ समाते हैं—एक आधारगत परिमितता या अपरिमितता का और दूसरा आधेयगत अपरिमितता या परिमितता का। इस प्रकार परिष्कार लक्षणमात्र में ठहरता है। अर्थयोजना ज्यों की त्यों रहनी है। किन्तु रुद्रट द्वारा प्रतिपादित प्रथम भेद अमाग्य सर्वस्वकार को भी है।

परबत्तों आचार्यों में—

शोभाकर—अधिक को विषम का ही भेद बनलाने हैं और उने एक अतिरिक्त अलङ्कार नहीं मानते। विमर्शनीकार उनका सण्डन करते हैं।

अप्यदोक्षित—ने मम्मट द्वारा प्रस्तुत अधिकालङ्कार दो रिवतियों को ही दो पृथक् अनुष्टुभों में इस प्रकार विभक्त कर दिया है—

[ १ ] 'अधिक पृथुलाधारादधेयाधिक्यवर्णनम्।

ब्रह्माण्डानि जले यत्र तत्र मानि न ते गुणा. ॥'

[ २ ] 'पृथ्वाधेयाद् यथाधाराधिक्य तदपि तन्मतम्।

कियद् वाग्म्य यत्रैते विश्राम्यन्ति गुणारतव ॥'

अप्यदोक्षित ने प्रथम के लिए मम्मट द्वारा उदाहृत माय का ही 'युगात्काल' पद्य भी दे दिया है और द्वितीय के लिए 'अहो विशाल०' पद्य भी। लक्षण निर्माण में अप्यदोक्षित ने भी क्रम सर्वस्वकार का ही अपनाया है।

पण्डितराज—जगन्नाथ भी सर्वस्व और कुवलयानन्द की ही पद्धति पर अधिक का लक्षण बनाते हैं किन्तु उसमें बहू प्रयोजनाश भी समाविष्ट कर देते हैं जो मम्मट ने वृत्ति में स्पष्ट किया था—'प्रस्तुतार्थ के प्ररुर्ष की विवक्षा'। उनका लक्षण यह है—

'आधाराधेयोरन्यतरस्यातिविस्तृतत्वसिद्धिफलङ्गमिनरस्यातिभ्यूनत्वकल्पनमधिकम्।'

'आधार और आधेय में से किसी एक को अतिविस्तृतता बनलाने के लिए अन्य में अति-न्यूनता की कल्पना अधिक।' कल्पनाशुद्ध देकर पण्डितराज ने वास्तविक अन्तर को अन्वय और अधिक के लिए अनुशाहार्य कहा है। इस प्रकार वे 'दीर्घ' पद्य को कविकल्पना के अभाव में अधिक के लिए ठोक उसी प्रकार अनुदाहार्य मानते हैं जिस प्रकार विमर्शनीकार। त्रिश्वेश्वर पण्डित इसका ठोक उसी पद्धति पर प्रतिवाद करते हैं जिस पर उन्होंने 'अरण्यानां कवेयम्' पद्य में सर्वस्व के सण्डन का प्रतीकार किया है। वे यहाँ भी पद्यार्थ के रूप में नम्र के मध्य स्वर्णादि की कल्पना कविप्रतिभा का ही विषय मानने हैं। इस प्रकार वे यहाँ भी चमत्कार स्वीकार करते और अधिकालङ्कार के लिए इसे उपयुक्त मानते हैं। सच यह है कि स्वतः समीचीन बर्ण को कान्य मानना यदि आनन्दवर्धन से लेकर पण्डितराज तक के आचार्यों को यदि अनुचित नहीं लगता तो उन्हें, ऐसे पद्यों में अलङ्कारत्व और तदाश्रित काव्यत्व मानने में कोई अनौचित्य नहीं देखना चाहिए।

विद्वेश्वर का अधिक लक्षण इस प्रकार का है—

‘आधारस्याधेयादाधेयस्याधि बाधारात् ।  
यदि वर्णते महत्त्वं तत् कथयन्त्यधिकमधिकज्ञाः ॥’

श्रीविद्याचक्रवर्ती की कारिका इस पर निम्नलिखित है—

‘अनानुरूप्यमधिकमाश्रयाश्रयिणोर्मेतत् ।  
आश्रयाश्रयिवैपुल्यवशतो द्विप्रभेदकम् ॥’

[ सर्वस्व ]

[ सू० ५० ] परस्परं क्रियाजननेऽन्योन्यम् ।

इहापि विरोधप्रस्ताव एव निर्देशकारणम्, परस्परजननस्य विरुद्ध-  
त्वात् । क्रियाद्वारकं यत्र परस्परोत्पादकत्वं, न स्वरूपनिबन्धनं, स्वरूपस्य  
तथावोक्तिविरोधात् तत्रान्योन्याख्योऽलङ्कारः । यथा—

‘कण्ठस्य तस्याः स्तनवन्धुरस्य मुक्ताकलापस्य च निस्तलस्य ।  
अन्योन्यशोभाजननाद् यभूव साधारणो भूषणभूष्यभावः ॥’

अत्र शोभाक्रियामुल्लेखं परस्परजननम् ।

[ सू० ५० ] परस्पर में क्रिया की उत्पत्ति हो तो अन्योन्य ।

यहाँ भी विरोध का प्रसङ्ग ही निर्देश का कारण है क्योंकि परस्पर की उत्पत्ति विरोधपूर्ण  
होती है । परस्पर की उत्पादकता जहाँ क्रिया के द्वारा होती है, न कि स्वरूप के द्वारा, क्योंकि  
स्वरूप की वैसी उक्ति [ अपरिहार्य रूप से ] विरुद्ध होती है, वहाँ अन्योन्यालङ्कार होता है । यथा—

‘उत्स [ पार्वती ] का स्तनों से बन्दुर [ उतार-चढ़ाव युक्त ] कण्ठ तथा निस्तल [ गोल ] मुक्ता-  
हार ये दोनों, दोनों के भूषण [धे और दोनों दोनों के भूष्य, क्योंकि शोभा दोनों की ही बढ़  
रही थी दोनों से ।’ [ कुमारसं० १।४२ ] यहाँ शोभाकूपी क्रिया के द्वारा परस्परजनकता है ॥’

विमर्शः—इस अलङ्कार के सूत्र और धृति की भावयोजना कुछ ऐसी है जिससे प्रतीत होता है  
कि दोनों दो भिन्न रचयिताओं द्वारा रचे गए हैं ।

विमर्शिनी

परस्परमित्यादि । ननु यदि परस्परजननस्य विरुद्धत्वं तत्कथमस्यालङ्कारत्वमित्याश-  
ङ्क्याह—क्रियेत्यादि । क्रियाशब्देनात्र धर्मो लक्ष्यते । अन्यथा—

‘प्रकाशः कोऽपि कैलासशैलपूर्णेन्दुविभवयोः ।  
उदियाय तत्रान्योन्यपटुत्वजननक्रमात् ॥’

इत्यादौ गुणात्मकपटुत्वमुखेन परस्परजननेऽप्यव्याप्तिः स्यात् । परस्वरोत्पादकत्वमिति ।  
परस्परनिष्पादकत्वमित्यर्थः । एवं चानेन जननस्य क्रियासामान्यारमककारणार्थत्वं  
दर्शितम् । तेन—

‘भियतमहदयं विवेश तन्वी परयुवतिप्रसरापसारणाय ।

अतिसुभगतया हरन्तु मान्या इति च निजे हृदये न्यवेशयत् तम् ॥’

हृत्पत्र परस्परं हृदयानुप्रवेशस्ताम्या कृत इति प्रतीतेः पर्यधसानारपरस्परजननस्या-  
प्यापकत्वं न वाच्यम् ।

‘विपर्ययं पूर्वकथाद्भुतस्य चालुवचभूपालशरशकार ।

पपात यन्नष्टघृतिर्वराहस्तं विह्वलाङ्ग वसुधा यमार ॥’

हृत्पत्र पुनरादिवराहवृत्तान्तवैलघ्न्यमाप्रस्य विवक्षितवादन्योन्यालंकार एव ना-  
स्तीति कस्याप्यापकत्वं वा स्यात् । एवमन्यत्रापि ज्ञेयम् । तथात्वोक्तिविरोधादिति ।  
इतरेतराश्रयदोषलक्षणात् । यदि पुनरत्र विरोधसमाधिर्भवेत्तदालंकारत्वमपि स्यादिति  
भावः । यथा—

‘धनेन जायते प्रज्ञा प्रज्ञया जायते धनम् ।

प्रज्ञायौ जीवलोकैस्मिन्परस्परनिबन्धनम् ॥’

अत्र प्रज्ञाधनयोः स्वरूपस्य परस्पर जननम् । शोभाकियेति । सैव ह्यत्र परस्पर-  
निमित्तम् ।

[ शका ] यदि परस्पर की उत्पादकता समव नहीं है [ वह तो व्यापात है ] तो इसे अलंकार  
क्यों माना जा रहा है, ऐसी आशंका कर उत्तर देने है क्रिया इत्यादि । क्रिया शब्द का अर्थ यहाँ  
धर्म मानना चाहिए । नहीं तो—

‘उस समय बैलासपर्वत तथा चन्द्रबिम्ब का कोई अलौकिक प्रकाश प्रकट हुआ क्योंकि ये दोनों  
एक दूसरे में अधिक चमक ला रहे थे ।’

इत्यादि में चमक [ पट्टर ] गुणात्मक है उसने द्वारा परस्पर की उत्पत्ति में अन्योन्य का लक्षण  
न जायगा । परस्परोत्पादकरवम् अर्थात् परस्पर की निष्पादकता । इस प्रकार यहाँ जनन  
[ शब्द ] का अर्थ क्रियामान्यरूप कारण दिखलाया गया । इस कारण—

‘तन्वो प्रियतम के हृदय में प्रविष्ट हो गई, इसलिए कि उसमें अन्य युवतियों को जगह न मिले ।  
इसी प्रकार अत्यन्त सुन्दर होने से अन्य क्रौर्य [ सुन्दरी ] उठे हर न लें इसलिए उठे भी [ उस  
तन्वी ने ] अपने हृदय में निविष्ट कर लिया ।’ यहाँ प्रतीति ‘उन दोनों ने परस्पर के हृदय में प्रवेश  
किया’ इस रूप में परिणत होती है, अतः यहाँ परस्परजनन की अव्याप्ति है ऐसा [ अलंकार-  
रत्नाकरकार की ] नहीं कहना चाहिए ।

‘आहवमश्लदेव के वाण ने [ वराह की वराहावतार में प्राप्त समुद्र से पृथिवी को धारण कर  
निकलने की ] पूर्व कथा के आश्चर्य को उलट दिया, क्योंकि जब वराह धराकर गिरा तो विह्वल  
अग के उत्ती [ वराह ] को पृथिवी ने धारण किया ।’ [ विक्रमाकदेवचरित १६।३७ ]

यहाँ केवल आदिवराह के वृत्तान्त से (मृगदाकाल में शरबिद्ध और भूपतित वराह के वृत्तान्त की)  
भिन्नतामात्र की विवक्षा है, अतः यहाँ [ रत्नाकरकार द्वारा स्वीकार अन्योन्यालंकार ही नहीं है, तब  
अव्यापक कौन होगा ? इसी प्रकार अन्य उदाहरणों में जानना चाहिए । तथात्वोक्तिविरोध =  
क्योंकि यह विरोध अन्योन्याश्रयदोष होगा [अन्योन्यालंकाररूप नहीं] भाव यह कि यदि यहाँ विरोध  
का समाधान हो जाता तो कदाचित् यहाँ अलंकारता संभव होती । यथा—

‘धन से प्रज्ञा उत्पन्न होती है और प्रज्ञा से धन । प्रज्ञा और धन इस जीवलोक में परस्पराश्रित  
हैं ।’ यहाँ प्रज्ञा और धन इन दोनों के स्वरूप एक दूसरे को उत्पन्न करते हैं । [किन्तु यहाँ] विरोध  
का समाधान देश और काल के भेद से हो जाता है [अतः यहाँ अलंकारत्व मान्य है] शोभाकिया =  
यहाँ जो है वही परस्पर में निमित्त है ।

विमर्शः—इतिहास—

अन्योन्य की कल्पना प्रथमतः रुद्रट ने ही की है। उनके पूर्ववर्ती नामद्, वामन तथा उद्भट में यह अलङ्कार नहीं मिलता। रुद्रट ने इसका विवेचन इस प्रकार किया है—

‘यत्र परस्परमेकः कारकभावोऽभिधेययोः क्रियया ।  
संजायेत स्फारिततत्त्वविशेषरतदन्योन्यम् ॥ ७।११ ॥

—‘जहाँ दो पदार्थों में परस्पर के प्रतिक्रिया द्वारा एक ही कारकभाव हो और उससे तत्त्व-विशेष व्यक्त होता हो तो उसे अन्योन्य कहते हैं।’ उदाहरण—

‘रूपं यौवनलक्ष्या यौवनमपि रूपसंपदस्तस्याः ।  
अन्योन्यमलङ्करणं विभाति शरदिन्दुसुन्दर्याः ॥ ७।१२ ॥

—‘उस शरदिन्दुसुन्दरी का रूप [ आकृति ] यौवनश्री का और उसकी यौवनश्री रूप का अलङ्कार प्रतीत होता है।’

मम्मट—मम्मट में रुद्रट का ही असफल अनुकरण है—

‘क्रियया तु परस्परम्, वस्तुनोर्जननेऽन्योन्यम् ॥’

‘दो वस्तुओं का क्रिया के द्वारा परस्पर की उत्पत्ति अन्योन्य।’ उदाहरण—

‘हंसानां, संरोमिः श्रोः सार्यतेऽथ हंसैः सरसान् ।’ [ प्राकृतच्छाया ]।

—‘हंसों की शोभा तालाव बढ़ाते हैं और तालावों की हंस।’

सर्वत्र के सूत्र तथा उसकी वृत्ति की योजना से लगता है कि ये दोनों दो भिन्न रचयिता के हैं। वृत्ति में रुद्रट तथा मम्मट का सिद्धान्त प्रतिपादित मिलता है अब कि सूत्र की पदार्थ योजना उससे भिन्न अर्थ का संकेत देती है। सूत्र में ‘क्रियाजनन’-पद का समास पठितत्पुरुष माना जा सकता है। तदनुसार सीधा अर्थ निकलता है ‘परस्पर में क्रिया की उत्पत्ति’, और सभी आचार्यों को यही अर्थ विवक्षित है। वे कहते भले ही ‘क्रिया के द्वारा परस्पर की उत्पत्ति’ यह हों। रूप और यौवन, हंस और तालाव तथा पार्वतीकण्ठ एवं निस्तल मुक्ताहार परस्पर में एक दूसरे की शोभा ही उत्पन्न करते हैं, एक दूसरे के स्वरूप को नहीं। वृत्ति में जो ‘परस्परोत्पादकत्व’ शब्द है उसमें पाठान्तर ‘परस्परोपपादकत्व’ भी मिलता है। इससे लगता है कि प्राचीन पाठकों को भी यह वैषम्य खटका था। विमर्शिनीकार ने सूत्र और वृत्ति के इस निगूढ वैषम्य पर ध्यान नहीं दिया। वे भी मम्मट मत के समर्थक जो हैं। परवर्ती रत्नाकरकार—

शोभाकर—ने इस वैषम्य में सूत्रकार का ही साथ दिया है। यह तथ्य उनकी निम्नलिखित सूत्र से स्पष्ट है—

[ सू० ] ‘रूपधर्मयोः परस्परनिबन्धनत्वमन्योन्यम् ॥’

—‘रूप और धर्म की परस्पर के द्वारा निष्पत्ति अन्योन्य।’ स्पष्ट ही इसमें रूपवान् या धर्मों के प्रति कारणता न मान रूप और धर्म के प्रति ही वह मानी गई है। रत्नाकरकार ने सर्वत्र की वृत्ति के विरुद्ध स्वरूप की अन्योन्यनिष्पत्ति में भी अन्योन्यालङ्कार माना है और विमर्शिनीकार ने उसे स्वीकार भी किया है। स्वरूपनिष्पत्ति के लिए रत्नाकरकार ने ‘धनेन जायते प्रशान्’ इती पद्य का उदाहरण दिया है। विमर्शिनीकार ने सूत्रस्थ क्रिया को धर्म का उपलक्षण भी माना है। उसके लिए रत्नाकरकार ने अनेक स्पष्ट उदाहरण दे ‘कण्ठस्य तस्याः’ पद्य में भी शोभा को क्रियारूप न मान धर्मरूप माना था। सिद्धावस्थापत्र क्रिया भी धर्म ही होती है। धर्म और उपाधि पर्याय हैं अतः क्रिया भी धर्म ही है क्योंकि उपाधिचतुष्टयवाद में

क्रिया को भी उपाविस्वरूप मानकर शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त माना है। रत्नाकरकार ने शोभा के लिए पर्याय रूप में बहुत ही सहृदयता पूर्ण 'परमाणु'-शब्द दिया है।

अप्यदीक्षित—धर्म या धर्मों का नाम बिना लिये केवल अन्योन्य उपकार को अन्योन्या लंकार मानते हैं—

'अ-योन्य नाम यत्र स्यादुपकार परस्परम् ।'

उदाहरण त्रियामा शशिना माति शशी माति त्रियामया ॥'

—जहाँ परस्पर के प्रति परस्पर का उपकार हो तो उसे अन्योन्यालंकार कहते हैं। यथा—  
रात्रि चन्द्रमा से सुशोभित होती है और चन्द्रमा रात्रि से ॥'

पण्डितराज जगन्नाथ ने भी अप्यदीक्षित के ही अनुसार निम्नलिखित लक्षण किया है—

'द्वयोरन्योन्येनान्योन्यस्य विशेषाधानमन्योन्यम् ।'

—'दो में से एक दूसरे के द्वारा एक दूसरे में विशेषणा का आधान अन्योन्य ।' विशेषता को 'पण्डितराज ने 'क्रियादिरूप' कहा है—'विशेष- क्रियादिरूप ।'

विश्वेश्वर पण्डित ने भी-अप्यदीक्षित और पण्डितराज का ही पथ अपनाया और अन्योन्य का लक्षण उन्हीं के अनुकरण पर इस प्रकार किया है—

'अन्योन्यं वस्तुनां परस्परोत्कर्षहेतुत्वम् ।'

—'वस्तुनां का परस्पर में उत्कर्ष हेतुत्व अन्योन्य ।' यहाँ उत्कर्षपात्र वस्तु में पूर्वाचार्य प्रतिपादित द्वित्व को विश्वेश्वर ने बहुत्व में बदल दिया है। वस्तुतः उपकार्य और उपकारी के दो स्पष्ट वर्ग तो उत्कर्षपात्रगत बहुत्व की स्थिति में भी रहेंगे ही।

श्री विद्याचक्रवर्ती को निष्कृष्टार्थ कारिका यहाँ यह है—

'क्रियानननमन्योन्यमन्योन्यालङ्कृतिर्मता ॥'

[ सर्वस्व ]

[ सू० ५१ ] अनाधारमाधेयमेकमनेकगोचरमशक्यवस्त्वन्तरकरणं विशेषः ।

इहाधारमन्तरेणाधेयं न वर्तत इति स्थितावपि यस्तत्परिहारेणाधेयस्यो-  
पनिबन्धः स एको विशेषः । यच्चैकं वस्तु परिमितं शुगपदनेकधा वर्त-  
मानं क्रियते स द्वितीयो विशेषः । यच्च किंचिदारभमाणस्यासंभाष्यवस्त्व-  
न्तरकरणं स तृतीयो विशेषः । आनुरूप्यपरिहाररूपविरोधप्रस्तावादिहोक्तिः ।  
क्रमेण यथा—

'दिवमप्युपयातानामाकल्पमनल्पगुणगणा येपाम् ।

रमयन्ति जगन्ति गिर. कथमिव कथयो न ते घन्धाः ॥'

'भासादे सा पथि पथि च सा पृष्ठत. सा पुरः सा

पर्यङ्के सा दिशि दिशि च सा तद्वियोगातुरस्य ।

दृंहो चेतः प्रकृतिरपरा नास्ति ते कापि सा सा

सा सा सा सा जगति सकले कोऽयमद्वैतवादः ॥'

‘निमेषमपि यद्येकं क्षीणदोषे करिष्यसि ।

पदं चित्ते तदा शंभो किं न संपादयिष्यसि ॥’

अत्र कवीनामाधाराणामभावेऽप्याधेयानां गिरामवस्थितिः अनन्यत्रभावो विषयार्थ इति विषयत्वेन तेषामाधारत्वात् । एकस्या एव योषितः प्रासादादौ अवस्थानम्, चित्तविषये पदकरणे प्रस्तुतेऽपि भाविलोकोत्तरचस्तुसंपादनं क्रमेण ज्ञेयम् ।

[ सू० ५१ ] ‘आधाररहित आधेय, एक का अनेक रूप से दिखाई देना, अशक्य अन्य कार्य की निष्पत्ति विशेष [ कहलाते हैं ] ॥’

[ १ ] यहाँ आधेय आधार के बिना नहीं रहता । इतने पर भी जो उस [ आधार ] के बिना आधेय का बतलाया जाना वह एक प्रकार का विशेष होता है । [ २ ] इसी प्रकार एक वस्तु सीमित होते हुए भी जो एक साथ अनेक रूपों में विद्यमान दिखलाई जाती है वह दूसरे प्रकार का विशेष कहलाता है । इसी भाँति [ ३ ] अन्य कुछ कर रहे व्यक्ति का जो अन्य असंभाव्य कार्य कर देना दिखलाया जाता है वह तीसरे प्रकार का विशेष होता है । अतुरूपता छोड़ने रूपों विरोध को लेकर इसे यहाँ बतलाया गया । कम से उदाहरण—

[ आधारहीन आधेय— ]

‘स्वर्ग चले जाने पर भी जिनकी अवलम्ब गुणों से युक्त उक्तियाँ संपूर्ण जगत् को आनन्द देती रहती हैं वे कविजन कैसे वन्दनीय न होंगे !’

[ एक की अनेकगतता - ]

‘उसके वियोग में आहुर मेरे लिए प्रासाद पर वह और गली-गली में वह, पीछे वह, आगे वह, पलंग पर वह और दिशा-दिशा में वह । अरे [ मेरे ] चित्त ! तुझे कुछ और नहीं सूझता ? सारे संसार में वह वह, वह वह, वह वह । यह कौन-सा अद्वैतवाद है !’

[ अन्य असंभाव्य कार्य की निष्पत्ति— ]

‘हे भगवान् शिव ! आप [ मेरे ] दोषयुक्त चित्त में यदि क्षणभर के लिए भी आ बसें तो आप क्या-क्या संपन्न नहीं कर देंगे ।

यहाँ [ प्रथम पद्य में ] आधारभूत कवियों को न रहने पर भी आधेयभूत उक्तियों की अवस्थिति, क्योंकि वे विषयरूपी आधार हैं, विषय का अर्थ है अन्यत्र न जाना [ जैसे उड़ते पक्षी का आधार आकाश, क्योंकि पक्षी आकाश से अलग नहीं जा पाता ] ।

[ द्वितीय ] में एक ही ओ की प्रासाद आदि में एक साथ स्थिति, तथा [ तृतीय ] में चित्त में स्थान करने रूपी प्रस्तुत कार्य के साथ-साथ भावी लोकोत्तर कार्य की निष्पत्ति क्रम से जाननी चाहिए ।’

### चिन्मर्शिनी

अनाधारमित्यादि । पुरतदेव श्याचष्टे—इहेत्यादिना । तत्परिहारणेति । आधारस्थतिरेकेणेत्यर्थः । परमितमिति अध्यापकम् । श्यापकस्य हि युगपदनेकत्र स्थितिर्वस्तुसंभविनीति तत्र नाहंकारत्वम् । किञ्चिदिति यत्र यादृग्विचक्षितम् । न केवलमारब्धस्य वस्तुनो निष्पत्तिर्थावदसंभाव्यस्यापि वस्तुन्तरस्थेत्यत्र तात्पर्यार्थः । तत्र वस्तुन्तरं चिकीर्षितं भवत्यचिकीर्षितं वा । एवं च—

‘फलान्तरस्य निष्पत्तिश्चिकीर्षाविरहेऽपि या ।

स विशेषश्चिकीर्षायां प्रसङ्गस्तु ततः पृथक् ॥’

इत्याहुक्तयुक्त्या प्रसङ्गादन्यार्थः। प्रसङ्ग इति। प्रसङ्गाख्यमलंकारान्तरं न वाच्यम्। न हि चिकीर्षितत्वं वा कश्चिच्छिच्छित्तिविशेषो येनालंकारान्तरत्वं स्यात्। यात्रता धात्रा-संभाष्यस्य वगधन्तरस्य विच्छ्रुतिविवक्षिता सा चात्र स्थितेति किं चिकीर्षितत्वाच्चिकीर्षितत्वकल्पनेन। नस्मात्—

‘अङ्गेषु मान्द्रहरिचन्दनपङ्कज्ज्वालां मालाङ्गहारवलयोदयं च पान्थवध्वाः।

योऽभूद्विवा पतिवियोगविषाददम्भो ज्योत्स्नाभिसारपरिकर्म स नक्षमासीत् ॥’

इत्यत्र हरिचन्दनचर्चादिना न केवलं पतिवियोगविषाददम्भः कृतो यावदभिसारिकापरिकर्मापि कृतमित्यज्ञाप्यवधन्तरकरणार्थमायं विशेषः।

विशेषाश्चात्र त्रयो न पुनरेकस्त्रिविधः। लक्षणस्य भिन्नत्वात्। उचितस्य तु विशिष्टत्वस्य भावात्प्रयोगामपि विशेषत्वम्। गिरामत्र कविस्वभावादन्यत्र भावः, दम्भोश्च लोकोत्तरवस्तुसंपादनं वास्तवमेवेति विशेषमग्रान्ये न मन्यन्ते। पुतावतैव पुनरस्याभावो न वाच्यः, उदाहरणान्तरेष्वस्य सम्भवात्। तानि तु यथा—

‘अङ्गानि चन्दनरसादपि पीतलामि चन्द्रानप वमति यादुरयं यशोभिः।

चालुव्यगोत्रतिलकं क्व घसत्यर्सां से दुर्वृत्तभूपरितापगुरुः प्रतापः ॥’

अत्राहाशनामनर्हत्वेनाधारत्वाभावेऽप्याधेयस्य प्रतापस्य स्थितिरिति विशेषालंकारत्वम्। तथा च—

‘चोरिभरमणाबलिपु पुत्ति पिअ हरि हि सित्ति किं वुज्ज।

वच्चती सुहज्जोण्हामोहिं तिमिरं पि णग्गिहिसि ॥’

‘अत्र न केवलं प्रिय हरिष्यसि यावच्चिकीर्षाविरहेगामंभाष्यं तिमिरमपीति चरन्वन्तरकरणात्मा विशेषः। यथा वा—

‘माघः शिशुपालवधं विदधत् कविमद्वधं विदधे।

रत्नाकरः स्वविजयं हरविजयं वर्णयन् स्वयुगोत् ॥’

अत्र न केवलं माघ शिशुपालवध चकार यावदसंभाष्य चिकीर्षितं कविमद्वधमपीत्यदाव्यवधन्तरकरणात्मायं विशेषः। अत्राप्येव कविमद्वधं कर्तुं माघस्यात्र कर्तृत्वम्। एवमुत्तरत्रापि ज्ञेयम्। अतः ‘एकस्मिन्क्रियमाणे तज्जातीयस्य प्रसङ्गतं सिद्धिरनुपपन्नः’ इत्यनुपपन्नकारोऽपि विशेष एवान्तर्गमतीति न प्रथमवाच्यः।

अनाधारेत्यादि। इसी को व्याख्या करते हैं—इह इत्यादि के द्वारा। तत्परिहारेण = उसके बिना आधार के बिना। परिमित = अन्वयापक। जो व्यापक होता है वह अकेला भी एक साथ अनेक स्थलों में वस्तुतः रह सकता है अतः वहाँ अलंकारत्व नहीं होता। किञ्चित् = जहाँ जैसा अर्थ विवक्षित हो। अर्थ यह कि ‘न केवलं गुरु किय कार्य की ही निष्पत्ति हो अपितु ऐसे किसी अन्य की भी निष्पत्ति हो बार जिसकी संभावना भी न की जा सकती हो। वह असंमान्य अन्य वस्तु चिकीर्षित या अधिकीर्षित [ इस प्रकार दोनों ही प्रकार की ] हो सकती है, अतः [ अलंकार-रत्नाकरकार को ]

‘बिना चिकीर्षा के भी अन्य फल की जो निष्पत्ति हममें विशेषनामक अलंकार होता है। प्रसंग नामक अलंकार वहाँ होता है वहाँ चिकीर्षा रहती है।’—

इत्यादि के द्वारा प्रस्तुत युक्ति द्वारा ‘प्रसङ्ग से अन्य पदार्थ को निष्पत्ति प्रसङ्ग’ [ अलंकार-रत्नाकर सूत्र ८० ] इस प्रकार प्रसङ्ग नामक एक स्वतन्त्र अलंकार नहीं बतलाना चाहिए। ऐसा सोचें ही है कि चिकीर्षितत्व और अधिकीर्षितत्वमें कोई विशिष्ट चमत्कार या चमत्कारभेद हो जिससे

अलंकार में भेद आए। जहाँ तक अन्य असंभाव्य वस्तु की निष्पत्ति की विवक्षा का सम्बन्ध है वह यहाँ [ इन दोनों ही स्थितियों में ] है ही। फिर चिकीर्षितत्व और अनिकीर्षितत्व की कल्पना से क्या ? इसलिए [ अलंकाररत्नाकरकार द्वारा प्रसङ्गालंकार के उदाहरण के रूप में उद्धृत— ]

—'अङ्ग-अङ्ग में जिसे हरिचन्दन का लेप, मृगाल के हार और बलय आदि जो भी कुछ पथिकवधू के लिए दिन में पतिवियोगजनित विपाद का दम्भ [दिखाना] था वही रात में चोदनी में [शुक्ल] आभिसारिक मण्डन बनता रहता था।' इस पद्य में, 'हरिचन्दन के लेप आदि से केवल पति वियोग के विपाद का दम्भ ही नहीं हुआ, अभिसारिक मण्डन भी निष्पन्न हो गया'—इस प्रकार यह अन्य असंभावित वस्तु के निष्पादन से होने वाला विशेषालंकार ही है।

यहाँ विशेष तीन हैं, एक नहीं, क्योंकि तीनों के लक्षण भिन्न हैं। उचित विशिष्टत्व तीनों में है अतः नाम तीनों का विशेष ही है।

[ दिवमप्यु० पद्य में ] यहाँ उक्तियों का कवियों से अलग रहना [ इस पद्य के निर्माता ] कवि की कल्पना से प्रसूत है, किन्तु [ निमेषमपि० पद्य में ] शिव का लोकोत्तर वस्तु का सम्पन्न करना वास्तविक ही है अतः अन्य आचार्य इसमें विशेषालंकार नहीं मानते। किन्तु केवल इतने भर से [ विशेषालंकार के ] इस [ तृतीय भेद ] का अभाव नहीं मान बैठना चाहिए क्योंकि अन्य उदाहरणों में भी यह दिखाई देता है। ये ये हैं—

'हे चालुक्यवंशतिलक ! [ आपके ] अङ्ग चन्दनरस के समान शोतल हैं और [ आपका ] यह बाहु यशों के द्वारा चोदनी उगल रहा है। तब आपका बुद्ध राजाओं को सन्ताप देने में महान् प्रताप कहाँ रहता है।' [ विक्रमांकदेवचरित ५।८६ ]।

यहाँ अङ्ग आदि अयोग्य होने से आधार बन नहीं पाते तब भी आधेय प्रताप की स्थिति बतलाई जा रही है अतः यहाँ विशेषालंकार है। इसी प्रकार—

'चौर्यरताकुलिते ! पुत्रि ! प्रिय हरिभ्यस्तोषि किं वस्तम् ।

म्रजन्ती मुखवद्योत्तनाभरैस्तिभिरमपि नोत्त्यसि ॥'

'चोरी-चोरी रमण करने हेतु आकुल पुत्रि ! तू प्रिय को रँवा देगी इसी का वर नहीं है, जाते समय मुखचन्द्र की झुन्हारी से तू अँधेरे को दूर कर देगी।'

यहाँ 'इतना ही नहीं कि तू केवल प्रिय को रँवा देगी अपि तु अँधकार को भी, जो तू करना चाहती नहीं अतः असंभाव्य है' इस प्रकार अन्य वस्तु के निष्पादन से उत्पन्न विशेष अलंकार है। और जैसे—

'माधकवि ने शिशुपालवधकाव्य बनाकर कविमद का वध कर डाला। [ और ] रत्नाकरकवि ने [ हरविजयकाव्य में ] शंकर की विजय का वर्णन कर अपनी विजय व्यक्त की।'

यहाँ—'माध ने केवल शिशुपालवध ही नहीं किया कविमदका वध भी कर दिया, जो असंभाव्य किन्तु चिकीर्षित था इस प्रकार यह अन्य अशक्य वस्तु के करने से हुआ विशेषालंकार है। यहाँ कविमद का वध जो सर्वथा अशक्य है, करने में माध को कर्ता बतलाया गया है। इसी प्रकार आगे [ अन्य अलंकारों में ] भी जानना चाहिए। अतः—

'एक कार्य किया जा रहा हो तो उसीके प्रसंग में उसीके सजातीय किसी अन्य कार्य की सिद्धि अनुपगं' यह अनुपङ्गालंकार भी विशेष में ही अन्तर्भूत हो जाता है अतः उसे भी स्वतन्त्र अलंकार नहीं कहना चाहिए ॥



विमर्शः—इतिहास—

विशेषालंकार के उक्त तीनों भेद रूद्रप्रथमतया रुद्र की ही कल्पना है। उनके पूर्ववर्ती भागद्वय, वामन, उच्छ्रित में इस पर कोई विचार नहीं मिलता। रुद्र का विशेषविवेचन इस प्रकार है—

[ १ ] 'किंचिद्वदयाधेय यस्मिन्नभिधीयते निराधारम् ।

तादृगुपलन्यमानं विशेषोऽसौ विशेष इति ॥ ९१५ ॥'

'जहाँ कोई वस्तु किसी का आधेय होने हुए भी निराधार रूप से प्राप्त होती हुई बतलाई जाय तो वह विशेष नामक अलंकार होता है।'

उदाहरण—'दिवमभ्युपयानानाम्०' पद्य ।

[ २ ] यद्वैकमनेकस्मिन्नाधारो वस्तु विद्यमानतया ।

युगपदभिधीयतेऽमावत्रान्यं स्याद् विशेष इति ॥ ९१७ ॥'

—'जहाँ एक वस्तु एकमात्र अनेक आधार में रहती हुई बतलाई जाय तो यह दूसरा विशेष होता है।'

उदाहरण—'हृदये चक्षुषि वाचि च तव सेवाभिनवयौवना वसति ।

वयमत्र निरवकाशा विरम कृत पादपतनेन ॥'

—'वही अभिनवयौवना तुम्हारे हृदय, नेत्र और वाणी में बस रही है। हमें इनमें कहीं स्थान नहीं है। रहने भी दो। पैरों पर गिरने से क्या ?।'

[ ३ ] 'यत्रान्यत् कुर्वाणो युगपत्कार्यान्तरं च कुर्वति ।

कतुमशक्य कर्त्ता विशेषोऽसौ विशेषोऽन्य ॥ ७१९ ॥'

—'जहाँ और कुछ कर रहा व्यक्ति उसी के साथ अन्य कोई अशक्य कार्य भी कर डाले तो यह एक अन्य विशेष होता है।'

उदाहरण = 'लिखित वाग्मृगाख्या मम मनमि तथा शरीरमात्मीयम् ।

स्पुटमात्मनो लिखन्त्या तिलक विमले कपोलतले ॥'

—'उम बाळशृगाक्षी ने अपने कपोलतल पर तिलक लिखकर अपना रूप हमारे चित्त में लिख दिया।'

स्पष्ट है कि रुद्र का विशेषालंकारविषयक धारणा स्पष्ट और लक्ष्य उदाहरण की योजना भी पूर्ण समर्थ है। मम्मट ने रुद्र के इस संपूर्ण विवेचन को ज्यों का त्यों अपना लिया है। उनका विशेष विवेचन यह है—

मम्मट—'विना प्रसिद्धमाधारमाधेयस्य व्यवस्थितिः ।

एकारमा युगपद् वृत्तिरेकस्थानेकगोचरा ॥

अन्यद् प्रकुर्वतः कार्यमशक्यस्यान्यवस्तुनः ।

तथैव कारणं चेति विशेषस्त्रिविध स्मृतः ॥'

—'प्रसिद्ध आधार के बिना आधेय की स्थिति, एक पदार्थ की एकमात्र अनेक स्थानों में एक रूप से अवस्थिति तथा अन्य कार्य कर रहे व्यक्ति द्वारा अन्य अशक्य वस्तु का उसी प्रकार निःपत्र कर देना' इस प्रकार से विशेषालंकार तीन प्रकार का माना गया है।

उदाहरण—प्रथम का रुद्र का 'दिवमभ्युपयानानाम्०' पद्य ही। द्वितीय का रुद्र के पद्य 'हृदये चक्षुषि' की समानार्थी ही गाथा 'सा वमद् तुच्छम्०' तथा तृतीय का—

'गृहिणी सचिव सखी मिथः प्रियशि'या ललिते कलाविधौ ।

करुणाविमुक्तोऽन मृत्पुना हरता त्वां वद किं न मे ह्यहम् ॥'

—‘तुम मेरी गृहिणी थीं, सचिव थीं, सखा थीं, एकान्त में कलाओं के ललित विधान में प्रिय शिष्या थीं। कल्पाविमुख मृत्यु ने तुम्हें हरण करते हुए मेरा क्या नहीं हर लिया।’

सर्वस्वकार ने मम्मट के लक्षण की दो सूक्ष्मताओं को छोड़ दिया, एक तो आधारगत प्रसिद्धि को और दूसरी एक की एकसाथ अनेकगोचरता में एकरूपता को। प्रसिद्धि की आवश्यकता विरोधपरिहार के लिए है और एकरूपता की आवश्यकता पर्यावाच्यकार के निराकरण के लिए।

शोभाकरः—परवर्ती रत्नाकरकार शोभाकर ने सर्वस्वकार के लक्षण में संशोधन प्रस्तुत किया।

उन्होंने लक्षण में आए अशक्यतारूपों विशेषण को असंभाव्यता के रूप में स्थिर किया। सर्वस्व के वृत्तिकार ने असंभाव्यता का प्रयोग तो किया था किन्तु वे अशक्यता को भी दुहराते जाते थे। इस तृतीय विशेष में शोभाकर ने कुछ विस्तार और किया और उसमें विरुद्ध की निष्पत्ति को भी स्थान दिया। वनका लक्षण इस प्रकार है—

‘अनाभारमापेयमेकमनेकगोचरं संभावितादधिकस्य

विरुद्धस्य वा सम्पत्तिश्च विशेषः ॥ ६३ ॥’

संभावित से अधिक निष्पत्ति का अर्थ अशक्य की निष्पत्ति नहीं है। प्रथम का उदाहरण रत्नाकरकार ने भी रद्रट का ‘दिवमप्युपयातानान्’—पद्य ही दिया है। इसी के लिए रत्नाकरकार ने ‘अंगानि चन्दन०’ पद्य भी प्रस्तुत किया था। द्वितीय के लिए विमर्शनीकार द्वारा उद्धृत ‘चोरिज०’ गाथा रत्नाकर से ही ली गई है। इसकी संगति रत्नाकर में इस प्रकार की दी हुई है—

‘अत्र चौर्यरतेन प्रियरतेन (?) प्रियरजनार्थं गमनरूपस्य प्रयत्नस्य प्रवृत्तस्यानुनिष्पन्नतया तमोहरणरूपं कार्यान्तरमपि संभाविताद् भवतीत्युक्तम् ।’

इसके अनुसार छिपे-छिपे प्रिय से मिलकर कोई लड़की प्रिय को आकृष्ट करना चाहती है। विरुद्धकार्यनिष्पत्ति के लिए रत्नाकरकार ने प्राकृत की यह एक श्लेषपूर्ण गाथा उद्धृत की है—

‘आलिङ्गमाणीओ विचित्तवत्तिआ कि पि कि पि तद्विदम् ।

ण्डु णवरं तणुआयन्ति ताङ्ग वड्ढंति लोअस्स ॥’

‘आलिङ्गयमाना अपि चित्रवत्तिका [ चित्तवृत्तिकाः ] किमपि किमपि तद्विदसम् ।

न केवलं तनुकायन्ते ता वर्धन्ते लोकस्य ॥’

यहाँ ‘चित्तवत्तिआ’ शब्द की संस्कृत छाया ‘चित्रवत्तिका’ और ‘चित्रवृत्तिकाः’ दोनों ही विवक्षित हैं। दोनों शब्द की प्राकृत एक ही है अतः दोनों में श्लेष है। फलतः चित्रपक्ष में चित्रवत्तिका अर्थ ले लिया जाता है और लोकपक्ष में चित्रवृत्ति अर्थ। इस प्रकार ‘उत्त नायिका का चित्र लिखने से केवल चित्रवत्तिका ही क्षीण नहीं होती लोगों की चित्तवृत्ति भी बढ़ने लगती है’ इस अर्थ में श्लेष के विरुद्ध वृद्धिरूपी असंभाव्य अन्य अर्थ की निष्पत्ति बतलाई जा रही है अतः यहाँ तृतीय विशेष का द्वितीय भेद है। परवर्ती अप्ययदोक्षित और पण्डितराज जगन्नाथ ने इस उपभेद को नहीं माना है। उन्होंने केवल तीन प्रसिद्ध भेद ही किए हैं।

अप्ययदोक्षित—[ . ] विशेषः ख्यातमाधारं विनाप्यापेयवर्णनम् ।

उदा०—‘दिवमप्युप० ।

[ २ ] विशेषः सोऽपि यद्येकं वत्त्वनेकत्र वप्यन्ते ॥

उदा०— ‘अन्तर्बहिः पुरः पश्चात् सर्वदिक्ष्वपि सैव मे ।’ अर्थात्

‘प्रासादे सा०’ पद्य का संक्षेप

[ ३ ] किंचिदारम्भतोऽशक्यवस्त्वन्तरकृतिश्च सः ।

उदा०— ‘त्वां पश्यता मया लब्धं कल्पवृक्षनिरीक्षणम् ॥

आपको देखने से मैंने कर वृक्ष का दसन पा लिया। अल्पदीक्षित ने असामान्य गुम्ब के स्थान पर अज्ञेय गुम्ब ही रखा है। पण्डितराज दोनों को अमानते और विशेष का लक्षण इस प्रकार बनाते हैं—

पण्डितराज—[ १ ] प्रसिद्धमाश्रय विनाऽऽधेय वर्ण्यमानमेको विशेषप्रकारः ।

[ २ ] यच्चैकमाधेय परिमितयत्किञ्चिदाधारपनमपि  
युगपदनेकावारगतया वर्ण्यते सोऽपरो विशेषप्रकारः ।

[ ३ ] यच्च किञ्चित्कार्यमारम्भमागम्यासंभाविता-  
शुभ्यवस्त्वन्ननिर्वर्तनं तृतीयो विशेषप्रकारः ।

ये तीनों भेद प्रस्तुत कर पण्डितराज ने दो पक्ष भी दिखाए हैं, एक प्राचीनों का पक्ष जो इन तीनों को एक ही विशेषालंकार के भेद मानता है और दूसरा नवीनों का वह पक्ष जो तीनों को स्वतन्त्र स्वीकार करता है। नवीन के अनुसार उक्त तीनों में कोई एक सामान्य धर्म नहीं है अतः ये एक नहीं कहे जा सकते। विमर्शनीकार ने भी यह पक्ष प्रस्तुत किया है और तीनों विशेषों को स्वतन्त्र माना है।

विश्वेश्वर—ने पण्डितराज तथा उनके भी पहले के विमर्शनीकार द्वारा प्रस्तुत आपत्ति को न्याय की कथित मान्यताओं द्वारा सामान्य तत्त्व की सिद्धि को दूर करना चाहा है। उनके अनुसार तीनों भेदों में 'स्थानिस्फिनव्यभिचारप्रतियोगिकत्व' एक सामान्य धर्म है। इसका भाव इतना ही है कि सामान्य स्थिति का अभाव इन तीनों ही प्रकारों में समान है। स्वाभाविकता है आधार के बिना आधेय के न रहने में = प्रथम भेद में उसका अभाव है। इस प्रकार एक का एक रूप से एक साथ कहीं एक ही जगह रहना स्वाभाविक है। द्वितीय भेद में उसका अभाव है। तृतीय भेद में भी निष्पन्न हो रहे अनिर्दिष्ट कार्य के कारण का अभाव रहता है। इन प्रकार तीनों भेदों में किसी न किसी का अभाव [ व्यभिचार ] प्रतिपादित है। विश्वेश्वर ने तीनों को बड़ी ही स्पष्टता और बड़े ही श्रेष्ठ में इस प्रकार गूँथा है—

'स्मिद्विधाधागमावे वृत्तिरनेकेषु युगपदेकस्य ।

एककरणेन दुष्करकार्यान्तरमिद्विरिति विशेषः ॥'

इसका स्पष्टीकरण करते हुए उन्होंने तीन सूत्र भी प्रस्तुत किए हैं—

१—प्रसिद्धमाधारमन्तरेणान्याधेयस्य मिद्विरयोक्ता स एको विशेषः ।

२—यत्र चैकमपि वस्तु युगपदनेकत्र वर्तते स द्वितीयः ।

३—यत्र चैककार्यारम्भयत्नेन दुष्करकार्यान्तरमपि समारम्भ्यते स तृतीयः ।

इस प्रकार विश्वेश्वर प्रथम में प्रसिद्धि और द्वितीय में योगपक्ष का निवेश कारिका में तो नहीं कर पाए थे किन्तु सूत्रों में वे उनकी उपेक्षा नहीं कर सके।

श्रीविद्याचक्रवर्ती की निष्पत्तिपरिहारिका इस पर इस प्रकार है—

'अनाधारादिभेदेन विशेषोऽपि त्रिधा मतः ।'

[ सर्वस्व ]

[ सू० ५२ ] यथा साधितस्य तर्थागम्येनान्यथाकरणं व्याघातः ।

यं कंचिदुपायविशेषमवलम्ब्य केनचिद् यन्निर्गमितं वस्तु तत्ततोऽगम्येन  
केनचित्प्रतिबन्धिना तेनैवोपायविशेषेण यदन्यथा क्रियते स निष्पादित-  
यस्तुव्याघातिहेतुत्वाद् व्याघातः । यथा—

‘दृशा दग्धं मनसिजं जीवयन्ति दृशैव याः ।

विरूपाक्षस्य जयिनीस्ताः स्तुमो वामलोचनाः ।’

अत्र दृष्टिदक्षणेनोपायेन स्मरस्य हरेण दाहविषयत्वं निष्पादितम् । मृगनयनाभिः पुनस्तेनैवोपायेन तस्य जीवनीयत्वं क्रियते । तच्च दाह-  
विषयत्वस्य प्रतिपक्षभूतम् । तेन व्याघाताद्योऽयमलंकारः । सोऽपि व्यति-  
रेकनिमित्तत्वेनाप्रोक्तः । विरूपाक्षस्येति वामलोचना इति च व्यतिरेकगर्भा-  
येव वाचकौ । जयिनीरिति व्यतिरेकोक्तिः । पूर्ववदिह प्रकरणे लक्षणम् ।

[ सू० २ ] वस्तु जिस प्रकार सिद्ध की गई हो उसका वसी प्रकार अन्य व्यक्ति द्वारा तद्धिपरीत साधन च्यावात ॥’

किसी व्यक्ति ने जिस किसी उपाय से जो कोई वस्तु निष्पन्न की हो उसका उससे भिन्न उसके विरोधी व्यक्ति के द्वारा उसी उपाय से जो विपरीत रूप में परिणत किया जाना है वह निष्पा-  
दित वस्तु की व्यादिति = इनन का हेतु होने से व्याघात कहलाता है । यथा—

‘आँख से भले काम को जो आँख से ही जिला देती हैं, अतः जो विरूपाक्ष [ अर्थात् विरूप अमुन्दर हीन नेत्र वाले शिव ] को भी जीत लेने वाली हैं उन सुन्दर नेत्र वाली युवतियों को स्तुति करता हूँ ।’

यहाँ नेत्ररूपी उपाय से शिव ने काम को जलाने का कार्य संपन्न किया था । मृगाक्षियों द्वारा उसके विरुद्ध उसी नेत्ररूपी उपाय से उस काम को जिलाने का काम किया जा रहा है । वह जलानेरूपी कार्य का उलटा है । इसलिए यह व्याघात नामक अलंकार हुआ । वह भी यहाँ व्यतिरेक की पीठिका पर यहाँ निबद्ध हुआ है । विरूपाक्ष [ विरूप नेत्र वाले ] तथा वाम [ सुन्दर ]—लोचना ये शब्द यहाँ व्यतिरेकगर्भित ही हैं । ‘जीतने वाली’ इस प्रकार व्यतिरेक को शब्दतः भी कह दिया गया है । इस प्रकरण में इसका लक्षण पूर्ववत् ही है ।

### विमर्शिनी

यथा साधितत्वेत्यादि । निष्पादितमिति न तु निष्पादयितुं संभाव्यमानम् । तद्धि द्वितीय-  
व्याघातविषयः । ततः इति निष्पादनकर्तुः । तत्प्रतिद्वन्द्वेति । निष्पादितवस्तुव्याहति-  
कारिणात् । तेर्नैवेति, अत्र भरः, अन्यथा हि वैचिन्व्यातिशयो न स्यात् । अन्यथाक्रियत  
इति । तदुपमर्दकवश्वन्तरजननेत्यर्थः । अत एव नामापरस्य यौगिकमित्याह—निष्पा-  
दित्वादि । अतश्च यत्र न निष्पन्नस्य वस्तुनो व्याहतिरूपनिवर्धयते तत्र नायमलंकारः,  
निष्पत्तेरेवाप्रोहाद् व्याघातायोगात् । निष्पन्नवस्तुव्याहतिर्हि व्याघातः । फलं चात्र व्या-  
हतिकारिणस्तद्वैलक्षण्यम् । अत एव ‘उत्पत्तिविनाजयोरेकोपायत्वे व्याघातः’ इति न  
सूत्रगीयम् । एवं हि व्याघातत्वमेव न स्यात् ।

‘कुलममलिनं भद्रा मूर्तिर्मतिः श्रुतिशालिनी

सुजवलमलं रफीता लषमीः प्रभुत्वमखण्डितम् ।

प्रकृतिसुभगा श्येते भावा अमीभिरर्थं जने

व्रजति सुतरां दर्पं राजस्त एव तवाङ्कुशाः ॥’

इत्यत्र च कुलादयो यथान्येषां दर्पहेतवो न तथा तत्र, प्रयुत विनयकारिण इत्येवं-  
विधगुणविशिष्टेभ्यः पुरुषान्तरेभ्योऽस्य वैलक्षण्यमात्रं विवक्षितम् । न तु कुलादिभिरूपा-  
दितोऽपि दर्पस्तव व्याहृत इति येन व्याघातालंकारो भवति । अथात्र दर्पकारिणोऽपि

कुलादेस्तद्विनाश इत्ययमलंकार इति चेत्, नैतत्, कुलादीनां प्रवृत्तिभेदेन दर्पदर्पकारि-  
त्वस्य वास्तवत्वेनालंकारत्वात् । तत्रापि कुलादिभिरतव दर्पस्य विनाश इत्यभ्युपगमेना-  
यमलंकारः । निष्पादितवस्तुव्याहृतेरभावात्तद्विबन्धनत्वेन चास्योक्तत्वात् ।

‘विष्णाणेण मभविस्सं विगिवट्टइ भिष्णकारणुप्पणं ।

विष्णाणकारणं अं त पुण मण को गिषट्टेइ ॥’

इत्यत्रापिमदस्य विज्ञाननदन्यहेतुकरे वस्तुसम्बन्धन्यहेतुर्भदो विज्ञानेन निवार्यते तद्धे-  
तुकः पुनः केनेत्यलंकारभाष्यकारोत्तरनिवृत्तिहेतुमरोहात्मन्यवाहितकालंकारो न स्या-  
घातः विज्ञानहेतुकाया मदनिष्पत्तरेय प्ररोहात् ।

‘गाढकान्तदशनचतस्यथासकटादरिवधूजनस्य यः ।

ओष्ठत्रिदुमन्थलान्यमोचयन्निर्दंशन्पुधि रूपा निजा ररम् ॥’

इत्यत्र चाधरव्यथानिर्माचनारमकविपरीतफलनिष्पाद्यर्थं तद्विदशनात्मा प्रथम उप-  
निबद्ध इति विचित्रमिति न व्याघातालंकारो वाच्यः । नैतैवेति । दृष्टिलक्षणैत्र न पुनर-  
भ्येनेत्यर्थः । तेनेति निष्पन्नस्य वस्तुनरतेनैवोपायेन व्याहनत्वात् । तदेव विभ्रजति—  
विरूपाक्षस्येत्यादिना । अनेनास्य व्यतिरेक विनोत्थानमेव न स्यादिति सूचितम् । तथा हि  
येन केनचिच्चार्त्तिकचिरसाधितं तदप्यन्येनान्यथाक्रियते तदा तस्य तनोऽन्यथाकरणानुपपत्त्या  
वैलक्षण्यमवस्थाभ्युपगन्तव्यम् । अतश्चास्य सर्वात्मना व्यतिरेको निमित्तरव यायात् । पूर्व-  
वदिति आनुरूप्यपरिहारात् । स चैकस्योपायस्यान्यथाकरणत्वेन विवक्षणात् ।

यथासाधितस्येत्यादि । निष्पादित = न किं निष्पादित करने के लिए समाख्यमान । अ-  
द्वितीय व्याघात का विषय है । तत् = उससे निष्पादनकर्ता से । तत्प्रतिद्वन्द्विना  
उसके विरोधी द्वारा = प्रतिद्वन्द्वी या विरोधी इमलिए कि वह निष्पादित वस्तु  
व्याघात करता है । तेनैव = उसी उपाय के द्वारा हम पर बल देना है, नहीं  
तो वैधिव्यातिशय न होगा । अन्यथा क्रियते = उसके विपरीत रूप में बदला जाता है =  
अर्थात् उस [ पूर्ववर्ती रूप ] को दबाकर अन्य वस्तु उत्पन्न करने के द्वारा । ‘इसीलिए  
इमका नाम भी सौगिक ही है’ इस बात को कहते हैं = निष्पादिन । इसीलिए जहाँ निष्पन्न  
वस्तु की विपरीतता नहीं बतलाई जानी वहाँ यह अलंकार नहीं होना क्योंकि निष्पत्ति ही नहीं  
हो पानी तो विपरीत रूप में परिणति ही संभव नहीं होती । इस प्रकार निष्पन्न वस्तु की व्याप्ति  
विपरीतरूपता ही व्याघात है और फल है यदा व्याप्तिकारी व्यक्ति में अतिशय की प्रतीति ।  
इसीलिए [ अलंकाररत्नाकरकार को व्याघात के लिए ] ‘उत्पत्ति और विनाश का उपाय एक ही  
तो व्याघात’—ऐसा मूल नहीं बनाना चाहिये । हम प्रकार तो व्याघातत्व ही निष्पन्न नहीं हो पावगा  
इसी प्रकार [ रत्नाकरकार द्वारा व्याघात के उदाहरण के रूप में उपस्थित ] ।

“अमलिन कुल, सुन्दर शरीर, वेदविद्या में निष्णात मति, पर्याप्त बाहुबल, स्फूर्त श्रेयसं,  
असहिष्णु प्रभुत्व’ ये सब पदार्थ, जो हैं सो, स्वभावतः सुन्दर होने हैं [ अर्थात् इन सबमें से प्रत्येक  
स्वतः सुन्दर होता है ] इन [ में ] प्रत्येक ] में ये मासारिक प्राणी बटो ही सरलता से अत्य-  
धिक दर्प में आ जाते हैं । किन्तु हे राजन् ! आपके लिए ये ही अजुदा हैं ॥”

इस स्थल में ‘कुल आदि जिस प्रकार अन्य लोगों के लिए दर्प के हेतु बनते हैं उस प्रकार  
आपके लिए नहीं, [ आपके लिए तो ] प्रत्युत विनय के हेतु हैं’—इस प्रकार, इस प्रकार के  
गुणों से विशिष्ट अन्य पुरुषों से हम [ प्रस्तुत राजा ] का अन्तरमात्र प्रतिपादित करना अभीष्ट  
है, न कि ‘कुल आदि से उत्पन्न आपका दर्प व्याहृत हो गया’ यह प्रतिपादित करना, जिससे  
यहाँ व्याघातालंकार हो । यदि कहें—‘यहाँ दर्पकारी कुल आदि के दर्पकारित्व का विनाश कथिन

है? इसलिए यह अलंकार यहाँ संभव है, तो यह भी अमान्य है, क्योंकि कुल आदि दर्प या अदर्प के कारण व्यक्ति के स्वभाव के आधार पर बनते हैं, अतः यह एक लौकिक तथ्य का अनुवादमात्र हुआ फलतः यहाँ अलंकारता नहीं रहेगी। यहाँ यह अलंकार तभी संभव है जब 'कुल आदि से तुम्हारे दर्प का विनाश हो गया' ऐसी अर्थयोजना मानी जाय। किन्तु यहाँ निष्पादित हो चुकी वस्तु को व्याहृति नहीं बतलाई जा रही और यह [व्याघात] अलंकार तन्मूलक ही है ऐसा हम बतला चुके हैं।

‘विज्ञानेन मदविषं विनिवर्त्तते भिन्नकारणोत्पन्नम् ।

विज्ञानकारणं यत् तत्र पुनर्भणं को विनिवर्त्तयेत् ॥’

—‘अन्य कारणों से उत्पन्न मदविष ज्ञान से दूर हो जाता है, किन्तु जो विज्ञान से ही उत्पन्न हो उसे बतलाओ, कौन दूर करे।’

[अलंकाररत्नाकरकार द्वारा व्याघातांशहरण के रूप में प्रदत्त] इस [गाथा के अर्थ] में भी जब मद, विज्ञान और विज्ञानेतर कारणों से उत्पन्न होता हुआ बतलाया जा रहा है तब, 'अन्य किसी हेतु से उत्पन्न होने वाला वास्तविक मद तो ज्ञान से दूर जाता है किन्तु जो मद उस [ज्ञान] से उत्पन्न होता है वह किस से हटाया जाए' इस बोध के आधार पर यहाँ अलंकारमाध्यकार द्वारा प्रतिपादित वितर्कालंकार माना जा सकता है क्योंकि यह बोध उस [उक्त वस्तु] की निवृत्ति के हेतु का जो प्ररोह [प्रस्तुतीकरण] तद्रूप है [‘वह किससे हटाया जा सकता है’ इस उक्ति में मद निवृत्ति हेतु का प्ररोह हो रहा है।] अतः यहाँ व्याघातालंकार नहीं है। यहाँ तो ज्ञान जनित मदनिवृत्ति ही वाक्यार्थ बनी हुई है। [इसी प्रकार रत्नाकरकार द्वारा व्याघातालंकार के लिए उदाहृत]—

‘जिसने युद्ध में अपना अधर दौतों से ढस ढस कर शत्रुनारियों के भोगविदुमदलों को प्रिय के दन्तक्षतों की गाढ़ ब्यथा के संकट से छुड़ा दिया।’

इस पदार्थ में भी व्याघात नहीं, विचित्रालंकार है, क्योंकि यहाँ अधरव्यथा से छुटकारेरूपी विपरीत फल की निष्पत्ति के लिए अधरदंशरूपी प्रयत्न उपनिबद्ध किया गया है। तेनव = उसी के द्वारा अर्थात् दृष्टिरूपी साधन के द्वारा ही, न कि किसी अन्य साधना के द्वारा तेन = उसके द्वारा = निष्पन्न वस्तु उसी उपाय से व्याहृत बतलाई गई है। उसी को विनक्त करते हैं—‘विरूपाक्षस्य’ इत्यादि के द्वारा। इससे यह सूचित किया कि व्यतिरेक के बिना इसकी निष्पत्ति ही नहीं हो सकती। क्योंकि किसी के द्वारा कोई कार्य सिद्ध किया गया हो और यदि उसको अन्य व्यक्ति अन्यथा कर डाले तो उससे उसकी विलक्षणता अवश्य ही स्वीकार करनी होगी, नहीं तो अन्यथाकरण ही चरितार्थ न होगा इसीलिए इसमें व्यतिरेक सब प्रकार से निमित्त बनेगा [ही]। पूर्ववद्—पहले के समान अर्थात् आनुरूप्य के अभाव से। वह [आनुरूप्यभाव] यहाँ इसलिए होता कि यहाँ एक ही उपाय दो विरुद्ध परिणाम वाला बतलाया जाता है ॥

[ सर्वस्व ]

प्रकारान्तरेणाप्यर्थं भवतीत्याह—

[ सू० ५३ ] सौकर्येण कार्यविरुद्धक्रिया च ।

‘व्याघात’ इत्येव । किञ्चित्कार्यं निष्पादयितुं संभाव्यमानः कारणविशेष-स्तत्कार्यविरुद्धनिष्पादकत्वेन यत्समर्थ्यते सोऽपि संभाव्यमानकार्यव्याहृति-निवन्धनत्वाद् व्याघातः । कार्यविरुद्धकार्यनिष्पत्तिश्च कार्यपेक्षया सुकरा ।

तस्य कारणस्यात्यन्तं तदानुगुण्यात् । नत्वत्र कार्याभिमतस्य कार्यत्वाभावः । तद्विरुद्धस्यात्र सौकर्येण कार्यत्वात् । अत एव द्वितीयाद्विपमाद्भेदः । तत्र द्वि कार्यस्यानुत्पत्तिरनर्थस्य चोद्गमनम् । इह तु कार्यमकार्यमेव न भवति । तद्विरुद्धस्यानर्थस्य व्यतिरेकिणोऽप्यत्र सुष्ठुकार्यत्वात् । यथा हर्षचरिते राज्यवर्धनं प्रति श्रीहर्षोक्तिषु—

‘यदि बाल इति सुतरामपरित्याज्योऽस्मि, रक्षणीय इति भवद्भुज-  
पञ्जरमेव रक्षास्थानम्’ इत्यादि ।

अत्र राज्यवर्धनेन श्रीहर्षप्रस्थाने कार्यं बाल्यरक्षणीयत्वादि कारणत्वेन यत्संभावितं तत्प्रत्युत प्रस्थानकारणत्वेन सुकरतया श्रीहर्षेण राज्यवर्धनस्य समर्थितमिति व्याघाताख्योऽलङ्कारः ।

यह अलङ्कार दूसरे प्रकार से भी होता है । यही बनलाने हैं—

[ सू० ५३ ] सौकर्यं के कारण कार्यविरुद्धक्रिया [ भी ] ।

‘व्याघात’ इसकी अनुवृत्ति पूर्वसूत्र से प्राप्त है ही । किसी कार्य को निष्पन्न करने के लिए समाहित किसी कारण का उसी कार्य के विरुद्ध कार्य के निष्पादक के रूप में समर्थन किया जाए तो वह भी सम्भाव्यमान कार्य की व्यावर्तित वा हेतु होने से व्याघात होता है । यहाँ [ प्रस्तुत ] कार्य के विरुद्ध कार्य की निष्पत्ति [ प्रस्तुत ] कार्य की अपेक्षा यह बनलाकर सरल बालाई जानी है कि उस [ प्रस्तुत कार्य ] का कारण उस [ विरुद्ध कार्य ] के अत्यन्त अनुकूल है । ऐसा नहीं कि यहाँ कार्यरूप से अभिमत वस्तु में कार्यत्व का अभाव बनलाया जाता है । क्योंकि यहाँ उस [ प्रस्तुत कार्य ] के विरुद्ध कार्य तो सुखपूर्वक किए जाने योग्य कार्य के रूप में ही प्रतिपादित किया जाता है । इसीलिए द्वितीय विषय से इसका भेद है । वहाँ जो है सो, कार्य की तो उत्पत्ति नहीं रहती ऊपर से अनर्थ [ रूपी अकार्य ] की उत्पत्ति और रहती है । जबकि यहाँ कार्य तो अकार्य तक नहीं हो पाता, उसके विरुद्ध व्यतिरेकी [ अधिक सबल ? ] अनर्थ भी यहाँ सुखपूर्वक करने योग्य कार्य के रूप में ही प्रस्तुत रहता है । जैसे हर्षचरित में राज्यवर्धन के प्रति श्रीहर्ष की [ इन ] वक्तियों में—

‘यदि [ आप मुझे युद्ध में यह समझकर नहीं ले जा रहे हैं कि मैं ] बालक हूँ तब तो और भी अपरित्याज्य हूँ, रक्षणीय हूँ तो रक्षास्थान आपका ही मुजपञ्जर है’ इत्यादि [ हर्षचरित उच्छ्वास-  
६ पृ० १८४ नि० सस्क० ] ।

यहाँ राज्यवर्धन द्वारा श्रीहर्ष के अप्रस्थान [ साथ न ले जाने ] रूपी कार्य में बाल्य और रक्षणीयत्व आदि जो कारण सोचे गए हैं वहाँ को श्रीहर्ष द्वारा राज्यवर्धन के प्रति सुकर और लडते प्रस्थान में ही कारण प्रतिपादित किया जा रहा है । इस कारण यह व्याघात नामक [ ही ] अलङ्कार है ॥

### विमर्शिनी

प्रकारान्तरेणेति प्रतीतिभेदात् । अयमिति व्याघात । तमेवाह—सौकर्येणेत्यादि । एतदेव व्याचष्टे—किंचिदित्यादिना । सम्भाव्यमान इति येनचिदन्वेन । तत्कार्येण । तत्र तत्कार्यम्, निष्पादयितुं प्रयत्नम् । अत एवात्र प्रयमाद्याघाताद्भेदः । तत्र द्वि येनयेनचिदुपायेन निष्पादितं सदस्तु तथैवान्येनान्ययाक्रियत इत्युक्तम् । इह तु किंचिन्नित्यादयितुं सम्भाव्य-

मानस्य कारणस्य तद्विरुद्धनिष्पादकत्वेन समर्थनम् । तद्विरुद्धनिष्पत्तेश्च सौकर्यं किमुक्त-  
मित्याशङ्क्याह—कार्येत्यादि । तदानुगुण्यादिति कार्यविरुद्धानुगुणत्वात् । न त्विति । अपि  
तु दुष्करत्वेन कार्यमित्यर्थः । अनेनाप्यस्य प्रथमाद्याघाताद्भेदः सूचितः । इह हि किञ्चि-  
न्निष्पादयितुं संभाव्यमानः कारणविशेषः सौकर्येण तद्विरुद्धनिष्पादकत्वेन समर्थ्यते ।  
तत्र पुनरुपायविशेषविवक्षापरिहारेण कर्तुरेव पक्षपतिपक्षभावमाश्रित्य तथास्वोपनिबन्धः ।  
अत एवेति । द्वयोरपि कार्यत्वसंभवात् । अनर्थेत्यनेनापि विषमादस्य भेद एवोपोद्धृतः ।  
संभावितमिति । तथा समर्थितमिति । अनेन प्रथमव्याघातोदाहरणत्वमस्य निरस्तम् । तत्र  
हि द्वयोरपि कार्ययोर्निष्पत्तिर्विवक्षिता । वात्यस्य तु कार्यद्वयजननेऽपि सामर्थ्यं किंतु  
प्रस्थानजनने सौकर्यम् । अत एवात्र संभाव्यमानस्य कार्यस्य व्याहृतत्वम् । यथा वा—

‘यत्सशब्दमिति कामविमर्दे नूपुरं परिहरन्ति तरुण्यः ।

तद्वभार कतरापि विदग्धा रोपनाय निजकण्ठरुतानाम् ॥’

अत्र संभाव्यमानं कार्यं परिहारः । तस्य व्याहृतिर्धारणम् । उपायस्य सुकरदुष्करत्वेन  
विशिष्टत्वाद्वा तत्र न प्रथमव्याघातोदाहरणत्वम् । यथा च नायमर्थो वक्रोक्तेर्भेदस्तथा वक्रो-  
क्तावेव वक्ष्यामः ।

प्रकारान्तरेण = दूसरा प्रकार इतलिय कि प्रतीति में भेद है । अयम्=यह व्याख्यान । उसी का  
स्वरूप बतलाते हैं—सौकर्येण इत्यादि । इसी की व्याख्या करते हैं—किञ्चित् इत्यादि के द्वारा ।  
संभाव्यमान अर्थात् किसी अन्य व्यक्ति के द्वारा । तत्कार्यं=इसमें कर्मभारय समाप्त है,  
तत् = वह अर्थात् निष्पन्न करने के लिए शुरु कार्य । इसीलिय इसका प्रथमव्याघात से  
अन्तर है । उसमें, यह कहा जा चुका है कि ‘जिस उपाय से किसी व्यक्ति के द्वारा वस्तु  
निष्पादित होती है उसी उपाय से दूसरे के द्वारा वही वस्तु अन्यथा बना दी जाती है’ जब कि  
यहाँ वस्तु निष्पन्न नहीं बतलाई जाती, उसकी निष्पत्ति की संभावना भर बतलाई जाती है, साथ  
ही उसका निष्पादक जो कारण रहता है उसमें [ भी ] विरुद्धकार्य के निष्पादन की क्षमता भर  
बतलाई जाती है । उससे कार्य की निष्पत्ति नहीं दिखलाई जाती अतः रत्नाकरकार का द्वितीय  
व्याघात को प्रथम से भिन्न न मानना ठीक नहीं । [ यहाँ ] प्रस्तुत कार्य के विरुद्ध कार्य की निष्पत्ति  
में सुकरता क्यों बतलाई गई है’ ऐसी शंका कर, कहते हैं—कार्य इत्यादि । तदानुगुण्यात् = उसके  
प्रति अनुरूपता अर्थात् कार्य विरुद्ध कार्य के प्रति अनुरूपता । न तु-न कि = अपितु दुष्कर होने से  
इसे कार्य माना जाता है । इससे भी इसका प्रथम व्याघात से अन्तर बतलाया । यहाँ, जो है,  
कोई कारण कुछ कार्य करने में समर्थ [ भर ] समझा जाता है और उसी में सुकरता के साथ  
विरुद्ध कार्य करने की क्षमता प्रतिपादित कर दी जाती है । इसके विपरीत उस [ व्याघात ] में  
उपायगत विशेषता की विवक्षा नहीं रहती, केवल कर्ताओं में पक्ष और प्रतिपक्ष का भाव  
परस्पर विरोध ] देखकर वही पक्ष प्रतिपक्षभाव प्रतिपादित किया जाता है । अतएव = दोनों  
में कार्यत्व संभव होने से । अनर्थ—इसके द्वारा भी इसका विषम से भेद ही दृष्ट किया गया ।  
संभावितम् से लेकर समर्थितम् तक के ग्रन्थ द्वारा [ हर्षचरित के ] उक्त उदाहरण के प्रथम  
व्याघात के उदाहरण होने की संभावना दूर की । उसमें दोनों ही कार्यों की निष्पत्ति विवक्षित  
रहती है । वात्य, जो है वह, तो दोनों ही कार्यों में समर्थ है किन्तु प्रस्थापन की निष्पत्ति उससे  
अधिक सुकर है । इसीलिय यहाँ जो व्याहृति है वह संभाव्यमान कार्य की है [ निष्पन्न कार्य की  
नहीं ] । इसका दूसरा उदाहरण यह है—

‘तरुणियों जिस नूपुर को सुरत संवर्ष में बनने के कारण हटा दिया करती हैं उसी को किसी  
वदन्ध तरुणी ने [ विपरीत रति में ] अपने कण्ठ का रव छिपाने के लिय जान बूझकर पहना ।’



यहाँ ममाव्यमान कार्य है परिहार, और उसकी व्याप्ति है धारण। यहाँ उपाय में सुकरता और दुःकरता है [ न पहनना अर्थात् पहने हुए नूपुर को उतारना जितना कठिन है उमने पहने रहना उतना ही सरल है ] अतः वहाँ उपाय विशेषता लिए हुए है, फलतः यह प्रथम व्यापात का उदाहरण नहीं हो सकता। [ उपाय में विशेषता रहने के कारण यदि यह प्रथम का उदाहरण नहीं हो सकता तो कार्यों की निष्पत्ति ही जाने के कारण यह द्वितीय व्यापात भी कैसे हो सकता है यदि एक अश प्रथम व्यापात का इसमें नहीं तो द्वितीय व्यापात भी इसमें समग्र नहीं है उमके में एक पक्ष का यहाँ अभाव है ] इसी प्रकार 'यह स्थल वक्रोक्ति का भी उदाहरण नहीं है' यह हम आगे वक्रोक्ति के ही प्रकरण में बतलावेंगे।

विमर्शः—

इतिहास

[ १ ] प्रथम व्यापातः—

व्यापात नाम तो पहले पहल रुद्र में ही मिलता है किन्तु उसको यहाँ के प्रथम व्यापात का स्वरूप देने का श्रेय मम्मट को है। रुद्र ने व्यापात नाम से जिस अलङ्कार का विवेचन किया है वह विशेषोक्ति से संबंधा अभिन्न है। विशेषोक्तिप्रकरण में इसका विवेचन उद्धरणपूर्वक किया जा चुका है। मम्मट में इसका विवेचन इस प्रकार है

‘यद् यथा साधित केनाप्यपरेण तदन्यथा ।

तथैव तद् विधीयेन स व्यापात इति स्मृतः ॥’

येनोपायेन यद् एकेनोपकथित तस्यान्येन निगीयुतया तदुपायकमेव यदन्यथाकरणं स मार्ग वस्तुव्याप्तिहेतुत्वाद् व्यापातः ।’

—‘जो कार्य एक किसी व्यक्ति के द्वारा जिस प्रकार अर्थात् जिस उपाय से किया गया है उसका अन्य व्यक्ति के द्वारा उसा उपाय से उलटा कार्य कर देने से सिद्ध वस्तु की व्याप्ति का हेतु कथित रहने से अलंकार व्यापात कहलाता है। उदाहरण = ‘दृशा दग्ध०’ पद्य।

( २ ) द्वितीय व्यापात इदं प्रथमतया सर्वत्र ही मिलता है। धामद से लेकर मम्मट तक वे आचार्यों में से किसी में यह नहीं मिलता।

परवर्त्ता आचार्यों में—

शोभाकर द्वारा किए गए प्रथम व्यापात के लक्षण तथा उदाहरण विमर्शिनी में उद्धृत है द्वितीय व्यापात को उन्होंने प्रथम व्यापात में ही अन्तर्भूत माना है। उन्होंने स्पष्ट लिखा है—

“—‘बाल इति सुतरामपरित्याज्योऽस्मि, रक्षणीय इति भवदुसुत्रपञ्चमेव रक्षास्थानम्’ इत्यादं शोर्हर्षस्य विज्ञेयं प्रस्थित ज्ञयासां राज्यवर्धनं प्रति उक्ती राज्यवर्धनेन बालत्वाद्यप्रस्थाननिमित्तमावित्तम् नेन प्रत्युत सौकर्येन प्रस्थाननिमित्ततया समर्थितम् इति ‘सौकर्येण कार्यविरुद्धं च’ इति भेदान्तरं व्याघातस्येति न वाच्यम्। तथाहि यदि प्रस्थानरूप विरुद्धमेव कार्य वास्त्यादिना क्रिय तदयमेव व्यापानो, न भेदान्तरम्, प्रस्थानाभावनिमित्तात् प्रस्थानोत्पत्तौ विनाशकारणाद्युपपत्तेः अथ चेत् प्रस्थानाप्रस्थानयोर्द्वयोरपि विरुद्धयोर्ज्ञयादिकस्य कारणात् यद्भावादप्रस्थाने वास्त्यादेरनैकान्तिकत्वं विवक्ष्यते तर्हि एकस्य कारणस्य परस्परविरुद्धकार्यद्वयजननादचित्त्यालङ्कारेऽप्यान्वर्त्ता इति व्यापातस्य भेदः ।’ अर्थात्

शोर्हर्ष की विजय के लिए प्रस्थित किन्तु स्वयं को साथ न ले जा रहे बड़े भाई राज्यवर्धन । प्रति ‘बाल हूँ इसलिए तो और भी अपरित्याज्य हूँ, रक्षणीय हूँ तो रक्षास्थान आपका ही सुत्रपञ्च है’ इत्यादि वक्तियों में राज्यवर्धन ने बालत्वादि को साथ न ले चलने का कारण सौचा, उस

विरुद्ध, उस [ हर्ष ] ने सुकरता प्रतिपादित कर उन्हें साथ ले चलने में ही कारण प्रतिपादित किया। इस प्रकार यहाँ 'कार्यविरुद्ध कार्य में सुकरता भी' [ इस लक्षण के अनुसार ] यह व्याघात का एक अन्य भेद है यह [ जो सर्वस्वकार ने कहा है वह ] नहीं कहना चाहिए। क्योंकि यदि बाल्यादि कारण के द्वारा प्रस्थानरूपी विरुद्धकार्य ही किया जा रहा है तो यही [ प्रथम ] व्याघात यहाँ है, अन्य भेद नहीं क्योंकि यहाँ जो वस्तु [ बाल्यादि ] प्रस्थानामाव का निमित्त है उससे प्रस्थान की उत्पत्ति हो रही है अतः विनाश के कारण उत्पत्ति प्रतिपादित की जा रही है। यदि बाल्यादि कारण में यह बतलाकर कि 'वे प्रस्थान और अप्रस्थान इन दोनों परस्पर विरुद्ध कार्यों में कारण हैं' अप्रस्थानरूपी कार्य के प्रति अनिश्चितता प्रकाशित करना विवक्षित है तो 'एक कारण के द्वारा परस्पर विरुद्ध दो कार्य उत्पन्न करने से' इस व्याघात का अविनयालंकार में अन्तर्भाव हो जाएगा। इसलिए ऐसे व्याघात का भेद मानना ठीक नहीं।

यहाँ रत्नाकरकार कार्य की निष्पत्ति मान रहे हैं जब कि मूल में केवल निष्पत्ति की संभावना मात्र प्रतिपादित है। इसी कारण विमर्शिनीकार ने इतका खण्डन किया है। वे उनके अपने शब्द हैं। उन्हें बाण के शब्दों के रूप में विना स्पर्शीकरण के छाप दिया गया है।

अप्यप्यदीक्षित—ने दोनों व्याघातों का निरूपण इस प्रकार किया है—

[ १ ] 'स्याद् व्याघातोऽन्यथाकारि तथाकारि क्रियेत चेत् ।'

[ क ] जो जैसा कार्य निष्पन्न करता हो उसे उससे भिन्न कार्य करने वाला बना दिया जाय तो [ प्रथम ] व्याघात नामक अलंकार होता है। यथा—

'यैर्जगत् प्रीयते इन्ति तैरेव कुसुमायुधः ।'

संसार जिन [ पुष्पों ] से प्रसन्न होता है कुसुमायुध [ काम ] उन्हीं से प्रहार करता है।'

[ ख ] इसी में कहीं प्रतिद्वन्द्विता का भाव विवक्षित होता है। यथा 'दृष्ट्वा दग्धं' पद्य में।

[ २ ] 'सौकर्येण निबद्धापि क्रिया कार्यविरोधिनी ।' सुकरता के आधार पर उपनिबद्ध कार्य-विरोधिनी क्रिया भी व्याघात कहलाती है। उदाहरण हर्षचरित के उक्त उद्धरण का ही संक्षेप—

'दया चेद् बाल इति मय्यपरित्याज्य एव ते ॥'

इसका स्पर्शीकरण दीक्षित ने इस प्रकार किया है—

'जैत्रयाश्रोन्मुखेन राशा [ राज्यवर्धनेन ] युवराजस्य राज्य एव स्थापने यत् कारणत्वेन संभावितं बाल्यं तत् प्रस्तुत तद्विरुद्धस्य सहनयन्तस्यैव कारणतया युवराजेन परित्यागस्यायुक्तत्वं दर्शयता समर्थ्यते ।'

पण्डितराज जगन्नाथ ने दोनों ही व्याघात स्वीकार कर लिए हैं, किन्तु उन्हीं दोनों का यह एक ही लक्षण बनाया है—

'यत्र ह्येकेन कर्त्ता येन कारणेन कार्यं किञ्चित्प्रिष्पादितं निष्पिपादयिष्यितं वा तदन्वयेन कर्त्ता न तेनैव कारणेन तद्विरुद्धकार्यस्य निष्पादनेन निष्पिपादयिषया वा व्याहन्येत स व्याघातः ।'

—'जहाँ कहीं, किसी एक कर्त्ता के द्वारा जिस कारण से किसी कार्य की निष्पत्ति की गई हो या निष्पत्ति वरना अभीष्ट हो, उसी का उससे भिन्न कर्त्ता के द्वारा उसी कारण से उसके विरुद्ध कार्य की निष्पत्ति कर या निष्पत्ति की इच्छा कर व्याघात किया जाता है वहाँ अलंकार भी व्याघात नामक ही होता है।'

पण्डितराज ने 'दृष्ट्वा दग्धं' पद्य में सर्वस्वकार द्वारा प्रस्तुत व्यतिरेक की संभावना पर विचार किया है और सर्वस्व का समर्थन किया है।

विश्वेश्वर ने भी 'दृशा दग्ध०' पद्य पर सर्वस्वकार का ही समर्थन किया है। किन्तु वे व्याघात के दूसरे भेद पर चुप हैं। उनका व्याघातलक्षण इस प्रकार है—

‘कार्यान्तरहेतुनयान्घेनाभिमताद् विरुद्धकार्यं चेत् ।

क्रियते परेण तस्माद् व्याघातोऽय समाख्यात ॥’

‘अन्य व्यक्ति द्वारा अन्य कार्य का हेतु माने गए पदार्थ में किसी अन्य के द्वारा यदि उसके विरुद्ध कार्य किया जाता है तो वह व्याघात कहलाना है ।’

हमी का न्याय की भाषा में उन्होंने ऐसा परिष्कार किया है—‘अभिमतकार्यनिरूपित-कारणवत्त्वेन न्यविवक्षितार्थस्य तद्विरुद्धार्थनिरूपितकारणताप्रयत्नं केनचित् प्रतिपाद्यते स व्याघात, व्याघ्न्येन अन्याभिमनकार्यकारणभावोऽनेनेति व्युत्पत्तेः ।’

श्रीविद्याचक्रवर्ती की निम्नोक्त्यायंकारिका हम पर यह है—

‘यथा साधनमेकेन तथैवा-येन बाधनम् ।

व्याघानोऽय विभक्तस्य सौकर्येण क्रिया यथा ॥’

पाठान्तर—( १ ) निर्णयसागरीय प्रति में द्वितीय व्याघात का सूत्र ‘सौकर्येण कार्यविरुद्ध-क्रिया च व्याघात’ इस प्रकार छापा है। इसमें वृत्ति में ‘व्याघात इत्येव’ नहीं मिलता। काशी सस्करण में ‘व्याघात इत्येव’ सूत्र के ही साथ उार दिया गया है। रत्नकर, विमर्शिनी तथा सजीविनी में उद्धृत पाठ के अनुसार सूत्र ‘व’ पर समाप्त हो जाता है। चाहिए भी वही। अनु-वृत्ति विधि में सूत्ररचना का जो क्रम इसके पूर्व के सूत्रों में मिलता है उसके अनुसार ‘च’-इस समुच्चापक अन्वय द्वारा अलङ्कार के नाम की अनुरक्ति हो जाने पर उमका कथन निरर्थक ही नहीं पुनरुक्तिदोष में दूषित भी है।

( २ ) ‘श्रीदर्पाप्रस्थाने’ के स्थान पर निर्णयसागरीय प्रति में श्रीदर्पप्रस्थापने अर्थात् नञ् से रहित पाठ है। छपी हुई अन्य प्रतियों में नञ् का अभाव समान है, केवल कु० जानकी के सस्करण में शेष सस्करणों के प्रस्थापन के स्थान पर प्रस्थान पाठ ही अपनाया गया है।

‘प्रत्युत प्रस्थान०’ के स्थान पर निर्णयसागर की प्रति में भी ‘प्रत्युता प्रस्थापन’ पाठ छापा है और यही डॉ० रामचन्द्र द्विवेदी के संस्करण में। यर्थात् अनुवाद में श्रीद्विवेदी ‘प्रस्थान’ पाठ यहाँ भी मानते हैं और अनुपदोक्त स्थल में भी। अनन्तशयन में भी नञ्घटित पाठ ही है।

रत्नाकर के पूर्वोद्धृत उद्धरण में यहाँ प्रस्थापन शब्द के स्थान पर प्रस्थान शब्द ही है और श्रीविद्याचक्रवर्ती की सजीविनी के दोनों छापों में भा। इन दोनों में ‘नञ्’ की स्थिति भी बैसी ही है जैसी हमने मानी है। विमर्शिनी में भी नञ् की स्थिति तो ठीक है कि तु प्रस्थान के स्थान पर प्रस्थापन पाठ भी मिलता है।

अप्ययदोक्षिन के पूर्वोक्त उद्धरण से पाठान्तरविचार को एक नई दिशा मिलनी है। उन्होंने न तो प्रस्थापन शब्द दिया है और न प्रस्थान। उनका शब्द है ‘स्थापन’। लगता है कि मूलपाठ दो प्रकार का माना जाता रहा है—

१—‘श्रीदर्पस्य स्थापने’, ‘प्रत्युतास्थापने’ तथा

२—‘श्रीदर्पस्याऽप्रस्थाने’, ‘प्रत्युत प्रस्थाने’ ।

परवर्ती लिपिकों ने कदाचित् इन्हें ही मिश्रित कर दिया, किन्तु नञ् की स्थिति में अन्तर नहीं किया। इस प्रकार ‘श्रीदर्पस्य प्रस्थापने’ तथा ‘प्रत्युता प्रस्थापने’ पाठ चल पड़ा।

मूल हर्षचरित में राज्यवर्धन के आदेश-वाक्य में केवल 'स्या'-धातु का प्रयोग है 'तिष्ठन्तु सर्वे त्वदैव सार्धम्' । इससे 'स्यापना'—पक्ष को बल मिलता है । प्रस्थान शब्द का अर्थ साथ चलना नहीं होता और श्रीहर्ष ने प्रार्थना की थी युद्ध के लिए साथ-साथ चलने की ही । इसी प्रकार प्रस्थापन शब्द का अर्थ भी 'स्थापन' नहीं होता यद्यपि प्रसिद्ध शब्द का सिद्ध अर्थ होता है ।

ये दोनों पाठ रत्नाकरकार के समय तक ही चल पड़े होंगे । दोनों में 'प्रस्थान'—पदघटित पाठ ही अधिक प्रचलित प्रतीत होता है और ग्रन्थसंगति में वह वाक्य भी नहीं है, अतः हमने इसीको मूल मान लिया है । डॉ० द्विवेदी की पाद टिप्पणी से विदित होता है कि पूना की तीन पाण्डु-प्रतियों में भी यही पाठ है । इन पाण्डु-प्रतियों में से दो तो काश्मीर देश की शारदालिपि की ही प्रतियाँ हैं ।

( ३ ) 'बाल इति' के पूर्व आक्षेप प्रकरण में 'केवलम्' तथा यहाँ जो 'यदि' शब्द जुड़े हुए हैं वे सर्वत्वकार के शब्द हैं वाण के नहीं । मूल हर्षचरित में वे नहीं मिलते ।

### विमर्शिनी

एतदुपसंहरन्नन्यद्वतारयति—एवमित्यादिना ।

इस [ विरोधमूलक अलंकारों ] के प्रकरण का उपसंहार करते और दूसरे प्रकरण की अवतरणिका प्रस्तुत करते हैं—

### [ सर्वस्य ]

एवं विरोधमूलानलंकारान्निर्णाय शृङ्खलाबन्धोपचिता अलंकारा लक्ष्यन्ते ।  
तत्र—

[ सू० ५४ ] पूर्वस्य पूर्वस्योत्तरोत्तरहेतुत्वे कारणमाला ।

यदा पूर्वं पूर्वं क्रमेणोत्तरमुत्तरं प्रति हेतुत्वं भजते तदा कारणमालाख्यो-  
ऽयमलंकारः । यथा—

'जितेन्द्रियत्वं विनयस्य कारणं गुणप्रकर्षो विनयाद्वाप्यते ।

गुणप्रकर्षेण जनोऽनुरज्यते जनोऽनुरागप्रभवा हि संपदः ॥'

कार्यकारणक्रम एवात्र चारुत्वहेतुः ।

इस प्रकार विरोधमूलक अलंकारों का निर्णय किया । अब शृङ्खलाबन्ध के अनुरूप अलंकारों के लक्षण प्रस्तुत करते हैं । उनमें —

[ सू० ५४ ] पूर्व-पूर्व के उत्तर-उत्तर के प्रति हेतु होने पर कारणमाला ॥

जब पूर्व-पूर्व के पदार्थ उत्तर-उत्तर के पदार्थों के प्रति हेतु बनते हैं तब कारणमाला नामक अलंकार होता है । यथा—

'जितेन्द्रियता विनय का कारण है । विनय से प्राप्त होता है गुणप्रकर्ष । गुणप्रकर्ष से समाज अनुरक्त होता है और संपत्ति, जो है वह, जनानुराग से ही उत्पन्न होती है ।'

यहाँ चारुत्वहेतु कार्यकारणक्रम ही है ।

विमर्श—संबन्धकार ने शृङ्खलाबन्ध में चार अलंकारों की गणना की है कारणमाला, एकावली, मालादीपक और सार । उन्होंने इनके लक्षण इसी क्रम से दिए हैं । रत्नाकरकार ने सर्वत्वकार

की इस मान्यता का खण्डन किया है और मूल अलङ्कार शृङ्खला को ही मानकर इनमें से प्रथम तीन अलङ्कारों को शृङ्खलाकार के भेद माना है स्वतन्त्र अलङ्कार नहीं। विमर्शनीकार ने रत्नाकर के खण्डन का निराकरण कर सर्वस्व का समर्थन किया है। हम पहले रत्नाकर का शृङ्खलाविवेचन प्रस्तुत करते हैं—

[ सूत्र ] 'उत्तरोत्तरस्य पूर्वपूर्वानुबन्धित्वे विपर्ययो वा शृङ्खला ॥'

[ वृत्ति ] उत्तरोत्तरस्याश्रयत्वादिना पूर्वं पूर्वं प्रति पूर्वस्य पूर्वस्योत्तरोत्तर प्रति वा सापेक्षत्वं शृङ्खला ।

अत्र ( १ ) पूर्वस्य पूर्वस्योत्तरोत्तरहेतुकत्वे कारणमाला, तथा ( २ ) यथापूर्वं परस्य विशेषण-तया स्थापनापोद्देशेन एकावली ( ३ ) पूर्वस्योत्तरोत्तरगुणावदत्वे मालादीपकमिति प्रथम शृङ्खलावन्धेना-न्यैरलङ्कारा लक्षणा, तेषु च शृङ्खलावपरिहारण प्रत्येक न विच्छित्तविशेषोऽस्ति येनालङ्कारभेदः स्यात् । यदि च कार्यकारणविशेषणविशेष्यभावादिविशेषाश्रयणेन भेदेनाभिधानम्, तर्हि उत्तरोत्तर-माधाराधेयता-स्वस्वामित्वादिसम्बन्धावलम्बनेन शृङ्खलाया बहवोऽलंकारा उपसख्येयाः प्रसज्येरन् । अत इह लक्ष्यव्याप्यर्थं शृङ्खलैव लक्षणा । अस्यां महाविषयायां तेषामन्तर्भावोपपत्तेः ।

अथ च मान्यारूपकवदेकरिमन् यत्र बहूनां योगपद्येन स्थितिस्तत्र मालाश्च बहुमुच्यन्ते, इह तु तदमात्रं कारणमालाभिधानमसमजसमेव ।

यद्यपि शृङ्खलादय उपमाध्वान्तरभेदा इति, तदयुक्तम् । उपमादिव्यतिरेकेण कार्यकारणभावाव-बलम्बनेनापि शृङ्खलायाः समवात् । अतश्चोपमादिशृङ्खलाभिधौ विषय उपमादीनां शृङ्खलाया सह संकीर्णत्वम्, न तु उपमादिभेदत्वम् । यथा—

'शैल इव जलधराणां शैलानामिव जलनिधि पृथिवीनाथ ।

जलधोनामिव पाताल सत्पुरुषाणां एव नित्यम् ॥'

—'परवर्ती पदार्थों की पूर्ववर्ती पदार्थों के प्रति अथवा पूर्ववर्ती पदार्थों की परवर्ती पदार्थों के प्रति आश्रयता आदि के लिए सापेक्षता शृङ्खला नामक अलङ्कार कहलानी है ।'

'इसमें शृङ्खलावन्ध से [ १ ] पूर्व पूर्व का उत्तर-उत्तर की कारण बनाने में कारणमाला, पूर्व-पूर्व के प्रति उत्तर-उत्तर के विशेषण होने में एकावली, तथा [ ३ ] पूर्व पूर्व के उत्तर-उत्तर के प्रति गुणावद होने में मालादीपक, ये तीन अलंकार अन्य आचार्य [ सर्वस्वकार ] ने बतलाए हैं । इनमें से प्रत्येक में शृङ्खलावन्ध को छोड़कर चारुत्व का कोई अन्य कारण नहीं है जिससे इन्हें भिन्न-भिन्न अलङ्कार माना जाए । यदि 'कार्यकारणभाव, विशेष्यविशेषणभाव' आदि सम्बन्धगत विशेषताओं को लेकर अलंकारों को अलग अलग बतलाया जा रहा हो तो आधारार्थेयभाव, स्वस्वामिभावादि सम्बन्धों को लेकर शृङ्खला में और भी भेद गिनने पर जायेंगे । इसलिये समाहित सभी भेदों को अपना लेने के लिए केवल एक शृङ्खला का ही लक्षण अलङ्कार रूप से बना दिया गया । यह अश्रयण व्यापक है, अतः इनमें सभी लक्ष्यों का अन्तर्भाव हो सकता है ।

इसी प्रकार मालावन्ध भी वहाँ मानना उचित है जहाँ अनेक पदार्थों की स्थिति एक में हो हो और वह भी एक साथ हो । यहाँ स्थिति वैसी नहीं है, अतः कारणमाला आदि नाम निराधार हैं । उपमा आदि के जो शृङ्खला आदि अन्तर्गत भेद बतलाए गए हैं, वे भी ठीक नहीं हैं क्योंकि शृङ्खला तो उपमादि से रहित केवल कार्यकारणभाव आदि के आधार पर भी हो सकती है । अतः उपमाशृङ्खला आदि नाम से माने गए स्थलों में भी उपमा आदि के साथ शृङ्खला का संकर मानना चाहिए, न कि उपमा आदि का भेद । यथा—

‘जैसे मेरों के आधार पर्वत होते हैं, पर्वतों के आधार समुद्र और समुद्र के आधार पाताल वैसे ही सत्पुरुषों के आधार है राजन् ! आप हैं ।’ यहाँ प्रथम तीन चरणों में आशुषाश्रयिभाव-मूलक, शृङ्खला है और उसके आधार पर निम्नत्र तृतीय चरण में उपमा ।

### विमर्शिनी

अलङ्कारा इति न पुनः शृङ्खलैवैकोऽलंकारः । एवं हि साधर्म्यमप्येक एवालंकारः स्यात् । न ह्युपमादिषु साधर्म्यपरिहारेण प्रत्येकं कश्चिद्विच्छित्तिविशेषसंभवः येनालंकार-भेदः स्यात् । एवं विरोधोऽप्येक एव वाच्यः । न हि विभावनादीनां विरुद्धत्वादन्यः कश्चिद्विशेषः । किमपरम् , एवं सप्तानामथानामेवालंकाराणां लक्षणप्रणयनप्रसङ्गः । अथोप-मादीनामपि साधर्म्यादावन्तरोऽस्ति विशेष इति चेत् तर्हि कारणमालादीनामपि शृङ्खला-बन्धोपचित्रितत्वेऽपि वाच्यमागनीत्या कार्यकारणविशेषणविशेष्यभावाद्यात्मास्वेवावान्तरो-ऽपि विच्छित्तिविशेषः येनोपमादिषु पृथगेवैपामलंकारत्वं युक्तम् । एवं हि शृङ्खलायामवान्तर-विच्छित्तिविशेषसंभवेऽप्यन्यालंकारोपसंख्यानं प्रसज्यत इति चेत्, न, यद्यस्ति विच्छि-त्यन्तरं तदस्त्वलंकारान्तराऽपसंख्यानं, को दोषः । प्रत्युताभासमानस्य विशेषस्यापह्नवो न वाच्यः । तद्यथास्थित एवालंकारभेद आश्रयणीयः । तस्माद् ‘उत्तरोत्तस्य पूर्वपूर्वा-नुबन्धित्वे विपर्यये वा शृङ्खलेति न वाच्यम् ।

तत्र तावत्कारणमालामाह—पूर्वत्यादि । कारणमालास्योऽयमिति मालान्यायेन बहूनां कारणानां योगपक्षेनावस्थानात् । अत एवाह—कार्यकारणकम प्रवेति न पुनः केवलमेव शृङ्खलात्वमित्यर्थः । अत एव कारणमालेत्यस्या अन्वर्थमभिधानम् । एवमन्वयेभ्यः शृङ्खलाबन्धो-पचित्रितेभ्योऽलङ्कारेभ्योऽस्या विपयविभागः । न हि तेषु कार्यकारणकम एव चारुत्वहेतुः । विशेषणविशेष्यभावादेवावान्तरस्य विच्छित्तिविशेषस्य संभवात् । कश्चिद्विपर्ययेणापि भवति । यथा—

‘माणो गुणेहि जाभइ गुणा वि जाअंते सुअणसेवाह ।

विमलेण सुअअप्सरणे सुअणसेवह उट्ठाणं ॥’

अत्र हि पूर्वस्योत्तरोत्तरं कारणतयोपनिबद्धम् । एवमुत्तरत्रापि विपर्ययोऽभ्युद्यः ॥

अलंकाराः = अलंकार शब्द में बहुवचन के प्रयोग का अर्थ यह कि प्रत्येक अलंकार स्वतन्त्र अलंकार है, न कि सब मिलकर एक शृङ्खला नामक अलंकार हैं । ऐसा मानने पर तो [ उपमा आदि को अलंकार न मानकर ] एक साधर्म्य को ही अलंकार मानना होगा, उपमा आदि अलंकारों में से प्रत्येक में साधर्म्य के बिना कोई चमत्कार थोड़े ही संभव है, जिससे इन्हें पृथक् पृथक् अलंकार माना जाए । इसी प्रकार विरोध भी एक ही बतलाया जाना चाहिए । विभावना आदि में विरुद्धत्व को छोड़कर कोई अन्य विशेषता नहीं रहती । अधिक क्या, इस प्रकार विचार करने पर तो केवल सात ही अलंकारों के लक्षण बनाने की आपत्ति सामने आती है । यदि कहे कि उपमा आदि में भी साधर्म्य के अतिरिक्त अन्य भी विशेषता रहती है, तो कारणमाला आदि में भी, शृङ्खलाबन्ध की कला रहने पर भी आगे प्रतिपादित किए जाने वाले हेतुओं से कार्यकारणभाव, विशेषणविशेष्यभाव आदि रूप अवान्तर विच्छित्ति स्वीकार करनी होगी, जिससे इनको उपमा आदि के समान पृथक् अलंकार मानना होगा । यदि कहे कि ऐसा मानने पर शृङ्खला में भी अन्य अनेक विशेषताएँ संभव हैं अतः उनके आधार पर अन्य अनेक अलंकारों का भी संग्रह करना पड़ जाएगा, [ और यह एक अवस्था जैसा दोष होगा ], तो ऐसा भी नहीं । क्योंकि यदि अन्य कोई उक्तिप्रकार चारुता से युक्त संभव है तो उसका भी संग्रह स्वतन्त्र अलंकार के रूप में अवश्य हो । इसमें दोष ही क्या ? प्रतीत हो रहे

वैशिष्ट्य का छिपाया जाना ही बन्कि ठीक नहीं। इस प्रकार अलंकारों का जैसा भेद [ सर्वस्व-कार ने ] किया है वैसा ही भेद अपनाना उचित है। और इसीलिए [ स्वयं रत्नाकरकार को ही ] 'उत्तरोत्तर पदार्थ का पूर्व पूर्व पदार्थ के प्रति सापेक्ष होना या इससे उल्टे क्रम से सापेक्षा होना श्रद्धाला कहलाती है-ऐसा लक्षण नहीं करना चाहिए।

[ रत्नाकर वा आंशिक खण्डन कर अब मूलग्रन्थ का स्पष्टीकरण करना आरम्भ करते हैं ]—  
उन [ श्रद्धालामूलक अलंकारों ] में पहले कारणमाला का लक्षण बनाते हैं—पूर्व इत्यादि। कारणमालारस्योऽयम् = इसका नाम कारणमाला है, इसलिये कि इसमें बहुत से कारणों की एक साथ अवस्थिति है जैसी कि माला में होती है। इसीलिए कहा—'कार्यकारणक्रम एव'। यहाँ कार्यकारणक्रम है न कि केवल श्रद्धालात्व ही है इसीलिए 'कारणमाला' यह इसका सार्थक नाम है। इसीलिए श्रद्धालावध के शिल्प वाले अन्य अलंकारों से इस [कारणमाला] का क्षेत्र भी भिन्न है। उन अलंकारों में वास्तव का आधार केवल कार्यकारणभाव ही नहीं होता। क्योंकि वहाँ कार्यकारणभाव के आधार पर भी विशिष्ट चारुत्व की निभत्ति समग्र होती है। कहीं उल्टी स्थिति भी रहती है। यथा— [ रत्नाकर में ही उदाहृत ]

'मानो गुणैर्जायते गुणा अपि प्रायन्ते मुजन्तसेवाया ।

विमलेन सुकृपप्रसरेण मुजन्तसेवाया उत्थानम् ॥'

'मान गुण से उत्पन्न होता है, गुण भी मुजनों की सेवा से उत्पन्न होते हैं। और मुजन्तसेवा का उत्थान होता है पुण्यों के विमल परिष्कार से।'

यहाँ पूर्व पूर्व पदार्थ को उत्तर उत्तर पदार्थ के प्रति कारण बनलाया गया है। इसी प्रकार आगे स्थलों में भी स्वयं सोच लेना चाहिए ॥

विमर्श—कारणमाला-इतिहास

मामह, वामन तथा उद्धट ने इस पर कोई चर्चा नहीं मिलनी। प्रथमतः रुद्र ने इसका निर्वचन किया है। वास्तववर्ग के अलंकारों में वे इसे इस प्रकार उपस्थित करते हैं—

'कारणमाला स्तेय यत्र यथापूर्वमेति कारणताम् ।

अर्थानां पूर्वाथोद्भवतीति सर्वमेवेति ॥ ७।८४ ॥

—'प्रथम प्रथम पदार्थ से उत्तर-उत्तर पदार्थ उत्पन्न होने हैं अन्तःपरवर्ती पदार्थों के प्रति पूर्व पूर्ववर्ती पदार्थ कारण होने के कारण यह अलंकार कारणमाला कहलाता है।

उदा०—'जितेन्द्रियत्व विनयस्य कारणम्०' पद्य का ही रूपान्तर—

'विनयेन भवति गुणवान् गुणवति लोकोऽनुरज्यते सकलः ।

अभिगम्यतेऽनुरक्तेः ससहायो युज्यते लक्ष्या ॥'

—विनय से व्यक्ति गुणवान् बनता है, गुणवान् पर लोग अनुरक्त होते हैं। अनुरक्त लोग साथ देते हैं। भाषियों वाला व्यक्ति लक्ष्मी से युक्त होता है।

मम्मट—मम्मट ने रुद्र का अनुसरण इस प्रकार किया है—

मू० 'यद्योत्तरं चेत् पूर्वस्य पूर्वस्यार्थस्य हेतुता । तदा कारणमाला रवात् ।'

वृ० उत्तरमुत्तरं प्रति यद्योत्तरम् ।

उदा०—'जितेन्द्रियत्वं' पद्य ही।

परवर्ती आचार्यों में से शोभाकर का मत दिया ही जा चुका है। इसमें 'मानो गुणैः' गाथा, जो विमर्शियों में उद्धृत है, द्वारा उत्तर-उत्तर पदार्थ को भी पूर्व पूर्व पदार्थ के प्रति कारण बनलाया गया है। रुद्र, मम्मट सर्वस्वकार का इस ओर ध्यान नहीं है।

अप्यदीक्षित ने रत्नाकर की सूत्र का अनुमोदन किया है और दोनों ही प्रकार की कारणमालाओं के उदाहरण प्रस्तुत किए हैं, यद्यपि इन्होंने रत्नाकरकार के समान कारणमाला को शृङ्खला में अन्तर्भूत नहीं माना है। उनका कारणमाला विवेचन यह है—

‘सुम्फः कारणमाला स्याद् यथा प्राक्प्रान्तकारणैः ।’

—‘पूर्व-पूर्व या उत्तर उत्तर के पदार्थों का उत्तर-उत्तर या पूर्व-पूर्व के पदार्थों के प्रति कारण बनना कारणमालालङ्कार कहलाता है। प्रथम का उदाहरण—

‘नयेन श्रीः श्रिया त्यागस्त्यागेन विपुलं यज्ञः ।’

—‘नय से श्री, श्री से त्याग, त्याग से विपुल यज्ञ।’

द्वितीय का उदाहरण—

‘भवन्ति नरकाः पापात् पापं दारिद्र्यसंभवम् ।

दारिद्र्यमप्रदानेन तस्मात् दानपरो भव ॥’

—‘नरक होते हैं पाप से, पाप होता है दारिद्र्य से, दारिद्र्य होता है दान न देने से। इसलिये दानपरायण बनो।’

पण्डितराज ने पहले शृङ्खला का लक्षण बनाया है और उसके पश्चात् तन्मूलक एक-एक अलङ्कार का। उनका शृङ्खला का लक्षण यह है—

‘पङ्क्तिरूपेण निबद्धानामर्थानां पूर्वपूर्वस्वोत्तरोत्तरस्मिन् ,

उत्तरोत्तरस्य वा पूर्वपूर्वस्मिन् संसृष्टत्वं शृङ्खला ॥’

—‘पङ्क्तिरूप से उपनिबद्ध पदार्थों में से पूर्व-पूर्व का उत्तरोत्तरपदार्थ के साथ अथवा उत्तरोत्तर का पूर्व-पूर्व पदार्थ के साथ संबद्ध होना शृङ्खला कहलाता है। इसके स्वतन्त्र अलङ्कारत्व पर रत्नाकर और विमर्शिनी के पञ्चविषय भी पण्डितराज ने यहाँ संक्षेप में नामोल्लेख के बिना उपस्थित किए हैं। किन्तु सारालङ्कार के प्रकरण के अन्त में उन्होंने विमर्शिनी के ही तर्कों का समर्थन किया है। कारणमाला का लक्षण उन्होंने इस प्रकार बनाया है—

‘सैव शृङ्खला आनुगुण्यस्य कार्यकारणभावरूपत्वे कारणमाला ।’

—‘वही शृङ्खला संबन्ध के कार्यकारणभावरूप होने पर कारणमाला।’

पण्डितराज ने रत्नाकर द्वारा प्रस्तुत इसके दोनों भेद भी स्वीकार किए हैं और लिखा है—

( १ ) ‘तत्र पूर्वं पूर्वं कारणं परं परं कार्यमित्येकम् ।

( २ ) पूर्वं पूर्वं कार्यं परं परं कारणमित्यपरा ।’

विश्वेश्वर—ने कारणमाला के दोनों भेद स्वीकार किए हैं किन्तु कारणमाला का लक्षण केवल शतना बनाया है—

‘कारणमाला पूर्वं पूर्वं कार्यं यथोत्तरं हेतौ ।’

—‘उत्तर-उत्तर के प्रति पूर्व-पूर्व के हेतु होने पर कारण माला। इन्होंने इसका उदाहरण भी अच्छा खोज निकाला है—

‘दारिद्र्यथाद्ध्यमेति०’ इत्यादि मृच्छकटिक का प्रसिद्ध पद्य।

इस पर श्रीविद्याचक्रवर्ती की निष्कटार्थकारिका यह है—

‘कार्यकारणमालायां प्राचः प्राचः परं परम् ।’



[ सर्वस्व ]

[ सू० ५५ ] यथापूर्वं परस्य विशेषणतया स्थापनापोहने  
एकावली ।

यत्र पूर्वं पूर्वं प्रति क्रमेण परं परं विशेषणत्वमनुभवति स एकावलय-  
लंकारः । विशेषणत्वं च स्थापनेन निवर्तनेन वा ।

स्थापनेन यथा

'पुराणि यस्यां सघराङ्गानि वराङ्गना रूपपुरस्कृताङ्गयः ।

रूपं समुन्मीलितसद्विलासमसंघं विलासाः कुसुमायुधस्य ॥'

अत्र वराङ्गनाः पुराणां विशेषणं स्थापनीयत्वेन स्थितम् । एवं घराङ्ग-  
नानां रूपमित्यादि ज्ञेयम् । निवर्तनेन यथा—

'न तज्जलं यन्न मुचारुपङ्कजं न पङ्कजं तद् यदलीनपट्पदम् ।

न पट्पदोऽसौ न जुगुञ्ज यः कलं न गुञ्जितं तन्न जहार यन्मनः ॥'

अत्र जलस्य मुचारुपङ्कजत्वं विशेषणं निषेधरत्वेन स्थितम् । एवं पङ्कजा  
नामलीनपट्पदत्वादि ज्ञेयम् ।

[ सू० ५५ ] 'पूर्व-पूर्व के प्रति परवर्ती के विशेषण रूप से स्थापन या निवर्तन हो तो  
[ अलंकार की सजा ] एकावली [ होती है ] ।

जहाँ उत्तरवर्ती पदार्थ पूर्व-पूर्व के प्रति विशेषण बनते जायें वह अलंकार एकावली कहलाता  
है । विशेषणता स्थापन से होती है या निवर्तन से, स्थापन से यथा—

'जहाँ नगर उत्तम अंगनाओं से युक्त है, उत्तम अंगनाएँ रूप से पुरस्कृत अंगनाएँ हैं,  
रूप उन्मीलित हो रहे अभिमान विलासों से युक्त है और विलास काम के अलंकार हैं ।'

यहाँ उत्तम अंगनाएँ नगर के प्रति ऐसे विशेषण हैं । जो स्थापित किए जा रहे हैं ।  
इसी प्रकार रूप उत्तम अंगनाओं के प्रति वैसा ही विशेषण है और आगे भी ऐसा ही है ।

निवर्तन से यथा—

'ऐसा कोई जल न था जिसमें सुन्दर कमल न हों, कमल भी ऐसा न था जिसमें भीरे  
नहीं दूट रहे हों, भीरे भी ऐसे न थे जो मधुर गुञ्जार न कर रहे हों और कोई मधुर गुञ्जार  
भी ऐसा न था जो मन न हरता रहा हो ।'

—यहाँ जल के प्रति 'मुचारुपङ्कजत्व = सुन्दर कमल से युक्त होना', ऐसा विशेषण है  
जो निषेधरूप से स्थित है । इसी प्रकार कमला आदि के प्रति 'अलीनपट्पदत्व' = जिसमें भीरे न  
दूब रहे हों' आदि की समझना चाहिए ।

### विमर्शिनी

यथापूर्वमित्यादि । पर परमिति । अत एव पूर्वस्य पूर्वस्य यथायथ विशिष्टतयाव-  
गमः । स्वरूपभात्रेणानगतस्य वस्तुनो यत्पूर्वव्ययलेन वैशिष्ट्यमवगम्यते तद्विशेषः ।  
यद्भवति, उत्तरोत्तरस्य पूर्व पूर्वप्रयुक्त्यर्थेभ्यो एकावलीति । एकावलयलंकार इति । पूर्वो-  
त्तरयोः परस्परानुपकृत्येनैकपङ्क्तिरूपवात् ।

यथापूर्वम् इत्यादि । परं परम् = उत्तरवर्ती, अत एव पूर्व-पूर्व का उसी क्रम से एक एक करके विशिष्ट—[ विशेषण-युक्त ]—ता के साथ ज्ञान होता है । विशेषण वह तत्त्व है जिसके संबन्ध को बल पर स्वरूपमात्र से विदित कोई पदार्थ विशिष्टता का अनुभव करता है । जैसा कि कहेंगे—'उत्तरोत्तर के पदार्थ पूर्व-पूर्व के पदार्थों के लक्ष्य के हेतु हों तो एकावली' । एकावलीलङ्कारः = अलंकार का नाम एकावली, इसलिये कि इसमें पूर्व और पर के पदार्थ परस्पर में सम्बन्ध रहते हैं और एक पंक्ति जैसे प्रतीत होते हैं ।

विमर्शः—इतिहास

एकावली भी प्रथमतः रुद्रट की देन है । इन्होंने इसके उपर्युक्त दोनों पक्ष भी प्रस्तुत किए हैं । उनका एकावली विवेचन—

'एकावलीति सेयं यत्रार्थपरम्परा यथालाभम् ।

आवीयते यथोत्तरविशेषणा स्थित्यपोहाभ्याम् ॥'

—'एकावली नामक अलंकार वह है जिसमें पदार्थ जिस क्रम से प्राप्त होते हैं उसी क्रम से उत्तरवर्ती पदार्थ पूर्व के प्रति स्थापित या निषिद्ध होकर विशेषण होते जाते हैं ।'

उदाहरण—( १ ) 'सलिलं विकासिकमलं कमलानि सुगन्धिमधुसमृद्धानि ।

मधु लीनालिकुलाकुलमलिकुलमपि मधुररंगितमिह ॥'

—'पानी यहाँ विकसित कमलों से सुशोभित है, कमल सुगन्धित मधु से समृद्ध हैं, मधु हूब हूब रवे मीरों से आकुलित है और मीरों भी मधुर गूँज से भरे हैं ।'

यह पद्य निश्चित ही मञ्जिकाव्य के 'न तज्जलं' पद्य का विधिरूप है । निम्नलिखित पद्य भी इसी पद्य की छाया पर निर्मित है—

( २ ) 'नाकुसुमस्तररस्मिन्नुचाने नामधूनि कुसुमानि ।

नालीनालिकुलं मधु नामधुरकाणमलिवलयम् ॥'

—'इस उद्यान में कोई भी वृक्ष पुष्पहीन नहीं है, कोई पुष्प मधुहीन नहीं, कोई मधु भ्रमरहीन नहीं और कोई भी भ्रमर मनोहर गुञ्जार से रहित नहीं है ।'

निश्चित ही रुद्रट ने मञ्जिकाव्य की रीतिवद्ध कविता से पर्याप्त सहायता ली है, प्रकाश पाया है ।

मम्मट—स्थाप्यतेऽपीक्षते वापि यथापूर्वं परं परम् ।

विशेषणतया यत्र वस्तु सैकावली द्विधा ॥

—'जहाँ, पूर्व-पूर्व के प्रति परवर्ती पदार्थ विशेषणरूप से स्थापित किए जाएं या हटाए जाएं वह दो प्रकार की एकावली होती है ।'

उदाहरण दोनों वे ही जो अलंकारसर्वस्वकार ने दिए हैं । 'इस प्रकार एकावली के विषय में रुद्रट का मम्मट ने और मम्मट का सर्वस्वकार ने अनुसरण किया है ।

परवर्ती आचार्यों में—शोभाकर की प्रतिक्रिया कारणमाला में व्यक्त हो चुकी है । अप्पद्यदीक्षित ने कुबलयानन्द में इस अलंकार का लक्षण भिन्न प्रकार से किया है—

'गृहीतमुक्तरीत्याश्रेणिरैकावलिर्मता ।

'गृहीतमुक्तरीति से अर्थ की श्रेणी एकावली' । यहाँ गृहीतमुक्त शब्द से पूर्व का उत्तर के प्रति भी विशेषणभाव माना गया है । जब कि सर्वस्वकार ने इस स्थिति में मालादीपक माना है । इसका स्पष्टीकरण आगे पण्डितराज ने कर दिया है । दीक्षित जी ने अपोह को लक्षण में स्थान नहीं दिया न तो उसके उदाहरण ही दिए हैं ।

पण्डितराज—ने एकावली का लक्षण स्वतन्त्र चिन्तन द्वारा इस प्रकार बनाया है—

‘सैव शृङ्गला संसर्गस्य विशेष्यविशेषणभावस्वरूप एकावली’ वही शृङ्गला एकावली कहलाती है जब संबन्ध विशेष्यविशेषणभाव रूप होता है ।

पण्डितराज ने इसमें स्थापन और अपोहन का भी अस्तित्व सकारा है और उनके लक्षण भी इस प्रकार बनाए हैं—

[ १ ] स्वसम्बन्धेन विशेष्यतावच्छेदकनियामकत्वं स्थापकत्वम् ।

[ २ ] स्वभ्यतिरेकेण विशेष्यतावच्छेदकभ्यतिरेकलुब्धजनकत्वमपोहकत्वम् ।

अर्थात् अपने संबन्ध के द्वारा विशेष्य में उसकी विशेषता का निश्चय कराना स्थापन । यथा ‘पण्डित वह जो अपना हित देते’ । यहाँ स्वहितदर्शिता द्वारा पाण्डित्य का निश्चय कराया जा रहा है, इसका स्पष्टीकरण ‘जो स्वहितदर्शी नहीं होता वह पण्डित नहीं होता’—इस परवर्ती भ्यतिरेकी बोध से होता है । अपोहन वह होता है जो अपने अभाव से विशेष्यगत विशेषण का अभाव तय कराए । यथा यहाँ—‘जो स्वहित न देते वह पण्डित नहीं’ । इसमें स्वहितदर्शिता का अभाव पाण्डित्य के अभाव का निश्चापक है ।

अप्यद्वीक्षित के ही समान पण्डितराज ने पूर्व पूर्व को भी उत्तरोत्तर के प्रति विशेषणीभूत मानकर एकावली स्वीकार की है । मालादीपक से इस भेद का अन्तर उन्होंने धर्मगत पकता को लेकर किया है । यदि पूर्व पूर्व के द्वारा उत्तरोत्तर में उत्पन्न किया गया वैशिष्ट्य एकरूप ही हो तो मालादीपक होता है । एकावली में यह प्रतिव्यक्ति भिन्न-भिन्न होता है ।

विश्वेश्वर—ने एकावली का निरूपण इस प्रकार किया है—

‘प्रथम विशेषणं यद् विशेष्यमध्ये भवत्यसकृतम् ।

विरहप्रतियोगी वा तद्भावेकावली सोत्ता ॥’

‘जो पहले विशेषण हो वही भागे विशेष्य बने या उससे युक्त अभाव का प्रतियोगी बने और ऐसा अनेक बार से तो उसे एकावली कहते हैं ।’

विश्वेश्वर ने यहाँ पूर्व का उत्तर के प्रति विशेषणभाव भी माना है । विश्वेश्वर की दृष्टि एकावली के विषय में पण्डितराज से अधिक व्यापक है । पण्डितराज ने स्थापन और अपोहन के जो लक्षण फिर हैं उनकी दृष्टि में वे एकावली हैं व्यापक नहीं । ‘न तज्जलं’ में उनका अपोहनलक्षण लागू नहीं होता । यहाँ शरत्काल का वर्णन है । इसमें कमल के अभाव में जलत्व का अभाव विवक्षित नहीं है, अपितु जल के साथ कमल का अयोगव्यवच्छेद विवक्षित है । इसी प्रकार ‘पुराणि यदा’ में वरांगनायुक्तत्व पुरत्व का निश्चापक नहीं है वह केवल पुर के उत्कर्ष का व्यञ्जक है ।

एकवली की निम्नोक्तार्थकारिका इस प्रकार है—

‘एकावल्यां यथापूर्वं भेदकं तत्तरोत्तरम् ।

स्थाप्यनेऽपोहते चैव तेनेयं दिविना मता ॥’

[ सर्वस्व ]

[ सूत्र ५६ ] पूर्वस्य पूर्वस्योत्तरोत्तरगुणावहत्वे मालादीपकम् ।

उत्तरोत्तरस्य पूर्वं पूर्वं प्रत्युत्कर्षहेतुत्वे एकावली । पूर्वस्य पूर्वस्योत्तरोत्तरोत्कर्षनियन्धनत्वे तु मालादीपकम् । मालात्वेन चाकृत्यविशेषमाश्रित्य दीपकप्रस्तायोद्धृत्तनेनैह लक्षणं कृतम् । गुणावहत्वमुत्कर्षहेतुत्वम् । यथा—

‘संश्रामाङ्गणमागतं भवता चापे समारोपिते

देवाकर्णय येन येन सहसा यद् यत्समासादितम् ।

कोदण्डेन शराः शरैरिशिरस्तेनापि भूमण्डलं

तेन त्वं भवता च कीर्तिरतुला कीर्त्या च लोकत्रयम् ॥’

अत्र कोदण्डादिभिः क्रमेण शरादीनामुत्कर्षा विहितः । समासादन-  
लक्षणक्रियानियन्धने च दीपकं दीपनविषयाणामुत्तरोत्तपामिमतत्त्वेन छतम् ।

[ सूत्र ५६ ] पूर्व पूर्व उत्तर उत्तर का उत्कर्षाधायक हो तो [ अलंकार ] मालादीपक  
[ कहलाता है ] ।

उत्तर-उत्तर पूर्व-पूर्व के प्रति उत्कर्ष का हेतु हो तो एकावली माना गई है, इसके विपरीत पूर्व-  
पूर्व उत्तर उत्तर का उत्कर्षाधायक हो तो मालादीपक होता है । मालामात्र के कारण इसमें एक  
विशेष प्रकार की चारुता चली आती है । उसे दृष्टि में रखते हुए इसका लक्षण दीपक के प्रसंग  
से हटाकर यहाँ किया गया है । गुणावहत्व का अर्थ है उत्कर्षहेतुत्व । उदाहरण—

‘देव ! संश्रामाङ्गण में आकर आपने धनुष बढ़ाया तो मुनिद जिस-जिसने जो जो प्राप्त किया ।  
धनुष ने बाग, बाणों ने शत्रु सिर, सन्दीने भूमण्डल, उसने आपको, आपने कीर्ति और कीर्ति ने  
तीनों लोकों को ।’

यहाँ धनुष आदि के द्वारा क्रम से शर आदि का उत्कर्ष किया गया । [ अतः यहाँ मालात्व  
है और सब में ] समासादनरूप [ एक ] किया होने से यहाँ दीपक है । दीपन कार्य विषयों में  
उत्तरोत्तर अभिमता वतलाने से निष्पन्न हुआ है ।’

### दिमर्शिनी

पूर्वत्यादि । अतश्चैकावलीअलंकाराद् वै उच्चपयं दर्शयन् व्यापष्टे—उत्तरेत्यादि । उत्कर्षनि-  
चन्धनश्च इत्यनेन कारणमालातोऽप्यस्य वैलक्षण्यमुक्तम् । तस्यां हि पूर्वस्य पूर्वस्योत्तर-  
मुत्तरं प्रति कारणत्वम् । ननु चास्य प्राच्यैर्दीपकानन्तरं लक्षणं कृतम् इह तु किं न तथेत्या-  
शङ्क्याह—मालात्वेनेत्यादिना । मालाशब्देनात्र शृङ्खला लक्ष्यते, तस्या एवोपक्रान्तरत्वात् ।  
न चात्र मालोपमावन्मालाशब्दो ज्ञेयः । एकस्योपमेयस्य बहूपमानोपादानाभावात् । अत्र  
ह्यौपम्यमेव नारित । कोदण्डशरादीनां तस्याविवक्षणात् । अत एवास्य दीपकभेदत्वं न  
वाच्यम् । औपम्यजीवितं हि तत् । प्राच्यैः पुनरेतद्दीपनमात्रानुगुण्यात्तदनन्तरं लक्षि-  
तम् । शृङ्खलात्वेन तु विशिष्टमस्य चाक्षवसितीह लक्षणं युक्तम् । एतच्च दीपक एव  
ग्रन्थकृतोक्तम् ‘छाद्यान्तरेण तु मालादीपकं प्रस्तावान्तरे लक्षयिष्यते’ इति । अत्रेत्यादि ।  
उत्कर्षश्च शरादीनां कोदण्डादिसमासादनलक्षणः । दीपनविषयाणामिति । कोदण्डशरादीनाम् ।  
अत एवास्य दीपकमित्यन्वयमभिधानम् ॥

पूर्वस्यादि । इसीलिए एकावली अलंकार से इसका भेद वतलाने हुए व्याख्या करते हैं  
उत्तर इत्यादि । उत्कर्षनिचन्धनरव = उत्कर्षहेतु होना = इसके द्वारा कारणमाला से भी  
इसका भेद वतलाया । उसमें पूर्व-पूर्व उत्तर-उत्तर के प्रति कारण होता है । ‘इसका लक्षण  
प्राचीन आचार्यों [ मम्मट ] ने दीपक के बाद किया है, यहाँ वैसा क्यों नहीं किया  
जा रहा है’—ऐसी शंका करके उत्तर देते हैं—मालात्वेन इत्यादि । यहाँ मालाशब्द का  
अर्थ लक्षणा द्वारा शृङ्खला है, क्योंकि प्रकरण उसी का चला हुआ है । यहाँ मालाशब्द मालो-  
पमा वैसा नहीं समझना चाहिए—क्योंकि यहाँ एक उपमेय के लिए अनेक उपमानों का उपा-

दान नहीं है। यहाँ तो औपम्य ही नहीं है, क्योंकि धनुष-बाण आदि में उसकी कोई विवक्षा नहीं। इसीलिए [ मालादीपक ] दीपक का भेद नहीं कहा जा सकता। वह [ दीपक ] औपम्य पर निर्भर रहता है। प्राचीनों ने जो इसका लक्षण दीपक के बाद रखा है वह केवल दीपन मात्र की समानता के आधार पर। वस्तुतः इसमें चारुता आती है शृङ्खलात्व से, अतः इसका लक्षण यही ठीक है और यह तो ग्रन्थकार दीपक [ के अन्त ] में ही कह चुके हैं कि—‘माला-दीपक एक मित्र चमरकार को लेकर होता है, उसका लक्षण अन्य प्रसंग में किया जायगा।’ अत्र = शरादि का उत्कर्ष है धनुष आदि के द्वारा प्राप्त किया जाना। दीपनविषयाणाम् = दीपन कार्य के विषय = धनुष आदि। इसीलिए इसका ‘दीपक’ नाम सार्थक है ॥’

**विमर्श—**

**इतिहास—**मालादीपक भामह, वामन, उद्भट और रुद्रट में नहीं मिलता।

**दण्डी—**यद् इदप्रथमतया दण्डी में मिलता है। उनका निरूपण—

‘शुक्ल. श्वेताचिषो वृद्धये पञ्च पञ्चशरस्य स।

स च रागस्य रागोऽपि यूना रत्युरसवथियः ॥

इत्यादिदीपकत्वैऽपि पूर्वपूर्वैर्व्येक्षिणी।

वाक्यमालाप्रयुक्तं तन्मालादीपकं स्मृतम् ॥

—‘शुक्लपञ्च चन्द्रमा की वृद्धि करता है, चन्द्रमा काम की, काम राग की, राग युवकों की रतोत्सवश्री की।’ यह आदिदीपक है तथापि इसमें पूर्व पूर्व के प्रति परवर्ती को सापेक्ष वाक्यों की माला बनारं गई है, अतः इसे मालादीपक कहा गया है। — [ काव्यादर्श—२।१०१ ]

**मम्मट—**

मालादीपकमायं चेद् यथोत्तरगुणावहम् ।

—‘यदि आदि-आदि के पदार्थ यथोत्तर उत्कर्षकारी हों तो मालादीपक होता है।’

**उदाहरण—**‘संग्रामाङ्गण०’ पद्य ही।

रत्नाकर का जो उदाहरण कारणमाला के प्रसंग में उद्धृत किया गया है उससे स्पष्ट है कि शोभाकरमित्र मालादीपक को स्वतन्त्र अलंकार नहीं मानते।

**अप्पय्यदीक्षित—**ने मालादीपक की निष्पत्ति दीपक और प्रकावली के योग से मानी है—

‘दीपकैकावलीयोगाम्मालादीपकमिष्यते ।

उदा०—‘स्मरेण हृदये तस्यास्तेन त्वयि कृता स्थितिः ॥’

—‘काम ने उस सुन्दरी के हृदय में और उस [ हृदय ] ने आपमें टिकाव कर रखा है।’ दूसरा उदाहरण ‘संग्रामाङ्गण०’ ही इन्होंने दिया है।

**पण्डितराज—**जगन्नाथ मालादीपक की प्रकावली का ही एक भेद मानते हैं, दीपक नहीं [ द्र० रसगंगाधर दीपकप्रकरण ]। विमर्शनीकार के ही समान उनका कहना है कि इस अलंकार के उदाहरणों में आप पदार्थों में न तो सादृश्य ही रहता और न प्रकृताप्रकृतत्व ही। अतः यहाँ दीपकत्व कथमपि सम्व नहीं। ‘संग्रामाङ्गण०’ उदाहरण से यह तथ्य स्पष्ट है। [ द्र० प्रकावलीप्रकरण रसगंगाधर ] मालादीपक शब्द का आशय बतलाने हुए उन्होंने लिखा है ‘मालापदेनात्र शृङ्खलोच्यते दीपकशब्देन दीप इवेति द्युस्पत्या एकदेशस्य सर्वोपकारकमुच्यते।’

तेन—

‘एकदेशस्यसर्वोपकारकक्रियाशालिनी शृङ्खलेति पदद्वयार्थः।’

—‘माला शब्द यहाँ शृङ्खला का वाचक है और दीपक शब्द ‘दीप के समान’ इस व्युत्पत्ति के आधार पर एकदेशस्थ सभी द्रव्यों का उपकार के पदार्थ । इस प्रकार दोनों पदों का मिलित अर्थ हुआ—‘एकदेशस्थित सभी पदार्थों का उपकार करने वाली क्रिया से युक्त शृङ्खला ।’

[ द्र० रसग० एकावलीप्र० ] ।

विश्वेश्वर—ने मालादीपक को दण्डी और मम्मट के ही समान दीपक-प्रकरण में ही स्थान दिया है । उनका लक्षण—

[ सूत्र ] ‘माला तु पूर्वपूर्वे विष्यन्तरेणोत्तरान्वयिनि ॥’

[ वृत्ति ] तस्यां क्रियायां रूपान्तरेणान्वितस्य पुनस्तस्यामेव रूपान्तरेणान्वये मालादीपक-मिति ।

—‘एक ही क्रिया में एक रूप से अन्वित का पुनः दूसरे रूप से अन्वय मालादीपक कहलाता है ।’ ‘संक्रामाङ्गण०’ पद्य में पद्य समासादनक्रिया में जिस वाच्य का कारणत्वेन अन्वय है उसी का कर्तृत्वेन भी अन्वय है ।

विश्वेश्वर पण्डितराज द्वारा प्रस्तुत प्रस्तुत आपत्तियों का कोई उल्लेख नहीं करते । न तो उनका खण्डन ही करते ।

श्रीविद्याचक्रवर्ती की मालादीपक पर निष्कृष्टार्थकारिका यह है—

‘मालादीपकनाथस्योत्तरोत्तरदीपनम् ।’

आद्य आद्य का उत्तर उत्तर के प्रति उत्कर्षक होना मालादीपक कहलाता है ।

[ सर्वस्व ]

[ सू० ५० ] उत्तरोत्तरमुत्कर्षः सारः ।

पूर्वपूर्वापेक्षयोत्तरोत्तरस्योत्कर्षनिबन्धनः सारः ।

यथा—

‘जये धरिऱ्याः पुरमेव सारं पुरे गृहं सन्ननि चैकदेशः ।

ः नापि शय्या शयने वरा ह्यी रत्नोज्ज्वला राजसुखस्य सारम् ॥’

अत्र धरिऱ्यपेक्षया पुरस्य सारत्वमेवं पुरापेक्षया तदेकदेशस्य गृहस्येत्यादि योजनीयम् ।

यथा—

‘राज्ये सारं वसुधा वसुन्धरायां पुरं पुरे सौधम् ।

सौधे तल्पं तल्पे वराङ्गनानङ्गसर्वस्वम् ॥’

अत्र राज्यापेक्षया वसुन्धरायाः सारत्वमेवं वसुधापेक्षया तदेकदेशस्य पुरस्येत्यादि योजनीयम् । एवं शृङ्खलाविच्छिद्यलङ्काराः प्रतिपादिताः ।

[ सूत्र ] उत्तरोत्तर उत्कर्ष सार [ नामक अलङ्कार कहलाता है ] ॥

पूर्व पूर्व की अपेक्षा उत्तर उत्तर का उत्कर्ष बतलाना सार कहलाता है । यथा—

‘पृथिवी के विजय में सार नगर ही है, नगर में सार गृह है, और गृह में उसका एक भाग । उसमें भी सार है शय्या, शय्या पर राज्य सुख का सार है रत्नोज्ज्वल उल्कृष्ट स्त्री ।’

—यहाँ पृथिवी की अपेक्षा नगर का सारत्व बतलाया जा रहा है इसी प्रकार नगर की अपेक्षा उसके एक अंश गृह का, इत्यादि योजना कर लेनी चाहिए । दूसरा उदाहरण यथा—

'राज्य में सार है पृथिवी, पृथिवी में सार है नगर, नगर में सौध, सौध में तक्ष, तक्ष में अनंग का सर्वत्व उत्पन्न श्री ।'

—यहाँ राज्य की अपेक्षा पृथिवी का सारत्व प्रतिपादित है, इसी प्रकार पृथिवी की अपेक्षा उसके एक अंश नगर का, इत्यादि योजना कर लेनी चाहिए । इस प्रकार शृङ्खलामूलक चमत्कार वाले अलंकारों का प्रतिपादन पूरा हुआ ।

### विमर्शिनी

उत्तरेत्यादि । एतदेव ष्याच्छे-पूर्वत्यादि । एतच्चैकार्यैव वस्तुनो यद्दृश्यां वा स्यादित्यस्य द्वैधम् । तेन पूर्वत्र पूर्वपूर्वेति, उत्तरोत्तरस्येति चावस्थायितोपामिप्रायेण ष्याद्येवम् । अन्यथा होकरयैव, पूर्वत्वमुत्तरत्वं च कथं स्यात् । एवमप्युत्तरोत्तरमुपचयः स्वरूपेण धर्मेण वा भवतीत्यस्य चागुर्विधम् । एव प्रकृते यथावधसमारोहक्रमेण धाराधिरूढतयोत्कर्ष-प्रतिपादनं स्यादित्यलंकारधीजम् । यदुक्तम्—'उत्तरोत्तरमुत्कर्षो भवेत्सारः परावधिरिति । पूर्वापेक्षयोत्तरस्योत्कृष्टत्वमित्यनेन मालादीपकादस्य भेदोऽप्युक्तः । तत्र हि पूर्वस्योत्तरं प्रयुक्तपनिषन्धनत्वमुक्तम् । अत एव चारयोत्तरोत्तरयोत्कर्षोपनिबद्धान्वयत्वम् । तत्रैकस्य स्वरूपेणोत्कर्षो यथा—

'किं द्वात्र किं नु इत तिलकमथ तथा कुण्डल कौस्तुभो वा  
चक्र वा धारिज वेद्यमरयुवतिभिर्यद्वलित्वेपिदेहे ।  
ऊर्ध्वं मौली ललाटे श्रवसि हृदि करे नाभिदेशे च दृष्टं  
पायात्तद्दोऽर्कचिन्वं स च दनुजरिपुर्वर्धमानः क्रमेण ॥'

अत्रैकस्यैव हरेस्तत्तदवस्थायिशिष्टतया स्वरूपेणोत्तरोत्तरमुत्कर्षः । धर्मेणापि यथा—

'अतसीकुसुमप्रभ मुखे तदनु स्वकचमेचकद्यति ।  
अथ बालतमालमांसलं प्रसृतं सगति सर्वतस्तमः ॥'

अत्रैकस्यैव तमसो निविडस्वाद्यधर्ममुत्प्रेनेनोत्तरोत्तरमुत्कर्षः । अत्र च यद्यप्येकस्मिन्नेव तमस्यनेकस्यातसीकुसुमप्रभादिकस्यावस्थानात्पर्यायत्वम्, तथापि तमसो नैविडत्वं यथायथमुत्कृष्टतया वाक्यार्थामृतमिति यथोक्तमेव युक्तम् । यद्दृश्यां स्वरूपेणोत्कर्षो यथा—

'आयुश्चास्तरवस्ततोऽपि गिरयः स्वर्वासिशोलस्तत-  
तस्माद्दिग्गुणं ततः किमपरं स्यादन्यदायुधतम् ।  
तस्मात्सर्वत एव साधुद्वयान्युत्तुङ्गभङ्गानि ते  
कस्या उच्चतये तवाधिपदवीं चिन्तामणे तन्वते ॥'

अत्रानेकेषां पूर्वापेक्षया स्वरूपेणोत्तरोत्तरमुत्कर्षः । धर्मेण यथा—

'कुक्षे. कोटर एव कैटभरिपुर्धत्ते त्रिलोकीमिमा-  
मप्युद्भूतभरो विभर्ति तमपि प्रीतो मुजङ्गेश्वरः ।  
श्रीकण्ठस्य स कण्ठसूत्रमभवद्देव स्वया तं हृदा  
विभ्राणेन पोषु पौरुषकथा धीकर्णं निर्नाक्षिता ॥'

अत्र कैटभरिप्रभृतीनां पौरुषाद्यधर्ममुत्प्रेनेनोत्तरोत्तरमुत्कर्षः । एवं 'जये धरिभ्याः'  
इत्यादौ सारत्वमुत्प्रेनेन चोद्धरणम् । यदाहाश्रयादि । यथा वा—

'त्रिलोक्यां रत्नसुः शलाघा तस्यां धनपतेर्हरिः ।  
तत्र गौरीगुरुः शैलो यत्तस्मिन्नापि मण्डलम् ॥'

अत्र बहूनां श्लाघ्यत्वेनोत्तरोत्तरमुत्कर्षः । यस्वन्धैरेतस्थाने रूपधर्माभ्यामाधिक्य-  
मिति वर्धमानमुक्तम् तत्तेषां नाममात्रनवीकरणरसिकत्वम् । अस्वैव पूर्वपूर्वापेक्षयोत्तरो-  
त्तरोत्कर्षोपनिबन्धनात्मकत्वात् समग्रविषयावगाहनसहिष्णुत्वात् । तस्माद् 'अस्मिन्न  
वर्धमाने सारोऽन्तर्भावमेति न पुनरिदम् अन्तर्भूतं सारे परिमितविषये महाविषयम्' इत्या-  
द्युक्तमेवोक्तम् ।

उत्तरोत्तरादि । इसी की व्याख्या करते हैं—पूर्व इत्यादि । [ रत्नाकरकार सारालङ्कार को  
वर्धमान नामक अलङ्कार में अन्तर्भूत मानते हैं । विमर्शिनीकार इसके विपरीत वर्धमान को नया  
नाम भर मानते और उसको सार में ही अन्तर्भूत दिखलते हैं । अगला प्रकरण केवल रत्नाकर  
के वर्धमानालङ्कार का सारालङ्कार के रूप में अक्षरशः बतलेख है । रत्नाकरकार ने वर्धमान में  
एक वस्तु या अनेक वस्तुओं के उपचय का चमत्कार बतलाया है, अतः विमर्शिनीकार सार में  
भी ये विशेषताएँ बतलाने जा रहे हैं । एक एक कर सभी उदाहरण भी वे रत्नाकर से ही लेते  
जा रहे हैं— ]

यह उत्कर्ष एक ही वस्तु का बतलाया जा सकता है और अनेक वस्तुओं का भी । इस प्रकार  
[ वर्धमान के ही समान ] इसके भी दो प्रकार हो जाते हैं । इस कारण 'पूर्व पूर्व' इस और  
उत्तरोत्तर इस अंश की व्याख्या अवस्थागत विशेषताओं के आधार पर की जानी चाहिए । नहीं  
तो केवल एक का पूर्वत्व और उत्तर कैसे होगा । इसी प्रकार उत्तरोत्तर उपचय दो प्रकार से होता  
है स्वरूपतः या धर्मतः । इस प्रकार इसके चार भेद हो जाते हैं । इस प्रकार यहाँ अलङ्कार का  
बीज उत्कर्ष का एक-एक के आरोह क्रम द्वारा आगे-आगे बढ़ते जाना है । जैसा कि [ मम्मट ने ]  
कहा है 'उत्तरोत्तर बढ़ा और परा कोटि तक गया उत्कर्ष ही सार है' । पूर्व की अपेक्षा उत्तरवर्ती  
का उत्कर्ष बतलाकर मालादीपक से इसका अन्तर भी स्पष्ट किया । उसमें जो है सो, पूर्व-पूर्व  
का उत्तर-उत्तर के प्रति [ उत्कर्ष नहीं ] उत्कर्ष हेतुत्व बतलाया गया है । इसीलिए इसकी संज्ञा  
साथक है क्योंकि इसमें उत्तरोत्तर का उत्कर्ष बतलाया जाता है । इनमें—

[ १ ] एक वस्तु का स्वरूपतः उत्कर्ष यथा—

'वह सूर्य विम्ब और वह बढ़ता जा रहा दैत्यारि [ वामनावतारी विष्णुविग्रह ] भी आपकी  
रक्षा करे जिस सूर्यविम्ब को बलिद्रेषी [ वामन ] के [ बढ़ते जा रहे ] शरीर में ऊपर की ओर  
देखा तो अम्सराओं ने सोचा कि यह छत्र है क्या सिर पर देखा तो सोचा रत्न है क्या, ललाट  
पर देखा तो सोचा तिलक है क्या, कान के पास देखा तो सोचा कुण्डल है क्या, बक्ष पर देखा  
तो सोचा कौस्तुभ है क्या, हाथ में देखा तो सोचा चक्र है क्या, तथा नाभिदेश में देखा तो सोचा  
कमल है क्या ?'

यहाँ एक ही वामन का स्वरूपगत उत्तरोत्तर उत्कर्ष वन-वन अवस्थाओं को लेकर बतलाया  
गया है ।

[ २ ] [ एकवस्तु का ही ] धर्मतः उत्कर्ष यथा—

'अंधकार पहले तो अतसीकुलुमाम था, तत्पश्चात् तुम्हारे केशों के समान मेचकच्छवि  
[ श्यामवर्ण ] हुआ, तदनन्तर चालतमाल के समान मांसल होकर यह सर्वत्र फैल गया है ।'

यहाँ एक ही अंधकार का उत्तरोत्तर उत्कर्ष निविडतारुर्षा एक ही धर्म को लेकर बतलाया  
गया है । इस पद्य में यद्यपि पर्यायालङ्कार भी है क्योंकि एक ही अंधकार में अतसीकुलुमप्रमत्त्वादि  
अनेक धर्मों का क्रम से अस्तित्व दिखलाया गया है तथापि सार को ही अलङ्कार मानना ठीक है  
क्योंकि यहाँ प्रधान है अंधकार की क्रमिक बृहत्तता ।



[ ३ ] अनेक वस्तुओं का स्वरूपतः उत्कर्ष यथा—

‘प्रयमतः’ बहुत ऊँचे होने हैं वृक्ष, उनसे ऊँचे हैं पर्वत, उनमें ऊँचा सुमेरु, उससे ऊँचा आकाश । उससे ऊँचा और कौन हो सकता है । हाँ, उन मरु से उत्तुह चेटा वाले होने हैं साधुओं के हृदय । तब हे चिन्तामगे ! वे [ साधुजन ] किस उन्नति के लिए तेरे सामने याचक बनें ।’

यहाँ अनेक वस्तुओं का पूर्व-पूर्व वस्तुओं की अपेक्षा उत्कर्ष दिलाया गया है ।

[ ४ ] [ इन्हीं अनेक वस्तुओं का ] धर्मतः उत्कर्ष, यथा—

‘विष्णु भगवान् इस त्रिलोकी को कूँख की कोटर में ही धारण कर लेने हैं, उन्हें भी प्रेमपूर्वक धारण कर लेता है शेषनाग, यद्यपि उस पर पहले से ही काफ़ी बोझ रहता है । वह शेषनाग भी शोकगुण [ भगवान् शिव ] का कठला [ कण्ठसूत्र ] बन जाता है । हे श्रीकर्ण राजन् उन [ भगवान् शिव ] की हृदय में धारण करके आपने तो पौरुष की कथा ही समाप्त कर दी ।’

यहाँ विष्णु प्रभृति का उत्तरोत्तर उत्कर्ष पौरुष नामक धर्म के आधार पर बतलाया गया है । इसी प्रकार ‘जये धरित्र्या’ आदि पद्यों में सारत्वरूपी धर्म के द्वारा उत्तरोत्तर उत्कर्ष जानना चाहिए । जैसा कि [ वृत्तिकार ने ] कहा । अथ इत्यादि । और जैसे—

‘त्रिलोकी मरु में श्लाघ्य है रत्नसू [ उत्तम भूमि ], उसमें कुवेर की दिशा [ उत्तर ], उसमें गौरी का पिता पर्वत [ हिमाचल ] और उसमें भी मण्डल [ ? ] ।

यहाँ श्लाघ्यत्व गुण के आधार पर अनेक वस्तुओं का उत्तरोत्तर उत्कर्ष बतलाया गया है ।

एक अन्य विद्वान् [ रत्नाकरकार शोभाकर ] ने जो इस [ सार ] के स्थान पर वर्धमान नामक अलङ्कार स्वीकार किया है और इसका लक्षण ‘रूप या धर्म से आधिक्य’ यह बनाया है, वह उनका नाममात्र नवीन रखने का चसका है । क्योंकि इसमें भी पूर्व-पूर्व की अपेक्षा उत्तरोत्तर का उत्कर्ष बतलाया जाता है अतः [ वर्धमान के अन्तर्गत आने वाली ] संपूर्ण विषय समेट लेने में समर्थ है । इसलिये—

‘इस वर्धमान में सारका अन्तर्भाव हो जाता है । इसका उसमें नहीं क्योंकि सार का क्षेत्र छोटा है और वर्धमान का विशाल ।’ [ परिकरश्लोक के द्वारा ]

इत्यादि जो उन्होंने सिद्धान्त किया है वह अयुक्त ही है ॥

विमर्श—विमर्शनी के उक्त विवेचन में रत्नाकर द्वारा बनाया गया वर्धमान अलङ्कार का लक्षण एवं उनके द्वारा प्रस्तुत उसके सभी उदाहरण आ गए हैं । शेष केवल सर्वस्वकार का खण्डन है । वह इस प्रकार है—

‘राज्ये सार वसुधा [ पूर्ण पथ ] ०’ अथ वसुधादीनामुत्तरोत्तरमारत्वाख्यस्य धर्मस्याधिक्यमिति धर्मोपचयसम्भावान्नयै. ‘उत्तरोत्तरमुत्कर्षः सारः’ इति लक्षितस्य सारालङ्कारस्यादिमग्नेवान्मर्भावान् पृथगुपादानं कृतम् ।

‘अस्मिंश्च वर्धमाने—महाविषयम् ।’ इति परिकर. ॥

—‘राज्ये सार वसुधा ०’ इत्यादि में वसुधादि के उत्तरोत्तर सारत्व नामक धर्म का आधिक्य है इसलिये धर्मोपचय की सम्भावना होने से ‘उत्तर-उत्तर का उत्कर्ष सार’ इस प्रकार जिस सारालङ्कार का अन्य आचार्य ( सर्वस्वकार ) ने लक्षण किया है उसका अन्तर्भाव इसी में हो जाता है । अतः उसका पृथक् उपादान नहीं किया । ‘सार इस ०००००० विषय विशाल ।’

इस प्रकरण में ‘अत्युच्चा.’ पद के तृतीय चरण में रत्नाकर की प्रति के ही समान निर्णय-सागर की प्रति में भी ‘ति’ के स्थान पर ‘तय’ छपा है । समाप्तान्तर्गत पद के अर्थ का परामर्श

सर्वनाम द्वारा होता है अतः हमने उसे 'वि' बना दिया है। उससे अर्थसंगति अधिक सफल हो जाती है।

**इतिहास**—सार का विवेचन पहले-पहल रुद्रट में मिलता है। वह इस प्रकार है—

‘यत्र यथा समुदायाद् यथैकदेशं क्रमेण गुणवदिति।

निर्भर्यते परावधि निरतिशयं तद् भवेत् सारम्’ ॥ ७।९६ ॥

—‘जहाँ समुदाय में से एक-एक अंश गुणवत्तर और अन्यत्र उत्कृष्ट बतलाकर अलग किया जाता है वह सार कहलाता है।’ उदा० ‘राज्ये सारं वसुधा०’।

**मम्मट**—‘उत्तरोत्तरमुत्कर्षो भवेत् सारः परावधिः—’ [ विमर्शिनी में पृष्ठ ५३४ पर उद्धृत ]।

उदा०—‘राज्ये सारं वसुधा०’।

सर्वस्वकार ने मम्मट का लक्षण अक्षरशः अपना लिया है केवल परावधि शब्द को छोड़कर। परवर्ती आचार्यों में रत्नाकर का मत विमर्शिनी में स्पष्ट हो ही चुका है।

**अप्पयदीक्षित**—का लक्षण भी मम्मट का अनुवाद है। वह इस प्रकार है—

‘उत्तरोत्तरमुत्कर्षः सार इत्यभिधीयते।’

उदाहरण में समालंकार के समान गुणगत श्लाघ्यता और अश्लाघ्यता पर भी दीक्षितजी ने ध्यान दिया है।

**पण्डितराज**—जगन्नाथ ने दीक्षितजी की यह सूझ स्वीकार कर ली है। उन्होंने लक्षण में उत्कर्ष के ही समान अपकर्ष में भी सार स्वीकार किया है। वगका लक्षण इस प्रकार है—

‘सैव [ शृङ्खला ] संसर्गस्योत्कृष्टापकृष्टभावरूपत्वे सारः।’

वही शृङ्खला संसर्ग के उत्कर्ष अपकर्ष रूप होने से सार कहलाती है। दोनों में से उदाहरण केवल उत्कर्ष का ही पण्डितराज ने दिया है। वस्तुतः उत्कर्ष का अर्थ तरतमभाव है। वह अपकर्ष में भी संभव है अतः पण्डितराज की यह सूझ उन्हें स्वयं अधिक नहीं लंबी। विमर्शिनीकार के समान पण्डितराज ने सार में शुण और स्वरूप को भेदक माना है तथा एकविषयता और अनेक-विषयता भी स्वीकार की है, और उनके उदाहरण दिए हैं।

रत्नाकर के वर्धमान की चर्चा भी पण्डितराज ने की है और उन्होंने उसका स्पष्ट खण्डन तो नहीं ही किया, दवे स्वर में मण्डन भी किया है। सार में यदि वस्तु एक हो और वह आरम्भ से अन्त तक एक-सी ही रहे तो चमत्कार नहीं रहता। वर्धमान में उसी वस्तु में अवस्थादि भेद भी रहते हैं जो अधिक चमत्कारी होते हैं।

सार को पण्डितराज ने शृङ्खला से रहित भी माना है। दोनों का समन्वय करने हेतु उन्होंने एक व्यापक लक्षण भी सुझाया है—‘गुणस्वरूपान्यां पूर्वपूर्ववैशिष्ट्ये सारः।’ गुण और स्वरूप के द्वारा पूर्व पूर्व का वैशिष्ट्य हो तो सार अलंकार होता है। यह लक्षण शृङ्खलारहित भेद में भी समान रूप से अन्वित हो सकता है।

**विश्वेश्वर**—मम्मट का ही अनुसरण करते हैं—

‘सारस्तु पूर्वपूर्वादुत्कर्षिण्युत्तरे प्रोक्ते।’

‘पूर्व-पूर्व की अपेक्षा उत्तरवर्ती पदार्थ यदि उत्कर्षशाली बतलाया जाए तो सार होता है।’ अवस्थाभेद से एक ही वस्तु के उत्कर्षपूर्ण वर्णन में रत्नाकर और पण्डितराज ने जो चमत्कार

देखा है विश्वेश्वर उसे भी तटस्थ स्वर में उपरिधत कर देने हैं। धर्म और स्वरूप के भेदों पर वे चुप हैं।

इस पर चक्रवर्ती की निम्नृष्टार्थकारिका यह है—

‘उत्तरोत्तरमुत्कर्षावहावे सार श्रूयते ।’

पाठान्तर—निर्णयसागरीय प्रति में अलंकार का नाम सार के स्थान पर उदार छपा है। ‘उत्तरोत्तरमुत्कर्षणमुदार.’ रत्नाकर में प्राप्त सर्वस्व के उद्धरण में सूत्र का जो रूप मिलता है इसमें उदार का उल्लेख नहीं है। रुद्रट, मम्मट और अप्पयदीक्षित के लक्षण भी सार वाले पाठ से ही मिलते हैं। संजीविनी में भी यही पाठ है। विमर्शिनी भी इसी पद्य में है। वृत्ति में ‘निबन्धनं सारः’ के स्थान या निर्णयसागरीय प्रति में ‘निबन्धनत्वमुदाराख्योऽलंकारः’ छपा है किन्तु पाठान्तर में ‘निबन्धनसारः’ ही पाठ दिया हुआ है। उदाहरणों में से रत्नाकर में केवल ‘राज्ये सार’ पद्य ही उद्धृत है और संजीविनी भी केवल इसी पद्य से अवगत है। विमर्शिनी में ‘अवे परिध्या’ इत्यादी सारत्वमुट्टेन’ इस प्रकार आदिपद से सारता का धर्म प्रतिपादित करनेवाले एकाधिक पद्य का निर्देश मिलता है। कदाचित् उनका मकेत ‘राज्ये सार’ पद्य की ही ओर है। रंगना है रत्नाकरकार और विमर्शिनीकार को दो भिन्न प्रतियाँ मिली थीं। अधिक सटीक प्रति रत्नाकरकारवाली ही प्रतीत होती है। निर्णयसागरीय प्रति के संपादक ने ‘उदार’ को मूल मानकर पाद टिप्पणी में अपनी ओर से लिखा है—‘अयमेव काव्यप्रकाशकारादिभिः सारनाम्ना व्यवहृतः ।’ अर्थात् इसी उदार को काव्यप्रकाशकार आदि ने ‘सार’-नाम से पुकारा है।

विमर्शिनी में उद्धृत रत्नाकर का एवा प्रकरण भी अशुद्ध छपा है। यहाँ तक कि ‘अस्मिन्शु०’ यह संप्रदायकारिका भी अशुद्ध गणपति के रूप में छपी है। हमने उसे मूल रत्नाकर के आधार पर आरम्भ से अन्त तक ठीक कर दिया है।

### विमर्शिनी

एतदुपसंहारस्यादभ्यवतारयति—अधुनेत्यादिना ।

इस [ शृंखला ] प्रकरण का उपसंहार किया। अब दूसरा प्रकरण आरम्भ करते हैं—

[ सर्वस्व ]

अधुना तर्कन्यायाश्रयेणालंकारद्वयमुच्यते । तत्र—

[ सू० ५८ ] हेतौर्वाक्यपदार्थता काव्यलिङ्गम् ।

यत्र हेतुः कारणरूपो वाक्यार्थगत्या विशेषणद्वारेण वा पदार्थगत्या लिङ्गत्वेन निबद्धयते तत् काव्यलिङ्गम् । तर्कचैतलक्षण्यार्थं काव्यग्रहणम् । न ह्यत्र व्याप्तिपक्षधर्मतोपसंहारादयः क्रियन्ते । वाक्यार्थगत्या च निबध्यमानो हेतुत्वमैवोपनिबद्धयः, नोपनिबद्धस्य हेतुत्वम् । अन्यथार्थान्तरन्यासान्नास्य भेदः स्यात् । क्रमेण यथा—

‘यस्यन्नेत्रसमानकान्ति सलिले मग्नं तदिन्दीवरं

मेघैरन्तरितः प्रिये तव मुखच्छायायानुकारी शशी ।

येऽपि त्वद्गमनानुसारिगतयस्ने राजहंसा गता-

स्तत्सहादृश्ययिनोद्मात्रमपि मे दैवेन न क्षम्यते ॥’

‘मृग्यश्च दर्भाङ्कुरनिर्व्यपेक्षास्तवागतिर्षं समबोधयन्माम् ।

व्यापारयन्त्यो दिशि दक्षिणस्यामुत्पक्षमराज्जीनि विलोचनानि ॥’

पूर्वत्र पादत्रयार्थोऽनेकवाक्यार्थरूपश्चतुर्थपादार्थं हेतुत्वेनोपन्यस्तः ।  
उत्तरत्र तु संबोधने 'व्यापारयन्त्यः' इति मृगीविशेषणत्वेनानेकः पदार्थो  
हेतुत्वेनोक्तः ।

एवमेकवाक्यार्थपदार्थगतत्वेन काव्यलिङ्गमुदाह्रियते । यथा—

'मनीषिताः सन्ति गृध्रेषु देवतास्तपः क वत्से क च तावकं वपुः ।

पदं सहेत भ्रमरस्य पेल्लवं शिरीषपुष्पं न पुनः पतत्रिणः ॥'

'यद्विस्मयस्तिमितमस्तमितान्यभाव-

मानन्दमन्दममृतप्लवनादिवाभूत् ।

तत्संनिधौ तदधुना हृदयं मदीय-

मङ्गारञ्चुम्बितमिव व्यथमानमास्ते ॥'

पूर्वत्र वरप्राप्तिहेतुभूततपोनिषेधः य 'मनीषिताः' इति वाक्यार्थरूपो हेतु-  
निर्दिष्टः । उत्तरत्र पुनः 'अस्तमितान्यभावम्' इत्यत्र विस्मयस्तिमितमिति  
विशेषणद्वारेण पदार्थः ।

अथ तर्क [ स्वरूप ] न्याय पर आश्रित दो अलंकारों का प्रतिपादन करते हैं । उनमें—

[ सू० ५८ ] हेतु के पदार्थरूप होने या वाक्यार्थरूप होने पर [ अलंकार का नाम ]  
काव्यलिङ्ग [ होता है ] ॥

'जहाँ कारणरूप [ न कि ज्ञापकरूप ] हेतु जो वाक्यार्थरूप हो या विशेषणरूप होने से  
पदार्थरूप, लिंगरूप से उपनिबद्ध होता है उसे काव्यलिङ्ग कहते हैं । [ नाम के साथ ] काव्य  
शब्द का प्रयोग तर्क से भेद करने के लिए किया गया है । यहाँ, व्याप्ति, पक्षधर्मता, उपसंहार  
आदि नहीं किए जाते । वाक्यार्थरूप से उपनिबद्ध किया जाने वाला हेतु हेतुरूप से ही उपनिबद्ध  
होता है, उपनिबद्ध होने के बाद हेतु नहीं बनता । नहीं तो इसका अर्थान्तरन्यास से भेद नहीं हो  
सकेगा । क्रम से उदाहरण [ वाक्यार्थरूप अनेक हेतुमूलक काव्यलिङ्ग ]—

—'हे प्रिये ! जो तुम्हारे नेत्र के समान कान्ति वाला था वह नीलकमल पानी में डूब गया,  
तुम्हारे मुख की छाया का अनुकरण करने वाला चन्द्र मेघों ने छिपा लिया, और जो तुम्हारी गति  
के समान गति वाले राजहंस थे वे चले गए [ इस प्रकार ], तुम्हारे सादृश्य से होने वाला जो मेरा  
थोड़ा बहुत विनोद है, वह भी विधाता को सहा नहीं है ।'

[ पदार्थरूप अनेक हेतुमूलक काव्यलिङ्ग ]—

'और, हिरनियों बुझाहूर की अपेक्षा [ परवाह ] छोड़ तुम्हारा पथ न जान पा रहे मुझे उनके,  
ऊँची उठी वरीनी वाले नेत्रों की दक्षिण दिशा में घुमा-घुमाकर सूचना दे रही थीं ।' [ रसुवंश-१३ ]

[ इन पद्यों में से ] प्रथम में तीन चरणों का अर्थ, जो अनेक वाक्यार्थरूप है, चतुर्थ पाद के  
अर्थ में हेतुरूप से प्रस्तुत किया गया है, और द्वितीय में सूचना देने रूपी अर्थ में 'घुमा-घुमाकर'  
इत्यादि मृगीविशेषण के रूप में अनेक पदार्थ हेतुरूप से कहे गए ।

इसी प्रकार, काव्यलिङ्ग एकवाक्यार्थगत और एकपदार्थगत भी होता है । उसके उदाहरण—

'घर ही में मन चाहे देवता हैं वत्से ! तप कहीं, कहीं तेरा शरीर । शिरोष का कौमल पुष्प  
भँरे के पैर की चोट सह सकता है, पखेरू की नहीं ।'

'वसने पास मेरा जो हृदय विस्मय से निश्चल था, अन्य समस्त कार्य जिसने बन्द कर दिए थे और जो मानों अमृत में तैरने से आनन्दमन्थर था, वही [ इन समय उसके वियोग में ] मानों अगारे से दग कर व्यथित हो रहा है ।'

[ इन पद्यों में से ] प्रथम में वरप्राप्ति में हेतु तप के निषेध के प्रति 'मनोयिनाः०' = 'मनचाहे०' यह वाक्यार्थरूपी हेतु बनलाया गया है और द्वितीय में 'अस्तमितान्यभाव' = 'अन्य समस्त कार्य जिसने बन्द कर दिए थे' [ हृदय के ]। इसके प्रति 'विस्मयस्तिमित' इस विशेषण के द्वारा पदार्थ ॥'

### विमर्शिनी

तत्रेति द्वयोर्निर्धारणे । हेनोरित्यादि । यत्रेति । हेतोश्च वाच्यार्थपदार्थगत्योपनिबन्धादस्यानेन सह भेदद्वयमप्युक्तम् । वाक्यार्थगत्येति । न तु पदार्थगत्या । तत्र ह्युपनिबद्धस्यैव हेतुत्वात् । हेतुत्वेनैवेति । हेतुत्वस्यामुख एवोद्दिष्टत्वेन प्रतीतेः । अन्यथेति । हेतुत्वेनोपनिबन्धो यदि न स्यात् ।

ननु हेतोर्वाच्यपदार्थोभयोपनिबन्धे न कश्चिद्विच्छित्तिविशेषः प्रतीयत इति कथमस्यालंकारत्वमुक्तम् । न हि साध्यसाधनायोपात्तस्य हेतोरेवं प्रकारद्वयातिरेकेणोपनिबन्धः स्यात् । न च यथासंभ्रिनोपनिबन्धमात्रेणालंकारत्वं वक्तुं युक्तम् । कविप्रतिभात्मकस्य विच्छित्तिविशेषात्मकस्यालंकारत्वेनोक्तत्वात् । न चैवमुपनिबन्धात्कश्चिदतिशय इति कथमस्यालंकारत्वम् । एवं हि 'इक् स्वाभासैव नान्येन वेद्ये'त्यादावपि स्वाभासत्वस्य हेतोर्विशेषणद्वारेण पदार्थगत्या, तथा 'प्रत्यक्षाद्विरलकराहुलिप्रतीतिर्यापिस्वाद्गुणशक्तिनिद्रयं न तस्याम्' इत्यादौ तमसि विरलाहुलिप्रतीतौ ग्यापिस्वादिन्द्रियकौशलमेव साधनमिति हेतोर्वाच्यार्थगत्योपनिबन्धादलंकारत्व स्यात् । सत्यम् । यद्यप्येवमुपनिबन्धस्य वस्तुवृत्तेरसंभवान्न कश्चिदतिशयः प्रतीयते, तथापि प्रत्यकृता प्राच्यैर्लक्षितत्वादेतदिदं लक्षितम् । अथ यत्र व्यङ्ग्याश्लिष्टो वाच्यार्थो वाच्यमेवार्थं प्रति हेतुता भवते तत्रायमलंकारो युज्यत एवेति चेत्, तर्हि व्यङ्ग्यारलेपवशेन तदुत्थानाद्वाच्यार्थतयोपनिबद्धप्रमाणस्य हेतोः स्वात्मनि न कश्चिदतिशय इति व्यङ्ग्यपङ्कन एवातिशयोऽप्युपगम्यते, न तत्कृतः । तस्यैवमुपनिबद्धस्य वास्तव्यत्वात् । यदि च व्यङ्ग्यत्वाद्वाच्यैर्णैव हेतुरलंकारतामियात् तच्छब्दस्यापि हेतोरलंकारत्वं प्रसज्यते, यदि तत्रापि व्यङ्ग्यारलेपः स्यात् । अथ तस्य शाब्दत्वादेव वैचिन्त्याभावादयमनलंकारत्वे निमित्तत्वं कथं न थायात् । अथ तत्र व्यङ्ग्यारलेपो न भवतीति चेत्, किं नामापराद्धम् येनात्र व्यङ्ग्यारलेपस्तत्र च नेति । तथात्वेन लक्ष्यादर्शनादिति चेत्, नैतत् । अवाग्दर्शिन एव निश्चयानुपपत्तेः । प्रत्युत यत्र भवता व्यङ्ग्यारलेप उक्तस्तत्र स नास्तीति वक्तुं शक्यते । तथाहि

'वच'स्थली रश्मि सा जगन्ति जगत्प्रसूतेर्गुरुदृष्यजस्य ।

श्रियोऽङ्गरागेण विभास्यते या सौभाग्यहेम्नः कपपट्टिकेव ॥'

इत्यत्र वचःस्थया जगत्प्रकृते जगत्प्रसूतिर्त्वं पदार्थो हेतुः । प्रसवितुर्हि निजप्रसूतेः सर्वार्थैव रक्षणमुचितम् । अत एव गुरुदृष्यप्रवचःस्थया जगत्प्रकृते कर्तृत्वं युक्तम् । ह्यास्त्रामिधेय एवार्थः । अत एव 'चात्र न हेतोः' कश्चिद्व्यङ्ग्यारलेपः । इत्यम् ।

'संजीविणीसहमिमत्र सुभ्रसस अगण्णवावारा ।

सास णवम्भदसणकठागभत्रीविभं सोण्हं ॥'

इत्यत्र कण्ठागभजीवितत्वस्य । अत्र च जगत्प्रसूतित्वस्य हेतोः पदार्थतयोपनिबन्धेन कश्चिदतिशयो विशेषः । एवम् ।

‘अथि प्रमत्ते सिचयं गृहाणेत्सुक्तेऽपि सयथा न विवेद काचित् ।  
मग्ना हि सा तत्र रसान्तराले यत्रान्तरङ्गो भगवाननङ्गः ॥’

इत्यत्रापि ज्ञेयम् । यद्यपि चात्र रसशब्दस्य जलवाचिवं न विवक्षितम् । तथाप्यभेदा-  
ध्यवसायादतिशयोक्तिः, न पुनः शब्दशक्तिमूलं व्यङ्ग्यम् । तथाप्ये हि हेतुहेतुमज्ञावस्य न  
कश्चिदतिशयः । एवं हि

‘पृकान्तजाहवाद्गृह्ण्यां फरभोर्वाः पराजिताः ।  
कदव्यो यत्र तच्चित्रं जयः क्व न कलावताम् ॥’

इत्यत्र जाहवस्यातिशयोक्त्यालिङ्गितत्वेन वैचित्र्यावहवास्त्वावदस्यापि पदार्थस्य  
हेतोरलंकारत्वं स्यात् । एवमुदाहरणान्तरेष्ववसेपम् ।

एवं च यत्रापि व्यङ्ग्याश्लेषः स्यात्तत्रापि हेतोर्वाक्यार्थतयोपनिबन्धे न कश्चिदतिशयः ।  
अथ साध्यप्रतीतये हेतोरुपनिबन्धादस्त्येव वैचित्र्यातिशयः इति चेत् । तर्ह्यनुमानमेवेदं  
स्यात्तलंकारान्तरम् । साध्यसाधनस्य तल्लक्षणत्वेन वच्यमाणत्वात् । एवं हेतोर्वाक्यप-  
दार्थतयोपनिबन्धस्य चास्तवत्वात्स्य पृथगलंकारत्वं न युक्तम् । तच्चवच्यमाणनीत्यानुमान  
पृवान्तर्भावोपपत्तेः ।

तत्र = उनमें, यह दो में से एक का निर्धारण करने के लिए कहा गया है । हेतोः इत्यादि ।  
यत्र इति । हेतु, जो है वह वाक्यार्थ या पदार्थ के रूप में उपनिबद्ध होता है, कथन के साथ  
इसके दो भेद भी बतला दिए । वाक्यार्थगत्या = वाक्यार्थरूप से = न कि पदार्थरूप से, क्योंकि वहाँ  
[ पदार्थरूप होने पर ] तो उपनिबद्ध हो चुकने पर [ पदार्थ में ] हेतुता आती है । हेतुत्वेनैव =  
हेतुरूप से ही = क्योंकि वहाँ हेतुत्व आरम्भ में ही स्पष्टरूप से प्रतीत हो जाता है । अन्यथा  
यदि हेतुरूप से उपनिबद्ध न किया जाय ।

[ शंका ] हेतु का वाच्य और पदार्थ के रूप में उपनिबद्ध किए जाने में कोई बमत्कार प्रतीत  
नहीं होता तो इसको अलंकार कैसे बतलाया गया । [ तर्कशास्त्र में ] साध्य की सिद्धि के लिए  
अपनाय गए हेतु को = उपनिबन्ध में भी इन दो प्रकारों के अतिरिक्त कोई प्रकार संभव नहीं है  
और लोकसिद्ध वस्तु के उपनिबन्ध मात्र से किसी को अलंकार कहना ठीक नहीं है, अलंकार तो  
वह कहा गया है जो कविप्रतिमात्मक और वैचित्र्यरूप हो । और इस प्रकार का जो [ तर्क शास्त्र  
जैसा ] लिखना है इसमें कोई विशेषता नहीं है । तब इसे अलंकार कैसे कहा । ऐसे तो—

‘इक्ष्वानासैव, नान्येन वेणा’ [ ‘ईश्वरप्रत्यभिज्ञा-कारिका-१।१।२॥ ]

इत्यादि में भी स्वामासत्वरूप हेतु विशेषण द्वारा पदार्थरूप से उपनिबद्ध है और—

‘प्रत्यक्षाद् विरलकराङ्गुलिप्रतीतिर्व्यापित्वादङ्गुलिभिन्निद्रयं न तस्याम् ।’

इत्यादि में ‘अन्धकार में विरल अंगुली की जो प्रतीति होती है उसमें व्यापक होने से  
इन्द्रियकौशल ही कारण है’ ( ? ) यह हेतु वाक्यार्थरूप से उपनिबद्ध है । अतः यहाँ भी अलंकारत्व  
मानना होगा । [ उत्तर ] ठीक है । यद्यपि इस प्रकार के उपनिबन्ध वास्तविक ही होते हैं अतः  
इनमें कोई अतिशय की प्रतीति नहीं होती, और वैसी प्रतीति संभव भी नहीं है, तथापि इसका  
लक्षण प्राचीन आचार्यों ने किया था इसलिए अन्यकार ने भी यहाँ कर दिया है ।

[ पूर्वपक्ष ] यदि कहें [ जैसा कि ररनाकरकार ने कहा है ] कि यह अलंकार वहाँ मानना ठीक  
होगा जहाँ वाच्य अर्थ हो तो वाच्य अर्थ के ही प्रति हेतु किन्तु व्यंग्य अर्थ से युक्त होकर,  
[ उत्तर ] तो इसका अर्थ यह हुआ कि वाक्यार्थ या पदार्थरूप से उपनिबद्ध हेतु यदि व्यंग्य के

कारण अलङ्कार बनता है तो हमसे सिद्ध होना है कि स्वयं हेतु में कोई अतिशय नहीं रहना। इस प्रकार अतिशय में कारण व्यंग्यार्थ ही माना जा रहा है, वह [ हेतुभूत वाच्य अर्थ ] नहीं। इस प्रकार उपनिबद्ध वह हेतु तो अपने आप में लौकिक हेतु जैसा है। इसके अतिरिक्त एक आपत्ति यह भी आती है कि यदि हेतु व्यंग्य के ही कारण अलङ्कार बनना है तो उस हेतु को भी अलङ्कार बन जाना चाहिए जिसका हेतुत्व शब्दतः कथित हो किन्तु जिसके माप व्यंग्यार्थ का योग हो। [ यदि कहें ] 'हेतुत्व के शब्दतः कथित होने से ही वह [ हेतु ] चमत्कार-शून्य और इसीलिए अलङ्कारत्वशून्य क्यों न हो जाएगा ?' तो हम पूछने हैं 'यदि व्यंग्यार्थ का योग न हो तो ?' 'एक जगद् व्यंग्यार्थ का योग है और दूसरो जगद् नहीं—इससे विगटने वाला क्या है ?' यदि कहें—'लक्ष्य में ऐसा नहीं दिखाई देना', तो यह भी ऐसा नहीं है। [ अत्राश्रय ] मूल पर विचार करने वाले ऐसे निश्चय पर पहुँच ही नहीं सकते। श्लोके, वहाँ आप [ रत्नाकरकार ] ने व्यंग्यार्थ का योग बतलाया है वहाँ 'वह [ व्यंग्यार्थ या अलङ्कार ] नहीं है'—ऐसा कहा जा सकता है। प्रमाणार्थ [ आप = रत्नाकरकार के द्वारा ही हेतुत्वकार नामक काव्यलिङ्गालङ्कार के लिए उद्धृत ]—

'जगत् के अनक भगवान् गहलध्वज [ विष्णु ] की वह वशु स्वयी जगत् की रक्षा करे, जो लक्ष्मी के अगाराग मे सीमाग्यसुवर्ग की कमौटी-सी प्रतीत होती है।'

—इस पदार्थ में वशु स्थली के जगत्प्रसूतत्व में जगत्प्रसूतित्व रूपी पदार्थ हेतु है। जो जनक होता है उसके लिए अपनी सन्तति की रक्षा करना सर्वथा उचित ही है। इसीलिए विष्णु की वशुस्थली का जगत्प्रसूत में कर्तृत्व उचित ही सिद्ध होना है। इतना सब यहाँ अभिप्रेय अर्थ ही है। इसीलिए यहाँ हेतु के साथ [ रत्नाकरकार द्वारा कथित ] व्यंग्य का कोई योग नहीं है। [ क्योंकि यहाँ जगत्प्रसूतित्व व्यंग्य नहीं है ]। हमी प्रकार [ रत्नाकर द्वारा ही उद्धृत ]—

'संजीवनीपथमिव सुनस्य रक्षस्थनन्यव्यापारा।

इवभूनेवाभ्रदर्शनकण्ठागतजीवितां स्तुयाम् ॥'

—'सास नवीन मेघ के दर्शन मे कण्ठागत प्राण हुई बड़ को पुत्र की संभोवनीपथि के समान, सब कुछ छोड़कर बचा रही है।'

—इस पदार्थ में कण्ठागत जीवित्व रूपी हेतु में [ व्यंग्यार्थ योग नहीं है ] यहाँ भी 'जगत्प्रसूतित्व' के ही समान हेतु में कोई अतिशय, कोई विशेषता नहीं है। इसी प्रकार [ रत्नाकरकार द्वारा ही उद्धृत ]—

'अरो वेदवद, साही तो उठा ले' सखी के इस प्रकार कहने पर भी कोई सुन्दरो नहीं चेनी, वह उस रस में डूबी थी जिसमें भगवान् अनग काफ़ी अन्तरंग रहते हैं।'

इस स्थल में भी जानना चाहिए। यद्यपि इस पद्य में रसशब्द अलवाची भी हो सकता है किन्तु वह अर्थ विवक्षित नहीं है, तथापि यहाँ अभेदाप्यवमाय के कारण अतिशयोक्ति ही होगी, शब्दशक्तिमूलक व्यंग्य नहीं। वैसा होने पर [ शब्दशक्तिमूलक व्यंग्य होने पर ] हेतुहेतुमद्भाव का कोई अतिशय न रहेगा। हमी प्रकार—

'उम करभोरु से कदली एकदम शीतल होने के कारण यदि हार गई तो यह कोई आशय की बात नहीं। भला कलवान् लोगों की जीत कहीं नहीं होती।'

यहाँ जात्य [ जडता, शीतलता ] शब्द में अतिशयोक्ति है और उसका चमत्कार भी है अत्र. यहाँ पदार्थरूपी हेतु का हेतुत्व शब्दतः कथित होने पर भी चमत्कार संभव है, इसी प्रकार अन्य लताहरणों में भी जाना जा सकता है [ तथापि वह चमत्कार अतिशयोक्तिमूलक होगा व्यंग्यार्थमूलक नहीं ]।

इस प्रकार जहाँ व्यंग्य का योग रहता भी है वहाँ भी हेतु चाहे वाक्यार्थ रूप से कथित हो या पदार्थरूप से उसके कथन में कोई चमत्कार नहीं रहता। यदि कहें कि साध्य की प्रतीति के लिए हेतु का जो प्रयोग रहता है उससे तो इसमें अवश्य रहता ही है? तो फिर यह अनुमानालङ्कार ही होगा, अन्य स्वतन्त्र अलङ्कार नहीं, क्योंकि अनुमान का लक्षण साध्यसाधनभाव ही है जैसा कि पहले भी बतलाया जा चुका है और आगे भी बतलाया जाएगा।

इस प्रकार वाक्यार्थ रूप से प्रस्तुत किया गया या पदार्थरूप से प्रस्तुत किया गया हेतु वास्तविक हेतु ही होगा [ कविकल्पित नहीं ] अतः उसे पृथक् अलङ्कार कहना ठीक नहीं है। क्योंकि उसका अन्तर्भाव पूर्वकथित और आगे कही जाने वाली रीति से अनुमान में ही हो जाता है ॥

विमर्शनीकार ने काव्यलिङ्ग को अनुमान में अन्तर्भूत मान लिया है। यह प्रेरणा उन्हें रत्नाकर से मिली है। रत्नाकरकार ने भी लिखा था—

[ सू० ] 'परप्रत्यायकं लिङ्गं हेतुः'

[ वृ० ] परग्रहणमनुमानवैलक्षण्यार्थम् । तेन स्वयं लिङ्गात् प्रतिपत्तिरनुमानम्, लिङ्गेन परप्रत्यायनं परार्थानुमानरूपं काव्यलिङ्गपर्यायो हेतवलङ्कारः । यद्यन्यनुमानस्यैव स्वार्थपरार्थरूपत्वेन द्वैविध्यं तथापि प्रतिपादितरूपेण प्राच्यैः पृथक् लक्षितः, तथैवैश्यापि लक्षणम् ।'

[ सूत्र ] दूसरे को ज्ञान कराने वाला लिङ्ग हेतु।

[ वृत्ति ] 'पर' = 'दूसरे' शब्द का ग्रहण अनुमान से इसका भेद करने के लिए किया। इस प्रकार स्वयं लिङ्ग से हुई प्रतीति अनुमान होता है और लिङ्ग से दूसरे को ज्ञान कराने में हेतु। स्वार्थ और परार्थ दोनों रूप एक अनुमान के ही होते हैं तथापि प्राचीन आचार्यों ने अलग-अलग लक्षण किये हैं अतः यहाँ भी अलग लक्षण किया गया। पण्डितराज जगन्नाथ ने भी अनुमान से काव्यलिङ्ग का भेद करते हुए मुख्यतः दो सूत्र प्रस्तुत किए हैं—

१—अनुमान में अनुमानप्रक्रिया वक्तृगत और काव्य में उपनिबद्ध रहती है, जब कि काव्यलिङ्ग में नष्ट कविगत रहती है और अनिबद्ध।

२—अनुमान में हेतु और उसका हेतुत्व दोनों वाच्य रहते हैं जब कि काव्यलिङ्ग में हेतुत्व नियमतः व्यंग्य ही रहता है।

इतना कहने के बाद भी काव्यलिङ्ग विवेचन के अन्त में पण्डितराज ने इसको स्वतन्त्र अलङ्कार न मानने का पक्ष भी पूरे बल के साथ प्रस्तुत कर दिया है। विमर्शनीकार का उल्लेख बिना किए उनके उपर्युक्त विवेचन को उन्होंने इस प्रकार संक्षिप्त किया है—

१—काव्यलिङ्ग में कोई चमत्कार नहीं रहता क्योंकि उसमें प्रातिमत्व नहीं रहता।

२—इलेष आदि [ उपर्युक्त पक्षों के 'जाड्य, रस' आदि पदों ] के रहने से हुआ चमत्कार उन्हीं इलेष आदि का चमत्कार होगा, काव्यलिङ्ग का नहीं।

३—इस प्रकार तो प्राचीनों द्वारा प्रतिपादित अनेक अलङ्कार अलङ्कार सिद्ध नहीं हैं तो हो जाएं। इसमें हमारा कुछ नहीं विगड़ता।

आगे बढ़कर उन्होंने यह भी कहा दिया है कि काव्यलिङ्ग निर्हेतुत्वदोष का अभाव है, अलङ्कार नहीं।

विमर्शनीकार के कुछ हेतु अमान्य हैं। वे काव्यलिङ्ग में हेतुत्व को व्यंग्य नहीं मानते। यहाँ तक कि रत्नाकरकार द्वारा उद्धृत 'वक्षःस्थली०' आदि पक्षों को उद्धृत कर वे उसमें उनके द्वारा प्रतिपादित व्यङ्ग्यार्थ को वाच्यार्थ ही मानते हैं। वक्षःस्थली में प्रतीत हो रहा 'जगत्प्रसूतित्व' कमपि वाच्य नहीं हो सकता, क्योंकि उसका प्रतिपादक कोई भी विशेषण वक्षःस्थली के साथ



नहीं है। जिसके साथ है वह एक मिन्न पदार्थ है विष्णुरूपी। विमर्शनीकार केवल इतना कह सकते थे कि यहाँ हेतुत्व वाच्य जैसा ही स्पष्ट व्यंग्य है। इस तथ्य को स्वयं ररनाकरकार ने भी स्वीकार किया है।

काव्यलिङ्ग को अलग न मानने का जो मौन समर्थन पण्डितराज तक चलाता रहा उसका समर्थ उत्तर विद्वेदवर ने दिया है। उनका कहना है कि काव्यलिङ्ग में उपनिबद्ध होने वाला हेतु भले ही वास्तविक हो, किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि वह कविप्रतिभाप्रसून नहीं है। हेतुरूप से दिया गया पदार्थ भले ही लौकसिद्ध हो, किन्तु उसको वस्तुविशेष या परिणाम-विशेष के प्रति हेतु सिद्ध करने का कार्य एकमात्र प्रतिभाजन्य ही होता है। विद्वेदवर का कथन मान्य है। नीलकण्ठदीक्षित ने भी कहा है—

‘यानेव शम्भ्रान् वयमालपापो यानेव चार्थान् वयमुल्लिरताम.।

तेरेव विन्यासविशेषमन्यैः सवेदयन्ते कवयो यथासि ॥’

‘कवि के शब्द और अर्थ नए नहीं होते, हमारे अनुभूत ही होने हैं, किन्तु उनकी योजना, उनका विन्यास उमका अपना होता है।’ [ शिवलीलाणव ]।

सच यह है कि अनुमान का अनुमान, अनुमानरूप में दिखाई देता है जब कि काव्यलिङ्ग का नहीं। इसीलिए यहाँ चमत्कार हेतुसिद्धि में है और अनुमान में अनुमानप्रक्रिया के प्रस्तुतीकरण में। हेतु अनुमान का एक अंग होता है न कि अनुमान का समग्र शरीर। काव्यलिङ्ग में वाक्यार्थ या पदार्थ को हेतु बनाना चमत्कार का कारण होता है जब कि अनुमान में किसी साध्य को सिद्धि। इसीलिए दोनों अलकारों की संज्ञाएँ भिन्न हैं। इस प्रकार काव्यलिङ्ग अनुमान से ठीक उसी प्रकार भिन्न है जिस प्रकार भावध्वनि रसध्वनि से। यह तथ्य अनुमान के प्रकरण में और भी स्पष्ट हो जाएगा।

### काव्यलिङ्ग का इतिहास—

काव्यलिङ्ग के इतिहास में आचार्यों के तीन वर्ग मिलते हैं [ १ ] रुद्रट के पूर्ववर्ती आचार्य [ २ ] रुद्रट तथा [ ३ ] रुद्रट के परवर्ती आचार्य।

[ १ ] प्रथम वर्ग में दण्डी भामह और उद्भट आते हैं। दण्डी और भामह में परस्पर विरोध है, उद्भट समन्वयवादी है। दण्डी ने ‘हेतु’-नामक अलकार का विरचन विवेचन कर उसमें आने वाले कारणों के दो वर्ग बनाए थे कारक और शापक।

‘हेतुश्च सूक्ष्मलेही च वाचामुत्तमभूषणौ।

कारकशापको हेतू तौ चानेकविधौ ०० ॥’ २।२३५ ॥

### कारक का उदाहरण—

‘अयमान्दोलित-प्रौढ-चन्दन-द्रुम-पल्लवः ।

उरपादयति सर्वस्य प्रीतिं मलयमारुतः ॥’

‘चन्दनवृक्ष के प्रौढ पत्तों को हिला रहा यह मलयमारुत सब को अच्छा लग रहा है।’

यहाँ प्रीति की उत्पत्ति के प्रति मलयमारुत को दिया गया ‘आन्दोलित०’ इत्यादि विशेषण कारण है।

शापक हेतु—‘अवधैरिन्दुपादानामसाध्यैश्चन्द्रनाम्भसाम् ।

देहोष्माभिः सुशोभ ते सखि कामातुर मनः ॥’

—‘हे सखि! चन्द्रमरीचियों से शान्त न होने वाली और चन्द्रनरस से भी असाध्य देहोष्मा से तुम्हारा मन सुख से कामातुर प्रतीत हो जाता है।’

यहाँ देहोष्मा साधन है और कामातुरता साध्य । हेतुहेतुमदभाव भी देहोष्मा की तृतीया-  
विमक्ति द्वारा शब्दतः कथित है । इस प्रकार स्पष्ट है कि प्रथम का हेतु काव्यलिङ्ग कहा जा सकता  
है और द्वितीय अनुमान । यद्यपि काव्यलिङ्ग के साथ-साथ प्रथम हेतु को परिकर भी कहना  
सरल है ।

भामह = ने दण्ठी के इस पक्ष का स्पष्ट खण्डन किया और कहा—'हेतु के उदाहरणों में कोई  
वैचित्र्य नहीं रहता । यह तो उक्तिमात्र है, उसे अलंकार नहीं कहा जा सकता'—

हेतुश्च सूक्ष्मो लेशोऽथ नालंकारतया मताः ।

समुदायाभिधानस्य वक्रोक्तयनभिधानतः ॥' २।८५ ॥

दण्ठी ने—

'गतोऽस्तमर्को भातीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिणः ।

शतीदमपि साध्वेव कालावस्थानिवेदने' ॥ २।२४४ ॥

कहकर 'सूर्य डूब गया, चन्द्रमा चमक रहा है, पक्षी घोंसलों की ओर जा रहे हैं'—ऐसे  
वाक्यों में भी सन्ध्याकाल की सूचना होने से हेत्वलंकार माना था । भामह ने स्पष्ट कहा—

'गतोऽस्तमर्को भातीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिणः ।

इत्येवमादि किं काव्यं वार्तामितां प्रचक्षते' ॥ २।८६ ॥

'सूर्य डूब गया, चन्द्रमा चमक रहा है, पक्षी घोंसलों की ओर जा रहे हैं'—इत्यादि वाक्य कैसे  
काव्य ? इन्होंने तो बात भर कहते हैं ।'

इस प्रकार भामह ने शापकमात्र का खण्डन किया, कारक का नहीं । किन्तु अमान्य घोषित  
कर दिया पूरे हेतु को । इसी के साथ उन्होंने अनुमान नामक कोई अलंकार नहीं माना ।

उद्भट—ने इसके विरुद्ध शापक हेतु को ही अलंकार मानने का साहस किया । वे कारकांश पर  
तो चुप रहे किन्तु हेतु के शापकांश को उन्होंने अलंकार माना और काव्यलिङ्ग नाम दिया—

'धृतमेकं यदन्यत्र स्मृतेरनुभवस्य वा ।

हेतुतां प्रतिपद्येत काव्यलिङ्गं तदुच्यते ॥' ६।७ ॥

इस पर लघुवृत्तिकार ने लिखा—

'यत्र एकं वस्तु धृतं सद् वस्त्वन्तरं स्मारयति अनुभावयति वा तत्र काव्यलिङ्गनामालंकारः ।

पक्षधर्मत्वान्वयव्यतिरेकानुसरणधर्मतया यथा तार्किकप्रसिद्धा हेतवो लौकप्रसिद्धवस्तुविषयत्वेन  
वैरस्यभावङ्गित न तथा काव्यहेतुः अतिशयेन सर्वेषां जनानां योऽसौ हृदयसंवादी सरसः पदार्थ-  
स्तन्निद्रतया उपनिबध्यमानत्वात् । अतः काव्यलिङ्गमिति काव्यग्रहणमुपात्तम् । न खलु तच्छास्त्र-  
लिङ्गं किं तर्हि काव्यलिङ्गमिति काव्यग्रहणेन प्रतिपाद्यते ।'

[ का० ] जहाँ सुनी गई एक वस्तु अन्य वस्तु की स्मृति या उसका अनुभव कराने में हेतु  
बनती है उसे काव्यलिङ्ग कहते हैं ।

[ वृत्ति ] [ आशय ] जहाँ सुनी गई एक वस्तु अन्य किसी वस्तु का स्मरण या अनुभव कराती  
है उसे काव्यलिङ्ग नामक अलंकार कहते हैं । यहाँ पक्षधर्मता, अन्वय, व्यतिरेक आदि अनुमान  
सामग्री तो रहती है किन्तु उसमें वैसी नीरसता नहीं रहती जैसी तर्कशास्त्र में रहती है । इसका  
कारण है काव्यगत पदार्थों की सरसता । इसीलिए काव्यशब्द का प्रयोग किया गया है ।

इस प्रतिपादन से स्पष्ट है कि उद्भट ने काव्यलिङ्ग नाम से शापकहेतुमूलक अनुमान को ही  
अलंकार माना है । अनुमान नाम से उद्भट में कोई अलंकार नहीं मिलता ।

इस प्रकार दण्डी ने हेतु के दोनों अंशों को अलङ्कार माना, मामूह ने दोनों को अनलङ्कार और उद्भट ने ज्ञापकांश को अलङ्कार तथा कारकांश को अनलङ्कार । इस प्रकार उद्भट के मत में हेतुमूलक अलङ्कार अलङ्कार तो है किन्तु केवल ज्ञापकांश में ही और उभका भी नाम हेतु'न होकर काव्यलिङ्ग है, साथ ही नाम काव्यलिङ्ग होने पर भी वह अनुमानस्वरूप है स्वतन्त्र नहीं । फलतः दण्डी के मत में जहाँ काव्यलिङ्ग और अनुमान दोनों का माना जाना संभव है वहाँ उद्भट के मत में केवल अनुमान का हा । उद्भट द्वारा उदाहरण से यह तथ्य और भी स्पष्ट है—

‘छायेय तत्र शेषाङ्गकान्ते किञ्चिदनुगन्वला ।

विभूषाघटनादेशान् दर्शयन्ती दुनोति माम् ॥’

‘तुम्हारे अन्य अंगों को कान्ति से कुछ मलिन यह कान्ति आभूषण पहनने योग्य स्थान दिखला रही और मुझे दुःखी कर रही है ।’

उदाहरण की अभिव्यक्ति अपने आप में अस्पष्ट है, किन्तु इससे यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि अन्य अंगों की कान्ति से कण्ठ आदि की कान्ति मलिन है । इससे लगता है कि इन अंगों में भूषणसंयोग बहुत दिनों से छूटा है । इस प्रकार है वह अनुमान ही । इस प्रकार उद्भट ने अनुमान के लिए काव्यलिङ्ग शब्द का प्रयोग किया है ।

उपर्युक्त सामग्री से यह भी स्पष्ट है कि प्रथम वर्ग के आचार्यों में अलङ्कार का नाम ‘हेतु’ या ‘लिङ्ग’ ही अधिक मान्य था अनुमान नहीं ।

रुद्रट=[ २ ] द्वितीय वर्ग में केवल रुद्रट आते हैं । इन्होंने दण्डी के ही समान हेतु के दोनों अंशों को अलङ्कार मान लिया है किन्तु उसे नाम अनुमान दिया है । उनका विवेचन इस प्रकार है—

‘वस्तु परोक्षं यस्मिन् साध्यमुपन्यस्य साधकं तस्य ।

पुनरन्यदुपन्यस्येद् विपरीत चैतदुपमानम् ॥’ ७।१६ ॥

—‘परोक्ष वस्तु साध्यरूप में उपस्थित कर उसके लिए साधक भी उपस्थित करे अथवा इसके विपरीत साधक उपस्थित कर साध्य को उपस्थित करे तो अलङ्कार का नाम अनुमान होता है ।’

उदाहरण—

‘वचनमुपचारगर्भं दूरादुदगमनमासनं सकलम् ।

इदमद्य मयि तथा ते यथासि नूनं प्रिये कुपिता’ ॥

—‘प्रिये ‘भीषणारिक बातचीत, दूर से ही उठ खड़े होना, दूर ही बैठना’ यह सब मेरे प्रति कुल देसा है कि जिससे लगना है तुम मुझ पर गुस्ता हो ।’

यह ठीक अनुमान का उदाहरण है । इसके अतिरिक्त रुद्रट ने जो दूसरा हेतु दिया है वह काव्यलिङ्ग का विषय माना जा सकता है । वह यह है—

‘यत्र बलीय कारणमालोक्याभूतमेव भूतमिति ।

भावीति वा तथान्यत् कथ्येत तदन्यदनुमानम् ॥’

—जहाँ बलवत्तर कारण देखकर न भी हुए कार्य को हो चुका या होने वाला बनलाना दूसरा अनुमान होता है । उदाहरण—

‘अविरलविलोळब्रह्म’ कुटुंबार्जुननीपसुरमिवनवात ।

अयमायातः काली इन्न मृता. पयिकगेहिन्यः ॥’

—‘घने धहराते वादलः कुडैया, कोहा और कदम्ब से झुगन्धित वनवात लिए यह समय [ प्रावृट् ] आ गया । हन्त ! पथिक स्त्रियाँ मरीं !’

—यहाँ कार्यकारणभाव स्पष्ट है । उदात्तपन सामग्री विद्युत्कृत्यु का कारक कारण है, शापक नहीं । अतः इसे परवर्ती आचार्यों की मान्यता के अनुसार काव्यलिङ्ग कहा जा सकता है । स्वयं रुद्रट ने काव्यलिङ्ग नाम से कोई भी अलंकार नहीं बतलाया है ।

इस प्रकार अलंकार के नामकरण की दृष्टि से उक्त आचार्यों के दो वर्ग बन जाते हैं— एक हेतुवादी और दूसरा अनुमानवादी । प्रथम में दण्डी और उद्भट आते हैं और दूसरे में केवल रुद्रट ।

मम्मट = मम्मट कारण के दोनों अंशों को अलग अलग कर देते हैं । वे कारकांश को काव्य-लिङ्ग नाम से एक स्वतन्त्र अलंकार मान लेते हैं और शापकांश को अनुमान नाम से स्वतन्त्र । उनके लक्षण इस प्रकार हैं—

‘काव्यलिङ्गन् हेतोर्वाक्यपदार्थता’

काव्यलिङ्ग नाम अलंकार को तब मिलता है जब हेतु वाक्यार्थरूप होता है या पदार्थरूप । उदाहरण—

‘वपुःप्रादुर्भावादनुमितयिदं जन्मनि पुरा  
पुरारे न प्रायः क्वचिदपि भवन्तं प्रणतवान् ।  
नमन् मुक्तः संप्रत्यहमतनुरग्रेऽप्यनतिमान्  
महेश ! क्षन्तव्यं तदिदमपराधमपि ॥’

—‘हे प्रभो शिव ! शरीर मिला इससे यह अनुमान हुआ कि पूर्वजन्म में मैंने आपको प्रायः कभी भी प्रणाम नहीं किया, और अभी जो प्रणाम कर रहा हूँ उससे मुझे आगे शरीर मिलेगा नहीं, अतः तब भी प्रणाम न कर पाऊँगा । भगवन् आप मेरे ये दोनों अपराध क्षमा करें ।’

इस पद्यरत्न में अपराध के प्रति प्रणामाभाव को कारण बतलाया गया है । प्रणामाभाव प्रथम तीन चरणों द्वारा बतलाया गया है अतः वह वाक्यार्थरूप है । वाक्यार्थगत अनेकता का उदाहरण मम्मट ने नहीं दिया । सर्वस्वकार ने वह भी दिया है । मम्मट ने पदार्थगत एकत्व और अनेकत्व के लिए अवश्य ही दो पृथक् उदाहरण दिए हैं । वे सर्वस्व के उदाहरणों से गतार्थ हैं ।

अनुमान का विवेचन मम्मट ने इस प्रकार किया है—

‘अनुमानं तदुक्तं यत् साध्यसाधनयोर्वचः ।’

जिसमें साध्य और साधन का शब्दतः कथन हो वह अनुमान । उनका उदाहरण सर्वस्वकार ने अनुमान प्रकरण में उद्धृत कर दिया है—‘यत्रैता लहरी०’ । वह रुद्रट के ‘वचनमुपचारगर्भ०’ पद्य से गतार्थ है । सर्वस्वकार ने मम्मट का ही अनुसरण किया है । रत्नाकरकार ने भी अनुगमन तो मम्मट का ही किया किन्तु नामकरण में उन्होंने काव्यलिङ्ग के लिए हेतुपक्ष का अनुगमन किया और दण्डी के ही समान उसे हेतु कहा । उनका लक्षण इसी प्रकार के भारम्भ में दिया जा चुका है । विमर्शिनीकार ने पुनः रुद्रटपक्ष को ही प्रबल प्रतिपादित किया । वे रत्नाकर, सर्वस्व और मम्मट के प्रति वेमुलाहिजे हो गए ।

कुबलयानन्द, रसगंगाधर और अलंकारकौस्तुभ में दीक्षितजी, पण्डितराज और विश्वेश्वर-पण्डित ने अनुसरण मम्मट के ही मध्यमार्ग का किया, किन्तु वे पूर्ववर्ती आचार्यों की अशक्तियाँ भी मुला नहीं सके । इनका विवेचन इस प्रकार है—

अस्पृश्यदीक्षित—‘समर्थनीयस्यार्थस्य काव्यलिङ्गं समर्थनम् ।

त्रितोऽसि मन्द कन्दर्पं मच्चित्तेऽरित त्रिलोचनः ॥’

‘समर्थनीय अर्थ का समर्थन काव्यलिङ्ग कहलाता है। यथा—‘अरे नीच काम ! मैंने तुझे जीत लिया मेरे चित्त में त्रिलोचन [ शिव ] का वास है।’ शिव ने काम को तीसरे नेत्र से भस्म किया था। शिव का वाम बतलाकर कामविजय का समर्थन किया, किन्तु दीक्षित जी का लक्षण अर्थान्तरन्यास से अलग नहीं किया जा सकता। पण्डितराज ने उन्हें यही कहकर धकसोरा भी है। एक लम्बे प्रकार के द्वारा दीक्षित जी ने अनेक प्रसिद्ध उदाहरण भी प्रस्तुत किए और यह भी स्पष्ट दिखा कि प्राचीन आचार्य काव्यलिङ्ग के साथ ही ‘हेतु’ भी कहते हैं—‘इदं काव्यलिङ्गमिति, हेत्वल्कार इति व्याजहुः’। परिकारल्कार से इसका अन्तर भी दीक्षित जी ने बड़े सरम्भ के साथ बनलाया है।

पण्डितराज—‘अनुमितिकरणत्वेन सामान्यविशेषभावाभ्यां चानालिङ्गितः प्रकृतार्थोपपादकत्वेन चालिङ्गितोऽर्थः काव्यलिङ्गम् ।’

—‘अनुमितिकरणत्व तथा दो प्रकार के सामान्यविशेषभाव से रहित जो प्रकृतार्थ के समर्थक के रूप विवक्षित अर्थ वह काव्यलिङ्ग कहलाता है।’ इसमें पण्डितराज के ही कथन के अनुसार प्रथम विशेषण अनुमिति के निवारण के लिए तथा द्वितीय विशेषण अर्थान्तरन्यास के निवारण के लिए दिया गया है। अनुमान का लक्षण पण्डितराज ने केवल—

‘अनुमितिकरणत्वमनुमानम्’—

‘अनुमितिकरणता अनुमान’

इतना ही किया है।

पण्डितराज ने ‘यत् त्वत्रेण०’ तथा ‘शृग्यक्ष०’ पद्य में काव्यलिङ्ग का निराकरण कर अनुमान को ही अल्कार स्वीकार किया है। सर्वैवकार के ही समान अस्पृश्यदीक्षित ने भी उक्त दोनों पद्यों में ‘काव्यलिङ्ग’ स्वीकार किया था। पण्डितराज ने इन दोनों का खण्डन किया है। सर्वैव के—‘यत् त्वत्रेण० ००० हेतुत्वेनोक्त [ रसगगाधर में ‘हेतुरुक्त’ ]० इतना उद्धरण देकर उन्होंने कहा है—इत्यल्कारसर्वैववृत्तोक्तम्, अनुमोदितं च कुवलयानन्दकृता तदुपपत्त्यसत् । ००० ‘अथ चानुमानस्यैव विषयः ।’

‘इन दोनों का कथन गलत है। ०० यह भी अनुमान का ही विषय है।’ एक एक कर दोनों पद्यों में अनुमान प्रकार भी इन्होंने इस प्रकार दिए हैं—

१ = देव नायिकाह्रसादृश्यदर्शनअन्यमद्विष्टसत्तासहिष्णु तत्तत्राधिकान्नसादृश्याधारविषयकार्याद्य मदीयशत्रुभूतयशदत्तादिवत् ।

—‘विधाता नायिका के अंगों के सादृश्य से उत्पन्न मेरे सुख का असहिष्णु है, क्योंकि वह नायिका के उन उन अंगों के सादृश्य का नाशक है जैसे मेरा शत्रु यक्षदत्त ।’

२—‘शृग्यो दक्षिणानिलसम्यक्वत्यो दक्षिणामिमुत्तविलक्षणनेत्रव्यापारवत्त्वात् ।

‘शृगियों दक्षिणानिल के रूपक से तुफ थो क्योंकि वे दक्षिण की ओर नेत्रों का विलक्षण व्यापार कर रही थीं।’ पण्डितराज का यह भ्रम केवल तथ्य को लेकर है। वह यह कि यहाँ हेतुहेतुमद्भाव क्वचिन्न न होकर क्वचिन्नवत् क्वचिन्न है। यद्यपि ऐसा लगता है कि द्वितीय पद्य का सदर्भ उन्हें विदित नहीं है। वे नहीं जानते कि यह पद्य रघुवश का है। वहाँ दक्षिणानिल का कोई प्रयोग ही नहीं है। सब यह है कि इन पद्यों में अनुमिति क्वचिन्न न होने पर भी अनुमिति रूप

से प्रस्तुत नहीं है क्योंकि दोनों ही स्थलों में अनुमान परार्थानुमान नहीं है। यह तो स्मरणभाव है। इसके अतिरिक्त प्रथम में अनुमिति सर्वथा गम्य ही है और द्वितीय में 'सन्वोधन्'—द्वारा वाच्यप्राय होने पर भी हेतुहेतुमद्भाव वाच्य नहीं है, क्योंकि सन्वोधन का हेतु दक्षिण की ओर आँसे घुमाना ही है। उसका हेतुत्व तब साक्षात् वाच्य होता जब कहा जाता 'शृण्विषो के दक्षिणाभिमुख घूम रहे नेत्र जतला रहे ये कि तुम्हें राक्षस इसी दिशा में ले गया है।' इसी कारण नागेश ने पण्डितराज का खण्डन किया है। उन्होंने लिखा है 'अनुमितिगम्य भी हो और तब भी यदि अनुमान ही अलंकार माना जाने लगे तो काव्यलिङ्ग कहीं होगा ही नहीं। स्थिति यह है कि वाच्य अनुमान अनुमानालंकार कहलाता है और गम्य काव्यलिङ्ग'। [ ६० रसगंगाधर मर्मप्रकाश काव्यलिङ्ग का अन्त ]।

पण्डितराज ने हेतु के वाक्यगत और पदगत होने तथा एक या अनेक होने को भी चमत्कार की दृष्टि से निरर्थक माना है।

विश्वेश्वर का काव्यलिङ्गनिरूपण यह है—

'वाच्यपदार्थत्वान्यां हेतुक्तिः काव्यलिङ्गं स्यात् ।' 'हेतु की वाच्य और पदार्थ के रूप में वक्ति काव्यलिङ्ग कहलाती है।'

काव्यलिङ्ग का परिकर से भेद—

विशेषणगत चमत्कार परिकर में भी रहता है और काव्यलिङ्ग में भी। पदार्थ काव्यलिङ्ग में हेतु विशेषणरूप से आता है यद्यपि उसका हेतुत्व गम्य रहता है। इस प्रकार पदार्थकाव्यलिङ्ग और परिकर की स्थिति में अन्तर करना भी एक प्रश्न है। इसे प्रथमतः रत्नाकरकार ने उठाया है। उन्होंने अन्तर स्पष्ट करते हुए लिखा है—

'वाच्योपस्कारकता व्यंग्यस्य सदैव परिकरे ज्ञेया ।

व्यङ्ग्यादिलिष्टो वाच्यो वाच्यं प्रत्येव हेतुरिति' ॥

'परिकर में व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ का उपस्कारक रहता है जब कि हेतु में व्यंग्यार्थ से युक्त होकर वाच्य वाच्य के प्रति हेतु बनता है'। इसका स्पष्टीकरण पण्डितराज ने इस प्रकार किया है— 'हेत्वलंकार में व्यंग्यार्थ का कोई महत्त्व नहीं रहता, वह निरर्थक रहता है, जब कि परिकर में वह प्रकृत अर्थ में शोभा भी बढ़ाता है और कभी कभी उसको सिद्धि का भी कारण बनता है।' [ ६० रसगंगाधर परिकरप्रकरण० ] पण्डितराज ने परिकर और काव्यलिङ्ग के जो उदाहरण दिए हैं उनसे यह तथ्य स्पष्ट है कि परिकर के विशेषणों में हेतुत्व नहीं रहता जब कि पदार्थकाव्यलिङ्ग में बही रहता है।

यहाँ श्रीविद्याचक्रवर्त्ती की संग्रहकारिका यह है—

'काव्यलिङ्गं तु हेतुत्वेनोक्तिर्वाक्यपदार्थयोः ।

नाथमर्थान्तरन्यासो हेतोः शब्दत्वसंश्रयात् ॥'

काव्यलिङ्ग वाक्यार्थ या पदार्थ की हेतुरूप से वक्ति को कहते हैं। यह अर्थान्तरन्यास नहीं है, क्योंकि इसमें हेतु शब्दतः कथित रहता है।

[ सर्वस्व ]

[ सू० ५९ ] साध्यसाधननिर्देशोऽनुमानम् ।

यत्र शब्दवृत्तेन पक्षधर्मान्वयव्यतिरेकवत् साधनं साध्यप्रतीतये निर्दिश्यते, सोऽनुमानालंकारः । विच्छित्तिविशेषश्चात्रार्थादाश्रयणीयः, अन्यथा तर्कानुमानात् किं वैलक्षण्यम् ।

उदाहरणम्—

‘यथा रन्ध्रं व्योम्नश्चलजलद्धूमः स्थगयति  
स्फुलिङ्गानां रूपं दधति च यथा फीटमणयः ।

यथा विद्युग्ज्वालोज्ज्वलनपरिपिङ्गाश्च, ककुम-  
स्तथा मन्ये लग्नः पथिकतरुपण्डे स्मरदधः ॥’

अत्र धूमस्फुलिङ्गकपिलदिफत्वानि घट्टिलिङ्गानि धिरूपत्याहयशब्दप्रति  
पादितं यद्भि गमयन्तीत्यनुमानम् । रूपकमूलत्वेनालंकारान्तरगर्भाकारेण  
विच्छिन्त्याश्रयणात्तर्कानुमानवैलक्षण्यम् ।

क्वचित्तु शुद्धमपि भवति । यथा—

‘यत्रैता लदरीचलाचलदृशो व्यापारयन्ति भ्रुवं  
यत्तत्रैव पतन्ति संततममी मर्मस्पृशो मार्गणाः ।

तच्चक्रीकृतचापमञ्चितशरप्रेङ्खत्कर. क्रोधनो  
घावत्यप्रत पव शासनधरः सत्यं सदासां स्मरः ॥’

अत्र योपितां भ्रुव्यापारेण मार्गणपतनं स्मरपुरोगामित्वे साध्येऽनलंकृत-  
मेव साधनमिति शुद्धमनुमानम् । प्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नार्थनिष्ठत्वेन च विच्छि-  
त्तिविशेषाश्रयणाच्चादत्त्वम् ।

अयमत्र विण्ढार्थः— इहास्ति प्रत्याय्यप्रत्यायकभावः । अस्ति च समर्थ-  
समर्थकभावः । तत्राप्रतीतप्रत्यायने प्रत्याय्यप्रत्याय्यकभावः । प्रतीतप्रत्यायने  
तु समर्थसमर्थकभावः । तत्र प्रत्याय्यप्रत्यायकभावेऽनुमानम् । समर्थसमर्थ-  
कभावे तु यत्र पदार्थो हेतुस्तत्र हेतुत्वेनोपादाने ‘नागेन्द्रद्वस्तास्त्वचि कर्क-  
शात्वात्’ इत्यत्र न कश्चिदलंकारः । यत्र तूपात्तस्य हेतुत्वं ययोद्वाहते विषये  
‘मृग्यश्च दर्भाङ्कुरनिर्व्यपेक्षा’ इत्यादौ तत्रैकं काव्यलिङ्गम् । यत्र तु चाक्रयार्थो  
हेतुस्तत्र हेतुत्वप्रतिपादकमन्तरेण हेतुत्वायोपन्यासे काव्यलिङ्गमेव । तट-  
स्थत्वेनोपन्यस्तस्य तु हेतुत्वेऽर्थान्तरन्यासः । एवं चास्यां प्रक्रियायां कार्यका-  
रणवाच्यार्थयोर्हेतुत्वे काव्यलिङ्गमेव पर्यवस्यति, समर्थवाच्यार्थस्य सापे-  
क्षत्वात्, ताटस्थ्याभावात् । ततश्च सामान्यविशेषभावोऽर्थान्तरन्यासस्य  
विषयः । यत्पुनरर्थान्तरन्यासस्य कार्यकारणगतत्वेन समर्थकत्वमुक्तम्,  
तदुक्तलक्षणं काव्यलिङ्गमनाश्रित्य तद्विषयत्वेन लक्षणान्तरस्यौद्भृतराधि-  
तत्वात् ।

उक्तलक्षणाश्रयणे तु यत्त्वग्नेत्रेत्यादिविचिको विषयः काव्यलिङ्गस्यार्था-  
न्तरन्यासाद् दर्शित इति कार्यकारणयोः समर्थसमर्थकत्वमर्थान्तरन्यासे पूर्वं  
दर्शितमितीयं गमनिकाश्रयितव्या ।

एवं तर्कन्यायमूलमलंकारद्वयमिह प्रतिपादितम् ।

[ सू० ५९ ] साध्य की सिद्धि के लिए साधन का निर्देश [ हो तो अलंकार ] अनुमान [ कहलाता है ] ॥

[ व० ] जिसमें साधन शब्दवृत्ति [ अभिधा ] द्वारा पक्ष [ साध्यसिद्धिस्थल ] में रहता हुआ, [ साध्य के साथ ] अन्य तथा व्यतिरेक से युक्त तथा साध्य की प्रतीति कराता हुआ कथित हो, वह अनुमानालंकार होता है । [ अलंकारत्व के लिए अपेक्षित ] चमत्कार इसमें ऊपर से लाना पड़ता है, नहीं तो तर्कशास्त्रीय अनुमान से [ इस अनुमान का ] अन्तर ही क्या रहे । उदाहरण—

‘क्योंकि धूमते मेघों के धूम ने आकाशरूपी रन्ध्र [ गुफा ] को भर दिया है, क्योंकि जुगनु चिनगारियों का रूप धारण कर रहे हैं और क्योंकि विजलीरूपी लपटों के धक्क उठने से दिशाएँ पीली पड़ गई हैं, इसलिये मैं समझता हूँ ‘पथिकरूपी वृक्षसमुदाय में काम को देवार लग गई है’ ।

यहाँ धूम, चिनगारी और दिशाओं का पीलापन आदि अग्नि के लक्षण हैं क्योंकि ये त्रिरूप [ पक्ष-वृत्ति, अन्वयी अर्थात् सपक्षवृत्ति और व्यतिरेकी अर्थात् विपक्षावृत्ति ] हैं । ये द्रवशब्द से कथित अग्नि को [ रूपी साध्य ] का अनुमान कराते हैं, इस कारण यहाँ अनुमान है । यह क्योंकि रूपक मूलक है, अतः अन्य अलंकार को छेवर होने से इसमें चमत्कार चला आता है, अतः इसमें तर्कानुमान से भेद है । कहीं यह शुद्ध [ अलंकारान्तर रहित ] भी होता है । यथा—

‘तरंगों के समान चंचल चितवन वाली ये जिधर अपनी मौड़ घुमाती हैं उधर ही जो ये गर्म-स्पर्शी बाण लगातार झड़ने लगते हैं, इससे स्पष्ट है कि इनकी आशा धारण कर काम क्रोध में आकर धनुष खींचते और उस पर चढ़े बाण पर हाथ साथे हुए इनके आगे-आगे सदा ही दौड़ता रहता है ।’

—यहाँ खियों के झुंझुटिचालन से बतलाई जा रही बाणवर्षा काम के आगे-आगे चलने रूपी साध्य की सिद्धि में बिना किसी अन्य अलंकार के योग के ही साधन है । अतः यह अनुमान शुद्ध [ अलंकारान्तररहित ] है । यह [ अनुमान कवि की ] प्रौढीक्तिमात्र से निष्पन्न अर्थ पर निर्भर होने के कारण विशिष्ट चमत्कार से युक्त है, अतः इसमें सुन्दरता है ।

यहाँ निष्कर्ष यह है कि यहाँ [ काव्य में एक तो ] श्राव्यशापकभाव रहता है और [ दूसरा ] समर्थसमर्थकभाव । इनमें से श्राव्यशापकभाव यहाँ होता है जहाँ अज्ञात अर्थ का ज्ञान कराया जाता है । इसके विरुद्ध समर्थसमर्थकभाव यहाँ होता है जहाँ ज्ञात अर्थ का ज्ञान कराया जाता है । इनमें से श्राव्यशापकभाव होने पर अनुमान होता है । समर्थसमर्थकभाव में जहाँ हेतुपदार्थ होता है यहाँ यदि वह हेतुरूप से कथित रहता है [ जहाँ उसका हेतुत्व कथित रहता है ] तो ‘नागेन्द्रहस्तास्त्वचि कर्कशत्वात्-’ [ कुमार० १ ]—‘हाथी की सूँड त्वचा-भाग में कर्कश होने से [ पार्वती के ऊह का उपमान न बन सकी ] आदि में कोई अलंकार नहीं होता; किन्तु ‘यूग्यश्च दर्शानुरनिर्वपेक्षाः’ आदि पूर्व उदाहृत स्थलों में जहाँ वह शब्दतः कथित होकर [ व्यञ्जनया ] हेतु बनता है [ अर्थात् उसका हेतुत्व व्यंग्य रहता है ] यहाँ एक प्रकार का काव्यलिङ्गालङ्कार कहलाता है । जहाँ हेतुवाक्यार्थ रूप होता है यहाँ हेतुत्व के प्रतिपादक शब्द के दिना हेतुत्व के लिए उसका प्रयोग होने पर काव्यालिंग ही होगा और उस [ हेतुत्व ] के दिना साधारणरूप से प्रयोग होने पर अर्थान्तरन्यास । इस प्रकार [ विचार की ] यह प्रक्रिया अपनाते पर कार्य और कारण के वाक्यार्थों में हेतुत्व रहने पर काव्यालिंग ही [ अलंकार ] ठहरता है । क्योंकि समर्थ वाक्यार्थसापेक्ष रहता है अतः यहाँ [ दोनों वाक्यार्थों में ] तटस्थता नहीं रहती । इस प्रकार अर्थान्तरन्यास का विषय [ देवल ] सामान्यविशेषभाव तक सीमित ठहरता है । [ सूत्रकार के अनुसार हमने ] अर्थान्तरन्यास में कार्यकारणभाव के आधार पर भी जो समर्थकता बतलाई है वह इस कारण कि



उद्भूतमानुषायियों ने उक्त [ कार्यकारणभावमूलक ] काव्यलिंग को छोड़कर [ काव्यलिंग नाम के साथ एक ] दूसरा ही लक्षण बनाया था [ जो श्राप्य-शापक-भावमूलक था ] और उसे उन्होंने उसी [ काव्यलिंग ] का लक्षण बतलाया था [ जब कि था वह लक्षण अनुमान का; इस प्रकार उनके मत में कार्यकारणभावमूलक काव्यलिंग का संग्रह नहीं हो पाया था, फलतः उसके संग्रह के लिए हम लोगों ने अर्थान्तरन्यास में कार्यकारणभाव का भी निवेश किया और दोनों को अभिन्न बतलाया किन्तु काव्यलिंग का ] उक्त [ कार्यकारणभावमूलक ] लक्षण अपना लिया जाता है तो अर्थान्तरन्यास से, काव्यलिंग, 'यत् स्वप्नेत्र०' आदि स्थलों में एक स्वतन्त्र ही अलङ्कार सिद्ध हो जाता है जिसका निरूपण किया जा चुका है। यह पथ इसलिए अपनाना चाहिए कि अर्थान्तरन्यास के प्रकरण में कार्यकारण का समर्थसमर्थकभाव पहले बतला दिया था।'

इस प्रकार तर्कन्यायमूलक दोनों अलङ्कार बतला दिए गए।

### विमर्शिनी

साध्येत्यादि। एतदेव श्याचष्टे—यत्रेत्यादिना। एव चात्र साध्यप्रतीतये त्रिरूपस्य साधनस्य निर्देशात्तर्कानुमानसमानकथमेवास्य लक्षणमिति भावः। यद्येवं तत्ततोऽस्य को विशेष इत्यादाह—विच्छेत्तीत्यादि। तच्चानुमान द्विधा। स्वार्थं परार्थं च। तत्र स्वार्थं यत्र मयायभवगतोऽर्थं इति स्वपरामर्शस्य निश्चयः स्यात्। परार्थं तु यत्र परेणावगतस्य वस्तुन प्रतिपादनात्परप्रयायकत्वं स्यात्। एवं च स्वार्थपरार्थभेदेन द्विविधमनुमानमेवैकोऽलंकारो वाच्यो न पुनरनुमानहेतुतया गृहणलंकारत्वम्। उभयत्रापि सामान्यलक्षणानुगमात्प्रकारप्रकारिभावस्यैवोपपत्तेः। तत्र स्वार्थानुमानं यथा ग्रन्थकृतैवोदाहृतम्। तत्र हि स्मरदशो छन्द इति स्वपरामर्शस्यैव निश्चयः। परार्थानुमानं यथा—

'तदस्ति तेषां तमसि प्रसर्पिणां निशाचरत्वं यदि पारमार्थिकम्।

ततः प्रिये संनिहितेऽत्र वासरे कथं नु तत्संचरणं भविष्यति ॥'

अत्र दिवासंचरणस्य कार्यस्य विरुद्धं निशाचरत्वं परप्रयायको हेतुः। रूपकमूलत्वेनेति। रूपकमन्तरेणानुत्थानात्। ननु चास्यालंकारान्तरगर्भीकारमात्रमेव किं तर्कानुमानवैलक्षण्यमिति तम्, उतान्यदपि किंचिद्विद्यादाह—कचिद्विद्यादि। अनलंकरणमिति। शास्त्रधर्मिः प्रौढोक्तया वास्तवत्वेनैव विवक्षितावादतिशयोक्त्यालंकारान्तरगर्भीकारमावात्। अतश्चास्य कविकर्मैव वैलक्षण्यमिति मिति भावः। तदाह—प्रौढोक्तीत्यादि। एवं च कविकर्माभावात् विच्छिन्नविशेषाश्रयणं न स्यात्तत्र नायमलंकारः। यथा—

'यो यस्कथाप्रसङ्गे चिद्ब्रह्मचिद्ब्रह्मायतोष्णमि. धासः।

स भवति तं प्रति रक्तसत्वं च तथा इत्यसे मुत्तु ॥'

अत्र रक्तत्वं प्रति विशिष्टस्य निश्चितस्यार्थेऽपि हेतुत्वे वास्तवत्वात्कविप्रतिभानिर्वर्तितत्वाभावात्प्रामलकारः। यथा—

'प्रजानां विनयाधानाद् रचनाद्गणादपि।

स पिता पितरस्तासा केवल जन्महेतवः ॥'

अत्र विनयाधानादिहेतूनां वास्तवत्वादनलंकारत्वम्। न पुनरत्र हेतोरार्थत्वाभावादनलंकारत्वमिति वाच्यम्। कविकर्मण एवालकारनिबन्धनत्वेनोक्तत्वात् आर्थावस्य तदप्रयोजकत्वात्। न हि हेतोरार्थत्वेऽपि कविकर्मण्यतिरेकेणालंकारत्वं स्यात्। तच्छाब्देऽपि हेतौ कचिद्विप्रतिभानिर्वर्तितत्वेनालंकारत्वाभ्युपगमे न कश्चिदोपः। ग्रन्थकृता पुनरेत-

चिरन्तनमतानुरोधेनोद्यम् । तन्मत्तमेवाधिकृत्य हि 'अय'—मन्त्रेश्यादिना विचारः प्रस्तुतः । तत्रेति द्वयनिर्धारणे । प्रतीतेति । योद्धव्येन समर्प्यतया प्रमुख एवाधिगतस्वेत्यर्थः । न कश्चिदलंकार इति । हेतुमात्ररूपत्वात् । हेतुश्चवाचकं विनापि तदधिगमे इत्यस्य च साहवा-  
विशय इति भावः । यद्वचयति—हेतुत्वप्रतिपादकमन्तरेणेति । उपात्तत्वेति । पारिशेष्यात्  
पदार्थस्य हेतुत्वेनोपादानाभिधानात् । एकमिति पदार्थगतम् । हेतुत्वप्रतिपादक इति  
शब्दादिः । तदस्यत्वेनेति । न तु हेतुत्वेनेत्यर्थः । अत एव चानयोर्भेदः । ततश्चेति पारि-  
शेष्यात् । ननु यद्येवं तत्पूर्वमर्थान्तरन्यासस्य केनाभिप्रायेण कार्यकारणगतत्वेन समर्थकत्व-  
सुष्कमित्याशङ्क्याह—यस्यनरित्यादि । लक्षणान्तरत्वेति । पदार्थगतत्वेनैवेन्देः । यदाहुः—

‘श्रुतमेकं यदन्यत्र स्मृतेरनुभवस्य वा ।

हेतुतां प्रतिपद्येत काव्यलिङ्गं तदुच्यते ॥’ इति ।

यद्येतदुद्भटमताभिप्रायेणोक्तं तत्रकथं स्वमतं संगच्छते इत्याशङ्क्याह—उक्तेत्यादि ।  
विविक्तविषय इति । तादस्यव्यतिरेकेण वाक्यार्थस्य हेतुत्वाद्योपन्यासादर्थान्तरन्यासस्या-  
त्राध्यापृतेः । आशयित्वेनेति । न पुनर्वस्तुतः संभवतीत्यर्थः ।

साध्य इत्यादि । इसी को व्याख्या करते हैं—यत्र इत्यादि । इस प्रकार वहाँ साध्य को  
प्रतीति के लिए तीन प्रकार के साधन का निर्देश होने से इसका लक्षण भी तर्कशास्त्र के अनुमान  
के ही समान सिद्ध होता है । 'यदि ऐसा है उससे इसका अन्तर क्या'—ऐसी शंका कर लिखते  
हैं—'विच्छिन्ति' इत्यादि । यह अनुमान दो प्रकार का होता है स्वार्थ और परार्थ । इनमें स्वार्थ  
अनुमान वह है जिसमें इस परामर्श का निश्चय रहता है कि 'मैंने यह अर्थ जान लिया है' ।  
परार्थ वह वहाँ दूसरे के द्वारा अज्ञात वस्तु का प्रतिपादन रहता है फलतः जिसमें परप्रत्यायकत्व  
रहता है । इस प्रकार स्वार्थ और परार्थ भेद से दोनों प्रकार का अनुमान एक ही अलंकार कहा  
जाना चाहिये, न कि अनुमान और हेतु इन दो रूपों में पृथक् पृथक् अलंकार, क्योंकि सामान्य  
लक्षण दोनों में लागू होता है जिससे प्रकारप्रकारिभाव ही सिद्ध होता है । इनमें से जो स्वार्थानु-  
मान है उसका उदाहरण [ यथा रज्ज्वं ] ग्रन्थकार ने ही बतला दिया है । उक्त उदाहरण में  
'कामदेवार' लगी हुई है' यह वक्ता का अपना ही निश्चय है । परार्थानुमान का उदाहरण यथा—

'हे प्रियो यदि अंधेरे में घूमने वाले वन राक्षसों का निशाचरत्व वास्तविक है तो जब यह  
दिन निकला आ रहा है, इसमें उनका संचार कैसे होगा ?'

यहाँ दिन में संचाररूपी जो कार्य है उसके विरुद्ध निशाचरत्व रूपी परप्रत्यायक हेतु  
उपात्त है । रूपकमूलत्वेन = रूपकमूलक होने से, क्योंकि इस पद्य में उसका उद्यान रूपक के  
विना संभव नहीं है । [ शंका ] क्या अन्य अलंकार से युक्त होने के ही कारण इस अनुमान में  
तर्क के अनुमान से भेद आता है अथवा इसका हेतु कोई और भी है—ऐसी शंका कर लिखते हैं—  
कश्चित् । अनलङ्कृत = 'शासनधारण करना' आदि कविप्रौढोक्ति के द्वारा वास्तविक जैसे  
विवक्षित हैं इसलिये इनमें [ रत्नाकरकार आदि को ] अतिशयोक्ति आदि अन्य अलंकारों का  
निश्चय नहीं मानना चाहिये । इस लिये इसका भेदक तत्त्व कविकर्म ही है । यही कहते हैं—  
'प्रौढोक्ति' इत्यादि के द्वारा । इस प्रकार वहाँ कविकर्म का नभाव रहेगा और इसीलिये  
कोई चमत्कार नहीं रहेगा वहाँ यह अलंकार नहीं होगा । यथा—[ रत्नाकरकार द्वारा हेतु-  
लंकार के उदाहरण के रूप में उद्धृत ]

'जो जिसकी चर्चा के प्रसंग में एक एक कर लम्बी और उष्ण उर्सास लेता है वह उसके  
प्रति अनुरक्त रहता है और री सलोनी ! वह वैसा ही दिखाई दे रहा है ।' इस पदार्थ में

अनुराग के प्रति विशिष्ट उत्साह अर्थात् हेतु है तथापि वह वास्तविक है, कविप्रतिभाप्रसूत नहीं, अतः यह [ अनुमान ] अलङ्कार नहीं है। और जैसे—

‘शिक्षा का आधान, रक्षा और पालन पोषण करने से प्रजाओं का [ सच्चे अर्थ में ] पिता वह [ दिलीप ] था, उनके अपने पिता तो केवल जन्म के हेतु थे। [ रघुवंश-१ ]’

यहाँ शिक्षा का आधान आदि जो हेतु हैं वे वास्तविक हैं अतः अलङ्कार नहीं है। इसलिए नहीं कि यहाँ हेतु आर्थ नहीं है इसलिए अलङ्कार नहीं है। अलङ्कार का मूल कविकर्म को माना गया है अतः आर्थत्व उसमें कारण नहीं। ऐसा नहीं कि कविकर्म के अभाव में केवल आर्थ होने से हेतु में अलङ्कारत्व चला आए। इसलिए हेतु के शब्द रहने पर भी उसके कविप्रतिभाप्रसूत होने पर उसमें अलङ्कारत्व मानने में कोई दोष नहीं।

ग्रन्थकार ने श्मे प्राचीन आचार्यों के मत के अनुरोध से बतलाया। उन्हीं के मत को लेकर ग्रन्थकार ने ‘अथमग्न’ इत्यादि द्वारा विचार का प्रसंग चलाया है। ‘तत्र=उन्में’ यह दोनों के निर्धारण के लिए हैं। प्रतीत=बोद्धव्य व्यक्ति [ जिसे समझाया जा रहा हो ] के द्वारा समर्थरूप से आरम्भ में ही जान लिए गए। न कश्चिदलङ्कारः=कोई अलङ्कार नहीं=हेतुमात्ररूप होने से। भाव यह कि लभमें चारुत्वानिश्चय तत्र आता है जब वह हेतुत्व के वाचक शब्द के बिना ही विदित हो। जैसा कि कहेंगे—‘हेतुत्व के प्रतिपादक शब्द के बिना’। उपात्त अर्थात् शेष बचे पदार्थ का हेतुरूप से उपादान रूप अभिधान होने के कारण ‘एकम्=एक प्रकार का-’ अर्थात् पदार्थगत। हेतुत्वप्रतिपादक अर्थात् शब्द आदि। तदस्थत्वेन=न कि हेतुत्वेन। इसीलिए इन दोनों [ अर्थान्तरन्यास और काव्यलिग ] में अन्तर है। तत्रश्च=इस कारण जो शेष रहा वह सामान्यविशेषभाव। [ शका ] यदि ऐसा है तो पहले अर्थान्तरन्यासप्रकरण में किमभिप्राय से कार्यकारणों में समर्थकत्व बतलाया है। ऐसी शंका कर लिये हैं—यत् पुनः। लक्षणान्तर=दूसरा लक्षण अर्थात् केवल पदार्थगत ही मानकर किया दूसरा लक्षण, जो इस प्रकार है—‘द्युतमेकं’ [ अर्थ काव्यलिग के इतिहास में देखिए ]। [ शका ] यदि यह उद्भूत के मत के अनुसार कहा तो फिर आपका मत कैसे ठीक सिद्ध होगा—ऐसी शंका पर लिखते हैं—उक्त इत्यादि। विविचविषय=इतन्त्रशेष=यहाँ वाक्यार्थ हेतुत्व के लिए उपात्त तो रहता है किन्तु इसमें तदस्थता रहती है [ सापेक्षता नहीं ] इसलिए [ सापेक्षता से युक्त ] अर्थान्तरन्यास की पहुँच यहाँ नहीं होती। आश्रयितभ्या=अपनानी चाहिए’ अर्थ यह कि वस्तुतः ऐसा होना है नहीं ॥’

अनुमानालङ्कार के सूत्र तथा वृत्तिसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि इनके रचयिता दो पृथक् विद्वान् हैं। वृत्तिकार सूत्रकार को स्वतन्त्र विन्तक सिद्ध नहीं कर पाने। पहले उद्भूत के अनुसार सूत्र बनाना, पुन उसी तथ्य के लिए एक पृथक् सूत्र बना देना स्वीकार करने पर सूत्रकार का पक्ष शिथिल सिद्ध हो जाता है। वस्तुतः अर्थान्तरन्यास में आनेवाले कार्यकारणभाव में हेतुत्व या जनकत्व नहीं, समर्थकत्व प्रमुख रहता है। काव्यलिग में न तो समर्थकत्व ही प्रमुख रहता और न शापकत्व ही, यहाँ प्रमुख रहता है जनकत्व। यहाँ कार्य से कारण का अनुमान होता है, अतः हेतुप्रेक्षा के समान कारण का कारणत्व सिद्ध करने में ही चमत्कार रहता है। ‘यत् त्वत्’ पद्य में प्रथम तीन चरणों द्वारा प्रतिपादित अर्थ कार्य है। उससे चतुर्थ चरण में प्रतिपादित अर्थ को कारण बतलाया जा रहा है। इसी प्रकार ‘वपु प्रादुर्भाव’ पद्य में ‘अपराधदय’ कार्य है, उससे पूर्वजन्म और भावीजन्म में प्रणामाभाव में कारणत्व सिद्ध किया जा रहा है। ‘मृग्यश्च’ पद्य में भी मृगियों के दक्षिणामिमुख नेत्रसंचार में दिग्बोधरूपो कार्य के प्रति कारणत्व बतलाया जा रहा है। इस प्रकार चमत्कार के प्रति, अर्थान्तरन्यास में कारण होता है समर्थकत्व जब कि

काव्यलिंग में कारण होता है कारणत्वसिद्धि । कार्यकारणभाव दोनों अलंकारों में समान होने पर भी चमत्कारकारण भिन्न हैं अतः दोनों को एक नहीं माना जा सकता । इस प्रकार सूत्रकार का उचित समर्थन किया जा सकता था किन्तु वृत्तिकार वह नहीं कर सके । वस्तुतः वृत्तिकार ठीक वैसे ही स्वतन्त्र आचार्य हैं जैसे विमर्शनीकार । मूलकार के साथ इनकी जितनी निम्न जाय उतनी ही बहुत है ।

विमर्शनीकार ने अनुमान और काव्यलिंग की अभिन्नता का स्वर उठाया है । इस प्रकार वृत्तिकार के ही समान विमर्शनीकार भी यहाँ सूत्रकार से टकराते दिखाई देते हैं ।

### इतिहास =

काव्यलिंग के इतिहास से अनुमान का इतिहास प्रायः गतार्थ है । उससे स्पष्ट है कि अनुमान नाम से अनुमान को अलंकार मानने का प्रथम श्रेय रुद्रट को है । यद्यपि यह भी स्पष्ट है कि अनुमान का अभिप्राय दण्डी और उद्गत द्वारा भी नामान्तर से स्पष्ट कर दिया गया है । रुद्रट में इसका जो स्वरूप है वह काव्यलिंग के प्रकरण में उद्धृत किया जा चुका है । मम्मट तथा पण्डितराज के मत भी दिए जा चुके हैं । शेष आचार्यों के मत इस प्रकार हैं—

शोभाकर :- रत्नाकरकार ने अनुमान का लक्षण काव्यलिंग के साथ इस प्रकार दिया है—

( १ ) साधनात् साध्यप्रतीतिरनुमानम् ।

( २ ) परप्रत्यायकं लिंगं हेतुः ॥

साधन के द्वारा [ अर्थात् ] साध्य का ज्ञान अनुमान [ और दूसरे को ज्ञान कराने वाला लिंग हेतु ] ।

हेतु नामक काव्यलिंग से अनुमान का अन्तर करते हुए उन्होंने लिखा है—

‘परेणाप्रतिपन्नस्य वस्तुनः प्रतिपादनम् ।

परानुमानरूपो हि हेत्वलंकार इष्यते ॥

मयास्य प्रतिपन्नोऽर्थे इति यत्र निवेद्यते ।

तत्रानुमानं तेन स्यात् प्रतिपत्तिनिवेदनम् ॥’

‘दूसरे के द्वारा अज्ञात वस्तु का प्रतिपादन हेत्वलंकार कहलाता है इसमें परार्थानुमान रहता है । ‘मैंने यह पदार्थ जान लिया’ यह किसमें बतलाया जाता है वहाँ अनुमानालंकार होता है । यह ज्ञान निवेदन स्वरूप है ।’

रत्नाकरकार ने ‘यो यत्कथा०’ पद्य में अनुमान माना था । विमर्शनीकार ने उसका खण्डन किया है ।

रत्नाकरकार ने काव्यप्रकाश तथा सर्वस्व द्वारा अनुमानालंकार के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत ‘यत्रैता०’ पद्य में असंबन्ध में सम्बन्ध नामक अतिशयोक्ति मानी है । उनका कहना है कि इस पद्य में काम के साथ जिस ‘शासनधरत्व’ का संबन्ध नहीं है उसका संबन्ध बतलाया जा रहा है यहाँ उसी में चमत्कार है । उनका कथन अमान्य नहीं हो सकता किन्तु उन्हें वस्तुतः अनुमान में अतिशयोक्ति का क्षीण स्पर्श मानना चाहिये था, अनुमान का आत्यन्तिक अभाव और अतिशयोक्ति का सार्वभौम चमत्कार नहीं । अप्पयदीक्षित ने ऐसा माना भी है ।

अप्पयदीक्षित ने अनुमान का कोई स्वरूप प्रस्तुत नहीं किया—केवल उदाहरण ही दे दिए हैं । उन्होंने ‘यथा र-ध्रं’ में रूपक तथा ‘यत्रैता०’ में अतिशयोक्ति का स्पर्श माना है ।

विश्वेश्वर = ने अनुमान का लक्षण इस प्रकार बनाया है—

‘अनुमानं व्याप्यवलाद् व्यापकपीर्षमिनिष्ठा स्यात् ।’

—'व्याप्य के द्वारा पक्ष में व्यापक का ज्ञान अनुमान' । इसमें स्पष्ट ही विश्वेश्वर ने न्याय-शास्त्र को अधिक स्थान दे दिया है । व्याप्य साधन या हेतु का ही दूसरा नाम है और व्यापक साध्य का । इसी प्रकार धर्मों का अर्थ पक्ष होता है ।

विश्वेश्वर ने अनुमान के लिए अपेक्षित व्याप्ति को दो प्रकार का माना है पारमार्थिक और कविकल्पित । 'यत्रैतां' पद्य में उनके अनुसार कविकल्पित है ।

श्रीविद्याचक्रवर्ती ने इस अलङ्कार का निष्कर्ष इस प्रकार स्पष्ट किया है—

'अनुमानं तु साध्याय माधनस्योपवर्णेना ।  
तत्सङ्कीर्णत्वशुद्धत्वविच्छिन्नान्यान्यविलक्षणम् ॥  
अप्रतीनप्रतीतो स्वादनुमानव्यवस्थिति ।  
पदार्थाद् वाय वाक्यार्थाग्निर्देशे सति हेतुतः ॥  
समर्थन प्रतीतस्य काव्यलिङ्गद्रव्यं मतम् ।  
भवेदर्थांतरन्यासस्ताटस्थ्ये हेतुमावतः ॥  
कार्यकारणभावे तु तस्योक्तं लक्षणान्तरम् ॥'

अनुमान साध्य के लिए साधन का [ सर्वांगसंपूर्ण ] वर्णन होता है । यह संकीर्ण और शुद्ध दो प्रकार का होता है । अन्य अलङ्कारों से यह चमत्कार में भिन्न होता है । अनुमान होता है अज्ञान का ज्ञान कराने में । काव्यलिङ्ग इसके विरुद्ध शुद्धत कल्पित पदार्थ या वाक्यार्थरूपी हेतु के द्वारा पहले से ज्ञात पदार्थ के समर्थन में होता है । इस प्रकार यह दो प्रकार होता है । अर्थान्तरन्यास वहाँ होता है जहाँ हेतुत्व से तटस्थता रहती है [ अर्थात् हेतुत्व विवक्षित नहीं रहता, केवल सामान्यविशेषभाव रहता है । जहाँ यह विवक्षित रहता है वहाँ ] कार्यकारणभाव को लेकर इस [ अर्थान्तरन्यास ] का एक स्वतन्त्र लक्षण बना दिया गया है ।

### चिमर्दिनी

पूतदुपसहरन्नपद्वतारयति—श्वमित्यादिना ।

[ 'पद्व—प्रतिपादितम्' का अनुवाद अनुमानालङ्कार के अन्त में देखिए । ]

इस प्रकारण को समाप्त करने और दूसरा प्रकरण आरम्भ करते हैं—

### [ सर्वस्व ]

अधुना वाक्यन्यायमूला अलङ्कारा उच्यन्ते—

[ सू० ६० ] उद्दिष्टानामर्थानां क्रमेणानुनिर्द्देशो यथासंख्यम् ।

ऊर्ध्वं निर्दिष्टा उद्दिष्टाः । पश्चान्निर्देशोऽनुनिर्द्देशः । स चार्थादर्थान्तर-गतः । संयन्धश्चात्र सामर्थ्यात् प्रतीयते । ऊर्ध्वं निर्दिष्टानामर्थानां पश्चान्निर्दिष्टैरर्थैः क्रमेण संयन्धो यथासंख्यमिति वाक्यार्थः । अन्ये त्विममलङ्कारं क्रमसंज्ञयाभिदधिरे । तच्च यथासंख्यं शान्दमार्थं च द्विधा । शान्दं यत्रासम-स्तानां पदानामसमस्तैः पदैरर्थद्वारकः संयन्धः । तत्र क्रमसंयन्धस्यातिरोद्धि-तस्य प्रत्येयत्वात् । आर्यं तु यत्र समासः क्रियते तत्र समुदायस्य समुदायेन सह संयन्धस्य शान्दत्वादर्थावगमपर्यालोचनया त्ववयवगतः क्रमसंयन्धः प्रतीयते । ततोऽत्र यथासंख्य आर्यत्वम् ।

आद्यस्योदाहणम्—

‘लावण्यौकसि सप्रतापगरिमण्यग्रेसरे त्वाग्निनां  
देव त्वय्यवनोभरक्षमभुजे निष्पादिते वेधसा ।  
इन्दुः किं घटितः किमेप विहितः पूषा किमुत्पादितं  
चिन्तारत्नमहो वृथैव किममी सृष्टाः कुलक्षमाभृतः ॥’

अत्र लावण्यौकःप्रभृतीनामिन्द्रादिभिः क्रमसंबन्धस्याव्यवहितत्वेन प्रतीतिः शाब्दं यथासंख्यम् । यथा—

‘कज्जलहिमकनकरुचः सुपर्णवृषहंसवाहनाः शं वः ।  
जलनिधिगिरिकमलस्था हरिहरकमलासना ददतु ॥’

अत्र कज्जलादीनां सुपर्णादिभिः संबद्धानां जलनिध्यादिभिः सह संबन्धो हरिप्रभृतिभिः संबन्धः श्रुत्या समुदायनिष्ठः प्रतीयते । अर्थानुगमानुसारेण त्ववयवानां क्रमसंबन्धावगतिरित्यायं यथासंख्यम् ।

अब [ नीमांसाशास्त्रगत ] वाक्य = न्यायमूलक अलंकारों का निर्वचन किया जा रहा है—

[ सू० ६० ] पहले कहे गए अर्थों के क्रम से पुनः [ अन्य अर्थों का ] कथन यथासंख्यालंकार [ कहलाता है ] ।

[ उक्त ] ऊपर निर्दिष्ट = कथित = उद्दिष्ट, [ अनु = ] पश्चात् निर्देश = कथन = अनुनिर्देश, अर्थात् अन्य अर्थों का । इनमें संबन्ध [ वाक्यार्थ ] सामर्थ्य से प्रतीत होता है । इस प्रकार तारपत्र यह हुआ कि ‘पहले कहे अर्थों का बाद में कहे गए अर्थों के साथ क्रमशः संबन्ध यथासंख्य कहलाता है । [ वामन आदि ] अन्य आचार्यों ने इस अलंकार को ‘क्रम’ नाम से पुकारा है । यह यथासंख्य दो प्रकार का होता है शाब्द और आर्थ । शाब्द वह जहाँ असमस्त शब्दों का असमस्त शब्दों से अर्थ के द्वारा संबन्ध रहता है । [ यह शाब्द इसलिये कहा जाता है ] क्योंकि इसमें क्रमसंबन्ध अतिरोहित रहता और [ स्पष्ट रूप से ] बोधविषय बनता है । आर्थ वह होता है जिसमें समाप्त रहता है । यहाँ समुदाय से समुदाय का संबन्ध शब्दतः कथित रहता है, फलतः अव्यव से अव्यव का क्रमिक संबन्ध अर्थ का ज्ञान होने के पश्चात् विचार करने पर प्रतीत होता है । इस कारण यहाँ यथासंख्य में आर्थता रहती है । प्रथम का उदाहरण—

‘महाराज ! आप लावण्य के घर हैं, प्रतापगरिमा से मण्डित हैं, त्यागियों में श्रेष्ठ हैं और आपकी भुजा पृथिवी का भार सन्हालने में समर्थ है । विधाता ने जब इस प्रकार के आपको बना लिया था तब फिर चन्द्रमा को क्यों गढ़ा, सूर्य क्यों बनाया, चिन्तामणि की उत्पत्ति क्यों की और बिना काम इन कुलाधर्यों की सृष्टि क्यों की ।

इस उदाहरण में [ पूर्वोक्त ] ‘लावण्य के घर’ आदि पदार्थों का [ उत्तरार्थ के ] चन्द्रमा आदि के साथ क्रमिक संबन्ध साथे साथे प्रतीत हो जाता है इसलिये यथासंख्य शाब्द है । [ द्वितीय का उदाहरण ] यथा—

‘कज्जल, हिम और सुपर्ण सी काम्ति वाले, गरुड, वृष और इंद्र को वाहन बनाए हुए; समुद्र, पर्वत और कमल पर विराजमान विष्णु, शिव और महा तुन्दारा हमारा कल्याण करें ।’

यहाँ गृह्य आदि से सम्बद्ध कञ्जल आदि का विष्णु आदि से सम्बन्ध शम्भतः समुदायगत रूप से प्रतीत होता है। अवयवों का क्रमिक सम्बन्ध अर्थ पर विचार करने से प्रतीत होता है। इस कारण [ यहाँ ] यथासंख्य अर्थ है ॥'

### विमर्शिनी

उद्दिष्टानामित्यादि । अर्थादिति । उद्दिष्टानामेव ह्यनुनिर्देशे पीनहकार्यं स्यात् । सामर्थ्यादिति । वाक्यपर्यालोचनधलात् । अन्य इति । वामनाद्ययः । यद्वाहुः - 'उपमेयोपमानानां क्रमसंबन्धतः क्रमः' इति । अनेनास्य प्राच्योक्तत्वं दर्शितम् । अव्यवहितत्वेनेति । समासाद्यभावात् । अवयवानामिति । हरिकुम्भलादीनाम् ।

न चास्वालंकारत्वं युक्तम् । दोषाभावमात्ररूपत्वात् । उद्दिष्टानां क्रमेणानुनिर्देशे ह्यक्रियमाणेऽपक्रमाद्यो दोषः प्रसज्यते । यदुक्तम्—'क्रमहीनार्थमपक्रमम्' इति । तच्च यथा—'कीर्तिप्रतापौ भवतः सूर्यांबन्धमसाविव' इति । दोषाभावमात्रं च नालंकारत्वम् । तस्य कविप्रतिभात्मकविच्छित्तिविशेषावेनोक्तत्वात् । तत्रे चास्य 'यथासंख्यमनुदेशः समानाम्' इत्यादिसूत्रोदाहरणानां 'तूदीशलातुरवर्मतीकृच्चवारादृढकृष्णव्ययक' इत्यादीनामप्यलंकारत्वप्रसङ्गः । एतच्च बकोच्चितीवितकृता सप्रपञ्चमुक्तमित्यस्माभिरिह नापस्तम् । ग्रन्थकृता पुनरेतदुद्गमत्तानुपायितया लक्षितम् । एवम् 'आसत्त्विकप्रकंपवतां तदपेक्ष उपदेशः क्रम' इति लक्षितः क्रमोऽप्यनलंकार एव । दोषाभावमात्ररूपत्वात् । आदिपश्चाद्विदेशानामतयानिर्देशे अपक्रमाद्य एव दोषः स्यात् । यथा—'तुरङ्गमय मातङ्गं मे प्रयच्छ मदात्मम् ।' अत्र गजाश्वयोरदिपश्चाद्विदेशयोरप्यतयानिर्देशादपक्रमाद्यम् । अनयोश्च स्वस्थाननिर्देशे दोषाभावमात्रत्वम् । न पुनरलंकारत्वम् । तस्मात्—

'अवश्यं तदहो भावी विद्योयो यत्र नो भ्रवम् ।  
परिच्छद-सुहृद्-चन्तु-विषयेन्द्रिय-जीवितैः ॥'

इत्यत्र परिच्छदादीनामन्यथानिर्देशे दोष एव स्यात् । न चात्र तादृक्श्रित्विशेष उपलभ्यते येनालंकारत्व स्यात् । एवम्—

'आस्तामस्तमयोऽहमिषमिमवेर्द्धादिमात्रस्पृशो  
माभूद्वा विरनिर्ममेति च मतेर्दारामजादिष्वपि ।  
अस्माकं वसुवैरमनिष्कृतनदीसीमानुकेदारिका-  
देशमेषादिगादिष्वपि कथं सा हन्त जास्तं गता ॥'

इत्यत्रापि ज्ञेयम् ।

उद्दिष्टानाम् इत्यादि । अर्थात् = पूर्ववर्धित अर्थों का ही पुन निर्देश = कथन हो तो उभयों पुनहक्ति दोष चला आवे । सामर्थ्यात् = वाक्यार्थ के सामर्थ्य से— अर्थात् वाक्य पर विचार करने से । अन्ये = अन्य आचार्य = वामन आदि । जैसा कि [ वामन ने ] कहा है—'उपमेयों और उपमानों का क्रमिक संबन्ध होने से क्रम' [ का सू. ५।३।१७ ] होता है । इससे यह अलंकार प्राचीन आचार्यों द्वारा प्रतिपादित अतः प्रतिष्ठित है यह बतलाया गया [ इससे केवल नामान्तर-मात्र बतलाया गया है क्योंकि वामन के पूर्ववर्ती आचार्य दण्डी और भागद ने इसे यथासंख्य नाम से ही निरूपित किया है ] । अव्यवहितत्व = समास आदि न होने से । अवयवानाम् = अवयवों का = हरि कञ्जल आदि का ।

इसे अलंकार मानना ठीक नहीं है, क्योंकि यह दोषाभावमात्र है। यदि कथित पदार्थों का अनुकथन क्रम से न किया जाए तो 'अपक्रमत्व' नामक दोष होता है। जैसा कि कहा है— 'क्रमहीन पद अपक्रमत्व दोष से युक्त होता है' [ वामन काव्या० सू० २।२।२२ ]। इसका उदाहरण यह प्रयोग है—'भापके कीर्ति और प्रताप सूर्य और चन्द्र के समान है' [ वामन का० सू० वृ० २।२।२२ ]। [ यहाँ कीर्ति का उपमान चन्द्र है और प्रताप का सूर्य अतः इनका प्रयोग 'चन्द्र और सूर्य' इस क्रम से होना चाहिए था ]। केवल दोषाभाव को अलंकाररूप नहीं माना जा सकता। क्योंकि अलंकार तो वह उक्ति होती है जो कविप्रतिभात्मक होती है, यह हम पहले भी कह चुके हैं। केवल दोषाभावरूप ही अलंकार हो तो 'यथासंख्यमनुदेशः समानाम्' = [ १।३।१० अ० ] समान अर्थों का अनुनिर्देश यथासंख्य होता है इत्यादि [ पाणिनिकृत व्याकरण-सूत्र ] के उदाहरण—'तूदी, शलातुर वर्मती, कूचवार शब्दों से ढक्, छण्, ढल्, यक् प्रत्यय होते हैं' [ अ० ४।३।१४ ] इत्यादि में अलंकार मानना पड़ेगा। इस विषय का विवेचन वक्रोक्ति-जीवितकार ने विस्तार पूर्वक [ वक्रोक्तिजीवित-१ ] किया है इसलिए यहाँ [ हम इस विषय पर अधिक ] श्रम नहीं किया चाहते। ग्रन्थकार ने इस [ यथासंख्य ] का लक्षण इसलिए किया है कि वे उद्गटाचार्य के मत के अनुयायी हैं।

इसी प्रकार 'आसत्ति [ सम्बन्ध ] और विप्रकर्ष [ दूरी ] से युक्त पदार्थों का उन्हीं [ सम्बन्ध तथा दूरी ] को लेकर हुआ कथनक्रम [ क्रमालंकार कहलाता है ]—'इस प्रकार लक्षित क्रम भी अलंकार नहीं है, क्योंकि वह भी दोषाभावमात्ररूप है। पूर्वपश्चाद्भाव के क्रम के साथ कहे जाने योग्य पदार्थों का कथन यदि वैसा नहीं हो तो अपक्रमत्वनामक दोष ही होता है। अलंकारत्व नहीं। इस कारण—

'अहो ! जहाँ परिचारक, मित्र, बन्धुबान्धव, [ रूपादि ] विषय, इन्द्रियाँ तथा प्राणों से हमारा वियोग अवश्य ही होने वाला है।' इसमें परिचारक आदि का कथन यदि इस क्रम से न हो तो दोष ही होगा। इसके अतिरिक्त इस प्रकार के कथन में ऐसा कोई वैशिष्ट्य भी नहीं मिलता जिससे इसे अलंकार माना जा सके। इसी प्रकार—

'देह आदि में अहंत्व [ आत्मत्व ] का अभिमान मिटना [ तो ] दूर रहे, श्री पुत्रादि में भी ममत्व की बुद्धि भले ही दूर न हो; आश्चर्य और खेद इसका है कि घन, घर, बाग-बगीचे, नदीतट, उसके पास की ब्यारियाँ, देश, राजा, दिशाओं आदि के प्रति भी वह- [ ममत्व बुद्धि ] समाप्त नहीं हो रही है।' यहाँ भी जानना चाहिए। [ इस पद्य में तथा 'अवश्यं' पद्य में जो द्वन्द्व समास है उसमें पदों का क्रम पदार्थों के महत्त्व के आधार पर निर्धारित किया गया है ] ॥

विमर्शिनोकार यथासंख्य को भी काव्यलिङ्ग को ही समान अलंकार नहीं मानते। पण्डितराज ने भी अपना मत इसी पक्ष में दिया है। यथासंख्य निरूपण के अन्त में उन्होंने लिखा है—

'यथासंख्यमलंकारपदवीमेव तावत् कथमारोहुं प्रभवतीति तु विचारणीयम्। न ह्यस्मि-  
ल्लोकसिद्धे कविप्रतिमानिर्वातितत्त्वस्यालंकारताजीवातोर्लेशनोऽप्युपलब्धिरस्ति येनालंकारव्यपदेशो  
मनागपि स्थाने स्यात्। अतोऽपक्रमत्वरूपदोषाभाव एव यथासंख्यम्। एवं चोद्भटमतानुयायिना-  
सुक्तयः कूटकार्पापणवदरमणोदा एव। एतेन यथासंख्यमेव क्रमालंकारसंख्या व्याहरतो वामनत्यापि  
गिरो व्याख्याता इति तु नव्याः ।'

'विचार यह करना चाहिए कि यथासंख्य अलंकारपद को ही कैसे प्राप्त करता है। यह तो एक लोकसिद्ध तथ्य है। इसमें अलंकारत्व का प्राण कविप्रतिभाप्रसूतत्व लेशमात्र को भी प्राप्त नहीं होता, जिससे अलंकार कहना जरा भी उचित हो। इसलिए यथासंख्य अपक्रमत्वनामक



दोष का अभाव ही है। इस प्रकार उल्टे का मत मानने वालों का कथन नकली कार्यापण के समान सर्वथा अरमणीय ही है। और इसीलिए यथासंख्य को ही क्रमालंकार नाम से पुकारने वाले वामन के कथन की भी आँच हो जाती है। इस प्रकार नयों आचार्य यथासंख्य और क्रम को दोषामात्र ही मानते हैं।

स्पष्ट है कि पण्डितराज ने विमर्शिनी का ही अक्षरशः अनुगमन किया है।

विमर्शिनी और रसगगाधर के इन प्रतिवादी स्वरो का मूल शोभाकर का रत्नाकर है। रत्नाकर में शोभाकर ने भी यथासंख्य को अलंकार नहीं माना है। उन्होंने क्रमालंकार नामक पर्यायालंकार के एक भेद के प्रकरण में लिखा है—

‘विनोददेश क्रमेणादावपरेण पुनर्यदि ।  
क्रियते प्रतिनिर्देशो द्रोषः प्रक्रममङ्गत् ॥  
अथ दोषनिरासार्थं क्रमस्तदर्थं प्रवर्त्तते ।  
यथ.सख्यमलङ्कारो न स्याद् दोषनिवृत्तिनः ॥  
तस्याश्चालङ्कृतित्वे स्यादेकैकस्य पदस्य सा ।  
पौनरुक्त्यादिविरहात् तेन नेदमलङ्कृतिः ॥  
एकैकस्य विशेषस्य सन्निधौ यद् विशेषणम् ।  
यथायोगानिधौ बाध्य सोऽलङ्कारस्ततः पृथक् ॥  
वैचित्र्यविरहान्नेवमिष्यते चेत् सम द्वयो ।  
क्रमेण युगपद् वापि न हि द्विविदिमिष्यते ॥

‘आरम्भ में जिस क्रम से पदार्थों का कथन हो, प्रतिनिर्देश यदि [ उसी क्रम से न होकर ] भिन्न क्रम से होना है तो वह ‘प्रक्रममङ्ग’ नामक दोष है। यदि इस दोष की निवृत्ति के लिए वही क्रम रखा जावे तो इसे यथासंख्य कहा जाएगा किन्तु यह अलंकार नहीं होगा क्योंकि यह तो दोषामात्र ही होगा। इस दोषनिवृत्तिरूप दोषामात्र को यदि अलंकार माना गया तो यह एक ही पद्य में जितने पदों में दोषनिवृत्ति रहेगी उतने सब पदों में एक एक करके अनेक संख्या में माना जाएगा। और इतना ही नहीं पुनरुक्ति आदि सभी दोषों की निवृत्ति में अलंकारत्व मानना होगा। इसलिये यह [ यथासंख्य ] अलंकार नहीं है। यदि इसे अलंकार मानें तो जहाँ एक एक विशेषता के लिए एक एक विशेषण का प्रयोग किया जाता है वहाँ [ लावण्यीकसि० आदि पद्यों में ] एक ‘यथायोग’ नामक भी अलंकार मानना होगा। यदि उसमें वैचित्र्य का अभाव बनलाकर उसे अलंकारत्वहीन्य बतलाया जाए तो यही तर्क यथासंख्य में भी लागू होगा। सब यह है कि पदार्थों का घन क्रम से हो या अन्यथा, घन में कोई अन्तर नहीं आता।’

रत्नाकरकार को इतने से संतोष नहीं हुआ। उन्होंने दवे स्वर में यथासंख्य को दोष भी बतलाना चाहा—

‘प्रत्युत विशेष्यपदनिकट एव विशेषणपदोपादानेन नैराकाङ्क्षेण प्रतिपक्षेस्त्वयैव विशेषः ।  
यथासंख्ये तु विशेष्याणां विशेषणानां च पृथक् पृथगुपादानं व्यवहितसमन्वयेन साकाङ्क्षत्वात् ।’

—‘यदि यथायोग’ को अलंकार माना जाय तो वह कुछ दूर तक मान्य भी है क्योंकि विशेषणों का अपने विशेष्यों के साथ प्रयोग होने वाक्यार्थप्रतीति विना आकाङ्क्षाव्यवधान के हो जाती है। यह भी एक विशेषता मानी जा सकती है। यथासंख्य में तो उल्टे आकाङ्क्षा का व्यवधान रक्ता है क्योंकि उसमें विशेष्य और विशेषणों का उपादान पृथक् पृथक् होता है।’

रत्नाकर ने निम्नलिखित चोट और की—

'किं चायं यथासंख्यालङ्कारः किम् अर्थस्य, शब्दस्य वा ? न तावदर्थस्य ०००० अर्थस्य क्रमा-  
संमवाह । न द्वितीयः अनुप्रासादिवच्छब्दस्य चारुताऽप्रतीतिः । तत्रामिधेयक्रमः, येनालङ्कारः,  
अपितु क्रमेणाभिधानम् । न चाभिधानालङ्कारः कश्चिदरित ।'

—'यथासंख्य अलङ्कार किसका है ? अर्थ का या शब्द का ? अर्थ का हो नहीं सकता क्योंकि  
[ इसके लिए उदाहरत पद्यों में ] अर्थ में क्रम नहीं रहता । दूसरा भी नहीं क्योंकि शब्द में अनु-  
प्रासादि के समान चारुता की प्रतीति नहीं होती । इस प्रकार अमिधेय का क्रम तो यहाँ है नहीं  
जिससे यह अलङ्कार हो सकता, यहाँ तो होता है क्रम से अभिधान और अभिधान नाम का तो  
कोई अलङ्कार होता है नहीं ।' यहाँ रत्नाकर ने यह बतलाना चाहा है कि सिलसिला नहीं,  
तरतमता ही अमिधेयों का क्रम कहला सकती है । यथासंख्य में सिलसिला रहता है और तरतमता  
पर्याय और पर्याय के ही सगे भाई क्रम नामक अलङ्कार में । सिलसिला अर्थ या अमिधेय  
की विशेषता नहीं अभिधान की विशेषता है । अभिधान यदि अलङ्कार होता तो इसे अलङ्कार माना जा  
सकता था । वक्रोक्तिजीवितकार कुन्तक ने वक्रोक्तिमात्र को काव्य का अलङ्कार माना है और  
वक्रोक्ति को माना है 'विचित्र अभिधा'—स्वरूप । अभिधा और अभिधान समानार्थी शब्द है । इस  
प्रकार अभिधान को अलङ्कार मानने का पक्ष उठाया जा सकता है । और महिममद ने उठाया भी है  
तथापि यह कल्प टिक नहीं पाता, क्योंकि वक्रोक्तिजीवितकार के अभिधाशब्द का अर्थ अभिधानामक  
शब्दव्यापार नहीं, अपितु उक्तिप्रकार है जो कविकर्म के अन्तर्गत आता है । विमर्शिनीकार ने  
जो वक्रोक्तिजीवितकार का इस प्रसंग में उल्लेख किया है वह केवल वैचित्र्यमात्र को अलं-  
कारत्वाभावक मानने के लिए । वक्रोक्तिजीवित शब्द ही प्रमाणित करता है कि वक्र उक्ति ही अलं-  
कार है क्योंकि वक्रोक्तिजीवितकार ने स्पष्ट कहा है—'काव्य अलङ्कृत नहीं किया जाता अपितु अलङ्कृत  
वस्तु काव्य बनती है—'सालङ्कारस्य काव्यता ।' इस प्रकार उनके मत में अलङ्कार जो वक्रोक्तिस्वरूप  
है, काव्य का जीवात् अर्थात् प्राण है । यथासंख्य में विमर्शिनीकार किसी प्रकार ही बकता का  
अनुभव नहीं करते अतः उनकी दृष्टि में यह अलङ्कार नहीं कहा जा सकता । इनके विरुद्ध दण्डी,  
भामह, उद्भट, रुद्रट और मम्मट ने यथासंख्य को अलङ्कार माना है । इनके विवेचन इस  
प्रकार है—

दण्डी = 'उद्दिष्टानां पदार्थानामनूद्देशो यथाक्रमम् ।

यथासंख्यमिति प्रोक्तम् ।' [ २।२७३ काव्यादर्श ] ॥

—'कथित पदार्थों का उसी क्रम से अनूद्देश यथासंख्य कहलाता है ।'

भामहः—'भूयसासुपदिष्टानामर्थानामसधर्मणाम् ।

क्रमशो योऽनुनिर्देशो यथासंख्यं तदुच्यते' ॥ २।८९ ॥

—पहले कहे गए अनेक ऐसे पदार्थों का क्रमशः पुनः निर्देश यथासंख्य कहा जाता है जो  
समान धर्म से युक्त न हों ।

उदा०—'पद्मेन्दुभृङ्गमातङ्गपुरकोकिलकलापिनः ।

वक्रकान्तीक्षणगतिदाष्णीवालैतव्या जिताः ॥ २।९० ॥

—हमने वक्र, कान्ति, नेत्र, गति, दाष्णी तथा केशों से पद्म, चन्द्र, भृङ्ग, मातङ्ग, कोकिल तथा  
कलापधारी मयूरों को जीत लिया है ।

भामह के लक्षण में पदार्थों का 'असाधर्म्य' एक विशेष तथ्य है । उनके उदाहरण में यद्यपि

उद्दिष्ट और अनुनिर्दिष्ट [ पहले और बाद में कहे ] पदार्थों में साम्य है तथापि उन पदार्थों में से केवल उद्दिष्ट और केवल अनुनिर्दिष्ट पदार्थों में कोई साम्य नहीं है ।

चामन.—

...

...

...

उद्भट्टः—उद्भट्ट ने यथामल्य के लिए मामद की ऊपर उद्भूत कारिका उर्वों की र्यों अपना ली है । उदाहरण के रूप में भी उन्होंने मामद से मिलता जुलता एक अनुद्भट्ट् अपने कुमारसंभव से उद्भूत कर दिया है—

‘मृणालहस पशामि वाहुचङ्क्रमगानने ।

निर्जयभयानया व्यक्त नलिन्य सकला जिताः ।’

यहाँ ‘असपर्मता’ का निर्वाह पूर्वप्रदर्शित क्रम से करना होगा । वस्तुतः असपर्मत्व के लिए रद्रट्ट का उदाहरण ठीक है । रद्रट्ट के टीकाकार प्रतीहारन्दुराज ने भी एतदर्थ उन्हें ही उद्भूत किया है और असपर्मत्व की साधकता के लिए कहा है—‘जहाँ उपमा या व्यतिरेक न भी हो, केवल दो से अधिक पदार्थों में यथासंख्य भन्वय रखा गया हो तो वहाँ भी चमत्कार का अनुभव होता है’ ।

रुद्रट्ट—‘निर्दिश्यन्ते अस्मिन्नर्था विविधा ययैव परिवाटया ।

पुनरपि नःप्रतिबद्धास्तथैव तव स्याद् यथासंख्यम् ॥ ७।३४ ॥

तद् द्विगुण त्रिगुण वा बहुपुद्दिष्टेषु जायते रम्यम् ।

यत् तेषु तथैव तनो द्योस्तु बहुशोऽपि बध्नीयात् ॥ ७।३५ ॥

‘जिसमें विविध [ अर्थात् असपर्मता ] पदार्थ पहले जिस परिपाटी = क्रम से कहे गये हों बाद में भी उन्ही क्रम से कहे गए हों तो वह वास्तव वर्ण का यथासंख्य नामक अलङ्कार होता है ।’

यह अनेक पदार्थों के दो या तीन बार कथन में [ अधिक ] सुन्दर होता है । यदि केवल दो पदार्थों में ही यथामाख्यमाव लाना हो और यह अलङ्कार निश्चयन करना हो तो दो दो पदार्थों का यह क्रम पञ्चाधिक बार उपनिबद्ध किया जाना चाहिए । उदाहरण—

( १ ) कञ्जल-दिम-कनकरुव' सुपर्ण-वृष हस-वाहना. श वः ।

जलनिधि-गिरि-पद्मस्था हरि-हरचतुरात्मना ददतु ॥ ७।३६ ॥

( २ ) दुग्धोदधिदौलरथी सुपर्ण-पञ्चाहनी घनेन्दुचो ।

मधुमकरध्वजमधनी पातां वः शार्ङ्गशूलधरी ॥ ७।३७ ॥

‘कञ्जल, दिम तथा सुपर्ण सी कान्ति वाले, गरुड वृष तथा हस पर आरूढ होने वाले, समुद्र, पर्वत तथा कमल में निवास करने वाले विष्णु, शिव, मन्ना आपको शान्ति दे ।

‘दुग्धोदधि तथा पर्दा पर रहने वाले, गरुड तथा वृषभ पर आरूढ होने वाले, मेघ तथा मधु तथा काम के हन्ता; शार्ङ्ग तथा शूल धारण करने वाले [ विष्णु तथा शिव ] आपको रक्षा करें ।

ध्यान देने को वान है कि यहाँ उपर्युक्त दोनों ही योवनाओं के पदार्थों में साम्य नहीं है । मामद तथा उद्भट्ट के ‘असपर्मत्व’ विशेषण को ‘विविध’ शब्द ने अपना कर उसमें ठीक निर्वाह रद्रट्ट ने ही किया । रद्रट्टी ने ऐसा कोई विशेषण दिया हो नहीं था । मम्मट ने भी यह विशेषण नहीं दिया किन्तु ‘साधर्म्याभाव’ को स्वीकार अवश्य किया । इनके उदाहरण से यह तथ्य प्रमाणित है ।

मम्मट—‘यथामल्यं क्रमेणैव क्रमिकाणां समन्वयः ।’

—‘क्रम में कथित पदार्थों का क्रम से ही भन्वय यथासंख्यालङ्कार कइलाता है ।’

उदाहरण = 'एकस्त्रिधा वससि चेतसि चित्रमत्र देव द्विधा च विदुषां च सृगीदृशां च ।

तापं च संमदरसं च रतिं च पुष्पान् शीर्योष्मणा च विनयेन च लीलया च ॥'

—'आश्चर्य की बात है कि देव ! आप शत्रु विद्वान् और सुन्दरियों के चित्तों में शीर्योष्मा, विनय और चेष्टाओं से ताप, हर्ष तथा रति पुष्ट करते हुए तीन रूपों में वसते हैं ।'

इन सभी आचार्यों ने अलंकार को चारुत्व या सौन्दर्य का आधायक तत्त्व माना है । निश्चय ही इन्हें यथासंख्य में भी कोई न कोई सौन्दर्य सूझता होगा । इसी प्रकार रत्नाकरकार को छोड़ परवर्ती आचार्यों ने भी यथासंख्य को इस प्रकार अलंकार माना है—

दीक्षित = 'यथासंख्यं क्रमेणैव क्रमिकानां समन्वयः ।

शत्रु मित्रं विपत्तिं च जय रंजय भंजय ॥'

शत्रु मित्र और विपत्ति को जीतिप, प्रसन्न कीजिए और नष्ट कीजिए ।'

पण्डितराज = 'उपदेशक्रमेणार्थानां सम्बन्धो यथासंख्यम् ॥

—कथनक्रम से अर्थों का संबन्ध यथासंख्य कहलाता है ।'

विश्वेश्वर = 'निर्देशक्रमतो यदि समन्वयरतद् यथासंख्यम् ।'

—'यदि निर्देशक्रम से सम्बन्ध हो तो उसे यथासंख्य कहते हैं ।'

इस प्रकार सर्वस्वकार के परवर्ती आचार्यों ने भी यथासंख्य में सौन्दर्य पाया है । प्रश्न उठता है कि इन पुराणवादी आचार्यों की मान्यता कहीं तक तथ्यात्मक है । इसका उत्तर रुद्रट ने दिया है । उन्होंने कहा है—

यथासंख्य अपने आप में सुन्दर नहीं होता । वह सुन्दर तब बनता है जब उसमें अनेक अर्थ द्विगुण या त्रिगुणरूप [ दो दो तीन तीन के वर्ग ] में क्रम लिए हुए कथित हों—

'तद् द्विगुणं त्रिगुणं वा बहुषुद्विष्टेषु जायते रम्यम्' [ ७।३५ ] ।

नमिसाधु ने 'द्विगुण त्रिगुण' इन संख्यावाचक शब्दों का तात्पर्य इससे अधिक संख्या के प्रतिषेध में बतलाया है । वस्तुतः उदाहरण तीन से अधिक अर्थों के समुदाय के भी मिलते हैं । भामह द्वारा निर्मित उदाहरण 'पको०' ऐसा ही उदाहरण है । 'कञ्जल०' पद्य त्रिगुण विशेषणों से अधिक का उदाहरण है । यद्यपि यह सत्य है कि ऐसा विशेषण यदि बहुत अधिक हो जाय तो उक्ति पहेली जैसी हो सकती है । रुद्रट के उक्त कथन से यह स्पष्ट है कि सम्बद्ध अर्थों में वर्गनिर्माण और क्रमविधान से कोई नवीनता अवश्य ही आती है । यह प्रवृत्ति कवि प्रज्ञापूर्वक अपनाता है, प्रमादपूर्वक नहीं । फलतः यह उसकी अशक्ति नहीं, अपितु शिल्पयोजना है । दोष तो अशक्ति से आता है । कवि चाहे तो उसी वाक्य की रचना वर्गविहीन क्रम से भी कर सकता है, अतः वर्गयोजना उक्ति का आवश्यक धर्म नहीं है । इस प्रकार उक्त आचार्यों का इसे अलंकार मानना सुक्तिसंगत है । अनुभव भी इसका अनुमोदन करता है । 'तूदी-शलातुर-धर्मती दूचवाराद् ढकृष्टगुढन्यकः' सूत्र और 'पकोन्दु०' या 'कञ्जल-हिम०' वाक्य परस्पर में उक्ति की समानता रखने पर भी अनुभूति या प्रभाव में भिन्न हैं । मम्मट के उदाहरण पद्य में तो चमत्कार का कोई अन्य हेतु भी नहीं मिलता । उसमें न तो भामह और रुद्रट के उदाहरणों के समान व्यतिरेक का पुट है और न दण्डी के उदाहरण के समान उत्प्रेक्षा का ।

क्रमालंकार = यथासंख्य को क्रम नाम से पुकारने का जो उल्लेख सर्वत्र में मिलता है वही

रत्नाकर [ कमालकार ], कुवलयानन्द [ यथासख्यलंकार ] तथा रसगंगाधर में मिलता है। इसका मूल विमर्शिनीकार ने वामन के विमर्शिनी में ही उद्धृत और उदाहरत कमालकार को माना है। वामन का क्रम उपमानोपमेय भरु सीमित है अतः उसमें क्रम रहने पर भी सौन्दर्य-निष्पत्ति में उसका स्वतन्त्र महत्त्व नहीं है। वस्तुतः इसका मूल दण्डी न ही है। दण्डी ने इसे न केवल क्रम नाम से ही, अपितु 'सख्यान' नाम से भी पुकारा जाता बनलाया है—

'उद्दिष्टानां ० ०० प्रोक्त—'भरयान क्रम इत्यपि ॥' इस प्रकार दण्डी के पूर्वाद्धृत यथासख्य-लक्षण की कारिका का चतुर्थ चरण 'सख्यान क्रम इत्यपि' है। मामह के काव्यालंकार से विदित होता है कि मेधावी नामक किमी अलंकारशास्त्री को कोई ऐसी भी परम्परा मिली थी जिसमें यथासख्य और उद्यक्षा का 'सख्यान' कहा जाता था। [ २।८८ ]

रत्नाकरकार ने—

[ क्रमेण ] आरोहावरोहादि. क्रम ॥ ९२ सू० ॥

'किसी वस्तु का अधिक पद ऊँचा रयान प्राप्त करना या उसके विपरीत कम या निम्न स्थान प्राप्त करना क्रम कहलाता है।'—इस प्रकार एक क्रम नामक अलंकार तो माना है किन्तु उसका यथासख्य की अभिव्यक्ति से संबंध पार्थक्य है। रत्नाकरकार ने इसमें आरोह का उदाहरण 'नन्वाश्रयस्थिति'—यह पद्य दिया है जिसमें मम्मट ने और सर्वस्वकार ने पर्याय नामक अलंकार माना है।

पाठभेद = निर्णयसागरीय प्रति में सूत्र तथा वृत्ति दोनों में 'अनुनिर्देश' के स्थान पर 'अनूद्देश' छपा है। विमर्शिनी तथा सजीविनी दोनों में अनुनिर्देश ही पाठ है। अन्य प्रात्यों में भी यही पाठ छपा है। प्राचीन आचार्यों के पूर्वाद्धृत उद्धरणों में दोनों ही शब्दों का प्रयोग है। दण्डी में 'अनूद्देश' शब्द है और मामह में 'अनुनिर्देश'। अन्य अलंकारों में सर्वस्वकार की परम्परा मामह से मिलती है किन्तु इस अलंकार में ऐसा लगता है कि सर्वस्वकार दण्डी से अधिक प्रभावित है। इस कारण कदाचित् 'अनूद्देश' शब्द ही मूल शब्द है।

उद्धटानुयायिता = विमर्शिनी तथा रसगंगाधर में यथासख्य को अलंकार मानने की परम्परा का आरम्भ उद्धट से माना गया है। सर्वस्वकार को दोनों ने उद्धटानुयायी कहा है। वस्तुतः उन्हें मामहानुयायी अथवा दण्डीचनुयायी कहना चाहिए। उद्धट का यथासख्य लक्षण अक्षरशः मामह का ही लक्षण है।

श्रीविद्याचक्रवर्ती ने यथामत्य पर निष्ठाधिकारिका इस प्रकार बनाई है—

'प्रागुक्तानामनुक्तेस्तु सन्ध. क्रमिको यदा।

यथासख्यं तदा शाब्दमर्थजेति द्विधा मनम् ॥'

पूर्व कथित अर्थों का अक्रियन अर्थों के साथ क्रमिक सन्ध यथामत्य कहलाता है। वह शब्द और अर्थ इस प्रकार दो प्रकार का होता है।

उक्त इतिहास से विदित होगा है कि यथासख्य का अर्थ भेद प्रथमतः सर्वस्वकार ने ही बनाया है। इसी प्रकार मम्मट के पूर्ववर्ती अन्य आचार्यों के लक्षण में कथन और अनुकथन जिन अर्थों का हो वे भिन्न हैं ऐसा स्पष्टीकरण नहीं है। सर्वस्व के लक्षण में 'उद्दिष्टानाम्' इस पद की पद्यी का सन्ध 'क्रमेण' के 'क्रम' पदार्थ के साथ करने पर यह अर्थगत भेद स्पष्ट हो जाता है।

[ सर्वस्व ]

[ सू० ६१ ] एकमनेकस्मिन्ननेकमेकस्मिन् क्रमेण पर्यायः ।

क्रमप्रस्तावादिदमुच्यते । एकमाधेयमनेकस्मिन्नाधारे यत् तिष्ठति स एकः पर्यायः । ननु 'एकमनेकगोचरमिति प्राक्तनेन लक्षणेन विशेषालंकारोऽ-  
त्रोक्तः, तत्किमर्थमिदमुच्यते' इत्याशङ्क्योक्तम्—क्रमेणेति । इह च क्रमो-  
पादानादर्थान्तरं यौगपद्यप्रतीतिः । तेनास्य ततो विविक्तविषयत्वम् । तथा—  
एकस्मिन्नाधारेऽनेकमाधेयं यत् स द्वितीयः पर्यायः ।

नन्वत्र समुच्चयालंकारो वक्ष्यते इत्येनदर्थमपि क्रमेणेति योज्यम् । अत एव  
एव 'गुणक्रियायौगपद्यं समुच्चयः' इति समुच्चयलक्षणे यौगपद्यग्रहणम् ।  
अत एव क्रमाश्रयणात् पर्याय इत्यन्वर्थमभिधानम् । विनिमयाभावात्परिवृत्ति-  
वैलक्षण्यम् । तस्या हि विनिमयो लक्षणत्वेन वक्ष्यते ।

तत्रानेकोऽसंहतरूपः संहतरूपश्चेति द्विविधः । तच्च द्वैविध्यमाधारधेय-  
गतमिति चत्वारोऽस्य भेदाः । क्रमेणोदाहरणानि—

'नन्वाश्रयस्थितिरियं किल कालकूट केनोत्तरोत्तरविशिष्टपद्मोपदिष्टा ।  
प्रागर्णवस्य हृदये वृषलक्ष्मणोऽथ कण्ठेऽधुना वससि वाचि पुनः खलानाम्' ॥

'विस्पृष्टरागादधराश्रितितः स्तनाङ्गरागावणितारुच्य कन्दुकात् ।  
कुशाङ्कुरादानपरिक्षताङ्गुलिः कृतोऽक्षस्तूत्रप्रणयी तथा करः ॥'  
'निशासु भास्वत्कलनूपुराणां यः संबरोऽभूदभिसारिकाणाम् ।  
नदन्मुखोल्लाविचितामिपामिः स बाह्यतं राजपथः शिवाभिः ॥'  
'यत्रैव मुग्धेति कृतोदरीति प्रियेति कान्तेति महोत्सवोऽभूत् ।  
तत्रैव दैवाद् वदने मदीये पत्नीति भार्येति गिरश्चरन्ति ॥'

अत्र कालकूटमेकमनेकस्मिन्नसंहते आश्रये क्रमेण स्थितिमन्निबद्धम् ।  
करश्चैकोऽनेकस्मिन्नसंहते क्रमवान्, अधरकन्दुकयोर्निवृत्त्युपादानतया  
संहतत्वेन स्थितत्वात् । अभिसारिकाः शिवाश्रानेकस्वभावा असंहतरूपा  
एकस्मिन्नाश्रये राजपथे क्रमवर्तिन्यः । वदने चैकस्मिन्नाश्रये मुग्धत्वादि-  
वर्गः पत्नीत्वादिवर्गश्च वर्गत्वादेव संहतरूपोऽनेकः क्रमवानुपनिबद्धः ।

[ सूत्र ६१ ] एक का अनेक में तथा अनेक का एक में क्रम से रहना पर्याय [ नामक  
अलंकार कहलाता है ] ॥

क्रम का प्रकरण है, इसलिए [ पर्याय का ] यह [ लक्षण ] वहाँ कहा जा रहा है । एक  
आधेय का अनेक आधार में जो रहना वह एक प्रकार का पर्याय होता है ।

शंका होती है कि 'एक का अनेक में दिखाई देना' इस लक्षण के अनुत्तर ऐसे स्थलों में  
विशेषालंकार बतला ही दिया गया है तब यह क्यों बतलाया जा रहा है ।

यही शवा करके कहा क्रम = क्रम से। यहाँ क्रम का उपादान करने से सिद्ध हुआ कि यहाँ [विशेषालंकार के उक्त भेदमें] योगपद्य रहता है। उसे लेकर इसका विषय भिन्न मित्र हो जाता है। इसी प्रकार एक आधार में भी अनेक आधेय का रहना वह दूसरा पर्याय होता है।

शका होती है 'देसी स्थिति में आगे समुच्चयालंकार बतलाया जायगा'। [उत्तर] जी हाँ, इसीलिए यहाँ भी 'क्रम से' इस पद की योजना सूत्र में कर देनी चाहिए। इसीलिए समुच्चय के 'शुण और क्रिया का योगपद्य समुच्चय' इस लक्षण में योगपद्य का ग्रहण किया जायगा। और इसी-लिए इसका पर्याय नाम भी सार्थक है, क्योंकि इसमें क्रम अपनाया जाना है। इसमें 'विनिमय नहीं रहता इसलिए इसका परिवृत्ति से भी भेद है। उस [परिवृत्ति] में विनिमय को लक्षण बतलाया जायगा।

इसमें अनेकत्व से युक्त पदार्थ दो प्रकार के होते हैं सहत [इकट्ठे] तथा असंहत [अलग अलग] इसके अतिरिक्त आधार और आधेय को लेकर जो द्वैविध्य है वह है ही। फलतः इसके चार भेद हो जाते हैं। इनके क्रमशः उदाहरण—

[असंहत अनेक आधारों में एक आधेय]

हे ! कालकूट [विपराज] आश्रय की यह उत्तरोत्तर उत्कृष्ट पद वाली स्थिति तुझे किसने सिखलाई है। पहले तू ममद के हृदय में था, फिर शिव के कण्ठ में पहुँचा और अब खलों की वाणी में रद्द रहा है।'

[संहत अनेक आधारों में एक आधेय—]

'राग [रजक द्रव्य] मुक्त अथर और रगनों के अग्राग से अरुण कन्दुक से हटाया हुआ [अपना] हाथ, जिसकी उगलियों कुशाङ्कुर उपाटने से अहाँ तहाँ उच गई थी उम [पार्वती] ने रुद्राक्षमाला का प्रेमी बना दिया।' [कुमार सं० ५]

[असंहत अनेक आधेयों का एक आधार]—

[मेरा] वही राजपथ जो रात्रिकाल में चमकने और कलरव से युक्त नूपुर पहिनी अभितारिकाओं का संचारपथ बना रहता था, इस समय बोलते समय मुझसे निकली लुकाटियों की झिलमिलाहट में भाँस खोज रही सिरकट्टियों द्वारा रौंदा जाता रहता है। [रघुवश-१६] ॥

[संहत अनेक आधेयों का एक आधार]

'जिसमें मुग्धा, कुशोदरी, प्रिया, काम्ना इस प्रकार के शब्दों के बोलने का महान् बरतव चला करता था, मेरे उसी मुख में इस समय देवगति से परनी और भार्या आदि शब्द घूमते रहते हैं।'

इसमें [से प्रथम में] एक ही कालकूट अनेक अलग अलग आधारों में क्रम से अवस्थित बतलाया गया। [द्वितीय में] एक ही हाथ अनेक एकत्रित [एक ही स्थान पर इकट्ठे] पदार्थों में क्रम से [निवृत्तिसाली] बतलाया गया। क्योंकि अथर और कन्दुक यहाँ निवृत्ति विषय के रूप में [एकत्रित] महत् रूप में विद्यमान हैं। [तृतीय से] अभितारिकाएँ और सिरकट्टियों अनेक स्वभाव की हैं और [अलग अलग समय में रहने वाली अतः] असंहत है, साथ ही एक राजपथ रूपी आधार क्रम से संचारयुक्त बतलाई गई है। [चतुर्थ में] मुखरूपी एक ही आश्रय में मुग्धात्व आदि के वाचक शब्दों के वर्ग और परनीत्व आदि के वाचक शब्दों के वर्ग जो वर्णत्व के कारण परस्पर सहत तथा अनेकरूप हैं क्रम से विद्यमान बतलाए गए हैं।

विमर्शिनी

एकमित्यादि । इदमिति पर्यायलक्षणम् । तदेव व्यापद्वे—एकमित्यादिना । एक इति द्वितीयापेक्षया । अतश्च द्वौ पर्यायौ । न पुनरेक एव । सामान्यलक्षणयोगात् । अत एव काव्यप्रकाशकृता पृथगेतौ लचितौ । यदाह—'एकं क्रमेणानेकस्मिन्पर्यायः' इति, 'अन्य-स्ततोऽन्यथा' इति च । ग्रन्थवृत्ता खनयोरत्रान्यस्यान्यथा ग्रहणेन क्रमान्यथा-भावोऽपि प्रसक्त इति दूषणोद्भावनेयैव लक्षणं कृतम् । एवं 'क्रमेणैकस्मिन्क्रमान्यथा वा पर्यायः' इत्यपि न समुचितं तस्यैव प्रयोजनं दर्शयति—नन्वित्यादिना । किमर्थमिति । विशेषालंकारेणैव तरप्रतीतिसिद्धेः । अर्थादिति । पारिशेष्यात्मकास्सामर्थ्यादिसर्थः । तेनेति । क्रमयौगपचस्वरूपत्वेनेत्यर्थः । तत इति । विशेषात् । तथेत्यादि । अत्रापि क्रमग्रहणस्य प्रयोजनं दर्शयति—नन्वित्यादिना । अत एवेति । विशेषसमुच्चयचोर्वौगपचसंभवात् । अन्वर्थ-मिति । 'परावनुपास्य इण्' इत्यनेनानुपास्ये गम्यमाने घञो विहितत्वात् । अतश्चार्यैश्च क्रमायांभिधाचित्वात्क्रमोऽपि पृथगलंकारतया न लक्षणीयः । अथान्नारोहावरोहयोरधि-कयोः प्रतीतिरस्तीति वृत्तमेवास्व पृथगलक्षणमिति चेत् । एवं तर्ह्यधाराधेयानां परस्परं विलक्षणत्वाभ्यामलंकारान्तरप्रणयनं स्यात् । तयोरप्यधिकयोः पर्याये संभवात् । न चात्र तावत्कश्चिदतिशय उपलभ्यते, येन पृथगलंकारत्वमपि स्यात् । एवमारोहादिना यदत्र वैलक्षण्यमवगमयते तदेतद्वेदत्वे निमित्तम्, न पुनः पृथगलंकारतायाम् । एकस्यानेकक्रा-न्यथा वा क्रमेणव्यथानाल्यस्य सामान्यलक्षणस्याप्राप्त्यनुगमात् । एवं—

'यदेकस्मात्निवृत्तोऽर्थः आधारान्तरमाधयेत् ।

स पर्यायो निवृत्तौ तु क्रमोऽयं बहुधा स्थितः ॥'

इत्यपि पर्यायादस्य पृथक्त्वे निमित्तं न वाच्यम् । निवृत्त्यनिवृत्तौविच्छित्तिविशेष-त्वामावात् । तस्मादस्य पर्याय एवान्तर्भावपृथगलक्षणप्रणयनं नवनवालंकारप्रदर्शन-हेवाकमात्रमेवेत्यलं बहुना ॥

ननु शुकानेकरूपस्य वस्तुतोऽन्यत्र प्राप्तेः परिवृत्तिरेवायं किं संख्याशङ्क्याह—विनि-मयेत्यादि । संघतरूप इति । संघातरूप इत्यर्थः । अस्मेति शब्दसामान्यमवलम्ब्योक्तम् । असंघते इति । आश्रयाणामनेकत्वात् । क्रमेणेति । हृदयाद्यनुक्रमान् । एवमप्येकस्यैव कालकूट-स्योत्तरोत्तराधिकस्थानासादानादारोहणप्रतीतिः । अवरोहो यथा—'शिरः शार्वं स्वर्गात्' इत्यादि । अत्र गङ्गाया उत्तरोत्तरस्यानासादनम् । संघते इति । अधरकन्धुकादेरनेकस्थाधय-त्वात् । क्रमवन्तिन्य इति । अभिसारिकाशिवानामतीतवर्तमानकालावच्छिन्नत्वात् । मुखत्वा-दीनां बहुत्वाद् वर्गत्वम् ।

एकम् इत्यादि । इदम् = वह = पर्यायलक्षण । उसी की व्याख्या करते हैं—एकम् । एक = द्वितीय की अपेक्षा । इसलिये पर्याय दो हुए, एक नहीं, क्योंकि इसमें सामान्यलक्षण नहीं बनता । इसलिये काव्यप्रकाशकार ने इनके लक्षण अलग अलग किए हैं । 'एक क्रम से अनेक में [ एक ] पर्याय होता है' इस प्रकार एक का लक्षण किया है और 'दूसरा पर्याय उस [ प्रथम ] से उलटा' इस प्रकार दूसरा लक्षण । ग्रन्थकार ने इसके विपरीत यहाँ इन दोनों का जो इस प्रकार मिलित लक्षण बनाया है वह इस दोष की शंका से कि दूसरे को अलग बतलाकर यदि प्रथम से उलटा बतलाया गया तो [ एकता और अनेकता के उलटाव के साथ ही ] क्रम में भी उलटाव की संभावना होने लगती [ जबकि क्रम दोनों में समानरूप से अवस्थित रहता है ] । इस प्रकार [ रत्नाकरकार द्वारा बनाया गया ] 'क्रम से एक अनेक में या उलटा पर्याय [ कहलाता है ]' यह लक्षण भी



ठीक नहीं है। उभ [ कम ] का प्रयोजन बतलाने है—ननु० इत्यादि पक्ति के द्वारा। किमर्थम् = विशेषालंकार से ही उसकी प्रतीति हो सकती थी तब इसे क्यों अलंकार माना गया। अर्थात् = पारिशेषरूपी सामर्थ्य से। तेन = उससे = क्रम और योगपथ में। ततः = उससे = विशेष से। तथा = यहाँ भी क्रमशब्द अपनाने की आवश्यकता बतलाने है—'ननु०'। अत एव = इसी-लिए = विशेष और समुच्चय में योगपथ रहने में। अन्वयम् = साथैक = क्योंकि 'परि उपमगोर्वक इण् धातु से अनुपात्यय [= परिपाठो = क्रम] अर्थ निकल रहा हो तो 'इणप्रत्यय होता है' [ पा० सू० ३।३।२८ 'क्रमप्राप्तस्यानतिपातोऽनुपात्यय 'काशिका] इस मूत्र से अनुपात्यय अर्थ की व्यंजना में इण प्रत्यय के विधान से पर्यायशब्द बना है। इस प्रकार पर्याय-शब्द क्रम का वाचक है—फलन [ रत्नाकरकार के ] क्रमालंकार को भी अलग से अलंकार नहीं बतलाना चाहिए। यदि कहें—'यहाँ [ क्रम में ] आरोह और अवरोह ये दो तन्व प्रतीति में अधिक मामित होने हैं अतः इसका पृथक् अलंकार के रूप में लक्षण ठीक ही है' [ उत्तर, तो ] ऐसे तो आधार और आधेय में भी परस्पर में विलक्षणता रहती है, तब उनमें से भी एक एक के आधार पर स्वतन्त्र अलंकारों के लक्षण बनाने चाहिए, उन आधार(धियों) में भी [आपके द्वारा स्वीकार] पर्याय के अन्तर्गत प्रत्येक के प्रति प्रत्येक दूसरे को अधिक माना जा सकता है। फिर इस [ क्रम नाम में अभिहित अलंकार के आरोह अवरोह ] में कोई चमत्कारभेद भी नहीं दिखाई देता, जिसमें इसे पृथक् अलंकार माना जाए। यदि आरोह आदि को लेकर कोई विशेषता दिखाई देती हो तो उसमें क्रम पर्याय का भेद ही सिद्ध हो सकता है, पृथक् अलंकार नहीं। पर्याय का 'क्रम से एक का अनेक में रहना या इसमें लठे अनेक का एक में रहना' इस आशय का जो सामान्य लक्षण [ आपने बनाया ] है वह दोनों में ही लागू हो जाता है। इस कारण [ रत्नाकरकार द्वारा ]—

'किन्वी के एक में हट कर दूसरे आधार में पहुँचने से पर्याय, और अनेक बार हटने मात्र से क्रम होता है।'

इस प्रकार भी क्रम को पर्याय से अलग बतलाने में जो निमित्त बतलाया गया है वह अकिञ्चित्कर है। निवृत्ति और अनिवृत्ति में चमत्कार में कोई अन्तर नहीं आता। इसलिए वह इसका पर्याय में अन्तर्भाव हो सकता है तब स्वतन्त्र अलंकार के रूप में अलग लक्षण बनाना और कुछ नहीं केवल नए नए अलंकारों के प्रदर्शन की इच्छा भर है। इस विषय में इतना ही कहना पर्याप्त है।

शंका होनी है—'अनेकरूप वस्तु की अन्वय प्राप्ति होने से [ पर्याय का ] यह [ भेद ] परिवृत्ति स्वरूप ही है'—इस पर उत्तर देने हैं—विनिमय०। संज्ञरूप = म्यातात्मक। अस्य = इस [ पर्याय ] के [ चार भेद हैं यह पर्याय ] शब्द की समानता को लेकर कहा [ क्योंकि दोनों पर्याय तत्त्वन भिन्न हैं ]। असंहते = अलग अलग = आश्रयों के अनेक होने से। क्रमेण = हृदय आदि के अनुक्रम से। इनके पर भी सत्य है कि यहाँ [ रत्नाकरकार द्वारा प्रतिपादित ] आरोहण की प्रतीति होती है क्योंकि यहाँ एक ही कालरूट को उत्तरोत्तर अधिक ऊँचे स्थान की प्राप्ति होती है। अवरोह का उदाहरण [ मर्चुरि का ] यह [ प्रसिद्ध ] पद्य है—

'शिरः शार्च स्वर्गादि०।'

यहाँ गङ्गा जी का उत्तरोत्तर [ अवरोह ] स्थान प्राप्त करना वर्णित है। सहते = एकदिव = अपर कन्दुक आदि अनेक आश्रय रूप से सहित हैं। क्रमवसिन्ध्यः = क्रम से युक्त = क्योंकि अभिसारिका और सिरकट्टिया अतीत तथा वर्तमान काल की वस्तु बतलाई गई हैं। मुग्धत्व आदि में वर्ण इसलिए है कि पकाधिक है ॥'

**विमर्श—पर्यायालङ्कार का इतिहास—**

पर्याय को अलङ्कार प्रथमतः रुद्रट ने ही माना है। उन्होंने इसके दो भेद किए हैं, जिनमें से प्रथम पर्यायोक्तालङ्कार के अन्तर्गत आता है। द्वितीय का रूप वर्तमान पर्याय से अक्षरशः मिलता है। वह यह है—

‘यत्रैकमनेकस्मिन्ननेकमेकत्र वा क्रमेण स्यात् ।

वस्तु सुखादिप्रकृति कियेत बान्धः स पर्यायः’ ॥ ७.४४ ॥

‘जहाँ सुखादित्वरूप एक वस्तु अनेक में अथवा अनेक वस्तु एक में क्रम रहे या रखी जाए तो वह पर्याय कहलाता है।’ इस प्रकार चार भेद हैं [ १ ] कर्तृरूप एक वस्तु का अनेक में रहना [ २ ] कर्तृरूप अनेक वस्तु का एक में रहना, [ ३ ] कर्मरूप एक वस्तु का अनेक में रहना तथा [ ४ ] कर्मरूप अनेक वस्तु का एक में रहना।’ रुद्रट ने इसके उदाहरण दो ही दिए हैं, किन्तु उनमें चारों भेद गतार्थ हो जाने हैं। उदाहरण ये हैं—

‘कमलेषु विकासोऽभूद्दयति मानावुपेत्य कुमुदेभ्यः ।

नभसोऽपससार तमो बभूव तस्मिन्नथालोकः ॥’

‘सूर्य उगते ही कुमुदों से हटकर विकास कमलों में दिखाई देने लगा इसी प्रकार आकाश में अन्धकार हटा और प्रकाश आया ॥’

इसमें प्रथमार्थ में कर्तृरूप एक विकास को स्थिति कुमुद और कमल रूप अनेक आधारों में दिखलाई गई है जब कि अपरार्थ में कर्तृरूप अनेक अन्धकार और आलोक की स्थिति एक ही आकाश में। इस प्रकार यह एक पद्य कर्तृमूलक दोनों भेदों का उदाहरण हुआ।

‘आच्छिद्य रिपोर्लक्ष्मीः कृता त्वया देव भृत्यभवनेषु ।

दत्तं मयं दिषद्भ्यः पुनरभवं याचमानेभ्यः ॥

हे राजन्! आपने लक्ष्मी को शत्रुओं से छीना कर भृत्यों के भवनों में बसा दिया है। इसी प्रकार शत्रुओं को द्वेष करने पर मय तथा याचना करने पर अमय प्रदान किया है।’ वहाँ प्रथमार्थ में ही लक्ष्मीरूपी कर्म को शत्रु और भृत्यभवन रूपी अनेक आधारों में बतलाया गया है। इसी प्रकार उत्तरार्थ में शत्रु रूपी एक ही आधार में मय और अमय रूपी अनेक कर्मों का अस्तित्व बतलाया गया है। फलतः यह पद्य कर्ममूलक दोनों पर्यायों का उदाहरण है।

मम्मट और रत्नाकरकार के पर्यायलक्षण विमर्शानुकार ने यहाँ उद्धृत कर दिए हैं। रत्नाकर का पर्यायलक्षण यथासंख्य के प्रकरण में भी दिया जा चुका है। मम्मट ने उदाहरण के रूप में सर्वस्वकार द्वारा उद्धृत ‘नन्वाश्रयस्थिति’ पद्य ही प्रस्तुत किया था। शोभाकर के बाद के आचार्यों के पर्यायनिरूपण इस प्रकार हैं—

अप्यसदीक्षित—‘पर्यायो यदि पर्यायैकत्वानेकसंप्रयः ।’

‘एकस्मिन् यद्यनेकं वा पर्यायः सोऽपि संमतः ॥’

पण्डितराज—१ क्रमेणानेकाधिकरणकमेकमाधेयमेकः पर्यायः ।

२ क्रमेणानेकाधेयकमेकमधिकरणमपरः ॥

विश्वेश्वर—‘एकमनेकमनेकौकस्मिन् क्रमतोऽस्ति स पर्यायः ॥’

इन सभी लक्षणों का अर्थ बड़ी है जो सर्वस्वकार के लक्षण का है। केवल विश्वेश्वर ने दोनों

पर्यायों को एक ही सूत्र में रखकर कदाचित् यह सिद्ध करना चाहा है कि ये दोनों दो पृथक् पृथक् नहीं, अपितु एक ही हैं ।

मञ्जीविनीकार की निष्कर्षार्थकारिका हम पर यह है—

‘पर्याय एकोऽनेकस्मिन्नेकानेक इत्यपि ।  
द्विधा क्रमवशादेतौ न विशेषममुच्चयौ ॥  
नेय विनिमयाभावात् परिवृत्तिमिदा त्विह ।  
चतस्रोऽनेकरूपस्य पृथक् सप्तानवत्तनात् ॥  
पृथक् सप्तावृत्तिस्त्वादनैकोऽर्थो द्विधा स च ।  
आधाराधेयमात्रपरदत्तस्रोऽन्य भिदास्तत ॥’

‘पर्याय अलङ्कार वह होता है जिसमें क्रम से अनेक एक में लयवा क्रमसे ही एक अनेक में स्थित द्रिस्तलाया आता है । क्रम के कारण यह न विशेषालङ्कारस्वरूप है और न समुच्चयस्वरूप । हममें विनिमय का अभाव रहता है इसलिए यह परिवृत्तिस्वरूप भी नहीं ठहरता । इसमें चार भेद होने हैं क्योंकि इसमें अनेकरूप अर्थसंघात में नहीं रहता है । तब एक भेद स्वतन्त्र भेद माना जाता है, और जब रहता है तब एक स्वतन्त्र भेद । इसी के साथ यह अनेक अर्थ स्वतन्त्र आधार रूप होता है और आधेयरूप । इस कारण हमने केवल चार ही भेद होने हैं ।

स्पष्ट है कि रुद्रट के चार भेदों की अपेक्षा सर्वस्वकार के चार भेद अधिक नैदानिक हैं । रुद्रट के भेदों में कर्तृकर्मभाव को आधार माना गया है जबकि सर्वस्वकार के भेदों में आधार और आधेय को सप्तानवत्तना और अरुपतात्मकता को । कर्तृकर्मभाव अर्थप्रकृतिगत धर्म है जबकि सप्तावृत्तिसंघातभाव परिधिगतनिमित्त विशेषताएँ । अलङ्कार परिस्थिति पर अधिक निर्भर रहते हैं । इसके अतिरिक्त आधाराधेयभाव के साथ कर्तृकर्मभाव को जोड़ देने से व्याकरणतर्र को प्रमुखता मिलती है, काव्यतर्र को नहीं । मम्मट आदिने ये भेद स्वीकार नहीं किए । वस्तुतः इन अवान्तर सूक्ष्मताओं को सीधे-सीधे का प्रतिमान मानना हृदयसमन नहीं कदा जा सकता ।

पाठभेद—पर्यायालङ्कार के जो दो अलग अलग रूप हैं उनमें से प्रत्येक के लिए वृत्तिकार ने हम प्रकार अलग अलग वाक्य बनाए हैं—

[ १ ] एकनाधेयमनेकस्मिन्नाधारे यत् तिष्ठति स एक पर्याय ।

[ २ ] एकस्मिन्नाधारेऽनेकनाधेय यत् स द्वितीय पर्याय ।

इसमें से निर्णयमागरीय संस्करण में प्रथम वाक्य तो वृत्ति रूप में ही छपा है, किन्तु द्वितीय के मुद्राशर स्थूल है अतः वह सूत्ररूप में छपा प्रतीत होता है । मञ्जीविनीकार, विमर्शिनीकार, अनन्तशयनसंस्करणकार, काशीसंस्करणकार तथा कुमारी जानकी ने इस वाक्य को वृत्ति रूप में ही स्वीकार किया है । डॉ० रामचन्द्र द्विवेदी के संस्करण में टिप्पणी में तो इसे वृत्ति ही माना गया है परन्तु मूल में सूत्ररूप से अलग अलग सूत्र महया और स्थूलाशरों में छाप दिया गया है । वस्तुतः यह वैसा ही भ्रम है जैसा सूत्र ४ के विषय में हुआ था । उसे तो इन सभी प्रकाशकों और संस्कर्ताओं ने वृत्ति रूप में ही प्रकाशित कर रखा है ।

विमर्शिनी में—‘क्रमेणैकमनेकप्रान्यथा वा पर्याय इत्यपि न समुचिनम्’ के अन्तिम तीन पद निर्णयनागरसंस्करण में ‘इत्यपि सूचितम्’ इसी रूप में छपे हैं । अर्थसंगति तो हम मुद्रण में भी संभव थी किन्तु हमने कश्यपा को अधिक स्थान देना पड़ता, उसके साथ [ न समुचिनमिति ] पूरक वाक्य जोड़ना पड़ता अतः हमने स्वमर्यादा पाठ बदल दिया है ।

[ सर्वस्व ]

[ सूत्र ६२ ] समन्यूननाधिकानां समाधिकन्यूनैर्विनिमयः परिवृत्तिः ।

विनिमयोऽत्र किञ्चित् त्यक्त्वा कस्यत्रिदादानम् । समेन तुल्यगुणेन त्यज्यमानेन तादृशस्यैवादानम्, तथाधिकेनोत्कृष्टगुणेन दीयमानेन न्यूनस्य गुणहीनस्य परिग्रहः, एवं न्यूनान् हीनगुणेन त्यज्यमानेनाधिकगुणस्योत्कृष्टस्य स्वीकारः, तदेषा त्रिप्रकारा परिवृत्तिः । ऋभयतिभाससंभवात् पर्यायान्तरमस्या लक्षणम् । समपरिवृत्तिर्यथा—

‘उरो दस्वामरारीणां येन युद्धेष्यगृह्यत ।

हिरण्याक्षवधाद् येषु यश साकं जयश्रिया ॥’

अत्रोरोयशसोस्तुल्यगुणत्वम् । अधिकपरिवृत्तिर्यथा—

‘किमित्यपास्याभरणानि यौवने धृतं त्वया वार्धकशोभि चल्कलम् ।

वद् प्रदोषे स्फुटचन्द्रतारका विभाचरी यद्यरणाय कल्पते ॥’

अत्रोत्कृष्टगुणैराभरणैर्न्यूनगुणस्य चल्कलस्य परिवृत्तिः । न्यूनपरिवृत्तिर्यथा—

‘तस्य च प्रवयसो जटायुपः स्वर्णिणः किमिच शोच्यते बुधैः ।

येन जर्जरकलेघरव्ययात् क्रीतमिन्दुकिरणोज्ज्वलं यशः ॥’

अत्र हीनगुणेन कलेघरेणोत्कृष्टगुणस्य यशसो विनिमयः ।

‘दत्त्वा दर्शनमेते मत्प्राणा वरतनु त्वया क्रीताः ।

किं त्वपहरसि मनो यद्ददासि रणरणकमेतदसत् ॥’

अत्राद्यार्धे समपरिवृत्तिः । द्वितीयार्धे न्यूनपरिवृत्तिः ।

[ सूत्र ६२ ] सम, न्यून और अधिक का सम अधिक और न्यून से विनिमय परिवृत्ति [ नामक अलंकार कहलाता है ] ॥

[ वृत्ति ] विनिमय का अर्थ है यहाँ कुछ छोड़कर कुछ लेना । [ १ ] सम अर्थात् समान अर्हता के पदार्थ के त्याग के द्वारा वैसे ही पदार्थ का आदान, [ २ ] इसी प्रकार अधिक अर्थात् उत्कृष्ट गुण या अधिक अर्हता के पदार्थ के दान के द्वारा न्यून अर्थात् हीनगुण या न्यून अर्हता के पदार्थ का आदान तथा [ ३ ] न्यून अर्थात् हीनगुण या कम अर्हता के पदार्थ के त्याग के द्वारा अधिक गुण अर्थात् उत्कृष्ट पदार्थ का आदान, इस प्रकार परिवृत्ति तीन प्रकार की होती है । इसमें भी क्रम का प्रतिपाद होना संभव है इसलिये इसका लक्षण पर्याय के पश्चात् किया गया । इनमें से समपरिवृत्ति, यथा—

‘हिरण्याक्ष के वध ले, जिन युद्धों में जिसने उर देकर राक्षसों का यश जयश्री के साथ ले लिया था ।’ [ काव्यालंकारसार के टीकाकार प्रतीहारिन्दुराज ने ‘उरोदस्वा’ को लोकोक्ति माना है । वीर अपनी छाती शत्रु के सामने खोल देता है यही उसका उरोदान है । कदाचित् यहाँ ‘दा’ का अर्थ विदारण करना है । इस अर्थ में दान = देने विदारण करने में श्लेष मानना होगा ] । यहाँ उर और यश गुणों में समान हैं ।

अधिक परिवृत्ति, यथा—

‘इस जीवन में तुमने विविध आभूषण छोड़, वार्धक्य में शोभा देने वाले वस्त्र क्यों पहन रहे हैं। तुम्हीं कहो! यदि खिले चन्द्र तारों की [ मध्य ] रात्रि अरुणोदय के लिए प्रयत्न करे।’ [ कुमार० ५ ]

यहां उत्कृष्ट गुण वाले आभूषणों से न्यून गुण वाले वस्त्रों की परिवृत्ति [ बदलावदली ] है। न्यूनपरिवृत्ति, यथा—

‘उम बहुत अधिक उमर वाले जटायु के स्वर्ग सिंधारने से विद्वानों को दुःख ही क्यों होगा जिसने जंजर शरीर के ब्यस से चन्द्रकिरणों जैसा सुन्दर यश अजित कर लिया।’

यहाँ हीनगुण वाले शरीर से उत्कृष्ट गुण वाले यश का विनिमय बनलाया गया है।

‘हे सुन्दरि! तूने दर्शन देकर भेरे ये प्राण सरीद लिए [ सो ठीक किया ] किन्तु मन को धरण कर जो तुम उत्कण्ठा दे रही हो वह ठीक नहीं है।’

यहाँ पूर्वार्थ में समपरिवृत्ति है और उत्तरार्थ में न्यून परिवृत्ति ॥

### विमर्शिनी

समन्यूनत्वादि । एतदेव व्याचष्टे—विनिमय इत्यादिना । तादृशयेति । तुल्यगुणस्यैश्वर्यः । अतश्चात्र द्वयोरपि तुल्यगुणत्वान् श्यस्यमानादीयमानयोग्यमानमौपम्यम् । एवं च तस्मिन्मिच्छस्य साधारणधर्मस्यापि प्रैविष्यम् । अधिदृश्यं न्यूनत्वं चोत्कृष्टत्वानुत्कृष्टत्वयोगात् । अतश्चात्र तादृशोपात्तमेतद् भवति क्वचित्सामर्थ्यम् । तदिति विनिमयस्य त्रिरूपत्वात् । क्रमप्रतिभामेति । त्यागादानयोः पौर्वापर्येण क्रमिकत्वात् । तुल्यगुणत्वमिति । वैपुल्यत्वादिना साधारणधर्मस्यानुगामितया पुनरत्र तुल्यगुणत्वम् यथा—

‘सुधावदात्तं पाण्डुरत्वं विनिधाय कपोलयोः ।

भीर्यत्कयोस्था दायुणां निशेपमक्रोद् यशः ॥’

सुधावदात्तमिदमस्यानुगामित्वम् । त्रिगुणप्रतिविम्बभावो यथा—

लतानामेतासामुदितकुसुमाना महसौ

मत्तं लक्ष्यं दृष्ट्वा श्रयति शृशामोद्मत्तमम् ।

लतास्यध्वन्यानामहह इदमादाय रमसाद्द-

स्याधिभ्याधिभ्रमरुदितमोहस्यतिकरम् ॥’

अत्र मत्तत्वात्तत्त्वयोर्द्विगुणप्रतिविम्बभावः । शुद्धसामान्यरूपत्व यथा—

‘मनोहरं स्वं प्रतिचेतनाय दत्त प्ररक्ष्योन्मदचित्तहारि ।

मध्वाद्दानो मधुपापिलोक पद्माकरागाममृगी यभूव ॥’

अत्र मनोहरत्वचित्तहारित्वयोः शुद्धसामान्यरूपत्वम् । आभरणानां चात्रोत्कृष्टत्वं चरुतामर्ष्यात्प्रत्यते । वरकलस्य पुनर्वार्धकशोभीत्पनेन स्वयमेव न्यूनत्वमुक्तम् । एवं कलेवरयशसोरपि जर्जरोज्ज्वल्येन न्यूनाधिकत्वमुक्तम् । एतच्चास्य प्राच्यैरप्युक्तमिति श्रद्धोद्गाहरणेऽपि समपरिवृत्त्यादि योजयति—दत्तत्वादिना ।

समन्यूनत्वस्यादि । इसी की व्याख्या करते हैं—‘विनिमय’ इत्यादि के द्वारा। तादृशस्य = वैभवे = तुल्यगुण वाले। इसी कारण यहाँ छोड़े जाते और लिए जाने पक्षों में सादृश्य गम्य रहता है क्योंकि इन दोनों में गुणगत तुल्यता रहती है। इसी कारण गुण निमित्तक साधारणधर्म भी तीनों प्रकार का होता है। अधिदृश्य और न्यूनत्व यहाँ गुणगत उत्कृष्टत्व और अनुत्कृष्टत्व के

योग से होता है। इसीलिए यह प्रायः शब्दतः कथित ही रहता है, यद्यपि कहीं वाक्यार्थसामर्थ्य से गम्य भी होता है। तत् = इस कारण अर्थात् विनिमय के तीन प्रकार के होने के कारण। इन्द्रप्रतिभास— क्योंकि त्याग और ग्रहण में पर्याय रहता है अतः वे क्रमिक होते हैं। तुल्य-गुणत्व = वैतुल्य विशालत्व आदि को लेकर [ यश और वक्र दोनों विशाल होते हैं ]। साधारण धर्म को अनुगामिता के कारण जब यहाँ गुणगत समानता रहती है उसका उदाहरण—

‘छुरं मिट्टी जैसी उज्वल सफेदी कपोलों में आहितकर [ जिसके ] यश ने जिसकी चर्चा से सत्पन्न भय को समाप्त कर दिया ।’

यहाँ [ भय और सफेदी के साधर्म्य में ] सुधावदातत्व = छुरं मिट्टी सी उज्वलता अनुगामी धर्म है। विन्द्रप्रतिविन्दभावमूलक साधारणधर्म यथा—

‘यह पवन इन कुसुमित लताओं को अभिमत्त लास्य देकर पर्याप्त मात्रा में अद्वितीय सौरभ ले रहा है। किन्तु बड़े दुःख की बात है कि लताएँ पान्थों की आँखें लेकर सहसा आधि, व्याधि, चक्र, रौदन, मूर्च्छा आदि एक साथ देती हैं।’

यहाँ [ लास्य और सौरभ के साधर्म्य में भक्तत्व ] अभिमत्तत्व और [ असमत्व ] अद्वितीयत्व धर्मों में विन्द्रप्रतिविन्दभाव है। शुद्धतामान्यरूप साधारण धर्म यथा—

‘मृत्यु के रूप में अपना मनोहर गुञ्ज देकर उन्मत्त चित्तों को आकृष्ट करने वाले मधु ले रहे मधुकरों से पञ्चाकरों से उरिगता प्राप्त कर ली ।’ यहाँ मनोहरत्व और चित्तहारित्व शुद्ध सामान्य धर्म हैं [ मधु और गुञ्ज के सान्य में ]।

[ किमित्ययास्या-पथ में ] आभरगों की उत्कृष्टता पदार्थसामर्थ्य से विदित होती है, किन्तु वक्त्रों की न्यूनता ‘वार्धकशोभि’ = ‘वार्धक्य में शोभा देने वाले’ इस विशेषण से [ कवि ने ] स्वयं ही कद दी है। इसी प्रकार [ तस्य च प्रवयसो० पथ के ] कलेवर [ शरीर ] और यश के न्यूनगुणत्व और उत्कृष्टत्व लज्ज तथा उज्वल शब्दों के द्वारा कद दिए गए हैं। ये [ न्यूनत्वादि यामन तथा उज्ज्वल इन् रद्वत्पूर्ववर्त्ता ] प्राचीन आचार्यों ने भी वतलाए थे [ किन्तु रद्वत् ने नहीं अतः ] रद्वत् के [ परिवृत्ति— ] उदाहरण में भी समपरिवृत्तत्व आदि धर्म दिखलाने के लिए लिखते हैं ‘दत्त्वा’ इत्यादि ॥

**विमर्श—परिवृत्ति का इतिहास**

दण्डी—के काव्यादर्श में परिवृत्ति का उल्लेख मात्र है लक्षण नहीं। उसमें उदाहरण के रूप में निम्नलिखित पथ दिया है—

‘शुक्लप्रहारं ददता भुजेन तव भूमिजान् ।

विराजितं हतं तेषां यशः कुमुदपाण्डुरम् ॥’ २३५६ ॥

‘आपके’ राजाओं की शुक्ल प्रहार दे रहे बाण ने उनका विराजित कुमुदतुल्य उज्वल यश हरण कर लिया ।’

**आमहुः** = ‘विशिष्टस्य यदादानमन्यापोहेन वस्तुनः ।

अर्थान्तरन्यासवती परिवृत्तिरसौ यथा ॥ ३१४१ ॥

प्रदाय वित्तमविन्ध्यः स यशोधनमादित ।

सतां विश्वव्रतीनामिदमस्खलितं व्रतम् ॥’ ३१४२ ॥

‘अन्य वस्तु के त्याग के द्वारा अन्य विशिष्ट वस्तु का जो आदान उसे परिवृत्ति कहा जाता है। यह अर्थान्तरन्यास से भी युक्त रहती है। यथा—

‘याचकों को धन देकर उसने यशोराशि अर्जित की। यह सभी सत्पुरुषों का अचूक व्रत है।’

मामह के श्म विश्लेषण में न्यूनाधिकभाव की व्यञ्जना है। वामन इसे पकड़ लेते हैं।

वामन—[ सूत्र ] 'ममविसदृश्या परिवर्त्तन परिवृत्ति ॥ ५।१।१६ ॥

[ वृत्त ] समेन विसदृशेन वार्धेन अर्थस्य परिवर्त्तन परिवृत्ति'। यथा—

आदाय कर्किसल्यभियमरमे चरणमरुणमर्पयनि ।

उमयो. सदृशविनिमयादन्योन्यमवञ्चिन मन्ये ॥ [ मालविकाग्निमित्र ]

विमुच्य सा हारमहार्यनिश्चया विलोलयष्टिप्रविशुसचन्दनम् ।

वन्न्य वालारुणवञ्चु वरकलं पयोधरोत्मेघविश्रीर्गंसंहति ॥ [ कुमारसम्भव-१ ]

समान या असमान अर्थों द्वारा अर्थों का परिवर्त्तन परिवृत्ति कहलाता है। यथा [ अग्नि-मित्र को उक्ति ]—

[ अशोकदीर्घ सम्पन्न कर रही ] यह [ मालविका ] इसने कान में लगाने योग्य कोंपल लेकर अपना यावकरजिन अरण चरण दे रही है। दोनों का सौदा अनुरूप रहा, अतः दोनों को मैं पाटे में रहा नहीं मानता।' यहाँ मालविका का चरण और अशोक का किमल्य समान अर्थात् के है, अतः सदृश विनिमय हुआ।

अहार्थनिदचया उस [ पार्वती ] ने हार को अलग कर दिल्ली शलाकाओं द्वारा चन्दन मिटा देने वाला, बालमूर्ध सा पिशाग वर्ण का वरकल बाँधा, पयोधरों के उठाव से बिसफी शलाकाओं का जमाव विरल हो जाना था।' यहाँ हार और वरकल असमान हैं।

उद्धट = ने 'सम न्यून अधिक' इन तीन गुणमात्र भेदों तथा 'दृष्ट और अनिष्ट' इन दो अर्थगत विशेषताओं में परिवृत्ति का स्वरूप अविन किया है—

'सम न्यूनविशिष्टेभ्यु कल्पयित् परिवर्त्तनम् ।

अर्थानथस्वभाव यत् परिवृत्तिरभाणि सा ॥' ५।१६ ॥

समपरिवृत्ति का उदाहरण—'उरोदत्ता०' पद्य ही।

न्यूनपरिवृत्ति—

'नेत्रोरगवश्चाभ्यन्मन्दराद्रिशिरदक्षुणैः ।

रत्नैराभूयं दुग्धाधि य. समादत्त कौस्तुभम् ॥

'नेत्री बने सर्पराज के द्वारा बलपूर्वक घुमाए जा रहे मन्दराचल के शिखरों से गिरे रत्नों द्वारा दुग्धाधि को भरकर जिसने कौस्तुभमणि ग्रहण की।' यहाँ निकृष्ट रत्नों के दान द्वारा कौस्तुभ-नामक उत्कृष्ट रत्न लिया गया अतः न्यूनपरिवृत्ति हुई।

अधिकपरिवृत्ति—'यो बली व्याप्तभूमिभिन् मलेन या जिगीपति ।

अमय स्वर्गसम्पद्यो दत्त्वा जग्राह सर्वताम् ॥'

जिसने, बलि जब भूसोमा को व्याप्त कर स्वर्ग यज्ञद्वारा जीतना चाह रहा था, तब देवताओं को अमय देकर वामनत्व ग्रहण किया।' यहाँ अमय एक विशिष्ट वस्तु जिसकी तुलना में छोटापन [ वामनत्व ] तुच्छ वस्तु है। श्म प्रकार यहाँ उत्कृष्टता देकर निम्नता का ग्रहण होने से अधिकपरिवृत्ति हुई।

कृद्घट—ने समाप्तमत्व आदि पर बल नहीं दिया और परिवृत्ति का लक्षण सामान्यतः इस प्रकार किया—

'युगपद् दानादाने अन्योन्यं वस्तुनोः क्रियेते यत् ।

वचचिदुपचर्येते वा प्रसिद्धितः सेति परिवृत्तिः' ॥ ७।७७ ।

वस्तुओं का एक साथ जो दान और आदान वस्तुतः किया जाता बतलाया जा रहा हो अथवा प्रसिद्धि के आधार पर लाक्षणिक रूप से तो वही परिवृत्ति कहलाता है। उदाहरण 'दत्त्वा दर्शन०' पद्य। यहां प्राणों की खराद और मन का हरण प्रसिद्धि पर निर्भर और औपचारिक तथ्य हैं।

मम्मट—'परिवृत्तिविनिमयो योऽर्थानां स्यात् समासमैः।' पदांशों का विनिमय परिवृत्ति कहलाता है। यह सम के द्वारा सम का और असम के द्वारा असम का [ इस प्रकार से ] हो सकता है।

उदाहरण = सम से सम और असम में अधिक से न्यून की परिवृत्ति के लिए 'लतानामेतासा' पद्य। और न्यून से अधिक की परिवृत्ति के लिए निम्नलिखित पद्य—

'नानाविधैः प्रहरणैर्नृप संप्रहारे स्वीकृत्य दारुणनिनादवतः प्रहारान्।  
दृष्णारिवीरविसरेण वसुन्धरेयं निर्विप्रलम्भपरिरम्भविधिद्वितीयां ॥'

हे राजन्! युद्ध में नाना प्रकार के अस्त्रों से दारुण निनाद वाले प्रहार अपना कर दृष्ट झुड़ु वीरों ने आपको वह विप्रलम्भहीन आदलेप वाली वसुन्धरा प्रदान की है।' यहाँ प्रहाररूपी निम्न वस्तु लेकर वसुन्धरा जैसी उत्कृष्ट वस्तु के दान का वर्णन होने से परिवृत्ति अधिकपरिवृत्ति कहलाएगी।

सर्वस्वकार के परवर्ती आचार्यों ने परिवृत्ति का निरूपण इस प्रकार किया है—

शोभाकर = 'विनिमयः परिवृत्तिः ॥ सू० ९० ॥

विनिमय परिवृत्ति कहलाता है।' लौकिक विनिमय का इस विनिमय से अन्तर बतलाते हुए रत्नाकरकार ने लिखा है—'लोक में देकर लेने का विनिमय माना जाता है जब कि यहाँ त्यागपूर्वक अपनाते को भी विनिमय कहा जाता है और उपकार पर किए गए प्रत्युपकार को भी।' परिवृत्ति की भेदगणना भी रत्नाकरकार ने अपने उद्घट से की है। सर्वस्वकार-द्वारा प्रतिपादित सम, न्यून तथा अधिक ये तीन भेद रत्नाकरकार से प्रथम 'त्यागपूर्वक आदान'-नामक वर्ग में गिनाए हैं। कृतप्रतिकृतनामक द्वितीय वर्ग में उन्होंने 'अनभीष्ट वस्तु मिलने पर अनभीष्ट कार्य करना' तथा 'अभीष्ट वस्तु मिलने पर अभीष्ट कार्य करना'-ये दो भेद बतलाए हैं। इनमें भी, उन्होंने समत्व, न्यूनत्व तथा अधिकत्व नामक तीन कोटियों मानों हैं अन्ततः परिवृत्ति के मुख्य तीन ही शीर्ष स्वीकार किये हैं सम, न्यून तथा अधिक। रत्नाकरकार ने लाम और हानि के विनिमय में विषमालंकार माना है—

'दोषे च दोषस्य गुणे च तस्य कृते कृतिः स्यात् परिवृत्तिरेव।

गुणे तु दोषस्य विपर्यये वा यद्गोचरोऽस्ती विषमः स विदः ॥'

लाम और हानि के विनिमय में विषमालंकार मानकर कदाचिद् मम्मट के 'लतानामेतासान्०' पद्य के उल्लेख में मानी गई परिवृत्ति को रत्नाकरकार विषम मानना चाहते हैं। उन्होंने मम्मट का यह पद्य उदाहरण के रूप में अपनाया भी नहीं है। सभी भेदों के लिए सर्वथा नवीन उदाहरण दिए हैं।

अप्यदीक्षित—का चिन्तन इत दिशा में कान्तिपूर्ण है। वे समपरिवृत्ति स्वीकार नहीं करते। उनका लक्षण—

'परिवृत्तिविनिमयो न्यूनाभ्यधिकयोर्मिथः।'।

उदा०—'तस्य च प्रवचसो जटायुषः०'।



पण्डितराज—जगत्प्राप के परिवृत्ति चिन्तन में नवीनता भी है और परिष्कार भी। वे परि-  
 वृत्ति को सगीद या मीढा मानते हैं। उनका लक्षण—

परकीयपरिर्वृत्तिवद्वक्त्रवादानविष्टिष्ट पररमे स्वकीय परिर्वृत्तिवद्वस्तुसमर्पण परिवृत्तिः ।  
 काय इति यावत् ।

अन्य व्यक्ति की कोई वस्तु लूट कर उसे अपनी अपनी कोई वस्तु देना परिवृत्ति कहलाता है।  
 इसका अर्थ हुआ कर। इन्होंने परिवृत्ति का मूलन दो मार्गों में विभक्त किया—समपरिवृत्ति तथा  
 विषमपरिवृत्ति। समपरिवृत्ति पण्डितराज ने दो प्रकार की मानी है, उत्तम पदार्थों से उत्तम पदार्थों  
 की तथा निम्न पदार्थों में निम्न पदार्थों की। विषम परिवृत्ति भी वे दो प्रकार की मानते हैं  
 उत्तम से निम्न का तथा निम्न से उत्तम की।

पण्डितराज ने लक्षण में परकीय-शब्द का निवेश कर सर्वस्वकार की इस मान्यता को  
 अमान्य ठहराया है—स्व के द्वारा किसी वस्तु का त्याग किया जाए और अन्य वस्तु का  
 परिग्रह हो उसमें भी परिवृत्ति होती है। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में सर्वस्वकार की इस मान्यता का  
 खण्डन कर उनके द्वारा हम भेद के लिए प्रदत्त उदाहरण 'भिन्नितवयाभ्यां' को भी परिवृत्तिग्रह्य  
 बतलाया है। वस्तुतः हम पद्य में परिवृत्ति का चमत्कार, कर्म, विषमता का चमत्कार अविक  
 है। इसके अतिरिक्त हममें दृष्टान्ताकार की भी स्पष्ट छवि है।

पण्डितराज ने यह भी स्पष्टीकरण देकर देखा है कि परिवृत्ति का सौदा कविकल्पित होना  
 चाहिए। यदि वह लौकिक हुआ तो उसमें अलङ्कारभाव नहीं आ सकेगा।

विश्वेश्वर के प्रतिगामी मस्तिष्क से प्रसून परिवृत्ति का लक्षण यह है—

'मदृशासृष्टौरर्थैरर्पानां विनिमयस्तु परिवृत्तिः ।'

—'मम विषम अर्थों द्वारा अर्थों का विनिमय परिवृत्ति अलङ्कार होता है। इस प्रकार  
 विश्वेश्वर मन्मथ के अनुयायी हैं। रसगगाधरकार द्वारा दिए गए 'परकीयत्व' विशेषण और  
 उससे हुए सर्वस्व के खण्डन पर विश्वेश्वर का ध्यान तो गया है किन्तु वे उस पर कोई टिप्पणी  
 नहीं करते।

चक्रवर्ती की निष्कृष्टार्थकारिका यहाँ इस प्रकार की है—

'परिवृत्तिर्विनिमयस्त्रिधा सेयं समादिभिः ।'

पाठान्तर = विमर्शिनी की 'अनश्वाय शब्दोपात्तमेव भवति' पंक्ति निर्णयसागरीय संस्करण में  
 'अनश्वाय शब्दोपात्तश्रुति (?)' इस प्रकार सपादक के प्रश्नचिह्न के साथ अशुद्ध मुद्रित है।  
 इसी प्रकार 'उत्तमानमेतां' पद्य के बाद 'मन्वद्वरसमन्वयो' के स्थान पर इस संस्करण में 'लया  
 समन्वयो' मुद्रण है।

उदाहरण की दृष्टि में परिवृत्ति के सर्वोत्तम उदाहरण वामन द्वारा उद्धृत कालिदास  
 के पद्य हैं।

भेदों के नाम मित भिन्न मानदण्डों पर किए गए हैं। अधिकपरिवृत्ति या न्यूनपरिवृत्ति का  
 अभिप्राय कभी दो जाने वाली वस्तु की उत्तमता से है और कभी ली जाने वाली वस्तु की। वस्तुतः  
 दो जाने वाली वस्तु के ही आधार पर नामकरण उचित है। विनिमय की पहली कड़ी देना  
 ही होता है।

[ सर्वस्व ]

[ सूत्र ६३ ] एकस्यानेकप्राप्तावेकत्र नियमनं परिसंख्या ।

एकानेकप्रस्तावादिह वचनम् । एकं वस्तु यदानेकत्र युगपत् संभाव्यते तदा तस्यैकत्रासंभाव्ये द्वितीयपरिहारेण नियमनं परिसंख्या । परि अपवर्जने । कस्यचित् परिवर्जनेन कुत्रचित् संख्यानां वर्णनीयत्वेन गणनं परिसंख्या । सा चैषा प्रश्नपूर्विका तदन्यथा वेति प्रथमं द्विधा । प्रत्येकं च वर्जनीयत्वस्य शाब्दत्वार्थत्वाभ्यां द्वैविध्यमिति चतुःप्रभेदाः । क्रमेण यथा—

'किं भूपणं सुदृढमत्र यशो न रत्नं  
किं कार्यमार्यचरितं लुहृतं न दोषः ।  
किं चक्षुरप्रतिहतं धिपणा न नेत्रं  
जानाति कस्त्वदपरः सदसद्विवेकम् ॥'

'किमासेव्यं पुंसां सविधमनवद्यं द्युसरितः  
किमेकान्ते ध्येयं चरणयुगलं कौस्तुभभृतः ।  
किमाराध्यं पुण्यं किमभिलषणीयं च करुणा  
यदासक्त्या चेतो निरवधि विमुक्त्यै प्रभवति ॥'

'भक्तिर्भवे न विभवे व्यसनं शास्त्रे न युवतिकायास्त्रे ।  
चिन्ता यशसि न चपुषि प्रायः परिदृश्यते महताम् ॥'  
'कौटिल्यं कचनिचये करचरणाधरदलेषु रागस्ते ।  
काठिन्यं कुचयुगले तरलत्वं नयनयोर्वसति ॥'

अथ चालौकिकं वस्तु गृह्यमाणं वस्त्वन्तरव्यवच्छेदे पर्यवस्यतीति व्यवच्छेद्यं वस्त्वन्तरं शाब्दमार्थं वेति नियमाभावः । अलौकिकत्वाभिप्रायेणैव कचित्प्रश्नपूर्वकं ग्रहणम् ।

'विलङ्घयन्ति श्रुतिवर्त्म यस्यां लीलावतीनां नयनोत्पलानि ।  
धिमतिं यस्यामपि वकिमाणमेको महाकालजटार्धचन्द्रः ॥'

तथा — 'चिन्नकर्मसु वर्णसंफुरो, यतिषु दण्डग्रहणानि' इत्यादौ श्लेष-संपृक्तत्वमस्या अत्यन्तचारुत्वनिबन्धनम् । अत्र च नियमपरिसंख्ययोर्वाक्य-वित्प्रसिद्धं लक्षणं नादरणीयमिति ख्यापनाय नियमनं परिसंख्येति सामानाधिकरण्येनोक्तिः । अत एव पाक्षिक्यपि प्राप्तिरत्र स्वीक्रियत इति युगपत्संभावनं प्रायिकम् ।

[ सूत्र ६३ ] एक की अनेक स्थानों में प्राप्ति होने पर एक में नियमन परिसंख्या [ अलंकार कहलाता है ] ॥

[ वृत्ति ] एक और अनेक वस्तु को लेकर इसे यहाँ बतलाया जा रहा है। एक वस्तु जब अनेक स्थानों पर एक साथ संभावित हो तब उसका किसी एक असंभाव्य स्थान पर अन्य का परिहार करते हुए ओ नियमन किया जाता है उसे परिसरत्या कहते हैं। परि अर्थात् अपवर्जन [या निषेध]। किसी का निषेध कर कहीं जो सखवान अर्थात् वर्णनीयरूप से गणना करना वह हुई परिसंख्या। यह प्रथमतः दो प्रकार की होती है [ १ ] प्रदनपूर्वक तथा [ २ ] उसके विपरीत [ प्रदनरहित ]। अनन्तर इसमें वर्णनीय की परिहार्यता शब्द और आर्थ दो प्रकार की होती है, अतः भेदों की संख्या चार हो जाती है। इनके क्रमशः उदाहरण—

[ प्रदनपूर्वक शब्द परिहार्य से युक्त परिसंख्या ]—

‘संतार में सुदृढ भूषण क्या है ? यश, रत्न नहीं। करणीय क्या है ? आर्यपुरुषों द्वारा किया सुकृत, दोष नहीं। अप्रतिहत चक्षु क्या है ? बुद्धि, चर्मचक्षु नहीं। [ इस प्रकार ] सद असत् का अन्तर आपको छोटकर जानता ही कौन है ?’

[ प्रदनपूर्वक तथा आर्थ परिहार्य से युक्त परिसंख्या— ]

‘पुनर्षों के लिए सब प्रकार से सेव्य क्या है ? गंगा जी वा निर्दोष परिसर [ तट ], पकान्त में ध्यान करने योग्य वस्तु क्या है ? कौस्तुभधारी मगवान् विष्णु के चरणशुभल; आराधनीय क्या है ? पुण्य। इसी प्रकार चाहने योग्य वस्तु क्या है ? करुणा, जिसकी आसक्ति से चित्त सदा के लिए मुक्ति पाने में समर्थ हो पाता है।’

[ प्रदनरहित शब्द परिहार्य युक्त परिसंख्या— ]

—‘गङ्गापुरुषों में प्रायः भक्ति मगवान् शंकर के प्रति देखी जाती है, विभन के प्रति नहीं, व्यसन शास्त्र में देखा जाता है, युवतिरूपी कामाक्ष में नहीं; चिन्ता यश की देखी जाती है, मरयं शरीर की नहीं।’

[ प्रदनरहित आर्थ परिहार्ययुक्त परिसंख्या— ]

‘कुटिलता तेरे केशपाश में है, राग कर, चरण और अवर में, कठिनता कुचयुग्म में है और चंचलता नेत्र में।’

यहाँ [ परिसंख्या के इन उदाहरणों में ] असंभावित वस्तु का विधान किया जाता है, अतः इसके द्वारा उससे भिन्न [ लोकप्रसिद्ध ] वस्तुओं का निराकरण ठहरता [ ही ] है। इस कारण निराकरणीय भिन्न वस्तु शब्द ही कथित हो अथवा अर्थ ही प्रनीत हो ऐसा कोई नियम नहीं रहता। असंभाव्यता के अभिप्राय से ही कहीं विधान प्रदनपूर्वक होता है [ जब कि मीमांसाशास्त्र में प्रसिद्ध परिमख्या में प्रश्न कमी होता ही नहीं है ]।

—‘जिस [ उज्जयिनी नगरी ] में श्रुतिवर्त्म [ वैदिक धर्म तथा कनपदी ] का उल्लंघन लीलावती पतिताओं के नेत्रोत्पल ही किया करते हैं तथा जिसमें वक्रता को केवल महाकाष्ठ की जटा का अर्धचन्द्र ही धारण करता है [ यह ] ॥’

तथा—जहाँ वर्णसंकर [ ब्राह्मणादि वर्णों का मिश्रण तथा रंगों का मिश्रण ] चित्रकर्म में होता है, दण्डप्रदण [ राजदण्ड पाना तथा मद्गदण्ड अपनाना ] यतियों में देखा जाता है—इत्यादि प्रयोगों में हम [ परिसंख्या ] का श्लेष से मिश्रण बहुत ही अधिक चाहत्व ला देता है।

‘इसमें जो ‘नियम’ और ‘परिसंख्या’ शब्द हैं इनके मीमांसकों में प्रसिद्ध लक्षण नहीं अपनाने हैं’ यही बतलाने के लिए सूत्र में ‘नियमन परिसंख्या है’ हम प्रकार दोनों को अभिन्नरूप में कहा गया है [ जब कि मीमांसाशास्त्र में ये परस्पर भिन्न होते हैं ]। इसी कारण हममें प्राप्ति को भी पाक्षिक मान लिया जाता है [ जब कि मीमांसाशास्त्र में पाक्षिकता केवल नियम में ही

मानी जाती है ] इस प्रकार [ मीमांसा में प्रसिद्ध दो विपरीत पक्षों में ] 'एक साथ प्राप्ति' [ लागू होना यह जो परिसंख्या का लक्षण है यह ] यहाँ मान्य होता भी है और नहीं भी ।

### विमर्शिनी

एकानेकेति । पर्याये एकस्यानेकत्र पर्यवसानादेरुक्तत्वात् । असंभाव्य इति । कविप्रतिभा-निर्वर्तितत्वाद्धोकोत्तर इत्यर्थः । न पुनः प्राप्तिविषयत्वेनासंभाव्यत्वं व्याख्येयम् । सर्वथा-प्राप्तस्यार्थान्तरस्य निषेधमात्रपरो हि विधिः परिसंख्या । अत एवार्थान्तरनिषेधे तात्पर्यमेव दर्शयितुं द्वितीयपरिहारेणेत्युक्तम् । अपवर्जनं इति । 'अपपरी वर्जने' [ पा० १।१।८८ ] इति वचनात् । लेति । यथोक्तरूपा । एषेति । परिसंख्या । किं भूपणमिति प्रश्नपूर्वकत्वम् । न रत्नमिति शब्दोपादानात् परिवर्जनीयस्य शब्दत्वम् । न पुनरीश्वरादि सेष्यमिति परि-वर्जनीयस्य शब्दानुपादानादार्यत्वम् । अत्रेति । एपूर्वाहरणेषु । अलौकिकमिति । कविप्रतिभा-निर्वर्तितम् । गृहमाणमिति । विधीयमानतया । नस्त्वनन्तरव्यवच्छेद इति । अर्थान्तरनिषेध-मात्रतात्पर्यात् । नियमानाव इति । नह्यत्र व्यवच्छेदस्य शब्दस्वार्थस्वाभ्यां कश्चिन्नष्टणमेद इति भावः । अलौकिकत्वाभिप्रायेणेति । नहि 'पञ्च पञ्चनखा भक्षयाः' इत्यादौ प्रश्नपूर्वकं ग्रहण-मिमांशयः । क्वचिदिति । कुत्राप्यप्रश्नपूर्वकत्वमपि भवेदिति भावः । इलेपसंपृक्तत्वमिति । रलेपशब्दश्चात्र रिक्तशब्दनिषेधनायामतिशयोक्तौ वर्तते । तथात्वोक्तेश्चातिशयोक्तिमात्र-संपृक्तत्वे न तथा चास्त्वं भवतीति प्रयोजनम् । अत्यन्तेति । पूर्वोदाहरणभ्याः । ननु नियम-परिसंख्ये भिन्नलक्षणे प्रसिद्धे इति कथं तयोः सामानाधिकरण्यं सूत्रितमित्याशङ्क्याह — अत्रेत्यादि । वाक्यविदो मीमांसकाः । यदाहुः—

'विधिरत्यन्तमप्राप्तौ नियमः पाक्षिके सति ।

तत्र चान्यत्र च प्राप्तौ परिसंख्या निगद्यते ॥' इति ।

अत्रायमर्थः । इह कस्यचिदर्थस्य नियमेनाज्ञातस्य विधिः क्रियमाणो यदार्थान्तर-निषेधार्थमपि पर्यवस्यति तदा नियमविधिः । न पुनरज्ञातज्ञापनमात्रपर्यवसित एव भवति । तेन नियमे 'मीमांसावहन्ति' इत्यादाववघातमात्रपर्यवसायित्वमेव न, दलनादेरपि निषेधत्वेन पर्यवसानात् । नापि निषेधमात्र एव तात्पर्यम् । अवघाताभावे विध्यनिष्पत्तेः । सर्वप्रकारप्राप्तेरप्राप्तांशपरिपूरणस्याप्यभावे विधिः क्रियमाणोऽर्थान्तरनिषेधमात्रार्थमेव चत्र पर्यवस्यति सा परिसंख्या । तेन 'पञ्च पञ्चनखा भक्षयाः' इत्यादावन्यपञ्चनखभक्षणनिषेध-मात्रतात्पर्यमेव । न पुनरेतत्पञ्चनखभक्षणकर्तव्यतापि । तथात्वे हि पञ्चानां पञ्चनखानाम-भक्षणे प्रत्यवायप्रसङ्गो नियमादस्या भेदो वा न स्यात् ।

नादरणीयमिति । अनेनैव लक्षणेनोभयोः संग्रहात् । तथाहि नियमे 'समे देशे यजेत' इत्यादौ यागस्य समविषयान्यनेकत्र देशे प्राप्तावेकत्र सम एव नियमनं कृतम् । परि-संख्यायामपि सर्वत्र भक्षणस्य प्राप्तौ पञ्चपञ्चनखविषय एवैकत्र नियमनम् । नन्वत्र पञ्च-पञ्चनखान्तरनिषेधमात्रतात्पर्यात् पञ्चपञ्चनखविषये भक्षणनियमने न वाक्यार्थत्वमिति कथमुभयानुगाम्येतल्लक्षणमिति चेत् । सत्यम् । अस्ति तावदामुखे पञ्चपञ्चनखविषये भक्षणे विधिः । यदास्वार्थान्तरनिषेधपर्यवसायित्वं तदेव जीवितभूतत्वेनेदालंकारत्वप्रतिष्ठापकम् । तच्च नियमपरिसंख्ययोः समानम् । अथ नियमे विधिनिषेधयोर्वाक्यार्थत्वं परिसंख्यायां च निषेधस्यैवेत्यनयोर्महान् भेद इति चेत् । न । अस्ति तावद्विधेरर्थान्तरे निषेधपर्यवसायित्वं समानं यन्नियमनमनयोरलंकारत्वम् । यत्तु नियमे विधावपि तात्पर्यं न तु परिसंख्यायाम्,

तदनौपयिकत्वादिहानादरणीयम् । न हीह पञ्चानां पञ्चनखानामभक्षण एव प्रत्यवायः प्रसज्यते येन विधिनिषेधात्पर्याम्यमनयोरलंकारभेदः स्यात् । तथाप्ये च सर्वालङ्कार-मेदानां भेदहेतवतितायादिसंभवाद्भिन्नलक्षणप्रसङ्गेऽलंकारानग्य स्यात् । अतश्चैतद्वेश्वरमेव नियमस्य वाच्यम् । तदाह—अत एवेत्यादि । स्वीक्रियत इति । भेदस्वेनेत्यर्थः । सा च यथा—‘किमासेष्यं पुसाम्’ इत्यादौ द्युसरिच्छेत्परयोः सेवाया । न युगपरमंभावनमिति निषेध-पर्यवसायी द्युसरिच्छट् एवैकत्र सेवाया नियमः कृतः । अत एव च तत्प्रायिकमिरयुक्तम् ।

एकानेकेति = क्योंकि पर्यायालंकार में एक का अनेक में पर्यवसान बतलाया गया है । असंभाव्य = कविप्रतिमाद्वारा सिद्ध होने से असंभाव्य अर्थात् लोकोत्तर । असंभाव्य का अर्थ ‘प्राप्ति विषय के रूप में जिसकी कल्पना नहीं की जा सकती, यह अर्थ नहीं करना चाहिए क्योंकि परिसंख्या उस विधि का नाम है जिसका तात्पर्य संबंधा प्राप्त अर्थान्तर के निषेध में रहता है । इसीलिए, अर्थान्तर निषेध में तात्पर्य दिखलाने के लिए ही ‘द्वितीय का परिहार करने हुए’-यह कहा । अपवर्जनं=जैसा कि [ पाणिनि का ] सूत्र है ‘अपवर्ती वर्जने’ [ १।४।८८ ] ‘अप’ और ‘परि’ अपसर्गं वर्जने अर्थ में कर्मप्रवचनीय होते हैं [ प्रकृतेन स्वन्विना कस्यचिदनभिसन्धो वर्जनम् = काशिका ] सा = वह = जिसका स्वरूप बतला जा चुका है । एषा = यह = परिसंख्या । किं भूषणम् = यह हुई प्रदन पूर्वक । ‘न ररनम्’ = ‘ररन नहीं’—इस प्रकार शब्दतः कथन होने से यहाँ परिवर्जनीय अर्थ शब्द है । ‘राजा आदि सेवा योग्य नहीं’ इस परिवर्जनीय अर्थ के शब्दतः कथित न होने से वह कार्य हुआ । अत्र = यहाँ = इन उदाहरणों में । अलौकिक = कविप्रतिमा से निष्पन्न । गृह्यमाण = जिसका विधान किया जाता है । वरवन्तरभयवन्द्ये = अन्य वस्तुओं का परिहार, इसलिए कि इसमें तात्पर्य ही अन्य अर्थ के निषेध में रहता है । नियमाभाव = यहाँ परिहार्य अर्थ के शब्द या कार्य होने से श्लेष में भेद नहीं रहता । अलौकिकत्वाभिप्रायेण = असंभाव्यता के अभिप्राय से = [ मीमांसा के ] ‘पंच पञ्चनख प्राणी खाए जा सकते हैं—’ इत्यादि [ परिसंख्या प्रयोगों ] में विधान प्रदनपूर्वक नहीं रहता । क्वचित् = कहीं’ अर्थात् कहीं कहीं विधान प्रदनपूर्वक नहीं भी रहता । श्लेषसंपृच्छत्वम् = श्लेष का मिश्रण = यहाँ श्लेष शब्द का अर्थ है श्लेषयुक्त शब्द से निष्पन्न अतिशयोक्ति और इसका अभिप्राय यह है कि इस प्रकार की उक्तियों में यदि श्लेष न हो, केवल अतिशयोक्ति ही हो तो चमत्कार की उनी मात्रा नहीं आ पाती । अत्यन्त = अर्थात् प्राचीन उदाहरणों की अपेक्षा । संका होनी है कि नियमविधि और परिसंख्या के लक्षण भिन्न भिन्न होते हैं, तब यहाँ उन्हें अभिन्न क्या बतलाया गया है । इस पर कहते हैं—‘अत्र’ = यहाँ । वाक्यविद् = मीमांसक, जैसा कि [ मीमांसकों ने ही ] कहा है—

‘अत्यन्त अप्राप्ति में विधि, विकार में नियम और भिन्न दो तथ्यों की प्राप्ति में परिसंख्या कहलाती है ।’

[ ‘स्वर्ग के लिए क्या करना चाहिए’ इस जिज्ञासा का कोई उत्तर नहीं मिलता, कोई उपाय विदित नहीं होता । तब वेदवाक्य कहना है ‘स्वर्ग के लिए ज्योतिष्टोम यज्ञ करना चाहिए । इस वाक्य की विधिवाक्य कहा जायगा’ । इस वाक्य के अतिरिक्त स्वर्गप्राप्ति का उपाय किसी भी प्रमाण से जो उपलब्ध नहीं होता । नियम तथा परिमत्या का स्पष्टीकरण विमर्शनीकार करते हैं— ]

इसका अर्थ हम प्रसंग में यह है—अब किसी अज्ञान अर्थ का विधान किसी नियम वाक्य के द्वारा किया जाता है और वह अन्य किसी अर्थ के निषेध में पर्यवसित होता है तो उसे नियमविधि कहते हैं । यह [ विधि के समान ] केवल अज्ञान अर्थ के वापन में ही समाप्त नहीं हो रहता । इस प्रकार ‘धान को कूटता है’—इत्यादि नियमविधि में केवल कूटने मात्र में ही विधिवाक्य की

समाप्ति नहीं हो जाती, 'दरना' भादि के निषेध तक भी उसकी पहुँच होती है। इसी प्रकार केवल निषेध में भी [ वाक्यार्थ की ] समाप्ति नहीं होती क्योंकि तब [ 'कृदन्ता है' इस विधि का अर्थ 'दरता नहीं है' होगा, इस प्रकार ] कृदन्ते का ज्ञान न होगा, फलतः विधानात्मक अर्थ प्रतीत न होगा। जब सभी अर्थ का ज्ञान रहता है, फलतः किसी अज्ञात अर्थ के ज्ञापन का प्रश्न नहीं रहता तब जो विधान होता है उसका तात्पर्य केवल अर्थान्तर के निषेध में ही रहता है। उसे परिसंख्या कहते हैं [ परि = वर्जनं य. निषेध, संख्या = ज्ञान, निषेधज्ञान ]।

‘पंच पंचनखा भक्ष्या धर्मतः परिकीर्त्तिताः।

गोधा कूर्मः शशः खड्गी शक्यकश्चेति ते स्मृताः ॥’—

[ 'पाँच पाँच पाँच पंचनखी प्राणी धर्मशास्त्र द्वारा भक्ष्य रूपसे मान्य हैं। ये हैं गोवा, कूर्म, शश, खड्गी तथा शक्यक द्र० परिसंख्यापादटि० वामनीसहित काव्यप्रकाश ]। इस प्रकार 'पाँच पंचनखी प्राणी भक्ष्य हैं—' इत्यादि वचनों का तात्पर्य केवल अन्य पंचनखी प्राणियों के भक्षण के निषेध में रहता है। किन्तु इसमें पाँच पंचनखी प्राणियों के भक्षण का विधान नहीं रहता, वैसा होने पर तो पाँच पंचनखी प्राणियों के भक्षण न करने से [ आतृवाक्य का उल्लंघन होगा और ततः ] पाप उत्पन्न होने लगेगा, साथ ही इसका [ उपर्युक्त ] 'नियम' विधि से कोई अन्तर नहीं रहेगा।

नादरणीयम् = 'मीमांसकों के सिद्ध अर्थ नहीं अपनाते हैं'—इसलिए कि [ नियम और परिसंख्या ] दोनों का संग्रह [ परिसंख्यालङ्कार के ] इसी एक लक्षण में हो जाता है। तथाहि—'यद्यपि भूमि में करे' इत्यादि जो नियमविधि के वाक्य हैं इनमें प्रथमतः प्राप्त सम और विषम सभी भूमिओं में से समभूमि में विधि का नियमन = संकोच कर दिया जाता है। इसी प्रकार परिसंख्या में भी सभी पंचनखी प्राणियों के भक्षण का जो प्राप्ति रहती है उसमें भी केवल पाँच पंचनखी प्राणियों के भक्षण तक विधि का संकोच रहता है। शंका होती है कि पाँच पंचनखी प्राणियों के निषेधमात्र में क्यों तात्पर्य है अतः पाँच पंचनखी प्राणियों के भक्षण में विधि के नियमन में वाक्य का तात्पर्य नहीं माना जा सकता तब यह कैसे कहा कि 'यद्यपि लक्ष्मण उभयायुगामो हे'। [ उत्तर ] ठीक है, [ मीमांसा में भले ही न हो, हमारे यहाँ तो ] आरम्भ में पाँच पंचनखी प्राणियों के भक्षण की विधि रहती है किन्तु अब इसका पर्यवसान अन्य पंचनखी प्राणियों के भक्षण के निषेध में सिद्ध होता है तब वही इसमें अलङ्कारत्व ला देता है क्योंकि वही [ निषेध में पर्यवसान ] इसका प्राण है, और यह [ निषेध में पर्यवसान ] दोनों [ नियम और परिसंख्या ] में समान रूप से रहता है। यदि कौंए कि नियम में विधि और निषेध दोनों में ही तात्पर्य रहता है, जब कि परिसंख्या में केवल निषेध में, इस प्रकार इन दोनों में बहुत बड़ा अन्तर है, तो इस कथन का कोई प्रभाव नहीं, क्योंकि इन दोनों में विधि का निषेध में पर्यवसित होना [ भी तो ] समान है, जिसके आधार पर यहाँ अलङ्कारत्व आ जाता है। जहाँ तक 'नियम में विधि में भी तात्पर्य रहता है, परिसंख्या में नहीं' इस [ अन्तर ] का संबंध है वह यहाँ ( अलङ्कारत्वमीमांसा में ) कोई महत्त्व नहीं रखता इसलिए अनादरणीय है। यहाँ [ अलङ्कार क्षेत्र में ] पाँच पंचनखी प्राणियों के भक्षण में कोई पाप नहीं होने वाला है जिससे एक का तात्पर्य विधि और निषेध दोनों में और दूसरे का तात्पर्य केवल निषेध में मान कर [ रत्नाकारकार के समान नियम और परिसंख्या इन ] दोनों को दो स्वतन्त्र अलङ्कार माना जाए। ऐसा होने पर तो सभी अलङ्कारों में भेद का कारण थोड़ा-थोड़ा अन्तर मिलना संभव है अतः प्रत्येक में भिन्न-भिन्न अनेक लक्षण करने की भावति आएगी। और तब

अलङ्कार भी सख्यातीत हो जायेंगे। इसलिए नियम को इसी परिसंख्या का भेद मानना ही ठीक होगा [ न कि रत्नाकरकार के समान अलग अलङ्कार मानना ]। यही कदा = 'अत एव' इत्यादि। रवीन्द्रियते = रवीकार की जाती है—' अर्थात् भेदरूप से। इसका उदाहरण है 'किमासेव्यं पुसां०'। इन उदाहरणों में गगाजी के तट तथा राजा की सेवाएँ एक साथ प्राप्त नहीं होती [ कबल राजसबा ही प्राप्त होती है ], अतः कबल गगातट में ही अकेले में सेवाविधि का नियमन कर दिया यह नियमन निषेधपर्यन्तसायी हुआ। इसीलिए कदा कि वह प्रायिक = है = कमा मान्य नहीं भी होता ॥'

विमर्श.—परिसंख्या शब्द का अर्थ निषेधबोध है। परि का अर्थ विमर्शनी में उद्धृत 'अपपरी वर्जने' सूत्र के अनुसार निषेध है ही 'परिवर्जने' [ ८।१।५ ] सूत्र के अनुसार भी यही अर्थ है। सख्या का अर्थ ज्ञान होता है। इस प्रकार परिसंख्या शब्द का यौगिक अर्थ निषेधज्ञान निकलता है। पूर्वमीमांसा में जैमिनि का सूत्र है 'परिसंख्या' [ १।२।४२ ] इसमें परिसंख्या का अर्थ निषेधज्ञान ही है। अश्वमेध के प्रकरण में छतिवचन है—'इमामगृभ्णन् रश्नामृतस्य' [ वाज० सं० २२।२ ] इससे पशु को लगाम पकड़ने का अर्थ निकलता है। तब प्रश्न होता है—'कस्य पशु की', अथ का या अन्य किसी पशु का। उत्तर में शतपथब्राह्मण का वचन है 'अथाभिधानामादत्ते' [ १३।१८।१ ] 'इस मंत्र के द्वारा अथ की लगाम पकड़ता है'। इस वचन का तात्पर्य अन्तर पशुओं की लगाम पकड़ने के निषेध में माना जाता है। 'परिसंख्या'—सूत्र द्वारा यही अर्थ प्रतिपादित किया जाता है [ ६० सायणकृत ऋग्वेदभूमिका ] देवलस्मृति के नाम से प्रसिद्ध [ काभ्यप्रकाश वामनी की परिसंख्या पर पादटिप्पणी ] किन्तु उसके कलकत्ता के धर्माश्रमा व्यापारी आमनसुखरायजी मार द्वारा प्रकाशित संस्करण में अप्राप्त 'पच पचनखा मद्या.' प्रयोग, जिसका स्पष्टाकरण ऊपर किया जा चुका है, भी परिसंख्या का उद्यम और इसीलिपि प्रायः इस प्रसंग में सर्वत्र उल्लिखित प्रयोग है।

रत्नाकरकार ने विधि, नियम और परिसंख्या तीनों को तीन स्वतन्त्र अलङ्कार माना है। इनके लक्षण उन्होंने इस प्रकार बनाए हैं—

१ = अममान्यहेतुफलप्रेषण विधिः ॥ ८२ ॥

२ = अन्यनिषेधार्थोऽपि विधिनियमः ॥ ८३ ॥

३ = प्राप्तस्य [ अन्यनिषेधार्थो विधिः ] परिसंख्या ॥ ८४ ॥

तीनों के परस्पर में अन्तर भी उन्होंने बतलाए हैं और उदाहरण भी दिए हैं। इनमें 'किमासेव्यं०' का नियमालङ्कार का उदाहरण माना गया है और 'विलङ्घयन्ति०' पद्य को परिसंख्या का जिसे विमर्शनीकार ने भी उद्धृत किया है। विमर्शनीकार सर्वस्वकार का समर्पण करते और नियम तथा परिसंख्या में अलङ्कारत्व का बीज एक ही मानकर इन्होंने भिन्न मानना अनुचित बतलाने हैं। यह बीज है निषेध्य अर्थ की प्रतीति या अर्थान्तर के निषेध की प्रतीति। विधि के विषय में उन्होंने यहाँ कोई चर्चा नहीं की है।

परिसंख्या का इतिहास—

दण्डी, भामह, वामन और उद्भट की दृष्टि परिसंख्या पर नहीं गई। इसे प्रथमतः रुद्रट ने खोजा है। उनका विवेचन—

रुद्रट = 'पृष्टमपृष्ट वा सदगुणादि यत् कथ्यते क्वचित्तु द्वयम्।

अन्यत्र तु तदभावः प्रतीयते सेति परिसंख्या' ॥ ७।७९ ॥

‘पूछने या न पूछने पर जहाँ अनेकज साधारण गुण आदि का कहीं इस प्रकार अस्तित्व बतलाया जाए कि उससे कहीं अन्यत्र अभाव प्रतीत हो तो उसे परिसंख्या कहते हैं। उदाहरण—

प्रश्नपूर्वक परिसंख्या = ‘किं सुखमपारतन्म्यम्’ = सुख क्या है ? स्वतन्त्रता ।

प्रश्नरहित परिसंख्या = ‘कीदृश्यं कचनिचये०’ पद्य हो ।

मम्मट = रुद्रट की ही पदावली में लिखते हैं :—

‘किञ्चित् पृष्टमपृष्ट वा कथितं यत् प्रकल्पते । तादृगन्यव्यपोहाय परिसंख्या तु सा स्मृता ॥’

‘प्रमाणान्तरावगतमपि वस्तु शब्देन प्रतिपादितं प्रयोजनान्तराभावात् सदृशवस्त्वन्तरव्यवच्छेदाय यत् पर्यवस्यति सा भवेत् परिसंख्या । अत्र च कथनं प्रश्नपूर्वकं तदन्यथा च परिपृष्टम्, तथा अन्यत्र व्यपेक्ष्यमानस्य प्रतीयमानता वाच्यत्वं चेति चरवारी भेदाः ।’

‘पृष्ट या अपृष्ट कोटि वस्तु शब्द से कथित होकर बैसी ही किसी अन्य वस्तु का निराकरण कराए तो वह परिसंख्या मानी गई है ।’ कोटि वस्तु किसी अन्य प्रमाण से विदित होती है ( अतः जिसके लिए शब्द प्रयोग की अपेक्षा न हो ) तथापि उसी शब्द से कक्षा जाता है तो वह अन्य प्रयोजन के अभाव में बैसी ही अन्य वस्तु के निराकरण का कारण बनती है । उसी को परिसंख्या माना जाता है । इसमें कथन प्रश्नपूर्वक या तद्रहित रहता है साथ ही निराकरणीय वस्तु कहीं प्रतीयमान होती है और कहीं वाच्य, फलतः इसके चार भेद हो जाते हैं । उदाहरण = एक-एक कर के ही जा सर्वस्वकार ने दिये हैं । स्पष्ट ही मम्मट ने रुद्रट के आगे दो अतिरिक्त भेदों की कल्पना भर की शेष सारा विवेचन उनका समान है । मम्मट ने परिसंख्या को मीमांसा की पृष्ठभूमि से यथाशक्ति अछूता रखना चाहा था । सर्वस्वकार ने उसमें मीमांसा को छुलकर स्थान दिया । रत्नाकर और विमशिनी ने उसे और मचा दिया ।

परवर्ती आचार्यों में रत्नाकर का मत इसी विमर्श में पहले आ चुका है । जयदेव और अप्पयदीक्षित का लक्षण यह है—

जयदेव, दाहृत—‘परिसंख्या निषेधैकमन्यस्मिन् वस्तुयन्त्रणम् ।

रनेदक्षयः प्रदीपेषु न स्वान्तेषु नतन्नुवाग् ॥’

‘एक का निषेधकर अन्य में वस्तुनियन्त्रण परिसंख्यालंकार कहलाता है । उदा०—त्नेह [ प्रीति तथा तेल ] क्षय दीप में है, शिखों में नहीं ।’

दीक्षित जी ने इसमें निषेध को शाब्द बतलाया है और आर्थ निषेध के लिए रत्नाकर तथा विमशिनी में उद्धृत ‘विलङ्घयन्ति०’ पद्य उद्धृत किया है ।

पण्डितराज = ने परिसंख्या के विषय में अनेक नवीन सूचनाएँ दी हैं जो रुद्रट, मम्मट, सर्वस्वकार, रत्नाकर, विमशिनी और कुबलयानन्द में नहीं मिलतीं । उनके रसगंगाधर से विदित होता है कि, कुछ आचार्य परिसंख्या को अलंकार केवल जहाँ मानते हैं जहाँ निषेध आर्थ या प्रतीयमान होता है, शब्द नहीं । शब्द में वे केवल परिसंख्यात्व मानते हैं अलंकारत्व नहीं । पण्डितराज ने इन आचार्यों का नामोल्लेख नहीं किया है । दूसरी यह सूचना भी मिलती है कि विमशिनीकार ने जिस ‘पंच पंचनख प्राणी मध्य है’—इस वाक्य में परिसंख्या को अलंकार माना है, कुछ आचार्य इसमें भी केवल परिसंख्यात्व मानते हैं । उनका तर्क है कि यह केवल लोक वाक्य है, इसमें कविप्रतिभा नहीं है । इसी प्रकार ‘किमासेव्यं युंसा०’ में सेव्यत्वेन कथित गंगातट वास्तविक वस्तु है प्रातिम नहीं, अतः यहाँ भी ‘पंच पंचनखाः’ के समान परिसंख्यामात्र है, परिसंख्यालंकार नहीं । इन्होंने यह भी कहा है कि इन आचार्यों के अनुसार ‘किं भूषणं सुदृढमत्र यज्ञः’ इत्यादि स्थलों में भी परिसंख्या नहीं, रूपक है ।



ये सब मत पण्डितराज स्वयं को अमान्य प्रतीत होते हैं क्योंकि उन्होंने इनका उल्लेख मात्र किया है वह मा परिशिष्ट के रूप में। उनका स्वमत इस प्रकार है—

'सामान्यतः प्रातस्वार्थस्य कस्माच्चिद् विशेषाद् व्यावृत्तिः परिसर्या'।

'सामान्यतः प्रातः अर्थ का किन्ना विशेष से अलगाव परिसर्या कहलाना है'।

नियम को परिसर्या का ही एक प्रकार स्वीकार करने हुए पण्डितराज ने समर्थन में वही तर्क दिया है जो सर्वस्वकार और विमर्शनाकार ने दिया था—'एक ही लक्षण में दोनों का समर्थ'। पण्डितराज ने साहित्यसिद्धान्त में मान्य नियम और परिसर्या के अन्तर्गत व्याकरणसिद्धान्त से भी पुष्ट किया है। उन्होंने लिखा है कि व्याकरण में भी परिसर्या को नियमशब्द से कहा जाता है। उदाहरण के रूप में अष्टाध्यायी के प्रथम अध्याय के द्वितीय चरण का 'कृच्छ्रितसमासाश्च' यह छयालीसवाँ सूत्र प्रस्तुत किया है। इस सूत्र में 'समास' का ग्रहण वाक्यस्वरूप समासोत्तर सार्थ शब्दसमुदाय से प्रातिपदिक सञ्ज्ञा का व्यावृत्ति के लिए किया गया है। क्योंकि इसके पूर्व के पँतालासवें सूत्र 'अश्वदधानुरप्रस्थस्य प्रातिपदिकम्' के द्वारा अर्थवत्ता के साथ प्रातिपदिकत्व की स्थापना की गई है। इसके अनुसार जा जा शब्द सार्थक हैं वे यदि धातु और प्रस्थस्य नहीं हैं तो प्रातिपदिक हैं। वाक्य और समास दोनों ही ऐसे शब्दों में आते हैं। 'राजा का पुरुष', 'मेरी पोषी' आदि वाक्य न तो प्रत्ययरूप हैं और न धातुरूप, अर्थ इनसे विद्वत् होता ही है, अतः इन्हें इस पँतालासवें सूत्र से ही प्रातिपदिक माना जा सकता था। 'कृच्छ्रितसमासाश्च' सूत्र के द्वारा कहा गया कि 'कृच्छ्र', तद्धित और समास भी प्रातिपदिक होते हैं'। इसमें समास को प्रातिपदिक सञ्ज्ञा का विधान पूर्वसूत्र 'अर्थवत्त' से गतार्थ होकर स्वर्थ सिद्ध होता है। उसका सार्थकता सिद्ध होती तब जब यह अर्थ निकाला जाता है कि समासोत्तर वाक्यसमुदाय में प्रातिपदिक सञ्ज्ञा न हो। इसी प्रकार यह प्रयोग परिसर्यात्मक हुआ। किन्तु व्याकरण शास्त्र में इसे परिसर्या न कहकर नियम कहा जाता है—यथा 'समासग्रहणं नियमार्थम्', ०००० समासग्रहणस्य नियमार्थत्वाद् वाक्यस्य अर्थवत्तः सञ्ज्ञा न भवति = काशिका'। पूर्ववर्ती शास्त्रों में इनके भिन्न होने की मान्यता को भी पण्डितराज ने उपरिधन किया है। तदर्थे उन्होंने विमर्शनी में उद्धृत 'विधिरत्यन्तमप्राप्तौ०' कारिका ही प्रमाणरूप से उपरिधन का है और उसकी व्याख्या भी की है।

पण्डितराज ने भी परिसर्या के चार उपयुक्त भेद माने हैं।

विश्वेश्वर ने भी पण्डितराज की ही सरणि पर चल कर आरम्भ में परिसर्या के चार भेद स्वीकार किये हैं और अन्त में निराकरणीय अर्थ की व्यंग्यता में ही परिसर्या के अलङ्कार होने की रट दोहरा दी है। उनका लक्षण यह है—

पृष्टमपृष्टं चोक्तं यद् व्यंग्यं वापि वाच्यं वा।

कलतीतरव्यपोहं परिसर्या सा तु संख्याना ॥'

पूछा गया अथवा न पूछा गया कोई अर्थ यदि कहा जाय और वह अन्य अर्थ के वाच्य या व्यंग्य निराकरण में परिणत हो तो वह परिसर्या होती है। यहाँ यह उक्तिरूप होती है। विश्वेश्वर ने नियम और परिसर्या को एक मानने का समर्थन पण्डितराज के ही समान व्याकरणशास्त्र के प्रमाण द्वारा किया है। उनके अनुसार व्याकरण महामाध्य में 'पंच पंचनखा' प्रयोग में परिसर्या को नियम ही कहा गया है। भेद इन्होंने भी चार ही माने हैं।

चक्रवर्ती को निष्कृष्टार्थकारिका परिसंख्या; पर इत् प्रकार है—  
 'परिसंख्या त्वनेकत्र प्राप्तस्यैकत्र यन्त्रणम् ।  
 चतुर्धा पक्षवज्ज्योक्तयोर्मात्राभावादियं मता ॥  
 न परं युगपत् प्राप्तिः पक्षेऽपि प्राप्तिरिष्यते ।  
 परिसंख्यानियमयोरतोऽत्रालौकिकी स्थितिः ॥

—'अनेक स्थानों पर प्राप्त का एक स्थान पर नियमन परिसंख्या कहलाती है। यह प्रश्न तथा वज्य [ परिहार्य ] अर्थ के कथन और अकथन से चार प्रकार की होती है। यहाँ केवल युगपत् अनेकत्र प्राप्ति ही नहीं, पाक्षिक प्राप्ति भी मिली जाती है, अतः परिसंख्या और नियम में असामान्यरूप से भेद की स्थिति रहती है।'

मूलपाठ—मूल सर्वस्व में 'कस्यचिद् परिवर्जनेन' के पहले 'परि अपवर्जने' विमर्शिनी के आधार पर हमने जोड़ा है। अन्य प्रतियों में यह अंश नहीं मिलता। निर्णवसागरीय प्रति में 'कौदिर्यं कचनिचये०' के बाद की द्वितीय पंक्ति में 'वस्त्वन्तरं शब्दमार्थं च' पाठ पाठान्तर में रखकर 'वस्त्वन्तरशब्दमात्रं' पाठ मूल में माना गया है। विमर्शिनी में 'विधिरत्यन्तमप्राप्तौ०' बदलण के बाद की तृतीय पंक्ति में 'तदा नियमविधिः । न पुनर०' अंश का 'न' निर्णवसागरीय प्रति में नहीं है और चतुर्थ पंक्ति में, 'पर्यवसायित्वमेव न, दलनादेः' इत् प्रकार आया 'न' भी नहीं है।

[ सर्वस्व ]

[ सूत्र ६४ ] दण्डापूपिकयार्थान्तरापतनमर्थापत्तिः ।

दण्डापूपयोर्भावो दण्डापूपिका । 'द्वन्द्वमनोज्ञादिभ्यश्च' इति बुब् । पृपो-  
 द्रादित्वाच्च वृद्धभावाः । यथा—अहमहमिकेत्यादाविति केचित् । अन्ये  
 तु दण्डापूपौ विद्येते यस्यां नीतौ सा दण्डापूपिका नीतिः । एवमहं  
 शक्तोऽहं शक्तोऽस्यामिति अहमहमिकेतिवन्मत्वर्थायष्टत्रित्याहुः । अपरे  
 दण्डापूपाधिषु दण्डापूपिकेति 'द्वे प्रतिहृतावि'ति कनं वर्णयन्ति । अत्र हि  
 'मूपककर्तृकेण दण्डभक्षणेन तत्सद्वभाष्यपूपभक्षणम् अर्थात् सिद्धम्' एष  
 न्यायो दण्डापूपिकाशब्देनोच्यते । ततश्च यथा दण्डभक्षणापूपभक्षणमर्था-  
 यातं तद्वत् कस्यचिदर्थस्य निष्पत्तौ सामर्थ्यात्समानन्यायत्वलक्षणाद् यद्-  
 र्थान्तरमापतति सार्थापत्तिः । न चेदमनुमानम् । समन्यायस्य संबन्ध-  
 रूपत्वाभावात् । असंबन्धे चानुमानानुत्थानात् । अर्थापत्तिश्च वाक्य-  
 विदां न्याय इति तज्जातीयत्वेनैहामिधानम् ।

इयं च द्विधा । प्राकरणिकाद्प्राकरणिकस्यार्थापतनमेकः प्रकारः ।  
 अप्राकरणिकात् प्राकरणिकस्यार्थापतनं द्वितीयः प्रकारः ।

आद्यो यथा—

'पशुपतिरपि तान्यहानि कुरुच्छादगमयदद्विस्तुतासमागमोत्कः ।  
 कमपरमवशं न विप्रकुर्युर्विभुमपि तं यदमी स्पृशन्ति भावाः ॥'

अत्र विभुवृत्तः प्राकरणिको लोकवृत्तान्तमप्राकरणिकमर्थादाक्षिपति ।  
द्वितीयो यथा—

‘धृतधनुषि बाहुशालिनि शैला न नमन्ति यत्तदाश्चर्यम् ।

रिपुसंघकेषु गणना कैव घराकेषु काकेषु ॥’

अत्र शैलवृत्तान्तोऽप्राकरणिको रिपुवृत्तान्तं प्राकरणिकमर्थादाक्षिपति ।  
कविन्यायसाम्ये निमित्तं श्लेषेण गम्यते—

‘अलङ्कारः शङ्काकरनरकपालं परिकरो

विशीर्णाङ्गो भृङ्गो वसु च धूप एको गतवयाः ।

अवस्थेयं स्याणारपि भवति सर्वांमरगुरो-

विधौ वक्रे मूध्न प्रभवति वयं क पुनरमी ॥’

अत्र विधौ वक्रे इति श्लेषम्, अप्राकरणिकस्याणुवृत्तान्तात् प्राकर-  
णिकार्थापतनम् ।

[ सू० ६४ ] दण्डापूपिका के द्वारा अन्य अर्थ की सिद्धि अर्थापत्ति [ नामक अलङ्कार  
कहलाती है ] ॥

[ व० ] दण्ड और अपूप [ पूआ ] का माव हुआ दण्डापूपिका । [ इस शब्द की व्युत्पत्ति पर ]  
कुछ का मत है कि [ इस शब्द की पर्याय दण्डापूप में दण्ड होने के कारण ] ‘दण्डमनोशादिभ्यश्च’  
[ ५।१।१६३ पा० = वुन् प्रत्यय = दण्डयुक्त शब्द और मनोशादिशब्दों से भी [ होता है ]  
सूत्रसे वुन् प्रत्यय हुआ [ इसमें से शेष रहता है ‘वु’ और सूत्र ७।१।१ से उसे हो जाता है  
अक, खोलिग होने से ‘अ’ का हो जाता है ‘इ’, इस प्रकार शब्द बन जाता है दण्डा-  
पूपिका, ‘वु’ का लोप होने से पूर्वपद ] यदि [ प्राप्त है किन्तु वह ] ‘धपोदरादि’ [ सू० ६।१।१०९  
में उपलब्ध अपवाद ] के कारण नहीं हुए जैसे ‘अहमइमिका—आदि शब्दों में [ नहीं होती ]  
दूसरों का कहना है कि ‘दण्डापूपिका’ का अर्थ है वह नीति जिसमें दण्ड और अपूप हों । इस  
प्रकार इस शब्द में [ ‘दण्डापूप’—इस दण्ड के आगे ] मत्वर्थीय [ युक्तता अर्थ का ] ‘ठन्’ प्रत्यय  
[ अत इतिठौ ५।१।११५-सूत्र से ] हुआ है [ जिसके शेष वचे ‘ठ’ को ‘ठत्येक’-७।१।५० से  
‘इक’ हो जाता है ] जैसे ‘इस प्रकार मैं समर्थ हूँ, मैं समर्थ हूँ इस किया में’ इस अर्थ की विवक्षा  
में ‘अहमइमिका’ शब्द में होता है । अन्य कुछ के अनुसार यहाँ ‘दण्डापूप’ के समान = दण्डा-  
पूपिका’ इस प्रकार ‘इवे प्रतिवृत्तौ’ [ ५।१।१६६ ] ‘सादृश्य [ युक्त ] अर्थ में प्रयुक्तशब्द से उपमेय  
अर्थ में [ कन् प्रत्यय होता है ] सूत्र के द्वारा ‘कन्’ प्रत्यय बनलाते हैं [ जैसे ‘दोषक’ शब्द में ] ।  
प्रकृत में [ जो ] ‘दण्डापूपिका’ शब्द [ सूत्र में आया है उस ] का अर्थ है ‘धूर्तों के द्वारा जब दण्ड  
हो खा डाला गया तब उसमें लटके पूर्ण का खा डालना अपने आप सिद्ध है’—यह दृष्टान्त ।  
इस प्रकार ‘जैसे दण्डमशुण से अपूपमशुण अपने आप चला जाता है वैसे ही किसी अर्थ की  
सिद्धि हो जाने पर स्थितिसाम्य के आधार पर जहाँ अन्य किसी अर्थ की सिद्धि अपने आप  
बनलाई जाती है तो उसे अर्थापत्ति [ नामक अलङ्कार ] कहते हैं । यह अनुमानस्वरूप नहीं है,  
क्योंकि स्थितिभाम्य [ व्याप्ति ] सम्बन्धरूप नहीं होता, और संबन्ध के बिना अनुमान का उत्थान  
नहीं होता । अर्थापत्ति को मीमांसकों ने न्याय [ हेतु ] माना है । यह अर्थापत्ति भी वैसी ही  
है, इस कारण इसे यहाँ [ वाक्यन्यायमूलक अलङ्कारों के प्रसंग में ] बतलाया गया है ।

यद्दो प्रकार की होती है। एक प्रकार वह जिसमें प्राकरणिक अर्थ से अप्राकरणिक अर्थ की सिद्धि होती है और दूसरा प्रकार वह जिसमें अप्राकरणिक अर्थ से प्राकरणिक अर्थ की सिद्धि। इनमें प्रथम, यथा—

‘पशुपति [ शिव ] ने भी वे दिन बड़ी कठिनाई से बिताए, क्योंकि वे पार्वती से मिलने के लिए उत्कण्ठित थे। जब उन विभु [ जितेन्द्रिय ] को भी वे भाव स्पर्श कर सकते हैं तब अन्य किस अवश [ इन्द्रियों के बशीभूत ] प्राणी को ये विकारमग्न न करेंगे’ [ कुमार० ६ ]

यहाँ शिववृत्तान्त प्राकरणिक है, वह अप्राकरणिक लोक [ सामान्य व्यक्ति ] वृत्तान्त को स्वतः सिद्ध करता है।

द्वितीय, यथा—

‘आश्चर्य है कि शैल प्रशस्त भुजाओं से समृद्ध वीर पुरुष [ किसी वर्णनीय व्यक्ति ] द्वारा धनुष ठठा लेने पर भी शूका नहीं करते, शत्रुनामक बेचारे कीर्त्तियों की तो गिनती ही क्या !’

यहाँ शैलवृत्तान्त अप्राकरणिक है। यह प्राकरणिक शत्रुवृत्तान्त को स्वतः सूँच लाता है।

कहाँ स्थितिसाम्य में कारण का ज्ञान श्लेष के द्वारा होता है [ यथा ]—[ विधु और विधि दोनों का सप्तमी के एकवचन में ‘विधौ’ यही एक रूप बनता है, फलतः एकशब्दवाच्यता के कारण दोनों का भेदार्थकसाय हो जाता है। इसी आधार पर निम्नलिखित सूक्ति में कहा जा रहा है—]

‘वक् विधौ [ विधि = विधाता और विधु चन्द्रमा ] के चलते सभी देवताओं के स्वामी स्थाणु [ अपरिणामी या मूलभूत शिव ] की भी यह दशा होती है कि बराबरी नरकपाल उनका आभूषण है, परिजन [ सेवक ] हैं अंगभंग वाले भृङ्गों, धन है केवल एक बैल और वह भी बीती उमर का बूढ़ा; तब ये जो हम लोग हैं, हम क्या हैं ?

यहाँ ‘विधौ’ और ‘वक्’ शब्दों में श्लेष है और अप्राकरणिक शिववृत्तान्त से प्राकरण [ अस्मदादि वृत्तान्तरूपी ] अर्थ खिंच लाता है।’

### विमर्शिनी

दण्डापूर्विकवेत्यादि। शठश्चोक्तनां तावदाह—दण्डेत्यादि। इन्द्रसंज्ञकस्वादेश्यानेन शुभ्र। शैष्योपाध्यायिकेतिवत्। ननु चास्य अधो ण्णितीति जिस्वाद् वृद्धिः किं न भवतीत्याशङ्क्याह—शुभोदरेत्यादि। यथोपदिष्टमित्यनेन हि शिष्टप्रयोगभाजां शब्दानां श्याकरणशास्त्रेण कोपागमवर्णविकारादि यद्विहितं तद्भवति। लक्ष्यमूलत्वाद्भ्याकरणस्य। तेनात्राविहितोपि बृहत्प्रभावोऽनेन सिद्धः। इतिषाब्दो हेतौ। ‘अत इतिठौ’ इति ठ्ठ्।

एतच्च पञ्चमयं सामान्येनैवाभिदधता ग्रन्थकृता स्वयमेवोपपन्नः पञ्च आश्रयणीय इति सूचितम्। तेनात्राप्य एव पञ्च आश्रयणीयः, एवान्तरयोरनुपपत्तेः। तथा चात्र ‘एकाकाराकृतो जातेः सप्तम्यां च न तौ स्मृतौ’ इत्याद्युक्त्या तस्य सप्तम्यर्थे निषिद्धत्वात् तदेष न भवति। अथापि विषयनिघमार्थस्येतिकरणस्यात्रापि संबन्धादिहापि भवतीति चेत्। न। एतद्धि नियतोदाहरणविषयम्। अन्यथा हि निषेधकस्याकरणप्रसङ्ग एव स्यात्। अहमहमिकाशब्दस्य पुनरेतदस्य मतमेवायुक्तम्। अदन्तात् प्रातिपदिकाठ्ठनो विहितत्वात्। कनोऽप्यत्र न प्राप्तिः। तस्य प्रतिकृतौ गम्यमानायामिचार्यं वर्तमानात् प्रातिपदिकाठ्ठत्वात्। अदन्तात् प्रातिपदिकाठ्ठत्वात् प्रतिकृत्यभावाच्च कश्च भवति। अन्यथा हि गौरिय गवय इत्यत्रापि कनः प्रसङ्गः। तद्विद्यमाद्य एव पक्षो उपायान्।

नन्वत्र किमर्थसिद्धया तत्सहभाविनोऽर्थस्य कस्यापत्तनं स्थितं येनेह इष्टान्तत्वेन दर्शनमिरयाद्यद्वाह—अत्रेत्यादि । एतदेव प्रकृते योजयति—ततश्चेत्यादिना । समानन्यायवृत्तणादिति । येनैव न्यायेनैकस्यार्थसिद्धिरस्तेनैवान्यस्यार्थस्येत्यर्थः । नन्वर्थादर्थान्तरप्रतीतिः किमयमनुमानमेव न भवतीत्याद्यद्वाह—न चेदमित्यादि । सन्धरूपत्वामावादिति । दण्डमचणे ह्यपूपमचण समानन्यायत्वाद्बुधितमपि न निश्चितमेव । दण्डमचणोऽपि पृथक्प्रदेशावस्थानादिना केनापि निमित्तेनापूपानाममचणस्यापि भावात् । अनुमानं पुनर्नियतमेवार्थादर्थान्तरस्यापत्तनमिरयस्याः पृथग्भावः । इहंति । वाक्यन्यायमूलाङ्कारप्रस्तावे । द्विविधेयत्वेनापत्ततोऽर्थान्तरस्य साम्यादिना बहुप्रकारत्वं न तथा बोधय्यावहमिति सूचितम् । आपाततः पुनरर्थान्तरस्योपादानानुपादानाभ्यां संभवयस्या वेचिन्यम् । तत्रोपादाने ग्रन्थकृतैवोदाहृतम् । अनुपादाने यथा—

‘श्रीशारदापादरजःपवित्रः सृष्टाः समन्ताद्धिमवन्मदग्निः ।

यत्रोल्लसद्भिर्भरशास्त्रगर्भसद्भिर्भगः सन्त्यपि गर्भरूपाः ॥’

तत्र गर्भरूपेभ्योऽभ्येयः कः वार्तार्यापत्तदर्थान्तरमनुपात्तम् । इत्येवेति । इत्येवमूलयाति-शाशोकरयेत्यर्थः ।

‘दण्डापूपिका’—इत्यादि । पहले शब्दव्युत्पत्ति बतलाते हैं—दण्ड इत्यादि । यह दण्डसंश्लेष है इसलिये इस शब्द से ‘युञ्’ ठीक वैसा ही जैसे ‘शंभ्योपाध्यायिका’ में । [ शका ] तो इसमें ‘अच्चा ङिति’ [ य् और ङ् का लोप हो तो उपान्त्य अ, इ, उ, ए, ऐ में वृद्धि होती है ] इस [ पा० ७।२।११५ ] सूत्र से वृद्धि क्यों नहीं हुई क्योंकि यहाँ ‘य्’ का लोप है, [ उचर में ] करते हैं—पृथोदर = इत्यादि । [ पृथोदरादीनि यथोपदिष्टम् ७।३।१०९ सूत्र में ] ‘जैसा बोला गया है ।’ यह कहकर यह बतलाता कि व्याकरण शास्त्र से भिन्न शब्दों में लोप, आगम, वर्णविकार आदि नहीं होते और वे शिष्ट पुष्पां द्वारा बोले जाते हैं तो उन्हें विदित ही मान लेना चाहिए । क्योंकि व्याकरण तो लक्ष्य के अनुसार चलता है । इस प्रकार यहाँ [ ‘दण्डापूपिका’ में ] वृद्धि का अभाव व्याकरणविदित न होने पर भी सिद्ध ही मानना चाहिए । [ ‘इवे प्रतिकृती इति’ इसमें आया ] इति शब्द हेतुत्वक है अर्थात् हम सूत्र के द्वारा ठन् होगा ‘अत इतिठनी’ सूत्र से ।

ये जो तीन पक्ष हैं इन्हें समान रूपसे प्रस्तुत करते हुए ग्रन्थकार ने यह सूचित किया कि इनमें से जो पक्ष शास्त्रसम्मत हो उसे स्वयं ही अपना लिया था । यहाँ प्रथम पक्ष ही अपनाया जा सकता है, क्योंकि अन्य दो पक्ष शास्त्रसम्मत सिद्ध नहीं होते । इसमें प्रमाण है—‘एकाशरान्’ [ पा० १।११५-काशिका ] इत्यादि वचन । इसका अर्थ है—

[ छ, ख आदि ] एक अक्षर वाले शब्दों, [ धारक आदि ] कृत् प्रत्यय वाले शब्दों, [ ब्याज आदि ] जाति शब्दों तथा सप्तमीविभक्ति के अर्थ से युक्त [ जेमे जिममें दण्ड है ऐसी शाला-दण्डवती-आदि ] शब्दों से ये दोनों [ इति और ठन् ] प्रत्यय नहीं होते । इन वचनों । से ठन् प्रत्यय सप्तमी विभक्ति में युक्त अर्थ [ नीती ] में निषिद्ध है । यतः ठन् होगा ही नहीं । यदि कहें कि [ माप्यकार द्वारा ही ] निषेध वैकल्पिक माना गया है, अतः यहाँ यह प्रत्यय सम्मत है तो यह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यह विकल्प कुछ ही गिने चुने प्रयोगों के लिए है, प्रत्येक प्रयोग के लिए नहीं । यदि ऐसा न हो तो निषेध करना मिरथेक सिद्ध होगा । अहमहमिका शब्द में तो यह एकदम ही अयुक्त है । क्योंकि ‘ठन्’ का विधान [ ‘अत इतिठनी’ सूत्र के द्वारा ] ह्रस्व अकार से युक्त प्रातिपदिक शब्द से किया गया है [ अतः कि अहम् शब्द मकारान्त शब्द है । भानुजिदाक्षित ने इसमें ‘श्रीशारदाभ्यंश’ ५।२।११६, सूत्र से ठन् माना है । श्रीशारदा में ‘अत इति-

ठनी' से 'अताः' की अनुवृत्ति नहीं होती यद्यपि त्रीणादिगण में अहमहम् शब्द नहीं मिलता ] यहाँ कन् प्रत्यय की भी प्राप्ति नहीं होती क्योंकि वह सादृश्यार्थक प्रातिपदिक से तब होता है जब प्रतिकृति रूपी अर्थ गम्य हो । यह भी अदन्त प्रातिपदिक से विहित होता बतलाया गया है । प्रतिकृति रूपी अर्थ का अभाव होने से भी कन् नहीं हो सकता । नहीं तो 'गौरिव गवयः' = 'गवय नामक वन्य पशु बैल जैसा होता है' यहाँ भी कन् प्रत्यय होने लगेगा [ यहाँ उपमेयरूप प्रतिकृति = गवय शब्दतः कथित है, गम्य नहीं ] तो इस प्रकार प्रथम व्युत्पत्ति ही मान्य है ।

[ शंका ] सिद्धि यहाँ किस अर्थ की होती है और आक्षेप उसके साथी किस अर्थ का जिसके लिए इसे दृष्टान्त रूपसे बतलाया गया है । इस पर उत्तर देने हैं—अत्र । प्रकृत में इसी अर्थ की योजना करते हुए लिखते हैं—ततश्च । समानन्याचरदलघुणात् = स्थितिसाम्य के कारण = अर्थात् जिस हेतु से एक अर्थ की सिद्धि होती है उसी से इस अन्य अर्थ की भी सिद्धि हो जाती है । [ शंका ] 'एक अर्थ से अन्य अर्थ का ज्ञान होने के कारण इसे अनुमान रूप ही क्यों नहीं मान लिया जाता' ऐसी शंका कर कहते हैं—नचेदसू० । सम्बन्धरूपत्वाभावात् = सम्बन्धरूप न होने से = अर्थात् दण्ड का भक्षण होने पर अपूप का भक्षण स्थितिसाम्य के कारण उचित तो है किन्तु निश्चित नहीं है । क्योंकि यदि अपूप किसी अन्य स्थान पर रख दिए गए हों या ऐसा ही कोई अन्य कारण हो तो दण्ड का भक्षण हो जाने पर भी अपूप का अमक्षण भी संभव होता है ।

जहाँ तक अनुमान का सम्बन्ध है उसमें एक अर्थ से दूसरे अर्थ का ज्ञान नियमतः होता ही है । इस कारण यह [ अर्थापत्ति ] उससे पृथक् है । इह = यहाँ = वाक्यन्यायमूलक अलंकारों के प्रकरण में । द्विविध = दो प्रकार की = इत्यादि कहकर यह सूचित किया कि अन्य अर्थ [ रत्नाकर में प्रतिपादित ] साम्य आदि के आधार पर अनेक प्रकार का हो सकता है [ और रत्नाकरकार ने इसे २४ प्रकार का बतलाया भी है ] तथापि उसमें उतना चमत्कार नहीं रहता । किन्तु आपाततः इसमें अन्य अर्थ के उपादान और अनुपादान के आधार पर चमत्कारगत वैशिष्ट्य माना जा सकता है । इनमें से उपादान का उदाहरण तो स्वयं ग्रन्थकार ने ही दे दिया है [ यथा 'पशुपति०' पद्य में अवश शब्द द्वारा तथा 'धृतधनुषि' पद्य में 'रिपु०' शब्द के द्वारा ] अनुपादान का उदाहरण यह है—

'जहाँ हिमवान् की श्रीशारदा की चरणरज से पवित्र इवाओं से सृष्ट बच्चे भी शास्त्रों के भीतरी रहस्यों पर पर्याप्त सन्दर्भ [ ग्रन्थ ] रचा करते हैं ।' यहाँ अर्थ निकलता है कि बच्चों के अतिरिक्त व्यक्तियों [ वयस्कों ] की बात ही क्या । यह यहाँ शब्दतः कथित नहीं है । श्लेषेण = श्लेष के द्वारा = अर्थात् श्लेषमूलक अतिशयोक्ति के द्वारा ।

अर्थापत्ति अलंकार का इतिहास—

अर्थापत्ति अलंकारसर्वस्वकार की ही देन है । भामह से लेकर मम्मट तक के ग्रन्थों में यह नहीं मिलता । परवर्ती आचार्यों में—

रत्नाकरकार ने इस दिशा में सर्वस्वकार की बहुत दूर तक अनुसरण किया है । उनका अर्थापत्ति लक्षण इस प्रकार है—

'दण्डापूपिकयाऽऽपतनमर्थापत्तिः' ॥ ८१ ॥

दण्डापूपिका का स्पष्टीकरण एक पंक्ति में इन्होंने इस प्रकार किया है—

'मूपवैदण्डानां महत्तेऽपूपमक्षणमर्थात् सिद्धमिति न्यायो दण्डापूपिका । अनेन न्यायेन कस्यचि-  
दर्थस्य निष्पत्तावर्थादर्थान्तरस्यापत्तिरिति ।'

‘चूँहों द्वारा दण्डों का भक्षण हो जाने पर भूपों का भक्षण अपने आप सिद्ध है’—यह उपमा वाक्य है दण्डापूपिका । ‘इसके द्वारा किमी अर्थ की निष्पत्ति होने पर किसी अन्य अर्थ की अपने आप आपत्ति को अर्थापत्ति कहा जाता है।’ भेदगणना में रत्नाकरकार ने अति कर दी है । उन्होंने इसके २४ भेद माने हैं । प्रकृत से प्रकृत, अप्रकृत से अप्रकृत, प्रकृत से अप्रकृत तथा अप्रकृत से प्रकृत अर्थ का आपादन होने से भेदों की संख्या प्रथमतः चार हुई । तदनन्तर दोनों अर्थों का सादृश्य कहीं बराबर होगा कहीं न्यूनता होगी, कहीं अधिकता । फलतः उक्त चार भेद १२ हो जायेंगे । पुनः ये ही भेद समव अर्थ से संभव अर्थ की निष्पत्ति में होंगे और असंभव अर्थ से असंभव अर्थ की निष्पत्ति में फलतः २४ हो जायेंगे । इसके पश्चात् अन्य अर्थ या साम्य कहीं शब्द होगा और कहीं अर्थ, अतः ये ही २४ भेद ४८ हो जायेंगे ।

अनुमान से अर्थापत्ति को अलग करते हुए रत्नाकरकार ने भी वही तर्क दिया है जो सर्वस्व में मिलता है—

‘दण्डापूपनयेन वस्त्वनुमितिः सामर्थ्यतो जायते  
नान्तर्भावमसौ प्रयात्यनुमितौ यरसम्भवात्मा ततः ।  
अर्थापत्तिरलङ्कृतिः पूयगियं नो लक्षणीयेत्यसत्  
तर्कोऽङ्ग यदयं सुधैरनुमितिः सम्भावनात्मोदितः ॥

दण्डापूपरीति से वस्तु की अनुमिति अपने आप हो जाती है अतः क्योंकि संभावनात्मक होती है [ निश्चयत्मक नहीं, अतः अनुमान में अन्तर्गूत नहीं होती । इस प्रकार अर्थापत्ति अलंकार को स्वतन्त्र रूप से नहीं बतलाना चाहिये ] यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि यह जो संभावनात्मक तर्क है इसे विद्वानों ने अनुमिति का अंग माना है [ अनुमिति नहीं ] । यह कारिका अभिव्यक्ति की दृष्टि से षट्ठि हो गई है किन्तु रत्ना अर्थ तो इससे निकल ही जाता है कि अर्थापत्ति में दोनों अर्थों का संबंध संभावनात्मक रहता है जब कि अनुमिति में निश्चयारम्भक ।

अप्ययदीक्षित = और पण्डितराज ने भी इस अलंकार को अलंकार मान लिया है । अप्यय-दीक्षित ने इसका लक्षण इस प्रकार बनाया है—

‘कैमुत्येनार्थसंसिद्धिः काव्यार्थापत्तिरिष्यते । उदा० स जितस्त्वग्मुनेन्दुः का वार्ता सरसीरुहाम्’ ॥

‘वैमुत्य [ इसकी तो बात ही क्या ] के द्वारा अर्थ की संसिद्धि काव्यार्थापत्ति मानी जाती है ।’ यथा नेरे मुग्ग ने तो वह चन्द्रमा भी जीव लिया, कमलों की तो बात ही क्या है [ जिन्हें चन्द्रमा भी निष्प्रभ बना देता है ] । अप्ययदीक्षित ने अर्थापत्ति में काव्यशब्द का प्रयोग ठीक वही अभिप्राय से किया है जिसमें काव्यलिङ्ग में काव्यशब्द का प्रयोग किया गया है ।

पण्डितराज = जगन्नाथ ने दण्डापूपिका को लक्षण से हटा दिया है । उसके स्थान पर तुल्य-न्यायत्व शब्द का प्रयोग करते हुए उन्होंने सूत्र यह बनाया—

‘केनचिदर्थेन तुल्यन्यायत्वादर्थान्तरस्यापत्तिरर्थापत्तिः ।’

—‘कारणसाम्य के आधार पर किमी अर्थ से किमी अन्य अर्थ की स्वतः प्राप्ति अर्थापत्ति-कही जाती है ।’ न्यायः कारणम् = न्याय का अर्थ है कारण । भेदसंख्या रत्नाकरकार के ही समान पण्डितराज ने भी चौबीस ही मानी है । अन्तर इतना है कि बारह भेदों को रत्नाकरकार ने संभव और असंभव अर्थों के वर्गों द्वारा द्विगुण माना है जबकि पण्डितराज ने भाव और अभाव के द्वारा ।

अन्य अलंकारों से इसका अन्तर बतलाने हुए पण्डितराज ने लिखा—

अनुमान में निश्चयात्मक बोध होता है जब कि अर्थापत्ति में संभावनात्मक, अर्थात् अनुमान में

बोध होता है कि—'ऐसा होता ही है' जबकि अर्थापत्ति में 'ऐसा हो सकता है' ऐसा । यथार्थातिशयोक्ति में वाक्यार्थ का पर्यवसान विपरीत अर्थ में होता है जबकि अर्थापत्ति में समान अर्थ में ।

पण्डितराज ने अर्थापत्ति अलंकार को अप्ययदीक्षित के समान वाक्यार्थापत्ति तो नहीं कहा किन्तु मीमांसकों की अर्थापत्ति से उसका अन्तर उन्होंने अवश्य दिखलाया—

मीमांसकों की अर्थापत्ति में पूर्व अर्थ की सिद्धि अपर अर्थ के बिना नहीं होती, पूर्व अर्थ अर्थान्तर के प्रति सापेक्ष रहता है । इस अर्थापत्ति में ऐसी विवशता नहीं रहती । इसमें द्वितीय अर्थ के समर्थन में प्रथमार्थ दृष्टान्त का कार्य करता है ।

पण्डितराज ने अपरार्थ का कविकल्पित होना आवश्यक बतलाया है और इसीलिए सर्वस्वकार द्वारा उद्धृत 'पशुपति०' तथा 'अवस्थेयं०' पद्य में अपरार्थ अकल्पित मान इन्हें अच्छा उदाहरण नहीं माना । द्वितीय पद्य में चमत्कार का कारण 'विधौ'—इस दिष्ट पद्य में है अथवा शिव की विषम स्थिति के प्रति बक्र चन्द्राभिन्न नाम विधि को हेतुरूप से प्रस्तुत करने में । प्रथम पद्य में यदि कैमुतिक न्याय की स्थिति लौकिक है और चमत्कारशून्य है तो उपमा में भी दो लौकिक अर्थों के उपादान में अलंकारत्व नहीं मानना होगा । 'सुख कमल के समान है' इस वाक्य में सुख, कमल और दोनों का साम्य ये तीनों तत्त्व लोकसिद्ध हैं । यदि साम्यदर्शन प्रातिम है तो कैमुतिकन्याययोजना में भी प्रातिमत्व माना जा सकता है ।

विश्वेश्वर ने अर्थापत्ति नामक कोई अलंकार नहीं माना । वे गम्भट के जो अनुयायी ठहरे ।

चक्रवर्ती की निष्कृतार्थ कारिका—

'अर्थापत्तिस्तु कैमुत्येऽन्यार्थापत्तिरिष्यते ।

प्रकृताप्रकृतापातादिसं च द्विविधा गता ॥'

कैमुतिकन्याय के द्वारा अन्य अर्थ की सिद्धि अर्थापत्ति नामक अलंकार मानी जाती है । यह प्रकृत और अप्रकृत की सिद्धि के कारण दो प्रकार की होती है ।

दण्डापूप—पूप, कड़ाह में से, साँक में छेद छेद कर निकाले जाते हैं और धी नितारने के लिए वन्हीं साँकों को दीवाल आदि में खोस दिया जाता है । वहाँ चूहा हो और वह साँक को ही कुतर खाए और यदि पूरे गिने हुए न हों तो सोचा जाएगा कि उसने पूरे भी खाए ही होंगे । उससे कठिनतम कार्य कर लेने पर सरलतम कार्य करने की शक्यता चोतित होती है ।

यही बात 'किसुत' = भला क्या इन दो अव्ययों द्वारा कही जाती है । इस प्रकार इन दृष्टान्तों को दण्डापूपिका और कैमुतिक न्याय कहते हैं ।

[ सर्वस्व ]

[ सूत्र ६५ ] तुल्यबलविरोधो विकल्पः ।

विरुद्धयोस्तुल्यप्रमाणविशिष्टत्वात्तुल्यबलयोरेकत्र युगपत्प्राप्तौ विरुद्धत्वादेव यौगपद्यासंभवे विकल्पः । औपम्यगर्भत्वाच्चान्न चास्तत्वम् । यथा—

'नमन्तु शिरांसि धनूंषि वा, कर्णपूरीक्रियन्तामाहा मौर्व्यो वा' इत्यादि । अत्र प्रतिराजकार्यं नमने शिरसां धनुषां च तुल्यप्रमाणाश्लिष्टत्वम् । संधिविग्रहौ चात्र क्रमेण तुल्यप्रमाणे, प्रतिराजविषयत्वेन स्पर्धया द्वयोरपि संभाव्यमानत्वात् । द्वौ चेमौ विरुद्धाविति नास्ति तयोर्युग-



पत्रप्रवृत्तिः । प्राप्नुवतश्चात्र युगपत्प्रकारान्तरस्यानाशङ्क्यत्वात् । ततश्च  
न्यायप्राप्तौ विकल्पः । नमनकृतं च तयोः सादृश्यमित्यलङ्कारता । एवं  
कर्णपूरीक्रियन्तामित्यादौ योजनीयम् । औपम्यगर्भत्वाच्चात्र चारुत्वम् ।

क्वचिच्छ्लेषावष्टम्भेनाप्ययं दृश्यते । यथा—

‘भक्तिप्रह्विलोकनप्रणयिनी नीलोत्पलस्पर्धिनी  
ध्यानालम्बनतां समाधिनिरतैर्नाति हितप्राप्तये ।  
ल्लाघण्यस्य महागिधी रसिकतां लक्ष्मीदशोस्तन्वती  
युष्माकं कुरुतां भवार्तिशमनं नेत्रे तनुर्वा हरेः ॥’

अत्र नेत्रे तनुर्वेति विकल्पः । उक्तमत्वाच्च तुल्यप्रमाणं शिल्पत्वम् । न  
चात्र समुच्चये वाशब्दः । संभवन्त्यामपि गतौ महाकविग्यवहारे तथा  
प्रयोगाभावात् । ननु विरोधनिमित्तो विकल्पः । कथं चात्र विरोधः । नैतत् ।  
तनुमध्ये नेत्रयोः प्रविष्टत्वात्तयोः पृथगभिधानमेव न कार्यम् । कृतं च  
तत्स्पर्धिभावं गमयति । स्पर्धिभावाच्च विरुद्धत्वम् । नेत्रे अथवा समस्तमेव  
शरीरमित्यर्थावगमे विरोधस्य सुप्रत्येयत्वात् । स चात्र श्लेषाच्छ्लेषः ।  
लिङ्गश्लेषस्य वचनश्लेषस्य चात्र दृष्टेः । तस्मात्समुच्चयप्रतिपक्षभूतो  
विकल्पाद्योऽलङ्कारः पूर्वैरकृतविवेकोऽत्र दर्शित इत्यवगन्तव्यम् ।

[ सू० १५ ] समान बहूषाले पद्मार्थो का विरोध विकल्प [ नामक अलङ्कार  
कहलाता है ] ।

[ सू० ] दो विरोधी पदार्थ समान प्रमाण से युक्त होने के कारण बल में समान हों और एक ही  
स्थान में एक साथ प्राप्त हों, किन्तु विरुद्ध होने के कारण उनका साथ बनता न हो तो [ अलङ्कार  
का नाम ] विकल्प होता है । इसमें सादृश्य छिपा रहता है अतः चारुता चली आती है ।  
उदाहरण यथा—

‘नमै सिर या धनुष, करनकूल बनाई जाएँ आशाएँ या प्रत्येचाएँ [ इर्दगिरित-६, पृ० १९४ ]  
इत्यादि ।

यहाँ शत्रुराजा द्वारा करणीय रूप में कथित जो नमनकार्य है उसमें सिर और धनुष समान  
प्रमाणों से युक्त हैं । ये प्रमाण हैं यहाँ : क्रम से सन्धि और विग्रह, क्योंकि शत्रुराजा के साथ  
स्पर्धा होने से दोनों ही सम्भावित हैं । ये दोनों [ सन्धि विग्रह ] परस्पर में विरुद्ध हैं इसलिए  
इनको एक साथ प्रवृत्ति नहीं हो सकती, किन्तु हो रहे हैं प्रकृत यहाँ दोनों ही एक साथ; क्योंकि  
अन्य कोई प्रकार यहाँ सोचा नहीं जा सकता । इस प्रकार, यहाँ विकल्प हेतुत्व सिद्ध है । उन  
[ धनुष और सिर ] दोनों में नमन को लेकर सादृश्य है, इसलिए [ यह विकल्प ] यहाँ अलङ्कार  
है । इसी प्रकार ‘करनकूल बनाए जायें’ इत्यादि वाक्य में योजना की जानी चाहिये । इनमें  
चारुत्व सादृश्यगर्भा के कारण ही है ।

कहाँ यह [ विकल्प ] श्लेष से भी होता है । यथा—

‘भगवान् विष्णु के नेत्र था उनकी काया आपकी मन्व्याधि नष्ट करें जो भक्ति प्रह्विलोकन  
प्रणयिनी [ नेत्र = भक्ति से नेत्र जनों को देखने का प्रणय = प्रेम लिये हुये, तनु = काया = भक्ति से

नम्र जनों का जिसके दर्शन में प्रणय = प्रीति तथा याचना है ], नीलकमल से स्पर्शा रखने वाले, समाधि में रगे व्यक्तियों द्वारा ईहित या शित की प्राप्ति के लिए ध्यानास्पद बनाए हुये, लवण्य की महान् निधि तथा लक्ष्मी जी के नेत्रों के लिए रसिकता देने वाले हैं ।' यहाँ 'नेत्र' या 'तनु' इस प्रकार विकल्प किया गया है । दोनों ही पदार्थ उत्तम हैं इसलिए दोनों की श्लिष्टता में प्रमाण सामग्री समान है । यहाँ जो 'वा' = 'या' शब्द आया है इसे समुच्चयवाचक नहीं मानना चाहिए [ जितसे अर्थ निकलेगा 'नेत्र तथा शरीर दोनों' ] और अलंकार होगा समुच्चय ] क्योंकि 'वा' का अर्थ समुच्चय संभव होने पर भी महाकवियों के व्यवहार में वैसा प्रयोग नहीं देखा जाता । शंका होती है कि [ सूत्र के अनुसार ] विकल्प तो विरोधमूलक होता है, यहाँ विरोध कैसे सिद्ध होगा ? ऐसा नहीं, नेत्र [ जो हैं वे ] तो शरीर के बीच प्रविष्ट हैं अतः उनका अलग ते कथन ही नहीं किया जाना चाहिए । क्योंकि वह किया गया है अतः उन [ नेत्रों ] में स्थिता व्यक्त करते हैं, और स्थिता से इनमें विरोध है । यहाँ 'नेत्र अथवा पूर्ण शरीर [ भवति शान्त करे ]' इस प्रकार [ के अर्थ से ] विरोध सूत्रपूर्वक जाना जा सकता है । वह [ विकल्प ] श्लेष से हुआ है अतः श्लिष्ट है । क्योंकि यहाँ [ तनु में खीलिंग तथा नेत्र में नपुंसकालिंग होने के कारण ] लिंगश्लेष तथा [ नेत्र में द्विवचन तथा तनु में एकवचन होने से ] वचनश्लेष दिखाई देता है । इस कारण विकल्प नामक यह अलंकार समुच्चय नामक अलंकार का उलटा अलंकार है । इस प्रकार ध्यान देने की बात है कि पूर्ववर्ती आचार्य इसका अन्तर नहीं कर पाए थे । यहाँ इसका अन्तर कर दिया गया है ॥'

### विमर्शिनी

तुल्येत्यादि । एतदेव व्याचष्टे—विरुद्धयोरित्यादिना । तुल्यत्वत्वादेवैकस्यापि बाधा-  
भावान्नैकतरग्रहणम् । तच्च द्वयोरपि युगपत्प्राप्तिः । न च विरुद्धयोरित्युच्यते इत्यत्रै-  
कस्यापि साधकवाचकप्रमाणाभावादनियतकतरावलम्बनेन पाक्षिकी प्राप्तिः ।  
अत एव नियतोभयपक्षावलम्बी विकल्पः । ननु च 'यत्रैवौहिभिर्वा यजेत' इति वास्त-  
ववाहिकरूपादस्य को विशेष इत्याशङ्क्याह—औपम्येत्यादि । औपम्यं साधारणधर्म-  
निबन्धनमिति तस्याप्यत्र त्रैघम् । एवं च यत्रैवौपम्यगर्भस्वं तत्रैवाधर्मलंकारो न स्वन्व-  
येति भावः । यथा—

'निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु लक्ष्मीः परापततु गच्छन्तु वा यथेष्टम् ।

अथैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः ॥'

अत्रौपम्यगर्भत्वाभावाह्निकवपमाश्रयम् । विकल्पपक्षे चान्न दर्शयति—अत्रेत्यादिना ।  
क्रमेणेति । शिरोनमने संघिर्धनुर्मनने विग्रहरचेति । स्पर्शयोर्यनेन विरुद्धत्वमेवोद्बलितम् ।  
हौ चेमाविति । संघिविग्रहौ । अनयोर्विरुद्धत्वादेतत्कार्ययोरपि शिरोधनुर्मननयोर्विरुद्ध-  
त्वम् । तयोरिति । शिरोधनुर्मनयोः । प्रकारान्तरस्येति । यत्र शिरसां धनुषां च युगपत्त-  
मनं न संभवेत् । ततश्चेति । विरुद्धयोर्युगपत्प्रवृत्त्यसंभवाद । न्याय्यप्राप्तत्वेनास्यानुन्मूल्य-  
त्वमुक्तम् । अत एव चैतदभाववादिनामन्यायवादित्वमपि सूचितम् । अत्रौपम्यकृतमैवा-  
लंकारत्वमित्याह—नमनेत्यादि । तेनात्र नमनाश्रयस्य समानधर्मस्यानुगामितयैक्यरूपेण  
निर्देशः । वस्तुप्रतिवस्तुभावस्तु यथा—

'भ्रष्टं विधातुश्चितं मुञ्चनेव चञ्चद्भ्रूकं नतभ्रु तव कान्तिबिलोकितेषु ।

पणाष्टविम्बमथ वा विवल्कललङ्कमेकं, न यद्विहित एव जगत्प्रकाशः ? ॥'

अत्र चञ्चद्विवल्कलयोः शुद्धसामान्यरूपत्वं भ्रूकलङ्कयोर्विम्बप्रतिविम्बभावः । उत्तम-  
त्वादिति । द्वयोरपि भगत्संघन्धिवेन भवार्तिशमनकरणसामर्थ्येन समरथात् ।

ननु च नेत्रे च तनुश्रेयस्य समुच्चय एव किं न भवतीत्यादाह—न चात्रेत्यादि । गताविति । चाशब्दस्य समुच्चयार्थलक्षणायां । तथेति । समुच्चयार्थपरत्वस्यार्थः । न ह्यत्र समुच्चयार्थो विवक्षितः । एवमत्र विरोधाभावात्कथं विकल्पोऽपि भवतीत्याह—नन्वित्यादि । न कार्यमिति । तन्वभिधानेनैव नेत्रयोः स्वीकृतत्वात् । कृतमिति । अन्यथा हि पृथगभिधानं निम्नप्रयोजनं स्यात् । स्पष्टिमात्रादिति । तुष्टयत्वात् । सुप्रत्येयत्वादिति । सुष्टुश्वेन विरुद्धस्य कष्टकल्पनानिरासः कृतः । स इति । विकल्पः । एतदेवोपसंहरति—तरमादित्यादिना । समुच्चये द्वयोरपि युगपद्वस्थानम्, इह त्वन्यथैत्यस्य ताप्रतिपक्षभूतावम् । अनेनास्य ग्रन्थरूपपञ्जरमेव दर्शितम् ।

सुख्य इत्यादि । इसी को न्याख्या करते हैं—विरुद्धयोः इत्यादि के द्वारा । क्योंकि दोनों अर्थ समान बल के होते हैं इसलिए किमी एक का बाध नहीं होता और न किमी एक का ग्रहण । वस [ विरुद्धत्व या समबलत्व ] का स्वरूप है दोनों पक्षों को एक ही स्थान पर प्राप्ति । किन्तु विरुद्ध पक्षों में यह सम्भव नहीं होता । फलतः यहाँ न किमी एक पक्ष का माधक हो मिलता और न बाधक हो । निदान यहाँ अनिश्चय रहता है । परिणामतः यहाँ किसी भी एक का अवलम्बन संभव नहीं होता । इस प्रकार यहाँ पाक्षिक [ वैकल्पिक ] स्थिति रहती है । इसी कारण इसे विकल्प कहा जाता है, जिसमें नियमतः दोनों पक्षों का अवलम्बन किया जाता है । शका होती है कि 'ओ या चावळ [ किसी ] से यह करे'—इस वास्तविक विरूप में इस विकल्प का क्या अन्तर है, इस पर उत्तर देते हैं—'ओपम्य' इत्यादि । ओपम्य साधारण धर्म पर निर्भर रहता है अतः वह [ ओपम्य ] भी यहाँ तीन प्रकार का होगा [ क्योंकि साधारण धर्म तीन प्रकार का होता है ] निष्कर्ष यह कि यह विकल्प वहाँ अलंकार होगा जहाँ यह ओपम्यगमिन होगा, नहीं तो नहीं । [ ओपम्यरहित होने में जहाँ यह अलंकार नहीं बनता वगैरहण ] यथा—

'नीति निपुण लोग निन्दा करें या प्रशंसा, लक्ष्मी वरमती चली जाए अथवा जहाँ चाहे चली जाए, आम ही मर जाना पड़े या युगान्तर में [ किन्तु ] धीर पुरुष नीति पथ से अलग दृग नहीं रखते ।'

यहाँ ओपम्यगमत्व न होने में विकल्प में केवल विकल्पत्व है [ रत्नाकरकार द्वारा स्वीकृत अलंकारत्व नहीं । नमन्तु आदि में ] विकल्प की स्थिति बनाने में कुछ लिखने हैं अथ । क्रमेण = क्रम से अर्थात् सिर शुकाने में सन्धि प्रमाण है और धनुष शुकाने में विग्रह = युद्ध । स्पर्धया = स्पर्धा बनलाकर यहाँ विरोध का ही समर्थन किया । द्वौ वैमी = ये दोनों जहाँ सन्धि और विग्रह । ये दोनों विरुद्ध हैं इसलिए इनके कार्य शिरोनमन तथा धनुर्नमन भी विरुद्ध हैं । तयो = उनका अर्थात् शिरोनमन और धनुर्नमन का । प्रकारान्तर = अन्य प्रकार = देना कोई प्रकार जिसमें सिर और धनुष का नमन साथ न हो सके । तत्र = इस कारण = विरुद्धों की प्रवृत्ति एक स्थान पर एक साथ न होने के कारण । न्यायप्राप्त कहकर यह बतलाया कि यह अलंकार काटा नहीं जा सकता । और इसी से यह भी बतला दिया कि इसे न मानने वालों का कथन न्यायशून्य है । यहाँ सादृश्य से ही अलंकार होता है इसी को दुहराने हैं—'नमन' । इस उदाहरण के द्वारा यहाँ नमनरूपी साधारण धर्म अनुगामी रूप से एक बतलाया गया । वस्तु-प्रतिवस्तुभाव वा उदाहरण यह है—

कान्ति देखनी थी तो बिधाता को केवल तुम्हारा चञ्चल भीरो वाला सुग हो बनाना चाहिय था, या तो स्फुरित कल्क से युक्त चन्द्रबिम्ब ही अवेला । क्या इन [ दोनों ] ने ही जगत् में प्रकाश [ भी ] नहीं कर रखा है ?

यहाँ 'चञ्चलता और स्फुरण' शुद्ध सामान्यरूप से साधारण धर्म रूप है और मौंह तथा कल्क

विन्वप्रतिविन्वभाव से युक्त होकर : उत्तमत्व = क्योंकि दोनों ही भगवत्संबन्धी होने के कारण भवार्तिश्मन के सामर्थ्य में समान हैं ।

शंका होती है—'यहाँ नेत्र और तनु' इस प्रकार समुच्चय ही क्यों न मान लिया जाए' इस पर उत्तर देते हैं—न चान्न । गतौ = 'वा'-शब्द का जो समुच्चयरूपी अर्थ है तदरूपी गति । तथा = समुच्चयार्थपरक । यहाँ समुच्चयरूपी अर्थ विवक्षित भी नहीं है । [ शंका ] यहाँ विरोध का अभाव है अतः विकल्प भी कैसे होगा' यही कहते हैं—ननु । न कार्यम् = केवल तनु का कथन करने से ही नेत्रों का भी संग्रह संभव होने से । कृतम् = पृथक् अभिधान । स्पर्धिभाव = नहीं तो पृथक् अभिधान निष्प्रयोजन हो जाता । स्पर्धिभावात् = स्पर्धिता = तुल्यता के कारण । सुप्रयेय = सुख पूर्वक जानने योग = इस प्रकार 'सुखपूर्वकता वतलाकर विरोध को छिष्ट कल्पना द्वारा सिद्ध होने का निराकरण किया । स = वह = विकल्प । इसका उपसंहार करते हुए कहते हैं—तस्मात्० । समुच्चय में दोनों पक्ष एक साथ प्राप्त रहते हैं, जब कि यहाँ [ विकल्प में ] उसके विपरीत अलग अलग, इस कारण यह उस [ समुच्चय ] से उलटा है । ऐसा कहकर यह वतलाया कि यह अलंकार प्रथमतः ग्रन्थकार को ही कल्पना है ॥'

विमर्श—परवर्त्ता आचार्यों में रत्नाकरकार, दीक्षित जी और पण्डितराज ने विकल्प को अलंकार मान लिया है । इनके लक्षण इस प्रकार हैं—

रत्नाकरकार = सू० 'विरुद्धयोस्तुल्यत्वे पाक्षिकत्वं विकल्पः ॥ ८८ ॥

कृ० 'यत्र द्वयोरर्थयोर्विरुद्धत्वात् समुच्चयाभावेन तुल्यवत्त्वाच्च एकस्य

वापामावाद् अनियतैकताबलम्बनेन पाक्षिकत्वं स विकल्पः ।'

'दो विरुद्धों की समानता होने पर जो पाक्षिकता आती है वही विकल्प कहलाती है ।' जहाँ दो अर्थ विरुद्ध हों अतः जिनका समुच्चय न हो सक रहा हो साथ ही बल में समान होने से जिनमें से किसी एक का वाध भी न हो रहा हो अतः किसी एक के पक्ष का अपनाया जाना संभव न होकर पाक्षिक हो तो वहाँ विकल्प को अलंकार माना जाता है । विमर्शिनीकार की 'साधकवाचकप्रमाणामावादनियतैकतरत्वालम्बनेन पाक्षिकी प्राप्तिः'—रत्नाकर को उक्त पंक्ति का ही परिष्कार है ।

रत्नाकरकार ने 'निन्दन्तु नीति०' पद्य में विकल्प माना है । रूपक आदि के समान उन्होंने औपम्य को यहाँ भी आवश्यक नहीं माना है । 'निन्दन्तु०' पद्य में चमत्कार है और विकल्पमूलक ही चमत्कार है अतः विमर्शिनीकार का यहाँ केवल लौकिक विकल्प मानना उद्देश्यसंबाद के विपरीत है ।

अप्ययदीक्षित = 'विरोधे तुल्यवलयोर्विकल्पालङ्कृतिर्गता'

—'तुल्यवलयों के [ परस्पर ] विरोध में विकल्पालंकार माना गया है'—इस प्रकार पाक्षिकत्व को लक्षण में स्थान नहीं देते । उनका उदाहरण हर्षचरित के 'नमन्तु शिरासि०' का ही पद्यरूप यह है—'सद्यः शिरासि चापान् वा नमयन्तु महीभुजः ।'

यद्यपि दीक्षित जी ने यहाँ सादृश्य की कोई चर्चा नहीं की है । तथापि उन्होंने उदाहरण सादृश्ययोजना के ही दिए हैं ।

पण्डितराज ने 'विरुद्धयोः पाक्षिकी प्राप्तिर्विकल्पः'—इस प्रकार 'विरुद्ध अर्थों की वैकल्पिक प्राप्ति में विकल्प माना है । उन्होंने औपम्य को भी आवश्यक वतलाया है । उनका कहना है कि औपम्यरहित विकल्प में केवल विकल्पत्व होगा अलंकारत्व नहीं । इस प्रकार पण्डितराज ने सर्वत्र और विमर्शिनी का इस दिशा में अनुगमन किया है ।

‘भक्तिप्रह—’ पद्य पर विचार करते हुए पण्डितराज ने कहा है यहाँ ‘वा’ का अर्थ = तनु के समान नेत्र’ इस प्रकार सादृश्य है। संस्कृतकोषों में वा का अर्थ उपमा मान्य भी है— ‘वा स्याद् विकल्पोपमयो ।’ सर्वस्वकार के द्वारा प्रतिपादित विरोध पर टिप्पणी करते हुए उन्होंने कहा है कि विकल्प में वास्तविक विरोध ही कारण बनता है, कल्पित नहीं। ‘भक्तिप्रह’ पद्य में सर्वस्वकार द्वारा प्रतिपादित विरोध कल्पित विरोध है। वस्तुतः ‘वा’ शब्द का प्रयोग उपमा अर्थ में भी ‘पद्मिनी वान्स्वरूपाम्’ [ मैषदूत ] इत्यादि स्थलों में क्वचित् ही पाया जाता है। प्रसिद्धि उसकी ‘विकल्प’ अर्थ में ही है। अतः ‘भक्तिप्रह’ पद्य में विकल्प मानने पर पूर्वकथित विशेषणों की उमयान्वयिता पर ध्यान जाता है।

विशद वस्तुओं के विकल्प में चमत्कारमात्रा अवश्य ही अधिक रहती है तथापि अविशद वस्तुओं में भी विकल्प का चमत्कार नहीं रहता ऐसा नहीं है। सच्च यह है कि विकल्प-भूमिका पर आरुढ़ होते ही अविरुद्धों में भी विरोध चलता आता है। एककक्षा के सहाय्यायोंमित्रों का एक ही पद के लिए नियुक्ति में विकल्प होते ही विरोध देखा भी गया है। सर्वस्वकार के स्वर्णातएव की ओर ध्यान ले जाने का अभिप्राय यही दिखाई देता है।

चक्रवर्ती ने इस विषय का संक्षेप इस प्रकार किया है—

‘विरोधे तु रूपबलयोर्विकल्पः सन्निपातिनोः ।

अदलेषदलेषमिच्छित्वाद् दिपायमुपवर्ण्यते ॥’

समानबल वाले तथा एक ही स्थान पर प्राप्त दो अर्थों का विरोध होने पर विकल्पालंकार होता है। यह श्लेषमूलक होता है और श्लेषरहित [ शुद्ध ], अतः दो प्रकार का होता है।

[ सर्वस्व ]

[ सू० ६६ ] गुणक्रियायौगपद्यं समुच्चयः ।

गुणानां चैमल्यादीनां यौगपद्येनावस्थानम्, तथैव क्रियाणां च समुच्चयोऽलंकारः । विकल्पप्रतिपक्षेणास्य स्थितिः । क्रमेण यथा—

‘विदलितसकलारिकुलं तव बलमिदममवदाशु विमलं च ।

प्रखलमुज्जानि नराधिप मलिनानि च तानि जातानि ॥’

‘अयमेकपदे तथा वियोगः प्रियया चोपनतोऽतिदुःसहो मे ।

नववारिधरोदयादहोभिर्भवितव्यं च निरातपत्वरम्यैः ॥’

एतद्विमिश्रविषयत्वेनोदाहरणद्वयम् । एकाधिकरणत्वेनाप्यथमलंकारो दृश्यते । यथा—

‘विधाणा हृदये त्वया विनिहितं प्रेमामिधानं नवं

शल्यं यद्विधाति सा विधुरिता साधो तदाकर्ण्यताम् ।

शेते शुष्यति ताम्यति प्रलपति प्रम्लायति भ्राम्यति

प्रेहत्युल्लिखति प्रणश्यति दलत्युन्मूर्च्छति म्रुत्यति ॥’

एवं गुणसमुच्चयेऽप्युदाहार्यम् ।

केचित्पुनर्न केवलं गुणक्रियायां व्यस्तत्वेन समुच्चयो यावत्समस्तत्वे-  
नापि भवतीति वर्णयन्ति । उदाहरन्ति च—

‘न्यञ्चत्कुञ्चितमुन्मुखं हसितवत्साकूतमाकेकरं  
व्यावृत्तं प्रसरत्प्रसादि मुकुलं सप्रेमकम्पं स्थिरम् ।  
उद्भ्रान्तमपाङ्गशक्ति विकचं मज्जत्तरङ्गोत्तरं  
चक्षुः साक्षु च वर्तते रसवशादेकैकमन्यक्रियम् ॥’

अत्राकेकरादयो गुणशब्दा न्यञ्चदित्यादयः क्रियाशब्दा इति सामस्त्येन  
गुणक्रियायौगपद्यम् । प्रसादिसप्रेमेत्यादीनां समासकृत्तद्धितेषु संबन्धाभि-  
धानमिति संबन्धस्य वाच्यत्वात्, तस्य च सिद्धरूपत्वेन गुणत्वाद् गुण-  
शब्दत्वेन गुणयौगपद्यमिति द्रष्टव्यम् । एवमयं त्रिधा समुच्चयः ।

[ सू० ६६ ] गुण और क्रियाओं की एकत्र स्थिति समुच्चय [ नामक अलंकार  
कहलाता है ] ॥

[ वृ० ] विमलता आदि गुणों का एकत्रित होना और इसी प्रकार क्रियाओं का एकत्रित होना  
समुच्चय नामक अलंकार कहलाता है । यहाँ जो इसे रखा गया है यह इसलिए कि यह विकल्प  
का विरोधो है । क्रम से उदाहरण—

[ गुणसमुच्चय ]—

‘आपकी यह सेना सम्पूर्ण शत्रुकुल को दलित कर उज्वलता को प्राप्त हुई और दुष्टों के वे  
चेहरे मलिन हो गए ।

[ क्रियासमुच्चय ]—

‘एकापक उस प्रिया से मेरा यह अति दुःसह वियोग अभी-अभी मुझ पर आ पड़ा तो क्या  
इसी समय इन दिनों को नवीन मेघों के उदय से निरातप और रम्य होना चाहिए था ।

ये पैसे उदाहरण हैं जिसमें अधिकरणगत भेद हैं । यह अधिकरणगत एकता में भी दिखाई देता  
है । यथा—

‘तुम्हारे द्वारा निहित प्रेमनामक नवीन शब्द हृदय में धारण की हुई वह विचारी जो-जो  
करती हैं, साधो ! उसे सुनो, सोती है, सूझती है, व्यथित होती हैं, प्रक्षुब्ध करती है [ कुछ भी  
बकती है ], कुम्हलाती जाती है, चक्कर खाती है, डोलती है, रंगीटे बनाती [ कुरेदती ] है, छिपती  
जाती है [ ओझल होती जाती है ], गहरी मूर्च्छा में पड़ जाती है [ और ] दृष्टती जाती है ।’  
इसी प्रकार गुणों के समुच्चय का भी उदाहरण दिया जा सकता है [ आगे विमञ्चिनीकार ने  
दिया भी है ] ।

कुछ [ आचार्य ] केवल व्यस्तरूप से [अलग-अलग करके] ही गुण और क्रियाओं का समुच्चय  
नहीं मानते समस्तरूप में [ दोनों के मिलित रूप में ] भी मानते हैं । उदाहरण भी देते हैं—

‘इस समय किसी [ भीतरों ] रस के कारण प्रत्येक नेत्र अलग-अलग व्यापार में लगा है,  
कोई तिरछा है तो कोई सिजुड़ा, कोई बगुल है तो कोई हँसोलिए, कोई माव-भरा है तो कोई  
आकेकर [ मदभरा ], कोई व्यावृत्त [ छीटा हुआ ] है तो कोई फौलता हुआ, कोई प्रसादपूर्ण है तो  
कोई मुकुलित, कोई प्रेमपूर्ण कम्पन लिए है तो कोई स्थिर; कोई मौंह चढ़ाए है तो कोई कनखी

पर टिका, कोई खिटा हुआ है तो कोई हुआ हुआ, इसी प्रकार कोई संगायित है तो कोई साङ्ग ।'

यहाँ आक्षेप आदि शब्द गुणवाचक शब्द हैं और 'न्यञ्चत्' आदि क्रियाशब्द । इस प्रकार यहाँ मिश्रितरूप में गुण और क्रिया का एकत्रीकरण है । 'प्रसादि' और 'सप्रेम' शब्द, 'समास, कृन्त तथा तद्धित में सबन्ध का अभिधान होता है' इस वचन के अनुसार, सम्बन्ध के वाचक हैं, वह सबन्ध भी यहाँ सिद्ध है अतः गुण है, इस प्रकार इन शब्दों में गुणशब्दत्व है । इस प्रकार यहाँ गुणों का एकत्रीकरण माना जा सकता है । इस प्रकार यह समुच्चय तीन प्रकार का हुआ ।

### विमर्शिनी

गुणक्रियेत्यादि । तथैवेति । यौगपद्यावस्थानेनेत्यर्थः अनेनैव चारथ्य गुणक्रियाणां युगपद-  
वस्थितेर्भेदद्वयमप्युक्तम् । नैमंरथ्यमालिभ्ययोगुणयोरुपनमनमवयनयोश्च क्रिययोर्यौगपद्येना-  
वस्थानम् । विभिन्नविषयत्वेनेति । गुणादीनां बलमुत्पादिविषयगतत्वात् । अतश्च भिन्नाधि-  
करणोऽयं समुच्चयः । एकेत्यादि । यद्यत्र शयनादीनां शोषणादीनां च क्रियाणामुपन-  
मनमवयनादियत्कालान्तरभावित्वाच्च यौगपद्येनावस्थानम् , तथापि तन्नैरन्तर्येण ज्ञेयम् ।  
एवमिति । यत्रैवात्रैकविषयत्वेन शयनाद्याः क्रिया हरपर्यः । तत्तु यथा—

'सितं ज्योरसनाञ्जलैरङ्गरचि सप्याकरभरै-

स्तमस्तोमैः श्यामच्छ्रुवि भपटलैः पीतमपि च ।

नभो नीलीनीलं रतिरमणलीलाविहरणे

स्थली घात्रा चित्रं चतुरमधुना चित्रितमदः ॥'

अत्र सितादीनां गुणानामेकाधिकरणत्वेन युगपदवस्थानम् । ननु च केकरादयो न्यञ्चदित्यादयश्च यदि गुणक्रियाशब्दास्तत्प्रसादीत्याहुः पुनः किंशब्दा हरयाशब्दाह—  
प्रसादीत्यादि । तस्येति । संबन्धस्य । पृतदुपसंहरति—एवमित्यादिनाः । त्रिधेति । गुणानां  
क्रियाणां गुणक्रियाणां च यौगपद्येनावस्थानम् । भिन्नाभिन्नाधिकरणत्वेन यो विशेषः स  
पृताप्रपञ्च एवेति न पृथगिहोपात्तः ।

गुणक्रिया । इत्यादि । तथैव = इसी प्रकार = एकत्रित होकर एक बगड़ रहना । ऐसा कएकर  
गुण और क्रिया में से एक-एक के एकत्रीकरण को लेकर संभावित दो भेद सूचिन किए । [ विदलित०  
पद्य में ] निर्मलता या सज्ज्वलता और मलिनता रूपी दो गुणों का एक साथ रहना बतलाया गया  
है और [ अथमेकपदे० पद्य में ] उपनमन = आ पटना और होना क्रिया का एक साथ रहना  
बतलाया गया है । विभिन्नविषयत्व = भिन्न भिन्न अधिकरणों में = क्योंकि गुण आदि सेना और  
मुख आदि अलग अलग पदार्थों में विद्यमान बतलाए गए हैं । इसीलिए यह समुच्चय भिन्नाधिक-  
रण समुच्चय हुआ । एक = इत्यादि । यद्यपि [ 'विभ्राणा०' पद्य में ] सोना = सुखना आदि क्रियाएँ  
भिन्न भिन्न समय में होती हैं । अतः इनका ऐसा एक साथ रहना नहीं है जैसा ऊपर कथित  
'आ पटना' और 'होना' क्रियाओं का, तथापि बीच में अन्तर न पटने के कारण ऐसा माना जा  
सकता है । एवम् = जिस प्रकार यहाँ [ 'शेने शुभ्यति'—पद्य में ] शयन आदि क्रियाएँ एक विषय  
में हैं उसी प्रकार वह [ गुणों का एक विषय में रहना ] भी इस उदाहरण में देखा जा सकता है—

'चन्द्ररश्मियों से सफेद, सौंझ की किरणों से लाल, बन्धकारपटल से सौंझला, नक्षत्रों से पीला  
और खवय नीली के समान नील वर्णः यः यह आकाश विधाता ने रचा ही कौशलपूर्ण चित्र बनाया  
है जो इस समय काम, के लीलाविहार की स्थली है ।'

यहाँ सफेदी आदि गुणों का [ आकाशरूपी ] एक ही अधिकरण में एक साथ रहना बतलाया गया है। शंका होती है कि यदि 'केकर' आदि और 'न्यञ्चत्' आदि शब्द गुणवाचक और क्रियावाचक शब्द हैं तो 'प्रसादि' आदि शब्द कैसे शब्द हैं' इस पर लिखते हैं—'प्रसादि' इत्यादि। तस्य उसका सम्बन्ध। इस प्रकार का उपसंहार करते हैं 'एवम्' इत्यादि के द्वारा। त्रिधा = तीन प्रकार का = इसलिये, गुण किया, तथा गुणक्रिया दोनों का एक साथ समुच्चय रहता है। मित्र या अमित्र अधिकरण को लेकर जो विशेषता आती है वह इन्हीं भेदों का विस्तार है इसलिये उन्हें यहाँ पृथक् रूप से नहीं अपनाया ॥'

विमर्श—'न्यञ्चत्०' इत्यादि पद्य का प्रत्येक विशेषण भरतविद्या में प्रसिद्ध नेत्रचेष्टाओं की विशेष मुद्राओं के लिए प्रयुक्त है। संजीविनीकार ने उनमें से प्रत्येक का स्पष्टीकरण स्वनिर्मित उक्तों द्वारा इस प्रकार किया है—

न्यञ्चित = स्यान्न्यञ्चितं न्यञ्चदपाङ्गभागम्  
 कुञ्चित = अपाङ्गसङ्कोचि तु कुञ्चितं स्यात् ।  
 उन्मुख = सद्भित्तं तूर्ध्वभापाङ्गसङ्घि  
 हसित = निमेषशून्योल्लसितं चिहासि ॥ १ ॥  
 साकृत = साकृतमाकाङ्क्षितमावगमम्  
 आकेकर = आकेकरं तिर्यगरालतारम् ।  
 न्यावृत्त = तिर्यङ् निवृत्तं बलितं विलोक्य  
 प्रसरत् = प्रेम्णा सुदूरं परिवर्गदुक्तम् ॥ २ ॥  
 प्रसादि = सभ्रूविलासं स्मयते प्रसन्नम्  
 मुकुल = सम्प्राप्त्यमानं मुकुलं वदन्ति ।  
 सप्रेम = स्यात् प्रेमगमं मनसो द्रवाय  
 कम्प्र = उत्कम्पमुत्कम्पितपद्मतारम् ॥ ३ ॥  
 स्थिर = स्थिरं विदूरान्तरितार्थनिष्ठम्  
 उदञ्जु = उद्वचसितं तूर्ध्वं विकम्पितभ्रु ।  
 भ्रान्त = विज्ञान्तरकतं मदमन्थरं स्यात्  
 अपाङ्गवृत्ति = विक्षेपि पाश्वे यदपाङ्गवृत्ति ॥ ४ ॥  
 विकच = विकासि दृश्ये सविशेषलक्षं  
 मञ्जत् = नासाग्रनिष्ठं तु निहञ्चितं स्यात् ।  
 तरङ्गोत्तर = तरङ्गितं यद् घुतिकर्मिकल्पा  
 सास्र = उत्कण्ठितं रागनिबद्धवापम् ॥ ५ ॥

[ सर्वस्व ]

एकं समुच्चयं त्रिप्रकारभिन्नं लक्षयित्वा द्वितीयं लक्षयति—

[ सू० ६७ ] एकस्य सिद्धिहेतुत्वेऽन्यस्य तत्करत्वं च ।

समुच्चय इत्येष । यत्रैकः कस्यचित्कार्यस्य सिद्धिहेतुत्वेन प्रक्रान्तस्तत्रान्योऽपि यदि तत्सर्वथा तत्सिद्धिं करोति तदायमपरः समुच्चयः । न चार्थं समाध्यलंकारेऽन्तर्भवति । यत्र ह्येकस्य कार्यं प्रति पूर्णं साधकत्वम्, अन्य-



स्तु सौकर्याय फाकतालीयेनापतति, तत्र समाधिर्वक्ष्यते । यत्र तु खलेक-  
पोतिकया वह्नूनामवतारस्तत्रायं समुच्चयः । अतः सुमहान्भेदोऽनयोः ।

स एव समुच्चयः सद्योगेऽसद्योगे सदसद्योगे च भवतीति त्रिधा  
भिद्यते । सतः शोभनस्य सता शोभनेन समुच्चयीयमानेन योगे यथा—

‘कुलममलिनं भद्रा मूर्तिर्मतिः श्रुतिशालिनी  
भुजवलमलं स्फीता लक्ष्मीः प्रभुत्वमखण्डितम् ।  
प्रकृतिसुभगा एते भावा अमीभिरयं जने  
व्रजति नितरां दर्पं राजैस्त एव तथाङ्कुशाः ॥’

अत्रामालिन्येन शोभनस्य कुलस्य मूर्त्यादिभिः शोभनैः समुच्चयः ।  
एकैकं च दर्पहेतुतायोग्यं तत्स्पर्श्या नियद्धम् । असतोऽशोभनस्यासता  
समुच्चयीयमानेन योगे यथा—

‘दुर्चाराः स्मरमार्गणाः प्रियतमो दूरे मनोऽस्युत्सुकं  
गाढं प्रेम नवं वयोऽतिकठिनाः प्राणाः कुलं निर्मलम् ।  
स्त्रीत्वं धैर्यविरोधि मन्मथसुहृत् काल कृतान्तोऽक्षमो  
नो सख्यश्चतुराः कथं नु विरहः सोढव्य इत्यं शठः ॥’

अत्र दुर्चारत्वेनाशोभनानां स्मरमार्गणानां तादृशैरेव प्रियतमदूरत्वादिभिः  
समुच्चयः । नववयःप्रभृतीनां च यद्यपि स्वतः शोभनत्वम्, तथापि विरह-  
विषयत्वेनात्राशोभनत्वं ह्येयम् ।

सदसतः शोभनाशोभनस्य तादृशेन सदसता समुच्चयीयमानेन योगो  
यथा—

‘शशी दिवसधूसरो गलितयौवना कामिनी  
सरो विगतचारिजं मुखमनक्षरं स्थाकृतेः ।  
प्रभुर्धनपरायणः सततदुर्गतः सज्जनो  
नृपाङ्गणगतः खलो मनसि सत शन्यानि मे ॥’

अत्र शशिनः स्वतः शोभनस्यापि दिवसधूसरत्वाद्दशोभनत्वेन सदसत-  
स्तादृशैरेव कामिनीप्रभृतिभिः समुच्चयः । नत्वत्र कश्चित्समुच्चयीयमानः  
शोभनः । अन्यस्त्वशोभन इति सदसद्योगो व्याख्येयः । ननु नृपाङ्गणगतः  
खल इत्यशोभनोऽन्ये तु शोभना इति कथं न समुच्चयीयमानस्य सतस्तादृशे-  
नासता योगः । नैतत् । ‘नृपाङ्गणगतः खलः’ इति प्रत्युत प्रक्रमभङ्गाद् दुष्ट-  
मेव । न तु सौन्दर्यनिमित्तमित्युपेक्ष्यमेवैतत् । अत एवान्यैरेवमादौ सहच-  
रभिन्नोऽर्थ इति दुष्ट एवेत्युक्तम् । प्रकृते तु नृपाङ्गणगतत्वेन शोभनत्वं खल-  
त्वेनाशोभनत्वमिति समर्थनीयम् । एवमपि विशेष्यस्य शोभनत्वं प्रका-  
न्तम्, विशेषणस्य त्वशोभनत्वम्, इह त्वन्यथेति न सर्वथा निरवद्यम् ।

ननु 'दुर्वाराः स्मरमार्गणा' इत्यत्रोक्तोदाहरणवत् कथं न सदसद्योगः । नैतत् । इह शोभनस्य सतोऽशोभनत्वमिति चिवक्षा । तत्र त्वशोभनमेवैत-  
दिति चिवक्षितमित्यस्त्यनयोर्भेदः । अत एवैकत्रोपसंहृतं 'मनसि सतश-  
ल्यानि' इति सुन्दरत्वेनान्तःप्रविष्टानामपि व्यथादेतुत्वात् ; अपरत्र तु  
'कथं सोढव्यः' इति सर्वथा दुष्टत्वाभिप्रायेण । तस्मादस्ति प्रकारत्रयस्य  
विविक्तविषयत्वम् ।

तीन प्रकारों में विभक्त एक समुच्चय का लक्षण कर दूसरे समुच्चय का लक्षण करते हैं—

[ सू० ६० ] एक को [ किसी कार्य की ] सिद्धि का हेतु बतलाया जा रहा हो  
उसी समय उसी [ कार्य की ] सिद्धि के अन्य हेतु का प्रतिपादन भी  
[ समुच्चय नामक अलंकार कहलाता है ] ।

[ वृ० ] समुच्चय यह पूर्ववर्ती सूत्र से यहाँ प्राप्त ही है । जहाँ किसी कार्य की सिद्धि का  
कोई एक हेतु बतलाया जा रहा हो वहाँ अन्य कोई भी पूर्ववर्ती कारण के साथ स्पर्धा कर उसी कार्य  
की सिद्धि करता हुआ बतलाया जाय वहाँ यह एक दूसरे प्रकार का समुच्चय माना जाता है ।  
यह समाधिनामक अलंकार में अन्तर्भूत नहीं होता । वहाँ कार्य के प्रति एक भी कारण पूर्ण रूप  
से सिद्धिकारक रहता है, दूसरा कारण केवल सौकर्य के लिए काकतालीय न्याय से आ पहुँचता है ।  
वहाँ समाधि नामक अलंकार बतलाया जाएगा । इसके विरुद्ध खलेकपोत न्याय से जहाँ अनेक कारण  
एक साथ आ पहुँचते हैं वहाँ यह समुच्चय होता है । अतः इन दोनों में बहुत बड़ा अन्तर है ।

यह समुच्चय तीन प्रकार से होता है [ १ ] सत् सत् के योग में [ २ ] असत् असत् के योग  
में तथा [ ३ ] सत् और असत् के योग में । सत् अर्थात् शोभन का सत् अर्थात् शोभन के साथ  
योग, यथा—

'कुलममलिनम्' [ प्रथम व्याघात की विमर्शिनी में अनूदित ] यहाँ कुल जो अमालिन्य के  
कारण शोभन है, का मूर्त्ति आदि शोभन पदार्थों के ही साथ समुच्चय है । इनमें से प्रत्येक दर्प में  
हेतु बनने योग्य है और अस्त [ कुल ] के साथ स्पर्धा लिए हुए उपनिबद्ध है ।

असत् = अशोभन का असत् = अशोभन के साथ योग, यथा—

'काम के दुर्वार वाण चल रहे हैं, प्रियतम दूर है, मन अति उत्कण्ठित है, प्रेम गाढ़ है,  
वय नवीन है, प्राण बड़े कठिन हैं, कुल निर्मल है, स्त्रीत्व धीरज का विरोधी ठहरा, समय काम  
के मित्र [ वसन्त ] का है, माग्य भी उलटा है, चतुर सखियाँ भी नहीं है । अब यह शठ विरह कैसे  
सहा जाय ?'

इनमें दुर्वारत्व के कारण काम वाण अशोभन बतलाए गए हैं उनका उन्हीं जैसे 'प्रियतम की  
दूरस्थिति आदि अर्थों के साथ समुच्चय है । यद्यपि नवीन वय आदि स्वतः तो शोभन हैं  
तथापि यहाँ वे विरह के विषय होने से अशोभन हैं, ऐसा समझना चाहिए ।

सत् और असत् अर्थात् शोभनत्व और अशोभनत्व दोनों से युक्त किसी एक का उसी प्रकार  
के किसी सत् और असत् के साथ योग, यथा—

'चन्द्र, जो दिन से घूँसरा हो गया हो; कामिनी जिसका यौवन निकल चुका हो; तालाव  
जो कमलरहित हो गया हो; अच्छी आकृति के व्यक्ति का मुख जो निरक्षर हो; प्रभु, जो धन-  
संग्रही हो; सत्पुरुष, जो सदा ही दुर्गति में पड़ा रहता हो तथा खल, जो राजा के अंगने में  
पहुँच रखता हो, वे सात व्यक्ति मेरे चित्त के शल्य हैं ।'

यहाँ चन्द्रमा स्वयं शोभन है, तथापि दिवाकालिक उसमें घूसरता के कारण अशोभनता आ जाती है। इस प्रकार वह सत् भी है और असत् भी। उसका वैसे ही कामिनी आदि सत् और असत् पदार्थों के साथ समुच्चय है। सदसद्व्योग शब्द की ब्याख्या यहाँ ऐसी नहीं की जानी चाहिए कि जिन जिन पदार्थों का समुच्चय किया जा रहा है उनमें से एक कार्य शोभन माना जाए और उससे भिन्न कार्य अन्य अशोभन, और उनका योग सदसद्व्योग। शका होती है कि 'राजा के अँगने तक पहुँच रखने बाधा खल' तो केवल अशोभन ही है, जब कि शेष सब शोभन हैं। इस प्रकार इनके योग को लेकर ही यहाँ सत् के साथ असत् का योग क्यों न मान लिया जाय? ऐसा नहीं। 'राजा' के अँगने तक पहुँच रखने वाला 'खल' इस अंश के कथन से तो यहाँ छलटे प्रक्रम मंग होता है। अतः यह तो सदोप है, न कि सौन्दर्य का हेतु। इसलिये यह अंश उपेक्षणीय ही है। इसीलिये [ मम्मट आदि ] अन्य आचार्यों ने इसे सहचरभिन्न अर्थ मानकर सदोप ही बतलाया है। यहाँ खल को 'नृपांगगणतत्त्व'—राजा के अँगने तक पहुँचने के कारण शोभन तथा त्वत्त्व. खल रूप से अशोभन मान कर समर्थन करना चाहिए। परन्तु ऐसा मानने पर भी दोष का सर्वथा निरास नहीं होता क्योंकि आरम्भ किया गया है विशेष्य की शोभनता और विशेष्य को अशोभनता से और यहाँ की स्थिति भिन्न है [ यहाँ विशेष्यगत शोभनत्व पहले और विशेष्यगत अशोभनत्व बाद में कथित है ]। शका होती है 'दुर्वारा. स्मरमाण्णा' इस पद्य में भी लमो कहे [ शशी दिवसधूमरः ] उदाहरण के ही समान सदसद्व्योग क्यों न माना जाए [ केवल असद्व्योग ही क्यों माना जाए क्योंकि वहाँ भी स्मरणमार्ग स्वतः शोभन है उनमें दुर्वारत्व के कारण अशोभनता है ]। ऐसा नहीं। यहाँ [ शशी दिवस० पद्य में ] विवक्षा यह है कि शोभन होते हुए भी पदार्थविशेष में अशोभनता है, जब कि वहाँ [ दुर्वारा० पद्य में ] 'यह सर्वथा अशोभन ही है' यह विवक्षा है। इस प्रकार इन दोनों में अन्तर है। इसीलिये एक में उपसंहार किया गया है 'मेरे मन में सात शक्य हैं' इस शक्ति से, क्योंकि वे पदार्थ सुन्दर होने से चित्त में प्रवेश पा लेते हैं तब व्ययजनक सिद्ध होकर अशोभन सिद्ध होते हैं। दूसरे पद्य में इसके विरुद्ध 'कैसे महा जाए' इस प्रकार उपसंहार किया गया है यह इसी अभिप्राय से कि वे पदार्थ सर्वथा दुष्ट हैं। इस कारण [ समुच्चय ] तीनों प्रकारों के क्षेत्र भिन्न हैं ॥

### चिदर्शनी

लज्जयतीति । एकस्यैवादिना । एक कल्पचिदिति । यत्र यादृशो विवक्षितस्य । स्पर्धयेति । प्रक्रान्तस्य हेतोः । तत्सिद्धमिति । कार्यनिष्पत्तिम् । अपर इति । पूर्वसमुच्चयात् । भिन्नलक्षणत्वात् । ननु यद्येवं तत्कथं वक्ष्यमाणलक्षण समाधिरेवायं न भवतीत्याशङ्क्याह—न चेति । पूर्णमिति । अन्यनिरपेक्षमित्यर्थ । आकस्मिकमापतते हि कारणान्तरस्य सौकर्येण मुखेन स्वरूपोपचयाघातित्वेन सुष्ठुकार्यनिष्पत्तिः प्रयोजनम् । समुच्चये पुनः स्पर्धयैव बहूनामेककार्यकारित्वम् । अत एवात्र खलेकपोतिकथेति निदर्शनीयम् । पृथक्—

'सोपानारोहणपरिस्समेण कीस्सवि जे विनिस्सरिआ ।

ते त्थिअहरिदं सनबद्धरेणे रत्तासा ण चाच्छिण्णाः ॥'

इत्यादौ समुच्चय एव । सोपानारोहणपरिध्रमस्पर्धयैव हरिदर्शनरूपस्यापि कारणान्तरस्य तद्बन्धनच्छेदनिषेधमुखेन श्वासकारिशोपनिघन्धात् । अत एवात्र न समाधिः । तस्य हि काकतालीयेनापतना कारणान्तरात् कार्यसौकर्यं लक्षणम् । न चाश्रैतरसंभवति । न ह्यत्र काकतालीयेन हरिदर्शनरूपस्य कारणान्तरस्थापतनम् । तद्धमेव सोपानारोहणस्याप-

क्रान्तत्वात् । नापि तद्योगाकार्यस्योपोद्बलनात्मकं सौकर्यं, हरिदर्शनस्यापि सोपानारोहण-परिश्रमस्पर्धितया तत्कारित्वमात्रस्यैव विवक्षितत्वात् । अत एव 'ण बोवाच्छिष्टाणा' इत्यु-क्तम् । शोभनैरिति । भद्रत्वादिति योगात् । ननु दूरनिवासितत्वादिना प्रियादीनां यद्य-शोभनत्वं तत्कथं न नववचः प्रभृतीनामपीत्याशङ्क्याह—नवेत्यादि । तादृशैरेवेति । सद्-सद्भिः । कामिन्यादीनां स्वतः शोभनानामपि गलितयौवनत्वादेरशोभनत्वात् । अन्यथा पुनरत्र सदसद्योगो व्याख्येय इत्याशङ्क्याह—नन्वित्यादि । तादृशेनेति । समुच्चयमाने-नेत्यर्थः । प्रक्रमभेदादिति । शोभनानामुपक्रमेऽप्यशोभनस्य निर्देशात् । अत एवेति । सौन्दर्यनिमित्तत्वाभावात् । अन्यैरिति । काव्यप्रकाशकारादिभिः । तत्तु यथा—

‘श्रुतेन बुद्धिर्भ्यसनेन मूर्खता मदेन नारी सलिलेन निम्नगा ।

निशा शशाङ्केन धृतिः समाधिना मधेन चालंक्रियते नरेन्द्रता ॥’

अत्र श्रुतिधृतिबुद्ध्यादिभ्य उत्कृष्टेभ्यः सहचरेभ्यो व्यसनमूर्खतयोर्निकृष्टयोर्भिन्नत्वम् । एवमर्पांति । सत्यामप्यस्यां समर्थनायाम् । न सर्वधेति । अनेनापि भार्गव क्रमभेदोपपत्तेः । सदसद्योगासदसद्योगौ भेदयति-नन्वित्यादिना । श्हेति । प्रकृते सदसद्योगोदाहरणे । तत्रेति । असद्योगोदाहरणे । अत एवेति । शोभनस्य सतोऽशोभनत्वेन विवक्षणात् । सोऽय इति, उपसंहृतमिथ्यत्रापि संबन्धनीयम् । एतदेवोपसंहरति—तस्मादित्यादिना । प्रकारव्यत्येति । प्रकारद्वयस्य तावज्ज्ञेद उक्तस्तद्वचनादेव पारिशेष्यात्तृतीयस्यापि प्रकारभेदः प्रतिपादितो भवतीत्येतदुक्तम् ।

लक्षयति = लक्षण करते हैं—एकस्य इत्यादि के द्वारा । एकः कस्यचित् = एक कोई अर्थात् जहाँ जैसा विवक्षित हो उसका । स्पर्धया = स्पर्धा लिए हुए = अर्थात् जिसका वर्णन शुरू हुआ हो उस हेतु के साथ स्पर्धा । तस्मिद्धि = कार्यनिष्पत्ति । अपर = दूसरा अन्य, अर्थात् पूर्व कथित समुच्चय से, कारण कि इन दोनों के लक्षण भिन्न हैं । यदि ऐसा है तो इसे समाधि-बलंकार ही क्यों नहीं मान लेते, जिसका लक्षण आप वतलाने वाले हैं?—ऐसी आशंका पर लिखते हैं—न च । पूर्णम् = अन्यनिरपेक्ष । यदि कोई अन्य कारण पकाएक था पड़ता है तो उसका प्रयोजन सुकरता के द्वारा और स्वरूप में अतिशय लाने के कारण कार्य की और अच्छी तरह से निष्पत्ति होती है । जब कि समुच्चय में बहुत से कारण स्पर्धा के साथ एक कार्य करते हैं । इसीलिये यहाँ 'खलेकपोतिका' यह इष्टान्त दिया गया है [ जैसे खलिहान में कवृत्तर अनेक संख्या में एक साथ उतरते हैं वैसे ] । इस प्रकार—[ रत्नाकरकारद्वारा समाधि के उदाहरण के रूप में उद्धृत ]

‘सोपानारोहपरिश्रमेण कस्या अपि ये विनिःश्रुताः ।

त एव हरिदर्शनव्यतिकरेण श्वासा न विच्छिन्नाः ॥’

‘सोपी चढ़ने के परिश्रम से किसी सुन्दरी को जो साँसें चली थीं वे हरिदर्शन के कारण विच्छिन्न नहीं हुई ।’—इस स्थल में समुच्चय ही मानना चाहिए । क्योंकि यहाँ जो हरिदर्शन-रूपी दूसरा कारण है उसमें श्वासें के व्यवच्छेद के निषेध के प्रति कारणत्व न बतलाकर श्वास के प्रति कारणत्व बतलाया गया है और यह श्वास के सोपानारोहणपरिश्रमरूपी प्रथम कारण के साथ स्पर्धा लिए हुए है । इसीलिये यहाँ समाधि नहीं है । उसका लक्षण तो 'काकतालीयन्याय से पकाएक था पहुँचे अन्य कारण द्वारा कार्य की निष्पत्ति में सुकरता' है । वह यहाँ संभव नहीं है । यहाँ हरिदर्शनरूपी अन्य कारण का आना काकतालीय न्याय से नहीं हुआ है । वह तो-सोपानारोहण का उद्देश्य ही था । ऐसा भी नहीं कि उस [ हरिदर्शनरूपी कारणान्तर ] के आ-

जाने से कार्य को सिद्धि में सहायता पहुँचा कर सुकरता ला दी हो, क्योंकि यहाँ हरिदर्शन को भी सोपानारोहण परिधम के साथ स्वर्ण लिए हुए कारण के रूप में श्वासजनकरूप से ही बतलाना अभीष्ट है। इसीलिए 'विच्छिन्न नहीं हुए' यह कहा भी। शोभनैः = शोभन = भद्रत्व आदि के योग में। शंका होती है कि यदि 'दूरस्थित होने आदि के कारण प्रिय आदि में अशोभनता चली जाती है तो 'नवीन वय' आदि में क्यों नहीं आती। इस पर उत्तर देने हुए लिखते हैं—'नव०'। तादृशैः = वैसे ही = सदसत्त्व से युक्त। कामिनी आदि स्वतः शोभन हैं तथापि उनमें गलित-यौवनत्व आदि अशोभन हैं। 'यहाँ दूसरे प्रकार से भी सदसत्त्वयोग की व्याख्या की जा सकती है क्या' इस शंका पर कहते हैं—'ननु०'। तादृशैः = समुच्चोदयमान। प्रकमभेदाद्य = प्रकमभेद क्योंकि शोभन से आरम्भ है और ला बिठाया अशोभन को। अत एव = इसीलिए = सौन्दर्य का निमित्त न बनने के कारण। अन्य = काव्यप्रकाशकार आदि। [ काव्यप्रकाश में ] इस [ सहचरभिन्नत्व ] का उदाहरण यह है—

'बुद्धि विद्या से अलङ्कृत होती है, मूर्खता व्यसन से, नारी मद से, नदी पानी में, रात चन्द्रमा से, धैर्य समाधान से और राजत्व नीति में।'

यहाँ विद्या धैर्य और बुद्धि आदि जो उत्कृष्ट सहचर हैं उनसे व्यसन और मूर्खता भिन्न हैं। क्योंकि वे निरुद्ध हैं। एवमपि = ऐसा होने पर भी—इस प्रकार का समर्थन किए जाने पर भी। न सर्वथा = क्योंकि यह माँग अपनाते पर भी कमभेद बना हो रहना है। असत्त्वयोग और सदसत्त्वयोग का अन्तर करते हैं—'ननु' इत्यादि द्वारा। इह = यहाँ प्रकृत जो सदसत्त्वयोग का उदाहरण है इसमें। तत्र = वहाँ असत्त्वयोग के उदाहरण में। अत एव = शोभन अर्थात् सत्त्व को अशोभनरूप से विवक्षा होने के कारण। सोऽद्य = इसके साथ भी पूर्वोक्त 'उपसंहार' = उपसंहार किया यह कियापद लगाना चाहिए। अब इसी का उपसंहार करते हैं—तस्मात् = इत्यादि के द्वारा। प्रकारत्रयस्य = तीनों प्रकार का = इनमें दो प्रकारों का भेद पहले ही बतला दिया है। उससे बचे हुए तृतीय प्रकार का भी भेद प्रतिपादित हो जाता है।'

विमर्श इतिहास—समुच्चयालंकार रुद्रत को देन है। दण्डी से लेकर लङ्कत तक यह नहीं मिलता। इस विषय में रुद्रत का बहुमुखी विवेचन इस प्रकार है—

[ १ ] यत्रैकत्रानेकं वस्तुपर स्यात् सुखावहायेव ।

शेषः समुच्चयोऽसौ त्रैधान्य. सदसत्त्वोर्षोग' ॥ ७११९ ॥

[ २ ] व्यधिकरणे वा यस्मिन् गुणक्रिये चैककालमेकरिम् ।

उपजायेते देशे समुच्चय. स्यात् तदन्योऽपि ॥ ७१२७ ॥

जहाँ एक ही जगह अन्य अनेक वस्तुएँ आ जाती हैं या वे सुखावह हो जाती हैं [ या दुःखावह ही ] वहाँ समुच्चय होता है। यहाँ समुच्चय एक प्रकार का और होता है जिसमें सत्त्व और असत्त्व का सम्बन्ध रहता है। इसी प्रकार जहाँ [अनेक] गुण और क्रियाएँ एक ही काल और एक ही समय में अलग-अलग बनलाई जाएँ तो वह भी एक अन्य प्रकार का समुच्चय होगा है। इस प्रकार वस्तुतः रुद्रत ने तीन प्रकार के समुच्चयों की रूपना की है। इन सभी के उदाहरण भी उन्होंने दिए हैं।

इन कारिकाओं में से प्रथम का अर्थ नमिताधु ने ऐसा कुछ किया है जिससे विदित होता है कि प्रथम कारिका प्रथम समुच्चय के लिए है और द्वितीय दूसरे के लिए तथा रुद्रत को समुच्चय केवल दो ही प्रकार मान्य है। वस्तुतः इन कारिकाओं से जो स्वामाविक अर्थ निकलता उसके

अनुसार प्रथम कारिका तीन प्रकार का समुच्चय प्रस्तुत करती है और दूसरी कारिका केवल एक प्रकार का। फलतः रुद्रट के मत में समुच्चय चार प्रकार का मान्य है। कारिकाओं का अर्थ यह है—

[ १ ] '[ १ ] जहाँ एक ही स्थान पर अन्य अनेक वस्तुएं दिखलाई जाएं [ २ ] या जहाँ से ये वस्तुएं झूझावड़ आदि प्रतिपादित हों वह समुच्चय कहलाता है। यह तीन प्रकार का होता है [ एक ] अन्य [ तीसरा ] भेद है दो सदस्य वस्तुओं का योग ॥ ७।१९ ॥

[ २ ] इसके अतिरिक्त जहाँ भिन्न भिन्न स्थानों पर रहने वाले गुण और क्रिया एक ही समय में एक ही स्थान पर होते हुए बतलाए जाते हैं वह भी एक समुच्चय होता है जो उपर्युक्त प्रकारों से भिन्न होता है ॥ ७।२७ ॥

नमि साधु ने प्रथम कारिका में आए 'पर-' शब्द का अर्थ उत्कृष्ट किया है और उत्कृष्ट का अर्थ शोभन। रुद्रट द्वारा प्रदत्त प्रथम अंश के उदाहरण में शोभनत्व का कोई संकेत नहीं है। उभर सदस्ययोग से शोभनत्व गतार्थ है अतः यहाँ परशब्द का अर्थ शोभन करना अनावश्यक है। नमिसाधु को शोभनत्व और उसके साथ अशोभनत्व के उदाहरण अपनी ओर से देने पड़े हैं। 'त्रिधा'—विशेषण को मी नमिसाधु ने 'सदसतोयोगः' में अन्वित माना है। फलतः 'सदसतोः' इस द्विवचन का समाधान उनसे बन नहीं पड़ा। उन्होंने 'सत् और असत्' योग से होने वाले तृतीय भेद में 'सदसतोः' इस द्विवचन को उपपत्ति के लिए 'केवल एक सत् और एक ही असत्' का योग स्वीकार किया है अर्थात् इस तृतीय भेद में एकाधिक सत् का एकाधिक असत् से योग नहीं हो सकता।

रुद्रट ने उपर्युक्त प्रथम तीन भेदों के उदाहरण अलग अलग दिए हैं उन्हें उनके कान्यालंकार से ही देख लेना चाहिए। परवर्षी आचार्यों में रुद्रट के तुरन्त बाद आने वाले मम्मट ने ही रुद्रट की इस मान्यता को केवल 'सदसद्योग' तक सीमित कर दिया।

द्वितीय भेद में 'विदलितसकला०' तथा 'दैवादहमय०' पद्य रुद्रट के ही पद्य हैं जिन्हें उन्होंने यहाँ उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया था।

मम्मट = ने समुच्चय को बादमें सर्वस्वकार द्वारा स्वीकार किए गए दो ही भेदों तक सीमित रखा था। उनका विवेचन है—

[ १ ] तरितद्धिहेतावेकस्मिन् यन्नान्यत् तरकरं भवेत् समुच्चयोऽसी

[ २ ] स त्वन्यो युगपद या गुणक्रियाः ॥'

[ १ ] 'किसी कार्य की सिद्धि के लिए सक्षम किसी एक हेतु को उपस्थित रहने पर यदि उसी कार्य को करने में सक्षम कोई दूसरा हेतु चला आए तो एक प्रकार का समुच्चय होता है और

[ २ ] गुण, क्रिया तथा गुणक्रियाओं का संग्रह दूसरे प्रकार का समुच्चय होता है।

इन भेदों के जो उदाहरण मम्मट ने दिए थे सर्वस्वकार ने उन सब को उन्हीं भेदों के लिए यहाँ अपना लिया है।

रुद्रट ने गुण और क्रिया में समुच्चय के पूर्व अधिकरणगत भेद रहना आवश्यक माना था। मम्मट ने उसको अमान्य ठहराते हुए उदाहरण दिया—'धुनोति चासि तनुते च कौत्सिम्' आप तलवार चलाते हैं और कौत्सि फैलाते हैं'। यहाँ 'चलाना और फैलाना दोनों क्रियाएँ भिन्न-भिन्न

अधिकरण में प्रसिद्ध नहीं हैं और उनका एक ही वर्ण व्यक्ति में समुच्चय किया जा रहा है। इसी प्रकार रुद्र के विशेषण 'एक ही स्थान में'—पर भी मम्मट ने यह विरोधी उदाहरण दिया 'रूपगणाभिश्च भवान् रणक्षिती ससाधुवादाश्च सुराः सुरालये' = युद्धस्थल में आप कृपागणाणि होते हैं और देवता लोग स्वर्ग में ससाधुवाद। यहाँ समुच्चय विषयोभूत राजा और देवताओं के स्थान मिश्र हैं। सर्वस्वकार ने मम्मट के इस सुझाव का उचित उदाहरणों द्वारा अनुमोदन किया है।

सर्वस्वकार को जो कल्पना सदसद्व्योग के तृतीय भेद के विषय में है उसे काव्यप्रकाश की 'शशी दिवस०' पद्य की वृत्ति से अपुष्ट समर्थन मिलता है। वृत्ति इस प्रकार है—'अत्र शशिन धूसरे शब्दे शब्दान्तरागोति 'शोभनाशोभनयोग'। इसका अर्थ उद्योत और प्रभा में वही किया गया है जो सर्वस्व में करना अमोष्ट बतलाया गया है। रसगणायकार ने भी इसे स्वीकार किया है। इन नवमें दोष भी वही सहचरभिन्नत्व हो दिया गया है। वस्तुतः इस प्रकार की व्याख्या में चमत्कार का कारण समुच्चय सिद्ध न होकर वैषम्य सिद्ध होता है। 'कहाँ चन्द्र जैसा कान्तिमान्, दृष्य, सुन्दर पदार्थ और कहीं धूसरता' इस प्रकार का अर्थ निकलने पर ही तो यहाँ चमत्कार होता है। इस अर्थ में विषमत्व के अतिरिक्त यदि समुच्चय भी है तो विषम के सभी उदाहरणों में समुच्चय ही माना जा सकता है, अन्तर यह रहेगा कि यहाँ वैषम्य गुण—क्रियागत होगा जब कि विषम के उदाहरणों में वह द्रव्यादिगत रहता है। इनके अतिरिक्त 'शशी दिवसधूसर' इस अर्थ तक ही समुच्चय को सीमित माना जाए तो इस पूर्ण पद्य में माला-समुच्चय मानना होगा। तब यह सोचना होगा कि क्या केवल 'शशी जो दिन में मलिन हो मेरे मन में शब्द है' इतना ही कहने पर समुच्चयकृत चमत्कार होता है। फिर इस प्रकार के समुच्चय को सदा ही अवाच्य मानना होगा क्योंकि इनमें उसके वाचक व आदि पदों का प्रयोग कभी न होगा। साथ ही यह मान्यता इतनी पडेगी कि एक में अनेक शोभनाशोभन का योग हो, क्योंकि 'शशी' में धूमरत्व रूपो अशोभनत्व तो कथित है, शोभनत्व कथित नहीं है। तो क्या अनुक्त का भी समुच्चय होता है? उधर शशी स्वयं कोई गुण नहीं है। और यदि वह शोभन भी है तो अधिकरण है, न कि आधेय। अधिकरण और आधेय का तो समुच्चय, लक्षण में एक ही नहीं। शशी शब्द को शशिन आति का वाचक माना जाए तो योग होगा गुण और आति का, गुण गुण का नहीं। यदि गुण का अर्थ धर्म करें तो क्रिया का घृण्य कहना अनारदयक सिद्ध होगा क्योंकि क्रिया भी एक धनुषधर्म है। रत्नाकरकार ने वैसा किया है उन्होंने लक्षण में गुण या क्रिया शब्द न देकर धर्म शब्द ही दिया है।

जहाँ तक सहचरभिन्नत्व को बात है वह 'शुनेन बुद्धि०' पद्य में अवश्य है क्योंकि वहाँ एकत्रित किए अर्थों में साम्य विवक्षित नहीं है जैसा पाणिनि के सूत्र 'श्वयुवमधोनामतदिते' में फलतः वहाँ की प्रत्येक इकार स्वतन्त्र है, जब कि 'शशी दिवस' पद्य में 'शब्दस्वनेन' सब समुच्चयीयमानों में साम्य है, अतः यहाँ 'शब्दस्वावच्छिन्न' होने में सभी सहचर हैं। ऐसा कुछ ल्याता है कि 'शशी दिवसधूसर०' पद्य की पूर्ण अभिव्यक्ति दो इकारों में विभक्त है, एक समुच्चय और दूसरी शेषक। राजप्रसाद में डटे रहने वाले किमी चुगलखोर को लक्ष्य करके यह बात कही गई है। चूंकि ऐसा व्यक्ति अप्रिय होता है अतः कवि ने यहाँ अप्राकारगिक अन्य अप्रिय वस्तुओं का जमाव करना चाहा है, और इसीलिए चन्द्रमा को धूसर रूप में और कामिनी आदि को गलितयौवन रूप में रखा है। इन रूपों में ये सब अप्रिय ही होने हैं। इसी प्रकार यहाँ केवल अशोभन अशोभन का योग सिद्ध होगा। किन्तु शब्द तो शोभन होता नहीं है और जब सभी शब्द हैं तो सभी अशोभन हैं। समुच्चय भी अपने आप में प्रकृत न होकर दोषक का अंग बनता है और तब चमत्कार लाता है।

यदि यहाँ समुच्चय भी मान लिया जाए तो गम्भट की उपयुक्त पंक्ति का हुकाव सर्वत्व-द्वारा प्रस्तुत पक्ष के विरुद्ध जाता है। इसके अनुसार उक्त पंक्ति में 'शल्यान्तराणि' अंश व्यर्थ होगा। इस प्रकार का अर्थ मानने पर 'दुर्वाराः०' पद्य से भी अन्तर करने की विपत्ति टल जाती है। सर्वस्वकार के परवर्ती आचार्यों में—

शोभाकार = ने दोनों समुच्चयों को मिथ्य दिया है और उनका एक अभिन्न लक्षण इस प्रकार बताया है—

'धर्मयोगपथमन्यस्यापि तत्करत्वं च समुच्चयः ।'

'धर्मगत योगपथ और अन्य का भी वही कार्य का करना समुच्चय ।'

धर्म में गुण और क्रिया का ही नहीं उनके अभावों का संग्रह भी रत्नाकरकार को मान्य है। सदसदयोग को अमान्य ठहराते हुए उन्होंने लिखा है—

'न चास्य सदयोगासदयोगसदसद्योगैर्भेदो गगनीयः, आधयोः समसंकीर्णत्वात् ; उत्तरस्य विषमगर्भत्वात् , अन्यथान्यालंकारसंकीर्णतया भेदगणनाप्रसङ्गात् ।'

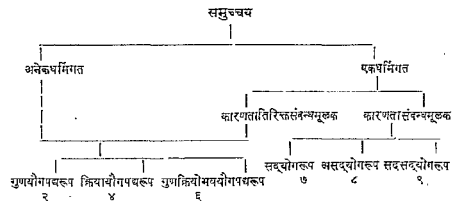
इसमें सदयोग, असदयोग तथा सदसदयोग के आधार पर भेदगणना नहीं माननी चाहिए, क्योंकि इनमें से प्रथम भेद में समालंकार का संकर मात्र है, और शेष दो में विषमालंकार का। यदि अन्य अलंकार के संकर से भेद गणना करेंगे तो अन्य अलंकारों के संकर से होने वाले भेद भी गिनने होंगे।' पण्डितराज जगन्नाथ ने रत्नाकर की इस स्थापना का उनके नान का उल्लेख करते हुए खण्डन किया है।

पण्डितराज—ने दोनों समुच्चयों का समन्वय एक ही लक्षण में इस प्रकार दित्तलाया है—

'युगपत्पदार्यानामन्वयः समुच्चयः ।'

'अनेक पदार्थों का एक साथ अन्वय समुच्चय कहलता है।'

उनकी भेदगणना इस प्रकार है—



जैसा कि कहा जा चुका है सदसदुभययोग की अर्थबोधना पण्डितराज ने वही मानी है जो सर्वस्वकार ने मानी थी। उनके—

'जीवितं सृष्ट्युनालीढं संपदः श्वासविभ्रमाः ।

रामाः क्षणप्रभारामाः शल्यान्धेतानि देहिनाम् ॥'



—‘जीवन, जो मृत्यु से प्रसिद्ध हो, संपत्तियों जो श्वात के समान अस्थिर हों, स्त्रियों जो विब्रली के समान अस्थिर हों, प्राणियों के लिए शून्य हैं।’ इस स्थल में उन्होंने एक ही जीवन में स्वतः शोभनत्व और मृत्युपरतत्व के कारण अशोभनत्व माना है। यदि इन आचार्यों के समझ—

‘शुद्धमाविलमवस्थित चले बक्रमाजं वगुणान्वितं च यत् ।

सर्वमेव तमसाऽस्ति साम्प्रत वीतभेदमपि मष्काशिति ॥’

ऐसा कोई पद्य होता तो इन्हें शोभनाशोभनयोग की उपयुक्त कल्पना न सताती। इस पद्य में उज्ज्वल तथा मलिन चंचल तथा स्थिर बक्र तथा ऋजु पदार्थों का विरोध शोभनत्व और अशोभनत्व पर ही आश्रित है तथा यहाँ एक ‘वीतभेदत्व’ में उनका समुच्चय भी है। कार्यकारणभाव के लिए उत्तरार्ध में—‘सर्वमेव तमसा समीकृतं दीपयत्यसमसायकं समम्’।—इस प्रकार की योजना की जा सकती है। इसमें ‘सर्व’ शब्द से पूर्वार्धप्रोक्त पदार्थों को शोभनाशोभनता व्यक्त है।

विश्वेश्वर—ने मष्कट के ही समान दोनों समुच्चयों को पृथक् माना है और उनके लक्षण इस प्रकार बताए हैं—

( १ ) ‘एकस्मिन् सति द्वौ वैतन्तरगी समुच्चयः कथितः ।

सदसत्सदसद्योगे ।

( २ ) गुणक्रियायौगपद्येज्यम् ॥

सदसद्योग शब्द पर इन्होंने कोई छोड़क्षेप नहीं उठाया। सजीविनीकर धीविधाचक्रवर्षी की निष्कृष्टार्थकारिका समुच्चय पर इस प्रकार है—

एकक्रियायामन्यस्य क्रिया स्वन्यः समुच्चयः ।

सदसद्द्वैधयोगेन स त्रिधा संव्यवस्थितः ॥

पाठान्तर—प्रथम समुच्चय के अन्त अन्त में आया ‘गुणशब्दत्वेन’ शब्द सभी प्रतियों में ‘गुणशब्देन’ इसी प्रकार छपा है। ‘समासकृतद्विनेषु गुणशब्दत्वेन’—ऐसा अन्वय मान स्वकल्पना से हमने ‘गुणशब्दत्वेन’ पाठ बनाना ही उचित समझा है।

द्वितीय समुच्चय में सौकर्याय के स्थान पर निर्णय सागरीय प्रति तथा बा० राघवन् की प्रति में कार्याय तथा बा० द्विवेदी वाली प्रति में ‘तत्कार्यसौकर्याय’ पाठ है। इसके पहले आप यत्र के स्थान पर भी इन सब प्रतियों में ‘तत्र’ छपा है।

[ सर्वस्व ]

[ सू० ६८ ] कारणान्तरयोगात्कार्यस्य सुकरत्वं समाधिः ।

केनचिद्धारब्धस्य कार्यस्य कारणान्तरयोगात् सौकर्यं यत्, स सम्य-  
गायानात्समाधिः । समुच्चयसादृश्यात्तदनन्तरमुपक्षेपः । तद्वैलक्षण्यं तु  
प्राक्प्रतिपादितमेव । उदाहरणम्—

‘मानमस्या निराकर्तुं पादयोर्मे पतिष्यतः ।

उपकाराय दिष्टयेदमुदीर्णं धनगर्जितम् ॥’

माननिराकरणे कार्ये पादपतनं हेतुः । तत्सौकर्यार्थं धनगर्जितस्य कार-  
णान्तरस्य प्रक्षेपः । सौकर्यं चोपकारायेति पदेन प्रकाशितम् ।

[ सूत्र ६८ ] अन्य कारण के योग से कार्य का सुकरतापूर्वक निष्पन्न होना समाधि [ अलंकार कहलाता है ] ॥

[ ६० ] किसी एक कारण के द्वारा शुरू किए गए कार्य का अन्य किसी कारण के सहयोग से जो सरलतापूर्वक निष्पन्न होना वह सन्धक् = भली भाँति, आधान = निष्पत्ति इस व्युत्पत्ति के आधार पर समाधि [ नामक अलंकार कहलाएगा ] । समुच्चय के साथ सादृश्य होने से इसे उसके बाद प्रस्तुत किया जा रहा है । उससे इसका अन्तर पहले ही बतला दिया गया है ।  
उदाहरण—

‘इस [ लठी प्रिया ] का मान दूर करने के लिए इसके पैरों पढ़ना चाहता था कि मेरे उपकार के लिए भाग्य से यह बादल गरज उठा ।’

यहाँ मान का निराकरण कार्य है । उसमें हेतु है पैरों पर पढ़ना । उसको और सरलतापूर्वक निष्पत्ति के लिए बादल की गहगड़ाहट रूपी अन्य कारण प्रस्तुत किया गया । सुखपूर्वक निष्पत्ति भी यहाँ ‘उपकार’- पद से स्पष्ट की गई है ॥’

### विमर्शिनी

कारणेत्यादिना । एतद्वैव व्याचष्टे—केनचिदित्यादिना । सौकर्यमिति । कार्यस्य सुखेना-  
नायासमेव प्रकृतकारणवशेन निष्पन्नत्वेऽपि स्वरूपोपचयाधायकत्वेनाकृच्छ्रायस्योपलक्षण-  
परत्वेन विवक्षितत्वात्सुष्ठु वा करणमित्यर्थः । अत एव कारणान्तरयोगात् कार्यस्य सुखेन  
सुष्ठु वा करणस्य भेदद्वयमपि ज्ञेयम् । प्रागिति समुच्चये । हेतुरिति । प्रकृतः । तत्सौकर्यार्थे-  
मिति । सुखेन कार्यनिष्पत्त्यर्थमित्यर्थः । यद्याकस्मिकघनराजितयोगो न स्यात्तदा निरा-  
यासमाननिराकारणं न सिद्धयेत् । एतच्च प्रथमप्रकारस्योदाहरणम् । द्वितीयस्य यथा—

‘खेजं लीलाभरणमभितस्रोतयित्वा श्रमाभः-

शक्यता पत्रात्रलिमृगमदव्यक्षितश्मश्रुदेहः ।

केलिचोभः कुवलयदृशां मान्मथे कार्यभावे

पुंवज्ञावं वदितमभितः पारिवृण्यं निनाय ॥’

अत्र स्वेदादिना वदितस्यापि पुंवद्भावस्य केलिकोभाख्येन कारणान्तरेण लीलाभरण-  
त्रोटनादिना स्वरूपोपचयान्नासमाधिः । एवमेवमादावव्यापकमेतल्लक्षणमिति यदन्यै-  
रुक्तं, तत्तेषामेतल्लक्षणस्वरूपानवधारणमेवेत्यलं धनुना ।

कारण इत्यादि । इती की व्याख्या करते हैं—‘केनचित्’ इत्यादि के द्वारा । सौकर्यम् = कार्य, प्रकृत कारण के ही द्वारा सुखपूर्वक निष्पन्न हो सकता है तथापि कार्य शरीर में और अधिक विशेषता लाने, सरलता, अथवा सुष्ठु प्रकार से कार्य निष्पत्ति करने के अभिप्राय से सौकर्य शब्द का प्रयोग किया गया । इसीलिए अन्य कारण के योग से कार्य का, ‘सुखपूर्वक अथवा भलीभाँति’, इस प्रकार जो दो प्रकार से किया जाता है इन दोनों को इसके दो प्रकार समझना चाहिए । प्राक् = पहले = समुच्चय प्रकरण में । हेतुः = हेतु अर्थात् प्रकृत हेतु । तत्सौकर्यार्थम् = उसके सौकर्य के लिए—अर्थात् सुखपूर्वक कार्य निष्पत्ति के लिए । यदि आकस्मिक घनगर्जना न होती तो मान का अनायास निवारण न होता । यह [ उक्त प्रकारों में से ] प्रथम प्रकार का उदाहरण हुआ । द्वितीय [ भलीभाँति निष्पत्ति ] का उदाहरण [ रत्नाकरकार द्वारा ही उद्धृत ] यह पद्य है—

'कामदेव का कार्य अब होने लगा तब नीलकमल से नेत्रों वाली सुन्दरियों ने [ विपरीत रति में ] ओ पुरुषकार्य अपनाया उसे केलिशोम ने पूरी तरह पूर्णता को प्राप्त करा दिया क्योंकि उसने अग प्रारंभ के स्त्रियोचित लोलामरण तोड़ डाले और पमीने में बड़े पत्रावली के मृगमद से दाढ़ी मूछ बना दी ।'

यहाँ पत्नीना निकलने से स्पष्ट होता है कि स्त्रियों का पुरुषायित पूरा हो चुका था किन्तु केलिशोम रूपी अन्य कारण ने स्त्रियोचित लोलामरण तोड़ने आदि के द्वारा उसी पुरुषायित के स्वरूप को धीरे बढ़ा दिया, इसलिए यहाँ समाधि का दूसरा भेद हुआ । इस प्रकार अन्य आचार्य [ रत्नाकरकार ] ने [ समाधिप्रकरण के उदाहरण ३९८ की वृत्ति में ] जो यह कहा है कि 'इस प्रकार के स्थलों में यह [ सर्वस्वकार का ] लक्षण लागू नहीं हो पाता' वह इस लक्षण के विषय में उनका अज्ञान ही है । इस विषय में अधिक कुछ न कहकर इतना ही कहना पदांत है ॥'

विमर्श—रत्नाकरकार ने समुच्चय प्रकरण की विमर्शनी में उद्धृत 'सोपानारोहण०' पद्य में समाधि मानते हुए लिखा था कि यहाँ सोपानारोहणपरिषम से श्वासरूपी कार्य की उत्पत्ति हो चुकी है, हरिदर्शन उसमें विच्छिन्नता भर नहीं आने देता, इस प्रकार हरिदर्शन श्वासरूपी कार्य की निष्पत्ति में नहीं, स्थिति में कारण है, फलतः वह कार्य का उपोद्बलक है । सर्वस्वकार ने समाधि के लक्षण में ओ सौकर्य शब्द दिया था रत्नाकरकार ने उसका एक ही अर्थ रखाया 'उत्पत्ति' में सहायता करना, जिसमें कार्य सरलता और सुख से निष्पन्न हो जावे । इस अर्थ के अनुसार 'श्वास'—रूपी कार्य का लेकर बतलाए गए उपर्युक्त समाधिस्थल में यह लक्षण लागू नहीं होता । विमर्शनीकार ने 'सोपानारोहण०' पद्य में तो समुच्चय सिद्ध कर दिया, और सौकर्य शब्द का उपोद्बलन अर्थ कर रत्नाकरकार के आश्रय का भी निराकरण कर दिया ।

इतिहास—

दण्डी—समाधि की कल्पना प्रथमतः दण्डी ने की है । उन्होंने इसे समाहित नाम दिया है । उनका निरूपण—'किंचिदारममागस्य कार्यं देववशात् पुनः ।

तत्साधनसमापत्तियां तदाहुः समाहितम्' । २ । २९८ ॥

कोई कार्य आरम्भ कर रहे व्यक्ति के पास भाग्यवशात् अन्य साधन की पहुँच समाहित कहलाती है । उदाहरण के रूप में 'मानमत्या०' पद्य ही दण्डी ने दिया है । मानस्य ने भी इसी भाग्य में समाहिता लकार माना है किन्तु उसका कोई लक्षण उनमें नहीं मिलता । चामन ने खोजी जा रही वस्तु के समान वस्तु को समाहित कहा है—'यत्सादृश्यं तत्सपत्तिः समाहितम् । और उदाहरण के रूप में विक्रमोद्देश्य का 'तन्वी मेघ०' पद्य दिया है । यह वही लता है जिसे पुरुरवा उर्वशी समझता है और वह उर्वशी रूप में परिणत भी हो जाती है । उद्भट में समाहित नामक अलंकार तो है परन्तु वह रसवदादि के वर्ग का है । समाधि नाम में इसमें कोई अलंकार नहीं मिलता । हदय में समाहित या समाधि दोनों ही नाम नहीं मिलने । इससे विदित होता है कि इस अलंकार को समाधि सज्ञा प्रथमतः मम्मट ने दी है । उनका लक्षण यह है—

मम्मट—'समाधिः सुकर कार्यं कारणान्तरयोगतः ।—अन्य कारण के सहयोग से कार्य की सुकरता—समाधि' । उदाहरण के रूप में उन्होंने 'मानमत्याः' पद्य ही दिया है ।

रत्नाकरकार—शोभाकर ने केवल 'उपोद्बलनं समाधि' = बढावा समाधि कहलाता है—इतना ही लक्षण किया है । उन्होंने कारणों में दो कोटियाँ की भी खोज की है—स्थान और

आगन्तुक। इनमें से दोनों में दोनों का सहयोग उन्हें विवक्षित है। 'मानमत्याः०' पद्य को उन्होंने भी उदाहरणरूप से उद्धृत किया है।

अप्ययदीक्षित—ने रत्नाकरकार का संशोधन अस्वीकार कर सर्वस्वकार का ही अनुसरण किया है और समाधि का यह लक्षण दिया है—

'समाधिः कार्यसौकर्य कारणान्तरयोगतः।'

उदा०—'उत्कण्ठिता च तृणी जगामास्तं च भानुमान् ॥'

अन्य कारण के योग से कार्यसौकर्य समाधि कहलाता है। उदा० इधर तो तृणी उत्कण्ठित हुई और उधर सूर्य अस्त हो गया।'

समाधि से समुच्चय का अन्तर अप्ययदीक्षित ने कारण की आकस्मिकता और अनेकता द्वारा किया है। समाधि में कारणान्तर आकस्मिक होता है जब कि समुच्चय में कारणान्तरों की भरमार रहती है। इसी भरमार का नाम समुच्चय है।

पण्डितराज—जगन्नाथ ने सर्वस्वकार का ही लक्षण अपनाया है। वनका परिष्कृत लक्षण यह है—

'शककारणजन्यस्य कार्यस्याकारिमककारणान्तरसमवधानादितिसौकर्य समाधिः ॥'

'शक किसी कारण से उत्पन्न हो सकने योग्य कार्य में किसी अन्य आकस्मिक कारण के आ जाने से जो सौकर्य आता है वही समाधि है।'

पण्डितराज ने विमर्शिनीकार के द्वारा छद्माप गद्य सौकर्यशब्द के दोनों अर्थ भी मान लिए हैं उन्होंने लिखा है—

'तच्च सौकर्य कार्यत्यानायासेन सिद्धया साङ्गसिद्धया च'। वह सौकर्य दो प्रकार से होता है कार्य को बिना आयास के हुई सिद्धि से तथा साङ्गीपाङ्ग सिद्धि से।

विद्वेश्वर—ने भी सौकर्य को स्थान देते हुए समाधिलक्षण इस प्रकार बनाया है—

'मक्ति समाधिः मुक्ते हेत्वन्तरसमवधानतः कार्ये।' 'चिकीर्षितस्य कार्यस्य सिद्धयर्थमभिमतो यो हेतुस्तदतिरिक्तेहेतुना कार्यस्य सौकर्य समाधिः, समाधीयते कार्यमनेनेति व्युत्पत्तेः।'।

अर्थात् कार्य की सिद्धि के लिए माना हुआ जो हेतु उससे भिन्न हेतु के द्वारा जो कार्य का सौकर्य वही समाधि, समाहित किया जाता है कार्य इससे इस व्युत्पत्ति के आधार पर'।

चक्रवर्ती की निष्कृष्टार्थकारिका समाधि पर इस प्रकार है—

'समाधिः सन्यगाधानं कारणान्तरयोगतः।' अन्य कारण के सहयोग से ठीक से कार्य की निष्पत्ति समाधि सौकर्य को समाधि कहना लाक्षणिक प्रयोग है। वस्तुतः 'सन्यक् आधान' ही समाधि का स्वरूप है।

पाठान्तर—समाधि की अन्तिम पंक्ति में 'पदेन' के स्थान पर निर्णयसागरीय प्रति में पदे छपा है। डॉ० राघवन् के संस्करण में केवल 'उपकारार्थेति प्रकाशितम्' ही पाठ है।

### विमर्शिनी

पुतद्रुपसंहारश्चन्यद्वतारयति—एवमित्यादिना।

इस प्रकरण का उपसंहार कर अन्य प्रकरण की अवतरणिका प्रस्तुत करते हैं—

[ सर्वस्व ]

एवं वान्यन्यायाश्रयिणोऽलंकारान्प्रतिपाद्याधुना लोकन्यायाश्रयिणोऽ-  
लंकारा उच्यन्ते । तत्र—

[ सू० ६९ ] प्रतिपक्षतिरस्काराशक्तौ तदीयस्य तिरस्कारः  
प्रत्यनीकम् ।

यत्र बलवतः प्रतिपक्षस्य दुर्बलेन प्रतिपक्षेण प्रतीकारः कर्तुं न शक्यत  
इति तत्संबन्धिनो दुर्बलस्य तं वाधितुं तिरस्कारः क्रियते तत्प्रत्यनीकम् ।  
अनीकस्य सैन्यस्य प्रतिनिधिः प्रत्यनीकमुच्यते । तत्तुल्यत्वादिश्मपि प्रत्य-  
नीकमुच्यते । यथानीकेऽभियोक्तव्ये तत्रासामर्थ्यात्तत्प्रतिनिधिभूतमन्यदभि-  
युज्यते, तद्वदिह प्रतिपक्षे विजेये तदीयस्य दुर्बलस्य तिरस्करणमित्यर्थः ।  
प्रतिपक्षगतत्वेन बलवत्त्वस्यापनं प्रयोजनम् । यथा—

‘यस्य किञ्चिदपरकर्तुमक्षम कायनिग्रहगृहीतविग्रहः ।

कान्तघनप्रसदृशाकृति कृती राहुरिन्दुमधुनापि वाधते ॥’

अत्र राहोः सकाशाद्भगवान्बलवान्विपक्षः । तदीयः पुनर्वक्त्रसादृश्य  
मुखेन दुर्बलश्चन्द्रमा । तत्तिरस्काराद्भगवतः प्रकर्षावगतिः ।

इस प्रकार वाक्य—[ मोमासाश्रित ]—न्याय पर निर्भर अलंकारों का प्रतिपादन किया,  
अब लोक—[ गत ]—न्याय पर आश्रित अलंकारों का निरूपण करने हैं ।

[ सू० ६९ ] विरोधी का तिरस्कार करने की क्षमता के अभाव में उससे संबन्धित  
का तिरस्कार प्रत्यनीक [ कहलाता है ] ॥

[ सू० ] जहाँ बलवान् विरोधी का दुर्बल विरोधी द्वारा प्रतीकार करना समभव नहीं होना  
अतः उससे सम्बद्ध किसी दुर्बल का प्रतीकार उसे धोटा पहुँचाने के लिए किया जाता है वह सेना का  
प्रत्यनीक कहलाता है । अनीक अर्थात् सेना समक प्रतीनिधि प्रत्यनीक कहलाता है । उसके समान  
होने से यह भी प्रत्यनीक कहा जाता है । अर्थ यह कि जिस प्रकार युद्ध करना होना है सेना से, किन्तु  
बैसा करने की शक्ति न रहने पर उसके प्रतिनिधिभूत अन्य किसी से युद्ध किया जाता है उसी  
प्रकार यहाँ जीतना तो अभीष्ट रहता है शत्रु को, किन्तु तिरस्कार किया जाता है उसके किसी दुर्बल  
सम्बन्धी का । इसका प्रयोजन होता है विरोधी की बलवत्तरता व्यक्त करना । उदाहरण यथा—

‘शरीर के निग्रह [ काट कर दो खण्ड कर देने ] से लड़ाई ठान बैठा राहु जिस [ भगवान्  
विष्णु ] का कुछ भी अपकार करने में असमर्थ होकर उसी के कान्तिमान् मुखविम्ब के समान  
आइति के चन्द्र को अभी तक बाधा पहुँचाना है ।’

यहाँ राहु की अपेशा भगवान् बलवत्तर शत्रु हैं, चन्द्रमा मुखविम्ब के सादृश्य के  
कारण उनसे सम्बन्धित हैं किन्तु दुर्बल है । उसके तिरस्कार से भगवान् के प्रकर्ष का ज्ञान  
होता है ॥’

विमर्शिनी

तत्रेति निर्धारणे । प्रतिपक्षेत्यादि । एतदेव व्याचष्टे—यथेत्यादिना । बलवत् इति दुर्बलेनेति च प्रतीकाराकरणे विशेषणद्वारेण हेतुद्वयोपन्यासः । तत्सम्बन्धिन इति । बलवत्प्रतिपक्षामकस्य । तत्सम्बन्धित्वं च सादृश्यादिसम्बन्धमूलम् । दुर्बलस्येति । तस्यापि हि बलवत्त्वे दुर्बलेन प्रतिषेण प्रतिकारः कर्तुं न शक्येत इति भावः । तमिति । सबलं प्रतिपद्यम् । बाधितुमिति । अन्यथा हि निःप्रयोजनस्तदीयतिरस्कारः स्यात् । क्रियत इति । दुर्बलेन प्रतिपक्षेण नैतत्संज्ञमात्रमित्याशङ्क्याह—अनीकत्वेत्यादि । तुल्यत्वमेव दर्शयति—यथेत्यादि । किं चात्र प्रयोजनमित्याशङ्क्याह—प्रतिपक्षेत्यादि । बलवत्त्वाख्यापनमिति । अप्रतीकार्यत्वात् । अत्रेत्यादि । चक्रसादृश्यमुखेन तदीय इति सम्बन्धः । तत्तिरस्कारादिति । न पुनस्तन्वीकारात् । बाधत इत्युक्तेतिरस्कारस्यैव साक्षाद्वाक्यार्थत्वात् । अत एव परैरपि 'तत्सम्बन्धितिरस्कारद्वारा तस्यैव बाधनादि'—इत्युक्तम् । प्रकृषोऽप्रतीकार्यत्वम् । एतेन चास्य प्रयोजनं दर्शितम् । अत्र अतिरस्कार्यतिरस्कारणकर्तृनिन्दाद्वारेण बलवतः प्रतिपक्षस्याप्रतीकार्यत्वास्तुतिप्रतिपादने तात्पर्यम् ।

तत्र = यह निर्धारणार्थक । प्रतिपक्षेत्यादि । इसी की व्याख्या करते हैं—यत्र इत्यादि के द्वारा । बलवान् और दुर्बल इन दोनों विशेषणों द्वारा प्रतीकार न कर सकने में दो हेतु उपस्थित किए । तत्सम्बन्धिनः = उसके सम्बन्धी अर्थात् शत्रु के सम्बन्धी के । उससे सम्बन्ध होगा सादृश्य आदि सम्बन्ध के आधार पर । दुर्बलस्य = दुर्बल = यदि वह सम्बन्धी भी बलवान् हो तो दुर्बल विरोधी द्वारा उसका भी प्रतीकार नहीं हो सकेगा । तत्र = उस = सबल शत्रु को । बाधितुम् = बाध = पीड़ा पहुँचाने के लिए । नहीं तो उससे सम्बन्धित का तिरस्कार निष्प्रयोजन ठहरेगा । क्रियते = किया जाता है = अर्थात् दुर्बल विरोधी के द्वारा । [ प्रत्यनीक ] केवल संज्ञामात्र नहीं हैं ऐसी शंका कर लिखते हैं—अनीकस्य । तुल्यता ही दिखलाते हैं—यथा इत्यादि के द्वारा । 'तव यहाँ प्रयोजन क्या है' ऐसी शंका सोचकर लिखते हैं - प्रतिपक्ष इत्यादि । बलवत्त्वाख्यापन = प्रतीकार्य न होने के कारण । अत्र इत्यादि = मुख के सादृश्य के द्वारा उससे सम्बन्धित इससे भी सम्बन्धित है । तत्तिरस्कारात् = उसका तिरस्कार = न कि उसका अंगीकार [ जैसा कि रत्नाकरकार ने माना है ] । बाधते = बाधा = पीड़ा पहुँचाना = ' इस कथन से तात्पर्य यह निकला कि यहाँ तिरस्कार ही प्रमुख अर्थ रहता है । इसीलिए अन्य [ रत्नाकरकार ] ने भी कहा है—'उसके सम्बन्धी के तिरस्कार के द्वारा उसी को पीड़ा पहुँचाने से०' । प्रकृषं = अप्रतीकार्यता । इसके द्वारा इसका प्रयोजन बतलाया । यहाँ अतिरस्कार्य का तिरस्कार करने से तिरस्कार करने वाले की निन्दा व्यक्त होती है । उसके द्वारा बलवान् शत्रु की अप्रतीकार्यता बतलाई जाती है । इससे जो उसकी प्रशंसा होती है तात्पर्य उसी के प्रतिपादन में रहता है ॥'

विमर्श—इतिहास—

प्रत्यनीक रूद्रक की ही देन है । उन्होंने इसका लक्षण इस प्रकार किया है—

'वक्तुमुपमेयमुत्तममुपमानं तज्जिगीषया यत्र ।

तस्य विरोधीस्तुक्त्वा कल्प्येत प्रत्यनीकं तव ॥' ८।१२.१॥

—'जहाँ उपमेय को उत्तम बतलाने के लिए उपमान को उसे जीतने के लिए उक्तिपूर्वक विरोधी बतलाया जाए तो वह प्रत्यनीक होता है ।' उदाहरण—

'यदि तव तथा जिगीषोस्तद्वदनमहारि कान्तिसर्वस्वम् ।

मम तत्र किमापतिर्त्तं तपसि सितांशो यदेवं माम् ॥'

हे चन्द्र तुम उस सुन्दरी को जीतना चाहते थे और यदि उसी ने तुम्हारा कान्तिमान् मुक्त छीन लिया तो इसमें तुम्हारा मैंने क्या किया जो तुम मुझे इस प्रकार तथा रहे हो ।'

मसमत = 'प्रतिपक्षमशक्तेन प्रतिकर्तुं तिरस्क्रिया ।

या तदोयस्य तस्त्वस्यै प्रत्यनीकं तदुच्यते ॥'

वृ०—न्यक्कृतिपरमपि विपक्ष साक्षात्प्रतिपक्षमशक्तेन केनापि यद् तमेव प्रतिपक्षमुत्कर्षयितुं तदाश्रितस्य तिरस्करणम् तद् अनीकप्रतिनिधितुल्यत्वात् प्रत्यनीकमभिधीयते । यथा अनीके अभियोज्ये तत्प्रतिनिधीभूतमपरं मूढतया केनचिदभियुज्यते तथेह प्रतियोगिनि विज्ञेये तदोयोज्यो विधीयते इत्यर्थः ।

'विरोधी का प्रतिकार करने में असमर्थ व्यक्ति द्वारा जो उससे सम्बन्धित व्यक्ति का उसी विरोधी की स्तुति कराने वाला जो तिरस्कार वह प्रत्यनीक कहलाता है ।

—विरोधी अपमान करता चला जा रहा हो और उसका निराकरण साक्षात् न किया जा सकता हो अतः कोई उसी विरोधी का उत्कर्ष प्रतिपादित करने वाला उसके आश्रित का तिरस्कार करे, तो वह सेना के प्रतिनिधिभूत व्यक्ति के समान होने से प्रत्यनीक कहा जाता है । जैसे सेना से लड़ना हो किन्तु मूढतावश उसके प्रतिनिधिभूत व्यक्ति से कोई लड़ता है उसी प्रकार यहाँ भी जीतना होता है विरोधी को किन्तु जीता जाता है उसका सबन्धी कोई अन्य व्यक्ति ।'

उदाहरण, यही—'यस्य किंचिदपकर्तुम्' पद्य ।

रत्नाकरकार ने अन्य अलंकारों के ही समान इस अलंकार में भी अपनी भावविधौ प्रतिभा को उबरता दिखाई है । उन्होंने विरोधिसबन्धी का तिरस्कार तो प्रत्यनीक में गिना ही है विरोधि के विरोधी का अंगीकार भी भाँति भाँति के उदाहरणों द्वारा प्रत्यनीक के भेद के रूप गिनाया है । साथ ही न केवल विरोधी अपि तु सट्टश पदार्थ के सबन्धी के भी अभिलषणीय और परिहरणीय रूप से अंगीकार में प्रत्यनीक माना है । उनका विवेचन इस प्रकार है—

[ सू० ] 'प्रतिपक्षादिसम्बन्धिस्वीकारः प्रत्यनीकम् ॥ ४० ॥

[ वृ० ] बलवत् प्रतिपक्षस्य तिरस्काराशक्तौ नतम्बन्धिनी दुर्बलस्य बाध्यतया स्वीकारमुत्तेन तिरस्कर्तुं निन्दाद्वारा बलवत् स्तुतिप्रतिपादनरूपमेकं प्रत्यनीकम् । ००० । तथा प्रतिपक्षसम्बन्धिनश्च प्रतिपक्षस्य तद्बाधकतया स्वीकारस्तथैव द्वितीयम् । आदिशब्देन प्रतिपक्षादन्यस्य सट्टशादिरूपस्य सम्बन्धिनीऽभिलषणीयत्वेन परिहरणीयत्वेन वा स्वीकारस्तुतीयम् ।'

विरोधी के विरोधी के अपनाए जाने का उदाहरण—

'इदं मद् चन्द्रमसस्तमन्तादरमसपत्नस्य हरिभ्यतीति ।

यस्मिन् पुरन्धीवदनस्य लक्ष्मीं निजा व्यधुः प्रागृतमम्बुजानि ॥'

—'हमारे शत्रु चन्द्रमा का मद यह [ सुन्दरीमुख ] पूरी तरह हरण कर लेगा यह सोचकर जिस नगर की सुन्दरियों के मुखों की कान्ति को कमलों ने अपना उपहार बना लिया ।'

सट्टशसम्बन्धी गुण का स्पष्टणीय रूप में अंगीकार इस पद्यरत्न में दिखलाया है—

'पुष्पाणामेव निन्दामचकमत गुणान् पल्लवानामगृह्णाए

स्तुत्यां सकृन् पिक्वानामवदन्नपद् राजहसेषु दोषान् ।

मर्त्तिकं ध्यानजं सान्द्रं शृंगमदतिलके चान्दने नाङ्गरागे

ध्वान्तं तुष्टाव तुष्टा न तु मिहिरमहः कृष्णलोभा हि राधा ॥'

‘राधा कृष्ण के अनुराग में गुणों की ही निन्दा करती है और पत्तों के ही गुणों को चाहती है, कोयलों की ही स्तुति में आसक्त रहती थी, राजहंतां में दोष देखती थी, कस्तूरी के गहन तिलक में ही शक्ति व्यक्त करती थी, चन्द्रन के अंगराग में नहीं और अंधेरे की ही स्तुति करती थी सूर्यप्रकाश की नहीं ।’ पल्लव आदि कृष्ण सद्गुण वर्ण के हैं, अतः कृष्णानुरक्त राधा उनके सामान्यतः अत्युद्गीय गुणों को नो स्तुति करती दिखलाई गई है ।

सद्गुण सन्बन्धी गुण का परिहरणीयत्वेन अंगोकार के लिए उदाहरण—

‘नीरागा नृगलान्छने मुखमपि त्वं दर्पणे नक्षते ।’

चन्द्रना पर विरक्त होकर वह प्रेमनिर्भर नायिका दर्पण में भी अपना मुख नहीं देखती ।

विमर्शिनोकार ने रत्नाकरकार के इस ‘स्वीकारपक्ष’ पर कटाक्ष तो किया है किन्तु वे अधिक लुब्ध बहने का भी साहस न कर सके । यहाँ ‘मुखमहो नो दर्पणेऽपीक्षते’ ऐसी योजना चाहिए ।

अप्यपदीक्षित—‘प्रत्यनीकं बलवतः शत्रोः पक्षे पराक्रमः ।’

‘बलवान् शत्रु के पक्ष वाले व्यक्ति पर पराक्रम प्रत्यनीक ।’ निश्चित ही दीक्षित जी ने लक्षण-निर्माण के साथ ही प्रत्यनीक शब्द की निरुक्ति भी बढ़ी ही सफाई के साथ इस वाक्य में ला दी है । रत्नाकर की नवीनकल्पनाओं के प्रति दीक्षित जी मीन हैं ।

पण्डितराज = रत्नाकर के नवीन पक्षों को छोड़ कर पण्डितराज ने प्रत्यनीक का निरूपण तो किया किन्तु वे तर्कधुरा पर इतने आरुढ़ हो गए कि इस पूरे ही अलंकार को प्रतीयमान हेतूप्रेक्षा से मतार्थ बता बैठे । उनका निरूपण इस प्रकार है—

‘प्रतिपक्षसन्बन्धिनस्तिरस्त्रातिः प्रत्यनीकम् ।’

—‘शत्रुसन्बन्धी का तिरस्कार प्रत्यनीक ।’

अपने उदाहरणों में गम्य हेतूप्रेक्षा की सिद्धि कर पण्डितराज ने मम्मट और सर्वस्वकार द्वारा उद्धृत ‘यस्य किञ्चित्’ पद्य में भी उसे इस प्रकार बतलाया—

‘यस्य किञ्चित्० [ पूर्ण पद्य ] इत्यलंकारसर्वस्वकृतोदाहृते प्राचीनपद्येषु भगवद्भैरवानुबन्धादिव भगवद्भक्तसद्गुणान्धुं राहुवापत इति प्रतीतिरुत्प्रेक्षैव गम्यमाना ।’

‘अलंकारसर्वस्वकार द्वारा उद्धृत ‘यस्य किञ्चित्०’ इस प्राचीन [ मम्मटोदाहृत ] पद्य में भी गम्य हेतूप्रेक्षा है क्योंकि यहाँ भी यह प्रतीति होती है कि ‘राहु चन्द्रमा को मानो इसलिए दुःख देता कि वह भगवान् के मुख के समान है ।’ प्रत्यनीक में प्रतिपक्ष में दुर्बलता तथा वर्ण्य-वस्तु में प्रबलता भी शब्दतः प्रतिपादित रहती है जो हेतूप्रेक्षा में नहीं रहती, अतः इतने अंश में इन दोषों का अन्तर हो सकता था किन्तु पण्डितराज ने इससे प्रत्यनीक को उपप्रेक्षा का एक नवीन भेद मानना अधिक उचित माना, स्वतन्त्र अलंकार नहीं ।

विश्वेश्वर—ने पण्डितराज के इस क्रान्तिपूर्ण विचार को प्रतिगामी तर्कों द्वारा काटते हुए प्रत्यनीक और हेतूप्रेक्षा में एक भेदक और सुझाया । उन्होंने कहा कि प्रत्यनीक में दो कारण प्रतिपादित रहते हैं जब कि हेतूप्रेक्षा में केवल एक । दोनों कारणों में प्रथम कारण द्वितीय कारण के प्रति कारण रहना है और उन दोनों का कार्यकारणभाव निर्गत रहता है । ‘यस्य किञ्चित्०’ पद्य में चन्द्रवाधा के प्रति कारण है विष्णु के साथ वैर और उसमें कारण है कायन्निग्रह । विश्वेश्वर की पंक्ति है—

‘अत्र [ प्रत्यनीके ] किञ्चिद्विषयकार्यताप्रतियोगिक [ चन्द्रवाधारूपकार्यनिष्ठकार्यतानिरूपकं ] यत् [ चन्द्रसद्गुणविष्णुवैररूपं ] कारणमुत्प्रेक्ष्यते तन्निष्ठकार्यतानिरूपितकारणस्य [ काय-



त्रिप्रद्वरूपस्य ] अप्यभिधानेन [ कायनिप्रद्वैतिपदाभिधानेन ] पूर्वकारणनिर्णयः, उत्प्रेक्षायां च तदभावात् तत्रिण्य इति वैषम्य स्पुटमेव ।' वस्तुतः, विद्वेश्वर के हम तर्क में कोई विनिगमकता नहीं है। इतना होने पर भी प्रत्यनीक को उत्प्रेक्षा का एक विशिष्ट भेद मानना अयुक्त नहीं ठहरता।

चरुवर्ती को निष्कृष्टार्थकारिका प्रत्यनीक पर यह है—

'तदीयस्य तिरस्कारः प्रत्यनीकमशक्तिः ।'

पाठान्तर—प्रत्यनीकमूत्र में प्रथम तिरस्कार शब्द के स्थान पर डा० द्विवेदी ने मूल तथा उनके मञ्जीविनीसंस्करण में 'प्रतीकार'-शब्द दिया है। कु० ज्ञानकी के मञ्जीविनी संस्करण में तिरस्कारपाठ ही है। स्वयं द्विवेदीसंस्करण में मञ्जीविनीकार ने हम रूप की व्याख्या में तिरस्कार शब्द को ही दो बार पढ़ा है और वही स्वामाधिक है। पाठान्तर का मूल मन्मथ का 'प्रतिकृतं तिरस्क्रिया' पाठ है। परवर्ती आचार्यों के सूत्रों में तिरस्कार शब्द ही मिलता है।

[ सर्वस्व ]

[ सू ७० ] उपमानस्याक्षेप उपमेयताकल्पनं वा प्रतीपम् ।

उपमेयस्यैवोपमानभारोद्धहनसामर्थ्यादुपमानस्य यत् कैमर्यक्येनाक्षेप आलोचनं क्रियते, तदेकं प्रतीपम् । उपमानप्रतिकूलत्वादुपमेयस्य प्रतीपमिति व्यपदेशः । यद्युपमानतया प्रसिद्धस्योपमानान्तरप्रतितिष्ठापयिषयानादरणा-र्थमुपमेयत्वं कल्प्यते, तत् पूर्वोक्तगत्या द्वितीयं प्रतीपम् । क्रमेण यथा—

'यत्र च प्रमदानां चञ्चुरेय सहजं मुण्डमालामण्डनं भारन्तु कुचलयदल-  
मालयानि' इत्यादि । यथा वा—

'लावण्यीकसि सप्रतापगरिमण्यप्रेसरे त्यागिनां

देव त्वय्यवनीभरक्षमभुजे निष्पादिते वेधसा ।

इन्दुः किं घटितः किमेव विहितः पूषा किमुत्पादितं

चिन्तारत्नमहो मुधैव किनमी सृष्टाः कुलक्षमाभृतः ॥'

अत्र यथासंध्यमप्यस्तीति प्राक् प्रतिपादितम् ।

'प पद्मि दाव सुंदरि कण्ठं दाऊण सुणसु यत्रणिजं ।

तुज्झ मुहेण किसोभरि चंदो उभमिज्जइ जणेण ॥'

अधोपमानत्वेन प्रसिद्धस्य चन्द्रमसो निरूपार्थमुपमेयत्वं कल्पितम् ।  
चन्दनस्य चोपमानत्वविचक्षात्र प्रयोजिका ।

कचित्पुनर्निष्पन्नमेवौपम्यमनादरकारणम् । यथा—

'गर्धमसंवाह्यमिमं लोचनयुगलेन किं वहसि भद्रे ।

सन्तीदृशानि दिशि दिशि सर सु ननु नीलनलिनानि ।'

अत्रोत्कर्षमात्रं उपमानस्य प्रादुर्भावं एव न्यङ्कारकारणम् । यत्नेन

न्यायेनोत्कृष्टगुणत्वाद् यदुपमानभावमपि न सहते तस्योपमानं त्व-  
कल्पितं प्रतीपमेव । यथा—

‘अहमेव गुरुः सुदाहणानामिति हालाहल तात मा म्म दृष्यः ।

ननु सन्ति भवादृशानि भूयो भुवनेऽस्मिन्वचनानि दुर्जनानाम् ॥’

अत्र हालाहलत्वं प्रकृष्टदोषत्वादसंभाव्यमानोपमानभावमप्युपमानत्वेन  
निवृत्तम् ।

[ सू० ७० ] उपमान का अपमान अथवा उपमेयता प्रतीप [ कहलाती है ] ॥

[ सू० ] उपमेय के ही उपमान का संपूर्ण भार होने में समर्थ होने से उपमान का ‘इससे क्या  
लान’ इस प्रकार जो आक्षेप अर्थात् आलोचन [ अपमान ] किया जाता है वह एक प्रकार का  
प्रतीप होता है । उपमान के प्रसिद्ध होने से उपमेय को ‘प्रतीप’ शब्द से पुकारा गया है ।  
इसके अतिरिक्त यदि अन्य किसी उपमान को उपस्थित करने की इच्छा से उपमान रूप से  
प्रसिद्ध वस्तु को उसका अनादर करने के लिए उपमेयरूप से प्रस्तुत किया जाय तो वह भी  
पूर्वोक्त रीति से [ विरोध के कारण ] एक दूसरे प्रकार का प्रतीप होता है ।

कम से उदाहरण—

‘जिस [ श्रीकण्ठजनपद ] में प्रमदाओ के नेत्र ही मुण्डमाला [ सिर पर से कर्णमूल तक  
लटकें ] आभूषण थे, नील कमलों की मालाएँ तो केवल भार थीं । [ दर्पचरित पृ० १८, ७० ]

और जैसे—लावण्यौकसि [ यथासंख्यालंकार में आनुका ] पद्य । यहाँ यथासंख्य भी है  
देखा पहले [ यथासंख्य प्रकरण में ] बतलाया जा चुका है ।

‘ए परि तावद सुन्दरि ! कर्ण दत्त्वा नृगुण्व वचनीयम् ।

तव मुखेन कृशोदरि ! चन्द्र उपनीयते जनेन ॥’

‘अरी सुन्दरि ? इधर आ पहले, और कान देकर बदनामी सुन । अरी कृशोदरि ! लोग  
तेरे मुख से चन्द्रमा को उपमा दे रहे हैं ।

यहाँ उपमानरूप से प्रसिद्ध चन्द्रमा को उसके अपकर्ष के लिए उपमेय रूप में कल्पित किया  
गया है । इसमें कारण है मुख की उपमेय रूप से विवक्षा । कहीं कहीं तो उपमा निम्न हो  
जाती है और तब वह अनादर का कारण बनती है, यथा—

‘भद्रे ! आँखों की जोड़ी में इतना होते नहीं एन रहा गर्भ क्यों भरे हुए है । इस  
प्रकार के नीलकमल स्थान स्थान पर बहुत मिलते हैं ।’ यहाँ उत्कर्षशुक्त वस्तु के उपमान की  
कल्पना ही [ उसके प्रति ] अपमान का कारण है ।

इसी प्रकार गुणोत्कर्ष के कारण जो वस्तु उपमान बनना भी नहीं सहती उसको उपमान रूप  
में प्रतिपादित करना भी प्रतीप ही है । यथा—

‘हे हालाहल ! अत्यन्त दारुण पदार्थों में मैं ही सब से बड़ा हूँ यह सोचकर तुम दर्प धारण  
न करना, तुम्हारे जैसे दुर्जनों के वचन इस संसार में बहुत मिलते हैं ।

यहाँ हालाहल में दोष का इतना उत्कर्ष है कि उसमें उपमानता संभव नहीं है, इतने पर भी  
उसे उपमान रूप से बतला दिया गया ॥’

## विमर्शिनो

उपमान्येत्यादि । कैमर्थक्येनेत्यादि । तद्वाधापारस्योपमेयेनैव कृतत्वाद्नुपयोगेनेत्यर्थः । उपमानान्तरेति । उपमानानां मध्ये । अनादरणार्थमिति । उपमानत्वेन नैतद्योग्यमिति यावत् । पूर्वोक्तगत्वेति । उपमेयस्योपमानप्रतिकूलवर्तिरवात् । अनेनोभयत्रापि नैतत्संज्ञामाप्रमित्युक्तम् । एकं द्वितीयमित्यभिदधता ग्रन्थकृता प्रतीशाख्यमलंकारद्वयम्, न पुनः सामान्यलक्षणाभावादेकमेव द्विप्रकारमित्युक्तम् । उपमाप्रकाररवं चानयोर्न वाच्यम्, उपमानस्याच्चेपादुपमेयकल्पनाच्च । न हि तत्र तदस्तीति ततोऽनयोः सुप्रत्यय एव भेदः । अनयोः पुनः साधर्म्यंजीवितत्वात्साधारणधर्माणामस्ति ग्रैविष्यम् । एवमौपम्यमन्तरेण नैतदलङ्कारद्वयं भवतीत्यवगन्तव्यम् । तेन—

‘गिहश्चिञ्च वदिञ्चिञ्च किं किरऊ देवआहिं अण्णाहिं ।

जिह् पसाएण पिओ लघह दूरेवि णिवसंतो ॥’

हृद्यत्रापि प्रतिपालकारत्वं न वाच्यम् । अत्र हि देवतान्तराणां तथा सामर्थ्यादर्शनात्तदाक्षेपेण स्वप्नकाले त्रियोपलब्धिदायिन्या निद्राया विरहिणीकर्तृकं वास्तवमेव धन्यत्वम् । वस्तु च नालंकार इति निर्विवादम् । कुचलयदलदाग्नामाक्षेपश्चक्षुषामरयन्तमेव तत्साधर्म्यप्रतिपादनार्थः । अन्यथा हि तदाक्षेपो निरर्थकः स्यात् । एवं—

‘किं कर्णपूरैर्द्यं साधुवादा मुक्ताफलैः किं यदि वाग्बिलासाः ।

किं चूर्णयोगैर्द्यं रूपशोभा लावण्यमास्ते यदि चन्दनैः किम् ॥’

हृद्यत्रापि ज्ञेयम् । अत्र हि यथा कर्णपूरादिभिः श्रोत्रशोभा क्रियते तथैव साधुवादादिभिरिति साधुवादादिभिरेव तत्कार्यकरणार्कणपूरादीनामाक्षेपः । तस्य च साधुवादादीनामत्यन्तमेव नत्साधर्म्यप्रतिपादनं फलम् । एवं—

‘खेलन्तीनां सुरपतिपुरीवारवाराङ्गनाना

यन्मञ्जीरध्वनितसुमगो रीति कोलाहलोऽद्यम् ।

तेनैवास्ते मदननृपतेर्मोहल्लिखये प्रयोधे

मोचायन्ते पयि पयि गिरः कच्छपारावतानाम् ॥’

हृद्यत्रापि ज्ञेयम् । यत्पुनरग्रान्यैरुपमानोपमेयत्वस्याविवक्षितत्वमुक्तम्, तत्तेषां तत्स्वरूपानभिज्ञत्वम् ।

लावण्यादिधर्मश्चात्र नृपचन्द्रयोरनुगामितया निर्दिष्टः । यथा वा—

‘तस्याख्येन्मुखमस्ति सौम्य सुमगं किं पार्वणेनेन्दुना

सौन्दर्यस्य पद् दशौ यदि च ते किं नाम नीलोत्पलैः ।

किं वा कोमलकान्तिभिः किसलयैः सत्येव तत्राचरे

ही घातुः पुनरुक्त्वस्तुरचनारम्भेष्वपूर्वो ग्रहः ॥’

हृद्यत्र सौम्यसुमगावादि सकृद्विदिष्टम् । असकृद्विद्वंशस्तु यथा—

‘यद्यस्ति तस्याः स्मरशाङ्गमद्भिबिलासवेष्टद्वेषु सुखं नताङ्गवा ।

तदिन्दुना किं विहितं विधात्रा सृष्टेन वरुणभृगुशावकेन ॥’

अत्र घेषलङ्कारत्वयोः शुद्धसामान्यरूपत्वं भ्रमृतायोस्तु विभ्रप्रतिविम्बभावः ।

निकर्षार्थमिति । अन्यथा चन्द्रस्योपमेयत्वकल्पनं निरर्थकं स्यात् । प्रयोजिकेति । उत्कर्ष-  
प्रतिपादनात् । अत्रापि साधारणधर्मस्वानुगामितया यथा—

‘मुखेन सखि पीयूषपेलवेन निशासु ते ।  
उपमानतया चन्द्रः प्रियेणाक्षिप्यते ध्रुवम् ॥’

अत्र पीयूषपेलवत्वमनुगामितयोपात्तम् । असङ्घट्टिदेशस्तु यथा—

‘पौलस्त्य विस्तृतविवेकपूर्ववभुक्कूर्च्छटाप्रकटितं सृजताद्य च त्वाम् ।  
नीतोऽजनाद्रिरुपमेयधुरां विधात्रा प्रोक्तुश्चक्षुर्विवलत्पृथुदाववह्निः ॥’

अत्र वेङ्कटविलम्बयोः शुद्धसामान्यरूपत्वम्, कूर्च्छदावयोस्तु विभ्वप्रतिविभ्वभावः ।  
अस्य हि विच्छिन्नरूपान्तरं दर्शयति क्वचिदित्यादिना । निष्पन्नमिति । सिद्धत्वेनोक्तेः ।  
उत्कर्षमात्र इति । अर्थान्नेप्रयुगलस्य । प्रादुर्भाव इति । उपमानस्याभूतस्योत्पत्तिः । अतएव  
स्पर्धान्धभाजः परस्योत्पादान्यवकारः । अनेन न्यायेनेति । अत्र यथोपमानत्वप्रादुर्भावो  
न्यवकारकारणं तथैवेत्यर्थः । अतश्च पूर्वस्या एव विच्छिन्नेरिदं विभजनं न पुनर्विच्छिन्न-  
न्तरमिति भावः । प्रतीपमिति । उपमानभावं यो न सहते भाष्यं न्यूनगुणेन चोपमेयेन,  
तयापीदृशप्रकृष्टगुणत्वं विवक्षितं यदपेक्षया न्यूनगुणमप्युपमेयं न संभवतीत्यत्र पिण्डार्थः ।

‘वेङ्कटाय श्रियमभिनवां शीतभानुं भवाय  
प्रादादुत्क्षैःश्रवसमपि वा वज्रिणे तत्क गण्यम् ।  
तृष्णातांथ स्वमपि मुनये यद्दाति स्म देहं  
कोऽन्यस्तरमाक्षवति भुवने चारिषेर्वाधिसत्त्वः ॥’

इत्यत्र पुनरन्यमतेऽपि न प्रतीपम् । लक्ष्यादेरधिकगुणस्य न्यूनगुणेनावरत्वापाद-  
नाभावात् । अत्र हि लक्ष्यादिदानाद् देहदानस्याधिकगुणत्वं विवक्षितम् । अत एवा-  
न्धुषेः स्वेदहदानमुत्प्रेक्ष्य को नाम लक्ष्यादिदानोत्कर्ष इत्यत्र वाशयार्थः । एतच्च वस्तुवति  
नालंकार इत्यलमतिविस्तरेण ।

उपमानस्य इत्यादि । कैमर्थवयेन—किस लाभ के लिए = उसका कार्य उपमेय के द्वारा  
कर दिए जाने से निरूपयोग होने के कारण । उपमानान्तर-अनेक उपमानों के बीच अनादर-  
णार्थम् = अनादर के लिए = अर्थात् यह उपमान के रूप में फ़वता नहीं है इस रूप से । पूर्वोक्त-  
गत्या = पूर्वोक्त रीति = उपमेय के उपमान से प्रतिकूल होने के कारण इससे यह बतलाया कि  
दोनों भेदों में यह केवल नाम मात्र नहीं है, [ यह सार्थक भी है ] । ‘एक’ और ‘दूसरा’ ऐसा  
कहकर अन्वकार ने बतलाया कि प्रतीप इस एक ही नाम के वे दो अलंकार हैं । दोनों का कोई  
सामान्य लक्षण नहीं है अतः वे दोनों एक ही समुच्चय के दो प्रकार नहीं हैं । इन्हें [ दण्डों के  
अनुसार ] उपमा का प्रकार नहीं मानना चाहिए क्योंकि यहाँ उपमान का अपमान रहता है  
और वैसे उपमेय भी बना दिया जाता है । उपमा में ऐसा नहीं होता, अतः इनका अन्तर मुखपूर्वक  
जाना जा सकता है । वे दोनों प्रतीप सादृश्य पर निर्भर रहते हैं अतः इनमें साधारणधर्म के  
तीनों भेद मिलते हैं । इसी प्रकार यह भी जान लेना चाहिए कि यह अलंकार बिना सादृश्य  
के नहीं हो सकता । इस कारण [ रत्नाकरकार द्वारा प्रतीप के उदाहरण के रूप में प्रदत्त ]—

‘निद्रैव वन्यते किं क्रियते देवताभिरन्याभिः ।

यस्याः प्रसादेन प्रियो लभ्यते दूरेऽपि निवसन् ॥’

'[ हम तो ] निद्रा की ही बन्दना करते हैं, अन्य देवताओं से करना ही क्या है, जिस [ निद्रा ] के प्रमाद से दूर गया भी प्रिय प्राप्त हो जाता है।' इस स्थल में भी प्रतीपालंकरता नहीं माननी चाहिए।'

अन्य देवताओं से वैसा सामर्थ्य नहीं है अब कि निद्रा में स्वप्न में प्रिय समागम कराने की क्षमता है। अतः निद्रा में विरहिणी द्वारा की जाने वाली बन्दना की पात्रता वास्तविक पात्रता है और हममें कोई विवाद नहीं कि वास्तविक वस्तु अलंकार नहीं होती। [ यत्र प्रमदानाम् स्थल में ] नीलकमलों का जो आशेष है उमका लक्ष्य नेशों के साथ उनका अत्यन्त साम्य प्रतिपादित करना है। नहीं तो उन [ नीलकमलों ] का आशेष निरर्थक ठहरेगा। इसी प्रकार [ रत्नाकरकार द्वारा प्रतीप के उदाहरण के रूप में उद्धृत ]—

'करनफूलों से क्या, यदि साधुवाद है, मुक्ताफूलों से क्या, यदि वाग्बिलास है, चूर्ण योगों [ Powders ] से क्या यदि रूपशोभा है और चन्दन से क्या यदि लाग्ण्य है।' इस पद्यार्थ में भी जानना चाहिए। यहाँ भी कर्ण आदि की शोभा जिस प्रकार करनफूल आदि के द्वारा होती है उसी प्रकार साधुवाद आदि के द्वारा भी। इसीलिए साधुवाद आदि के द्वारा नेत्रशोभा का कार्य हो जाने पर करनफूल आदि का आशेष किया गया है। इस [ आशेष ] का प्रयोजन साधुवाद आदि का अत्यन्त सामर्थ्य प्रतिपादित करना ही है। इसी प्रकार [ रत्नाकर द्वारा प्रतीप के उदाहरण के रूप में उपस्थित ]—

'छेक रही अप्सराओं का, नूपुर की ध्वनि से सुन्दर जो यह कोलाहल मचा हुआ है, वसीते मदन नृपति का मांगलिक प्रबोध = [ जागरण ] हो जाता है अतः मार्ग मार्ग में जो कच्छ के पारावत [ कपोता ] की वाणी है वह निरर्थक पड़ जाती है।'

इस पद्य में भी [ आशेष को साम्यमूलक ही ] जानना चाहिए।

इस कारण [ रत्नाकरकार ने पूर्वोक्त 'कि कर्णपूरः०' पद्य का स्पष्टीकरण करते हुए ] जो यह कहा है [ कि जहाँ उपमान प्रसिद्ध रहते हैं वहाँ प्रतीप द्वारा उनका तिरस्कार होता है किन्तु 'कि कर्ण' आदि पद्यों से जहाँ साधुवाद आदि उपमान प्रसिद्ध नहीं हैं वहाँ तिरस्कार के बाद उनका सामर्थ्यमूलक उपमानत्व सिद्ध होता है अतः आशेष या प्रतीप के लिए ] 'यहाँ उपमानोपमेयभाव की कोई विवक्षा नहीं है' वह उन [ उपमानोपमेयों ] का स्वरूप न जानने के ही कारण।

यहाँ राजा और चन्द्र के बीच लावण्य आदि धर्म अनुगामी धर्म के रूप में शुब्दतः कथित है।

दूसरा उदाहरण यथा—

'उत्तका सौम्य सुभग मुख है तो पूर्णचन्द्र से क्या, यदि सौन्दर्य की घर के आँखें हैं तो नील कमलों से क्या; उस अधर के रहते हुए कोमल कान्ति वाले किसलयों की आवश्यकता ही क्या है। छेद है कि विधाता को दोहरी ओर व्यर्थ वस्तुएँ बनाने का विचित्र आग्रह है।'

इत्यादि में सौम्यसुमगत्व आदि धर्म एक वार निर्दिष्ट [ कहे गए ] हैं।

अनेक वार निर्देशका उदाहरण—

'यदि उम सुन्दरी का काम के धनुष की बनावट से विलास से फरकती भीड़ों वाला चेहरा है तो विधाता द्वारा बनाए स्फुरित मृगशावक से युक्त चन्द्रमा के क्या ?

यहाँ बेल्लक्ष = फरकता और हुआ बल्लक्ष = स्फुरित होता हुआ इन शब्दों से प्रतिपादित धर्म शुद्ध सामान्यरूप धर्म हैं और भीड़ तथा मृग विन्मप्रतिविम्बमावापन्न धर्म हैं।

निष्कर्षार्थ—अपकर्ष के लिए, नहीं तो चन्द्र का उपमेय रूप में चित्रण निरर्थक हो जायगा । प्रयोजिका = कारण = उत्कर्ष का प्रतिपादन करने से । यहाँ भी साधारण की अनुगामिता का उदाहरण यह है—

‘सखि ! तेरा प्रिय रात्रि के समय निश्चित ही तेरे अमृतसुन्दर मुख के साथ उपमानभाव लिए रहने के कारण चन्द्रमा को चाहा करता है ।’

यहाँ अमृतसुन्दरता अनुगामी धर्म है ।

अनेक बार निर्देश के लिए—

‘हे पीलस्त्य [ रावण ] ! तुम्हें काफी विस्तृत और हिलती पिशंग वर्ण की अपूर्व डाढ़ी से युक्त बना कर विधाता ने उस अंजनादि को उपमेय बना दिया जिसके पर्याप्त उच्च शृंग पर दौड़ती भयंकर दवार लगी हो ।’

यहाँ वेदलत् तथा दिवलत् पद से प्रतिपादित हिलना और दौड़ना शुद्ध सामान्य धर्म हैं, तथा डाढ़ी और दँवार में विभ्रप्रतिविम्बभाव है ।

इत्ती [ प्रतीप ] का एक विशिष्ट प्रकार बतलाने हेतु लिखते हैं—कश्चित् । निष्पन्न = सिद्ध रूप में कथन होने से । उत्कर्षभाजः—उत्कर्षयुक्त = अर्थात् नेत्र युगल । प्रादुर्भाव = पहले से अविद्यमान उपमान की उत्पत्ति । इत्तील्लिए अन्य किसी स्पर्धायुक्त वस्तु का अस्तित्व बतलाने से यहाँ अपमान व्यक्त हुआ । अनेन न्यायेन = इत्ती प्रकार = जिस प्रकार यहाँ उपमानत्व की स्थापना से अपमान हुआ उत्ती प्रकार । इत्तील्लिए यह पूर्वोक्त प्रकार का ही विभाग है न कि अन्य कोई त्वतन्त्र प्रकार । प्रतीप = जो कभी भी किसी के प्रति उपमान बनना बरदास्त नहीं करता उसका उपमानत्व सिद्ध करने से इसमें [ प्रतीपता = अर्थात् ] प्रतिकूलता जो चली आती है । आशय यह है कि यद्यपि उचित यह है कि जो अधिक गुणवाला हो वह उपमान बनाया जाए और जो न्यून गुण वाला हो वह उपमेय, तब भी यहाँ गुणों में इस प्रकार का प्रकर्ष ही दिखलाया जाता है जिससे न्यून गुण वाली वस्तु भी उपमेय बन सके । [ रत्नाकरकार ने जो प्रतीप की न्यूनताप्रतिपादक विधा के लिए निम्नलिखित — ]

‘विष्णु को अभिनव लक्ष्मी, शिव को चन्द्रमा और इन्द्र को जो उच्चैःश्रवा [ कान ऊँचे रखने वाला अत एव तन्नाम का ] अश्व दिया इसका तो गणना ही कहाँ ? पिपासा से आतुर [ अगस्त ] ऋषि को जिसने अपना शरीर ही [ समुद्र ने ] दे डाला उस समुद्र से भिन्न बोधिसत्त्व संसार में कौन हो सकता ।’

पद्य [ उद्धृत किया है इत ] में अन्य [ रत्नाकरकार ] के मत के अनुसार भी प्रतीप नहीं सिद्ध होता, क्योंकि यहाँ जो अधिक गुण वाले लक्ष्मी आदि पदार्थ हैं इनमें कम गुण वाले किसी पदार्थ से न्यूनता का प्रतिपादन नहीं किया गया है । यहाँ तो लक्ष्मी आदि के दान की अपेक्षा देह के दान में अधिक गुणत्व = उत्कृष्टत्व मात्र प्रतिपाद्य है । इत्तील्लिए समुद्र के स्वदेहदान की अपेक्षा करके यहाँ देह वाक्यार्थ प्रतिपादित करना चाहा है कि लक्ष्मी आदि के दान से समुद्र का उत्कर्ष ही क्या ?

यह तो केवल वस्तुस्थिति मात्र है, अलंकार नहीं । अस्तु जाने भी दिया जाए । अधिक विस्तार से क्या ? ॥

विमर्श—इतिहास—

प्रतीपालंकार का पूर्वरूप प्रथमतः दण्डी की विपर्यासोपमा में मिलता है । काव्यादर्श में उन्होंने इसका निरूपण इस प्रकार किया है—

‘वदाननमिवोन्निरामविन्दमभूदिनि । सा प्रतिद्विविपर्यामाद् विपर्यासोपमा मता ॥’ २।१७ ॥

‘खिला अरविन्द तुम्हारे मुख के समान है—’ यह जो उपमा है इसमें प्रतिद्वि का विपर्यास है अतः यह विपर्यासोपमा हुई । प्रतिद्वि तो उपमान रूप में चन्द्र को है, मुख की नहीं । यहाँ इसे उलट दिया गया है । यही उलटा विपर्यास है । मामद्, वामन और उद्भट में इसे हम नहीं पाने । रुद्रट ने इसे अपनाया है और स्वतन्त्र अलङ्कार के रूप में इसे प्रस्तुत किया है—

रुद्रट—‘यत्रानुकम्प्यते सममुपमाने निन्दते वापि ।

उपमेयमति स्तोतु दुरवस्थमिति प्रतीप स्यात् ॥’

भिस [ अलङ्कार ] में उद्देश्य होता है उपमेय की अधिक प्रशंसा, और तर्क या तो उस पर जनलासं जाती है कृपा, या की जाती है उसकी निन्दा, और इन दोनों का उपाय रहता है यह बतलाना कि उपमेय तुलना में किसी के समान है, वह अलङ्कार प्रतीप कहलाएगा, इसलिए कि इस प्रकार की उक्ति में दुरवस्थता अर्थात् वास्तविक स्थिति के विपरीत स्थिति रहती है ।

[ १ ] प्रथम का उदाहरण—

‘वदनमिदं सममिन्द्रोः सुन्दरमपि ते कथं चिरं न भवेत् ।

मलिनयनि यत् करोती लोचनसलिलं हि कज्जलवत् ॥

प्रिये ! तेरा मुख केवल सुन्दर [ कान्तिमान् ] है तो क्या ? यह मदा के लिए चन्द्रमा के समान क्यों नहीं होगा [ कर्क का प्रातिनिध्य करने के लिए ] हमके करोड़ों को कज्जल मिश्रित आँसू मलिन भी जो बना रहे हैं जो । यहाँ मुख की अधिक प्रशंसा उद्देश्य है । उसी के लिए चन्द्र को उपमान रूप से प्रस्तुत किया गया है । वास्तविकता के विपरीत होने ने इसे प्रतीप नाम दिया गया ।

[ २ ] उपमान योजना द्वारा निन्दा के माध्यम से उपमेय की स्तुति का उदाहरण रुद्रट में ‘गर्वमसवाक्ष०’ पद्य ही है । हममें उपमानयोजना द्वारा निन्दा करने का अर्थ उपमेय की वास्तविक स्थिति को उपमान की अपेक्षा अधिक उत्कृष्ट, अनुपम, अप्रतिम, अनुपमेय वा अद्वितीय बतलाना है । मम्मट और सर्वस्वकार ने रुद्रट को इस स्थापना को इसी रूप में स्वीकार कर लिया है ।

प्रथम प्रतीप रुद्रट तक ही सीमित रहा । न तो मम्मट और सर्वस्वकार ने ही उसे स्वीकार किया और न रत्नाकरकार आदि ने । परवर्ती अन्य आचार्यों ने भी इसे स्वीकार नहीं किया है ।

मम्मट—‘आशेष उपमानस्य प्रतीपमुपमेयता ।

उत्प्रेक्ष्य यदि च कस्या तिरस्कारनिबन्धनम् ॥’

उपमान पर निरक्षेपता का आशेष अथवा उसी उपमान को अपमानित करने के लिए उपमेय बतलाना प्रतीप कहलाता है ।

उदाहरण के रूप में मम्मट ने लावण्योक्तिसि, ए यदि दाव, गर्वमसवाक्ष० तथा ‘अहमेव गुरु०’ पद्य प्रस्तुत किए जिन्हें सर्वस्वकार ने भी उद्धृत कर दिया है । इतना ही नहीं उन्होंने इन उदाहरणों में जो विशेषताएँ मानी थीं वे भी सर्वस्वकार ने ज्यों की त्यों मान ली हैं । वस्तुतः सर्वस्व के प्रतीप का प्रायः अक्षर अक्षर काव्यप्रकाश के प्रतीप से मिलता है । इस प्रकार प्रतीप को प्रस्तुत रूप में खाने का पूरा श्रेय मम्मट को है, यद्यपि उसके पृथक् अलङ्कारत्व पर उनके पहले

रुद्रट की दृष्टि जा चुकी थी और 'गर्वनसंवाद्यं' में रुद्रट की मान्यता को मम्मट ने भी अंगीकार कर लिया था। सर्वस्वकार प्रतीप के लिए मम्मट के प्रतीप हैं।

रत्नाकर—दोशंगावाद की नर्मदा जी के समान विमर्शिनी का जो पाठ यहाँ चौड़ा हो गया है उसका कारण उसमें तना के समान रत्नाकर का मिलना है। रत्नाकरकार, जैसा कि कहा जा चुका है अप्रसिद्ध उपमान वाले स्थल में उपमानोपमेयभाव की निष्पत्ति प्रतीप की निष्पत्ति के बाद मानते हैं अतः उन्होंने प्रतीप लक्षण में उपमान को स्थान नहीं दिया है। उसके स्थान पर उन्होंने अधिकगुण शब्द रखा है। इसी प्रकार उपमान के आक्षेप और उपमेयता को भी उन्होंने एक 'अनादर'-शब्द में संगृहीत कर दिया है। उनका लक्षण यह है—

'अधिकगुणत्वानादरः प्रतीपन्' ॥ २० ॥

'अधिक गुण वाले पदार्थ का अनादर प्रतीप कहलाता है।' विमर्शिनीकार ने रत्नाकरकार के प्रथम संशोधन [ उपमान के स्थान पर अधिकगुणशब्द के प्रयोग ] पर तो आपत्ति की है किन्तु द्वितीय संशोधन पर वे मौन हैं। इतना अवश्य है कि उन्होंने ग्रन्थकार की ओर से यह सफाई दी है कि वे दोनों प्रतीपों को दो स्वतन्त्र अलंकार मानते हैं, इसीलिए उन्होंने दोनों का समन्वय नहीं किया। सर्वस्वकार ने जहाँ एक ही नाम से अनेक अलंकारों का निरूपण किया है वहाँ उन्होंने उन्हें पृथक्-पृथक् सूत्रों में रखा है। व्याघात, समुच्चय आदि इसके स्पष्ट उदाहरण हैं। पर्याय को एक सूत्र में रखा है। उससे लगता है कि वे उसके दोनों भेदों को स्वतन्त्र दो अलंकार नहीं मानना चाहते। यहाँ सर्वस्वकार ने दोनों प्रतीपों को भी एक ही सूत्र में रखा है। वे निश्चित ही दोनों को एक ही मानते हैं। मम्मट ने भी ऐसा ही माना है। विमर्शिनीकार का जो यह कहना है कि दोनों प्रतीपों में कोई सामान्य लक्षण नहीं है उसका उत्तर रत्नाकर के सूत्र से मिल जाता है। एक ही सूत्र में एक ही अलंकार के दो प्रकारों का पृथक्-पृथक् उल्लेख यदि हल कवचना का पोषक है कि सूत्रकार दोनों प्रकारों को दो स्वतन्त्र अलंकार मानना चाहता है तो कार्यकारणभावमूल अतिशयोक्ति [ पृ० ४४ ] और उसके पूर्व व्याजस्तुति [ पृ० ३८ ] के सूत्र में निर्दिष्ट प्रकारों को भी स्वतन्त्र अलंकार मानना होगा सर्वथा यहाँ रत्नाकर का पक्ष प्रबल है।

रत्नाकरकार ने प्रतीप में अन्य विच्छिन्नियों का भी अनुत्पन्न किया है। विमर्शिनीकार उस पर भी मौन है। अधिकगुण के अनादर के ही समान न्यूनगुण का आदर भी एक ऐसी ही विच्छिन्नि है। उसका उदाहरण 'यणमुभं०' गाथा से दिया है—जिसकी संस्कृत छाया यह है—

'स्तनभुजमूलनितम्बान् प्रियाया जीर्णाम्बरायाः प्रेक्षमाणः ।

भुसले व्याघ्रताया बहु मन्यते रोरम् ॥'

'गरीब गृहिणी भुसल चला रही है। उसकी साड़ी जगड़ जगड़ से फट चुकी है। हाथ बढाने में उसके स्तन, भुजमूल तथा नितम्ब उससे बाहर साफ दिखाई देते हैं। उसे इस स्थिति में देख उसका प्रिय दारिद्र्य को ही बहुत आदर दे रहा है।'

यहाँ आप रोर शब्द का अर्थ दारिद्र्य है। सर्वस्वकार मंथ के ही शीकण्ठचरित में इस शब्द का इसी अर्थ में इस प्रकार प्रयोग मिलता है—

'विभृष्वता सौरभ-रोर-दोषं वन्दित्रत्तं वर्णगुणैः स्पृशन्त्याः ।

विकारवरे कस्य न कर्णिकारे प्रापेन दृष्टेर्वृषे विरोधः ॥'



प्रीति में कर्मकार [ अमलतास ] फूला तो दर्शक की दृष्टि से नासिका की झलप हो गई ।  
दृष्टि हमने सुनी वर्ण की प्रशंसा करती थी और नासिका उमने सुगन्ध में रोर = दरिद्र बनलानी थी ।  
[ ६।२३ श्रीकण्ठचरित ] ।

अप्यप्यर्थाचित—ने दोनों प्रतीपों के लिए दो पृथक् लक्षण बनाए हैं—

[ १ ] प्रतीपमुपमानरयोपमेयत्वप्रकल्पनम् ।

[ २ ] अन्योपमेयलाभेन वर्ण्यत्वानादरश्च तत् ॥

उपमान को उपमेय बतलाना प्रतीप तथा अन्य उपमेय का मिलना दिखलाकर वर्णनीय का अनादर भी । उन्होंने उदाहरण के रूप में प्रथम के लिए 'यत्त्वनेत्र०' पद्य दिया है जो काव्यलिङ्ग के उदाहरण के रूप में सर्वस्व में भी आया है तथा द्वितीय के लिए रुद्रट का ही सर्व सम्मानित 'गर्वममवाहाम्०' पद्य उद्धृत किया है ।

पण्डितराज—प्रतीप के विवेचन में दोलायित विषय के दिखाई देने हैं । उन्होंने उपमा भ्रंश में उपमेयोपमा के ही समान प्रतीप को भी उपमा का ही रूपान्तर मान लिया है । प्रतीप भ्रंश में भी वे विशद विवेचन करने के पश्चात् वही स्वर को और सबलता के साथ सुराने दिखाई देने हैं । उन्होंने प्रतीप के पाँच भेद माने हैं जो इस प्रकार हैं—

[ १ ] प्रतिबोधोपमानवैपरिरयेन वर्ण्यमानमौपम्यमेक प्रतीपम्—

प्रतिबोध उपमान के विपरीत बणित किया जा रहा सादृश्य एक प्रकार का प्रतीप होता है ।

[ २-३ ] उपमानोपमेयोरन्यतरस्य किञ्चिद्गुणप्रयुक्तमद्वितीयतोत्कर्ष परिदत्तुं द्वितीयप्रदर्शनो-  
क्लास्यमान सादृश्यमपर द्विविधम् ।

उपमान और उपमेय में से किसी एक का किसी गुण को लेकर अद्वितीयत्व प्रकाशित करने से निकल रहा सादृश्य दूसरे तथा तीसरे प्रकार का प्रतीप होता है ।

[ ४ ] उपमानस्य कैमर्ष्यं चतुर्थम् ।

उपमान की निरर्थकता चौथा प्रतीप होता है तथा—

[ ५ ] सादृश्यविघटन पञ्चम्—

सादृश्य का विघटन पाँचवाँ ।

इनके उदाहरण—

[ १ ] 'किं जल्पसि सुगन्धया हन्त ममाङ्ग सुवर्णवर्णमिति ।

तद् यदि पतति हुताग्ने नदा हुताग्ने तवाद्गवर्णं स्यात् ॥'

अति हुताग्ने ! भोलेपन में यह कहती है कि मेरा भाँग सोने से रंग का है । वही भाँग के के रंग का हो सरेगा यदि अग्न में तपे !' यह उपमान की उपमेयता से होने वाला भेद ही है । 'यदि तदा' से यह अतिशयोक्तिगमित हो गया है ।

[ २ ] उपमान की अद्वितीयता के परिहार का उदाहरण—पण्डितराज के मत में भी 'अहमेव गुरु' पद्य माना जा सकता है ।

[ ३ ] उनके मत में उपमेय की अद्वितीयता के परिहार का उदाहरण भी 'गर्वममवाहाम्०' पद्य माना जा सकता है । इसी प्रकार

[ ४ ] उपमान की निरर्थकता के लिए 'लावण्यौकसि०' तथा

[ ५ ] सादृश्य विघटन के लिए 'ए एहि किमपि०' ।

पण्डितराज ने इनमें से प्रथम तीन में उपमा ही माना उचित माना है, चतुर्थ को आक्षेपालंकार और पंचम को अनुक्तपरमक व्यतिरेक। समर्थन में उनके तर्क हैं कि प्रथम तीन में सादृश्य की निष्पत्ति ठीक उसी प्रकार हो जाती है जिस प्रकार उपमा से। जहाँ तक प्रसिद्धिविपरीतता का प्रदन है—उससे उपमा में ही एक विच्छिन्न का समर्थन करना अधिक उचित है न कि स्वतन्त्र अलंकारता का। [ दण्डी ने ऐसा किया भी है। उन्होंने इसे विपर्ययोपमा नाम दिया है ]। उनका यह इष्टान्त इस विषय में उल्लेखनीय है—‘न हि द्राक्षा माधुर्यातिशयेन पार्थिवान्तराद् विलक्षणोति अपार्थिवी भवति’—द्राक्षा अतिशय माधुर्य के कारण अन्य पार्थिव पदार्थों से विलक्षण होती है इसका अर्थ नहीं होता कि वह अपार्थिव हो जाती है। विपरीत उपमा, उपमान, या उपमेय की अद्वितीयता का परिहार उपमा को अनुपमा या उपमेतर नहीं बना सकता, उसमें अतिशय भर ला सकता है। पण्डितराज कल्पना के धनी हैं। उन्होंने उपमानोपमेय के तिरस्कार के ही समान पुरस्कार में भी एक छोटे प्रकार का प्रतीप मानने की आपत्ति प्रस्तुत की है और उसके लिए एक स्वनिर्मित उदाहरण भी दे दिया है।—वस्तुतः पण्डितराज भूल गए कि अलंकारों का भेदक तत्त्व वस्तुभेद या योजनाभेद नहीं, चमत्कारभेद है। प्रतीप में चमत्कार सादृश्य से नहीं विपरीत्य से होता है। यह तथ्य स्वयं पण्डितराज ही अनेक बार दुहराते, बतलाते और जतलाते आए हैं। अन्य भेदों में भी यह तर्क लागू हो सकता है। उपमालंकार के प्रकरण में नागेश ने गुरुमर्मप्रकाश में पण्डितराज को आड़े हाथों लिया भी है।

विश्वेश्वर ने प्रतीप के दो ही भेद माने हैं—उपमान की निरर्थकता तथा उपमेयता—

‘उपमानानर्थक्यं प्रतीपमस्त्योपमेयत्वम् ।’

इनका अनुगत सामान्य उन्होंने इस प्रकार बतलाया है—‘सामान्यलक्षणं तु यन्निष्ठसादृश्य-प्रतियोगितानाश्रयत्वाभिमतोपमानकत्वं [ तत्त्वं प्रतीपत्वम् ]। अर्थात् उपमान में जिसका सादृश्य अस्वीकार किया जाय वह उपमेय प्रतीप। अस्वीकृति स्वयं उपमान में भी बतलाई जा सकती है और अन्य किसी में भी। पण्डितराज द्वारा बतलाए समस्त भेद उन्होंने सांकेतिक रूप से उक्त दो भेदों में ही अन्तर्भूत मान लिए हैं, यद्यपि उनके प्रतीपविरोधी स्वर पर विश्वेश्वर का पुराणवादी समीक्षक चुप है।

चक्रवर्ती की निष्कृष्टार्थकारिका प्रतीप पर यह है—

‘उपमानस्य वैमर्थ्यादुपमेयत्वकल्पनम् ।

द्विषा प्रतीपं काव्येतदुपमानत्वतोऽपि च ॥’

[ सर्वस्व ]

[ सू० ७१ ] वस्तुना वस्तुन्तरनिगूहनं मीलितम् ।

सहजेनागन्तुकेन वा लक्ष्मणा यद्वस्त्वन्तरेण वस्त्वन्तरं निगूह्यते तदन्वयार्थभिधानं मीलितम् । न चायं सामान्यालंकारः, तस्य हि साधारण-गुणयोगान्नेदानुपलक्षणं रूपम् । अस्य तूत्कृष्टगुणेन निष्कृष्टगुणस्य तिरोधान-मिति महाननयोर्विशेषः । सहजेन यथा—

‘अपाङ्गतरले दशौ मधुरचक्रवर्णां गिरो

विलासभरमन्थरा गतिरतीव कान्तं मुखम् ।

इति स्फुरितमङ्गके सृगहशां स्वतो लीलया

यदत्र न मदोदयः कृतपदोऽपि संलक्ष्यते ॥’

अत्र दृक्कारल्यादिना स्वामाचिकेन लक्ष्मणा मद्बोद्धयकृतं दृक्कारल्यादि  
तिरोधीयते । आगन्तुकेन यथा —

‘ये कन्दरासु निवसन्ति सदा हिमाद्रे  
स्वप्नात्तशङ्कितधियो विचक्षा द्विपस्ते ।  
अप्यङ्गमुत्पुलकमुद्धृतां सरुम्पं  
तेषामहो वत भियां न बुधोऽप्यभिदा ।’

अत्र हिमाद्रिकन्दरानिवाससामर्थ्यप्रतिपक्षेन शैत्येन समुद्राधिनावाग-  
न्तुकौ कम्परोमाञ्चौ भयकृतयोस्त्वयोस्तिरोऽयायकौ । तिरोधायकत्वादेव च  
मीलितव्यपदेशः ।

[ सू० ७१ ] एक वस्तु के द्वारा दूसरी वस्तु का [ तिरोधान मीलित नामक अलंकार ]  
कहलाता है ॥

[ ६० ] सद्भजन अथवा ऊपर से आए किमी धर्म के द्वारा किमी भिन्न धर्म के द्वारा जो  
किमी भिन्न वस्तु का [ निगूहन अर्थात् ] तिरोधान वह ‘मीलित’ इस अर्थानुरूप नाम से पुकारा  
जाता है । यह सामान्यालंकार नहीं है, उसका स्वरूप साधारण गुणों के कारण भेद का समझ में  
न आना है । इसके विरुद्ध इस [ मीलित ] का स्वरूप है उत्कृष्ट गुणों वाली वस्तु के द्वारा निकृष्ट  
गुणों वाली वस्तु का तिरोधान । इस प्रकार इन दोनों में मदान् भेद है ।

सद्भजन धर्म के द्वारा, यथा—

‘अपारा तरु घूमनी दृष्टि, मधुर किन्तु वक्र बगों वाली बोली, विलास के मार ने भीमी चाब,  
अनीव कान्त मुख, यह सत्र तों वस मृगनयनी के भाँग में अपने आप स्फुरित है, अत [ मधुरान  
जनित ] नशा आत्राने पर भी दिखावं नहीं पड रहा है ।

—यहाँ दृष्टिवाञ्छस्य आदि धर्म स्वामात्रिक धर्म हैं । इनके द्वारा नशे से उत्पन्न दृष्टिवाञ्छस्य  
आदि छिपा दिए गए हैं ।

ऊपर से आए धर्म के द्वारा, यथा—

‘सुन्दारे जो शत्रु सुन्दारे दूट पडने की शका से हिमाद्रि की गुफाओं में विवशतापूर्वक सदा  
ही समाप्त रहते हैं, उनके शराह रोमांचित और कम्पित होने रहते हैं तब भी उनके भय का  
ज्ञान चतुरबनों को भी नहीं होता ।’

—यहाँ हिमाद्रि [ बर्फीले पर्वत = हिमाचल ] की गुफाओं में विकास के कारण प्राप्त टड के  
कारण उत्पन्न अतएव ऊपरी धर्मरूप जो कम्प और रोमांच हैं वे भय से उत्पन्न वन्दी [ कम्प  
और रोमांच रूपी धर्मों ] के तिरोभावक हैं । और तिरोभावकता के कारण ही मीलित यह नाम  
भी पडा है ॥

विमर्श—

रत्नाकरकार मीलित से सामान्य को पृथक् नहीं मानने । वे सर्वस्वकार की स्थापनाओं का  
उत्तर देते हुए लिखते हैं—

‘पृथक् सामान्यमीलितबोल्द्वगं न कायंम्, भेदाभावात् । तथा हि यत्र सामान्य भवतिरिच्यते  
तत्र यस्य भेदानवगमस्तस्य किं स्वरूपमवगम्यते न वा । आद्ये षटपदयोः पदयोरेव वा यथा निजनि-  
वरूपप्रतीत्याऽऽस्येव भेदप्रतीति, तथेहापि स्वादिति न मीलितम्, नापि सामान्यम् । द्वितीये

निजस्वरूपस्यानवगमेऽधिकगुणेनाच्छादनमेव निमित्तम्, न समानगुणत्वम् । तथात्वे लताव्यो-  
त्तनाद्रेरपि समानगुणत्वसम्भवात् कथं नु निजतयानवगमः । स च स्वरूपाच्छादनेऽपि सहजागन्तु-  
यत्वाद् विशेषादलङ्कारभेदो युक्तः, प्रतीतिसाम्येनैकस्यैवालङ्कारस्य भेदप्रमेदाभिधानोपपत्तेः परिबृ-  
त्त्यादिवत् । ००० नापि गुणसाम्यविवक्षया भेदस्यावगमेऽप्यनवगमाभिधानं सामान्यस्य मीलिताद्  
विशेषः, मदकृतस्याप्यपाङ्गतरलत्वादेर्भेदावगमसम्भवात् । तेनोदाहरणेषु समानाभिहारनिमित्तस्य  
स्वरूपावगमस्य संभवादेक एवालङ्कारो वाच्यः, स च मीलितनामैव, वस्त्वन्तरेणावच्छादनात् —

भेदेनानुपलम्भस्य बलवद्गुणसङ्गतिः ।

सामान्ये मीलिते तुल्यो हेतुस्तेन न भिजता' ॥

सामान्य और मीलित के लक्षण पृथक्-पृथक् नहीं किए जाने चाहिए, क्योंकि इनमें कोई भेद  
नहीं है । यह इस प्रकार कि आप [सर्वस्वकार] जहाँ सामान्य मानते हैं वहाँ जितके भेद का ज्ञान  
नहीं होता उसके स्वरूप का ज्ञान होता है या नहीं । होता है तो जैसे घट और पट या पट और  
पट का अपने अपने रूप के ज्ञान से भेद प्रतीत होता है, वैसे ही यहाँ भी भेद प्रतीत होगा, तब  
न तो मीलित ही होगा और न सामान्य ही । स्वरूपज्ञान नहीं होने का पक्ष माना जाय तो  
निजस्वरूप के ज्ञान न होने में कारण अधिक गुण वाला वस्तु के द्वारा आच्छादन ही माना  
जायगा, गुणसाम्य नहीं, क्योंकि तब [ विमर्शिनी में आगे आने वाले पथ अमेदमूढ० में ] लता  
[ तथा सामान्यालङ्कार के उदाहरण के रूप में सर्वस्व में आने वाले पथ 'मलयजरस०' में ]  
ज्योत्सना आदि में भी निजस्वरूप का ज्ञानामाव क्यों नहीं रहता [ अर्थात् उनके स्वरूप का ज्ञान  
क्यों होता है ] क्योंकि गुणसाम्य तो उनमें भी है । जहाँ तक [ हमारे द्वारा स्वीकार किए गए ]  
स्वरूपाच्छादन रूपी कारण का संबन्ध है उसमें यद्यपि 'सहजातता और आगन्तुकता' ये दो  
विशेषताएँ रहती हैं किन्तु उनके आधार पर अलंकार भेद नहीं माना जा सकता, परिबृत्ति आदि  
के समान एक ही अलंकार में दो प्रकारों की कल्पना भर की जा सकती है क्योंकि प्रतीति दोनों में  
एक सी ही रहती है । ०००० । यह भी नहीं कहा जा सकता कि गुणगत साम्य की विवक्षा से,  
भेद का ज्ञान हो जाने पर भी ज्ञान न होने का कथन मीलित से सामान्य का भेदक है, क्योंकि  
[ मीलित में उदाहरण अपाङ्ग० में आप ] नशे से उत्पन्न नेत्रचांचल्य का भी भेद प्रतीत होना  
संभव है । इस कारण [ मीलित और सामान्य दोनों के ] उदाहरणों में जब स्वरूपज्ञान संभव है  
जिसके आधार पर दोनों का एक ही लक्षण [ समानाभिहार० ] बनाया जा सकता है तब अलंकार  
एक ही बतलाया जाना चाहिए और उसका नाम मीलित ही होना चाहिए क्योंकि इसमें अन्य  
वस्तु का मीलन = आच्छादन रहता है । निष्कर्ष यह कि —

[ सामान्य और मीलित से वस्तु का ] ज्ञान भेदपूर्वक जो नहीं होता उसका सामान्य और  
मीलित [ दोनों ] में एक ही हेतु है 'अधिक गुण वाला वस्तु की सम्निधि' । अतः इन दोनों में  
भिन्नता नहीं है ।

इस पूरे प्रघट्टक का निष्कर्ष यह हुआ कि मीलित के ही समान सामान्य में भी वस्तुस्वरूप  
का तिरोधान रहता है तथा सामान्य के समान मीलित में भी वस्तुस्वरूप में भेदबोध । बोधगत  
तरतमभाव या मात्राभेद को लेकर एक ही व्यक्तिप्रकार को दो अलंकारों में विभक्त करने की  
अपेक्षा, दो प्रकारों में विभक्त करना अधिक उचित है और उन दोनों प्रकारों को एक ही  
अलंकार मानना । 'इस अलंकार को नाम कौनसा दिया जाए मीलित या सामान्य' इस पर  
रटनाकरकार का कहना है कि दोनों में चमत्कार का कारण एक ही है—'वस्तुस्वरूप का  
तिरोधान', अतः मीलित नाम देना ही उचित है । विमर्शिनीकार रटनाकरकार की इस मूल

स्थापना का निराकरण नहीं कर पाए हैं। वे रत्नाकरकार के भवान्तर विकल्पों पर सर्वस्वकार का पक्ष स्पष्ट करने तक सीमित हैं। यह तथ्य उनकी इस विमर्शिनी से स्पष्ट है—

### विमर्शिनी

वस्तुनेति । लक्ष्मणेति । चिह्नरूपेण धर्मणोरपथः । तस्य हि सहजागन्तुकरत्वेन द्विवि-  
घत्वाद्भ्यापि द्विप्रकारवमतीर्यनेनोक्तम् । ननु वस्त्वन्तरस्य वस्त्वन्तरेण निरूढितत्वे-  
नैकारभ्योपनिबन्धाधिकमयं सामान्यालङ्कार एव न भवतीत्याशङ्क्याह—न चावमित्यादि ।  
साधारणगुणयोगादिति । यद्वाहः—

‘प्रस्तुतस्य यदर्थेन गुणसाध्यविवक्षया ।

ऐकारभ्यं यध्यते योगात्तत्सामान्यमिति स्मृतम् ॥’

भेदानुपलक्ष्यमिति । प्रस्तुताप्रस्तुतात्मनः महदास्य वस्तुद्वयस्यासामान्याकारतया पृथ-  
गवगतस्याप्येकतरविनोपस्मरणाद्बुभयविशेषाप्रहणाच्चैकतरत्वेनैव निश्चयोत्पादनाद्दृष्टपट-  
वद्भेदेन प्रातिस्विक्केन रूपेणानुपलक्षण यथावगमनमध्यवसाय इत्यर्थः । यथा—राज-  
गङ्गादी शुक्तिकारजतयोः सनिकर्षेणासामान्याकारतया पृथगवगमनेऽप्येकतरविशेषस्मरणा-  
द्बुभयप्र विशेषाप्रहणाकस्यचिदेकतरत्वेनैव निश्चयो जायते तथैवेहापि ज्ञेयम् । मीलिते  
पुनर्न्यूनगुणस्याधिकगुणेन तिरोहितत्वात्सामान्याकारकत्वेनाप्युभयावगमो न, न्यून-  
गुणाच्छ्रावकतया तद्देहावष्टम्भेनाधिकगुणस्यैव प्रतिभासनात् । अत एवात्र मदोदयकृतस्य  
इत्तारवयादेर्नावगममात्रं, तस्य मदोदयापूर्वमपि तथैवावस्थानात् धलवता स्वाभाविकेन  
इत्तारवयादिनाच्छ्रादितत्वात् । सामान्ये पुनः—

‘अभेदमूढस्त्वकाभिरागता छताभिरीपवस्तुलितालिपकृत्किभिः ।

इयं पुरोमादतनतितालका न लक्ष्यते व्यक्तमवामनेस्तनी ॥’

ह्रयादीं निकुञ्जमध्यगताया योपितः पृथग्देहावष्टम्भेनासामान्याकारतयावगमनेऽपि  
साधारणगुणयोगात्सामान्यो भेदेनानध्यवसायः । अत एव ‘न लक्ष्यते व्यक्तम्’ ह्रया-  
द्युक्तम् । अतश्च स्वरूपेणावगतस्यापि भेदानध्यवसायः सामान्यं, धलवता तिरोहितत्वात्-  
स्वरूपानवगमो मीलितमिति स्थितम् । अत एवाह—यद्वाहनयोर्विशेष इति । एवं तर्हि समा-  
नगुणत्वस्यावितोपाद्ध्यमनागोदाहरणादावमित्यारिकादिव्यञ्जयोरहनादेरपि भेदानुपलक्षणं  
किं न स्यात् । ननूक्त एवात्र परिहारो यत्समानगुणत्वेऽप्येकतरविशेषस्मरणाद्बुभयविशेषा-  
प्रहणाच्चेति । एवमपि कथमिति चेत्, कस्यार्थं पर्यनुयोगः, किं ज्ञातुस्त ज्ञेयस्य वा ।  
एतच्चाप्रस्तुतत्वात्नेहास्माभिरुक्तम् । इह च प्रस्तुतस्यैवाप्रस्तुतात्त्वेनानुपलक्षणं विवक्षि-  
तम् । तद्गतत्वेनैवाभेदद्वारेण तत्सामान्यस्य प्रतिविषाद्विपितत्वात् । न चयमप्यन्यस्यान्य-  
तया प्रतीतेरस्य झान्तिमायन्तर्भावं वाच्यः । तस्य हि प्रकृतवस्त्वाच्छ्रावकत्वेनैव प्रतीति-  
लक्षणम् । इह तु तयत्वेऽपि वस्त्वन्तरस्य पृथक्प्रतिपत्तिरिष्यत् यदुना । न चास्य संज्ञा-  
मात्रमेतद्विषयाह—तिरोपायकत्वादिति । अतश्च पूर्वं ‘तदन्वर्थाभिधान मीलितमित्युक्तं  
निर्वाहितम् ॥

वस्तुना । लक्ष्मणा = चिह्नरूप धर्म से । वह दो प्रकार का होता है सद्बन्ध तथा आगन्तुक जनः  
यह अलङ्कार भी दो प्रकार का होता है यह वतलाया । ‘अन्य वस्तु के द्वारा अन्य वस्तु का  
जो छिपाया जाना है वह सामान्यालङ्कार में भी होता है, अन्’ दोनों में एकरूपता रहने से  
यह सामान्यलकारस्वरूप ही क्यों नहीं माना जाता—ऐसी शक्य ठाकर कहने हैं—‘न चायम् ० ।  
साधारणगुणयोगात् = गुण साम्य = जैसा कि [ मम्मट ने ] कहा है—

‘गुणसाम्य वतलाने के लिए, प्रस्तुत का, अन्य के साथ, सादृश्य संबन्ध के आधार पर, अभेद वतलाया जाता है वर [ सामान्य नामक अलंकार कहलाता है, काव्यप्रकाश ] ।

भेदानुपलक्षणार्थ = भेद समझ में न आना = यद्यपि प्रस्तुत और अप्रस्तुत दो समान वस्तुओं का आकार सामान्य = [ एक समान या अभिन्न ] नहीं होने से शृङ्खल-पृथक् ध्यान तो होता है तथापि इस ध्यान में या तो किसी एक के विशेष का बोध नहीं हो पाता या फिर दोनों के विशेषों का; फलतः इस ध्यान से जो निश्चय होता है उसमें दोनों वस्तुएँ किसी एक रूप में ही विदित होती हैं, इस प्रकार इसमें दोनों वस्तुओं का भेद घट और पट के समान स्वरूपगत रूप से विदित नहीं होता फलतः जैसा प्रारम्भिक बोध होता है वैसा ही अन्तिम निश्चय भी । उदाहरणार्थ जैसे रावर्गज [ कदाचिद् रायल मार्केट Royal market ] आदि में जहाँ चाँदी और सीप के ढेर लगे रहते हैं और दूर से दो दिखाई देने पर भी उनमें चाँदी का ढेर कौनसा है और सीप का ढेर कौनसा यह अन्तर प्रतीत नहीं होता । सीप और चाँदी पास पास रहती है । उनके आकार अलग-अलग रहते हैं अतः उनका बोध अलग-अलग होता है तथापि किसी एक की विशेषता का स्मरण न होने या दोनों की विशेषताओं का मान न होने से किसी व्यक्ति को दोनों का निश्चय एक ही रूप में होता है वसी प्रकार यहाँ [ समुच्चय में ] समझना चाहिए । [ रावर्गज कदाचिद् रायलमार्केट है या राजा को मंडी, जहाँ चाँदी और छिपिनियों के अलग-अलग ढेर लगे रहते होंगे । दूर से दो दिखाई देने पर भी उनमें, चाँदी का ढेर कौन है और सीप का कौन यह अन्तर प्रतीत नहीं होगा ] इसके विपरीत मीलित में दोनों का ध्यान सामान्यरूप से भी होता हो ऐसा नहीं है क्योंकि इसमें अधिक गुणवाला पदार्थ कम गुण वाले पदार्थ को छिपा देता है और [ क्योंकि कम गुण वाले पदार्थ को अधिक गुण वाला पदार्थ दबा देता है ] इसलिये कम गुण वाले पदार्थ के स्थान पर भी एकमात्र अधिक गुणवाले पदार्थ का ही मान होता है । इसलिये इस [ मीलित के उदाहरण ‘अपाङ्गतरले’—पद्य ] में नशे से उत्पन्न नेत्रचाञ्चल्य आदि का ध्यान एकदम नहीं होता क्योंकि वे [ नेत्रचाञ्चल्य आदि ] नशे के पहले से उसी रूप में विद्यमान रहते हैं और उनसे अधिक बलवान् त्वामाविक नेत्रचाञ्चल्य आदि से वे दबा दिए गए हैं । इसके विरुद्ध सामान्य के—

सामने की दबा से नचाए गए अलकों तथा अधामन [ बड़े-बड़े ] स्तनों वाली यह सुन्दरी—  
किञ्चिद् हिलती भ्रमराली से युक्त तथा त्तवकों से लदी लताओं से इस प्रकार अभेद को प्राप्त हो गई है कि स्पष्ट दिखाई नहीं पड़ रही है ।’

इत्यादि [ उन ] स्थलों में [ जिनमें रत्नाकरकार ने मीलितालङ्कार माना है ] निजुंज के बीच स्थित स्त्री का भिन्नरूप में निश्चय नहीं हो पा रहा है, इसमें कारण है साधारणगुणों का योग, यद्यपि पहले वही स्त्री अन्य स्थान पर अपने असामान्य रूप में विदित होती है । इसलिये ‘स्पष्ट दिखाई नहीं पड़ती’ यह कहा गया है । इस कारण सिद्धान्त यह पद्य हुआ कि ‘आरम्भ में स्वरूपतः घात पदार्थ का भी अन्त में भिन्न रूप में निश्चय न होना सामान्य कहलाता है तथा बलवान् के द्वारा छिपा दिए जाने से आरम्भ में भी स्वरूप का ध्यान न होना मीलित’ । इसलिये कहा—‘महाननयोर्विशेषः’ = इनमें महात् अन्तर है । [ रत्नाकरकार द्वारा शंका उठाई गई है कि ] उक्त क्रम से जब दोनों में समानगुणों का महत्त्व समानरूप से स्वीकार किया जा रहा है तब आगे [ सामान्यप्रकरण ] कहे जाने वाले [ मलयजरास आदि ] उदाहरणों में अभिसारिका आदि के समान ज्योत्सना [ चाँदनी ] आदि का भी भेद क्यों नहीं छिप जाता ? इसका तो उत्तर दिया ही जा चुका है कि—‘या तो यहाँ किसी एक की ही विशेषता का ध्यान होता है

या फिर दोनों की ही विशेषताओं का ज्ञान नहीं होता। यदि पूछें— 'देखा भी क्यों होता है ?' [ तो बतलाएँ कि ] यह [ जो समानगुणत्वबोध है यह ] निनिष्ठ है छात्निष्ठ या हेयनिष्ठ ? [ निश्चिन् ही शात्निष्ठ है और इमल्लिप्येवस्थिति जो भी हो, महत्त्व ज्ञानस्थिति को ही दिया जाएगा, और ज्ञान यहाँ वैसा ही होता है जैसा इम बत आए है ] यह विचार अप्रासंगिक है, इल्लिप्येव हमने इस पर यहाँ कुछ नहीं कहा। वस्तुतः यहाँ [ सामान्य में ] केवल प्रस्तुत का ही अप्रस्तुत से भेद प्रतीत न होना विवक्षित रहता है [ अप्रस्तुत का प्रस्तुत से नहीं ] क्योंकि [ केवल ] उस [ प्रस्तुत ] के विषय में ही हुए अभेद बोध के द्वारा यहाँ उस [ अप्रस्तुत ] का सादृश्य प्रतिपादित करना अभीष्ट होता है। [ अतः अप्राकारिक ज्योत्स्ना आदि का भेद छिपना, सामान्य में, आवश्यक नहीं ] ऐसा मानने पर, अन्य का अन्यरूप से ज्ञान [ भ्रान्तिमान् में भी रहता है अतः उस ] के आधार पर इसका भ्रान्तिमान् में भी अन्तर्भाव नहीं माना जा सकता, क्योंकि उस [ भ्रान्तिमान् ] में प्रतीतिस्वरूप वस्तु के आच्छादन तक सीमित रहता है जब कि यहाँ [ मीलित में ] वैसा तो होता ही है, अन्य वस्तु का पृथक् रूप से भी बोध होता है। अस्तु, रहने भी दिया जाए अधिक विस्तार से कोई लाभ नहीं। तिरोघावधवात् = इत्यादि द्वारा यह बतलाते हैं कि इस [ मीलित ] की यह संज्ञा केवल सदा ही नहीं है। [ यह सार्थक भी है ]। इस प्रकार पहले जो 'तदन्वर्थाधिधानं मीलितम्' = कहा या इसका अन्त तक निर्वाह कर दिया।

विमर्श—इतिहास—

मीलित की कल्पना पहले पहल रुद्रट ने की है। उन्होंने इसके सद्जपममूलक और आगन्तुकममूलक दोनों भेद भी बतलाए हैं—

'तन्मीलितमिति यस्मिन् समानचिह्नं हर्षकोपादि ।

अपरेण तिरस्क्रियते निरयेनागन्तुकेनापि ॥ ७।१०६ ॥

यह अलङ्कार मीलित कहलाता है जिसमें किसी सद्ज या आगन्तुक समान चिह्न के माध्यम से किमी अन्य पदार्थ के द्वारा हर्ष कोप आदि छिपा दिए जाते हैं।

सद्ज धर्म—

त्रिपयभेदगतरेले सुस्त्रिन्धे च स्वभाववस्त्वस्याः ।

अनुरागो नयनयुगे सन्नपि केनोपलक्ष्यते ॥ ७।१०७ ॥

उसके दोनों नेत्र तिरछा देखते और चंचल रहते हैं। उनमें स्नेह भी है। अतः उनमें अनुराग रहने पर भी उसे कौन जान सकता है।

आगन्तुक =

मदिरामदमरपाटल-कपोल-तल्लोचनेषु बदनेषु ।

कोपो मनस्विनीनां न लक्ष्यते कामिभिः प्रभवन् ॥

'मदिरा के मद से लाल कपोल तथा नेत्र वाले मनस्विनीयों के चेहरों पर कोप आता है पर कामियों को समझ में नहीं आता।' यहाँ मदिरामद की लाली आगन्तुक लाली है। उसमें कोप की लाली का छिपना प्रतिपादित है।

मग्मट = ने रुद्रट का ही अनुसरण इस प्रकार किया है—

'समेज लहमणा वस्तु वस्तुना यक्षिगुहने ।

निजेनागन्तुना वापि तन्मीलितमिति स्यूतम् ॥

उदाहरण भी मम्मट ने रद्वट से मिलते जुलते दिए हैं। जन्हीं को सर्वस्वकार ने भी उद्धृत कर लिया है।

रत्नाकर—रत्नाकर मीलित और सामान्य को एक ही अलंकार के दो प्रकार मानते हैं, जैसा कि अभी अभी बतलाया गया है। तदनुसार उन्होंने दोनों में अनुगत एक लक्षण मीलित नाम से ही इस प्रकार बनाया है—

‘धर्मसाम्याद् भेदाप्रतीतिर्मीलितम् ।’

—‘धर्मगत समानता के कारण भेद की प्रतीति न होना मीलित कहलाता है।’ विमर्शिन कार ने जिस ‘अभेदम्’ पद्य में सामान्यालंकार माना है, रत्नाकरकार ने मीलित के उदाहरण के रूप में यही पद्य पहले उद्धृत किया है। काव्यप्रकाशकार तथा सर्वस्वकार द्वारा उद्धृत ‘मलयजस्तम्भ’ पद्य में सामान्यालंकार तथा ‘अपाङ्गतरले’ पद्य एवं ‘ये कन्दरासु’ पद्य में मीलितालंकार की पृथक् कल्पना पूर्वपक्ष के रूप में रत्नाकरकार ने भी प्रस्तुत की है किन्तु उन्होंने उपयुक्त तर्कों द्वारा इस पार्थक्य का निराकरण भी कर दिया है।

अप्यद्यद्द्विषित—‘मीलितं यदि सादृश्याद् भेद एव न लक्ष्यते ।

उदा०—‘रसो नालक्षि लाक्षायाश्चरणे सहजास्ये ।’

‘सादृश्य के कारण यदि भेद ही न दिखाई दे तो मीलित नामक अलंकार होगा। उदा० यथा—सहज अरण चरण में लाक्षा का रस दिखाई नहीं दिया।’

पण्डितराज = ‘स्फुटक्षुपलम्बमानस्य कस्यचिद् वस्तुनो लिङ्गैरतिसाम्याद् भिन्नत्वेनागृह्यमाणं वस्तवन्तरलिङ्गानां स्वकारणाननुमापकत्वं मीलितम् ।

भेदाग्रहेण लिङ्गानां लिङ्गैः प्रत्यक्षवस्तुनः । अप्रकाशो ह्यनध्यक्षवस्तुनस्तन्निमीलितम् ॥’

‘स्पष्ट रूप से समझ पड़ रही किसी वस्तु के चिह्नों के साथ अत्यन्त सादृश्य के कारण, अन्य वस्तु के चिह्नों का भिन्न रूप से गृहीत न होकर अपनी आधार भूत अन्य वस्तु का अनुमान न करा पाना मीलित कहलाता है।’

प्रत्यक्ष वस्तु के चिह्नों के साथ अपने चिह्नों का भेद गृहीत न होने के कारण अप्रत्यक्ष वस्तु का जो अंशान वही मीलित है।

इन लक्षणों के विशेषणों का प्रयोजन बतलाते हुए स्वयं पण्डितराज ने कहा है ‘अनध्यक्षी वस्तुनः = अप्रत्यक्षवस्तु’ अर्थात् वस्तुनः = अप्रत्यक्षता। इसका उद्देश्य सामान्य का निवारण है। सामान्य में दोनों ही वस्तुओं का प्रत्यक्ष होता रहता है।

चिह्नगत सहजत्व और आगन्तुकत्व को पण्डितराज ने लक्षण में तो स्थान नहीं दिया किन्तु इन्हें उन्होंने उदाहरणों में अवश्य ही अपना लिया है। ‘अपाङ्गतरले’ तथा ‘ये कन्दरासु’ को अभिव्यक्तियों द्वारा पण्डितराज के उदाहरणों की अभिव्यक्ति गतार्थ है।

विश्वेश्वर—‘सहजनिमित्तजधर्मात् सदृशादन्येन वस्तुना वस्तु ।

अपिधीयते यदेतन्मीलितमाहुर्विशेषज्ञाः ॥

संजीविनीकार—चक्रवर्ती की मीलितकारिका—

‘निजेनावस्तुना वापि लक्षणेनान्यगोपनम् । निमीलिताख्यालङ्कारो द्विप्रकारः प्रकाशितः ॥

पाठान्तर = विमर्शिनी की कुछ पंक्तियाँ निर्ध्वसागर संस्करण में हमारी दृष्टि से अशुद्ध टपी हैं। प्रमुख स्थल यथा—



[ १ ] 'घटपटवद्भेदेन०' [पृ० ६२८ प० २२] के स्थान पर घटपटवद् भेदो न । रत्नाकर के पूना संस्करण में ऊपर उद्धृत सप्रहकारिका का प्रथम पद भी 'भेदेन' के स्थान पर 'भेदो न'—इसी प्रकार म्पा है ।

[ २ ] 'सन्निकर्षेणासामान्य०' [पृ० ६२८ प० १४] के स्थान पर 'सन्निकर्षेण सामान्य०' तथा

[ ३ ] 'उभयावगमो न' [पृ० ६२८ प० १६] के स्थान पर 'उभयावगमो' मात्र छपा है ।

[ ४ ] 'वृषदेशावष्टम्भेनासामा०' [पृ० ६२८ प० - ] के स्थान पर 'वृषदेशावष्टम्भेन सामा० ।

[ ५ ] 'यत् समानगुणः' [पृ० ६२८ प० २७] के स्थान पर 'यत् समानगुण० ।

मूल में भी 'अपाङ्गतरले०' पद्य का पाठ काव्यप्रकाश तथा रत्नाकर में आप इसी पद्य के पाठ में मित्त है । उनमें जहाँ 'अगके' है वहाँ 'निर्गय०' प्रति में 'अङ्गके' है और उनमें जहाँ तदत्र है वहाँ 'निगय०' प्रति में यदत्र । अर्थसगति की दृष्टि से काव्यप्रकाश और रत्नाकर का ही पाठ अधिक उच्युक्त है । कु० जानकी की प्रति में अङ्गके तो अङ्गके ही छपा गया है किन्तु यदत्र तदत्र नहीं । इसी प्रकार र्वा० दिवेदी की प्रति में यदत्र के स्थान पर तदत्र तो छपा गया है किन्तु 'अङ्गके.' के स्थान पर 'अङ्गके' नहीं ।

मीलित और सामान्य के भेद पर कुछ विचार तो मीलित के ही इस प्रकरण में हों गया है कुछ आगे आरहे सामान्य के प्रकरण में होगा ।

भोज ने आगामी सामान्य को पिहित कहा है और उमे तथा तद्गुण एव अतद्गुण को मीलित के ही प्रकार के रूप में स्वीकार किया है [ द्र० स० कण्ठा० १।४१ ]

### [ सर्वस्व ]

[ सू० ७२ ] प्रस्तुतस्यान्येन गुणसाम्यादैकात्म्यं सामान्यम् ।

यत्र प्रस्तुतस्य वस्तुनोऽप्रस्तुतेन साधारणगुणयोगादैकात्म्यं भेदानध्य-  
वसायादेकरूपत्वं निवध्यते तत्समानगुणयोगात्सामान्यम् । न चेयमपह्नुतिः ।  
किञ्चिन्निविध्य कस्यचिदप्रतिष्ठापनात् । यथा—

'मलयजरसविलिप्ततन्धो नवहारलताविभूषिताः

सिततरदम्तपत्रकृतवन्नरुचो रुचिरामलांशुकाः ।

शशभृति विततधाम्नि धवलयति धरामविभाष्यतां गता

मियवसति प्रयान्ति सुखमेव निरस्तमियोऽभिसारिका ॥'

अत्र मलयजरसविलेपनादीनां चन्द्रप्रभया सह 'अविभाष्यतां गताः'  
इत्यभेदप्रतीतिर्दर्शिता ।

[ सू० ७२ ] गुणगत साम्य के आधार पर प्रस्तुत की तद्विष [ अप्रस्तुत ] के साथ एकरूपता सामान्य [ नामक अलंकार कहलाता है ] ॥

[ पृ० ] भिन्न [ अलंकार ] में प्रस्तुत वस्तु की अप्रस्तुत वस्तु के साथ साधारणगुणों के आधार पर ऐकात्मता अर्थात् भेद की प्रतीति न होने से एकरूपता बतलाई जानी है वह समान गुणों के संबन्ध के कारण सामान्य कहलाता है । यह अपह्नुति नहीं है, क्योंकि [ यहाँ ] किसी का निषेध कर किसी का प्रतिष्ठापन नहीं रहता । उदाहरण, यथा—

सफेद चन्दन के रस [ जिसे हुए सफेद चन्दन ] से विलिप्त शरीर वाली, नवीन मीत्तिकमाला पहने हुई, खूब सफेद हाथी दाँत की पञ्चवली से मुक्त की उज्ज्वल कान्ति बढ़ाए हुई और सुन्दर धवल अंशुक पहने हुई [ शुनल ] अभिसारिकाएँ उस समय सूझ नहीं पड़ती जिस समय चन्द्रमा अपनी किरणें विलेर कर धरापृष्ठ को सफेदी से रंगता है, और वे भ्रिय गृह तक निर्भीक होकर सुख-पूर्वक पहुँच जाया करती हैं ।'

यहाँ चन्दनरस के विलेपन आदि के चन्द्रप्रभा के साथ अभेद का ज्ञान 'सूझ नहीं पड़ती' इस प्रकार बतलाया गया है ॥

### विमर्शिनी

प्रस्तुतस्येत्यादि । प्रस्तुतस्येति उपमेयस्य । अप्रस्तुतेनेति उपमानेन । साधारणगुणानां च त्रिरूपत्वमत्रार्थसिद्धम् । तेन साधारणगुणस्यानुगामितया यथा—

'मध्ये जानपदस्यैणमुखानाममलखिपाम् ।

राहोरलक्ष्यतामेति यत्र पूर्णेन्दुमण्डलम् ॥'

अत्रामलकान्तिरवमनुगामितया सकृन्निर्दिष्टम् । असकृन्निर्दिष्टस्तु यथा—अभेदमित्यादौ । अत्र स्तवकस्तनयोर्द्विग्वप्रतिबिम्बभावः । लुलितत्वन्नतितत्वयोः शुद्धसामान्यरूपत्वम् । ननु चात्र प्रस्तुतस्याप्रस्तुतेनापहवः क्रियत इति किमयमपह्वतिरेव न भवतीत्याशङ्क्याह—न चेयमित्यादि । 'अविभाष्यतां गताः' इति, अर्थादुक्तेः ॥

प्रस्तुतस्य इत्यादि । प्रस्तुतस्य = प्रस्तुत = उपमेय । अप्रस्तुतेन = अप्रस्तुत = उपमान । साधारणगुणों की त्रिरूपता यहाँ स्वतः सिद्ध है । साधारण गुणों की अनुगामिता का उदाहरण यह है—

'गोँवों की महिलाओं के निर्मल कान्ति वाले मुखों के बीच चन्द्र का पूर्ण मण्डल जहाँ राहु को दिखाई नहीं पड़ता ।'

यहाँ 'निर्मलकान्ति' धर्म उभयानुगत रूप से एक बार कहा गया । अलग-अलग कथन का उदाहरण यथा—[पूर्वोक्त] 'अभेदमूल' पद्य । इसमें स्तवक और स्तनों में बिम्बप्रतिबिम्बभाव है तथा लुलितत्व और नतितत्व में शुद्धसामान्यधर्मत्व । [ शंका ] यदि वहाँ प्रस्तुत को अप्रस्तुत के द्वारा छिपाया जाता है तो इसे अपह्वति अलंकार ही क्यों न मान लिया जाता 'देसो शंका उठाकर कहते हैं—न च इत्यादि । 'अविभाष्यतां गताः'—सूझ नहीं पड़ती = अर्थात् इस प्रकार अभेद का ज्ञान शब्द से ही करा दिया गया है ।

विमर्श—इतिहास—

इस अलंकार को सामान्य नाम तो मन्मथ की देन है किन्तु यह अलंकार अपने आप में कल्पना है रुद्रट की । रुद्रट ने इसे तद्गुण का एक भेद माना है । उनका एतरसंबन्धी विवेचन इस प्रकार है—

'यस्मिन्नेकगुणानामर्थानां योगलक्ष्यरूपाणाम् ।

संसर्गे नानात्वं न लक्ष्यते तद्गुणः स इति ॥ ९ । २२ ॥

जहाँ एक ही गुण वाले पदार्थों का संबन्ध होने पर स्वरूप तो दिखाई दे, पर उनका पार्थक्य प्रतीत न हो तो वह तद्गुण कहलाता है । उदाहरण—

'नवधौतधवलवसनाश्चन्द्रिकया सान्द्रया तिरोगमितः ।

रमणभवानान्यशङ्कं सर्पन्त्यभिसारिकाः सपदि ॥ ९।२३ ॥

‘नवीन धुने धवत्त वस्त्र पहिने और सान्द्र चाँदनी में छिरी अभिसारिकाएँ निशुंक होकर अपने प्रिय के घर झटिति पहुँच जाती हैं।’ मिथिल ही रुद्रट को वामन द्वारा अतिशयोक्ति के लिए उद्धृत पद्य ‘मलयज्वरम०’ से यह तद्गुण सूत्रा होगा। मम्मट ने रुद्रट के उदाहरण से उमका मूलभूत पद्य ‘मलयज्वर०’ तां श्लोत्र निकाला किन्तु उससे सूत्रे अलङ्कार को तद्गुण से अभिन्न मानना उचित नहीं समझा। उन्होंने रुद्रट के ही मौलिकालङ्कार की कल्पना से मिलनी जुलनी सामान्य का कल्पना की और उसका स्वतन्त्र लक्षण बनाया। विमर्शनीकार ने मौलिक-प्रकरण के आरम्भ में उमे उद्धृत कर दिया है। किन्तु रुद्रट जैसी सूत्रमैकिका उनके लक्षण से प्रकट नहीं होती। रुद्रट का यह कहेना एक सूत्रम मनोवैज्ञानिक सत्य है कि यहाँ वस्तु-स्वरूप तो प्रतीत होता है, वस्तुगत नानात्व नहीं। कदाचित् विमर्शनीकार को इसीसे प्रेरणा मिली है और उन्होंने रत्नाकरकार के सण्डन में कुछ ऐसी ही तर्कप्रणाली अपनाई है। मर्वस्वकार का विवेचन मम्मट की सामान्यकारिका पर प्राप्त वृत्ति से काफ़ी प्रभावित है। मम्मट ने वृत्ति में लिखा है—

‘अतादृशमपि सादृश्यतया विवक्षितु यत् अपस्तुत्वाथेन सद्रूपपरित्यक्तनिजगुणमेव तदेकारम-  
तया निवक्ष्यत तत् सामान्यगुणनिवन्धनात् सामान्यम् ।

— जो प्रस्तुत वस्तु जिसके समान नहीं है उसे उसके समान बनलाने के लिए अपस्तुत वस्तु के साथ उसका अपना स्वरूप बिना छुड़ाए पररूप बनलाया जाता है वह सामान्य गुणों का उल्लेख होने के कारण सामान्य कहलाता है। यहाँ अपरित्यक्त निजस्वरूप = अपना स्वरूप बिना छोड़े पद मौलिक से सामान्य का अन्तर करने के लिए ही दिया गया है। मौलिक में वस्तु का स्वरूप भी निरोद्धित हो जाता है। उदाहरण के रूप में ‘मलयज्वरसविलिप्त०’ पद ही मम्मट ने दिया था।

रत्नाकरकार का दृष्टिकोण इस विषय में स्पष्ट ही है। वे इसे मौलिक की ही एक विधा मानते हैं। मौलिकप्रकरण में उनका मत दिया जा चुका है।

अप्ययदीक्षित = ‘सामान्य यदि सादृश्याद् विद्येपो नोपलक्ष्यते ।

पद्माकरप्रविधानां मुख नाक्षि शुभ्रुवाम् ॥

सादृश्य के कारण यदि भेद दृष्टिगोचर न हो तो सामान्य। उदा० कमलसमूह से मरे तालाव में प्रविष्ट सुन्दरियों के मुख दिखाई नहीं पड़े।’

पण्डितराज—‘प्रत्यक्षविषयस्यापि वस्तुनो बलवत्सजातीयप्रसङ्गकृत तदिन्द्रवैनामरणं सामान्यम् ॥’

प्रत्यक्ष दिखाई देती वस्तु का बलवत्तर सजातीय के ज्ञान के कारण उससे भिन्न रूप से ज्ञान न होना सामान्य कहलाता है।’

विश्वेश्वर = स्वगुणमजातीय गुणप्रयैकरूप्यं तु सामान्यम्। अपने गुणों के समान गुण वाले के साथ पररूपता सामान्य कहलाती है।

मौलिक और सामान्य का अन्तर मुख्यतः प्रस्तुत के स्वरूप के बोध पर निर्भर है। मौलिक में वह अप्रस्तुत के स्वरूप के रूप में ही भासित होता है जब कि सामान्य में स्वरूप में ही। मौलिक में प्रस्तुत के स्वरूप का बोध न होने का अभिप्राय विमर्शनीकार के अनुसार प्रस्तुत के विशिष्ट रूप का बोध न होना है। सामान्य रूप में तो उसके स्वरूप का बोध होता ही है। रुद्रट के विवेचन से यह तथ्य बहुत ही स्पष्ट है। रत्नाकरकार, अप्ययदीक्षित, पण्डितराज और विश्वेश्वर पण्डित के लम्बे लम्बे विमर्शों का तात्पर्य केवल इतना ही है।

यहाँ चक्रवर्ती की सामान्यकारिका इस प्रकार है—

‘प्रस्तुतस्यान्यतादात्म्यं सामान्यं गुणसाम्यतः ।

गुणसाम्य के आधार पर प्रस्तुत का अप्रस्तुततादात्म्य सामान्य कहलाता है ।

[ सर्वस्व ]

[ सू० ७३ ] स्वगुणत्यागादत्युत्कृष्टगुणस्वीकारस्तद्गुणः ।

यत्र परिमितगुणस्य वस्तुतः समीपवर्तिप्रकृष्टवस्तुगुणस्य स्वीकरणं स तद्गुणः । तस्योत्कृष्टगुणस्य गुणा अस्मिन्निति कृत्वा । न चेदं मीलितम् । तत्र द्वि प्रकृतं वस्तु वस्त्वन्तरेणाच्छादितत्वेन प्रतीयते । इह त्वनपह्लुतस्वरूपमेव प्रकृतं वस्तु वस्त्वन्तरगुणोपरक्ततया प्रतीयत इत्यस्त्यनयोर्भेदः ।

यथा —

‘विभिन्नवर्णा गरुडाग्रजेन सूर्यस्य रथ्याः परितः स्फुरन्त्याः ।

रत्नैः पुनर्न्यत्र रुचा रुचं स्वामानिन्धियरे वंशकरीरनीलैः ॥’

अत्र रविरथाश्वानामरुणवर्णस्वीकारः, तस्यापि गारुत्मतमणिप्रभास्वीकार इति तद्गुणत्वम् ।

[ सूत्र ७३ ] अपने गुण के त्याग से अत्युत्कृष्ट वस्तु के गुण का स्वीकार तद्गुण [ नामक अलंकार कहलाता है ] ॥

[ सू० ] ‘जिस [ अलंकार ] में न्यून गुण वाली वस्तु समीपस्थ उत्कृष्ट गुण वाली वस्तु के गुण अपनाए वह तद्गुण कहलाता है, ‘तद् वानी उस उत्कृष्ट के गुण हैं इसमें’—इस व्युत्पत्ति के आधार पर । यह मीलित नहीं है । वहाँ प्रकृत वस्तु अन्य = अप्रकृत वस्तु के द्वारा ढंकी हुई प्रतीत होती है, यहाँ उसके विपरीत प्रकृत का स्वरूप प्रकृत ही रहता है । केवल वह अन्य वस्तु के गुणों से रंगी भर प्रतीत होती है । इस प्रकार इन दोनों में महान् भेद है । उदाहरण, यथा—

‘जिस [ गिरनार पर्वत ] पर अरुण की ललोंई से अन्य वर्ण के हुए सूर्यास्त्र बाँस की पीर के समान दूरे कचच रत्नों द्वारा चारों ओर बिखरती प्रभा से पुनः अपने [ दूरे ] वर्ण को प्राप्त करा दिए गए थे [ माघकान्व ] ।

यहाँ सूर्य के अश्व पहले अरुण का वर्ण स्वीकार करते हैं और वह [ अरुण ] भी गारुत्मत [ मरकत ] मणि की प्रभा स्वीकार करता है । इसलिए यहाँ तद्गुण हुआ ॥’

विमर्शिनी

स्वगुणेत्यादि । परिमितेति । स्वीक्रियमाणस्य गुणस्याभावात् । तत्संभवादेव चान्यस्य प्रकृष्टगुणत्वम् । समीपवर्तित्वेन गुणग्रहणे योग्यत्वमुक्तम् । अस्मिन्निति । परिमितगुणे प्रकृते । अतश्च नैतत्संज्ञामात्रम् । ननु च प्रकृष्टगुणेन परिमितगुणस्य तिरोधानाम्मीलितमेवायं किं न भवतीत्याशङ्कयाह — न चेत्यादि । आच्छादितत्वेनेति । अपह्लुतस्वरूपत्वेनेत्यर्थः । उपरक्तयेति । विशिष्टत्वेनेत्यर्थः । तस्येति । अरुणवर्णस्य । अपिः समुच्चये । यथा वा—

'इन्द्रुद्यध्वनमिन्दुवधत्रा चैशस्तयेरथादिसहापसंपत् ।  
यद्युध शृङ्गारमय स मन्ये संतापकराये हरयद्वियोगात् ॥'

अत्र हरयद्वियुगस्य संतापकरवक्ष्य रयीकारः ॥

हरयुग हरयादि । परिमित०—जिस गुण को बरनाया जा रहा है उसका अपना नाम वस्तु में अभाव होने से । और उसी के सम्भाव से अन्य वस्तु भी प्रकृत गुणवाली हुई । समीप वर्त्ती करके गुण अपनाने की योग्यता बनलाई ।

अस्मिन् = एतन्ने = परिमित = न्यून गुण वाली वस्तु में । इस कारण यह देवक सहायक नहीं है । प्रकृत गुणवाली वस्तु से न्यून गुण वाली वस्तु का तिरोधान होने से यह मौल्य ही क्यों नहीं माना जाना—[ जैसा कि सरस्वती कण्ठाभरण में महाराज भोज ने माना है ] ऐसी शका उठाकर कहते हैं—न च शयादि । आच्छादितरवेन आच्छादितरूप से जो कि अपहृति का स्वरूप है । उपरच्छनया = रगे हृष्ट रूप में = उससे विशिष्ट रूप में । तस्य उन्मका = अहण का ।

अपि = मो यहाँ समुच्चय अर्थ में है । दूसरा उदाहरण यह है—

हे काम । चन्द्रोदय, चन्द्रज, चन्द्रमुखी, रैत्र शयादि तुम्हारी सहायक सामग्री है और तुम्हारा स्वयं का शरीर शृङ्गारमय है । ऐसे तुम जो स्ताप पहुँचाते हो वह कदाचिद् शिव की नेत्राग्नि के संपर्क से । [ रत्नाकरकार द्वारा तद्गुण के लिए उद्धृत ] ॥

यहाँ शिवनेत्राग्नि का संतापकररूपी गुण अपनाया गया ॥

विमर्श—इतिहास—

पहले कहा जा चुका है कि तद्गुण के प्रवर्धन के रूप में रुद्र ने जिस अभिव्यक्ति का संग्रह किया था उसे मम्मट ने सामान्य नाम दिया है । रुद्र ने तद्गुण का जो दूसरा भेद खोजा था उसे मम्मट आदि ने तद्गुण नाम से ही अपनाया । दूसरा भेद यह है—

'असमानगुण दस्मिन्ननिबद्धगुणेन वस्तुना वस्तु ।

संघर्षे तद्गुणतां धत्तेऽन्यस्तद्गुण' स इति ॥' १।०४ ॥

—जिस [ अलंकार ] में असमान गुण वाली वस्तु अधिकगुण वाली वस्तु से मिलकर उसी का गुण अपना ले वह दूसरा तद्गुण कहलाता है । उदाहरण—

'कुञ्जकमालापि कृता कातंस्वरभास्वरे स्वया कण्ठे ।

एतत्तमानुलिता चम्पकदामध्रम कुरुते ॥ १।२५ ॥

—प्रिये ! तूने सोने से चमकीले गले में जो माला पहनी है वह कुञ्जक माला होने पर भी उस [ गले ] की प्रभा से लिस होकर चम्पक माला का भ्रम करा रही है ।

उदाहरण से स्पष्ट है कि रुद्र का तद्गुणसम्बन्धी सरकार बहुत ही स्पष्ट और पूर्ण है ।

मम्मट = 'स्वमुत्सृज्य गुणं योगादस्युज्ज्वलगुणस्य यत् ।

वस्तु तद्गुणतामेति मण्यते स तु तद्गुण ॥

अधिक उज्ज्वल गुण वाले पदार्थ के संपर्क से जहाँ कोई वस्तु अपना गुण छोड़कर उसी के गुण से युक्त हो जाती है उसे तद्गुण कहते हैं । उदाहरण—'विमिन्नवर्णाः०' पद्य ही । इस उदाहरण में गुणों के त्याग और परिग्रह की घटना दो बार आई है जब कि रुद्र के उदाहरण में केवल एक बार । किन्तु रुद्र के पद्य में शुद्ध तद्गुण है । मम्मट द्वारा उद्धृत पद्य में गिरिनार की ऊँचाई अतिशयोक्ति लिए है । सर्वस्वकार का इस पद्य की समिति में रत्नों को गारुमतमणि के समान बतलाना असंगत है । गारुमत मणि का वर्ण लाल माना जाता है, हरा नहीं । बॉस की पीर और सूर्य के अश्व हरे रंग के लिए ही प्रसिद्ध हैं । सूर्य को हरिदत्त्व, श्वेत्त्व कहा जाता है । भले ही

यहाँ हरे का अर्थ नीला हो जैसा कि संस्कृत कवियों में देखा जाता है, परन्तु लाल नहीं हो सकता । संजीविनीकार ने भी गारुत्मत के स्थान पर मरकत पाठ माना है ।

रत्नाकरकार ने न केवल रंग के दो, अन्य गुणों के सर्वस्वकार में भी तद्गुण माना है । यह वनकी व्यापक दृष्टि का प्रमाण है । उनका लक्षण है—

‘अन्यधर्मस्वीकारस्तद्गुणः ॥ ९७ ॥

अन्य के धर्म का स्वीकार करना तद्गुण ॥’ उनसे स्पष्ट किया है कि यह तमी संभव है जब अपने गुण का त्याग किया जाए, अन्यथा दोनों के विरोधी गुणों में विरोध उत्पन्न होगा । इस प्रकार स्वगुणत्याग को लक्षण में स्थान न देने से भी रत्नाकरकार का वैदग्ध्य व्यक्त है । उदाहरण के रूप में उन्होंने ‘विभिन्नवर्णाः’ से ही मिलता माघ का ही ४२६ पद्य भी उद्धृत किया है यद्यपि उसमें पदार्थनिदर्शना प्रबल है, और विमर्शिनी में गृहीत ‘इन्दूदय’ पद्य भी ।

अप्यदीक्षित

‘तद्गुणः स्वगुणत्यागादभ्यदीयगुणग्रहः ।

पधरापायते नासामौक्तिकं तेष्वरत्विषा ॥’

अपने गुण का त्याग कर अन्य के गुण का ग्रहण तद्गुण कहलाता है । यथा— तुम्हारे अधर की कान्ति से नाक का मोती पधराग का कार्य कर रहा है ।

पण्डितराज = ‘स्वगुणत्यागपूर्वकं स्वसन्निहितवत्स्वन्तरसम्बन्धिगुणग्रहणं तद्गुणः ॥’

अपना गुण त्याग कर अपने पास के किसी अन्य पदार्थ के गुणों का ग्रहण तद्गुण कहलाता है ।

विश्वेश्वर = ‘परकीयगुणतिरोहितगुणस्य भानं तु तद्गुणः प्रोक्तः ॥

अन्य के गुणों से छिपे गुणों वाले पदार्थ का ज्ञान तद्गुण कहा गया है । उदाहरण के रूप में एक रंग से दूसरे रंग के रंजित होने की घटना से युक्त पद्य तो विश्वेश्वर ने दिया ही है, इसके अतिरिक्त रत्नाकरकार द्वारा अन्यगुणों के ग्रहण करने का उदाहरण भी उन्होंने दिया है ।

चक्रवर्ती की निष्कृष्टार्थकारिका यह है—

—‘तद्गुणः स्वगुण त्यागादुत्कृष्टस्य गुणग्रहः ॥’

[ सर्वस्व ]

[ सू० ७४ ] सति हेतौ तद्गुणाननुहारोऽतद्गुणः ।

तद्गुणप्रस्तावात्तद्विपर्ययरूपोऽतद्गुण उच्यते । इह न्यूनगुणस्य विशिष्टगुणपदार्थधर्मस्वीकारः प्रत्यासत्त्या न्याय्यः । यदा पुनरुत्कृष्टगुणपदार्थसन्निधानाल्ये हेतौ सत्यपि तद्रूपस्योत्कृष्टगुणस्याननुहरणं न्यूनगुणेनाननुवर्तनं भवति सोऽतद्गुणः । तस्योत्कृष्टगुणस्यास्मिन्गुणा न सन्तीति । यद्वा तस्याप्रकृतस्य रूपाननुहारः सत्यनुहरणहेतौ सोऽतद्गुणः । तस्याप्रकृतस्य गुणा नास्मिन् सन्तीति कृत्वा । क्रमेण यथा —

‘धवलौ चि जह वि सुन्दर तह वि तुप मज्झ रंजिअं हि अशं ।

राअभरिए वि हियए सुहअ णिहित्तो ण रत्तो सि ॥’

‘गाङ्गमम्बु सितमम्बु यामुनं कज्जलाभनुभयत्र मज्जतः ।

राजहंस तव सैप शुभ्रता चीयते न च न चापचीयते ॥’

पूर्वप्रातिरक्तहृदयसंपर्कप्रायकर्म्य धवलशब्दवाच्यस्य प्राप्तमपि रक्तत्वं न निष्पन्नमित्यतद्गुणः । उत्तरप्राप्रकृतस्य गाङ्गयामुनजलस्य संपर्केऽपि न तथा रूपमिन्द्रियमप्यतद्गुण एव । [ 'धवलोऽसी'ति यत् तत् तद्गुण एव — ] कार्यकारणभावस्य चात्राविवक्षणात् विशेषोक्त्यलंकाराचकाशः ।

[ सू० ७४ ] कारण विद्यमान रहने पर भी उसके गुण का अनुकरण न होना [ अतद्गुण [ अलंकार कहलाता है ] ॥

[ ६० ] तद्गुण का प्रमंग चल रहा था अतः उसका उलटा अतद्गुण उभो के बाद बतलाया जा रहा है । सामान्यतः कम गुण वाले पदार्थ के द्वारा विद्युत् गुण वाले पदार्थ का संपर्क होने पर उसके धर्म अपनाए ही जाते हैं, किन्तु जब उत्कृष्ट गुण वाले पदार्थ के सन्निधानरूपी हेतु के रहने पर भी उभ [ हेतुरूप उत्कृष्ट गुण वाले पदार्थ ] के उत्कृष्ट गुणों का न्यून गुण वाले पदार्थ के द्वारा अनुकरण नहीं किया जाना तब उससे युक्त उक्ति को अतद्गुण कहा जाता है । यह नाम इसलिए कि इसमें यह व्युत्पत्ति अन्वित्र होती है—'तव उभ = उत्कृष्ट गुण वाले पदार्थ के गुण इस [ न्यूनगुण पदार्थ ] में नहीं हैं ।' इसकी दूरी ध्याख्या यह हो सकती है—'उस अप्रकृत वस्तु के रूप का अनुकरणहेतु विद्यमान रहने पर भी अनुकरण जिसमें हो वह [ प्रकृत पदार्थ ] अतद्गुण ।' इन पक्ष में व्युत्पत्ति होगी 'तव = उस अप्रकृत वस्तु के गुण हममें नहीं हैं [ ऐसी प्रकृत वस्तु ] । दोनों के क्रमशः उदाहरण =

'धवलोऽसि यद्यपि सुन्दर तथापि त्वया मम रचित हृदयम् ।

रागमरितेऽपि हृदये सुमग निहितो न रसोऽसि ॥'

हे सुन्दर ! तुम धवल वर्ण के हो तथापि तुमने मेरा हृदय रक्त [ लाल और अनुरागयुक्त ] कर दिया है । तुम स्वयं मेरे रागपूर्ण हृदय में निहित हो तब भी रक्त नहीं हो ।'

हे त्रिवेगी के राजहंस ! गङ्गा का जल सफेद है यमुना कज्जलाम श्याम ! तुम दोनों में गोला लगाने हो, परन्तु तुम्हारी शुभ्रता बही की बही है, न वह बङ्गी न घटती ।'

[ इन उदाहरणों में ] प्रथम में अत्यन्त रक्त हृदय के संपर्क से धवलशब्द से कथित नायक में रक्तता आनी चाहिए परन्तु वह न आ सकी अतः अतद्गुण हुआ और दूररे में गया यमुना में जल रूपी अप्राकरणिक पदार्थ के संपर्क रहने पर भी उनका सग रूप [ इस में ] नहीं बतलाया गया अतः यह भी अतद्गुण ही हुआ । 'धवलोऽसि'—यह जो कथन है वह तद्गुण—रूप ही है । यहाँ कार्यकारणभाव की विवक्षा नहीं रहती अतः विशेषोक्ति [ और विपमालंकार— ] की प्राप्ति यहाँ समभव नहीं है ॥'

### चिमर्शिनी

सतीत्यादि । तद्विपर्ययेति । तत्र हि प्रथमात्प्रथान्यगुणप्रदणमुक्तम् । इह तु योग्यतायामपि न यद्ग्रहणम् । प्रथामत्थेति । विप्रकृतस्य ह्यन्यगुणस्वीकारानुपपत्तिः । यथा त्वेतन्न भवति तदायमलंकार इत्याह—यदेत्यादि । उत्कृष्टगुणस्योप्यनेन व्यापमान्तरे द्वयोरपि गुणत्वं सूचितम् । एवं च प्राप्तेऽप्यन्यगुणस्वीकारे तद्भावोऽयमलंकारः । यदुक्तम्—'तद्गुणाननुहारश्चेदस्य तस्यादतद्गुणः' इति । अस्मिन्निति । न्यूनगुणे । यद्वेति पश्चान्तरे । अप्रकृतस्येति । अननुहरणीयगुणस्यान्यस्य । तदेवं व्याख्यानद्वयेनास्य प्रकारद्वयं दर्शितम्, अननुहरणावयवस्य सामान्यस्यानुगमात् । अतिरिक्त्वेनाप्युत्कृष्टगुणत्वं हृदयस्य दर्शितम् ।

अयमपीति । समानगुणत्वेनापीत्यर्थः । 'ध्वलोऽसि तत्तद्गुण' एवेति ग्रन्थकदेशस्तु क्वचि-  
ल्लेखकैः कल्पित हृद्युपेक्षय एव पुस्तकान्तरेष्वस्यादृष्टे । न च गाथाव्याख्यानं प्रस्तुतं  
येनात्रालङ्कारान्तरस्यापि व्याख्यानं स्यात् । नाप्यत्र तद्गुणः । तस्य हि स्वगुणस्यागो-  
नाप्यन्यगुणस्वीकारो लक्षणम् । न चात्र स्वगुणस्यागो नाप्यन्यगुणस्वीकारः । तस्य  
ध्वलत्वव्यभिचारात् । किं त्वत्र कारणभावेऽपि कार्योत्पादनादिभावना, न तु विरूप-  
कार्योत्पत्त्या विषमालङ्कारः । सत्र हि कार्यकारणयोर्विरूपत्वेऽप्यवाध्यमानतया प्रतीतिः ।  
इह श्वकस्य वाध्यमानतयेति महाननयोर्भेदः । नन्वत्र सत्यपि कारणतामप्रवेऽन्यगुण-  
नुदाहरणरूपस्य कार्यभ्यानुत्पत्तेः किमयं विशेषोक्तिरेव न भवतीत्याशङ्क्याह—कार्यत्वादि ।  
अविवक्षणादिति । वस्तुतस्तु संभवत्पेव कार्यकारणभावः । अत एवालङ्कारसारकृता विशेष-  
पोक्ष्यन्तर्भाव एवोक्तः । ग्रन्थकृता तु प्राच्यानुरोधालङ्कितः । 'विषमालङ्कार—' इति  
पाठस्तु पुस्तकान्तरेषु स्थितोऽप्यत्रायुक्तः । न हि कार्यकारणभावविषयमात्रेणात्र तत्त्वं  
स्याद्वयेन तत्पेक्षेन तस्यानवकाशः । तस्य हि विरूपस्य कार्यस्यावर्थस्योत्पत्तिश्च लक्षणम् ।

सतीत्यादि । तद्विपर्ययेति—उस तद्गुण का बलया = उसमें सन्निध्य के कारण अन्य के  
गुण का ग्रहण बतलाया गया है, जब कि यहाँ योग्यता रहने पर भी उसके [ अन्य के ] गुण का  
ग्रहण नहीं बतलाया जाता । प्रत्यासत्त्या = सन्निति = जो दूरवर्ती होगा उसके गुण का ग्रहण  
संभव नहीं होगा । 'जब यह [ अन्य के गुण का ग्रहण ] नहीं होना तब यह अलंकार होता है'  
यह बतलाते हैं—अदा० । उत्कृष्टगुणस्य इसकी दूसरी व्याख्या में दोनों का गुणत्व [ अप्रधानत्व  
और केवल गुणों का प्रधानत्व ] बतलाया । इस प्रकार अन्य के गुण का स्वीकार करना प्राप्त  
होने पर भी वेसा न होना यह अलंकार है । जैसा कि [ मग्गट ने ] कहा है—'इस [ प्रस्तुत ] के  
द्वारा उस [ अप्रस्तुत ] के गुण का अनुकरण न हो तो अतद्गुण' । अस्मिन् = इसमें अर्थात्  
न्यूनगुणवाले पदार्थ में । यद्वा = यह अन्य पक्ष उपस्थित करने के लिये कहा । अप्रकृतस्य =  
जिसके गुणों का अनुकरण नहीं करना होता उस अन्य वस्तु का । इस प्रकार दो व्याख्याओं  
द्वारा इस अलंकार के दो भेद दिखलाए । इन दोनों में अननुहरणीयतारूपी गुण समानरूप से  
रहता है । अतिरिक्त बतलाकर हृदय में उत्कृष्टगुणत्व बतलाया । अयमपि = यह भी गुणगत  
समानता के आधार पर भी । 'ध्वलोऽसि यह भी तद्गुण ही है' यह जो अंश है इसे लिपिकारों  
ने कहीं-कहीं जीव दिया है, वह सर्वथा त्याज्य है, क्योंकि अन्य प्रतियों में यह नहीं मिलता ।  
यहाँ इस गाथा की व्याख्या तो की जा नहीं रही कि उसमें अन्य अलंकार भी व्याख्या की जाए ।  
फिर यहाँ तद्गुण है भी नहीं । उसका तो लक्षण 'अपना गुण त्याग कर अन्य के गुण को  
अपनाना' है । और यहाँ न तो अपने गुण का त्याग है और न अन्य के गुण का अपनाना ।  
ऐसा होता तो नायक में ध्वलत्व न रहता । यहाँ तो कारण का अभाव रहने पर भी कार्य की  
उत्पत्ति दिखलाने से विभावना है, न कि विपरीत रूप वाले कार्य की उत्पत्ति [ ध्वल से रक्तत्व की  
उत्पत्ति ] के कारण विषमालङ्कार । उसमें तो कार्य और कारण में रूपगत विपरीतता रहने पर  
भी उन दोनों की प्रतीति अचापित रूप से ही होती रहती है । जबकि यहाँ एक वापित रूप से  
प्रतीत होता है । इस प्रकार इन दोनों [ विषम और विभावना ] में महान् अन्तर है । 'यदि यहाँ  
सारे कारण उपस्थित रहने पर भी अन्य के गुण का अनुकरणरूपी कार्य उत्पन्न नहीं होता तो इसे  
विशेषोक्ति क्यों नहीं मान लिया जाता' ऐसी शंका उठाकर कहते हैं—'कार्य'—इत्यादि ।  
अविवक्षणात् = विवक्षा भर नहीं रहती, वस्तुतः तो कार्यकारणभाव रहता ही है । इसीलिए  
अलंकारसारकार ने इसका विशेषोक्ति में अन्तर्भाव ही दिखलाया है । ग्रन्थकार ने प्राचीन



अलङ्कारिकों [ मम्मट ] के अनुरोध पर हमे अलग दिखलाया है । [ विशेषोक्त्यलङ्कार ] के स्थान पर ] 'त्रिपमालङ्कार' यह पाठ तो, अन्य पुस्तकों में मिलने पर भी यहाँ गलत है । कार्यकारणभाव की विवक्षाभाव से यहाँ विषमालङ्कारत्व नहीं हो सकता जिससे कि उस [ कार्यकारणभाव ] के निषेध से उस [ विषम ] को स्थान न मिले । उसका लक्षण तो 'विपरीत रूप वाले कार्य की और अनर्थ की उत्पत्ति लक्षण है ।'

विमर्श—प्रथ समाप्ति के समीप है अतः कदाचित् टीकाकार भी लक्ष्य हुए हैं और सपादक भी । टीकाकार अतद्गुण की दो व्याख्याओं में भेद बिना दिखलाए आगे बढ़ जाते हैं, और विषमालङ्कार पाठ को प्रौढवाद द्वारा असंगत श्लेष विशेषोक्ति पाठ का समर्थन करने हैं । संपादन में भी यहाँ अनुद्धियों की भरमार है । दोनों प्रकारों का अन्तर पण्डितराज जनन्नाथ ने इस प्रकार बतलाया है—

'अत्र गुणाप्रादिकापेभ्यो सत्रिहितस्य गुणवत्, उत्कृष्टत्व-समस्वाभ्यां द्वैविध्यम्' इति सर्वेश्वरः । तस्यायमाशय अपकृष्ट-सम्भिन्न-गुणाग्रहणस्य साहजिकत्वेन वैचित्र्यानापायकत्वादनलङ्कारते-वेत्यपकृष्टत्वेन तुनौयविधा तु न सम्भवति ।

'गुण ग्रहण न करने वाले पदार्थ की अपेक्षा सत्रिहित पदार्थ में उत्कृष्टता और समता को लेकर अतद्गुण में दो भेद होते हैं । अपकृष्ट के गुण का ग्रहण न करना तो लौकिक तथ्य है अतः उसमें विचित्रता न रहने से वह अलङ्कारत्वगुण्य ही है अतः अपकृष्ट के गुण के अग्रहण में तीसरा प्रकार नहीं माना जा सकता । 'धवलोऽसि'-गाथा में हृदय राग को लेकर उत्कृष्ट है, जब कि 'गाङ्गमधु' पद्य में राजहंस गङ्गाजल को लेकर समान ।

विशेषोक्ति में अतद्गुण के अन्तर्भाव का जो कथन विमर्शनीकार ने उपस्थित किया है । उनके पूर्व रत्नाकरकार ने उसी को सिद्धान्त माना था । उन्होंने लिखा था—

'हेतौ सत्यपि नान्वयस्य गुणानुहरणं यदि ।

विशेषोक्तिरसाविष्टा न वाच्योऽपि ह्यतद्गुणः ॥ [ तद्गुणान्त ]

हेतु के रहने पर भी यदि अन्य के गुण का अनुहरण नहीं रहता तो यह विशेषोक्ति होगी । अतः [सामान्य के समान] अतद्गुण को भी अलङ्कार नहीं मानना चाहिए । रत्नाकरकार ने अतद्गुण का कोई लक्षण नहीं भी किया । पण्डितराज ने भी हमे विशेषोक्ति में अन्तर्भूत मानने की शक्यता का दूरगामी समर्थन कर दिया है । यह विकल्प विश्वेश्वर की पुराणप्रथा से भी टकराया है ।

विमर्शनीकार ने यहाँ विभावना की पुरजोर पहल की है । मैं तो विशेषोक्ति की पहल भी की जा सकती है, क्योंकि ये दोनों अलङ्कार एक दूसरे के द्वारा व्यर्थ होने हैं । जहाँ विभावना वाच्य होती है वहाँ विशेषोक्ति व्यर्थ्य होती है और जहाँ वह वाच्य होती है वहाँ विभावना । विमर्शनीकार ने यहाँ विषमालङ्कार की भी चर्चा की है और अन्ततः यह कहा है कि हमके स्थान पर विशेषोक्ति पाठ होना चाहिए । समीक्षनीकार ने भी विशेषोक्ति ही पाठ माना है । वस्तुन विशेषोक्ति पाठ ही उचित है, क्योंकि यह समग्र अतद्गुण के लिए उठाई गई आपत्ति है अतः अधिक व्यापक और आवश्यक है । विषमालङ्कार का प्रश्न केवल 'धवलोऽसि' पद्य के पूर्वार्धगत सीमित है । हममें कारण धवल है और कार्य रक्त अतः 'सद्यःकरस्पर्श' के समान विषम हा है । यद्यपि इसके स्पष्टन के लिए विमर्शनीकार ने जो तर्क दिया है वह अपुष्ट है । विषम के समर्थन में यह कहा जा सकता है कि केवल कार्यगत गुणविपरीतता से ही विषमत्व निष्पन्न नहीं हो जाता उसके कार्यकारणभाव की भी विवक्षा अपेक्षित है जो इस पूर्वार्ध में नहीं है । वस्तुतः

विषम का यह विचार यहाँ अनावश्यक है क्योंकि इसका संबन्ध पूर्वार्ध से है, उत्तरार्ध से नहीं, जब कि यहाँ अतद्गुण के लिए 'धवलोऽसि' गाथा का उत्तरार्ध ही उदाहरण माना गया है। मम्मट ने भी इसके उत्तरार्ध को ही उदाहरण माना है।

इतिहास—अतद्गुण की कल्पना मम्मट ने ही की है। उनका लक्षण विमर्शनीकार ने दे दिया है और उदाहरण सर्वस्वकार ने ही उद्धृत कर दिए हैं। रत्नाकरकार का मत दिया ही जा चुका है।

अप्यदीक्षित—'संगतान्यगुणानङ्गीकारमाहुरतद्गुणम्।

चिरं रागिणि मञ्चिते निहितोऽपि न रञ्जति ॥'

अन्य सम्बन्ध के गुण का अङ्गीकार न करने को अतद्गुण कहा है। उदाहरण, मेरे रागपूर्ण चित्त में चिरकाल तक निहित रहकर भी तुम रक्त नहीं हुए।' अप्यदीक्षित ने भी दवे स्वर में अतद्गुण को विशेषोक्ति रूप मान लिया है।

पण्डितराज—स्वगुणत्यागपूर्वकं त्वसन्निहितवस्त्वन्तरसम्बन्धिगुणग्रहणं तद्गुणः, तद्विपर्ययो—  
ऽतद्गुणः । = 'तद्गुण का उल्टा अतद्गुण।' इस प्रकार अतद्गुण का लक्षण कर इसे विशेषोक्ति में अन्तर्भूत मानने की संभावना पर विचार करते हैं और कोई समर्थक समाधान नहीं दे पाते। उनका कहना है कि अतद्गुण में भी कार्यकारणभाव की विवक्षा रहती है इसका प्रमाण है इसके लक्षण में 'अपि = भी' शब्द, जो विरोध का शायक है। बिना कार्यकारणभाव के विरोध संभव नहीं।

विश्वेश्वर = 'अन्यगुणासम्बन्धे प्रकृतस्यातद्गुणः प्रोक्तः।'

अन्य के गुण का प्रकृत के साथ सम्बन्ध न बतलाने में अतद्गुण होता है। इसी को वे शक्ति के रूप में इस प्रकार कहते हैं—'स्वनिष्ठगुणस्यान्यगुणनिष्ठप्रतिबन्धकतानिरूपितप्रतिपथ्यता—  
नाशयत्वेऽतद्गुणः।'

विश्वेश्वर पण्डितराज के उक्त तर्कों का समाधान इस प्रकार देते हैं—कारणसत्त्वे कार्यानु-  
त्पत्तिसाम्येऽपि यथाभावप्रतियोगितावच्छेदकस्य तद्धर्मावच्छिन्न-कारणतावच्छेदक-प्रतियोगि-  
कार्यतावच्छेदकत्वं विवक्षितं तत्र विशेषोक्तिः, यत्र त्वभावप्रतियोगिनस्तन्निष्कारणतानिरूपित-  
कार्यताशालित्वं तत्रातद्गुण इति विभागात्।'

सकवर्त्ती की निष्कृष्टार्थकारिका अतद्गुण पर इस प्रकार है—

'तद्द्रूपाननुशारस्तु हेतौ सत्यप्यतद्गुणः।'

पाठान्तर—'धवलोऽसीति तत्तद्गुण एव' इस पंक्ति को विमर्शनीकार प्रक्षिप्त मानते हैं। संजीविनीकार इसे 'धवलोऽसीत्यतद्गुणः' इस रूप में पढ़ते हैं। वस्तुतः यह अनावश्यक ही है। इस पर संजीविनीकार के तर्क मान्य हैं।

[ सर्वस्व ]

[ सू० ७५ ] उत्तरात् प्रश्नोन्नयनमसकृदसंभाव्यमुत्तरं चोत्तरम् ।

यत्रानुपनिबध्यमानोऽपि प्रश्न उपनिबध्यामानाहुत्तराद्दुर्नीयते, तदे-  
कमुत्तरम् । न चेदमनुमानम् । पक्षधर्मतादेरनुद्देशात् । यत्र च प्रश्न-  
पूर्वकमसंभावनीयमुत्तरं, तत्र न सकृत् तावन्मात्रेण चारत्वाप्रतीतिः । अत-

ध्यासकृत्रियग्धे द्वितीयमुत्तरम् । न चेयं परिसंख्या व्यवच्छेद्यव्यवच्छेदक-  
परत्वाभावात् । क्रमेण यथा—

‘एकाकिनी यदयला तरुणी तथाह  
मस्मद्गृहे गृहपतिश्च गतो विदेशम् ।  
कं याचसे तदिह वासमियं वराकी  
श्वश्रुर्ममान्धयविरा ननु मूढ पान्थ ॥’

‘का विसमा देवगई किं लज्ज जं जणो गुणग्गाही ।  
किं सोख्खं सुकलत्तं किं दुक्खं जं खलो लोको ।’

पूर्वत्र मम वासो दीयतामिति प्रश्न उत्तरादुन्नीयते । उत्तरत्र दैव-  
गत्यादिनिगूढत्वादसंभाव्यमसकृत्प्रश्नपूर्वकमुत्तरं निश्चयम् ।

[ सूत्र ७५ ] उत्तर से प्रश्न की कल्पना तथा असंभाव्य अनेक उत्तर उत्तर [ नामक  
अलङ्कार कहलाते हैं ] ॥

[ वृत्ति ] जिस [ प्रकार ] में प्रश्न कहा तो नहीं जाता परन्तु कहे गए उत्तर ने उसकी  
कल्पना कर ली जाती है वह एक प्रकार का उत्तरालंकार हुआ । यह अनुमान नहीं होता क्योंकि  
इसमें [ अनुमान के लिए अपेक्षित ] पद्यधर्मता आदि [ अनुमानमामग्री ] नहीं रहती ।  
इसी प्रकार प्रश्न करते हुए उसका असंभाव्य उत्तर दिया जाता है, किन्तु केवल एक बार नहीं,  
क्योंकि उनसे से धारता निश्चय नहीं होती, अतः अनेक बार वैसा किया जाता है तो वह उत्तरा-  
लंकार का दूसरा प्रकार होता है । यह परिसंख्या नहीं हो सकती, क्योंकि यहाँ व्यवच्छेद्यव्यवच्छेदक  
भाव में तात्पर्य नहीं रहता । क्रम से उदाहरण, यथा—[ प्रश्न से उत्तर की कल्पना ]

‘मैं घर में अडेली हूँ, अबला हूँ और नहीं उमर की हूँ । परवाला विदेश चला गया है ।  
यह विचारी सास अन्धी और बहरी है । अतः निवास की याचना किससे कर रहे हो । पथिक तुम  
बड़े नासमझ हो ।’

‘का विषमा दैवगतिः किं लभ्य यज्जनो गुणप्राहो ।

किं सोख्यं सुकलत्रं किं दु खं यत् खलो लोक’ ॥

— ‘विषम क्या है, दैवगति, प्राप्त करने योग्य वस्तु क्या है, गुणप्राही जन; सोख्य क्या है,  
शोभन पत्नी, दु ख क्या है, खल लोग ।’

इसमें से प्रथम में ‘मुझे रहने का स्थान दो’ यह प्रश्न उत्तरवाच्य से निकलता है । दूसरे  
में दैवगति आदि उत्तर, जो निगूढ होने के कारण असंभाव्य है, प्रश्नपूर्वक अनेक बार उपनिबद्ध  
किया गया है ॥’

### विमर्शिनी

उत्तरादिर्यादि । उन्नीयत इति । प्रश्नरूपत्वेन संभाव्यत इत्यर्थः । ननु चाप्रतीतरय  
प्रत्यायनारिकमिदमनुमान न भवतीत्याशङ्क्याह—न चेदमित्यादि । असंभावनीयमिति ।  
कविप्रतिमान्चित्तमित्यर्थः । तदिति । प्रश्नपूर्वकमुत्तरम् । एवं प्रश्नस्याप्यमकृदेवोप-  
निबन्धो न्यायः । अतश्चेति । सकृदुत्तरस्य चास्त्वप्रतीतेः । एवं समानन्यायत्वात्पूर्वत्रा-  
प्यनुपनिबध्यमानप्रश्नागूरकमुत्तरं न सकृत्, तावन्मात्रेण चास्त्वप्रतीतेरित्याश्रय-  
णीयम् । ननु च प्रश्नोत्तररूपत्वादिधं परिसंख्यैव किं न भवतीत्याशङ्क्याह—न चेय-  
मित्यादि ।

एतच्चोत्तरायमलंकारद्वयम् । न पुनरेकः, सामान्यलक्षणयोगात् । एतच्चोदाहरण-  
द्वयं ग्रन्थकृता प्राग्धमतानुरोधेन दत्तम् । वस्तुतस्त्वत्र नास्त्येतदलंकारद्वयम् । अतः पूर्वैता-  
वतालंकारसारकारादिभिरेतदलंकारद्वयमपास्तम् । न च तद्युक्तम्, लक्षणदोषाभावात् ।  
उदाहरणान्तरेष्वस्य प्रतिष्ठानात् । तत्तु यथा—

'भिन्नो कन्था श्लया किं ननु शकरवधे जालिकैपारिस मरस्यान्  
मध्येमथाचदर्शं पिवसि मधु समं वेश्यया यासि वेश्याम् ।  
हृत्वारीर्निक्रि करिष्ये कति तव रिपवः संधिभेतास्मि येषां  
चोरस्त्वं द्यूतहेतोः कथमसि कितवो येन भिन्नमस्ते ॥'

अत्र हि शकरवन्धजालिकैपैःयुत्तरान्मरस्यादनरूपस्य प्रश्नस्योजयनम् । एवमन्यदपि  
त्रैयम् । 'येन दासीसुतोऽस्मि' इति पुनः पाठो ग्राह्यः । दासीसुतत्वे कितवस्य निमित्तत्वा-  
भावात् । प्रश्नोत्तरोन्नयनस्यासमाप्तेः साकाङ्क्षाद्वाद्वाक्यार्थस्याविभ्रान्तेः । द्वितीयो यथा—

'पुंसः संयोधनं किं विदधति करिणां के वचोऽग्नेभिषक्किं  
का शून्या ते रिपूणां नरवर नरकं कोऽवधीःक्रीडनं किम् ।  
के वा वपांसु न स्युस्तृणमिव हरिणा किं नखाग्रैर्विभिन्नं  
चिन्ध्याद्गौ पर्यटन्को विधटयति तनूर्नर्मदावारिपूरः ॥'

'नर्मदावारिपूरः' इति सभङ्गासभङ्गत्वेन त्रिरुत्तरम् । अत्र च यथोक्तमनुमानपरिसंख्या-  
वैलक्षण्यं सुस्पष्टमेवेति ग्रन्थविस्तरमयाज्ञोक्तमिति ॥

उत्तरात् इत्यादि । उद्धीयते = कल्पना = प्रश्नरूप से संभावित किया जाता है । 'अज्ञात  
का ज्ञान कराने से यह अनुमान क्यों नहीं मान लिया जाता?—ऐसी शंका उठाकर कहते हैं—  
'नचेदम्' इत्यादि । असंभवनीयम् = असंभाव्य = कविप्रतिभाप्रसूत । तत्त्व = वह = प्रश्नपूर्वक  
उत्तर । इस प्रकार प्रश्न भी अनेक बार उपस्थित करने होंगे । अतश्च = एक बार उत्तर में  
वाक्यता की प्रतीति न होने से । इसी प्रकार प्रथम प्रकार में भी जिसमें अनुपनिबद्ध प्रश्न की  
कल्पना रहती है, यह मान लेना चाहिए कि उत्तर एक ही बार नहीं होना चाहिए, क्योंकि वहाँ  
भी इतने भर से चारुता की प्रतीति नहीं होती । [ यह विमर्शिनोकार का अपना प्रौढिवाद है,  
मन्मट आदि ऐसा नहीं मानते, न तो स्वयं सर्वस्वकार की ही वैसी कोई मान्यता है ] । यहाँ  
'प्रश्न और उत्तर रहते हैं अतः इसे परिसंख्या क्यों नहीं मान लिया जाता? ऐसी शंका उठाकर  
कहते हैं—न चेयम् ० ।

उत्तरनामक ये दो अलंकार हैं, एक नहीं, क्योंकि इनमें कोई सामान्य लक्षण नहीं बनता ।  
ये जो दो उदाहरण ग्रन्थकार ने दिए हैं वे भी प्राचीन आचार्यों के अनुरोध से दिए हैं । वस्तुतः  
इनमें ये दोनों उत्तर अलंकार नहीं हैं । इसीलिए अलंकारसारकार आदि ने इन दोनों अलंकारों को  
हटा दिया है । किन्तु उनका ऐसा करना ठीक नहीं है क्योंकि एक तो इनके लक्षणों में कोई दोष  
नहीं है दूसरे अन्य उदाहरणों में ये स्पष्ट प्रतिष्ठित मिलते हैं । अन्य उदाहरण, यथा—

भिन्नो ! तुम्हारी कपड़ी चिन्कचिन्का क्यों हो गई ? यह तो मछली मारने का जाल है ।  
हँ, मछली खाते हो ! हाँ हाँ मध के बीच खारे नमकीन के रूप में । मधु भी पीते हो ? हाँ हाँ  
वेद्याओं के साथ । अरे वेद्या के पास भी जाते हो ? शत्रुओं को मारकर और कल्ला ही क्या ?  
कितने है तुम्हारे शत्रु ? वे सब जिनके घर में मैंने सेंप लगाई हैं । तुम चोर भी हो ? जूँ के  
लिए । क्यों जो तुम जुवाड़ी भी हो । इसी से तो भिन्न हूँ । तुम्हें नमस्कार है ।'

यहाँ 'यह मछली मारने का जाल है' इस प्रकार के उचर से 'मछली खाते हो'—इस प्रकार का प्रदन निकलता है। इसी प्रकार आगे भी [ अन्य उचरों से असंभावित प्रदन निकलते हैं ]। यहाँ [ चतुर्थ चरण के अन्त में ] 'येन दासीसुतोऽस्मि' = क्योंकि वेदयापुत्र हूँ [ दासी = वेदया या चेटी ] यह पाठ अपनाना चाहिए, क्योंकि वेदयापुत्रत्व के प्रति जूआढीपने में कारणता नहीं है। साथ ही इस पाठ से प्रदन और उचरकल्पना समासिपर्यन्त बने रहते हैं अतः वाक्यार्थ बैठ नहीं पाता [ अर्थात् 'क्या तेरा बाप भी वेदयागामी था' यह प्रदन इस पाठ से सागना है और वहाँ वाक्य समाप्त हो जाता है फलतः उसका उचर नहीं मिलता ]। दूसरे का उदाहरण, यथा—

प्रदन

उचर

पुरुष का संबोधन क्या है

[ नः = नृशब्द का संबोधन ]

हाथियों की शोभा कौन उत्पन्न करते हैं

[ मदाः = मदजल ]

अग्नि का वैद्य कौन

[ वारि = जल ]

हे नरथेष्ठ आपके शत्रुओं की क्या चीज खाधी है

[ पू = नगरी ]

नरकासुर को किसने मारा था

[ अ = विष्णु ]

क्रीडन क्या है

[ नर्म = हँसी मञ्जक ]

वर्षा में क्या नहीं होते

[ दावाः = दावानल ]

[ नृसिंहावतारी ] विष्णु ने नखामों में तृणवत् किसे फाड़ डाला

[ रिपूः = शत्रु =

दिरप्यकशिपु का वध ]

विन्ध्यादि में घूमता हुआ कौन

अपना शरीर छिन्न भिन्न करता है

[ नर्मदावारिपूरः = नर्मदानी का प्रवाह ]

इसमें 'नर्मदावारिपूर' शब्द ही समझ और अमङ्ग रूप में [ उपर्युक्त क्रम से ] तीन बार उचर बनता है। [ इस पद्य में कुछ विद्वान् 'भिषक्' के स्थान पर 'विष' पाठ मानना चाहते हैं, वृद्धस्य तरुणी विषम्' के समान ] ग्रन्थकार ने अनुमान और परिसंख्या से उचरालंकार का जो भेद बतलाया है वह उक्त स्थलों में भी स्पष्ट ही है। इससे ग्रन्थविरतारभय से पुनः नहीं कह रहे हैं ॥

इतिहास—उचरालंकार को दोनों विधाओं की खोज प्रथमतः रुद्रट ने की है। उनका विवेचन इस प्रकार है—

रुद्रट—'उचरवचनश्रवणादुन्नयन यत्र पूर्ववचनानाम् ।

क्रियते तदुचर स्यात् प्रश्नादप्युचरं यत्र ॥ ७।१३ ॥

जिसमें उचर सुन कर प्रदन की कल्पना की जाए, वह अलंकार उचर नाम से पुकारा जाता है इसी प्रकार जिसमें प्रश्न से उचर निकलता है वह भी ॥

'एकाकिनी यदवला०' पद्य में रुद्रट ने मावालंकार माना है। उचर के लिए उन्होंने निम्नलिखित उदाहरण दिए हैं—

प्रथम का उदाहरण = 'भण मानमन्यथा में भ्रुकृति मौनं विधातुमहमसहा ।

शुक्नोमि तस्य पुरतः सखि न खड्ग पराङ्मुखीमवितुम्' ॥

सखि ! मुझे मान का उपदेश दे। वैसे तो मैं भी को मौन रखने में असमर्थ हूँ। सखि ! मैं उसके सामने पराङ्मुख हो नहीं पाती हूँ ॥'

द्वितीय का उदाहरण = 'किं स्वर्गादधिकसुर बन्धुसुहृदपण्डिते समं लक्ष्मी ।

सौराज्यमदुमिश्र सत्कान्यरसाभृतास्वाद.' ॥

स्वर्ग से अधिक मुख की वस्तु क्या है ? बन्धुबान्धव, मित्र तथा पण्डितों के साथ साथ धन, दुर्मिश्ररहित सौराज्य क्या है ? उत्तम काव्य के रसरूपी अमृत का आस्वाद ।।'

रुद्र ने द्वितीय उदाहरण में उत्तरगत असंभाव्यता को स्थान नहीं दिया था, साथ ही प्रदनगत अनेकता को भी । मम्मट ने असंभाव्यता को स्थान दिया है—

- [ १ ] 'उत्तरश्रुतिमात्रतः, प्रश्नस्योक्तयनं यत्र क्रियते,  
[ २ ] तत्र वा सति, असकृद् यदसंभाव्यमुत्तरं स्याद् तदुत्तरम् ।  
[ ३ ] केवल उत्तर सुनकर जहाँ प्रश्न की कल्पना की जाए,

[ २ ] अथवा प्रश्न रहे परन्तु उसके अनेक असंभाव्य उत्तर प्रस्तुत किए जाएं तो वह अलंकार उत्तर कहलाता है । प्रथम का जो उदाहरण मम्मट ने दिया है 'वाणिजक हस्तिदन्ताः०' उसकी अभिव्यक्ति रुद्र के प्रथम उदाहरण से गतार्थ है । द्वितीय के उत्तर में अन्तर है । इसके लिए रुद्र के उदाहरण में प्रश्न केवल एक ही बार आया था । मम्मट ने इसका ऐसा उदाहरण दिया जिसमें प्रश्न भी अनेक बार आता है यद्यपि उन्होंने प्रश्नगत अनेकता को कारिका में ठीक वैसे ही स्थान नहीं दिया है जैसे उनके अनुयायी सर्वस्वकार ने । इस द्वितीय उत्तर के लिए मम्मट का उदाहरण 'का विपमा०' ही है । विमर्शिनीकार ने इस उदाहरण को रुद्र के उदाहरण से तुलना करके ही कहा कि यह पक्ष प्रस्तुत किया है कि द्वितीय उत्तर में प्रश्न भी अनेक होने चाहिए । यद्यपि विमर्शिनीकार की यह कल्पना अधिक उत्तम नहीं है कि उत्तर के प्रथम प्रकार में भी प्रश्न की कल्पना कराने वाला उत्तर एक ही नहीं होना चाहिए । यह मान्यता उनके अपने उदाहरण [ भिषो कन्याः ] के लिए ही उपयुक्त है, जो अवश्यमेव आदरणीय है ।

रत्नाकरकार—'विमर्शिनी के अनुसार अलंकारसारकार ने उत्तरालंकार को अलंकार नहीं माना है । अलंकाररत्नाकरकार भी इसे अलंकार नहीं मानते । नियमनामक एक स्वतन्त्र अलंकार परिसंख्या के प्रकरण में मानकर उन्होंने उत्तरालंकार को उसी में अन्तर्भूत बतलाया है । परिसंख्याप्रकरण में नियम के विषय में बतलाया जा चुका है कि इसमें किसी भी वस्तु का निर्धारणात्मक शापन रहता है । 'व्रीहीनवइन्ति' = धान कूटता है, में अन्य प्रकार से चावल निकालने का निराकरण कर केवल 'कूटने' के द्वारा ही चावल निकालने का निर्धारण करना है । रत्नाकरकार 'का विपमा देवगतिः'—पद्य में देवगतिगतत्वेन विषमत्व का निर्धारण मानते हैं और उत्तरालंकार के स्थान पर नियमालंकार को ही मान लेना पर्याप्त बतलाते हैं । मम्मट द्वारा प्रदत्त 'वाणिजक हस्ति०' पद्य में वे अलंकारत्व ही नहीं मानते । अलंकाररत्नाकार में उनका कहना है—

अवश्यवाच्ये नियमे प्रश्नपूर्वकमुत्तरम् ।  
अन्तर्भूतमतो ह्यन्यद् वक्तव्यं न तदुरम् ॥  
शातशापनरूपा या परिसंख्येति तत्र न ।  
प्रश्नपूर्वकता युक्ता तेनात्र नियमः स्फुटः ॥'

जब नियमालंकार को मानना आवश्यक है तब उत्तर को पृथक् अलंकार नहीं कहना चाहिए । प्रश्नपूर्वक उत्तर का अन्तर्भाव इसी में हो जाता है । नियम को परिसंख्या से अलग मानना इस लिए आवश्यक है कि परिसंख्या का जो शातशापन रूप है उसमें प्रश्न का कथन अनिवार्य नहीं रहता ।

जो आचार्य प्रश्नपूर्वक परिसंख्या को परिसंख्या ही मानते हैं नियम नहीं उनके मत में इसका अन्तर्भाव परिसंख्या में बतलाया जा सकता है । सर्वस्वकार का उत्तर है कि परिसंख्या में तास्पर्य अन्यव्यपोह में रहता है और प्रश्नपूर्वक उत्तर में अन्यव्यपोह नहीं रहता । नियम में

भी अन्यव्यपोह नहीं रहता । नियम में भी अन्यव्यपोह आवश्यक होता है यद्यपि इसमें तात्पर्य केवल अन्यव्यपोह में ही नहीं रहता, अतः सर्वस्वकार के अनुसार नियम में भी उत्तर का अन्तर्भाव नहीं माना जा सकता । विमर्शिनीकार ने नए उदाहरण देकर इस प्रकार की शंकाओं का कोई स्थान नहीं रहने दिया ।

अप्ययदोषित—विमर्शिनीकार की नवीन स्थापना का प्रभाव परवर्ती आचार्यों पर पड़ा । अप्ययदोषित ने उन दोनों भेदों को अपना लिया किन्तु रुद्रट और मम्मट द्वारा प्रतिपादित उत्तर से प्रश्न की कल्पना के प्रथम भेद को वे छोड़ नहीं सके जबकि विमर्शिनीकार ने रत्नाकरकार और अलंकारसारकार के ही समान उसके मोह का सवरण कर लिया था । अप्ययदोषित का उत्तरालंकारनिरूपण इस प्रकार है—

[ १ ] 'किञ्चिदाकृतसहित स्यादगूढोत्तरमुत्तरम् ।

यत्रासौ वेनसी पान्य तत्रासौ सुनरा सरित् ॥'

'किसी अभिप्राय को छिपाकर या किसी गूढ उत्तर को उत्तरालंकार कहते हैं । उदा० पान्य ! नदी मुखपूर्वक वहाँ पार की जा सकती है जहाँ वेतसीकुंज है । स्वच्छन्दतापूर्वक रमणस्थल को मन में रखकर यह उत्तर दिया गया है । इससे पान्य का प्रश्न भी निकल आता है । विमर्शिनीकार ने 'मिश्रो कन्या०' पद्य द्वारा उत्तर से प्रश्न की उत्पत्ति और उसी की शृंखला का पक्ष प्रस्तुत किया था वही सन्दर्भ में अप्ययदोषित ने एक मनोरम पद्य भी यहाँ उद्धृत किया—

'कुशल तस्या ? जीवति, कुशलं पृच्छामि, जीवतीत्युक्तम् ।

पुनरपि तदेव कथयसि, मृतां नु कथयामि या यसिति ॥'

ईश्यां मान से सतप्त नायिका को अपने पास आई दूती और नायक के बीच प्रश्नोत्तर—'बहुं कुशल तो है ? जीवति है । मैं कुशल पृष्ठ रहा हूँ ? कहा तो कि जीवति है । फिर वही कह रही है ? तो क्या मरी बनला हूँ अभी जिसकी साँस चल रही है । सखी कहना चाहती है कि 'बिना मरे उस विचारो की कुशलता कैसी' । इसे अप्ययदोषित ने निबद्ध प्रश्नोत्तर नाम दिया है । विमर्शिनीकार के द्वितीय उदाहरण में जो समझ श्लेष की चर्चा है और जो एक शब्द समुदाय के अंग अंग पर प्रश्न योजना मिलती है अप्ययदोषित ने उसे चित्रोत्तर नामक भेद माना है । चित्र इसलिये कि इसमें शब्द श्लेष रहता है । इसके लक्षण और उदाहरण कुवलयानन्द में इस प्रकार है—

प्रश्नोत्तरान्तरामिश्रमुत्तरं चित्रमुच्यते ।

केदारपोषणरता, के श्लेषाः किं चल वयः ॥'

यहाँ उत्तर या तो प्रश्न से ही अभिन्न हो या अन्य किसी उत्तर से = उसे विप्रोत्तर कहते हैं । पद्या—केदारपोषणरता में प्रश्न = के = कौन है क्या ? दारपोषण रत = स्त्री बर्षों के पोषण में लगे —उत्तर है केदार-पोषणरताः = क्यारियों पोसने में लगे अर्थात् किसान । यहाँ प्रश्न और उत्तर के शब्द अभिन्न हैं । एक उत्तर के दूसरे उत्तर से अभिन्न होने का उदाहरण है—'के श्लेषाः = कौन है आकाश में घूमने वाले, किं चलम् = क्या है चल ? इन दो प्रश्नों का उत्तर एक ही है वयः = पक्षी और उमर । पक्षी आकाश में अटन करते हैं और उमर चल होती है । यहाँ 'वयः' इस उत्तर के भीतर एक उत्तर और छिपा है । अप्ययदोषित का कहना है ऐसे उदाहरण विदग्धमुख-मण्डन में अनेक हैं । 'कसमधान कृष्ण., का शीतलवादिनी गङ्गा' आदि ऐसे ही वाक्य हैं ।

पण्डितराज—जगन्नाथ ने भी उपर्युक्त सभी विधाओं को स्थान दिया है और उत्तरालंकार का विवेचन अप्ययदोषित तथा विमर्शिनीकार के ही अनुसार किया है । उनका सूत्र है ।

'प्रश्नप्रतिबन्धकज्ञानविषयीभूतोऽर्थ उत्तरम् ।'

'जिसके ज्ञान से जिज्ञासा शान्त हो वह अर्थ उत्तर कहलाता है।' जिज्ञासा और प्रश्न एक ही वस्तु हैं। जिज्ञासा ज्ञानविषयक इच्छा को कहते हैं। इच्छा वस्तुज्ञान के बिना नहीं होती। यह ज्ञान सामान्यात्मक होता है। इच्छा जिस ज्ञान के अर्जन के लिए होती है वह विशेषरूप होता है। इस प्रकार सामान्यतः ज्ञात वस्तु को विशेषतः जानने के लिए हुई इच्छा, जिसे प्रश्न कहते हैं, वस्तुनिष्ठ विशेष के ज्ञान से शान्त होती है। उत्तर द्वारा इसी विशेष का ज्ञापन कराया जाता है। उदाहरणार्थ यदि जिज्ञासा यह हो कि 'संसार में प्रधान देवता कौन है और उत्तर हो शिव' तो इसका अर्थ यह हुआ कि जिज्ञासा के समय शिव का ज्ञान देवता रूप में ही था जिन रूप में नहीं, अथवा प्रधानता का ज्ञान देवत्व के साथ था शिवत्व के साथ नहीं। उत्तर से वह शिवरूप से विदित हो जाता है या प्रधानत्व शिवत्व के साथ विदित हो जाता है।

पण्डितराज ने प्रथम उत्तर को उन्नीस प्रश्न और द्वितीय को निवृद्धप्रश्न नाम दिए हैं। उनके अनुसार दोनों में प्रश्न और दोनों या दोनों में से एक, सामिप्राय या निरभिप्राय होते हैं, इस प्रकार इनमें से प्रत्येक के चार चार भेद हो जाते हैं। विमर्शिनीकार का मत पृथक् रूप से उपस्थित करते हुए उन्होंने 'मिक्षो कन्याः' पद्य के अनुकरण पर जहाँगोर की स्तुति में 'प्रयार्थ यज्ञोपवीतं किमिति०' पद्य बना दिया है। उन्होंने प्रश्नोत्तर की अनेकता वहीं आवश्यक बतलाई है जहाँ वे सामिप्राय न हों। चित्रोत्तर के लिए भी पण्डितराज ने अनेक प्रकारों की कल्पना की और उत्तरगमित प्रश्न का वामन के समान यह त्रिपाल उदाहरण बनाकर रस-गंगाधर के ही समान अपना जीवन भी कदाचित्त समाप्त कर दिया—

'किं कुर्वते दरिद्रः कासारवती धरा मनोजतरा ।

कोपावनस्त्रिलोक्यान् ..... ॥'

'दरिद्र क्या करते हैं किं कुर्वते = किंकरता = सेवा करते हैं। कौन भूमि सारवती और मनो जतर होती हैं = कासार = तालाव वाली' त्रिलोकी में कौन अपावन है जो कोप को रक्षा करता है-। इस पद्य का द्वितीय चरण यदि पण्डितराज के जीवन का अन्तिम शिष्य है तो वह बड़ी दुःख की बात है, क्योंकि यह चरण अर्थ की दृष्टि से दरिद्र है। पदार्थ देखिए सागरिका ६४४ में प्रकाशित हमारा 'पण्डितराज-पद्यपूर्तिसंशोधनम्' नामक लेख।

विश्वेश्वर = 'उत्तरमात्रात् प्रश्नोत्तरयने त्यादुत्तरं नाम ।

प्रश्ने लोकाविदितोत्तरस्य तच्चासकृत् प्रोक्तौ ॥'

'उत्तर से प्रश्न की कल्पना तथा प्रश्न करने पर अप्रसिद्ध अनेक उत्तर उत्तरालंकार।' इस प्रकार उत्तर के लिए विश्वेश्वर मम्मट के ही अनुयायी हैं। यहाँ चक्रवर्ती की चिह्नकारिका यह है—

'प्रश्नोद् उत्तरं तस्माद् गूढं चासकृदुत्तरम् ।'

### विमर्शिनी

अधुनालंकारान्तराणां लक्षणं कर्तुमुपक्रमते—इत इत्यादि ।

अथ अन्य अलंकारों का लक्षण करना आरम्भ करते हैं—

### [ सर्वम्ब ]

इतः प्रभृति गूढार्थप्रतीतिपरालंकारलक्षणम्—

[ सू० ७६ ] संलक्षितसूक्ष्मार्थप्रकाशनं सूक्ष्मम् ।

इह सूक्ष्मः स्थूलमतिभिरसंलक्ष्यो योऽर्थः, स यदा कुशाग्रमतिभिरिङ्गि-



ताकाराम्यां संलक्ष्यते तदा तस्य संलक्षितस्य विद्ग्धं प्रति प्रकाशनं सूक्ष्म-  
मलंकारः । तत्रेङ्गिताद् यथा—

‘संकेतकालमनसं विटं श्रुत्वा विद्ग्धया ।

हसन्नेत्रार्पिताकृतं लीलापद्मं निमीलितम् ॥’

अत्र संकेतकालाभिप्रायो विटसंबन्धिना भ्रूक्षेपादिना इङ्गितेन लक्षितः  
रजनिकालभाविना लीलापद्मनिमीलनेन प्रकाशितः । आकाराद् यथा—

‘चक्षत्रस्यन्दिस्वेदविन्दुप्रयन्वेर्दृष्ट्वा भिन्नं कुङ्कुमं कापि कण्ठे ।

पुंस्त्वं तन्व्या व्यञ्जयन्ती वयस्या म्मिन्वा पाणौ यद्गलेष्वां लिलेख ॥’

अत्र स्वेदविन्दुकृतकुङ्कुमभेदरूपेणाकारेण संलक्षितं पुरुषायितं पाणौ  
पुरुषोचितक्षड्गधारालेखनेन प्रकाशितम् ।

यहाँ से गूढार्थ शान परक अलंकारों के लक्षण करते हैं—

[ सू० ७६ ] ताड लिए गए सूक्ष्म अर्थ का प्रकाशन सूक्ष्म [ अलंकार कहलाता है ] ।

[ ५० ] यहाँ जो पदार्थ सूक्ष्म अर्थात् स्थूलमति वाले व्यक्तियों द्वारा न जाना जाने योग्य रहता है, वने अब कुशाग्रबुद्धि वाले व्यक्ति चेष्टा और आकार के आधार पर ताड लेने हैं, तब वस ताड लिए गए अर्थ का किसी चतुर व्यक्ति के प्रति जो प्रकाशन होना है वसीको सूक्ष्म नामक अलंकार कहा जाता है । इनमें से चेष्टा से ताडने का उदाहरण—

‘चतुर वनिता ने विट को संकेत जानने के लिए उत्सुक देखा तो मुमकुरावो आँखों में चाह मर कर अपना लीलाकमल मूद दिया है ।’ यहाँ संकेतकाल का अभिप्राय विट की भ्रूक्षेप आदि चेष्टाओं से ताड लिया गया है और रात्रिकाल में होने वाले लीलापद्मनिमीलन से उसे प्रकाशित कर दिया गया है । आकार से ताडने का उदाहरण—

‘किसी सखी ने चेहरे पर नै लगाना वह रहे पसीने से कण्ठ का कुंकुम फैला हुआ देखा तो तन्वी के पुरुषायित [ विपरीत रमण ] को व्यक्त करते हुए मुसकुरा कर हाथ पर खट्ग का चित्र बना दिया ।

यहाँ स्वेदविन्दु द्वारा उत्पन्न कुंकुम के फैलाव रूपी आकार से विदित हुए पुरुषायित हाथ पर खट्ग बनाने के द्वारा प्रकाशित किया गया है, क्योंकि खट्ग पुरुषोचित वस्तु है ॥

### विमर्शिनी

पुत्रदेव व्याचष्टे—इदेत्यादि । इङ्गिताकाराम्यां सूक्ष्मार्थसंलक्षणादस्य भेदद्वयमप्युक्तम् ।  
एव संलक्षितस्यार्थस्य प्रकाशनमयमलंकार इत्यत्र तात्पर्यम् । [ यदाहुः ]

‘कुतोऽपि लक्षितः सूक्ष्मोऽप्यर्थोऽन्यस्मै प्रकाशयते ।

धर्मेण केनचिद् यत्र तत् सूक्ष्मं परिचक्षते ॥’

किं च—‘यत्र कर्णोत्पलन्यस्तहस्ता दीपावलोकिनी ।

दृष्ट्वा वधू म्रियोपान्ते मल्लीभिः प्रतिमुच्यते ॥’

इत्येतद्ग्रन्थप्रक्रिययालंकारोदाहरणभातं कुर्वनाप्यलंकारभाष्यकृता सूक्ष्मालंकारे यत्-  
वनुगुणमदाइतं तत्रायमाशय—‘यत्सूक्ष्मार्थस्य संलक्षणमात्रं प्रकाशनमात्रं वाप्ययमेवा-  
लंकार इति । अत एवात्र सखीभिः सुरतोःसुकव्य संलक्षितम् कर्णोत्पलन्यस्तन्यासादिना

प्रकाशितमित्युभयार्थसहितत्वम् । तदेवमादौ सूक्ष्मालङ्कार एव वाच्यः । सूक्ष्मस्यैवार्थस्य संलक्ष्यमाणत्वादिनावस्थानात् ॥

इसी सूत्र की व्याख्या करते हैं—इह इत्यादि । चेष्टा और आकार इन दो हेतुओं द्वारा सूक्ष्म अर्थ के जानने से इस अलङ्कार के दो भेद भी बतलाए । इस प्रकार तात्पर्य यह निकाल कि 'जाने हुए अर्थ का प्रकाशन ही इस अलङ्कार का स्वरूप है [ जैसा कि मम्मट ने कहा है— ]

'जिसमें, सूक्ष्म होने पर भी किसी भी कारण से जान लिया गया कोई अर्थ किसी धर्म के द्वारा किसी अन्य को बतलाया जाता है उसे सूक्ष्म कहते हैं ।' और [ अन्यत्र ] इसी [ सर्वस्व ] ग्रन्थ के अनुसार अलङ्कारों के उदाहरण देते हुए भी सूक्ष्मालङ्कार के प्रकरण में अलङ्कार भाष्यकार [ तथा रत्नाकरकार ] ने जो—

'जहाँ सखियों कपोल पर हाथ रखकर दीप निहारती देख, वधु को प्रिय के पास छोड़ आती हैं ।' यह उनकी अपनी मान्यता के अनुरूप उदाहरण दिया है उससे उनका तात्पर्य यह है कि 'सूक्ष्म अर्थ का केवल जान लेना, या केवल प्रकाशित करना भी यही अलङ्कार है' । इसीलिए यहाँ जो सखियों द्वारा सुरतोत्सुकता जान ली गई है और जो कर्णोत्पल पर हाथ रखने आदि से उसे [ वधु द्वारा सखियों के प्रति ] प्रकाशित किया गया है इससे यहाँ दोनों प्रकार के अर्थ का होना बतलाया गया । इस प्रकार ऐसे उदाहरणों में सूक्ष्मालङ्कार ही माना जाना चाहिए । क्योंकि इन सब में जान लिए गए रूप में सूक्ष्म अर्थ ही विद्यमान है । [ अलङ्कारभाष्य के उपलक्ष्य न होने से मन्मटकारिका के बाद का यह टीकांश हमने जोड़ तोड़कर ही अनूदित किया है ] ॥'

विमर्श—अलङ्कारभाष्य में कदाचिद्वेवल जान लेने को भी सूत्र का अर्थ माना गया था । मम्मट, सर्वस्व और विमर्शिनी उससे विपरीत जाने गए अर्थ के प्रकाशन तक सूक्ष्म की व्याप्ति मानते हैं ।

इतिहास = सूक्ष्मालङ्कार को जो रूप मम्मट की विमर्शिनी में उद्धृत कारिका तथा सर्वस्व में मिलता है उसकी खोज का श्रेय दण्डी को है । उन्होंने सूक्ष्म का जो लक्षण किया था मम्मट आदि ने उसी की पदावली पर अपना विवेचन खड़ा किया है । दण्डी का सूक्ष्म-विवेचन इस प्रकार है—

दण्डी = 'इक्षिताकारलक्ष्योऽर्थः सौक्ष्म्यात् सूक्ष्म इति स्मृतः ।

कदा नौ सङ्गमो भावीत्याकौर्णं वक्तुमशकम् ।

अवेत्य कान्तमवला लीलापद्य न्यमीलयत् ॥

पद्मसमीलनादत्र सूचितो निशि संगमः ।

आश्वासयित्तुमिच्छन्त्या प्रियमद्गनपीडितम् ॥

मदपितृशस्तस्या गीतगोष्ठयामवर्षत् ।

उद्दामरागतरला छाया कापि सुष्वाभुजे ॥

इत्यनुद्भिन्नरूपत्वाद् रत्न्युत्सवमनोरयः ।

अनुलक्ष्यैव सूक्ष्मत्वमभूदत्र व्यवस्थितः ॥

—[ काव्यादर्श २।२६०-६४ ]

इंगित या आकार से लक्षणीय अर्थ सूक्ष्मता के कारण सूक्ष्म माना गया है । उदा० 'जनसंकुल स्थान में प्रिय को 'हम दोनों का मिलन कब होगा' यह जोर से पूछने में असमर्थ जानकर अबला ने 'लीलापद्य मूँद दिया ।' यहाँ कामपीडित प्रिय को आश्वासन देने के लिए रात्रिकाल में मिलन की सूचना पद्मनिमीलनद्वारा दी गई है । [ पुनः उदाहरण— ] 'संगीतगोष्ठी में उस सुन्दरी

की दृष्टि मुझ ही पर टिकी रही और मुखकमल पर उदाम रक्तिमा से तरल एक विचित्र कान्ति दिखाई दी ।' यहाँ पर भी रत्युत्सव की लालसा छिपी हुई होने के कारण सूक्ष्मता को बिना खोए व्यक्त हुई है ॥'

हेत्वल्कार के प्रकरण में दण्डीद्वारा प्रतिपादित लेश, सूक्ष्म आदि अलंकारों का मामद् द्वारा खण्डन उद्धृत किया जा चुका है। उससे स्पष्ट है कि मामद् सूक्ष्म को अलंकार नहीं मानते। मामद् का अनुकरण करते हुए वामन और उद्भट ने भी इस नाम का कोई अलंकार नहीं बरलाया है।

रुदट—रुदट के काव्यालङ्कार में सूक्ष्मनामक अलंकार तो है, किन्तु उसका स्वरूप और उदाहरण दण्डी और मम्मट के उपर्युक्त सूक्ष्म से भिन्न एक दूसरे ही प्रकार का है। वह यह है—

'यत्रायुक्तिमदर्थो गमयति शब्दो निजार्थसबद्धम् ।

अर्थात्तरमुपपत्तिमदिति तद संजायते सूक्ष्मम् ॥' ७१८।

जिसमें अयुक्त अर्थ का शब्द अपने अर्थ से सम्बन्धित किसी युक्ति-युक्त अर्थ का शान कराए वह सूक्ष्म नामक अलंकार होता है।

यथा—'आदौ पदवति बुद्धिर्व्यवसायोऽकालहीनमारमते ।

धैर्यं व्यूढमहामरमुत्साहः साधयत्पर्यम् ॥

'आरम्भ में देखा करती है बुद्धि, व्यवसाय समय गैवाए बिना कार्य आरम्भ कर देता है, धैर्य महान् भार को ढोए रहता है, उत्साह कार्य सिद्ध करता है।' यहाँ ये सब कार्य तद्वान् प्राणी करता है। वह यहाँ निगूढ है अतः उसका बोध होने से यहाँ अलंकार भी सूक्ष्म नामक ही है। वस्तुतः ये लाक्षणिक प्रयोग मात्र हैं।

मम्मट—'कुतोऽपि लक्षितं सूक्ष्मोऽप्यर्थोऽन्यस्मै प्रकाशयते ।

धर्मैग वेत्तचिद् यत्र तद सूक्ष्मं परिचक्षते ॥'

अर्थ अभी अभी विमर्शनी ने किया जा चुका है। इसकी पदावली से स्पष्ट है कि इस अलंकार के रूपनिर्माण में मम्मट अक्षर अक्षर के लिए दण्डी के ऋणी है। ठोक इसी प्रकार सर्वस्वकार भी अपने विवेचन और उदाहरणों के लिए मम्मट के ऋणी हैं। दोनों की पदावली प्रायः एक है, उदाहरण तो एक है ही। मम्मट की पदावली यह है—'वक्त्रस्यन्दि०' अत्राकृति-मवलोक्य केनापि वितर्कितं पुरुषायितम् असिद्धतालेखनेन वैदग्ध्यमिदमिदमिदमुपनीतम्, पुस्तानेव ह्युपागपाणिनायोग्यत्वात् । यथा वा 'सकेतकालमनसम्०' अत्र जिज्ञासितः संकेतकालः कदाचिद् इज्जितमात्रेण विदितो निशासतमपरासिना कमलनिमीलनेन छीलया प्रतिपादितः ॥

शोभाकर—रत्नाकरकर शोभाकर ने न तो अलंकारभाष्य के समान 'ज्ञान' और 'प्रकाशन' की दोनों इकाइयों को सूक्ष्म के लिए स्वतन्त्र और पर्याप्त ही माना है और न मम्मट तथा सर्वस्वकार के समान दोनों की एकत्र अनिवार्यता ही मानी है। उन्होंने केवल प्रकाशन को सूक्ष्म के लिए पर्याप्त माना है, ज्ञान को उसका वैकल्पिक सदयोगीमात्र माना है। उनका लक्षण यह है—

'सूक्ष्मार्थस्य सूचनं सूक्ष्मम्' ॥ १०३ ॥

'सूक्ष्म अर्थ की सूचना सूक्ष्म' नामक अलंकार होगी। रत्नाकरकर ने सूचना का माध्यम आकार और चेष्टा ही नहीं वाच्य को भी माना है। उसका उदाहरण उन्होंने यह दिया है—

'रथ्याभ्रमणशोलं जार तरुणी दृष्ट्वा मकथयति सखीम् ।

इदानीं चर खलु मूर्यः सरितं सन्ध्यायां तद् वाम. ॥'

यार को गली में धूम रहा देख तरुणी सखी से कहती है—'सूर्य दूब रहा है, सखि ! चल नदी चले !'

यहाँ नदी को संकेत स्थान बतलाया जा रहा है। 'यत्र कर्णोत्पलन्यस्त०' पद्य में वधू का औत्सुक्य किसी अन्य के द्वारा नहीं जाना जाता, न कोई अन्य ही किसी अन्य के प्रति उसे व्यक्त करता। रत्नाकरकार ने इसमें भी सूक्ष्म को अलंकार माना है। 'वक्त्रस्यन्दि०' पद्य भी उन्होंने सूक्ष्म के लिए उद्धृत कर दिया है। इस प्रकार सूक्ष्म को अनेक नवीन परिस्थितियों में देकर रत्नाकरकार ने अपनी भावक प्रतिभा की उर्वरता का परिचय दिया है। 'ज्ञान और प्रकाशन' दोनों को अनिवार्य इकाई मानने के पक्ष पर वे स्पष्ट रूप से इस प्रकार प्रतिवाद प्रस्तुत करते हैं—

'वक्त्रस्यन्दि०' अत्र चाकारेणोक्तिरिति वा संलक्षितस्वार्थस्य परं प्रति प्रकाशनम् इति द्विभेदत्वं न वाच्यम्, संलक्षितस्य प्रकाशनाभावेऽपि निजामिप्रायादिप्रकाशनेऽपि संभवतीति 'संलक्षितस्य सूक्ष्मार्थप्रकाशनं सूक्ष्मम्' इति लक्षणमभ्यापकम्, यथात्रैव 'यत्र कर्णोत्पलन्यस्त०' हायादौ ।'

'प्रकाशन के प्रति केवल आकार और शक्ति की ही ज्ञान का साधन मानकर सूक्ष्म को दो भेदों तक सीमित नहीं रखना चाहिए क्योंकि कहीं कहीं अन्य के द्वारा ज्ञान और अन्य के द्वारा ही प्रकाशन के अभाव में स्वयं प्रकाशन होने पर भी यह अलंकार देखा जाता है। इसलिये [सर्वस्वकार] 'संलक्षित सूक्ष्म अर्थ का प्रकाशन सूक्ष्म है' इस प्रकार का जो लक्षण बनाया है वह सभी स्थलों में लागू नहीं होता यथा इसी 'यत्र कर्णोत्पल०' पद्य में।

अप्पयदोक्षित ने 'वक्त्रस्यन्दि०' पद्य में पिहितनामक अलंकार मान सूक्ष्म को 'संकेतकालमनसं' तक सीमित रखा है।

अप्पयदोक्षित = 'सूक्ष्मं पराशयाभिज्ञोत्तरं साकृतचेष्टितम् ।'

मयि पश्यति सा केशीः सीमन्तमणिमावृणोत् ।'

—दूसरे का आशय जान रहे व्यक्ति दूसरे के प्रति अभिप्राय चेष्टा सूक्ष्म कहलाती है। उदा० 'मैं देख रहा था तो उसने वालों से अपनी मॉग की मणि डंक ली।' यहाँ मणि सूर्य का प्रतीक है। उससे सन्ध्याकाल के संकेतकाल होने की सूचना दी गई। अन्य में अप्पयदोक्षित ने 'संकेतकालमनसं' पद्य भी उद्धृतकर दिया है। पिहित का लक्षण उन्होंने इस प्रकार किया है—

'पिहितं परवृत्तान्तशातुः साकृतचेष्टितम् ।

प्रिये गृहागते प्रातः कान्ता तल्पमकल्पयत् ।'

दूसरे की स्थिति जानने वाले की साभिप्राय या व्यंग्यपूर्ण चेष्टा पिहित कहलाती है। उदा० 'प्रिय प्रातःकाल सपत्नी के पास से लौटा तो नायिका ने उसके लिए विछौना विछवा दिया।' दूसरा उदाहरण 'वक्त्रस्यन्दि०' पद्य ही दिया है। चन्द्रिकाकार ने सूक्ष्म और पिहित का अन्तर बतलाते हुए लिखा है—'सूक्ष्म में दूसरे का अभिप्राय जानकर अपनी ओर से उत्तर भी दिया जाता है, और इस उत्तर में वक्ता अपना गूढ़ अभिप्राय व्यक्त करता है, जब कि पिहित में दूसरे की गूढ़ स्थिति को जान लेने की सूचना दी जाती है। अर्थ यह कि सूक्ष्म वक्ता को स्वगत सूक्ष्म या निगूढ़ भाव के स्वयं निवेदन में होगा और पिहित किसी के द्वारा अपने गूढ़ भाव के छिपाने में, यद्यपि इसमें छिपाए भाव का प्रकाशन भी रहेगा, क्योंकि उसके दिना उस छिपे भाव का अस्तित्व ही प्रकट न होगा और पाठक को खेतना पर उसका प्रभाव न पड़ेगा। उल्लोचकार आदि ने इस पार्थक्य का प्रत्याख्यान कर दोनों विधाओं को प्राचीन आचार्यों के समान अवान्तरभेद के रूप में एक 'सूक्ष्म' शीर्षक में ही गिनना उचित बतलाया है।

पण्डितराज जगन्नाथ के रसगंगाधर में सूक्ष्म अलङ्कार नहीं आ पाया है ।

विश्वेश्वर ने अपना सूक्ष्मालङ्कार मम्मट के ही लक्षण पर निर्भर रख इस प्रकार बनाया है—

प्रतिमानिशायाद् ज्ञातो यथाकारेक्षितार्थः ।

विशदीक्रियतेऽन्यस्मै तथैव तत् सूक्ष्ममित्युक्तम् ॥

रसनाकरकार और अप्रयदीक्षित की नवीन उद्भावनाओं पर चुर हैं । इस अलङ्कार पर चक्रवर्ती की निष्कृष्टार्थकारिका यह है—

‘सूक्ष्मं तु सूक्ष्म मन्वेष्य विदग्धेषु प्रकाशनम् ।

शक्तिाकारतः सूक्ष्मसंलक्षणमिति दिधा ॥’

शक्ति और आकार का अन्तर श्रीचक्रवर्ती ने इन प्रमाणों द्वारा स्पष्ट किया है—

शक्ति = आज्ञान्वयिताद्येष्टा शक्ति बुद्धिकारिता ।

आकार = आकार. पुनराग्नातस्ता एवाबुद्धिकारिता ॥

तथा—

शक्ति = ‘तारापुटभ्रूदृष्ट्यादेर्विकारानिञ्जित विदुः ।

आकार = आकाराः सर्वत्रा भावा भाषा बुद्ध्या परेऽन्यथा ॥

—जो चेष्टाएँ भावामिव्यक्ति के लिये जानबूझकर की जाती हैं उन्हें शक्ति कहा जाता है, वे ही चेष्टाएँ यदि जानबूझकर न की जाएं अपितु स्वभावतः निष्पन्न हो जाएं तो आकार मानी जाती हैं ।

—पलक, भ्रुकुटि और दृष्टि के विकार शक्ति होते हैं जब कि आकार चित्तरियति की घोटक मुद्राएँ । इनमें से प्रथम जानबूझ कर किए जाते हैं और ‘द्वितीय स्वभावतः’ निष्पन्न होते हैं ।

### [ सर्वस्व ]

[ सू० ७७ ] उद्भिन्नवस्तुनिगूहनं व्याजोक्तिः ।

यत्र निगूहं वस्तु कुतश्चिन्निमित्तादुद्भिन्नं प्रकटतां प्रातं सद् वस्त्वन्तर-  
प्रक्षेपेण निगूह्यते अपलप्यते, सा वस्त्वन्तरप्रक्षेपरूपस्य व्याजस्य वचनाद्  
व्याजोक्तिः । यथा—

‘शैलेन्द्रप्रतिपाद्यमानगिरिजाहस्तोपगूढोल्लस-

द्रोमाञ्चादिविसंस्थुलाखिलविधिव्यासङ्गमङ्गाकुलः ।

हा शैत्यं तुहिनावलस्य करयोरित्यूचिवान् सस्मितं

शैलान्तःपुरमात्मण्डलगणैर्दृष्टोऽवताद् व. शिवः ॥’

अत्र रोमाञ्चादिनोद्भिन्नो रतिभावः शैत्यप्रक्षेपेणोत्पलपितः । यद्यप्यप-  
हृतोऽपि सस्मितत्वव्यापनेन पुनरभ्युद्भिन्नत्वेन प्रकाशितः, तथाप्यपलाप-  
मात्रचिन्तयास्यालङ्कारस्योल्लेखः ।

नन्वपहृतिग्रन्थे ‘यथा सादृश्याय याऽपहृतिः, तथापहृत्वायापि यस्ता-  
दृश्यं साप्यपहृतिः’ इति स्थापितम्, व्याजोक्तौ चोत्तरप्रकारो विद्यते तत्कथ-  
मियमलङ्कारान्तरे[ररूपे]ण कथ्यते । सर्वम् । उद्भटसिद्धान्ताश्रयेण तत्

तत्रो तन्मते व्याजोक्त्याख्यमलंकरणमस्ति । इह तु तस्य संभवात् तद्व्यतिरिक्तापद्धतिरिति पृथग्यमलंकारो निदिष्टः ।

[ सूत्र ७७ ] प्रकट वस्तु का छिपाया जाना व्याजोक्ति [ नामक अलंकार कहलाता है ] ॥

जिसमें कोई निगूढ़ वस्तु किसी भी कारण उद्भिन्न अर्थात् प्रकटता को प्राप्त हो जाती है । अतः उसे अन्य कोई वस्तु बीच में लाकर निगूहित किया जाता अर्थात् छिपाया जाता है, वह अन्य वस्तु के बीच में डालने रूप व्याज का कथन होने से व्याजोक्ति मानी जाती है । यथा—

'पर्वतराज हिमाचल द्वारा सीपे जा रहे पार्वती जी के हाथ के स्पर्श से हुए रोमांच आदि के कारण अरतव्यस्त हुए समस्त कार्य कलाप में रुकावट आ जाने से धराराप, अतएव 'बाह कितने ठंडे हैं हिमाचल के हाथ' इस प्रकार बोल बैठे और पर्वतराज के अन्तःपुर, ब्राह्मी आदि माताओं तथा प्रथमगणों द्वारा मुसुकुरा मुसुकुराकर देखे जा रहे शिव आपकी हमारी रक्षा करें ।'

यहाँ रोमांच आदि द्वारा प्रकट हुई रतिरूपी चित्तवृत्ति शीतलता को बीच में लाकर छिपाई गई । यद्यपि छिपाव जाने पर भी मुसुकुराष्ट के उल्लेख के द्वारा उसे पुनः प्रकट बतलाया गया, तथापि छिपानेमात्र पर ध्यान जाने से इस अलंकार का अनुभव होता है [ चमत्कार प्रतीत होता है ] तथा इसे नाम दिया जाता है ।

शंका होती है कि अपहृति [ श्लेष ] प्रकरण के ग्रन्थ में यह बतलाया है कि 'जिस प्रकार जो छिपाव सादृश्य शापन के लिए होता है वह अपहृति होता है, उसी प्रकार जो सादृश्य छिपाव बतलाने के लिए होता है वह भी अपहृति होता है ।' इनमें से जो द्वितीय प्रकार है वह व्याजोक्ति में विद्यमान है, तब इसे मित्त्र अलंकार क्यों बतलाया जा रहा है । [ उत्तर ] ठीक है । [ अपहृति का ] वह [ रूप ] उद्भट के सिद्धान्त के अनुसार यहाँ बतलाया गया है । उनके मत में व्याजोक्ति कोई अलग अलंकार नहीं है । इस [ ग्रन्थकार के मत ] में वह संभव है, अतः [ इस मत में ] उस [ द्वितीय प्रकार ] से बचा हुआ येद ही अपहृति का विषय होगा । इस कारण यहाँ यह अलंकार पृथक् बतलाया गया है ।

### विमर्शिनी

उद्भिन्नेत्यादि । निगूढमिति । वस्तुतः । वस्त्वन्तरप्रक्षेपेणेति । निमित्तान्तरकथनेनेत्यर्थः । रतिभाव इति । स्थायी । अपहृतोऽपीति । व्याजोक्तेः प्ररोहात् । अपलापमात्रचिन्तयेति । तावन्मात्रस्यैव तल्लक्षणत्वात् । अस्याश्रापहृतेर्भेदं दर्शयितुमुपक्रमते—नन्वित्यादिना । स्थापितमिति । श्लेषग्रन्थे यदुक्तम् । 'सादृश्यव्यक्तये यत्रापहृत्वोऽसावपहृतिः' इति । एवमपहृत्वग्रन्थ इति पूर्ववाक्य एवं संबन्धनीयम् । उत्तरः प्रकार इति । अपहृत्वाय सादृश्यम् तदिति । उत्तरेणैव प्रकारेण व्यासत्वात् । कथमिति । निष्प्रयोजकत्वात् । एतदेवाभ्युपगम्य प्रतिविधत्ते—तत्प्रमित्यादिना । तदिति अपहृत्वाय सादृश्यम् । तत्रेति । श्लेषे । तन्मत इति । उद्भटमते । तस्येति । व्याजोक्त्याख्यमलंकारस्य । तद्व्यतिरिक्तेति । अपहृतौ हि प्रकृतमेवोत्कर्षयितुमप्रकृतस्योपादानम् । इह तुद्भिन्नं सव प्रकृतं वस्तु वस्त्वन्तरेणाप्रकृतेन निगूढते इत्यनयोर्महाभेदः । एवं 'आकृष्यादौ' इत्यादौ च चोलात्मवस्त्वन्तरप्रक्षेपेणोद्भिन्नप्रियनिगूढनस्यैव वाच्यार्थत्वाद्वाजोक्तिरेव न पुनरपहृतिः । अत एव च नात्र वक्रोक्तिः । तस्य यथायोजनमात्रं लक्षणम् ।

उद्भिन्न इत्यादि । निगूढ अर्थात् वस्तुतः निगूढ । वस्त्वन्तरप्रक्षेपेण दूसरी वस्तु को बीच में लाने से = अन्य कोई कारण बतलाने से । रतिभावः = स्थायिभावरूप रति । अपहृतोपि =

छिपाव जाने पर भी = अर्थात् व्याजोक्ति के जम जाने के कारण । अपलापमात्रचिन्तया = छिपाव मात्र के ध्यान से = क्योंकि व्याजोक्ति का लक्षण ही केवल वह ( छिपाव ) है । इम [ व्याजोक्ति ] का अपदुति से भेद बनाना आरम्भ करते हैं—ननु० । श्यापित । जैसा कि श्लेष प्रकरण [ के अन्त ] में कहा है—‘सादृश्य की व्यक्ति के लिए जहाँ छिपाव होता है उसे अपदुति कहा जाना है’ = इत्यादि । इस प्रकार ‘अपद्वय ग्रन्थ’ इसका अर्थ ‘पूर्व वाक्य लगाना चाहिए । उत्तरः प्रकारः = दूसरा प्रकार = ‘सादृश्य छिपाव बनाने के लिए’ । तत् = इस कारण = दूसरे प्रकार में ही चले जाने में । कथम् = क्यों = कोई प्रयोजन न होने से । स्वीकारकर इसी का खण्डन करते हैं—ग्रन्थम् इत्यादि के द्वारा । तत् = सादृश्य छिपाव के लिए । तत्र = वहाँ श्लेषप्रकरण में । तन्मत = उनके मत में = उद्भट के मत में । तस्य = उमका व्याजोक्ति नामक अलङ्कार का । तद् व्यतिरिक्त = उमने बचे = अपदुति में तो अपकृत का उपादान प्रकृत के उरकर्म के लिए ही होता है, जब कि इम व्याजोक्ति में अपकृत वस्तु प्रकृत द्वारा प्रकृत वस्तु को छिपाया करती है । इस प्रकार इन दोनों में बहुत बड़ा भेद है । इस प्रकार [ श्लेष प्रकरण में उद्भट ] ‘आकृष्यादावमन्द०’ इत्यादि [ पद्य ] में ‘चोली’ रूप अन्य वस्तु को बीच में लाकर प्रकृत हुए प्रियरूपी अर्थ का छिपाना ही वाक्यार्थ स्वरूप है, अतः वहाँ व्याजोक्ति ही है, अपदुति नहीं । अत एव यहाँ [ अगले मूत्र द्वारा प्रतिपादित ] वक्तोक्ति भी नहीं है क्योंकि उमका स्वरूप ‘दूसरे प्रकार से योजना करना’ है ॥

विमर्श—वृत्तिकार ने श्लेषप्रकरण के अन्त में अपदुति के दो भेद इस कारिका द्वारा बतलाए थे—

‘सादृश्यन्यक्तये यत्रापद्वयोऽनावपदुतिः ।

अपद्वयाय सादृश्यं यत्राप्येवाप्यपदुतिः ॥’

इसके पूर्व वृत्ति में वहाँ लिखा था—‘उभययाप्यपदुतिसमवात् सादृश्यपर्यवसायिना वापद्वयेन, अपद्वयपर्यवसायिना वा सादृश्येन, भूतार्थापद्वयस्योभयत्र विद्यमानत्वात् [ पृ० १७३ ] यहाँ ‘अपदुतिग्रन्थे’ लिखने का अर्थ विमर्शिनीकार ने अपदुतिविषयक पूर्व चर्चा किया है । संजीविनीकार इस पर चुप है । वस्तुतः अपदुतिप्रकरण में भी इसने मिलती जुलती निम्नलिखित बात आरंभ है—‘अपद्वयपूर्वक आरोप तथा आरोपपूर्वक अपद्वय ।’ आरोप सादृश्यमूलक होता है । प्रथम भेद में अपद्वय उसका निष्पादक होगा । फलतः वहाँ अपद्वय सादृश्य के लिए होगा । द्वितीय में उसके विपरीत ‘सादृश्य अपद्वय के लिए’ होगा । इसमें प्रकृत ग्रन्थ का संबन्ध जोड़ा जा सकता है ।

इतिहास—व्याजोक्ति वामन को देन है । उनका सूत्र है—‘व्याजस्य सत्यसारूप्यं व्याजोक्तिः ।’ व्याजपूर्ण वस्तु का सत्य वस्तु के साथ सादृश्य व्याजोक्ति कहलाती है । इसे वामन ने माहोक्ति भी कहा गया बतलाया है । उदाहरण—‘काशपुष्पलवनेर्दं साधुपातं मुखं मम’ मेरा मुख आँसू युक्त इसलिए है कि इसमें कामपुष्प का टुकड़ा भर गया है । यहाँ सात्त्विकभाव से जनित अश्रु को काशपुष्प के बराने छिपाया गया है उद्भट और रुद्रट के काव्यालंकारों में यह अलङ्कार नहीं मिलता ।

मम्मट—ने ‘शैलेन्द्रप्रति०’ पद्य का ही उदाहरण देते हुए व्याजोक्ति का विवेचन इस प्रकार किया था—

[ सू० ] ‘व्याजोक्तिच्छद्मनोद्भिन्नवस्तुरूपनिगूहनम्’ ।

[ वृ० ] निगूहनमपि वस्तुनो रूपं कथमपि प्रमित्त केनापि व्यपदेशेन यदपद्वयते सा व्याजोक्तिः । न चैवापदुतिः प्रकृतप्रकृतोभयनिष्ठस्य साम्यस्येहासमवात् । उदा० ‘शैलेन्द्र०’ । अत्र पुलकवेषधू-सात्त्विकरूपतया प्रसूतो रौर्यकारणतया प्रकाशितत्वादपलपितस्वरूपो व्याजोक्ति प्रयोजयत् ।’

प्रकट हुए वस्तुरूप को षल द्वारा छिपाना व्याजोक्ति । वस्तु का रूप छिपा होने पर किसी प्रकार प्रकट हो गया हो तो किसी भी वदाने से उसे जो छिपाया जाता है वह व्याजोक्ति कहलाता है । यह अपदुक्ति नहीं है क्योंकि यहाँ प्रकृत और अप्रकृत के बीच साम्य की विवक्षा नहीं है । 'वदा० शैलेन्द्रप्रति०' में रोमांच और कम्प साहित्यरूप में प्रकट है और शैत्यजनित वतलाकर उनकी वास्तविकता छिपाई गई । स्पष्ट है कि सर्वस्वकार का विवेचन मम्मट के विवेचन पर आश्रित है ।

रत्नाकरकार—ने व्याजोक्ति को व्याज के लिए वाक्यप्रयोग तक सीमित नहीं रखा, उसे चेट्टा आदि द्वारा भी संभव वतलाया है । इसी प्रकार उद्भेद = प्रकाशन को भी दो प्रकार का माना है आशंक्यमान तथा उत्पन्न । इस प्रकार उन्होंने इसे चार प्रकार का माना है । चेट्टा आदि को उक्तिस्वरूप मानने के लिये उन्हें लक्षणा का सहारा लेना पड़ा है । उनका लक्षण केवल—

'उद्भेदप्रच्छादनं व्याजोक्तिः ॥ १०४ ॥'

'उद्भेद = प्रकाशन को छिपाना = छँकना व्याजोक्ति'—इतना ही है । इनका आशंक्यमान उद्भेद का उदाहरण अप्पयदीक्षित के उदाहरण से गतार्थ है । उत्पन्न उद्भेद के लिए उन्होंने 'शैलेन्द्रप्रतिपाद्यमान०' पद्य का ही उदाहरण दिया है ।

मौलित और व्याजोक्ति का अन्तर करते हुए उन्होंने लिखा है—

'उद्भेदस्य निरूपणं स्वरसती हेत्वन्तराच्चेद भवेत्  
प्रत्यूहः समधर्मकोत्कटगुणाप्रच्छादनान्मीलितम् ।  
व्याजोक्तेरभिसन्धिपूर्वकतया चेट्टादिनोक्त्याऽथवा  
व्याजेन प्रतिभेदगूहनमतौ युक्तं विविक्तं वपुः ॥'

मौलित और व्याजोक्ति दोनों में उद्भेद तो स्वतः होता है किन्तु प्रच्छादन के हेतु में अन्तर रहता है । मौलित में प्रच्छादन समान धर्म वाले पदार्थ के उत्कृष्ट गुणों से होता है, जब कि व्याजोक्ति में चेट्टा आदि के द्वारा अथवा वाक्य द्वारा प्रच्छादन जानबूझ कर किया जाता है ।

अप्पयदीक्षित = 'व्याजोक्तिरन्यहेतूक्त्या यदाकारस्य गोपनम् ।

सखि । पश्य शृहारामपरागैरस्मि धूसरा ॥'

'कोई अन्य हेतु देकर आकार का छिपाना व्याजोक्ति कहलाता है । यह—'हे सखि ! देख मैं घर के बगीचे के पराग से धूसरित हो गई हूँ ।' यहाँ धूल में पड़ कर की गई चौरंरति किसी के द्वारा जानने के पहले ही छिपाई गई है । न केवल वाक्य ही अपितु चेट्टादि अन्य हेतुओं को भी अप्पयदीक्षित ने रत्नाकरकार के ही समान प्रच्छादनहेतु माना है । जैसे कोई नायिका अपने अनुरागजनित रोमांच को प्रणाम के वदाने छिपाती है ।'

पण्डितराज के रसगंगाधर में यह अलंकार नहीं मिलता ।

विश्वेश्वर—ने भी वाक्य और चेट्टा दोनों के द्वारा प्रकट भाव के छिपाने में व्याजोक्ति मानी है—

'व्याजोक्तिर्विशदीभवदर्थस्यापह्नुतिभिषतः ।'

अप्रकाश्यत्वार्थस्य कथञ्चिद् विभावतप्रसङ्गे सति केनचित् कौतवेन तदपह्नवो व्याजोक्तिरित्यर्थः ।

अप्रकाशनीय अर्थ का किसी भी प्रकार से प्रकाशन का प्रसंग आ जाने पर किसी भी वदाने उसे छिपाने को व्याजोक्ति कहा जाता है ।'



वाक्यातिरिक्त उपाय का उदाहरण उन्होंने 'दम्पत्योर्निश्चि०' पद्य दिया है जिसकी भावयोजना यह है—'रात की बातचीत जब शुक सवेरे सखियों के सामने बोलने लगा तो चतुरा ने अनार का दाना देकर उसकी चोंच बन्द कर दी।

चक्रवर्ती की निष्कृष्टार्थकारिका रस अलङ्कार पर यह है—

'व्याजोक्तिव्याजवचनेनाद्भिन्नस्य निगूढनम् ।

अपह्णनाय सादृश्ये दृष्टा नापदुतियंत- ॥'

प्रकट अर्थ का व्याजवचन के द्वारा छिपाना व्याजोक्ति कहलाता है। यह अपद्वति नहीं है क्योंकि वह सादृश्यमूलक अपह्वव [ छिपाव ] में होती है।'

[ सर्वस्व ]

[ सू० ७८ ] अन्यथोक्तस्य वाक्यस्य काकुश्लेषाम्ब्यामन्यथा  
योजनं वक्रोक्तिः ।

उक्तिव्यपदेशसाम्याद् व्याजोक्त्यनन्तरमस्या लक्षणम् । यद्वाक्यं केन-  
चिदन्यथाभिप्रायेणोक्तं सदपरेण यत्रा काकुप्रयोगेण श्लेषप्रयोगेण चान्यथा-  
न्यार्थघटनया योज्यते तदुक्तिः वक्रोक्तिः । काकुप्रयोगेण यथा—

'गुरुपरतन्त्रतया यत दूरतरं देशमुच्यते गन्तुम् ।

अलिकुलकोकिलललिने नैष्यति सपि सुरभिसमयेऽसौ ॥'

अत्रैतद्वाक्यं नायिकया आगमननिषेधपरत्वेनोक्तम् । तत्सख्या काकु-  
प्रयोगेण विधिपरतां प्रापितम् । काकुवशाद्विधिनिषेधयोर्विपरीतार्थ-  
संक्रान्तिः ।

तत्र श्लेषोऽभङ्गसभङ्गत्वेनोभयमयत्वेन त्रिविधः । तत्राभङ्गश्लेषमुपेन  
यथा—

'अहो केनेदृशी बुद्धिर्दारुणा तव निर्मिता ।

त्रिगुणा श्रूयते बुद्धिर्न तु दारुमयी क्वचित् ॥'

अत्र दारुणेति प्रथमान्तं प्रकान्तं श्लेषभङ्ग्या तृतीयान्ततया संपादि-  
तम् ।

सभङ्गश्लेषमुपेन यथा—

'त्वं ह्यालाहलभृत्करोपि मनसो मूच्छां समालिङ्गितो

हालां नैव विभक्तिं नैव च हलं मुग्धे कथं हालिकः ।

सत्यं हालिकतैव ते समुच्चिता सक्तस्य गोवाहने

वक्रोक्त्येति जितो द्विमाद्रिसुतया स्मेरोऽवताद् यः शिवः ॥'

उभयमुखेन यथा—

'विजये कुशलस्त्र्यक्षो न क्रीडितुमहमनेन सह शक्ता ।

विजये कुशलोऽस्मि न तु त्र्यक्षोऽक्षद्वयमिदं पाणी ॥

किं मे दुरोदरेण प्रयातु यदि गणपतिर्न तेऽभिमतः ।  
 कः प्रद्वेष्टि विनायकमद्विलोकं किं न जानासि ॥  
 चन्द्रग्रहणेन विना नास्मि रमे किं प्रतारयस्येवम् ।  
 देव्यै यदि रुचितमिदं नन्दिनाहूयतां राहुः ॥  
 हा राहौ शितदंष्ट्रे भयकृति निकटस्थिते रतिः कस्य ।  
 यदि नेच्छसि संत्यक्तः संप्रत्येपैव हाराहिः ॥  
 वसुरहितेन क्रीडा भवता सह कीदृशी न जिह्वेपि ।  
 किं वसुभिर्नमतोऽमून्सुरासुरान्नेव पश्यसि पुरः ॥  
 आरोपयसि मुधा किं नाहमभिज्ञा किल त्वदङ्गस्य ।  
 दिव्यं वर्षसहस्रं स्थित्वेति न युक्तमभिधातुम् ॥  
 इति कृतपशुपतिपेलवपाशकलीलाप्रयुक्तवक्रोक्ति ।  
 हर्षवशतरलतारकमाननमव्याद् भवान्या वः ॥'

वक्रोक्तिशब्दश्चालंकारसामान्यवचनोऽपीहचालंकारविशेषे संक्षिप्तः ।

[ सूत्र ७८ ] अन्यथा कथित वाक्य की काकु और श्लेष के द्वारा अन्यथा योजना [ हो तो अलंकार को ] वक्रोक्ति [ कहा जाता है ]

[ वृत्ति ] इसका लक्षण वक्ति में छल की समानता को लेकर व्याप्ति के दाद किया जा रहा है । जो वाक्य किसी [ अन्य ] के द्वारा अन्यथा अर्थात् अन्य अभिप्राय से कहा गया हो और अन्य के द्वारा काकुप्रयोग किंवा श्लेषप्रयोग के आधार पर, अन्यथा अर्थात् अन्य अर्थ में उगाया जाता है उस [ वाक्य ] की वक्ति वक्रोक्ति कहलाती है ।

काकु प्रयोग से, यथा—

'वहों के अधीन होने से दूरतर देश जाने को उचित यह इन्त, अलिकुल और कोकिल से ललित सुरभिसमय में नहीं आएगा' । इस वाक्य को नायिका ने भागमन के निषेध [ नहीं हो आएगा—इस ] के अभिप्राय से कहा, [ अतः इसमें वत या इन्त का अर्थ खेद हुआ किन्तु ] उसकी सखी ने [ नहीं आएगा क्या ? इस प्रकार ] काकुप्रयोग से [ अवश्य आएगा इस अर्थ में ] विधिपरक बना दिया । [ अतः इस अर्थ में वत या इन्त का अर्थ हर्ष हुआ ] निषेधरूपी अर्थ की विधिरूप अर्थ में जो संक्रान्ति हुई उसका कारण काकु प्रयोग है ।

श्लेष अमङ्गरूप समङ्गरूप, तथा उभयरूप से तीन प्रकार का होता है । इनमें से—

अमङ्गरुश्लेष से [ वक्रोक्ति ] यथा—

'बहो ! किस दारुण ने तुम्हारी इस प्रकार की खुदि बनाई है । खुदि तो तीन गुणों [ सख, रजस् तथा तमस् ] से बनी सुनी जाती है, दारु से बनी तो कहीं नहीं ।

[ दारुणा = दारुण शब्द का खीलिंग प्रथमैकवचन तथा 'दारु' शब्द का तृतीयैकवचन । दोनों पक्षों में शब्द एक ही बना, अर्थभेद के साथ उसमें भङ्ग नहीं हुआ अतः यह अमङ्गरुश्लेष का उदाहरण हुआ ] ।

समङ्गरुश्लेष से [ वक्रोक्ति ] यथा—

[ पार्वती ] 'तुम हालाहलधारी [ हालाहल = विष तथा हाला = वारुणी और हल को धारण करने वाले हो, अतः आलिङ्गन करते ही मन को मूर्च्छित कर देते हो । [ शिव ]

न मैं हाथ ही भारण करता और हल ही, अरी मोली, मैं क्या हालिक [ किसान ] हूँ । [ पार्वती ] तुम्हें ( सचमुच ) हालिक कहा जा सकता है क्योंकि तुम गोवाहन [ गो = नन्दी वृष, तद्रूपी वाहन तथा गो = बैल को हँकने ] में ओ लगे रहते हो । इस प्रकार बकौक्ति में पार्वती जी द्वारा जीत लिए गए अत एव मुसकुराते हुए भगवान् आपकी हमारी रक्षा करें ।

उभयदर्शेण से [ बकौक्ति ], यथा—[ उमामहेश्वरसंवाद—[ पार्वती ] [ सति ] विभवे, [ विजया का सम्बोधन तथा विजय शब्द का सस्येकवचन ] ये व्यस्य [ तीन अस्य = अश्वि = नेत्र तथा अस्य = पासे वाले ] बड़े कुशल हैं । मैं इनके साथ घनक्रीडा नहीं कर सकती । [ शिव ] विजय में तो कुशल हूँ परन्तु व्यस्य [ तीन पासे वाला ] नहीं हूँ, मेरे हाथ में पासे केवल दो ही हैं ॥

[ पार्वती ] मेदुरोदर [ मे = मुझे दुरोदर = घन तथा मेदुर + उदर वाला मेदुरोदर = गणेश ] नहीं माता । [ शिव ] यदि तुम्हें नहीं माता तो गणेश चला आ० । [ पार्वती ] विनायक [ विनायक = गणपति तथा वि = पत्नी उनका नायक = गरुड ] से किसको द्वेष है, [ शिव ] तुम्हें क्या अद्विलोक [ सर्पों ] का ज्ञान नहीं है [ जो गरुड से ट्रेप करते हैं ] ॥

[ पार्वती ] मैं चन्द्रग्रहण [ चन्द्र की वाजी तथा चन्द्रग्रहण राहुपराग ] के विना नहीं खिलती यूँ ही क्यों मुझे छल रहे हो । [ शिव ] नन्दिन् ? देवी को यदि यही प्रिय है तो बुलाओ राहु को ॥

[ पार्वती ] हा राहो [ हा, राहो = राहु पर, हार + अहो = हार के सर्व पर ] जो तीखे दाढ वाला और बुराबना है, पास आए तो किसे प्रेम होगा । [ शिव ] यह हाराहि [ हारभूत सर्प ] तुम्हें पसन्द नहीं तो छोड़ते अभी हाल छोड़े देता हूँ ॥

[ पार्वती ] तुम ठहरे वसु [ धन तथा आठ वसु ]—रहित । तुम्हारे साथ कैसा जुआ, लाज नहीं आती । [ शिव ] सामने [ आठों ] वस्तुओं के साथ प्रणाम कर रहे हूँ देव और दानवों को देख नहीं रही हो क्या ? [ हम आर्या का 'सह वसु०—पदवसि किम् ? ऐसा पाठ अधिक अच्छा होता ] ॥

[ पार्वती ] बेकाम क्यों आरोपसि [ आरोप लगा रहे, उठा रहे हो ] मैं तुम्हारे अङ्ग [ दोषा रोपण तथा गोद ] से अनभिष्ट हूँ । [ शिव ] हजारों दिव्य वषों तक [ गोद में ] बैठकर भी इस प्रकार कहना ठीक नहीं ॥'

—इस प्रकार शिव के साथ घट की ललित क्रीडा में प्रयुक्त की गई बकौक्ति की प्रसन्नता से खंचल तारा वाला पार्वती का मुखमण्डल आप हमारी रक्षा करें ॥

[ यहाँ—विभवे, व्यस्य, विनायक, ग्रहण, वसु, आरोप तथा अङ्ग शब्द में तोड नहीं होती अतः ये अमङ्ग श्लेष के उदाहरण हैं, मेदुरोदर तथा हाराहो शब्द में वह होती है अतः समङ्ग-श्लेष है । पूरा सन्दर्भ एक वाक्योत्तर है अतः यहाँ आरम्भ से अन्त तक एक बकौक्ति मानी जायगी ] ।

बकौक्ति शब्द अलंकारमात्र का वाचक है तथापि यहाँ एक विशिष्ट अलंकार के लिये प्रयोग में लाया गया है ॥

### विमर्शिनी

अन्यथेत्यादि । पृतदेव व्याख्ये—यद्वाक्यमिति । अन्याभिप्रायेणेति । विवक्षितार्थपरतये-रथर्षः । काकुः ध्वनिविरोधः । यदुक्तम्—

'वाक्येऽभिधीयमानोऽर्थो येतान्यः प्रतिपद्यते ।

भिन्नकण्ठध्वनिर्घोरैः स काङ्करिति कथ्यते ॥'

अन्यार्थवदनयेति । प्रकान्तादन्यस्य व्यतिरिक्तस्यार्थस्य घटनयोश्छेदनेनेत्यर्थः । येनकेन-चिद्बुक्त्राभिप्रेतार्थस्य प्रतिपिपाद्यिययोक्तस्य वाक्यस्यान्येन विघाताय प्रहेलिकामाश्राय

‘नवकम्बलकोऽयं माणवकः’ इत्यादिना वाक्छलेनान्यथायोजनमात्रमयमलङ्कार इति पिण्डार्थः । अत एव द्वितीयो व्याघातो नास्या भेदतया वाच्यः । न हि तत्र वचनविघाता-  
पैवान्यथा योजनम् । तत्र हि ‘वाल इति सुतरामपरिस्याऽयोऽस्मि, रक्षणीय इति भवद्भुज-  
पञ्जरं रक्षास्थानम्’ इत्यादौ बालत्वादिकं प्रस्थाननिषेधकतया राज्यवर्धनेन संभावितं श्रीहर्षेण  
पुनरन्यथा प्रस्थाननिमित्ततया योजितम् । अतश्चात्रान्यथा योजनस्य प्रस्तुतवस्तुव्याह-  
तिनिवन्धनत्वेऽपि प्रस्थानविधौ तात्पर्यम् । ननु तद्विघातमात्रेणास्य वक्रोक्तावन्तर्भाव  
इति चेत् तर्हि साधर्म्यविशेषाद्गुणसंयोगोपमादीनामप्युपमायामन्तर्भावः किं न स्यात् ।  
अथात्र फलभेदोऽस्तीति कथमेतदिति चेत्, एवमिहापि फलभेदस्य विधमानत्वात्कथम-  
स्थान्तर्भावः स्यात् । तथाह्यन्यथा योजनस्य क्विद्वचनविघातमात्रं फलं क्वचिच्च संभाव्य-  
मानस्याहतिनिवन्धनत्वेऽप्यर्थान्तरे तात्पर्यम् । फलभेदालङ्कारभेदनिमित्तमित्यविघादः ।  
तेन पूर्वत्र वक्रोक्तिरपरत्र व्याघात इति यथोक्त एवालङ्कारभेदो न्याय्यः । एवं फलान्तरे-  
ष्वपि ज्ञेयम् । तस्मात्

‘एष श्रीकण्ठकण्ठच्छविरनभिमतो राजहंसप्रजानां

सद्यस्तापं प्रजानां प्रशममुपनयन्नच्छुधाराच्छलेन ।

कुर्वन्दिग्दक्षवालाक्रमणमुद्यते देव को वारिवाहो

मा मैवं मालवेन्दो परिमल कतरस्तर्हि राजन्नसिस्ते ४’

इत्यत्र श्रोत्रा संभावितस्यान्यथा खड्गत्वेन योजनं, तस्य तस्मादस्यप्रतीत्यर्थ-  
मित्यङ्गभूतोत्तरमार्थमौपश्यं यत्तु विवक्षितम् । ‘वाक्छलमुपचारच्छलम्, तद्विशेषा-  
दि’ति वाक्छलेनैवास्य संग्रहादुपचारच्छलात्मकम् । ‘क्वचिच्चौपचारिके प्रयोगे  
मुख्यार्थापादनमिति भेदान्तरमप्यस्या न वाच्यम् । यस्तु तदर्थान्तराभावादिति  
न्यायाद्गुणुपचारच्छलयोर्विशेष उक्तः, स नैयायिकानामुपयुक्तो नालङ्कारिकाणाम् ।  
तथात्वेनान्यथायोजनस्य वैचिन्त्यान्तराभावात् । यद्वा मुख्यौपचारिकार्थद्वयस्यैकवृत्त-  
गतफलद्वयन्यायेन ऋषिच्छिष्टवादस्य श्लेषवक्रोक्तावन्तर्भावः स्यात् । समयमुखेनेति ।  
सभङ्गासभङ्गश्लेषद्वारेण । विजय इति श्लेषस्यासभङ्गत्वम् । मेदुरोदरेणेति सभङ्ग-  
त्वम् । ‘स्मेरोऽवताहः शिवः’ तथा ‘प्रयुक्तवक्रोक्ति’ इत्यादिना वचनविघातमात्र-  
प्रयोजनस्यान्यथा योजनस्य प्रहेलिकाप्राचस्वमेव प्रकाशितम् । ननु ‘सैपा सर्वैव वक्रोक्तिः  
कोऽलङ्कारोऽनया विना’ इति नीत्या समग्र एवालङ्कारवर्गो वक्रोक्तिरूप इति कथ-  
मयमेव तथात्वेन निर्दिष्ट इत्याशङ्क्याह—वक्रोक्तौत्यादि । इहेति । वाक्छलात्मकरवेनोक्तेः  
कौटिल्यात् ।

अन्यथेत्यादि । इती की व्याख्या करते हैं—यद् वाक्यम्० । अन्याभिप्रायेण = अन्य अर्थ  
के अभिप्राय से = अर्थात् विवक्षित अर्थ के अभिप्राय से । काकु = स्वरविशेष । जैसा कि कहा है—

‘एक प्रकार की असाधारण वा विशेष प्रकार की उस कण्ठध्वनि को काकु कहा जाता है  
जिससे [ सामान्य ] वाक्य में कहा जा रहा अर्थ अन्यरूप में समझा जाता है ।

अन्यार्थवटनया = प्राकरणिक अर्थ से भिन्न किसी अन्य अर्थ की वटना = उल्लेख = समझ से ।  
निष्कर्ष यह कि किसी वक्ता के द्वारा अपने अभिप्रेत अर्थ के प्रतिपादन के लिए कहे गए वाक्य  
की योजना का, उस अर्थ को काट कर पहेली के समान ‘नवकम्बलकोऽयं माणवकः’ (न्यायदर्शन  
सूत्रभाष्य १।२।१२) इत्यादि ।

वाक्छल के मध्यम से दूसरे रूप में किया जाना ही इस अलङ्कार का स्वरूप है । इसीलिए  
[रत्नाकरकार को] द्वितीय व्याघात को इसका भेद नहीं बतलाना चाहिए । उसमें अर्थ की जो भिन्न

रूप में योजना होती है वह केवल किसी के वचन को काटने के लिए नहीं। उसमें तो 'वाङ् हूँ तो और भी अपरित्याज्य हूँ, रक्षणीय हूँ तो रक्षास्थान आप का ही मुजपजर है' इत्यादि स्थलों में राज्यवर्धन बालरवादि को प्रस्थाननिवारक समझना है, श्रीहर्य उन्हें प्रस्थाननिमित्त के रूप में बतलाते हैं। [ अर्थात् यहाँ विधातक को साधक बनाया जाता है जब कि वक्रोक्ति में साधक को विधातक रूप में लिया जाता है ]। इसीलिये = यहाँ 'अन्यथा योजना' = दूसरे प्रकार से लगाने में, प्रस्तुत अर्थ का विधान तो होता है परन्तु, तात्पर्य प्रस्थानविधि में ही रहता है। केवल उस [ प्रस्तुत अर्थ ] के विधान मात्र को लेकर इस [ व्याघात के द्वितीय भेद ] का वक्रोक्ति में अन्तर्भाव करेंगे तो सब में साधर्म्य की स्थिति समान देखकर उपमेयोपमा आदि का भी उपमा में ही अन्तर्भाव करना होगा। यदि कहें कि यहाँ [ उपमा और उपमेयोपमा आदि में ] फल मित्र होता है। [ उपमा में केवल सादृश्य उपमेयोपमा में द्वितीयसदृश व्यबच्छेद ] अतः यह कैसे समभव है [ कि उपमेयोपमा आदि का उपमा में अन्तर्भाव किया जाए ] तो इस [ व्याघात ] का अन्तर्भाव भी कैसे किया जा सकता है; फल में मित्रता यहाँ भी विद्यमान है। यह इस प्रकार कि कहीं तो 'अन्यथा योजना' का फल केवल वचनविधात ही होता है और कहीं होता है अन्य किसी अर्थ का प्रतिपादन, यद्यपि इस दूसरे प्रकार में अन्य अर्थ का विधान भी रहता है। यह तो सर्वमान्य तथ्य है कि अलंकार का भेदक तत्त्व फलभेद ही है। इसलिये प्रथम स्थल में वक्रोक्ति और द्वितीय में व्याघात मानना उचित है। अतः इन अलंकारों में [ सन्स्वरकार ने ] जो भेद बतलाया है उसे [ रत्नाकरकार को भी ] उसी रूप में स्वीकार करना उचित है। इसी प्रकार अन्य अलंकारों में भी जानना चाहिए वहाँ अन्य फल निकालने हैं। इस कारण—[ अलंकाररत्नाकरकार द्वारा वक्रोक्ति के उदाहरण के रूप में उद्धृत ]।

'[ कवि ] हे देव, यह उदित हो रहा है, जिसकी छवि नीलकण्ठ ( भगवान् शिव ) के कण्ठ के समान है, राजहंसों को अभिय है, स्वच्छ धारा के जल से प्रजा वर्ग का स्नाप तत्काल शान्त करता है, जो दिशाभों पर आक्रमण करता है, [ राजा ] कौन, मेघ ? [ कवि ] नहीं मालवचन्द्र ! ऐसा नहीं, [ राजा ] तब कौन है ऐसा, [ परिमलकवि ] राजन् आपको खड्ग !'

इस पद्य में सुनने वाले [ राजा माहसांक ] के द्वारा समाहित मेघरूपी अर्थ की योजना खड्गरूप में की गई है, ऐसा उस [ खड्ग ] से उस [ मेघ ] के सादृश्य का ज्ञान कराने के लिए किया गया है। इस कारण यहाँ वक्रा का विचारित अर्थ सादृश्य ही है, जिसमें यहाँ उत्तरालंकार को अंग बनाया गया है। 'उपचारच्छल को वाक्य ही क्यों न मान लिया जाए, क्योंकि उसमें इसका कोई अन्तर नहीं है, [ न्यायदर्शन १।२।१५ द्वारा प्रतिपादित ] इस वाक्य के द्वारा ही इस [ रत्नाकरकार द्वारा कथित उपचारवक्रोक्ति नामक वक्रोक्ति के नवीन भेद ] का समग्र हो जाना है, अतः [ रत्नाकरकार ने भी ] उपचारच्छलात्मक भेद यह कहते हुए माना था कि 'प्रयोग कहीं औपचारिक होगा और वहाँ मुख्यार्थ को छपर से छाना पटना है', वह भेद भी इस [ वक्रोक्ति ] में नहीं बतलाया जाना चाहिए। [ न जाने किसने और कहीं ] जो 'उन में अर्थान्तर का अभाव रहता है' यह तर्क देकर वाग्युपचार और वाक्य का अन्तर किया है वह न्यायशास्त्रियों के लिए उपयुक्त है, अलंकारिकों के लिए नहीं। अथवा मुख्य और औपचारिक दोनों अर्थों का एकान्तगत दो फलों के समान शब्द के साथ विपके रहने से इसका अन्तर्भाव श्लेषवक्रोक्ति में हो सकता है। उभयमुखेन = समग्र तथा अतमग्र दोनों श्लेषों के द्वारा 'विजये'—इसमें श्लेष असमग्र है तथा 'भित्तुरोदरेण' में समग्र। 'उत्कुराने शिव आपको और हमारी रक्षा करें तथा 'वक्रोक्ति के प्रयोग से' इत्यादि के द्वारा यही सूचित किया कि 'अन्य प्रकार से योजना करने का' उद्देश्य केवल वचनविधान ही रहता है, अतः यह पहेली जैसी ही रहती है।

'यद् सव वक्रोक्ति ही है इसके बिना कौन सा अलंकार निष्पन्न हो सकता है' इस प्रकार [ मामद् आदि आचार्यों ने ] सभी अलंकारों को वक्रोक्तिरूप ही बतलाया है। तब यहाँ इसी अलंकार को वक्रोक्तिरूप क्यों कहा 'ऐसी शंका उठाकर उत्तर देते हैं—वक्रोक्ति०। दृष्ट=यहाँ अर्थात् क्योंकि इस अलंकार में वाक्यरूप से बोला जाता है अतः इसमें कुटिलता रहती है अतः इसे 'वक्र'—उक्ति कहा।'

विमर्श—द्वितीय व्याघात का 'वाल इति०' इत्यादि जो उदाहरण हर्षचरित से दिया गया है उसमें रत्नाकरकार ने अर्थवक्रोक्ति मानी थी। उनके अनुसार वक्रोक्ति केवल शब्द का ही अलंकार नहीं है। विमर्शनीकार ने उनका खण्डन और सर्वस्वकार का समर्थन करते हुए व्याघात के द्वितीय भेद और वक्रोक्ति में अन्तर स्पष्ट किया है। उनके कथनानुसार इनका अन्तर फलगत भेद पर निर्भर है। वक्रोक्ति का उद्देश्य या फल केवल वचनविघात अर्थात् दूसरे के कहे शब्दों को तोड़ मरोड़, अथवा वक्ता द्वारा अभिप्रेत अर्थ को बदलना होता है। इस प्रकार वक्रोक्ति का चमत्कार अभाव या निराकरण पर ही निर्भर रहता है। व्याघात के द्वितीय भेद में न तो वक्ता के शब्दों को तोड़ मरोड़ ही रहती, और न उनका पूर्वाभिमत अर्थ ही बदला जाता, केवल उसकी अप्राणता सिद्ध की जाती है; किन्तु इसका उद्देश्य केवल यही नहीं रहता। इसमें द्वितीय अर्थ की स्थापना भी की जाती है और यही मुख्यतात्पर्यविषयीभूत अर्थ होता है। न्याय की भाषा में यहाँ—'पूर्वप्रतिपादितकारणतानिरूपितप्रतियोगिता को पूर्वप्रतिपादित कार्य से हटाने मात्र में तात्पर्य नहीं है अपितु उसे तद्विरुद्ध कार्य में नियोजित करने में तात्पर्य रहता है।' इस प्रकार इस अलंकार का चमत्कार अभाव पर नहीं विधि पर, और निराकरण पर नहीं स्थापना पर निर्भर रहता है।

दृष्टिहास :—वक्रोक्ति एक विशिष्ट अलंकार—

वक्रोक्ति नाम तो वामन में भी मिलता है किन्तु यहाँ इसका स्वरूप भिन्न है। उनका सूत्र है—

वामन—'सादृश्यलक्षणा वक्रोक्तिः'। अर्थात् गौणी लक्षणा वक्रोक्ति है।

उदाहरण के लिए 'उन्मिल कमलं सरसीनाम'।

'तल्लैयों के कमल खुल गए।' यहाँ उन्मोलन पर खुलना धर्म नेत्र का है, उसे विकासरूपी साधन्य के आधार पर कमल में अन्वित कर दिया गया है। इस प्रकार वामन की वक्रोक्ति औपचारिक वाक्यप्रयोग है।

रुद्रट—इसका वह जो रूप सर्वस्वकार ने दिया है प्रथमतः रुद्रट में मिलता है। उन्होंने इसे शब्दालंकारों के प्रकरण में गिना है और इसका विवेचन इस प्रकार किया है—

'वक्रा वदन्ययोक्तं व्याघटे चान्यथा तदुत्तरदः।

वचनं तत्पदमद्देश्येया सा श्लेषवक्रोक्तिः ॥१११४॥

वक्ता द्वारा अन्य अभिप्राय से कथित वाक्य की व्याख्या उत्तरदाता के द्वारा पदों को तोड़ मरोड़ कर अन्य प्रकार से की जाय तो वह अलंकार श्लेषवक्रोक्ति कहलाता है। उदाहरण—

किं गौरि मां प्रतिरूपा ननु गौरि किम् ? शिवजी ने कहा 'गौरि मां प्रति = हे गौरी ! मेरे प्रति रोष क्यों। पार्वतीजी ने अर्थ लिया 'गौः इमां प्रति' अर्थात् 'हे गौ, इसके प्रति रोष क्यों, और उत्तर दिया कि 'क्या मैं गौ हूँ।' इसी प्रकार रुद्रट ने काकुवक्रोक्ति का भी एक स्वतन्त्र लक्षण और स्वतन्त्र उदाहरण दिया है।

मम्मट—ने रद्रट का पूर्णतः अनुसरण किया। उन्होंने वक्रोक्ति को शब्दालंकार प्रकरण में ही नवम उल्लास में प्रथम अलंकार के रूप में गिनाया। उनका विवेचन—

‘यदुक्तमन्यथा वाक्यमन्यथान्येन योज्यते।

श्लेषेण काव्य वा शेषा सा वक्रोक्तिस्तथा द्विधा ॥’

जहाँ दूसरे के द्वारा अन्य प्रकार से कथित वाक्य अन्य के द्वारा श्लेष या काकु के द्वारा अन्य प्रकार से योजित किया जाता है वह दो प्रकार की वक्रोक्ति माननी चाहिए। स्पष्टतः रद्रट से आगे बढ़कर मम्मट ने वक्रोक्ति में अर्थभेद के कारणों का भी निवेश किया। उन्होंने श्लेष के दोनों प्रकार भी इसमें अपनाए अमङ्ग और समङ्ग। इनमें से अमङ्गश्लेष के लिए जो उदाहरण सर्वस्वकार ने दिया है वह मम्मट से ही लिया गया है। समङ्गश्लेष के लिए उनका उदाहरण है ‘नारीणां प्रतिभूलमाचरसि चेज्जानासि कश्चेतनो वामाना प्रियमादधाति’।

यदि तुम नारीणाम् [ नारी स्त्री, न अरि = शत्रुओं के प्रतिकूल ] आचरण करते हो तो विद्राग् हो। कौन चेतन ऐसा होगा जो वामानां [ वाम = प्रतिकूल = शत्रु, वामा = सुन्दरी का ] प्रिय कार्य करता हो’।

काकु के लिए भी सर्वस्वकार ने मम्मट का ही उदाहरण उद्धृत कर दिया है। सर्वस्वकार का वक्रोक्ति का आधार स्पष्टतः मम्मट का वक्रोक्तिविवेचन है।

शोभाकर—परवर्ती आवायों में रत्नाकरकार शोभाकर ने वक्रोक्ति को, जैसा कि कहा जा चुका है शब्द और अर्थ इन दोनों में माना है। उनका उद्युग इस प्रकार है—

[ सू० ] ‘अन्यथा समावितयोः शब्दार्थयोरन्यथा योजनं वक्रोक्तिः।

[ वृ० ] वक्रा श्रोत्रा वा शब्दस्वापरस्य वान्यथा समावितस्य प्रकारान्तरेण योजन वक्रोक्तिः।

[ सू० ] ‘अन्यथा समावित शब्द और अर्थ की अन्यथा योजना वक्रोक्ति कहलाती है।

[ वृ० ] वक्रा या श्रोत्रा द्वारा अन्यरूप में समावित शब्द या अर्थ की अन्य प्रकार से योजना वक्रोक्ति कहलाती है।

इस अन्यथायोजना के उपायों में रत्नाकरकार ने काकु और श्लेष के अतिरिक्त धर्मसामान्य को भी गिना है।

‘एष श्लोककण्ठ०’ पद्य में धर्मसाम्यमूलक वक्रोक्ति मानते हुए रत्नाकरकार ने लिखा है—

‘...कालत्वादिधर्माणां वारिवाद्गतत्वेन श्रोत्रा समावितानां वक्रा खल्वगतत्वेन योजना कृतेति धर्मसाम्याद् वक्रोक्तिः’।

यहाँ दयामत्वादि जिन धर्मों की संभावना श्रोत्रा द्वारा शेष में की गई थी वक्रा ने उन्हें खल्व्ग में अन्विष्ट किया, इस प्रकार यहाँ साधारण धर्म के आधार पर वक्रोक्ति हुई। सर्वस्वकार द्वारा श्लेष के प्रकरण में मिस ‘आकृष्य०’ आदि पद्य में अपबृति माना है, रत्नाकरकार ने उसमें भी वक्रोक्ति की ही उक्त विधा स्वीकार की है—

‘अत्र कान्तस्य सम्बन्धिभिः अलंकारिकर्षणादिधर्मस्य चोळकैःपि योगात् पूर्ववद् वक्रोक्तिः। यहाँ प्रिय से सम्बन्धित अलंकारिकर्षणप्रभृति के द्वारा चोळक में भी साधारणधर्म की योजना हो जाती है अतः यहाँ भी पूर्ववत् [ एष श्लोककण्ठ० पद्य के ही समान ] वक्रोक्ति है।

अर्थगत वक्रोक्ति के सन्दर्भ में ‘बाल इति०’ स्थल पर टिप्पणी करते हुए लिखा है—

‘अत्र बालत्वादिकं प्रस्थाननिषेधकतया राज्यवर्धने समावितम्, शीर्षेण प्रस्थाननिमित्तकतया योजितमित्यर्थवक्रोक्तिरेव।’

यहाँ बालत्वादि को राज्यवर्धन ने प्रस्थाननिषेधक समझा। उन्हीं को श्रीहर्ष ने प्रस्थान-निमित्त सिद्ध कर दिया। अतः यहाँ अर्थ वक्रोक्ति ही है।

अप्ययदीक्षित से अर्थवक्रोक्ति को समर्थन मिलता है। उन्हींने शब्दश्लेष को भी वक्रोक्ति का उपाय बतलाते हुए यह उदाहरण दिया है—

लक्ष्मीजी पार्वतीजी से कहती हैं—

‘भिक्षार्थी त्वं कं यातः सुतनु’ ! वह भिखारी कहाँ गया सुन्दरी ! पार्वती जी उत्तर देती हैं—

‘बलिमुखे’—बलि के यज्ञ में। वामनावतार में विष्णु भगवान् ने भी बलि से याचना की थी। यहाँ ‘भिक्षार्थी’ शब्द के स्थान पर ‘याचक’ शब्द दिया जा सकता है, किन्तु ‘याचना’—अर्थ नहीं बदला जा सकता, अतः श्लेष अर्थ गत ही है। विमर्शिनीकार के अनुसार यहाँ पूर्वप्रतिपादित अर्थ के काटने में चमत्कार है अतः अलंकार वक्रोक्ति नाम से ही पुकारा जाएगा। व्याघात का चमत्कार पूर्वप्रतिपादित अर्थ को विरुद्धफलक सिद्ध करने में होता है, उसकी काट में नहीं। अतः अर्थवक्रोक्ति मानने पर भी उसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं मिटता।

अप्ययदीक्षित ने काकु तथा शब्दश्लेष के दोनों प्रकारों को भी वक्रोक्ति का उपाय माना है और उनके पृथक्-पृथक् उदाहरण दिए हैं। अमरश्लेषमूलक वक्रोक्ति का उदाहरण तो ‘अहो केनेदृशी०’ पद्य ही दिया है। दोनों प्रकार की वक्रोक्तियों को दीक्षितजी ने एक ही अलंकार माना है और उनका लक्षण इस प्रकार बनाया है—

‘वक्रोक्तिः श्लेषकाकुभ्यामपरार्यप्रकाशनम् ।’

श्लेष और काकु के द्वारा अन्य अर्थ का प्रकाशन वक्रोक्ति माना जाता है। जयदेव ने इसी लक्षण में ‘अपरार्य०’ शब्द के स्थान पर ‘वाच्यार्य०’ शब्द रखा था।

पण्डितराज अगमनाथ के रसगंगाधर की अपूर्णता यहाँ भी खलती है। उसके उपलब्ध अंश में यह अलंकार नहीं है। विद्वेश्वर के अलंकारकौस्तुभ में केवल अर्थालंकारों का ही निरूपण है। उनमें वक्रोक्ति नहीं मिलती। वे कदाचित् इसे मम्मट के ही समान केवल शब्दालंकार मानते हैं। श्रीविद्याचक्रवर्ती की निष्कृष्टार्थकारिका इस पर इस प्रकार है—

‘अन्यायोगनं वाक्ये वक्रोक्तिरभिधीयते ।

दिप्रकारा च विद्येया काकुश्लेषसमाश्रयात् ॥’

२. वक्रोक्ति अलङ्कारसामान्य—

अलंकार मात्र को वक्रोक्ति मानने की जो चर्चा सर्वत्र में आई है उसका मूल भामह की की निम्नलिखित घोषणा है—

‘सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विमान्यते ।

यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारो नया विना ॥’

[ काव्यालं० २।८५ ]

‘अतिशयपूर्ण उक्ति ही वक्रोक्ति होती है। इसीसे काव्यार्थ में विशेषता आती है। कवि को इसके लिये यत्नशील रहना चाहिए। इसके बिना कौन अलंकार अलंकार बन सकता है। अतिशयोक्ति को काव्य का सामान्य अलंकार दण्डी ने बतलाया था उन्हींने अतिशयोक्ति प्रकरण के अन्त में लिखा था—

‘अलंकारान्तरागामप्येकमाहुः परायणम् ।

वानौशमहितानुक्तिमिमामतिशयाह्वयान् ॥’ २।२२० ॥



मामह ने यद्यपि अतिशयतत्त्व को ही महत्त्व दिया था किन्तु उक्त उक्ति की तुला वक्रता की ओर अधिक झुक गई। मामह ने इसके पूर्व भी अवक्रोक्ति [१।३४] काव्य को अच्छा काव्य नहीं कहा था। अलंकारसामान्य का लक्षण करते हुए भी उन्होंने लिखा था—'वक्रामिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचाम-लक्ष्णः [१।३६] हमें अर्थ और शब्द की वक्रतापूर्ण उक्ति ही काव्य का अलंकार मान्य है। दण्डी के अतिशयतत्त्व में निश्चिन्त ही मामह ने वक्रतातत्त्व खोज निकाला था। और उसे अपेक्षा-कृत अधिक महत्त्व दिया था। इसी कारण उनकी उपर्युक्त—'सैषा सर्वेव०' कारिका आनन्दवर्धन और मम्मट ने भी प्रमाणभूत कारिका या सिद्धान्तवचन के रूप में स्वीकार कर ली है। आनन्दवर्धन और मम्मट के बीच हुए कुन्तकाचार्य ने तो वक्रोक्ति को ही काव्य का प्रमुख तत्त्व स्वीकार कर लिया था। सर्वस्वकार ने आरम्भिक भूमिका में उनका उल्लेख भी किया है। उनका मत है—

'वक्रामिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचाम-लक्ष्णः । पुनरलक्ष्णः ।

वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यमङ्गीमणितिरिभ्यते ॥'

शब्द और अर्थ अलंकार्य हैं और उनका अलङ्कार है वक्रोक्ति। जिसका स्वरूप है वैदग्ध्य-पूर्वक विचित्रता के साथ कही उक्ति ॥

मंथ ने श्लोकचरित में वक्रोक्ति को चन्द्रकला के बौद्धपने के समान सर्वांगिक आवर्जक तत्त्व माना है—

'कलंकशून्यापि रसप्रवाहमपि सवन्ती विदुषेकमोग्दम् ।

वाणी किमेर्गाककलेव षत्ते टङ्गं विना वक्तिमविभ्रमेण ॥' [ २।११ ]

### [ सर्वस्व ]

[ सू० ७९ ] सूक्ष्मवस्तुस्वभावयथावर्णनं स्वभावोक्तिः ।

इह वस्तुस्वभाववर्णनमात्रं नालंकारः । तत्रै सति सर्वे काव्यमलंकारि स्यात् । न हि तत्काव्यमस्ति यत्र न वस्तुस्वभाववर्णनम् । तदर्थं सूक्ष्म-प्रहणम् । सूक्ष्मः कवित्वमात्रस्य गम्यः । अत एव तन्निर्मित एव यो वस्तु-भावस्तस्य यथावदन्वयानतिरिक्तत्वेन वर्णनं स्वभावोक्तिरलंकारः । उक्ति-वाचोयुक्तिप्रस्तावादिह लक्षणम् । भाविकरसवदलंकाराभ्यामस्य भेदो भाविकप्रसङ्गे निर्णेष्यते । यथा—

'हुङ्कारो नखकोटिचञ्चुपुटफन्याघट्टनोदृङ्कित-

स्तन्व्याः कुन्तलक्रीतुकव्यतिकरे सीत्कारसीमन्तितः ।

पृष्ठशिल्प्यदवामनस्तनभरोत्सेव्याङ्कपालीसुधा-

सेकाकेकरलोचनस्य कृतिनः कर्णावतंसीभवेत् ॥'

[ सूत्र ७९ ] वस्तु के सूक्ष्म स्वभाव का यथावत् वर्णन स्वभावोक्ति [ नामक अलंकार कहलाता ] है ॥

[ वृत्ति ] यहाँ [ काव्य में ] वस्तु के केवल स्वभाव [ स्वरूप ] का वर्णन अलंकार नहीं होता, वैसा होने पर सभी काव्य अलंकार युक्त हो जायेंगे। क्योंकि ऐसा कोई काव्य नहीं जिसमें वस्तु के स्वभाव [ स्वरूप ] का वर्णन न हो। इस हेतु [ लक्षण में ] सूक्ष्म शब्द का

ग्रहण किया। सूक्ष्म का अर्थ है एकमात्र कवित्व [ कविप्रतिभा ] का विषय। इस प्रकार वस्तु का जो स्वभाव [ स्वरूप ] उस [ कविप्रतिभारूप कवित्व ] के द्वारा निम्न होना है उसको [ यथावत् ] जैसा का तैसा अर्थात् उसका कोई अंश छोड़े या उसमें कोई अंश जोड़े बिना हुआ वर्णन स्वभावोक्ति नामक अलंकार होता है। [ व्याजोक्ति, बक्तोक्ति इस प्रकार ] उक्ति शब्दान्त अलंकारों का प्रकरण होने से इसका लक्षण यहाँ किया गया। भाविक और रसबद्ध अलंकारों से इसका अन्तर भाविक के प्रकरण में तय किया जाएगा। उदाहरण, यथा—

[ नायिका ने अपनी पीवर छाती नायक की पीठ में सटा दी, नायक की ओरों काम के नशे में चूर हो गईं। उसने नायिका को नखों से कुरेदा और काष्ठागत कामावेश में जब केश पकड़ कर रतिक्रिया करना आरम्भ किया तो नायिका ने पहले सीत्कार करना शुरू किया अन्त में कृतकृत्य हो जाने से अर्पण काम नायक के निवारण लिए 'हुँ हुँ' करना आरम्भ किया। पूर्वभूमिका से लेकर दर्पशमन तक हुई इस रमण क्रिया को कवि यथावत् प्रस्तुत करते हुए करता है— ]

[नायिकाद्वारा] 'पोछे से आकर चिपकर जा रहे, अवामन और विशाल स्तनों के उमार की गोद में भरी सुधा के सेक से आवेकर [शृंगारभावपूर्ण] नेत्र वाला कोई ही ऐसा बड़भागी होता है जिसे नखों की चिमटी की कुरेद से उभड़ा और केशकौतुक आरम्भ करने पर सीत्कार से चढ़ा-बढ़ा हुंकार कर्णावतंस बनाने का अवसर मिलता है ॥'

### विमर्शिनी

सूक्ष्मेत्यादि। ननु कथं वस्तुवर्णनमात्रमलंकार इत्याह—इदमेत्यादि। 'तद्वतिशयहेतवः स्वलंकाराः' इति नीरया वस्वतिशयदायिनां धर्माणामलंकारस्वात्कथं वस्तुमात्रस्यैवालंकारत्वं स्यादिति भावः। ननु कथमेतस्सूक्ष्ममात्रग्रहणेनैव समाहितमित्याशङ्क्याह—सूक्ष्म इत्यादि। कवित्वमात्रस्येति। कुशाग्रीयधिपणत्वात्। एवं स्थूलमतीनामकवीनां कुकवीनां तस्याद्यगमेऽपि तथा विकल्पारोहो न भवेदिति भावः। अत एवेति। कविस्वमात्रगम्यत्वात्। तन्निर्मित एवेति। अन्येषां तथात्वेन वस्तुमशक्यत्वात्। तद्वस्तुगतस्यासाधारणस्य फलक्रियादेः संभवतः स्वभावस्य शब्देन प्रतिपादनसाधनत्वात्तन्निर्मित एवेत्युक्तम्। अन्यूनानतिरिक्तत्वेनेति। यथा वस्तुनि संभवतीत्यर्थः। अत एव सूचेतसां वस्तुगतस्य सूक्ष्मसुभगस्य वस्तुनो वर्णनेन हृदयसंवादाच्च किमयं रसबद्धलंकारो वा न भवतीत्याशङ्क्याह—भाविकेत्यादि। तत्र निर्णयमाणस्यैतद्भेदस्य—

'वस्तुनश्चित्तवृत्तेषु संवादः स्फुटता प्रथा।

स्वभावोक्ते रसवतो भाविकस्य च लक्षणम् ॥'

इत्ययं संक्षेपः।

सूक्ष्म इत्यादि। मला 'वस्तुवर्णनमात्र अलंकार कैसे हो सकता है' ऐसी शंका उठा लिखते हैं—'इह०। अर्थ यह कि [वामन की] 'अलंकार वे होते हैं जो उस [शब्दार्थ रूप] कान्य में अतिशय लाते हैं' इस उक्ति के अनुसार वस्तु में अतिशय लाने वाले धर्मों को अलंकार कहा जाता है, अतः केवल वस्तुमात्र को अलंकार कैसे माना जा सकता है। मला 'सूक्ष्मशब्दमात्र के ग्रहण से इसका समाधान कैसे हो जाता है, ऐसी शंका उठाकर कहते हैं—सूक्ष्म इत्यादि। कविस्वमात्रस्य = कविप्रतिभामात्र क्योंकि कवि कुश के अग्रभाग के समान पैनी बुद्धि वाला होता है। इसका अर्थ यह कि स्थूलबुद्धि वाले अकवि या कुकवि वटे [ वस्तु को लौकिक भूमिका पर ]

ज्ञान भी लें तो उनमें [ उनको बुद्धि में वैसा विकल्प नहीं उठता । अत एव = इस कारण = क्योंकि वह केवल कवित्व [ प्रतिमा ] मात्र का विषय होता है इस कारण । तन्निमित्त एव = क्योंकि अन्य वस्तुओं को तद्रूप नहीं बतलाया जा सकता । इस प्रकार वस्तु में जो फल कियादि रूप असाधारण स्वभाव ( स्वरूप ) रहता है उसका शब्द से प्रतिपादन करने मात्र के कारण 'तन्निमित्त एव = उसमें निष्पादित ही' कहा । अण्यूनानतिरिक्तत्वे = कुछ छोड़े या कुछ जोड़े बिना अर्थात् वस्तु में वैसा जैसा स्वरूप समव होता है । वस्तुस्वरूप में स्थित सूक्ष्म और सुन्दर वस्तु का वर्णन होने से यहाँ सद्दयों का हृदयसवाद रहता है । इस कारण इसे रसवदलंकार क्यों न माना जाय' ऐसी शंका कर उत्तर देते हैं—'भाविक०' इत्यादि । इसका जो भेद बहों स्थिर किया जाने जाना है उसका संक्षेप यह है—'वस्तुनश्चित्तवृत्तेश्च—०' अर्थात् वस्तु और चित्तवृत्ति के सवाद में स्वभावोक्ति, स्पुटता में रसवद् तथा प्रथा में भाविक अलंकार होते हैं ॥'

विमर्श—

इतिहास—स्वभावोक्ति को दण्डी ने सभी अलंकारों में प्रथम स्थान दिया था । अलंकारों के नाम गिनाते हुए उन्होंने लिखा था—

दण्डी—स्वभावाख्यानमुपमा रूपक दीपकावृत्ती । २।४। स्वभावाख्यान को आगे वे स्वभावोक्ति और जाति नाम से पुकारने और उपमा के पहले उसका लक्षण इस प्रकार करते हैं—

'नानावस्थ पदार्थानां रूप साक्षाद् विवृण्वती ।

स्वभावोक्तिश्च जातिदत्तेत्याद्या सा लङ्कृतिर्यथा ॥'

जो अलंकार पदार्थों के नाना प्रकार के रूप का मानों साक्षात्कार कराता है वह स्वभावोक्ति या जाति कहलाता है । यह प्रथम अलंकार है । पदार्थ के जाति, गुण, क्रिया और द्रव्य के रूप में विभक्त होने से दण्डी ने स्वभावोक्ति के भी चार उदाहरण दिए हैं । उनमें जाति का उदाहरण निम्न-लिखित है—

तुण्डेरानाम्रकुटिलैः पञ्चेहरितकोमलैः ।

त्रिवर्णराजिमि कण्ठैरेते मञ्जुगिरः शुका ॥ २ । ९ ॥

लाज और टेढ़ी चोंच, हरे और कोमल पल्ल तथा तिरंगी धारियों के कण्ठ से युक्त ये शुक बड़ी ही मीठी बोली बोलते हैं । अन्त में उन्होंने लिखा है—

'स्वभावाख्यानमीदृशम् । शास्त्रे त्वरथैव साम्राज्य काव्ये त्वरथैतदीप्सितम् ॥'

यह जो ज्ञात्यादि भेद से उपयुक्त चतुर्विध आख्यान है, शास्त्रों में तो इसी का साम्राज्य है ही, काव्यों में भी यह कवियों को अभीष्ट है ।' निश्चित ही स्वभावोक्ति की स्थापना का श्रेय दण्डी को है ।

मामह का स्वर स्वभावोक्ति के विषय में मन्द है । द्वितीय परिच्छेद के अन्त में वे लिखते हैं—

'स्वभावोक्तिरलङ्कार इति कैचित् प्रचक्षते ।

अर्थस्य तदवरपत्स्व स्वभावोक्तिमिहितो यथा ॥ २ । ९३ ॥

आक्रोशान्नाहपथन्यानाषावन् मण्डलै रुदन् ।

गा वारपति दण्डेन हिम्मः सत्यावतारणीः ।

समासेनोदितमिदं धोत्रेदायैव विस्तरः ॥' २ । ९४ ।

'कुछ आचार्य स्वभावोक्ति को भी अलंकार बतलाते हैं । अर्थ की तदवस्था [ लोकवद् काव्य-स्थिति ] स्वभाव कहलाता है । उदाहरण — 'स्वय चिन्ताता, दूसरों को पुकारता गोरू गोल धूमता और रोता हुआ किसान-बालक दण्डे से सत्य [ कच्ची फसल, द्रष्टव्य डॉ० अग्रवाल का पाणिनि-कालीन भारतवर्ष ] में उतरी गाय भगा रहा है ।

हमने इसे संक्षेप में बतलाया, क्योंकि इसका विस्तार बुद्धिव्यायाम मात्र है। २।१९३, १४ ॥ स्पष्ट ही मामद् का कटाक्ष दण्डी की स्वभावोक्तिसंबन्धी महत्त्वबुद्धि पर है।

वामन तो मामद् के ही अनुयायी ठहरे। उन्होंने सचमुच स्वभावोक्ति को अनलङ्कार मान छोड़ दिया।

उद्भट—ने इसे महत्त्व दिया। उन्होंने इसका लक्षण इस प्रकार बनाया—

‘क्रियायां संप्रवृत्तस्य देवाकानां निबन्धनम्।

कस्यचिन्मृगडिम्भादेः स्वभावोक्तिरुदाहृता ॥’ ३।५ ॥

‘कुछ कर रहे मृग या बच्चों आदि की चेष्टाओं का शब्द द्वारा चित्रण स्वभावोक्ति कही गई है।’ यथा—

‘क्षणं नङ्गार्धवलितः शुद्धेणाग्ने क्षणं नुदन्।

लोलीकरोति प्रणयादिमानेप नृगार्मकः ॥’

‘भगवती पार्वती को यह’ मृगशावक जरा एक छिपकर, आधा घूमकर, सामने सींग से धकाकर स्नेहवश चंचल बना देता है।’ अवश्य ही उद्भट का स्वभावोक्तिनिरूपण वाञ्छित समृद्धि से रक्षित और कदाचित् स्वभावोक्ति में अलंकारत्व की पुनः प्रतिष्ठा तक सीमित है।

रुद्रट—रुद्रट ने इसे जाति नाम से अलंकारों के वास्तवनामक प्रथम वर्ग में गिना है। उनकी निरूपण—

‘संस्थानावस्थानक्रियादि यद्यस्य सादृशं भवति।

लोके चिरप्रसिद्धं तत्कथनमनन्यथा जातिः ॥’ ७।३० ॥

‘लोक में जिसकी भाङ्गति, स्थिति, क्रिया आदि चिरकाल से जैसी प्रसिद्ध हो उनकी अनन्यथा = जैसा का वैसा कथन जाति कहलाता है।’ अधिक स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा—

‘शिशु-मुग्धयुवति-कातरतिर्यक्-संभ्रान्तहीनपात्राणाम्।

सा कालावस्थोचितचेष्टासु विशेषतो रम्या ॥’ ३।३१ ॥

शिशु, भोली युवति, कातर तिर्यक्, भीत अधम पात्रों की समय और अवस्था के अनुरूप चेष्टाओं में वह अधिक खुलती है। कातर और संभ्रान्त को तिर्यक् और पात्रों का विशेषण न मान स्वतन्त्र भी माना जा सकता है। नमि साधु वे माना भी है। उदाहरणार्थ शिशुवर्णन, यथा—

‘धूलीधूसरतनवो राज्यस्थितिरचनकल्पिकैकनृपाः।

कृतमुखवाद्यविकाराः क्रीडन्ति सुनिर्भरं डिम्भाः ॥’

‘बच्चे खूब खेल रहे हैं। उनके शरीर धूलीधूसर है, खेल-खेल में राज्य बनाकर उन्होंने किसी को राधा बना रखा है, वे मुख से बाजे बजा रहे हैं। एक अन्य उदाहरण द्वारा उन्होंने मुग्धयुवति का चित्र भी प्रस्तुत किया है। स्पष्ट है कि रुद्रट ने स्वभावोक्ति को उचित महत्त्व दिया।

मम्मट—

‘स्वभावोक्तिस्तु डिम्भादेः स्वक्रियारूपवर्णनम्।’

बच्चों आदि की अपनी क्रिया, उनके रूप अर्थात् रंग और शरीर का वर्णन स्वभावोक्ति कहा जाता है। उदाहरण के रूप में उन्होंने धूर्धरित का यह अश्ववर्णन प्रस्तुत किया है—

‘पश्चादङ्घ्री प्रसार्य त्रिकनतिविततं द्रावयित्वाङ्गमुच्चै-

रासक्त्यामुग्धकण्ठो मुखमुरसि सरां धूलिधूत्रां विधूय।

घासघ्रासामिलायादनवरतचलत्प्रोद्युत्तुण्डस्तुरसो

मन्दं शब्दायमानो विलिखति शयनादुत्थितः क्ष्मां खुरेण ॥’

‘सोकर उठे घोड़े ने पिछड़ी टाए पाँछे फैलाई और पीठ को झुकाते हुए शरीर को लम्बा किया, उसने धूलिधूसर सड़ा को हिलाकर गरदन टेढ़ी की और मुँह पेट में चिपकाया। घोंस के कौर की श्छा से उसके युधने निरन्तर फटफटा रहे हैं और वह धीमे-धीमे कुछ शब्द कर रहा है।’

मम्मट के लक्षण तक ‘द्विभ्य या शिनु’ का जो अस्तिव चला आया उससे इस अलंकार की मासह से आगे बड़ी सुदीर्घ परम्परा का आमास मिलता है।

उद्भट और मम्मट के बीच स्वभावोक्ति को लेकर एक बहुत ही गम्भीर विवाद भी उठा था। कुन्तक ने स्वभावोक्ति की अलंकारता का बड़ी ही दृढ़ता और तर्ककेंशता के साथ खण्डन किया और उसका उतनी ही विदग्धता के साथ व्यक्तिविवेककार राजानक महिममट्ट ने समर्थन-वक्रोक्ति-कीवित में कुन्तक का स्वभावोक्ति सम्बन्धी विवेचन इन प्रकार है—

‘अलंकारकृता येषा स्वभावोक्तिरलङ्कृतिः ।  
 अलङ्कार्यतया तेषां किमन्यदवशिष्यते ॥  
 स्वभावव्यतिरेकेण वक्तुमेव न युज्यते ।  
 वस्तु तदरहित यस्मात्त्रिरूपार्थं प्रसज्यते ॥ १ । १२ ॥  
 शरीरं चेदलंकारः किमलङ्कुरुते परम् ।  
 आरमेव नारमनः सन्ध क्विदप्यधिरोहति ॥ १ । १३ ॥  
 भूषणत्वे स्वभावस्य विहिते भूषणान्तरे ।  
 भेदावबोध प्रकटस्नयोरप्रकटोऽथवा ॥ १ । १४ ॥  
 स्पष्टे सर्वत्र समुष्टिरस्पष्टे सञ्चरततः ।  
 अलङ्कारान्तराणां च विषयो नावतिष्ठते ॥ १ । १५ ॥

‘अलंकार ग्रन्थ बनाने वाले जिन आचार्यों को स्वभावोक्ति अलंकाररूप में मान्य है उनके यहाँ अलंकार्यरूप में क्या शेष रहता है जो उस [ स्वभाव ] से भिन्न हो। कारण कि स्वभाव को छोड़ कर तो कुछ भी बोलना संभव नहीं होता। उससे रहित वस्तु अगोचर अवर्गनीय हो जाती है। यदि शरीर ही अलंकार है तो फिर उससे भिन्न ऐसी कौन सी वस्तु है जिसे वह अलंकृत करता है, स्वयं अपने ही कन्धे पर स्वयं कदापि नहीं चढ़ सकता। यदि स्वभाव अलंकार है तो अन्य अलंकार आने पर दोनों में भिन्नता प्रतीत होगी या नहीं। यदि होगी तो प्रत्येक काव्य में समुष्टि ही अलंकार होगी, यदि नहीं तो केवल सत्कर। हम प्रकार अन्य अलंकारों के लिए कोई स्थान ही शेष नहीं रहेगा।’

स्वभाव शब्द की व्याख्या भी, कुन्तक ने, हम प्रकार की थी—‘स्वभावस्य पदार्थधर्मलक्षणस्य परिस्पन्दस्य उक्तिरभिधा’ = स्वभाव अर्थात् पदार्थ का धर्म जो इन्द्रियगोचर होता है उसको उक्ति अभिधा’।

महिममट्ट ने व्यक्तिविवेक में इसका बहुत ही दार्शनिक उत्तर दिया है। उन्होंने अवाच्यवचन नामक दोष के निरूपण में स्वरूपानुवादमात्र परक विशेषण को निरर्थक और शीघ्र कहकर स्याज्य बनलाया है और किरा है—

यत् स्वरूपानुवादकपलं फण्य विशेषणम् ।  
 अप्रत्यक्षायनागार्थं स्पृष्टमप्रतिभोज्यम् ॥  
 तदवाच्यमिति शेषं वचन तस्य दूषणम् ।  
 तद् वृत्तपूर्णाथैव न क्वित्वाय कल्पते ॥ [ पृ० १५१ चौखंभा संस्करण २ ]

—‘जो विशेषण केवल स्वरूप मात्र का अनुवादक होता है, फलतः निःसार और संप्रेषणीयता-शून्य होता है, इसीलिए जो प्रतिभाशून्यता का परिचायक होता है, वह विशेषण अवाच्य कहलाता है। उसका वचन=कथन अवाच्यवचन दोष होता है। ऐसा विशेषण केवल छन्दःसूक्तिकारक होता है, इससे कवित्व सिद्ध नहीं होता।’ इसी प्रकार के विशेषणों को अपुष्टार्थ विशेषण माना जाता है। उदाहरणार्थ ‘कुश शत्रुओं का अंकुशवस्तु या [ रघु० २६ ] यहाँ अंकुश के साथ वस्तु शब्द निरर्थक ही है।

इस पर स्वभावोक्ति की चर्चा चलते हुए महिमाचार्य ने लिखा—

कथं तर्हि स्वभावोक्तेरलङ्कारत्वमिभ्यते ।

न हि स्वभावमात्रोक्ती विशेषः कश्चनानयोः ॥ [ ६० ४५२-वही ]

तब स्वभावोक्ति को अलंकार कैसे माना जाता है। स्वभावमात्र की उक्ति और इस अवाच्य-वचन में अन्तर ही क्या है। इस पर उत्तर देते हुए लिखा ।

‘उच्यते, वस्तुनस्तावद् द्वैरूप्यमिह विद्यते ।

तत्रैकमत्र सामान्यं यद्विकल्पैकगोचरः ॥

त एव सर्वशब्दानां विषयः परिकीर्तितः ।

अत एवाभिधेयं ते सामान्यं बोधयन्त्यलम् ॥

विशिष्टमस्य यद् रूपं तद् प्रत्यक्षस्य गोचरः ।

स एव सत्कविगिरां गोचरः प्रतिभाभुवाम् ॥

अर्थस्वभावस्योक्तिर्यां सालङ्कारतया मता ।

यतः साक्षादिवामन्ति तत्रार्थाः प्रतिभापिताः ॥’

[ व्यक्तिविवेक चौ० सं० पृ० ४५२-५३ ]

उत्तर यह है कि वस्तु के दो रूप होते हैं। एक सामान्यरूप, जो विकल्प [ अविस्पष्ट ज्ञान ] का विषय रहता है। सब के सब शब्द उसी का ज्ञान कराते हैं। इसीलिए वे सामान्यात्मक अभिधेय [ अर्थ ] का ज्ञान कराते हैं। इसके अतिरिक्त इनका जो विशिष्ट रूप होता है वह प्रत्यक्षप्रमाण का विषय होता है। किन्तु सत्कवि की प्रतिभाप्रसूत वाणी इसी विशिष्ट अर्थ को प्रस्तुत किया करती है। इस प्रकार अर्थ के इस विशिष्ट स्वभाव की जो उक्ति होती है इसे अलंकार स्वीकार किया गया है। क्योंकि इस उक्ति में प्रतिभा द्वारा अर्पित सभी पदार्थ ऐसे दिखाई देते हैं जैसे उनका ज्ञान प्रत्यक्षप्रमाण से हो रहा हो।’

अन्य अलंकारों के विषय में उन्होंने लिखा कि—

‘सामान्यस्तु स्वभावो यः सोऽन्यालङ्कारगोचरः ॥’ [ पृ० ४५५ वही ]

[ स्वभावोक्ति में आए विशिष्ट वस्तुस्वभाव के अतिरिक्त जो ] वस्तु का सामान्य स्वभाव है वह अन्य अलंकारों का विषय बनता है।

इस प्रकार स्वभावोक्ति तब अलंकार मानी जाती है जब वस्तु का विषय प्रत्यक्षवत् प्रस्तुत कर देती है। ऊपर आए अश्वदि के वर्णन ऐसे ही है। सर्वस्वकार ने सूत्र में सूक्ष्म शब्द और वृत्ति में कविव्यक्तित्व को स्थान देकर महिमभट्ट की स्थापना यथावत् अंगीकार करली है। अन्यकार ने यहाँ इस प्रकार के विशेष स्वभाव को प्रतिभामानिमित कष्ट दिया है। दीपान्तरादि के अप्रत्यक्ष पदार्थ यदि प्रत्यक्षवत् प्रस्तुत हों तो उन्हें प्रतिभैकप्रसूत माना ही जाएगा। कविलुद्धु-पाल्दि और शब्दार्पितता इन दो तत्त्वों का महत्त्व इस प्रसंग में जानना आवश्यक है। कवि के मानस में चित्रित वस्तुद्विन्द्व प्रतिभा पर आहट होने के बाद जब कला के कविकर्म पर जमाया

जाता है तभी वह वर्णनशब्द का विषय बनता है। इस प्रकार वर्णनतत्त्व कला या शिल्प की परिधि का घोटक शब्द है। स्वभाव स्वयं में अलङ्कार नहीं होता जबतक वह शिल्प की इस भूमिका पर प्रतिष्ठापित न हो। अतः उसकी उक्ति ही अलङ्कार बनती है। वस्तुनिष्ठ दृष्टि से कला की मीमांसा करने पर स्वभावोक्ति को उक्त बोधप्रक्रिया मनोवैज्ञानिक और अनुभवसिद्ध प्रक्रिया सिद्ध होती है।

परवर्ती आचार्यों में रत्नाकरकार शोभाकरमित्र ने

शोभाकर—स्वभावोक्ति का निरूपण अलङ्कारसर्वस्वकार की ही लीक पर किया है—

[ सू० ] सम्यक् स्वभाववर्णनं स्वभावोक्ति ॥ १०६ ॥

‘स्वभाव का सम्यक् वर्णन स्वभावोक्ति।’

इसकी व्याख्या करते हुए रत्नाकरकार ने सर्वस्वकार की सभी मान्यताओं को और भी विरुद्ध कर दिया है—

‘द्विविधो वस्तुन स्वभाव स्थूल-सूक्ष्मश्च तत्र कविनृमात्रगाचर स्थूलः, तस्य वर्णने न कश्चिदलङ्कार, सर्वस्य काव्यस्य स्वभावोक्तिप्रसङ्गात् । सम्यग् वर्ण्यमानस्तु स्वभावः सूक्ष्मः । स तु महाकविगोचरः । तस्य सम्यग् वर्ण्यमानस्यान्यूनानतिरिक्तत्वेन स्वभावोक्तिः । न तु साधारणस्य रूपक्रियादेशतत्त्वबालादिगतस्य शब्देन प्रतिपादनम्, अपितु यथैव वस्तु तथैव प्रतिपादनमिति वस्तुवादिनो यत्र शब्दात् प्रतिपत्तिर्भवति तत्रैवालङ्कारः ।’

—‘वस्तु का स्वभाव दो प्रकार का होता है—स्थूल तथा सूक्ष्म। इनमें स्थूल सभी कवियों का विषय होता है, उनके वर्णन में कोई अलङ्कार नहीं होता, अन्यथा सभी काव्यों में स्वभावोक्ति माननी पड़ जाएगी। जो स्वभाव सम्यक् वर्णित होता है उसे सूक्ष्म कहते हैं। वह केवल महाकवि का विषय होता है। उस सम्यक् वर्णित स्वभाव का अन्यून अनतिरिक्त रूप से कथन स्वभावोक्ति [ अलङ्कार ] कहलाता है। न कि बालक आदि के साधारण से रूप और चित्राओं का शब्द से प्रतिपादन। इस प्रकार जहाँ शब्द से हुआ बोध वस्तुस्वरूप से मिलता होता है, वहीं इसे अलङ्कार माना जाता है। यहाँ स्वभावगत सूक्ष्मत्व को रत्नाकर ने और भी सूक्ष्म कर कवि ने महाकवि तक सीमित दिया है।

अन्य अलङ्कारों में वस्तु के जिस स्वभाव की चर्चा महिममट्ट में मिलती है उसी ओर लक्ष्यकर रत्नाकरकार ने भी स्वभावोक्ति का अन्य अलङ्कारों से अन्तर इस प्रकार बतलाया है—

‘अन्वाङ्कारससर्गो स्वभावोक्त्यादि यद्यपि ।

वाक्याधीभावविरहादङ्गमेव तथापि तु ॥

यथोक्ततया भाति तत्राङ्गित्वेन युज्यते ।

स्वभावोक्त्याद्यलङ्कारस्तस्मादन्यत्र संकरः ॥

अन्य अलङ्कार में भी जहाँ स्वभावोक्ति मिलती है वहाँ वह अग्रधान रहती है, किन्तु जहाँ वह प्रधान रूप से प्रतीत होती है, वहाँ स्वभावोक्ति अलङ्कार कहलाती है। अन्य अलङ्कार प्रधान होते हैं तो अलङ्कार का नाम उनके नाम से लिया जाता है, और जहाँ मिश्रण की स्थिति रहती है वहाँ संकर [ संसृष्टि भी ]। स्पष्टतः महिममट्ट से आगे बढ़कर रत्नाकरकार ने अन्य अलङ्कारों में भी वस्तु के सूक्ष्म स्वभाव का अस्तित्व स्वीकार कर लिया है।

अप्ययदीक्षित—ने स्वभावोक्ति पर आचार्यों की सिद्ध मान्यतामात्र इस प्रकार प्रस्तुत कर दी है—‘स्वभावोक्तिः स्वभावस्य जात्यादिस्थस्य वर्णनम् ।’ ‘बच्चों आदि के जाति आदि रूप

स्वभाव का वर्णन स्वभावोक्ति कहलाता है । स्पष्ट ही अप्ययदीक्षित स्वभावोक्ति को छकड़ी खींचते दीख पड़ते हैं ।

विश्वेश्वर—‘यो वस्तुनः स्वभावस्तस्य निरुक्तिः स्वभावोक्तिः ।’

तज्जातीय—नियत-धर्मवर्णनं स्वभावोक्तिः ।

वस्तु का जो त्वभाव होता है उसका निर्बचन स्वभावोक्ति होगा । अर्थात् व्यक्तिविशेष के अपने असाधारण धर्म का वर्णन स्वभावोक्ति कहलाएगा । विश्वेश्वर ने स्वभाव को दो प्रकार का बतलाया—‘साधारण तथा प्रातिस्विक । इनमें से प्रातिस्विक स्वभाव को वे भी प्रतिमात्र का विषय बतलाते प्रतीत होते हैं ।

इस पर विपाचकवर्ती की निष्कृष्टार्थकारिका यह है—

‘स्वभावोक्तिर्दुर्धान्नेयवस्तुस्वभावान्यवर्णनम् ।

वस्तु के धर्मियों द्वारा कल्पना द्वारा सिद्धित स्वभाव का वर्णन स्वभावोक्ति कहलाता है ।

पाठान्तर—सूत्र में ‘स्वभावस्य’ इस प्रकार व्यस्त पद भी मिलता है किन्तु धृष्टि में बार-बार ‘वस्तुस्वभाववर्णन’ शब्द आने से हमने समस्त पाठ ही ठीक माना है । धृष्टि में कवित्वमात्रस्य गोचरः की जगह ‘कवित्वमात्र गोचर’ तथा ‘कविमात्रगोचर’ पाठ भी है ।

[ सर्वस्य ]

[ सूत्र ८० ] अतीतानागतयोः प्रत्यक्षायमाणत्वं भाविकम् ।

अतीतानागतयोर्भूतभाविनोरर्थयोरलौकिकत्वेनात्यद्भुतत्वाद् व्यस्त-सम्यन्धरहितशब्दसन्दर्भसमर्पितत्वाच्च प्रत्यक्षायमाणत्वं भाविकम् । कथिगतो भाव आशयः श्रोतरि प्रतिविम्बत्वेनास्तीति, भावो भावना वा पुनः पुनश्चे-तसि निवेशनम्, सोऽत्रास्तीति ।

न चेयं भ्रान्तिः । भूतभाविनो भूतभावितयैव प्रकाशनात् । नापि रामोऽभूदिति वद् वस्तुमात्रम् । भूतभाविगतस्य प्रत्यक्षत्वाख्यस्य धर्मस्य स्फुट-स्याधिकस्य प्रतिलम्भात् । नापीयमंतिशयोक्तिः । अन्यस्यान्यतयाध्यव-सायाभावात् । नहि भूतभाव्यभूतभावित्वेनाध्यवसीयते, अभूतभावि वा भूतभावित्वेनापि, प्रत्यक्षमप्रत्यक्षत्वेन, अप्रत्यक्षमपि प्रत्यक्षत्वेन ।

न हि प्रत्यक्षत्वं केवलं वस्तुधर्मः । प्रतिपर्यपेक्षयैव वस्तुनि तथा भावात् । यदाहुः—‘तत्र यो ज्ञानप्रतिभासमात्मनोऽन्वयव्यतिरेकावनुकार-यति स प्रत्यक्षः’ इति । केवलं वस्तुप्रत्यक्षत्वे प्रतिपत्तुः सामग्री उपयुज्यते । सा च लोकयात्रायां चञ्चुरादीन्द्रियस्वभावायोगिनामतीन्द्रियार्थदर्शनै भाव-नारूपा, कान्यार्थविदां च भावनस्वभावेव । सा च भावना वस्तुगत्यात्य-द्भुतत्वप्रयुक्ता । अत्यद्भुतानां च वस्तुनामादरप्रत्ययेन हृदि संधार्य-माणत्वात् ।

[ सू० ८० ] अतीत और अनागत का प्रत्यक्ष जैसा बोध भाविक [ नामक अलंकार कहलाता ] है ॥



[ ५० ] अतीत और अनागत अर्थात् भूत और भावी पदार्थ का प्रत्यक्ष जैसा बोध भाविक कहलाता है। यह बोध उन पदार्थों की लोकोत्तरता, अदम्यता और ऐसे शब्दसंदर्भ द्वारा उपस्थिति से होता है जिस [ के अर्थों ] का सन्ध विखरा नहीं रहता [ अर्थात् जिनमें कोई वल्लभन नहीं रहती ]। यह [ भाविक नाम हमें ] इस कारण [ दिया जाता है ] कि इसमें कवि का आशय श्रोता में प्रतिबिम्बित होता है, अथवा [ इस कारण कि इसमें ] भाव अर्थात् भावना अर्थात् चित्त में पुनः पुनः निवेशन रहता है।

यह [ प्रत्यक्ष जैसा बोध ] भ्रान्ति नहीं है, क्योंकि इसमें भूत और भावी का ज्ञान भूत और भावी के रूप में ही होता है। यह 'राम था' हम प्रकार का वस्तुमात्र भी नहीं है [ जिसमें अलंकार न हो ], क्योंकि इसमें भूत और भावी पदार्थों के भीतर एक अतिरिक्त और स्पष्ट प्रत्यक्षत्व नामक धर्म भी मिलना है। यह अतिशयोक्ति भी नहीं है, क्योंकि इसमें अन्य का अन्य रूप में अध्यवसान [ निगरणात्मक बोध ] नहीं होता।

ऐसा नहीं है कि यहाँ भूत और भावी [ तद्विरुद्ध ] अभूत और अभावी रूप से अद्यवसित होने हों अथवा अभूत और अभावी [ तद्विपरीत ] भूत और भावी रूप में, अथवा प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष रूप में या अप्रत्यक्ष प्रत्यक्ष रूप में। प्रत्यक्षत्व केवल [ ज्ञेयभूत ] वस्तु में रहने वाला धर्म नहीं होता, वस्तु में रहता है वह ज्ञान को लेकर। जैसा कि कहा है—'कोई भी पदार्थ तब प्रत्यक्ष कहलाता है जब कि वह अपने अन्वयव्यतिरेक का ज्ञानप्रतिभास [ के अन्वयव्यतिरेक ] से अनुकरण कराता है। इतना अवश्य है कि वस्तु के प्रत्यक्ष के लिए ज्ञाता को [ सहायक ] सामग्री की आवश्यकता होती है। और वह सत्ता में चक्षुरादि इन्द्रियरूप होती है, योगियों को [ धर्मअधर्म आदि ] अतीन्द्रिय पदार्थों के प्रत्यक्ष हेतु वह भावनारूप होती है, और काव्य में भी वह भावनारूप ही होती है। वह भावना वास्तविकरूप में [ काव्यवस्तुनिष्ठ ] अत्यदम्यता से निष्पन्न होती है। क्योंकि जो पदार्थ अत्यन्त अदम्य होने हैं उन्हें आदरभाव के साथ अपनाया जाता है।

### चिमशिंनी

अतीतानागतयोरित्यादि। एवदेव न्याचष्टे—अतीतेत्यादि। अलौकिकार्येनेत्यनेन तत्रा-  
वधानार्हत्वमुक्तम्। न्यस्नेति। यद्यपि वाचामाकुल्यत्वं सर्वप्रथमं वर्जनीयं तथापि तत्तत्र  
वैषम्येनार्थाविशेषात्प्रतीतेर्विग्रहमाश्रयफलम्। इह तु सदाकुल्यत्वेनातीतानागतयोः प्रत्यक्षायमा-  
णत्वमेव न स्यादिति प्राधान्येनैतदुक्तम्। एवमनेन हेतुद्वयेनास्यालंकारत्वमुक्तम्। इह  
वाच्यवाचकयो रामणीयकमित्युक्तम्। अत एवैकस्यापि रामणीयकहानौ नास्यालंकार-  
त्वम्। इह हि केचिदर्थः कविवचसि सुस्पष्टमधिरुद्धा अपि निजस्त्रीभाग्याभावात् तुण्वा-  
कर्त्वात् सद्दयानामवज्ञास्पन्दना नावधानार्हः। केचिच्च सुमगा अपि दुर्गमशाब्दोपरो-  
हितया सहृदयानामनावर्जका पेश्युभयमपीहावश्यमाश्रयणीयम्। यद्वाहः—

'प्रत्यक्षा ह्य यत्रार्था हरयन्ते भूतभाविनः।

अयदमुताः स्यात् सद् वाचामनाकुल्येन भाविकश्च ॥' इति।

वाशब्द. पचान्तरद्योतकः। ननु प्रत्यक्षाणां भूतभाविनां प्रत्यक्षेणोपनिबन्धाद्  
भ्रान्तिमानेवार्थं किं न भवतीत्याशङ्क्याह—न चैयमित्यादिना। ननु यदि भूतभाविन्यैव  
प्रतीयते तदेतद् वस्तुवै किं नैत्याशङ्क्याह—नापीति। भविकस्येति। वस्तुवृत्ते तस्यासंभवात्।  
अत एवास्य ततो व्यतिरेकः नन्वन्यस्यान्यतयावसायारिकं नायमतिशयोक्तिरित्याशङ्क्याह—  
नापीयमित्यादि। भूतभावितो भूतभावितर्थास्फुटतयावगमात्। नन्वप्राप्रत्यक्षमेव प्रत्य-

योग किं नाभ्यवसितमित्याशङ्क्याह—नहीत्यादि । तच्चाप्रस्तुतत्वाद्गहनत्वाच्च नेह प्रप-  
 क्षितम् । ननु यद्येवं तत्प्रमातुः सदैव समस्तबाह्यवस्त्ववगमः किं न स्यादित्याशङ्क्याह—  
 केवलमित्यादि । भावनारूपेति । तत्रेन्द्रियादीनामभ्यापारणात् । एवं योगिनां भावनाबलाद्  
 भूतभावित्तयैव प्रत्यक्षत्वभास इति भावः । यदाहुः—‘अतीतानागतज्ञानं प्रत्यक्षान्न  
 विशिष्यते’ इति । चः समुच्चये । तेन योगिनामतीन्द्रियार्थदर्शने यथा भावना निमित्तं  
 तथैव काव्यार्थविदानपीत्यर्थः । तस्याश्च निमित्तमाह—सा चेत्यादि । वस्तुनोऽशब्दभूत-  
 त्वमादरे निमित्तम् । आदराच्च वस्तुनो हृदि संधारणम् । तच्च तदेकतानतया प्ररूढं  
 सद्भावनात्वमुपयातीति काव्यार्थविदां योगिनामिव भावनाबलात् स्वकालावच्छेदेनैव भूत-  
 भाविवस्तु प्रत्यक्षतया भासत इति प्रत्यक्षतयाध्यवसायः ।

अतीतानागतयोः इत्यादि । इसी की व्याख्या करते हैं—अतीत इत्यादि । ‘अलौकिकत्व =  
 लोकोत्तरता’ यह कहकर यह बतलाया कि वह सहृदयों के ध्यान देने योग्य वस्तु है । अस्त =  
 [ भासने और उद्भूत ने यहाँ शब्दसन्दर्भ के लिए ‘अनाकुल’ विशेषण दिया था, उसका अर्थ  
 प्रतीहारन्दुराज आदि ने व्यस्तसम्बन्धरहितत्व ही किया था । ग्रन्थकार ने यहाँ उसी को अपनाया,  
 टीकाकार उसका मूलशब्द अनाकुलत्व चित्त में रखकर व्याख्या करते हैं ] यद्यपि शब्दों की  
 आकुलता [ उल्लेख अर्थ से युक्त होना ] सभी अलंकारों में त्याज्य है तथापि उनमें आकुलता  
 से प्रतीति में विघ्नमात्र उत्पन्न होता है, क्योंकि आकुलता से विषमता उत्पन्न होती है और अर्थ के  
 ज्ञान में स्पष्टता नहीं आ पाती [ किन्तु ऐसा नहीं कि अलंकार की प्रतीति ही न होती हो ]  
 यहाँ [ भाषिक में ] तो उस [ शब्दसम्बन्ध ] की आकुलता होने पर अतीत और अनागत का प्रत्यक्ष-  
 यमाणत्व [ प्रत्यक्ष जैसा बोध ] ही नहीं बनता [ अतः यहाँ उसे प्रधानरूप से अपनाया गया ]  
 इस प्रकार इन दो हेतुओं के द्वारा इसका अलंकारत्व बतलाया ।

यहाँ [ भाषिक में ] अर्थ और शब्द दोनों की सुन्दरता अपेक्षित है ऐसा [ सभी आचार्यों ने ]  
 कहा है । इस कारण किसी एक की भी सुन्दरता समाप्त होने पर यह अलंकार नहीं बन  
 पाता । स्थिति यह है कि इस अलंकार में कुछ अर्थ कवि की पदावली में स्पष्ट रूप से अधिकृत  
 होकर भी अपने आप में सुन्दर न होने के कारण तृणशर्करा के समान सहृदयों के लिए अपेक्षणीय  
 होते हैं, ध्यान देने योग्य नहीं बन पाते । इसके विरुद्ध कुछ अर्थ अपने आप में सुन्दर होकर भी  
 दुर्भग पदावली से आरित रहते हैं, अतः वे भी सहृदयों को आकृष्ट नहीं कर पाते । इसलिये  
 कवि को यहाँ दोनों ही पर आवश्यक रूप से ध्यान देना चाहिए । जैसा कि [ उद्गाढाचार्य ने ]  
 कहा है—

‘भूत और भावी पदार्थ जिसमें शब्दों की अनाकुलता के कारण अत्यदभुत और प्रत्यक्ष  
 जैसे दिखाई देते हैं उसे भाषिक कहते हैं ।’ [ का० सा० सं० ६।६ ] ॥

‘वा’ = अथवा शब्द पक्षान्तर का शीतक है ।

‘भूत और भावी अर्थात् अप्रत्यक्ष पदार्थों का प्रत्यक्षरूप से कथन होने के कारण इस  
 [ भाषिक ] को भ्रान्तिमान् ही क्यों नहीं मान लिया जाता’ ऐसी शंका कर उत्तर देते हैं—‘न  
 चेद्यम्’ । ‘यदि यहाँ पदार्थ भूत और भावी रूप में ही प्रतीत होते हैं तो यह वस्तुमात्र ही क्यों  
 नहीं मान ली जाती’—ऐसी शंका कर उत्तर देते हैं—‘नापि’ इत्यादि । अधिकार्य=अतिरिक्त =  
 वास्तविक लौकिक स्थिति से उसके न होने से । इसी कारण इस [ भाषिक की प्रत्यक्षयमाणता ]  
 का उत्त [ वस्तुस्थिति ] से अन्तर है । ‘इसमें अन्य [ भूतभावी ] वस्तु अन्य [ प्रत्यक्ष ] रूप से  
 विदित होती है, तो यह अतिशयोक्ति ही क्यों नहीं मान ली जाती’—ऐसी शंका का उत्तर देते

है—'नापीयम्' इत्यादि । अतिशयोक्ति इसलिए नहीं कि इसमें भूत और भावी पदार्थों का भूत और भावी रूप में ही ज्ञान होता रहता है । 'यहाँ अत्यक्ष प्रत्यक्षरूप से अध्यवसित क्यों नहीं मान लिया जाता' ऐसी शंका कर उत्तर देते हैं—'न हि' इत्यादि । यह विषय एक तो अप्रासङ्गिक है और दूसरे अति गम्भीर इसलिए यही इसका विस्तार नहीं करते ।

'यदि ऐसा है [ अर्थात् वस्तु का प्रत्यक्ष ज्ञानप्रतिमास साधित है ] तो बाधा वस्तुओं का ज्ञान सदा ही क्यों नहीं होता रहता?'—ऐसी शंका कर उत्तर देते हैं केवलम् । भावनारूपा = क्योंकि उन [ अतीन्द्रिय पदार्थों ] में इन्द्रियों को पहुँच नहीं होनी । भाव यह कि योगियों को भावना के बल पर ही भूतभावीरूप में प्रत्यक्षप्रतीति होती है । जैसा कि कहा है—'अतीत और अनागत का ज्ञान प्रायश्च सिद्ध नहीं होता ।' च = समुच्चयार्थक है । इसका अर्थ यह हुआ कि जिस प्रकार अतीन्द्रिय पदार्थों के दर्शन में योगियों के लिए भावना ही कारण बनती है उसी प्रकार भूत और भावी पदार्थों के प्रत्यक्षदर्शन में काव्यार्थवेत्ताओं [ कवियों ] के लिए भी [ भावना ही कारण बनती है ] । उस भावना का कारण बनलाने है—सा च । वस्तु की अत्यदसुगता [ वस्तु के ] आदर में निमित्त बनती है और उस आदर से वस्तु हृदय में धारण की जाती है । और वह जो हृदय में धारण करना है, वस्तु स्वरूप के प्रति एकतागतता के रूप में प्रकृत ही भावनात्व को प्राप्त होता है । इस प्रकार भावना के बल से काव्यार्थवेत्ता [ कवियों और सहृदयों ] को भी योगियों के ही समान भूत और भावी वस्तु अपने अपने समय में ही प्रत्यक्षरूप से भासित होती है । इस प्रकार यहाँ अत्यक्ष पदार्थों का प्रत्यक्षरूप से अध्यवसान नहीं होता ।

### [ सर्वस्व ]

नापि भूतभाविनामप्रत्यक्षाणां प्रत्यक्षतथैव प्रतीतेरिचार्यगर्भीकारेणैयं प्रतीयमानोत्प्रेक्षा, तस्या अभिमानरूपाध्यवसायम्वमावत्यात् । न ह्यप्रत्यक्षं प्रत्यक्षत्वेनाध्यवसायते, किं तर्हि काव्यार्थविद्भिः प्रत्यक्षत्वेन दृश्यते इति । नापि वस्तुगता इवार्था उत्प्रेक्षाप्रयोजकाः । तस्या अभिमानरूपायाः प्रतिपत्तृधर्मत्वात् । यदाहुः—'अभिमाने च सा योज्या ज्ञानधर्मे सुखाविवत्' इति । काव्यविषये च प्रयोक्तापि प्रतिपत्तैव । नाप्यदभुतदर्शनाद्वतीतानागतयोः प्रत्यक्षत्वप्रतीतेः काव्यलिङ्गमिदम्, लिङ्गलिङ्गभावेन प्रतीत्यभावात्, योगिवत् प्रत्यक्षतया प्रतीतेः ।

'इसमें अत्यक्ष भूत भावी पदार्थों का ज्ञान प्रत्यक्षरूप से होता है, अतः इसे इवार्थगमित [ 'मानों' आदि शब्दों का अर्थ छिपाए रखने वाली अतएव ] प्रतीयमान [ कहलाने वाली उत्प्रेक्षा ही मान लिया जाए यह संभव नहीं, क्योंकि वह मान्यता [ अभिमान ] रूप [ जो ] अध्यवसाय—[ तत् ] स्वरूप होती है ।

[ यहाँ ] अत्यक्ष वस्तु प्रत्यक्षरूप से [ अतिशयोक्ति के समान ] अध्यवसित नहीं होती, अपि तु काव्यार्थवेत्ताओं द्वारा प्रत्यक्षरूप से देखी जाती है । ऐसा भी नहीं है कि उत्प्रेक्षा में 'इव = मानों' आदि शब्दों के अर्थ उत्प्रेक्षमाण वस्तु में रहकर उत्प्रेक्षा को निम्न कर देते हों, क्योंकि वह तो गान्धर्वास्वरूप है अतः शाश्वत धर्म है । जैसा कि कहा है—'और उसे सुखादि के समान ज्ञानधर्मरूप अभिमान [ मान्यता ] में अवहित समझना चाहिए ।' अहाँ तक काव्य का सम्बन्ध है इसमें कवि [ प्रयोक्ता ] भी जाता ही होता है ।

अतीत और अनागत पदार्थों के प्रत्यक्षज्ञान अत्यद्भुतत्व रूपी कारण से होते हैं, अतः यदि इसे काव्यलिङ्ग कहा जाए तो वह संभव नहीं है; क्योंकि इसमें जो प्रतीति होती है उसमें लिङ्ग-लिङ्गि भाव का अभाव रहता है। यहाँ तो प्रत्यक्षता की प्रतीति वैसी रहती है जैसी योगियों को हुमा करती है।

### विमर्शिनी

ननु यद्यपि योगिवद् भूतभाविनो भावाः स्वकालावच्छेदेनैव सचेतसः प्रत्यक्षतयैव [पतीताः तथापि] तदभाव[सं]भावनं युक्तमित्येतत्प्रतीयमानोत्प्रेक्षैव किं नेत्याशङ्क्याह—नापीत्यादि । किं तर्हीति । प्रतिपत्तैवेति । नह्यजानतः क्वचित्तुः प्रयोक्त्वृषं भवतीति भावः । नन्वस्यद्भुतपदार्थप्रत्यक्षप्रतीत्योग्यगमकभावार्थिक नेदमनुमानमित्याशङ्क्याह—नापीत्यादि । एवं रसवदलंकारादस्य भेदं दर्शयति—नाप्यवमित्यादिना ।

‘यद्यपि अतीत और अनागत पदार्थ उसी काल के पदार्थों के रूप में सद्दृश्यों को भी योगियों के ही समान प्रत्यक्षरूप से ही भासित होते हैं तथापि यहाँ उन [ अतीत और अनागत पदार्थों ] के अभाव की संभावना मानना ठीक है अतः यहाँ प्रतीयमान उत्प्रेक्षा ही क्यों नहीं मानी जाती’ ऐसी शंका उठाकर उत्तर में कहते हैं ‘नापि०’ । किं तर्हि = अपि तु अर्थात् यहाँ अध्यवसाय है नहीं। प्रतिपत्तैव = ज्ञाता ही अर्थात् कवि पदार्थ को बिना जाने प्रयोग में नहीं लाता। ‘पदार्थ की अत्यन्त अद्भुतता और प्रत्यक्ष प्रतीति के बीच गम्यगमकभाव होने से क्या यह [ उद्भूत के अनुसार ] अनुमान [ रूप से स्वीकृत ] काव्यलिङ्ग नहीं हो सकता’ ऐसी शंका कर कहते हैं—नापि इत्यादि।

अब इस [ भाविक ] का रसवदलङ्कार से भेद बतलाते हुए लिखते हैं—

### [ सर्वस्व ]

नाप्ययं पुरःस्फुरद्रूपतया स्रवमत्कारं प्रतीते रसवदलंकारः । रत्यादि-चित्तवृत्तीनां तदनुपकृतया विभावादीनामपि साधारण्येन हृदयसंवादितया परमाद्वैतिज्ञानवत् प्रतीतौ तस्य भावात् । इह तु तादृश्येन भूतभाविनां स्फुटत्वेन भिन्नसर्वज्ञवत् प्रतीतेः । स्फुटप्रतीत्युत्तरकालं तु साधारण्य-प्रतीतौ स्फुटप्रतीतिनिमित्तक औत्तरकालिको रसवदलंकारः स्यात् ।

इस [ अलंकार ] में जो प्रतीति होती है उसमें पदार्थ सामने उपस्थित से और चमत्कार पूर्ण प्रतीत होते हैं इस [ सामान्य धर्म के ] आधार पर इसे रसवदलंकार से अभिन्न कहा जाए, यह भी ठीक नहीं, क्योंकि उसमें जो प्रतीति होती है उसमें रत्यादि चित्तवृत्तियों उनसे सम्बद्ध विभावादि इस प्रकार साधारण और हृदयसंवादमय भासित होते हैं जैसे परम अद्वैती के ज्ञान में भासित हो रहे हों। इसके विपरीत यहाँ [ भाविकालंकार में ] भूत और मावी पदार्थ उस प्रकार [ तादृश्य = ] वाष्प वस्तु के रूप से अलग अलग [ स्वकालावच्छेदेन ] और स्पष्ट भासित होते हैं, जैसे दैतयुद्धि वाले सर्वज्ञ [ सांख्य सिद्ध या शैव विवेचर ] की प्रतीति में भासित हो रहे हों। [ उक्त ] स्फुटप्रतीति के पश्चात् ये पदार्थ यदि साधारण रूप में प्रतीत हो जाएं तो वहाँ भी रसवदलंकार हो सकता है। यद्यपि यह स्फुट प्रतीति के पश्चात् होगा क्योंकि यह उसी प्रतीति से निष्पन्न होगा।

## विमर्शिनी

पुर.स्फुरद्रूपतयेश्यादिना नयोरभेदनिमित्तमुक्तम् । परकीयायाश्चित्तवृत्तेरात्मीयचित्तवृ-  
त्त्यभेदेन परामर्शो हृदयसंवादः । तस्य च स्वपरविभागाभावाद् देशकालाभावाच्च श्यापक-  
त्वेन प्रतीतेः साधारण्यम् । अत एव परमाद्भूत[ति]ज्ञानतुल्यत्वम् । तस्य छापमित्येव  
परामर्शः । तद्व्यतिरिक्तस्यान्यस्यासंभवात् । तादृश्येनेति । इदमहं जानामीति असामाना-  
धिकरण्येन प्रतीत्येवार्थः । अत एव विशेषरादितुल्यम् । ननु भाविकप्रतीत्यनन्तरं यत्र  
रसवदलंकारः प्रतीयते तत्र किं प्रतिपक्षम्यमित्याशङ्क्याह—स्फुटेश्यादि । पूर्वमत्रानयोरङ्गा-  
ङ्गितया समावेश इति तात्पर्यार्थः । तत्तु यथा—

‘वनान्तराद्रुपावृत्तैः स्कन्धासक्तमिन्द्रशै ।

अग्निवयुद्रमाप्तैः पूर्यमाणं तपस्विभिः ॥’

अत्र तपस्विनां स्फुटत्वप्रतीतिं शान्ताश्रयसोदयाङ्गमिति न तयोरैकारण्यम् । एवं  
च सुन्दरस्य चानुनो यथावर्णनायशास्त्रप्रत्यक्षायमाणत्वस्य स्वरूपमिति तात्पर्यम् । ननु  
यद्येव तस्मिन्नेव स्वभावोक्तिरेवेत्याशङ्क्याह—नापीयमित्यादि ।

पुर.स्फुरद् इत्यादि के द्वारा इन दोनों [ रसवदलंकार और भाविक ] के अभेदका निमित्त  
बतलाया । हृदयसंवाद का अर्थ है परकीय चित्तवृत्ति का अपनी चित्तवृत्ति से अभेद पूर्वक बोध ।  
उस [ हृदयसंवादात्मक बोध ] में स्वपर का भेद नहीं रहता न तो देश काल का ही मान  
रहता, अतः उसकी प्रतीति में श्यापकता रहनी है फलन साधारण्य भी रहना है । इसी कारण  
उसकी तुलना परम अद्वैतो के ज्ञान से की गई है । उसे अहम् इतना ही बोध होता है । क्योंकि  
उससे भिन्न अन्य कोई संभव नहीं है ।

तादृश्येन = ‘मैं इसे जानता हूँ’ इस प्रकार असामानाधिकरण्य [ भिन्नता ] की प्रतीति  
के कारण । इसीलिए इसकी तुलना ‘विशेषर =’ आदि से की गई है । ‘जहाँ भाविक की प्रतीति के  
बाद रसवदलंकार की प्रतीति होती है वहाँ क्या मानना होगा’—ऐसी शंका कर कहते हैं—  
स्फुट इत्यादि । इस प्रकार तात्पर्य यह कि इन दोनों का समावेश अंग और अंगी के रूप में  
होगा । इसका उदाहरण यह है—

‘वनमध्य से लौटे, कंधे पर समिधा और कुण्ड लिए, अग्नि का प्रत्युद्गमन करने से  
पवित्र तपस्वियों द्वारा मरा हुआ आश्रम ॥’ [ रघुवंश-२।२९ से तुलनीय ] ॥

यहाँ तपस्वियों की प्रतीति स्फुट रूप से होती है । वह शान्त रस का अंग है, अतः दोनों  
में अभेद है । इस प्रकार तात्पर्य यह निकला कि यथावद् वर्णन के आधार पर सुन्दर वस्तु का  
प्रत्यक्ष मुख्य ज्ञान इस [ भाविक ] का स्वरूप है । ‘यदि ऐसा है तो फिर इसे स्वभावोक्ति ही  
क्यों नहीं माना जाता’ ऐसी शंका कर लिखते हैं—

## [ सर्वस्व ]

नापीयं सूक्ष्मवस्तुस्वभाववर्णनात् स्वभावोक्तिः । यस्यां लौकिक-  
वस्तुगतसूक्ष्मधर्मवर्णने साधारण्येन हृदयसंवादसंभवात् । इह च  
लोकोत्तराणां वस्तूनां स्फुटतया तादृश्येन प्रतीतेः । क्वचित्तु लौकिका-  
नामपि वस्तूनां स्फुटत्वेन प्रतीतौ भाविकस्वभावोक्तयोः समावेशः

स्यात् । न च हृदयसंवादमात्रेण स्वभावोक्तिरसवदलंकारयोरभेदः । वस्तुसंवादरूपत्वात् स्वभावोक्तेः । चित्तवृत्तिसमाधिरूपत्वाच्च रसवदलंकारस्य । उभयसंवाददर्शनेऽपि समावेशोऽपि घटते । यत्र वस्तुगत-सूक्ष्मधर्मवर्णनं स्यात् तत्र स्वभावोक्तिः, अन्यत्र तु रसवदलंकार एव ।

नाप्ययं शब्दानाकुलत्वहेतुकाञ्जगित्यर्थसमर्पणात् प्रसादाख्यो गुणः । तस्य हि स्फुटास्फुटोभयवाच्यगतत्वेन झटिति समर्पणं रूपम् । अस्य तु झटिति समर्पितस्य सतः स्फुटत्वेन प्रतीतौ स्वरूपप्रतिलम्भः । तस्मादयं सर्वोत्तीर्ण एवालंकारः ।

‘इसमें वस्तु के सूक्ष्म स्वभाव [ स्वरूप ] का वर्णन रहता है इसलिये इति स्वभावोक्ति से अभिन्न मानने का प्रश्न उठाया जा सकता है किन्तु वह संभव नहीं है, क्योंकि लौकिक वस्तु के सूक्ष्म धर्म का वर्णन रहता है और उसकी प्रतीति साधारण रूप से होती है तथा हृदय संवाद रहता है । जब कि इस [ भाविक ] में लोकोत्तर वस्तुओं की प्रतीति बाह्य वस्तु के रूप में स्फुट [ परस्पर भिन्न ] रूप में होती है । कहीं लौकिक वस्तुएं भी स्फुट रूप में प्रतीत हो सकती हैं । वहाँ भाविक तथा स्वभावोक्ति का एकत्र समावेश माना जा सकता है [ न कि किसी का किसी में अन्तर्भाव ] ।

‘हृदयसंवाद की समानता को लेकर स्वभावोक्ति और रसवदलंकार में भी भेद नहीं माना जा सकता । क्योंकि स्वभावोक्ति का स्वरूप है वस्तुसंवाद जबकि रसवदलंकार का स्वरूप है चित्तवृत्तिसंवाद । कहीं यदि दोनों प्रकार के संवाद मिल जाएं तो इन दोनों का एकत्र समावेश भी संभव है । वहाँ जितने अंश में वस्तु के सूक्ष्म धर्म का वर्णन होगा उतने में स्वभावोक्ति माना जाएगा, किन्तु शेष में रसवदलंकार ॥’

‘शब्दों की अनाकुलता [ स्पष्टार्थता ] रूपे हेतु से अर्थ का ज्ञान अतिशीघ्र कराने के कारण इस [ भाविक ] को प्रसाद गुण से अभिन्न मानने की बात उठारि जा सकती है, किन्तु वह भी संभव नहीं है । उस [ प्रसाद गुण ] का स्वरूप है स्फुट या अस्फुट दोनों प्रकार के वाच्यार्थ की शीघ्र प्रतीति कराना जबकि इस [ भाविक ] को स्वरूप लाभ होता है तब जब पहले से ज्ञाततया निर्दिष्ट वस्तु का स्फुट [ परस्पर में भिन्न और स्पष्ट ] रूप से बोध होता है । इस प्रकार वह सब अलंकारों से पृथक् अलंकार है ।

### विमर्शिनी

ईदृगिदं वस्त्वियत्र हृदयसंवादः । स च यथा—

‘यत्र स्तनन्धयान् हस्ते रत्नदीपाञ्जिवृषतः ।

दृष्ट्वा हा हेति संभ्रान्ता घात्री चेटैर्विहस्यते ॥’

अत्र घात्रीणामीदृगयं स्वभाव इति वस्तुनिष्ठो हृदयसंवादः । यथा वा—

‘यद्वास्वाद्यं सीता वितरति तदग्रे स्वगृहिणे

सुमित्रापुत्राय प्रणिहितविशेषं तदनु च ।

यदामं यत् चामं यदनतिरसं यच्च विरसं

फलं वा मूलं वा रचयति तु तेन स्वमशनम् ॥’



‘जहाँ ररनदीपों को दाय में लेने जा रहे हैं दुधमुहों को देखकर घबराई और ‘हा हा’ करती धाई पर चेटलोग ईसा करते हैं।’ यहाँ ‘धाई की यह चेष्टा ऐसी ही होती है’ इस प्रकार का हृदयसंवाद = अनुभूतिगत मेल रहता है। यह संवाद वस्तुविषयक रहता है। दूसरा उदाहरण यथा—

‘जो कोई फल या कन्द स्वादु होता उसे सीता जी ‘पहले अपने गृहपति [ भगवान् राम ] को परोसती, उसके पश्चात् बचे फल या कन्द में से जिसे अच्छा समझती उसे सुमित्रापुत्र [ लक्ष्मण जी ] को परोसती। इसके पश्चात् फल या कन्दों में जो कोई कच्चा जो सूखा, जो कम स्वादु या जो नीरस बच जाता उससे अपना भोजन पूरा करती।’

यहाँ सामाजिक को भी यही प्रतीत होता है कि गृहिणियों का स्वभाव ऐसा ही रहता है। स्फुटतया स्फुटरूप से = पुरःस्फुरद् = सामने झिलमिलते रूप है। इस प्रतीति का उदाहरण यह है—

‘जहाँ भावित चित्तवाले मत्कों द्वारा भगवान् मृत्युञ्जय के, निर्मालित पूर्णन्दु की मूधा से सिक्त अंगुली वाले चरण सामने उपस्थित से देखे जाते रहते हैं।’

दूसरा उदाहरण यथा—

‘वह शकुन्तला कुछ ही दग चली और अस्थान पर ही जहाँ कुश नहीं थे वहीं ‘कुशांकुर से पाँव गायल हो गया’ ऐसा कह ठहर गई। पास के पेड़ों की शाखाओं में नहीं उलझा बल्कल भी वह [ मेरी ओर ] मुँह घुमा खोलने लाती थी’। [ शकुन्तल ]

इस [ दोनों पदों ] में चरण तथा शकुन्तला की शुद्ध रूप में ही प्रत्यक्ष रूप से प्रतीति हो [ही है।

‘जहाँ स्वभावोक्ति में भी [ पदार्थों की ] प्रतीति प्रत्यक्ष जैसी ही होती है वहाँ कौन सा अलंकार होता है? ऐसा प्रश्न कर उत्तर देते हैं—‘कश्चित्’ इत्यादि।

समावेश = संसृष्टिरूप में समावेश या संकररूप में। इसका उदाहरण यह है—

‘हरि [ सिंह या चूहे ] पर सवारी करने वाले होने पर भी गणेश जी अब गला खुमलाने लगते हैं तो शिवजी का नन्दीवृष पूँछ डुमाने लगता और रीथना बंद कर देता है। वह सुख का इतना अनुभव करता है कि उसमें उसकी आँखें मुँद जाती हैं, [ विसंस्थुल ] बैठील सास्ना झिलने लगती है, गरदन नीची कँची करने लगती है और कान निश्चल हो जाते हैं।’

इस पद्य में बैल का पूँछ डुमाना आदि जो धर्म है उसका सूक्ष्म वर्णन होने से स्वभावोक्ति है और उसका प्रत्यक्ष जैसा अनुभव होने से भाषिक। इस प्रकार यहाँ इन् दोनों का समावेश है।

इसी प्रसंग में रसवदलंकार से स्वभावोक्ति का अन्तर भी दिखलाते हैं—‘न च’ इत्यादि के द्वारा। हृदयसंवाद को है वह दो प्रकार का होता है वस्तुगत और चित्तवृत्तिगत। दोनों में से स्वभावोक्ति में वस्तुसंवाद होता है जो उपयुक्त पदों द्वारा बतलाया जा चुका है। चित्तवृत्ति-संवाद का उदाहरण यह है—

‘जहाँ, चन्द्ररश्मियों से मुसकुराती धम्मिलक महिला [ लूड़े में छमे मोंगरे के पुष्प ] वाली रामाओं के प्रियजन के लिए गाए गए गानों का अमरों द्वारा अनुवाद किया जाता है।’

यहाँ नायिका की प्रियामिलापलुपी चित्तवृत्ति सहृदयों को अपनी चित्तवृत्ति के साथ व्यक्ति-रूप में प्रतीत होती है, अतः यहाँ चित्तवृत्तिसंवाद हुआ।



‘अहाँ दोनों ही प्रकार का संवाद हो बह। क्या समझना चाहिये’ इस प्रश्न पर कहते हैं—  
‘उभय’ इत्यादि। इस समावेश का उदाहरण यह है—

‘यद् कपोतो [ कव्चरी ] सोकर जाग उठी है। इसकी आँखें विस्त्रिय-कुचिन-चुचु-सुम्बन-  
मुख से स्फुरित हो गई है। नींद के पथान् उदित चाह चाटुकारी दारा अपना चित्त अर्पित  
करती हुई यह बार बार गुडर गुडर कर रही है और उसने अपना एक पल पैलाकर कपोत का  
आलिंगन कर रखा है। इस प्रकार यह समीपवर्ती, लीलालस और प्रिय कपोत का सेवन कर  
रही है।’

यहाँ कपोत कपोती के सूक्ष्म धर्म का सूक्ष्म वर्णन है, अतः स्वभावोक्ति है, और चित्तवृत्ति-  
विवेच [ रति ] के कारण रसप्रदलंकार है। इस प्रकार इन दोनों का एकत्र समावेश है।  
अन्यत्र = जहाँ वस्तु का सूक्ष्मवर्णन नहीं। इस विवेचन के द्वारा ग्रन्थकार ने पहले [ स्वभावोक्ति-  
प्रकरण ] में जो यह कहा था कि ‘भाविक तथा रसप्रदलंकार से इसका अन्तर भाविकालंकार के  
प्रकरण में तय किया जाएगा’ उसे पूरा कर दिया। अब प्रकृत विषय आरम्भ करते हैं—नाप्ययम्  
इत्यादि। अर्थ का शीघ्र ज्ञान कराना है प्रसाद, और भाविक है ज्ञान पदार्थ का स्फुट रूप से  
ज्ञान। इस प्रकार इन दोनों में महान् अन्तर है। इसीका उपमहार करते हुए लिखते हैं—  
तस्मात् ७।

यद् बतलाने हुए कि हमने यह विवेचन निरावार नहीं किया है आगे लिखने हैं—

### [ सर्वस्व ]

लक्ष्ये चायं प्रचुरप्रयोगो दृश्यते। यथा—

मुनिर्जयति योगीन्द्रो महात्मा कुम्भसम्भवः।

येनैकचुलुक्रे दृष्टी दिव्यौ तौ मत्स्यकच्छपौ ॥’

यथा चा—हर्षचरितप्रारम्भे ब्रह्मसदसि वेदम्यरूपवर्णने। तत्र हि  
प्रत्यक्षमेव स्फुटत्वेन तदीयं रूपं दृश्यते। एवं तत्रैव मुनिकोधवर्णने,  
पुलिन्दवर्णनादौ शेषम्।

अयं त्वत्र विचारलेखः संभवति—इह क्वचिद्वर्णनीयस्य वर्णनाद्यशादेव  
प्रत्यक्षायमाणत्वम्। क्वचित्प्रत्यक्षायमाणस्यैव वर्णनम्। आद्यो ययोदाहृतं  
प्राक्। द्वितीयो यथा—

‘अनातपत्रोऽप्ययमत्र लक्ष्यते सितातपत्रैरिव सर्वतो वृतः।

अचामरोऽप्येव सदैव चीज्यते विलासवालाभ्यजनेन कोऽप्ययम् ॥’ इति।

अत्र प्रथमप्रकारविषयोऽयमलंकारो न प्रकारान्तरगोचरः, क्वचिसम-  
पितानां धर्माणां ह्यलंकारत्वात्। न हिमांशुलावण्यादीनामिव यस्तुसन्नि-  
वेशिनाम्। अपि च ‘शब्दानाकुलता चेति तस्य हेतून्प्रचक्षते’ इति भाम-  
ह्वीये, ‘याचामनाकुलत्वेनापि भाविकम्’ इति चौद्गतलक्षणे व्यस्तसंयन्ध-  
रहितशब्दसंदर्भसमर्पितत्वं प्रत्यक्षायमाणत्वप्रतिपादकं कथं प्रयोजकीमवेत्,  
यदि यस्तुसन्निवेशधर्मिगन्त्येनापि भाविकं स्यात्। तस्माद् वास्तव-

मेव महत्त्वमुत्तरप्रकारविषये वर्णितमिति नायमलंकारः । यदि तु वास्त-  
मेवात्र सौन्दर्यं कविनिबद्धं कविनिबद्धवक्तृनिबद्धं वा सकलवक्तृगोचरी-  
भूतं स्वभावोक्तिवदलंकारतया वर्णयते; तदायमपि प्रकारो नातीव दुः-  
श्लिष्टः । अत एव 'प्रत्यक्षा इव यत्रार्थाः क्रियन्ते भूतभाविनः, तद्भाषिकम्'  
इत्येतावदेवान्यैर्भाषिकालक्षणमकारि । स्वभावोक्त्या किञ्चित्सादृश्यात्तद-  
नन्तरमस्य लक्षणं कृतम् ।

लक्ष्य [ काव्य ] में इसका प्रयोग प्रचुरमात्रा में मिलता है । जैसे—

'महात्मा और योगिराज मुनि अगस्त्य सर्वोत्कृष्ट हैं जिन्होंने [ समुद्रपान के समय ] एक ही तुल्य में वे दोनों दिव्य [ विष्णु के अवतारभूत ] मत्स्य और कच्छप देखे ।' और जैसे—  
हर्षचरित के आरम्भ में मञ्जात्री की समा के बीच वेद के स्वरूप के वर्णन में । वहाँ प्रत्यक्षरूप से उस [ वेद ] का स्वरूप स्पष्टतया दिखाई देने लगता है । इसी प्रकार उसी प्रसंग में मुनि के कोप के वर्णन, और [ अष्टम उच्छ्वास के आरम्भ में ] पुलिन्द के वर्णन आदि में जाना जा सकता है ।

यहाँ थोड़ा सा यह विचार किया जा सकता है—यहाँ [ काव्यों ] में कहीं तो वर्णनीय पदार्थ की प्रत्यक्षवत् प्रतीति वर्णना के कारण ही होती है और कहीं प्रत्यक्षवत् प्रतीति की वर्णना होती है । इनमें प्रथम का उदाहरण पहले ही [ मुनिर्जयति० ] दिया जा चुका द्वितीय का उदाहरण यह है—

'यह कोई ऐसा व्यक्ति है जो आतपशरहित होने पर भी चहुँभोर से धवल आतपत्रों से घिरा प्रतीत होता है और चामर रहित होने पर भी विलासरूपी बालव्यजन से इस पर सदा ही हवा होती रहती है ।'

[ हमारी दृष्टि में ] इन दोनों में से यह [ भाषिक ] अलंकार केवल प्रथम प्रकार तक सीमित है, दूसरे प्रकार में यह नहीं होता । क्योंकि जो धर्म कविद्वारा समर्पित होते हैं वे ही अलंकार माने जाते हैं, न कि वे धर्म जो वस्तुनिष्ठ होते हैं, जैसे चन्द्रमा आदि में रहने वाले आव आदि । और इसीलिए एक कठिनार्थ यह भी आती है कि वस्तुनिष्ठ धर्मों में भी भाषिक मान लिया जाए तो प्रत्यक्षवत् प्रतीति के प्रति व्यस्त सम्बन्धरहित शब्द सन्दर्भ द्वारा [ दुर्ग ] उपस्थिति को जो मामूह के लक्षण में 'और शब्दों की अनाकुलता उसके हेतु बतलाए जाते हैं'— इस प्रकार तथा उद्धृत के लक्षण में 'शब्दों की अनुकूलता में भाषिक होता है' इस प्रकार निष्पादक के रूप में स्वीकार किया गया है यह निष्पादक कैसे सिद्ध होगी । इस कारण द्वितीय प्रकार में वास्तविक महत्त्व ही वर्णित किया गया है फलतः वहाँ यह अलंकार नहीं है । हाँ, यदि वास्तविक सौन्दर्य की कवि के द्वारा उपनिबद्ध हो अथवा कविद्वारा प्रस्तुत पात्र द्वारा, साथ ही सभी पाठकों के प्रत्यक्ष का विषय हो और स्वभावोक्ति के समान अलंकार रूप से प्रस्तुत किया जाए, तो यह [ द्वितीय ] प्रकार भी अधिक अद्भुतरंगम न होगा । इसीलिए अन्य [ मम्मट ] आचार्य ने भी भाषिक का लक्षण 'जहाँ भूत और भावी पदार्थों का प्रत्यक्ष सा किया जाता है उसे 'भाषिक कहा जाता है' इतना ही किया है । इसका स्वभावोक्ति के साथ कुछ सादृश्य है इस कारण इसका लक्षण स्वभावोक्ति के बाद रखा गया है ।'

### विमर्शिनी

तत्रैवेति । हर्षचरिते । तत्र क्रोधमुनिवर्णनं प्रारम्भ एव स्थितम् । पुलिन्दवर्णनं पुन-  
रष्टमोच्छ्वासारम्भे स्थितमिति तत एव स्वयमवधार्यम् । इह तु ग्रन्थविस्तरभयात्

लिखितम् । अतीतानागतयोः सूत्रितेऽपि प्रत्यक्षायमाणस्य देशदिविप्रकृत्यानां प्रत्यक्षाय-  
माणत्वमुदाहरता प्रमथकृतातीतानागतत्वस्य विप्रकर्षमात्रसारत्वं सूचितम् । तच्च देश-  
कालस्वभावविप्रकृत्यानामविशिष्टमित्येतदुदाहृतम् । तत्रागस्त्यमुनेर्विश्वविप्रकृतस्वम् ।

अनागतस्य तु यथा—

'चित्तोत्पत्ताखिलसुरपुटाहन्पमानाद्विरीप्र-

ध्वानत्रस्यसुरवरनमस्कारवाग्दत्तकर्णम् ।

पार्श्विस्पशाद्बहन्तुरग प्रेरयन् श्लेच्छजानि

जेप्यायेष त्रिभुवनविभुः कर्किरूपेण विष्णुः ॥'

एवं चिरंतनोक्तनीत्या विषयं पुनरपि स्वोपज्ञं कश्चिद्विचारमाह—अयमित्यादिना ।  
संभवतीति । न पुनः कैनापि इष्ट इति भावः । ययोदाहृतमिति । मुनिर्जयतीत्यादिना ।  
प्रथमेति । यत्र वर्णनावशात्प्रत्यक्षायमाणत्वम् । अत एव कविसमर्पितधर्माणां न वस्तु-  
सन्निवेशिनां धर्माणामलंकारत्वादिति सम्यग्भवः । न हि वस्तुमात्रवर्णने कविकौशलं  
किंचिदिति भावः । अपि चेति । निपातसमुदायः समुच्चयार्थः अत्रैव वाक्यगत्या हेतवन्तर-  
स्य समुच्चयमानत्वात् । कथमिति । वस्तुमात्रवर्णने शब्दानामानुलताया अनाकुलतायाश्चा-  
विशेषात् । उच्यते इति । अनागतप्रतीत्यादी । अत्रापि प्रकारान्तरेणालंकारत्वं योज-  
यति—यदि रित्यादिना । सकलवस्तुगोचरीभूतमिति । कविमात्रगम्यत्वात् । अत एव प्र-  
त्यक्षायमाणत्वस्य तद्धर्मितायमानत्वं स्यात् । सकलवस्तुगोचरीभूतत्वे पुनर्यथोक्तं वास्तव-  
त्वमेवेति भावः । नातीवेति । न पुनः प्रकारवत् सुरिल्ल इति यावत् । अत एवेति ।  
वास्तवस्यापि सौन्दर्यस्थाप्रालंकारतया वर्णनात् । एतावदेवेति । न पुनः शब्दानाकुल-  
त्वादि वस्तुनि तस्याविशेषात् । अन्यैरिति । काव्यप्रकाशकारादिभिः ।

सत्रैव = वही एवंवरित में ही । वही कोषमुनि=दुर्गात्ता का वर्णन आरम्भ [प्रथम उच्छ्वास] में  
ही है, और पुलिन्दवर्णन अष्टम उच्छ्वास में है । उसे वहीने समस्त लेना चाहिए । यहाँ प्रत्य के  
विस्तार के भय से उसे उद्धृत नहीं किया । यद्यपि सूत्र में ग्रन्थकार ने केवल अतीत और अना-  
गत को प्रत्यक्षायमाणता का उल्लेख किया है किन्तु वृत्ति में उदाहरण दिए हैं दूर देश और  
भिन्न काल में स्थित [ अत एव अतीत और अनागत के ही समान अप्रत्यक्ष ] वस्तुओं के, इससे  
यह सूचित किया गया कि अतीत और अनागत में भी सारभूत तत्त्व [ भाविक में अलंकारत्व  
का कारण ] विप्रकर्षमात्र [ दूरी ] है । इनमें से अगस्त्यमुनि की दूरदेश स्थिति का उदाहरण दे  
दिया गया है [ मुनिर्जयति० इत्यादि ] अनागत का उदाहरण यह है—

'तीनों लोकों के स्वामी मगशान् विष्णु कर्किरूप में अपने वाहन उस अश्व को पैदल लगाते हुए  
श्लेच्छजानियों को जीतेंगे जो [ अश्व ] सुरपुत्रों से आहत और क्षिप्त वरिष्ठत सभी पर्वतों की रौद्र  
ध्वनि से डरे देवताओं द्वारा उच्चारित नमस्कार शब्दों पर कान दिए हुए होगा ।'

इस प्रकार प्राचीन भाषायों की दृष्टि से विचार कर अब अपनी ओर से भी कुछ विचार  
प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं—'अयम्' इत्यादि । संभवतीति = किया जा सकता है अर्थात् यह  
विचार अभी तक किसी ने देखा नहीं है । ययोदाहृतम् = 'मुनिर्जयति०' इत्यादि द्वारा  
उदाहृतम् । प्रथम = जहाँ वर्णना के कारण प्रत्यक्षायमाणता आती है । इसीलिए इसका सम्बन्ध  
देखा होगा—'कविसमर्पित धर्मों में ही, न कि वस्तुनिष्ठ धर्मों में, अलंकारत्व होने से' भाव यह  
कि केवल वस्तुमात्र के वर्णन में कोई कविकौशल नहीं रहता । अपि च = यह निपातसमुदाय  
समुच्चयार्थक है क्योंकि यहाँ [ अगले ] वाक्य के द्वारा एक अन्य हेतु का भी समुच्चय किया जा

रहा है। कथम् = कैसे = क्योंकि वस्तुमात्र के वर्णन में शब्दों की आकुलता हो या अनाकुलता दोनों में कोई अन्तर नहीं रहता। उत्तरप्रकार = परवर्ती दूसरे में अर्थात् 'अनातपत्रोऽपि' इत्यादि द्वारा प्रदर्शित प्रकार में।

अब यहाँ भी अन्य प्रकार से अलंकारत्व की सिद्धि करते हैं—यदि तु। सकलवक्तृगोचरी-भूतम् = सभी पाठकों के अनुभव में आने वाला = क्योंकि वह भी कविमात्र का विषय रहता है। इसीलिए प्रत्यक्षायमाणता भी तन्निमित्तायमानता = [ कविद्वारा निमित्त होना ] ही होगी। नवीन = अधिक दिल्लभ—न कि इसके प्रकार के समान सुदिल्लभ। अतएव = वास्तविक सौन्दर्य को भी अलंकार रूप में बतलाए जाने से। पृतावदेव = इतना ही न कि [ भामह और उद्भट के समान ] शब्दानाकुलत्व भी इसमें जोड़ा है क्योंकि वह तो वास्तविक वस्तु के कथन में भी समान रूप से रहता है। अन्यैः = अन्य = काव्यप्रकाशकार आदि ने ॥

विमर्श—विशेषर—

‘आणव-कामं मलद्वन्द्वहीना मायामलान्विताः।

सर्वशः सर्वकर्तारो मता विश्वेश्वराश्च ते ॥ —पूर्णताप्रत्यभिज्ञा उक्तं ५०४।

अर्थात् शिव, मन्त्रमेश्वर तथा मन्त्रेश्वर नामक प्रमाता जब अभिलाष या अपूर्णत्वामिमानरूपी आणव मल तथा धर्माधर्म-वासना-रूपी कामं मल से रहित और वेध वस्तु के प्रति स्वभिन्नताबोध रूपी मायिक मल से युक्त रहते हैं तो विशेषर कहलाते हैं। ये सर्वश और सर्वकर्ता होते हैं। मायामल का लक्षण पूर्णताप्रत्यभिज्ञा में ही इस प्रकार दिया गया है—

‘मायवान्धीकृतो वेधं भिन्नं पश्येत्सु पाशितः। [ उ० ४९७ का० ]

विमर्शिनी में ‘विशेषर आदि’ इस प्रकार जो आदि शब्द दिया गया है उसका संकेत विशानाकल आदि की ओर है। इन्हें शैवदर्शन से समझ लेना चाहिए।

इतिहास—भाविकालंकार सर्वमान्य अलंकार है। इसका सूत्रपाठ

दण्डी—के काव्यादर्श में इस प्रकार मिलता है—

‘तद्भाविकमिति प्राहुः प्रबन्धविषयं गुणम्। भावः कवेरभिप्रायः काव्येष्वसिद्धिसंस्थितः ॥ २।३६४  
परस्परोपकारित्वं सर्वेषां वस्तुवर्णनम्। विशेषणानां व्यर्थानामक्रिया स्थानवर्णना ॥ ३६५  
व्यक्तिरुक्तिक्रमबलाद् गभीरस्यापि वस्तुनः। भावावयवमिदं सर्वमिति तद्भाविकं विदुः ॥ ३६६ ॥

भाविक प्रबन्ध विषयक धर्म है। क्योंकि काव्य में कवि का अभिप्रायरूपी भाव वासमाप्ति स्थित रहता है। इसमें कथावस्तु के सभी पर्व परस्पर में उपकारी होते हैं। व्यर्थ विशेषणों का इसमें अभाव रहता है। इसमें स्थानों की वर्णना तथा उक्तक्रम के बल पर गम्भीर वस्तु की भी अभिव्यक्ति रहती है। यह सर्वभावायत्त रहता है अतः भाविक कहलाता है [ काव्यादर्श २।३-६४-६ ] दण्डी के इस विवेचन से प्रतीत होता है कि हर्षचरित के ब्रह्मसभा आदि के वर्णन में भाविक मानने की प्रेरणा सर्वरत्नकार को दण्डी से ही मिली है। स्फुट पद्यार्थ में भी भाविक का अस्तित्व दण्डी को मान्य है ऐसा उनके ऊपर दिए विवेचन से प्रतीत नहीं होता।

भामह—का भाविकलक्षण आंशिक रूप से वृत्तिकार ने उद्धृत कर दिया है। दण्डी की अनुकृति पर इन्होंने भाविक का पूरा विवेचन इस प्रकार किया है—

भाविकत्वमिति प्राहुः प्रबन्धविषयं गुणम्। प्रत्यक्षा इव दृश्यन्ते यत्रार्थं भूतभाविनः ॥३।५३॥

चित्रोदात्तादनुत्तार्थत्वं कथायाः स्वभिनीतता। शब्दानाकुलता चेति तस्य हेतुं प्रचक्षते ॥३।५४॥

भाविकत्व एक ऐसा गुण है जो प्रबन्ध में रहता है। हमें भूतभावी पदार्थ प्रत्यक्ष जैसे दिखाएँ देते हैं। इसके हेतु बतलाए जाते हैं (१) कथानक के वैविध्य, उदात्तरत्न तथा अद्भुतरत्न, (२) अमिनयकला का ठीक अनुगम तथा (३) शब्दों की अनाकुलता।

इस प्रकार स्पष्ट है कि भूतभावी पदार्थों की प्रत्यक्षायमाणता को मामद् ने ही भाविक में स्थान दिया है। इसी प्रकार बहुवचित शब्दानाकुलता भी भाविकरत्न में मामद् से ही आयी है।

अन्य विषयों में इन दोनों भावायों की मान्यताएँ प्रायः समान हैं। उन्होंने भाविक को प्रबन्धगत अलङ्कार माना है अत उदाहरण के रूप में कोई पद्य नहीं दिया है।

वामन भाविक के विषय में जुग है। किन्तु

उद्भट ने हमें मुक्तक गुण भी मान लिया है। उन्होंने मामद् द्वारा प्रस्तुत हेतुओं में से केवल शब्दसन्दर्भ की अनाकुलता को अपनाया है। मामद् की शेष सभी स्थापनाएँ स्वीकार करते हुए वे लिखते हैं—

‘प्रत्यक्षा इव यथायां दृश्यन्ते भूतभाविनः। अत्यद्भुताः स्यात् तद्वाचामानाकुल्येन भाविकम्’ ॥३॥६॥

जिनमें अत्यन्त अद्भुत भूत और भावी पदार्थ उक्ति की अनाकुलता के कारण प्रत्यक्ष जैसे दिखाएँ देते हैं वह भाविक कहलाता है। उद्भट ने मुक्तक गुण के रूप में कहा यह उदाहरण दिया है—

‘नाना प्रकार के आमरणों की शोभा देखने योग्य हम आकृति से अजन दृश्य नेत्रों वाली तुम [ पार्वती ] पीढा और प्रीति दोनों दे रही हो।’

यहाँ पार्वतीजी के अक्षों पर तप के पूर्व जो अलंकारभी शोभा दे रही होगी और तप के पश्चात् जो भूषणभी होगी उसको प्रत्यक्ष देखा जा रहा है। इसीलिए उसके अभाव में दुःख व्यक्त किया जा रहा है। इस प्रकार भाविक का प्रबन्ध से मुक्तक तक सीमित करने का उद्देश्य उद्भट से आरम्भ होता है।

उद्भट में भाविक का विवेचन नहीं मिलता।

मम्मट ने उद्भट के लक्षण को और भी संक्षिप्त किया और उसमें से पदार्थगत अद्भुतता तथा उक्तिगत अनाकुलता दोनों को हटाकर उसका रूप केवल शृंगारा ही रहने दिया—

‘प्रत्यक्षा इव यथायां। क्रियन्ते भूतभाविन, तद्भाविकम्’।

सर्वस्वकार ने इसे उद्धृत भी किया है। मम्मट की दृष्टि वस्तुपरक न होकर आत्मपरक है। इसीलिए उन्होंने दृश्यन्ते क्रियापद के स्थान पर क्रियन्ते क्रियापद अपनाया। ‘दिखाएँ देना’ श्रेयगत वैशिष्ट्य है जबकि देखना हातुगत। निश्चिन ही मम्मट के अनुसार काव्यशिल्प और वस्तुगत अद्भुतता से भी बड़ी वस्तु है शाश्वत मायुक्तता। भाविकशब्द की व्युत्पत्ति उन्होंने दण्डी को मानी है—‘भाव’ कवेरिमिप्रायोऽत्रास्तीति।’ सर्वस्वकार ने एक तवीन बिरुह के साथ इसी को अपना लिया। मम्मट ने भाविक को मुक्तकगत बनलाया है प्रबन्धगत मानने के विषय में वे मौन हैं। वनका उदाहरण है—

‘आसीदजनमत्रेति पश्यामि तव लोचने।

भाविभूषणसंमारां साश्रय कुर्वे तवाकृतिम् ॥

हे सुन्दरि ! तुम्हारे इन नेत्रों में अजन या ऐसा देल रहा हूँ और तुम्हारी आगे भूषणसंमारा से उत्पन्न श्री वाली आकृति का भी साश्रुकार कर रहा हूँ।’ यहाँ पूर्वार्ध में भूतविषयक तथा उत्तरार्ध में भाविविषयक प्रत्यक्ष का वर्णन है।

इस पूर्वकथा से स्पष्ट है कि भाविक का जो रूप मम्मट तक बिखरा था सर्वस्वकार ने उसी को अपना लिया है।

रत्नाकरकार = विमर्शिनोकार ने जो वस्तुगत विप्रकर्ष को महत्त्व दिया था, उसके पीछे रत्नाकर का निम्नलिखित भाविकसूत्र छिपा था—

[ सू. ] 'विप्रकृष्टस्य प्रत्यक्षायमाणत्वं भाविकम् ।'

[ वृ० ] 'देशकालान्यां स्वभावेन वाविप्रकृष्टस्याधस्य साक्षादग्रहणायोग्यस्यापि सामग्रीबलेन प्रत्यक्षायमाणत्वं स्फुटतया पुर.स्फुरद्स्वरूपत्वेनैव प्रतीतिर्भाविकम् ।

देश, काल या स्वभावतः विप्रकृष्ट अर्थात् प्रत्यक्ष द्वारा जानने के अयोग्य वस्तु का भी सामग्री के आधार पर प्रत्यक्षायमाणत्व अर्थात् सामने खड़े से रूप में ज्ञान भाविक कहलाता है ।' आगे रत्नाकरकार ने यह भी लिखा है कि भाविक में यद्यपि सभी पदार्थ शब्द से ही प्रतीत होते हैं तथापि होता है उनका ज्ञान, प्रत्यक्षत्व ही । सामग्री की व्याख्या में उन्होंने दृष्टी और मासद्वारा गिनाए सभी हेतुओं को अपना लिया है। 'वस्तु की अद्भुतता, शब्दों की श्रुति अर्थसमर्पकता, वाक्य का सरल अन्वय, कवि का कुशल कविकर्म—इत्यादि सभी के योग से चिरानुभूत वस्तु भी चित्तभित्ति पर प्रतिफलित हो जाती है। प्रतिफलित होकर वह निविडता धारण करती है। फलस्वरूप शाब्देतना उसी पर प्रकाश हो जाती है। इस स्थिति में शाब्द वस्तु का प्रत्यक्षज्ञान चिरकाल तक करता रहता है। यही भावना है। भावना के बल से सदृश्य दूरस्थित वस्तु का प्रत्यक्ष भी उसी प्रकार करता रहता है जिस प्रकार योगी किया करता है।' इन शब्दों में रत्नाकरकार ने सर्वस्व के विरुद्ध दार्शनिक विवेचन का ही संक्षेप कर दिया है। उदाहरण द्वारा अपनी मान्यता स्पष्ट कर उन्होंने अन्त में स्वभावोक्ति और भाविक के अन्तर पर यह पक्ष भी बना दिया है—

'सूक्ष्मस्वभावकथनेन विनापि साक्षादर्थप्रतीतिरिदं केवलभाविक्काङ्क्षम् ।

शुद्धस्वभावजनतानुभवप्रसिद्धसम्यक्स्वभावभणितौ तु भवेद स्वभावः ॥

भाविक में केवल साक्षात् अर्थ प्रतीति रहती है, इसमें [ स्वभावोक्ति के समान ] सूक्ष्म-स्वभाव का कथन नहीं रहता। शुद्ध स्वभावोक्ति वहाँ होती है जहाँ सभी लोगों के अनुभव में आने वाले अत्यन्त प्रसिद्ध स्वभाव की सम्यक् उक्ति रहती है।'

अप्यदीक्षित ने भाविकालङ्कार भावकता को जिस अतिभूमि से उदित हुआ था उसे अत्यन्त क्षीण रूप में इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

'भाविकं भूतमाव्यर्थसाक्षात्कारस्य वर्णनम् ।'

भूल और भावी अर्थ के साक्षात्कार का वर्णन भाविक ।

उदा० 'अहं विलोकयेऽपि युध्यन्तेऽत्र सुरासुराः ।'

मैं देख रहा हूँ कि सुर और असुर आज भी लड़ रहे हैं। न तो इसमें वस्तुगत अद्भुतता है, न कविकर्म की सूक्ष्मगति। लगता है मम्मट से भाविक की ओर जो दुर्लक्ष्य होना आरम्भ हुआ था अप्यदीक्षित में उसकी परा काढा हो गई है।

पण्डितराज जगन्नाथ के रसगद्गाधर में भाविक का संग्रह नहीं हो पाया था, किन्तु विश्वेश्वर पण्डित ने उसकी आंशिक पूर्ति कर दी है। उन्होंने—

'भाविकमध्यस्तं स्याद प्रध्वंसप्रागभावानाम् ।'

प्रध्वंस तथा प्रागभाव वाले पदार्थों का प्रत्यक्ष भाविक कहलाता है। प्रध्वंस से अतीत तथा प्रागभाव का संग्रह कर विश्वेश्वर ने भाविक पर मम्मट का लक्षण डूहरा दिया है। मम्मट ने

‘प्रत्यक्ष जेते’ लिखा था विश्वेश्वर ने ‘प्रत्यक्ष’ ही लिख दिया। वस्तुतः मानस साक्षात्कार यहाँ होता ही है।

माविक की श्रुत्पत्ति पर सर्वस्वकार का खण्डन करते हुए विश्वेश्वर ने कहा है कि ‘भाव-कवेरमिप्रायोऽस्त्यस्मिन्’ यह श्रुत्पत्ति माण्यविरुद्ध है। क्योंकि [ अर्थापत्ति प्रकरण की विभिन्नी में उद्धृत ] ‘ससम्प्रा च न तो स्मृती’ इस माण्यवचन द्वारा निषेध हो जाने से ठन् प्रत्यक्ष सप्तमी अर्थ में नहीं होगा। यहाँ ठन् प्रत्यक्ष मत्वर्थाय होगा अतः श्रुत्पत्ति होगी— ‘भाव-कवेरमिप्रायोऽस्त्यस्मिन्’ = जिसका विषय भाव = कवि का अभिप्राय होता है वह माविक। विश्वेश्वर के अनुसार भी भूत और भावी पदार्थों के प्रत्यक्ष में अपेक्षित सन्निकर्ष वस्तुगत अदभूतता से निष्पन्न हो जाना है।

श्रीविद्याचक्रवर्ती की निष्कृष्टार्थकारिका माविक पर इस प्रकार है—

‘अथ प्रतीतिवैचित्र्यतारतम्यनिरूपणैः ।  
माविक दूरदुर्लभ व्यक्त व्याक्रियतेतमान् ॥  
योऽयं प्रत्यक्षवद् भावस्त्वनीतानामनार्थयोः ।  
तद्भावविम्बनाच्चित्तं विनिवेशान्च माविकम् ॥  
नाविपर्ययतो भ्रान्तिः साक्षात्त्वान्नेतिवृत्तकम् ।  
अन्यात्वानध्यवसितैर्न चाश्रयिण्योकिता ॥  
न परं वर्त्तमानार्थधर्मं प्रत्यक्षतेष्वते ।  
प्रतिपरत्रनपेक्षार्या प्रत्यक्षत्वपरिधयाव ॥  
प्रत्यक्षत्वे च सामग्री भावनादभुनवस्तुमा ।  
प्रत्यक्षत्व न समान्यमिह नोत्प्रेक्षण ततः ॥  
अलिङ्गलिङ्गिमावाच्च काव्यलिङ्गं न चेष्वते ।  
ताटस्थ्याय स्फुटसंविष्टेर्न तदा रसवदभ्रमः ॥

पश्चात् साधारणभावे रसवास्तवमिच्छकः स्फुटत्वात् स्वभावोक्तिर्लोकोत्तीर्णस्य वस्तुनः ॥ स्वभावोक्ते रसवतो भेदः सत्त्वाद्भेदतः । न प्रसादगुणश्चैवद् यस्मादौत्तरकालिकम् ॥ वास्तवेषु च सौन्दर्ये योग्यत्वादस्य समवः । चिरन्तनानुरोधापु तथा व्यक्त न कौचित्तम् ॥ भाविके बुद्धिसंवादो भया स्याद् यदि कश्चिच्च । व्याख्याशिवस्यनिकषः स मे धीमान् भविष्यति ॥’

[ स्वभावोक्ति के पश्चात् ] अब माविक जो अत्यन्त कठिनार्थ से जाना जा सकता है प्रतीति-गत वैचित्र्य तथा तारतम्य का अनेकधा निरूपण कर अत्यन्त स्पष्टता के साथ बतलाया जा रहा है। अतीत और अनागत पदार्थों का जो चित्त पर यह प्रत्यक्ष तुल्य भाव = प्रतिबिम्ब पडता है यह, भाव के बिम्बन तथा चित्त में विनिवेशन के कारण माविक कहलाता है। इसमें विपर्यय नहीं होता इसलिए यह भ्रान्तिस्वरूप नहीं है। वस्तु साक्षात्कार के कारण यह इतिवृत्तमात्र नहीं है। अन्य अध्यवसान न होने से यह अतिशयोक्ति भी नहीं है। केवल वर्त्तमान पदार्थ का धर्म ही प्रत्यक्षता नहीं मानी जाती। क्योंकि यदि ज्ञाता न रहे तो प्रत्यक्षता भी नहीं रहती। प्रत्यक्षता में कारण होती है अदभुनवस्तु की भावना। यहाँ प्रत्यक्षता समावनात्मक नहीं रहती अतः इसे उत्प्रेक्षा नहीं माना जा सकता। और लिङ्गलिङ्गभाव के न होने से इसे काव्यलिङ्ग भी नहीं कहा जा सकता। इसमें तटस्थता और स्फुटता का ज्ञान रहता है अतः इसमें रसवदलकार का भ्रम नहीं हो सकता। बाद में जब साधारण भाव होता है तब माविक से रसवदलकार की निष्पत्ति होती है। यहाँ लोकोत्तर वस्तु का प्रत्यक्ष होता है अतः यह स्वभावोक्ति रूप नहीं होता। स्वभावो-

क्ति और रसवदलंकार में भी संवादगत भेद के कारण भेद रहता है। यह प्रसाद गुण भी नहीं है क्योंकि यह प्रसादजनित स्पष्ट प्रतीति के पक्षार्थ की वस्तु है।

यह वास्तविक वस्तुओं के सौन्दर्य में भी होने की योग्यता रखता है किन्तु प्राचीन भावार्थों के अनुरोध से ग्रन्थकार ने उसे स्पष्ट रूप से भाविक नहीं कहा।

भाविक के विषय में मेरे साथ यदि किसी का बुद्धि संवाद हो तो वही बुद्धिमान् व्यक्ति मेरे इस व्याख्याशिखर की कसौटी होगा।

चक्रवर्ती की संजीविनी भाविक के कुछ कठिन अंशों पर चलेखनीय प्रकाश डालती है। ऐसे कुछ अंश इस प्रकार हैं—

( १ ) प्रतिपत्त्रपेक्षयैव वस्तुनस्तथाभावात्=प्रतिपत्त्रपेक्षयैव प्रत्यक्षत्वस्य वस्तुधर्मता । न हि प्रतिपत्त्रगनपेक्ष्य वस्तुनि प्रत्यक्षता नाम काचिद्य ।

( २ ) तत्र यो ज्ञानप्रतिभास० = यो दर्शः स्वप्राइकं प्रतिपत्तुर्ज्ञानप्रकाशं स्वान्वयव्यतिरेका-  
वनुकारयति, स्वयमस्ति चेद् ज्ञानप्रतिभासोऽस्ति नास्ति चेन्नास्तौति व्यवस्थापयति स प्रत्यक्ष इत्यर्थः ।

( ३ ) परमाद्वैतज्ञानिवत् = ०० न भाविकरसवतोरभेदा । कुतः ? रति-हासादिषिचवृत्तीनां तदनुरहितत्वेन विभावानुभावव्यभिचारिणां च यदा परमाद्वैतज्ञानिवद् मनैव शत्रोरेवेत्यादिविशेष-  
परिधारात् साधारण्येन हृदयसंवादिनी प्रतीतिस्तदैव रसवतो भावः । ०० । इह तु भूतभावितानां प्रतीतिर्न साधारण्येन, अपितु प्रतिपत्तुस्ताटस्थ्येन, स्फुटतया ताटस्थ्यं हि भेदः । यथा सांख्यादि-  
सिद्धानां भेदेन सर्वं जानतां प्रतीतिः ।

पाठान्तर = निर्णयसागरीय प्रति के मूल तथा टीका दोनों के पाठ अशुद्धिवहुल हैं। अतः यहाँ हमने अन्य संस्करणों की सहायता तथा रत्नाकर और अपनी कल्पना के आधार पर पाठसंशोधन किया है। अर्थात् 'परमाद्वैतज्ञानिवत्' के स्थान पर संजीविनी में परमाद्वैत-  
ज्ञानिवत् पाठ है। विमर्शिनी से परमाद्वैत ज्ञान पाठ का ही संबन्ध समर्थन होता है। इनमें से कोई भी पाठ मानने पर अपेक्षित अर्थ निकल ही आता है।

### [ सर्वस्व ]

[ सू० ८१ ] समृद्धिमद्वस्तुवर्णनमुदात्तम् ।

स्वभावोक्तौ भाविके च यथावद्वस्तुवर्णनम् । तद्विपक्षत्वेनारोपितवस्तु-  
वर्णनात्मन उदात्तस्यावसरः । तत्रासंभाव्यमानविभूतियुक्तस्य वस्तुनो वर्णनं  
कविप्रतिभोत्थापितमैश्वर्यलक्षणमुदात्तम् । यथा—

'मुक्ताः केलिविसूत्रद्वारगलिताः संमार्जनीभिर्हृताः

प्रातः प्राङ्गणसीमिन् मन्थरचलद्वालाङ्घ्रिलाक्षारुणाः ।

दूराद् दाडिमवीजशङ्कितधियः कर्पन्ति केलीशुका

यद् विद्वद्भवनेषु भोजनृपतेस्तत् त्यागलीलायितम् ॥'

[ सू० ८१ ] समृद्धिशाली पदार्थ का वर्णन उदात्त [ नामक अलंकार कहलाता है ] ॥

[ वृ० ] स्वभावोक्ति और भाविक वस्तु का यथावद् [ जैसा का जैसा ] वर्णन होता है। उदात्त कहलाता है आरोपित वस्तु का वर्णन। अतः यह उनके विरुद्ध है। श्लोकिए इत्ते यहाँ



प्रथमतः इसका लक्षण समझ लेना चाहिए। वक्त वस्तु के संदर्भ में वह यह है—'असंभाव्य विभूति से युक्त वस्तु का वर्णन कविप्रतिभा से कल्पित मतः ऐश्वर्यस्वरूप होने से उदात्त कहलाना है। उदाहरण, यथा—

'विद्वानो के घर में [ रात को ] केलिकाल में टूटे द्वारों में गिरे, प्रातः आंगन के एक कोने में झाड़ू से बरीर दिए गए और मन्दगति से पृथ्वी बालाओं के चरणोत्कक से लाल हो गए मोतियों को दूर से अनार के दाने समझ के ली शुक जो खींचते हैं वह भावराज के स्थान की लीला है।'

### विमर्शिनी

समृद्धिमदिरयादि । तद्विषयत्वेनेति । वररवधस्तुवर्णनयोर्विहृद्भवात् । तत्रेति । पृथमवसरे सतीरपर्यः । असमान्यमानेति । संभाव्यमानविभूतियुक्तस्य तु वर्णने नैतदङ्गमिति भावः । यथा—

'प्रातश्चकासति गृहोश्चकुट्टिमाप्रविशितरत्नकुसुमप्रकरायकीर्णः ।

अभ्युद्गताङ्गकराहतिपादमानेनसप्रराशिशाथला इष पत्र रथ्याः ॥'

अत्र हि भगवत्सगर्वा वस्तुत एव संभवति रत्नविशेषः । अत एवास्मिन् कश्चिन्नि-  
भोत्यापितस्वमुक्तम् । एवं चास्य नामापि सार्पकश्च । अलङ्कारसारकृता पुनरप्रातिशयोक्ति-  
प्रकारकत्वमुक्तम् ।

समृद्धिमदिरयादि । तद्विषयत्वेन = उनके विरुद्ध, इसलिये कि वस्तु और अवस्तु के वर्णन परस्पर विरुद्ध होते हैं । सत्र इस प्रकार अवसर होने पर । असंभाव्यमान = मान यह कि संभाव्यमान विभूति से युक्त वस्तु के वर्णन में यह अलङ्कार नहीं होता । यथा—

[ हरविजयमहाकाव्य के प्रथमसर्ग में भगवत्पुरी का वर्णन ]

'जिस [ ज्योत्स्नावती ] नगरी में प्रासादों के मीतरी फलों के अग्रभाग से फेंके रत्न तथा पुष्पों के पुत्र से छारें सबके प्रातःकाल के समय उदित बालसूर्य की किरणों के आघात से गिरी नक्षत्राग्णियों से शनकित सी लगी है ।' [ १।१२ ]

इस पद्य में वर्णित रत्नों का फेंका जाना वास्तविक और संभव है क्योंकि यह नगरी भगवान् की नगरी है । इसीलिये इस प्रकार रक्षका नाम भी सार्पक है । अलङ्कारसारकार ने इसके विरुद्ध इसे अप्रतिशयोक्ति का भेद बतकाया था ।

### [ सर्वस्व ]

[ सू० ८२ ] अङ्गभूतमहापुरुषचरितं च ।

उदात्तशब्दसाम्यादिद्वाभिधानम् । महापुरुषाणामुदात्तचरितानामङ्गि-  
भूतवस्तुन्तराङ्गभावेनोपनिबध्दमानं चरितं बोदात्तम् । महापुरुषचरितस्यो-  
दात्तत्वात् । यथा—

'तदिदमरण्यं यस्मिन् वशरथवचनानुपालनम्यसनी ।

निवसन् बाहुसहायश्चकार रक्षःक्षयं रामः ॥'

अध्वारण्ये वर्णनीये रामचरितमहत्त्वेन वर्णनीयम् ।

[ सू० ८२ ] [ किसी के प्रति ] अंगभूत महापुरुष चरित भी [ उदात्त कहलाता है ] ।

[ ४० ] उदात्त शब्द के साम्य के कारण इसे यहाँ बतलाया जा रहा है । उदात्तचरित वाले महापुरुषों का चरित, अंगीभूत किसी अन्य वस्तु के अंग के रूप में उपनिबद्ध हो तो वह भी उदात्त [ नामक एक अन्य अलंकार ] होता है । [ उदात्त ] इसलिये कि महापुरुष का चरित उदात्त होता है । यथा—

‘यह वह वन है जिसमें दशरथ के वचन का पालन करने में निरत राम ने जिन के सहायक केवल उन्हीं के भुजदण्ड थे राक्षसों का क्षय किया था ।’

यहाँ वर्णन करना ही वन है । उसमें राम का चरित अंगरूप में वर्णित किया गया ।

### विमर्शिनी

अङ्गभूतेत्यादि । एतदेव श्वाचष्टे—महापुरुषाणामित्यादिना । अङ्गभूतस्य वस्तुनो महा-  
पुरुषचरितमुत्कर्षप्रतिपिपादयिषयाङ्गतयोपनिबध्यमानमेतदलंकाराङ्गम् । न तुपलक्षणमात्र-  
परतयोपात्तमिति तात्पर्यार्थः । तच्च यथोदाहृतम् ।

‘कश्चिःकान्ताविरहगुरुणा स्वाधिकारप्रमत्तः

शापेनास्तंगमितमहिमा वर्षभोग्येण भर्तुः ।

यच्चश्रुके जनकतनयास्नानपुण्योदकेषु

स्निग्धच्छायातरुषु वसति रामगिर्याश्रमेषु ॥’

अत्राङ्गिनो गिरिविशेषस्य वसतियोग्यत्वादिदर्शानार्थमुत्कर्षप्रतिपिपादयिषया राम-  
सीतादिचरितमुपलक्षणपरम्, तदत्र नायमलंकारः । यथा—

‘गोदावर्याः करिकुलमदण्डोददण्डकायाः

पारे पारे घत घत पराश्रयतामृष्यमूकः ।

कंकालाक्षी पिहितगगने दुन्दुभैर्घत्र रामः

पादाङ्गुष्ठं निजमपि भवद्दैवतं निर्ममेऽस्तम् ॥’

अत्र पवनं प्रति वियोगिन्या उक्तौ रामचरितमुपलक्षणमात्रपरम्, न अङ्गभूतेनाङ्गिनः  
कश्चिद्विशेषो विवक्षितः ।

‘अत्रासीत्फणिपाशधन्धनविधिः शशया भवद्दैवरे

गाढं वजसि ताडिते हनुमता त्रोगाद्रिरश्राहतः ।

दिग्धैरिन्द्रजिदत्र लषमणदारेर्लोकान्तरं प्रापित-

स्तस्याप्यध्र मृगाञ्चि राक्षसपतेः कृत्ता च कण्ठाटवी ॥’

इत्यत्र तु रामस्य सीतां प्रत्युक्तामुपलक्षणीभूतदेशविशेषे पाशधन्धनाद्येव साक्षाद् विव-  
क्षितमिति न महापुरुषचरितस्य वस्त्वन्तरं प्रत्यङ्गभाव इति नायमलंकारः ।

अंगभूतेत्यादि । इसी की व्याख्या करते हैं—‘महापुरुषाणाम्’ इत्यादि के द्वारा । तात्पर्य  
यह कि अंगी वस्तु के उत्कर्ष के प्रतिपादन हेतु अंगरूप में, न कि उपलक्षण मात्र के रूप में  
उपनिबध्यमान महापुरुष चरित इस अलंकार का निष्पादक होता है । इसका उदाहरण [ तदिद-  
मरण्यं ] दिया जा चुका है । [ रसनाकरकार द्वारा उदात्त के लिए उदाहृत ]

‘अपने अधिकार में असावधान अतश्च स्वामी के वर्ष भर के कान्तादिरह संवन्धी आश्रयत गुरु  
शाप से महिमाशून्य किसी एक यक्ष ने रामगिरि के, सीताजी के स्नान से पवित्र जल वाले तथा  
घनी छाया वाले नमेश वृक्षों से सुन्दर आश्रमों में डेरा डाला ॥’

इस पद्य में अग्नी है गिरिविशेष । उसमें निवास करने की योग्यता दिखलाने के लिए उसका धार्क्य बतलाना आवश्यक है । तदर्थ रामसीता आदि का चरित अपनाया गया है । यह यहाँ उपलक्षणमात्रपरक है, अतः यहाँ यह [ उदात्त-२ ] अलङ्कार नहीं है ।

‘शिवियों के मदचूर्ण से तिलक जलवाली गोदावरी के किनारे, आ हाहा, इस ऋष्यमूकपर्वत को देखो, जहाँ रामने दुन्दुभिनामक दैत्य के वकाळरूपी आकाशरोधी पर्वत पर अपने पैर के अँगुठे और तुम्हारे दैवत को भी भरत [ क्षिप्त ] कर दिया या (?) ।’

पवन के प्रति वियोगिनी को इस उक्ति में राम का चरित उपलक्षणमात्र दे, क्योंकि वह अंगभूत तो है परन्तु उसमें अग्नी का कोई वैशिष्ट्य कवि को विवक्षित नहीं है । [ रत्नाकरद्वार द्वारा उदात्त के लिए उदाहरण ]—

‘यहाँ नागपाश का बन्धन हुआ या, तुम्हारे देवर [ लक्ष्मण ] को बध्मरथल में शक्ति लगाने पर हनुमान् ने द्रौणगिरि यहाँ ला पहुँचाया था । यहाँ लक्ष्मण के दिव्यशरी ने इन्द्रनिख [ मेघनाद ] को दूसरे लोक भेज दिया था, अरे उस राक्षसपति [ रावण ] की भी कण्ठाटवी यहाँ कटी थी’ ।

सीता के प्रति राम की इस उक्ति में उन उन उपलक्षणीभूत स्थानों में पाशबन्धन आदि ही साक्षात् विवक्षित है, इसलिए महापुरुषचरित अन्य वस्तु के प्रति अंग नहीं है इसलिए यहाँ भी यह अलङ्कार नहीं है ।

**विमर्श—**

इतिहास—दोनों ही उदात्त प्रथमतः दण्डी में ही मिल जाते हैं ।

दण्डी—उन्होंने दोनों उदात्तों को एक ही अलङ्कार के दो भेद माना है । उनका लक्षण इसमें प्रमाण है—‘आशयस्य विभूतेर्वा यन्महत्त्वमनुत्तमम् ।

उदात्तं नाम त प्रादुरलंकारं मनीषिणः ॥२॥३००॥

आशय [ चित्त ] या वैभव का जो सर्वोत्तम महत्त्व उसे विद्वज्जन उदात्त नामक अलङ्कार करते हैं । दण्डी के दोनों उदाहरण सर्वस्वकार के दोनों उदाहरणों से गतार्थ हैं । दोनों की अभिव्यक्तियों बिलकुल एक सी हैं ।

भामह—का उदात्तविवेचन दण्डी की ही अनुकृति है । इन्होंने माने तो दोनों ही उदात्त हैं किन्तु लक्षण केवल प्रथम का ही दिया है—

‘नानारत्नाद्रियुक्तं यद्यत्तु किलोदात्तमुच्यते ।’

जो नाना रत्न आदि से युक्त होता है उसे उदात्त कहते हैं ।’ दोनों के उदाहरण दण्डी के उदाहरणों के ही भावानुकरण हैं । सर्वथा उदात्त के विषय में भामह दण्डी से उपकृत हैं । इस विषय में वामन चुप हैं ।

उद्भट ने भी दण्डी के ही समान दोनों उदात्तों को एक ही लक्षण में गूँथ डाला है । उनका लक्षण है—

‘उदात्तशुद्धिमद् वस्तु चरितं च महारमनाम् ।

उपलक्षणतां प्राप्ते नैतिवृत्त्वमागतम् ॥ ४ । ८ ॥

संपत्तिशाली वस्तु उदात्त कहलाती है और महाभारतों का उपलक्षणता को प्राप्त चरित, किन्तु इतिवृत्तात्मकता को प्राप्त चरित नहीं ।’ यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि उद्भट का उपलक्षणशब्द सर्वस्वकार के अंग शब्द का ही समानार्थी शब्द है । विमर्शिनीकार जिस उपल-

क्षणत्व का खण्डन कर रहे हैं वह वस्तुतः उस अर्थ के लिए प्रयुक्त शब्द है जिसके लिए उद्धृत ने 'इतिवृत्त'—शब्द दिया है। यह उनके उदाहरणों से स्पष्ट है।

रुद्रट—वामन के ही समान रुद्रट के कान्यालंकार में भी उदात्तालंकार नहीं मिलता। वक्रोक्ति-जीवितकार उदात्त को अलंकार नहीं मानते। इनके अनुसार वह वस्तुत्वभाव से भिन्न कोई वस्तु नहीं है।

मम्मट—ने दोनों उदात्तों के दो अलग लक्षण किए हैं। वे ये हैं—

( १ ) 'उदात्तं वस्तुनः संपद्, उदा० मुक्ताः केलि०

( २ ) 'महतां चोपलक्षणम्। उदा० तदिदमरण्यम्०।

मम्मट के उपलक्षण शब्द का अर्थ भी अंगता ही है। क्योंकि उन्होंने उदाहरण अंगता का ही दिया है।

रत्नाकरकार—ने उदात्त का द्वितीयरूप ही उदात्त नाम से स्वीकार किया है। प्रथम को वे 'असंबन्ध में संबन्धरूपी अतिशयोक्ति से गतार्थ मानते हैं। 'मुक्ताः केलि०' पद्य उद्धृत कर वे उसमें उदात्तालंकार का निराकरण और अतिशयोक्ति भेद की स्थापना करते हैं। उनका उदात्तसूत्र यह है—

'उदारचरिताङ्गत्वमुदात्तम्' ॥ १०८ ॥

उदार व्यक्ति के चरित का अंग बनना उदात्त कहलाता है। इसके लिए उन्होंने कश्चित् काम्ताविरह०' पद्य उदाहरण रूप से उद्धृत किया था और लिखा था कि 'यहां देश विशेष— [ पर्वत ]—रूपी अर्थ प्रधान है, उसमें उदारचरित व्यक्ति जानकी आदि का चरित अंग रूप से उपनिबद्ध है।' विमर्शिनोकार इसे अंगत्व नहीं उपलक्षणत्व मानते हैं। उपलक्षण का अर्थ वे 'मुख्यतः वर्णनविषयीभूत न होना करते हैं। यहाँ अवश्य ही सीताचरित मुख्यतः वर्णन विषयीभूत नहीं है। किन्तु जानकी सम्बन्ध से उस व्यास की उदात्तता का मान भी नहीं मेटा जा सकता। इसी प्रकार रत्नाकरकार ने 'अप्रासीत् कथि०' पद्य में भी उदात्तलंकार माना है।

अप्यधोक्षित = दोनों ही प्रकार का उदात्तालंकार स्वीकार करते हैं और लक्षण में अंग-शब्द के स्थान पर उपलक्षण शब्द ही रखते हैं—

'उदात्तमृद्वेश्वरितं श्लाघ्यं चान्योपलक्षणम्।'

ऋद्धि का चरित और श्लाघ्यतापूर्ण उपलक्षणभूत चरित उदात्त अलंकार माने जाते हैं।

विश्वेश्वर = "वस्तुप्रचय उदात्तं महतामङ्गत्ववचनं वा।'

संपदादिवस्त्वतिशयवर्णनमुदात्तम्, लङ्कृतानां वर्णनीयनिशङ्कित्वप्रतियोगित्वं च यत्रोच्यते तदपीति।

जहाँ संपत्ति आदि वस्तुओं का अतिशय वर्णित हो उसे उदात्त कहते हैं तथा वक्रुष्ट वस्तु का अंगी वर्णनीय में अंग बनाना भी।' इस प्रकार विश्वेश्वर दोनों ही उदात्त को मम्मट के ही स्वर में स्वीकार करते हैं किन्तु वे उपलक्षणशब्द के स्थान पर अंग शब्द ही अपनाते हैं।'

श्रीविद्याचक्रवर्ती की निष्कृतार्थकारिका इस पर इस प्रकार की है—

[ १ ] उदात्तं तु ससृष्टस्य वस्तुनः कविवर्णनम्।

[ २ ] अङ्गन्तरेऽङ्गतापत्तं महच्चरितलक्षणम्।

द्वितीयोदात्तविषयो न्यासो रसवदादिभिः ॥

—[ १ ] समृद्ध वस्तु का कविद्वारा वर्णन उदात्तालंकार कहलाता है ।

[ २ ] अन्य किमीअगी में महापुरुष के चरित का अंगना को प्राप्त होना भी उदात्तालंकार कहलाता है । इस द्वितीय उदात्त के क्षेत्र में प्रायः रमवदादि अलंकार व्याप्त रहते हैं ।

[ सर्वम्भ ]

[ सू० ८३ ] रमभावतदाभागतन्प्रशमानां निबन्धनेन रसगन्धैय-  
ऊर्जस्विसमाहितानि ।

उदात्ते महापुरुषचरितभ्य चित्तवृत्तिरूपत्वाच्चित्तवृत्तिविशेषभवात्-  
त्वाच्च रसादीनामिद्व तद्वदलंकाराणां प्रस्तावः । अत एव चत्वारोऽलंकारा  
युगपल्लक्षिता । तत्र विभावानुभावव्यभिचारिभि प्रकाशितो रत्यादिशिवत्त-  
वृत्तिविशेषो रस । भावो विभावानुभावाम्नां सूचितो निर्वेदादिस्वयस्त्रि-  
शदभेद । देवादिविषयश्च रत्यादिर्भाव ।

तदाभासो रसाभासो भावाभासश्च । आमासत्वमविषयप्रवृत्त्यानौ-  
चित्यम् तत्प्रशम उक्तप्रकाराणां निवर्तमानत्वेन प्रशाम्यदवस्था । तत्रापि  
रसस्य परविधान्तरूपत्वात् नान संभवति इति पण्डितैर्भेदविषयो द्रष्टव्यः ।  
एषानुपनिबन्धे क्रमेण रसवदादयोऽलंकाराः । रसो विद्यते यत्र निबन्धने  
व्यापाररत्ननि तद् रसवत् । प्रियतरं प्रेयो निबन्धनमेव द्रष्टव्यम् । एवमूर्जो  
घर्लं विद्यते यत्र, तदपि निबन्धनमेव । अनौचित्यप्रवृत्तत्वाद् यत्प्रयोगः ।  
समाहितं परिहारः । स च प्रकृतत्वादुक्तभेदविषय प्रशामापरपर्यायः । तत्र  
यस्मिन्दर्शने वाक्यार्थोभूता रसादयो रसवदाद्यलंकाराः, तत्राङ्गभूतरसादि-  
विषये द्वितीय उदात्तालंकारः । यन्मते स्वङ्गभूते रसादिविषये रसवदाद्य-  
लंकाराः अन्यस्य रसादिव्यनिना व्याप्तत्वात् तत्रोदात्तालंकारस्य विषयो  
नावशिष्यते, तद्विषयस्य रसवदादिना व्याप्तत्वात् ।

[ सू० ८६ ] रस, भाव इन [ दोनों ] के आभास तथा इन [ भावों ] के प्रशम का  
उपनिबन्ध हो तो [ अलंकारों के नाम ] रमवत् प्रेयस् ऊर्जस्वित् तथा  
समाहित [ होते हैं ] ॥

[ वृत्ति ] उदात्त में महापुरुष का चरित चित्तवृत्तिरूप होता है, और रसादि भी चित्तवृत्ति-  
विशेषरूप होते हैं इसलिये उनसे शुक्त [ रसवदादि ] अलंकारों का निरूपण इस स्थान पर किया  
जा रहा है । इसीलिये चार अलंकारों के लक्षण एक साथ किए । दोनों में [ जो ] रस [ है वह ]  
है विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारियों के द्वारा अपने साथ प्रकाशित रत्यादिनामक विशिष्ट चित्त-  
वृत्ति । भाव नाम है विभाव और अनुभाव से सूचित निर्वेद आदि तीसरी चित्तवृत्तियों का । देव आदि  
विषयक रत्यादि भी भाव ही होते हैं ।

तदाभास का अर्थ है रसाभास तथा भावाभास । आमासत्व है अविषय में [ जहाँ प्रवृत्ति नहीं  
होनी चाहिए वहाँ ] प्रवृत्ति से उत्पन्न अनौचित्य । उनका प्रशम करने से अर्थ निकलता है पूर्वाक  
[ = तव ] भेदों की निवृत्तिमूलक शान्ति । किन्तु उक्त सत्त्वों में से जो रस है वह पर विभ्रान्तिरूप  
होता है, अतः उसमें वह [ शान्ति ] संभव नहीं होती, फलतः उस ( शान्ति ) का विषय बचे हुए

भेद ही जानने चादिए । इनका अब काव्य में गुंफन होता है तब रसवदादि अलंकार होते हैं । 'रस है गुंफन रूपी व्यापार में जहाँ वह रसवत्' । प्रेय अर्थात् प्रियता, इसे भी गुंफन ही मानना चादिए । इसी प्रकार ऊर्जस का अर्थ है बल वह, जिसमें रहता है वह [ ऊर्जस्वत् ], वह भी गुंफन रूप ही होगा । क्योंकि इसमें प्रवृत्ति अर्नाचित्यमूलक होगी इसलिये इसके साथ बल शब्द जोड़ा गया । सनाधिन का अर्थ है परिहार वह इस प्रसंग में उक्त भेद विषयक ही होगा जिसका दूसरा पर्याय प्रसंग होगा । यहाँ [ आनन्दवर्धन के पूर्व के दण्ठी भामह आदि ] जिन आचार्यों के मत में वाक्यार्थीभूत रस आदि ही रसवदलंकार हैं, वहाँ अंगभूत रसादि के अंश में वदात्तालंकार माना जाएगा । किन्तु 'जिन [ आनन्दवर्धन, अभिनव गुप्त और मम्मट ] के मत में अंगभूत रस आदि को ही रसवदादि अलंकार माना जाता है वहाँ अन्य [ वाक्यार्थी भूत रसादि ] रस आदि की ध्वनि में चला आता है, अतः वदात्तालंकार के लिए कोई स्थान नहीं रहता । वह जहाँ हो सकता था वहाँ रस-वदादि जो हो जाते हैं ।

### विमर्शिनी

रसमविति । अत एवेति । चतुर्णामपि चित्तवृत्तिविशेषस्वभावात् । तत्रेति । युगपन्नपणे स्थिते सतीत्यर्थः । विभावा ललनोद्यानादयः आलम्बनोद्दीपनकारणानि अनुभावाः कटाक्ष-मुञ्जोपादयः कार्यः । व्यभिचारिणो निर्वेदादयः सहकारिणः । प्रकाशित इति । व्यञ्जितः । यदुक्तम्—'विभावानुभावस्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः' इति । रस्यादीत्यादिशब्देन हाताक्षीनां स्थायिनां ग्रहणम् । निर्वेदादिरिति । यदुक्तम्—

'निर्वेदगलानिपाङ्गास्त्वास्तचासूयामदधमाः ।  
आलस्यं चैव द्वैत्यं च चिन्ता मोहः स्मृतिर्धृतिः ॥'  
ब्रीडा अपलता हर्ष आवेगो जडता तथा ।  
गर्वो विपाद औरसुषयं निद्राऽपस्मार एव च ॥  
सुप्तं विद्योघोऽमर्षश्चाप्यवहित्थमधोप्रता ।  
मतिर्न्याधिस्तथोन्मादस्तथा मरणमेव च ॥  
त्रासश्चैव त्रितर्कश्च विज्ञेया व्यभिचारिणः ।  
व्यस्त्रिशदमी भावाः समाख्यातास्तु नामतः ॥' इति ।

देवतादिविषयाणामानन्त्यादनेकप्रकारत्वेऽप्येकप्रकार एव रस्यात्मा भावः । अत एव रस्यादिरित्यादिशब्दः प्रकारे । सः समुच्चये । यदुक्तम्—'रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाञ्जितः भावः प्रोक्तः' इति, तथा 'तदाभासा अनौचित्यप्रवर्तिताः' इति । प्रशान्तव-वस्थेति । न तु ध्वंसरूपा प्रशान्तावस्थेत्यर्थः । तथात्वे हि सर्वत्रैव कस्यचित्प्रकृतत्वे सर्वे-पामन्येषां प्रशान्तत्वादेवंभावः स्यात् । ननूकप्रकारत्वेन परामृष्टस्य रसस्यापि कथं प्रशान्तवस्था संगच्छत इत्याशाङ्क्याह—तत्रापीत्यादि । परिशिष्टेति । भावतदाभास-तत्प्रशमविषय एवेत्यर्थः । एवामिति । रसभावतदाभासत्प्रशमानाम् । बलयोग इति । अनुचितेन चलाकारेणैव प्रवृत्तिः । प्रकृतत्वादिति । तेनात्र वस्त्वन्तरं प्रकृतमिति भावः । ननु च परविश्रान्तिरूपस्य काव्यात्मनोऽलंकार्यस्य रसस्य कथमलंकारत्वं संगच्छत इत्याशाङ्क्याह—तत्रेत्यादि । यस्मिन्दर्शन इति । ध्वन्यभाववादिनां मत इत्यर्थः । द्वितीय इति । ऐश्वर्यलक्षणात् । अन्येति । यत्र वाक्यार्थीभूतो रसः । एवं ध्वन्यभाववादिसं-विषयद्वयस्य दृष्टान्तीकृत्य रसरसवदलंकारयोरनेन विषयविभागः कृतः ।

अङ्गभूतस्य रसादेश्चालंकारत्वं युक्तम् । तथा च यावन्नोपमादीनां सर्वालंकाराणां प्रकृतवस्तुपरञ्जकारवमलंकारत्वे नियन्धनम् अङ्गभूतेनापि रमेन तरिक्रियत एव, प्रकृतस्य रसादेश्चालंकारत्वेन भावात्, अतश्चोपमादीनामलंकारत्वे चादृश्येव वार्ता तारदृश्येव रसादीनाम् । यद्यपि चोपमाद्योऽर्थालंकाराः, तथापि नस्य वाच्यार्थस्य विभावादिरूपता-पर्ययसाधिवशमेवेति काव्यारमनो ष्वङ्गस्य रसादेश्च तदलंकारार्थम् । किं पुनस्तस्य दाम्-मुखेनोपस्कारकाः दाम्शालंकाराः, अर्थमुखेन त्वर्थालंकाराः । तत्तद्व्ययवगतैरपि हि कट-कादिभिरचेतन आत्मैव तत्तत्त्वृत्तिविशेषादिरस्यसूचनारमनयालंक्रियते । तथा ह्यचे-तनं दावशरीरादिकं कटकाद्येतेतमपि न भाति, अलंकार्यस्याभावात् । अतश्च देहद्वारेण सर्वशरमैवालंकार्यः । एवमस्यापि शब्दाभंशरीरमात्तन्मुखेनैवालंकार्यत्वम् । तेन—

‘रसभावादितार रयंमाधिरप विनियेशनम् ।

अलंक्रुतीनां सर्वासामलंकारत्वसाधनम् ॥’

इति ह्यथा रसाद्याधयेनैवालंकाराणां विनियेशनं जीवितम् । अतश्चेहापि प्रकृतस्य वाच्यार्थोभूतत्वेन प्रधानस्य रसादेश्चकार्यस्याङ्गभावेन रसादेश्चालंकारत्वं युक्तम् । यदाहुः—

‘प्रधानतां यत्र रसाद्यो गता रसो रसादिष्वनिगोचरो भवेत् ।

भवन्ति ते यत्र रसादिपोपका रसाद्यलंकारदृशा हि सा पृथक् ॥’ इति ।

अनु निर्वेदादीनां भावानां गर्भदासवशकदाधिदपि स्वप्राधान्याभावात्सर्वदा रसा-द्यङ्गत्व एव च्चनिभेदत्वमिति प्रधानेतरकदाद्याभावादेतेषां भावस्थित्यायुद्यत्सन्निधत्तत्ता-प्रधानात्मतया कथमलंकारत्व वाच्यम् । तथात्वे ह्यभिधीयमाने च्चनिभेदत्वमेव न स्यात् । असदेतत् । इह हि निर्वेदादीनां त्रयी गतिः । तत्र ‘व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्यायी भावो रसः स्मृतः’ इति नीत्या विभावानुभावस्पर्धयेषां रसस्यञ्जकारवमेका गतिः । तत्र च रसस्यैव प्राधान्याधिरतिदायप्रीतिकारित्येन फलवत्त्वात् फलवत्सन्निधावफलं तदङ्गम्’ इति नीत्या रसस्यञ्जकारवमात्रेणैव कृतार्थाद्याध्यासयेषां रसस्यक्तित्यतिरेकिकिञ्चिप्रयोजनान्तरम् ।

‘नायं कञ्चुलिकाविमोचसमयः स्पृष्टो न काञ्चीगुणः

प्रकान्ता न मया विपर्ययरतारभ्भाव वा प्रार्थना ।

न स्वरक्तृकमर्थयामि निविहं शोफन्दलीश्वघ्नं

तद्विष्कारणमेव बाललवलीवहलीव किं वेपसे ॥’

अत्रालम्बनविभाव उपा, वेपनादिरनुभावः, वितकंश्च स्यभिचारिभावः । पृषां चात्र समस्पर्धितया रसस्यञ्जकारवमात्रमेव प्रयोजनम् । व्यक्तश्च रसः सचेतसां दत्तकञ्च इति नैषां किञ्चिदन्तरम् । अत एव रसाद्यङ्गभूतस्य स्यभिचारिणः स्थिरयाधारमच्चनिप्रका-रत्वं भवतीति न वाच्यम् । तथात्वे चाभिधीयमाने निर्वेदादेः प्राधान्याभावात् च्चनिभ-पदेश एव न युक्तः । अप्रधानस्य प्रधानत्वाभिधाने विरोधात् । एवं च गुणीभूतव्यङ्ग्यस्या-पि च्चनिभ्यपदेश, केन प्रायुक्तः । श्वचिदपि ‘मुख्ये रसेऽपि तेऽङ्गित्वं प्राप्नुवन्ति कदाचन’ इति नीत्या राजानुगतविवाहप्रवृत्तमृत्त्यवद्विभावस्यञ्जितानां रसगुणीभावेनैषामेव प्राधा-न्यम् । यथा—

‘इतश्चारुमेप्रगणसुकुमारा वरवधू

रितः श्वेच्छालम्बानुपमफन्मूला वनमही ।

इतो मीर्धानादोन्मुखनिश्चलसैन्यो रणविधिः

श्व नामार्थं तादृकरलहृदयो रज्यत जनः ॥’

‘अत्र विभावानुभावाभ्यां व्यञ्जितः शृङ्गारादीनां रसानामप्रकृत्येन विधान्तेश्चिन्ता-  
ग्रयो व्यभिचारिभावः प्रधानम् । अत एवात्र भावस्थितेर्त्वनिभेदत्वम् । एवं चात्र  
चिन्तायाः शृङ्गारादीन् प्रति तदङ्गत्वाभावात् गुणीभावः । अत एव चात्र तत्परिपोषकत्व-  
स्यात्वात्, तदीयकार्याकरणात्, रसं प्रति गुणीभावाभावात् स्वेनैव च निरतिशयप्रीति-  
कारित्वेन सचेतसां दत्तकत्वात् निजप्रयोजनासंपादकत्वविरहात् राजानुगतविवाह-  
प्रवृत्तभृत्यवन्मुख्यानपि रसाननादस्य चिन्ताया एव वाक्यतात्पर्यविषयत्वेन प्राधान्यात्-  
अङ्गत्वम् । अत एव च दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्न कश्चिद्विषय उपन्यासः । ब्रह्मशूत्रे सरल-  
दृश्यत्वेनैकत्र तत्पर्येच्छाभावान्नैकतरपक्षाध्ययनमिति न कथञ्चिदपि रसस्य प्राधान्यम् ।  
नाप्येषां परस्परविरोधात्संपिरेति व्यभिचारिभावस्यैव प्राधान्यम् । एवं च निर्वेदा-  
दीनां गर्भदासत्वाच्चिदपि प्राधान्यं [ न ] मवतीत्यपर्यालोचिताभिधाम् । गर्भदासत्वा-  
पि कदाचिदन्ततो गर्भदासीं प्रयस्ति प्राधान्यम् । प्रधानाप्रधानभावस्यापेक्षिकत्वात् ।  
‘क्वचिदप्यपरस्याङ्गम्’ इति नीत्यैषामङ्गत्वे प्राधान्याभावादलंकारत्वम् । यथा—

‘कचकुषचिमुकाग्रे पाणिषु घ्यापृतेषु प्रथमजलधिपुत्रीसंगमेऽनङ्गधानि ।

निचिदनिचिदनीवीप्रन्धिचिखंसनेच्छेच्छतुरधिककराशा शार्ङ्गिणो वः पुनातु ॥’

अत्र शृङ्गाररसस्याप्रकृतत्वाद् गुणीभावेन वाक्यतात्पर्यविषयत्वेनोचिद्व्यङ्ग्यस्यैव  
पशाङ्गिविषयां रतिं प्रति अङ्गमिति प्रयोऽलंकारः ।

ननु च यद्यपि परस्याङ्गत्वे सत्येषामलंकारत्वं तद् रसाङ्गभूतत्वादेयां सर्वत्रैव तत्त्वं  
स्यादिति चेत्, नैतत् । यस्मान्निमित्तान्तरेभ्यो लब्धसत्ताकरस्याङ्गभूतस्य वस्तुन उपस्कार-  
धायकतयाङ्गतामुपगच्छतामेयामलंकारत्वम् उपकार्यो परस्कारकत्वनिबन्धनतयालंकार्यो-  
लंकरणभावस्योक्तत्वात् । रसादेः पुनः स्वरूपनिर्वृत्तये निर्वेदाद्योऽङ्गतामुपयान्तीति तत्रैषां  
रसोपसर्जनीभूतत्वात् तद्व्यञ्जनमात्रमेव फलम् । अत एव तत्रैव पूर्वोक्तनीत्या न ध्वनि-  
त्वम्, नाप्यलंकारत्वम् । रसव्यक्तिव्यतिरेकिप्रयोजनान्तरनिष्पादनत्वाद्योगात् । एवं  
निर्वेदादीनां रसव्यक्तौ सहकारित्वम्, अङ्गत्वे ध्वनित्वम्, अङ्गत्वे चालंकारत्वमिति विष-  
यविषयाः । तस्मात्—

‘निर्वेदादीनां सर्वद्वैधाङ्गभावात् प्रयोऽलंकारस्तद्व्यपेक्षो न वाच्यः ।

तस्माद्वैतेषां व्यङ्ग्यतायां ध्वनित्वं न प्राधान्यं क्वापि यस्माद्भजन्ते ॥

एतेन भावप्रशमादयोऽपि व्यङ्ग्याः सद्ब ध्वनितो प्रयान्ति ।

ध्वनित्वमिदं यदि तर्हि तेषु न लक्षणोद्यस्तु समाहितादिः ॥’

इत्यादि यद्वन्वैरुक्तं तदुपेक्ष्यम् ॥

रसभाव इत्यादि । अतएव = क्योंकि चारों ही चित्तवृत्तिविशेषरूप हैं । तत्र = अर्थात्  
जब इन सबका लक्षण साथ-साथ करना है । विभाव ललना आदि आलम्बन कारण तथा लयान  
आदि वर्दीपन कारण । अनुभाव कटाक्ष, भुजक्षेप आदि कार्य । व्यभिचारी = निर्वेद आदि  
सहकारी । प्रकाशितः व्यञ्जित । जैसा कि [ भरतमुनि ने ] कहा है = ‘विभावानुभाव—व्यभि-  
चारी-संयोग से रसनिष्पत्ति [ होती है ]’ । इत्यादि = यहाँ आदि पद से दास आदि स्थायि-  
भावों का ग्रहण होता है । निर्वेदादि, जैसा कि [ भरतमुनि तथा लहरी की कारिकाएँ उद्धृत कर  
मन्मथ ने ] कहा है—‘निर्वेद, रलानि, शंका, असूया, मद, शय, आलस्य, दैन्य, चिन्ता, मोह,  
स्मृति, श्रुति, व्रीडा, चपलता, हर्ष, आवेग, जहता, गर्व, विषाद, औत्सुक्य, निद्रा, अपस्मार,  
निद्रा, पवोध, अमर्ष, अवहित्य, उग्रता, मति, व्याधि, उन्माद, मरण, प्राप्त तथा वितर्क’—ये  
तेँहीस व्यभिचारी भाव हैं जिन्हें नामोल्लेखपूर्वक गिना दिया गया ।’ देवता आदि विषय अनन्त



हे अतः तद्विषयक रतिभाव अनेक प्रकार के हैं, फलतः उसका रतिरूप भाव के रूप में एक ही भेद गिना गया है। इसीलिए 'रत्यादि' = शब्द के साथ आया आदिशब्द प्रकार वाचक है। 'य'—समुच्चयार्थक है। जैसा कि [ मम्मटमट्ट ने इसे इसी रूप में गिनाते हुए ] कहा है—  
'देवादि—विषयक रति तथा व्यञ्जित व्यञ्जिकारी भाव वदन्त्या है' तथा 'उनके आभास होते हैं दृश, जब वे अनौचित्य में निम्न होने हैं।' प्रशास्यद्वयस्या शा-त हो रही स्थिति, न कि ध्वसरूप प्रशान्त हो चुकी स्थिति। वैसा मानने पर वहाँ, जहाँ कोई एक भाव वर्णन हो जिन, शेष सब भावों का अभाव रहेगा उनकी भावशान्ति माननी पड़ जायगी। रस जिसका स्वरूप ऊपर बतलाया जा चुका है उस में भी क्या शान्तिस्थिति लागू होती है?—ऐसी शंका कर उत्तर देते हैं 'तत्रापि'। परिशिष्टेति = शेष भेदों के विषय में = भाव, रसभावभास तथा भावप्रशमन के विषय में। एषाम् = रस, भाव, दोनों के आभास तथा भावप्रशमन के पद्ययोग = अनुचिन्ना बलाकार द्वारा प्रवृत्ति। प्रकृतत्वात् = हमने भाव यह निकला कि यहाँ अन्य कोई वस्तु प्रकृत रहती है। 'रस जो परविश्रान्तिस्वरूप है [ जिसकी प्रतीति के आगे कोई प्रतीति नहीं रहती ] उसका अलङ्काररूप समझें' ऐसी शंका कर उत्तर देते हैं—'तत्र' इत्यादि। यस्मिन् दृशते = जिस मत या सिद्धान्त में = ध्वनि न मानने वाले [ दण्डी और चूड ] के सिद्धान्त में। द्वितीय = ऐश्वर्यस्वरूप। अन्यस्य = अन्य अर्थात् उस पक्ष में अन्य जिसमें रस वाक्यार्थभूत रहता है। इस प्रकार ध्वनि न मानने वालों के मत को दोनों विषयों का दृष्टान्त बनाकर इसके द्वारा रस और रसवदलकार का क्षेत्र विभक्त किया।

जो रस आदि अंगभूत होते हैं उनमें अलङ्कारता मानना उचित ही है, क्योंकि उपमा आदि सभी अलङ्कारों में प्रकृत वस्तु की शोभा बढ़ाने से ही अलङ्कारता आती है, और क्योंकि अंगभूत रस के द्वारा भी यह कार्य किया ही जाना है इसलिए कि उसके साथ प्रकृत रस [ उपस्कार्य ] अलङ्कार्य रूप से विद्यमान रहता है, अतः उपमादि में अलङ्कारत्व आने पर जैसी स्थिति होती है वैसी ही स्थिति रसादि में है [ अतः वे भी अलङ्कार कहे जा सकते हैं ]। यद्यपि उपमा आदि अर्थ के अलङ्कार होते हैं [ अतः अर्थ को ही उनका अलङ्कार्य मानना चाहिए ] तथापि क्योंकि वह वाच्य अर्थ विभाव आदि के रूप में उपरिष्ठ होता है अतः वाच्य की आत्मा और व्यंग्य रूप से उपरिष्ठ रसादि ही उस [ उपमा आदि ] का अलङ्कार्य ठहरता है। यहाँ तक कि शब्दालङ्कार भी शब्द के माध्यम से उसी [ रसादि व्यंग्य वाक्यात्मा ] के अलङ्कार होते हैं, इसी प्रकार अर्थ के माध्यम से अर्थालङ्कार भी। ठीक भी है। लोक में भी कदक आदि रहते तो उन उन अवयवों में ही हैं, किन्तु वे उन उन विशिष्ट चित्तवृत्तियों की सूचना देते और उसके द्वारा चेतन आत्मा को ही अलङ्कन करते हैं। शब्द शरीर आदि अचेतन वस्तु कदक आदि से युक्त होकर भी अच्छे नहीं लगते, इसलिए कि उनमें अलङ्कार्य का अभाव रहता है। इस प्रकार सर्वत्र ही देह के द्वारा आत्मा का ही अलङ्कार किया जाना है। यहाँ [ काव्यस्थल में ] यह जो रसादि रूप आत्मा है, शब्द और अर्थ उसके शरीर होने हैं अतः उसका इनके द्वारा ही अलङ्कृत किया जाना उचित ठहरता है। इस प्रकार—

'सभी अलङ्कारों के अलङ्कारत्व का साधक है उनका प्रधानभूत रसभाव आदि की दृष्टि से स्निवेश ॥ [ ध्वन्यालोक २।५ संप्रदहारिका ]

इस दृष्टि से रस आदि को लेकर ही किया गया निवेश अलङ्कारों का प्राण है। इसीलिए यहाँ भी रस आदि में अलङ्कारत्व तभी ठीक होगा जब प्रकृत और वाक्यार्थभूत होने से प्रधान रस आदि अलङ्कार्य के प्रति अंग हों। जैसा कि [ रत्नाकरकार ने भी ] कहा है—

‘जहाँ रस आदि प्रधान रहते हैं वहाँ रस रसादिध्वनि का विषय बनता है। किन्तु वे ही जहाँ रसादि के पोषक बनते हैं वहाँ रसादि [ रसवद्रादि ] अलंकार बन जाते हैं। उनकी यह एक भिन्न ही दशा है ॥ [ सू० १०९ कारिका ] ॥

[ रसनाकरकार का कहना है कि— ] ‘निर्वेद आदि [ संचारी ] भाव सदा रस आदि के अंग और ध्वनि के भेद के रूप में ही रहते हैं, क्योंकि उनकी अपनी प्रधानता उसी प्रकार कभी भी नहीं रहती जिस प्रकार यमदास [ दासी ने गर्भ से उत्पन्न होने आदि के कारण जन्मतः दास ] की इस प्रकार उनमें प्रधानता और अप्रधानता की वे कक्षार्थ ही नहीं बनती [ एकमात्र अप्रधानता ही रहती है ] तब [ सर्वस्वकार द्वारा जगले मूय में ] उन्हें भावस्थिति, भावोदय, भावसन्धि, भावज्वलन तथा भावप्रसन्न के रूप में अलंकार वैसे कहा जा रहा है [ ये तो रस-ध्वनि के अवयव हैं अतः ध्वनि रूप ही है ] वैसा मानने पर ये ध्वनिभेद सिद्ध नहीं हो सके। [ द्रष्टव्य रसनाकर, रसवदलंकार वृत्ति पं० १८-१५ पुनः संस्करण ]। यह कथन ठीक नहीं है। स्थिति यह है कि निर्वेद आदि की तीन दशाएँ होती हैं [ अर्थात् ये तीन प्रकार के होते हैं ] इनमें [ मम्मटाचार्य के ] ‘वन विभाव आदि के द्वारा व्यक्त वह स्थायी भाव रस माना गया है’ [ काव्यप्रकाश-२ वृत्तास ] इस वचन के अनुसार विभाव और अनुभाव के समान रस को व्यक्त करना इसकी एक दशा है। यहाँ प्रधान रहता है रस ही, क्योंकि यही निरतिशय प्रीति उत्पन्न करता है अतः वही फलवान् [ प्रीतिरूपी फल से युक्त ] होता है। इस प्रकार ‘फलवान का साध होने से फलहीन उस फलवान् का अंग बन जाता है’ इस नीति के अनुसार इन भावों का कोई ऐसा प्रयोजन नहीं रहता जो रस के प्रयोजन से भिन्न हो, इसकी इतिवर्तव्यता तो रसव्यञ्जना तक ही सीमित है, अर्थात् ये रस की व्यञ्जना करारक कृतकार्य ही जाते हैं। उदाहरणार्थ—

‘अभी चोली टटाने का अवसर आया नहीं, करधनी छूटें नहीं, मैंने विपरीत रति के लिए ही आग्रह किया नहीं, न तो यही चाहा कि तुम अपनी भुजलता द्वारा मुझे बाँधो, तो भी अकारण ही तुम बाललवलीबन्दी के समान काँप रही हो क्यों।’

इस पदार्थ में आत्मबल विभाव है तथा, कम्पन आदि अनुभाव हैं और बितक है व्यभिचारी भाव। इन तीनों का प्रयोजन एकमात्र समान रूप से रस की व्यञ्जना करना है। रस व्यञ्जित हो जाता है तो वही सहृदयों को [ प्रीतिरूप ] फल दे देता है, अतः इन विभावों का अन्य कोई फल नहीं रहता। इसलिए [ रसनाकरकार को ] यह नहीं कहना चाहिए कि ये संचारी भाव रसादि का अंग होते हैं और वे अपनी स्थिति आदि रूपध्वनि का प्रकार बनते हैं। [ २० रसनाकर सू० १०९ पं० १३ ] यदि उन्हें अंग बतलाया जाता है तो उनमें प्रधानता नहीं रहेगी और तब उन्हें ध्वनि कहना बचित न होगा। क्योंकि अप्रधान को प्रधान बतलाना विरुद्ध होगा। और यदि ऐसा है [ अर्थात् अंगभूत संचारी को ध्वनि कहा जा सकता है ] तो गुणोभूत व्यंघ्य को ध्वनि कहने का निषेध क्यों किया ? [ गुणोभूत व्यंघ्य में व्यंघ्यार्थ गुणोभूत या अप्रधान रहता है इसीलिए उसे ध्वनि नहीं कहा जाता, क्योंकि ध्वनि में व्यंघ्य अनिवायतः प्रधान रहता है। यदि अप्रधान को भी ध्वनि मानना आरम्भ कर दिया जाए तो गुणोभूत व्यंघ्य को भी ध्वनि मानना होगा ]।

[ निर्वेदादि की दूसरी दशा वह होती है जहाँ ] यहाँ ये [ मम्मटाचार्य ] की ‘मुख्य तो रस ही होता है तथापि कभी कभी ये भी मुख्य बन जाते हैं’—[ काव्यप्रकाश भा३७ सू० ५१ ] इस वक्ति के अनुसार विभावानुभावों से व्यञ्जित होते और ठीक वैसे ही रसकी अप्रधान बनाकर स्वयं प्रधान बन जाते हैं जिस प्रकार विवाह में दूल्हा बना राजा का लौकर, राजा स्वयं जिसके पीछे चलता है। इसका उदाहरण है—

‘इधर प्रणययाचना कर रही सुन्दर और सुकुमार वधू है, और इधर वनभूमि है जिसमें अनुपम फल और मूल स्वेच्छालम्प्य हैं और इस ओर प्रत्यञ्चा की गडगडाहट के लिए उद्यत सेना का युद्धकार्य है। अब उनमें अधिक श्वत्स चित्त का यह जन किसे चाहे।’

यहाँ शृंगार आदि रस प्रकृत हो जाने नहीं, अतः वे अप्रधान हैं और प्रधान हैं विभाव तथा अनुभावों से व्यञ्जित चिन्तानामक व्यभिचारी भाव, क्योंकि उनी में वाक्यार्थ की परिसमाप्ति होने है और वही वाक्य का तात्पर्यविषय है। इसीलिये यहाँ जो भावस्थिति है वह ध्वनि है। इन प्रकार यहाँ चिन्ता गुणीभूत नहीं है। क्योंकि वह शृंगारादि रस के प्रति अग नहीं है और इसीलिये [रत्नाकरकार ने भावों के लिये जो कहा था कि वे ] रस आदि की परिपोषकता कभी नहीं छोड़ने, सदा उन्हीं [रसादि] का कार्य करते हैं, रस के प्रति गुणीभूत रहते हैं, अपने आप कोई निरतिशयानन्द नहीं देते, अतः सहृदयों के लिए वे स्वयं फलदायक नहीं होते, वे उनका कोई अपना प्रयोजन निष्पन्न नहीं करते, [द्र० रत्नाकर सू १०९ पं० १५-२०] इन सबका [उपयुक्त पद्य में आई] चिन्ता में अभाव है [अर्थात् रस की पोषकता का अर्थमें अभाव है, रस का कार्य वह नहीं कर रही, रसके प्रति वह गुणीभूत भी नहीं है, उसके स्वयं के द्वारा वह निरतिशय प्रीति दे रही है, अतः सहृदयों के लिए वह स्वयं फलप्रद है और इसीलिये उसका अपना स्वयं का प्रयोजन भी है] और इसीलिये वह [अन्यत्र] मुख्य माने जाने वाले रसों की भी अनादृत कर वाक्य का तात्पर्य विषय बन कर ठीक जैसे ही प्रधान और ततः अगो है जैसे विवाह में दूल्हा बना ऐसा सेवक जिसका स्वामी राजा होते हुए भी उसके पीछे चला रहा हो। और इसीलिये [विवाहप्रवृत्तभृत्य के] दृष्टान्त तथा दार्ष्टान्तिक में [रत्नाकरकार द्वारा प्रतिपादित, (आगे दिए जा रहा)] कोई भी वैषम्य नहीं है। इस [पद्य इतथा०] में वक्ता सरल हृदय का व्यक्ति है अतः उसका तात्पर्य किसी एक अर्थ में नहीं है, फलतः कोई एक पक्ष यहाँ नहीं अपनाया जा सकता, इसलिये [इसमें शृंगारादि] रस की किसी भी प्रकार की प्रधानता नहीं है। न तो इनमें [तीनों रसों की] सन्धि ही है क्योंकि वे परस्पर विरुद्ध हैं। इस प्रकार यहाँ [चिन्तारूपी] व्यभिचारी भाव की ही प्रधानता है। [“ध्वनिकार आदि के इस कथन में कि भाव अब व्यक्त वाक्य के प्रति प्रधान और रस के प्रति अप्रधान होता है तब वह भावध्वनि ही कहलाता है जैसे विवाहप्रवृत्त भृत्य” इन कथन में दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक में यह वैषम्य है कि दार्ष्टान्तिक में तो भाव रस के प्रति गुणीभूत रहता है पर दृष्टान्त-में भृत्य विवाह के समय किसी के भी प्रति अप्रधान नहीं रहता। अतः] गर्मदास के समान निर्बेदादि भाव कभी भी प्रधान होते ही नहीं” [इस प्रकार रत्नाकरकार ने जो दृष्टान्त-वैषम्य की मिद्धि के हेतु गर्मदास की ऐकान्तिक अप्रधानता का तर्क प्रस्तुत किया है] यह भी विचारणीय लक्ष्य है। गर्मदास भी कभी, अन्ततः, गर्मदासी के प्रति ही प्रधान होता ही है। प्रधानत्व अप्रधानत्व तो सापेक्ष तत्त्व हैं।

[निर्बेदादि की तीसरी दशा वह है] जब ये कभी ‘कहाँ ये दूसरे के अंग बन जाते हैं’ इन रीति से जब ये अंग बन जाते हैं तो ये प्रधान नहीं रहने। फलतः अलङ्कार हो जाते हैं। इसका उदाहरण यह है—

‘समुद्र की पुत्री [लक्ष्मी] के प्रथम अभागम, जो काम का धाम था, में केश, दोनों कुल तथा चित्रक (तुङ्गी) के अभागम में चारों हाव लग जाने पर, अत्यन्त निविड नीवी खोलने के इच्छुक विष्णु मगवान् की चार से अधिक हाथों की इच्छा आय इस सबको पवित्र करे।’

इस पद्य में प्रयोलङ्कार है क्योंकि इसमें शृंगाररस प्रकृत हो नहीं पाता, फलतः वह अप्रधान

रहता है, साथ ही वाक्य के तात्पर्यविषय के रूप में प्रस्तुत [ अतः प्रधान ] होते पर भी शौरसूक्त्य विष्णुविषयक रसि के प्रति अंग [ अतः अप्रधान ] है ।

यद्यपि यह कहा जा सकता है कि यदि ये भाव दूसरे के अंग होने से अलंकारत्व को प्राप्त होते हैं तो ये सर्वत्र ही वहाँ [ अलंकार ] होंगे क्योंकि रस के अंग तो ये सदा ही होते हैं ।

[ अर्थात् विभाव और अनुभाव के समान संचारी भाव भी रसव्यक्ति के लिए भावव्ययक होते हैं अतः वे रस के कारण होकर सदा ही रस के अंग बने रहते हैं ] ।

किन्तु यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि ये तब अलंकार कहलाते हैं जब वे ऐसे किसी प्रधान तत्त्व का उपस्कार करते हैं, जो पहले से ही किन्हीं अन्य निमित्तों से निष्पन्न हो चुका हो । ऐसा इसलिए कि अलंकार्यालंकरणभाव उपस्कार्यापस्कारकभाव [ उपस्कार्य = शोभनीय, उपस्कारक = शोभाजनक ] पर निर्भर है जैसा कि वतलाया जा चुका है । वहाँ निर्वेद आदि रसादि के स्वरूप की निष्पत्ति में कारण बनते हैं वहाँ इनका फल केवल वन [ रसादि ] की व्यञ्जना ही होता है, क्योंकि ये रस के प्रति समर्पित अतः उपसर्जनोभूत अर्थात् अप्रधान या गौण रहते हैं । और इसी कारण ये न तो वहाँ ध्वनि होते और अलंकार ही [ हाय पैर आदि शरीर के निष्पादक अंग हैं अतः न वे आत्मा के समान प्रधान हैं और कटक कुण्डल आदि के समान अलंकार ही । ] इसलिए कि इस स्थिति में ये रस की अभिव्यक्ति के अतिरिक्त किसी भी अन्य प्रयोजन के निष्पादक बन नहीं पाते ।

इस प्रकार निर्वेद आदि रस की अभिव्यक्ति में होते हैं सहकारी, प्रधान होने पर होते हैं ध्वनि और अंग होने पर होते हैं अलंकार । यह है भावकी इन तीनों स्थितियों का अन्तर । इस कारण अन्य आचार्य ने [ रत्नाकरकार ने रसवदादि के ही प्रकरण में ] जो—

‘निर्वेद आदि सदा ही अंग रहते हैं, अतः उन्हें लेकर प्रेय को अलंकार नहीं मानना चाहिए । इसलिये जब वे व्यंग्य होते हैं तो ध्वनि ही होते हैं क्योंकि इनमें कमी कहीं भी प्राधान्य नहीं रहता ।

‘इस कारण भावप्रशम आदि भी व्यंग्य होते हैं तो सदा ध्वनि ही हुआ करते हैं । और यदि इनमें ध्वनित्व मान्य है तो समाहित आदि को अलंकार नहीं कहना चाहिए ॥’ यह सब कहा है यह उपेक्ष्य ही है ।

**विमर्श**—रत्नाकरकार ने प्रेयोऽलंकार के लिए भाव की अंगता तो स्वीकार की है किन्तु उनके भाव का अर्थ है रथादि स्थायीभाव, संचारीभाव नहीं, जब कि ध्वनिवादी आचार्य चिन्ता आदि की अंगभूत व्यंग्यस्थिति में प्रेयोऽलंकार मानते हैं । संचारीभावों को प्रेयोऽलंकार न मानने के लिए उन्होंने प्रधानरूप से यह तर्क प्रस्तुत किया है कि संचारीभाव रस को छोड़कर कमी नहीं रहते, अतः वे सदा ही इसके अंग रहते हैं । साथ ही वे रसके व्यञ्जक होते हैं और रसानुभूति में भी छूटते नहीं । पानकरसन्धाय से उनका भी अस्तित्व नहीं रहता है अतः ये ध्वनिरूप रस से अभिन्न होने के कारण स्वयं भी ध्वनि हैं । इस स्थापना के आधारपर वे मम्मट और उनके अनुयायी सर्वस्वकार का खण्डन करते और कहते हैं कि उन्हें मात्रोदय, भावशान्ति, भावसन्धि, भावशबलता तथा भाव को अलंकार नहीं मानना चाहिए । ये सब ध्वनियाँ ही हैं । उनका ग्रन्थ है—

‘भावस्य देवविषयस्य रथादेः स्थायिनः प्राधान्ये भावध्वनिः, रसाद्यत्वे तु प्रेयोऽलंकारः ।  
०० व्यभिचारिभूतस्य निर्वेदादेर्भावस्य गर्भदासवत् कदाचिदपि स्वप्राधान्याभावात् सर्वदा

रसालङ्कारवेदमिधीयमाने भावस्थित्युदयसन्धिद्वयलताप्रशमाकृष्टानां ध्वनिभेदानामभावः प्रसज्यते, तेषां भावस्थित्युदयादीनां ध्वनिस्त्वमेव । तस्माद् व्यभिचारिभावापेक्षया प्रियऊर्जस्विसमाहित-  
माधोदयसन्धिद्वयलत्वानि न पृथगलङ्काराणि ।

दृष्टान्तराष्ट्रान्तिक की विषमता पर रत्नाकर की पतियों ऊपर उद्भूत पतियों के दो अचिह्न सातत्य में ये हैं—

‘यदशुक्तं यत्र वाक्यार्थोभूतानां रसादीनामुपकारका निर्देशादयस्तत्र प्रिय प्रभृतयोऽलङ्काराः, यत्र तु रसाद्युपसर्जनीभूतानामपि भावस्थित्यादीनां वाक्यतात्पर्येण राजागुणविविधाप्रवृत्तानुत्पत्तौ माधान्यं तत्र भावादिध्वनिरिति, तदस्य, विषमोपन्यासात् । तथा हि विवाहसमये निजप्रयोजनसंपादनार्थं प्रवृत्तस्य भृत्यस्य न राजान प्रति गुणवत्त्वं, तदीयानां तदीयकार्यकरणत्वं । प्रत्युत राजैव विवाह-  
शोभोद्बलकृतया त प्रति शुभीभूतः । इह तु वाक्यतात्पर्यविवक्षयत्वेन प्राधान्येऽपि भावस्थित्यादे रसादिपरिपोषकत्वात्प्रागात् निजप्रयोजनान्तरसंपादकत्वविरहाच्च न रसापेक्षया प्राधान्यम् ।’

रत्नाकरकार ने एक पूर्वपक्ष और प्रस्तुत किया है तथा उसमें निर्देशादि को भी लेकर प्रयोऽलङ्कार की निष्पात्ति पर बल दिया है । वह यह है—

‘अथ प्रधानभूतरसापेक्षत्वे भावस्थित्यादिध्वनिः, अन्याहभूतरसादिपरिपोषकत्वे प्रिय प्रमुखा अलङ्कारा इति चेत्, न, रसादेरेव हि प्रधानेतरभावे विशेषः, न तदुपकरणीभूतस्य भावादेः । न ह्यन्योपसर्जनं स्वतन्त्रं वा स्वाभिन प्रति पारतन्त्र्ये गर्भदामस्य विशेषः कद्विद्यत् ।’

‘यदि भाव प्रधान रसादि के अंग होने पर ध्वनि होते हैं तो अग्रधान भूत रसादि के अंग होने पर प्रिय, आदि अलङ्कार क्यों न मान लिए जायें । ‘उत्तर = प्रधानेतरभाव रसादि में ही विशेषना जाना है, न कि उसके साधनभूत भावादि में नहीं । किसी अन्य के प्रति समर्पित हो या न हो, उससे अपने मालिक के प्रति मददा परतन्त्र्य गर्भदास में कोई अन्तर नहीं आता ।’ इस विषय का सारस्वक्षेप करते हुए रत्नाकरकार ने पाँच परिकरलोक बनाए हैं । इनमें से तीन तो विमर्शिनीकारने ही उद्भूत कर दिए हैं । उपर्युक्त विवेचन से सम्बद्ध एक पद्य यह है—

‘रसादिगुणभूतयोरिव च वस्त्वलङ्कारयो—

यथा ध्वनिरुपेयते न तु कदाप्यलङ्कारता ।

तमेव परिगृह्यतामिह च भावगान्त्यादिपु

रुष्टा तद्वद्वर्थात्तामिति रसादिभेदस्थितिः ॥’

जिस प्रकार रस आदि के प्रति गुणीभूत वस्तु और अलङ्कार को ध्वनि ही माना जाता है, कभी भी अलङ्कार नहीं, इसी प्रकार यहाँ भावान्त्यादि में जानना चाहिए । अतः उन्हें रसादि से भिन्न मानने की स्थिति छोड़ दो जानी चाहिए । विमर्शिनीकार ध्वनिवादी आचार्यों का समर्थन करते और कहते हैं कि पानकरसन्ध्याय से जहाँ भाव भी रसलौक्य रहते हैं वहाँ के अवश्य ही ध्वनिरूप रहते हैं तथापि अहाँ कहाँ उनमें उद्विक्तता चली आती है, जैसे पानकरस में ही कालीमिर्चया चीनी आदि की वहाँ वे रसरूपता का उचिह्न कर आत्वाद बुद्ध्या की अपनी दिशा में बहा ले जाने और स्वयं ही प्रधान हो जाते हैं । उनके उदाहरण भी हमके समर्थ प्रमाण हैं ।

[ सर्वस्व ]

तत्र रसघन उदाहरणम्—

‘किं हास्येन न मे प्रयास्यसि पुन प्राप्तश्चिराद्दर्शनं

केयं निष्कण प्रयासरचिता केनासि दूरीकृतः ।

स्वप्नान्तेष्विति वो घदन् प्रियतमव्यासक्तकण्ठग्रहो  
बुद्ध्वा रोदिति रिक्तबाहुबलयस्तारं रिपुखीजनः ॥'

एतन्मतद्वयेऽप्युदाहरणम् । वाक्यार्थाभूतोऽत्र कश्चो रसः । अङ्गभूत-  
स्तु विप्रलम्भशृङ्गारः । एवं रसान्तरेऽप्युदाहार्यम् । प्रेयोऽलंकारादौ वि-  
शेषमनपेक्ष्योदाहियते । प्रेयोऽलंकारो यथा —

'गाढालिङ्गनधामनीकृतकुचप्रोद्भिन्नरोमोद्गमा  
सान्द्रस्नेहरसातिरेकविगलच्छ्रीमघ्नितम्बाम्बरा ।  
मा मा मानद माति मामलमिति क्षामाक्षरोल्हापिनी  
सुप्ता किं नु मृता नु किं मनसि मे लीना विलीना नु किम् ॥'

अत्र नायिकायां दर्पाख्यो व्यभिचारिभावः । यथा वा—

'त्वद्वक्त्रामृतपानदुर्ललितया दृष्ट्या क विश्रम्यतां  
त्वद्वाक्यश्रवणाभियोगपरयोः श्राव्यं कुतः कर्णयोः ।  
एभिस्तत्परिरम्भनिर्भरभरैरङ्गैः कथं स्थीयतां  
कष्टं तद्विरहेण संप्रति वयं कृच्छ्रामवस्थां गताः ॥'

अत्र चिन्ताख्यो व्यभिचारिभावः । एष एव च भावालंकारः । भावस्य  
चात्र स्थितिरूपतया वर्णनम् शान्त्युदयावस्थे तु वक्ष्येते ।  
ऊर्जस्वी यथा—

'दूराकर्षणमोहमन्त्र इव मे तन्नाग्नि याते श्रुतिं  
चेतः कालकलामपि प्रकुरुते नावस्थितिं तां विना ।  
एतैराकुलितस्य विक्षततरैरङ्गैरनङ्गानुरैः  
संपद्येत कदा तदासिसुखमित्येतन्न वेद्मि स्फुटम् ॥'

अत्र रावणस्याभिलापको विप्रलम्भशृङ्गार औत्सुक्यं च व्यभिचारि-  
भावोऽनौचित्येन प्रवृत्तौ । समाहितं यथा—

'अक्ष्णोः स्फुटास्रकलुपोऽरुणिमा निलीनः  
शान्तं च सार्धमधरस्फुरणं भ्रुकुट्या ।  
भावान्तरस्य तव चण्डि गतोऽपि रोपो  
नोद्गाढवासनतया प्रसरं ददाति ॥'

अत्र कोपस्य प्रशमः । एवमन्यत्राप्युदाहार्यम् ।

इनमें से रसवदलंकार का उदाहरण, यथा—

'ईसी से क्या ! बहुत दिनों के बाद दिखाई दिए तुम पुनः नहीं दिखाई दोगे । हे निष्कर्षण,  
यह कैसी प्रवासकचि, तुम्हें दूर किसने कर दिया —' सपनेमें प्रियतम के गले हाथ डालकर इस  
प्रकार बात करती आपके शत्रुओं को खियाँ लागने पर अपना बाहुपाश रिक्त देखती कीर  
पुक्का फाड़कर रोती हैं ।'

यह दोनों ही मनों में उदाहरण माना जा सकता है। यहाँ प्रधान है करुण रस और अङ्ग-भूत है विप्रलम्भ शृङ्गार। इसी प्रकार अन्य रमों में भी जानना चाहिए। प्रयोऽलङ्कार आदि में [ दोनों मनों को ] विशेषता की ओर ध्यान न देकर ही उदाहरण दिए जा रहे हैं।

प्रयोऽलङ्कार का उदाहरण, यथा—

‘गात्रं आलिङ्गनं से जव स्ननं सिक्कुड गप और रॉम खिख उठे तो निविडतम स्नेह और आनन्द के अतिरेक से जिसके सुन्दर निगमों का वस्त्र खिसल गया था ऐसी यह, ‘नहीं नहीं, अरे मानमजकू मेरे साथ अति न कर’ इस प्रकार लडखडाने अश्रुत बोल रही यह सो गई है क्या, कहीं चल तो नहीं बनी, मेरे मन में तो कही लीन विन्योन नहीं हो गई है’।

यहाँ नायिका में हर्षनामक व्यभिचार भाव [ सभोग शृङ्गार का अङ्ग ] है। और जैसे—

उसके वक्त्रामृत के पान की दुलारी यह दृष्टि कहीं टिकारं जाय, उसके वाक्य सुनने के लिए अभिनिवेशपरायण ये मेरे कान सुनने योग्य वस्तु कहीं से पाएँ, उसके आलिङ्गन से प्रकाम आध्यायिन ये मेरे अंग कहीं ठहरें। ओह! उसके विरह से हम बड़ी ही कठिन स्थिति में पहुँच गए हैं।

यहाँ चिन्ता नामक व्यभिचारिभाव [ विप्रलम्भ शृङ्गार का अङ्ग ] और यहाँ है भावालङ्कार। इन उदाहरणों में भाव का वर्णन अस्तिश्वयुक्त रूप में है। शान्ति तथा उदय की अवस्था आगे बतलाई जायगी।

ऊर्जस्वी का उदाहरण यथा—

‘दूर से खींच लाने वाले मोहमन्त्र जैसा उसका नाम कान में आते ही चित्त उसके बिना एक पल भी टिकता नहीं। मुझे यह सूझ नहीं पड़ रहा कि इन कामातुर और घायल अंगों से आहुत मुझे उसकी प्राप्ति का सुख कर मिलेगा।’

यहाँ [ सीमा के लिए ] रावण की निम्न अभिधापा से निष्पन्न विप्रलम्भ शृङ्गार तथा औत्सुक्य नामक संचारीभाव अनौचित्य पूर्वक आगे बड़े हैं।

समाहित का उदाहरण यथा—

आँखों में धूँद पड़े आँसुओं से मिश्रित करुणिमा विहीन हो गईं। मृदुली के साथ अघर की फड़क भी शान्त हो गई है। इस प्रकार है कोपने। तेरा रोष हट गया है तब भी अन्य भाव को उद्गाढ वासनापूर्वक बड़ने का अवसर नहीं दे रहा। यहाँ कोप का प्रथम [ शृङ्गार का अंग ] है। इसी प्रकार अन्य [ भावों ] के उदाहरण भी दिए जा सकते हैं।

### चिमांशिनी

पतन्मतद्वय इति। ध्वन्यभाववादिनां ध्वनिभाववादिनां च। तत्र ध्वन्यभाववादिमते कर्णगोपेक्षया रसवदलङ्कारः, शृङ्गारापेक्षया तूदात्तम्। मतान्तरेण तु कर्णगोपेक्षया रसभ्रंजिः, शृङ्गारापेक्षया स्वयन्लङ्कारः। अत्र यद्यपि राजविषयाया रतेरङ्गित्वात्कर्णगोपेक्षया तदङ्गमेव, तथापि तस्य शृङ्गारापेक्षयाङ्गित्वमाश्रित्यैतदुक्तम्। कर्णगोपेक्षया शृङ्गारोपकृतः प्रसी-पत इति तस्यालङ्कारत्वम्। प्वमिति। यथा मतद्वयमपि संगच्छत इत्यर्थः। तत्तु यथा—

‘का एवं रक्तपटावगुण्ठितमुखी मुग्धे तत्राहं सती

किं शून्यौकसि केवला निवससि स्वामागतान्वेषितुम्।

पतद्भ्रममुदघ्नयेति कथयन्दालोच्य कूर्चं ततः

पायुः स्मेरमुक्तागुञ्जस्य तरुणी जाता विलचेरिमता ॥’

अत्र वाक्यार्थभूतः शृङ्गारः, अङ्गभूतस्तु हासः । एवमिति सामान्येनाप्युदाहरणव्या-  
प्तिपरं व्याख्येयम् । यथा—

‘पार्वत्या रचितं कपालिवृषभारुढं विलासाङ्गद-  
ग्रन्थिलान्तमहाहिलोचनलसञ्जालं पिनाकाङ्कितम् ।  
कन्दर्पापितदासनं कञ्चिबलकंकालमर्धेन्दुमद्-  
भस्माङ्कं च पुनातु वो नवरसान् पुष्पात् पुरारेवंपुः ॥’

अत्र भगवद्विषयाया रतेर्नैव रसा अङ्गम् । विशेषमिति । अङ्गाङ्गिणेन । तेन ध्वन्यभा-  
ववादिमतेनाङ्गाङ्गित्वमेवैषामाश्रित्योदाह्रियत इति तारपर्यम् । मावाङ्कारा इति । निर्वेदा-  
दीनां भावानां स्थिरात्मकतयापनिषयमानत्वात् । शान्त्युदधावस्येति भावस्येयत्रापि  
संयन्धनीयम् । अनेन चात्य समाहितादिभ्यो वैलक्षण्यं द्योतितम् । तेन यत्र भावस्य  
स्थितिस्तत्राप्यमलङ्कारः, अन्यथा स्वल्पेऽलङ्कारा इति । एवमिति । यथेतद्बुदाहृतमित्यर्थः ।  
अन्यत्रेति । ध्वनिवादिमते पुषामङ्गाव इत्यर्थः । तत्र प्रयोऽलङ्कारः ‘कञ्चकुच-’ इत्यादिना  
ध्वनिचारिभावापेक्षयोदाहृतः । देवताविषयस्यात्मभावोपनिबन्धे पुनर्यथा—

‘कण्ठेऽर्षवत्पुरापाशमसूयया मे यामिन्यचीशक्षिञ्च यस्मदे कृतान्तः ।  
नूनं तदा मुहुर्मुपैमि ऋणीन्द्रहार स्वस्तुक्षयतामिति भजे मरणेऽपि हर्षम् ॥’

अत्र भवद्विषयाया रतेर्मरणविषया इतिरङ्गमिति प्रयोऽलङ्कारः । ऊर्जस्वी यथा—

‘वन्दीकृत्य नृप द्विपां सृगहशस्ताः परयतां प्रेयसां  
श्लिष्यन्ति प्रगमन्ति लान्ति परितश्चुग्दन्ति ते सैनिकाः ।  
अस्माकं सुहृदैर्दृशां निपतितोऽस्यौचित्यवारांनिधे  
विध्वस्ता विपदोऽस्त्रिलास्तदिति तैः प्रत्यर्थिभिः स्तूयसे ॥’

अत्र राजविषयस्य भावस्य प्रथमद्वितीयार्धद्योतयौ रसाभासभावाभासावङ्गम् । ध्वनि-  
चारिभावापेक्षया पुनरयं यथा—

‘द्विपां तवारण्यनिवासमीयुषां नितग्विनीनां निकुरग्यकं नृप ।  
मुहुर्मुहुस्वश्रवलहिलोचनं न केन पृथ्वीपतिना निरीक्षितम् ॥’

अत्र शवरणां परदारविषयमौस्तुवयमनौचित्येन प्रवृत्तमिति भावाभासो राजविषयां  
रतिं प्रत्यङ्गम् । समाहितं यथा—

‘अविरलकरवालकम्पनेर्भ्रुकुटीतजैनगर्जनेर्मुहुः ।  
दृष्टो तव वैरिणां मदः स गतः क्वापि तवेक्षणे षणात् ॥’

अत्र राजविषयाया रतेरङ्गभूतस्य शत्रुविषयस्य मदस्य प्रशमः । देवताद्विविषयस्या-  
त्मभावापेक्षया पुनरयं यथा—

‘आयुक्षाः परितः स्फुरन्ति गिरयः स्फारास्तघाम्मोघय-  
स्तानेतानपि विभ्रती किमपि न कलान्तासि दुष्ये नमः ।  
आश्चर्येण मुहुर्मुहुः स्तुतिमिति प्रस्तौमि यावद्भुव-  
स्तावद्विभ्रादिमौ स्मृतस्तव भुजो वाचस्ततो मुद्रिताः ॥’

अत्र राजविषयाया रतेरङ्गभूतस्य भूविषयस्य रत्याख्यभावस्य प्रशाम्यत्वम् । अत एव  
च समाहितं यदन्वयैर्न लक्षितं तदत्यन्तमेवायुक्तम् । तन्मतेऽपि प्रयोऽलङ्कारवदस्याभावा-



वेद्ययास्य लक्षयितुं युक्तवात् । अविचारिमावापेक्षया हि भवद्भिः प्रेषः प्रभृतीनामलङ्कार-  
त्वं निरस्तम् । यदुक्तम्—‘तस्माद्भवमिचारापेक्षया प्रेषजर्जरिवममाहितभाषोदयसंधि-  
दाघलरवानि न नृपगलकाराणि चाप्यानि’ इति । तस्मान्नयनमतेऽपि समाहितादीनां लक्ष-  
णीयत्वं युक्तम् ।

एतन्मतद्वय = इन दोनों मतों में = अर्थात् ध्वनि न मानने वालों तथा ध्वनि मानने वालों  
के मत में । इनमें ध्वनि न मानने वालों के मत में रसवदलकार करण को लेकर है और शृंगार  
को लेकर उदात्त । अन्य मत में ( ध्वनिमत में ) इसके विरुद्ध करण को लेकर है रसध्वनि और  
शृंगार को लेकर है अलङ्कार । यद्यपि इस पद्य में अगी है राजविषयक रति, अन-करण भी उसके  
प्रति अग ही है तथापि हमे शृंगार की अपेक्षा अगो मानकर ऐसा कहा गया है । करण जो है वह  
शृंगार के द्वारा उपस्कृत होकर प्रतीत हो रहा है अनः वह [ शृंगार ] यहाँ अलङ्कार ही है ।  
एवम् इती प्रकार = अर्थात् इस प्रकार दोनों ही मत उसमें लागू हो सके । इसका उदाहरण  
यह है—

‘लाल घूषट में मुँह छिनाए तुम कौन हो ? अथि मुग्धे ‘मैं तेरी सखी हूँ । इस खाली मकान में  
अकेली क्यों बैठी हूँ ? तुझे खोजने आई हूँ । यह मुँह तो ( ऊँचा फर या ) खोल !’—ऐसा कहकर  
सुमकुटारने पनि का दादोमूँह से युक्त चेहरा देख कोई तरुणी लज्जित और मस्मित हो गई ।’

यहाँ प्रधान शृंगार है और हाम अग ( अग्रधान ) है । ‘एवम् = इस प्रकार = इसकी  
व्य-दया सामान्यरूप से भी की जानी चाहिए जिसने अन्य उदाहरणों में भा इसकी व्याप्ति हो मके ।  
अन्य उदाहरण यथा—

‘मगव न् शिव का वह शरीर आप हम मक्की रखा करे, जो नवों रस को पुष्ट करता है कर्पो-  
कि [ शृंगार के लिए ] जो गोद में पार्वती जो को लिए है, [ हास्य के लिए ] ध्रुपम पर आरुह है,  
[ करण के लिए ] जो बिलासाङ्गद के रूप में गौठ बंधकर कम देने से बलन्त भुजगराज से युक्त  
है, [ रौद्र के लिए ] जिसके कपाळनेत्र से ज्वाला निकल रही है, [ बोर के लिए ] जो पिनाक  
धनुष लिए हुए है, [ मयानक के लिए ] जिसकी आशा मानकर काम भाग रहा है [ बोभरम के लिए ]  
जो [ क = ] सिर पर ककाल [ नरकपाल ] धारण किए हैं [ अद्भुत के लिए ] जो चन्द्रमा की  
कला लिए हुए है [ तथा शान्त के लिए ] जो मरम रमाए हुए है ।’

यहाँ नो के नौ रस इस मगवान् शिव [ के विषय ] की रति के प्रति अवगत है ।

विशेषम् = अङ्गाङ्गिभाव । अभिप्राय यह कि इन्हीं उदाहरणों को ध्वनिविरोधियों के मत में  
अगमिभाव के आधार पर घटाया जाता है ।

भावालङ्कार = क्योंकि इन पद्यों में निर्बद्ध आदि भाव स्थितिगुक्त भावों के रूप में प्रस्तुत  
किए गए हैं । ‘शान्ति अवस्था और उदवावस्था’—इसका मन्व अनन्तरोक्त भाव के साथ करना  
चाहिए अर्थात् भाव को शान्ति और भाव का हो उदय । ऐसा कहकर समाहित आदि से भावालङ्कार  
का अन्तर स्पष्ट कर दिया । फलतः जहाँ भाव की स्थिति रहेगी वहाँ यह अलङ्कार [ भावालङ्कार ]  
होगा और अन्यत्र [ भावप्रशमननित समाहित आदि ] अन्य अलङ्कार ।

एवम् = इसी प्रकार अर्थात् जिस प्रकार उपर्युक्त उदाहरण दिए गए हैं । अन्यत्र—अन्य  
भावों के अर्थात् ध्वनिवादियों के मत में जहाँ ये अगभूत रहने हैं वहाँ । इस मत में प्रेषोऽलङ्कार  
का उदाहरण ‘कवकुवचिबुकाप्रे०’ पद्य के द्वारा जो उदाहरण दिया था वह व्यभिचारी भाव को  
लेकर दिया था । देवविषयक रतिरूपी भाव को लेकर [ जैसा कि रत्नाकरकार को मान्य है ]  
इसका उदाहरण यह होगा—

‘भगवन् शिव ! आप क्षोभ ( असूया ) में आकर [ मुझे मार डालने के लिए ] मेरे गले में अपना साँप बाँध रहे हैं जब कि मृत्यु आपका आशाकारी है, तब निश्चित ही हे फणीन्द्रहार ! मैं आपकी समता को प्राप्त होने जा रहा हूँ । और इसलिए मुझे मरने से भी हर्ष है ।

इस पद्यार्थ में मरणविषयकरति [ या मरणेच्छा ] भगवद्विषयक रति के प्रति अंग है । अतः प्रेयोऽलंकार है ।

कर्जस्वी यथा—

‘आपके सैनिक’ शत्रुसुन्दरियों को बन्दी बनाते और उनके प्रियतमों के देखते-देखते उनका आलिंगन करते हैं, उन्हें [ रतिलालसा से ] प्रणाम करते हैं, पकड़ते हैं और हर कहीं चूमते भी हैं । इस बीच में आप अथ पड़ुंच जाते हैं तो शत्रु लोग आपको स्तुति करते हैं—‘हे औचित्य के समुद्र, आप हमारे भाग्य से हमारी आँखों के सामने आए, अब हमारी सारी विपत्तियाँ [ आँखों के सामने अपनी स्त्रियों की दुर्दशा ] नष्ट हो गईं ।’

इस पद्य में प्रथमार्थ से व्यक्त रसान्नास तथा द्वितीयार्थ से व्यक्त भावामास [ कविनिष्ठ ] राजविषयक रति के अंग हैं ।

व्यभिचारिभाव को लेकर इस [ कर्जस्वी ] का उदाहरण यह है—

‘बनों में पड़े हुए आपके शत्रुओं की झुण्ड की झुण्ड स्त्रियों को बार-बार कनखी के पास घुमा-घुमाकर किस परलोपति [ मोलों के गाँव के स्वामी ] ने नहीं देखा ।’

यहाँ शत्रुओं में परस्त्री विषयक औत्सुक्य अनुचित है । अतः यह भावामासरूप है । वह राजविषयक [ कविनिष्ठ ] रति का अंग है ।

समाहित का उदाहरण, यथा—

‘बार बार तलवार घुमाने, मीठे टेढ़ी करने और गरजने से आप के शत्रुओं में जो मद दिखाई दिया था वह आपके दिखाई देते ही क्षणभर में कहीं तो भी चला गया ।’

यहाँ राजविषयक [ कविनिष्ठ ] रति के प्रति अंगभूत शत्रुनिष्ठ मद का प्रशमन बतलाया गया है । देवताविषयक रतिरूपी भाव को लेकर इस [ समाहित ] का उदाहरण यह है—

‘देवि ! पृथिव ! जो ये अत्यन्त लेंचे पर्वत चारों ओर दिखाई दे रहे हैं, इसी प्रकार जो ये विशाल समुद्र हैं, इस प्रकार के इन्हें भी तुम धारण किए हुए हो और तनिक भी शकती नहीं,’ इस आश्चर्य के साथ जब तक मैं पृथ्वी की स्तुति करता हूँ तभी तक इसको भी धारण किए हुए आपके सुन्दरपद का स्मरण हो जाता है और तब वाणी अवरुद्ध हो जाती है ।’

इस पद्य में पृथ्वीविषयक रतिभाव राजविषयक रतिभाव का अंग है, और उसकी प्रशमावस्था घोषित की है । इसलिए समाहित का जो लक्षण अन्य आचार्य [ रत्नाकरकार ] ने किया है वह सर्वथा अयुक्त है । [ रत्नाकरकार ने समाहित को ध्वनिरूप ही माना है । जैसा कि ऊपर दिए उन्हीं के उदाहरण से स्पष्ट है ] क्योंकि उन्हीं के मत में जो प्रेयोऽलंकार है जिसमें वे रतिभाव को अंग मानते हैं उसी के अनुसार यहाँ भी समाहित को अलंकार बतलाया जा सकता है । आपने तो प्रेय आदि में अलंकारत्व का निराकरण केवल व्यभिचारी भावों को लेकर किया है जैसा कि आपने ही कहा है—‘इस कारण व्यभिचारी भाव को लेकर प्रेय, कर्जस्वी, समाहित, मावोदय, भावसंधि तथा भावशक्लता को पृथक् अलंकार नहीं बतलाया जाना चाहिए’ [ रत्नाकर सूत्र १०९ वृत्ति ] । इस प्रकार उस पद्य [ अत्युप्याः० ] के अनुसार आपके मत में भी समाहित आदि में अलंकारत्व बतलाना उचित सिद्ध हो जाता है [ अतः सर्वत्वकार का मत मान्य सिद्ध होता है और उस पर आपका खण्डन ही अमान्य ] ।

विमर्दा—मर्वस्वकार, रत्नाकरकार और विमर्शिनीकार का परस्पर संपर्क रसवदादि के विषय में काफ़ी स्पष्टता ला चुका है। सर्वस्वकार और रत्नाकरकार का भ्रतभेद केवल इतने ही अंश में है कि मर्वस्वकार केवल रसवद को छोड़ प्रयोल्कार से लेकर भावशुष्यता तक के इन सभी अलंकारों में भावशब्द से स्थायीभाव के ही समान संचारीभाव को भी अपनाते हैं, जब कि रत्नाकरकार उन्हें केवल रत्नादि स्थायी भावों तक सीमित रखते हैं। संचारी भावों को वे सदा ही अप्रधान और रसाग मानते और इसलिये उनमें अलंकारत्व स्वीकार नहीं करते। उनका एतद्विषयक विवेचन पहले दिया ही जा चुका है। विमर्शिनीकार सर्वस्वकार का समर्थन करते और संचारी भावों में भी आदेशिक प्रधानता स्वीकार करते हैं। संचारीभावों का उपमान गर्भदासी रत्नाकर के मन में कभी भी प्रधान नहीं होता, विमर्शिनीकार उसे गर्भदासी अर्थात् उसकी स्त्री के प्रति प्रधान बना देते हैं। रत्नाकरकार ने भी विवाहप्रवृत्त श्रृंखला के दृष्टान्त में विषमता का दोष देते हुए कहा था कि श्रृंखला अब दृष्टा बना रहता है और उसका रवामी उसके पीछे चलता है तब वह केवल प्रधान ही रहता है। श्रृंखला का अर्थ है अन्य किसी की आज्ञा मानने और उसका कार्य करने वाला। दृष्टा बना श्रृंखला किसी की आज्ञा का पालन नहीं करता अतः उसमें प्रधानतामात्र रहती है अप्रधानता नहीं। विमर्शिनीकार की गर्भदासी और रत्नाकरकार का दृष्टा दृष्टान्तपक्ष में आदेशिक प्रधानता सिद्ध कर दार्ष्टान्तिक संचारी में भी आदेशिक प्रधानता [ विमर्शिनी और रत्नाकर दोनों के आचार्यों के मत में ] समान रूप से सिद्ध कर देते हैं। इस प्रकार प्रयोल्कार आदि में संचारी भावों का समर्थन पा जाता है।

इतिहास—रसवदादि अलंकारों का इतिहास एक स्वतन्त्र ग्रन्थ का विषय है। संक्षेप में इसका इतिहास कला और अनुभूति के दो पक्षों में विभक्त मिलता है। प्रथम पक्ष की धारा दण्डी से आरम्भ होती और भागवत के मध्यविन्दु से आगे बढ़ उड़त तक पहुँचती है। इनके अनुसार रसवद का स्वरूप इस प्रकार है—

[ १ ] कला या वस्तुवादी आचार्य—

दण्डी—प्रेयः प्रियतराल्यान् रसवद् रसपेक्षलम् ।

कर्मैस्त्रि रत्नाकरं युक्तैरुत्तमैश्च तद् प्रथम् ॥२।२७५॥

प्रियतर कथन [ स्पष्टतः चाट्ट या नक्ति ] प्रिय, रस से सुन्दर कथन रसवद्, रत्न अलंकार से युक्त कथन कर्मैस्त्री कहलाता है। इन तीनों में [ वाच्यशोभास्वरूपी ] उत्तम रहता है [ अतः ये तीनों अलंकार कहे जा सकते हैं ]। उदाहरण—

प्रेय—‘अथ या मम गोविन्द जाता स्वयि गृहागते ।

काष्ठेनैषा भवेत् प्रीतिस्तवैवागमनात् पुनः ॥

इत्याह युक्तं विदुरो नान्यत्रस्तादृशी धृतिः ।

प्रीतिप्रकाशनं तच्च प्रेय इत्यवगम्यताम् ॥ २।२७६-२७७ ॥

मगवान् कृष्ण के घर आने पर विदुर ने उनसे कहा—‘हे गोविन्द आपके पधारने से जो आनन्द मुझे आज्ञा माया है यह आनन्द मुझे दूसरी बार तभी प्राप्त होगा जब आप ही पुनः कभी पधारेंगे।’ यह कथन अपने प्रतिपाद्य के प्रतिपादन में सर्वथा उपयुक्त है क्योंकि अन्य किसी प्रकार से ऐसी [ धृति ] चित्तवृत्ति व्यक्त नहीं हो सकती। क्योंकि इस कथन में प्रीति का प्रकाशन है अतः इसे ‘प्रेय’ नाम से पुकारा जा सकता है।

दण्डी ने प्रेय का ही एक उदाहरण और दिया है, जिसमें मगवान् अष्टमूर्ति की राजा रति-वर्मा ने स्तुति की है। कुमारसंभव के द्वितीय सर्ग में शक्रदेव तथा षष्ठ सर्ग में शक्य मगवान्

शंकर की देवकृत स्तुतियाँ इसका वैसा ही अन्य उदाहरण है, अथवा रघुवंश के दशम सर्ग में विष्णु भगवान् की स्तुति । स्पष्ट रूप से इस प्रकार के संदर्भ रतिमात्र के व्यंजक हैं । जो रति कान्ताविषयक नहीं होती उसे प्रीति कहा भी जाता है । ध्वनिवादी आचार्यों ने इन संदर्भों को उद्धृत किया है, और इसमें भावध्वनि का अप्राञ्जल रूप स्वीकार किया है ।

रसवत् = के लिए दण्डी ने अनेक उदाहरण दिए हैं । उन्होंने रस को ही रसवत् माना है । शृंगार, रौद्र, वीर, करुण, बोभत्स, अद्भुत, हास्य तथा मयानक के उदाहरण प्रस्तुत कर वे उनमें से प्रत्येक के व्यंजक वाक्यसन्दर्भ को रसवत् कहते गए हैं । उदाहरणार्थ शृंगार की रसवत्ता—

‘मृतेति प्रेत्य संगन्तुं यथा मे मरणं मतम् ।

सैवावन्ती मया लब्धा कथमत्रैव श्रमनि ॥

सैयं रतिः शृंगारतां गता ।

रूपवाङ्मययोगेन तदिदं रसवद् वचः ॥ २।२८०-१ ॥

उदयन वासवदत्ता के पुनः मिल जाने पर कहता है—‘मृत जान जिससे मिलने के लिए मैंने मरना ही एकमात्र उपाय माना था वही आवन्ती [ वासवदत्ता ] इसी जन्म में मिल गई यह आश्चर्य है । इस कथन में वासवदत्ताविषयक उदयननिष्ठ रति पुष्ट होकर शृंगार बन गई है । अतः यह कथन रसवत् कथन है । इसके अनेक रूप होते हैं यथा—रौद्र, वीर, आदि । दण्डी के इस प्रकरण में केवल आठ ही रसा के नाम मिलते हैं । शान्त का नहीं । स्पष्ट है कि दण्डी सामाजिकनिष्ठ रसानुभूति को ही रस मानते हैं । उनकी स्थापना में नवीनता केवल इतनी है कि वे इसको भी काव्य का अलंकार मानते हैं । इसमें सन्देह नहीं कि रसामिव्यक्ति को सामग्री प्रस्तुत करने पर भी काव्य में असामान्य विशेषता जैसे ही चली आती है जैसे उपमा आदि की सामग्री प्रस्तुत करने पर । इस विषय पर हमने अपना दृष्टिकोण अपने व्यक्तिविवेक के हिन्दी-भाष्य की भूमिका तथा साहित्यतत्त्वविमर्श नामक एक संस्कृत शोधपत्र में स्पष्ट कर दिया है ।

ऊर्जस्वी = ‘अपकर्णाहमस्मीति हृदि ते मात्म भूद् भयम् ।

विमुक्षेपु न मे खट्गः प्रहर्तुं जातु वाञ्छति ॥

इति मुक्तः परो युद्धे निरुद्धां दर्पशालिना ।

पुंछे केनापि तज्ज्येयमूर्जस्वीत्येवमादिकम् ॥’

‘मैं तेरा अहित करूँगा ऐसा भय तेरे मन में न आए मेरा खड्ग युद्धपराङ्मुख पर नहीं चलना चाहता’—ऐसा कह कर किसी दर्पशाली ने शत्रु को छोड़ दिया अतः यह ऊर्जस्वी कथन है ।

भामह = ने दण्डी के ही अनुकरण पर अभिव्यञ्जक सामग्री से युक्त शब्दार्थ को रसवदादि माना है । दण्डी की पदावली में ही रसवदादि का निरूपण करते हुए उन्होंने लिखा—

प्रेयः—‘प्रेयो गुहागतं कृष्णमवादीद् विदुरो यथा ।

अथ या मम—पुनः ॥ ३५ ॥’

रसवद् = ‘रसवद् दक्षितस्पष्टशृंगारादिरसं यथा ।

देवी समागमद् धर्ममस्करिष्यतिरोद्धिता ॥’ ३।६ ॥

वद् कथन जिसमें शृंगारादि रस स्पष्टरूप से दिखाए गए हों । यथा देवी पार्वती व्यक्तरूप से ब्रह्मचारी वेपथारी शिव से मिल गई ।

ऊर्जस्वी = 'ऊर्जस्वि कर्णेन यथा' पापोय पुनरागतः ।

दिः सन्धाति किं कर्णं शब्दे'—त्यदिरपाकृत- ॥'

शाब्दवदाह द्वारा सर्पनाश करने वाले अर्जुन से बदला लेने के लिए कर्ण के बाण में प्रविष्ट और बाण के साथ अर्जुन पर छूटे किन्तु भीकृष्ण द्वारा अर्जुन की रक्षा कर लेने पर विफल होकर वापस लौटे सर्प के कर्ण से पुनः बाण चलाने का शय्यानुमोदित आग्रह करने पर कर्ण का यह कथन—'मैं एक बाण दूसरी बार नहीं चलाना'—ऊर्जस्वी है । स्पष्ट ही गर्वोक्ति ही इन आचार्यों के ऊर्जस्वी कथन है ।

भामह ने प्रेय और ऊर्जस्वी के लक्षण नहीं दिए क्योंकि इनका संकेत दण्डी ने कर दिया था, किन्तु रसवत् पर दण्डी ने जो आलंकारिक संकेत दिया था = 'रसपेशल', भामह ने उसे अवश्य ही स्पष्ट कर दिया है । उदाहरण भी उन्होंने दण्डी से अच्छे दिए हैं । दण्डी के उदाहरणों में अभिव्यक्ति अधिक विकीर्ण थी । भामह के उदाहरणों में वह कसी डुर, सक्षिप्त तथा सारपूर्ण है ।

धामन की काव्यालंकार सूत्रवृत्ति में ये अलंकार नहीं मिलते ।

उद्धट = ने प्रेय, रसवत् और ऊर्जस्वी इन तीनों के लक्षण अधिक स्पष्टता के साथ दिए । इन लक्षणों की विशेषता यह है कि ये परवर्ती ध्वनिवाद से भी नहीं कटते । उनके विवेचन इस प्रकार हैं—

प्रेयः = 'रसादिकानां भावानामनुभावार्दसूचनैः ।

यत् काव्य बध्यते सन्निरतत् प्रेयस्वदुदाहृतम् ॥'

'रति आदि भावों के अनुभाव आदि की सूचना द्वारा जो काव्य ग्रथित होता है उसे विद्वज्जन प्रेयस्वत् कहते हैं ।' उदाहरण—

'इयं च सुनवाश्लम्यात्रिविधैस्सृहावनी ।

चत्वार्यपिनुभारब्धा कृदेमं क्रोश आत्मनः ॥'

'पार्वती जी मृगपोत को अपनी गोद में लेकर पुत्रकारने लगीं, उनका प्रेय उसके प्रति पुत्र-प्रेम से कम नहीं था ।' लघुवृत्ति के अनुसार यहाँ 'गोद में लेने रूपी आंगिक अभिनय तथा पुत्रकारने रूपी वाचिक अभिनय'—इन दो अनुभावों, मृगपोत रूपी आलम्बनविभाव तथा औरस्य वररूपी संचारी भाव से वास्तव्यरूपी रतिभाव की प्रधानरूप से अभिव्यक्ति होती है । इस रति का वाचक 'सृहा'—शब्द भी इस पद्य में आया हुआ है । अतः यह उक्ति प्रेयस्वत्त्व से युक्त है । यहाँ प्रेय का अर्थ अधिक प्रियता ही है जिसे दण्डी ने प्रीति कहा है ।

रसवत् = 'रसवद्द्रसितस्वङ्गहारदिरसादयम् ।

स्वशब्दरसायिसचारिविभावामिनयास्यदम् ॥'

—'शब्द आदि रसों के स्पष्ट प्रतिपादन से यह अलंकार रसवत् कहलाता है । इसमें रसका स्ववाचक शब्द स्थायी भाव, संचारी भाव, विभाव तथा अभिनयार्थक अनुभाव रहते हैं ।'

उद्धट की यह उक्ति केवल एक तथ्य को लेकर ध्वनिवादी आचार्यों की रसलक्षणकारिका से मिन्य है । यह है रसवाचक शब्द का कथन । ध्वनिवादियों ने इसे अनावश्यक ही नहीं रसा-पदबंध दोष भी माना है । उद्धट ने इसका जो उदाहरण दिया है उससे 'स्वशब्द' का अर्थ रति

या शृङ्गार आदि शब्द नहीं, अपि तु काम, कन्दर्प, मन्मथ, कामप्रिया आदि शब्द भी हैं। ये शब्द शृङ्गारप्रसङ्ग में कहीं नहीं आते। उद्भट का उदाहरण यह है—

‘इति भावयतस्तस्य समस्तान् पार्वतीगुणान् ।  
संभृतानल्पसंकल्पः कन्दर्पः प्रबलोऽभवत् ॥  
स्विद्यतापि च गात्रेण बभार पुलकोत्करम् ।  
वदम्बकलिकाकोशकेसरप्रकरोत्करम् ॥’  
क्षणमौरसुवयगमिष्या चिन्तानिश्चलया क्षणम् ।  
क्षणं प्रमोदालसया दृशास्यास्थमभूष्यत ॥’

पार्वती के सभी गुणों पर ध्यान देते ही भगवान् शिव का अनल्प संकल्पों से समृद्ध कन्दर्प प्रबल हो उठा। उनके शरीर में स्वेद और रोमांच वैसे ही होने लगे जैसे कदम्ब की कली के कोश में केसर प्रकर। उनका चेहरा क्षण भर के लिए औरसुवयमयी, क्षणभर के लिए चिन्तानिश्चल तथा क्षण भर के लिए प्रमोद से अलसाई दृष्टि से भूयित हो उठा। उद्भट के कुमारसंभव का यह स्थल रस की प्रबन्धव्यंग्यता के लिए ठीक उतना ही महत्वपूर्ण स्थल है जितना महत्वपूर्ण कालिदास के कुमारसंभव के तृतीय सर्ग का ‘अदृश्यत स्थावरराजकन्या’—से लेकर ‘हरस्तु किञ्चित्’—तक का स्थल, जिसे ध्वनिकार आनन्दवर्धन तथा अभिनवगुप्त ने ही नहीं, अनुमितिवादी महिममट्ट ने भी समान रूप से रसपिच्छल तथा रस की सम्पूर्ण सामग्री से युक्त एक बादर्श स्थल माना है। रसनिष्पत्तिप्रक्रिया के इतिहास में उद्भट का यह निरूपण अत्यन्त महत्त्व रखता है। इससे स्पष्ट है कि रस की निष्पत्ति के लिए अपेक्षित सामग्री और उसके अनुरूप काव्यशिल्प का जो रूप आनन्दवर्धन आदि परवर्ती ध्वनिवादी आचार्यों ने प्रस्तुत किया था वह उनके द्वारा समाहृत और उनके पूर्ववर्ती आचार्य उद्भट में ही उसी रूप में उतनी ही पुष्कलता और उतनी ही समग्रता के साथ स्थापित और स्पष्ट हो चुका था। उद्भट ने उक्त रसवद्विवेचन के पश्चात् नवों रसों को भी गिनाया है—

‘रसवद् ००० स्पदम् [ ७०८ पृ० ] ।  
शृङ्गारहास्यकण्ठरौद्रवीरभयानकाः ।  
दीमत्साद्भुतशान्ताश्च नव नाट्ये रसाः स्मृताः ॥’

इसमें एक विशेषता यह भी है कि यहाँ दण्डी द्वारा परित्यक्त शान्त का संग्रह भी समान रूप से एक साथ हो गया है। ऐसा कार्य मम्मट भी नहीं कर पाए हैं। उन्होंने शान्त को अलग रखकर पहले आठ रस गिनाए हैं। पश्चात् शान्त का समर्थन दबे स्वर में किया है। तथापि नाट्य में तो उसकी पुष्टि वे स्वीकार नहीं ही कर पाए।

ऊर्जस्वी = के विषय में भी उद्भट को स्थापना ही वह वेदिका है जिसे मम्मट आदि ने अपना आधार बनाया है। उन्होंने ऊर्जस्विता के लिए अनौचित्य को आवश्यक माना था। उद्भट ने इसे उनके पूर्व ही इस प्रकार स्पष्ट रूप से उपस्थित कर दिया था—

‘अनौचित्यप्रवृत्तानां कामक्रोधादिकारणात् ।  
भावानां च रसानां च बन्ध ऊर्जस्वि कथ्यते ॥’

‘काम या क्रोध आदि के कारण उमड़े और भागे बढ़े भाव तथा रसों का काव्योपादान ही ऊर्जस्वी कहलाता है।’

ऊर्जस्वी पर दण्डी और मामट की दृष्टि अधिक न्यायक थी। कर्ण आदि की गर्वोक्तिवों भी ऊर्जस्वी कथन ही हैं यद्यपि उनमें अनौचित्य नहीं है। अहंकार अवश्य है। अनौचित्य अहंकार

का कादाचित्क फल तो हो सकता है सार्वदिक और ऐकान्तिक फल नहीं। सीता जी की प्रणय-मिश्र रावण के प्रति यह उक्ति—

‘वरणेनापि सन्धेन न स्पृशेयं निशाचरम् ।

राव० कि पुनरह कामयेयं निशाचरम् ॥’

‘तुझ निशाचर रावण को मैं चाहूँगी तो क्या ! मैं तुझ निशाचर को बाएँ पैर से भी छू तक नहीं सकती,’ कर्जस्वी उक्ति नहीं है, ऐसा नहीं कहा जा सकता क्योंकि हम उक्ति में कोई अनौचित्य नहीं है। हमारी दृष्टि में तो वस्तुतः ऐसे कथन ही कर्जस्वी के उदाहरण हो सकते हैं, मम्मट आदि द्वारा उद्धृत रावण आदि का सीता आदि के प्रति प्रेमयाचना का कथन तो एक प्रकार से कर्जस्वितानुस्य और विपरीत कथन है। कर्क का अर्थ सर्वस्वकार ने बल किया है। अहंकार अपनी बलवत्ता का अभिमान ही है। अपना अभिमान जतलाना अच्छा मले ही न माना जा सके, परन्तु अनुचित भी नहीं माना जा सकता। अतः अनुचित भाव तक ही कर्जस्वी को सीमित रखना एकपक्षीय और युक्तिशून्य भी है।

समाहित = के विषय में दण्डी, मामह और वामन के मत समाधि अलङ्कार के प्रकरण में दिए जा चुके हैं। इनके समाहित का भावप्रशम से कोई संबंध नहीं है। उसका स्वरूप उनमें वही है जो मम्मट और सर्वस्वकार के मत में समाधिनामक अलङ्कार का। समाहित का जो स्वरूप मम्मट के अध्याप्रकाश और यहाँ सर्वस्व में मिलता है उसका पूर्वरूप उद्भट ने ही स्थापित कर दिया था। उनके काव्यालंकारसाररुप में इसका विवेचन हम प्रकार है—

‘रसभावतदामासवृत्तेः

प्रशमबन्धनम् ।

अन्यानुभावनिशून्यरूपं यत् तद् समाहितम् ॥’

—‘रस, भाव तथा इन दोनों के आभास का प्रशम जतलाना समाहितालंकार कहलाता है क्योंकि इसमें अन्य रस आदि के अनुभाव का सर्वथा अभाव रहता है।’ लघुवृत्तिकारने इसका तात्पर्यवाक्य इस प्रकार बनाया है—

‘यत्र पूर्वेषां रसादीनां वासनाया दादर्थेन तेषूपशान्नेष्वपि रसायन्तराणां न स्वरूपमाविर्भवति आविर्भवंदपि वा कार्यवशेन वेनचित्तिरोधीयते तत्र समाहितालङ्कारो भवति ।’

—‘जहाँ पूर्ववर्ती रस आदि की वासना दृष्ट होने से उनके शान्त हो जाने पर भी अन्य रसों का स्वरूप आविर्भूत नहीं हो पाया, अथवा आविर्भूत होता हुआ भी कार्यवशात् किसी के द्वारा तिरोहित कर दिया जाता है उसे समाहित नामक अलङ्कार माना जाता है।

उदाहरण—‘अप कान्तां दृश दृष्ट्वा विभ्रमाच्च भ्रमं भ्रुवो ।

स्मरज्वरप्रदीप्तानि सर्वाङ्गाणि समादधत् ॥’

भगवती पार्वती की काञ्चिमतो दृष्टि तथा विभ्रमवशात् धूमती भीड़ देखकर शिवजी स्मरज्वरप्रदीप्त सभी अङ्गों को शान्त करते हुए पार्वतीजी के समीप पहुँचे। यहाँ लघुवृत्तिकार के अनुसार शिवजी द्वारा अपनी चित्तवृत्ति का छिपाया जाना प्रतिपादित है। वस्तुतः उद्भट के इस विवेचन से भावशान्ति का स्वरूप स्पष्ट नहीं होता, किन्तु इससे समाहित सामान्य अलङ्कारोंसे निकलकर रसवदादिके वर्ग में अवश्य ही चला आता है। परवर्ती आचार्यों ने सचारी भावों की ही शान्ति मानी है, रसादि की नहीं। उद्भट के पदवाच्य इस विषय में जिस आचार्य को स्थान दिया जाना चाहिये वे हैं आचार्य आनन्दवर्धन। इनसे वस्तुवादी या कलावादी दृष्टिकोण को

अनुभूतिवादी दृष्टिकोण का रूपान्तर प्राप्त होता है। ये रसवत् शब्द के स्थान पर रसालंकार शब्द ही देते हैं।

[ २ ] अनुभूतिवादी आचार्य—

आनन्दवर्धन—'प्रधानेऽप्यत्र वाक्यार्थे यत्राहं तु रसादयः।

काव्ये तस्मिन्नलंकारो रसादिरिति मे मतिः ॥' ध्वन्या० १५॥

'जहाँ प्रधान कोई और तत्त्व हो और रसादि हों अहं, हमारे मत में रसादि वही काव्य में अलंकार होते हैं।' आनन्दवर्धन की इस स्थापना से रसवदलंकार के क्षेत्र में प्रधानता और अप्रधानता का अध्याय जुड़ा। रस जब अनुभूतिरूप है और विश्रान्तिरूप भी, तब रस के आगे कुछ भी शेष नहीं रहता, फलतः रस किसी के अलंकार नहीं बनते। अतः अहंभूत रस की उपर्युक्त चर्चा में रस शब्द का अर्थ अहंभूत स्थायिभाव लगाया जाता है। स्थायी भी आत्वाद के कारण रस के समान ही होता है अतः उन्हें भी रस कह दिया जाऊँ—

रसनाद् रसत्वमेवां माधुर्यादीनामिवोक्तमाचार्यैः ।

निर्वेदादिष्वपि तद् प्रकाममस्तीति तेष्वपि रसाः ॥

इससे स्पष्ट है कि ध्वनिसिद्धान्त में रस कभी भी अलंकार नहीं बनता। दण्डी से लेकर चण्डिका से सिद्धान्त में काव्य की उपादेश्यता में उपमा आदि के ही समान रस भी कारण है, अतः वह भी काव्य को अलं = पर्याप्त समृद्ध करने वाला होने से अलंकार है। रस और सौन्दर्य को व्यक्तिविवेककार ने अभिन्न माना है, अतः वामन के प्रसिद्ध सिद्धान्त 'काव्यं आद्यमलङ्कारात्, सौन्दर्यमलंकारः' के अनुसार काव्य की आद्यता का कारण बनने से सौन्दर्यरूप रस भी अलंकार बन सकता है। इस प्रकार ध्वनिवादी अनुभूति की भूमिका से निर्णय लेता है और ध्वनिपूर्ववर्ती आचार्य व्यवहार की भूमिका से। हम नहीं समझते कि ये दोनों मत किसी भी प्रकार परस्पर विरोधी हो सकते हैं। भरे हुए शरीर में खादी भी शोभा पाती है और सूखे हाड़ पर उत्तम क्रीम भी फीका लगता है। सच यह है कि अलंकार्य भी अलंकार का अलंकारक होकर उसके प्रति अलंकार रहता है। कालिदास का द्वैतज्ञी के विषय में यह कथन कि वह 'आभरणस्याभरणम्' है तथा वक्रकलधारिणी शकुन्तला के लिए यह कथन कि 'किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकुतीनाम्' इसी ओर संकेत देता है। नैषधकार का 'तरुणीस्तन पव शोभते मणिहारवलिारामणीयकम्' वाक्य तो इस तथ्यको अभिधा में ला उतारता है। अतः इन सापेक्ष तथ्यों पर स्वाद्वादी दृष्टिकोण से अनेकान्ती समझौता ही ठीक होगा, ऐकान्तिक इवमित्यंभाव नहीं। कुन्तक अभिनवगुप्त और मम्मट ने ध्वनिकार के ही सिद्धान्त का समर्थन किया है। कुन्तक ने वक्रोक्तिजीवित के तृतीय उन्मेष में रसवत् पर अति विस्तीर्ण शास्त्रार्थ खड़ा किया है और अन्त में ध्वनिकार का मत स्वीकार कर लिया है। उनका सारा पौरुष 'रसवत्' शब्द की व्युत्पत्ति में लगा प्रतीत होता है। कभी वे दण्डी के 'रसपेशल' शब्द के अभिप्राय को खोजते हैं और कभी 'रसवद् रससंश्रयाद्' वचन के। अन्त में वे 'रसवत्' में मनुष्य न मानकर तुल्यार्थक वतिप्रत्यय मानते हैं और वे इसे इस प्रकार स्वीकार करते हैं—

'रसेन वसंति तुल्यं रसवत्त्वविधानतः।

योऽलङ्कारः स रसवत् तद्विदाह्लादनिमित्तः' ॥ ३१५ ॥

—'जो अलंकार काव्य में रसयुक्तता लाने से रसतुल्य प्रतीत होता है वह रसवत् कहलाता है। अलंकार इसलिये कि वह उसके वेत्ता को आनन्द देता है।'



इस वक्ति में 'रसवत्त्वविधान = काव्य में रसयुक्तता आना' कहकर कुन्तक ने प्राचीन भाषाओं पर उठाए तर्कों के विराट् आदर्शर को स्वयमेव धराशायी कर दिया। इसी प्रकार पहले पहल तो कुन्तक ने ऊर्जस्वी, प्रेरान् और समाहित में भी अलङ्कारत्व नहीं माना है, किन्तु बाद में उन्होंने 'रसवत्' के विषय में जो झोठ लिया है उससे उनके मतमें ये भी अलङ्कार सिद्ध हो जाते हैं। समाहितका जो उदाहरण सर्वस्वकार ने प्रस्तुत किया है वह उन्होंने वक्त्रोक्तिजीवितकार से ही लिया है। ले दे कर वक्त्रोक्तिजीवित का रसवदादिखण्डन उनकी विभिन्न व्याख्याओं का खण्डन है, मूल मान्यताओं का नहीं।

मगमट—असलक्ष्यकमन्वयध्वनि गिनाते इष्ट लिखते है—

'रसभावतदामासभावशान्तथादिरकमः ।

भिल्लो रसापलकारादलङ्कार्यतया स्थित ॥ ४१२ ॥

असलक्ष्यकमन्वय ध्वनि में रस, भाव, रस दोनों के आभास तथा भावशान्ति आदि आते हैं, किन्तु तब जब वे रसादि अलङ्कार से भिन्न हों और अलङ्कार्यरूप से स्थित हों। इसी कारिका को व्याख्या में देखें—

प्रधानतया यत्र स्थितो रसादिस्वत्रालङ्कार्यैः '००' मन्वय तु प्रधाने वाक्यार्थे यत्राङ्गभूतो रसादिस्वत्र गुणीभूतमप्यलङ्कार्ये रसवत्प्रयोजकैस्विसमाहितादयोऽलङ्काराः ।'

इसके उदाहरण उन्होंने पंचम अलङ्कार के गुणीभूतमप्यलङ्कार्य के प्रकरण में दिए हैं। क्योंकि ध्वनिवादी भाषा में रसवदापलकारों को गुणीभूतमप्यलङ्कार्य मानते हैं।

रसाकरकार = वे समाहित से ऊपर शक्यता तक शेष सभी अलङ्कारों को ध्वन्यंग मान केवल रस, भाव और दोनों के आभासों को अलङ्कार माना है। उनका सूत्र है—

'रसभावतदामासानी रसापहरये रसवत्प्रयोजकंस्वीनि ॥ १०९ ॥

इसी की लम्बी व्याख्या, जिसके मुख्य अंश उद्धृत किए जा चुके हैं, के पश्चात् रसाकरकार ने जो पाँच सप्तश्लोक बनाए थे उनमें से चार उद्धृत किए जा चुके हैं शेष पाँचवाँ यह है—

'रसादेरङ्गित्वे ध्वनिरय रसादीन् प्रति यदि  
गुणत्व तदि त्वाद् रसवदनुगोऽलङ्कारिणः ।  
गुणत्व वाक्येऽर्थे व्रजति यदि चोदारचरितं  
तदोदात्तं भावस्थितिशक्यतादौ ध्वनिरिति ॥'

रस आदि यदि, अगो हाँ तो ध्वनि और यदि रस आदि के प्रति अंग हों तो रसवदादि अलङ्कार होते हैं। यदि उदार पुरुषों के चरित वाक्य अर्थ में अंग बनें तो उदात्तान्कार होना है। भावस्थितिशक्यता आदि सदा ही ध्वनिरूप रहते हैं।

अप्यपदीपित—ने रसवत् आदि के समान भावशक्यता आदि सभी को अलङ्कार माना है, किन्तु उनके लक्षण नहीं बनाए हैं। केवल उदाहरणों द्वारा ही उन्हें स्पष्ट कर दिया है।

पण्डितराज—ने रसवदादि अलङ्कारों का स्वतन्त्ररूप से विवेचन नहीं किया किन्तु उनके द्वारा रसविषयक उदाहरणों के प्रसंग में स्पष्टीकरण के लिए दिए गए प्रसुदाहरण पद्यों से यह स्पष्ट है कि वे राजा भाद्रि की स्तुति में रस आदि को अंग मानते हैं।

विरवेश्वर—ने अलङ्कारकौस्तुभ में केवल अर्थालकारों का ही विवेचन किया है तथापि उन्होंने रसवदादि अलङ्कार भी इन्हीं अलङ्कारों में गिन लिए हैं। उनका विवेचन इस प्रकार है—

'रसभावतदामासे रसवत्प्रयोजकंस्वी ।

शमे तु समाहितमुदयेऽन्योऽप्यस्य शक्यत्वे ॥'

इसकी वृत्ति से स्पष्ट है कि ये अंगभूत रसको रसवत्, अंगभूत भाव को प्रेय, अंगभूत आभासों को ऊर्जस्वी तथा भावप्रशम को समाहित मानते हैं। साथ ही शबलता आदि को उन्हीं नामों से अलंकार रूप ही स्वीकार करते हैं। संज्ञोविज्ञोकार विद्याचक्रवर्ती को निम्नोद्यार्थकारिका इस पर ये हैं -

‘रसभावगुणीभावादनौचित्यप्रवृत्तितः ।  
रसवत्प्रेयऊर्जस्विसमाहितचगुष्टयम् ॥  
रसवत्प्रियत्वाभ्यामूर्जः प्रशमयोगनः ।  
निबन्धनं रसवदाद्याख्या संप्रतिपद्यते ॥’

[ सर्वस्व ]

[ सू० ८४ ] भावोदयो भावसंधिर्भावशबलता च पृथगलंकाराः ।

भावस्योक्तरूपस्योदय उद्गमावस्था, संधिः द्वयोर्विहङ्गयोः स्पर्धित्वे-  
नोपनिबन्धः, शबलता च वहूनां पूर्वपूर्वोपमर्देनोपनियन्धः । एते च  
पृथग् रसवदादिभ्यो भिन्ना अलंकाराः । एतत्प्रतिपादनं चोद्भटादिभिरेषां पृथ-  
गलंकारत्वेनानिर्दिष्टत्वात् । अथ च संकरसंसृष्टिवैलक्षण्येनैते सर्वालंकाराः  
पृथक्केवलत्वेनालंकारा इति सर्वालंकारशेषत्वेनोक्तम् । संसृष्टिसंकरयोर्हि  
संपृक्ततयालंकाराणां स्थितिस्तद्वैलक्षण्यप्रतिपादनमेतत् ।

[ सू० ८४ ] भावोदय, भावसन्धि तथा शबलता पृथक् अलंकार हैं ।

[ वृ० ] भाव, जिसका स्वरूप बतलाया जा चुका है उसका उदय है उद्गमावस्था [ उसकी ]  
सन्धि है दो विरोधियों का परस्पर स्पर्धी के रूप में उपनिबन्ध, तथा [ उसकी ] शबलता है  
अनेकों का पूर्वपूर्वर्त्ती को दबाते हुए रूप में उपनिबन्ध । ये पृथक् अर्थात् रसवत् आदि से भिन्न  
अलंकार हैं । यह इसलिये कहा जा रहा है कि उद्भट आदि आचार्यों ने इन्हें पृथक् अलंकार के रूप  
में नहीं बतलाया था [ भावोदय आदि तीनों दण्डी से लेकर उद्भट तक के ग्रन्थों में नहीं मिलते ] ।  
इसी प्रकार इन सभी [ भावोदय, भावसन्धि, भावशबलता ] अलंकारों में संकर और संसृष्टि नहीं  
होते, किन्तु ये अन्य अलंकारों के समान अपने आप में भी स्वतन्त्र रूप से पृथक् अलंकार होते हैं ।  
इसलिये इन्हें [ संकर और संसृष्टि के पहले और ] अन्य सब अलंकारों के अन्त में रखा गया है ।  
संसृष्टि और संकर में तो अलंकार मिलित स्थिति में रहते हैं । उनसे इनकी विलक्षणता [ भिन्नता ]  
बतलाने के लिये यह कहा गया ।

विमर्शिनी

भावेत्यादि । एतदेव व्याचष्टे—भावस्येत्यादि । उक्तरूपस्येति । इयमिचारिदेवादिरतिरवेन  
द्विप्रकारस्यैत्यर्थः । उद्गमावस्थेति । उद्गमावस्था न पुनरुदितेत्यर्थः । उदितयां हि भावस्य  
स्त्रियाःआत्मकवाप्रेयोऽलंकार एव स्यात् । एते इति । भावोदयभावसंधिभावशबलतास्योऽ-  
लंकाराः । ननु च लक्षणस्य भिन्नत्वादेवैषां पृथक्त्वावगम इति किं तद्ग्रहणेनेत्याशङ्क्याह—  
एतदित्यादि । अथ चेति पञ्चान्तरे । सर्वालंकारा इति । पुनरुक्त्वदाभासादिभावशबलान्ताः ।  
केवलत्वेनेति । तस्यैवैकस्य वाक्यार्थत्वेन प्ररोहात् । तस्मात् [ केवलः, ] अङ्गभूतैरलंकारा-  
न्तरैरुपस्क्रियमाणो वा य एव यत्र वाक्यात् तात्पर्यविषयत्वेन प्रतीयते स एव तत्र  
साक्षादलंकार इति भावः । अत एवात्र न संसृष्टसंकरभ्यपदेशः । यतस्तयोरलंका-  
राणां भिन्नत्वेनावस्थानं लक्षणम् । तदेवाह—संसृष्टीत्यादि । यत्तु पूर्वत्र कुशचिहुदाहरणेषु

संकराद्यलङ्कारश्चमस्ति, तत्तत्र संभवमात्रेण निर्देशनीकृतम् । न तु साधादलङ्कारवम् । तत्तत्र तथाविधस्योदाहरणस्य स्वयमेव लक्षणादभ्युहः कार्यः ।

भाव इत्यादि । इसी की व्याख्या करने हैं—‘भावस्य’ इत्यादि । उक्तरूपस्य = जिसका स्वरूप बनलाया या चुकना है अर्थात् व्यभिचारिरूप तथा देवतारनिरूप से दो भेदों में । उद्गमावस्था = उद्गमावस्था, न कि उदित हो चुकना । उदित हो चुकने की स्थिति में तो ये स्थिग्यात्मक होकर प्रयोञ्जकार होंगे । एते = ये भावोदय, भावसन्धि, तथा भावशबलता नामक अलङ्कार । ‘लक्षण अलग करने से ही इनकी पृथक्ता सिद्ध थी तब पृथक् शब्द देने की आवश्यकता क्या थी’—ऐसी शंका कर कहते हैं—‘एतद्’—इत्यादि । अथ च = यह अन्य पक्ष प्रस्तुत करने हेतु कहते हैं । सर्वालङ्कारा = सब अलङ्कार = पुनरुक्तवदाभास से लेकर भावशबलता पर्यन्त [ हमारी व्याख्या इससे भिन्न है ] । केवलरत्नेन = अपने आप में—क्योंकि इनमें से अकेला एक ही अलङ्कार वाक्यार्थरूप में प्रकृत हो जाता है । इसका अभिप्राय यह कि जहाँ कहीं कोई अलङ्कार अगभूत अन्य अलङ्कारों से उपरकृत होकर भी वाक्य से उसके तारपर्यं विषय के रूप में प्रतीत होता है वहाँ वही अलङ्कार साक्षात् अलङ्कार माना जाता है । इसीलिए यहाँ मसृष्टि और सकर नाम नहीं चलते हैं, क्योंकि उनका लक्षण है अलङ्कारों की मिश्रित स्थिति । इसी लक्ष्य को स्पष्ट करते हुए कहते हैं—‘संसृष्टि’ इत्यादि । पक्षे द्विप [ यथासत्य आदि अन्य अलङ्कारों के ] उदाहरणों में जो कहीं सकर आदि अलङ्कार बतलाए गए हैं, वह उन [ यथासत्य आदि ] की समावनामात्र बतलाने के लिए । वहाँ वे [ यथासत्य आदि ] साक्षात् अलङ्कार नहीं हैं । इसलिये वहाँ वस प्रकार के [ साक्षात् अलङ्कारत्व के ] उदाहरण लक्ष्य को देखकर स्वयं ही खोज लेने चाहिए ।

विमर्श—पृथगलङ्कारत्वेनानिदिष्टत्वात् = के स्थान पर सभी प्रतिशों में ‘पृथगलङ्कारत्वेन निदिष्टत्वात्’ पाठ मिलता है । उद्भूत आदि में भावोदय आदि तीनों अलङ्कारों के लक्षण और उदाहरण नहीं मिलते । केवल रमवद प्रेय और ऊर्जस्वी के ही मिलते हैं । यदि उन्होंने लक्षण दिए होते तो विमर्शनीकार भी उन्हें उद्धृत करते । मम्मट ने अवश्य इन्हें माना है और रसवदादि से भिन्न ही माना है । मम्मट ने भी इन अलङ्कारों को अलङ्कार प्रकरण में न रख, गुणी-मूतव्यग्य प्रकरण में रखा था । ‘पृथक्’- शब्द इनकी स्वतन्त्र अलङ्कारता और उनकी अलङ्कारों में गणना की ओर भेकेत करता है । इन तीन अलङ्कार को प्रथम बार सर्वस्व में ही अलङ्कार प्रकरण में पाया गया है ।

‘अथ च—वैलक्षण्यप्रतिपादनमेतत्’—का अभिप्राय भी विमर्शनी में कुछ और है । संजीविनी में भी वैसी ही व्याख्या मिलती है । हमारी दृष्टि में इन व्याख्यायों के अनुसार इस ग्रन्थांश को भावोदय आदि के उदाहरण के बाद रखा जाना उचित है । वस्तुतः यह ग्रन्थांश यह बतलाने के लिए कहा गया है कि इन अलङ्कारों को सभी अलङ्कारों के पश्चात् और सकर मसृष्टि के पूर्व क्यों रखा गया । अलङ्कारों के क्रम का निर्धारण ग्रन्थकार जिस हेतु से करते आए हैं उसका उल्लेख वे प्रायः प्रत्येक अलङ्कार में करते रहे हैं । यहाँ, यदि उक्त अंश का अर्थ विमर्शनी जैसा लगा लिया जाय तो, वैसा कोई हेतु नहीं रहना ।

[ सर्वस्व ]

तत्र भावोदयो यथा—

‘एकस्मिञ्छयने विपक्षरमणीनामग्रहे मृगधया

सप्तः कोपपरिपद्मलपितया चाटूनि कुर्वन्नपि ।

आवेगादवधीरितः प्रियतमस्तूर्णो स्थितस्तत्क्षणा-  
न्मा भूत् सुप्त इवेत्यमन्दचलितग्रीवं पुनर्वीक्षितः ॥'

अत्रौत्सुक्यस्योदयः । भावसंधिर्यथा—

'वामेन नारीनयनासुधारां कृपाणधारामथ दक्षिणेन ।  
उत्पुंसयज्ञेकतरः करेण कर्तव्यमूढः सुमटो बभूव ॥'

अत्र स्नेहास्थिरतिभावरणौत्सुक्ययोः संधिः । भावशबलता यथा—

'काकार्यं शशलक्ष्मणः क्व च कुलं भूयोऽपि दृश्येत सा  
दोषाणां प्रशमाय नः श्रुतमहो कोपेऽपि कान्तं सुखम् ।  
किं वक्ष्यन्त्यपकल्मषाः कृतधियः स्वप्नेऽपि सा दुर्लभा  
चेतः स्वास्थ्यमुपेहि कः खलु युवा धन्योऽधरं पास्यति ॥'

अत्र वितकौत्सुक्यमतिस्मरणशङ्कादैन्यधृतिचिन्तानां भावानां शबलता ।  
तदेते चित्तवृत्तिगतत्वेनालंकारा दर्शिताः ।

इनमें से भावोदय यथा—

'एक ही पलंग पर सोते समय सौत का नाम ले लेने से तुरन्त कोपम्लान सुग्धा ने प्रसन्न करने में लगे हुए प्रियतम को आवेग में आकर द्रुतकार दिया तो वह वह चुपचाप लेटा रहा तो उसे नायिका ने 'कहीं सो तो नहीं गया!'— इस विकल्पसे बार बार प्रीति मोड़, मोड़ कर देखा ।'

यहाँ औत्सुक्य का उदय अनुभव में आता है ।

भावसन्धि [ का उदाहरण ], यथा—

'एक कोई सुमट वाले हाथ से प्रिया की आँखों को अश्रुधारा और दाहिने हाथ से कृपाण की धारा पोछते हुए कर्तव्य किमूढ़ था ।'

यहाँ स्नेहनामक रतिभाव और सुहोत्सुकता की सन्धि है ।

भावशबलता, यथा—

कहाँ अनुचित कार्य और कहीं चन्द्रवंश [वितर्क] वह पुनः एकवार दृष्टिगोचर होतो [औत्सुक्य] दोषों को दवाने के लिए मैंने विद्याभ्यास किया है [ मति ], ओहो उसका मुखमण्डल कोप में भी कान्तिमान् रहता था [ स्मरण ] । निष्कलंक धीर पुरुष ( मुझसे ) क्या कहेंगे [ शङ्का ] । वह तो अब स्वप्न में भी दुर्लभ हो गई [ दैन्य ] । चित्त स्वस्थ हो जा [ धृति ], कौन होगा वह धन्य युवक जो उसका अधरपान करेगा [ चिन्ता ] ॥'

यहाँ वितर्क, औत्सुक्य, मति, स्मरण, शङ्का, दैन्य, धृति तथा चिन्ता [नामक संचारी भावों] की शबलता है ।

इस प्रकार ये चित्तवृत्तिगत अलंकार बतलाए गए ॥

### विमर्शिनी

एतदुदाहरणत्रयं ध्वन्यभाववादिमतेन ग्रन्थकृतोपात्तम् । ध्वनिवादिमतेन पुनरुदा-  
हियते । तत्र भावोदयो यथा—

'साकं कुरङ्गकदशा मधुपानलीलां कर्तुं सुहृद्भिरपि वैरिणि च प्रचुते ।  
अन्याभिधापि तव नाम विभो गृहीतं केनापि तत्र विषमामकरोदवस्थाम् ॥'

संघटनाकृतं चाश्वत्थान्तरं जायते, तद्वत् प्रकृतालंकाराणामपि संयोजने चाश्वत्थान्तरमुपलभ्यते । तेनालंकारान्तरप्रादुर्भावो न पृथक्पर्यवसानमिति निर्णयः । अलंकारान्तरत्वेऽपि च संयोगन्यायेन भ्रुकटाद्यगमो भेदः, समवायन्यायेन चाभ्रुकटाद्यवगम इति द्वैधम् । पूर्वत्र संसृष्टिः, उत्तरत्र संकरः । अत एव तिलतण्डुलन्याय, क्षीरनीरन्यायश्च तयोर्यथार्थतामवगमयतः ।

अब इन सब अलंकारों के संश्लेष से निष्पन्न होने वाले दो अलङ्कार बन गए जा रहे हैं । इनमें संश्लेष दो प्रकार का होता है संयोग जैसा और समवाय जैसा । संयोग जैसा वह जिसमें भेद स्पष्ट रूप से विद्यमान रहता है । यही भेद जहाँ स्वरूप से विद्यमान नहीं रहता वह समवाय जैसा होता है । इनमें से उस भेदों के स्पष्टरूप से विद्यमान रहने पर [ संश्लेष की ] स्थिति तिलतण्डुल जैसी रहती है और दूसरे में क्षीरनीर जैसी । कम से इनके लक्षण बतलाए जा रहे हैं—

[ सू० ८५ ] इन [ अलंकारों ] का तिलतण्डुल जैसा मिश्रण संसृष्टि [ नामक अलंकार कहलाता है ] ॥

[ ७० ] उक्त अलंकारों [ में से किन्हीं ] का यदि कहीं किसी प्रकार एक साथ संयोजन हो जाए तो यह विचार उपस्थित होता है कि क्या वहाँ वे अलंकार अलग अलग स्वतन्त्र रूप में अलंकाररूप में अनुभव में आने हैं अथवा वहाँ कोई मिश्र ही अलंकार होगा है । इस पर निर्णय यह होता है कि किस प्रकार सुवर्ण या मणि के बने हुए वाद्य [ लौकिक ] अलंकार स्वतन्त्ररूप से पृथक् अलंकार होने हैं तथापि उनकी संघटना से एक अलग ही शोभा होती है वसी प्रकार इन अलंकारों के संयोजन में भी एक अलग ही चारुता उपलब्ध होती है । इस कारण यहाँ मिश्र ही अलंकार का प्रादुर्भाव होता है, एक-एक अलंकार का स्वतन्त्र अनुभव नहीं । मिश्र अलंकार मानने पर भी या तो संयोग के समान [ मिलित अलंकारों में से प्रत्येक का ] शान स्पष्टरूप से होता है, या समवाय के समान अस्पष्ट रूप से । इस कारण हमके भी दो भेद ही जाते हैं । इनमें से प्रथम में संसृष्टि और द्वितीय में संकर होता है । इसीलिए इन्हें [ क्रमशः ] तिलतण्डुल [ चावल के मिश्रण ] की उपमा और नीर क्षीर [ के मिश्रण ] की उपमा दी जाती है, इससे इनके नाम यथार्थ प्रतीत होते हैं ।

### विमर्शनी

अधुनेति माहावसरम् । एषामिति पूर्वोद्दिष्टानाम् । तत्रेति । अलंकाररूपे । तत्रेति । भेदश्च । स्फुटावमस्फुटाव च सुस्पष्टमेव । अत एव तिलतण्डुलन्यायः, क्षीरनीरन्यायश्चेत्युक्तम् । एषामिरषादि । पत्रद्वेषोपसादयितुमुपक्रमते—उक्त्यादिना । तदेतत्पद्यमग्याद्दृष्टान्तोपदर्शनद्वारेणालंकारान्तरत्वमेव सिद्धान्तयितुमाह—तत्रेत्यादिना । संघटनाकृतमिति । एकत्रैव द्वयोर्यहूनां अलंकाराणां युगपद्विनियेन संघटना, तथा कृतम् । तदुत्थापितमित्यर्थः । चाश्वत्थान्तरमिति । एकैकालंकारनिबन्धनात् प्रकृताच्चाश्वत्थान्यात् सातिशयमिति यावत् । उपलभ्यते—स्वसंविशिसद्वत्सा साधारण्यत इत्यर्थः । तेनेति । चाश्वत्थान्तरोपलभ्येन । नहि विषयभूतालंकारातिशयमन्तरेणोपलभ्येतिशयो भवितुमर्हतीति भावः ।

ननु—‘शब्दाव्यालंकाराणां संघटनामात्रेणैव कथमलंकारान्तरत्वमुक्तम् । सिद्धकथयत्वे-नैवामेकबुद्ध्यापारोहासंभवाच्चाश्वत्थान्तराभावात् । तेषां हि संघटितत्वेऽपि—

‘अलंकारेषु चाश्वत्थं तद्भेदं विमर्शते ।

यद्यत्र साधु मधुर्धमिष्ठक्षीरगुटादिषु ॥’

इति नीत्या भेदत्वेनैव चारुत्वावगमाद्भिन्नत्वमेव न्यायम् । नापि लौकिकालंकार-  
वदेतेषां संघटनाकृतं चारुत्वान्तरमुपलभ्यते । नहि मौक्तिकपञ्चरागेन्द्रनीलाश्विबत् सचेतसः  
कस्यचिदनुप्रासोपमादीनां परस्परं परमागो भासते । शब्दार्थयोर्भिन्नेन्द्रियग्राह्यत्वेन  
भिन्नजानीयत्वात् ।'

असदेतत् । तथाहि खलु यथा पृथगवस्थितेषु म्यालीजलज्वलनरत्न(स ?)तण्डुलादिषु  
च समताप्रत्ययः, समुदितेषु तु भवति, समग्रसंनिधानाद्यस्य धर्मस्य प्रत्यक्ष मुपा-  
लम्भात्, तथैव भिन्नकषयाणामलंकाराणां संघटनावनेन पूर्वापरंकीकारेणैकबुद्ध-  
धियोहादुपलभ्यत एव कश्चन संसर्गो नाम यस्य संस्पृष्टिसंकरव्यपदेशार्हत्वम् । अपि च  
रूपभेदेऽप्यविच्छेदादेकरत्वम्, 'चित्रपत्रक' इत्यादिनीत्या चित्रास्तरणादौ यथा स्व-  
रूपस्य रूपान्तराद्वाकृत्तत्वेऽपि विच्छेदानवभासोदकघटशिलष्टाकारप्रत्ययः, चित्ररूपम-  
प्येकमेव वस्तुरूपं भासते तथैव भिन्नकषयाणामलंकाराणां संघटमानत्वेन प्रतीतावे-  
कतावसाय इति युक्तमेव संस्पृष्ट्यालंकारान्तरत्वम् । इत्थादीनां च माधुर्यस्य भेदेऽपि  
समीलनायां पानकादिःसन्निपत्तादुपलभ्यत एव कश्चिद्विचित्र्यातिशयः, तद्देवपामपीति  
युक्तमलंकारान्तरत्वम् । न चास्य चारुतातिशयस्य शपथप्रत्येयत्वं वाच्यम् । एकत्रैकस्य  
द्वयं बहूनां घालंकाराणामवगमे यथायथमतिशयोक्त्यस्य स्वसंविस्मयिकत्वेन वेद्य-  
मानत्वात् ।

संघटमानत्वेन च प्रतिपत्तिरलंकाराणामेकरिम्नत्वाद्ये तत्तच्छब्दसि वा भवति, न तु  
कुलकादौ, विदूरतया तस्यास्तावत्याः प्ररोहासंभवात् । यदाहुः—'वाक्यार्थभेदेऽप्येक-  
श्लोकान्तर्गतत्वेनालंकारस्यालंकारान्तरमाहित्यं प्रतिभास्येव । अविदूरत्वाद् विभिन्न  
श्लोकगतत्वेन वाक्यभेदे व्यबहितत्वाच्च भवति संस्पृष्टिः ।' इति ।

कुलकादावप्यलंकाराणां वाक्यैकवाच्यतया यद्यविच्छेदेन प्रतिपत्तिप्ररोहः स्यात् तदा-  
त्रापि संस्पृष्ट्याद्युपगमने न कश्चिद् दोषः ।

ननु, समग्रताप्रत्यये चित्रज्ञाने वा स्यात्त्यादीनां चेन्द्रियग्राह्यत्वेन समानजातीयान-  
नामेकबुद्धधिरुहादुपपद्यत एव सामग्रयादेरेकस्य वस्तुनोऽवगमः । इह तु भिन्नेन्द्रिय-  
ग्राह्यत्वेन भिन्नजातीययोः शब्दार्थयोरेकबुद्धधिरुहाभावात्तदलंकाराणां युगप्रतीतिरेव  
नास्तीति कथमेकस्य संसर्गादेर्वस्तुनोऽवभासो यस्यापि संस्पृष्ट्यालंकारान्तरव्यपदेशा-  
र्हत्वं स्यात् । अत्रोच्यते—श्रोत्रकरणत्वाच्छ्रुत्वावगमस्यैकेन्द्रियग्राह्यत्वात्तदलंकारयोः सजा-  
तीयत्वे तावद्विवादः । अत एव च तयोरेकबुद्धधिरुहाद् युगप्रतीतिः संसर्गावगमः ।  
सति च संचये चारुतातिशयोपसर्जनं इत्यत्र संस्पृष्ट्यालंकारत्वम् । एवमर्थावगमस्यापि  
शब्दकरणत्वात्समानजातीययोः संस्पृष्टत्वेन प्रतीयमानयोरलंकारयोरपि ज्ञेयम् । शब्दा-  
र्थयोः पुनरुपायभेदेऽपि तदलंकाराणां सुगन्धिवन्धूकबोधन्यायेन [ मानसबोधन्यायेन ]  
मानसज्ञानविषयत्वाद्युपपद्भवत्वात् सिद्धयतीति लौकिकालंकारवदेव शब्दार्थोभया-  
लंकाराणांसंसर्गो लब्धपरभागत्वावभासत एव चारुत्वान्तरमिति न्यायप्राप्तमेव संस्पृष्ट्या-  
लंकारत्वम् । यत्पुनरभ्यैः शब्दार्थयोर्भिन्नजातीयत्वे भिन्नेन्द्रियग्राह्यत्वं निमित्तमुक्तं  
तदुपेयमेव । शब्दार्थशरीरे काव्ये शब्दप्रतिपाद्यस्यैवार्थस्याङ्गत्वात्तच्चरुिन्द्रियग्रा-  
ह्यस्य ग्राह्यस्यानीपयिकत्वात् ।

यद्येवं पूर्वलक्षितानामनुप्रासोपमादीनामभावः स्यात्, असंकीर्णानामलंकाराणाम-

संभवात्सर्वत्र संसृष्टिसंकरयोरेव भावादेयां विषयापहारात् । नैतत् । असंकीर्णानामलंकाराणां सहस्रतो दर्शनात् । तथाहि—

‘यशोवर्माणमुक्लंघ्य हिमाद्रिमिव आहूवी ।  
 सुखेन प्राविशत्तस्य घाहिनी पूर्वसागरम् ॥ ४११४६ ॥  
 उत्तराः कुरवोऽविशुस्तद्गयाचन्द्रपादपान् ।  
 वरगान्तकमत्रासाद्विलानीव महोरगा ॥ ४११७५ ॥  
 जयार्जितघनः सोऽथ प्रविशेश स्वमण्डलम् ।  
 भिन्नेभमीत्तिकापूर्णपाणिं सिद्ध इद्याचलम् ॥ ४११७९ ॥  
 राजतान्कापि सौवर्णान्कापि देवान्विनिर्ममे ।  
 पार्वेयु मुख्यदेवानां पार्थिवो घनदोषम् ॥ ४१२०५ ॥  
 तु त्पारश्रङ्खणश्रके स्वनामाह्विहारकृत् ।  
 मूपचित्तोपमं स्तूपं भिनान् ह्रममयोस्तथा ॥ ४१२११ ॥  
 ईशानदेश्या तपस्य्या स्थाताम्बुप्रतिपादितम् ।  
 सुधारममिव स्वच्छमारोगयादायि रोगिणाम् ॥ ४१२१२ ॥  
 संज्ञप्राह स देशेभ्यस्तांस्तानन्तरविज्ञानान् ।  
 विक्रान्तुमनःस्त्रीमात्पादपेभ्य इवानिलः ॥ ४१२२५ ॥  
 अनेघसारे मयि तु व्यक्तमेवंविधोऽपि ते ।  
 प्रयासः कुण्ठतां यातो छोट वज्रमणाविव ॥ ४१२९८ ॥  
 निदेशेनैव सपश्य पयः सूतेऽथ भेदिनी ।  
 रसितेनान्बुवाहस्य रान वैह्वयंभूरिव ॥ ४१३०० ॥  
 इत्युशवा सोऽम्बु निष्कट्टं कुन्तेनोर्वामदारयत् ।  
 वञ्चिहोर्धुर्वितस्ताम्भः शूलेनेव श्रिलोचनः ॥ ४१३०१ ॥  
 श्रुते प्रणष्टे नगरे निःशोकोभूमन्हीपतिः ।  
 स्वप्नान्तर्हारिते पुत्रे प्रबुद्धोऽप्र ह्वेषिते ॥ ४१३१९ ॥  
 अत्रस्थैः सर्वदा रथयः स्वभेदः प्रमविष्णुभिः ।  
 चार्थाकाणामिवैषां हि भयं न परलोकतः ॥ ४१३५५ ॥

हरयादि राजतरङ्गिण्यां ललितादिस्ववर्णने उपमायाः शुद्धमुदाहरणजातम् । एवमग्रे-  
 वान्धराजवर्णने प्रधन्धान्तरेषु वा शुद्धाया उपमायाः कियान्विषय इति को नाम  
 दर्शयितुमलम् । उपमैव धानेकालकारधीजमूतेति तद्विद्वानमेव कृतम् । एवमन्या-  
 लकाराणामपि सःश्रजशात्रोदाहरणार्थं ममघदपि ग्रन्थविस्तरभयात् दर्शितम् । तस्मादे-  
 पामविषयार्थं प्रविरलविषयार्थं च न वाच्यम् । प्रविरलविषयत्वेऽप्युपमादीनां संसृष्टिसक-  
 रयोरेव लक्षणीयतया प्राप्तिस्तात्रमात्रविषयस्वीकारायाप्येयां पृथग्लक्षयितुमुचितत्वात् ।  
 एवं च ‘न संसृष्टिः’ । पूर्वहानाच् चारवाभावाच्चे त्याद्युक्तमयुक्तम् । अत एव च

‘तस्मात्समस्तविषयप्रतिबन्धकारे संसृष्टसकरयुगे दलिते विदूरम् ।

प्राधान्यतः स्वविषयं सुविशालमाप्य सर्वोऽप्यलंकृतिगणो रमतौ धिराय ॥’

इत्याशीर्वचनसूक्तमपि निःप्रयोजनम् ।

नन्वेवं पद्यलकारान्तरार्थं युक्तं तदेक एव संसृष्टिः संकरो वास्तु, किं द्वाभ्यामिथाश-  
 ह्याह—[ अलकारान्तरत्वेऽपि चेति । ] ध्योभोजदेवेन पुनर्भेदस्य स्फुटास्फुटावमाश्रित्य नाना-  
 लंकारसंकरः संसृष्टिरिति संकीर्णमात्राभिप्रायेण संसृष्टवाच्य एक एवालंकार उक्तः ।

अधुना = अब = अबसर जाने पर । एषाम् = इनके = पूर्वकथितों के । तत्र = उनमें = दोनों अलंकारों में । तस्यैव = उसके = भेद के । स्फुटत्व और अस्फुटत्व स्पष्ट ही हैं । इसीलिए तिलतण्डु-लन्याय और क्षीरनीरन्याय प्रस्तुत किए गए । एषाम् = इत्यादि [सूत्र] । इसी का उपपादन करने का उपक्रम करते हैं—'उक्त'—इत्यादि द्वारा । इन दोनों पक्षों में से 'मित्र अलंकार' का पक्ष ही दृष्टान्त द्वारा सिद्धान्तपक्ष सिद्ध करने हेतु कहते हैं—तत्र इत्यादि ।

संघटनाकृतम् = संघटना से निष्पन्न—संघटना का अर्थ है दो या दो से अधिक अलंकारों का एक ही स्थान पर विनिवेश । उससे निष्पन्न अर्थात् उससे उत्पादित । चान्तरान्तर = एक एक अलंकार के निवेश से होने वाले चारुत्व से मित्र सातिशय चारुत्व । उपलभ्यते = उपलब्ध होती है = स्वसंविधि अपनी स्वयं की बुद्धि से प्रमाणित वस्तु के रूप में साक्षात्कार का विषय बनती है । तेन = इस कारण = मित्र चारुत्व के उपलब्ध होने के कारण । अभिप्राय यह कि यदि विषयभूत अलंकार में अतिशय न हो तो उसकी उपलब्धि में अतिशय नहीं आ सकता ।

शंका होती है कि—'शब्द और अर्थ के अलंकारों की संघटनामात्र को लेकर अलंकार में भिन्नता कैसे बतलाई गई, क्योंकि इनका ज्ञान भिन्न-भिन्न समय में होता है [ साथ नहीं, परिणामतः ] ये एक ज्ञान का विषय नहीं बन पाते, [ परिणामतः ] इनमें कोई भिन्न चारुत्व नहीं रहता । यदि इनमें संघटना मान ली जाए तो—

'अलंकार में चारुत्व, संविधिभूमिका पर उसी प्रकार सर्वथा भिन्न सिद्ध होता है जिस प्रकार श्लु, दूध, गुड़ आदि में माधुर्य ।'

इस वचन के अनुसार चारुत्वबोध भिन्नतापूर्वक ही होता है, फलतः [ अलंकारों में ] भिन्नता मानना ही उचित है । इसके अतिरिक्त इन [ अलंकारों ] में उस प्रकार संघटनाजनित भिन्न चारुत्व भी नहीं मिलता जिस प्रकार लौकिक अलंकारों में मिलता है । [ जैसा कि रत्नाकरकारने कहा है—] ऐसा नहीं है कि [ सफेद ] मोती, [ लाल ] पथराग और [ नीले ] इन्द्रनील आदि [ की संघटना ] के समान अनुप्रास [ आदि शब्दालंकार तथा ] उपमा आदि [ अर्थात् अलंकारों ] [ की संघटना ] में परस्पर में कोई परभाग [ गुणोत्कर्ष, भिन्न रंगों के मिश्रण से उत्पन्न विशिष्ट छवि ] भासित नहीं होता । यह इसलिए कि शब्द जिस इन्द्रिय से गृहीत होता है अर्थ उस इन्द्रिय से गृहीत नहीं होता, फलतः दोनों विजातीय हैं ।'

[ समाधान ] यह [ शंका ] असद = ठीक नहीं है । क्योंकि जिस प्रकार स्थाली [ बटलोई ], जल, अग्नि, रत ( स ) तथा चावल आदि जब अलग अलग रहते हैं तब उनमें समत्वबोध नहीं होता क्योंकि उनमें समग्रसन्निधान [ अपेक्षित सभी पदार्थों का जुट जाना ] नामक धर्म का स्वतन्त्र रूप से बोध होता है, किन्तु जब वे एकत्रित हो जाते हैं तब होने लगता है, उसी प्रकार अलंकार भी भले ही भिन्न भिन्न समय में प्रतीत होते हों, संघटनाशक्ति उनमें विद्यमान पूर्वापर भाव [ आगे पीछे करके भिन्न भिन्न समय में प्रतीत होने रूपा धर्मों को ] अभिन्न बना देती है । तब वे एक ही ज्ञान के विषय बनते हैं । इस प्रकार उनमें परस्पर संबन्ध भासित होता ही है जिसे संस्पृष्टि और संकर नाम से पुकारा जा सकता है । इसके अतिरिक्त रूप में भेद होने पर भी संबन्ध न टूटने से एकरूपता आ जाती है । जैसे 'चित्र-पत्रक' [ विविध रंगों के बेलवटों से सुसज्जित फलक या कालीन ] में । जिस प्रकार चित्रास्तरण [ उपर्युक्त प्रकार के फलक या कालीन या रंगवल्ली जैसे मंडन ] आदि में [ देने ] अन्य पदार्थों के आकारों से [ उसका ] अपना आकार भिन्न रहता है तथापि भिन्नता का भान नहीं होता, फलतः उदकघट [ पूर्णकुम्भ ] आदि से चित्रित रूप में हुए [ चित्रास्तरण ] का बोध होता है, [ अर्थात् ] वस्तु का रूप अनेक प्रकार का [ चित्ररूप ] होते हुए भी एक ही प्रकार का भासित



होता है, उसी प्रकार भिन्न भिन्न समय में प्रतीत होने वाले अलंकारों में भी संघटितरूप से प्रतीत होने पर एकरूपता का बोध होता है। इस प्रकार उनमें मसृष्टि आदि को भिन्न अलंकार मानना ठीक ही है। जहाँ तक श्रुति आदि का संबंध है उनमें से प्रत्येक की मिठास अवश्य ही भिन्न रहती है तथापि सबके मिला देने पर पातकरस आदि नामक अन्य ही पर्याय बन जाते हैं और भाग्यवाद भी नवीन ही होता है, उसी प्रकार इन अलंकारों में भी। इस प्रकार [सृष्टि स्रष्टर को] भिन्न अलंकार मानना उचित ही है। उनमें जो एक अतिशयोक्ति सौन्दर्य प्रतीत होता है उसको शुष्यप्रत्यये अर्थात्—'तुम्हें कमम है यदि तुम यह न कहो कि मुझे इस वस्तु का ज्ञान हो रहा है—' इस प्रकार कमम देकर सिद्ध की वाला वस्तु न मानें, क्योंकि जहाँ कहीं एक, दो या अनेक अलंकारों का ज्ञान होता है वहाँ सौन्दर्य बढ़ता हुआ अनुभव में आता है, इस प्रकार उनमें होने वाला सौन्दर्योत्प्रेक्ष्य स्वानुभवसिद्ध है।

अलंकारों में जो सघटना प्रतीत होती है वह एक ही वाक्य तक सीमित रहती है अथवा किसी भी एक छन्द तक, कुलक [अनेक पद्यव्यापी एक वाक्य] आदि तक न्यास नहीं, क्योंकि वहाँ प्रथम और अन्तिम ज्ञान में आयुक्त दूरी हो जाने से वह सघटना जम नहीं पाती। जैसा कि कहा है—'वाक्यार्थ में भेद हो जाने पर भी यदि श्लोक एक रहता है तो उसमें एक अलंकार का अन्य अलंकार के साथ सहभाव भासित होता ही है, क्योंकि वे दोनों दूर नहीं पड़ते, [किन्तु] श्लोक भी यदि विभिन्न हो जाते हैं तो भिन्न वाक्य में रहने वाले अलंकारों का सहभाव नहीं रह पाता क्योंकि वे व्यवहित हो जाते हैं। फलतः वहाँ संसृष्टि नहीं होती। [इससे निष्कर्ष यह निकाला जा सकता है कि] यदि कुलक आदि में भी वाक्य एक ही रहे [बदले नहीं] और उसके बोध में अलंकार रहें तो यहाँ भी मसृष्टि आदि स्वीकार करने में कोई दोष नहीं।

[पुनः] शंका होती है कि [उपर्युक्त] समग्रताज्ञान या चित्रज्ञान में बटोरे आदि सभी पर्याय एक ही इन्द्रिय के द्वारा गृहीत होने हैं, अतः वे समानभावीय हो जाते हैं, फलतः वे एक ज्ञान का विषय बन जाते हैं, और इसलिये उनमें समग्रता आदि एक भिन्न वस्तु का ज्ञान होना संभव है। [जहाँ तक अलंकारों का संबंध है] यहाँ तो शब्द और अर्थ भिन्न भिन्न इन्द्रियों से गृहीत होते हैं अतः विजातीय होते हैं, अतः वे एक ज्ञान का विषय नहीं बन पाते, अतः एव इनके अलंकारों का भी एक साथ ज्ञान होना संभव नहीं होता। इस प्रकार इनमें [संसृष्टि =] समग्र आदि एक किसी [भिन्न] वस्तु का ज्ञान ही कैसे माना जा सकता है जिसे संसृष्टि आदि भिन्न अलंकार के नामसे पुकारने योग्य कहा जा सके। इस [शंका] पर [हमारा] उत्तर यह है—'जहाँ तक केवल शब्द के अलंकारों का सम्बन्ध है उनके आधारभूत सभी शब्द एक ही श्रोत्र इन्द्रिय से जाते जाते हैं। इस कारण इनके अलंकारों का ज्ञान भी एक ही इन्द्रिय से हो सकता है फलतः इनकी सजातीयता में तो कोई विवाद = मतभेद नहीं हो सकता। और इसीलिये कि इन अलंकारों का ज्ञान एक रूप होता है और इनकी प्रतीति एक साथ होता है इनमें संसर्ग नामक अतिरिक्त वस्तु का बोध भी माना जा सकता है। इसी प्रकार इन अलंकार का 'सत्य' = एकज्ञानविषयत्व मान लेने पर इनमें सौन्दर्योत्प्रेक्ष्य [एक अतिरिक्त सौन्दर्य] भी उत्पन्न होता माना जा सकता है, और इसलिये यहाँ संसृष्टि आदि अलंकार माने जा सकते हैं। इसी प्रकार अर्थ का ज्ञान भी शब्द के द्वारा होता है अतः उनके अलंकार भी सजातीय होकर संसृष्ट रूप से प्रतीत होने हैं फलतः उनमें भी संसृष्टि आदि अलंकार माने जा सकते हैं। जहाँ तक शब्द और अर्थ इन दोनों के सहबोध का सम्बन्ध है इनमें से प्रत्येक का ज्ञान यद्यपि भिन्न भिन्न उपायों [श्रोत्रेन्द्रिय तथा मन] से होता है [अतः ये अवश्य ही विजातीय हैं] तथापि उनके अलंकारों का ज्ञान ठीक उसी प्रकार एक साथ होना संभव है जिस प्रकार सुगन्धी वस्तु पुष्प के ज्ञान में [सुगन्ध का ज्ञान श्रोत्रेन्द्रिय से

तथा पुष्प का शान चक्षुरिन्द्रिय से होने पर भी क्योंकि इन्द्रियों मन से अधिष्ठित होकर विषय का ध्यान करती हैं अतः ] जो मानस शान होता है उसमें मन का विषय दोनों ही समान रूप से बनाते हैं फलतः दोनों पदार्थों का बोध एक साथ हो जाता है। इस प्रकार शब्द और अर्थ दोनों के अलंकारों के संसर्ग में लौकिक अलंकारों के ही समान विशेषता का लाभ होता ही है अतः उनमें एक भिन्न चरित्र का बोध भी होता ही है, और इसीलिए इनका संस्पृष्टि आदि नामक अलंकारत्व भी युक्तियुक्त है और [ रत्नाकरकार आदि अन्य आचार्यों ने शब्द और अर्थ को विज्ञानीय बतलाते हुए यह हेतु दिया था कि दोनों का शान भिन्न भिन्न इन्द्रियों से होता है वह भी उपेक्षणीय है, क्योंकि काव्य का शरीर शब्द और अर्थ के युग्म से जो बना हुआ माना जाता है। उसमें अर्थ शब्द से प्रतिपादित होकर ही अङ्ग बनता है। इसलिए अर्थ के उस रूप का काव्य में कोई उपयोग नहीं रहता जो बाह्य [ अर्थात् अवबोध ] और [ इसीलिए ] चक्षुरिन्द्रियप्राप्त होता है।

[ रत्नाकरकार ने जो यह कहा है कि ] यदि ऐसा है [ अर्थात् उपर्युक्त क्रम से संस्पृष्टि और संकर को भिन्न अलंकार मान लिया जाता है ] तो पूर्वलक्षित अनुप्रास और उपमा आदि का अभाव ही वाध्या, क्योंकि ऐसा एक भी अलंकार न होगा जो असंकीर्ण हो, फलतः सर्वत्र संस्पृष्टि और संकर ही अलंकार मान लिए जायेंगे और उन [ अनुप्रास उपमा आदि ] का कोई स्थान ही न रहेगा—

यह ठीक नहीं, क्योंकि असंकीर्ण अलंकारों के सदृश उदाहरण देखे जाते हैं और दिए जा चुके हैं। उदाहरणार्थ—

‘उस [ ललितादित्य ] को सेना यशोवर्मा को लोभकर पूर्वसागर में बैसे ही सुखपूर्वक जा बैसी जिस प्रकार हिमाचल को लोभकर गंगा ॥ राज० ४।१४६ ॥

उत्तर कुर जनपद के निवासी उसके मय से जन्म [ जन्तु ] पादपों [ जन्तुपादप = केवहों में ] उसी प्रकार जा पुने जिस प्रकार गरुड के त्रास से बड़े बड़े सर्प बिल में ॥ ४।१७५ ॥

इसके पश्चात् जय से धन अर्जित कर चुका वह अपने राज्य में पहुँचा, जैसे विदारित गजों के भौक्तिकों से भरे हुए पंजे वाला सिंह पर्वत में पहुँचता है ॥ ४।१७६ ॥

तत्पश्चात् कुवेरतुल्य उस राजा ने कहीं चाँदी और कहीं सोने की देवप्रतिमाएँ मुख्य देव प्रतिमाओं के पार्श्व भागों में स्थापित कराई ॥ ४।२०५ ॥

सुःखार देश के निवासी चहुण ने, जिसने अपने नाम से अंकित [ चहुणनाम का ] विहार बनवाया था, राजा [ ललितादित्य ] के चित्त जैसे [ सुविशाल ] स्तूप और बैसी ही सुवर्ण की जिन-प्रतिमाएँ बनवाई ॥ ४।२११ ॥

उस [ ललितादित्य ] की पटरानी ईशान देवी ने सुवारस के समान स्वच्छ तथा रोगियों को आरोग्य प्रदान करने वाला खातान्त्रु [ खोदे हुए तालाब आदि के जल ] की व्यवस्था की ॥ ४।२१२ ॥

उसने उन उन देशों से उसकी भीतरी विशेषता जानने वाले व्यक्तियों का संग्रह किया जैसे वृक्षों से खिले पुष्पपुञ्ज का संग्रह वायु करता है ॥ ४।२४५ ॥

[ हे शत्रुमन्त्रिन् निर्जल मरुपथ में प्रवेश कराकर एमें सेनासहित नष्ट करने का ] तुम्हारा यह इस प्रकार का [ स्वयं के नाक फास कटवाकर मेरे प्रिय बनने और अपने राजा के लिए मुझको ही मरुपथ में भटकाने का धोखे का ] प्रयास भी मुझ अभिषेकार पर उसी प्रकार कुण्ठित हो गया है जिस प्रकार वज्रमणि [ हीरे ] पर लौह ॥ ४।२९८ ॥

देख, केवल भाषामात्र से [ यही ] पृथ्वी वैसे ही पानी पैदा कर देगी जैसे मेघजनन से वैदूर्य भूमि रत्न पैदा कर देती है ॥ ४।३०० ॥

[ तुलनीय—'विदूरभूमिर्नवमेघस्यदादुद्भिन्नया रत्नशलाकयेव' कुमारसंभव—' ] ॥

ऐसा कहकर पानी निकालने के लिए माले से उसने पृथ्वी को उसी प्रकार विदारित किया जिस प्रकार जल निकालने के लिए शिवजी ने विनस्ता को शूल से विदारित किया था ॥ ४।३०१ ॥

[ 'मदिरामद में ललितादाय ने प्रवरपुर की सुन्दरता पर ईर्ष्या कर उसे जला डालने की आज्ञा मन्त्रियों को दी । मन्त्रियों ने उस नगर के घास फूस में आग लगाकर प्रासाद के ऊपर बैठकर देख रहे ललितादित्य को झूठा नगरदाह दिखला दिया । नशा उतरने पर दुःखी हो रहे उससे मन्त्रियों ने प्रवरपुर के सुरक्षित रहने की बात कही तो—] उस नगर को रक्षित सुनकर राजा का शोक हट गया, जैसे रवन् में पुत्र के अपहरण का शोक जागने पर उसे सानने खड़ा देख हट जाता है ॥ ४।३११ ॥

[ वचरापय के विषय के लिए बहुत दिनों से निकले राजा ललितादित्य का उसके पास भेजे दूत के द्वारा मन्त्रियों को उसकी अनुपस्थिति में राष्ट्ररा के लिए सुशाया गया मन्त्र—] आप लोग यहाँ के राजाओं से अपना भेद रक्षित रखें । चार्वाकों के समान रहें परलोक [ शुशुपथ में पर = शुशु, लोक = लोग ] से मय नहीं है ॥ ४।३५॥'

इत्यादि राजतरङ्गिणी में ललितादित्य के वर्णन में उपमा के शुद्ध [ अलङ्कारान्तर से अलंकारों ] उदाहरण है [ अन्तिम पद्य में परलोकपद श्लिष्ट है तथापि वह उपमा का अंग है, स्वयं अलंकार नहीं ] । इसी प्रकार इसी [ राजतरङ्गिणी ] में अन्य राजाओं के वर्णन के प्रसंगों में अपवा अन्य ग्रन्थों में शुद्ध उपमा का क्षेत्र कितना व्यापक है हमें कौन दिखला सकता है । उपमा ही अन्य अलंकारों का बीज है इसलिए उसीके उदाहरण दिखलाए । इसी प्रकार अन्य अलंकारों के भी सहस्रों उदाहरण यहाँ बतलाए जा सकते हैं तथापि प्रत्यगौरव के भय से उन्हें नहीं दिखलाया गया । इसलिए [ अलंकाररत्नाकरकार आदि को ] इन अलंकारों का अभाव या इनकी कमी की बात नहीं उठानी चाहिए । इसी प्रकार यदि उपमा आदि के स्थल बहुत कम भी हो तब भी केवल सृष्टि और संकर के ही लक्षण करने की आवश्यकता नहीं उठती, क्योंकि यदि इन [ उपमा आदि ] का क्षेत्र उतना कम भी मान लिया जाय तब इनका पृथक् लक्षण तो बनाना ही होगा । इस प्रकार [ अ० रत्नाकरकार ने ]—'सृष्टि नहीं मानी जा सकती, क्योंकि उसे मानने पर पूर्वप्रतिपादित अलंकारों का अभाव मानना होगा और उसमें कोई पृथक् सौन्दर्य का भी अनुभव नहीं होता—' [ सूत्र = १११ ] इत्यादि जो कुछ कहा था वह युक्तिहीन और अमान्य है । और इसीलिए [ अ० रत्नाकरकार का ] सृष्टि और संकर का खण्डन करने के पश्चात् बनाया गया जो—

—'इस कारण सभी अलंकारों का अभाव कर देने वाले 'सृष्टि और संकर'—इन दोनों का जब शक्तीमति निराकरण कर दिया गया तब अब अपना-अपना विशाल क्षेत्र प्राप्त कर और उसमें प्रधानरूप से विद्यमान रहकर सभी अलंकार सदा के लिए आनन्द करें ।'

यह आशीर्वादात्मक पद्य है यह भी निःप्रयोजन सिद्ध होता है ।

प्रश्न उठाया जा सकता है कि यदि उपर्युक्त क्रम से [ अलंकारों के योग में ] भिन्न ही अलंकार मानना है तो 'सृष्टि या संकर'—इन दोनों में से कोई एक ही अलंकार मान लिया जाय, दोनों क्यों माने जाते हैं । इस पर उत्तर देते हुए कहते हैं—अलंकारान्तरवेदपि च । यद्यपि महाराज भोज ने [ सरस्वतीकण्ठामरण ४।८८—९० में ] नाना अलंकारों का स्फुटत्व और

अस्फुटव इत प्रकार दो भेदों से युक्त संकर ही संस्पृष्टि है—

[ संस्पृष्टिरिति विज्ञेया नानालंकारसंकरः ।

सा तु व्यक्ता तथाऽव्यक्ता व्यक्ताव्यक्तेति च त्रिधा ॥

तिलतण्डुलवद् व्यक्ता छायादर्शवदेव च ।

अव्यक्ता क्षीरजलवत् पांसुपानीयवच्च सा ॥

व्यक्ताव्यक्ता च संस्पृष्टिरनैरतिद्वयदिभ्यते ।

त्रिप्रवर्णवदन्यस्मिन् नानालंकारसंकरे ॥ स० क० ४।८८-९० ॥

अर्थात्—'नाना अलंकारों का संकर संस्पृष्टि नामक अलंकार जानना चाहिए । यह संस्पृष्टि व्यक्त, अव्यक्त और व्यक्ताव्यक्त इस प्रकार से तीन प्रकार की होती है । इनमें तिलतण्डुल सा संकर व्यक्त संस्पृष्टि कहलाता है अथवा दर्पण और प्रतिबिम्ब का । नीरक्षीर और मिष्टी पानी का सा संकर अव्यक्त संस्पृष्टि कहलाता है तथा नरसिंह या चित्रवर्ण के समान संकर व्यक्ताव्यक्त ]— इस प्रकार संकीर्णतामात्र को लेकर संस्पृष्टि नामक केवल एक ही अलंकार बतलाया है ।

[ सर्वस्व ]

तत्र तिलतण्डुलन्यायेन भवन्ती संस्पृष्टिस्त्रिधा । शब्दालंकारगतत्वेन, अर्थालंकारगतत्वेन, उभयालंकारगतत्वेन च । तत्र शब्दालंकारसंस्पृष्टिर्यथा—

'वदनसौरभलोभपरिभ्रमद्भ्रमरसंभ्रमसंभृतशोभया ।

चलितया विदधे कलमेधलाकलकलोऽलकलोलदशान्यया ॥

अत्रानुप्रासयमकयोर्विजातीययोः संस्पृष्टिः । अत्रैव 'अलकलोलकलोल' इति, तथा 'कलोलकलोल' इति सजातीययोर्मकयोः संस्पृष्टिः । अर्थालंकार-संस्पृष्टिर्यथा—

'देवि क्षपा गलति चक्षुरमन्दतार-

सुष्मीलयाशु नलिनीव सभृङ्गमञ्जम् ।

एष त्वदाननरुचेव विलुण्ठ्यमानः

पश्याम्बरं त्यजति निम्प्रतिभः शशाङ्कः ॥'

अत्र विजातीययोरुपमोत्प्रेक्षयोः संस्पृष्टिः ।

'लिम्पतीव तमोऽङ्गानि धर्पतीवाखनं नभः ।

असत्पुरुषसेवेव दृष्टिर्निष्फलां गता ॥'

अत्रोत्प्रेक्षयोः सजातीययोरुपमोत्प्रेक्षयोर्विजातीययोश्च संस्पृष्टिः ।  
उभयसंस्पृष्टिर्यथा—

'आनन्दमन्थरपुरन्दरमुक्तमाल्यं

मौलौ दृढेन निहितं महिषासुरस्य ।

पादाम्बुजं भवतु मे विजयाय मञ्जु-

मञ्जीरशिक्षितमतोहरमम्बिकायाः ॥'

अत्रोपमानुप्रासयोः संस्पृष्टिः । पादाम्बुजमित्यत्र ह्यपमाया मञ्जीर-

शिक्षितयोगो व्यवस्थापकं प्रमाणम् । स हि रूपके प्रतिकूलः पारिदो-  
प्यादुपमां प्रसाधयति । तदेवं संसृष्टिस्त्रिधा निर्णाता ।

दोनों में तिलतण्डुल के मिश्रण के समान होने वाली संसृष्टि तीन प्रकार की होती है—  
शब्दालंकारगत, अर्थालंकारगत तथा उभयालंकारगत । इनमें शब्दालंकारगत संसृष्टि यथा वदन-  
सौरभलोम इत्यादि पद्य [ इसका अर्थ है ]

—'मुख की सुगन्धि के लोम से घूमते भ्रमर के भय से अधिक सुशोभित हो रही अलकों के  
साथ चंचल चितवन वाली अन्य किसी चंचल सुन्दरी ने सुन्दर मेखला का कलकल रव किया ।'  
इस पद्य में [ वदनसौरभलोम आदि पूर्वाध में ] अनुप्रास और [ 'लकलोऽलकलो'-में उत्तरार्धगत ]  
यमक की संसृष्टि है जो दोनों मिश्र दो अलंकार हैं । इसी पद्य में 'अलकलोलकलोल' में [ 'लकलो  
लकलो'-यद् ] तथा 'कलोलकलोल' में दो यमकों की संसृष्टि है जो दोनों सजातीय हैं [ अर्थात्  
दोनों के लक्षण एक हैं ] । अर्थालंकारसंसृष्टि जैसे—

'देवि । रात टल रही है, चंचल तारा वाली आँख खोलो जैसे नन्दिनी मँरि वाला कमल  
खोल रही है । देखो यह शशाङ्क मानो तुम्हारे मुख की कान्ति से लुट कर निःश्रम होकर आकाश  
छोड़ रहा है ।'—

यहाँ उपमा और उपप्रेक्षा की संसृष्टि है जो दोनों मिश्र मिश्र अलंकार हैं ।

'अन्धकार अगों को शीप सा रहा है, आकाश काबल बरसा सा रहा है । इष्टि असरपुरष  
की सेवा की मूर्ति विफल हो गई है ।'—

[ पूर्वाध में 'लिम्पतीव' तथा 'वर्षतीव' इत ] दो उपप्रेक्षाओं की संसृष्टि है जो दोनों सजातीय हैं  
[ अर्थात् जिनके लक्षण अभिन्न हैं ] साथ ही उपमा और उपप्रेक्षा की भी संसृष्टि है जो दोनों  
विजातीय [ परस्पर में ] मिश्र अलंकार हैं दोनों [ शब्दालंकार तथा अर्थालंकार ] की  
संसृष्टि, यथा—

'अम्बिका का, आनन्द से मन्थर पुरन्दर द्वारा पुष्पों से पूजित, महिपातुर के सिर पर बलात्  
निहित तथा मञ्जु मञ्जीर के शिबित से मनोहर पादाम्बुज हमारे लिए विजयप्रद हो ।'

यहाँ उपमा और अनुप्रास की संसृष्टि है । पादाम्बुज में [ उपमितसमास के द्वारा 'पाद  
अम्बुज के तुल्य' इस प्रकार ] उपमा है, इसका निर्णायक प्रमाण है मञ्जीरशिक्षित का संबन्ध  
[ जो पाद में ही सम्भव है अम्बुज में नहीं, और पाद उपमितसमास में ही प्रधान हो सकता है,  
विशेषणसमास मानकर रूपक मानने पर प्रधान होगा अम्बुजपदार्थ ] जिसमें मञ्जीररव सम्भव  
नहीं होगा । इस प्रकार ] वह रूपक के प्रतिकूल है फलतः शेष बची उपमा की सिद्धि कराता है ।  
इस प्रकार संसृष्टि तीन प्रकार की होती है यह निश्चित रहा ।

### विमर्शनी

विजातीययोरिति । यमकानुप्रासयोर्निघलक्षणत्वात् । अत्र च प्रधानस्यानुप्रासस्य परि-  
पोषकत्वेनाङ्गयमकमिति संकरोदाहरणं न वाच्यम् । अथ हि यमकसर्गस्योपक्रान्तत्वात्  
तत्रैव कवित्तु, संरम्भातिशयाद्यमकस्य प्राधान्यमित्यनुप्रासस्य यमक प्रति परमङ्गल्य युक्तं,  
न पुनर्विपर्ययः । सकलवाक्यव्यापिनोऽप्यनुप्रासस्य प्राधान्येनाविघ्नत्वात् । नाप्यत्र पर-  
स्परमङ्गाङ्गिभावो युक्तः । इह हि निमित्तनिमित्तिभावेनोपकार्योपकारकभावेन चेति  
द्विधाह्लाङ्गिभावः । तत्राद्यो द्विधा । सार्वत्रिकः, प्रादेशिकश्चेति । तत्र सार्वत्रिको यथा  
विभावनातिशयोक्तयोः । 'आश्लिष्टातिशयोक्तिस्तु सर्वत्रैव विभावना' इति इत्यादि विम ।

चनायाः सर्वत्रैवातिशयोक्त्यपेक्षत्वात् । प्रादेशिको यथा, श्लेषातिशयोक्तयोः । 'रजनीमु-  
खम्' इत्यादौ स्वचिदेव श्लेषवशेनातिशयोक्तेरस्थानात्, 'कमलमनम्भसि' इत्यादौ श्लेष-  
मन्तरेणापि तस्याः संभवात् । एतद्भेदद्वयं च न संकरस्य विषयः । तस्य स्वहेतुबलाद्बन्ध-  
सत्ताकानामलंकाराणां संसर्गे वयममाणत्वात् । द्वितीयो यथा—'अङ्गुलीमिरिव' इत्यादौ ।  
अत्र हि स्वस्वहेतुयत्नेन लब्धसत्ताकानामुपमादीनां परस्परमुपकार्योपकारकत्वमात्रं येनाङ्ग-  
ङ्गिभावः । न ह्यत्रोपमयोः परस्परं स्वरूपनिष्पत्तादपेक्षा काचित् । एकतराभावेऽप्येकस्याः  
स्वरूपोत्थानात् । एवमुपमाद्वयपरिहारेण केवलान्युत्प्रेक्षा स्यात् । स्थितानां पुनरेपामिद्यं  
चिन्ता यच्चुम्बने केशप्रहणादेरुचित्त्वाद्दुपमाद्युपकारकमुत्प्रेक्षा चोपकार्या येनाङ्गङ्गिभावः ।  
एवं च—'तेन प्रधानतायामुपमादीनां निर्जं निर्जं नाम ।

अङ्गत्वे पुनरोपां संकरधीनाङ्गिभावेऽपी'त्याद्यन्वैरयुक्तमेवोक्तम् ।

इह पुनर्यमकानुप्रासयोर्न निमित्तनिमित्तिभावः । सर्वत्रैवानयोः स्वरूपनिष्पत्तावन्धो-  
न्यानपेक्षत्वात् । तत्त्वेऽपि समनन्तरोक्तयुक्त्या संकरायोगात् । न च स्वहेतुम्यो लब्धसत्ता-  
कयोरेष्यनयोः परस्परमङ्गङ्गिभावः, शब्दालंकारयोः शब्दबहुपकारकाभावात् । अयं  
वर्णसावर्ष्येन वैचित्र्यातिशयाद्याकत्वेनानयोरुपकार्योपकारकभाव इति चेत्, न ।  
इयमेव हि संस्पृष्टिर्द्वययोर्वहूनां बालंकाराणां परस्परनिरपेक्षानामपि संसर्गे सति चारु-  
तातिशयप्रतिपत्तिः ।

एवमयालंकारसंस्पृष्टावपि संकरोदाहरणत्वं न वाच्यम् । न हि तत्रोपमोत्प्रेक्षयोः पर-  
स्परमुपकार्योपकारकनावाच्यात्माङ्गङ्गिभावः । यद्येवं दशदाडिमादिवाच्यवदनयोरसंबन्ध-  
त्वं स्यादिति चेत्, न । चक्षुरन्मीलनात्मके एकस्मिन्नेव प्रधानेऽर्थे द्वयोरपि संबन्धत्वात् ।  
न च पाकलक्षणमेकमेवार्थमुरुरीकृत्य व्यवस्थितानां स्थाष्यादीनामप्यन्यदः कश्चित्संबन्धः ।  
अथोपमालिङ्गितस्य चक्षुरन्मीलनस्योत्प्रेक्षारिलपः शशाङ्काम्बरस्यागः पारम्पर्येण हेतुत्वेनो-  
पनिबद्ध इति स्वाश्रयभूतार्थवदनयोरप्यङ्गङ्गिभावोऽस्तीति चेत्, नैतत्, उपमाद्यः लि-  
ङ्गानामावेऽपि चक्षुरन्मीलनादेर्हेतुहेतुमद्भावाच्चानतिपातात् अवस्थितत्वे वा तयोक्तयुक्त्या  
परस्परं सम्बन्धाभावात् । नाप्यत्रोपमाया वाक्यार्थत्वम् । तस्या अप्युत्प्रेक्षादिवचक्षुर-  
न्मीलनाङ्गत्वेनावस्थानात् । अत्र हि चक्षुरन्मीलनस्यैव वाक्यार्थत्वम् । शशाङ्काम्बरस्यागोप-  
पादितस्य चापागलनस्य तं प्रत्येव हेतुत्वेनोपनिबन्धात् । एवं परं प्रत्युपसर्जनीभूतयोरवा-  
न्तरसंबन्धाभावेऽप्युपमोत्प्रेक्षयोः संसर्गे सति चाहत्वातिशय इति ययोक्तमेव संस्पृष्ट-  
दाहरणत्वं युक्तम् । एवम्—

'अन्वोन्वसंबन्धविवर्जितानामलंकृतीनां विनिवेशनं चेत् ।

अनन्वितरवाद्दशदाडिमादिवाक्यादिषु द्वूपगमेव तर्हि ॥

अयान्वयोऽस्त्येव परस्परं तदगुणप्रधानत्वमवश्यमेप्यम् ।

तदा न संस्पृष्टिकया गुणस्य पराङ्गतायां खलु संकरः स्यात् ॥

एकत्र चेदङ्गिनि संगतं स्याद् द्वयं तदन्वोन्वसम्मीलनेन ।

न संकरोऽन्यापि नवा गुणत्वे कार्यान्तरोत्पादनशक्तिभङ्गात् ॥

इत्याद्युपेक्षणीयमेव । न चात्रोभयमप्यलंकार इत्याद्योऽलंकारसमुच्चय इति  
वाच्यम्, 'धर्मयोग्यपद्यमन्यस्यापि तत्करत्वं च समुच्चय' इत्युक्त्या भवन्मतेऽ-  
प्यलंकारयोग्यस्य तल्लक्षणत्वाभावात् । तथात्वाभ्युपगमे चायं नाम्नि विवादः ।  
एवं हि संस्पृष्ट्या किमपराद्धम् । अत्र 'चोद्यं करिष्यामि' इत्याशयेन 'सजातीय-  
योऽपमयोः संस्पृष्टिरित्यशुद्धं पठित्वा यदन्यैरुक्तं तदुपेक्षयमेव । अत्र हि

विजातीययोरुपमोत्प्रेक्षयोः सञ्छित्तिरिति सर्वत्रैव सुस्पष्टः पाठः । उत्प्रेक्षयोरिति । प्रथमार्धगतयोः । यद्यपि चानयोर्द्वितीयाधगतयाभ्युपमया संसर्गं सञ्छित्तिरेव, तथापि विजातीययोरुपमोत्प्रेक्षयोरुदाहृतत्वात् सजातीयमिप्रायेणैवमुक्तम् । नाप्यत्रोत्प्रेक्षाद्वय-  
मुपमाहेतुभूतमिति वाच्यम्, त्रयाणामप्यलंकाराणां चात्रयार्थाभूतं तमोद्यादृष्ट्यं प्रत्यङ्गत्वात् । नमयसञ्छित्तिरिति । अनुप्रासोपमयोः द्वाद्वार्पालंकारत्वात् । व्यवस्थापकमिति । मञ्जीरनिञ्जितयोगस्य पादगतत्वेनौचित्यात् । प्रतिकूल इति । अञ्जुजस्य मञ्जीरनिञ्जिता-  
योगात् । पारिशेष्यादिति । उपमारूपकाभ्यामन्यस्याभाप्यतेः । एतदेवोपमंहरति—तदेव-  
मित्यादि । त्रिषेति । यद्यपि सजातीयविजातीयत्वेनान्यदुत्प्रेक्षयाः संभवति भेदद्वयम्, तथा-  
पि तदुद्दिष्टदृष्ट्यवान्तर्भवतीति यद्योक्त एवायमुपमहाराः ॥

विजातीय = क्योंकि यमक और अनुप्रास के लक्षण भिन्न भिन्न हैं । [ रत्नाकरकार ने इस 'वदनसौरम' पद्य में संकरालंकार मानवे हुए कहा है कि ] 'यहाँ अनुप्रास प्रधान है और यमक ठमका परिपोषक है अतः उसका अंग है अतः यहाँ संकर है'—येसा [ उन्हें ] नहीं कहना चाहिए । यहाँ तो यमक ही का उपक्रम है, क्योंकि कवि का अतिशय सरम्म उसी पर है । अतः यमक ही प्रधान है । इस कारण [ अंगाङ्गिभाव ही बतलाना है तो ] अनुप्रास को ही यमक का अंग बतलाना उचित होता, तद्विपरीत [ यमक को अनुप्रास का अंग बतलाना ] नहीं । क्योंकि अनुप्रास यद्यपि पूरे वाक्य में व्याप्त है तथापि उसमें प्रधानता की विवक्षा नहीं है । यहाँ परस्पर में भी अंगाङ्गिभाव मानना ठीक नहीं होगा । क्योंकि यहाँ अंगाङ्गिभाव दो प्रकार का होता है एक तो निमित्तनिमित्तिभावजनित और दूसरा उपकार्योपकारकभावजनित । दोनों में प्रथम दो प्रकार का होता है सार्वत्रिक तथा प्रादेशिक । उनमें सार्वत्रिक जैसे विभावना और अतिशयोक्ति में । क्योंकि 'विभावना सदा ही अतिशयोक्ति से आदिल्लभ रहती है'—इस शक्ति के अनुसार विभावना सदा ही अतिशयोक्ति की अपेक्षा रखती है । प्रादेशिक, जैसे श्लेष और अतिशयोक्ति का । क्योंकि रजनीमुख [ रजनीरूपी नायिका का मुख और रात्रि का आरम्भ ] इत्यादि स्थलों में कहीं कहीं ही अतिशयोक्ति श्लेष के बल पर खड़ी होती है, क्योंकि 'कमलम-  
नम्मसि'—इत्यादि स्थलों में वह श्लेषनिरपेक्ष होकर भी निष्पन्न होती दिखाई देती है । ये दोनों ही भेद संकर के विषय नहीं हैं । क्योंकि वह, जैसा कि आगे कहा जाने वाला है, अपने अपने कारणों से निष्पन्न हो चुके अलंकारों के ही संसर्ग में माना जाता है । दूसरा [ उपकार्योपकार-  
कभावजनित अंगाङ्गिभाव ] का उदाहरण है—'अगुलीमिरिव०' इत्यादि [ आगे आरहा पद्य ] । हममें उपमा आदि अलंकार अपने अपने हेतुओं के आधार पर निष्पन्न हो जाने हैं । तदनन्तर उनमें केवल उपकार्योपकारकभावमात्र आता है जिससे उनमें अंगाङ्गिभाव बनता है । यहाँ जो उपमाएँ हैं वे अपने स्वरूप की निष्पत्ति के लिए एक दूसरे की कोई अपेक्षा नहीं रखतीं । क्योंकि उनमें से किसी भी एक के बिना किसी भी अन्य उपमा की निष्पत्ति सम्भव है । इसी प्रकार यहाँ दोनों उपमाओं के बिना केवल उत्प्रेक्षा भी निष्पन्न हो सकती है । एक साथ आ जाने पर इनके विषय में वह विमर्श होता है कि चुम्बन में केश ग्रहण आदि [ अपेक्षित ] होते ही हैं, अतः यह यहाँ उपमा आदि उपकारक हैं और उत्प्रेक्षा उपकार्य हैं और इससे इनमें अंगाङ्गिभाव चला आता है । और इस प्रकार अन्य आचार्य [ रत्नाकरकार ] ने—

'हम कारण उपमा आदि की प्रधानता रहने पर उन्हें अपने अपने नामों से पुकारा जाता है, इनमें संकर तब माना जाता है जब [ अप्रधानता या ] अगता रहती है, ऐसा नहीं कि अंगी [ प्रधान ] होने पर भी वह [ संकर ] माना जाय ।' [ रत्नाकर-११२ सू० ५० पक्ति ८ ] इत्यादि गलत ही कहा था ।

इस [वदनसौरभ० पद्य] में यमक और अनुप्रास में निमित्तनिमित्तिभाव संबन्ध नहीं है क्योंकि अपने स्वरूप की निष्पत्ति में ये एक दूसरे की अपेक्षा सर्वत्र ही नहीं रखते। रम्यें भी तो अभी-अभी बतलाईं [पूर्वसिद्धि के योग में संकर होने की] युक्ति से उनमें संकर मानना संभव न होगा। न तो अपने-अपने हेतुओं से निष्पन्न हो चुके इन अलंकारों में अङ्गाङ्गिभाव हो संभव है क्योंकि शब्दगत अलंकारों में शब्द के साथ जैसे उपकार्योपकारकभाव रहता है वैसे आपस में नहीं रहता। यदि कहें कि वर्णों में साम्य निष्पन्न करने और चमत्कार में अधिकता लाने से इनमें उपकार्योपकारक भाव माना जा सकता है, तो वह भी अमान्य है [क्योंकि इस हेतु से तो यह संकर संसृष्टि ही सिद्ध होता है] क्योंकि इसी का नाम न संसृष्टि है कि दो या दो से अधिक अलंकारों का परस्पर निरपेक्ष रहते हुए भी संबन्ध हो जाने पर अतिशयित चमत्कार का निष्पन्न होना।

[रत्नाकरकार को] इसी प्रकार अर्थालंकार संसृष्टि के उदाहरणों को भी संकर के उदाहरण नहीं कहना चाहिये [रत्ना० पृ० १९७] क्योंकि उन उदाहरणों में जो उपमा और उत्प्रेक्षा हैं उनमें आपस में उपकार्योपकारकमात्रात्मक अङ्गाङ्गिभाव नहीं है। [शंका, रत्ना० पृ० १९७] यदि ऐसा है तो ये दोनों [अलंकार] 'दशदाढिम' आदि वाक्य के समान असंबद्ध हो जायेंगे। [उत्तर] नहीं। क्योंकि [ 'देवि क्षपा' इत्यादि पद्यों ] एक जो चक्षुरन्मीलन रूप प्रधान अर्थ है उसमें [ उपमा तथा उत्प्रेक्षा ] दोनों ही संबद्ध हैं। पाक रूपी एक ही अर्थ के लिए एकत्रित बतलाईं आदि का भी कोई अन्य संबन्ध नहीं होता। यदि कहें कि चन्द्रकृत उत्प्रेक्षायुक्त आकाशत्याग-रूपी अर्थ उपमायुक्त चक्षुरन्मीलन रूपी अर्थ के प्रति परम्परया हेतु है, [ इस प्रकार इन दोनों अर्थों में परस्पर में अङ्गाङ्गिभाव है ] फलतः अपने आशयभूत अर्थों के समान ही इन [अलंकारों] में भी [ हेतुहेतुमद्भाव रूपी संबन्ध अर्थात् ] अङ्गाङ्गिभाव माना जा सकता है, तो यह भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि चक्षुरन्मीलन आदि [ उपयुक्त अर्थों ] में जो हेतु-हेतुमद्भाव है वह उपमा आदि के न रहने पर भी विगड़ता नहीं है, रहने पर भी उनमें उक्त युक्ति [दो अप्रधानों का संबन्ध संभव न होने] से संबन्ध नहीं बन पाता। न तो यहाँ उपमा में वाक्यार्थता [ प्रधानता ] ही है। क्योंकि वह भी उसी प्रकार चक्षुरन्मीलन आदि के प्रति अंग बनकर उपस्थित है जिस प्रकार उत्प्रेक्षा आदि। यहाँ जो है सो चक्षुरन्मीलन में ही वाक्यार्थता [ प्रधानता ] है, क्योंकि चन्द्रमा द्वारा आकाश के त्याग के द्वारा संपन्न निशवसान उसी [ चक्षुरन्मीलन ] के प्रति हेतुरूप से उपस्थापित है। इस प्रकार माना कि अप्रधानों का परस्पर में संबन्ध नहीं होता तथापि उपमा और उत्प्रेक्षा के बीच, उनके अन्य के प्रति अंग और अप्रधान होने पर भी संबन्ध है, और उसके कारण [ वाक्यार्थ में ] अतिशय चारुत्व भी चला आता है, फलतः [ सर्वस्वकार ने ] जो [ उपयुक्त देवि क्षपा० आदि पद्योंको ] संसृष्टि का उदाहरण बतलाया वे उसी के उदाहरण के रूप में मान्य हैं। इस प्रकार—

[ अलंकाररत्नाकरकार द्वारा संसृष्टिविवेचन का उपसंहार करते हुए ]

यदि अलंकारों का निवेश परस्पर में असम्बद्ध रूप से माना जाय तो यह संबन्धभाव के कारण [ अलंकार न होकर ] 'दशदाढिम' आदि वाक्यों के समान दोष ही होगा।

और यदि परस्पर में [अन्वय] संबन्ध हो ही तो उनमें प्रधानता अप्रधानता भी अवश्य ही माननी होगी। और तब संसृष्टि की बात समाप्त हो जायगी क्योंकि जो अप्रधान होगा वह दूसरे [ प्रधान ] के प्रति अंग होगा, अतः वहाँ [ अङ्गाङ्गिभाव मूलक ] संकर माना जायगा।

यदि दोनों [ अलंकारों ] को किसी एक अंगी में अन्वित माना जाय तो वहाँ दोनों का [ अंगी में ] समीलन [ एक साथ तिरोभाव ] हो जाने से न तो संकर होगा, न अन्य



[ संसृष्टि ] ही, क्योंकि अग्रधानता आ जाने पर अन्य किसी कार्य की क्षमता नष्ट हो जाती है ।—

इत्यादि जो कहा गया है वह उपेक्ष्य ही है ।

[ अलंकाररत्नाकरकार ने संसृष्टिविवेचन के अन्त में जो यह कहा है कि ] 'ऐसे स्थलों में दोनों ही [ या सभी ] अलंकार [ अलंकार होते ] हैं अतः यहाँ आर्थ समुच्चयालंकार मान लिया जाय' यह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि [ रत्नाकरकार ने ही ]—'धर्म का योग्यप [ पकत्रोकरण ] तथा अन्य किसी में भी किसी कार्य की क्षमता समुच्चय' [ सू० ८९ ] इस प्रकार समुच्चय का लक्षण माना है । इसके अनुसार आप [ रत्नाकरकार ] के मत में अलंकारों में योग्यप उस [ समुच्चय ] का लक्षण नहीं माना जाता । और यदि वैसा भी मान लेते हैं तो फिर विवाद केवल 'नाम [ करण ] तक सीमित रहता है और तब संसृष्टि शब्द ने ही आप का क्या बिगाड़ा है ।

इसी प्रकार अन्य किन्हीं सज्जनों ने केवल इस आशय से कि मैं आपत्ति निकालूँ 'दो सजातीय उपमाओं की संसृष्टि' ऐसा अशुद्ध पाठ अपनाकर यहाँ जो कुछ कहा है वह सर्वथा उपेक्षणीय है क्योंकि इस स्थल के मूल में सभी प्रतियों में 'विजातीय उपमा और उपप्रेक्षा की संसृष्टि'—यही पाठ स्पष्टरूप से मिलता है । [ संजीविनीकार ने 'सजातीयोपमयोः' पाठ ही माना है ] ।

उपप्रेक्षयोः = दो उपप्रेक्षाओं की = अर्थात् पूर्वार्ध [ के लिम्पतीय वर्षतीव' पदों ] में । यद्यपि इव दोनों का उत्तरार्ध की उपमा से ससर्ग होने पर भी यहाँ संसृष्टि ही होगी तथापि यह उदाहरण सजातीय अलंकारों की संसृष्टि बतलाने के लिए दिया गया जानना चाहिए, क्योंकि विजातीय अलंकारों की संसृष्टि का उदाहरण [ देवि क्षपा० ] दिया जा चुका है [ यद्यपि [ संजीविनीकार ने वहाँ भी 'इवेव' में उपप्रेक्षा न मानकर उपमा ही मानी है और दो सजातीय उपमाओं की संसृष्टि बतलाई है, जो 'अमान्य है' ] । यहाँ यह नहीं कहा जा सकता कि [ पूर्वार्धगत ] उपप्रेक्षाएँ [ उत्तरार्धगत ] उपमा के प्रति हेतु हैं [ जैसा कि रत्नाकरकार ने कहा है = आगे उद्धृत रत्नाकर पृ० १९७ पं० नीचे पृ०-५ ] क्योंकि तीनों ही अलंकार प्रधानभूत तमोबाहुल्य के प्रति अंग हैं [ इम अश के पाठान्तर पर आगे आ रहा इमारा विमर्श देव लेना आवश्यक है ] उभयसंसृष्टि = उभयसंसृष्टि = क्योंकि अनुप्रास और उपमा कमण्डलु शब्द तथा अर्थ के अलंकार हैं । स्वयंस्यापक = निर्णायक = क्योंकि 'मजीरशिक्षित' = नूपुररव का पैर में ही होना संभव है । प्रतिकूल = क्योंकि कमल में मजीरशिक्षित का सम्बन्ध संभव नहीं । पारिशेष्याव = अवशिष्ट होने से = अर्थात् यहाँ 'उपमा' और 'रूपक' इन दो से अतिरिक्त किसी अन्य अलंकार का होना ममव नहीं है । 'इती का उपसहार करते हुए कहते हैं—'तदेवम्'—इत्यादि । त्रिधा = तीन प्रकार की, यद्यपि इसके दो अन्य भेद भी हो सकते हैं, एक सजातीय और दूसरा विजातीय, तथापि वे पूर्वोक्त भेदों में ही अन्तर्भूत हो जाते हैं अतः [ सर्वस्वकार द्वारा किया गया ] यही उपसहार ठीक है ।

विमर्श.—अलंकाररत्नाकरकार ने संसृष्टि को अलंकार न मानना उचित बतलाया है और सर्वस्वकार के संसृष्टिसूत्र को उद्धृत कर उनके मत के निराकरण में निम्नलिखित तक दिए हैं—

[ सू. ] न संसृष्टि, पूर्वैहानात् चारुत्वामावाच्य ॥ १११ सू. ॥

सर्वैवामलकाराणामन्योन्योपसर्जनसामप्राप्तानामेकत्र ससर्ग-संसृष्टिः, यदुक्तम्—'एषां तिष्ठतण्डु-  
ह्वन्यायेन मिश्ररत्नं संसृष्टिः'—इति । सा संसृष्टिर्नालंकारान्तरम्, पूर्वैषां सर्वैवामलकाराणामाव-

प्रसंगात् । शब्दार्थालंकाराणां हि प्रायशो व्यस्तसमस्तत्वेन स्थितिः, तत्र संस्पृश्यलङ्कारत्वाभ्युपगमेऽनुप्रासोपमादीनां विषयापहारो भवेत् । ००००० अलंकारशून्यताया असंकीर्णालंकारत्वस्य चासंभवात् संस्पृशिसंकरावेव ह्रासलंकारी लक्षणोद्यतया प्राप्ती । यदि च कश्चित् अलंकारान्तरविविक्तमुदाहरणं क्रियते प्रदर्श्यते वा तत्रापि ००००० प्रविरलविषयत्वमुपमादीनां स्यात् । ०००००

किं च न संस्पृशित्वेन कश्चिच्चारुतातिशयः प्रतिभासते येनालंकारान्तरं कथ्यते । ननु मौक्तिकपञ्चरागेन्द्रनीलादीनां संसर्गे लब्धपरभागतया भासत एव चारुत्वान्तरम्, तद्वद् इहापि स्यादिति चेन्न, अनुप्रासादिना, उपमादिना तस्य वा धेन सचैतसः कस्यन्विद्य हि परमाणोऽवभासते, भिन्नजातीयत्वात् । समानजातीयानां हि अनुसूलतयाऽन्यथा वाऽनुगतशुद्धिवशेन परमाणो जायते, न तु शब्दार्थयोः, भिन्नेन्द्रियग्राह्यत्वात् । शब्दार्थालंकारसंसर्गं चारुतातिशयत्वात्सामिः संवेदानान्नेदमिति चेन्न, शृणुप्रस्थेयत्वात् ।

विमर्शनीकार ने रत्नाकर की इस उपस्थापना का प्रतिपद खण्डन और सर्वस्वकार की स्थापनाओं का समर्थन किया है ।

‘देवि क्षपा०’ तथा ‘लिम्पतीव०’ पदों में सर्वस्वकार ने संस्पृष्टि मानी है । रत्नाकरकार ने इनमें भी संकर सिद्ध करते हुए लिखा है—

‘लिम्पतीत्यादावुपमोत्प्रेक्षादीनां ०००० मौक्तिकादिवत् परस्परं शोभातिशयहेतुत्वे चाज्ञाङ्गिमावसंकर एव स्यात्, न संस्पृष्टिः । न तावदयःशलाकाकरुपा अलंकारा एकस्मिन् वाक्ये भवन्ति, दशदाडिमादिवाक्यवदसम्बन्धप्रलापितापत्तेः । सम्बन्धश्चाभ्युपगम्यमानो गुणप्रधानभावेनाभ्युपगन्तव्यः, द्वयोः प्रधानयोरप्रधानयोः संकषासंभवात् गुणप्रधानभावेन चालंकाराणां सम्बन्धेऽज्ञाङ्गिमावपस्या संकर एव स्यात् । तथा च ‘देवि क्षपा०’ इत्यत्रोपमालिङ्गितस्य चक्षुरन्मोलितस्य वाक्यार्थो-भूतस्य हेतुत्वेनोपात्तक्षपामलनोपपादकत्वेनोपनिबद्ध लोक्षालिङ्गः शशाङ्कान्तरस्याग इत्युत्प्रेक्षयोः पारम्पर्येणोपमावोपकत्वेन तदङ्गता, उपमा तु अर्थान्तराङ्गत्वागमनादपरिभ्रान्तानां वाक्यार्थतामुपयातीति संकर एव, न तु संस्पृष्टिः । एवं ‘लिम्पतीव’—इत्यादौ वत्प्रेक्षाद्वयमसत्पुरुष-सेवेव दृष्टिविफलतां गतेत्युपमाया वाक्यार्थोभूताया हेतुत्वेन गतम् इत्यङ्गत्वेन संकर एव । एवमुदाहरणान्तरेषु विवेच्यम् । परं प्रत्युपसर्जनीभूतोपस्थलंकारयोः अवान्तरसम्बन्धभावे च संकरो न संस्पृष्टिर्न चा [ न्योऽ ] लंकारः कश्चित् । ‘अन्योन्यसम्बन्ध—०००—शक्तिमद्भाव’ इति संग्रहः ।

यदि चायमलंकारः प्रधानमलंकारान्तरं प्रत्यङ्गभूतः तदाऽस्त्यैव सम्बन्धः, तदापि चादेः समुच्चयप्रतिपादकस्यानुपादानाद् अलंकारसमुच्चय आर्थो भवेत्, न तु संस्पृष्टिः ।

पाठान्तर की जो बात विमर्शनीकार ने उठाई है उसका मूल रत्नाकरकार का निम्नलिखित ग्रन्थांश है—

‘एव त्वदाननरुचे’—इत्यादौ सुस्पष्टेऽनुत्प्रेक्षाविषये वैरुपमामिहिता तेषां भवतामेवमादावत्यन्तातीन्द्रियार्थदर्शनाय केन योगीश्वरेण चक्षुरपितमिति न जानीमः । लिम्पतीत्यादावुपमोत्प्रेक्षादीनां सजातीयत्वेन युक्त [ एव ऊपर उद्धृत ] ०० ।’

पहले भी ऐसे अनेक स्थल आ चुके हैं जिनसे यह स्पष्ट है कि सर्वस्व की जो प्रतिपत्ति रत्नाकरकार तथा सर्वस्वकार की मिली थी वे पाठदृष्टि से बहुत भिन्न थीं । संजीविनीकार ने भी ‘देवि क्षपा०’ तथा ‘लिम्पतीव’ पदों की दृष्टि में ‘विजातीययोः’ के स्थान पर ‘सजातीययोः’ शब्द की ही अपनाया है । कदाचित् उन्हें प्राप्त प्रति में भी वही पाठ रहा होगा जो रत्नाकरकार की प्राप्त प्रति में रहा है । संजीविनीकार ने ‘त्वदाननरुचेव’ में उपमा बतलाई है । निश्चित ही इसमें मूल प्रति ही कारण है । रत्नाकरकार ने भी वहाँ ‘उपमा’ बतलाने वाली प्रति ही पाई थी । रत्ना-

करकार ने जो 'दिव्यचक्षुः'-की बात कहकर सर्वस्वकार पर चोट की थी उसीसे विचलित हो विमर्शिनीकार ने भी उन पर 'बोध करिष्यामी'-एवाशयेन'-इत्यादि प्रतिशेष किया । वस्तुतः उन्हें प्रति ही वैसी मिली थी । 'त्वदाननश्चेत्' में उपमा बनाने पर कोई भी विद्य व्यक्ति रत्नाकरकारके समान हो झल्लाए बिना न रहेगा ! अतः यहाँ विमर्शिनीकार ही असहिष्णु सिद्ध होते हैं ।

विमर्शिनीकार ने मनुचचवालकार का जो प्रश्न उपस्थित किया है उसकी भाषा अत्यन्त सश्लिष्ट है । निश्चिन्त ही वह रत्नाकर के निम्नलिखित अंश का सार है—

'यदि चायमलङ्कारः प्रधानमलङ्कारान्तरं प्रति अगभूतस्तदास्यैव सम्बन्धः, तदापि चादेः समुच्चयप्रतिपादकस्यानुपादानादलङ्कारसमुच्चय आर्थो भवेत् न तु संसृष्टिः ।'

[ ५० १९८, संसृष्टि प्रकरण का मन्त ] ।

संसृष्टि का इतिहास :—

संकरप्रकरण के अन्त में देखिए, क्योंकि संस्कृतकान्यशास्त्र में ये दोनों अलङ्कार पहले अभिन्न और बाद में भिन्न माने गए हैं ।

### विमर्शिनी

इदानीं संकरमवतारयति—अधुनेत्यादि ।

अब संकर की अवतरणिका रचने हैं ।

[ सर्वस्व ]

अधुना क्षीरनीरन्यायेन संकर उच्यते—

[ सू० ८६ ] क्षीरनीरन्यायेन तु संकरः ।

मिश्रत्य इत्येव । अनुत्कटभेदमिश्रत्ये संकरः । तच्च मिश्रत्वमङ्गाङ्गिभावेन, संशयेन, एकवाक्यानुप्रवेशेन च त्रिधा भवत् संकरं त्रिभेदमुत्थापयति । क्रमेण यथा—

'अङ्गुलीभिरिद्यं केशसंबन्धं संनियम्य तिमिरं मरीचिभिः ।

कुड्मलीकृतसरोजलोचनं चुम्बतीथ रजनीमुखं शशी ॥'

अत्राङ्गुलीभिरित्युपमा । सैव सरोजलोचनमित्यस्या उपमायाः प्रसाधिका । रजनीमुखमिति श्लेषमूलातिशयोक्तिः, प्रारम्भवदनाखयोर्मुखयोरप्येदातिशयात् । अत एव तयोरङ्गाङ्गिभावः । एवं च वाक्योक्तसमासोक्ते उपमे श्लेषानुगृहीता चातिशयोक्तिरुत्प्रेक्षायाः 'चुम्बतीथ' इति प्रकाशिताया अनुमाहिकाः । तद्वल्लेन तस्याः समुत्थानात् । सा च समुत्थापिता समुत्थापकानां चमत्कारितानिवन्धनमित्यस्त्यङ्गाङ्गिभावः । यथा वा—

'प्रथीमयोऽपि प्रथितो जगत्सु यद् वारुणो प्रत्यगमद् विष्वान् ।

मन्येऽस्तशैलात्पतितोऽत एव विवेश शुद्धयै घडवान्निमध्यम् ॥'

अत्र प्रथमार्थं विरोधप्रतिभोत्पत्तिहेतुः श्लेषः । दर्शान्तरे तु विरोधश्लेषौ द्वायलंकारौ तदनुगृहीता द्वितीयेऽर्धे मन्येपदप्रकाशितोत्प्रेक्षा । अतश्चाङ्गाङ्गिभावः ।

तथाह्यत्र यत् कारणमुत्प्रेक्ष्यते तत्र विरोधश्लेषानुप्रवेशः । यच्चत्र कार्यमुत्प्रेक्षानिमित्तं तत्र पतितत्वाग्निप्रवेशौ वस्तुस्थित्या अन्यथास्थिता-  
वपि अन्यथाभूताभ्यां ताभ्यामभेदेनाध्यवसितौ द्वेषौ, तेनात्राङ्गाङ्गिभाव-  
संकरः । न च विरोधप्रतिभोत्पत्तिहेतौ श्लेषे श्लेषस्य विरोधेन सहाङ्गाङ्गि-  
भावः संकरः, उत्प्रेक्षाया वा निमित्तगतातिशयोक्त्या सहायं संकरः, ताभ्यां  
विना तयोरनुत्थानात् । अतश्च निरवकाशत्वाद् बाधकत्वम् । न च मन्तव्यं  
विरोधमन्तरेणापि श्लेषो दृश्यत इति श्लेषस्य सावकाशत्वमिति । यतो न  
द्रूमो विरोधमन्तरेणापि श्लेषो न भवतीति, किं तर्ह्यलङ्कारान्तरविविक्तो  
विषयः श्लेषस्य नास्तीति निरवकाशत्वात् तेषां बाधः । तन्मध्ये च  
विरोधोऽनुप्रविष्ट इति सोऽपि तेन बाध्यत इति न कश्चिद् दोषः । एवमर्था-  
लङ्कारसंकर उक्तः ।

[ वृ० ] एक क्षीरनीर के समान [ अलङ्कारों के मिश्रण से ] होने वाला संकर [ नामक  
अलङ्कार ] बतलाया जा रहा है—

[ सू० ८६ ] तथा क्षीर नीर जैसा संकर ।

[ वृ० ] 'मिश्रत्व' यह [ पूर्वसूत्र से प्राप्त ] है ही [ सूत्र का अर्थ यह हुआ कि ] मिश्रण में यदि  
भेद स्पष्ट न हो तो [ अलङ्कार ] संकर [ कहलाता है ] । और वह मिश्रण ( १ ) अंगगिभाव  
( २ ) संशय तथा ( ३ ) एकवाचकानुप्रवेश इन तीन स्थितियों में तीन प्रकार का होकर तीन  
ही प्रकार के संकर को जन्म देता है ।

इनके उदाहरण, क्रमशः— [ अंगगिभावसंकर— ]

अंगुलियों के समान किरणों से केशपाश के समान अंधेरा बटोर कर मुद्रितकमलनेत्र वाले  
रजनीमुख को शशी चूम सा रहा है ।'

यहाँ 'अंगुलियों के समान'—यह उपमा है । वही 'कमलनेत्र'—पद में [ कमल नेत्र के समान  
इस प्रकार ] आई उपमा में साधक है । रजनीमुख में [ एक ही मुख शब्द का अर्थ आरम्भ और  
चेहरा दोनों होने से ] श्लेषमूलक अतिशयोक्ति है, क्योंकि इसमें 'आरम्भ' और 'चेहरा' इन  
दोनों मुख्य अर्थों में [ एक ही मुख शब्द से कथित होने के कारण ] अभेद सिद्ध होता है । इस  
प्रकार [ 'अंगुलियों के समान किरणों से'—इस ] वाक्यसे कथित तथा [ 'सरोजलोचन—' इस ]  
सनास से कथित दो उपमाएँ और [ 'मुख' शब्द के ] श्लेष से अनुगृहीत [ आरम्भ तथा चेहरा-  
इन दो अर्थों की ] अतिशयोक्ति 'चूम सा रहा है'—इस पद से प्रकाशित उपप्रेक्षा की अनुयाहिका  
है, क्योंकि उसकी निष्पत्ति वन्हीं के बल पर होती है । निष्पन्न होकर वह अपने निष्पादकों में  
चमत्कारकता का कारण बनती है । इस प्रकार इनमें अंगगिभाव है । दूसरा उदाहरण यथा—

'सभी लोकों में [ वेद— ] त्रयीमय होने के लिए प्रसिद्ध होते हुए भी सूर्य जो वारुणी [ पश्चिम  
दिशा तथा सुरा ] की ओर बढ़ा, मानो श्लोकिए यह अस्ताचल से गिरा और शुद्धि के लिए वह-  
वाग्नि में प्रविष्ट हो गया ।'

इस पद्य के पूर्वार्धमें [ उद्धट के मत में ] विरोध को बाधकर श्लेष अलङ्कार बनता है ।  
अन्य मत में विरोध और श्लेष दोनों ही अलङ्कार हैं । उत्तरार्ध में उत्प्रेक्षा है जो 'मानो'—शब्द से  
कथित है और उक्त अलङ्कारों से अनुगृहीत है । अतः इनमें अंगगिभाव है ।

स्पर्शोकरण के लिए यहाँ [ वेदस्वरूप होते हुए भी बाह्यगीगमनरूपी जिस कारण की उत्प्रेक्षा की जा रही है उसमें विरोध [ बाधक ] श्लेष [ अथवा विरोध और श्लेष दोनों ] का अनुप्रवेश है । और [ उसका ] जो कार्य [ बहवाग्निप्रवेश की ] उत्प्रेक्षा का निमित्त है उसमें पतितरव और अग्निप्रवेश का वास्तविक रूप भिन्न है । किन्तु वे अभिन्न रूप से अध्यवसित होकर विदिन होते हैं । इसलिए यहाँ अगाग्निमाव सकर है [ श्लेष अग है और हेतु तथा फल को उत्प्रेक्षार्थ अगो है ] । यह नहीं कहा जा सकता कि यहाँ श्लेष विरोध का निष्पादक है अतः श्लेष का विरोध के साथ अगाग्निमाव सकर है अथवा उत्प्रेक्षा का [ उसमें ] निमित्त [ पान आदि ] में रियन अतिशयोक्ति के साथ यह सकर है, क्योंकि उनके बिना वे निष्पन्न नहीं होने । और इसीलिए वे निरवकाश होकर बाधक बनते हैं । यह नहीं मानना चाहिए कि श्लेष विरोध के बिना भी दिखार देता है, इसलिए श्लेष [ निरवकाश नहीं ] सावकाश हो है, क्योंकि हम यह नहीं कहते कि श्लेष विरोध को छोड़कर नहीं होता । हमारा कहना है कि श्लेष कहीं भी अन्य किसी अलङ्कार के बिना नहीं मिलता, अतः वह निरवकाश है और उन [ अन्य अलङ्कारों ] का बाधक है और उनमें विरोध चला हो जाता है, इसलिए वह विरोधी भी उस [ श्लेष ] के द्वारा बाधित किया जाता है । इस प्रकार यहाँ कोई दोष नहीं आता इस प्रकार अर्थात्कारों का सकर उदाहरणों द्वारा समझाया गया ।

### विमर्शिनी

तदेवाह—शीरेत्यादि । तदिति । यथोक्तस्यम् । त्रिभेदमिति । अङ्गाङ्गिमावादिना । प्रसाधिकेति । आनुगुण्यकारित्वेनाङ्गमिष्यर्थः । श्लेषमूलेति । श्लेषहेतुकेष्यर्थः । अत्र च न यथाङ्गाङ्गितया संकरस्तथा पूर्वमेवोक्तम् । अत एवोपमाह्वयापेक्षयैव तयोरङ्गाङ्गिमाव ह्ययुपसंहारः । श्लेषानुगृहीतेति । श्लेषमन्तरेणास्या अनुस्थानात् । तद्वलेनेति । तेषामुपमादीनां बलेनोपकारकत्वेनेष्यर्थः । समुस्थानादिति । उपकार्यत्वेन । उदाहरणान्तरोपादानं तावद् व्याप्तिप्रदर्शनपरम् । श्लेष इति । अङ्गाङ्गानामिति श्लेषः । दावलंकाराविति । हेतुहेतुमद्भावविषयः । श्लेषमन्तरेण विरोधस्यानुस्थानात् । तदनुगृहीतेति । श्लेषमूलविरोधोपकृत्येष्यर्थः । अङ्गाङ्गिभावमेव विमर्शति—तथा हीत्यादिना । कार्यमिति । पतितरवाग्निप्रवेशश्लेषणम् । पतितरवाग्निप्रवेशानुगुण्येन प्रसङ्गादिहोक्तम् । तेनेति । उत्प्रेक्षाविरोधोपकृतत्वेन । ननु विरोधोत्प्रेक्षयोर्द्वन्द्वङ्गाङ्गिभावेन संकरस्तद्वदतिशयोक्त्यापि सह तस्या विरोधश्लेषयोश्च किं संकर उत नेत्याशङ्क्याह—न चेत्यादि । एतच्चोद्भटमनानुपारश्लेषस्य प्राधान्याभिप्रायेणोक्तम् । स्वपचाभिप्रायेण तु विरोधस्याप्येतदेव दृष्टव्यम् । अत्र च यथा न सकरालंकारस्तथा पूर्वमेवोपपादितम् । अत्र इभयथाप्येक एवालंकारः । न चैकस्य संकरो युक्तः । तस्य द्विप्रभृतीनामलंकाराणां मिश्रत्वे समवायः । अत्रचेति । विरोधगुणीभावेन श्लेषस्यैव समुस्थानात् । यत्तु प्रत्यङ्गता स्वमताश्रयेणेतदपि नोक्तम्, तत्रायमाशयः—‘यावता हि यत्रालंकारान्तरस्वरूपनिष्पादने हेतुत्वं भजते तत्र नायमलंकार इति प्रतिपाद्यम्, तत्संबन्धमपि सिद्धयती’-ति तन्मतेनाप्येतत्साधने चिरन्तनाभ्युपगतावाभ्यनुष्ठानात्मप्रयोजनम् । तन्मध्य इति । श्लेषाद्व्यतिरिक्तानामभ्येवामलंकाराणां मध्य ह्येष्यर्थः । दोष इति । सावकाशत्वात्तत्त्वरूपः ।

यही बतलाने है—‘शीरो’ इत्यादि । तद् = जिसका स्वरूप बतलाया जा चुका है । त्रिभेदम् = तीन भेदों से युक्त संकर अर्थात् अगाग्निमाव आदि से । श्लेषमूल = श्लेष हेतुक । यहाँ अगाग्निमाव मूलक संकर जिस प्रकार नहीं है वह [ संयुक्ति प्रकरण में ‘बदनसौरभ’ पद्य की व्याख्या के समय बतलाया ही जा चुका है । अतः यहाँ दोनों उपमाओं के ही परस्पर अगाग्निमाव की

लेकर 'तयोर्गामिभावः' यह उपसंहार किया गया माना जाना चाहिए। श्लेषानुगृहीत = श्लेष के बिना इसकी निष्पत्ति न होने से। तद्बलेन = उनके बल से = उन उपमा आदि के बल से अर्थात् उपकारकत्व से। समुत्थान = अर्थात् उपकार्य रूप से। दूसरा जो उदाहरण दिया गया है वह व्यापकता बतलाने के लिए। श्लेष = अर्थात् उद्भूतपन्थियों के मत में। हाचलंकारौ = दो अलंकार अर्थात् हेतुहेतुमदरूप, क्योंकि विरोध श्लेष के दिन बनता ही नहीं। तदनुगृहीता = उसते अनुगृहीत अर्थात् श्लेषमूलक विरोध से उपकृत। अंगंगिभाव का ही विभाग करते हुए लिखते हैं—'तथा हि' इत्यादि। कार्यम् = कार्य = पतितत्व रूप और अग्निप्रवेश रूप। यह तो प्रसंगवशात् यहाँ कह दिया गया, क्योंकि यह उत्प्रेक्षा के अनुकूल है। तेन = उत्प्रेक्षाविरोध से उपकृत होने से शंका होती है कि—'जिस प्रकार विरोध और उत्प्रेक्षा में अंगंगिभावमूलक संकर है उसी प्रकार उस [ उत्प्रेक्षा ] का अतिशयोक्ति के साथ तथा विरोध और श्लेष का भी संकर होगा अथवा नहीं—'इस पर उत्तर देते हैं—न च इत्यादि। यह सब उद्भूत के मत के अनुसार श्लेष को प्रधान मानकर कहा। अपने पक्ष के अनुसार तो विरोध में भी यही [ प्रधानत्व ] मानना चाहिए। और यहाँ संकरालंकार जिस प्रकार यहाँ होता है वह पहले [ संसृष्टि प्रकरण में 'वदनसौरभ'-पद्य की विमर्शिनी में ] ही सिद्ध कर दिया है। यहाँ दोनों ही प्रकार से अलंकार एक ही रहता है। एक में संकर होता नहीं, क्योंकि वह तो दो तीन आदि अलंकारों के मिश्रण में संपन्न होता है। अतश्च अर्थात् विरोध को अप्रधान बनाकर श्लेष का ही प्रधान रूप से उद्योग होने से। अन्यकार ने इस विषय पर भी अपना मत नहीं अपनाया इसका आशय यह है उनका तो प्रतिपाद्य यही है कि जहाँ कहीं कोई अलंकार किसी अन्य अलंकार की निष्पत्ति में हेतु बनता है वहाँ वह [ संकर ] अलंकार नहीं होता। और यह इस प्रकार भी सिद्ध हो जाता है। इसका प्रयोजन है उनके मत से भी [ अपनी ] इस [ मान्यता ] की सिद्धि करना। यह प्रयोजन सिद्ध करता है कि अन्यकार यह बतलाना चाहता है कि प्राचीन आलंकारिकों को भी संकर का अलंकारत्व मान्य था। तन्मग्धा = एव = उन्हीं के बीच = अर्थात् श्लेष से भिन्न अन्य अलंकारों के बीच। द्योप = सावकाशत्व की जो आपत्ति तद्रूपी दीप।

[ सर्वस्व ]

शब्दालंकारसंकरस्तु कैश्चिदुदाहृतो यथा—

'राजति तटीयमभिहतदानवरासातिपातिसारावनदा ।

राजता च यूथमविरतदानवरा सातिपाति सारा वनदा ॥'

अत्र यमकानुलोमप्रतिलोमयोः शब्दालंकारयोः परस्परापेक्षत्वेनाङ्गि-  
भावसंकर इति। पतच्च न सम्यगावर्जकम्। शब्दालंकारयोः शब्दबहुपकार्यो-  
पकारकत्वाभावेनाङ्गिभावाभावात्। शब्दालंकारसंसृष्टिस्त्वत्र श्रेयसी।  
यथोदाहृतं पूर्वम्। यद्वा अत्र शब्दालंकारद्वयमेकवाचकानुप्रविष्टमिति तृतीयः  
संकरो ज्ञेयः। एवमेकः प्रकारो दर्शितः।

शब्दालंकारों के संकर का उदाहरण किन्हीं आचार्यों [ भम्भट ] ने यह दिया है—'राजति तटीय' इत्यादि। [ इसका अर्थ यह है— ]

हे दानवों का रास समाप्त कर देने वाले भगवान् शिव ! मन्दराचल की यह उपत्यका सुदानवी लग रही है। इस पर वेगपूर्वक गिर रहे नदों का धर्षण नाद छाया हुआ है। और अविरत मद-

अल से सुन्दर बलवती तथा वनों का विनाश करने वाली गजपंक्ति भी अपने युध का रक्षण मलीमंति कर रही है [ इरविजय ५।२१७ ] ।

[ उन आचार्य का कहना है कि ] 'इस पद्य में [ 'दानवरा—नदा'—पद की पूर्वार्ध तथा उत्तरार्ध दोनों में समान आनुपूर्वी में आवृत्ति होने तथा उनके अर्थ में अन्तर होने से पादान्तर ] यमक है तथा [ 'दानवरा—नदा' = पद को उल्टा पढ़ने पर भी वर्णक्रम के बैसे ही बने रहने के कारण जैसा वह सीधा पढ़ने पर रहता है ] यहाँ अनुलोमप्रतिलोम नामक चित्रालंकार भी है । ये दोनों शब्द के अलंकार हैं और परस्पर में एक दूसरे के प्रति सापेक्ष हैं । इसलिए यहाँ अगाधिभावमूलक संकरालंकार है । किन्तु यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि शब्दालंकारों में शब्द के समान परस्पर में उदाहरणोपकारकभाव नहीं होता । फलतः उनमें अगाधिभाव भी नहीं बनता । यहाँ मानना अधिक उपयुक्त है शब्दालंकारों की ससृष्टि । जिसका उदाहरण पहले दिया जा चुका है । अथवा यहाँ दो शब्दालंकार एक ही वाचकशब्द [ दानवरा० ] इत्यादि ] में आ गए हैं अतः तीसरा [ एक वाचकानुप्रवेश ] स्वर जानना चाहिए । इस प्रकार स्वर का एक प्रकार बतला दिया गया ।

### विमर्शिनी

कैश्चिदिति । काव्यप्रकाशकारादिभिः । उदाहनमिति । कुसुमसौरभोग्यादिना । यदेति । पद्यान्तरे । एकवाचकेति । य एव शब्दा यमकस्य वाचकास्त एव विप्रश्वेति ।

कैश्चिच्च—कुछ आचार्यों द्वारा = काव्यप्रकाशकार आदि द्वारा [ काव्यप्रकाश में मम्मट ने इस पद्य को उद्धृत कर लिखा है—'अत्र यमकम् अनुलोमप्रतिलोमश्च चित्रभेदः पदद्वयगते परस्परापेक्षे' ] उदाहृतम्=उदाहरण दिया जा चुका है—'कुसुमसौरभ०' इत्यादि पद्य द्वारा । यद्वा = अन्य पद्य प्रस्तुत करने हेतु कथित अव्यय । एकवाचकः=जो शब्द यमक के वाचक है वे ही चित्र के भी ।

### [ सर्वस्व ]

द्वितीयः प्रकारस्तु संदेहसंकराख्यः । यत्रान्यतरपरिग्रहे साधकं प्रमाणं नास्ति याधकं वा प्रमाणं न विद्यते तत्र न्यायप्राप्तः संशय इति संदेहसंकरस्तत्र विज्ञेयः । यथा—

'यः कौमारद्वरः स एव हि घरस्ता एव चैत्रक्षपा-

स्ते चोन्मीलितमालतीसुरभयः प्रौढाः कदम्बानिलाः ।

सा चैवास्मि तथापि चौर्यसुरतव्यापारलीलाविधौ

रेवारोपसि घेतसीतहतले चेतः समुत्कण्ठते ॥'

अत्र विमायनाविशेषोक्तयोः संदेहसंकरः । तथाद्युत्कण्ठाकारणामावे उत्कण्ठाया उत्पत्तौ विमायना । स च कारणामावो 'यः कौमारद्वरः' इत्यादिना कारणविरुद्धमुखेन प्रतिपादितः । तथा च 'य कौमारद्वरः' इत्याद्यनुत्कण्ठाकारणसद्भावेऽपि अनुत्कण्ठाया अनुत्पत्तौ विशेषोक्तिः । सा चानुत्पत्तिः 'समुत्कण्ठने' इति विरोधोत्पत्तिमुखेनोक्ता । अत एव द्वयोरप्यस्फुटत्वमन्यत्रोक्तम् । न चानयोः प्रत्येकं साधकमायकप्रमाणयोग इति संदेहसंकरोऽयम् । यथा वा—

'यद्वक्त्रचन्द्रे नवयौवनेन श्मश्रुच्छलादुल्लिखितश्चकास्ति ।

उद्दामरामाहवमानमुद्राविद्रायणो मन्त्र इव स्मरस्थ ॥'

अत्र वक्त्रं चन्द्र इवेति किमुपमा, उत वक्त्रमेव चन्द्र इति रूपकमिति संशयः । उभयथापि समासस्य भावात् । 'उपमितं व्याघ्रादिभिः' इत्युपमासमासः, व्याघ्रादीनामाकृतिगणत्वात् । मयूरव्यंसकादित्वाद् रूपकसमासः, मयूरव्यंसकादीनामाकृतिगणत्वात् । न चात्र क्वचित्साधकवाधकप्रमाणसद्भाव इति संदेहसंकरः ।

[ संकर का ] दूसरा प्रकार है संदेहसंकर नामक, जिसमें न तो किसी एक को अपनाते में साधक प्रमाण मिलता और न वाधक ही रहता, वह संशय स्वतः सिद्ध है, इसलिये उसे संदेहसंकर मानना चाहिये । उदाहरण यथा [ पूर्वानूदित ] 'यः कौमारहरः' पद्य [ का अर्थ ] । यहाँ विभावना और विशेषोक्ति का संदेहसंकर है । यह इस प्रकार कि उत्कण्ठा के कारण [अननुभूतत्व] को न रहने पर भी यहाँ उत्कण्ठा की उत्पत्ति बतलाई जा रही है, अतः विभावना हुई । यह जो कारणाभाव है वह 'यः कौमारहरः' इत्यादि द्वारा कारण के विरुद्ध जो पदार्थ उसके कथन के द्वारा प्रतिपादित किया गया है । इसी प्रकार 'यः कौमारहरः' इत्यादि पदार्थ कारण है अनुत्कण्ठा के, किन्तु उन सबके रहने पर भी अनुत्कण्ठा की उत्पत्ति नहीं हो रही, अतः यहाँ विशेषोक्ति है । यह जो अनुत्पत्ति है यह भी 'समुत्कण्ठते' = 'उत्कण्ठित हो रहा है' इस प्रकार विरोधी [ उत्कण्ठा ] की उत्पत्ति द्वारा कही गई है । इसलिये यहाँ दोनों ही अस्फुट हैं ऐसा अन्यत्र [ काव्यप्रकाश में ] कहा गया है । इनमें से किसी के भी प्रति न कोई साधक प्रमाण है और न कोई वाधक । अतः यह संदेह संकर हुआ । दूसरा उदाहरण यथा—

'जिसके मुखचन्द्र में दाढ़ी मूल के बहाने नवीन यौवन ने उद्दाम रामाओं के हृदय मान की मुद्रा का विद्रावण [ विनाश ] करने वाला काम का मन्त्र सा लिखित दिखाई देता है ।'

यहाँ 'मुख चन्द्र के समान इस प्रकार उपमा मानी जाय या 'मुख ही चन्द्र' इस प्रकार रूपक माना जाय यह संदेह है । क्योंकि यहाँ समास दोनों ही प्रकार का हो सकता है । 'उपमितं व्याघ्रादिभिः' [ पा० सू० ] से उपमासमास हो सकता है क्योंकि व्याघ्रादि आकृतिगण है । रूपकसमास हो सकता है मयूरव्यंसकादि से क्योंकि मयूरव्यंसकादि भी आकृतिगण हैं । यहाँ किसी का साधक या वाधक प्रमाण भी नहीं है । इसलिये संदेहसंकर ही है ।

### विमर्शिनी

द्वितीय इत्यङ्गाङ्गिभावात् । साधकमिति । अनुकूलम् । न्यायप्राप्त इति । साधकवाधकप्रमाणाभावादेकस्यानिश्चयात् । संदेहमेवोपपादयति—तथाहीत्यादिना । उत्कण्ठाकारणाभाव इति । कौमारहरवराहसंनिधानरूपस्य कारणस्याभाव इत्यर्थः । विरुद्धमुखेनेति । तरसंनिधानद्वारेणेत्यर्थः । अत एवेति । द्वयोरपि विरुद्धमुखेनोपनिबन्धात् । अन्यत्रेति । काव्यप्रकाशादौ । उभयथेति । उपमारूपकत्वेनेत्यर्थः । चन्द्रशब्दस्याकृतिगणत्वाद्गणद्वयेनापि हि स्वीकृतत्वमिति भावः । क्वचिदिति । उपमायां रूपके वा ।

न चैतदलंकारसारकारादीनां मतम्, अलंकाराणां संदेहायोगात् । तथाहि स्याणुव पुरुषो वेति संदेहः कस्यचिदेव कदाचिद्भवति, न तु सर्वदैव सर्वेषाम्, संनिष्कृष्टानां तदैव, अनन्तरं त्वन्येषामपि निश्चयोत्पादनात् । सर्वदा सर्वत्र सर्वान्प्रति चालंकारलक्षणं प्रणयनम् । तथाप्ये च संदेहोऽयुक्तः, तस्य नियतदेशकालप्रमातृगतत्वात् । संदेहोऽपि पर्यवसानेऽवश्यमेकतरपक्षाश्रयणम्, उत्तरकालं वाधकप्रत्ययोक्तासात् । इह च संदेहोऽ-



प्युत्तरकालं यद्येकतरालंकाराश्रयणं तस्य पुरालंकारः स्यात्, तस्यैव वाक्यार्थात्वेन प्ररोहात् । वाक्यार्थोभाव एव स्वलंकाराणां स्वरूपप्रतिष्ठापकं प्रमाणम् । न चोभयोरपि वाक्यार्थोभावो, विप्रतिषेधात् । संदिग्धश्च वाक्यार्थो दोष इत्यविवादः । न च लक्ष्येऽपि तथामावः, तथा ह्याद्योदाहरणे विभावनाया एव निश्चयः । विरुद्धमुखेनोक्तकण्ठाकारणाभावेऽपि प्रतिपन्ने 'तथापि चेतः सम्प्रकण्ठते' इत्याहुः कण्ठोदयस्यैव कार्यस्य वाक्यार्थात्वेन प्ररोहात् । अत एवानुक्तकण्ठोपत्तिरिविचक्षितेति विशेषोक्तेर्बाध इति विभावनाया एव वाक्यार्थोभावः । उत्तरोदाहरणे रूपकस्यैव निश्चयः । यतोऽप्यान्यप्रयोजनघोर्द्ध्वोः समासयोरेकत्र युगपत्प्राप्तेः शुभबलवाद्भिप्रतिषेधः । ततश्च 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' इति परत्वाद्गुणकसमासप्रवृत्तिः । एतदेव रूपकस्य साधने प्रमाणम् । अत एवात्र यदन्यैः 'अबाधेन गतौ समवन्त्यां बाधगतिरप्रामाणिकी' इति न्यायाल्लक्षणरामकरूपकममासबाधकतथाश्रयामने उपमासमासस्य प्रवृत्तिरित्युपमायाः साधकप्रमाणसद्भावोऽस्तीत्युक्तम्, तत्र्युक्तम् । भवन्मते च समासार्ता प्रायशो लक्षणपरत्वादुपमासमासस्यापि लक्षणरामकावमित्यबाधेन गतेरसंभवादुपमाया अपि नास्ति बाधकप्रमाणसद्भावः । अयोपमायां लक्षणा, रूपकं तु लक्षितलक्षणेति न द्वयोः पद्योस्तुत्यायमिति चेत्, नैतत् । पूर्वमप्यबाधेन गतेरसमवस्य तादवस्थात् । अयं हि बाधगतेरेव प्रतीयते, तत्र तत्समास एव कार्यं इत्याह—यत्र तत्रायादि ।

द्वितीय = अर्गागिमाव के बाद आने वाला उसने भिन्न । साधक = अनुकूल । न्यायप्राप्त = क्योंकि साधक या बाधक दोनों में से किन्हीं में प्रमाण के न रहने से किसी एक का निश्चय नहीं रहता । संदेह का ही और प्रतिपादन करते हैं—तथाहि = इत्यादि द्वारा । उरकण्ठाकारणाभाव = अर्थात् कौमारशरीर वर आदि के असन्निधानरूपी कारण का अभाव । विरुद्धमुखेव = विरुद्ध पदार्थ के कथन के द्वारा = उन [ कौमारशरीर वरादि ] के सन्निधान के कथन के द्वारा । अतएव = क्योंकि दोनों की ही योबना विरुद्ध पदार्थ के कथन के द्वारा की गई है इसलिए । अन्यत्र = काव्यप्रकाश आदि में [ काव्यप्रकाश के टीकाकार वामन शल्लोकरने इसका टिप्पणी द्वारा खण्डन किया है जो असंगत है ] । उभयथा = दोनों ही प्रकार से = उपमारूप से और रूपक रूप से भी । अयं वह किं चन्द्रशब्द आकृतिगण में चला आता है अतः [ व्याघ्रादि तथा मयूरसंज्ञादि दोनों गणों द्वारा उसका समर्थ किया जा सकता है ।

—कश्चिद् = कहीं = उपमा में या रूपक में ।

[ सकर का ] यह [ भेद ] अलंकारसार आदि को मान्य नहीं है । उनका कहना है [ जैसा कि रत्नाकरकार ने लिखा है—८० सकर प्रकरण ] कि अलंकारों में संदेह बन नहीं सकता । संदेह जो है वह 'यह स्थाणु [ ठूँठ ] है या बादमी' इस प्रकार का होता है और किसी को ही कभी ही होता है, सभी को सदा नहीं, क्योंकि पास के व्यक्तियों को उसी समय और अन्य व्यक्तियों को बाद में [ यह क्या है ऐसा ] निश्चयारमक शान हो जाता है । हमके विरुद्ध अलंकार का जो लक्षण है वह प्रत्येक समय, प्रत्येक स्थान तथा प्रत्येक व्यक्ति के लिए बनाया जाता है । ऐसी स्थिति में [ उन अलंकारों में ] संदेह हो नहीं सकता, क्योंकि वह [ संदेह ] किसी निश्चित ही देश, निश्चित ही समय तथा निश्चित ही व्यक्ति में रहता है । इसके अतिरिक्त संदेह में भी अन्त में किसी एक पक्ष का आशय लेना ही होता है क्योंकि उत्तर काल में बाधक शान हो जाता है । इस प्रकार यहाँ [ अलंकारों में ] यदि संदेह ही भी तो यहाँ उत्तर काल में जिस अलंकार का निश्चय होगा वही प्रधान अलंकार बन जाएगा, क्योंकि वही वाक्यार्थरूप से विदित होगा । और वाक्यार्थत्व ही वह तत्त्व है जो अलंकारों के स्वरूप का निर्धारक प्रमाण है । यह कहा नहीं जा

सकता कि [ संदेह में ] वाक्यार्थत्व दोनों में ही रहता है क्योंकि यह परस्पर में विरुद्ध बात है । और वाक्यार्थ का संदिग्ध होना दोष माना जाता है । इस प्रकार संदेह का विवाद उठता ही नहीं है । उदाहरणों में भी ऐसी स्थिति नहीं है, क्योंकि [ 'यः कौमारहरः'—इस ] प्रथम उदाहरण में विभावना का ही निश्चय होता है क्योंकि उत्कण्ठा के कारण का अभाव उसके विरुद्ध पदार्थ के [ कथन के ] द्वारा विदित होने पर भी 'तव भी चित्त उत्कण्ठित ही हो रहा है' यह जो उत्कण्ठा-रूपीकार्य का उदय है, अन्त में यही वाक्यार्थरूप से प्रकट होता है । और इसीलिए 'अनुत्कण्ठा की उत्पत्ति' यहाँ प्रतिपाद्य ही नहीं है अतः विशेषोक्ति बाधित हो जाती है, फलतः केवल विभावना ही प्रधान रूप से प्रतीत होती है । दूसरे उदाहरण [ 'त्वद्वक्त्रचन्द्रे० ] में रूपक ही निश्चित होता है । क्योंकि यहाँ दोनों ही समास अन्यप्रयोजनक हैं और दोनों ही एक ही स्थान पर एक साथ उपस्थित हैं । फलतः दोनों समान बलवाले हैं । अतः [ यही व्याकरणशास्त्र की भाषा में ] उनका विप्रतिपेध हुआ । और विप्रतिपेध में [ तुल्यबलवाले नियमों की एक साथ एकत्र जहाँ प्राप्ति हो वहाँ ] परवर्ती नियम को मानना चाहिए' इस नियम के अनुसार रूपक समास ही यहाँ हो पाता है, क्योंकि वही परवर्ती है [ अर्थात् वसीका प्रतिपादक मयूरव्यंसकादि० सूत्र परवर्ती है ] यही यहाँ रूपक के प्रति साधक प्रमाण है । इसलिए यहाँ किसी ने जो 'विना बाध के कार्य संभव हो तो बाधयुक्त क्रम अपनाना अमान्य होता है'—इस नियम के अनुसार लक्षण—स्वरूप रूपक समास का बाध करके यहाँ आश्रयस्वरूप उपमित समास ही प्रवृत्त होता है, अतः यहाँ उपमा का ही साधक प्रमाण है' यह कदा था वह गलत था क्योंकि आपके मत में समास प्रायः लक्षणपरक होते हैं, अतः उपमित समास भी लक्षणपरक ही सिद्ध होता है अतः उसका बाध नहीं होता फलतः उपमा के प्रति भी यहाँ कोई बाधक प्रमाण उपस्थित नहीं है । यदि कहें कि उपमा में केवल लक्षणा होती है और रूपक में लक्षितलक्षणा, इसलिए दोनों पक्ष समान नहीं हैं । [ अतः विप्रतिपेध का प्रश्न नहीं उठता ] तो यह भी ठीक नहीं; क्योंकि ऐसा मानने पर भी पूर्ववत् विना बाध के काम चलना संभव नहीं होगा । क्योंकि यह [ उपमित समास ] तो बाधपूर्ण क्रम से ही प्रतीत होता है अतः वहाँ [ त्वद्वक्त्रचन्द्रे में ] वही [ रूपक समास ही ] मानना चाहिए । [ सर्वस्वकार ] यही कहते हुए लिखते हैं—

[ सर्वस्व ]

यत्र तु कस्यचित्परिग्रहे साधकं बाधकं वा प्रमाणं विशते, तत्र नियतपरिग्रहः । तत्रानुकूल्यं साधकम्, प्रातिकूल्यं बाधकम् । तत्र साधकं यथा—

'प्रसरद्विन्दुनादाय शुद्धामृतमयात्मने ।  
नमोऽनन्तप्रकाशाय शंकरक्षीरसिन्धवे ॥'

अत्र शंकर पत्र क्षीरसिन्धुरिति रूपकस्यामृतमयत्वं साधकम् । तस्य शंकरापेक्षया क्षीरसिन्धावनुकूलत्वात् । उपमायास्तु न बाधकम् । शंकरेऽपि तस्योपचरितस्य संभवात् । यथा वा—

'पतान्यवन्तीश्वरपारिजातजातानि तारापत्तिपाण्डुराणि ।  
संग्रत्यहं पश्यत दिग्बधूनां यशःप्रसूनान्यवतंसयामि ॥'

अप्रावतंसनं प्रसूनैश्चनुगुणमिति रूपकपरिग्रहेण साधकं प्रमाणम् ।  
याधकं यथा—

‘शरदीव प्रसर्पन्त्यां तस्य कोदण्डटंकृतौ ।

विनिद्रजृम्भितहरिविन्ध्योदधिरजायत ॥’

अत्र विन्ध्य उदधिरिवेत्युपमापरिग्रहे विनिद्रजृम्भितहरिरिति साधारणं विशेषणं याधकं प्रमाणम् । ‘उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे’ ( पा० सू० ) इति घचनादुपमासमासे प्रतिकूलत्वात् । यतश्च पारिशेष्याद् रूपकपरिग्रहः । न तु शरदीवेत्युपमाशोपमासाधकत्वेन विज्ञेया । न ह्यौपम्येन कदाचिदर्थसिद्धिः । [ नहि चापेण पंचाशत्सिद्धिः । ] नह्येकेनालंकारेणोपक्रान्तेन निर्वाहः कर्तव्य इति राजाज्ञेया । नापि धर्मसूत्रकारवचनम् । नाप्येव न्यायः । उत्तरोत्तरसाम्यप्रकर्षविचक्षणे प्रकाशतोपमापरित्यागेन रूपकनिर्वाहस्योचितत्वात् । विपर्ययस्तु दुष्ट एव । यथा - ‘यिनेन्दुर्दहनो विपं मलयजं द्वारः कुठारायते’ इति । तस्मात् प्रकृते सामान्यप्रयोग उपमापरिग्रहे याधक इति भयूरुष्यंसकादेराकृतिगणत्वाद् रूपकसमासाध्येण रूपकमेव योद्धव्यम् । एवं ‘भाष्याब्धिः फ्यातिगम्भीरः’ इत्यादौ द्रष्टव्यम् । साधक-याधकाभावे तु संदेहसंकरः । यथोदाहृतम् ।

किन्तु यहाँ किसी एक [ अलंकार ] को अपनाने में साधक या बाधक प्रमाण रहता है वहाँ एक किसी को अपना लिया जाता है । यहाँ साधक का अर्थ है आनुकूल्य और बाधक का प्रातिकूल्य । इनमें से साधक यथा—

‘जिसमें बिन्दु और नाद का प्रसार हो रहा है जिसका स्वरूप शुद्ध अमृतमय है और जो अनन्त प्रकाशमय है वैसे शिवक्षीरसागर को प्रणाम है ।’

यहाँ ‘शिव ही क्षीरसागर’—इस प्रकार के रूपक के प्रति ‘अमृतमयता’ साधक है । क्योंकि उसकी स्थिति शिव को अपेक्षा क्षीरसागर में ही [ प्रसिद्धिवशात् ] अनुकूल है, किन्तु वह उपमा का बाधक नहीं है, क्योंकि लक्षणा द्वारा उसका अस्तित्व शिव में भी माना जा सकता है । दूसरा उदाहरण, यथा—

‘मैं, अवन्निराज पारिजात से सपन्न, चन्द्रगौर, यशप्रसूनो को, देखो, दिग्बनिताओं का अवर्तल बनाए देता हूँ ।’ नवसाहस्रिकाचरित १।२६ ] ।

यहाँ अवर्तल बनाना प्रसूनो में ही उचित पड़ता है इसलिए रूपक मानने में यह प्रमाण साधक प्रमाण हुआ ।

बाधक प्रमाण का उदाहरण, यथा—

‘उमके शत्रुष की टकार जब शरद वैममान फैलने लगी तो विन्ध्योदधि हरि [विष्णु और सिद्ध] की नींद टूट गई । वे जँभाइयाँ लेने लगे ।’ [ नवसाहस्रिकाचरित २।२६ ] ।

यहाँ ‘विन्ध्य उदधि के समान’ इस प्रकार उपमा मानने में ‘विनिद्रजृम्भित हरि’ यह उमय साधारण विशेषण बाधक है क्योंकि वह ‘साधारण धर्म’ का प्रयोग न हो तो उपमित बाधक पद से समाप्त होता है—इस नियम के अनुसार प्रतिकूल है । इस कारण वचे हुए रूपक को ही अपना लेना पड़ता है । यहाँ जो ‘शरद के समान’ यह उपमा है वह उपमा के प्रति साधक नहीं

मानना चाहिए। ऐसा भोड़े ही है कि केवल साम्यमात्र से किसी वस्तु की सिद्धि हो जाए [चाप चाश की उच्चारणसमता मात्र से] चाप से पंचाशत् की सिद्धि नहीं होती। 'जो कोई अलंकार आरम्भ में दिया हो उपसंहार भी उसी से किया जाए' ऐसी कोई न तो राजाशा है और न धर्मसूत्रकारों का वचन। न तो यह उचित ही है। यहाँ साम्य में उत्तरोत्तर उत्कर्ष की विवक्षा है अतः यहाँ आरम्भ में आर्ष उपमा को छोड़ रूपक को अपनाना ही उचित है। विपरीत क्रम सद्बोध ही होगा। उदाहरणार्थ—'भिससे चन्द्रमा अग्नि है चन्दन विप है और हार कुठार सा लगता है' यह त्यल [लें] यहाँ रूपक से आरम्भ कर अन्त उपमा से किया गया है, जो साम्योत्कर्षविवक्षा के विपरीत है। इसलिये प्रकृत [ 'शरदोव'० पद्य ] में सामान्य-धर्मवाचक शब्द का प्रयोग उपमा में बाधक है अतः मद्बूरव्यसंकादिगण के आकृतिगण होने से रूपक समाप्त मानते हुए रूपक [ को ] ही [ अलंकार ] जानना चाहिए। इसी प्रकार 'कहाँ अतिगम्भीर भाष्याब्धि' इत्यादि में समझना चाहिए। [ यहाँ भी गंभीरता रूपी सामान्यधर्म का वाचक 'अतिगम्भीर' शब्द है, अतः रूपकसमाप्त ही प्राज्ञ है ]।

[ जहाँ ] साधक और बाधक [ दोनों ही ] प्रमाण न हों [ वहाँ संकर ] संदेहसंकर होता है, जैसा कि [ यः कोमारहरः ] उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा चुका है।

### विमर्शिनी

एतदेव दर्शयति—तत्रेत्यादिना। न बाधकमिति। न पुनः साधकमपीत्यर्थः। बाधकत्वाभावमात्रेण साधकत्वानुपपत्तेः। तथात्वे ह्यत्रापि संदेहसंकरः स्वादिति भावः। यथा वेति। पूर्वत्र शंकरेऽप्युपचरितस्यामृतमयत्वस्य संभवात्संदेहभ्रमः कस्यचित्स्यादित्यस्योदाहरणस्य पुनरुपादानम्। साधारणमिति। सामान्यप्रयोगे हि विन्ध्य उदधिरेवैत्यसमाप्त एव स्यात्, यथा—'पुच्छोऽयं व्याघ्र इव शूर' इति। अतश्चेति। उपमाया बाधकप्रमाणसंभवात्प्रवृत्तेः। पारिशेष्यादिति। न पुनः साधकप्रमाणसंभवादित्यर्थः। उचितत्वादिति। रूपनिर्वाहेण साम्यस्याधिक्येन प्रवृत्तिः। विपर्यय इति। रूपकोपक्रमेणोपमानिर्वाहः दुष्ट इति साम्यस्य लाघवेन प्रतीतेः। 'स्वेच्छाचारिणि यत्पुरा प्रियसखीवाचस्त्वथा नादता यत्कल्याणपराङ्मुखि प्रियतमः पादानतो नेक्षितः। तस्येदं हरिणाधि दुर्नयतरोरथापि बालं फलम्' इति चास्य पादत्रयी। एवं चाधिकप्रकर्षालंकारोपक्रमेण तत्प्रकर्षालंकारैर्निर्वाहो न कार्य इत्यव्ययेन सर्वालंकारशेषत्वेनोक्तम्। प्रकृत इति। शरदीवेत्यादौ। द्रष्टव्यमिति। उपमाया बाधकत्वम्, अतिगम्भीरत्वस्य सामान्यस्य हि प्रयोगे उपमासमाप्ते बाधक इति रूपकपरिग्रह एव युक्तः। उदाहृतमिति। 'यः कोमारहरः' इत्यादिना।

इत्तिकी दिखलते हुए लिखते हैं—तत्र इत्यादि। न बाधकम् = बाधक नहीं, अर्थात् साधक भी नहीं। क्योंकि केवल बाधकत्व के अभाव से साधकत्व सिद्ध नहीं होता। ऐसा होने पर यहाँ भी संदेहसंकर होता। यथावा—प्रथम उदाहरण में शंकर में औपचारिक अमृतमयत्व का रहना संभव है अतः वह किसी को संदेहसंकर का भ्रम हो सकता है, इसलिये इसका उदाहरण पुनः दिया। साधारणम् = साधारणधर्म का प्रयोग करने पर [ यदि उपमा की विवक्षा रहती तो ] 'विन्ध्य उदधि के समान इस प्रकार समाप्तहित वाक्य ही बोला जाता, जैसे—'यह पुरुष व्याघ्र के समान शूर है' यह वाक्य। अतश्च = और इसलिये—अर्थात् बाधक प्रमाण के रहने से उपमा की प्रवृत्ति न होने से। पारिशेष्यात् = शेष बचने से = न कि साधकप्रमाण के सङ्काव से। उचितत्वात् = उचित होने से = रूपक से वाक्यसमाप्ति करने पर साम्य की प्रवृत्ति अधिक मात्रा में होती है इस

कारण । विपर्यय = विपरीत क्रम में = रूपक से आरम्भ कर उपमा से वाक्य समाप्त करना ।  
दुष्ट = सदोष क्योंकि उसमें साम्य की प्रतीति कम मात्रा में होती है । [ 'यैनेन्दुर्दहनः ] इस पद्य  
के तीन चरण ये हैं—'स्वेच्छाचारिणि' [ मूल टीका में प्रदत्त, अर्थात् ]

अथि स्वेच्छाचारिणी, त्रिपत्तिर्यो की बात जो तुने पहले ही नहीं मानी और अथि कव्याण-  
विमुखे, पैर पढ़ रहे प्रियतम पर तुने जो दृष्टि तक न डाली, उसी गलतीरूपी वृष का, हे गृणाधि,  
यह फल है, जो अभी तो बाल [ लगा ] ही है ।

इस प्रकार सभी अलंकारों के विषय में ग्रन्थकार ने यह नियम बतलाया कि यदि  
आरम्भ किसी प्रकृत अलंकार से किया गया हो तो अवसान उससे प्रकृत अलंकारों से नहीं करना  
चाहिए । प्रकृत = 'शरदोव'० शवादि पद्य में । द्रष्टव्यम् = जानना चाहिए = अर्थात् उपमा के  
प्रति बाधकता । 'अतिगम्भीरत्व'—रूपी सामान्य धर्म का प्रयोग उपमासमाप्त का बाधक है इसलिये  
यहाँ रूपक अपनाया ही उचित है । उदाहरितम् = उदाहरण दिया जा चुका है अर्थात् 'यः  
कौमारहर'० इस पद्य के द्वारा ।

### [ सर्वस्व ]

तृतीयस्तु प्रकार एकवाचकानुप्रवेशलक्षणः, यत्रैकस्मिन्वाचकेऽनेकालं-  
कारानुप्रवेशः, न च संदेहः । यथा—

'मुरारिनिर्गता नूनं नरकप्रतिपन्थिनी ।

तथापि मूर्ध्नि गङ्गेव चक्रधारा पतिष्यति ॥'

अथ मुरारिनिर्गतेति साधारणविशेषणहेतुका उपमा, नरकप्रतिपन्थिनी-  
ति श्लेषविशेषणसमुत्पन्नोपमाप्रतिभोत्पत्तिहेतुः श्लेषश्चैकस्मिन्नेव शब्दे-  
ऽनुप्रविष्टौ, तस्योभयोपकारित्वात् ।

अथ यथार्थश्लेषेण महोपमायाः संकरस्तथा शब्दश्लेषेणापि सह दृश्यते ।  
यथा—

'सत्पुष्करद्योतितरङ्गशोभिन्यमन्दमारब्धमृदङ्गाद्ये ।

उद्यानवापीपयसीव यस्यामेणीदृशो नाट्यगृहे रमन्ते ॥'

अथ 'पयसीव नाट्यगृहे रमन्ते' इत्येतावतैव समुचितोपमा निष्पन्ना  
सत्पुष्करद्योतितरङ्ग इति शब्दश्लेषेण सहैकस्मिन्नेव शब्दे सङ्कीर्णा ।

शब्दालंकारयोः पुनरेकवाचकानुप्रवेशेन संकरः पूर्वमुदाहृतो 'राजति  
तट्टीयम्' इत्यादिना । एकवाचकानुप्रवेशेनैव चात्र संकीर्णत्वम् । अत एव  
व्यवस्थितत्वमन्यानुमापितमप्रयोजनकम्, तुल्यजातीयोरप्यलंकारयोरे-  
कवाचकानुप्रवेशसंभवात् ।

शब्दार्थवर्त्यलंकारसंकरस्तु भट्टोजनप्रकाशितः संसृष्टाद्यन्तर्भाषित  
इति त्रिप्रकार एव संकर इह प्रदर्शित ।

[ संकर का ] तृतीय जो भेद है उसकी संज्ञा है 'एकवाचकानुप्रवेश [ संकर ]' जिसमें एक ही  
वाचक में अनेक अलंकारों का समावेश रहता है, किन्तु संदेह नहीं रहता । यथा—

'विष्णुनिर्गतं तथा नरक [ नरकासुर तथा रौरव आदि नरक ]—नाशक [ अतएव ] गंगाजी  
वैसी चक्रधारा इन्दारे सिरं पर भी पड़ेगी ।'

यहाँ 'विष्णुनिर्गत' इस साधारणविशेषण से [ गंगोपमानक तथा चक्रपारोपमेयक ] उपमा सिद्ध होती है। साथ ही 'नरकनाशक' इस श्लिष्ट विशेषण से उदाहृत श्लेष भी [ 'नरक'-पद में ] है जो उपमा का वाचक है। इस प्रकार ये दोनों [ उपमा तथा श्लेष ] एक ही [ नरक ] शब्द में समाविष्ट हैं, क्योंकि वह [ नरक शब्द उपमा तथा श्लेष ] दोनों का ही उपकार करता है [ इस पद्य पर प्रतीहारन्दुराज की विवृति द्रष्टव्य है—काव्यालंकारसारसंग्रह ५१११ ]

यहाँ [ उपर्युक्त पद्य में ] जैसे अर्थश्लेष के साथ उपमा का संकर है वैसे शब्दश्लेष के साथ भी होता है। यथा—

जहाँ मृगाक्षीजन सपुष्करपोति तरङ्ग से शोभित तथा जोरों से पीटे जाते मृदंग वाद्य से युक्त बापीजल के ही समान नाट्यगृह में रमा करती हैं। [ बापीपक्ष = सव पुष्कर = कमल, से होती उज्ज्वल तरंग से शोभित, मृदंगवाद्य = पानी को हाथों से पीट पीट कर बनाया जा रहा जलास्फालनरूपी मृदंगवाद्य; नाट्यगृहपक्ष = सव पुष्कर = एक प्रकार का नगाडा अर्थात् नान्दी, वसते घोतित = प्राणवान् है रंग नाट्यारम्भ जिसमें, मृदङ्ग = एक मित्र प्रकार का नगाडा तद्रूपी वाद्य बनाया जाता रहता है जिसमें, नवसाइसाकचरित १५४ ]

इस पद्य में 'जल के समान नाट्यगृह में रमा करते हैं'—इतने से ही समुचित [ पूर्ण ] उपमा निष्पन्न हो जाती है। वह 'सत्पुष्करघोतितरङ्ग' इस एक शब्द में शब्दश्लेष के साथ संकीर्ण कर दी गई है।

केवल शब्दालंकारों के एकवाचकानुप्रवेश संकर का उदाहरण 'राजति तटीयम०' इस पद्य के द्वारा पहले ही दिया जा चुका है। इस पद्य में एकवाचकानुप्रवेश के कारण ही संकर है [ न कि मम्मट के कथनानुसार अंगीगिभाव के कारण ]। इसी लिए अन्य आचार्य [ मम्मट ] द्वारा जो यहाँ [ विमर्शिनी में उद्धृत कारिका में ] 'व्यवस्थितता' की बात कही गई है वह निरर्थक है।' क्योंकि एकजातीय अलंकारों का भी समावेश एक वाचक में संभव ही है।

'उद्भूतने [ शब्दाभिव्यञ्जकालंकार नाम से ] जो शब्द और अर्थ के अलंकारों का परस्पर में संकर बतलाया है उसे संसृष्टि में अन्तर त कर दिया गया है। इस प्रकार संकरकेवल तीन ही प्रकार का बतलाया गया।

### विमर्शिनी

न च संदेह इति। संदेहसंकरे यद्यप्येकवाचकत्वमस्ति, तथापि तत्र संविद्यमानत्वेन चमत्कारोऽस्तीति ततोऽस्य वैलक्षण्यम्। इह ह्येकानुप्रविष्टयोरलंकारयोर्निश्चितत्वेन निवन्धनम्। एकवाचकानुप्रविष्टत्वेन चालंकारयोः संसृष्टत्वेन चारत्तातिशयोपजन इति नैवैकहेतुकत्वेन संकरोपमयोरिवेत्युक्त्या नास्याभावो वाच्यः। न हि यमकयोः संसृष्टत्वेनैवावभासोऽस्तीति यद्योक्तमेव युक्तम्। अर्थश्लेषेणेति। नरकशब्दस्य दानवनिर्णयार्थकत्वात्। घोतितरङ्गेति शब्दस्य सभङ्गत्वाच्छब्दश्लेषः।

न चास्योदाहरणद्वयमेतद्युक्तम्। उपमाप्रतिभोत्पत्तिहेतुकस्य श्लेषस्यैवात्रालंकारत्वात्। उपमा हि श्लेषस्य हेतुत्वेनैवागता। तां विना तस्यामुत्थानात्। अतश्च श्लेष एवात्र प्राधान्येनालंकारः। एवं न संकरः, एकस्यैवात्रालंकारस्य स्थितेः। तस्य च द्विप्रभृतीनां संसृष्टतायामुक्तत्वात्। उदाहरणान्तरं यथा—

'अङ्गे न्यस्योत्तमाङ्गं प्लवगबलपतेः पादमक्षस्य हन्तुः

कृत्रोःसङ्गे सलीलं रवचि कनकमृगस्याङ्गमाधाय शोषम्।

याणं रक्षःकुलधनं प्रगुणितमनुजेनाद्रात् तीक्ष्णमधगः

कोणेनैवेक्षमाणस्त्वदनुजवचने दत्तकर्णोऽयमास्ते ॥'

अत्रेहतीघरागां स्वभाव इति स्वभावोक्तिः, दाशरथेश्च प्रायश्चायमाणत्वमिति भाविक-  
मित्येकस्मिन्नेव वाचकेऽलंकारद्वयमनुप्रविष्टमित्ययं संकरः । अप्र च भाविकस्वभावोक्तयो-  
रूपकार्योपकारकभावेनाङ्गाङ्गित्वेऽप्येकवाचकानुप्रवेशकृतो वैचिप्यातिशयः प्रधानतया प्रती-  
यत इत्येतद्बुदाहरणत्वम् । अङ्गाङ्गिभावश्च भिन्नवाचकालंकारगतत्वेन लब्धावकाशोऽस्ति ।  
अतो 'राजति तटीयम्' इत्यादावेकवाचकानुप्रवेशोऽपि निरवकाश इति ततोऽस्य पृथ-  
ग्भावः । अत एवेति । शब्दालंकारधोरेकवाचकानुप्रवेशात् । अन्येति । अन्यैः काव्यप्रकाश-  
कारादिभिः । यदुक्तम्—'स्फुटमेकत्र विषयं शब्दार्थालंकारद्वयम् । स्पष्टस्य तं च' इति ।  
अप्रयोजनकमिति । तथानुभाषणं पुनर्न कश्चिद् दोष इति भावः । मुरारिनिरगतेत्यादीं शर्पा-  
लंकारत्वात् सजातीययोरुपमाश्लेषयोः पूर्वोक्तनीत्या भिन्नविषयत्वेनात्रैकवाचकानुप्रवेशो-  
ऽस्तीत्यर्थः । एवं शब्दाश्रयत्वादाश्रयत्वाच्च तुल्यजातीयानामलंकाराणामङ्गाङ्गिभावा-  
दिना संकर उक्तः । शब्दार्थवर्तिनामलंकाराणां पुनः ससर्गाणामलंकार इत्याह—उपदार्थ-  
त्यादि । न केवलं काव्यप्रकाशकारेण शब्दार्थवर्तिनोरलंकारयोः संकर उक्तो यावदनेना-  
पीति भावः । तदुक्तम्—'शब्दार्थवर्त्यलंकारौ वाच्य एकत्र भासितः, संकरः ।' इति ।  
संश्लेषमिति । अनयोर्वाश्रयभेदात् तिलतण्डुलन्यायेन स्पष्ट एव भेदावगम इत्यथैवान्त-  
र्भावो युक्तः । श्लेषकार इति । अङ्गाङ्गिभावसंश्लेषवाचकानुप्रवेशेन । यदुक्तम्—

'तेनासौ त्रिरूपः परिकीर्तितः' इति ।

एवं संदेहसंकरस्यानुपपत्तावपि चिरंतनोक्तत्वादेवावश्य प्रत्यकृता त्रिप्रकारवमेवोक्तम् ॥'

न च संदेहः = संदेह न हो, = यद्यपि संदेह संकर में भी एकवाचकत्व रहता है, तब भी वहाँ  
चमत्कार संदेह के कारण होता है, अतः उससे इसमें अन्तर रहता है । इस [ संकर ] में जो दो  
अलंकार एक वाचक में प्रविष्ट रहते हैं उन दोनों का निश्चयारम्भक ज्ञान होता रहता है । 'एक  
वाचक में प्रविष्ट अलंकारों में चाक्षतातिशय ससृष्टिरूप सर्वत्र से होता है'—ऐसा मानकर  
'नैवेकश्रेतुकत्वेन संकरोपमयोरिव' इस उक्तिद्वारा [ संकर का ] यह [ एकवाचकानुप्र० ]  
भेद नहीं होता' ऐसा नहीं कहना चाहिए । समक बो है, वे ससृष्टिरूप से भासित नहीं होते,  
अतः जैसा सर्वस्वकार ने कहा है जैसा ही मान लेना ठीक है । अर्थश्लेषेण = अर्थश्लेष से क्योंकि  
नरक शब्द दानव और निरय इत दो अर्थों का वाचक है । धोतितरङ्ग शब्द [ 'धोति तरङ्ग' तथा  
'धोतित रङ्ग' इस प्रकार ] समङ्ग शब्द है, इसलिये यहाँ शब्दश्लेष है ।

इस [ ग्रन्थकार = सर्वस्वकार ] के जो जो दो उदाहरण हैं—[ 'मुरारिनिरगता'० तथा 'ससृ-  
ष्टरयो' ] ये ठीक नहीं हैं । क्योंकि इनमें [ उद्धृत के अनुसार ] उपमा को वाचक श्लेष ही  
[ प्रधानरूप से ] अलंकार बनता है । उपमा बो है वह तो यहाँ श्लेष का हेतु बन कर आई है  
क्योंकि उस [ उपमा ] के बिना उस [ श्लेष ] की निष्पत्ति ही नहीं होती । इसलिये यहाँ श्लेष ही  
प्रधानरूप से अलंकार है । इस प्रकार यहाँ संकर नहीं है क्योंकि यहाँ केवल एक ही अलंकार की  
स्थिति है । वह [ संकर ] तो दो तीन आदि के ससृष्ट होने पर बतलाया गया है । इसका अन्य  
उदाहरण यह होगा—

'कदाचिद् रावण का सुसचर राम के विषय में उससे कह रहा है कि ] यह [ राम ] इस  
समय वानर सेनापति [ सुग्रीव या अंगर ] की गोद में सिर, भृशकुमार के हन्ता [ हनुमान् ]  
की गोद में पैर और शेषशरीर कनकमृग की छाल पर रखकर, लक्ष्मण द्वारा तेज किये गए अतपव  
सनेक राक्षसों के घातक बाण को आँख के कोने से सादर देख रहा और छोटे मार के कपन पर  
कान लगाए हुए है ।

इस पद्य में एक तो स्वभावोक्ति है, क्योंकि मालिक लोगों का स्वभाव ऐसा ही होता है और दूसरे यहाँ भाविकालंकार भी है क्योंकि यहाँ श्रीराम प्रत्यक्ष से दिखाई पढ़ने लगते हैं। इस प्रकार एक ही वाचक [ पदावली ] में दो अलंकार अनुप्रविष्ट हैं। इसलिए यहाँ यह [ एकवाचकानुप्रवेशनामक ] संकर है। यहाँ यद्यपि भाविक और स्वभावोक्ति में परस्पर में उपकारोपकारकभाव संबन्ध भी है [ अतः यहाँ अंगंगिभावमूलक संकर भी संभव है ] तथापि [ यहाँ एकवाचकानुप्रवेश से उत्पन्न चमत्कार प्रधानरूप से प्रतीत होता है, इसलिए यह उदाहरण इसी [ एकताच० संकर ] के लिए दिया। अंगंगिभावसंकर उन अलंकारों में भी हो सकता है जहाँ वाचक भिन्न होते हैं। इसलिए 'राजति तदीयम्' पद्य में [ सर्वस्वकार द्वारा प्रस्तावित ] एकवाचकानुप्रवेश भी नहीं होता [ क्योंकि यहाँ वाचक शब्द समग्रश्लेष द्वारा बदल जाते हैं ] इस प्रकार [ संकर का ] यह [ एकवाचका० नामक ] प्रकार उस [ अंगंगिभाव नामक प्रकार ] से पृथक् है। अतएव = शब्द और अर्थ दोनों के अलंकारों के एक वाचक में अनुप्रवेश के कारण। अन्य = काव्यप्रकाशकार आदि, जैसा कि उन्होंने [ काव्यप्रकाश में एकवाचकानुप्रवेशसंकरके लक्षण में ] कहा है—'और एक ही स्थान पर शब्द और अर्थ के अलंकार व्यवस्थित रहते हैं।' अग्रयोजनकम् = निरर्थक = अर्थ यह है कि वैसा बोलना कोई दोष नहीं। 'सुरारिनिर्गता०' इत्यादि पद्यों में, जो है सो, उपमा और श्लेष दोनों ही अर्थालंकार हैं अतः दोनों सजातीय हैं और अपने अपने क्षेत्र में स्वतन्त्र हैं, किन्तु यहाँ वे एक ही वाचक में अनुप्रविष्ट होकर आये हैं। इस प्रकार केवल शब्दाश्रित होने अथवा केवल अर्थाश्रित होने से जो समानजातीय होते हैं ऐसा अलंकारों का अंगंगिभाव आदि से होने वाला संकर बतलाया जा चुका है। अब 'शब्द और अर्थ में रहने वाले अलंकारों के संसर्ग से भी यह अलंकार निष्पन्न होता है—यह बतलाने के लिए लिखते हैं—'शब्दार्थ०', इत्यादि अर्थ यह कि शब्द और अर्थ के अलंकारों का संकर केवल काव्यप्रकाशकार ने ही नहीं बतलाया, उस [ उद्धृत ] ने भी इसे बतलाया है। जैसा कि [ उद्धृत ने ] कहा है—

'एक ही वाक्य में भासित होने वाले शब्द तथा अर्थ के अलंकार संकर [ कहलते हैं ]।'

[ उद्धृत ने शब्द और अर्थ दोनों के अलंकारों के एक साथ एक वाक्य में आने पर शब्दार्थ वस्त्वलंकारसंकर माना है और वाक्यांश में आने पर भी। मम्मट ने केवल वाक्यांश में आने पर ही यह भेद स्वीकार किया है। सर्वस्वकार केवल वाक्यगत भेद का खण्डन कर रहे हैं अतः इसे केवल उद्धृत का खण्डन मानना चाहिए, मम्मट का नहीं ]

संसृष्टौ = संसृष्टि में, इन दोनों [ अलंकारों ] में तिल और तण्डुल [ चावल ] के समान भेद स्पष्ट रूप से प्रतीत होता है, क्योंकि इनमें आशय ( शब्द और अर्थ ) में भेद रहता है। इसलिए उनका अन्तर्भाव इसी [ संसृष्टि ] में मानना ठीक है। त्रिप्रकारः = तीन प्रकार का = ( १ ) अंगंगिभाव ( २ ) संश्लेष तथा ( ३ ) एकवाचकानुप्रवेश इन तीन भेदों के आधार पर। जैसा कि [ मम्मट ने भी ] कहा है—'इस कारण यह तीन प्रकार का बतलाया गया है'। इस प्रकार संद्वैहसंकर के सिद्ध न होने पर भी ग्रन्थकार ने इसके जो तीन भेद बतलाए हैं वह केवल प्राचीनतर [ उद्धृत, मम्मट ] आलंकारिक आचार्यों के द्वारा वैसा बतलाए जाने के कारण ही ॥

विमर्श—संसृष्टि का पूर्वतिहास :—

संस्कृत काव्यशास्त्र में संकर तथा संसृष्टि का इतिहास अतीव विकासपूर्ण है। दण्डो, मामद तथा वामन ने इन दोनों को एक ही शीर्षक में रखा था। और इसे संसृष्टि नाम दिया था। उद्धृत ने दोनों को पहली बार पृथक् प्रतिपादित किया और संकर को पंचम वर्ग में रखकर संसृष्टि



को षष्ठ वर्ग में गिनाया। वह भी अन्त और आरम्भ के सातत्य में नहीं, अपितु अनेक अलङ्कार बीच में देकर। परवर्ती रुद्र ने इन दोनों को पुनः अभिन्न माना और जहाँ पूर्वाचार्यों ने अभिन्न मानने हुए ससृष्टि नाम दिया था वहाँ रुद्र ने इन्हें संकर नाम दिया। मम्मट ने उद्धृत का अनुसरण किया। इस प्रकार पूर्वाचार्यों के दो वर्ग बन जाते हैं अभेदवादी तथा भेदवादी। कमण्डः सोदरण विवेचन—

[ क ] अभेदवादी आचार्यों में ससृष्टिवादी आचार्य—

[ १ ] दण्डी = 'नानालङ्कारससृष्टि' ससृष्टिस्तु निगद्यते ॥ २।३५९ ॥

अङ्गगिमावावस्थानं सर्वेषां समकक्षता ।

इत्यलङ्कारमसृष्टेर्लक्षणीया द्वयी गतिः ॥ २।३६० ॥

उदाहरण = 'आक्षिपन्नयरविन्दानि मुग्धे तव मुञ्चधियम् ।

कोशदण्डसमप्राणा किमेषामस्ति दुष्करम् ॥ २।३६१ ॥

छिम्पतीव तमोद्गानि [ इत्यादि पूर्वोद्धृत पद्य ]। अर्थात् = अनेक अलङ्कारों की जो ससृष्टि [ ससर्ग ] वही ससृष्टि कहलाती है।

अङ्गगिमावपूर्वक स्थिति तथा सक्ती समकक्षता इस प्रकार अलङ्कार संसृष्टि दो प्रकार की होती है ॥

[ उदाहरणार्थ = अङ्गगिमाव संसृष्टि के लिए— ] हे मुग्धे कमण्ड तेरे मुख की शोभा हर रहे हैं। कोश [ कमण्डकोश तथा खजाना ] तथा दण्ड [ कमलनाल तथा सेना ] से ससृष्ट व्यक्तियों के लिए भला दुष्कर ही क्या? [ इस पद्य में पूर्वार्थ में उपमा अथवा प्रतीप है और उचरार्थ में श्लेष तथा अर्थान्तरन्यास। दोनों अर्थों के प्रत्येक अलङ्कारयुग्म में अङ्गगिमाव है और उनमें जो दो प्रधान अलङ्कार निष्पन्न होते हैं उनमें भी अङ्गगिमाव है। पूर्वार्थ में प्रतीप प्रधान है और उचरार्थ में अर्थान्तरन्यास। इनमें अर्थान्तरन्यास प्रतीप का समर्थक है, अतः अङ्ग है ]। 'छिम्पतीव तमोद्गानि'-स्वयं ग्रन्थकार ने ही अपना लिया है। इस प्रकार दण्डी के संसृष्टि विवेचन में संकर का स्वरूप स्पष्ट है। किन्तु इसमें संकर का केवल एक ही भेद आ पाया है— अङ्गगिमाव। वस्तुतः प्रथम पद्य के पूर्वार्थ में संदिह संकर और उचरार्थ के 'कोशदण्ड' पद में एकवाचकानुप्रवेश संकर के बीच भी निहित है।

[ २ ] माह 'वरा विभूषा मसृष्टिर्हलङ्कारयोगतः ।

रचिना रत्नमालेव सा चैवमुदिता यथा ॥ ३।४९ ॥

उदा० = गाम्भीर्यलावण्यवतोर्युवयोः प्राञ्चरत्नयोः ।

सुखसेभ्यो जनानां र्वं दुष्टमाहोऽम्मसां पतिः ॥ ३।५० ॥

अनलकृतकान्तं ते वदन वनञ्जयति ।

निशाकृतः प्रकुरयैव चारोः का वास्त्यलङ्कृतिः ॥ ३।५१ ॥

अन्येषामपि कष्टंभ्या संसृष्टिरनया दिशा ॥

संसृष्टि एक उत्तम अलङ्कार है जो अनेक रत्नों के योग से उसी भाँति बनता है जिस भाँति अनेक रत्नों के योग से रत्नमाला नामक उत्तम अलङ्कार। वह इस प्रकार बतलारं गई है, जैसे—

गाम्भीर्य, [ गम्भीरता, गहराई ] लावण्य [ सौन्दर्य खारापन ] तथा प्रभूत रत्नों से आप दोनों ही युक्त हैं, किन्तु तुम ही व्यक्तियों के लिए सुख सेभ्य अबकि समुद्र है दुष्टमाह [ दुष्ट माह = पडियाल से युक्त अथवा दुष्ट दोषयुक्त है प्राह जिसका तथा दुष्ट व्यक्तियों द्वारा विरा ]। [ यहाँ पूर्वार्थ में श्लेष है और उचरार्थ में व्यतिरेक ]

कमल सो कान्ति वाला तुम्हारा मुखमण्डल विना ही अलंकार के सुन्दर है। स्वभाव सुन्दर चन्द्रमा के लिए अलंकार की आवश्यकता ही क्या ? [ यहाँ पूर्वार्ध में कमल की उपमा है। वससे युक्त पूर्व वाक्यार्ध उत्तरार्ध में आप इष्टान्तालंकार से परिपुष्ट हो रहा है ]।

इसी प्रकार अन्य अलंकारों की भी संसृष्टि बनाई जानी चाहिए।

उपर्युक्त विवेचन में मामह दण्डी के समान यह तो स्पष्ट नहीं करते कि संसृष्टि में आप अलंकारों में अंगांगिभाव तथा समकक्षता रहती है, किन्तु उन्होंने जो वे उदाहरण दिए इनमें यह अभिप्राय निहित है। प्रथम पद्य में श्लेष से व्यतिरेक निम्नप्र होता है। अतः यहाँ अंगांगिभाव संभव है। द्वितीय पद्य में उपमा और व्यतिरेक परस्पर निरपेक्ष हैं। किन्तु मामह के विवेचन में संदेह और एकवाचकानुपवेश संकर की ओर दण्डी जैसा कोई स्पष्ट संकेत नहीं मिलता।

मामह ने उपमारूपक और उत्प्रेक्षावयव नामक दो स्वतन्त्र अलंकारों की कल्पना की थी और दण्डी ने उन्हें रूपक तथा उत्प्रेक्षा में ही अन्तर्भूत माना था। वामन ने इन्हें संसृष्टि का अंग माना और संसृष्टि का विवेचन नवीन रूप में इस प्रकार किया—

सू० = 'अलंकारस्यालङ्कारयोनित्वं संसृष्टिः ॥ ४।३।३० ॥

संसृष्टिः संसर्गः

सू० = तद्भेदादुपमारूपकोत्प्रेक्षावयवौ ॥ ४।३।३१ ॥

सू० = उपमालन्यं रूपकमुपमारूपकम् ॥ ४।३।३२ ॥ यथा—

०० "कूर्ममूर्त्तिर्भयति चतुर्दश्लोकवल्लीकन्दः ।

उत्प्रेक्षाहेतुत्प्रेक्षावयवः ॥ ४।३।३३ ॥ यथा—

'अंगुष्ठीभिरिव०' पद्य ।

अर्थात्—अलंकार का अलंकारयोनित्वं संसृष्टि कहलाता है। [ अलंकारयोनित्वं = अलंकार है योनि = कारण जिसका, अलंकार का योनि = कारण ] संसृष्टि का अर्थ है संसर्ग।

उसके भेद हैं उपमारूपक तथा उत्प्रेक्षावयव। उपमारूपक है उपमालन्य रूपक। यथा—

कूर्म रूपी भगवान् जो चतुर्दश लोकवल्ली के कन्द है, सर्वोत्कृष्ट है। [यहाँ यदि लोक को वल्ली के समान बतलाकर तन्निमित्त कूर्मवतारी भगवान् पर कन्द का आरोप किया जाय जो संभव नहीं है तो उपमारूपक हो सकता है।

उत्प्रेक्षा का उत्पापक हेतु उत्प्रेक्षाहेतु होगा।

यथा—सर्वस्वकार द्वारा लब्ध अंगुलीभिः पद्य।

वामन के अनुसार इन पद्यों में दो दो अलंकार हैं और दोनों में अंगांगिभाव है। इस प्रकार वामन की संसृष्टि परवर्ती आचार्यों की भाषा में संकर हो कही जा सकती है। उसमें आप अलंकारों में अन्योन्यनिरपेक्षता नहीं है। वस्तुतः वामन ने जिसे उपमारूपक कहा है वह नवीन आचार्यों की भाषा में परम्परितरूपक है।

[ ख ] भवेदवादी आचार्यों में संकरवादी आचार्य।

रुद्रट—रुद्रट ने संकर और संसृष्टि दोनों को एक ही मिश्र अलंकार के दो भेद के रूप में स्वीकार किया और उन्हें एक संकर नाम दिया।

दण्डी ने जो अंगांगिभाव तथा समकक्षता के दो भेदक विन्दु प्रस्तुत किए उनके लिए रुद्रट ने ही पहले पहल तिलतण्डुल तथा नौरक्षीर के दो इष्टान्त दिए जिन्हें परवर्ती आचार्यों ने इन्हीं नामों से अपना लिया। रुद्रट ने अलंकारों को चार ( १ ) वास्तव ( २ ) औपम्य ( ३ ) अतिशय

और ( ४ ) श्लेष इन चार वर्गों में बाँट और उनका प्रतिपादन कर अन्त में उनकी मिश्रित अवस्था का निरूपण करते हुए लिखा था—

‘एषां तु चतुर्णामपि संकीर्णानां स्युरगणिता भेदाः ।

तन्नामानस्तेषां लक्षणमशेषं मयोवयम् ॥ १०।२४ ॥

वास्तव आदि उपचारों भेदों के संकीर्ण होने पर अलंकारों के उन्हीं नामों से प्रचलित अगणित भेद हो सकते हैं। उनके लक्षण उन उन अर्थों में भिन्नकर देखना चाहिए। आगे भेद करते हुए रुद्रट ने लिखा—

‘योगवशादेतेषां तिलतण्डुलवच्च दुग्धजलवच्च ।

व्यक्तान्यक्तांशुस्वात् सकर लक्षणे देधा ॥ १०।२५ ॥

इनके तिलतण्डुल और दुग्धजल के समान संयोग से दो प्रकार का संकर निष्पन्न होता है [ प्रथम में ] व्यक्त तथा [ द्वितीय में ] अव्यक्त ।’

यहाँ यह स्पष्टीकरण अपेक्षित है कि रुद्रट ने जो तिलतण्डुल की उपमा दी है उसका तदर्थ दिए उदाहरणों में ठीक साम्य नहीं बैठता। तदर्थ दिए उदाहरण की अभिव्यक्ति ठीक वही है जो सर्वस्वकार द्वारा एकवाचकानुप्रवेशसंकर के लिए दिए ‘मुरारिनिर्गता०’ तथा ‘सस्युष्करयो०’ इन पदों की है, जिन्हें विमिश्रिणीकार ने सर्वस्वकार के विरुद्ध असंगत उदाहरण बनलाया है।

इनमें जैसे श्लेष और उपमा स्पष्ट हैं वैसे ही रुद्रट द्वारा दिए उदाहरणों में भी और जैसे इनमें श्लेष उपमा का निष्पादक है वैसे ही रुद्रट के उदाहरण में भी। सर्वथा ये उदाहरण अलंकारों में निरपेक्षता नहीं रखते। इस प्रकार मर्यादा तो यह है कि रुद्रट के उदाहरणों से परवर्ती आचार्यों द्वारा स्थापित संसृष्टि का स्वरूप नहीं निकलता फलतः तिलतण्डुलन्याय केवल व्यक्तानामात्र के साम्य पर निर्भर है। रत्नाकरकार ने जो संसृष्टि का खण्डन किया है उसका मूल कदाचित् रुद्रट का यही विवेचन है।

भिन्नतावादी आचार्य—

[ १ ] उद्भट = सकर और संसृष्टि का जो स्वरूप परवर्ती आचार्य मम्मट और सर्वस्वकार में मिलता है उसको इस रूप में लाने का श्रेय प्रथमतः उद्भट को है। उन्होंने पहले संकर का विवेचन किया है, संसृष्टि का बाद में। उनके विवेचन क्रमशः इस प्रकार है—

संकर—

संदेहसकर = ‘अनेकाच्छिक्कयोश्लेषे सम तद्ब्रह्मसंभवे ।

एकस्य च प्रदे न्यायशोभमावे च संकरः ॥ ५।११ ॥

जहाँ अनेक अलंकार समस्त पद रहे हों, परन्तु उनसे चमत्कार निष्पत्ति एक साथ न होती हो और उनमें से किसी एक के अपनाने अथवा छोड़ने का कोई हेतु न हो तो उसे [ संदेह ] संकर कहते हैं। उदाहरण—

‘यद्यप्यत्यन्तमुचितो वरेन्दुस्ते न लभ्यते ।’

यद्यपि तुम्हारे अत्यन्त अनुरूप वरेन्दु नहीं मिल रहा है।

यहाँ ‘वर ही इन्दु’ इस प्रकार रूपक भी माना जा सकता है और ‘वर इन्दु के समान’ इस प्रकार उपमा भी। अतः उद्भट और उनके टीकाकार प्रतिहारेन्दुराज के अनुसार यहाँ संदेह संकर है। वस्तुतः यहाँ उपमा ही मान्य है क्योंकि कन्या के लिए चन्द्रमा की खोज नहीं होती, तत्सदृश

वर की खोज होती है। रूपक मानने पर चन्द्रमा ही प्रधान हो जायगा। लाम क्रिया में उसी का प्रधान रूप से अन्वय होगा जो अनुपसृक्त होगा।

शब्दार्थालंकार संकर = शब्दार्थवर्यलंकार। वाक्य एकत्र भासिनः।

संकरो वै—

एकवाचकानुप्रवेशसंकर = क्वाक्यांशप्रवेशाद् वाभिधीयते ॥ ५।१२ ॥

शब्द और अर्थ दोनों के अलंकार जहाँ एक साथ व एक वाक्य में चले आँ वही भी संकर होता है जहाँ एक ही वाक्यांश में [ अनेक अलंकारों का ] प्रवेश हो जाता है।

इसमें से प्रथम शब्दार्थवर्यलंकार संकर का उदाहरण उद्भट ने जो दिया है, सर्वस्वकार द्वारा उद्धृत चमयालंकारसंसृष्टि का उदाहरण उसके लिए अधिक उपयुक्त है। अतएव सर्वस्वकार ने इस भेद को संसृष्टि से गतार्थ मान लिया है। द्वितीय का उदाहरण [७५२ पृष्ठ पर] विमर्शिनी में उद्धृत है— 'मैवमेवास्व' इत्यादि पद्य। 'मुरारिनिर्गता' पद्य के समान यहाँ भी प्रतीहारन्दुराज के अनुसार एक ही 'इव-शब्दरूपी वाक्यांश में उपमा और श्लेष में दो अलंकार आ समाए हैं। वस्तुतः यह उसी प्रकार अमान्य है जिस प्रकार सर्वस्वकार द्वारा प्रस्तुत 'एकवाचकानुप्रवेश' के उदाहरण।

अनुप्रासादाद्यलंकारसंकर = 'परस्परपकारेण यत्रालंकृतयः स्थिताः।

स्वातन्त्र्येणात्मलाभं नो लभन्ते सोऽपि संकरः ॥'

जहाँ अनेक अलंकार एक दूसरे का उपकार करते हुए उपरिपत हों और स्वतन्त्ररूप से निम्पन्न न हो पाते हों वह भी संकर होता है। उदाहरण, 'त्रयीमयोऽपि०' पद्य भी उद्भट को एतदर्थ अमान्य न होगा।

इस प्रकार उद्भट ने संकर के चार भेद माने हैं। तीन तो वे ही जो सर्वस्वकार ने बतलाए हैं और एक वह जिसे शब्दार्थवर्यलंकार कहा गया है जिसे सर्वस्वकार ने चमयसंसृष्टि माना है।

संसृष्टि—

अलंकृतीनां बहुवीनां द्वयोर्वापि समाशयः।

एकत्र निरपेक्षाणां मियः संसृष्टिरुच्यते ॥'

जहाँ परस्पर निरपेक्ष अनेक अथवा दो अलंकार एक ही स्थल में आ जायं वहाँ संसृष्टि होती है।

उदा० = त्वत्कृते सोऽपि वैकुण्ठो शशीनोपसि चन्द्रिकाम्।

अप्यधारं सुधावृष्टिं मन्ये त्यजति तां शियम् ॥'

हे पार्वति ? उषः के लिए चन्द्रिका को चन्द्र के समान तेरे लिए तो वह विष्णु उस श्री को भी जो धारारहित अमृतवृष्टि है तुरन्त छोड़ देगा।

यहाँ एक तो चन्द्रिका तथा श्री, उषा तथा पार्वती एवं चन्द्र तथा विष्णु में उपमा० है, दूसरे श्री पर सुधावृष्टि का आरोप होने से रूपक है। और दोनों ही परस्पर निरपेक्ष हैं।

इस प्रकार स्पष्ट है कि उद्भट तक संसृष्टि तथा संकर का सर्वांगीण निर्धारण व्यक्ततम रूप में सामने आ चुका था। परवर्ती उद्भट ने इसकी उपेक्षा की जैसा कि ऊपर अभेदवादी आचार्यों में दिए उनके मत से स्पष्ट है।

मम्मट = मम्मट ने उद्भट का अनुसरण किया और इन दोनों अलंकारों का स्वरूप विवेचन इस प्रकार किया—

संसृष्टि = 'श्लेषा संसृष्टिरेतेषां भेदेन यदिह स्थितिः।

—'एन अलंकारों की भेदपूर्वक जो एकत्र स्थिति वह संसृष्टि मानी जाती है।' भेद का अर्थ मम्मट ने ही अन्योन्यनिरपेक्षता किया है। उनके अनुसार यह केवल शब्द और केवल अर्थ में भी हो सकती है। इनमें केवल शब्दालंकारों तथा केवल अर्थालंकार की संसृष्टि के लिए जो उदाहरण मम्मट ने दिए वे सर्वस्वकार ने वहीं को अपना लिया है। उभयालंकार संसृष्टि के लिए मम्मट ने अनुप्रास और रूपक से युक्त एक गाथा 'सो गति' दी है। एतदर्थ सर्वस्वका 'आनन्दमन्यर'-पद्य ही अधिक उत्तम है।

संकर =

अंगागिमावसंकर = 'अविप्रान्तिजुषामात्मन्यगागिखं तु संकरः।

सदेहसंकर = 'एकस्य च ग्रहे न्यायशेषामावादनश्चय'।'

एकवाचकानु० = स्फुटमेकप्रविषये [ विमर्शिनी में उद्धृत पृ० ७४४ पर ]।

इनमें द्वितीय तथा तृतीय का अर्थ उद्भट के पूर्व उद्धृत ग्रन्थ में तथा विमर्शिनी में स्पष्ट है। प्रथम का अर्थ है = 'अपने आप में अविप्रान्त अलंकारों का अंगागिमाव हो तो अंगागिमाव नामक संकर होता है। उदाहरण मम्मट के अधिक अच्छे हैं। साधकसाधक प्रमाणों का विवेचन सर्वस्वकार ने मम्मट से ही लिया है। किन्तु सर्वस्वकार के विवेचन से स्पष्ट है कि वे उद्भट के व्यक्ताव्यक्तता हेतु दिए तिलनण्डुलन्याय तथा क्षीरनीरन्याय को बराबर बनाकर उद्भटानुयायी मम्मट की मान्यताओं पर चले हैं किन्तु अपनी मति से।

परवर्ती आचार्यों में—

शोभाकर = ने संसृष्टि को उद्भट के ही समान अलंकार नहीं माना। उनके तर्क मूल रूप में संसृष्टि प्रकरण के अन्त में और उसी प्रकरण की विमर्शिनी में उद्धृत है। संकर के विषय में उनकी मान्यता है कि एकवाचकानुपवेश तथा सदेह नामक संकर के भेद भी अमान्य हैं। इस विषय के तर्क विमर्शिनी में आ लूके हैं। वे केवल अंगागिमाव संकर को ही संकर मानते हैं। उनका मूल विवेचन इस प्रकार है—

सु० अगत्वे संकरः । ११२ ।

अन्यालंकारोपस्कारकत्वेनाङ्गता दुर्वलत्वं च संकरालंकारः ।

दृ० 'इत्थं साधकमानसंभवत्वात् सदेहसंभावना

नालङ्कारगता कदाचिदपि यत्राङ्गाङ्गिमावात् क्वचित् ।

सर्वेषां विषयापहारकरणात्रेकामिषानस्थितिः

संसृष्टयुक्तनयात्र तत्परिमितो युक्तत्रिधा संकरः ॥'

अर्थात् = अलंकार यदि किसी अन्य अलंकार का उपस्कारक अर्थात् शोभावर्धक होकर उसका अंग बने और उससे दुर्बल हो तो वहाँ संकर अलंकार माना जाता है।

प्रत्येक प्रधान अलंकार का साधक प्रमाण वाक्यार्थ में रहता ही है, अतः अलंकारों में सदेह की कमी भी समावना होती ही नहीं। और क्योंकि सदेह को यह समावना अंगागिमाव से भी कभी संभव नहीं है; इसी प्रकार सभी अलंकारों के उच्छिन्न होने के भय से संसृष्टि के समान एकाभिधानानुपवेशसंकर भी संभव नहीं है, अतः इनके आधार पर संकर तीन प्रकार का नहीं हो सकता।

अप्ययदीक्षित—सर्वस्वकार के ही समान तिलनण्डुल के समान संसृष्टि और नीरक्षीर के समान संकर मानते हैं। इनके कुवलयानन्द में संसृष्टि के वे ही भेद दिए गए हैं जो सर्वस्वकार ने दिए हैं। संकर के भेदों में उन्होंने दो नए भेद गिनाए हैं एक समसाधन्य संकर और दूसरा

संकर-संकर । इनमें से प्रथम के लिए उन्होंने उदाहरण के रूप में 'अंगुलीभिरिव०' पद्य दिया है । उन्होंने यहाँ उपमा और उपेक्षा में प्राधान्य की समानता बतलाई है । संकर-संकर के लिए उन्होंने मम्मट द्वारा प्रथम उदात्तालंकार के लिए उदाहृत 'मुक्ताः केलि वि०' पद्य दिया है और इसमें उदात्त, तद्गुण, पदार्थहेतु काव्यलिङ्गालंकार का एक वाचकानुप्रवेश माना है । आगे उसके आधार पर भ्रान्तिमान् और उसके आधार पर उदात्त की पुष्टि मान अंगंगिभाव माना गया है । इन दो संकरों का यहाँ संकर माना गया है । इससे अतिरिक्त इस पद्य में दीक्षित जी ने और भी अनेक अलंकारों की कल्पना की है । शेष भेदों पर अप्यदीक्षित की मान्यताएँ परम्परागत मान्यताओं से भिन्न नहीं हैं ।

विश्वेश्वर = विश्वेश्वर ने अलंकारकौस्तुभ में मम्मट की परम्परा का अनुसरण कर संसृष्टि और संकर को पृथक् पृथक् माना है । इनका निरूपण इस प्रकार है—

संसृष्टि—संसृष्टित्तु परस्परमनपेक्षस्थितिरनेकस्य ।

अनेक अलंकारों की परस्पर निरपेक्ष स्थिति संसृष्टि ।

संकर—अगांगिभाव० = 'एकमपेक्ष्यान्यास्य प्रादुर्भावे तु संकरः प्रोक्तः ।

एक के बल पर दूसरे की निष्पत्ति हो तो संकर ।

संदेहसंकर = 'साधकवाचकमानामावचनैकस्य निर्णयमावे ।'

साधक वाचक प्रमाण के अभाव में एक का निर्णय न होने पर [ संदेह ] संकरः ।

एकवाचका० = 'एकपदाच्छब्दार्थालंकारयोरवगतावन्यः ।'

शब्द और अर्थ के अलंकारों का एक ही पद से जान होने पर एक अन्य संकर होता है ।

### चिमर्शिनी

अधुनैतेपामलंकाराणामुपसंहारं कर्तुमुपक्रमते—शदानीमित्यादिना ।

अब इन अलंकारों का उपसंहार करने का उपक्रम करते हैं—

[ सर्वस्व ]

शदानीमुपसंहारसूत्रम्—

[ सू० ८७ ] एवमेते शब्दार्थोभयालंकाराः संक्षेपतः सूत्रिताः ।

एवमिति पूर्वोक्तप्रकारपरामर्शः । एते इति प्रकान्तस्वरूपनिर्देशः । सूत्रिता अलंकारसूत्रैः सूचिताः संक्षेपतः प्रकाशिताः ।

तत्र शब्दालंकारा यमकादयः । अर्थालंकारा उपमादयः । उभयालंकारा लाटानुप्रासादयः । संसृष्टिसंकरप्रकारयोरपि कयोश्चित्द्रूपत्वात् ।

'लोकवदाश्रयाश्रयिभावश्च तत्तदलंकारनिबन्धनम् । अन्वयव्यतिरेकौ तु तत्कार्यत्वे प्रयोजकौ, न तदलंकारत्वे । तदलंकारप्रयोजकत्वे तु श्रौतोपमादेरपि शब्दालंकारत्वप्रसङ्गात् । तस्मादाश्रयाश्रयिभावेनैव चिरंतनमतानुसृतिरिति

संपूर्णमिदलंकारसर्वस्वम् ॥



अथ उपसर्गसूत्र बनाते हैं—

[ सू० ८० ] इस प्रकार शब्द, अर्थ तथा दोनों के ये अलंकार संघेप में सूत्र द्वारा प्रस्तुत कर दिए गए ।

[ वृ० ] 'एवम् = इस प्रकार' = यह पूर्वोक्त का परामर्शक है । 'एने = ये' = यह कह प्रकान्तत्व का निर्देश किया । सूत्रिताः = अलंकारसूत्रों द्वारा सूचित किए गए और संघेप में प्रस्तुत किए गए ।

इनमें शब्द के अलंकार हैं यमक आदि । अर्थ के अलंकार हैं उपमा आदि और दोनों के अलंकार उभयालंकार ] हैं लाटानुप्रास आदि । सृष्टि और सहर के भी कुछ प्रकार जैसे [ उभयालंकार ] ही होते हैं ।

उनमें जो तदलंकारत्व आता है उसका कारण लोक के समान आशयाश्रयि भाव सम्बन्ध है । अन्यथ व्यतिरेक तो तत्कार्यत्व [ की सिद्धि ] में कारण होते हैं । तदलंकारत्व [ की सिद्धि ] में नहीं । उन्हें यदि तदलंकारत्व का नियामक माना जाए तो शौनी उपमा आदि में भी शब्दालंकारत्व प्राप्त होगा । इस कारण आशयाश्रयिभाव से ही प्राचीन [ आचार्यों के ] मन का अनुसरण हो पाता है ।

इस प्रकार यह अलंकारसर्वस्व पूर्ण हुआ ।

इस प्रकार अलंकारसर्वस्व का मध्यप्रदेशस्य सीहोरमण्डलान्तर्गत नादनेर—निवासी स्व०  
प० श्री० नर्मदाप्रसाद द्विवेदी के पुत्र साहित्यशास्त्राचार्य, एम. ए., पीएच्. डी०,  
प्रा० प० रेवाप्रसादद्विवेदी कृत सविमर्श हिन्दी अनुवाद पूर्ण हुआ ।

### विमर्शिनी

इदानीमिति । प्राप्तावसरमिति [ भावः ] । यथातथं सर्वेषामलंकाराणां निर्णीतत्वात् । तद्देवाह—एवमित्यादि । एतदेव व्याचष्टे—एवमित्यादिना । संघेपेणेति । ग्रन्थस्य, न पुनरर्थस्य । तस्य हि तथावक्यने तेषां स्वरूपमेव कथितं न स्यात् । एवं ग्रन्थसंघेपेणापि सर्वेषामलंकाराणां विस्तरत एव यथासंभवि स्वरूपमुक्तमिति प्राच्यालंकारग्रन्थेभ्योऽस्य वैलक्षण्यमपि ध्वनितम् । तत्र ग्रन्थविस्तरेणाप्येतत्स्वरूपस्यानभिधानात् । अत एव ग्रन्थ-कारेण प्रयोजनमपि द्योतितम् । के ते शब्दार्थोभयालंकारा हस्याशङ्क्याह—तत्रेत्यादि । आदिग्रहणादनुप्रासान्वयरलेपादीनां ग्रहणम् । ननु च लाटानुप्रासरलेपयोरेवोभयालंकारत्वं पूर्वमुक्त्वा उभयालंकारा इति बहुवचननिर्देश' कथं संगच्छते हस्याशङ्क्याह—संघेपेत्यादि । तत्र संघेपेकमयालंकारत्वं यथा—'आनन्दमन्थर-' हस्यादि । संकरस्य यथा—

'मैवमेवास्व सच्छायकर्णिका चाहवर्णिका ।

अम्नोजिनीव चित्रस्था नेत्रमात्रसुस्रवा ॥'

अत्र शब्दार्थालंकारसंसर्गादिभयालंकारत्वम् । संकरस्य चैतद्भुमयालंकारत्वमौद्धतमत् एवावसेयम् । ग्रन्थकृता ह्यस्य समनन्तरमेव संसृष्टावन्तर्भाव उक्तः । अतश्च ग्रन्थकृन्मते लाटानुप्राससंसृष्टिरलेपाणामेवोभयालंकारत्वम् ।

ननु तुवपत्वेऽपि काश्यशोभातिशयहेतुत्वे कश्चिदलंकारः शब्दस्य, कश्चिदर्थस्य कश्चि-  
दुभयस्येति कुतः पुनरर्थं प्रतिनियम हस्याशङ्क्य—लोकवदित्यादि । लोकेहि योऽलंकारो

यदाश्रितः स तदलंकारतयोच्यते, यथा कुण्डलादिः कर्माद्याश्रितस्तदलंकारः । एवमिहापि शब्दाद्याश्रितस्तदलंकार इति सिद्ध एव विषयविभागरूपः प्रतिनियमः । यत्तन्व्यैरन्वयव्यतिरेकौ तदलंकारनियन्धनस्वेनोक्तौ तदयुक्तमेवेत्याह—अन्वयेत्यादि । एवं हि श्रौतोपमायामिवादिशब्दान्वयव्यतिरेकानुवर्तनात्कार्यत्वमेव न पुनस्तदलंकारत्वम् । तस्याविशेषात् । अर्थस्य पुनरलंकारत्वात् तदलंकारत्वमेव युक्तमिति तात्पर्यार्थः । एतच्चोद्भटविश्वेके राजानकतिलकेन सप्रपञ्चमुक्तमिति ग्रन्थविस्तरभयान्नेहास्माभिः प्रपञ्चितम् । एतदेवोपसंहरति—तस्मादित्यादि । आशयाद्यपि भावेनेति । उपसंकार्योपस्कारकभावेनेत्यर्थः । तेन योऽलंकारो यदुपस्कारकः सः तदलंकार इति पिण्डार्थः । चिरंतनेति । अनेनास्माभिः सर्वत्रैव तन्मतानुवृत्तिरेव कृतेत्यास्मिन्विषयमनौद्धत्यमपि ग्रन्थकृता प्रकाशितमिति शिवम् ॥

राजराज इति भूभुजामभूदग्रणीर्गुणिरागणश्रयः परम् ।

तां सतीसरसि राजहंसतामासतोत् क्लिप्तघनागमेऽपि यः ॥

शकाधिकश्रयस्तस्य श्रीशृङ्गार इति श्रुतः ।

गुणातिक्वान्तधिपगो मन्त्रिणामग्रणीरभूत् ॥

तदारमजन्मा वैदग्ध्ययन्पुर्जयरयाभिधः ।

व्यधादिदमसामान्यं श्रवणाभरणं सत्तमम् ॥

यत्नाम किंचिद्दिग्द सम्यगयान्यथा वा साषादलंकृतिनयोचितमेतदुक्तम् ।

विद्वेषरोपमपसार्यं बुधैः क्षणस्य तत्रावधेयमित्येव वचं कृतार्थाः ॥

इति श्रीजयरथविरचितालंकारविमर्शिनी संपूर्णा ॥



[ इदानीम् = अब = ] अबसर आने पर । क्योंकि सभी अलंकारों का निर्णय प्रत्येक तत्त्व के ष्टीकरण के साथ करा दिया गया है । यही कहते हैं—एवम् इत्यादि सूत्र के द्वारा । इसी की व्याख्या करते हैं 'एवम्' इत्यादि द्वारा । संक्षेपेण = संक्षेप में; अर्थात् ग्रन्थगत संक्षेप में, न कि वस्तुगत संक्षेप में । वस्तु में संक्षिप्तता कहना अभीष्ट होता तो अलंकारों का स्वरूप ही न कहा जा सकता । इस प्रकार 'ग्रन्थ का संक्षेप रखते हुए भी सबके सब अलंकारों का विस्तारपूर्वक, जैसा संभव था, वैसा स्वरूप बतलाया' ऐसा कहकर प्राचीन अलंकार ग्रन्थों से इस ग्रन्थ की विलक्षणता [ विशिष्टता ] को भी ध्वनित कर दिया । उन ग्रन्थों में तो ग्रन्थविस्तार रहने पर भी इन [ अलंकारों ] के स्वरूप ठीक से प्रतिपादित नहीं हो पाए हैं । इसीसे ग्रन्थकार ने इस ग्रन्थ का प्रयोजन भी बतलाया । शब्द, अर्थ और दोनों के वे अलंकार कौन हैं इस प्रकार की शंका उठाकर कहते हैं—'तत्र' इत्यादि । 'आदि-' शब्द देकर अनुप्रास अनन्वय और श्लेष आदि का भी संग्रह किया । शंका होती है कि पहले [ ग्रन्थारम्भ में ] तो लाटानुप्रास तथा श्लेष इन दो अलंकारों की ही उभयालंकार बतलाया है, अब यहाँ 'उभयालंकाराः' इस प्रकार जो बहुवचन का प्रयोग किया इसमें संगति कैसे बैठेगी ? इस पर उत्तर देते हुए कहते हैं 'सृष्टि'-इत्यादि । इनमें सृष्टि का उभयालंकारत्व 'मानन्दमन्थरं' [ इत्यादि पूर्वोद्धृत ] पद्य में है ही, संकर का उभयालंकारत्व [ उद्धृत के ] 'मैवमेवा०' इस पद्य में मिलता है इसका अर्थ है—

'इसी प्रकार मत बैठे । सृष्ट्यायकंगिका तथा चारुवंगिका वह [ पार्वती ] चित्रस्थ अम्भोजिनी के समान केवल नेत्रमालासुखप्रदा है ।' [ पार्वती पद्य = 'सृष्ट्याय०' = सुन्दर कान्ति वाले हैं कान



जिसके, 'चाहूँ' = सुन्दर है वर्ण = गौरत्व जिसका, नेत्र० = आँखों को० कमलिनीपद्म = सृष्टाय० = सुन्दर है कर्णिका पुष्पमध्यभाग जिसका, 'चाहूँ' = सुन्दर है वर्ण = राजहंसादि पक्षी जिसमें, नेत्रमात्र = नेत्र कमल को नाल या मृगाल [ जब, द्र० इपंचरित में नवजात राज्यश्री के लिए प्रयुक्त 'दीर्घरक्तनेत्राम्' विशेषण द्वारा उसकी अम्मोजिर्ना के साथ उपमा ] इस पद्य में [ अनुप्रासरूपी ] शब्दालंकार तथा [ उपमा रूपी ] अर्थालंकार का समावेश है, अतः यह [ सकर ] समयालंकार है। सकर का यह जो समयालंकारत्व यहाँ बतलाया गया है यह केवल उद्धृत के ही मत के अनुसार बतलाया गया समझना चाहिए। स्वयं ग्रन्थकार तो इसका अम्मे अमी सृष्टि में अन्तर्भाव बतला आये हैं। इसलिए इस पद्य में ग्रन्थकार के अनुसार शब्दानुप्रास सृष्टि है। इसी प्रकार सभी श्लेष समयालंकार होने हैं।

प्रश्न उठता है कि अलंकार वह धर्म कहलाना है जो 'काव्य शोभाकारो' होता है और यह गुण सभी अलंकारों में समान रूप से रहता है, तब यह नियम क्यों कि कोई अलंकार केवल शब्द का कोई केवल अर्थ का और कोई दोनों का।' इस पर उत्तर देने हैं—लोकयत् = इत्यादि। लोक में जो अलंकार जिम अर्थ में पढ़ना जाता है वह उसी का अलंकार माना जाता है जैसे कुण्डल आदि कान आदि में पढ़ना आता है अन्. उन्हीं का अलंकार कहा जाता है। इसी प्रकार यहाँ भी शब्द आदि में आश्रित उपमादि अलंकार उन्हीं के अलंकार माने जाते हैं। इस प्रकार विषयभेदरूपी प्रतिनियम वास्तविक सिद्ध होता है। 'अन्य आचार्य [मम्मट] ने अन्वयव्यतिरेक को जो तदलंकारता का नियामक माना है वह अयुक्त ही है'—यही बतलाते हुए कहा—अन्वय इत्यादि। तात्पर्य यह कि इस नियम के अनुसार तो शीथी उपमा में [उपमा अपने वाचक] 'इव'—शब्द के अन्वयव्यतिरेक का अनुवर्तन करनी है [ इनके रहने पर रहती है और न रहने पर नहीं ] अतः उपमा उन वाचक शब्दों का कार्य है न कि उनका अलंकार, क्योंकि [ उपमा आदि से ] उम [ वाचक इव आदि शब्द ] में कोई विशेषता नहीं आनी। जहाँ तक अर्थ का सम्बन्ध है वह उससे [ उपमा आदि ] अलंकृत [ शोभायुक्त ] हो जाता है, अतः [ उपमा आदि ] का उसी का अलंकार होना स्थित है। यह सब उद्धृतविवेक में राजानक तिलक ने विस्तारपूर्वक बतला दिया है इसलिए ग्रन्थविस्तार के मय से यहाँ हमने उमे नहीं फैलाया। इसी का उपसहार करते हुए लिखते हैं—तस्मात् इत्यादि। आश्रयाश्रयिभावेन = आश्रयाश्रयिभाव से = उपस्कार्यो-पकारकभाव से। अन्. विण्कार्य यह कि जो अलंकार जिसका उपस्कारक होता है वह उसी का अलंकार कहलाना है। चिरंतन = इसमें यह बतलाया गया कि हमने सर्वत्र उन [ प्राचीन आचार्यों ] के मत का ही अनुसरण किया है जिससे ग्रन्थकार की अपनी अनुदत्तता = शालीनता भी प्रकट होती है। इति शिवम् ॥

'राजराज नामक राजा गुणी जनों के उत्कृष्ट आश्रय और राजाओं के अग्रणी हुए हैं, जो सतीमर में वनारण्य [वर्षाकाल तथा पद्म = महान् आरण्य = शास्त्र] में भी उस [ प्रतिद्व ] राजहंसना [ राजहंस = लाल चोंच तथा लाल चरणों वाला धवल हंस, तथा राजा रूपी हंस = विद्वान् ] को प्रकाशित करते थे।

इन्द्र से भी अधिक श्रीवाले उमी राजा के, गुणों में वृद्धस्वपि से भी बड़े श्रीशृंगार नाम से विदित भी प्रधान मन्त्री हैं—

उनके जयरथनामक विदग्ध पुत्र ने अच्छे विद्वानों के श्रवणों का यह असामान्य आभरण बनाया।

अलंकार शास्त्र के अनुरूप ठीक था गलत यह जो भी कुछ कहा गया है इस पर विद्वेष और रोष दूर कर विद्वान् क्षमर के लिए ध्यान दें । इतने से ही हम स्वयं को कृतार्थ समझेंगे ॥

इस प्रकार श्री अथरयविरचित अलंकारविमर्शिनी पूर्ण हुई ।

इस प्रकार अलंकारविमर्शिनी का मध्यप्रदेशस्थ सोड़ोरमण्डलान्तर्गत नादनेरग्रामनिवासी

स्व० पं० श्रीनर्मदाप्रसादजी द्विवेदी के आत्मज्ञ साहित्यशास्त्राचार्य

०म्. ९, पीएच. डी., प्रा० पं० रेवाप्रसाद द्विवेदी द्वारा कृत

विमर्श सहित हिन्दी अनुवाद पूर्ण हुआ ।

रेवाया उत्तरे तीरे नादनेरेति विद्युतः ।

ग्रामो मध्यप्रदेशाङ्गेशयो दत्तन्निवासिनः ॥

श्रीनर्मदाप्रसादस्य काश्यपस्य द्विवेदिनः ।

आत्मजेन मया रेवाप्रसादेन द्विवेदिना ॥

काव्येऽलङ्कारवत् काव्यालङ्कारे जीविनांपमम् ।

अदोऽलङ्कारसर्वस्वं विमर्शिन्या विभासितम् ॥

सविमर्शेन हिन्दीवागनुवादेन साम्प्रतम् ।

यथायथं विशोष्यालप्रचोः संविन्मातुनिधीयते ॥

नास्ति काचन विदां विमानना तन्मतं यदि विदूष्यते परैः ।

अञ्जनेन खलु तेन लोचनं संविद्यो न्निघुणमुत्प्रकाशते ॥

नारित काचन विदां समाजना तन्मतं यदि समर्थ्यते परैः ।

तारकैरनुवृत्तं न मण्डलं किं दिधोर्भजति लक्ष्मलक्ष्मताम् ॥

तादर्थ्यमात्रमुपजीव्य ततो विपश्चिद् बीक्षेन शालकृति वर्त्मनयेन शुद्धम् ।

स्वान्धीक्षिकौ हि निखिलागमगह्वरेषु दीपायितं अयति तत्त्वविशोधनायाम् ॥

॥ ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदम् ॥



परिशिष्टम् ( १ )

श्रीराजानकरुच्यकप्रणीता

सहृदयलीला

अथ गुणोल्लेखः ॥ १ ॥

श्रीमतामुत्कर्षपरिज्ञानाद् वैदग्ध्येन सहृदयत्वासागरकतासिद्धिः । युवत्यादीनामुत्कर्षो  
देहे गुणालंकारजीवितपरिकरेभ्यः । तत्र शोभाविधायिनो धर्मा गुणाः ।

रूपं वर्णः प्रभा राग आभिजात्यं विलासिता ।

लावण्यं लक्षणं छाया सौभाग्यं चेत्यमी गुणाः ॥

अवयवानां रेखास्पाद्यं रूपम् । गौरतादिधर्मविशेषो वर्णः । काचकच्यरूपा रवि-  
वत्कान्तिः प्रभा । नैसर्गिकस्मेरत्वमुखप्रसादादिः सर्वेषामेव चक्षुर्वन्धको धर्मो रागः ।  
कुसुमधर्मो मार्दवादिर्लाटनादिरूपः स्पर्शविशेषः पेशलताख्य आभिजात्यम् । अङ्गो-  
पाङ्गानां यौवनोद्भेदी मन्मथवासनाप्रयुक्तः कटाक्षादिवद् विभ्रमाख्यश्लेष्ठाविशेषो विलासिता ।  
तरङ्गिद्रवस्वभावाप्यायिनेत्रपेयव्यापित्तिग्धमधुर इव पीतिमोत्कपैकसार इव पूर्णन्दुवदा-  
ह्यादको धर्मः संस्थानसुग्धिमग्यङ्गयो लावण्यम् । अङ्गोपाङ्गानामसाधारणशोभाप्राशस्त्य-  
हेतुरौचित्यात्मा स्मयो धर्मो लक्षणम् । तस्य युक्तप्रमाणता-दोष(?) वा)स्पर्श-स्निग्धवक्रनिय-  
तलोमा-ङ्गसुश्लिष्टसंघानताऽऽनाहपरिणाहौचित्य-चक्रपद्मादिलेखाङ्गनायोगेभ्यः प्रसिद्धाङ्ग-  
पूर्णतादोषवैकल्य-धर्म(?)सौन्दर्य-प्रमाणौचित्य-लोका(?) क)प्रसिद्धविशिष्टाङ्गयोगाख्याः क्रमेण  
पङ् सेदाः । अप्राम्यतया वक्रिमःवख्यापिनी ताम्बूलपरिधाननृत्तभणितिगमनादिस्थानकेषु  
सूक्ष्मा भङ्गिरद्धाया । स्फुरत्पद्मपुष्पभोगपरिमलादिगम्योऽन्तःसारो रञ्जकतया वशीकर्ता  
सहृदयसंवेद्यधर्मभेदश्च सौभाग्यम् । तत्राद्ये स्मरमदपुलकादयो भेदाः । अन्ये तु  
मणित-रूपपरिभोगाऽधरास्वाद-सौरभादिभिर्युगपद्रसवत्वात् पञ्चेन्द्रियसुखलाभः ॥

इति राजानकश्रीरुच्यकविरचितायां सहृदयलीलायां गुणोल्लेखः प्रथमः ॥

## अथ अलङ्कारोद्धेतुः ॥ २ ॥

रत्नं हेमांशुके मार्यं मण्डनद्रव्ययोजने ।

प्रकीर्णं चेत्यलङ्काराः सतैवैते मया मताः ॥

तत्र वज्रमुक्तापहरागमरकतेन्द्रनीलवैश्वानरपुष्परागर्कतर्नपुलककृधिरात्तमीप्सस्फटिक-  
प्रवालरूपाणि त्रयोदश रत्नानि । हेम नवधा । जाम्बूनद-शातक्रीमम हाटक-वैश्व-शुक्लीशुक्तिज-  
जातरूप-रत्नविद्वाऽऽरौद्रतमेदात् । चतुर्धा रत्नहेममयः । आवेष्य-नियन्धनीय-प्रक्षेप्य-रोप्य-  
भेदात् । नन ताहीकुण्डलश्रवणवालिकादिरावेष्यः । अद्द-श्रोणीसूत्र-मूर्धमणि-शिरसादटिका-  
दिनिन्धनीयः । उर्मिकाकटकमञ्जीरसदश. प्रक्षेप्यः । प्रालम्ब-मालिना-हार-नक्षत्रमाला-  
प्रभृतिरारोप्य । चतुर्धांशुकमयः । त्वरफलक्रिमिरोमज्जावक्रमेण क्षीमकार्पांसकौशेयराङ्क-  
वादिभेदात् । पुनस्त्रिधा । नियन्धनीयप्रक्षेप्यारोप्यवैचिन्यात् । तत्र नियन्धनीयः शिर-  
सादकजघनवमनादिः । प्रक्षेप्य कज्जलिकादिः । आरोप्य उत्तरीयपटादिः । सर्वस्याभ्यानेर-  
विषय चर्णविच्छित्तिनानात्वात् । प्रथिताप्रथितवनाद् द्विविधः सन्नष्टधा माख्यमयः ।  
वेष्टितवितनसंघात्यग्रनियमदयलभ्यमुक्तकमञ्जीरन्तवकलक्षणमाख्यभेदेन । तत्रोद्धतितं  
वेष्टितम् । पार्श्वतो विस्तारित विततम् । बहुभिः पुष्पैः ममूहेन रचितं संघाग्यम् । अन्त-  
रान्तरा विषम ग्रन्थिमत् । स्पष्टोग्मितमवलम्बम् । केवलं मुक्तरः । अनेत्पुष्पमयी लता  
मञ्जरी । कुमुतगुल्लुङ्गं स्तवकः । तस्यावेभ्यादयोऽपि चत्वारो भेदाः । कस्तूरीकुङ्कुमचन्दन-  
कपूरगुल्फुलकदन्तममपदवामसहकारतैलताम्युलालकक्राञ्जनगोरीचनादिनिर्वृत्तो मण्डन-  
द्रव्यमयः । भ्रूयटनालकरचनाधम्मिल्लयन्धादियोजनामयः । द्विधा प्रकीर्णमयः । जन्य-  
निवेशभेदेन । श्रमजलमधुमदादिर्जन्यः । दूर्वाशोकपल्लवयवाङ्कुररजतप्रपुषाहुतालदल-  
दन्तपत्रिकाशृणालवलयकरश्रीदनफादिनिवेश्यः । एतत्समवायो धेप । स च देशकालप्रकृ-  
त्यवस्थामाग्येन । एतेषांविच्छिन्नायथास्थाननिवेशनपरभागलाभाद् रामणीयरुद्विः ॥

इति राजानरुश्रीदृश्यकविरचितायां सहृदयलीलायामलङ्कारोद्धेतो द्वितीयः ॥

१. कर्कतम्— किम्बा विशुद्धा समरागिणश्च आपीनवर्णा सुरतो विचित्राः ।  
शाम-व्रज-स्थानि विवर्जिताश्च कर्कतनाम्ने परम पवित्राः ॥  
वर्णेन नद् रधिरसोममधुप्रकाशमानाप्रपीतदहनोऽन्वलित विमानि ।  
मोल पुन सन्सित परुष विभिन्न व्याख्यादिदोषकरणेन न तद् विमानि ॥
- पुलकम्— मन्वर्वद्विन्दलोसदृशावामायाः ॥ युजाञ्जनश्रीद्रमृणालवर्णाः ॥  
ध्याञ्जमृदार्विधिविषमहा एते प्रशस्ताः पुण्याः प्रमृताः ॥
- रधिराशम्— तत्रेन्द्रनोषकल्पित शुकवभ्रवर्णं सस्यानन प्रकटपीपुसमानमानम् ।  
नानाप्रकारविहित रधिराल्यरत्नम् ॥—शब्दकल्पद्रुमे गरुडपुराणवचनानि ।
- मीमम्— शुक्लवर्णं प्रस्तरविशेष —शुभ्रार्थचिन्तामणि

अथ जीवितोल्लेखः ॥ ३ ॥

शोभाया अनुप्राणकं यौवनख्यं जीवितम् । यावद्यानन्तरं गात्राणां वंपुत्र्यसौष्टव-  
विभक्तताविधायी स्फुटितद्रादिमोपमः स्मरवसतिरवस्थाभेदो यौवनम् । तस्य वयःसंधिरा-  
रम्भः । मध्यं तु प्रौढिकालः । प्रथमे धर्मिण्यरचनालकभङ्गनीवीनहनदन्तपरिकर्मपरिष्क-  
रणदर्पणेषणपुष्पोच्चयमाल्योगभनजलक्रीडाधूताश्लोच्छ्लेकभणित्यनिमित्तलज्जानुभावशृङ्गार-  
शिक्षादय आवर्तमानाश्चेष्टाः । अन्त्ये तु शृङ्गारानुभावतारतम्यं श्रेयः ॥

इति राजानकश्रीस्यकविरचितायां सहृदयलीलायां जीवितोल्लेखस्तृतीयः ॥

अथ परिकरोल्लेखः ॥ ४ ॥

शोभाया आराहुपकारकत्वाद् व्यञ्जकः परिकरः । तस्य चेतनाचेतनयोः स्याणुत्तलयोः  
प्रत्येकं श्लिष्टसंनिहितमात्ररूपत्वेनापविधत्वम् । उत्सङ्गोपासीनकान्तहयपरिवारवातायन-  
वितान-नौ-ल्लभादीनि दर्शनानि । तानि द्विधा व्यस्तसमस्तभेदात् । एवं शोभासमुत्पादक-  
समुद्दीपकानुप्राणकव्यञ्जकाः क्रमाद् गुणालंकारजीवितपरिकराः । एवं परस्परोपकारकत्वा-  
दितरेतरानुप्राहकत्वं सिद्धम् ॥

इति राजानकश्रीस्यकविरचितायां सहृदयलीलायां परिकरोल्लेखश्चतुर्थः ॥

समाप्त्यं सहृदयलीला



१. ( क ) पिशेलसंपादितायाः सहृदयलीलायाः पुष्पिका सर्वस्वस्य भूमिकाया ७ पृष्ठे दृश्या ।  
अस्माकमाधारो निर्णयसागरीयः कश्मीरदेशीयपुस्तकद्वयाधितः पाठः । तत्रापि  
पाठान्तरे साऽस्त्येव [ काव्यमाला-५ ] ।

( ख ) चतुर्गाम्येतेषां गुणालङ्कारजीवितपरिकराणां लक्षणान्तराणि रसाणवसुधाकर-  
भावप्रकाशनादिषु निबन्धेषु, निदर्शनानि च कुमारसंभवकादम्बरीनैषधादिषु शृङ्गार-  
प्रबन्धेषु सुलभानि ।

# परिशिष्टम्

## अलङ्कारसर्वस्वोदाहृतश्लोकानुक्रमणिका

	पृ०		पृ०
अधगोः स्फुटास	७०१	आकृष्टिवेग	३३९
अङ्गलेखाम्	४६५	आकृष्यादा	३७३
अङ्गुलीभिरिव	७३२	आटोपेन	६२
अर्णा लडह	२२५	आनन्दमन्थर	७२५
अतिशयित	१०८	आभाति ते	१२३
अत्रानुगोदं	१०९	आरोपयसि	६५७
अथ पक्त्रिमता	१३६	आहूतोऽपि	४७६
अथोपगृहे	३३९		
अनन्तरत्न	४००	इति कृतपशुपति	६५७
अनन्यसामान्य	२०१	इन्द्रः किं	१४२
अनानपत्रो	६८०	इन्दुलिप्त	३८४
अन्तश्छिद्राणि	३९१	इन्दोर्लक्ष्म	४२१
अपाङ्गनरले	६२५		
अधिर्लङ्घित	२६३	उत्कोपे त्वयि	२७७
अमुष्मिन्नावण्या	१६९	उत्तिप्तं सह	३०१
अर्थं मार्तण्डः किं	१४२	उद्भ्रान्तोज्झित	१६९
अर्थं वारामेको	४५३	उद्यत्यै नमति	४९८
अयमेकपदे	५९३	उपोढरागैण	३१५
अरण्यरुदितम्	२७७	उरो दत्त्वा	५७१
अरण्यानी	४८९		
अलङ्कारः शङ्का	५८६	ए एहि द्वात्र	६१६
अचिरल	२२८	एकस्मिन्क्षुयने	७१४
अव्यासस वो	२६९	एकाकिनी	६४२
असमाप्त	३३९	एतत्तस्य	३८४
असंभृतं	४६५	एतान्यवन्ती	७३९
अस्याः सर्गविधौ	२२५		
अहमेव गुरुः	६१७	ऐन्द्रं धनुः	३३५
अहीनभुजरा	४७		
अहो केनेदृशी	६५६	ओष्ट्रे विम्बफला	१५१
अहो कोपेऽपि	१११		
अहो हि मे	४०२	कञ्जलहिम	५५७
		कण्ठस्य तस्याः	५०५
		कपोलफलका	१९७

	पृ०		पृ०
कमलमनश्भसि	२१४	चित्रं चित्रं	४९५
कर्पूर इव	४७६	चूडामणिपदे	२६९
कम्पूरीतिलक	२०१	चोलस्य यज्ञीति	१९८
कस्व भो.	३९१	जये धरिण्याः	५३३
का विसमा	६४२	जितेन्द्रियस्य	५२३
काशाः काशा	७२	ज्योस्सनात्म	४३०
किं तारुण्यतरो	२४२	ज्योस्सना भरम	१६९
किं नाम ददुर्	६०	णाराश्रणो सि	१५९
किं पद्मस्य	१२३	तण्णारिषिर्निपि	३८३
किं भूषण	५७७	तदिन्द्रमरण्यं	६८८
किं मे दूरोदरे	६५७	तन्वी मनोरमा	३१५
किं वृत्तान्तै.	४२१	तस्य च प्रवयसो	५७१
किं हास्येन न	७००	नात्वा जाअन्ति	७१
किंमामेव्य	५७७	तीर्त्वा भूतेश	१३५
किमित्यपास्या	५७१	तीर्थान्तरेषु	४८९
किबगण	२४५	त्रयीमयोऽपि	३६६
कुचैरजुष्टां	१९७	त्वं हाहाहल	६५३, ७३२
कुमुदवनै	३००	स्वत्पादनग	२७३
कुलममलिन	६००	स्वदद्रमार्द्यं	२३६
कृतं च गवां	२६३	स्वद्वक्त्रामृतपान	७०१
कौटिल्य कच	५७७	स्वमेवंसौन्दर्या	४९४
काकायं	७१५	दश्व दशनं	५५१
क्षीणः क्षीणोऽपि	२८६	दन्तप्रभापुष्प	३१७
गमिद्व जलं	१०३	दामोदरकरा	१११
गच्छ गच्छसि	४४०	दारणः काष्ठतो	४७
गणिकासु विधेयो	४३८	दासे कृतागमि	१२३
गण्डान्ते मद	३२७	दाहोऽग्भः	२२६
गतासु तीर	२०३	द्विदृचव पत्र	२८६
गर्भममवाह	६१६	दिवमप्युप	५०८
गाङ्गमग्न्यु	६३७	दुर्वारा स्मर	६००
गाडालिङ्गन	७०१	दूराकूपण	७०१
गुरुररतन्त्र	६५२	दशा दग्धं	५१५
गृह्णन्तु सर्वे	४३६	देया शिलापट्ट	४३६
घेतुं मुच्यह	४९८	दंघि क्षपा	७२५
चकीर्य एव	२५५	दोर्दण्डाञ्जित	५०१
चक्राभिवात	३८६	घामालिङ्ग	३२७
चन्द्रग्रहणेन	६५७	घुञ्जतो मृशुना	३०१

	पृ०		पृ०
द्वारत्र कचिदाधिता	५०१	प्रासादे सा	
धन्याः खलु	३९१	बाणेन हत्वा	४३६
धवलोऽसि	६३७	बालकणाहं	४३०
धात्रवदध	२३६	विभ्राना हृदये	५९६
घृतधनुषि	५८६	ब्रूमः कियन्नय	७१
न तज्जलं	५२८	भक्तिप्रह्वविलो	५९२
नन्वाध्रयस्थिति	५६८	भक्तिर्भवे	५७७
निमेषमपि	५०९	भवदुपराधैः	२९८
निरर्थकं जन्म	३०८	भासते प्रतिभा	७७
निरीचय विद्वन्नयनैः	३१७	भुजङ्गकुण्डली	४७
निर्लानान्यलकानि	३२६	भ्रमिमरति	१३०
निशासु भास्वत्	५६५	ममिगजलद्धग्नि	२९५
नीतानामाकुली	३५२	मदनगणना	३१७
नेत्रैरिचोःपलैः	३३५	मनीषिताः सन्ति	५३९
नो किञ्चित् कथय	४४०	मन्दमग्नि	३२७
न्यञ्जत्कुञ्चित	५९७	मलयजरस	६३२
पथि पथि	४८३	महिलासहस्र	१९८
परहिअक्षं	४८९	मानमस्या	६०८
परिच्छेदातीतः	४५३	मुक्ताः केलि	६८७
पर्यङ्को राज	१२४	मुण्डसिरे	२७६
पशुपतिरपि	५८५	मुनिर्जयति	६८०
पश्यत्सुहृत्	४८३	मुरारिनिर्गता	७४२
पश्यन्ती न्नपयेव	३३४	मृगलोचनया	३०९
पश्यामः किमिधं	३८४	मृग्यश्च	५३८
पाण्ड्योऽद्यमंसा	८१		
पातालमेत	१९६	यः कौमारहरः	४७६, ७३६
पीयूषप्रसृतिः	१२३	यस्वश्वेत्रसमान	५३८
पुराणि यस्यां	५२८	यत्रेता लहरी	५५०
पुष्पं प्रवालप	२२६	यत्रैव मुग्धेति	५६५
पूर्णन्दोः परिपोष	१६८	यथा रन्ध्रं	५५०
पृथ्वि स्थिरा भव	४००	यदेतच्चन्द्रा	१६८
प्रभामहत्या	८०	यद्भवन्नचन्द्रे	७३६
प्रसरद्विन्दु	७३९	यद्वा मृषा	४३६
प्रसर्पताःपयै	३२७	यद्विस्मयस्ति	५३९
प्रसीदेति	४३०	यस्य किञ्चिदप	६१२
प्राप्याभिपेक	२०६	यान्तया सुहु	८१
प्रायः पथ्य	४८५	यामि मनो वा	१२४



	पृ०		पृ०
सुखेऽर्जुनो	९८	विसृष्टरागा	५६५
ये कन्दरासु	६२६	विस्तारशालिनि	१२३
येन ध्वस्तम	३५१	वृषपुङ्ख	४७
येन लम्बालकः	३८६	शरदीव	७४०
येरेकरूप	३२७	नाशी दिवस	६७७
येदंष्ट्रोऽमि	१११	शुद्धान्तदुर्लभ	२७३
योगपट्टो	२३६	शैलेन्द्रप्रतिपाद्य	६५२
यी य. परयति	६७	मकेतकाल	६४८
रक्तच्छद्वर्ध	३५२	संप्रामाद्वण	५३१
रजिता लु	१४२	सचारपूतानि	२४५
रथस्थितानां	२०१	स पृच्छीणि	४७६
राजति तटीय	७३५	मच्छायाभोज	१०३
राजन् राजसुता	३८७	मज्ञातपत्र	२३६
राज्ञो मान	३४४	मपुष्परोधोति	७४२
राज्ये सारं	५३३	सद्यः करस्पर्श	४८८
रेदद् मिहिरेण	२४५	मद्य कौशिक	३७०
लावण्यद्रविण	२२५	म य. पायादिन्दुः	१९४
लावण्यौकसि	५५७, ६१६	स वक्त्रमिच्छान्	४३८
लिम्पनीव	१९५, ७२५	सहसा विदधीत	४००
लोकोत्तरं	४००	सद्या' पत्रग	६२
वक्त्रस्यन्दि	६४८	साधूनामुपकतुं	२४५
वदनसौरभं	७२५	सा थाला वय	४८५
वसुरहितेन	६५७	साहित्यपायो	४३६
वामेन नारी	७१५	सीमान न	३२७
विजये कुशल	६५६	सुदृश	४३०
विद्वलितसकला	५९३	सेवा स्थली	१९५
विद्वन्मानम	१२३	सौजन्याभ्यु	१३०
विनयेन विना	३०६	स्पृष्टास्ता नन्दने	४११
विमिश्रणां	६३५	स्वपञ्चलीला	३२७
वियोगे गौड	२७५	स्वेच्छोपजात	३५२
चित् द्वयन्ति	५७७	हा राहौ	६५७
विलसद्मर	१६८	हुङ्गारो नय	६६४
विलिपति	३२६	हृदयमधि	२२७
		हे हेलजित	४२०

## विमर्शिनीटीकोदाहृतश्लोकानुक्रमणिका

	पृ०		पृ०
अद्वै न्यस्योत्तमाङ्गं	७४३	इन्दुदय	६३६
अङ्गानि चन्दन	५१०	इहिणं पदुणो	८
अङ्गेषु सान्द्र	५१०	ईर्ष्याविकाराव	२३७
अतन्द्रचन्द्राभ	३७२	उन्नतः प्रोहस	४२
अतसीकुसुमप्रभं	५३४	उहसरसदं	२७८
अत्रासीत् फणि	६८९	एअसंभवअ	२२८
अत्युष्माः परितः	७०३	एकस्मिच्छयने	४१
अयुष्मात्तरवः	५३४	एकान्तजाड्ये	५४१
अनेन सार्धं सरयू	३८५	एककिनीचद	१२
अभेदमूलस्तव	६२८	एतत्तर्क्य कै	१४५
अमृतकवलः	११८	एए चोरोदजन्मा	४३३
अयं सुरेन्द्रोप	१७८	एए श्रीकण्ठकण्ठ	६५९
अयमहिमत्	१५३	कट्टु क्षणन्तो म	८२
अयि प्रमत्ते	५४१	कन्दर्पद्विपक	११८
अलससिरोम	४१	कमलदलेर	९२
अलौकिकमहा	१२७	कमलदयाः क	६३
अवरयं तरहो	५५८	कमलेष मति	१०५
अदाप्तः प्रागल्भ्यं	१५	कलाभित्स्तृणयर्थ	१७९
अचिरलकर	७०३	कलिप्रियाज्ञान	१२९
असोढा तरकाल	७१६	कश्चित् कान्ता	६८९
अह सज्जगण	४२०	का त्वं रक्तपटा	७०२
आज्ञाधरः पञ्च	२७४	कान्ताननस्य क	१०४
आलिङ्गितुशशि	२४६	कामशोकभयो	१५२
आर्वाजिता किञ्चि	९३	किं कर्णपूर्यैदि	६१८
आवाहूद्रुतम	३५०	किञ्चित्कुञ्चित	६७८
आस्तां बालस्य सं	२३८	किं छत्रं किन्मु	५३४
आस्तामस्तमयो	५५८	किं पङ्कजं किमु	१४३
आहादिचन्द्रव	३२०	किं भणिमो भण्ण	८
इच्छन्तौ चिबुका	३५४	किंभानुः किमु	१६४
इत्तश्चाश्रेम	६९५	किमिदमसिता	१४३
इत्तिभमेतुमि	१००	कुचकुचचिबुका	६९५
		कुत्तेः कोटर एव	५३४

